श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

समीक्षात्मकभूमिका-प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद-विमर्शाख्यत्याख्यात्मकटिप्पणी-

विविद्यानुक्रमणिकायुता

प्रथमभाग

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली
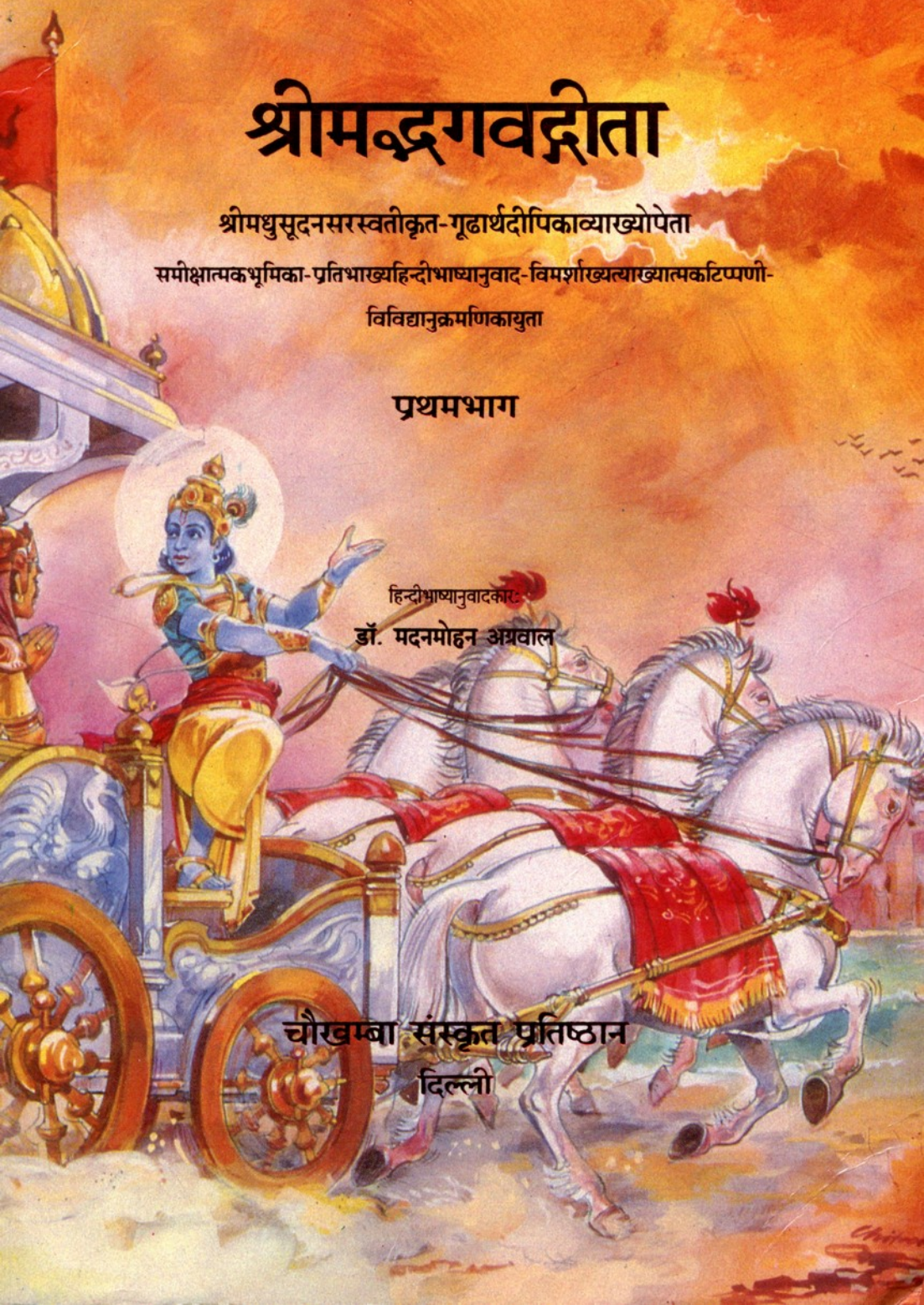
श्रीमद्भगवद्गीता
ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

।। श्रीः ।।

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

८५

गीतामृतदुहे श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

समीक्षात्मकभूमिका--प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद--विमर्शाख्यव्याख्यात्मकटिप्पणी-
विविधानुक्रमणिकायुता

भाग I

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल

एम.ए.,पी-एच.डी.,डी.लिट्.

प्रोफेसर-संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली

आशीर्वाक् लेखकः

प्रोफेसर रसिकविहारी जोशी

एम० ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० (पेरिस)

मेक्सिको

तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली-110007

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाषः 23856391

पुनर्मुद्रित संस्करण 2005 ई.

मूल्य 600.00 (1-2 भाग सम्पूर्ण-अजिल्द)

1250.00 (1-2 भाग सम्पूर्ण-सजिल्द)

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2333431, 2335263

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2420404

मुद्रक :

डीलक्स ऑफसेट प्रिन्टर्स

दिल्ली--११००३५

THE

VRAJAJIVAN PRACHYA GRANTHAMALA

85

ŚRĪMADBHAGAVADGĪTĀ

with the commentary

GŪḌHĀRTHADĪPIKĀ

OF

MADHUSŪDANA SARASVATĪ

Edited with 'Pratibhā' Hindi Translation, Introduction, Preface, Indexes and 'Vimarśa' critical Notes

VOLUME I

by

DR. MADAN MOHAN AGRAWAL

M.A. Ph.D.; D.Litt.

Professor of Sanskrit

University of Delhi

Delhi

Foreword by

Prof. Rasik Vihari Joshi

M.A., Ph.D., D.Litt. (Paris)

Mexico

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

Delhi-11007

नमः कृष्णाय पूर्णाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
गीतोपदेष्ट्रे पार्थाय नमो ज्ञानस्वरूपिणे ॥ 1 ॥

वन्देऽहं राधिकाकृष्णौ सच्चिदानन्दरूपिणौ ।
तापत्रयविनाशाय रासलीलाविहारिणौ ॥ 2 ॥

नमामि शिरसा पूर्वं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
रामप्रतापमनघं सर्वज्ञं परमं गुरुम् ॥ 3 ॥

बुद्धिं ज्ञानं यशः सौख्यं भक्तिं मुक्तिञ्च यच्छति ।
यः सदा शिष्यवर्गाय तं वन्दे रसिकं गुरुम् ॥ 4 ॥

हे देव ! हे रसिक ! हे विदुषां वरेण्य !
हे सद्गुरो ! जनहिताय जनस्त्वदीयः ।
ग्रन्थे कृपा विलसतीह पदार्थरूपा
मञ्जीवनं तव पदाब्जयुगेऽर्पयामि ॥ 5 ॥

अद्वैते भक्तिशास्त्रे च परं पारं गतं बुधम् ।
गूढार्थदीपिकाकारं वन्दे श्रीमधुसूदनम् ॥ 6 ॥

वेदान्तेऽद्वैतसिद्धौ बुधजनरुचिरं ज्ञानकाण्डं प्रशस्तं
भक्तौ यो भक्तिशास्त्रे दशमरसमपि स्थापयामास पूर्वम् ।
गीताया गूढमर्थं बुडित इव सदा प्राप्य ज्योतिस्वरूपं
प्राज्वालीद् यो विपश्चित् प्रणिहितमनसा प्राञ्जलिस्तं नमामि ॥ 7 ॥

अद्वैतसिद्धौ हरिमद्वितीयं
रसायने भक्तिरसं समुज्ज्वलम् ।
गूढार्थदीपे भगवद्रहस्यं
यो व्यावृणोत् तं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ 8 ॥

गूढार्थदीपिकां टीकां पाण्डित्यनिकषोपलाम् ।
मूढोऽपि प्रतिभाख्यायां मदनः कुरुते स्फुटाम् ॥ 9 ॥

गूढार्थदीपिकायाश्च हिन्दीभाषां करोम्यहम् ।
प्रतिभानामिकामद्य श्रीगुरोराशिषा शुभाम् ॥ 10 ॥

प्रायशश्चतुरान्मासानाधिव्याधिप्रपीडितः ।
अशक्तोऽस्मीति कृपया क्षम्यन्तां त्रुटयो बुधैः ॥ 11 ॥

मदन मोहन अग्रवाल

श्रीः

भूमिका

•

श्रीगुरुः शरणम्

मधुसूदन सरस्वती

01. जन्मस्थान एवं जीवनवृत्त – मधुसूदन सरस्वती का निश्चित और विश्वस्त जीवन-परिचय देना अतिदुष्कर है, कारण कि उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने जन्मस्थान-परिवार आदि के विषय में कोई भी सङ्केत नहीं दिया है, यहाँ तक कि उन्होंने अपने किसी क्रिया-कलाप का भी उल्लेख नहीं किया है, हाँ-उन्होंने अपने ग्रन्थ अद्वैत- रत्नरक्षण[1] और गीता-गूढार्थदीपिका[2]-टीका में बनारस और गुजरात– दो स्थानों का उल्लेख अवश्य किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि वे उक्त दोनों स्थानों से सुपरिचित थे; इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कोई ऐसा सुदृढ़, सुनिश्चित और सन्तोषपूर्ण प्रमाण ही उपलब्ध होता है जिससे कि उनके जीवन-वृत्त को यथाक्रम वर्णित किया जा सके। कुछ किंवदन्तियाँ और वंशावलियाँ[3] ही हैं जिनके आधार पर मधुसूदन सरस्वती का जीवन-परिचय ज्ञात किया जा सकता है।

किंवदन्ती है कि मधुसूदन सरस्वती बंगाली थे। इनके पूर्वज मूलतः कन्नौज निवासी थे। जब ईसा की बारहवीं शताब्दी अर्थात् 1194 ई० में शहाबुद्दीन गौरी ने कन्नौज के राजा जयचन्द को परास्त कर कन्नौज राज्य को अपने अधिकार में किया तो आतङ्कित अनेक परिवार कन्नौज छोड़कर समूचे भारत में भटकने लगे। बंगाल और मिथिला के राजाओं ने उन परिवारों को अपने राज्य में आश्रय दिया। उनमें मधुसूदन सरस्वती के पूर्वज पण्डित श्रीराम मिश्र 'अग्निहोत्री' भी थे। वे बंगाल के नवद्वीप में आकर बसे। इनके कुल में मधुसूदन सरस्वती के पिता प्रमोदन या पुरोदन पुरन्दराचार्य उत्पन्न हुए। वे भी अपने पिता के समान अच्छे पण्डित और धार्मिक व्यक्ति थे। इनके चार[4] अथवा पाँच[5] पुत्र थे – ऐसी प्रसिद्धि है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे :– श्रीनाथ चूड़ामणि, यादवानन्द न्यायाचार्य, कमलजनयन अथवा मधुसूदन सरस्वती और वागीश गोस्वामी[6]। काश्यप-वंश-भास्कर के अनुसार पुरन्दराचार्य बंगाल में फरीदपुर

---

1. "अत्रोच्यते -- यद्यपि श्रवणादेः प्रागपरोक्षमेव ज्ञानमुत्पन्नम्, तथाप्यसंभावनाविपरीतभावनाग्रस्तत्वादुन्मज्जन्निमज्जदिव न फलपर्यवसायि भवति वाराणस्यादिप्रदेशे जायमानार्द्रमरीचादिज्ञानवत्" -- अद्वैतरत्नरक्षणम्, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, बम्बई – 1917, 1937; पुनर्मुद्रित – दिल्ली, 1988, पृष्ठ 44।
2. " 'तान्तनी'ति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाह्रदनिवासी जन्तुविशेषो वा" – गूढार्थदीपिका, मधुसूदन सरस्वती, हिन्दीभाष्यानुवादकार – मदन मोहन अग्रवाल, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 421।
3. द्रष्टव्य – काश्यप-वंश-भास्कर, सम्पादक – सीतानाथ सिद्धान्तवागीश, कलकत्ता।
4. न्यायामृताद्वैतसिद्धी, व्यासराजयति – मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, द्वितीय भाग, भूमिका – पृष्ठ 15, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1986; वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक व अनुवादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii, पूना, 1962।
5. श्रीभगवद्भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, भूमिका – पृष्ठ 6, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सम्वत् 2033; श्रीमद्भगवद्गीता – 'गूढार्थदीपिका' संस्कृतटीकायुता, हिन्दीव्याख्याकार – स्वामी श्री सनातनदेवजी महाराज, भूमिका – पृष्ठ 4, वाराणसी, 1962।
6. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – रामज्ञ शर्मा पाण्डेय, सम्पादकीय भूमिका – पृष्ठ 3, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, 1920।

जिले के अन्तर्गत कोटालीपाड़ा तहसील के उनसिया ग्राम में बसे, अतएव कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती का जन्म कोटालीपाड़ा तहसील के अन्तर्गत 'उनसिया' नामक ग्राम में हुआ था, जो कि अब पूर्वी-पाकिस्तान अर्थात् बाँग्लादेश में स्थित है ।

शिक्षा :— मधुसूदन सरस्वती के पिता पण्डित प्रमोदन पुरन्दराचार्य की गणना तत्कालीन प्रकाण्ड पण्डितों में की जाती थी, अतएव मधुसूदन सरस्वती ने अपने पितृचरणों में ही रहकर अपनी शिक्षा का श्रीगणेश किया, फलतः आपने अपने पिताश्री से ही व्याकरण, काव्य-साहित्य, कोष आदि का अध्ययन किया । किंवदन्ती है कि आप आठ-दस वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत-कविता करने लगे थे । अधिक शास्त्राध्ययन के लिए आप नवद्वीप गए और वहाँ आपने तत्कालीन प्रसिद्ध नैयायिक आचार्यो[7] से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया । इसके पश्चात् वेदान्तशास्त्र और मीमांसाशास्त्र के अध्ययन के लिए आप वाराणसी गए, वहाँ आपने तत्कालीन प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् श्री माधव सरस्वती से मीमांसाशास्त्र का और वेदान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् श्री रामतीर्थ से अद्वैत-वेदान्त का सम्पूर्ण अध्ययन किया । इसप्रकार आप कुछ ही समय में सम्पूर्ण शास्त्रों में निष्णात हो गये थे ।

वैराग्य :— मधुसूदन सरस्वती बाल्यकाल से ही विरक्त थे । कहते हैं कि ये जब आठ-दस वर्ष के थे तब चन्द्रद्वीप अर्थात् वर्तमान वाकला प्रान्त के राजा कन्दर्पनारायण सिंह थे, उनको इनके पिता प्रमोदन पुरन्दराचार्य वार्षिक-कर के रूप में प्रतिवर्ष नौकाओं में भरकर आम पहुँचाया करते थे । मधुसूदन सरस्वती भी अपने पिता के साथ वहाँ जाया करते थे । प्रतिवर्ष वहाँ जाने-आने में अनेक बार बाढ़ आदि के कारण कष्ट भी होता था, अतः उनके पिता इस कष्ट से मुक्ति चाहते थे । एक बार इनके पिता ने राजा के सम्मुख कष्टनिवृत्ति के लिए प्रतिवर्ष न आने-जाने का प्रस्ताव भी रखा, किन्तु राजा ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, अपितु अनुचित व्यवहार किया । पिता के साथ राजा का अनुचित व्यवहार

---

7. कुछ विद्वानों का यह कथन— 'मधुसूदन सरस्वती ने मथुरानाथ तर्कवागीश ('न्यायामृताद्वैतसिद्धी, भूमिका -- पृष्ठ 15; गूढार्थदीपिका, हिन्दीव्याख्याकार स्वामी सनातनदेव, भूमिका – पृष्ठ 7) अथवा हरिराम तर्कवागीश (सिद्धान्तबिन्दु, रत्नावली और लघुव्याख्या सहित, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, प्रथम संस्करण 1928, द्वितीय संस्करण सं० 2046, वाराणसी, भूमिका – पृष्ठ 9; श्रीभगवद्भक्तिरसायन, भूमिका – पृष्ठ 6) से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था' – असंगत सा प्रतीत होता है, कारण कि मथुरानाथ तर्कवागीश का समय लगभग 1570 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 467) और हरिराम तर्कवागीश का समय लगभग 1615 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 479), जबकि मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध है, इसप्रकार 30-75 वर्ष पूर्ववर्त्ती प्रकाण्ड पण्डित मधुसूदन सरस्वती का अपने पश्चात्वर्त्ती मथुरानाथ तर्कवागीश अथवा हरिराम तर्कवागीश से अध्ययन करना सम्भव नहीं है । इसीप्रकार यह कथन – 'गदाधर भट्टाचार्य मधुसूदन सरस्वती के सहपाठी (सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, भूमिका – पृष्ठ 9; श्रीभगवद्भक्तिरसायन, भूमिका – पृष्ठ 6) अथवा समकालीन (वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii) थे' – तो सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि गदाधर भट्ट का समय मधुसूदन सरस्वती के लगभग 80-85 वर्ष पश्चात् 17वी० शताब्दी का पूर्वार्द्ध अर्थात् लगभग 1620-1625 ई० है (द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 481-482) । हाँ – गदाधर भट्ट और मधुसूदन सरस्वती की एकबार नवद्वीप में भेंट अवश्य हुई थी, उस समय मधुसूदन सरस्वती वृद्ध हो चुके थे – ऐसा कहा जाता है ।

देखकर मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त खिन्न हुए और व्यावहारिक जीवन से एकदम विरक्त हो गये[8] । दस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपने शेष जीवन को भगवदाराधना में ही व्यतीत करने का संकल्प कर लिया और चैतन्य महाप्रभु के दर्शनों की लालसा से नवद्वीप की ओर चल दिये । मार्ग में मधुमती नदी पड़ी । जिस स्थान पर ये पहुँचे वहाँ नदी पार करने का कोई साधन नहीं था, अतएव ये जाह्नवी देवी की आराधना करने लगे । कुछ दिन व्यतीत होने पर देवी की कृपा से अकस्मात् नौकासहित एक मल्लाह वहाँ आया और इनको नदी के उस पार ले गया । इसप्रकार ये नवद्वीप धाम पहुँचे, किन्तु उस समय महाप्रभु नवद्वीप में नहीं थे, अतः उस ओर से निराश होकर आप शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हो गये ।

संन्यास-दीक्षा :– कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने एक दिन अपने वेदान्त-गुरु श्री रामतीर्थ से कहा कि "गुरुवर ! मैंने आपसे वेदान्तशास्त्र का अध्ययन अद्वैत-वेदान्त का खण्डन करने की दृष्टि से किया था, अतः मैं आपका अपराधी हूँ, आप मुझको इस अपराध का कोई प्रायश्चित्त बतलाइये" । तब श्री रामतीर्थ ने उनसे कहा कि "तुम्हारे इस अपराध का प्रायश्चित्त यही है कि अब तुम संन्यास ग्रहण कर लो " । मधुसूदन सरस्वती ने उन्हीं से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु उन्होंने कहा कि "आजकल काशी में स्वामी रामसरस्वती के शिष्य श्री विश्वेश्वर सरस्वती विशेष सम्मानित सन्त हैं, तुम उन्हीं से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करो" । मधुसूदन सरस्वती शीघ्र ही चौसट्ठी घाट पर स्थित गोपालमठ में श्री विश्वेश्वर सरस्वती के समीप पहुँचे और उनको सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया । श्री विश्वेश्वर सरस्वती ने उनसे कहा कि "हम संन्यास-दीक्षा देने से पूर्व छात्र की योग्यता की परीक्षा लेते हैं, अतः तुम अद्वैत-वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य के मतानुसार श्रीमद्भगवद्गीता पर कोई व्याख्यान लिखो, तब संन्यास-दीक्षा होगी" । मधुसूदन सरस्वती ने कुछ ही समय में 'गीतानिबन्ध'[9] लिखकर उसको श्री विश्वेश्वर सरस्वती के चरणों में समर्पित किया । परीक्षानन्तर प्रसन्न हो श्री विश्वेश्वर सरस्वती ने आपको संन्यास-दीक्षा प्रदान की, तदुपरान्त आप मधुसूदन सरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुए । संन्यास-ग्रहण के पश्चात् आपने श्रीक्षेत्र के समीप नदी तट पर किसी वन में बास कर सत्रह वर्ष तक तपस्या की । उन्हीं दिनों

---

8. ऐसा भी कहते हैं कि पुरन्दराचार्य एकबार चन्द्रद्वीप के राजा की सभा में गए थे और वहाँ मधुसूदन सरस्वती की बाल्यावस्था की सारस्वत प्रतिभा का प्रदर्शन हुआ था । बालक मधुसूदन सरस्वती की जन्मजात प्रतिभा को देखकर राजा प्रसन्न हुए थे, किन्तु राजा ने बदले में पुरन्दराचार्य द्वारा प्रार्थित भवनार्थ भूमि को प्रदान करने से मना कर दिया, इस पर बालक मधुसूदन सरस्वती अत्यन्त खिन्न हुए और संसार से एकदम विरक्त हो गये । अतएव यह भी कहते हैं कि कुछ वर्षों के पश्चात् मधुसूदन सरस्वती के पिता पुरन्दराचार्य ने फरीदपुर जिले के अन्तर्गत कोटालीपाड़ा तहसील के 'उनसिया' नामक अपने ग्राम के निकट ही 'पुरन्दरवाटिका' नामक अपना भवन बनवाया था और भवन के निकट ही श्री दक्षिणामूर्ति तथा कालिका जी का मन्दिर भी बनवाया था जो आज भी पूर्वी-बंगाल अर्थात् बाँग्लादेश में स्थित हैं । अब उक्त 'पुरन्दरवाटिका' ग्राम के नाम से जानी जाती है, क्योंकि उसके आस-पास अनेक अन्य भवन बन गये हैं (द्रष्टव्य – हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारी, पृष्ठ 658-659, दिल्ली, 1989) ।

9. कोई विद्वान् उक्त 'गीतानिबन्ध' का नाम 'गूढार्थदीपिका' कहते हैं, किन्तु गीता की टीका 'गूढार्थदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' का उल्लेख है और 'अद्वैतसिद्धि' में आपने अपना परिचय 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन' (अद्वैतसिद्धि, मङ्गलश्लोक-4) – इस प्रकार 'मुनि' उपाधि के द्वारा दिया है, 'मुनि' शब्द का प्रयोग संन्यास-ग्रहण से पूर्व हो नहीं सकता, अतएव यही कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि 'गीतानिबन्ध' कोई लघु निबन्ध अथवा व्याख्यान ही होगा ।

उस प्रान्त में जब एक बार वर्षा न होने के कारण दुर्भिक्ष की स्थिति हुई, तब उत्कलनरेश मुकुन्ददेव श्रीक्षेत्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने मधुसूदन सरस्वती का अनुनय-विनयपूर्वक सत्कार किया तथा फलस्वरूप राजा ने मुनिवर का आशीर्वाद प्राप्त किया कि तुम्हारे राज्य में अन्न की वृद्धि हो। कहते हैं कि आपका वह आशीर्वाद सफल हुआ। आपका संन्यास-जीवन वस्तुतः अद्भुत ही था।

भगवद्भक्ति :– मधुसूदन सरस्वती का जीवन अद्वैत-ज्ञान के साथ भगवद्भक्ति के संयोग से स्वर्ण में सुरभि की भाँति अतिसुरभित था। यद्यपि वे प्रकाण्ड पण्डित, प्रौढ़ दार्शनिक और तपोनिष्ठ सन्त थे, तथापि भक्तिरस के परमाचार्य थे। किंवदन्ती है कि एक परमहंस ने उनको श्रीकृष्णोपासना के लिए प्रेरित किया था, जबकि वास्तविकता यह है कि मधुसूदन सरस्वती बचपन से ही नवद्वीप में प्रादुर्भूत चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रचलित श्रीकृष्णभक्ति से प्रभावित थे और पुरीक्षेत्र में प्रतिष्ठापित श्रीजगन्नाथ जी से अपने को अनुगृहीत समझते थे, उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तकल्पलतिका' में लिखा है:– '**भगवता नीलाचलनायकेन नारायणेनानुगृहीताः**[10]। संन्यास-ग्रहण के पश्चात् अद्वैत-वेदान्त-मत को अतिपुष्ट करनेवाले, अतिजटिल तथा विस्तृत 'अद्वैतसिद्धि' जैसे ग्रन्थ की रचना करने पर भी मधुसूदन सरस्वती की श्रीकृष्णभक्ति कम न होकर बढ़ती ही गई थी, जैसा कि उनके ग्रन्थों में लिखित अनेक लेखों से यह सिद्ध होता है। एकस्थान पर वे कहते हैं:–

'अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः, स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन, दासीकृता गोपवधूविटेन॥'

उनकी श्रीकृष्णभक्ति का चरमोत्कर्ष तो उनकी गीता-गूढार्थदीपिका-टीका में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। द्वितीय षट्क की टीका आरम्भ करते हुए वे कहते हैं:–

'यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम्॥[11]'

दशम अध्याय का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं:–

'कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे॥[12]'

इसीप्रकार अन्तिम षट्क के आरम्भ में वे कहते हैं:–

'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।

---

10. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 10-11।
11. श्रीमद्भगवद्गीता – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451।
12. उपरिवत्, पृष्ठ 587।

अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति[13]"॥

इन सबके अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिशास्त्र में 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ की ही रचना कर श्रीकृष्णभक्ति में डूबे हुए अपने भक्त-हृदय का परिचय दिया है। वे निस्सन्देह परम ज्ञानी होने के साथ-साथ परम भक्त भी थे।

भगवत्साक्षात्कारः– मधुसूदन सरस्वती श्रीकृष्णभक्ति में दीर्घकाल तक निरन्तर संलग्न रहते थे। वे श्रीकृष्णभक्ति की निरन्तरता में भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करते थे। इसमें उनके निम्न श्लोक साक्षी हैं:–

'मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवृत्तिम् ॥'

'गूढार्थदीपिका' का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है:–

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने[14] ॥

निस्सन्देह मधुसूदन सरस्वती में ज्ञाननिष्ठा और भक्तिनिष्ठा का अद्भुत सामञ्जस्य था।

गुरु एवं शिष्यः– मधुसूदन सरस्वती के परमगुरु श्रीरामतीर्थ अथवा श्री रामानन्द सरस्वती, संन्यास-दीक्षा-गुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती तथा विद्यागुरु श्री माधव सरस्वती थे[15]। श्रीपाद सरस्वती भी आपके गुरु कहे जाते हैं[16]।

मधुसूदन सरस्वती के शिष्य यद्यपि अनेक थे, तथापि आपके प्रधान शिष्य तीन ही हैं– बलभद्र भट्टाचार्य[17], शेषगोविन्द और पुरुषोत्तम सरस्वती[18]। बलभद्र भट्टाचार्य ब्रह्मचारी थे[19]। इन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' की 'सिद्धि'

---

13. उपरिवत्, पृष्ठ 647।
14. उपरिवत्, पृष्ठ 731, 901।
15. (अ) **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां** प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 902।
(ब) **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन** साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यो पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्य ॥ – अद्वैतसिद्धि, मंगलश्लोक – 2।
(स) परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं संपाद्य **परमगुरुगुरुविद्यागुरून्प्रणमति** – श्रीरामेत्यादि। – अद्वैतसिद्धि – गौडब्रह्मानन्दी टीका, निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ 8।
(द) मूलकारस्य **परमगुरवः गुरवः विद्यागुरवश्च** क्रमेण **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवा** आसन्। – अद्वैतसिद्धि – बालबोधिनी टीका, महामहोपाध्याय डॉ० योगेन्द्र नाथ बागची, सम्पादक – डॉ० शीतांशुशेखर बागची, प्रथम भाग – पृष्ठ 4, वाराणसी, 1971।
16. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ xii।
17. **बलभद्रकृते** कृतो निबन्धः – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पूना, 1962, पृष्ठ 194।
18. "टीचर्स एण्ड प्यूपिल्स इन वेदान्त", 'द शंकर स्कूल ऑव् वेदान्त', अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, वॉल्यूम् II, पृष्ठ 55, प्रथम संस्करण 1922, भारतीय प्रथम संस्करण 1975, दिल्ली।
19. बलभद्रस्य आचार्याणां सेवक**ब्रह्मचारिणः** – सिद्धान्तबिन्दु – गौडब्रह्मानन्दी-टीका, सम्पादक – पं० त्र्यम्बक राम शास्त्री, पृष्ठ 462।

नामक व्याख्या की है । इनका समय 1610 ई० है[20] । शेषगोविन्द महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम शेषपण्डित अपर नाम कृष्णपण्डित था[21] । इन्होंने शंकराचार्य-प्रणीत 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' ग्रन्थ की टीका लिखी है जिसमें आपने अपने गुरुवर मधुसूदन सरस्वती के प्रति अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की है । इनका समय 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है । पुरुषोत्तम सरस्वती संन्यासी थे । इनका समय 1600 ई० है[22] । इन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ पर 'अद्वैतसिद्धिसाधक'[23] नामक टीका तथा 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थ पर 'सन्दीपन' नामक टीका लिखी है । 'सन्दीपन' व्याख्या प्रकाशित है[24] । इस व्याख्या के अन्त में आपने अपने विद्यागुरु मधुसूदन सरस्वती को देवगुरु वृहस्पति के समान कहा है: –

'श्रीधरं श्रीगुरुं नत्वा नौमि श्रीपादमादरात् ।
विद्यागुरुं गुरुमिव सुराणां मधुसूदनम् ॥'

महाप्रयाणः किंवदन्ती है कि मधुसूदन सरस्वती ने 107 वर्ष की आयु में विदेहकैवल्य प्राप्त किया था ।

02. समयः– यतिवर मधुसूदन सरस्वती भारतीय परम्परा के अपवाद नहीं हैं, जैसा कि उन्होंने भी अपने विषय में अपने किसी भी ग्रन्थ में कोई संकेत नहीं दिया है, अतएव उनका समय निर्धारित करना अत्यन्त जटिल कार्य है, तथापि विद्वानों ने कुछ प्रयत्न किया है जिसके आधार पर उनका स्थितिकाल सिद्ध किया जा सकता है ।

पण्डित राजेन्द्रनाथ घोष, संन्यास-ग्रहण के पश्चात् जो 'चिद्घनानन्दपुरी' नाम से प्रसिद्ध हुए, ने अपने द्वारा सम्पादित व प्रकाशित योगेन्द्रनाथ तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थ-प्रणीत वङ्गभाषा में उपनिबद्ध तात्पर्य से उपबृंहित 'बालबोधिनी' टीका सहित मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिप्रकरणपर्यन्त 'अद्वैतसिद्धि'[25] के लिए लिखित अपनी बहुश्रमसिद्ध भूमिका में ऐतिहासिक प्रमाणों और किंवदन्तियों के आधार पर मधुसूदन सरस्वती की जन्मतिथि को 1525-1530 ई० के आस-पास सिद्ध किया है । पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय व्याकरणोपाध्याय ने स्वसम्पादित 'वेदान्तकल्पलतिका[26]' की प्रस्तावना में यतिवर का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है । प्रो० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता[27] ने भी रामज्ञ पाण्डेय के आधार पर मधुसूदन सरस्वती का

---

20. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज़, कॉर्ल एच० पोटर, व़ॉल्यूम्-I, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 389 ।
21. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, 1928, पृष्ठ 178 ।
22. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज़, कॉर्ल एच० पोटर, व़ॉल्यूम् I, पृष्ठ 384 ।
23. उपरिवत् ।
24. सिद्धान्तबिन्दु – सन्दीपन, पुरुषोत्तम सरस्वती, सम्पादक – एम० जी० बाकरे, बम्बई 1929; सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 64, 1933 ।
25. अद्वैतसिद्धि (मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिप्रकरणपर्यन्त) मधुसूदन सरस्वती, पं० योगेन्द्रनाथ तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थ-प्रणीत वङ्गभाषा में उपनिबद्ध तात्पर्य से उपबृंहित 'बालबोधिनी' टीका सहित, सम्पादक – पण्डित राजेन्द्रनाथ घोष, सम्पादकीय वङ्गभाषोपनिबद्ध भूमिका, कलकत्ता ।
26. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय व्याकरणोपाध्याय, सम्पादकीय भूमिका, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, बनारस, 1920 ।
27. अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, व़ॉल्यूम् II, पृष्ठ 55, 225 ।

समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही स्वीकार किया है । महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने राजेन्द्र नाथ घोष और पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय के मतों का समर्थन करते हुए आचार्यवर का समय 16वीं० शताब्दी निश्चित किया है[28] । पी० सी० दीवानजी ने स्वसम्पादित व अनूदित 'सिद्धान्तबिन्दु और सिद्धान्तबिन्दुसन्दीपन[29]' की विस्तृत भूमिका में मुनिवर मधुसूदन सरस्वती का समय अन्य विद्वानों के मतों के खण्डन-मण्डन के साथ 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1540 ई० निर्धारित किया है, आपके निर्णय में विशेषता यह है कि इन्होंने उक्त तिथि का निर्णय करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । इसीप्रकार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर[30], क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[31], एस० एन० तदपत्रीकर[32], चिन्ताहरण चक्रवर्ती[33], श्रीकृष्ण पन्त[34] और एम० कृष्णमाचारी[35] ने भी मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही निश्चित किया है । प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने विशेष ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया है[36] । स्वामी योगीन्द्रानन्द ने उदासीन महाविद्यालय, काशी से प्रकाशित 'रसधारा' टीका सहित 'भक्तिरसायन[37]' ग्रन्थ की भूमिका में राजेन्द्रनाथ घोष के मत का समर्थन करते हुए यतिवर का जीवनकाल 1533 ई० से 1640 ई० तक स्वीकार किया है, किन्तु आपने ही स्वसम्पादित व अनूदित 'न्यायामृताद्वैतसिद्धी[38]' ग्रन्थ की भूमिका में

---

28. (अ) "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, 1928 ।
    (ब) ब्रह्मसूत्र, बादरायण, सम्पादक – श्रीभोलेबाबा, भूमिका – महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, अच्युत ग्रन्थमाला नं० ख 5, सम्वत् 1993, बनारस ।
29. (अ) "मधुसूदन सरस्वती:हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क्स" पी० सी० दीवानजी, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28 ।
    (ब) दशश्लोकी, शंकराचार्य, मधुसूदन सरस्वती कृत 'सिद्धान्तबिन्दु' और पुरुषोत्तम सरस्वती कृत 'सन्दीपन' टीका-उपटीका सहित, सम्पादक और अनुवादक - पी० सी० दीवानजी, सम्पादकीय भूमिका, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 64, 1933 ।
30. हरिलीलाव्याख्या = हरिलीलाविवेक, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सम्पादकीय भूमिका, कलकत्ता ओरिएण्टल सीरीज, कलकत्ता ।
31. "मधुसूदन सरस्वती", क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28 ।
32. "अ वर्क ऑन् अर्थशास्त्र बाइ मधुसूदन", एस० एन० तदपत्रीकर, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट नं० 8-9, 1926-27, 1927-28 ।
33. "मधुसूदन सरस्वती", चिन्ताहरण चक्रवर्ती, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट नं० 11, 1929-30 ।
34. सिद्धान्तबिन्दु, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – श्री कृष्ण पन्त, सम्पादकीय भूमिका, अच्युत ग्रन्थमाला नं० ख 3, 1932, बनारस ।
35. हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, एम० कृष्णमाचारी, पृष्ठ 658-659, प्रथम संस्करण 1937, पुनर्मुद्रित 1989, दिल्ली ।
36. "संस्कृत स्कॉलर्स ऑव् अकबरज़् टाइम" प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्लि, वॉल्यूम XIII, 1932 ।
37. भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती, 'रसधारा' टीका सहित, भूमिका -- स्वामी योगीन्द्रानन्द, उदासीन महाविद्यालय, काशी ।
38. न्यायामृताद्वैतसिद्धी, भूमिका – पृष्ठ 15 ।

मधुसूदन सरस्वती का समय 1540 ई० से 1647 ई० तक स्वीकार किया है । आर० डी० करमरकर ने स्वसम्पादित व अनूदित 'वेदान्तकल्पलतिका'[39] की भूमिका में मुनिवर का समय 1540 ई० से 1647 ई० तक ही स्वीकार किया है । डॉ० सञ्जुक्ता गुप्ता ने उक्त मतों के आधार पर ही मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं० शताब्दी स्वीकार किया है[40] । निष्कर्ष यह है कि उक्त सभी विद्वानों ने एकमत होकर मधुसूदन सरस्वती का समय 16वीं० शताब्दी का पूर्वार्द्ध अथवा मध्यकाल निश्चित किया है और सभी ने अपने-अपने मत के समर्थन में कुछ-कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जो इसप्रकार हैं:–

(i) जनश्रुति है कि गोस्वामी तुलसीदास मधुसूदन सरस्वती के मित्र थे[41] । जब उनके रामचरितमानस पर रामायण का हिन्दी रूपान्तर होने के कारण संस्कृत विद्वानों ने आपत्ति उठाई थी, तब खिन्न होकर गोस्वामी तुलसीदास ने मधुसूदन सरस्वती को एक दोहा लिखकर भेजा था –

'हर-हरि-यश सुर-नर-गिरा, बरनहिं सन्त सुजान ।
हाँडी हाटक चारु रुचि, राँधे स्वाद समान ॥'

अर्थात् 'जिसप्रकार स्वर्ण अथवा मिट्टी की हाँडी में पकाए गए भात का स्वाद समान होता है उसीप्रकार हर-शिव और हरि-विष्णु=राम का यश=गुणगान सुजान सन्तजन चाहे सुर-गिरा= संस्कृत में करें, चाहे नर-गिरा=हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषा में करें, उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् उसका प्रभाव समान ही होता है ।'

इसके उत्तर में मधुसूदन सरस्वती ने गोस्वामी तुलसीदास की प्रशंसा करते हुए एक श्लोक लिखकर भेजा था--

'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥'

अर्थात् 'इस आनन्दकानन-आनन्दवन= काशी में एक चलता-फिरता तुलसी नामक वृक्ष है, जिसकी कवितारूपी मञ्जरी रामरूपी भ्रमर से सुशोभित है ।'

इस जनश्रुति के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास के समकाल में मधुसूदन सरस्वती का समय आता है । गोस्वामी जी का जीवनकाल सम्वत् 1589[42] से 1680[43] तक माना जाता है, अतएव मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल भी सम्वत् 1589 = 1532 ई० के लगभग ही होना चाहिए[44] ।

---

39. वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक और अनुवादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XII ।
40. स्टडीज़ इन द फ़िलासफ़ी ऑव् मधुसूदन सरस्वती, डॉ० सञ्जुक्ता गुप्ता, भूमिका पृष्ठ V, कलकत्ता, 1966 ।
41. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् 2019, पृष्ठ 125 ।
42. उपरिवत्, पृष्ठ 123 ।
43. गोस्वामी जी की मृत्यु के सम्बन्ध में लोग यह दोहा कहा करते हैं :–

    संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर ।
    श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥
44. अद्वैतसिद्धि, सम्पादक – पं० राजेन्द्र नाथ घोष, भूमिका – पृष्ठ 93 तथा द्रष्टव्य – वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – पं० रामज्ञ शर्मा, भूमिका ।

(ii) किंवदन्ती है कि अकबर के अर्थ-सचिव टोडरमल मधुसूदन सरस्वती का बहुत आदर करते थे, अतएव एक बार अकबरी दरबार में मधुसूदन सरस्वती को आमन्त्रित किया गया था और वहाँ आयोजित एक विशाल विद्वत्सभा के सभापति-पद पर उनको समासीन किया गया था, उस समय आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर अकबर और समूची विद्वत्-सभा ने एकमत से यह स्वीकार किया था–

'वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती ।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती ॥'

अर्थात् 'सरस्वती का पार मधुसूदन सरस्वती जानते हैं और मधुसूदन सरस्वती का पार तो देवी सरस्वती ही जानती है' ।

इससे सिद्ध होता है कि मधुसूदन सरस्वती अकबर के समसामयिक थे । अकबर का शासनकाल सन् 1556 से 1605 ई० तक इतिहास-प्रसिद्ध है, अतएव मधुसूदन सरस्वती का समय ईसा की सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध प्राप्त होता है[45] ।

(iii) आईने अकबरी[46] में अकबर के समसामयिक प्रसिद्ध विद्वानों, फकीरों, मौलवियों और साधुओं के नाम उल्लिखित हैं, उनमें मधुसूदन सरस्वती का नाम भी विद्वन्मण्डली के साथ अङ्कित है । अकबर का राज्यकाल सन् 1556 से सन् 1605 तक माना जाता है और अब्दुल फज़ल सन् 1597 में आईने अकबरी लिख चुके थे[47], इसलिए भी कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती आईने अकबरी से पूर्व अर्थात् लगभग सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित रहे हैं[48] ।

(iv) जनप्रवाद है कि मधुसूदन सरस्वती अपनी वृद्धावस्था में जब नवद्वीप गये थे तब वहाँ के प्रमुख पण्डित तर्कवागीश[49] और गदाधर भट्टाचार्य उनके पाण्डित्य को देखकर घबड़ा गये थे । इस विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है–

'नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः ॥'

गदाधर भट्टाचार्य उस समय बालक ही थे और मधुसूदन सरस्वती बहुत वृद्ध थे । गदाधर भट्टाचार्य का समय सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् लगभग 1620-1625 ई०[50] है । घटना के समय गदाधर भट्ट

---

45. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – पी० सी० दीवानजी, भूमिका – पृष्ठ xxi ।

46. आईने अकबरी, अब्दुल फज़ल, सम्पादक व अनुवादक – एच० ब्लॉचमन, आईन 30, वॉल्यूम् II, कलकत्ता, पृष्ठ 537-47 ।

47. "संस्कृत स्कॉलर्स ऑव् अकबरज़ टाइम", प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्लि, वॉल्यूम् XIII, पृष्ठ 31 ।

48. उपरिवत्, पृष्ठ 31-32 ।

49. सम्भवतः ये तर्कवागीश हरिराम तर्कवागीश रहे होंगे, क्योंकि घटना के समय गदाधर भट्ट बालक थे और हरिराम तर्कवागीश गदाधर भट्ट के गुरु थे ।

50. द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ 481-482 ।

15-20 वर्ष की आयु के रहे होंगे और मधुसूदन सरस्वती नब्बे वर्ष की आयु से अधिक होंगे। इससे सिद्ध होता है कि यतिवर का जन्मकाल सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही है[51]।

(v) किंवदन्ती है कि वृत्तरत्नाकर के टीकाकार नारायण भट्ट के समय में मधुसूदन सरस्वती विद्यमान थे, क्योंकि नारायण भट्ट के कथन से ही उन्होंने माधव सरस्वती से मीमांसा का अध्ययन किया था। नारायण भट्ट के पिता दकनिवासी रामेश्वर भट्ट जब द्वारिका की यात्रा पर जा रहे थे तब उन्होंने 1453 शकाब्द अर्थात् 1514 ई० में नारायण भट्ट को पुत्ररूप में प्राप्त किया था – ऐसा कहा जाता है[52]। इन रामेश्वर भट्ट का बनारसनिवासी माधव सरस्वती नामक शिष्य था। रामेश्वर भट्ट बनारस अपनी द्वारिका-यात्रा के अनेक वर्षों पश्चात् गये थे, अतएव उनके शिष्य माधव सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् सन् 1520-25 होना चाहिए[53]। सम्भवतः यही मधुसूदन सरस्वती के विद्यागुरु माधव सरस्वती हैं। इसके आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती नारायण भट्ट अथवा अपने गुरु माधव सरस्वती से 20-25 वर्ष पश्चात् स्थित हुए होंगे अर्थात् उनका समय 1540 ई० के आस-पास हो सकता है।

(vi) किंवदन्ती है कि जब मधुसूदन सरस्वती ने मध्व-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् व्यासतीर्थ के ग्रन्थ 'न्यायामृत' का खण्डन करते हुए 'अद्वैतसिद्धि' की रचना की, तो व्यासतीर्थ को बहुत दुःख हुआ। उस समय उनका शरीर अत्यन्त वार्धक्य से जर्जरित हो चुका था, अतएव उन्होंने अपने प्रधान शिष्य रामाचार्य को आदेश दिया कि वे छद्म वेश में मधुसूदन सरस्वती से ही 'अद्वैतसिद्धि' का पूर्ण अध्ययन करके 'अद्वैतसिद्धि' का खण्डन करें। रामाचार्य ने वैसा ही किया और 'न्यायामृत' की 'तरङ्गिणी' नामक टीका लिखी जिसमें 'अद्वैतसिद्धि' द्वारा किये हुए 'न्यायामृत' के खण्डन का खण्डन किया। व्यासतीर्थ का समय ईसा की सोलहवीं शती (1535[54] ई०) माना जाता है। इससे भी यह निश्चय होता है कि मधुसूदन सरस्वती सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में स्थित थे।

(vii) नैयायिक शंकर मिश्र ने श्रीहर्ष के अद्वैतपरक 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ का खण्डन करते हुए 'भेदरत्न' नामक ग्रन्थ लिखा है। 'भेदरत्न' ग्रन्थ का खण्डन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतरत्नरक्षण' नामक ग्रन्थ की रचना की है। शंकरमिश्र का समय पन्द्रहवीं शती (1490[55] ई०) माना जाता है, अतएव उनके निकट-परवर्ती होने के कारण मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही स्थिर होता है[56]।

---

51. अद्वैतसिद्धि, सम्पादक – पं० राजेन्द्र नाथ घोष, भूमिका – पृष्ठ 94।
52. इण्डियन ऐन्टिकेरी, वॉल्यूम् XLII, 1912, पृष्ठ 9।
53. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – पं० रामज्ञ शर्मा, भूमिका।
54. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलासफ़ीज, कॉर्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 356।
55. द्रष्टव्य – अ हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लॉजिक, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, पृष्ठ 458-459।
56. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ - 178।

(viii) मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' में 'एकजीववाद' का वर्णन करते हुए उससे सम्बन्धित दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया है[57], जिनमें से द्वितीय सिद्धान्त प्रकाशानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है[58] । प्रकाशानन्द का समय सोलहवीं शती (1505 ई०[59]) है, अतएव उनके निकट-परवर्ती होने के कारण मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है ।

(ix) मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवादी होने के साथ-साथ भक्तिवादी भी हैं, उन पर श्री चैतन्य की भक्ति का प्रभाव है, उनके भक्तिसिद्धान्त में रूपगोस्वामी के भक्ति-सिद्धान्त से यत्र-तत्र समानता देखी जाती है[60], अतएव कहा जा सकता है कि रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती- दोनों समकालीन हैं और श्री चैतन्य उनके पूर्ववर्त्ती हैं ही । श्री चैतन्य का समय सन् 1486 से सन् 1533 तक कहा जाता है[61] तथा रूपगोस्वामी का समय 1533 ई० माना जाता है[62], इसलिए भी मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1533-1540 ई० के आस-पास माना जा सकता है ।

(x) मधुसूदन सरस्वती के तीन प्रधान शिष्यों में से एक **शेषगोविन्द** शिष्य हुए हैं, इनके पिता का नाम शेषपण्डित था, जिनका दूसरा नाम कृष्णपण्डित भी था[63], जो प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के गुरु थे । भट्टोजी दीक्षित, रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ और बादशाह जहाँगीर समकालीन हैं । जहाँगीर का शासनकाल सन् 1605 से सन् 1627 तक रहा है, अतएव भट्टोजी दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ और जहाँगीर का जन्मकाल लगभग सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध हुआ और भट्टोजी दीक्षित के गुरु कृष्णपण्डित का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् 1550 ई० अथवा 1560 ई० होना चाहिए, इसीलिए कृष्णपण्डित के पुत्र शेषगोविन्द के गुरु मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही स्थिर होता है[64] ।

उपर्युक्त सभी युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध है ।

---

57. 'अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः । अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः' – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 48-49 ।
58. तुलना करें – **सिद्धान्तबिन्दु,** सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 49 तथा **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली,** प्रकाशानन्द, सम्पादक – अर्थर वेनिस, बनारस, संशोधित संस्करण – 1975, पृष्ठ 16 ।
59. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलॉसफ़ीज, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 341 ।
60. तुलना करें :– '**भक्तिरसामृतसिन्धु**', रूपगोस्वामी, सम्पादक व अनुवादक – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, दिल्ली, 1963, पश्चिम विभाग, द्वितीय लहरी से पंचम लहरी तक, पृष्ठ 328-429 तथा '**भक्तिरसायन**' मधुसूदन सरस्वती, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, द्वितीय उल्लास, कारिका 66-79 तथा तृतीय उल्लास इत्यादि ।
61. "लाइफ एण्ड पर्सनल्टी ऑव् चैतन्य", द अर्लि हिस्ट्री ऑव् द वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूव्रमेण्ट इन बंगाल, सुशील कुमार डे, कलकत्ता, 1961, पृष्ठ 67/102 ।
62. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फ़िलासफ़ीज, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम् I, पृष्ठ 355 ।
63. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ 178-179 ।
64. उपरिवत् ।

प्रो० एम० हिरियाना ने मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल 1500 ई० सिद्ध किया है[65]। रायबहादुर अमरनाथ रे ने भी यतिवर का समय 1500 ई० स्वीकार किया है[66]। सदाशिव एल० कत्रे ने मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत 'महिम्नस्तोत्रटीका' की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि के समय 1593 ई० के आधार पर यतिवर के अन्य दो ग्रन्थ– 'वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु' के प्रणयन का समय लगभग 1500 ई० सिद्ध किया है[67], इससे प्रो० कत्रे के अनुसार भी मधुसूदन सरस्वती का समय 1500 ई० का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। किन्तु मधुसूदन सरस्वती का समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध निश्चित करना उचित नहीं लगता है, कारण कि उनके प्रधान शिष्यों का समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। यदि यतिवर का जन्मकाल पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार करते हैं तो उनके शिष्यों के समय के आधार पर उनकी आयु की सीमा लगभग 125-150 वर्ष की होनी चाहिए, जबकि किंवदन्ती के आधार पर उनकी आयु की सीमा 107 वर्ष तक की ही प्राय: स्वीकार की गई है। अतएव उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर उनका समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही कहा जा सकता है।

श्री आर० कृष्णास्वामी शास्त्री मधुसूदन सरस्वती का जन्मकाल सत्रहवीं शती स्वीकार करते हैं[68]। पं० त्र्यम्बकराम शास्त्री यतिवर का समय सत्रहवीं शती मानते हैं[69]। के० टी० तैलङ्ग ने भी आचार्यवर का समय सत्रहवीं शती निश्चित किया है[70]। प्रो० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री भी यतिवर का समय सत्रहवीं शती मानते हैं[71]। अनन्तशास्त्री फड़के ने भी आचार्य का समय षोडश शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सप्तदश शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है [72]। ए० सुलोचना नाचने ने आनन्दाश्रम पुस्तकालय में सुरक्षित

---

65. इष्टसिद्धि, विमुक्तात्मा, सम्पादक – प्रो० एम० हिरियाना, सम्पादकीय भूमिका, पृष्ठ i, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 65, 1933।
66. "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", रायबहादुर अमरनाथ रे, इण्डियन कल्चर, वॉल्यूम् - 5, 1938-39, पृष्ठ 326-328।
67. (अ) "टर्मिनस अद क्यूयेम फॉर द डेटस् ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ थ्री वर्क्स" (1. वेदान्तकल्पलतिका, 2. सिद्धान्तबिन्दु एण्ड 3. महिम्नस्तोत्रटीका) – सम्वत् 1650 = 1593 ए० सी०", सदाशिव एल० कत्रे, जर्नल ऑव् गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वॉल्यूम् 7, 1949-50, पृष्ठ 181-186।

    (ब) "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ वेदान्तकल्पलतिका – बिफ़ोर सम्वत् 1650 ऑर 1593 ए० सी० ", सदाशिव एल० कत्रे, पूना ओरिएण्टललिस्ट, वॉल्यूम् XIII, नं० 3-4, 1948-51, पृष्ठ 15-17।
68. "एज ऑव श्रीमधुसूदन सरस्वती", आर० कृष्णास्वामी शास्त्री, जर्नल ऑव् ओरिएण्टल रिसर्च, मद्रास, वॉल्यूम् 2, 1929, पृष्ठ 97-104।
69. सिद्धान्तबिन्दु, रत्नावली और लघुव्याख्या सहित, सम्पादक – पं० त्र्यम्बकराम शास्त्री, सम्पादकीय भूमिका – पृष्ठ 10-11।
70. "नोट ऑन् द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", के० टी० तैलङ्ग, जर्नल ऑव् द एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल (बोम्बे ब्रान्च), वॉल्यूम XXX, पृष्ठ 368।
71. ब्रह्मसिद्धि, मण्डनमिश्र, सम्पादक -- प्रो० एस० कुप्पुस्वामी, सम्पादकीय भूमिका, पृष्ठ i, मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज नं० 4, 1937।
72. श्रीभगवद्भक्तिरसायन, संस्कर्ता – जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, भूमिका – पृष्ठ 10।

'वेदान्तकल्पलतिका' की पाण्डुलिपि में उल्लिखित श्लोक[73] के आधार पर मधुसूदन सरस्वती का समय लगभग 1670 ई० सिद्ध किया है[74], जिसका खण्डन सदाशिव एल० कत्रे ने अपने एक लेख में किया है[75] । वस्तुतः उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर भी उक्त मत खण्डित हो जाता है ।

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती को उपर्युक्त अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर निस्सन्देह रूप से सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध अर्थात् 1532-1540 ई० का ही आचार्य कहा जा सकता है ।

03. रचनाएँः-- जर्मन विद्वान् आफ्रेख्त थियोडार ने कैटालॉगूस कैटालॉग्रुम[76] में मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत बाईस ग्रन्थों की सूची दी है, जो इसप्रकार है:-

(1) अद्वैतसिद्धि (2) अद्वैतरत्नरक्षण (93) आत्मबोधटीका (4) आनन्दमन्दाकिनी (5) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण (6) कृष्णकुतूहलनाटक (7) प्रस्थानभेद (8) भक्तिसामान्यनिरूपण (9) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका (10) भगवद्भक्तिरसायन (11) भागवतपुराण-प्रथमश्लोकव्याख्या (12) महिम्नस्तोत्रटीका (13) राज्ञाम्प्रतिबोध (14) वेदस्तुतिटीका (15) वेदान्तकल्पलतिका (16) शाण्डिल्यसूत्रटीका (17) शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका (18) संक्षेपशारीरकसारसंग्रह (19) सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णन (?) (20) सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु (21) हरिलीलाव्याख्या तथा (22) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या ।

उक्त सूची के अन्तर्गत उल्लिखित ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थ तो अन्तःसाक्ष्य के आधार पर मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत ही हैं, किन्तु कुछ ग्रन्थों को उनकी रचना स्वीकार करना सन्देहास्पद है । उनकी सुनिश्चित और सन्देहास्पद रचनाओं का संक्षिप्त विवरण कालक्रमानुसार इस प्रकार है:-

(1) वेदान्तकल्पलतिकाः-- यह ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत है, कारण कि इस ग्रन्थ के मंगलश्लोक में आपने अपने दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती का नामोल्लेख किया है[77] और ग्रन्थ के अन्त में इसप्रकार पुष्पिका भी दी है-- **'इति श्रीवेदान्तकल्पलतिकायां परमहंसपरिव्राजकमधुसूदनसरस्वतीकृतायां ससाधनापवर्गनिरूपणं नाम स्तबकः[78]'** । इसमें 'सिद्धान्तबिन्दु' का उल्लेख प्राप्त है[79] । यह ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु, महिम्नस्तोत्रटीका, अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में उद्धृत है । इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक,

---

73. अद्रीन्द्वद्रीन्दुसंख्येऽब्दे राक्षसे चैव (चैत्र) मेचके ।
द्वितीयेऽन्दौ पञ्चवट्यां कृत्वार्पितमिदं गुरोः ।।

74. "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", ए० सुलोचना नाचने, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट नं० 30, 1949, पृष्ठ 326-331; समरीज़ ऑव् पेपर्स, ऑल् इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स, फ़िफ्टीन्थ बोम्बे सेशन्, 1949, पृष्ठ 221 ।

75. द्रष्टव्य -- "डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वतीज़ वेदान्तकल्पलतिका -- बिफ़ोर सम्वत् 1650 और 1593 ए० सी०", सदाशिव एल० कत्रे, पूना ओरिएण्टलिस्ट, व़ॉल्यूम् XIII, नं० 3-4, 1948-51, पृष्ठ 15-17 ।

76. कैटालॉगूस कैटालॉग्रुम, पार्ट I, पृष्ठ 427 ।

77. तथापि श्रीविश्वेश्वरचरणपङ्केरुहसुधा -
सुधाराभिः सिक्तो न कथमपि रिक्तोऽस्मि भविता ।। -- वेदान्तकल्पलतिका, मङ्गलश्लोक 2 ।

78. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक -- आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 176 ।

79. विस्तरेण, एतत् प्रपञ्चितमस्माभिः **सिद्धान्तबिन्दौ**-- वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक- आर० डी० करमरकर, पृष्ठ 164 ।

सांख्य, भास्कर, पाशुपतादि बीस मतों का निराकरण कर औपनिषद मतानुसार मोक्ष-तत्त्व का निरूपण किया गया है[80]।

(2) सिद्धान्तबिन्दुः— शङ्कराचार्यप्रणीत 'दशश्लोकी' की व्याख्या 'सिद्धान्तबिन्दु' है, यह 'सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु' नाम से भी जानी जाती है। इसके मङ्गलश्लोक में प्रणेता ने अपने गुरु श्रीविश्वेश्वर को प्रणाम किया है[81] और ग्रन्थ के अन्त में अपने को श्रीविश्वेश्वर भगवत्पाद का शिष्य कहा है[82], अतएव इस ग्रन्थ के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती हैं। इसमें 'वेदान्तकल्पलतिका' उद्धृत है[83]। वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि और भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में इसका उल्लेख किया गया है। यह पठन-पाठन-परम्परा में लघुसिद्धि = लघु अद्वैतसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

(3) महिम्नस्तोत्रटीकाः— 'महिम्नस्तोत्र' 'शिवमहिम्नस्तोत्र' है, इसके रचयिता पुष्पदन्त हैं, इसमें भगवान् शिव की पौराणिक कथानकों के आधार पर सुन्दर स्तुति प्रस्तुत की गई है। इस स्तोत्र की व्याख्या ही 'महिम्नस्तोत्रटीका' है। टीका के प्रारम्भ में ही टीकाकार ने अपने गुरु श्रीविश्वेश्वर को नमन किया है[84] और टीका के अन्त में अपने को श्रीविश्वेश्वर सरस्वती के चरणाविन्द का मधुकर कहा है[85], इसलिए टीकाकार मधुसूदन सरस्वती हैं। इस टीका की विशेषता यह है कि महिम्नस्तोत्र को शिव और विष्णु-दोनों की स्तुति में विनियुक्त किया गया है[86]। इसमें 'वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख किया गया है[87]।

सम्भवतः वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु और महिम्नस्तोत्रटीका– ये तीनों ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती की सर्वप्रथम और समकालीन रचनाएँ हैं[88], जिनमें से वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु में मधुसूदन सरस्वती के अद्वैत-वेदान्त सम्बन्धी विचार निष्कर्ष रूप से कहे गये हैं तथा महिम्नस्तोत्रटीका में उनके

---

80. मुमुक्षूणामनुष्ठेयविक्षेपविनिवृत्तये।
मोक्षं ससाधनं वच्मि परपक्षनिरासतः॥ – वेदान्तकल्पलतिका, मंगलश्लोक 5।

81. श्रीशंकराचार्यनवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्दशास्त्रश्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्॥ – सिद्धान्तबिन्दु, मंगलश्लोक 1।

82. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरभगवत्पादशिष्यश्रीमन्मधुसूदनमुनिविरचितः सिद्धान्ततत्त्वबिन्दुः समाप्तः॥ – सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 154।

83. (अ) विस्तरस्तु **वेदान्तकल्पलतिकायामनुसंधेयः**— सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक-वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर, पृष्ठ 133।
(ब) विस्तरेणैतत्प्रपञ्चितमस्माभि**र्वेदान्तकल्पलतिकाया**मित्युपरम्यते-सिद्धान्तबिन्दु, पृष्ठ 141।

84. विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम्।
पूर्वाचार्यकृतव्याख्यासंग्रहः क्रियते मया॥ – महिम्नस्तोत्रटीका, कलकत्ता संस्करण, पृष्ठ 20।

85. इति परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीचरणारविन्दमधुकरेण श्रीमधुसूदनसरस्वतीसमाख्याधरेण केनचिद्विरचिता महिम्नाख्यस्तुतिव्याख्या परिपूर्णा – महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 81।

86. हरिशंकरयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु॥ -- महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 81।

87. (अ) चेति प्रमाणत्रयमुक्तम्। विस्तरेण चात्र युक्तयो **वेदान्तकल्पलतिकायाम**नुसंधेयाः। तस्मात् 'न विद्मः' इत्यादिना साध्वेवोक्तमद्वितीयत्वम्।
(ब) यथा च शब्दादप्यपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभि**र्वेदान्तकल्पलतिकाया**मित्युपरम्यते। – महिम्नस्तोत्रटीका, पृष्ठ 76।

88. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक -- आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XIV।

भक्ति-सिद्धान्तों को कहा गया है। आपके अन्य परवर्ती ग्रन्थ तो उक्तत्रय ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्याएँ ही हैं।

प्रस्थानभेद[89] मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह अक्षरशः महिम्नस्तोत्र के सातवें श्लोक की 'महिम्नस्तोत्रटीका' ही है।

(4) **अद्वैतसिद्धिः--** 'अद्वैतसिद्धि' ब्रह्मसिद्धि, नैष्कर्म्यसिद्धि और इष्टसिद्धि की पंक्ति में सुशोभित होनेवाला ग्रन्थरत्न है। मधुसूदन सरस्वती की समस्त रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसी ग्रन्थ से मधुसूदन सरस्वती अमर हैं। यही ग्रन्थ है जिसके कारण मधुसूदन सरस्वती का शाङ्करवेदान्त के श्रेष्ठ आचार्यों में सर्वोच्च स्थान है। इस ग्रन्थ से आपके विषय में अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जैसे कि ये संन्यासी थे[90]; इनके परमगुरु श्रीराम सरस्वती, दीक्षागुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती और विद्यागुरु श्री माधव सरस्वती थे[91]। अतएव आप ही परम्परानुसार 'अद्वैतसिद्धि' के प्रणेता हैं। इसमें वेदान्तकल्पलतिका और सिद्धान्तबिन्दु का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अद्वैतरत्नरक्षण और भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में उद्धृत है। 'अद्वैतसिद्धि' कोई स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु मध्वसम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् व्यासतीर्थ प्रणीत 'न्यायामृत' ग्रन्थ का आमूलचूल आनुपूर्वी खण्डन ग्रन्थ है, किन्तु इसकी प्रतिपादन- शैली ऐसी सुसज्जित और सुदृढ़ है कि जिस व्यक्ति का द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय से सम्पर्क नहीं है और जो 'न्यायामृत' ग्रन्थ को भी नहीं देख पाया है, वह व्यक्ति कदापि यह नहीं कह सकता है कि 'अद्वैतसिद्धि' एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं है। इसकी प्रतिपादन-शैली नितान्त विमल और प्राञ्जल है। इसमें द्वैताद्वैत-सिद्धान्त का खण्डन करके अद्वैत-सिद्धान्त की सिद्धि की गई है।

(5) **अद्वैतरत्नरक्षणः--** यह प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें अद्वैतसिद्धि का अनेक बार उल्लेख किया गया है[92] और एक बार वेदान्तकल्पलतिका का उल्लेख हुआ[93] है, अतएव सिद्ध है कि इसके प्रणेता मधुसूदन सरस्वती हैं। इसमें नैयायिक शंकरमिश्र कृत 'भेदरत्न' ग्रन्थ का खण्डन किया गया है।

(6) **भक्तिरसायनः --** यह ग्रन्थ भक्ति-दर्शन की व्याख्या है। इसमें भक्ति के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। ब्रह्मविद्या से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के समान केवल भक्ति से भी परमेश्वर के परम प्रेम की प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है-- यह इसमें स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है। इसमें श्रवण-कीर्तनादि साधन, भक्ति द्वारा परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और आनन्दरूप परमेश्वर का ज्ञान, तथा अन्त में परमेश्वर सायुज्य की प्राप्ति-- यह क्रम विवक्षित है। यह पद्यात्मक ग्रन्थ है, इसमें तीन उल्लास हैं-- प्रथम में भक्तिसामान्यनिरूपण, द्वितीय में भक्तिविशेषनिरूपण और तृतीय में भक्तिरसनिरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास मात्र पर ग्रन्थकार की स्वोपज्ञटीका भी है। इस ग्रन्थ में

---

89. प्रस्थानभेद, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – पण्डित जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1893।

90. 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन - - -' – अद्वैतसिद्धि, सम्पादक -- एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937, पृष्ठ 8।

91. श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः ॥ -- अद्वैतसिद्धि, बम्बई संस्करण, पृष्ठ 8।

92. अद्वैतरत्नरक्षण, सम्पादक – एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री, पृष्ठ 9, 24, 26, 28, 37 और 44।

93. उपरिवत्, पृष्ठ 44।

वेदान्तकल्पलतिका[94] और सिद्धान्तबिन्दु[95] का उल्लेख है तथा यह ग्रन्थ भगवद्गीतागूढार्थदीपिका में अनेक बार उद्धृत हुआ है[96], अतएव यह मधुसूदन सरस्वती की ही कृति है । इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण नाम 'भगवद्भक्तिरसायन'[97] है, 'भक्तिरसायन'[98] तो इसका संक्षिप्त नाम है ।

भक्तिसामान्यनिरूपण मधुसूदन सरस्वती प्रणीत कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह भक्तिरसायन के प्रथम उल्लास का ही नाम है[99] ।

(7) **भगवद्गीतागूढार्थदीपिका:--** भगवद्गीता पर 'गूढार्थदीपिका'--टीका मधुसूदन सरस्वती की सर्वोत्कृष्ट कृति है । इसमें प्रत्येक पद, यहाँ तक कि एकवर्ण पद = 'च', 'वा' आदि अव्यय-निपात-पदों की भी व्याख्या की गई है[100] । यह अतिविस्तृत टीका है, इसमें मधुसूदन सरस्वती ने अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है । इसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिकाएँ दी गई हैं, वे सब प्राय: अद्वैतरत्नरक्षण और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह की पुष्पिकाओं से मिलती-जुलती हैं[101] । इसके अतिरिक्त, गूढार्थदीपिका-टीका के अन्त में जो अन्तिम श्लोक की प्रथम पंक्ति है, वह अद्वैतसिद्धि के द्वितीय मङ्गलश्लोक की प्रथम पंक्ति से पूर्णतः मिलती है[102] । इस टीका में सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतसिद्धि और भक्तिरसायन का उल्लेख किया गया है । इसप्रकार गूढार्थदीपिका-टीका मधुसूदनी टीका के नाम से जानी जाती है ।

भगवद्गीता का स्थान वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत है, अतएव वेदान्त के अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मत के प्रायः सभी आचार्यों ने गीता पर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं और एकमत होकर इसको युगधर्मप्रवर्तक, अपरिवर्तनीय सनातन शास्त्र स्वीकार किया है । इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय किसी-न-किसी रूप में सभी आचार्य मानते हैं । सभी भाष्यों में से शाङ्करभाष्य पर टीका-उपटीकाओं का जितना प्रणयन हुआ है उतना अन्य भाष्यों पर नहीं हुआ है । शाङ्करभाष्य पर प्रणीत टीकाओं में से मधुसूदन सरस्वती प्रणीत 'गूढार्थदीपिका'--टीका का स्थान यदि सर्वोच्च कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी । गीता पर मधुसूदनी-टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है । मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में गूढ़ अर्थों को प्रकाशित किया है, इसीलिए टीका का नामकरण 'गूढार्थदीपिका' किया है । यतिवर ने उक्त टीका में यथास्थान

---

94. विस्तरस्त्वस्मदीय**वेदान्तकल्पलतायाम**नुसन्धेयः -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 54 ।
95. सर्वा चेयं प्रक्रियाऽस्माभिर्विस्तरेण **सिद्धान्तबिन्दौ** प्रतिपादिता -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 57 ।
96. भगवद्गीतागूढार्थदीपिका, सम्पादक व हिन्दीभाष्यानुवादकार -- मदन मोहन अग्रवाल, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 473, 891 ।
97. **भगवद्भक्तिरसायने**ऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिताः -- भगवद्गीतागूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 473 ।
98. निपीयतां **भक्तिरसायनं** बुधाः -- भक्तिरसायन, मङ्गलश्लोक -- 2 ।
99. इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-विश्वविश्रुत-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रताक-श्रीमधुसूदनसरस्वती-यतिवर-विरचिते श्रीभगवद्-भक्तिरसायने **भक्तिसामान्यनिरूपणं** नाम प्रथम उल्लासः -- भक्तिरसायन, संस्कर्ता -- जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, पृष्ठ 128 ।
100. प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् -- गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक प्रथम ।
101. द्रष्टव्य -- गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 42, 193, 247, 307 इत्यादि तथा अद्वैतरत्नरक्षण, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 46 और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, काशी संस्कृत सीरीज, वॉल्यूम् 18, पृष्ठ 398, 144, 352, 392.
102. द्रष्टव्य -- गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 902 तथा अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8 ।

ज्ञान, योग, भक्ति, न्याय, मीमांसा, व्याकरण, साहित्यशास्त्र-- सभी का पूर्णतया आदर किया है, उससे भगवद्गीता की सर्वमान्यता तो सुरक्षित रहती ही है, मुनिवर की बहुमुखी प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है । यद्यपि आचार्यवर कट्टर अद्वैतवादी थे अतएव उन्होंने गूढार्थदीपिका में अद्वैतमत का ही संपोषण किया है, तथापि अनेक भक्तिप्रसङ्गों में इनका दृष्टिकोण अद्वैतवादी आचार्यों से विलक्षण प्रतीत होता है, यहाँ तक कि उन्होंने भक्तिपक्ष का समर्थन और प्रतिपादन करने में शंकराचार्य से भी अपना मतभेद प्रकट करने में संकोच नहीं किया है[103] । इससे उनकी विचारस्वतन्त्रता और सत्यनिष्ठा का आभास प्राप्त होता है, यह नहीं कि अहंकार-प्रदर्शन के कारण भाष्यकार के प्रति उनकी कोई अवहेलना रही है, वे जहाँ-जहाँ अपना मतभेद प्रकट करते हैं वहाँ-वहाँ भगवत्पादचरणों के प्रति अत्यन्त विनय और शालीनता व्यक्त करते हैं । वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में अद्वैतज्ञान के साथ भक्ति-दर्शन का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है, कहीं-कहीं तो श्रीकृष्ण-भक्ति में विभोर होकर अद्वैत-ज्ञान के समान श्रीकृष्ण को ही परम तत्त्व स्वीकार किया है[104] । यही गूढार्थदीपिका की विशेषता है ।

मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में सहेतुक संसार से आत्यन्तिक निवृत्तिरूप परम निःश्रेयस=मोक्ष को ही गीताशास्त्र का प्रयोजन कहा है[105] । उनके अनुसार मोक्ष का मूल निष्काम कर्मों का अनुष्ठान है और उसकी प्रतिबन्धक शोकादि पापमय आसुरी सम्पद् है जिससे कि स्वधर्म से पतन, प्रतिषिद्ध वस्तुओं का सेवन तथा फल की कामना से अथवा अहंकार से कर्म में प्रवृत्ति होती है । इसप्रकार सदैव आसुरी पापों से ग्रस्त पुरुष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए अयोग्य हो जाता है और अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता है । इस लोक में सभी प्राणी स्वभावतः दुःखों से द्वेष करते हैं, अतएव दुःखप्राप्ति के साधनभूत शोक, मोह आदि का सर्वदा त्याग करना चाहिए । 'अनादिजन्मपरम्परागत संस्कारों से सुदृढ, समस्त दुःखों के कारण और अत्यन्त दुस्त्यज शोक-मोहादि किस उपाय से नष्ट हों'-- ऐसी आकांक्षा रखनेवाले, पुरुषार्थ की ओर उन्मुख पुरुष को बोध कराने के इच्छुक भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ गीताशास्त्र का उपदेश किया है[106] । यतिवर की मान्यता है कि गीताशास्त्र में भगवान् ने " 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं'[107] इत्यादि वाक्य के द्वारा शोक-मोहादि-- सभी आसुरी पापों की निवृत्ति के उपायों का उपदेश करके अपने-अपने वर्णाश्रम-- धर्मों का अनुष्ठान करते हुए परम पुरुषार्थ को प्राप्त करो" -- ऐसा सर्वसाधारण के लिए उपदेश किया है । उपनिषदों में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य-संवादादि के समान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की संवादरूपा गीता ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है[108] ।

मुनिवर ने कहा है कि सच्चिदानन्दस्वरूप और पूर्ण विष्णु के परम पद की प्राप्ति के लिए तीन काण्डोंवाले वेदों का समारम्भ हुआ है, वेदों के क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-- ये तीन काण्ड हैं, वेदार्थस्वरूप होने के कारण ही अठारह अध्यायों वाली गीता भी तीन काण्डों वाली है । इसके एक-एक

---

103. द्रष्टव्य -- 'यद्भक्तिं न विना मुक्तिः - - - ', गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451 ।

104. द्रष्टव्य -- 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने', गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 731, 901 ।

105. सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम् ।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ।। गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक 2 ।

106. गूढार्थदीपिका, उपोद्घात -- श्लोक 41-45 ।

107. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे -- गीता, 2.11 ।

108. गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 9 ।

षट्क=छः-छः अध्यायों से वेदों के एक-एक काण्ड उपलक्षित हैं। उसके प्रथम छः अध्यायों में 'कर्मनिष्ठा' और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञाननिष्ठा वर्णित है, क्योंकि कर्म और ज्ञान– दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता है-- ऐसी उनकी मान्यता है। अतएव मध्यम छः अध्यायों में भगवद्भक्तिनिष्ठा वर्णित है[109]। यह भगवद्भक्तिनिष्ठा कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा– दोनों में अनुगत, सभी विघ्नों को नष्ट करनेवाली है अतएव कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा भेद से तीन प्रकार की है। पुनः उनके अनुसार गीता के प्रथम काण्ड में कर्म और कर्मत्याग के द्वारा युक्तिपूर्वक 'त्वम्' पद के अर्थभूत विशुद्ध 'आत्मा' का निरूपण किया गया है, द्वितीय काण्ड में भगवद्भक्तिनिष्ठा के वर्णन द्वारा 'तत्' पद के अर्थभूत परमानन्दस्वरूप 'भगवान्' का निर्धारण किया गया है तथा तृतीय काण्ड में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अर्थभूता 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ– उन दोनों की 'एकता' स्पष्टरूप से बतलाई गई है[110]।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार अद्वैतज्ञान और भक्तिदर्शन=द्विक साधन ही परमानन्द की प्राप्ति और ब्रह्मप्राप्ति–भगवत्प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधन है। यतिवर ने 'गूढार्थदीपिका' के प्रारम्भिक श्लोकों में मुक्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार भक्त को अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान करना चाहिए, उसी समय जप-स्तुति आदि भी करनी चाहिए, जिससे कि भक्त के अन्तःकरण में भगवद्भक्ति का अङ्कुर अङ्कुरित हो। इसप्रकार पापों का क्षय हो जाने पर जब भक्त-चित्त में विवेक करने की योग्यता आ जाती है तो उसमें दृढ़तापूर्वक नित्यानित्यवस्तुविवेक उदित होने लगता है। तदुपरान्त क्रमशः लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होने पर शमदमादि छः प्रकार की साधन सम्पत्ति से सम्पन्न होने के कारण उसकी संन्यास में निष्ठा होती है। ततः उसमें तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न होती है, तब वह सद्गुरु की शरण में जाता है और उनसे उपदेश ग्रहण करता है। फिर सन्देह की निवृत्ति के लिए वह मुमुक्षु वेदान्त का श्रवण और मनन करता है। उससे सांसारिक जीवन की व्यर्थता को समझता है और अविद्या को सूक्ष्म-दृष्टि से जानता है। तदुपरान्त ब्रह्मजिज्ञासा होती है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से ब्रह्म और जीव के स्वरूप को जानता है। जब मुमुक्षु भक्त जीव और ब्रह्म के अद्वैत-तत्त्व को जान लेता है तब भक्त के अन्तःकरण में आनन्दानुभूति होती है[111]। उक्त सभी क्रम भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का विधान करते हैं। भक्ति की चरम अवस्था तो भक्त में सच्चिदानन्दस्वरूप के प्रति निस्सीम गाढानुराग की प्राप्ति के लिए प्रेम की भावना भावित होना है। भक्ति में अद्वैतज्ञान अथवा अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है। भगवान् के प्रति प्रेम विशुद्धज्ञान की परिधि का भी अतिक्रमण करता है, क्योंकि विशुद्धज्ञान सच्चिदानन्द में विश्रान्ति ही प्राप्त करता है, जबकि भगवान् के प्रति विशुद्ध प्रेम सच्चिदानन्दानुभूति कराता है[112]। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैतवेदान्ती ने कहा है–

---

109. गूढार्थदीपिका, उपोद्धात – श्लोक 3-6।

110. गूढार्थदीपिका, उपोद्धात – श्लोक 7-10।

111. द्रष्टव्य – गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 4-8।

112. श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्रसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम्॥
– गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 556।

'कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे[113] ॥'

'कोई भाग्यशाली तो क्वचित् अनन्त-तत्त्व में अपने अन्त:करण को स्थिर करके अन्य विषयों की शान्ति करते हैं, किन्तु हे मधुसूदन ! मेरा मन-मलिन्द तो आपके पादारविन्द से गिरते हुए मकरन्द के बिन्दुओं का आस्वादन करके बार-बार मत्त हो जाता है।'

(8) संक्षेपशारीरक-सारसंग्रहः— यह ग्रन्थ सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा प्रणीत पद्यात्मक 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की सुगम व्याख्या है। यद्यपि इस ग्रन्थ में मधुसूदन सरस्वती-विरचित उपर्युक्त ग्रन्थों में से किसी एक को भी उद्‌धृत नहीं किया गया है और न उपर्युक्त ग्रन्थों में इसका ही उल्लेख प्राप्त है, तथापि टीकाकार ने टीका के द्वितीय मंगल श्लोक में जिसप्रकार अपने गुरुजनों का नामोल्लेख किया है उसीप्रकार 'अद्वैतसिद्धि' के द्वितीय मंगल श्लोक में प्राप्त है[114], इसके अतिरिक्त टीका के प्रथम अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका दी हुई है वह पूर्णतया 'अद्वैतरत्नरक्षण' की पुष्पिका के समान है[115] तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों के अन्त में जो पुष्पिकाएँ हैं उनमें 'श्रीविश्वेश्वरसरस्वती' के पश्चात् 'पूज्यपादशिष्य' के स्थान पर 'श्रीपादशिष्य' दिया हुआ है[116]— यह अन्तर है, अन्यथा पूर्ववत् ही हैं, अतएव स्पष्ट है कि उक्त टीका के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती हैं। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि सम्भवतः यह कृति मधुसूदन सरस्वती की प्रथम रचना है, किन्तु यह कथन असंगत है, कारण कि इस टीका की पुष्पिकाएँ आचार्य के अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण नामक परवर्ती ग्रन्थों से मिलती-जुलती हैं।

अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, भक्तिरसायन, भगवद्गीतागूढार्थदीपिका और संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह— ये पाँच ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती की एक समयविशेष की रचनाएँ प्रतीत होते हैं।

(9) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्याः— श्रीमद्भागवतपुराण के आरम्भिक तीन श्लोकों की यह सुन्दर व्याख्या है। इसको 'परमहंसप्रिया' नाम से भी जानते है[117]। 'हरिलीलाव्याख्या' में इसको उद्‌धृत किया गया है। इसमें 'भक्तिरसायन' का उल्लेख भी प्राप्त होता है[118], निस्सन्देह यह मधुसूदन सरस्वतीकृत व्याख्या है। सम्भवत: इसको 'पद्यत्रयीव्याख्या' भी कहते हैं जिसकी पाण्डुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में सुरक्षित है[119]।

---

113. गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 587।
114. द्रष्टव्य – '**श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां** - - - ', संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, अध्याय प्रथम, पृष्ठ 1 तथा **श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन** - - -', अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8।
115. द्रष्टव्य – संक्षेपशारीरक – सारसंग्रह, अध्याय प्रथम, पृष्ठ 398 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 46।
116. द्रष्टव्य – संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह, अध्याय द्वितीय, पृष्ठ 144, अध्याय तृतीय, पृष्ठ 352 और अध्याय चतुर्थ, पृष्ठ 392 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 46।
117. वेदान्तकल्पलतिका, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भूमिका – पृष्ठ XIV तथा न्यायामृताद्वैतसिद्धी, सम्पादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, भूमिका – पृष्ठ 18।
118. भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या, सम्पादक – नित्यस्वरूप, वॉल्यूम I, पृष्ठ 31।
119. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इण्डियन फिलॉसफीज़, कार्ल एच० पोटर, वॉल्यूम I, पृष्ठ 370।

भगवत्पुराणप्रथमश्लोकव्याख्या कोई पृथक् व्याख्या नहीं है, अपितु यह 'आद्यत्रयश्लोकव्याख्या' में से प्रथमश्लोक मात्र की व्याख्या है ।

(10) **हरिलीला-व्याख्याः**– यह बोपदेव-द्वारा प्रणीत 'हरिलीलामृत' की व्याख्या है । 'हरिलीलामृत' श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणी है । 'हरिलीला-व्याख्या' 'हरिलीला-विवेक' नाम से भी जानी जाती है । इसमें 'परमहंसप्रिया' का उल्लेख हुआ है । इसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिकाओं और सबसे अन्तिम श्लोक में इसको मधुसूदन सरस्वती-विरचित कहा है, इसलिए यह मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत है । ऐसा ही इसके सम्पादक[120] और प्रो० पी० एम० मोदी[121] स्वीकार करते हैं ।

'परमहंसप्रिया' और 'हरिलीलाव्याख्या'– ये दोनों व्याख्याएँ यतिवर की एक समय की रचनाएँ लगती हैं ।

(11) **आनन्दमन्दाकिनी[122]:**– यह ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुतिपरक है[123] । यह पद्यात्मक है । इसके अन्तिम पद्य और पुष्पिका में प्रणेता का नामोल्लेख मधुसूदन सरस्वती किया गया है[124] । अतएव इसको यतिवर की रचना कहा जा सकता है ।

(12) **वेदस्तुतिटीकाः** – यह श्रीमद्भागवतमहापुराण के अन्तर्गत वेदस्तुति की महत्त्वपूर्ण टीका है । इसको मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत कहा जा सकता है, कारण कि आपके भक्तिदर्शन में प्रायः भागवतपुराण का प्रभाव देखा जाता है ।

(13) **आत्मबोधटीकाः**– यह शंकराचार्य-द्वारा प्रणीत 'आत्मबोध' की टीका है । मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः इसको लिखा हो, क्योंकि ये शाङ्कर-वेदान्त के आचार्य हैं ।

(14) **शाण्डिल्यसूत्रटीकाः**– 'शाण्डिल्यसूत्र' भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति-सिद्धान्तों की व्याख्या की है, अत: सम्भावना की जा सकती है कि उन्होंने 'शाण्डिल्यसूत्रटीका' का प्रणयन किया हो ।

राज्ञाम्प्रतिबोधः– श्री एस० एन० तदपत्रीकार ने इस ग्रन्थ को अपने एक लेख[125] में मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रणीत स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस ग्रन्थ के दो भाग हैं– प्रथम भाग में तान्त्रिक पञ्च-मकार की व्याख्या है और द्वितीय भाग में राजनीतिशास्त्र का वर्णन है । ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह स्पष्ट होता है कि यह रचना मधुसूदन सरस्वती की नहीं हो सकती है, कारण कि आप जैसे वैष्णवभक्त और संन्यासी की तन्त्रशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में कोई रुचि रही हो– इसमें सन्देह है । इसके अतिरिक्त, लेखक ने अपने गुरु का नाम अखण्डानन्द बतलाया है[126], जबकि मधुसूदन सरस्वती के गुरु श्रीराम

---

120. हरिलीलाविवेक, सम्पादक – ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूमिका – पृष्ठ 1, 7 ।
121. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – प्रो० पी० एम० मोदी, बडोदा, 1929, भूमिका – पृष्ठ 27 ।
122. काव्यमाला संस्कृत सिरीज, पार्ट II, बम्बई ।
123. द्रष्टव्य – "द डेट ऑव् मधुसूदन सरस्वती", म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज़ नं० 7, पृष्ठ 177 ।
124. आनन्दमन्दाकिनी, पृष्ठ 154 ।
125. "अ वर्क ऑन् अर्थशास्त्र बाई मधुसूदन", एस० एन० तदपत्रीकर, ऐनल्ज़ ऑव् भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट नं० 8-9, पृष्ठ 33 ।
126. उपरिवत् ।

सरस्वती, श्रीविश्वेश्वरसरस्वती और श्रीमाधव सरस्वती थे, अतएव यह रचना मधुसूदन सरस्वती की नहीं है ।

ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरणः— यह ग्रन्थ वेद के मन्त्रों से सम्बन्धित आठ प्रकार के विकृति-पाठों का विवरण प्रस्तुत करता है, अतएव यह शास्त्रीय ग्रन्थ है । इसके प्रथम श्लोक के अनुसार इसके प्रणेता श्रीकृष्ण द्वैपायन के शिष्य मधुसूदन मस्करी हैं । मधुसूदन सरस्वती प्रायः अपने ग्रन्थों में अपने को मधुसूदन मुनि[127] तो अवश्य कहते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को मधुसूदन मस्करी कभी नहीं कहा है । यद्यपि 'मस्करी' का अर्थ भी संन्यासी है, किन्तु 'मुनि' का अर्थ संन्यासी तो है ही, उसके साथ 'विचारक' भी अर्थ है । अतएव मधुसूदन मस्करी भिन्न ग्रन्थकार हैं । इसके अतिरिक्त मधुसूदन मस्करी के गुरु श्रीकृष्ण द्वैपायन हैं, जबकि मधुसूदन सरस्वती के गुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती है । अतः सिद्ध है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती नहीं हैं ।

कृष्णकुतूहलनाटकः— यह भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं पर आधृत नाट्य-रचना है । नाटककार के अनुसार लेखक के माता-पिता का नाम अरुन्धती और नारायण है, उसका शाण्डिल्य गोत्र है तथा उसके गुरु का नाम मुकुन्द है[128], जबकि यतिवर के माता-पिता, गुरु और गोत्र के नाम सर्वथा भिन्न हैं । अतएव यह मधुसूदन सरस्वती की रचना नहीं है ।

शास्त्रसिद्धान्तलेशटीकाः— यह अप्यय दीक्षित-द्वारा प्रणीत सिद्धान्तलेशसंग्रह की व्याख्या है । यह व्याख्या मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत नहीं हो सकती है, कारण कि अप्पयदीक्षित और मधुसूदन सरस्वती– दोनों ही समकालीन और प्रकाण्ड विद्वान् हैं ।

सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णनः— इसके विषय में कुछ भी कहना असम्भव है, क्योंकि ग्रन्थ-सूचीकार आफ्रेख्त महोदय ने स्वयं ही ग्रन्थ के नाम पर प्रश्न चिह्न लगा रखा है ।

उपर्युक्त सूची से अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ को भी कुछ विद्वानों ने मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत बतलाया है, वह ग्रन्थ है–

ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश[129]:— यह वेदान्त-सम्मत 'ईश्वर' तत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ है । प्रो० पी० एम० मोदी[130] और श्री पी० सी० दीवानजी[131] के अनुसार यह ग्रन्थ मधुसूदन सरस्वती के द्वारा प्रणीत है । वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय मधुसूदन सरस्वती के अन्य ग्रन्थों के विषय से मिलता हुआ है । प्रो० मोदी तो कहते हैं कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप, जीव की त्रिविध अवस्थाएँ और प्रणवरहस्य जैसे विषय सिद्धान्तबिन्दु आदि ग्रन्थों में भी समानरूप से उपलब्ध हैं, अतएव यह ग्रन्थ

---

127. अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 8 ।
128. द्रष्टव्य – नोटिस ऑव् संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, आर० एल० मित्रा, 1875 ।
129. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – म० म० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज संख्या 83, 1921 ।
130. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक व अनुवादक – प्रो० पी० एम० मोदी, अनुवाद - पृष्ठ सं० 46 ।
131. सिद्धान्तबिन्दु, सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, भूमिका – पृष्ठ XII ।

मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत है । उक्त विद्वानों का यह कथन अयुक्त-सा लगता है, क्योंकि प्रतिपाद्य विषय तो समानता रखते हुए भी भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में सम्भव हो सकता है । इसके अतिरिक्त, मधुसूदन सरस्वती ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विशेष विषयों के प्रति कोई निष्कर्ष भी नहीं प्रस्तुत किये हैं तथा इस ग्रन्थ की रचना शैली भी अद्वैतसिद्धि जैसे ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है । और फिर उक्त ग्रन्थ के सम्पादक श्री टी० गणपति शास्त्री ने भी स्वयं इस ग्रन्थ के प्रणेता के विषय में कुछ नहीं कहा है । अतएव इस ग्रन्थ के रचयिता मधुसूदन सरस्वती हैं या नहीं, इस विषय में निश्चित कुछ भी कहना कठिन ही है ।

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत सुनिश्चित रचनाएँ तेरह हैं, जो कालक्रमानुसार इसप्रकार हैं :-- (1) वेदान्तकल्पलतिका (2) सिद्धान्तबिन्दु (3) महिम्नस्तोत्रटीका (4) प्रस्थानभेद (5) अद्वैतसिद्धि (6) अद्वैतरत्नरक्षण (7) भक्तिरसायन (8) भक्तिसामान्यनिरूपण (9) भगवद्गीतागूढार्थदीपिका (10) संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह (11) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या (12) भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या और (13) हरिलीला-व्याख्या ।

उनके नाम से उक्त चार रचनाएँ ऐसी हैं, जिनको उनकी रचनाएँ कहा जा सकता है, वे हैं:-- (1) आनन्दमन्दाकिनी (2) वेदस्तुतिटीका (3) आत्मबोधटीका, और (4) शाण्डिल्यसूत्रटीका ।

'ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश' एक वह रचना है जिसके लिए यह कहना कठिन है कि वह यतिवर-द्वारा प्रणीत है अथवा नहीं ।

शेष सूची में उक्त पाँच रचनाएँ निस्सन्देहरूप से मधुसूदन सरस्वती-द्वारा प्रणीत नहीं हैं, जो हैं-- (1) राज्ञाम्प्रतिबोध (2) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण (3) कृष्णकुतूहलनाटक (4) शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका, और (5) सर्वविद्यासिद्धान्तवर्णन ।

04. व्यक्तित्वः-- मधुसूदन सरस्वती की रचनाओं का सिंहावलोकन करने पर उनके व्यक्तित्व का एक अपूर्व प्रतिरूप दृष्टिमार्ग के सामने सजीव हो उठता है । पूर्वप्रचलित ग्रहणीय सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लेने तथा अपने मौलिक विचारों से उनको अनुप्राणित कर देने की अपूर्व क्षमता के दर्शन उनके व्यक्तित्व में किये जा सकते हैं । उनका व्यक्तित्व ऐसा पारदर्शी भी था जिसका सहज प्रतिबिम्ब उनकी परवर्ती प्रतिभाओं को अक्षुण्णरूप से आवेष्टित एवं प्रतिभासित कर सका । और फिर क्यों नहीं करता ? वे अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति, सत्यप्रतिज्ञ टीकाकार और अनायत्त व्याख्याकार थे । उनमें वक्तव्य की अद्भुत गरिमा, सुस्पष्टता, विषयावगाहिता, गम्भीरता, प्रवाहात्मकता, समन्वयात्मकता, सूक्ष्मरूपात्मकता, उपलब्धियों की प्रचुरता, दार्शनिकशालीनता, गौरवान्वित प्रगल्भता, सर्वांगीणता, परिनिष्ठता एवं मौलिकता आदि विशेषताएँ थीं । उनके पारदर्शी व्यक्तित्व में से उनके विविध रूपों के दर्शन किये जाते हैं, यथा-- उनका प्रगल्भ आचार्यत्व, उनका सरस भक्त--हृदय तथा उनका अद्भुत दार्शनिकरूप आदि ।

मधुसूदन सरस्वती ने अपनी परिनिष्ठित भाषा-शैली में एक गम्भीर वातावरण की सर्जना की है । उनकी शिक्षा का श्रीगणेश नव्यन्याय की शैली में जो हुआ था । उनकी सूक्ष्म शैली, विषय की स्पष्टता और

तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे प्राचीन और नव्य न्याय के सिद्धहस्त विद्वान् थे। वे अपने ग्रन्थों में अनेकत्र न्यायकुसुमाञ्जलि[132] को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं तत्त्वचिन्तामणि[133] का भी उल्लेख करते हैं[134]। उनकी नव्य-न्याय की सूक्ष्म तार्किक शैली 'अद्वैतसिद्धि' और 'अद्वैतरत्नरक्षण' में बहुशः देखी जा सकती है। सम्भवतः नव्यन्याय के अध्ययन ने ही उनको रूढ़ि से हटकर स्वतन्त्र विचारक बनाया था। जिसके कारण वे अद्वैतसिद्धि और गूढार्थदीपिका में अनेकत्र भाष्यकार से अपना मतभेद प्रस्तुत करते हैं और ब्रह्मसूत्र की पुनर्व्याख्या करते है[135]। कहीं-कहीं तो वे गीता की भी नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं[136]। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अद्वैत-वेदान्त के विचारों से हट गये हैं, अपितु यह भी देखने में आता है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति श्रद्धावनत हैं और उनके सिद्धान्तों का पूर्णतः उन्होंने पालन किया है। महान् से महान् आचार्यों की मान्यताओं का समावेश उन्होंने अपने ग्रन्थों में सहज ही कर लिया है। इससे उनके अपने व्यक्तित्व पर कोई आघात नहीं हुआ है, अपितु इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें किसी एक मत के प्रति पक्षपात लेशमात्र भी नहीं था। जहाँ जिसकी जो बात रुचे, उसको अपने ढंग से कह देना आपत्तिजनक नहीं होता, और फिर उसको व्यवस्थित रूप देते हुए अपने मौलिक निर्णयों का प्रतिपादन करना तो और भी सुन्दर होता है। ऐसी ही अपूर्वता के दर्शन इनकी रचनाओं में किये जाते हैं जिससे मधुसूदन सरस्वती 'आचार्यत्व' की प्रतिष्ठित पदवी पर सुशोभित हो उठते हैं।

मधुसूदन सरस्वती ने मण्डनमिश्र, सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति, वाचस्पतिमिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण किया है। उक्त आचार्यों में से उनके अभीष्टतम आचार्य सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति और सर्वज्ञात्ममुनि हैं। उन्होंने सुरेश्वराचार्य के वार्तिक को बहुधा उद्धृत किया है, कहीं-कहीं तो वे वार्तिक की व्याख्या ही करने लगे है[137]। इसीप्रकार विवरण को भी उन्होंने पुनः पुनः उद्धृत किया है, विवरण से तो उन्होंने प्रकाशात्मयति के बिम्बप्रतिबिम्बवाद, अज्ञानसम्बन्धी मत आदि विचारों को भी ग्रहण कर लिया है। वे विवरणमतानुसार यह स्वीकार करते हैं कि अज्ञान यद्यपि एक है, किन्तु प्रधान अज्ञान की अवस्थाभेद से वह अनेक प्रकार का होता है[138]। यतिवर ने 'संक्षेपशारीरकसारसंग्रह' का प्रणयन ही नहीं किया है, अपितु स्थान-स्थान पर उन्होंने वार्तिक

---

132. अद्वैतसिद्धि, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 16, 405, 639 तथा अद्वैतरत्नरक्षण, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ 9, 26।
133. अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 18, 26, 27।
134. इनके अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में अपने मत के समर्थन के लिए न्यायसूत्र को भी उद्धृत किया है, किन्तु प्रायः उन्होंने न्यायमत का खण्डन ही किया है।
135. द्रष्टव्य–अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 435-436।
136. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ 451 तथा अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 846।
137. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 27, 107, 229, 267, 297, 401 इत्यादि तथा अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 467, सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 43, 45, 53, 86, 90, 137, 139 इत्यादि।
138. द्रष्टव्य–अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 486-487।

और विवरण की भाँति 'संक्षेपशारीरक' को उद्धृत भी किया है[139], औचित्य समझने पर सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा प्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों को भी ग्रहण कर लिया है। सर्वज्ञात्ममुनि के समान उन्होंने यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय और विषय– दोनों है[140]। अखण्डार्थ की प्राप्ति के लिए महावाक्यों की संरचना की व्याख्या में उन्होंने सर्वज्ञात्ममुनि की शैली को ही अपनाया है[141]। एकजीववाद के निरूपण में ये सर्वज्ञात्ममुनि से ही प्रभावित है[142]। मधुसूदन सरस्वती उक्त तीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैत-वेदान्त के श्रीहर्ष, आनन्दबोध और चित्सुख–इन तीन आचार्यों से भी प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में श्रीहर्ष-द्वारा प्रणीत 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसी वादप्रक्रिया को अपनाया है[143], अनेकत्र 'खण्डनखण्डखाद्य' को उद्धृत भी किया है[144]। यतिवर को आनन्दबोध और चित्सुख अत्यन्त अभीष्ट रहे हैं[145]। अतएव उनकी 'अद्वैतसिद्धि' की संरचना आनन्दबोधकृत 'न्यायदीपावली' का अनुसरण करती है। वे अपने सिद्धान्तों की स्थापना अथवा व्याख्या करने में 'न्यायदीपावली' से उद्धृत भी करते हैं, इसीप्रकार 'चित्सुखी' से भी उद्धृत करते हैं। इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती पूर्व-परम्परा के आचार्यों को प्रस्तुत करने के लिए सदैव सजग रहे हैं, इससे उनके व्यक्तित्व की भव्यता और गौरव का अनुमान लगाना दुःसाध्य नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत-वेदान्त के विभिन्न मतों का समन्वय प्रस्तुत किया है, द्वैतवादी नैयायिकों और माध्व वैष्णवों का खण्डन कर अपना एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया है। यही नहीं, उन्होंने अद्वैत-वेदान्त को भक्तिदर्शन की पृष्ठभूमि पर रखकर अपनी सजग और मौलिक दृष्टि से परखा है, इसीलिए उनके माध्यम से एक भक्तिरसविद्-ज्ञानी-दार्शनिक-व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही में किये जा सकते हैं।

05. भारतीय दर्शन में मधुसूदन सरस्वती का योगदानः– मधुसूदन सरस्वती जिस समय अवतरित हुए थे उस समय तक अद्वैतवेदान्त के भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत प्रचलित थे, इसके अतिरिक्त नैयायिक और वैष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी मधुसूदन सरस्वती का विशेष योगदान यह रहा कि उन्होंने अद्वैतवेदान्त के भिन्न-भिन्न मतों में समन्वय किया और नैयायिक व वैष्णव आचार्यों द्वारा किये गये अद्वैतमत के खण्डन का खण्डन कर अद्वैतमत का रक्षण,पोषण व समर्थन किया।

---

139. गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 464, 789।
140. तुलना करें:–
    (अ) आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
    पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥ संक्षेपशारीरक, अध्याय 2, श्लोक 319
    (ब) अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 577।
141. द्रष्टव्य–सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 3-11।
142. द्रष्टव्य–सिद्धान्तबिन्दु, पूना संस्करण, पृष्ठ 49।
143. द्रष्टव्य–अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ 1।
144. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 21, 364, 464।
145. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 183, 195, 316, 322।

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और जगत् के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मयति का प्रतिबिम्बवाद तथा वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद— ये सिद्धान्त प्रचलित थे, मधुसूदन सरस्वती ने उक्त सभी सिद्धान्तों का उपयोग कर सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति तथा वाचस्पति मिश्र के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है[146] । इसीप्रकार उन्होंने सर्वज्ञात्ममुनि के अधिष्ठानवाद का समर्थन किया है[147] और प्रकाशात्मयति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव तथा विषय-विषयिभाव सम्बन्ध को स्वीकार किया है[148] । इसीतरह दृष्टि-सृष्टिवाद व सृष्टिदृष्टिवाद, जगत् के मिथ्यात्व व अनिर्वचनीयत्व, एकजीववाद व अनेकजीववाद के बीच विद्यमान भेद को समाप्त कर यतिवर ने उनमें समन्वय की स्थापना की है[149] । ऐसे ही सुषुप्तिकाल में होनेवाले अनुभव के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है, सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं, इसके विपरीत विवरणकार उक्त अनुभव को परामर्श-स्मृति कहते हैं, इस सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने मध्यम मार्ग अपनाकर एक नवीन मत की उद्भावना की है:-- उनका मन्तव्य है कि 'सुषुप्ति में तामसीवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है । जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसीवृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है । अतएव जहाँ तक सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है । इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि मात्र अज्ञानानुभव स्वीकार करेंगे तो परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते, कारण कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती । अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता ।' वृत्ति के विषय में भी आचार्य ने सविस्तार विवेचन किया है[150]– इत्यादि । निष्कर्ष यह है कि मधुसूदन सरस्वती ने इसप्रकार अद्वैत-वेदान्त के भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय कर वेदान्तदर्शन को अपना विशेष योगदान दिया है ।

जैसा कि पूर्व-पृष्ठों में संकेत किया गया है कि अद्वैतमत के विरोध में नैयायिक शंकरमिश्र ने 'भेदरत्न' ग्रन्थ की रचना की थी और मध्व सम्प्रदाय के विद्वान् व्यासतीर्थ ने 'न्यायामृत' ग्रन्थ की रचना की थी, तब मधुसूदन सरस्वती ने 'भेदरत्न' का खण्डन कर 'अद्वैतरत्नरक्षण' और 'न्यायामृत' का खण्डन कर 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ की रचना की— यह अद्वैतवेदान्त के लिए मधुसूदन सरस्वती का सदा स्मरणीय योगदान ही है ।

इसके अतिरिक्त, मधुसूदन सरस्वती का भारतीय दर्शन को अपूर्व व अद्वितीय योगदान यह है कि उन्होंने अद्वैतदर्शन और भक्तिदर्शन का समन्वय किया है । स्वर्ण में सुगन्ध जैसा यह समन्वय आपकी अमरकृति श्रीमद्भगवद्गीता– 'गूढार्थदीपिका' में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है[151] । उन्होंने 'गूढार्थदीपिका' के

146. द्रष्टव्य– गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 104, 105, 467, 801, 834, 840 इत्यादि ।
147. गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 524, 525, 629, 666, 811, 813 ।
148. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 577 ।
149. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 71-74 ।
150. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 487 ।
151. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 6, 8, 18, 629-645, 634, 706, 709 इत्यादि ।

प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है कि तत्त्वज्ञान की उपलब्धि में सभी अवस्थाओं में शरीर, मन और वाणी से भगवद्भक्ति ही उपयोगी होती है, क्योंकि पूर्वभूमिका में की गयी भक्ति उत्तरभूमिका को लाती है[152] । बिम्बप्रतिबिम्बवाद में भक्ति का संयोग कर यतिवर ने अपने भक्तिसिद्धान्त की व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म और भगवान्– श्रीकृष्ण एक ही हैं। जब ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप से अनुभूत होता है तब वह भगवान् ही होता है[153]। भगवान् और भक्ति एक है[154]। जब भक्तिरस परिणत होता है तब भगवान् और भक्ति में भेद नहीं रहता[155]। सच्चिदानन्द– परमानन्द स्वरूप परमात्मा– भगवान्-श्रीकृष्ण के प्रति रति– प्रेम-गाढानुराग ही परिपूर्ण रस है[156], रस ही भगवान्–श्रीकृष्ण हैं[157]। ऐसी अवस्था में अद्वैत-ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु भक्त रस के रूप में आनन्दानुभूति करता है, भगवान् के प्रति निस्सीम गाढानुराग का आनन्द लेता है[158]। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मधुसूदन सरस्वती ने अपने उक्त भक्तिसिद्धान्त की स्थापना के लिए श्रीमद्भागवतपुराण से ही उद्धरण उद्धृत किये है[159]। भक्ति की एकादश भूमिकाओं का उल्लेख उन्होंने श्रीमद्भागवत से ही किया है[160], इन भूमिकाओं को योगवाशिष्ठ में उक्त योगभूमिकाओं के तुल्य कहा है[161]। इसप्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतज्ञान और योग को भक्ति की पृष्ठभूमि पर अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित कर अपनी सजग और मौलिक दृष्टि का परिचय देकर भारतीय दर्शन को एक अद्भुत व असाधारण योगदान दिया है।

मदन मोहन अग्रवाल

---

152. सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् । – गूढार्थदीपिका, उपोद्घात श्लोक 31-32 ।

153. द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः– इत्यादि, भक्तिरसायन, पृष्ठ 24 ।

154. भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते– भक्तिरसायन, पृष्ठ 19 ।

155. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ भक्तिरसायन, उल्लास-प्रथम, कारिका-2 ।

156. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ भक्तिरसायन, 2.77

157. रसो वै सः – तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.6. ।

158. द्रष्टव्य– गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 556 तथा–

स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते ।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः ॥
भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि,
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥' भक्तिरसायन, 1.9-10 ।

159. भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास–स्वोपज्ञटीकासहित, पृष्ठ 1-25 ।

160. उपायाः प्रथमस्कन्धे नारदेनोपवर्णिताः ।
सङ्क्षेपात्तानहं वक्ष्ये भूमिभेदविभागतः ॥ भक्तिरसायन, 1.33 ।

161. द्रष्टव्य–गूढार्थदीपिका, पृष्ठ 218-220, 408, 413, 415-419, 425, 426, 442-444 ।

श्रीमद्भगवद्गीतामङ्गलाचरणम्

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ 1 ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ 2 ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ 3 ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 4 ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ 5 ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोपला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ 6 ॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ 7 ॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ 8 ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ 9 ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतामङ्गलध्यानादि ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्
श्रीकृष्णाय गीतामृतदुहे नमः

धरा— भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी । प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ 1 ॥
विष्णुः—प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा । स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ 2 ॥
महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् । क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ 3 ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते । तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ 4 ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये । गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ 5 ॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् । तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ 6 ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् । गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥ 7 ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः । अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ 8 ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् । वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ 9 ॥
योऽष्टादशजपी नित्यं नरो निश्चलमानसः । ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ 10 ॥
पाठेऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् । तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ 11 ॥
त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् । षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ 12 ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः । रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ 13 ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः । स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुंधरे ॥ 14 ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् । द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥ 15 ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् । गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥ 16 ॥
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् । गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ 17 ॥
गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा । वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ 18 ॥
गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः । जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ 19 ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः । निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ 20 ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् । वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ 21 ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः । स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ 22 ॥
सूतः— माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् । गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ 23 ॥

इति श्रीवाराहपुराणे धराविष्णुप्रोक्तं श्रीगीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

[मूल, गूढार्थदीपिकानुवाद और विमर्श]

आशीर्वाक्

॥ क्लीं ॥

क्लीं पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते ! भवद्वेषिणीम् ॥ क्लीं

(गीताध्यानम्, 1)

भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व में 23 से 40 अध्यायों में उपलब्ध है । जिस प्रकार योगवाशिष्ठ के लेखक वशिष्ठ हैं, भक्तिसूत्र के लेखक नारद हैं, उसी प्रकार भगवद्गीता के लेखक कृष्णद्वैपायन व्यास हैं । भगवद्गीता में व्यास का नाम निम्नलिखित तीन स्थानों में प्राप्त है । इन तीनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि व्यास ही इसके लेखक हैं । व्यास ही इस अद्भुत ग्रन्थ के प्रचारक मुनि हैं । तृतीय उद्धरण में व्यास के हस्ताक्षर हैं ।

1. समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, व्यास तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं । श्रीकृष्ण ही शाश्वत पुरुष हैं । श्रीकृष्ण ही आदिदेव, अज तथा विभु हैं । (गीता, X, 13)
2. भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ । पाण्डवों में धनञ्जय हूँ । मुनियों में व्यास हूँ और कवियों में उशना कवि हूँ । (गीता, X.37)
3. सञ्जय कहते हैं 'व्यास की कृपा से मैंने यह परम गुह्ययोग सुना है । जिसको स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है' । (गीता, XVIII, 25)

भारतवर्ष के कोने कोने में, प्रत्येक भारतीय के हृदय में, प्रत्येक सम्प्रदाय के आंचल में, प्रत्येक आचार्य के चिन्तन में भगवद्गीता का ज्ञानबिन्दु प्रकाशित है । सैकड़ों वर्षों से भगवद्गीता ने भारतीय विचारधारा तथा आध्यात्मिक जीवन को चिरन्तन सार्वभौम सिद्धान्तों से अनुप्राणित किया है । यही कारण है कि प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के साथ भगवद्गीता की गणना है । प्रत्येक आचार्यपुरुष को अपना सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने के लिए प्रस्थानत्रयी के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखना आवश्यक था । स्वमत स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी की स्वमतानुसारिणी व्याख्या आवश्यक मानी जाती थी । इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्य ने अथवा उनके किसी आचार्यशिष्य ने भगवद्गीता पर संस्कृत भाष्य लिखा है ।

अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर (788-820 A.D.), विशिष्टाद्वैत मत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज (1017-1137 A.D.), द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य (760 A.D.) की परम्परा में केशवकाश्मीरी भट्ट, द्वैत मत के प्रतिष्ठापक मध्वाचार्य (1199-1276 A.D.), शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य (1479 A.D.), काश्मीर शैव सिद्धान्त के आचार्य अभिनवगुप्त (1100 A.D.), अचिन्त्यभेदाभेद के संस्थापक चैतन्य महाप्रभु (1600 A.D.) की परम्परा के आचार्य, अद्वैतवेदान्ती श्रीधरस्वामी (1400

A.D.), आनन्दगिरि (1300 A.D.) तथा मधुसूदन सरस्वती (1600 A.D.) आदि आचार्यों के संस्कृत भाष्य उनकी विचारशक्ति तथा पाण्डित्य की कसौटी के प्रमाण हैं ।

मधुसूदन सरस्वती अलौकिक प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने एक तरफ 'अद्वैतसिद्धि' जैसे कठिन ग्रन्थ की रचना की, तो दूसरी तरफ 'भक्तिरसायन' की रचना की । 'अद्वैतसिद्धि' अद्वैतसिद्धान्त की मञ्जूषिका है तो भक्तिरसायन भक्ति की अमन्दप्रवाहिणी गङ्गा है । परमार्थपक्ष में वेदान्त और व्यवहारपक्ष में भक्ति- यही वैष्णव परम्परा का वैष्णव-वेदान्त माना जाता है । भगवद्गीता पर इनकी 'गूढार्थदीपिका' एक अनोखी टीका है । लगभग पचास वर्ष पहले (1947 में) जब मैं काशी में गुरुदेव महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालु जी महाराज के श्रीचरणों में अद्वैतसिद्धि का पाठ सुनता था तब उनका भगवद्गीता की 'गूढार्थदीपिका' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था । यह अनुवाद विद्वज्जनों के हृदय का हार बन गया था ।

भगवद्गीता के सैकड़ो संस्करण भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में प्रकाशित हैं । अंग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मन, स्पेनिश, इटेलियन, पुर्तुगीज, डच, पोलिश, स्वीडिश, चेक, रशियन, हंगेरियन आदि भाषाओं में अनूदित संस्करण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । भारतीय भाषाओं में संत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' तथा बाल गंगाधर तिलक का 'गीता-रहस्य' उल्लेखनीय है ।

शङ्कराचार्य अद्वैतमतानुयायी ज्ञानमार्गी थे । इसीलिए उन्होंने भगवद्गीता के भाष्य में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया ज्ञान तथा कर्म को समान महत्त्व देने का पूर्ण विरोध किया । उन्होंने भगवद्गीता को धर्मशास्त्र अथवा स्मृति के रूप से स्वीकार किया । वास्तव में जो ग्रन्थ स्वयं को ब्रह्मविद्या कहता है वह स्मृति कैसे हो सकता है । भगवद्गीता किसी भी एक सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं है । इसमें तो वे चिरन्तन सार्वभौम सत्य के सिद्धान्त छिपे हैं जिनको प्रत्येक सम्प्रदाय अपने अपने मत के ढाँचे में ढालना चाहता है । इसीलिए भारत में प्रत्येक गुरु तथा प्रत्येक आचार्य के लिए गीता के सिद्धान्तों की व्याख्या में पारंगत होना आवश्यक माना जाता है ।

भगवद्गीता को ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र कहा गया है । यह उपनिषद् है । योग तथा वेदान्त का अनुपम समन्वय है । ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग-- तीनों का विलक्षण खजाना है । गीता में यह स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं । श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म हैं । श्रीकृष्ण ही परगुरु हैं । परब्रह्म ही श्रीकृष्ण के रूप में गुरु पद पर प्रतिष्ठित है । गुरु श्रीकृष्ण तथा परब्रह्म-- दोनों अभिन्न हैं । गुरुतत्त्व तथा सर्वव्यापक ब्रह्म में अभेद स्थापना द्वारा गीता ने वेदान्तमार्ग में कोई नया मार्ग प्रवर्तित नहीं किया । गुरु के प्रति भक्ति औपनिषदिक उपदेश का ही अंग है । वास्तव में भगवद्गीता तो एक सार्वकालीन सर्वजनोपयोगी 'गुरुशिष्यसंवाद' है । ज्ञान का हेतु जिज्ञासा अथवा संप्रश्न है । शिष्य जब गुरु से संप्रश्न करता है तो यह पूर्वपक्ष कहा जाता है और जब यथार्थ-ज्ञाता त्रिकालज्ञ गुरु समझाता है तो यह सिद्धान्त पक्ष होता है । प्रस्तुत प्रसंग में अर्जुन विनीत श्रद्धावान् शिष्य है । भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वज्ञ गुरु हैं । भारत के इतिहास की परम्परा में ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं । बौद्ध-परम्परा में 'मिलिन्दपन्ह' में जब राजा मिलिन्द संप्रश्नकर्ता शिष्य है तो नागसेन समाधान कर्ता गुरु है । योगवाशिष्ठ में जब वेदान्त के जिज्ञासु श्रीराम संप्रश्न कर्त्ता शिष्य हैं तो वशिष्ठ

समाधानकर्ता गुरु हैं। कठोपनिषद् में जब आत्म-तत्त्व का जिज्ञासु नचिकेता संप्रश्नकर्ता शिष्य हैं तो धर्मराज समाधानकर्ता गुरु हैं। गीता का 'कृष्णार्जुनसंवाद' उपनिषदों के ज्ञान का रहस्यनिष्यन्द है। संजय ने यह स्पष्ट कहा है कि 'वासुदेव श्रीकृष्ण तथा महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत संवाद को मैंने साक्षात् सुना है। इसको सुनकर मेरा रोम-रोम पुलकित तथा हर्षित हो गया है' (गीता, XVIII. 74)। यह 'कृष्णार्जुनसंवाद' केवल अर्जुन के लिए नहीं है बल्कि उन समस्त मनुष्यों के लिए है जो शुद्ध भाव से शिष्य बनकर भगवान् श्रीकृष्ण को परगुरु मानकर उनके श्रीचरणों की शरण ग्रहण करते हैं। अर्जुन कहते हैं "हे श्रीकृष्ण! मैं तो तुम्हारा ही शिष्य हूँ। कृपणता अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ बुद्धि द्वारा मेरा स्वभाव आवृत हो गया है। क्या धर्म है ? क्या अधर्म है ? इस विषय में मेरी बुद्धि विमूढ है। इसलिए मेरे लिए जो निश्चित कल्याणकारी हो, वह तुम समझा दो" (गीता, II.7)। श्रीकृष्ण के समान न कोई कभी हुआ है और न कोई कभी होगा। श्रीकृष्ण ही समस्त चराचर लोकों के अधिपति पिता हैं। श्रीकृष्ण ही परमपूज्य गरीयान् गुरु हैं। तीनों लोकों में श्रीकृष्ण का प्रभाव अप्रतिम है" (गीता, XI.43)। अर्जुन की यह याचना श्रीकृष्ण को साधारण मानव गुरु अथवा सखा के रूप में नहीं स्वीकार कर रही है बल्कि अर्जुन श्रीकृष्ण को परब्रह्म से अभिन्न गुरु के रूप में मान रहा है। श्रीकृष्ण ही योगेश्वर हैं। श्रीकृष्ण गीता में स्वयं यह घोषणा करते हैं कि मैं स्वयं ही परब्रह्म हूँ। ब्रह्म की प्रतिष्ठा मुझसे ही है। समस्त जीवलोक मेरा ही अंश है। मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सब कुछ मुझमें उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे एक सूत्र में मणियाँ पिरोई जाती हैं।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ (गीता, XV.7)
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता, VII.7)
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । (गीता, XIV. 27)
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । (गीता, X.8)
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । (गीता, X.20)" ।

भगवद्गीता का यही प्रमुख सन्देश है कि प्रत्येक मानव सब प्रकार का अहंकार त्याग कर विनीत भाव से तथा शिष्यवृत्ति से भगवान् श्रीकृष्ण को परगुरु स्वीकार करके उनकी शरण में चला जावे और अंश तथा अंशी के रूप को भलीभाँति समझकर मिथ्या तथा सत्य में विवेक उत्पन्न कर ले तो भवसागर के बन्धन से मुक्त हो जावेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है "सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा"।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता, XVIII. 66)" ।

गीता में प्रतिपादित वेदान्त ही उपनिषदों के मूलवेदान्त के निकट है। उत्तरकाल में गौडपाद तथा शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त उपनिषदों के वेदान्त से कुछ भिन्न है। गीता का वेदान्त ... ततः

उपनिषद् के वेदान्त से मेल खाता है। जो जीवन से समस्त अंगों को अपने में समाए रखता है। श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति यही उपदेश गीता का हृदय है।

श्री मधुसूदन सरस्वती द्वारा विरचित श्रीमद्भगवद्गीता की 'गूढार्थदीपिका' नामक संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद मेरे प्रिय शिष्य श्री मदन मोहन अग्रवाल ने प्रस्तुत किया है। मैंने इस हिन्दी अनुवाद को यत्र-तत्र अच्छी तरह देखा है। मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता है कि यह हिन्दी अनुवाद बहुत ही प्रामाणिक बना है। मुझे पूर्ण विश्वास है इस अनुवाद से गीता के यथार्थ तत्त्व को समझने में खूब सहायता मिलेगी। अनुवाद की भाषा भी प्राय: सरल है। इसलिए जनसाधारण भी इससे लाभ उठा सकेगा। इस अनुवाद के प्रकाशन से मदन मोहन को आचार्यपुरुषों का आशीर्वाद तथा भगवान् की कृपा प्राप्त होगी। यदि इसका एक और संस्करण अंग्रेजी भाषा का निकले तो सारे संसार में इस टीका के गूढार्थ तथा इसकी उपादेयता का प्रचार होगा। यह मेरी मान्यता है। मेरा आशीर्वाद है कि मदन मोहन के शुद्ध चित्त में भगवान् की कृपा का प्रतिबिम्ब प्रकाशित हो।

"कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्"

5.6.1995

मेक्सिको

रसिक विहारी जोशी

॥ **क्लीं** ॥

आमुख

ये भुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में भगवद्गीता की लोकप्रियता अद्वितीय है । इसकी इस अद्वितीय स्थिति के अनेक कारण हैं । यह महाभारत जैसे महाकाव्य का भाग है जिसके अध्ययन से नर-नारी अनेक पीढ़ियों से आनन्द-लाभ करते रहे हैं । इसके भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन-दो पात्र अत्यधिक मोहक व्यक्तित्ववाले हैं । इसका उपदेश एक ऐसे सुकोमल अवसर पर किया गया था जबकि न केवल देश का अपितु स्वयं धर्म का ही अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया था । यह संवादात्मक शैली में ग्रथित है जिससे इसमें नाटकीय रोचकता प्राप्त है । किन्तु इसकी महान् आकर्षकता के लिए ये बाह्यगुण अकेले पर्याप्त नहीं हैं, इसका एक सार्वकालीन सार्वजनीन विशिष्ट सन्देश है । गीता के आदेशानुसार स्वधर्मनिष्ठा से परमेश्वर की आराधना द्वारा प्राणी भगवत्-अनुकम्पा का पात्र होकर भगवत्स्वरूप साक्षात्कार परा भक्ति को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है । गीता आद्योपान्त सहिष्णुता की भावना से अनुप्राणित है जो भारतीय विचारधारा का एक प्रमुख लक्षण है । इसको युगधर्मप्रवर्तक, अपरिवर्तनीय सनातन शास्त्र स्वीकार किया गया है । इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का अद्भुत समन्वय है ।

गीता को समझना सरल नहीं है । स्थिति इससे भिन्न है । यह सबसे दुर्बोध ग्रन्थों में से एक है । यही कारण है कि इस पर वेदान्त के अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मत के प्राय: सभी आचार्यों ने अपने-अपने भाष्य लिखें हैं, जिनमें से प्रत्येक अन्यों से एक या दूसरी महत्त्व की बात में भिन्न है । सभी भाष्यों में से शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत अद्वैतपरक गीताभाष्य पर टीका-उपटीकाओं का जितना प्रणयन हुआ है उतना अन्य भाष्यों पर नहीं हुआ है । शाङ्कर-गीताभाष्य पर प्रणीत टीकाओं में से मधुसूदन सरस्वती प्रणीत 'गूढार्थदीपिका' नामक टीका का स्थान सर्वोच्च है । मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका' में गूढ़ अर्थों को प्रकाशित किया है । मधुसूदन सरस्वती अद्वैतवादी महातत्त्वविद् होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और भक्त थे । वे भगवद्-भजन = भगवद्-भक्ति को ज्ञानी का स्वभाव कहते हैं । 'स्वभावो भजनं हरेः', 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने', इत्यादि इनकी सूक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं । इसी कारण उन्होंने 'गूढार्थदीपिका' में अद्वैतज्ञान के साथ भक्ति-दर्शन का स्वर्ण में सुगन्ध की भाँति सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है । अतएव गीता पर 'गूढार्थदीपिका'-टीका = 'मधुसूदनी'-टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है ।

लगभग पाँच वर्ष पहले 'मधुसूदनी' पर कार्य करने का सुझाव और प्रेरणा मुझे पूज्यपाद गुरुवर प्रो० रसिक विहारी जी जोशी से प्राप्त हुई थी । जैसे-जैसे मैं इस ग्रन्थ को पठने लगा, अनेक समस्याएँ सामने आने लगीं । समस्याएँ सामने क्यों नहीं आतीं ? मेरे-जैसे सामान्य विद्याबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ने

अत्यन्त बहुमुखी और पण्डित्यपूर्ण 'गूढार्थदीपिका' का भाषानुवाद करने का दु:साहस जो किया था। परन्तु गुरुकृपा हुई, अतएव मैंने टीका के अनेक दुरूह स्थलों को गुरुचरणों में बैठकर कई बार दीर्घकाल तक समझा और उनसे विचार-विमर्श करके संदिग्ध स्थलों का समाधान तथा प्रेरणा प्राप्त की। मुझे यह लिखने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत गीता-संस्करण संस्कृत-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा संस्कृत-दर्शनशास्त्र के पारंगत पण्डित प्रो० रसिक विहारी जी जोशी की सहायता तथा स्नेह का ही परिणाम है। मेक्सिको में शोधकार्यहेतु अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी प्रार्थना पर 'आशीर्वाद' लिखने का अनुग्रह किया है। एतदर्थ उनके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं और कृतज्ञता-ज्ञापन करके उनके प्रति मैं अपने हृदयस्थ आभार के भाव को कम करना नहीं चाहता हूँ, मैं तो उनके श्रीचरणों में सविनय, सादर बार-बार प्रणाम ही करता हूँ। इस अवसर पर मेरी प्रिय पत्नी श्रीमती उषा अग्रवाल, एम० ए०, को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने इस ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार करने में तथा प्रूफ-रीडिंग में मेरी सहायता की है।

यद्यपि गीता-मधुसूदनी के महामहोपाध्याय पण्डित श्री हरिहरकृपालु जी द्विवेदी कृत तथा स्वामी श्री सनातनदेव जी महाराज कृत दो प्रामाणिक और लोकप्रिय हिन्दीभाषानुवाद उपलब्ध थे, तथापि मैंने 'गूढार्थदीपिका' का प्रतिभासंज्ञक हिन्दीभाष्यानुवाद तैयार किया है। इसके दो कारण हैं -- प्रथम, मैंने सम्पूर्ण 'गूढार्थदीपिका' पर यत्र-तत्र आवश्यक 'विमर्शाख्य व्याख्यात्मक टिप्पणी दी हैं; द्वितीय, भाषानुवाद के अन्त में एक दीर्घ 'अनुबन्धावली' दी है जिसमें क्रमशः गीताश्लोकानुक्रमणी, गूढार्थदीपिकोद्धृत-वाक्यानुक्रमणिका, विमर्शोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका, विशिष्टनामानुक्रमणिका, विशिष्टपदानुक्रमणी तथा सहायकग्रन्थसूची आदि दी हैं। इसके अतिरिक्त मैंने मधुसूदन सरस्वती के समय और उनकी रचनाओं का निर्धारण करते हुए ग्रन्थ में समीक्षात्मक भूमिका प्रस्तुत की है। यह सब होते हुए भी मैंने पूर्वोक्त दोनों भाषानुवादों से पर्याप्त सहायता ली है, एतदर्थ मैं महामहोपाध्याय श्री हरिहरकृपालु जी द्विवेदी तथा स्वामी सनातनदेव जी महाराज के चरणों में सादर, साभार प्रणाम करता हूँ।

इस संस्करण को प्रकाशित करने के लिए चौखम्बा संस्कृत-प्रतिष्ठान, दिल्ली ने अन्तरंग और बहिरंग सभी उपकरण प्रदान कर इसके प्रकाशन को सुलभ किया है। इस संस्थान के व्यवस्थापक सेठ वल्लभदास जी गुप्त की 'गीता' जैसे सद्ग्रन्थों के प्रकाशन में अत्यन्त निष्ठा है अतएव उनकी उदारता से ही प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत कम समय में अच्छी साजसज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है। इसका श्रेय उनको अत्यधिक है। इसके लिए ऐसे परोपकारी एवं धार्मिक पुरुष को जितना भी धन्यवाद दिया जाय उतना कम ही है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ इस सत्कार्य के लिए उनको अनेकशः शुभकामनाओं के साथ भूरि-भूरि धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

ग्रन्थ की शुद्ध लेज़र कम्पोजिंग में सुपर्णा एण्टरप्राइज़ेज, दिल्ली की व्यवस्थापिका श्रीमती सन्तोष गर्ग से मुझे हमेशा पूर्ण सहयोग मिला है। मैं श्रीमती सन्तोष गर्ग को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण, साजसज्जा आदि में डीलक्स ऑफसेट प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री अनिल जी ने खूब तत्परता की है, इसके लिए मैं अनिल जी को धन्यवाद देता हूँ।

यदि इस ग्रन्थ में कुछ भी गुण का अंश है तो वह पूज्यपाद गुरुदेव के श्रीचरणों में सुनी हुई ज्ञानराशि का लेशमात्र है और जो कुछ दोष तथा स्खलन हैं वे मेरी अपनी मन्दमति के कारण हैं। जैसा मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' के अन्त में लिखा है--

"यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद् गुरोरेव मे नहि ।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव गुरोर्नहि ॥"

गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2052
12.7.1995
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली -- 110007

मदन मोहन अग्रवाल

विषयानुक्रमणी

सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम् ।
यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥
कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्याय्या गीता काण्डत्रयात्मिका ॥

1
कर्मकाण्डम्

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना ।
त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥

प्रथम अध्याय
अर्जुनविषादयोग

द्वितीय अध्याय

सांख्ययोग

तृतीय अध्याय

कर्मयोग

चतुर्थ अध्याय

ब्रह्मार्पणयोग

पञ्चम अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

षष्ठ अध्याय

आत्मसंयमयोग

2

उपासनाकाण्डम्

द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना ।
भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥

सप्तम अध्याय

ज्ञानविज्ञानयोग

अष्टम अध्याय

अक्षरपरब्रह्मयोग

नवम अध्याय

राजविद्याराजगुह्ययोग

दशम अध्याय

विभूतियोग

एकादश अध्याय

विश्वरूपदर्शन

द्वादश अध्याय

भक्तियोग

3
ज्ञानकाण्डम्

तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् ।
एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम् ॥

त्रयोदश अध्याय
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

चतुर्दश अध्याय
गुणत्रयविभागयोग

पञ्चदश अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

षोडश अध्याय

दैवासुरसंपद्विभागयोग

सप्तदश अध्याय

श्रद्धात्रयविभागयोग

अष्टादश अध्याय

मोक्षसंन्यासयोग

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

अथ प्रथमोऽध्यायः

गूढार्थदीपिका

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीमद्रामचन्द्राय ।

1 **भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्यातिप्रयत्नतः ।**
प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ 1 ॥

गूढार्थदीपिकानुवाद

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मङ्गलं रुक्मिणीकान्तो मङ्गलं गोपिकाप्रियः ।
मङ्गलं भूपतिः कृष्णो वात्सल्यादिगुणार्णवः ॥

1 भगवत्पाद[1] शङ्कराचार्य-प्रणीत भाष्य के अर्थ का अतिप्रयत्नपूर्वक विचार करके श्रीमद्भगवद्गीता के प्रायः[2] प्रत्येक पद[3] की मैं यह 'गूढार्थदीपिका'[4] नाम की व्याख्या करता हूँ ॥ 1 ॥

विमर्श

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

मङ्गलं श्रीगुरोर्ध्यानं मङ्गलं तत्पदाम्बुजम् ।
मङ्गलं तज्जपो नित्यं मङ्गलं गुणकीर्त्तनम् ॥

1. 'भगवत्पाद' शब्द से आरम्भ में अतिश्रद्धापूर्वक मानसिक नमन के साथ आचार्य शङ्कर को स्मरण करना अभीष्ट है । अतएव –

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादशङ्करं लोकशङ्करम् ॥

2. 'प्रायः' पद से यह सूचित किया गया है कि गूढार्थक पदों की व्याख्या अवश्य की गई है, कारण कि अन्य व्याख्याओं में गूढार्थक पदों की उपेक्षा की गई है ।

3. 'प्रतिपदम्' पाठ के स्थान पर 'प्रत्यक्षरम्' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है, किन्तु 'प्रत्यक्षरम्' पाठ शिथिल है, 'प्रतिपदम्' पाठ ही यहाँ अधिक उपयुक्त है, कारण कि 'पद' सर्वथा सार्थक ही होता है और वह एक वर्ण भी होता है, जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने कहा है– "वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः' = अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनां व्यवच्छेदः, वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितं तेनैकस्य वर्णस्य द्वयोरपि च परिग्रहः" (साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद), तथा निरुक्तकार यास्क ने भी कहा ही है– 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' (निरुक्त,

सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम् ।
परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ 2 ॥
सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम् ।
यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥ 3 ॥

सहेतुक संसार[5.i] का अत्यन्त उपरमरूप = आत्यन्तिक निवृत्तिरूप[ii] परम निःश्रेयस = मोक्ष[iii] ही गीताशास्त्र[iv] का प्रयोजन[v] कहा गया है ॥ 2 ॥

विष्णु[6.i] का वह परम पद[ii] सच्चिदानन्दस्वरूप[iii] और पूर्ण[v] है, जिसकी प्राप्ति के लिए तीन काण्डोंवाले वेदों का समारम्भ[v] हुआ है ॥ 3 ॥

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद) = 'पद के चार भेद हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात' ; अतएव मधुसूदन सरस्वती ने अपने उक्त व्याख्यान में तु, च, वा आदि पदों की भी व्याख्या की है, जबकि अन्य व्याख्याकारों ने इनकी पादपूरणार्थक के भ्रम से उपेक्षा की है ।

4. गूढ अर्थों की प्रकाशिका होने के कारण ही इस व्याख्या का नाम 'गूढार्थदीपिका' है ।

5.(i) 'संसार' संसरण अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह को कहते हैं । संसार का मूल अविद्या होती है । अतएव अविद्या ही संसार का हेतु – कारण है और संसार अविद्या का कार्य है, इसीलिए प्रकृत में 'सहेतुक संसार' उक्त है ।

(ii) 'निवृत्ति' दो प्रकार की होती है – आत्यन्तिक और अनात्यन्तिक । जिसकी निवृत्ति हुई हो उसकी पुनः देशान्तर, कालान्तर अथवा अवस्थान्तर में उत्पत्ति न हो वह 'आत्यन्तिक निवृत्ति' है (निवृत्तस्य पुनरनुत्पादः) । जिसकी निवृत्ति हुई हो उसकी पुनः कालान्तर में उत्पत्ति हो वह ' अनात्यन्तिक निवृत्ति' है ।

(iii) 'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्' = 'जिसमें जीव का कल्याण निश्चित है अर्थात् जिसमें जीव के कल्याण का किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं है उसको 'निःश्रेयस' कहते हैं ।' मोक्ष प्राप्त होने से ही मनुष्य का निश्चित कल्याण होता है, इसलिए 'निःश्रेयस' को 'मोक्ष' भी कहते हैं । सहेतुक संसार = हेतुभूत अविद्या और उसके कार्यभूत संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'मोक्ष' है ।

(iv) 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥' (श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद, श्लोक 4)

'जिससे मनुष्य को नित्यकर्म में प्रवृत्ति और कृतककर्म से निवृत्ति का उपदेश किया जाय उसको 'शास्त्र' कहते हैं ।' गीता में भगवान् ने अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्ति और परधर्म से निवृत्ति का ही उपदेश किया है अतएव यह 'गीताशास्त्र' है ।

(v) श्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट का कथन है कि जबतक सम्पूर्ण शास्त्र का ही अथवा किसी कर्म का भी प्रयोजन नहीं कहा जाता है तबतक उसको कौन ग्रहण करता है ?

'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥' (श्लोकवार्तिक, प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक 12)

इसके अतिरिक्त यह भी तो न्याय है कि बिना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है– 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते', अतएव इस श्लोक में सहेतुक संसार के अत्यन्त उपरमरूप निःश्रेयस-मोक्ष को गीताशास्त्र का प्रयोजन कहा गया है ।

6.(i) यहाँ 'विष्णु' शब्द सर्वव्यापक ब्रह्म का वाचक है (बृहत्वात् विष्णुरुच्यते – महाभारत, 5.70.3; विशति सर्वभूतानि विशन्ति सर्वभूतानि अत्रेति वा) ।

(ii) यहाँ 'पद' शब्द स्वरूप का वाचक है । सालोक्य मुक्ति के अभिप्राय से स्थान का वाचक भी है ।

(iii) 'सत्' वह है जो भूत, वर्तमान और भविष्य -- इन तीनों कालों में बाधित नहीं हो, 'चित्' ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश है और 'आनन्द' परमानन्द अर्थात् निरतिशय सुख है ।

(iv) 'पूर्ण' शब्द का अर्थ निरतिशय है । इसप्रकार विष्णु का परम पद = ब्रह्म का उत्कृष्ट स्वरूप सच्चिदानन्दरूप और पूर्ण = निरतिशय है । अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक सच्चिदानन्दरूप और पूर्ण ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है । सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप 'मोक्ष' का उल्लेख पूर्व श्लोक में करके सच्चिदानन्दरूप और निरतिशय ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति रूप 'मोक्ष' का उल्लेख

2

कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् ।
तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता काण्डत्रयात्मिका ॥ 4 ॥
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् ।
कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥ 5 ॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः ।
भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥ 6 ॥
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी ।
कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ॥ 7 ॥

3

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना ।
त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥ 8 ॥
द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना ।
भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ 9 ॥
तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् ।
एवमप्यत्र काण्डानां संबन्धोऽस्ति परस्परम् ॥ 10 ॥

2 वेदों के क्रमशः तीन काण्ड हैं -- कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । वेदार्थस्वरूप होने के कारण ही यह अठारह अध्यायोंवाली गीता भी तीन काण्डोंवाली है ॥ 4 ॥

इसके एक-एक षट्क = छः-- छः अध्यायों से वेदों के एक-एक काण्ड उपलक्षित हैं । उसके प्रथम षट्क में कर्मनिष्ठा और अन्तिम = तृतीय षट्क में ज्ञाननिष्ठा वर्णित है, क्योंकि कर्म और ज्ञान -- दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता; तथा मध्यम षट्क में भगवद्-भक्तिनिष्ठा वर्णित है ॥ 5-6 ॥

यह भगवद्-भक्तिनिष्ठा कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा -- दोनों में अनुगत, सभी विघ्नों को नष्ट करनेवाली है अतएव यह कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा भेद से तीन प्रकार की है ॥ 7 ॥

3 वहाँ गीता के प्रथम काण्ड में कर्म और कर्मत्याग के द्वारा युक्तिपूर्वक 'त्वम्' पद के अर्थभूत विशुद्ध 'आत्मा' का निरूपण किया गया है, द्वितीय काण्ड में भगवद्-भक्तिनिष्ठा के वर्णन द्वारा 'तत्' पद के अर्थभूत परमानन्दस्वरूप 'भगवान्' का निर्धारण किया गया है[7] तथा तृतीय काण्ड में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अर्थभूता 'तत्' पदार्थ और 'त्वम्' पदार्थ -- उन दोनों की 'एकता' स्पष्टरूप से बतलाई गई है -- इसप्रकार से भी यहाँ तीन काण्डों का परस्पर सम्बन्ध है ॥ 8-9-10 ॥

प्रकृत श्लोक में प्रस्तुत किया गया है, अतएव द्वितीय और तृतीय – इन दो श्लोकों से अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार मोक्ष के पूर्ण स्वरूप का उल्लेख किया गया है -- यह कहा जा सकता है । यहाँ यह भी कहा जा सकता कि सहेतुक संसार की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक सच्चिदानन्दरूप और निरतिशय ब्रह्म के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्तिरूप 'मोक्ष' ही गीताशास्त्र का प्रयोजन है ।

(v) यद्यपि मीमांसकों के मत में वेदों का आरम्भ नहीं होता, क्योंकि उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं; तथापि अद्वैतसिद्धान्त की मान्यता है कि वेद सादि हैं, जैसा कि ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के शास्त्रयोनित्वाधिकरण में वेदों के सादित्व का प्रतिपादन किया गया है; अतएव 'वेदों का समारम्भ' कहना अनुचित नहीं है ।

7. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि मधुसूदन सरस्वती ने जो यह कहा है कि गीता के प्रथम काण्ड में 'त्वम्'

4 प्रत्यध्यायं विशेषस्तु तत्र तत्रैव वक्ष्यते ।
मुक्तिसाधनपर्वेदं शास्त्रार्थत्वेन कथ्यते ॥ 11 ॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात्काम्यनिषिद्धयोः ।
तत्रापि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः ॥ 12 ॥
क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा ।
नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा ॥ 13 ॥
इहामुत्रार्थवैराग्यं वशीकाराभिधं क्रमात् ।
ततः शमादिसंपत्त्या संन्यासे निष्ठितो भवेत् ॥ 14 ॥
एवं सर्वपरित्यागान्मुमुक्षा जायते दृढा ।
ततो गुरूपसदनमुपदेशग्रहस्ततः ॥ 15 ॥
ततः संदेहहानाय वेदान्तश्रवणादिकम् ।
सर्वमुत्तरमीमांसाशास्त्रमत्रोपयुज्यते ॥ 16 ॥

4 प्रत्येक अध्याय की विशेषता तो उस उस अध्याय में ही बतलायी जायेगी । यहाँ गीताशास्त्र के अर्थरूप से मुक्ति के साधनों का यह पर्व = क्रम कहा जाता है ।।11।। काम्य और निषिद्धकर्मों के त्याग द्वारा निष्काम कर्मों का अनुष्ठान सर्वप्रथम कर्तव्य है । उसमें भी श्रीहरि के मन्त्र का जप और उनकी स्तुति आदि परम धर्म हैं ।।12।। इसप्रकार पापों का क्षय हो जाने पर जब चित्त में विवेक करने की योग्यता आ जाती है तब नित्यानित्यवस्तुविवेक तो सुदृढ़ हो जाता है ।।13।। फिर क्रमशः लौकिक तथा पारलौकिक विषयों में वशीकार[8] संज्ञक वैराग्य उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् शमदमादि षट्क साधन-सम्पत्ति के द्वारा अधिकारी की संन्यास में निष्ठा होती है ।।14।। इसप्रकार सब कुछ त्याग देने से उसमें मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है । तब वह गुरु की शरण में जाता है और उनसे उपदेश ग्रहण करता है ।।15।। पुनः संदेह की निवृत्ति के लिए वह वेदान्त का श्रवण और मनन करता है। सम्पूर्ण उत्तरमीमांसाशास्त्र का उपयोग इस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही होता है ।। 16 ।। हृदय में वेदान्त के अर्थों के सुदृढ़ हो जाने पर मुमुक्षु की निदिध्यासन में निष्ठा होती है ।

पदार्थ का निरूपण है और द्वितीय काण्ड में 'तत्' पदार्थ का निरूपण है, वहाँ 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अनुसार पहले 'तत्' पदार्थ का निरूपण होना चाहिए और उसके पश्चात् 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण होना चाहिए, अतएव उनके कथन में श्रुतिपदपाठ-क्रमविपर्यय सा प्रतीत होता है; तो इसका समाधान यह है कि वेदान्तग्रन्थों में 'तत्' और 'त्वम्' -- दोनों पदार्थों के शोधन के क्रम दोनों ही देखे जाते हैं :-- 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7) -- इस महावाक्य में पहले 'तत्' पदार्थ निर्दिष्ट है और बाद में 'त्वम्' पदार्थ निर्दिष्ट है, जबकि 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्योपनिषद् 2), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) -- इत्यादि महावाक्यों में पहले 'त्वम्' पदार्थ निर्दिष्ट है और उसके पश्चात् 'तत्' पदार्थ निर्दिष्ट है, अतएव मधुसूदन सरस्वती द्वारा उक्त क्रम में कोई पदपाठ-क्रम-विपर्यय नहीं है, अपितु वह क्रम भी औपनिषद ही है ।

८. योगभाष्यतत्त्ववैशारदी में वैराग्य की चार संज्ञाएं कही गयी हैं -- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार । चित्त में स्थित चित्त के मूलरूप राग-द्वेष आदि दोष ही इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में प्रवर्त्तक हैं । उन राग-द्वेष आदि दोषों का बार-बार चिन्तनरूप प्रयत्न जिससे इन्द्रियों को उन विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, 'यतमान' संज्ञक वैराग्य है।

ततस्तत्परिपाकेण निदिध्यासननिष्ठता ।
योगशास्त्रं तु संपूर्णमुपक्षीणं भवेदिह ॥17॥
क्षीणदोषे ततश्चित्तं वाक्यात्तत्त्वमतिर्भवेत् ।
साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेवोपजायते ॥18॥
अविद्याविनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानोदये भवेत् ।
तत आवरणे क्षीणे क्षीयेते भ्रमसंशयौ ॥19॥
अनारब्धानि कर्माणि नश्यन्त्येव समन्ततः ।
न चाऽऽगामीनि जायन्ते तत्त्वज्ञानप्रभावतः ॥20 ॥
प्रारब्धकर्मविक्षेपाद्वासना तु न नश्यति ।
सा सर्वतो बलवता संयमेनोपशाम्यति ॥ 21 ॥
5 संयमो धारणा ध्यानं समाधिरिति यत्त्रिकम् ।
यमादिपञ्चकं पूर्वं तदर्थमुपयुज्यते ॥ 22 ॥

इसी में सम्पूर्ण योगशास्त्र की परिसमाप्ति होती है ॥ 17 ॥ पुनः चित्त के सभी दोष क्षीण हो जाने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों से तत्त्वज्ञान होता है । ब्रह्मतत्त्व का निर्विकल्पक साक्षात्कार शब्द से ही होता है और तत्त्वज्ञान का उदय होने पर ही अविद्या की निवृत्ति होती है । इसके पश्चात् आवरण का क्षय हो जाने पर इसके सम्पूर्ण भ्रम और संशय नष्ट हो जाते हैं ॥ 18-19 ॥ (तत्त्वज्ञान होने से) अनारब्ध कर्मों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है और तत्त्वज्ञान के प्रभाव से ही आगामी कर्मों का भी संश्लेष नहीं होता ॥ 20 ॥ किन्तु प्रारब्ध कर्मरूप विक्षेप के कारण वासना का विनाश नहीं होता है, उसका विनाश तो कठोर संयम के द्वारा ही होता है[9] ॥ 21 ॥
5. धारणा, ध्यान और समाधि– इन तीनों का एक विषय में होना संयम[10] कहलाता है । संयम की प्राप्ति के लिए पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार– इन योग के पाँच अङ्गों का

चित्त में जितने दोष पहले थे उनमें से इतने नष्ट हो गये हैं और इतने शेष हैं– इस प्रकार का विवेचन 'व्यतिरेक' –संज्ञक वैराग्य है । विषरूप विषय में दुःखज्ञान द्वारा इन्द्रियों की अप्रवृत्ति होने पर भी अन्तःकरण में जो विषयतृष्णा की स्थिति की अवस्था है उसे 'एकेन्द्रिय' - संज्ञक वैराग्य कहते हैं । और अन्त में अन्तःकरण से भी विषयतृष्णा का नाश होने से चित्त की जो अवस्था होती है उसे ही 'वशीकार'–संज्ञक वैराग्य कहते हैं ।

9. यहाँ यह कहा जा सकता है कि मधुसूदन सरस्वती ने गीता के अठारह अध्याय होने से ही गीताशास्त्र के यत्र-तत्र विकीर्ण अठारह ही प्रतिपाद्य तत्त्वों (अर्थों) का एक ही स्थान पर प्रतिपादन करके उन्हें मुक्ति के प्रधान अठारह अंगों (पर्वों) के रूप में प्रस्तुत किया है । ये मुक्ति के साधनभूत अठारह पर्व निम्न प्रकार हैं– (i) काम्य एवं निषिद्ध कर्मों के त्यागपुरस्सर निष्कामकर्मों का अनुष्ठान (ii) नित्यानित्यवस्तुविवेक (iii) इहामुत्रार्थफलभोगविराग (iv) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धा-षट्क साधनसम्पत्ति (v) मोक्षेच्छा (vi) आचार्योपसत्ति (vii) वेदान्तशास्त्र का श्रवण (viii) मनन (ix) निदिध्यासन (x) तत्त्वज्ञान (xi) प्रारब्धेतर कर्मविनाश (xii) धारणा (xiii) ध्यान (xiv) सविकल्पक समाधि (xv) निर्विकल्पक समाधि की प्रथम भूमि, (xvi) निर्विकल्पक समाधि की द्वितीय भूमि । (xvii) निर्विकल्पकसमाधि की तृतीय भूमि, और (xviii) वासना का विनाश ।

10. योगभाष्य के अनुसार समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं । धारणा और ध्यान समाधि की प्रथम अवस्था है । विभूति आदि में इन तीनों की ही अवश्यकता होती है । इसीलिए योगशास्त्र की परिभाषा में इन तीनों के समुदाय को 'संयम' कहा जाता है ।

ईश्वरप्रणिधानात्तु समाधिः सिध्यति द्रुतम् ।
ततो भवेन्मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ 23 ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय इत्यपि ।
युगपत्त्रितयाभ्यासाज्जीवन्मुक्तिर्दृढा भवेत् ॥ 24 ॥
विद्वत्संन्यासकथनमेतदर्थं श्रुतौ कृतम् ।
प्रागसिद्धो य एवांशो यत्नः स्यात्तस्य साधने ॥ 25 ।
6 **निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना ।**
निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः ॥ 26 ॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः ।
अन्त्ये व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः ॥ 27 ॥
एवंभूतो ब्राह्मणः स्याद्वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ।
गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ॥ 28 ॥
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त आत्मरतिस्तथा ।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥ 29 ॥

उपयोग होता है ॥22॥ ईश्वरप्रणिधान[11] से तो समाधि अतिशीघ्र सिद्ध होती है और उससे मनोनाश तथा वासना का क्षय भी होता है ॥ 23 ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षय-- इन तीनों का समकाल में अभ्यास करने से जीवन्मुक्ति[12] पुष्ट होती है ॥ 24 ॥ इसी के लिए श्रुतियों में विद्वत्-संन्यास[13] का निरूपण किया गया है । इनमें से जिस अंश की पहले सिद्धि नहीं होती उसी को सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किया जाता है ॥ 25 ॥

6 जिसका चित्त पहले सविकल्पक समाधि से निरुद्ध हो जाता है उसे ही निर्विकल्पक समाधि होती है । उसकी तीन भूमिकाएँ होती हैं ॥ 26 ॥ प्रथम भूमिका में तो योगी स्वत: व्युत्थित हो जाता है, द्वितीय भूमिका में दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थित होता है, और तृतीय भूमिका में वह व्युत्थित ही नहीं होता, सदा तन्मय ही रहता है ॥ 27 ॥ इस प्रकार का ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समस्त ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है । वही गुणातीत, स्थितप्रज्ञ और विष्णुभक्त कहा जाता है ॥ 28 ॥ वह वर्णाश्रम से अतीत, जीवन्मुक्त तथा आत्मा में ही रमण करने वाला होता है । वह कृतकृत्य होता है, अतएव शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाता है ॥ 29॥

---

11. ईश्वरप्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्तिविशेष और सम्पूर्ण बाह्य तथा आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है, किन्तु विशेष रूप से ईश्वर-प्रणिधान से सूत्रकार का अभिप्राय है– ईश्वर के वाचक प्रणव 'ओउम्' का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना या उसका पुन: पुन: चिन्तन करना ।

12. जब जीव को शरीर रहते हुए ही ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उस स्थिति को जीवन्मुक्ति की स्थिति कहते हैं । प्रारब्ध कर्मों का नाश न होने के कारण तत्त्वज्ञानी भी जीवन्मुक्तावस्था में शरीर धारण करता है । "तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु"— विवरणप्रमेयसंग्रह ॥ 1.1 ॥

13. उपनिषदों में ज्ञानवान् का संन्यासग्रहण अनेकत्र वर्णित है । ज्ञानवान् का संन्यासग्रहण ज्ञान के कारण नहीं होता क्योंकि उसे ज्ञान तो पहले से ही हो जा चुका होता है । वह ज्ञानवान् संन्यासग्रहण इसलिए करता है कि उसे प्रारब्धकर्मरूप विक्षेप के कारण जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता, एतदर्थ ही वह ज्ञानवान् संन्यास ग्रहण करता है ।

7 यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ 30 ॥
इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा ।
सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥ 31 ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् ।
अन्यथा विघ्नबाहुल्यात्फलसिद्धिः सुदुर्लभा ॥ 32 ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यादि च वचो हरे : ॥ 33 ॥
8 यदि प्राग्भवसंस्कारस्याचिन्त्यत्वात्तु कश्चन ।
प्रागेव कृतकृत्यः स्यादाकाशफलपातवत् ॥ 34 ॥
न तं प्रति कृतार्थत्वाच्छास्त्रमारब्धुमिष्यते ।
प्राक्सिद्धसाधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥ 35 ॥
एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये ।
विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिध्यति ॥ 36 ॥

---

7 श्रुति कहती है कि जिसकी परम देव में पराभक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को ये अर्थ बिना उपदेश के ही प्रकाशित होते[14] हैं ॥ 30 ॥ इस श्रुतिप्रमाण के अनुसार तत्त्वज्ञान की उपलब्धि में सभी अवस्थाओं में शरीर, मन और वाणी से भगवद्भक्ति ही अधिक उपयोगी है ॥ 31 ॥ पूर्व भूमिका में की गयी भक्ति ही उत्तरभूमिका को लाती है, अन्यथा अनेक प्रकार के विघ्न होने के कारण फल की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ॥ 32 ॥ भगवान् के भी वचन हैं कि "वह योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी अपने उस पूर्वजन्म के अभ्यास से ही भोगवासनाओं से निकालकर मोक्ष के साधनों में लगा दिया जाता है[15]" " इस प्रकार अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करके फिर वह तत्काल ही परम गति को प्राप्त हो जाता है[16]" ॥ 33 ॥

8 यदि पूर्व जन्म के संस्कारों के अचिन्त्य होने के कारण कोई पुरुष काकतालीय न्याय से आकाश से फल गिरने के समान पहले से ही कृतकृत्य हो तो उस पर भी किसी प्रकार का प्रशासन करना शास्त्र को अभीष्ट नहीं है क्योंकि वह अपने पूर्व सिद्ध साधनों के अभ्यास के कारण कृतार्थ हो चुका है । भगवत्कृपा के रहस्य को जानना अत्यन्त ही कठिन है ॥ 34-35 ॥ इस प्रकार जो पुरुष पूर्व-- भूमिका को सिद्ध कर चुके हैं उन्हे भी उत्तर-भूमिका की सिद्धि के लिए भगवान् की भक्ति

---

14. यह श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठे अध्याय का तेईसवां मन्त्र है । 'भक्ति' को यहाँ परमदेव परमेश्वर को साक्षात्कार करने का साधन बताया गया है । जब साधक अपनी सभी क्रियाओं को मनसा, वाचा तथा कर्मणा परमेश्वर को समर्पित कर देता है तब ही उसको वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती है । और जब साधक की भक्ति परमदेव के समान गुरु में भी हो जाती है तब उसके लिए उपनिषदीय रहस्यमय ज्ञान स्वयमेव उद्घाटित हो जाता है । यहाँ जिस प्रकार की भक्ति का निर्देश किया गया है वह प्रारम्भिक अवस्था वाली भक्ति प्रतीत होती है । भक्ति का जैसा निरूपण भक्तिसूत्रों में किया गया है यह भक्ति उससे नितरां भिन्न है ।

15. गीता, 6.44

16. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"— गीता, 6.45

जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना ।
अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥ 37 ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ 38 ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
इत्यादिवचनात्प्रेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥ 39 ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ।
अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम् ॥ 40 ॥
निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम् ।
शोकादिरासुरः पाप्मा तस्य च प्रतिबन्धकः ॥ 41 ॥
यतः स्वधर्मविभ्रंशः प्रतिषिद्धस्य सेवनम् ।
फलाभिसंधिपूर्वा वा साहंकारा क्रिया भवेत् ॥ 42 ॥
आविष्टः पुरुषो नित्यमेवमासुरपाप्मभिः।
पुमर्थलाभायोग्यः सँल्लभते दुःखसंततिम् ॥ 43 ॥
दुःखं स्वभावतो द्वेष्यं सर्वेषां प्राणिनामिह ।
अतस्तत्साधनं त्याज्यं शोकमोहादिकं सदा ॥ 44 ॥
अनादिभवसंताननिरूढं दुःखकारणम् ।
दुस्त्यजं शोकमोहादि केनोपायेन हीयताम् ॥ 45 ॥

करनी चाहिए, क्योंकि भगवद्भक्ति के बिना वह उत्तर-भूमिका सिद्ध नहीं हो सकती ।। 36 ।। किन्तु जीवन्मुक्ति की अवस्था में भक्ति से किसी फल की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि अद्वेष्टृत्व आदि गुणों के समान हरि-भजन उन जीवन्मुक्तों का स्वभाव ही होता है ।। 37 ।। और जो मुनि केवल आत्मा में ही रमण करते हैं तथा जिनकी अविद्यारूपा ग्रन्थि कट गई है वे भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि श्रीहरि के इस प्रकार के गुण ही हैं ।। 38 ।। "अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी-- इन चार प्रकार के भक्तों में से नित्ययुक्त और एकभक्ति करने वाला ज्ञानी ही श्रेष्ठ है" -- इत्यादि वचनों से भी यह प्रेमा-भक्ति वाला जीवन्मुक्त ही मुख्य भक्त कहा गया है ।। 39 ।। यह सब रहस्य भगवान् ने गीताशास्त्र में प्रकाशित किया है । इसीलिए इस गीताशास्त्र की व्याख्या करने के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्साहित हो रहा है ।। 40 ।।

मोक्ष का मूल निष्काम कर्मों का अनुष्ठान कहा गया है और उसकी प्रतिबन्धक शोकादि पापमय आसुरी सम्पद् है, जिससे कि स्वधर्म से पतन, प्रतिषिद्ध वस्तुओं का सेवन और फल की कामना से अथवा अहंकारपूर्वक कर्म में प्रवृत्ति होती हैं ।। 41-42 ।। इस प्रकार सदैव आसुरी पापों से ग्रस्त पुरुष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए अयोग्य हो जाता है तथा अनेक प्रकार के दु:खों को प्राप्त करता है ।। 43 ।। इस लोक में सभी प्राणी स्वभावत: दु:खों से द्वेष करते हैं, अतएव दु:ख प्राप्ति के साधनभूत शोक, मोह आदि का सर्वदा त्याग करना चाहिए ।। 44 ।। "अनादिजन्मपरम्परागत संस्कारों से सुदृढ़, समस्त दु:खों के कारण और अत्यन्त दुस्त्यज शोक-मोहादि किस उपाय से नष्ट हों" -- ऐसी आकांक्षा रखने वाले, पुरुषार्थ की ओर उन्मुख पुरुष को बोध कराने के इच्छुक भगवान् ने इस श्रेष्ठ गीताशास्त्र का उपदेश किया है ।। 45-46 ।।

एवमाकाङ्क्षयाऽऽविष्टं पुरुषार्थोन्मुखं नरम् ।
बुबोधयिषुराहेदं भगवाञ्शास्त्रमुत्तमम् ॥ 46 ॥

10 तत्राशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना शोकमोहादिसर्वासुरपाप्मनिवृत्त्युपायोपदेशेन स्वधर्मानुष्ठानात्पुरुषार्थः प्राप्यतामिति भगवदुपदेशः सर्वसाधारणः । भगवदर्जुनसंवादरूपा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु । कथं ? प्रसिद्धमहानुभावोऽप्यर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिष्वहमेषां ममैत इत्येवंप्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपरराम परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते । तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत् । भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते ।

11 अर्जुनोपदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शितः । तथा च व्याख्यास्यते । स्वधर्मप्रवृत्तौ जातायामपि तत्प्रच्युतिहेतुभूतौ शोकमोहौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिनाऽर्जुने दर्शितौ । अर्जुनस्य युद्धाख्ये

---

10 इस गीता-शास्त्र में भगवान् ने "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं"[17] इत्यादि वाक्य के द्वारा शोक-मोहादि-- सभी आसुरी पापों की निवृत्ति के उपायों का उपदेश करके अपने-अपने वर्णाश्रम- धर्मों का अनुष्ठान करते हुए परम पुरुषार्थ को प्राप्त करो"-- ऐसा सर्वसाधारण के लिए उपदेश किया है । उपनिषदों में वर्णित जनक-याज्ञवल्क्य-संवादादि[18] के समान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की संवादरूपा आख्यायिका ब्रह्म-विद्या की स्तुति के लिए है । कैसे ? अर्जुन यद्यपि प्रसिद्ध महान् पराक्रमी था, फिर भी उसका विवेक-ज्ञान राज्य, गुरु, पुत्र तथा मित्र आदि में "मैं इनका हूँ" यें मेरे हैं" -- इस प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न हुए स्नेह के कारणभूत शोक और मोह से अभिभूत हो गया । वह क्षत्रियों के धर्मभूत युद्ध में प्रवृत्त होने पर भी स्वत: ही उस युद्ध से उपराम हो गया और क्षत्रियों के लिए प्रतिषिद्ध परधर्मभूत भिक्षाटनादि कर्मों को करने के लिए प्रवृत्त हो गया । इस प्रकार वह महान् अनर्थ में डूब गया । फिर भी वह भगवान् के उपदेश से इस आत्म-विद्या को प्राप्त करके अपने शोक और मोह को त्याग कर पुन: अपने धर्म में प्रवृत्त और कृतकृत्य हो गया-- यह सब कहकर इस विद्या की "यह अत्यन्त प्रशंसनीय और महान् प्रयोजन वाली है"-- ऐसी स्तुति ही की जाती है ।

11 अर्जुन को उपदेश करने के व्याज से उपदेश का 'अधिकारी' दिखाया गया है । इसी प्रकार आगे (अठारहवें अध्याय में) अधिकारी की व्याख्या भी की जायेगी । स्वधर्म में प्रवृत्ति हो जाने पर भी,

---

17. "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे"-- गीता, 2.11 ।

18. उपनिषदों में संवाद-पद्धति का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है-- जैसे--जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद, बालाकि--अजातशत्रु-संवाद, नचिकेता-यमराज-संवाद आदि । संवादपद्धति उपनिषदीय मीमांसाओं की सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है । उपनिषदीय दर्शन के विकास पथ पर पदे-पदे इसका प्रयोग मिलता है । इन संवादों में सबसे आकर्षक वस्तु जो सभी को आकृष्ट करती है, वह है-- इतने गम्भीर, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों में उन प्राचीन ऋषियों की पर्युत्सुक अन्वेषण-वृत्ति, जो सदैव वस्तु के बहिरंग तक सीमित न रहकर वस्तु के अन्तस्तत्त्व तक पहुँचने के लिए कुतूहलता से भरी होती है । उपनिषदीय इस संवाद-पद्धति के इस विशेष आकर्षण के कारण ही गीताशास्त्र में भी संवाद-पद्धति को उपनिषदीय रूप में ही अपनाया गया है । इसमें मूलत: उपनिषदीय दार्शनिक सिद्धान्तों की ही व्याख्या प्रस्तुत की गई है । अत: यह उपनिषदों का सार है । इसी विचार की अभिव्यक्ति के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ उपनिषदीय संवादपद्धति की गीताशास्त्र की संवादपद्धति से समानता दर्शायी है ।

स्वधर्मे विनाऽपि विवेकं किंनिमित्ता प्रवृत्तिरिति दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकमित्यादिना परसैन्यचेष्टितं तन्निमित्तमुक्तम् । तदुपोद्घातत्वेन धृतराष्ट्रप्रश्नः संजयं प्रति धर्मक्षेत्र इत्यादिना श्लोकेन ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ 1 ॥

12 तत्र धृतराष्ट्र उवाचेति वैशम्पायनवाक्यं जनमेजयं प्रति । पाण्डवानां जयकारणं बहुविधं पूर्वमाकर्ण्य स्वपुत्रराज्यभ्रंशाद्भीतो धृतराष्ट्रः पप्रच्छ स्वपुत्रजयकारणमाशंसन्– युयुत्सवो योद्धुमिच्छवोऽपि सन्तः कुरुक्षेत्रे समवेताः संगता मामका मदीया दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः ? किं पूर्वोद्भूतयुयुत्सानुसारेण युद्धमेव कृतवन्त उत केनचिन्निमित्तेन युयुत्सानिवृत्याऽन्यदेव किंचित्कृतवन्तः ?

13 भीष्मार्जुनादिवीरपुरुषनिमित्तं दृष्टभयं युयुत्सानिवृत्तिकारणं प्रसिद्धमेव । अदृष्टभयमपि दर्शयितुमाह– धर्मक्षेत्र इति । धर्मस्य पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्य च वृद्धेर्निमित्तं सस्यस्येव

उससे प्रच्युति के हेतुभूत शोक और मोह अर्जुन में 'कथं भीष्ममहं संख्ये'[19] इत्यादिवाक्य से दिखाये गये हैं । विवेक के अभाव में भी अर्जुन की युद्ध नामक स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) में प्रवृत्ति क्यों हुई ? इसका कारण 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्'[20] इत्यादि श्लोक से शत्रु की सेना की चेष्टा ही कही गयी है । उसके उपोद्धात रूप से 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यादि श्लोक से धृतराष्ट्र सञ्जय से प्रश्न करता है --

[धृतराष्ट्र ने कहा-- संजय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्रित मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥ 1 ॥]

12 यहाँ 'धृतराष्ट्र उवाच' में जनमेजय के प्रति वैशम्पायन का वाक्य है । पहले पाण्डवों की विजय के अनेक प्रकार के कारणों को सुनकर अपने पुत्रों के राज्यच्युत होने से डरकर धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों की विजय के किसी कारण को सुनने की आशा से पूछा, – पहले से युयुत्सु = युद्ध करने के इच्छुक होने पर भी कुरुक्षेत्र में समवेत = एकत्रित हुए मेरे पुत्र दुर्योधनादि तथा पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर आदि ने क्या किया ? अर्थात् कौन सा कार्य किया ? क्या उन्होंने पहले से ही उत्पन्न हुई अपनी युद्ध करने की इच्छा के अनुसार युद्ध ही किया ? अथवा किसी कारणवश युद्ध करने की इच्छा से निवृत्त होकर कोई दूसरा ही कार्य किया ?

13 भीष्म, अर्जुन आदि वीर पुरुषों के कारण जो दोनों पक्षों के लिए दृष्टभय है वह तो युद्धेच्छा की निवृत्ति का कारण प्रसिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त जो अदृष्टभय है उसे भी दिखाने के लिए धृतराष्ट्र कहता है -- 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि । जैसे अन्न की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण क्षेत्र होता है वैसे ही कुरुक्षेत्र पहले से अविद्यमान धर्म की उत्पत्ति का तथा विद्यमान धर्म की वृद्धि का कारण है -- यह

---

19. कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ गीता, 2.4 ॥

20. गीता, 1.2

क्षेत्रं यत्कुरुक्षेत्रं सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं 'यदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' इति जाबालश्रुतेः, 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इति शतपथश्रुतेश्च । तस्मिन्गताः पाण्डवाः पूर्वमेव धार्मिका यदि पक्षद्वयहिंसानिमित्तादधर्माद्भीता निवर्तेरंस्ततः प्राप्तराज्या एव मत्पुत्राः । अथवा धर्मक्षेत्रमाहात्म्येन पापानामपि मत्पुत्राणां कदाचिच्चित्तप्रसादः स्यात्तदा च तेऽनुतप्ताः कपटोपात्तं राज्यं पाण्डवेभ्यो यदि दद्युस्तर्हि विनाऽपि युद्धं हता एवेति स्वपुत्रराज्यलाभे पाण्डवराज्यालाभे च दृढतरमुपायमपश्यतो महानुद्वेग एव प्रश्नबीजम् ।संजयेति च संबोधनं रागद्वेषादिदोषान्सम्यग्जितवानसीति कृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थम् । मामकाः किमकुर्वतेत्येतावतैव प्रश्ननिर्वाहे पाण्डवाश्चेति पृथङ्निर्दिश्य पाण्डवेषु ममकाराभावप्रदर्शनेन तद्द्रोहमभिव्यनक्ति ॥ 1 ॥

14 **एवं कृपालोकव्यवहारनेत्राभ्यामपि हीनतया महतोऽन्धस्य पुत्रस्नेहमात्राभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य सञ्जयस्यातिधार्मिकस्य प्रतिवचनमवतारयति वैशम्पायनः--**

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ 2 ॥

सब श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है । जाबालश्रुति में बृहस्पति याज्ञवल्क्य से कहते हैं-- "यह जो कुरुक्षेत्र है वह देवताओं की यज्ञभूमि है तथा सभी जीवों को ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला स्थान है ।" शतपथ श्रुति में भी कहा गया है-- 'कुरुक्षेत्र देवों के यज्ञ करने की भूमि है ।' उस (कुरुक्षेत्र) में गये हुए पहले से ही धार्मिक पाण्डव यदि दोनों पक्षों में होने वाली हिंसा के कारण होने वाले अधर्म से डरकर युद्ध करना छोड़ दें तो फिर मेरे पुत्रों को राज्य प्राप्त ही हो गया । अथवा धर्मक्षेत्र की महिमा के कारण पापी भी मेरे पुत्रों का कदाचित् चित्त निर्मल हो जाय और वे पश्चात्तापपूर्वक कपट से प्राप्त राज्य को यदि पाण्डवों को दे दें, तो फिर वे युद्ध किए बिना भी विनष्ट ही हो गए । इस प्रकार अपने पुत्रों के राज्यलाभ के विषय में तथा पाण्डवों के राज्य लाभ न होने के विषय में किसी ठोस उपाय को न देखकर उससे होने वाला महान् उद्वेग ही इस प्रश्न का बीज है । 'संजय' -- यह संबोधन यह सूचित करने के लिए है कि तुमने राग-द्वेष आदि दोषों को अच्छी तरह से जीत लिया है, अतएव तुम्हें बिना किसी कपट के ही उत्तर देना चाहिए । "मेरे पुत्रों ने क्या किया " इतने मात्र से ही प्रश्न का निर्वाह संभव होने पर भी, 'पाण्डवाश्च' (और पाण्डु के पुत्रों ने) ऐसा पृथक् निर्देश करके पाण्डवों के प्रति ममत्व के अभाव के प्रदर्शन से धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति द्रोह अभिव्यक्त होता है ॥ 1 ॥

14 इस प्रकार कृपा और लोकव्यवहार-- इन दोनों ही प्रकार के नेत्रों से हीन होने के कारण पूर्णरूप से अन्धे और पुत्रस्नेह मात्र से आसक्त उस धृतराष्ट्र के प्रश्न से उसका अभिप्राय जानकर अतिधार्मिक सञ्जय के उत्तर को वैशम्पायन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं---

[संजय ने कहा -- उस समय व्यूहरचना से युक्त पाण्डवों की सेना को देखकर तो राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण के समीप जाकर यह वचन कहा ॥2॥]

15 तत्र पाण्डवानां दृष्टभयसंभावनाऽपि नास्ति अदृष्टभयं तु भ्रान्त्याऽर्जुनस्योत्पन्नं भगवतोपशमितमिति पाण्डवानामुत्कर्षस्तुशब्देन द्योत्यते । स्वपुत्रकृतराज्यप्रत्यर्पणशङ्कया तु मा ग्लासीरिति राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्ट्यमेव प्रथमतो वर्णयति– दृष्ट्वेति ।

16 पाण्डुसुतानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितं दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य तदा सङ्ग्रामोद्यमकाल आचार्यं द्रोणनामानं धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तयितारमुपसंगम्य स्वयमेव तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहूय । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयं सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्यगौरवव्याजेन भयसंगोपनं राजनीतिकुशलत्वादित्याह– राजेति । आचार्यं दुर्योधनोऽब्रवीदित्येतावतैव निर्वाहे वचनपदं संक्षिप्तबहर्थत्वादिबहुगुणविशिष्टे वाक्यविशेषे संक्रमितुं, वचनमात्रमेवाब्रवीन्न तु कंचिदर्थमिति वा ॥ 2 ॥

17 तदेव वाक्यविशेषरूपं वचनमुदाहरति– पश्यैतामित्यादिना तस्य संजनयन्हर्षमित्यतः प्राक्तनेन । पाण्डवेषु प्रियशिष्येष्वतिस्निग्धहृदयत्वादाचार्यो युद्धं न करिष्यतीति संभाव्य तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयंस्तस्य क्रोधातिशयमुत्पादयितुमाह–

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ 3 ॥

---

15 इस युद्ध में पाण्डवों को दृष्टभय की संभावना भी नहीं है, अदृष्टभय तो अर्जुन को भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ था जिसे भगवान् ने शान्त कर दिया – इस प्रकार 'तु' शब्द से पाण्डवों का उत्कर्ष सूचित किया गया हैं । "आप अपने पुत्रों द्वारा पाण्डवों को राज्य लौटा देने की शङ्का से भी दुखी न हों,"-- इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र को सन्तोष दिलाने के लिए सञ्जय 'दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक से पहले दुर्योधन की दुष्टता का ही वर्णन करता है ।

16 पाण्डु-पुत्रों की अनीक = सेना को व्यूढ = धृष्टद्युम्नादि द्वारा व्यूह रचना से स्थापित देखकर अर्थात् चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञान का विषय बनाकर उस समय अर्थात् संग्राम की तैयारी करते समय दुर्योधन ने आचार्य = धनुर्विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक 'द्रोण' नामक अपने गुरु के समीप जाकर अर्थात् स्वयं ही उनके समीप जाकर न कि उन्हें अपने समीप बुलाकर यह वचन कहा । इससे दुर्योधन में पाण्डवों की सेना को देखने से उत्पन्न भय को सूचित किया गया है । भय से अपनी रक्षा के लिए उनके समीप जाने पर भी उसने राजनीति में कुशल होने के कारण आचार्य का गौरव रखने के व्याज से अपने भय को छिपा लिया । इसीलिए उसे 'राजा' कहा गया है । यहाँ 'दुर्योधन ने आचार्य से कहा' इतना कहने मात्र से ही निर्वाह संभव होने पर भी 'वचन' पद उसके वाक्य को संक्षिप्तत्व, अनेकार्थत्व आदि गुणों से युक्त बताने के लिए रखा गया है । अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसने-वचनमात्र ही कहा, किन्तु अर्थ कुछ भी नहीं कहा ॥ 2 ॥

17 'पश्यैताम्'[21] इत्यादि श्लोक से लेकर 'तस्य संजनयन् हर्षम्'[22] इत्यादि श्लोक से पहले तक के श्लोकों द्वारा दुर्योधन का वह वाक्यविशेषरूप वचन ही कहा जा रहा है । अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों के प्रति अत्यन्त स्निग्ध हृदयवान् होने के कारण आचार्य युद्ध नहीं करेंगे-- ऐसी संभावना से 'आचार्य

---

21. गीता, 1.3
22. गीता, 1.12 ।

18 **एतामत्यासन्नत्वेन भवद्विधानपि महानुभावानवगणय्य भयशून्यत्वेन स्थितां पाण्डुपुत्राणां चमूं महतीमनेकाक्षौहिणीसहितत्वेन दुर्निवारां पश्यापरोक्षीकुरु प्रार्थनायां लोट् । अहं शिष्यत्वात्त्वामाचार्यं प्रार्थय इत्याह– आचार्येति । दृष्ट्वा च तत्कृतामवज्ञां स्वयमेव ज्ञास्यसीति भावः ।**

19 **ननु तदीयावज्ञा सोढव्यैवास्माभिः प्रतिकर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तन्निरसनं तव सुकरमेवेत्याह– व्यूढां तव शिष्येणेति । शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव । व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपदपुत्रेणेतिकथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम् । धीमतेति पदमनुपेक्षणीयत्वसूचनार्थम् । व्यासङ्गान्तरनिराकरणेन त्वरातिशयार्थं पश्येति प्रार्थनम्।**

20 **अन्यच्च हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य न तु मम तेषु स्नेहातिशयात् । द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव ममानर्थकारणमिति सूचयति । शत्रोस्तव सकाशात्त्वद्वधोपायभूता विद्या गृहीतेति तस्य धीमत्त्वम् । अत एव तच्चमूदर्शनेनाऽऽनन्दस्तवैव**

के प्रति शत्रुओं (पाण्डवों) की बड़ी अवज्ञा है' -- इस प्रकार सूचित करते हुए उनका अत्यन्त क्रोध उत्पन्न करने के लिए दुर्योधन कहता है--

[आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूह रचना से स्थापित पाण्डुपुत्रों की इस विशाल सेना को देखिए ।। 3 ।।]

18 आप जैसे महानुभावों की भी अवहेलना करके निर्भीक रूप से खड़ी हुई पाण्डुपुत्रों की इस अत्यन्त समीपवर्तिनी चमू = सेना को, जो महती = अनेक अक्षौहिणी सहित होने के कारण बड़ी कठिनाई से रोकी जा सकती है, आप देखिए = प्रत्यक्ष अवलोकन कीजिए । यहाँ पर प्रार्थना के अर्थ में 'लोट् लकार' का प्रयोग हुआ है । मैं आपका शिष्य होने के कारण आप आचार्य से प्रार्थना करता हूँ-- यह सूचित करने के लिए 'आचार्य' सम्बोधन पद का प्रयोग किया गया है । यहाँ दुर्योधन का अभिप्राय यह है कि इसे देखकर आप स्वयं ही अपने प्रति उन लोगों के द्वारा की गयी अवज्ञा को जान लेंगे ।

19 पुन: आचार्य की ओर से ऐसी आशंका करके कि-- 'हमें उनके द्वारा की गयी अवज्ञा को सहन कर लेना चाहिए क्योंकि हम उनका प्रतिकार करने में असमर्थ हैं'-- दुर्योधन यह सूचित करने के लिए कि उन्हें रोकना आपके लिए सरल ही है,-- कहता है कि -- 'व्यूढां तव शिष्येण'-- 'इसकी व्यूह रचना आपके शिष्य ने की है ।' शिष्य की अपेक्षा गुरु की उत्कृष्टता सर्वसिद्ध ही है । यहाँ ' व्यूहरचना धृष्टद्युम्न ने की है' -- ऐसा न कहकर 'द्रुपदपुत्र ने की है' -- ऐसा कहा गया है । वह द्रुपद से आचार्य के पूर्व वैर को सूचित करके द्रोणाचार्य के क्रोध को उद्दीपित करने के लिए ही कहा गया है । श्लोक के 'धीमता' पद से यह सूचित किया गया है कि धृष्टद्युम्न उपेक्षा करने योग्य नहीं है । 'पश्य' = 'देखिए'-- इस प्रकार की प्रार्थना करने का प्रयोजन यह है कि आप अन्य कार्यों से चित्त हटाकर इस ओर अतिशीघ्र ध्यान दीजिए ।

20 इसके अतिरिक्त यदि 'पाण्डुपुत्राणाम्' पद का 'चमूम्' पद के साथ अन्वय न करके उसका 'आचार्य' पद के साथ अन्वय किया जाय तो इसका यह अर्थ होगा, -- 'हे पाण्डुपुत्रों के आचार्य ! -- मेरे नहीं क्योंकि उन्हीं में आपका अति स्नेह है' । 'आपके शिष्य द्रुपदपुत्र के द्वारा' -- इससे यह अभिव्यञ्जित होता है कि यद्यपि धृष्टद्युम्न आपके वध के लिए ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी आपने उसे शस्त्रविद्या

भविष्यति भ्रान्तत्वात्, नान्यस्य कस्यचिदपि यं प्रतीयं प्रदर्शनीयेति त्वमेवैतां पश्येत्याचार्यं प्रति तत्सैन्यं प्रदर्शयन्निगूढं द्वेषं द्योतयति। एवं च यस्य धर्मक्षेत्रं प्राप्याऽऽचार्येऽपीदृशी दुष्टबुद्धिस्तस्य काऽनुतापशङ्का सर्वाभिशङ्कित्वेनातिदुष्टाशयत्वादिति भावः ॥3 ॥

21 **नन्वेकेन द्रुपदपुत्रेणाप्रसिद्धेनाधिष्ठितां चमूमेतामस्मदीयो यः कश्चिदपि जेष्यति किमिति त्वमुत्ताम्यसीत्यत आह– अत्र शूरा इत्यादिभिस्त्रिभिः ।**

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥

22 **न केवलमत्र धृष्टद्युम्न एव शूरो येनोपेक्षणीयता स्यात्किं तु अस्यां चम्वामन्येऽपि बहवः शूराः सन्तीत्यवश्यमेव तज्जये यतनीयमित्यभिप्रायः । शूरानेव विशिनष्टि– महेष्वासा इति । महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशला इति भावः।**

की शिक्षा दी-- यह आपकी मूर्खता ही आज मेरे अनर्थ का कारण हुई है । और आपके शत्रु धृष्टद्युम्न ने आपके समीप रहकर आपसे ही आपके वध की उपायभूता विद्या को ग्रहण किया -- यह उसकी बुद्धिमत्ता है । अतएव भ्रान्त होने के कारण आपको ही उसकी सेना देखकर आनन्द होगा, किसी दूसरे को नहीं, जिसे हम दिखाएँ, अतएव आप ही इसे देखिए-- इस प्रकार आचार्य को पाण्डुपुत्रों की सेना दिखाते हुए दुर्योधन अपना छिपा हुआ द्वेष प्रकट कर रहा है । कहने का अभिप्राय है कि धर्मक्षेत्र में भी आकर जिसकी आचार्य के प्रति भी इस प्रकार की दुष्टतापूर्ण बुद्धि बनी हुई है, उसे अपने अन्याय के लिए पश्चात्ताप होने की क्या आशंका हो सकती है ? क्योंकि सभी की ओर से शंकित होने के कारण उसका हृदय तो अत्यन्त दूषित है ॥ 3 ॥

21 यदि आचार्य द्रोण कहें कि द्रुपदपुत्र तो कोई प्रसिद्ध वीर नहीं है, केवल उसी के द्वारा अधिष्ठित इस सेना को तो हमारा कोई भी वीर जीत लेगा, उसके लिए तुम क्यों घबड़ाते हो ? तो इसका उत्तर दुर्योधन 'अत्र शूराः'[23] इत्यादि तीन श्लोकों से देता है –

[इस सेना में युद्धभूमि में महान् धनुष धारण करने वाले भीम तथा अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं, जैसे-- सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद; महान् पराक्रमी धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज; नरश्रेष्ठ पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य ; विक्रमसम्पन्न युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र-- ये सभी महारथी हैं ॥ 4-5-6 ॥]

22 इस सेना में केवल धृष्टद्युम्न ही वीर नहीं है जिससे इसकी उपेक्षा कर दी जाय, अपितु इस सेना में दूसरे भी बहुत से वीर हैं, अतएव इसको पराजित करने का अवश्य ही प्रयास करना चाहिए-- ऐसा दुर्योधन का अभिप्राय है । 'महेष्वासाः' पद से वह वीरों की ही विशेषता बतलाता है- महान् = दूसरों के द्वारा

---

23. गीता, 1.4-6

महाधनुरादिमत्त्वेऽपि युद्धकौशलाभावमाशङ्कयाऽऽह— युधि युद्धे भीमार्जुनाभ्यां सर्वसंप्रतिपन्नपराक्रमाभ्यां समास्तुल्याः । तानेवाऽऽह— युयुधान इत्यादिना महारथा इत्यन्तेन । युयुधानः सात्यकिः । द्रुपदश्च महारथ इत्येकः । अथवा युयुधानविराटद्रुपदानां विशेषणं महारथ इति । धृष्टकेतुचेकितानकाशिराजानां विशेषणं वीर्यवानिति । पुरुजित्कुन्तिभोजशैव्यानां विशेषणं नरपुङ्गव इति । विक्रान्तो युधामन्युर्वीर्यवांश्चोत्तमौजा इति द्वौ । अथवा सर्वाणि विशेषणानि समुच्चित्य सर्वत्र योजनीयानि । सौभद्रोऽभिमन्युः । द्रौपदेयाश्च द्रौपदीपुत्राः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च । चकारादन्येऽपि पाण्ड्यराजघटोत्कचप्रभृतयः । पञ्च पाण्डवास्त्वतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः ।

ये गणिताः सप्तदशान्येऽपि तदीयाः सर्व एव महारथाः सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथोऽर्धरथो वा । महारथा इत्यतिरथत्वस्याप्युपलक्षणम् । तल्लक्षणं च—

'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥4-5-6॥

नियन्त्रण में न आने वाले हैं इष्वास = धनुष जिनके वे योद्धा अर्थात् जो दूर से ही शत्रु की सेना को तितर-बितर कर देने में कुशल हैं-- यह अभिप्राय है । यदि यह शंका करें कि महान् धनुष आदि युद्ध-साम्रगी के रहने पर भी वे युद्ध-कला में कुशल नहीं है; तो इसका उत्तर दुर्योधन देता है कि वे युद्ध में सर्वसम्मत पराक्रम वाले भीम तथा अर्जुन के समान = तुल्य हैं । आगे-- 'युयुधानः' से लेकर 'महारथाः' पर्यन्त ग्रन्थ से उन्हीं वीरों का वर्णन करता है । युयुधान सात्यकि को कहा गया है । 'द्रुपदश्च महारथः' इन दोनो पदों से एक ही वीर को बतलाया गया है । अथवा ' महारथ' पद युयुधान, विराट तथा द्रुपद-- इन तीनों का विशेषण है । धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज-- इन तीनों का विशेषण 'वीर्यवान्' है । पुरुजित्, कुन्तिभोज[24] तथा शैव्य-- इन तीनों का विशेषण 'नरपुंगव' है । किञ्च विक्रान्त युधामन्यु तथा वीर्यवान् उत्तमौजा-- ये दो वीर हैं । अथवा इन सभी विशेषणों को एकसाथ सभी योद्धाओं के साथ लगाना चाहिए । यहाँ 'सौभद्र' पद से अभिमन्यु को कहा गया है । 'द्रौपदेयाः' पद से द्रौपदी के प्रतिबिन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्मा-- पाँच पुत्र कहे गए हैं । ''द्रौपदेयाश्च'' पद के 'चकार' से पाण्ड्यराज, घटोत्कच आदि अन्य वीर कहे गए हैं । पाँच पाण्डव तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही हैं, अतएव उनकी गणना यहाँ नहीं की गयी है ।

यहाँ जो सत्रह वीर गिनाए गये हैं तथा उनके साथ अन्य भी बहुत से वीर हैं वे सभी महारथी हैं, अर्थात् सबके सब महारथी ही हैं, उनमें से कोई भी रथी अथवा अर्धरथी नहीं हैं । 'महारथाः' पद अतिरथी का भी उपलक्षण है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं-- 'जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारियों से युद्ध करे

24. 'पुरुजित्कुन्तिभोज'-- पद से दो पुरुषों के नामों की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह एक ही पुरुष का नाम प्रतीत होता है, क्योंकि जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था और कुन्तिभोज उसके कुल का नाम है, इसीलिए उसे 'पुरुजित्कुन्तिभोज' कहा जाता था । महाभारत के उद्योगपर्व के एक सौ उनहत्तरवें अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर पाचवें श्लोक तक युद्ध के ही सन्दर्भ में 'पुरुजित्-कुन्तिभोज' नाम का उल्लेख एक वचन में ही हुआ है । वहाँ यह भी वर्णन है कि वह युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन का मामा था ।

23 यद्येवं परबलमतिप्रभूतं दृष्ट्वा भीतोऽसि हन्त तर्हि संधिरेव परैरिष्यतां किं विग्रहाग्रहेणेत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह–

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ! ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥7॥

24 तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति । अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः सर्वेभ्यः समुत्कर्षजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध निश्चयेन मद्वचनादवधारयेति भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधे रूपम् ।

ये च मम सैन्यस्य नायका मुख्या नेतारस्तान्संज्ञार्थमसंख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं ते तुभ्यं ब्रवीमि न त्वज्ञातं किंचिदपि तव ज्ञापयामीति द्विजोत्तमेति विशेषणेनाऽऽचार्यं स्तुवन्स्वकार्ये तदाभिमुख्यं संपादयति । दौष्ट्यपक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणत्वात्तावद्युद्धाकुशलस्त्वं तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्मप्रभृतीनां क्षत्रियप्रवराणां सत्त्वान्नास्माकं महती क्षतिरित्यर्थः ।

संज्ञार्थमिति प्रियशिष्याणां पाण्डवानां चमूं दृष्ट्वा हर्षेण व्याकुलमनसस्तव स्वीयवीरविस्मृतिर्माभूदिति ममेयमुक्तिरिति भावः ॥7॥

तथा शस्त्रविद्या में कुशल हो, वह 'महारथी' कहलाता है और जो अगणित योद्धाओं से युद्ध करे उसे 'अतिरथी' कहते हैं । जो केवल एक सहस्र योद्धाओं से युद्ध करे उसे 'रथी कहते हैं और जो इससे कम योद्धाओं से युद्ध करने वाला है वह अर्द्धरथी कहलाता है' ॥ 4-5-6 ॥

23 'यदि ऐसा है कि तुम शत्रु की अत्यधिक सेना को देखकर डर गए हो तो फिर उनसे सन्धि ही कर लो, युद्ध के लिए हठ करने से क्या लाभ है,' -- इस प्रकार से आचार्य द्रोण के अभिप्राय की आशंका करके दुर्योधन कहता है –

[हे द्विजोत्तम ! हमारे तो जो भी विशिष्ट योद्धा हैं, उन्हें भी आप समझ लीजिए । और आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो नायक हैं, उन्हें भी आपको बतलाता हूँ ॥7॥]

24 यहाँ 'तु' शब्द से दुर्योधन अपने भीतर उत्पन्न हुए भय को छिपाकर अपनी धृष्टता ही व्यक्त करता है । हम सभी के बीच में जो विशिष्ट = सभी की अपेक्षा में उत्कृष्ट योद्धा हैं, उन सभी को मैं कह रहा हूँ । मेरे कहने से आप उन्हें निश्चय ही वैसा ही समझें । 'निबोध' पद 'नि' उपसर्ग पूर्वक भ्वादिगण की परस्मैपदी 'बुध्' धातु का रूप है ।

और मेरी सेना के जो-जो नायक = मुख्य नेता हैं उन असंख्यों में से कुछ वीरों का नाम लेकर संज्ञार्थ = शेष सभी को उपलक्षित कराने के लिए मैं आपको बतलाता हूँ । मैं आपको कोई ऐसा योद्धा नहीं बता रहा हूँ जिसे आप जानते नहीं हैं । 'द्विजोत्तम' इस विशेषण से आचार्य की प्रशंसा करके वह उन्हें अपने कार्य के प्रति अभिमुख करना चाहता है । यदि उसकी दुष्टता का पक्ष ग्रहण करें तो 'द्विजोत्तम' विशेषण से यह भी अर्थ होगा कि आप ब्राह्मण होने से युद्ध में कुशल नहीं हैं, अतएव आप यदि युद्ध से विमुख भी हो जायँ तो भी भीष्म आदि क्षत्रियश्रेष्ठों के रहते हुए हमारी कोई बड़ी क्षति नहीं होगी ।

'संज्ञार्थम्' पद का यह भी अभिप्राय है कि अपने प्रिय शिष्य पाण्डवों की सेना को देखकर आप हर्षातिरेक के कारण बेसुध होकर अपने पक्ष के वीरों को न भूल जायँ-- इसीलिए मैं यह कह रहा हूँ ॥7॥

25 तत्र विशिष्टान्गणयति–

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥8 ॥

26 भवान्द्रोणो भीष्मः कर्णः कृपश्च । समितिं सङ्ग्रामं जयतीति समितिंजय इति कृपविशेषणं कर्णादनन्तरं गण्यमानत्वेन तस्य कोपमाशङ्क्य तन्निरासार्थम् । एते चत्वारः सर्वतो विशिष्टाः । नायकान्गणयति– अश्वत्थामा द्रोणपुत्रः । भीष्मापेक्षयाऽऽचार्यस्य प्रथमगणनवद्विकर्णाद्यपेक्षया तत्पुत्रस्य प्रथमगणनमाचार्यपरितोषार्थम् । विकर्णः स्वभ्राता कनीयान् । सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वाद्भूरिश्रवाः । जयद्रथः सिन्धुराजस्तथैव चेति क्वचित्पाठः ॥8॥

27 किमेतावन्त एव नायका नेत्याह—

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

28 अन्ये च शल्यकृतवर्मप्रभृतयो मदर्थे मत्प्रयोजनाय जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थेन त्यक्तजीविता इत्यनेन स्वस्मिन्ननुरागातिशयस्तेषां कथ्यते । एवं स्वसैन्यबाहुल्यं तस्य स्वस्मिन्भक्तिः शौर्यं युद्धोद्योगो युद्धकौशलं च दर्शितं शूरा इत्यादिविशेषणैः ॥9॥

---

25 दुर्योधन अपने पक्ष के विशिष्ट योद्धाओं को गिनाता है :–
[आप, भीष्म, कर्ण, संग्रामजयी कृपाचार्य-- ये विशिष्ट योद्धा हैं । तथा अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति और जयद्रथ-- ये मुख्य सेनानायक हैं ॥8॥]

26 आप द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण तथा कृप । समिति अर्थात् संग्राम को जो जीते वह 'समितिंजय' । 'समितिंजय' कृपाचार्य का विशेषण है । कर्ण के पश्चात् गिने जाने के कारण कृपाचार्य के क्रोध की आशंका करके उनके क्रोध के निरासार्थ कृपाचार्य को 'समितिंजय' विशेषण दिया गया है । ये चारों सर्वतः विशिष्ट वीर हैं ।
इसके पश्चात् वह सेना–नायकों की गणना करता है । अश्वत्थामा = द्रोण का पुत्र । जैसे भीष्म की अपेक्षा आचार्य को पहले गिना था वैसे ही विकर्ण की अपेक्षा उनके पुत्र को आचार्य की प्रसन्नता के लिए पहले गिना है । विकर्ण मेरा छोटा भाई है । सौमदत्ति = सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा है । अपने पिता के ही समान श्रेष्ठ होने के कारण उसे 'सौमदत्ति' कहा गया है । तथा सिन्धुराज जयद्रथ । कहीं कहीं पर 'जयद्रथ' के स्थान पर 'तथैव च' – यह पाठ मिलता है ॥8॥

27 क्या इतने ही नायक हैं ? -- ऐसी आशंका होने पर कहता है – नहीं ।
[इनके अतिरिक्त दूसरे भी बहुत से वीर हैं, जो मेरे लिए प्राण त्याग देने को तैयार हैं । अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वे सभी युद्धकला में बड़े प्रवीण हैं ॥9॥]

28 शल्य, कृतवर्मा आदि दूसरे भी अनेक वीर मेरे लिए = मेरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने प्राणों को भी त्याग देने का निश्चय किए हुए हैं । इस प्रकार 'त्यक्तजीविताः' -- इस पद से दुर्योधन उनका अपने में अनुरागातिशय बतला रहा है । इसी प्रकार 'शूराः' इत्यादि विशेषणों से उसने

29 राजा पुनरपि सैन्यद्वयसाम्यमाशङ्क्य स्वसैन्याधिक्यमावेदयति—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥10॥

30 अपर्याप्तमनन्तमेकादशाक्षौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाऽभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माकं बलम् । एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितं सप्ताक्षौहिणीमात्रात्मकत्वान्न्यूनं भीमेन चातिचपलबुद्धिना रक्षितं तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः ।

31 अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालमस्माकमस्मभ्यम् । कीदृशं तद्भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्माभिर्यस्मै यन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः । तत्पाण्डवबलं भीष्माभिरक्षितम् । इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थम् । भीमोऽतिदुर्बलहृदयोऽभिरक्षितो यस्मै तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम् । यस्माद्भीमोऽत्ययोग्य एवैतन्निवृत्त्यर्थं तैं रक्षितस्तस्मादस्माकं न किंचिदपि भयकारणमस्तीत्यभिप्रायः ॥10 ॥

32 एवं चेन्निर्भयोऽसि तर्हि किमिति बहु जल्पसीत्यत आह—

अपनी सेना की बहुलता, अपने प्रति उसकी भक्ति, शूरता, युद्ध के लिए उद्योग तथा युद्ध की कुशलता को सूचित किया है ।।9।।

29 राजा दुर्योधन फिर भी यह आशङ्का करके कि आचार्य कहीं दोनों सेनाओं को एक समान ही न समझ लें अपनी सेना की अधिकता को सूचित करता है–
[हमारी सेना असीमिति है और सब ओर से भीष्म द्वारा सुरक्षित है तथा इन पाण्डवों की सेना तो सीमित और भीम द्वारा सुरक्षित है ।।10।।]

30 हमारी यह सेना अपर्याप्त = अनन्त अर्थात् ग्यारह अक्षौहिणी से परिमित तथा प्रख्यात प्रभाव वाले सूक्ष्मबुद्धि भीष्म द्वारा अभितः = सब ओर से सुरक्षित है । अर्थात् हमारी सेना इस प्रकार के गुणवान् पुरुष द्वारा अधिष्ठित है । इन पाण्डवों की सेना तो पर्याप्त अर्थात् परिमित है । संख्या में मात्र सात अक्षौहिणी वाली होने के कारण छोटी है । किञ्च वह अत्यन्त चंचल बुद्धिवाले भीम द्वारा सुरक्षित है । अतएव अभिप्राय यह है कि हमारी ही विजय होगी ।

31 अथवा यह पाण्डवों की सेना हमारे पराभव के लिए अपर्याप्त = असमर्थ है । कैसी है यह ? जिसके लिए = जिसकी निवृत्ति के लिए हमने भीष्म को सुरक्षित रखा है । अतः यह पाण्डवों की सेना भीष्माभिरक्षित है । और हमारी जो यह सेना हैं वह इन पाण्डवों के लिए पर्याप्त है अर्थात् इन पाण्डवों का पराभव करने में समर्थ है; क्योंकि इसके लिए उन्होंने अत्यन्त दुर्बल हृदय वाले भीम को सुरक्षित रखा है, अतएव हमारी यह सेना भीमाभिरक्षित है । क्योंकि उन्होंने इसकी निवृत्ति के लिए अत्यन्त अयोग्य भीम को सुरक्षित रखा है, अतएव हमारे लिए भय का कोई भी कारण नहीं है – यह दुर्योधन के कहने का अभिप्राय है ।।10।।

32 "यदि तुम इस प्रकार से निर्भय हो तो फिर इतनी अधिक बातें क्यों करते हो ?" – ऐसा यदि आचार्य कहें तो दुर्योधन कहता है –

अयनेषु तु सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥11 ॥

33 **कर्तव्यविशेषद्योती तुशब्दः । समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि यानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते । सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय मध्ये तिष्ठति । तत्रैवं सति यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेपि युद्धाभिनिवेशात्पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्चानिरीक्षमाणं भीष्मं सेनापतिमेव रक्षन्तु । भीष्मे हि सेनापतौ रक्षिते तत्प्रसादादेव सर्वं सुरक्षितं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥11॥**

34 **स्तौतु वा निन्दतु वा, एतदर्थे देहः पतिष्यत्येवेत्याशयेन तं हर्षयन्नेव सिंहनादं [विनद्य] शङ्खवाद्यं च कारि (वादि) तवानित्याह—**

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥12॥

35 **एवं पाण्डवसैन्यदर्शनादतिभीतस्य भयनिवृत्त्यर्थमाचार्यं कपटेन शरणं गतस्येदानीमप्ययं मां प्रतारयतीत्यसंतोषवशादाचार्येण वाङ्मात्रेणाप्यनादृतस्याऽऽचार्योपेक्षां बुद्ध्वाऽयनेष्वित्वादिना भीष्ममेव स्तुवतस्तस्य राज्ञो भयनिवर्तकं हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं स्वविजयसूचकं जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा, यद्वा सिंहनादमिति णमुलन्तम् । अतो रैपोषं पुष्णातीतिवत्तस्यैव धातोः पुनः प्रयोगः । शङ्खं दध्मौ वादितवान् ।**

[तो आप सभी लोग सभी मोर्चों पर अपने-अपने विभाग के अनुसार स्थित रहते हुए सब ओर से भीष्म की ही रक्षा करें ॥11॥]

33 श्लोक का 'तु' शब्द कर्तव्यविशेष का द्योतक है। युद्ध प्रारम्भ होने के समय योद्धाओं की प्रधानता के अनुसार युद्ध-भूमि में पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं के विभाग से स्थित रहने के जो स्थान निश्चित किए जाते हैं उन्हें यहाँ 'अयन' कहा गया है। सेनापति सम्पूर्ण सेना पर अधिष्ठित होकर बीच में रहता है। इस प्रकार युद्ध-भूमि में अपने-अपने विभाग के अनुसार विभक्त अपने-अपने रणक्षेत्र का त्याग किए बिना वहीं स्थित होकर आप सभी लोग युद्ध में एकनिष्ठ हो जाने के कारण आगे, पीछे और अगल-बगल न देखने वाले सेनापति भीष्म की ही रक्षा करें। अभिप्राय यह है कि सेनापति भीष्म के सुरक्षित रहने पर उनकी कृपा से ही सब कुछ सुरक्षित रहेगा ॥ 11॥

34 'यह मेरी स्तुति करे अथवा निन्दा, इस दुर्योधन के लिए मेरा देहपात होगा ही', – इस आशय से उस दुर्योधन को हर्षित करते हुए ही सिंह के समान गर्जना करके भीष्म ने शंखनाद किया – इसी अर्थ को कहते हैं –

[कौरवों में वृद्ध, प्रतापी, पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह के समान गर्जना करके शंख बजाया ॥12॥]

35 इस प्रकार पाण्डवों की सेना को देखने से अत्यन्त भयभीत; भय की निवृति के लिए कपट से आचार्य की शरण में गए हुए; 'इस समय भी यह मुझे प्रवंचित कर रहा है'– इस प्रकार के

कुरुवृद्धत्वादाचार्यदुर्योधनयोरभिप्रायपरिज्ञानं, पितामहत्वादनुपेक्षणं न त्वाचार्यवदुपेक्षणं, प्रतापवत्त्वादुच्चैः सिंहनादपूर्वकशङ्खवादनं परेषां भयोत्पादनाय ।
अत्र सिंहनादशङ्खवाद्ययोर्हर्षजनकत्वेन पूर्वापरकालत्वेऽप्यभिचरन्यजेतेतिवज्जनयन्निति शताऽवश्यंभावित्वरूपवर्तमानत्वे व्याख्यातव्यः ॥12॥

असंतोष के कारण आचार्य की वाणी मात्र से भी अनादृत; आचार्य के द्वारा की जाने वाली अपनी उपेक्षा को जानकर, 'अयनेषु' इत्यादि वाक्य के द्वारा भीष्म की ही प्रशंसा करने वाले उस राजा दुर्योधन के भय को निवृत्त करने वाले हर्ष को अर्थात् बुद्धिगत उल्लास विशेष को, जो उसके विजय का सूचक था, उत्पन्न करते हुए, उच्चस्वर से सिंह के समान गर्जना करके पितामह ने शंख बजाया । अथवा 'सिंहनादम्'[25] – यह 'णमुल्' प्रत्ययान्त शब्द है । अतः ' रैपोषं पुष्णाति' वाक्य में जिस प्रकार 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'पोषम्' शब्द के पश्चात् उस 'पुष्' धातु का पुनः प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार 'सिंहनादं विनद्य' में भी 'सिंहनादं विनदति' इस अर्थ में 'णमुल्' प्रत्ययान्त 'नादम्' शब्द के पश्चात् पुनः 'नद्' धातु का प्रयोग हुआ है ।

कौरवों में वृद्ध होने के कारण भीष्मपितामह को आचार्य और दुर्योधन के अभिप्राय का पूर्णरूप से ज्ञान था; पितामह होने के कारण उनमें दुर्योधन के प्रति अनुपेक्षा थी, न कि आचार्य के समान उपेक्षा, तथा प्रतापी होने के कारण उन्होंने शत्रुओं में भय उत्पन्न करने के लिए उच्चस्वर से सिंहनाद-पूर्वक शंख बजाया ।

यहाँ सिंहनाद तथा शंखवाद्य के हर्षोत्पादक होने के कारण पहले सिंहनाद तथा शंखनाद होना चाहिए, उसके पश्चात् हर्ष को उत्पन्न होना चाहिए, फिर भी 'अभिचरन् यजेत्' अर्थात् अभिचार करते हुए अर्थात् अभिचार करने के लिए यजन करे,— यह जैसे प्रयोग होता है, वैसे ही हर्षरूप फल की अवश्यंभाविता को सूचित करने के लिए वर्तमान के रूप में 'संजनयन्'[26] 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग हुआ है ॥12॥

25. श्लोक के 'सिंहनादं विनद्य' पदों में से 'सिंहनादम्' 'णमुल्' प्रत्ययान्त पद है । 'कषायादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (पाणिनिसूत्र 3.4.46) सूत्र के अनुसार जिस धातु से 'णमुल्' किया जाता है, उसी 'धातु' का पुनः प्रयोग किया जाता है, अतएव यहाँ भी 'सिंहनादम्' णमुलन्त पद में नद्' धातु के प्रयोग के अनन्तर 'विनद्य' पद में 'नद्' धातु का पुनः प्रयोग किया गया है । और 'सिंहनादम्' पद में 'उपमाने कर्मणि च' (पाणिनिसूत्र 3.4.45) सूत्र से 'नद्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय किया गया है, क्योंकि 'सिंहनादम्' में 'सिंह' उपमान है, अतएव 'सिंहनादं विनद्य' का अर्थ होगा – 'सिंह इव विनद्य' अर्थात् 'सिंह के समान गर्जना करके' । किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'सिंहनादं विनद्य' पदों में से 'सिंहनादम्' पद में 'णमुल्' प्रत्यय का प्रयोग ' रैपोषं पुष्णाति' वाक्य में प्रयुक्त 'णमुलन्त' पद ' रैपोषम्' के समान कहा है । जो कि उचित नहीं है, क्योंकि ' रैपोषं पुष्णाति' में 'स्वे पुषः' (पाणिनि सूत्र 3.4.40) सूत्र से ' रैपोषम्' पद में 'णमुल्' प्रत्यय होता है । 'स्वे पुषः' – सूत्र का अर्थ है – 'स्व' – अर्थवाचक शब्दों के साथ 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है । 'स्व' के पर्याय हैं – ' रै' 'धन' इत्यादि । अतः 'णमुलन्त' पद हुए – ' रैपोषं' और 'धनपोषं' । 'कषायादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' सूत्र से जिस धातु से 'णमुल्' किया जाता है, उसी धातु का पुनः प्रयोग करने पर वाक्य प्रयोग होंगे – ' रैपोषं पुष्णाति' और 'धनपोषं पुष्णाति' जिनका अर्थ होगा – 'राया पुष्णाति' और 'धनेन पुष्णाति' अर्थात् धन से पोषण करता है । इन प्रयोगों में 'उपमाने कर्मणि च' सूत्र से 'पुष्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय करने पर यदि ' रैपोषं पुष्णाति'= 'रा इव पुष्णाति' और ' 'धनपोषं पुष्णति' = 'धनमिव पुष्णाति' वाक्य प्रयोग किये जाते हैं तो 'स्वे पुषः' पाणिनिसूत्र की निरर्थकता सिद्ध होगी । अतः 'गूढार्थदीपिका' में ' रैपोषं पुष्णातीतिवत्' के स्थान पर होना चाहिए था – 'घृतनिधायं निहितं जलमितिवत्', 'अजकनाशं नष्ट इतिवत्' इत्यादि।

26. श्लोक के 'संजनयन्हर्षम्' पदों में से 'संजनयन्' शतृ-प्रत्ययान्त शब्द है । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनि सूत्र 3.2.126) के अनुसार क्रिया की किसी विशेषता का बोध कराने के लिए और किसी क्रिया के हेतु = फल और कारण बतलाने के लिए शतृ और शानच् वर्तमानकालिक प्रत्ययों का प्रयोग होता है । यहाँ 'संजनयन्' पद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'जन्' धातु से 'हर्ष' रूप फल की अवश्यंभाविता को सूचित करने के लिए ही 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । इसी सूत्रार्थ की पुष्टि करने वाला 'गूढार्थदीपिका' में 'अभिचरन् यजेत' उदाहरण दिया गया है जिसका भी अर्थ होता है कि 'अभिचार' रूप फल के लिए यजन करे ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥13॥

36 **ततो भीष्मस्य सेनापतेः प्रवृत्त्यनन्तरं पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः । कर्मकर्तरि प्रयोगः । स शब्दस्तुमुलो महानासीत्तथाऽपि न पाण्डवानां क्षोभो जात इत्यभिप्रायः ॥13 ॥**

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥14॥

37 **अन्येषामपि रथस्थत्वे स्थित एवासाधारण्येन रथोत्कर्षकथनार्थं ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्यादिना रथस्थत्वकथनं, तेनाग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे स्थितौ सर्वथा जेतुमशक्यावित्यर्थः ॥14॥**

[इसके पश्चात् सहसा ही शंख, भेरी, पणव, आनक तथा गोमुख बज उठे । उनका वह शब्द भीषण हुआ ॥13॥]

36 इसके पश्चात् अर्थात् सेनापति भीष्म की प्रवृत्ति = सिंहनादपूर्वक शंखध्वनि करने के पश्चात् सहसा = तत्क्षण ही पणव, आनक, तथा गोमुख नामक वाद्यविशेष बज उठे = बजाये गए । यहाँ 'अभ्यहन्यन्त'[27] = 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु का प्रयोग कर्मकर्ता में हुआ है । वह शब्द भीषण (तुमुल) = महान् था, फिर भी पाण्डवों के मन में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ -- यह श्लोक का अभिप्राय है ॥13॥

[इसके पश्चात् सफेद घोड़ों वाले महान् रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शंखों को बजाया ॥14॥]

37 अन्य योद्धाओं के रथ में बैठे रहने पर भी अर्जुन के रथ का असाधारणरूप से उत्कर्ष बतलाने के लिए 'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते' इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की रथस्थता बतलायी गयी है । अतएव अग्नि द्वारा प्रदत्त, कठिनाई से नियन्त्रण में आने वाले रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पूर्णरूप से अजेय हैं, -- यही श्लोक का अभिप्राय है ॥14॥

---

27. श्लोक में 'अभ्यहन्यन्त' पद कर्मकर्तृप्रक्रिया का प्रयोग है । जब कर्म को ही कर्त्ता कहना अभीष्ट हो अर्थात् सौकर्यातिशय बतलाने के लिए प्रसिद्ध कर्त्ता के व्यापार की अविवक्षा करके कर्म को ही अपने व्यापार में स्वतंत्र मानकर कर्त्ता बना दिया जाय तब सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से सामान्य नियम 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (पाणिनि सूत्र 3.4.69) से लकार कर्त्ता या भाव में होते हैं और जो क्रिया कर्म अवस्था में होती है वही कर्तृ अवस्था में भी होती है, इसलिए कर्त्ता कर्मस्थ क्रिया से तुल्यक्रियावाला होता है, वहाँ कर्मवद्भाव होता है, तथा कर्मवद्भाव होने से 'सार्वधातुके यक्' (पाणिनि सूत्र 3.1.6) और 'भावकर्मणोः' (पाणिनि सूत्र 1.3.13) सूत्रों से धातु से 'यक्' और आत्मनेपद के प्रत्यय होते हैं --यही कर्मकर्तृप्रक्रिया है । यहाँ भी 'शंङ्खाश्च.... अभ्यहन्यन्त' वाक्य में 'शंङ्ख'आदि पहले 'कर्म थे – " सैनिकाः शंङ्खादीन् अभ्यघ्नन्" । सौकर्यातिशय बतलाने के लिए कर्म शङ्खादि को कर्त्ता बनाकर उसमें लकार होकर 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (पाणिनि सूत्र 3.1.87) के अनुसार कर्मवद्भाव हुआ है और कर्मवद्भाव होने से 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु से 'यक्' प्रत्यय और आत्मनेपद होने पर 'अभ्यहन्यन्त' लङ्लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन का कर्मकर्तृप्रक्रिया रूप प्रयुक्त हुआ है ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥16॥

38 **पाञ्चजन्यो देवदत्तः पौण्ड्रोऽनन्तविजयः सुघोषो मणिपुष्पकश्चेति शङ्खनामकथनं परसैन्ये स्वस्वनामभिः प्रसिद्धा एतावन्तः शङ्खा भवत्सैन्ये तु नैकोऽपि स्वनामप्रसिद्धः शङ्खोऽस्तीति परेषामुत्कर्षातिशयकथनार्थम् ।**

39 **सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन सर्वान्तर्यामी सहायः पाण्डवानामिति कथयितुं हृषीकेशपदम् । दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति सर्वथैवायमजेय इति कथयितुं धनञ्जयपदम् । भीमं हिडिम्बवधादिरूपं कर्म यस्य तादृशो वृकोदरत्वेन बह्वन्नपाकादतिबलिष्ठो भीमसेन इति कथितम् । कुन्तीपुत्र इति कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः । स्वयं च राजसूययाजित्वेन मुख्यो राजा । युधि चायमेव जयभागित्वेन स्थिरो न त्वेतद्विपक्षाः स्थिरा भविष्यन्तीति युधिष्ठिरपदेन सूचितम् । नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं दध्मावित्यनुषज्यते ॥15-16॥**

[श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख को बजाया । कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख को तथा नकुल एवं सहदेव ने क्रमशः सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शखों को बजाया ॥15-16॥]

38 पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष एवं मणिपुष्पक -- ये शंखों के नाम कहें गए हैं । 'शत्रुओं की सेना में, अपने-अपने नाम से प्रसिद्ध इतने शंख हैं, किन्तु आपकी सेना में तो अपने नाम से प्रसिद्ध एक भी शंख नहीं हैं,' इस प्रकार शत्रुओं (पाण्डवों) के उत्कर्षातिशय कथन के लिए, उनके शंखों के अलग-अलग नाम कहे गए हैं ।

39 समस्त इन्द्रियों के प्रेरक होने के कारण सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के सहायक हैं -- इस अर्थ को बतलाने के लिए श्रीकृष्ण के लिए 'हृषीकेश' पद का प्रयोग किया गया है । अर्जुन दिग्विजय में सभी राजाओं को जीतकर धन लाया था, अतएव वह सर्वथैव अजेय है – इस अर्थ को बतलाने के लिए 'धनञ्जय' पद का प्रयोग हुआ है । भीम = भयंकर = हिडिम्बासुर के वध आदि रूप कर्म हैं जिसके ऐसा भीमकर्मा भीमसेन वृकोदरता[28] के कारण बहुत-सा अन्न पचा सकने से अत्यन्त बलिष्ठ कहा गया है । 'कुन्तीपुत्र' विशेषण से यह तात्पर्य है कि कुन्ती ने महती तपस्या से धर्म की आराधना करके युधिष्ठिर को पुत्ररूप में प्राप्त किया था । स्वयं भी राजसूय यज्ञ करने के कारण ये मुख्य राजा हैं । तथा युद्ध में ये ही जय के भागी होने के कारण स्थिर होंगे, न कि

---

28. 'वृकोदर' पद भीमसेन का पर्याय है । जिसकी व्युत्पत्ति है – 'वृकः वृकनामकोऽग्निरुदरे यस्य' अर्थात् वृक = वृक नामक अग्नि है उदर में जिसके, वह 'वृकोदर' है । 'वृक' नामक उदराग्नि बहुत से भुक्त अन्न को पचा देती है । बहुत-सा अन्न पचा सकने का सामर्थ्य भीमसेन में था, अतएव उसे 'वृकोदर' कहा जाता है । मत्स्य-पुराण में कहा है –

"यस्य तीक्ष्णो वृको नाम जठरे हव्यवाहनः ।
मया दत्तः स धर्मात्मा तेन चासौ वृकोदर ॥(69.14)

(भगवान् ने कहा – मेरी दी हुई 'वृक' नामक तीक्ष्ण अग्नि इसके उदर में है, अतः इस धर्मात्मा को 'वृकोदर' कहते हैं ।)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥17॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥18॥

40 **परमेष्वासः काश्यो महाधनुर्धरः काशिराजः । न पराजितः पारिजातहरणबाणयुद्धा - दिमहासङ्ग्रामेषु एतादृशः सात्यकिः । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र स्थिरो भूत्वा शृण्वित्यभिप्रायः । सुगममन्यत् ॥ 17-18 ॥**

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥19॥

41 **धार्तराष्ट्राणां सैन्ये शङ्खादिध्वनिरतितुमुलोऽपि न पाण्डवानां क्षोभकोऽभूत् । पाण्डवानां सैन्ये जातस्तु स शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रस्य तव संबन्धिनां सर्वेषां भीष्मद्रोणादीनामपि हृदयानि व्यदारयत्, हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवानित्यर्थः । यतस्तुमुलोऽतितीव्रो नभश्च पृथिवीं च प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ 19 ॥**

42 **धार्तराष्ट्राणां भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमुदाहरति–**

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥20॥

इनके विपक्षी स्थिर होंगे, यही 'युधिष्ठिर' पद से सूचित किया गया है । नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंखों को बजाया; –इस प्रकार इनका सम्बन्ध लगाना चाहिए ॥15-16॥

[महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, और महाबाहु अभिमन्यु -- इन सभी ने, हे पृथ्वीपति ! अलग-अलग शंख बजाए ॥17-18॥

40 'परमेष्वासः काश्यः' का अर्थ है -- महान् धनुर्धर काशिराज । पारिजातहरण, बाणासुर-संग्राम आदि महान् संग्रामों में भी जो पराजित नहीं हुआ वह सात्यकि । हे पृथिवीपते = हे धृतराष्ट्र ! आप स्थिर होकर सुनें, -- यह सञ्जय के कहने का अभिप्राय है । शेष सब सुगम है ॥17-18॥

[आकाश तथा पृथिवी को अत्यधिक निनादित करते हुए उस शब्द ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को फाड़ दिया ॥19॥]

41 धार्तराष्ट्रों की सेना में हुई शंख आदि की ध्वनि भी अत्यधिक भीषण थी फिर भी उससे पाण्डवों को क्षोभ नहीं हुआ । किन्तु पाण्डवों की सेना में जो शंख की ध्वनि हुई, उसने धार्तराष्ट्रों के अर्थात् धृतराष्ट्र से संबन्ध रखने वाले आप, भीष्म, द्रोण आदि सभी के हृदयों को फाड़ दिया । अर्थात् उसने उनमें हृदय फटने के समान व्यथा उत्पन्न कर दी, क्योंकि वह तुमुल = अतितीव्र ध्वनि थी । अतएव उसने अपनी प्रतिध्वनि से आकाश और पृथिवी को भर दिया ॥19॥

42 धृतराष्ट्र पक्ष के वीरों की भयप्राप्ति दिखाकर अब 'अथ'--इत्यादि श्लोकों से पाण्डवों की इससे विपरीत स्थिति दिखाते हैं ---

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥21॥

43 **भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि तद्विरुद्धतया युद्धोद्योगेनावस्थितानेव परान्प्रत्यक्षेणोपलभ्य तदा शस्त्रसंपाते प्रवर्तमाने सति, वर्तमाने क्तः, कपिध्वजः पाण्डवो हनूमता महावीरेण ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतोऽर्जुनः सर्वथा भयशून्यत्वेन युद्धाय गाण्डीवं धनुरुद्यम्य हृषीकेशमिन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाहोक्तवान्न त्वविमृश्यकारितया स्वयमेव यत्किंचित्कृतवानिति परेषां विमृश्यकारित्वेन नीतिधर्मयोः कौशलं वदन्नविमृश्यकारितया परेषां राज्यं गृहीतवानसीति नीतिधर्मयोरभावात्तव जयो नास्तीति महीपत इति संबोधनेन सूचयति ।**

तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति– सेनयोरुभयोः स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः संनिहितयोर्मध्ये मम रथं स्थापय स्थिरीकुर्विति सर्वेश्वरो नियुज्यतेऽर्जुनेन । अनेन किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठतीति ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति सूचयति ।

[राजन्! इसके पश्चात् कौरव पक्ष के वीरों को युद्ध के लिए सुसज्जित देखकर जब शस्त्र चलाने का समय आया ही था कि पाण्डुपुत्र कपिध्वज अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से यह वाक्य कहा । अर्जुन ने कहा -- हे अच्युत ! आप दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को खड़ा कर दीजिए ॥20-21॥]

43 यद्यपि भय उत्पन्न होने के पश्चात् पलायन करना चाहिए, फिर भी उसके विरुद्ध युद्ध के लिए तत्पर शत्रुओं को साक्षात् खड़े हुए देख तब शस्त्र-सञ्चालन का समय आने पर--'प्रवृत्ते'[29] पद में वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है -- कपिध्वज पाण्डव ने अर्थात् महावीर हनुमान् द्वारा ध्वजारूप से अनुगृहीत अर्जुन ने पूर्णरूप से भयरहित होने के कारण युद्ध के लिए गाण्डीव नामक धनुष को उठाकर हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के प्रवर्तक होने के कारण सभी के अन्तःकरण की वृत्तियों को जानने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को यह आगे कहे जाने वाला वाक्य कहा । अर्जुन बिना विचार किए हुए कार्य करने वाला नहीं था, अतः उसने स्वयं ही जो कुछ नहीं किया । इस प्रकार विपक्षी पाण्डवों के विचारपूर्वक कार्य करने से उनके नीति और धर्म में कौशल को बतलाकर 'महीपते' सम्बोधन पद से सञ्जय यह सूचित करता है कि आपने बिना विचारपूर्वक उन शत्रुओं का राज्य ले लिया है, अतः नीति और धर्म के अभाव के कारण आपकी विजय नहीं हो सकती ।
अब अर्जुन के उसी वाक्य को प्रस्तुत करता है -- दोनों सेनाओं के बीच में अर्थात् स्वपक्ष--प्रतिपक्ष रूप से आमने-सामने खड़ी हुई दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को आप खड़ा कर दीजिए--इस प्रकार अर्जुन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को आज्ञा दे रहा है । इससे यह सूचित होता है कि पाण्डवों की विजय निश्चित है, क्योंकि जब भगवान् भी भक्तों की आज्ञा का पालन करते हैं, तो उन भक्तों के लिए क्या अशक्य होता है ? अर्थात् कुछ भी अशक्य नहीं होता ।

29. 'प्रवृत्ते' पद 'क्त' प्रत्ययान्त है । यहाँ 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (पाणिनि सूत्र, 3.2.188) सूत्र से 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'वृत्' धातु से वर्तमानकाल के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है ।

नन्वेवं रथं स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्यावयिष्यन्तीति भगवदाशङ्कामाशङ्क्याऽऽह– अच्युतेति। देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः । एतेन सर्वदा निर्विकारत्वेन नियोगनिमित्तः कोपोऽपि परिहृतः ॥20-21॥

44 मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमाह—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥22॥

45 योद्धुकामान्न त्वस्माभिः सह सन्धिकामानवस्थितान्न तु भयात्प्रचलितान्, एतान्भीष्मद्रोणादीन्यावद्गत्वाऽहं निरीक्षितुं क्षमः स्यां तावत्प्रदेशे रथं स्थापयेत्यर्थः । यावदिति कालपरं वा ।

ननु त्वं योद्धा न तु युद्धप्रेक्षकः, अतस्तव किमेषां दर्शनेनेत्यत्राऽऽह— कैरिति । अस्मिन्रणसमुद्यमे बन्धूनामेव परस्परं युद्धोद्योगे मया कैः सह योद्धव्यं मत्कर्तृकयुद्धप्रतियोगिनः के कैर्मया सह योद्धव्यं किंकर्तृकयुद्धप्रतियोग्यहमिति च महदिदं कौतुकमेतज्ज्ञानमेव मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमित्यर्थः ॥22॥

46 ननु बन्धव एते परस्परं सन्धिं कारयिष्यन्तीति कुतो युद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—

यदि भगवान् यह आशङ्का करें कि 'इस प्रकार रथ को खड़ा करने से ये शत्रु मुझे रथ से गिरा देंगे,' तो अर्जुन उन्हें सम्बोधित करते हुए कहता है -- हे अच्युत ! अर्थात् आप तो किसी भी देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद में न गिरने वाले हैं, अतः आप को कौन गिरा सकता है । ऐसा कहकर अर्जुन ने सर्वदा निर्विकार रहने वाले भगवान् के आज्ञा देने के कारण होने वाले क्रोध को भी दूर कर दिया ॥20-21॥

44 दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने का प्रयोजन बतलाते हुए अर्जुन कहता है --
[जब तक मैं युद्ध करने की इच्छा से खड़े हुए इन योद्धाओं को देख लूँ और यह निश्चय कर लूँ कि इस युद्ध के समारंभ में मुझे किनके साथ युद्ध करना है ॥22॥]

45 युद्ध की कामना वाले, न कि हमारे साथ सन्धि की कामना वाले तथा युद्धभूमि में अवस्थित, न कि भय के कारण पलायन करने वाले, इन भीष्म-द्रोण आदि को जब तक मैं देख सकूँ तब तक उस स्थान पर रथ को खड़ा कर दीजिए । अथवा 'यावत्' पद का अर्थ 'जब तक' - ऐसा कालपरक करना चाहिए ।

यदि भगवान् कहें कि 'तुम तो योद्धा हो, न कि युद्धप्रेक्षक; अतएव इन सभी को देखने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ?' तो अर्जुन उत्तर देता है-- 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' इत्यादि । इस युद्ध के समारम्भ में = बन्धुओं के ही इस पारस्परिक युद्धोद्योग में मुझे किनके साथ युद्ध करना होगा ? अर्थात् मेरे द्वारा किए हुए युद्ध के प्रतियोगी कौन होंगे ? और किन्हें मेरे साथ युद्ध करना होगा ? अर्थात् किनके द्वारा किए हुए युद्ध का मैं प्रतियोगी होऊंगा ? यह महान् कौतुक है । इसका ज्ञान ही दोनों सेनाओं के बीच में रथ स्थापित करने का प्रयोजन है । यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ॥ 22॥

46 यदि भगवान् आशङ्का करें कि 'ये तो भाई-भाई हैं, आपस में सन्धि कर लेंगे तो फिर युद्ध कहाँ' ? तो अर्जुन कहता है --

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥23॥

47 **य एते भीष्मद्रोणादयो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमजानतः प्रियचिकीर्षवो युद्धे न तु दुर्बुद्ध्यपनयनादौ तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष उपलभे न तु सन्धिकामान् । अतो युद्धाय तत्प्रतियोग्यवलोकनमुचितमेवेति भावः ॥23॥**

48 **एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तं निराचिकीर्षुः संजयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः —**

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥24॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥25॥

49 **हे भारत ! धृतराष्ट्र ! भरतवंशमर्यादामनुसंधायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति संबोधनाभिप्रायः । गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवानयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये**

[यहाँ युद्ध में जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा से एकत्रित हुए हैं उन युद्ध के लिए उद्यत वीरों को मैं देखूँगा ।।23।।

47 जो ये भीष्म-द्रोण आदि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन, जो दुर्बुद्धि है अर्थात् अपनी रक्षा के उपाय को नहीं जानता है, का युद्ध में प्रिय करने की इच्छा वाले हैं, न कि उसकी दुर्बुद्धि को दूर करने में उसका प्रिय करने वाले हैं, उन युद्ध करने की इच्छा वालों को ही मैं देखूँगा; न कि सन्धि की कामना वालों को । अतएव युद्ध के लिए अपने प्रतियोगियों (प्रतिभटों) को देखना उचित ही है, -- यह अर्जुन का भाव है ।।23।।

48 'इस प्रकार अर्जुन से प्रेरित होने पर भगवान् प्रायः अहिंसारूपी धर्म को अपनाकर उसे युद्ध करने से रोकेंगे,' ऐसे धृतराष्ट्र के अभिप्राय की आशङ्का करके उसका निराकरण करने की इच्छा से संजय ने धृतराष्ट्र से कहा -- यह बात वैशम्पायन कहते हैं --
[संजय ने कहा -- हे भारत ! अर्जुन के ऐसा कहने पर भगवान् कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सम्मुख उस श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके कहा, -- हे पार्थ ! युद्ध के लिए एकत्रित इन कौरवों को देखो ।।24-25।।]

49 हे भारत = धृतराष्ट्र ! यहाँ 'भारत' सम्बोधन पद से अभिप्राय यह है कि आप अपने भरतवंश की मर्यादा का अनुसंधान (विचार) करके भी अपने बान्धवों के प्रति द्रोह का परित्याग कर दें । गुडाका अर्थात् निद्रा के ईश अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया है ऐसे सर्वत्र सावधान अर्जुन के द्वारा इस प्रकार से कहे जाने पर भी भगवान् ने उसका यह दोष समझकर कि मेरा सेवक होने पर भी यह मुझे सारथी के कार्य में नियुक्त किए हुए है, न तो उस पर क्रोध किया और न उन्होंने उसे युद्ध करने से रोका । किन्तु दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोण के प्रमुख = सम्मुख तथा सभी राजाओं के

मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत्, न वा तं युद्धान्यवर्तयत्किंतु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वात्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतः शब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच ।

50 **हे पार्थ पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्संबन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन्हृषीकेशत्वमात्मनो दर्शयति । पृथा मम पितुः स्वसा तस्याः पुत्रोऽसीति संबन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति । मम सारथ्ये निश्चितो भूत्वा सर्वानपि समवेतान्कुरून्युयुत्सून्पश्य निःशङ्कतयेति दर्शनविध्यभिप्रायः । अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु सांप्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं, भगवतो वाक्यम् । अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥24-25॥**

सम्मुख उस श्रेष्ठ रथ को, जो अग्नि द्वारा प्रदत्त दिव्यरथ था तथा जो सारथी रूप से स्वयं भगवान् द्वारा अधिष्ठित होने के कारण सर्वोत्तम रथ था, खड़ा करके हृषीकेश ने अर्थात् सभी के हृदयस्थ निगूढ (गुप्त) अभिप्राय को जानने वाले भगवान् ने यह जानकर कि अर्जुन के शोक और मोह उपस्थित हो गए हैं, उपहासपूर्वक अर्जुन से कहा। 'प्रमुख' शब्द आद्यादिगण का होने के कारण उसमें सार्वविभक्तिक 'तसिः' प्रत्यय होने पर 'प्रमुखतः'[30] शब्द निष्पन्न हुआ है। यद्यपि 'प्रमुखतः' शब्द 'भीष्म-द्रोण' के साथ समस्त है, फिर भी 'सर्वेषां च महीक्षिताम्' इस पदसमूह में जो 'च'कार है उसके कारण इसे वहाँ से खींच लिया जाता है। भीष्म और द्रोण का अन्य सभी राजाओं से पृथक् उल्लेख उनकी अत्यन्त प्रधानता सूचित करने के लिए है।

50 'हेपार्थ !' इस सम्बोधन से यह सूचित करके कि 'स्त्री-स्वभाव होने के कारण जैसे पृथा शोक-मोह से ग्रस्त है उसी प्रकार उससे सम्बन्ध रखने वाले तुझ में भी तद्वत्ता अर्थात् शोक-मोहग्रस्तता उपस्थित हो गई है -- भगवान् अपने हृषीकेशत्व[31] = 'हृषीक' -- इन्द्रियों के 'ईशत्व' -- स्वामित्व को दिखलाते हैं। और 'पृथा मेरे पिता की बहन है, तुम उसके पुत्र हो' -- इस संबन्ध के उल्लेख से उसे आश्वासन भी देते हैं। भगवान् की इस दर्शनविधि का अभिप्राय यह है कि मेरे सारथ्य में निश्चित होकर तू युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए इन सभी कौरवों को निःशङ्क होकर देख। मैं तो सारथी का कार्य करने में अत्यन्त सावधान हूँ, किन्तु तू अभी रथी का धर्म त्याग देगा। अतः तुझे इस शत्रु की सेना को देखने से क्या लाभ होगा ? इस अभिप्राय से अर्जुन को धैर्य बँधाने के लिए ही 'पश्य' यहाँ तक भगवान् का वाक्य है। अन्यथा 'दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा कर दिया' इतना मात्र ही कहा जाता ॥24-25॥

---

30. 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वार्तिक 3339) वार्तिक के अनुसार आद्यादिगण (आकृतिगण) के शब्दों के उत्तरवर्ती सार्वविभक्तिक 'तसिः' = 'तस्' प्रत्यय होता है, जैसे – आदितः = आदि + तसिः = तस् = आदौ = आदि में। इसी प्रकार 'प्रमुखतः' पद 'प्रमुख' शब्द के आद्यादिगण का होने के कारण उसमें सार्वविभक्तिक 'तसिः' प्रत्यय होने पर निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है – प्रमुखतः = प्रमुखे = सम्मुखे।

31. वाराह–पुराण में कहा है –

हृषीकाणि नियम्याहं यतः प्रत्यक्षतां गतः।
हृषीकेश इति ख्यातो नाम्ना तत्रैव संस्थितः ॥ (146-64)

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥26॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

51 **तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । परसेनायां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवः-प्रभृतीन्पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीनाचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्भ्रातॄन् दुर्योधनप्रभृतीन्पुत्राल्लँक्ष्मणप्रभृतीन्पौत्राल्लँक्ष्मणादिपुत्रान्सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन्वयस्यान्, श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन्, सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ॥ 26-27अ ॥**

52 **एवं स्थिते 'महानधर्मो हिंसे'ति विपरीतबुद्ध्या मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमितिज्ञानप्रतिबन्धकेन च ममकारनिबन्धनेन चित्तवैक्लव्येन शोकाख्येनाभिभूत-विवेकस्यार्जुनस्य पूर्वमारब्धाद्युद्धाख्यात्स्वधर्मादुपरिरंसा महानर्थपर्यवसायिनी वृत्तेति दर्शयति–**

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥27॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

[तब अर्जुन ने वहाँ उन दोनों ही सेनाओं में स्थित अपने पिता (चाचा-ताऊ), पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर तथा सुहृदों को देखा ॥26-27अ ॥]

51 तब युद्ध आरम्भ करने की दृष्टि से भगवान् की सेना को देखने के लिए आज्ञा हो जाने पर 'अर्जुन ने दोनों ही सेनाओं में स्थित योद्धाओं को देखा' -- इस प्रकार श्लोक का अन्वय करना चाहिए । श्लोक में 'अथ' शब्द 'तथा' शब्द का पर्याय है । उसने शत्रुओं की सेना में पिताओं अर्थात् भूरिश्रवा आदि चाचाओं; भीष्म, सोमदत्त आदि पितामहों; द्रोण, कृप आदि आचार्यों; शल्य, शकुनि आदि मामाओं, दुर्योधन आदि भाइयों; लक्ष्मण (दुर्योधन के पुत्र) आदि पुत्रों, पौत्रों अर्थात् लक्ष्मण आदि के पुत्रों; सखाओं अर्थात् अश्वत्थामा, जयद्रथ आदि समवयस्कों; श्वसुरों अर्थात् पत्नियों के पिताओं तथा सुहृदों अर्थात् कृतवर्मा, भगदत्त आदि मित्रों को देखा । 'सुहृद्' -- शब्द से जितने भी उपकार करने वाले हैं, उन सभी मातामह आदि को समझना चाहिए । इसी प्रकार अपनी सेना में भी समझना चाहिए ॥26-27 अ ॥

52 ऐसा होने पर 'हिंसा महान् अधर्म है' ऐसी 'मोह' नामक विपरीत बुद्धि से तथा 'शास्त्र--विहित होना ही धर्म है' -- इस ज्ञान की प्रतिबन्धक ममता से उत्पन्न होने वाली 'शोक' नामक चित्त की विकलता से अर्जुन की विवेक -- शक्ति अभिभूत हो गई और उसमें पहले से ही प्रारम्भ किए हुए युद्ध नामक स्वधर्म से उपराम होने की महान् अनर्थकारिणी इच्छा उत्पन्न हो गई --यही आगे दिखलाते हैं --

"वराह भगवान् ने कहा – इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके प्रत्यक्षता प्राप्त कर लेने के कारण मुझे 'हृषीकेश' नाम से पुकारते है" ।
नारदपंचरात्र (5.8.17) में भी 'हृषीकेश' की यह व्युत्पत्ति दी है –हृषीकाणाम् = इन्द्रियों का, ईशः = स्वामी ।

53 कौन्तेय इति स्त्रीप्रभवत्वकीर्तनं पार्थवत्तात्त्विकमूढतामपेक्ष्य कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाऽऽविष्टो व्याप्तो न तु कृपां केनचिद्व्यापारेणाऽऽविष्ट इति स्वतः सिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते । एतत्प्रकटीकरणाय परयेति विशेषणम् । अपरयेति वा छेदः । स्वसैन्ये पुराऽपि कृपाऽभूदेव तस्मिन्समये तु कौरवसैन्येऽप्यपरा कृपाऽभूदित्यर्थः । विषीदन्विषादमुपतापं प्राप्नुवन्नब्रवीदित्युक्तिविषादयोः समकालतां वदन्सगद्गदकण्ठताश्रुपातादि विषादकार्यमुक्तिकाले द्योतयति ॥ 27 ब - 28 अ ॥

54 तदेव भगवन्तं प्रत्यर्जुनवाक्यमवतारयति संजयोऽर्जुन उवाचेत्यादिना, 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्य' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र स्वधर्मप्रवृत्तिकारणीभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकः स्वपरदेह आत्मात्मीयाभिमानवतोऽनात्मविदोऽर्जुनस्य युद्धेन स्वपरदेहविनाशप्रसङ्गदर्शिनः शोको महानासीदिति तल्लिङ्गकथनेन दर्शयति त्रिभिः श्लोकैः—

[अर्जुन उन सभी बन्धुओं को युद्ध के लिए खड़ा देखकर अत्यन्त करुणा से युक्त होकर विषाद करते हुए यह बोला ।।27ब -- 28 अ ।।]

53 यहाँ 'कौन्तेय' (कुन्त्याः अपत्यं पुमान्) शब्द से अर्जुन का स्त्री से उत्पन्न होने का उल्लेख पच्चीसवें श्लोक के 'पार्थ' शब्द के समान उसकी तात्त्विकी मूढता को दिखलाने के लिए है । 'कृपयाऽऽविष्टः' पदसमूह से तात्पर्य हैं – कृपारूप कर्त्री के अपने व्यापार से ही आविष्ट अर्थात् व्याप्त होकर, न कि अपने किसी व्यापार से कृपा को व्याप्त कर । इससे यह सूचित होता है कि अर्जुन की कृपा स्वतःसिद्धा[32] थी । इसी अर्थ को प्रकट करने के लिए कृपा का विशेषण 'परया' दिया गया है । अथवा 'कृपयापरया' का पदच्छेद 'कृपया + अपरया'--यह करना चाहिए । इसका अभिप्राय यह होगा कि अपनी सेना पर तो उसकी पहले से ही कृपा थी उस समय दूसरी कृपा कौरवों की सेना पर भी हुई । 'विषीदन्' का अर्थ है -- विषाद करते हुए अर्थात् विषाद = संताप को प्राप्त करते हुए बोला -- इस प्रकार अर्जुन के कथन और विषाद की समकालता को बतलाते हुए सञ्जय कथन के समय कण्ठ की गद्गदता और अश्रुपात आदि विषाद के कार्यों को भी सूचित करता है ।।27ब - 28अ।।

54 अब संजय 'अर्जुन उवाच' -- यहाँ से लेकर 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इत्यादि श्लोक से पूर्वतक के ग्रन्थ से भगवान् के प्रति अर्जुन के उस वाक्य का ही उल्लेख करता है । इसमें तीन श्लोकों से शोक के

---

32 यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने श्लोक के 'आविष्टः' 'क्त' प्रत्ययान्त पद के प्रयोग से कृपा को कर्त्ता और कर्म के रूप में प्रस्तुत करके 'कृपा के आवेश' से सम्बंधित दो प्रकार की सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं -- (1) क्या अर्जुन को कृपारूप कर्त्री ने अपने व्यापार से व्याप्त किया (कृपया आविष्टः) ? अथवा (2) क्या अर्जुन ने कृपा को अपने किसी व्यापार से व्याप्त किया (कृपामाविष्टः) ? जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अर्जुन को ही कृपा-रूप कर्त्री ने अपने व्यापार से व्याप्त किया, क्योंकि अर्जुन के हृदय में वह कृपा स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि थी, न कि आगन्तुक । आगन्तुक कृपा तो किन्हीं दुःखी व्यक्तियों को देखकर उनके दुःखनिवारण के लिए उत्पन्न होती है, जबकि स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि कृपा ममतारूप अनादि भाव से ही उत्पन्न होती है । यहाँ अर्जुन के हृदय में युद्धेच्छु अपने बन्धुवर्ग को देखकर ममता जागी है और उसके फलस्वरूप उस ममता ने ही उसके हृदय में कृपाभाव = स्नेहभाव = प्रेमभाव को जन्म दिया है – अतः यही भाव प्रासङ्गिक है और उचिततर है । हाँ, यदि युद्धेच्छु दुःखी होते तो अर्जुन के हृदय में आगन्तुक कृपा जन्म लेती और अर्थ होता कि 'अर्जुन ने कृपा को अपने व्यापार से व्याप्त किया' । किन्तु युद्धेच्छु तो युद्ध-समारम्भ में भावी विजय-कल्पना से प्रफुल्लित थे । अतः अर्जुन के हृदय में आगन्तुक कृपा नहीं थी, अपितु स्वतःसिद्ध या स्वाभाविक या अनादि कृपा ही थी । यही भाव मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ अभिव्यक्त किया है ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥28॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥29॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥30 ॥

55 **इमं स्वजनमात्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छुं युद्धभूमौ चोपस्थितं दृष्ट्वा स्थितस्य मम पश्यतो ममेत्यर्थः । अङ्गानि व्यथन्ते । मुखं च परिशुष्यतीति श्रमादिनिमित्तशोषापेक्षयाऽतिशयकथनाय सर्वतोभाववाचिपरिशब्दप्रयोगः ।**

वेपथुः = कम्पः । रोमहर्षः = पुलकितत्वम् । गाण्डीवभ्रंशेनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परिदाहेन चान्तःसंतापो दर्शितः । अवस्थातुं शरीरं धारयितुं च न शक्नोमीत्यनेन मूर्च्छा सूच्यते । तत्र हेतुः-- मम मनो भ्रमतीवेति । भ्रमणकर्तृसादृश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकारविशेषो मूर्च्छायाः पूर्वावस्था । चो हेतौ । यत एवमतो नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः ॥ 28ब-30॥

चिह्नों का वर्णन करते हुए यह दिखाता है कि अपने शरीर में आत्मत्व तथा दूसरों के शरीरों में आत्मीयत्व का अभिमान रखने वाले अनात्मज्ञ अर्जुन को युद्ध से अपने तथा दूसरों के शरीरों के नाश का प्रसंग देखकर स्वधर्म में प्रवृति होने के कारणभूत तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक महान् शोक हुआ ।

[अर्जुन ने कहा -- हे कृष्ण ! युद्ध के इच्छुक अपने इस स्वजन समुदाय को यहाँ उपस्थित देखकर मेरे अङ्गो में पीड़ा हो रही है और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहा है । हाथ से गाण्डीव छूटा जा रहा है, और त्वचा में सर्वत्र दाह हो रहा है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़ा नहीं रह सकता ।।28ब-29-30।।]

55 इस स्वजन समुदाय को = अपने बन्धुवर्ग को युद्ध के लिए इच्छुक तथा युद्धभूमि में उपस्थित देखकर यहाँ स्थित मेरे अर्थात् इन सभी देखने वाले मेरे अङ्गों में पीड़ा हो रही है । और मुख सूखा जा रहा है -- इस प्रकार यहाँ श्रम आदि के कारण होने वाले शोक की अपेक्षा अधिक शोक बतलाने के लिए 'परिशुष्यति परिदह्यते' -- इन क्रिया पदों में शोषण और दाह की सब ओर सत्ता सूचित करने के लिए 'परि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

वेपथु का अर्थ कम्प है । रोमहर्ष का अर्थ रोमाञ्च है । गाण्डीव के छूटने से अधैर्य को सूचित करने वाली दुर्बलता तथा त्वचा के परिदाह से आन्तरिक सन्ताप दिखाए गए हैं । मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ अर्थात् मैं अपने शरीर को स्थिर नहीं रख सकता हूँ -- इस कथन मे मूर्च्छा सूचित होती है । उस मूर्च्छा का कारण है -- मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है । 'किसी घूमने वाली वस्तु के समान होना' मन का कोई विकार विशेष है, जो मूर्च्छा की पूर्वावस्था है । 'भ्रमतीव च' पदसमुदाय में 'चकार' हेत्वर्थक है । क्योंकि मेरा मन ऐसा हो रहा है, अतः मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ -- यह अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ।।28ब-29-30।।

56 पुनरप्यवस्थानासामर्थ्ये कारणमाह—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥31॥

57 **निमित्तानि च सूचकतयाऽऽसन्नदुःखस्य विपरीतानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि अनुभवामि । अतोऽपि नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः । अहमनात्मवित्त्वेन दुःखित्वाच्छोकनिबन्धनं क्लेशमनुभवामि त्वं तु सदानन्दरूपत्वाच्छोकासंसर्गीति कृष्णपदेन सूचितम् । अतः स्वजनदर्शने तुल्येऽपि शोकासंसर्गित्वलक्षणाद्विशेषात्त्वं मामशोकं कुर्विति भावः ।**
केशवपदेन च तत्करणसामर्थ्यं को ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, ईशो रुद्रः संहर्ता तौ वात्यनुकम्प्यतया गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः । भक्तदुःखकर्षित्वं वा कृष्णपदेनोक्तं केशवपदेन च केश्यादिदुष्टदैत्यनिबर्हणेन सर्वदा भक्तान्पालयसीत्यतो मामपि शोकनिवारणेन पालयिष्यसीति सूचितम् ।

---

56 शरीर को स्थिर रखने में अपने असामर्थ्य के कारण को अर्जुन पुनः कहता है --
[हे केशव ! मैं विपरीत फल के सूचक अपशकुनों को भी देख रहा हूँ, तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर भी मुझे कोई कल्याण नहीं दिखाई देता ॥31 ॥]

57 मैं समीपवर्ती दुःख के सूचक वाएँ नेत्र के स्फुरण आदि विपरीत निमित्त-अपशकुनों को भी देख रहा हूँ अर्थात् उनका अनुभव कर रहा हूँ । इसलिए भी मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ । अट्ठाइसवें (ब) श्लोक में उक्त 'कृष्ण'[33] सम्बोधन पद से यह सूचित किया गया है कि मैं तो अनात्मज्ञ होने के कारण दुःखी होने से शोकजनित क्लेश का अनुभव कर रहा हूँ, किन्तु आप तो सदानन्द स्वरूप हैं, इसलिए आपका शोक से संसर्ग ही नहीं हो सकता । अतः तात्पर्य यह है कि हम दोनों को स्वजनदर्शन समान रूप से होने पर भी आपमें जो शोक से संसर्ग न होने रूप विशेषता है उससे आप मुझे भी शोकरहित कर दीजिए ।
'केशव' पद से भगवान् में ऐसा करने का सामर्थ्य सूचित किया गया है । क्योंकि 'केशव'[34] इस पद की व्युत्पत्ति है-- 'क' अर्थात् सष्टिकर्ता ब्रह्मा, और 'ईश' अर्थात् संहारकर्ता रुद्र-इन दोनों के प्रति जो 'वाति' अर्थात् अनुकम्पा होने के कारण जाता है, उसे 'केशव' कहते हैं । अथवा 'कृष्ण'[35] पद से भक्तों के दुःखों को खींचने का स्वभाव बतलाया गया है तथा 'केशव'[36] पद से यह सूचित किया गया है कि आप केशी आदि दुष्ट दैत्यों का विनाश करके सर्वदा भक्तों की रक्षा करते हैं । अतएव शोक दूर करके मेरी भी रक्षा करेंगे ।

---

33. श्रीधर स्वामी ने 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति की है–
"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥"
अर्थात् 'कृष्ण' शब्द में 'कृष्' सत्ता का वाचक है और 'ण' आनन्द का वाचक है । सत्ता और आनन्द -- उन दोनों का एकतारूप परब्रह्म 'कृष्ण' कहा जाता है। इस प्रमाण के अनुसार भी कृष्ण सदानन्दस्वरूप हैं ।
34. 'केशव' पद की व्युत्पत्ति है -- 'कः ब्रह्मा, ईशः रुद्रः तौ आत्मनि स्वरूपे वयति, प्रलये उपाधिरूपमूर्तित्रयं मुक्त्वा एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते इति केशवः'– अर्थात् जो क = ब्रह्मा तथा ईश = रुद्र– दोनों को आत्म-स्वरूप में धारण करता है और प्रलय में उपाधिरूप मूर्तित्रय का त्याग करके एकमात्र परमात्म-स्वरूप में अवस्थित रहता

एवं लिङ्गद्वारेण समीचीनप्रवृत्तिहेतुभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं शोकमुक्त्वा संप्रति तत्कारितां विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतां विपरीतबुद्धिं दर्शयति– श्रेयः पुरुषार्थं दृष्टमदृष्टं वा बहुविचारणादनु पश्चादपि न पश्यामि अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि ।

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' ॥

इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविशेषाभिधानात् । हन्तुस्तु न किंचित्सुकृतम् । एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम् । एवमनाहववधे श्रेयो नास्तीतिसिद्धसाधनवारणायाऽऽहव इत्युक्तम् ॥31॥

58 ननु मा भूददृष्टं प्रयोजनं दृष्टप्रयोजनानि तु विजयो राज्यं सुखानि च निर्विवादानीत्यत आह —

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥32॥

इस प्रकार संकेत द्वारा समीचीन प्रवृत्ति के कारणभूत तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक शोक को बतलाकर अब उससे की हुई विपरीत प्रवृत्ति की हेतुभूत विपरीत बुद्धि को दिखाता है,– मैं बहुत विचारने के अनु = बाद भी कोई श्रेय अर्थात् दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं देखता हूँ। स्वजनों मे भिन्न जनों को भी युद्ध में मारकर मैं किसी प्रकार का श्रेय नहीं देखता हूँ। क्योंकि 'इस लोक में दो प्रकार के ही पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन करते हैं, (1) योगयुक्त परिव्राजक (संन्यासी) और (2) जो युद्ध में सम्मुख लड़ते हुए मारा जाय' -- इत्यादि प्रमाण से भी युद्ध में मरने वाले के लिए ही श्रेयविशेष का कथन किया गया है, मारने वाले के लिए तो कोई भी पुण्य नहीं बताया। इस प्रकार अस्वजनों को मारने पर भी श्रेय का अभाव है तो स्वजनों को मारने पर तो निश्चित रूप से श्रेय का अभाव होगा, -- इस अर्थ को सूचित करने के लिए 'स्वजनों को' -- यह कहा गया है। इसी प्रकार युद्ध के बिना मारने में श्रेय नहीं है -- इस प्रकार के सिद्ध साधन की निवृत्ति के लिए 'आहवे' (युद्ध में) ऐसा कहा गया है ॥31॥

58 यदि कहें कि न हो कोई अदृष्ट प्रयोजन, विजय, राज्य और सुख--दृष्ट प्रयोजन तो निर्विवाद सिद्ध है; तो इसके उत्तर में अर्जुन कहता है --

[हे कृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा भोगों तथा जीवन से भी क्या लाभ है ? ॥ 32 ॥]

है, वह 'केशव' है। 'त्रयः केशिनः' – इस श्रुति-वाक्य के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव – इन तीनों शक्तियों को 'केश' कहते हैं, और केशवान् को 'केशव' कहते हैं। हरिवंश-पुराण में भी कहा है –

'को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवांशसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥'

35. 'कर्षति पापानि शरणागतानाम् = कृष्णः' – अर्थात् जो शरणागत भक्तों के पापों-दुःखों को खींचता हैं, वह 'कृष्ण' है। कहा भी है–

'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र ! महापातककोटयः ॥'

36. 'केशं केशिनं वाति हन्ति = केशवः' – अर्थात् जिसने केशी नामक दैत्य को मारा था, उसे 'केशव' कहते हैं। हरिवंश-पुराण में कहा है –

59 फलाकाङ्क्षा ह्युपायप्रवृत्तौ कारणम् । अतस्तदाकाङ्क्षाया अभावात्तदुपाये युद्धे भोजनेच्छाविरहिण इव पाकादौ मम प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यर्थः ।
कुतः पुनरितरपुरुषैरिष्यमाणेषु तेषु तवानिच्छेत्यत आह— किं न इति । भोगैः सुखैर्जीवितेन जीवितसाधनेन विजयेनेत्यर्थः । विना राज्यं भोगान्कौरवविजयं च वने निवसतामस्माकं तेनैव जगति श्लाघनीयजीवितानां किमेभिराकाङ्क्षितैरिति भावः । गोशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यधिष्ठानतया नित्यं प्राप्तस्त्वमेव ममैहिकफलविरागं जानासीति सूचयन्संबोधयति— गोविन्देति ॥32॥

60 राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥33॥

61 एतेन स्वस्य वैराग्येऽपि स्वीयानामर्थे यतनीयमित्यपास्तम् । एकाकिनो हि राज्याद्यनपेक्षितमेव । येषां तु बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एत प्राणान्प्राणाशां धनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थिता इति न स्वार्थः स्वीयार्थो वाऽयं प्रयत्न इति भावः । भोगशब्दः पूर्वत्र सुखपरतया निर्दिष्टोऽप्यत्र पृथक्सुखग्रहणात्सुखसाधनविषयपरः । प्राणधनशब्दौ तु तदाशालक्षकौ । स्वप्राणत्यागेऽपि स्वबन्धूनामुपभोगाय धनाशा संभवेदिति तद्वारणाय पृथग्धनग्रहणम् ॥33॥

59 फल की कामना ही किसी उपाय में प्रवृत्ति होने का कारण होती है । अतः जिसप्रकार भोजन की इच्छा से रहित व्यक्ति की पाकादि में प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विजयादि फल की इच्छा न होने से मेरी भी उसके उपायभूत युद्ध में प्रवृत्ति होना संभव नहीं है – ऐसा इसका अभिप्राय है । यदि कृष्ण प्रश्न करें कि 'दूसरे लोग तो राज्य, सुखादि में अपनी इच्छा रखते हैं, फिर तुम्हारी उन वस्तुओं में अनिच्छा क्यों है ? तो अर्जुन 'किं नो' इत्यादि से इसका उत्तर देता है । भोगों से = सुखों से और जीवन से = जीवन के साधन विजय से हमें क्या प्रयोजन है ? भाव यह है कि बिना राज्य, भोग और कौरवों पर विजय प्राप्त किए वन में निवास करने से हमारा जीवन श्लाघनीय था, तो फिर इनकी इच्छा करने से क्या प्रयोजन है ? 'आप ही अधिष्ठानरूप से 'गो' शब्दवाच्य इन्द्रियों को प्राप्त हैं, अतः मेरे लौकिक फलसम्बन्धी वैराग्य को जानते ही हैं' – ऐसा सूचित करने के लिए ही अर्जुन उन्हें 'गोविन्द'[37] शब्द से सम्बन्धित करता है ।। 32 ।।

60 राज्यादि की अपेक्षा न होने में कारण कहता है –
[जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख अभीष्ट हैं, वे हमारे ये बन्धुजन तो अपने प्राण और धन का मोह त्याग कर युद्ध में खड़े हुए हैं ।। 33 ।।]

61 इस श्लोक से -- 'स्वयं को वैराग्य होने पर भी अपने बन्धुजनों के लिए तो प्रयत्न करना ही चाहिए'– इस कथन का भी खण्डन हो गया । अकेले व्यक्ति के लिए तो राज्य आदि अनपेक्षित ही होते हैं । जिन बन्धु–बान्धवों के लिए राज्यादि अपेक्षित होते हैं वे हमारे ये बन्धुजन तो प्राणों अर्थात् प्राणों की आशा और धनों अर्थात् धन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हुए हैं । अतः

'यस्मात्त्वया हतः केशो तस्मान्मच्छ्रशनं शृणु ।
केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यति ।।67.58।।

37. 'गाः मनप्रधानानीन्द्रियाणि तेषां विन्दः प्रवर्तयिता चेतयिता वा = गोविन्दः । अन्तर्यामी आत्मेत्यर्थः,– अर्थात् 'गो' शब्दवाच्य मनप्रधान इन्द्रियों के प्रवर्तयिता को 'गोविन्द' कहते है । 'गोविन्द' का अर्थ अन्तर्यामी आत्मा है ।

62 येषामर्थे राज्याद्यपेक्षितं तेऽत्र नाऽऽगता इत्याशङ्क्य तान्विशिनष्टि—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥34॥

63 स्पष्टम् ॥34॥

64 ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येवातस्त्वमेवैतान् हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्वेत्यत आह—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥35॥

65 त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि अस्मान्घ्नतोऽप्येतान्न हन्तुमिच्छामीच्छामपि न कुर्यामहं किं पुनर्हन्यां, महीमात्रप्राप्तये तु न हन्यामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । मधुसूदनेति संबोधयन्वैदिकमार्गप्रवर्तकत्वं भगवतः सूचयति ॥35॥

भाव यह है कि राज्यादि की प्राप्ति हेतु किए जाने वाले प्रयत्न का न तो अपने लिए और न अपने जनों के लिए ही कोई प्रयोजन है । पहले= बत्तीसवें श्लोक में 'भोग' शब्द को सुखपरक कहा है, यहाँ 'सुख' शब्द को पृथक् ग्रहण किया है, अतः इस 'सुख' शब्द को यहाँ सुख के साधनभूत विषयों का वाचक समझना चाहिए । 'प्राण' और 'धन' शब्द तो उनकी आशा को लक्षित करते हैं । अपने प्राण त्यागने पर भी अपने बन्धुजनों के उपभोग के लिए धनाशा तो रह ही सकती है, अतः उस धनाशा का भी निषेध करने के लिए 'धन' शब्द को पृथक् ग्रहण किया है ॥ 33॥

62 'जिन के लिए राज्य आदि अपेक्षित हैं वे जन तो यहाँ नहीं आए हैं '-- ऐसी कृष्ण की ओर से आशंका करके अर्जुन उन जनों का विशेष रूप से उल्लेख करता है –
[आचार्य, पिता, पुत्र और पितामह, तथा मामा, श्वसुर, पौत्र, साले तथा अन्यसंबन्धी -- ये सभी जन इस युद्ध में प्राण त्यागने के लिए उपस्थित तो हैं ॥ 34 ॥]

63 इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥ 34 ॥

64 यदि कृष्ण कहें कि 'यदि कृपावश तुम इन्हें नहीं मारोगे, तो भी राज्य के लोभ से ये तो तुम्हें मार ही देंगे, अतः तुम ही इन्हें मारकर राज्य का भोग करो', तो अर्जुन कहता है –
[हे मधुसूदन ! ये मुझे मारें तो भी मैं, पृथिवी के लिए तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता हूँ ॥ 35 ॥]

65 तीनों लोकों के राज्य के लिए भी अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिए भी मैं, इनके मारने पर भी, इन्हें मारना नहीं चाहता अर्थात् मारने की इच्छा भी नहीं करता, मारने की तो बात ही क्या है ! ऐसी अवस्था में मात्र पृथिवी की प्राप्ति के लिए तो नहीं मारूंगा, इसमें तो कहना ही क्या है -- ऐसा इसका अर्थ है । 'मधुसूदन'[38] – ऐसा सम्बोधन करके भगवान् के वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व को सूचित करता है ॥ 35 ॥

---

38. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड में 'मधुसूदन' शब्द की व्युत्पत्ति की है –
'सूदनं मधुदैत्यस्य यस्मात् स मधुसूदनः ।'

66 नन्वन्यान्विहाय धार्तराष्ट्रा एव हन्तव्यास्तेषामत्यन्तक्रूरतरतत्तद्दुःखदातृणां वधे प्रीतिसंभवादित्यत आह–

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥36॥

67 धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादीन्भ्रातृन्निहत्य स्थितानामस्माकं का प्रीतिः स्यात्, न काऽपीत्यर्थः । नहि मूढजनोचितक्षणमात्रवर्तिसुखाभासलोभेन चिरतरनरकयातनाहेतुर्बन्धुवधोऽस्माकं युक्त इति भावः । जनार्दनेतिसंबोधनेन यदि वध्या एते तर्हि त्वमेवैताञ्जहि प्रलये सर्वजनहिंसकत्वेऽपि सर्वपापासंसर्गित्वादिति सूचयति । ननु—

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥

इति स्मृतेरेतेषां च सर्वप्रकारैराततायित्वात्,

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥

---

66 यदि कृष्ण कहें कि 'दूसरों को छोड़कर केवल धृतराष्ट्र के पुत्रों को तो मारना ही चाहिए, क्योंकि उन्होंने तरह-तरह के अत्यन्त कठोर दुःख दिए हैं, इसलिए उन्हें मारने से तो प्रसन्नता ही होगी,' तो अर्जुन कहता है –

[हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों की हत्या करने से तो हमें केवल पाप ही लगेगा ॥ 36 ॥]

67 धार्तराष्ट्रों को अर्थात् दुर्योधन आदि भाइयों को मारकर बचे रहने पर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी ? अर्थात् कुछ भी प्रसन्नता नहीं होगी । भाव यह है कि मूर्खजनोचित क्षणमात्रवर्ती सुखाभास के लोभ से हमें चिरकालीन नरकयातनाओं की प्राप्ति कराने वाला बन्धुजनों का वध करना उचित नहीं है । 'जनार्दन'[39] – इस सम्बोधन से अर्जुन यह सूचित करता है कि यदि ये सभी वध के योग्य हैं, तो आप ही इन्हें मारिए, क्योंकि आप प्रलयकाल में सभी जीवों का संहार कर देने पर भी सभी प्रकार के पापों के संसर्ग से दूर रहते हैं ।''आगलगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र लेकर आक्रमण करने वाला, धन लूटने वाला तथा खेत तथा स्त्री को छीन लेने वाला – ये छह आततायी हैं (वसिष्ठ स्मृति 3.16)'-- इस स्मृतिवचन के अनुसार ये धार्तराष्ट्र तो सभी प्रकार से आततायी हैं, और 'सम्मुख आए हुए आततायी को बिना विचार किए मार ही देना चाहिए, क्योंकि आततायी को मारने से मारने वाले को कोई दोष नहीं होता (मनुस्मृति 8.350-351) '–इस वचन के अनुसार आततायी के वध में कोई दोष भी नहीं जान पड़ता, अतः ये दुर्योधन आदि आततायी तो मारने के ही योग्य हैं,' – ऐसी

अर्थात् 'मधु' नामक दैत्य का सूदन = विनाश करने के कारण कृष्ण को 'मधुसूदन' कहते हैं' । एकबार मधुदैत्य ब्रह्मा के पास से वेदों का हरण कर ले गया था । तब भगवान् ने उसे मत्स्यरूप से मारकर वेदों का उद्धार किया था । इसीलिए यहाँ 'मधुसूदन' सम्बोधन से कृष्ण का वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व सूचित होता है ।

39. 'जनान् लोकान् अर्दति हन्ति हररूपेण संहारकत्वादिति जनार्दनः' – अर्थात् जो संहारक होने के कारण हररूपेण जनों = लोकों का अर्दन = हनन = संहार करता है, उसे 'जनार्दन' कहते हैं ।

इति वचनेन दोषाभावप्रतीतेर्हन्तव्या एव दुर्योधनादय आततायिन इत्याशङ्क्याऽऽह— पापमेवेति। एतानाततायिनोऽपि हत्वा स्थितानस्मान्पापमाश्रयेदेवेति संबन्धः । अथवा पापमेवाऽऽश्रयेन्न किंचिदन्यद्दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमित्यर्थः । 'न हिंस्यात्' इति धर्मशास्त्रादाततायिनं हन्यादित्यर्थशास्त्रस्य दुर्बलत्वात्। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

**'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' इति ॥**

अपरा व्याख्या— ननु धार्तराष्ट्रान्घ्नतां भवतां प्रीत्यभावेऽपि युष्मान् घ्नतां धार्तराष्ट्राणां प्रीतिरस्त्येवातस्ते युष्मान्हन्युरित्यत आह— पापमेवेति । अस्मान्हत्वा स्थितानेतानाततायिनो धार्तराष्ट्रान्पूर्वमपि पापिनः सांप्रतमपि पापमेवाऽऽश्रयेन्नान्यत्किंचित्सुखमित्यर्थः । तथा चायुध्यतोऽस्मान्हत्वैत एव पापिनो भविष्यन्ति नास्माकं काऽपि क्षतिः पापासंबन्धादित्यभिप्रायः ॥36॥

68 फलाभावादनर्थसंभवाच्च परहिंसा न कर्तव्येति 'नच श्रेयोऽनुपश्यामी'त्यारभ्योक्तं, तदुपसंहरति---

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥37॥

कृष्ण को ओर से आशंका करके अर्जुन कहता है,' – 'पापमेव०' इत्यादि । इन आततायियों को भी मारकर हमारे बचे रहने पर हमें पाप ही लगेगा -- ऐसा इसका सम्बन्ध है । अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि इन्हें मारने से हमें केवल पाप ही लगेगा, कोई दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी, क्योकि 'हिंसा न करे' – इस धर्मशास्त्र की अपेक्षा 'आततायी को मार दे' -- यह अर्थशास्त्र दुर्बल है । याज्ञवल्क्य ने कहा भी है – 'दो स्मृतियों में विरोध होने पर वृद्धजनों का व्यवहार ही न्यायतः बलवान् होता है । स्थिति ऐसी है कि अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है ।'

दूसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है– यदि ऐसी आशंका करें कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर आप लोगों को प्रसन्नता भले ही न हो; किन्तु तुम लोगों को मारकर उन धार्तराष्ट्रों को तो प्रसन्नता होगी ही, अतः वे तुम्हे मारेंगे, तो अर्जुन कहता है – 'पापमेव' इत्यादि । हम लोगों को मारकर बच रहे इन आततायी धृतराष्ट्र के पुत्रों को, जो पहले से भी पापी हैं, इस समय भी पाप ही लगेगा, इसके अतिरिक्त उन्हें कोई सुख नहीं मिलेगा । कहने का अभिप्राय है कि युद्ध न करने वाले हम लोगों को मारकर ये ही पाप के भागी होंगे, पाप से संबन्ध न होने के कारण हम लोगों की कोई भी क्षति नहीं होगी ॥ 36 ॥

68 कोई फल न होने से और अनर्थ की सम्भावना होने से दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए -- ऐसा जो 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इस श्लोक से प्रारम्भ करके कहा है उसका अब उपसंहार करता है -- [अतएव हम अपने बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए योग्य नहीं हैं, क्योकि हे माधव ! हम स्वजनों को मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ 37॥]

69 **अदृष्टफलाभावोऽनर्थसंभवश्च तच्छब्देन परामृश्यते । दृष्टसुखाभावमाह— स्वजनं हीति । माधवेति लक्ष्मीपतित्वान्नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसीति भावः ॥37॥**

70 **कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—**

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥38॥

71 **लोभोपहतबुद्धित्वात्तेषां कुलक्षयादिनिमित्तदोषप्रतिसंधानाभावात्प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः । अत एव भीष्मादीनां शिष्टानां बन्धुवधे प्रवृत्तत्वाच्छिष्टाचारत्वेन वेदमूलत्वादितरेषामपि तत्प्रवृत्तिरुचितेत्यपास्तं 'हेतुदर्शनाच्च' (जै०सू० 1.3.4) इतिन्यायात् । तत्र हि लोभादिहेतुदर्शने वेदमूलत्वं**

---

69 'तस्मात्' पद के 'तत्' शब्द से अदृष्ट फल के अभाव तथा अनर्थ की सम्भावना का परामर्श किया गया है । दृष्ट सुख का अभाव बतलाने के लिए अर्जुन कहता हैं – 'स्वजनं हि' इत्यादि । 'माधव '[40] इस सम्बोधन का भाव यह है कि आप लक्ष्मी के पति होने के कारण मुझे अलक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाले कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकते ॥ 37 ॥

70 'तो फिर तुम्हारी शत्रुओं के कुल के संहार और स्वजनों की हिंसा में प्रवृत्ति क्यों है' – ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है --

[यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलक्षय से होने वाले दोष और मित्रद्रोहजनित पाप को नहीं देखते ॥38 ॥

71 अर्थ यह है कि लोभ से बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण इन धृतराष्ट्र-पुत्रों को कुलक्षयादि से होने वाले दोष का प्रतिसंधान नहीं है, अतएव इनकी युद्ध में प्रवृत्ति हो सकती है । इसीलिए भीष्म आदि शिष्ट पुरुषों की बन्धुवध में प्रवृत्ति होने से शिष्टाचाररूप होने के कारण यह प्रवृत्ति वेदमूलक सिद्ध होती है । अतएव दूसरों की भी ऐसी प्रवृत्ति होना उचित ही है– इस कथन का 'हेतुदर्शनाच्च' (जैमिनि सूत्र - 1.3.4) – इस न्याय[41] से निराकरण कर दिया । क्योंकि वहाँ यह निश्चित किया गया है कि लोभ आदि हेतु देखने पर वेदमूलकता नहीं स्वीकार की जा सकती । -————

---

40. 'मा लक्ष्मीस्तस्याः धवः पतिः = माधव': अर्थात् 'मा' शब्द लक्ष्मी का वाचक है और 'धव' शब्द पति का वाचक है, इसलिए 'माधव' का अर्थ है लक्ष्मीपति ।

41 यहाँ 'न्याय' का अर्थ 'अधिकरण' है । किसी सन्दिग्ध अर्थवाले वेदमूलक वाक्य के निर्णायक शब्द के सन्दर्भ को 'अधिकरण' कहते हैं । अधिकरण के पांच अंग होते हैं – विषय, विशय (संशय), पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और फल (प्रयोजन) । (न्यायः पञ्चाङ्गमधिकरणम् । यथा – विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः । पक्षद्वयफलञ्चैव शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥ – महाभारत-टीका, 2.5.3) । किसी वाक्यादि को 'विषय' बनाकर उसके सम्बन्ध में 'संशय' किया जाता है कि यह प्रमाण है ? या नहीं ? तदनन्तर 'पूर्वपक्ष' और उसके पश्चात् 'उत्तरपक्ष' प्रस्तुत किया जाता है, अन्त में ' फल' कहा जाता है । पूर्वमीमांसा के प्रथम अध्याय के तृतीयपाद के द्वितीय सूत्र में 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति'– (दीक्षा-विसर्जन के लिए किए जाने वाले होम के समय वितानित वस्त्र को अध्वर्यु ग्रहण करता है) – इस वाक्य के सम्बन्ध में संशय किया गया है कि यह प्रमाण है ? या नहीं ? पूर्वपक्षी ने कहा है कि यह वैदिक वाक्य न होने पर भी वेदमूलक स्मृति का वाक्य होने के कारण प्रमाण है । उत्तरपक्ष में कहा गया है – 'लोभदर्शनाच्च' (जैमिनि सूत्र, 1.3.4) – उक्त वाक्य के मूल में लोभ दिखाई देता है – किसी लोभी अध्वर्यु ने आत्म-लाभ की दृष्टि से इस वाक्य का गठन कर दिया है, – अतः यह वाक्य वेदमूलक नहीं, अपितु लोभमूलक है, फलतः यह प्रमाण नहीं है । जिस प्रकार लोभमूलक स्मृतिवाक्य धर्म में प्रमाण नहीं होता, उसी प्रकार लोभमूलक आचरण भी प्रमाण नहीं होता भीष्मादि का युद्धोद्यमरूप आचरण लोभमूलक है, अतः वह भी सर्वथा अप्रमाण है ।

न कल्प्यत इति स्थापितम् । यद्यप्येते न पश्यन्ति तथाऽपि कथमस्माभिर्न ज्ञेयमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥38॥

72 ननु यद्यप्येते लोभात्प्रवृत्तास्तथाऽपि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति 'विजितं क्षत्रियस्य' इत्यादिभिः क्षत्रियस्य युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनमिति धर्मशास्त्रे निश्चयाद्भवतां च तैराहूतत्वाद्युद्धे प्रवृत्तिरुचितैवेति शङ्कयाऽऽह—

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥39॥

73 अस्मात्पापाद्बन्धुवधफलकयुद्धरूपात् । अयमर्थः— श्रेयःसाधनताज्ञानं हि प्रवर्तकं, श्रेयश्च तद्यदश्रेयोऽननुबन्धि, अन्यथा श्येनादीनामपि धर्मत्वापत्तेः । तथा चोक्तं—

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' इति ॥ (श्लो० वा० 2.268-69)

ततश्चाश्रेयोनुबन्धितया शास्त्रप्रतिपादितेऽपि श्येनादाविवास्मिन्युद्धेऽपि नास्माकं प्रवृत्तिरुचितेति ॥39॥

74 एवं च विजयादीनामश्रेयस्त्वेनानाकाङ्क्षितत्वान्न तदर्थं प्रवर्तितव्यमिति द्रढयितुमनर्थानुबन्धित्वेनाश्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—

यद्यपि ये लोग नहीं देखते, तथापि हमें क्यों नहीं जानना चाहिए ? इस प्रकार इसका आगे के श्लोक से संबन्ध है ॥ 38 ॥

72 यद्यपि ये लोग लोभ के कारण युद्ध में प्रवृत्त हैं, तथापि 'ललकारे जाने पर जूए तथा युद्ध से पीछे न हटें', 'जीता हुआ धन क्षत्रिय का होता है' इत्यादि वाक्यों के अनुसार युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है और युद्ध द्वारा प्राप्त किया हुआ धन भी धर्मानुकूल होता है, – ऐसा धर्मशास्त्र में निश्चय किये जाने के कारण शत्रुओं द्वारा युद्ध के लिए ललकारे जाने से तुम्हारी युद्ध में प्रवृत्ति उचित ही है – ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है –
[तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षय से होने वाले दोष को देखनेवाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए ?॥39 ॥]

73 इस पाप से अर्थात् बन्धुवध फल वाले इस युद्ध रूप पाप से । अर्थ यह है कि श्रेयःसाधनता का ज्ञान ही किसी कर्म में प्रवृत्ति का कारण होता है और श्रेय वह होता है जिसका फल अश्रेय (अकल्याण) न हो, अन्यथा श्येनयाग आदि अभिचार भी धर्मरूप कहे जायेंगे । ऐसा कहा भी है –
'जो कर्म फल की दृष्टि से भी अनर्थ से युक्त नहीं होता वही केवल प्रीति का कारण होने से 'धर्म' कहा जाता है' (श्लोकवार्तिक 2.268-69) । अतएव परिणाम में अश्रेय (अकल्याण) से युक्त होने के कारण, श्येनयागादि के समान शास्त्रविहित होने पर भी इस युद्ध में हमारी प्रवृत्ति होना उचित नहीं है ॥ 39 ॥

74 इस प्रकार विजय आदि अकल्याण रूप होने के कारण आवञ्छनीय हैं और उनके लिए प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए – इसी अर्थ की पुष्टि करने के लिए अनर्थ-परिणामी रूप से उनकी अश्रेयता (अकल्याणता) को ही स्पष्ट करता हुआ कहता है –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ 40॥

75 **सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलोचिता धर्माः कुलक्षये प्रणश्यन्ति कर्तुरभावात् । उतापि अग्निहोत्राद्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन धर्मे नष्टे जात्यभिप्रायमेकवचनम्, अवशिष्टं बालादिरूपं कृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति स्वाधीनतया व्याप्नोति । उतशब्दः कृत्स्नपदेन संबध्यते ॥40॥**

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥41॥

76 **अस्मदीयैः पतिभिर्धर्ममतिक्रम्य कुलक्षयः कृतश्चेदस्माभिरपि व्यभिचारे कृते को दोषः स्यादित्येवं कुतर्कहताः कुलस्त्रियः प्रदुष्येयुरित्यर्थः । अथवा कुलक्षयकारिपतितपतिसंबन्धादेव स्त्रीणां दुष्टत्वम् । 'आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' (याज्ञ० स्मृ० 3.77) इत्यादिस्मृतेः ॥41॥**

[कुल का विनाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म अभिभूत कर देता है ॥ 40 ॥]

75 सनातन अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त कुल-धर्म अर्थात् कुलोचित धर्म कुल का नाश होने पर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कुल का कोई कर्ता नहीं रहता ।'उत' शब्द का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में हुआ है । आग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करने वाले पुरुषों का नाश हो जाने के कारण धर्म का नाश हो जाने पर अवशिष्ट बालक आदि रूप सम्पूर्ण कुल को ही अधर्म अभिभूत कर देता है अर्थात् स्वतंत्रता से उसमें व्याप्त हो जाता है । 'उत' शब्द का 'कृत्स्न' पद से सम्बध है । 'धर्मे' इस पद में जाति[42] के अर्थ से एक वचन का प्रयोग हुआ है ॥ 40 ॥

[हे कृष्ण ! कुल के अधर्म से अभिभूत हो जाने के कारण कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं । हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर सन्तति वर्णसंकर हो जाती है ॥ 41 ॥]

76 अर्थात् जब हमारे पतियों ने ही धर्म का अतिक्रमण करके कुल का नाश किया है तो हमारे व्यभिचार करने में क्या दोष होगा ? – इस प्रकार के कुतर्कों से ग्रस्त कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । अथवा, कुल का नाश करने वाले पतित पतियों के सम्बन्ध से ही स्त्रियों में दुष्टता आ जाती हैं, क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है --

'प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने तक महापाप से दूषित पुरुष की प्रतीक्षा करनी चाहिए' (याज्ञवल्क्य स्मृति 3.77) (अर्थात् पतित पुरुष से शुद्ध होने तक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए) ॥ 41 ॥

---

42. समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः (न्यायसूत्र 2.2.71) समानाऽऽकारबुद्धिजननयोग्यधर्मविशेषो नित्यानेकसमवेतरूपार्थ इति (न्यायमूत्रवृत्ति 2.2.71) । अर्थात् समान आकार वाली बुद्धियों अर्थात् ज्ञानों को उत्पन्न करने में योग्य धर्म-विशेषको 'जाति' कहते हैं, वह नित्य और अनेक में समवेतरूप होती है । 'जाति' का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है । उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' (प्रशस्तपादभाष्य) – अनुगत - एकाकार प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहलाता है; यह किया गया है । 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) – नित्य होकर अनेक पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं, यह भी सामान्य का दूसरी तरह लक्षण किया गया है ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥42॥

77 **कुलस्य संकरश्च कुलघ्नानां नरकायैव भवतीत्यन्वयः । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः किं तु तत्पितॄणामपीत्याह— पतन्तीति । हिशब्दोऽप्यर्थे हेतौ वा । पुत्रादीनां कर्तॄणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा । कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरकायैवेत्यनुषङ्गः ॥42॥**

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥43॥

78 **जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिनिबन्धनाः कुलधर्मा असाधारणाश्च । एतैर्दोषैरुत्साद्यन्त उत्सन्नाः क्रियन्ते विनाश्यन्त इत्यर्थः ॥43 ॥**

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥44॥

79 **ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरक एव निरन्तरं वासो भवति ध्रुवमित्यनुशुश्रुमाऽऽचार्याणां मुखाद्वयं श्रुतवन्तो न स्वाभ्यूहेन कल्पयाम इति पूर्वोक्तस्यैव दृढीकरणम् ॥44॥**

80 **बन्धुवधपर्यवसायी युद्धाध्यवसायोऽपि सर्वथा पापिष्ठतरः किं पुनर्युद्धमिति वक्तुं तदध्यवसायेनाऽऽत्मानं शोचन्नाह—**

[वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है, क्योंकि श्राद्ध और तर्पण की क्रियाओं का लोप हो जाने से इनके पितर नरक में गिरते हैं ॥ 42 ॥]

77 वर्णसंकर अपने कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है – ऐसा अन्वय करना चाहिए । केवल कुलघातियों का ही नरक में पतन नहीं होता, अपितु उनके पितरों का भी होता है -- यह 'पतन्ति' इत्यादि वाक्य से अभिव्यक्त किया है । यहाँ 'हि' शब्द 'अपि' के अर्थ में अथवा 'हेतु' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पुत्रादि कर्त्ताओं के अभाव के कारण लुप्त हो गई हैं पिण्डदान और तर्पण की क्रियाएँ जिनकी वे उन कुलघातियों के पितर नरक में ही गिरते हैं -- इस प्रकार 'पतन्ति' क्रियापद का 'नरकायैव' पद के साथ सम्बन्ध है ॥ 42 ॥

[कुल घातियों के इन वर्णसंकर करने वाले दोषों से शाश्वत जाति-धर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ 43 ॥]

78 जातिधर्म अर्थात् क्षत्रियत्व आदि के कारण होने वाले धर्म और कुलधर्म अर्थात् कुल के असाधारण-विशेष धर्म इन दोषों से उत्सादित = उत्सन्न कर दिये जाते हैं अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं ॥ 43 ॥

[हे जनार्दन ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं, उनका तो निश्चय ही नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ 44 ॥]

79 फिर तो प्रेतत्व से विमुक्ति का कोई भी कारण न रहने से उनका निश्चय ही नरक में ही निरन्तर वास होता है, ऐसा हम आचार्यों के मुख से सुनते आये हैं न कि हम अपनी तर्कशक्ति से कल्पना कर रहे हैं -- यह पूर्वोक्त अर्थ को ही सुदृढ़ करने के लिये कहा गया है ॥ 44 ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥45॥

81 **यदीदृशी ते बुद्धिः कुतस्तर्हि युद्धाभिनिवेशेनाऽऽगतोऽसीति न वक्तव्यमविमृश्यकारितया मयौद्धत्यस्य कृतत्वादिति भावः ॥45॥**

82 **ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वाद्बन्धुवधो भविष्यत्येव त्वया पुनः किं विधेयमित्यत आह—**

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥46॥

83 **प्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसा, पापानिष्पत्तेः । तस्माज्जीवनापेक्षया मरणमेव मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । प्रियतरमिति पाठेऽपि स एवार्थः । अप्रतीकारं स्वप्राणत्राणाय व्यापारमकुर्वाणं बन्धुवधाध्यवसायमात्रेणापि प्रायश्चित्तान्तररहितं वा । तथाच प्राणान्तप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥46॥**

84 **ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—**

---

80 जिसका पर्यवसान (अन्त) बन्धुओं के वध में होने वाला है उस युद्ध का तो विचार करना भी सर्वथा महान् पापकारक है, फिर युद्ध करने की तो बात ही क्या है ? -- ऐसा कहने के लिए युद्ध का विचार करने के कारण अपने विषय में शोक करता हुआ अर्जुन कहता है --
[ओह ! बड़े दुःख की बात है कि हम लोग बहुत बड़ा पाप करने के लिए तैयार हो गये हैं -- जो कि राज्य तथा सुख की प्राप्ति के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हुए हैं ॥45 ॥]

81 'यदि तेरी ऐसी ही बुद्धि थी, तो फिर तू यहाँ युद्ध के लिए तैयार होकर क्यों आया था ?' -- ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि बिना विचार किए हुए ही मैंने यह उद्दण्डता की है । यही अर्जुन का अभिप्राय है ॥45॥

82 यदि आप कहें कि तेरा युद्ध से वैराग्य हो जाने पर भी भीमसेन आदि के युद्ध के लिए उत्सुक होने से बन्धुवध तो होगा ही, ऐसी स्थिति में तू क्या करेगा ? तो अर्जुन कहता हैं --
[यदि प्रतीकार न करने वाले मुझ शस्त्रहीन को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मार डालें तो वह मेरे लिए अधिक -- कल्याणकारी होगा ॥46॥]

83 प्राणियों की हिंसा न करना (अहिंसा) प्राणों से भी अधिक श्रेष्ठधर्म है, क्योंकि उससे पाप नहीं होता । अतएव जीवन की अपेक्षा मरण ही मेरे लिए क्षेमतर =अत्यन्त हितकर होगा । 'क्षेमतरम्' के स्थान पर 'प्रियतरम्' पाठ होने पर भी यही अर्थ होगा । प्रतीकार न करने वाले को अर्थात् अपने प्राणों की रक्षा के लिए कोई भी चेष्टा न करने वाले को अथवा बन्धुओं के वध का विचार करने मात्र से भी उत्पन्न पाप का कोई दूसरा प्रायश्चित्त न करने वाले को । भाव यह है कि इस प्रकार प्राणान्त-रूप प्रायश्चित्त से ही मेरी शुद्धि होगी ॥46॥

84 -- इसके पश्चात् क्या हुआ -- यह जानने की इच्छा होने पर :---

संजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥47॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

---

85 **संख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपविवेश । पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितः सञ्शोकेन संविग्नं पीडितं मानसं यस्य सः ॥47॥**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

[संजय ने कहा --- युद्ध-भूमि में ऐसा कहकर अर्जुन शोक से व्याकुल – चित्त हो अपने धनुष बाण छोड़कर रथ के ऊपर बैठ गया ॥47॥]

85 पहले जो युद्ध करने और सेना देखने के लिए खड़ा हुआ था, किन्तु अब जिसका चित्त शोक से संविग्न अर्थात् पीडित हो रहा है वह अर्जुन संख्य-भूमि में = संग्राम– भूमि में रथोपस्थ पर = रथके ऊपर बैठ गया ॥47॥

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का अर्जुनविषादयोग नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

1 **अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं चेत्येवंलक्षणया बुद्ध्या युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयस्य धृतराष्ट्रस्य हर्षनिमित्तां ततः किं वृत्तमित्याकाङ्क्षामपनिनीषुः संजयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः--**

संजय उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ 1 ॥

2 **कृपा ममैत इतिव्यामोहनिमित्तः स्नेहविशेषः । तयाऽऽविष्टं स्वभावसिद्धया व्याप्तम् । अर्जुनस्य कर्मत्वं कृपायाश्च कर्तृत्वं वदता तस्या आगन्तुकत्वं व्युदस्तम् । अत एव विषीदन्तं स्नेहविषयीभूतस्वजनविच्छेदाशङ्कानिमित्तः शोकापरपर्यायश्चित्तव्याकुलीभावो विषादस्तं प्राप्नुवन्तम् । अत्र विषादस्य कर्मत्वेनार्जुनस्य कर्तृत्वेन च तस्याऽऽगन्तुकत्वं सूचितम् ।**

1 'अहिंसा और भिक्षा मांगकर खाना परम धर्म हैं',-- इस प्रकार की बुद्धि के कारण अर्जुन की युद्ध से विमुखता को सुनकर तथा अपने पुत्रों के राज्य को अविचल समझकर स्वस्थ चित्त हुए धृतराष्ट्र की – 'इसके पश्चात् क्या हुआ ?' – ऐसी हर्षजनित आकांक्षा को निवृत्त करने की इच्छा से संजय ने उन्हें उत्तर दिया-- ऐसा वैशम्पायन कहते हैं -

[संजय ने कहा-- इस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले विषाद करते हुए उस अर्जुन से मधुसूदन ने यह वाक्य कहा ॥ 1 ॥]

2 'ये मेरे हैं'-- इस प्रकार के व्यामोह[1] से उत्पन्न स्नेहविशेष कृपा[2] है । उस स्वाभावसिद्ध कृपा से आविष्ट अर्थात् व्याप्त । यहाँ अर्जुन का कर्मत्व और कृपा का कर्तृत्व बतलाकर कृपा के आगन्तुकत्व का निराकरण किया है । इसीलिए विषाद[3] करते हुए = स्नेह के विषयभूत स्वजनों से विच्छेद की आशङ्का से शोक का पर्याय चित्त की व्याकुलता रूप जो विषाद है उसे प्राप्त होते हुए । यहाँ विषाद के कर्मत्व और अर्जुन के कर्तृत्व से विषाद की आगन्तुकता सूचित की है ।

---

1. पद्मपुराण के 'क्रियायोगसार' अध्याय में कहा है--

'मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम् ।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्त्तितः" ॥

'यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरी गृहिणी है, यह मेरा गृह है'-- ऐसा जो ममत्व है उसे मोह या व्यामोह कहते हैं ।

2. 'कृपा' का संकेतितार्थ 'करुणा' है और करुणा आत्म-दुःख-प्रहाण की इच्छा के समान परदुःखप्रहाण की इच्छा को कहते हैं, अथवा दूसरों के दुःखों के प्रहाण (दूर करने) की निरुपाधिकी इच्छा को 'करुणा' कहते हैं (कृपा = करुणा, आत्मनीव परस्मिन् दुःखप्रहाणेच्छा, निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा वा करुणा– योगवार्तिक 1.33) । प्रकृत में परदुःखप्रहाणेच्छारूप 'करुणा' की सङ्गति नहीं होती, क्योंकि युद्धेच्छु युद्ध-समारम्भ में भावी विजय-कल्पना से प्रफुल्लित हो शंख-ध्वनि कर रहे हैं, न कि किसी भी प्रकार का दुःख प्रकट कर रहे हैं जिससे ऐसी करुणा जागृत हो । अतएव मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'कृपा' का अर्थ 'स्नेह-विशेष' किया है जो कि प्रकृतोपयोगी और उचित है, क्योंकि प्रकृत में अर्जुन के हृदय में ममतारूप अनादि भाव से उत्पन्न कृपा= स्नेह विशेष ही जागृत हुआ है । यही भाव पहले गीता के प्रथम अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में अभिव्यक्त हुआ है ।

अत एव कृपाविषादवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे चेक्षणे यस्य तम् । एवमश्रुपातव्याकुलीभावाख्यकार्यद्वयजनकतया परिपोषं गताभ्यां कृपाविषादाभ्यामुद्विग्नं तमर्जुनमिदं सोपपत्तिकं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच न तूपेक्षितवान् । मधुसूदन इति । स्वयं दुष्टनिग्रहकर्ताऽर्जुनं प्रत्यपि तथैव वक्ष्यतीति भावः ॥ 1 ॥

3 **तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति—**

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ 2 ॥

4 **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।**
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना' ॥ (वि० पु० 6.74)

अतएव कृपा और विषाद के कारण आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल अर्थात् देखने में असमर्थ हैं नेत्र जिसके उस अर्जुन से । इस प्रकार अश्रुपात और व्याकुलतारूप दो कार्यों को उत्पन्न करने वाले होने से परिपुष्ट हुए कृपा और विषाद से उद्विग्न उस अर्जुन से मधुसूदन ने यह युक्तियुक्त आगे कहे जाने वाला वाक्य कहा, न कि उसकी उपेक्षा की । यहाँ 'मधुसूदन'[4] पद का अभिप्राय है कि स्वयं दुष्टों का निग्रह करने वाले होने से वे अर्जुन से भी वैसी ही बात कहेंगे ॥ 1 ॥

3 भगवान् के उसी वाक्य को अवतरित करते हैं---
[श्री भगवान् ने कहा-- हे अर्जुन[5] ! ऐसी विषम स्थिति में तुझे यह मोह कहां से प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग प्रदान करने वाला है और न कीर्तिकर ही है ॥ 2 ॥]

4 समस्त ऐश्वर्य, समस्त धर्म, समस्त यश, समस्त श्री (शोभा), समस्त वैराग्य और समस्त मोक्ष— इन छः की संज्ञा 'भग' है (विष्णु पुराण, 6.74) । 'समग्र'[6] पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । 'मोक्षस्य' = मोक्ष की अर्थात् मोक्ष के साधन ज्ञान की । 'इङ्गना' संज्ञा को कहते हैं । इस प्रकार के समस्त ऐश्वर्य आदि जिसमें नित्य अबाधरूप से रहते हैं वह 'भगवान्' कहलाता है। 'भगवान्'

3. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'विषीदन्तम्' पद की व्याख्या पहले की है और 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद की व्याख्या बाद में की है, जबकि श्लोक में 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद पहले और 'विषीदन्तम्' पद बाद में प्रयुक्त हुआ है, तो प्रश्न है कि उन्होंने श्लोकान्वय में ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया ? उत्तर है कि मधुसूदन सरस्वती ने श्लोकान्वय में कोई व्यतिक्रम नहीं किया है, अपितु उन्होंने ऐसा सप्रयोजन किया है । उनके अनुसार अर्जुन के नेत्रों में आँसू आ जाने के दो कारण थे – कृपा और विषाद, जैसा कि उन्होंने 'कृपाविषादवशादश्रुभिः' शब्दों में स्वयं स्पष्ट किया है । अतएव 'विषीदन्तम्' पद की व्याख्या 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद से पहले ही अपेक्षित थी । यदि वे ऐसा न करते तो उनकी इष्टसिद्धि नहीं होती और आँसू आ जाने का केवल कृपारूप एक ही कारण का लाभ होता, एक न्यूनता सी रह जाती, उसे 'विषीदन्तम्' पद की पहले व्याख्या करके उन्होंने दूर कर दिया है । ऐसा ही समाधान श्री धर्मदत्त शर्मा और स्वामी योगीन्द्रानन्द ने किया है ।

4. 'मधुसूदन' शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित किया गया है कि देवताओं पर अत्याचार करनेवाले मधु-दैत्य के संहारक भगवान् वासुदेव पृथ्वी के भारभूत आततायी दुष्टों का भी विनाश अवश्य करेंगे ।

5. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुभ्र, उज्ज्वल है, अतः यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन पद से भगवान् ने अर्जुन को यह संकेत किया है कि तू तो शुभ्र-उज्ज्वल वस्त्र के समान अपने कार्यों में पवित्र और विशुद्ध है, फिर तुझमें यह कश्मल (कलंक) कहाँ से आ गया ? यह तेरे स्वभाव के विपरीत है, अतः तुझमें अनुचित है । तू तो अपने स्वभावानुकूल कार्य कर ।

समग्रस्येति प्रत्येकं संबन्धः । मोक्षस्येति तत्साधनस्य ज्ञानस्य । इङ्गना संज्ञा । एतादृशं समग्रमैश्वर्यादिकं नित्यमप्रतिबन्धेन यत्र वर्तते स भगवान् । नित्ययोगे मतुप् ।
तथा

'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' ॥ (वि० पु० 6.78)

अत्र भूतानामिति प्रत्येकं संबध्यते । उत्पत्तिविनाशशब्दौ तत्कारणस्याप्युपलक्षकौ । आगतिगती आगामिन्यौ संपदापदौ । एतादृशो भगवच्छब्दार्थः श्रीवासुदेव एव पर्यवसित इति तथोच्यत, इदं

पद में नित्य योग के अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है । इसी प्रकार 'जो प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, उनकी आगति-गति और विद्या-अविद्या को जानता है वह 'भगवान्' कहा जाता है (विष्णु पुराण 6.78) । यहाँ 'भूतानाम्' पद का प्रत्येक के साथ संबन्ध है । 'उत्पत्ति और विनाश' शब्द उत्पत्ति और विनाश के कारण को भी उपलक्षित कराते हैं । 'आगति और गति' शब्द आगामी सम्पत्ति और विपत्ति को कहते हैं । ऐसा 'भगवान्' शब्द का अर्थ श्री वासुदेव[7]=वसुदेवपुत्र में ही पर्यवसित होता है-- ऐसा कहा जाता है[8] ।

यह कृपा, व्यामोह, अश्रुपातादिपूर्वक अपने धर्म से पराङ्मुखरूप कश्मल (कुविचार) = शिष्टपुरुषों द्वारा निन्दित होने के कारण मलिन (विचार) ऐसी विषम परिस्थिति में अर्थात् इस भयावहस्थान में सम्पूर्ण क्षत्रियों में श्रेष्ठ तुझको कहाँ से = किस कारण से उपस्थित हुआ =प्राप्त हुआ । क्या मोक्ष की इच्छा से हुआ अथवा स्वर्ग की इच्छा से ? या कीर्ति की इच्छा से ?-- इस प्रकार 'किम्' शब्द से इन तीन विकल्पों का आक्षेप होता है । भगवान् इन तीनों हेतुओं का भी श्लोक के उत्तरार्ध में

---

6. विष्णु-पुराण से उद्धृत श्लोक (6.74) में 'समग्र' पद का सम्बंध 'मोक्ष' के साथ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'समग्र' विशेषण अनेकविध पदार्थों के संग्रहार्थ प्रयुक्त किया जाता है,जबकि अद्वैत-वेदान्त में 'मोक्ष' नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूप अद्वैत (एकविध) ही है । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने उक्त श्लोकार्थ में 'मोक्ष' का अर्थ 'ज्ञान' किया है । उपचार से 'आयुर्घृतम्' के समान साधन में साध्यर्थक पद की प्रवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार 'समग्र' पद का सम्बंध 'धर्म' के साथ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर में तत्वज्ञान नित्य रहनें से 'समग्रधर्म = 'पुण्य-पाप' नहीं रह सकता । इसीलिए श्री धर्मदत्त शर्मा ने यहाँ 'धर्म'शब्द का अर्थ पहले 'पापनिवृत्ति' और बाद में अन्वयार्थ 'पुण्य-जनकक्रिया' किया है, क्योंकि ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में समग्र पुण्यप्रद क्रियाओं का अनुष्ठान करके सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन किया करता है । इसी अर्थ का समर्थन स्वामी योगीद्रानन्द ने भी किया है ।

7. विष्णुपुराण में कहा है -

'एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ (6.76)

'हे मैत्रेय ! 'भगवान्' - यह महान् शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेव को छोड़कर अन्य किसी में भी पर्यवसित नहीं होता' ।'वासुदेव' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ भी ऐसा ही है -

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥ विष्णु पुराण 6.5.82 ।

तथा च -

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वात् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृंहत्वात् विष्णुरुच्यते ॥ (महाभारत 5.70.3)

8. 'पर्यवसित इति तथोच्यते ।'- पूर्णविराम के साथ यह वाक्यपूर्ति सर्वतोभावेन उचित है । हाँ, इसके पश्चात् यदि भगवत्पदार्थता का पोषक किसी ग्रन्थ का वाक्य भी उद्धृत किया गया होता, तो अधिक अच्छा होता । हो सकता है कि प्रकरणवंशात् विष्णुपुराण का ही ''एवमेष महाञ्छब्दो—' (6.76) - यह श्लोक उद्धृत किया भी गया हो और लेखक-प्रमाद से छूट गया हो, जैसा कि स्वामी योगीन्द्रान्द स्वीकार करते हैं ।

स्वधर्मात्पराङ्मुखत्वं कृपाव्यामोहाश्रुपातादिपुर:सरं कश्मलं शिष्टगर्हितत्वेन मलिनं विषमे सभये स्थाने त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरं कुतो हेतोः समुपस्थितं प्राप्तम् ? किं मोक्षेच्छातः ? किं वा स्वर्गेच्छातः ? अथवा कीर्तीच्छातः ? इति किंशब्देनाऽऽक्षिप्यते । हेतुत्रयमपि निषेधति त्रिभिर्विशेषणैरुत्तरार्धेन । आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितम् । स्वधर्मैराशयशुद्धिद्वारा मोक्षमिच्छद्भिरपक्वकषायैर्मुमुक्षुभिः कथं स्वधर्मस्त्याज्य इत्यर्थः । संन्यासाधिकारी तु पक्वकषायोऽग्रे वक्ष्यते । अस्वर्ग्यं स्वर्गहेतुधर्मविरोधित्वान्न स्वर्गेच्छया सेव्यम् । अकीर्तिकरं कीर्त्यभावकरमपकीर्तिकरं वा न कीर्तीच्छया सेव्यम् । तथा च मोक्षकामैः स्वर्गकामैः कीर्तिकामैश्च वर्जनीयं, तत्काम एव त्वं सेवस इत्यहो अनुचितं चेष्टितं तवेति भावः ॥ 2 ॥

5 **ननु बन्धुसेनावेक्षणजातेनाधैर्येण धनुरपि धारयितुमशक्नुवता मया किं कर्तुंशक्यमित्यत आह--**

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ 3 ॥

कथित तीन विशेषणों से निषेध करते हैं । अनार्यजुष्ट[9] जो आर्य अर्थात् मुमुक्षुओं द्वारा जुष्ट नहींहै= सेवित नहीं है । अर्थ यह है कि स्वधर्म से हुई चित्त-शुद्धि द्वारा मोक्ष में इच्छा करनेवाले और रागादिजन्य कषाय[10] को क्षीण न कर देने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा स्वधर्म कैसे त्याज्य हो सकता है ? क्षीण कषाय वाले संन्यास के अधिकारी का तो वर्णन आगे किया जायेगा । 'अस्वर्ग्य' का अर्थ है कि स्वर्ग के हेतुभूत धर्म का विरोधी होने से यह स्वर्ग की इच्छा से सेवनीय नहीं है । अकीर्तिकर का अर्थ है - कीर्ति का अभाव करने वाला अथवा अपकीर्ति करने वाला, अतएव कीर्ति की इच्छा से भी यह सेव्य नहीं है । इस प्रकार यह मोक्ष, स्वर्ग और कीर्ति-- इन तीनों ही की इच्छा करने वालों के लिए त्याज्य है । ओह ! बड़े दु:ख की बात है कि इन्हीं की कामनावाला होकर भी तू इस कुविचार का सेवन करता है । तेरी यह चेष्टा अनुचित है - ऐसा इसका भाव है ।।2।।

5 यदि अर्जुन कहे कि अपने बन्धुओं की सेना को देखने से उत्पन्न अधैर्य से धनुष को भी धारण करने में असमर्थ मैं क्या कर सकता हूँ, तो भगवान् कहते हैं :--

[हे अर्जुन ! तू नपुंसकता को प्राप्त मत हो, तुझमें यह उचित नहीं है । हे परंतप ! तू हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।। 3।।]

---

9. गीता की विभिन्न टीकाओं में 'अनार्यजुष्टम्' समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से किया गया है - (1) 'अनार्यैर्जुष्टम्' अर्थात् 'अनार्यों से सेवित' और (2) 'आर्यैरजुष्टम्' अर्थात् 'आर्यों से असेवित' । नीलकण्ठ ने द्वितीय विग्रह में पदव्युत्क्रम दोष बताकर प्रथम विग्रह ही स्वीकार किया है । किन्तु श्रीधरस्वामी ने 'आर्यैरसेवितम्' अर्थ किया है । मधुसूदनसरस्वती भी 'आर्यैर्न जुष्टम्' अर्थ करते हैं । वस्तुत: श्लोक के 'अस्वर्ग्यम्' और 'अकीर्तिकरम्'पदों के साहचर्य से 'अनार्यजुष्टम्' पद भी निषेधार्थक ही प्रतीत होता है, अत: आर्यों से असेवित मार्ग की ओर ही भगवान् का संकेत परिलक्षित होने से ' अनार्यजुष्टम्' का अर्थ 'आर्यों से असेवित' ही प्रकृतोपयोगी और उचिततर प्रतीत होता है ।

10. 'लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषाय:' (वेदान्तसार) - अर्थात् लय और विक्षेप का अभाव होने पर भी जब चित्तवृत्ति रागादि वासनाओं के कारण जडीभूत हो जाती है, फलत: अखण्ड ब्रह्म का अवलम्बन नहीं करती तो चित्तवृत्ति की उस अवस्था को निर्विकल्पक - समाधि का 'कषाय' नामक विघ्न कहते हैं ।

6 **क्लैब्यं क्लीबभावमधैर्यमोजस्तेजआदिभङ्गरूपं मा स्म गमो मा गा हे पार्थ ! पृथा तनय ! पृथया देवप्रसादलब्धे तत्तनयमात्रे वीर्यातिशयस्य प्रसिद्धत्वात्पृथातनयत्वेन त्वं क्लैब्यायोग्य इत्यर्थः । अर्जुनत्वेनापि तदयोग्यत्वमाह— नैतदिति । त्वयि अर्जुने साक्षान्महेश्वरेणापि सह कृताहवे प्रख्यातमहाप्रभावे नोपपद्यते न युज्यत एतत्क्लैब्यमित्यसाधारण्येन तदयोग्यत्वनिर्देशः ।**

ननु 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' इति पूर्वमेव मयोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— क्षुद्रमिति । हृदयदौर्बल्यं मनसो भ्रमणादिरूपमधैर्यं क्षुद्रत्वकारणत्वात्क्षुद्रं सुनिरसनं वा त्यक्त्वा विवेकेनापनीयोत्तिष्ठ युद्धाय सज्जो भव हे परंतप ! परं शत्रुं तापयतीति तथा संबोध्यते हेतुगर्भम् ॥ 3 ॥

7 **ननु नायं स्वधर्मस्य त्यागः शोकमोहादिवशात्किंतु धर्मत्वाभावादधर्मत्वाच्चास्य युद्धस्य त्यागो मया क्रियत इति भगवदभिप्रायमप्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्याभिप्रायमवतारयति—**

---

6 क्लैब्य[11] अर्थात् क्लीबभाव अर्थात् ओज, तेज आदि के भङ्गरूप अधैर्य को मत प्राप्त हो । हे पार्थ = पृथा के पुत्र ! अर्थ यह है कि देवताओं की कृपा से प्राप्त होने के कारण कुन्ती के प्रत्येक पुत्र में वीर्यातिशय प्रसिद्ध ही है, अत: पृथा का पुत्र होने के कारण तू ऐसी नपुंसकता के योग्य नहीं है । 'नैतत्त्वय्युपपद्यते'-- वाक्य से 'अर्जुन होने के कारण भी तुझमें यह उचित नहीं है ' - ऐसा कहा गया है । साक्षात् महेश्वर से भी युद्ध करने के कारण प्रसिद्ध महाप्रभाव वाले तुझ अर्जुन में यह नपुंसकता उपपन्न नहीं है = उचित नहीं है । इस प्रकार अर्जुन की असाधारणता के कारण भी उसमें इसकी अयोग्यता का निर्देश किया है ।

अर्जुन की ओर से आशंका करके कि 'मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैं खड़ा नहीं रह सकता । मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है'भगवान् कहते हैं 'क्षुद्रम्' इत्यादि । हृदयदौर्बल्य अर्थात् मन के भ्रमण आदि रूप अधैर्य को, जो क्षुद्रता = लघुता का कारण होने से क्षुद्र है अथवा जो सुगमता से दूर किया जा सकता है, त्यागकर = विवेक से दूर करके खड़ा हो जा = युद्ध के लिए तैयार हो जा । हे परंतप ! = पर अर्थात् शत्रुओं को जो तपाता है - ऐसा अर्जुन को सम्बोधन किया जाता है । यह सम्बोधन हेतु गर्भित है ।। 3 ।।

7 भगवान् के अभिप्राय को न समझने वाले अर्जुन की ओर से आशङ्का करके कि 'मेरा यह स्वधर्मत्याग शोक, मोह आदि के कारण नहीं है, किन्तु धर्मत्व का अभाव और अधर्मरूप होने के कारण ही

---

11. अर्जुन युद्ध-कला के विशेष अध्ययन के लिए इन्द्र के पास अमरावती में पांच वर्ष तक रहा था, तब वहाँ की अप्सरा 'उर्वशी' उस पर आसक्त हो गई थी । कामपीडित होकर वह जब रात्रि के समय अर्जुन के भवन में उपस्थित हुई तब अर्जुन सशंक हृदय से उसके सम्मुख आया और उर्वशी को बताया कि वह उसको अपनी माता के समान मानता है । इस पर क्रुद्ध होकर उर्वशी ने अर्जुन को शाप दिया कि 'वह 'क्लीबत्व' को प्राप्त होकर एक नर्तकी के रूप में स्त्रियों के बीच में अपना समय व्यतीत करेगा' । इन्द्र ने अर्जुन से कहा कि वनवास के तेरहवें वर्ष में उर्वशी का शाप सत्य होगा, जिसके बाद वह अपना 'क्लीबत्व' त्यागकर पुन: पुरुषत्व को प्राप्त कर लेगा (महाभारत, 3.44; 3.45.13; 3.46,17.20.36.37.50-52) । फलत: अर्जुन अज्ञातवास के दिनों में विराट के यहाँ बृहन्नला के रूप में 'क्लीब' (नपुंसक) बनकर रहा (महाभारत, 4.2.30) । इस पूर्व प्रसङ्ग की ओर संकेत करते हुए ही कृष्ण का अर्जुन से कहना है कि तुझमें पूर्व क्लैब्य उपपन्न था, क्योंकि वह तेरे धर्म का रक्षक था, किन्तु 'किसी पुरुष के लिए किसी कार्य को करने में अपने को असमर्थ समझनारूप जो 'क्लैब्य' (कायरता) है'- वह क्लैब्य (कायरता) तुझमें उचित नहीं है (एतत् त्वयि नोपपद्यते), क्योंकि तुझे वीरप्रसू पृथा का पुत्र होने के कारण इन्द्र का पराक्रम प्राप्त है, तू साक्षात् महादेव से युद्ध करने के कारण महान् प्रभावशाली है, तू परंतप है अर्थात् तू भयङ्कर से भयङ्कर शत्रुओं को भी तपा देने वाला है ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ 4॥

8 **भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं संख्ये रण इषुभिः सायकैः प्रतियोत्स्यामि प्रहरिष्यामि कथं ? न कथंचिदपीत्यर्थः । यतस्तौ पूजार्हौ कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ । पूजार्हाभ्यां सह क्रीडास्थानेऽपि वाचाऽपि हर्षफलकमपि लीलायुद्धमनुचितं किं पुनर्युद्धभूमौ शरैः प्राणत्यागफलकं प्रहरणमित्यर्थः । मधुसूदनारिसूदनेति संबोधनद्वयं शोकव्याकुलत्वेन पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात् । अतो न मधुसूदनारिसूदनेत्यस्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं दोषः । युद्धमात्रमपि यत्र नोचितं दूरे तत्र वध इति प्रतियोत्स्यामीत्यनेन सूचितम् ।**

9 **अथवा पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि । पूजार्हयोरेव विवरणं भीष्मं द्रोणं चेति । द्वौ ब्राह्मणौ भोजय देवदत्तं यज्ञदत्तं चेतिवत्संबन्धः । अयं भावः -- दुर्योधनादयो नापुरस्कृत्य भीष्मद्रोणौ युद्धाय सज्जीभवन्ति । तत्र ताभ्यां सह युद्धं न तावद्धर्मः पूजादिवदविहितत्वात् । न चायमनिषिद्ध-**

इस युद्ध का मैं त्याग कर रहा हूँ'---- संजय अर्जुन के अभिप्राय को अवतरित करता है ---

[अर्जुन ने कहा ---- हे मधुसूदन ! हे अरिसूदन ! मैं युद्ध में पूजा के योग्य भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के साथ बाणों से किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा ? ॥ 4 ॥]

8 मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के साथ युद्ध में=रण में बाणों से किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा अर्थात् उन पर बाणों से किस प्रकार प्रहार करूँगा ? अर्थात् किसी भी प्रकार प्रहार नहीं कर सकता, क्योंकि वे दोनों पूजा के योग्य हैं, पुष्पादि के द्वारा अर्चना के योग्य हैं । तात्पर्य यह है कि उन पूजनीयों के साथ तो क्रीड़ास्थल में भी वाणी से भी हर्ष उत्पन्न करने वाला भी लीलायुद्ध तक करना अनुचित है, फिर युद्धभूमि में बाणों से उन पर प्राण--त्याग करा देने वाला प्रहार करने की तो बात ही क्या है ? 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' --- ये दो सम्बोधन शोकाकुलता के कारण पूर्वापर का विवेचन न रहने से अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त किए गए हैं । अतः 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन'---- इनके अर्थ में पुनरुक्ति का होना दोष नहीं है । 'प्रतियोत्स्यामि'--- इस क्रियापद से यह सूचित किया गया है कि जिनके साथ युद्धमात्र भी उचित नहीं है उनका वध करने की बात तो दूर ही है ।

9 अथवा पूजनीयों के साथ मैं किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा । भीष्म और द्रोण --- ये दोनों पूजनीयों के ही विवरण रूप हैं । इनका सम्बन्ध 'देवदत्त और यज्ञदत्त दो ब्राह्मणों को भोजन कराओ[12],--- इस वाक्य के समान समझना चाहिए । भाव यह है कि दुर्योधन आदि भीष्म और द्रोण को आगे किए

---

12. इस वाक्य का स्वरूप इस प्रकार है - "द्वौ ब्राह्मणौ भोजय । कौ द्वौ ? देवदत्तं यज्ञदत्तं च " अर्थात् पहले किसी ने कहा - 'दो ब्राह्मणों को भोजन कराइए', तदुपरान्त जिज्ञासा हुई - 'किन दो को ?' तो जिज्ञासा शान्त करने के लिए कहा गया - 'देवदत्त और यज्ञदत्त को' । यहाँ वाक्य में देवदत्त और यज्ञदत्त को ब्राह्मण नहीं कहा गया है, किन्तु उपक्रम वाक्य के बल पर यह समझ लिया जाता है कि वे दोनों ब्राह्मण हैं । ठीक इसी प्रकार प्रकृत श्लोक में पहले कहा गया - ' पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि'- अर्थात् 'दो पूजा के योग्य व्यक्तियों के साथ किस प्रकार प्रतियुद्ध करूँगा'?, जिज्ञासा हुई - 'किन दो व्यक्तियों के साथ '?, तो जिज्ञासा शान्त करने के लिए कह दिया गया - 'भीष्मं द्रोणं च '। यहाँ भीष्म और द्रोण में पूजार्हत्व का ग्रहण उपक्रम वाक्य के बल पर हो जाता है ।

त्वादधर्मोऽपि न भवतीति वाच्यम्; 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादिना शब्दमात्रेणापि गुरुद्रोहो यदाऽनिष्टफलत्वप्रदर्शनेन निषिद्धस्तदा किं वाच्यं ताभ्यां सह सङ्ग्रामस्याधर्मत्वे निषिद्धत्वे चेति ॥ 4 ।

10 **ननु भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं गुरुत्वेनैव, एवमन्येषामपि कृपादीनां, न च तेषां गुरुत्वेन स्वीकारः सांप्रतमुचितः—**

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

इति स्मृतेः, तस्मादेषां युद्धगर्वेणावलिप्तानामन्यायराज्यग्रहणेन शिष्यद्रोहेण च कार्याकार्यविवेकशून्यानामुत्पथनिष्ठानां वध एव श्रेयानित्याशङ्क्याऽऽह—

बिना तो युद्ध के लिए तैयार हैं नहीं और उनके साथ युद्ध करना धर्म नहीं है, क्योंकि पूजादि के समान उसका विधान नहीं किया गया है । और यह भी नहीं कहना चाहिए कि शास्त्र में यह निषिद्ध न होने के कारण अधर्म भी नहीं है, क्योंकि 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य'[13]— इत्यादि स्मृति-वाक्य से जब शब्दमात्र से भी गुरुद्रोह अनिष्टफलदायक होने के कारण निषिद्ध कहा गया है तो उनके साथ संग्राम करना अधर्म और निषिद्ध है — इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ 4॥

10 'गुरु होने के कारण ही तो भीष्म और द्रोण की पूजनीयता है, इसी प्रकार कृप आदि अन्य गुरुजनों की भी पूजनीयता है, किन्तु इस समय इन्हें गुरुरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति में कहा गया है --- 'जो अवलिप्त अर्थात् गर्वित हो, कार्याकार्य को न जानता हो तथा उत्पथगामी हो, उस गुरु को भी त्याग देने का विधान है[14]'। अतः युद्ध के गर्व से गर्वित, अन्यायपूर्वक राज्य को

13. धर्म शास्त्र में कहा गया है -

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ॥'

अर्थात् जो व्यक्ति अपने गुरु का हुंकार या तुंकार शब्दों से निरादर करता है अथवा ब्राह्मण को विवाद में जीतता है, तो वह मृत्यु के पश्चात् श्मशान-भूमि में वृक्ष के रूप में जन्म ग्रहण करता है जिस पर गीध और कौवे निवास करते हैं । इसी प्रकार एक और शास्त्र-वचन है -

'गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ॥

अर्थात् जो गुरु से हुंकार या तुंकार पूर्वक भाषण करता है और ब्राह्मण को विवाद से जीतता है, वह जलशून्य जंगल में ब्रह्मराक्षस होता है ।

इसी आशय का एक श्लोक याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी आया है -

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
बद्ध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद् दिनम् ॥ (3.6.91)

अर्थात् जो व्यक्ति अपने गुरु का हुंकार, तूकार आदि शब्दों से निरादर कर बैठे, या ब्राह्मण को विवाद में जीत ले या वस्त्र से बांध डाले, तो उस व्यक्ति को शीघ्र ही उन्हें प्रसन्न करके एक दिन का उपवास करना चाहिए ।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मधुसूदन सरस्वती को पूर्वोद्धृत श्लोक ही अभिप्रेत है, क्योंकि उनके द्वारा उद्धृत स्मृति-वाक्य में उन्हें अनिष्टफल का प्रदर्शन भी अभीष्ट है जो कि पूर्वोद्धृत स्मृति-वाक्यों में प्राप्त है किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति-वाक्य में वह प्राप्त नहीं है वहाँ प्रायश्चित-विधान ही किया गया है ।

14. (अ) महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय सत्तावन, श्लोक सात ।

(ब) रामायण, अयोध्या काण्ड, अध्याय इक्कीस, श्लोक तेरह ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ 5॥

11 **गुरूनहत्वा परलोकस्तावदस्त्येव । अस्मिंस्तु लोके तैर्हृतराज्यानां नो नृपादीनां निषिद्धं भैक्षमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्यतरमुचितं न तु तद्वधेन राज्यमपि श्रेय इति धर्मेऽपि युद्धे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते ।**
नन्ववलिप्तत्वादिना तेषां गुरुत्वाभाव उक्त इत्याशङ्क्याऽऽह– महानुभावानिति । महाननुभावः श्रुताध्ययनतपआचारादिनिबन्धनः प्रभावो येषां तान् । तथा च कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्तेषां पुण्यातिशयशालिनां नावलिप्तत्वादिक्षुद्रपाप्मसंश्लेष इत्यर्थः । हिमहानुभावानित्येकं वा पदं, हिमं जाड्यमपहन्तीति हिमहा आदित्योऽग्निर्वा तस्येवानुभावः सामर्थ्यं येषां तान् । तथा चातितेजस्वित्वात्तेषामवलिप्तत्वादिदोषो नास्त्येव ।

ग्रहण करने और शिष्यों से द्रोह करने के कारण कार्याकार्य के विवेक से शून्य और उत्पथनिष्ठ अर्थात् कुमार्ग में प्रवृत्त इन गुरुजनों का वध करना ही अच्छा है '— ऐसी आशङ्का करके अर्जुन कहता है —

[इस लोक में इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर तो भिक्षा का अन्न भी खाना अच्छा है । इन अर्थलोलुप गुरुजनों को मारकर तो मैं केवल इस लोक में ही रुधिर से सने हुए भोगों को भोग सकूँगा ।। 5 ।।]

11 गुरुजनों को न मारकर परलोक तो है ही, इस लोक में भी उनके द्वारा राज्य हर लिए जाने पर हम नृपादि के लिए निषिद्ध भैक्ष[15]= भिक्षा का अन्न भी खाना श्रेयस्कर = प्रशस्यतर अर्थात् उचित है, न कि उनका वध करके राज्य भोगना भी अच्छा है । इस प्रकार स्वधर्म होने पर भी युद्ध में केवल आजीविकामात्र ही फल है[16]— ऐसा स्वीकार कर उसमें पाप का आरोप करके कहता है ।

(स) उद्धृत स्मृति-वाक्य में उत्पथगामी गुरु के त्याग का विधान कहा गया है, वध का नहीं, अत: इस स्मृति-वाक्य के अनुसार 'वध एव श्रेयान्' - यह आशङ्का नहीं की जा सकती, किन्तु द्रोणादि में उक्त स्मृति-वाक्य के अनुसार गुरुभाव का परित्याग हो जाने से फलस्वरूप सामान्य आततायी होने के कारण ही उनमें वध्यता प्राप्त हो जाती है ।

15. भैक्षम् = भिक्षाणां समूहः (भिक्षा का समूह) = 'भैक्षम्' पद समूह अर्थ में'भिक्षा' शब्द से ' भिक्षादिभ्योऽण्' (पाणिनिसूत्र, 4.2.38) सूत्र द्वारा'अण्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है । यहाँ ' भिक्षा' का अर्थ 'अन्न' और 'भैक्ष' का अर्थ अन्न का समूह या विविध अन्न है । तथा 'भिक्षा' माँगने का भी नाम है (अर्थात् 'भिक्षा' शब्द माँगने के अर्थ में 'भिक्ष्' धातु ('भिक्ष् याच्ञायाम्' भ्वादिगण, आत्मनेपद, सेट्) से 'गुरोश्च हलः' (पाणिनि सूत्र, 3.3.103) सूत्र द्वारा स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है) और मांगने से मिले अन्न आदि को भी भिक्षा कहा जाता है, फलतः 'भैक्ष' का अर्थ भिक्षा में प्राप्त अन्न = पदार्थ-समूह होता है, जैसा कि अमरकोशकार ने कहा है -'भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्' । प्रकृत प्रसंग में अर्जुन राजकुमार होते हुए भी गुरुजनों का वध करने से प्राप्त होने वाले राज्यभोग की अपेक्षा 'भैक्ष' = भिक्षा में प्राप्त हुए अन्न के भोग को श्रेयस्कर समझता है ।

16. युद्ध दो प्रकार का होता है – वृत्तिफलक और धर्मफलक । 'वृत्तिफलक' युद्ध वह होता है जो मात्र जीविका के लिए राज्यलाभ के उद्देश्य से किया जाता है, वह धर्मयुद्ध नहीं होता । ' धर्मफलक' युद्ध वह होता है जो अन्याय का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से दुष्टदमन करने के लिए किया जाता है, वह वृत्तिफलक नहीं होता । इसमें प्रधानतः धर्म ही फल होता है, राज्यादि का लाभ तो उसमें आनुषंगिक फल है । ऐसे युद्ध में यदि गुरुजन भी

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥'

12 **ननु यदाऽर्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यं, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति**

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः' ॥

पुनः भगवान् की ओर से यह आशङ्का करके कि 'गर्वत्व आदि के कारण इनमें गुरुत्व का अभाव कहा गया है' --- अर्जुन कहता है --- 'महानुभावों को' अर्थात् शास्त्रश्रवण, अध्ययन, तप और आचार आदि के कारण जिनका महान् अनुभाव अर्थात् प्रभाव है ऐसे इन गुरुजनों को । तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काल, कामादि को भी अपने वश में कर लिया है ऐसे इन अतिशय पुण्यशालियों को गर्वत्वादि क्षुद्र पापों का संसर्ग नहीं हो सकता । अथवा 'हिमहानुभावान्' --- यह एक पद है । जो हिम = जडता (जाडे) का हनन करता है उसे हिमहा अर्थात् सूर्य या अग्नि कहते हैं । उस हिमहा = सूर्य या अग्नि के सदृश है अनुभाव = सामर्थ्य जिनका उन गुरुजनों को । इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण उनमें गर्वत्वादि दोष नहीं हैं, जैसा कि कहा भी गया है ---- 'समर्थ पुरुषों में कभी कभी धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है । वह उन तेजस्वियों के लिए दोष का कारण नहीं होता, जैसे सर्वभुक् अग्नि को दुष्ट पदार्थ भी ग्रहण करने से कोई दोष नहीं लगता'[17] ।

12 पुनरपि भगवान् की ओर से ऐसी आशङ्का करके कि 'जब ये अर्थलोलुप होकर ही युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं, तो अपने आत्मा को बेच देने वाले इन भीष्मादि का पूर्वोक्त माहात्म्य तो कैसे हुआ ? और फिर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा भी है ---- 'पुरुष ही अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है । महाराज । यह सत्य है, इसीलिए मुझे कौरवों ने अर्थ से बांध रखा है'[18] ---- अर्जुन कहता है ---- 'हत्वा' --- इत्यादि । 'अर्थलोलुप होने पर भी वे मेरी अपेक्षा गुरु तो हैं ही' --- ऐसा श्लोक के उत्तरार्ध में पुनः 'गुरु' शब्द के ग्रहण करने से कहा गया है । यहाँ 'तु' शब्द 'अपि'(भी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ऐसे गुरुजनों को मारकर भी मैं केवल भोगों को ही प्राप्त कर सकता हूँ, मोक्ष तो प्राप्त नहीं कर सकूँगा । जिनका भोग किया जाता है वे भोग = विषय कहलाते हैं ।

प्रतिपक्ष के रूप में सम्मुख स्थित हों तब उनका वध-करना कोई पाप नहीं है । किन्तु अर्जुन यहाँ यह सोचता है कि हमलोग तो इस युद्धभूमि में मात्र आजीविका के उद्देश्य से राज्यलाभ के लिए ही वृत्तिफलक युद्ध करने में उद्यत हुए हैं, अतः भ्रान्त धारणावश इस प्रकार के युद्ध को धर्म मानने पर भी वह प्रकृत अधर्म ही है । ऐसे घोर अधर्म का आश्रय लेकर गुरुजनों का वध करने से प्राप्त होने वाले राज्य-भोग की अपेक्षा भिक्षा में प्राप्त अन्न का भोग श्रेयस्कर है ।

17. (अ) भागवत --पुराण, स्कन्ध दश, अध्याय चौंतीस, श्लोक तीस ।

(ब) सोमेश्वर भट्ट के अनुसार लोभ आदि के वशीभूत हो सन्निहित अनर्थ को न देखकर अधर्म का आचरण करना 'धर्म व्यतिक्रम' है, जैसे — प्रजापति का अपनी दुहिता और इन्द्र का अहल्या के साथ अगम्यगमन करना धर्म व्यतिक्रम है । तथा बल के दर्प में आकर उपस्थित अनर्थ की उपेक्षा करके अधर्म का आचरण करना 'साहस' है, जैसे -- विश्वामित्र द्वारा ब्राह्मण-शाप से चाण्डाल बने त्रिशङ्कु को याग कराना, भीष्म का अनाश्रमी रहना और बिना पत्नी के श्रौत याग करना इत्यादि साहस के दृष्टन्त हैं । "लोभाद्यभिभवाद् सन्निहितानर्थादर्शनेनेनाधर्माचरणं धर्मव्यतिक्रमः । दृष्टस्याप्यनर्थस्य बलदर्पेणानादरादधर्माचरणं साहसम्"— सोमेश्वर भट्ट ।

18. महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय तैंतालीस, श्लोक छप्पन ।

इत्याशङ्क्याऽऽह– हत्वेति । अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणेनोक्तम् । तुशब्दोऽप्यर्थे ईदृशानपि गुरून्हत्वा भोगानेव भुञ्जीय नतु मोक्षं लभेय । भुज्यन्त इति भोगा विषयाः कर्मणि घञ् । ते च भोगा इहैव न परलोके । इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवापयशो-व्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः । यदेहाप्येवं तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः ।

13 **अथवा गुरून्हत्वाऽर्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय नतु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ 5 ॥**

14 **ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह —**

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम--
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ 6 ॥

यहाँ 'भोग'[19] शब्द 'भुज्' धातु से कर्म में 'घञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । वे भोग भी इस लोक में ही प्राप्त होंगे परलोक में नहीं । और यहाँ भी वे मानो रुधिर से सने हुए होंगे अर्थात् अपयश से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त जुगुप्सित = घृणित होंगे । भाव यह है कि जब यहाँ भी ऐसा है तो परलोक के दुःख का तो कहाँ तक वर्णन किया जाय ।

13 अथवा, गुरुजनों को मारकर तो अर्थात्मक और कामात्मक भोगों को ही भोगूँ, धर्म और मोक्ष को तो प्राप्त नहीं कर सकूंगा — इस प्रकार 'अर्थकाम' पद को 'भोग' शब्द का विशेषण मानने से यह दूसरी व्याख्या की जा सकती है [20] । (अर्थात् श्लोक के उत्तरार्ध का अन्वय -- 'गुरून् हत्वा तु इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव भुञ्जीय' --- इस प्रकार करने से उक्त दूसरी व्याख्या की जा सकती है ।) ॥ 5 ॥

14 भगवान् की ओर से पुनः यह आशङ्का करके कि 'क्षत्रिय के लिए भिक्षा मांगकर खाना तो निषिद्ध है और युद्ध विहित है, अतः स्वधर्म होने के कारण तेरे लिए युद्ध ही श्रेयस्कर है',-- अर्जुन कहता है-- [हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और भिक्षा मांगना ---- इन दोनों में से कौन सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि इस युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे । और जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे धार्तराष्ट्र = धृतराष्ट्र के सम्बन्धी भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सम्मुख अवस्थित हैं ॥ 6 ॥]

19. 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पाणिनिसूत्र, 3.3.19) सूत्र के अनुसार कर्ता से भिन्न कारक अर्थ में संज्ञा में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है । 'भोग' शब्द 'भुज्' धातु से 'भुज्यन्त इति' अर्थात् जिनका भोग किया जाता है — इस प्रकार कर्म अर्थ में 'अकर्तरि; इत्यादि सूत्र द्वारा 'घञ्~' प्रत्यय होने पर जकार को 'चजोः कुः घिण्ण्यतोः' सूत्र से गकार होकर निष्पन्न हुआ है ।

20. इस श्लोक के द्वारा श्री भगवान् ने इसी अध्याय के द्वितीय और तृतीय श्लोकों में 'अनार्यजुष्टम्' इत्यादि शब्दों के द्वारा अर्जुन को युद्ध से विरत देखकर जो तिरस्कार किया उसका प्रतिवाद कर अर्जुन प्रत्युत्तर में कह रहा है कि युद्ध करने से ही 'अनार्यजुष्ट' आदि दोषों से युक्त होना पडेगा, युद्ध न करने से नहीं । (क) महान् प्रभावशाली भीष्म, द्रोणादि के साथ युद्ध करने से ही ' अनार्यजुष्ट' होना पडेगा, क्योंकि कोई भी नीति-शास्त्र ऐसे गुरुजनों के साथ युद्ध की अनुमति नहीं देता । (ख) गुरुजनों का वध करने से प्राप्त राज्य-भोग जागतिक वस्तु

15 **एतदपि न जानीमो भैक्षयुद्धयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः = श्रेष्ठं, किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति । इदं च न विद्म आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः । उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः ।**

16 **किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव । यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः किं पुनर्विषयानुपभोक्तुं ? त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि । तस्माद्भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः ।**

17 **तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणादधिकारिविशेषणान्युक्तानि । तत्र 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' कठो० (2.1) इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम् । अर्थाच्च तदितरदश्रेय इति नित्यानित्य-**

---

15 हम यह भी नहीं जानते कि भैक्ष और युद्ध-- इन दोनों में से हमारे लिए क्या गरीय = श्रेष्ठ है ? हिंसा से शून्य होने के कारण क्या भैक्ष श्रेष्ठ है या स्वधर्म होने के कारण युद्ध ? हम यह भी नहीं जानते कि युद्ध प्रारम्भ होने पर भी हम जीतेंगे अर्थात् हम प्रमुख रहेंगे या वे धार्तराष्ट्र = धृतराष्ट्र के पुत्र = धृतराष्ट्र के सम्बन्धी भीष्म--द्रोणादि हमें जीतेंगे । इससे अर्थतः दोनों ओर की समानता का पक्ष भी समझ लेना चाहिए ।

16 इसके अतिरिक्त यदि विजय हो भी गई तो वह फलतः हमारी पराजय ही होगी, क्योंकि जिन बन्धुओं को मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, विषयों को भोगने की तो बात ही क्या, वे धार्तराष्ट्र अर्थात् धृतराष्ट्र के सम्बन्धी सभी भीष्म-द्रोण आदि हमारे सम्मुख अवस्थित हैं । अतः तात्पर्य यह है कि भैक्ष से युद्ध की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती ।

17 इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से संसार के दोषों का निरूपण किए जाने के कारण अधिकारी[21] के विशेषण कहे गये हैं । इसमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' (गीता, 1.31ब) – इस श्लोक से रण में मारे हुए व्यक्ति का संन्यासी के समान योग--क्षेम कहकर 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' (कठोपनिषद् 2.1)-- अर्थात् 'श्रेय अन्य है और प्रेय अन्य है ' -- इत्यादि श्रुति से सिद्ध मोक्ष नामक श्रेय का उल्लेख किया है । अर्थात् 'मोक्ष से भिन्न अन्य सब कुछ अश्रेय है ' -- इस प्रकार के ज्ञान से नित्यानित्यवस्तुविवेक[22] दिखाया है । 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' -- इस वाक्य से ऐहिक फल से वैराग्य तथा 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य

होने के कारण इस लोक में ही भोगने होंगे, परलोक में नहीं, अतः यह युद्ध 'अस्वर्ग्य' होगा । (ग) गुरुजनों के रुधिर से सने हुए भोगों को भोगने से इस लोक में भी अपयश का भागी होना होगा, अतः यह युद्ध 'अकीर्तिकर' होगा । फलतः युद्ध न कर भिक्षावृत्ति का भी अवलम्बन करने से इन सभी दोषों की कोई सम्भावना नहीं है । निष्कर्षतः मेरा युद्ध न करना ही उचित है, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है ।

21.ब्रह्मविद्या का अधिकारी वह जिज्ञासु है जिसने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में वेद-वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदान्त के अर्थ को समझ लिया है तथा जिसका अन्तःकरण काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व -- साधनचतुष्टय से सम्पन्न है । ('अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता'— वेदान्तसार) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने अर्जुन को संसार के दोषों का पूर्णतः ज्ञान हो जाने के कारण नित्यानित्यवस्तुविवेकादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या का अधिकारी कहा है ।

वस्तुविवेको दर्शितः, न काङ्क्षे विजयं कृष्णेत्यत्रैहिककफलविरागः, अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरित्यत्र पारलौकिकफलविरागः, नरके नियतं वास इत्यत्र स्थूलदेहातिरिक्त आत्मा, किं नो राज्येनेति व्याख्यातवर्त्मना शमः, किं भोगैरिति दमः, यद्यप्येते न पश्यन्तीत्यत्र निर्लोभता, तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यत्र तितिक्षा, इति प्रथमाध्यायार्थः संन्याससाधनसूचनम्। अस्मिंस्त्वध्याये श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः ॥ 6 ॥

18 **गुरूपसदनमिदानीं प्रतिपाद्यते समधिगतसंसारदोषजातस्यातितरां निर्विण्णस्य विधिवद्गुरुमुपसन्नस्यैव विद्याग्रहणेऽधिकारात्। तदेवं भीष्मादिसंकटवशात् 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० 3.5.1) इति श्रुतिसिद्धभिक्षाचर्येऽर्जुनस्याभिलाषं प्रदर्श्य विधिवद्गुरूपसत्तिमपि तत्संकटव्याजेनैव दर्शयति—**

हेतोः '-- इस वाक्य से पारलौकिक फल से वैराग्य[23] दिखाया है। 'नरके नियतं वासः' — यहाँ आत्मा को स्थूलशरीर से भिन्न कहा है। 'किं नो राज्येन'-- इस व्याख्यान शैली से शम[24], 'किं भोगैः' -- इससे दम[25], 'यद्यप्येते च पश्यन्ति' -- इससे निर्लोभता, और 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' -- इससे तितिक्षा[26] प्रदर्शित की है। इस प्रकार प्रथम अध्याय का अर्थ संन्याससहित जिज्ञासु के साधनों को ही सूचित करना है। इस अध्याय में तो 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' – इस वाक्य से भिक्षाचर्या द्वारा उपलक्षित संन्यास का प्रतिपादन किया है ॥ 6 ॥

18 अब गुरूपसत्ति[27] का प्रतिपादन किया जा रहा है, क्योंकि जो संसार के दोषों को जानकर अत्यन्त विरक्त हो जाता है और विधिवत् गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है उसे ही ब्रह्मविद्या के ग्रहण का अधिकार है। इस प्रकार भीष्मादिरूप संकट के कारण 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० 3.5.1), अर्थात् 'पुत्रैषणादि से विमुख होकर भिक्षाचर्या करते हैं' – इस श्रुति से सिद्ध भिक्षाचर्या में अर्जुन की अभिलाषा (प्रवृत्ति) दिखाकर उस संकट के व्याज से ही उसकी विधिवत् गुरूपसत्ति भी दिखाते हैं --

22.'नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्'— (वेदान्तसार) — अर्थात् नित्यानित्यवस्तुविवेक वह है जिसके अन्तर्गत 'ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य है' — यह विवेचन होता है।

23. इहामुत्रार्थफलभोगविराग वह है जिसके अनुसार कर्मजन्य होने के कारण अनित्य — माल्य, चन्दन और स्त्री आदि ऐहिक विषय भोगों के समान पारलौकिक अमृतादि विषयों के भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरक्ति होती है। ('ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादि विषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविराग :'— (वेदान्तसार)।

24.'शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रह :' —(वेदान्तसार), अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से अतिरिक्त विषयों से मन को हटाना 'शम' कहलाता है।

25. 'दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्त्तनम्' —(वेदान्तसार), अर्थात् श्रवण–मननादि से अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों को हटाना 'दम' कहलाता है।

26.'तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता'—(वेदान्तसार), अर्थात् शीत-उष्ण, जय-पराजय, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना 'तितिक्षा' कहलाता है।

27. (अ) जो व्यक्ति संसार के दोषों को जानकर अत्यन्त वैराग्यवान् होकर साधनचतुष्टय से सम्पन्न होता है वही तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए वह गुरु की शरण ग्रहण करता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है —'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' — अर्थात् उस आत्मतत्त्व को जानने के लिए अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए वह गुरु के समीप जाय'। यहाँ भी श्रेय की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण का शिष्यत्व वरण कर श्रीकृष्ण (गुरु) की शरण ग्रहण की है, क्योंकि वह मुमुक्षु ब्रह्मविद्या (तत्त्वज्ञान) का अधिकारी है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वा धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ 7 ॥

19 **यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः । तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' (बृह० 3.8.10) इति श्रुतेः । तस्य भावः कार्पण्यमनात्माध्यासवत्त्वं तन्निमित्तोऽस्मिञ्जन्मन्येत एव मदीयास्तेषु हतेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममतालक्षणो**

[कृपणतारूप दोष के कारण उपहत हुए स्वभाववाला और धर्म के विषय में विमूढ चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेय हो वह मुझे बताइए । मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिए ।।7 ।।]

19 जो स्वल्प भी आर्थिक क्षति को सहन नहीं कर सकता वह 'कृपण' कहा जाता है –यह लोक में प्रसिद्ध है । ऐसे ही होने के कारण समस्त अनात्मविद् परमपुरुषार्थ को प्राप्त न करने से 'कृपण'[28] ही होते हैं । जैसा कि श्रुति में कहा गया है – 'हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर पुरुष को (सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म को) न जानकर इस लोक से चला जाता है वह 'कृपण' कहा जाता है' (बृह० 3.8.10) ।

(ब) मधुसूदन सरस्वती ने अपने गतश्लोक (2. 6) के व्याख्यान में अधिकारी मुमुक्षु (अर्जुन) के नित्यानित्यवस्तुविवेकादि साधनचतुष्टय का निरूपण करके यहाँ उस अधिकारी के लिए परम अपेक्षित साधन 'गुरूपसत्ति' का उल्लेख किया है, जो कि प्रासङ्गिक और उचित ही है, क्योंकि बिना गुरूपदेश के तत्त्वज्ञान नहीं होता और उस तत्त्वज्ञान का उपदेश श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन (मुमुक्षु) को 'अशोच्यान्' इत्यादि ग्रन्थ से आगे किया ही जा रहा है ।शंकराचार्य ने भी अपने गीताभाष्य (2. 11) में कहा है कि 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' (गीता, 1. 2) से लेकर 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (गीता, 2.9) तक के ग्रन्थ से अर्जुन के संसार के बीजभूत शोक और मोह प्रदर्शित किए गए हैं और उनकी निवृत्ति सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान से ही हो सकती है । अतः भगवान् वासुदेव सर्वलोकानुग्रहार्थ अर्जुन को निमित्त बनाकर 'अशोच्यान्' इत्यादि से उस आत्मज्ञान का उपदेश कर रहे हैं । फलतः स्पष्ट है कि मधुसूदन सरस्वती ने शंकराचार्य का ही अनुमोदन किया है, इसीलिए उन्होंने गत श्लोक (2.6) के व्याख्यान में तत्त्वज्ञानार्थ अर्जुन की साधनचतुष्टय से सम्पन्नता दिखा कर इस श्लोक में 'गुरूपसत्ति' साधनविशेष का उल्लेख किया है । किन्तु आनन्दगिरि ने शांकर-गीता-भाष्य के — 'तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं निमित्तीकृत्याह' — वाक्य की व्याख्या में कहा है — 'नहि तस्यामवस्थायामर्जुनस्य भगवता यथोक्तज्ञानमुपदेष्टुमिष्टं किन्तु स्वधर्मानुष्ठानात् बुद्धिशुद्ध्युत्तरकालम्'— अर्थात् भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को शोक और मोह की अवस्था में यथोक्तज्ञान का उपदेश नहीं किया है, अभी उन्होंने अर्जुन को स्वधर्म का उपदेश किया है, इसके अनुष्ठान से जब अर्जुन (साधक) का अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, तब तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे । इसलिए यहाँ तत्त्वज्ञान के उपदेश के अभाव में तत्त्वज्ञान के साधन-चतुष्टयादि का निरूपण अप्रासङ्गिक है । आनन्दगिरि ने यहाँ साधन-चतुष्टयादि के निरूपण की अप्रासङ्गिकता तो बताई है, किन्तु यह कुछ नहीं कहा है कि यह साधन-निरूपण अन्यत्र कहाँ प्रासङ्गिक रूप से निरूपित है या निरूपित होगा । अतः स्पष्ट है कि आनन्दगिरि का कथन अपूर्ण होने से स्वीकार्य नहीं है । फलतः मधुसूदन सरस्वती का विचार स्वीकार्य है । वह सर्वथा प्रासङ्गिक और उचित है ।

28. जो व्यक्ति अति अल्प अर्थ का क्षय सहन नहीं कर सकता है, वह अर्थव्यय से जो सांसारिक सुख प्राप्त हो सकता है उससे भी वंचित रहता है, लोकसमाज उसे 'कृपण' कहता है । ऐसे ही जो लोग अज्ञानी हैं वे भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यन्त तुच्छ सांसारिक भोग का त्याग नहीं कर सकते हैं, और फलतः वे लोग परमपुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमानन्दस्वरूप चरमभोग से वंचित रहते हैं । अतः वे भी आध्यात्मिक दृष्टि से 'कृपण' ही होते हैं ।

दोषस्तेनोपहतस्तिरस्कृतः स्वभावः क्षात्रो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य स तथा । धर्मे विषये निर्णायकप्रमाणादर्शनात्संमूढं किमेतेषां वधो धर्मः किमेतत्परिपालनं धर्मः । तथा किं पृथ्वीपरिपालनं धर्मः किं वा यथावस्थितोऽरण्यनिवास एव धर्म इत्यादिसंशयैर्व्याप्तं चेतो यस्य स तथा । 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यत्र व्याख्यातमेतत् । एवंविधः सन्नहं त्वा त्वामिदानीं पृच्छामि श्रेय इत्यनुषङ्गः ।

20 अतो यन्निश्चितमैकान्तिकमात्यन्तिकं च श्रेयः परमपुमर्थभूतं फलं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि । साधनानन्तरमवश्यंभावित्वमैकान्तिकत्वं, जातस्याविनाश आत्यन्तिकत्वम् । यथा ह्यौषधे कृते कदाचिद्रोगनिवृत्तिर्न भवेदपि जाताऽपि च रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते, एवं कृतेऽपि यागे प्रतिबन्धवशात्स्वर्गो न भवेदपि जातोऽपि स्वर्गो दुःखाक्रान्तो नश्यति चेति नैकान्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा तयोः । तदुक्तम्–

कृपण का भाव ही 'कार्पण्य'[29] है, जो अनात्माध्यास से युक्त होता है । अनात्माध्यास के ही कारण 'इस जन्म में ये मेरे हैं, इनके मारे जाने पर जीवन का क्या प्रयोजन है ? – इस प्रकार का अभिनिवेश रूप ममता-दोष हुआ है । ममता-दोष से जिसका स्वभाव अर्थात् युद्धोद्योगरूप क्षत्रियत्व उपहत = तिरस्कृत हो गया है वैसा मैं । तथा धर्म के विषय में निर्णायक प्रमाण न देखने से जिसका चित्त मूढ हो रहा है अर्थात् जिसका चित्त 'इनका वध करना धर्म है या इनका पालन करना धर्म है ? अथवा पृथ्वी का पालन धर्म है या जैसे वन में थे वैसे ही वन में रहना ही धर्म है '? — इत्यादि संशयों से व्याप्त है वैसा मैं । अर्थात् ऐसा होने के कारण मैं इस समय आपसे श्रेय के विषय में पूछता हैं — इस प्रकार सम्बन्ध है । इस स्थिति की 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इस वाक्य में व्याख्या की गई है ।

20 अतः जो निश्चित अर्थात् ऐकान्तिक और आत्यन्तिक श्रेय अर्थात् परमपुरुषार्थरूप फल हो वह मुझे बताइए । साधन के अनन्तर फल का अवश्य होना ऐकान्तिकता है और उत्पन्न हुए फल का विनाश न होना 'आत्यन्तिकता' है । जैसे ओषधि करने पर कदाचित् रोगनिवृत्ति न भी हो और उत्पन्न रोगनिवृत्ति पुनः रोगोत्पत्ति से विनष्ट हो जाय, इसी प्रकार यज्ञ करने पर भी प्रतिबन्ध के कारण स्वर्ग न भी मिले और स्वर्ग मिलने पर भी वह दुःखाक्रान्त रहे तथा नष्ट हो जाय -- तो इन दोनों – ओषधि- प्रयोग और यज्ञानुष्ठान -- की ऐकान्तिकता और आत्यन्तिकता नहीं होगी । कहा भी गया है –

---

29. कार्पण्यम् = कृपणस्य भावः कर्म वा (कृपण का भाव या कर्म) । 'कार्पण्य' शब्द 'कृपण' शब्द से भाव अर्थ में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ' (पाणिनिसूत्र 5.1.124) सूत्र द्वारा 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है ।

30. 'आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्, तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च'— आत्मा अर्थात् शरीर या मन से उत्पन्न दुःख को 'आध्यात्मिक दुःख' कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है — शारीरिक और मानसिक । वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को ' शारीरिक' कहते हैं (शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्) । शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है – एक स्वाभाविक जैसे –भूख-प्यासादि से उत्पन्न ; दूसरा त्रिदोष-जन्य जैसे ज्वर-अतिसार आदि । काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को 'मानसिक' कहते हैं (मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्) । वस्तुतः ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं । जैसे -- अन्न से भूख, जल से प्यास, ओषधि से ज्वरादि रोग, इन्द्रिय-निग्रह से काम, दया से क्रोध, दान से लोभ, विवेचन से मोह, तत्त्वज्ञान से भय, उदारता से ईर्ष्या तथा असंग से विषाद की निवृत्ति होती है । ये सभी साधन या उपाय शरीर या मन के अन्दर प्रयुक्त होने से आन्तरिक हुए, अतएव इनके द्वारा साध्य या निवर्तनीय दुःख आन्तरिक या आध्यात्मिक कहलाते हैं ।

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्' ॥ (सां० का० 1) इति
'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' ॥ (सां० का० 2) इति च

21 ननु त्वं मम सखा न तु शिष्योऽत आह– शिष्यस्तेऽहमिति । त्वदनुशासनयोग्यत्वादहं तव शिष्य एव भवामि न सखा न्यूनज्ञानत्वात् । अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि शिक्षय करुणया

"आध्यात्मिक[30], आधिभौतिक[31] और आधिदैविक[32] – इस त्रिविध दुःख के प्रहार से उसको दूर करने वाले शास्त्रीय साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है । यदि कोई यह कहे कि दुःख-विनाश का लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण वह शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है, तो उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस लौकिक उपाय से दुःखत्रय की ऐकान्तिक[33] (अनिवार्यतः) और आत्यन्तिक[34] (सार्वकालिक) निवृत्ति नहीं होती" – (सांख्य–कारिका, 1) ।

"आनुश्रविक[35] (वैदिक) कर्मकलापरूप उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही दुःखत्रय की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ है, क्योंकि वह अशुद्धि[36] (मल), क्षय[37] (विनाश) और अतिशयता[38] (न्यूनाधिक्य--विषमता) दोष से युक्त है । व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारणरूप प्रकृति) और चिद्रूप पुरुष के विवेक-ज्ञान से उत्पन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर है"--- (सांख्यकारिका 2) ।

21 यदि भगवान् कहें कि 'तू तो मेरा सखा है, शिष्य नहीं'—तो अर्जुन कहता है — 'मैं आपका शिष्य हूँ'---- इत्यादि । आपके अनुशासन के योग्य होने के कारण मैं आपका शिष्य ही हूँ, सखा

31.'आधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्' — मनुष्य, पशु पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख 'आधिभौतिक' कहा जाता है ।

32.'आधिदैविकं यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्' – यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख 'आधिदैविक' कहलाता है । आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख बाह्य उपायों से साध्य होते हैं । यद्यपि सभी दुःख मन के धर्म होने के कारण मानसिक ही होते हैं, अतएव आध्यात्मिकादि रूप से उनका विभाजन सम्भव नहीं है, तथापि ऐसा इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न शारीरिक, आधिभौतिक या आधिदैविक है ।

33.दुःख की नियत रूप से– अनिवार्य रूप से– अवश्यमेव निवृत्ति होना 'ऐकान्तिकता' है (एकान्तो — दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः)।

34. निवृत्त दुःख का फिर उत्पन्न नहीं होना 'आत्यन्तिकता' है (अत्यन्तो -- निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः) ।

35. 'गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः, तत्र भवः आनुश्रविकः' — गुरूपदेश के अनन्तर सुने जाने के कारण वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि वेद सुना ही जाता है, रामायणादि अन्य सुने जाने वाले ग्रन्थों की भांति किसी के द्वारा प्रणीत नहीं है अर्थात् वेद अपौरुषेय है । अनुश्रव (वेद) में प्रतिपादित याग आदि कर्मकलाप को यहां 'आनुश्रविक' कहा गया है ।

36. सोमादि यज्ञों का पशु-हिंसा तथा बीजनाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही वैदिक-कर्मकाण्ड की 'अशुद्धि' या मलिनता है । जैसा कि भगवान् पञ्चशिखाचार्य ने कहा है — 'स्वल्पः सपरिहारः सङ्करः सप्रत्यवमर्षः' ।

37. स्वर्गादि 'भाव' पदार्थ होते हुए दूसरे के कार्य (फल) हैं, इसी से उनका 'क्षयित्व' या अनित्यत्व सिद्ध है । (एकाहादीनां सत्राणां दिनपरिमाणवतां कारणानां परिमाणवदेव स्वर्गादिकार्यं दृष्टं, कारणानुगमत्वात् कार्यस्य । परिमाणवन्मृत्पिण्डात् परिमाणवानेव घटः स्यात् । एवमानुश्रविकाणां फलपरिमाणत्वात् पुनः क्षयः) ।

38. ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, परन्तु वाजपेय आदि स्वाराज्य अर्थात् स्वर्गाधिपति 'इन्द्र' होने के साधन हैं । यही एक की अपेक्षा दूसरे की 'अतिशयता' है ।

न त्वशिष्यत्वशङ्कयोपेक्षणीयोऽहमित्यर्थः । एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड० 1.2.12) 'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० 3.1) इत्यादिगुरूपसत्तिप्रतिपादकः श्रुत्यर्थो दर्शितः ॥ 7 ॥

22 **ननु स्वयमेव त्वं श्रेयो विचारय श्रुतसंपन्नोऽसि किं परशिष्यत्वेनेत्यत आह--**

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥8॥

23 **यच्छ्रेयः प्राप्तं सत्कर्तृ मम शोकमपनुद्यादपनुदेन्निवारयेतन्न पश्यामि हि यस्मात्तस्मान्मां शाधीति 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' (छां० 7.1.3) इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । शोकानपनोदे को दोष इत्याशङ्क्य तद्विशेषणमाह-- इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति । सर्वदा संतापकरमित्यर्थः ।**

नहीं, क्योंकि मैं आपसे ज्ञान में न्यून हूँ । अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप कृपा करके मुझे उपदेश कीजिए । तात्पर्य यह है कि मुझे अशिष्य समझकर आप मेरी उपेक्षा न करें । इससे 'उस आत्मतत्त्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय[39] और ब्रह्मनिष्ठ[40] गुरु की ही शरण में जाना चाहिए'-- (मुण्डकोपनिषद्, 1.2.12), तथा 'वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और बोला -- भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए' -- (तै० 3.1), इत्यादि - गुरूपसत्ति के प्रतिपादक श्रुतियों के अर्थ को दिखाया गया है ॥7 ॥

22 यदि भगवान् कहें कि 'तुम तो श्रुतसम्पन्न (वेदज्ञ) हो, इसलिए स्वयं ही श्रेय का विचार करो, किसी दूसरे के शिष्यत्व को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है', तो अर्जुन कहता है ---
[पृथ्वी का शत्रुहीन-निष्कण्टक समृद्ध राज्य और देवताओं का आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर भी मुझे वह श्रेय दिखाई नहीं देता जो कि मेरी इन्द्रियों के शोषणकारी शोक को दूर कर सके ॥8 ॥]

23 'अपनुद्यात्' ---इस क्रिया का कर्त्ता रूप जो श्रेयं प्राप्त होने पर मेरे शोक का अपनोदन = निवारण कर दे वह मुझे दिखाई नहीं देता[41] ।हि = यस्मात् = क्योंकि ऐसा है, अतएव आप मुझे उपदेश कीजिए । इस प्रकार यहाँ यह श्रुत्यर्थ दिखाया है --''एक दिन सर्वशास्त्रविद् नारद ने ऋषि सनत्कुमार

39. वेद-वेदाङ्ग के पारङ्गत या वेदान्तार्थ के पारङ्गत को 'श्रोत्रिय' कहते हैं (श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारगत्वं वेदान्तार्थपारगत्वं वा प्रकृतोपयोगात्) । पाणिनि के 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (पाणिनिसूत्र, 5. 2. 84) सूत्र के अनुसार वेदों का अध्येता 'श्रोत्रिय' कहलाता है । बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार श्रोत्रिय को पाप और कामना से रहित होना चाहिए (यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः (बृह० 4. 3. 33) ।

40. एकमात्र ब्रह्म में निष्ठा-आस्था (निश्चयेन स्थितिः) रखने वाले पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है । सदानन्द ने वेदान्तसार में ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' संज्ञा दी है ।

41. यहाँ अर्जुन के कहने का तात्पर्य यह है कि शोक की उत्पत्ति अज्ञान से होती है । जब तक अज्ञान रहता है तब तक द्वैत-बुद्धि भी रहती है । जब तक ब्रह्मज्ञान या सर्वत्र आत्मा का एकत्व दर्शन न हो तब तक किसी का भी शोक या भय निवृत्त होना असम्भव है । मेरा भी शोक अज्ञानजन्य है, वह किसी भी राज्यलाभादि और इन्द्रत्वप्राप्ति आदि से निवृत्त नहीं हो सकता, मेरी शोकनिवृत्ति का मात्र उपाय आत्मज्ञान का उपदेश ही है, अतएव आप मुझे उपदेश कीजिए ।

24 **ननु युद्धे प्रयतमानस्य तव शोकनिवृत्तिर्भविष्यति जेष्यसि चेत्तदा राज्यप्राप्त्या 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके' इत्यादिधर्मशास्त्रादित्याशङ्क्याऽऽह-- अवाप्येत्यादिना। शत्रुवर्जितं सस्यादिसंपन्नं च राज्यं तथा सुराणामाधिपत्यं हिरण्यगर्भत्वपर्यन्तमैश्वर्यमवाप्य स्थितस्यापि मम यच्छोकमपनुद्यात्तन्न पश्यामीत्यन्वयः। 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां० 8.1.6) इति श्रुतेः। यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानात्प्रत्यक्षेणाप्यैहिकानां विनाशदर्शनाच्च नैहिक आमुत्रिको वा भोगः शोकनिवर्तकः किंतु स्वसत्ताकालेऽपि भोग-पारतन्त्र्यादिना विनाशकालेऽपि विच्छेदाच्छोकजनक एवेति न युद्धं शोकनिवृत्तयेऽनुष्ठेयमित्यर्थः। एतेनेहामुत्र-भोगविरागोऽधिकारिविशेषणत्वेन दर्शितः॥ 8॥**

से कहा -- 'हे भगवन् ! मैं अज्ञान से अभिभूत होकर अपने को अकृतार्थ मानकर सर्वदा शोक कर रहा हूँ, आप अनुग्रह कर आत्मज्ञानरूप नौका द्वारा मुझे शोकसागर से पार कर दीजिए", (छान्दोग्योपनिषद् 7.1.3)। 'यदि शोकनिवृत्ति न हो तो क्या दोष होगा' -- ऐसी आशंका करके उस शोक का विशेषण कहता है -- इन्द्रियों का शोषणकारी अर्थात् सर्वदा सन्तापकारी है वह शोक।

24 भगवान् की ओर से यह आशङ्का करके कि 'युद्ध के लिए प्रयत्न करने पर तेरे शोक की निवृत्ति हो जायेगी, यदि जीतता है तो राज्य-प्राप्ति से, नहीं तो स्वर्गप्राप्ति से, क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा है -- "इस लोक में दो पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन करने वाले हैं ---योगयुक्त परिव्राजक (संन्यासी) और जो युद्ध में सम्मुख लड़ता हुआ मारा जाय"[42] --इत्यादि', अर्जुन कहता है ---'अवाप्य इत्यादि। शत्रुवर्जित और सस्यादिसम्पन्न राज्य तथा देवताओं का आधिपत्य अर्थात् हिरण्यगर्भत्वपर्यन्त ऐश्वर्य प्राप्त कर स्थित रहने पर भी जो मेरे शोक को निवृत्त कर दे वह श्रेय मुझे दिखाई नहीं देता --ऐसा श्लोक का अन्वय करना चाहिए। श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है--'जिस प्रकार इस लोक में कर्मानुष्ठान से प्राप्तहोने वाला लोक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार परलोक में पुण्य से प्राप्त होनेवाला लोक भी क्षीण हो जाता है' (छा० 8. 1. 6)। तथा 'जो कृतक (जन्य) होता है, वह अनित्य होता है'[43] --इस अनुमान से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी ऐहिक पदार्थों का विनाश देखा जाता है। अतएव ऐहिक अथवा आमुष्मिक ---कोई भी भोग शोकनिवर्तक नहीं है, किन्तु अपनी सत्ता के समय भोगों की परतन्त्रता आदि से और विनाश के समय भी विच्छेद होने से शोक ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि शोकनिवृत्ति के लिए युद्ध करना उचित नहीं है। इससे अधिकारी के विशेषणरूप से अर्जुन का इहामुत्रार्थफलभोगविराग दिखाया गया है ॥8॥

42. "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥"

43. 'यत्कृतकं तदनित्यम्' (जो कृतक (जन्य) होता है वह अनित्य होता है) -- इस व्याप्ति का ध्वंस में व्यभिचार प्राप्त होता है, क्योंकि नैयायिकों का मत है कि प्रध्वंसाभाव सादि (उत्पत्तिमान्) होता हुआ अनन्त (नाश-रहित) होता है (सादिरनन्तः प्रध्वंसः)। किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार ध्वंस नश्वर ही है। उसके अनुसार प्रध्वंसाभाव विनाशरहित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रध्वंसाभाव को अविनाशी (नित्य) स्वीकार करने पर प्रध्वंसाभाव और ब्रह्म -- ये दो पदार्थ अविनाशी (नित्य) सिद्ध होंगे उससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिए प्रध्वंसाभाव का जिस -- मृत्तिकादि अधिकरण में 'ध्वस्तः' इत्याकारक प्रत्यय होता है, उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमें स्थित घटध्वंस का भी ध्वंस (नाश) स्वीकार करना होगा। क्योंकि ध्वंस के अधिकरण का ही नाश होने पर निराधार ध्वंस की स्थिति संभव नहीं है। एवं कपालों का भी नाश होने पर वहाँ 'घटो ध्वस्तः' की प्रतीति भी नहीं होती। इस कारण ध्वंस के आधारभूत कपालों का नाश होने पर उस पर स्थित प्रध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार करना युक्त है। यदि शंका करें कि ध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार करने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि घटध्वंस (घटाभाव) का ध्वंस (अभाव) अर्थात् घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही होगा, तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि घटध्वंस का जो ध्वंस होता है उसका प्रतियोगी घट-

25 **तदनन्तरमर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायाम्--**

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ 9 ॥

26 **गुडाकेशो जितालस्यः परंतपः शत्रुतापनोऽर्जुनो हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामिणं गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञमादावेवं कथं भीष्ममहं संख्य इत्यादिना युद्धस्वरूपायोग्यतामुक्त्वा तदनन्तरं न योत्स्य इति युद्धफलाभावं चोक्त्वा तूष्णीं बभूव बाह्येन्द्रियव्यापारस्य युद्धार्थं पूर्वं कृतस्य निवृत्त्या निर्व्यापारो जात इत्यर्थः । स्वभावतो जितालस्ये सर्वशत्रुतापने च तस्मिन्नागन्तुकमालस्यमतापकत्वं च नाऽऽस्पदमाधास्यतीति द्योतयितुं हशब्दः ।**

25 'इसके पश्चात् अर्जुन ने क्या किया ?' –ऐसी धृतराष्ट्र की आकांक्षा होने पर सञ्जय ने कहा – [सञ्जय ने कहा —वह गुडाकेश, परंतप अर्जुन भगवान् हृषीकेश से ऐसा कहकर, पुनः गोविन्द से 'मैं युद्ध नहीं करुँगा' —यह कहकर चुप हो गया ॥9 ॥]

26 गुडाकेश = आलस्यजयी और परंतप = शत्रुसंतापी अर्जुन हृषीकेश = समस्त इन्द्रियों के प्रवर्तक होने कारण अन्तर्यामी, गोविन्द[44] = गो अर्थात् वेदरूप वाणी को जो जानता है —इस व्युत्पत्ति से समस्त वेदों का उपादान होने के कारण सर्वज्ञ श्रीकृष्ण से पहले ऐसा अर्थात् 'मैं युद्ध में भीष्मपितामह के साथ किसप्रकार प्रतियुद्ध करुँगा' इत्यादि वाक्य से अपनी युद्धस्वरूप अयोग्यता कहकर, तदनन्तर 'मैं युद्ध नहीं करुँगा' —इसप्रकार युद्धरूप फल का अभाव कहकर चुप हो गया[45] अर्थात् पहले

ध्वंस नहीं होता, किन्तु घट ही होता है । अर्थात् घटाभावरूप ध्वंस का जैसे घट प्रतियोगी होता है वैसे ही घटध्वंस के ध्वंस (अभाव) का भी वह घट प्रतियोगी होता है । इस कारण दूसरा अभाव, प्रथम अभाव का प्रतियोगी स्वरूप होता है — इस नियम के होने पर भी प्रकृत में अनुभवानुसार घटध्वंस के ध्वंस का प्रतियोगी घट को ही स्वीकार करने पर यह आपत्ति नहीं आती । क्योंकि कार्य तो प्रागभावध्वंसरूप होता है अर्थात् घट प्रागभाव–ध्वंस ही घट है, यह नैयायिक स्वीकार करते ही हैं । तब घट-प्रागभावध्वंसरूप घट पदार्थ का ध्वंस होने पर पुनः घट का प्रागभाव उत्पन्न होता है — ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते ? ऐसा स्वीकार करने पर घट के नष्ट होते ही इन कपालों का घट होगा — ऐसी प्रागभाव की प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु अनुभव में ऐसा होता नहीं है । इसलिए मूलध्वंस का जो प्रतियोगी होता है वही उस ध्वंस के ध्वंस का भी प्रतियोगी होता है — यह अनुभवानुसार स्वीकार करना ही चाहिए । फलतः ऐसा स्वीकार करने से ध्वंस का ध्वंस स्वीकार करने पर पुनः घटोत्पत्ति का प्रसंग नहीं होगा । निष्कर्षतः वेदान्त के अनुसार ध्वंस नश्वर ही है । अतः 'यत्कृतकं तदनित्यम्' —इस व्याप्ति का ध्वंस में व्यभिचार प्राप्त नहीं होता है । मधुसूदन सरस्वती ने गतश्लोक (2. 8) की व्याख्या में भी 'जाताऽपि रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते' —इस वाक्य से निवृत्ति = ध्वंस को नश्वर कहा है । अतः 'यत्कृतकं तदनित्यम्' —यह व्याप्ति सर्वथा निर्दुष्ट और वेदान्त-सिद्धान्तानुकूल है, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपञ्च नश्वर होता है ।

44. 'गोविन्द' पद से भगवान् का 'सर्वज्ञत्व' सिद्ध है, क्योंकि वे 'गो' अर्थात् वेदरूप वाणी को जानते हैं । इसीलिए वे वेदों के उपादान कारण हैं, वे 'शास्त्रयोनि' हैं अर्थात् 'शास्त्रस्य योनिः कारणं यः सः' अर्थात् वे 'शास्त्र' = वेदादि के योनि = कारण हैं, इसीलिए वे ही जगत् के जन्मादि के कारण कहे जातें हैं । तात्पर्य यह है कि यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'गोविन्द' पद से भगवान् को सर्वज्ञ सिद्ध कर, वेदों का उपादान कारण कहकर उन्हें जगत् का कारण भी बतलाने की ओर संकेत किया है । जैसाकि बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः (1. 1. 2)' और 'शास्त्रयोनित्वात् (1. 1. 3)' —सूत्रों से ब्रह्म के शास्त्रयोनित्व और जगत्-कारणत्व को सिद्ध किया है ।

45. किसी भी कार्य की कारणता दो प्रकार की होती है — फलोपधायकतारूपकारणता और स्वरूपयोग्यतारूपकारणता । अर्जुन में युद्धरूप कार्य की स्वरूपयोग्यतारूपकारणता और फलोपधायकतारूपकारणता — दोनों ही विद्यमान हैं, क्योंकि

गोविन्दहृषीकेशपदाभ्यां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसूचकाभ्यां भगवतस्तन्मोहापनोदनमनायाससाध्यमिति सूचितम् ॥ 9 ॥

27 **एवं युद्धमुपेक्षितवत्यप्यर्जुने भगवान्नोपेक्षितवानिति धृतराष्ट्रदुराशानिरासायाऽऽह—**

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ 10 ॥

28 **सेनयोरुभयोर्मध्ये युद्धोद्यमेनाऽऽगत्य तद्विरोधिनं विषादं मोहं प्राप्नुवन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निवानुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानिदं वक्ष्यमाणमशोच्यानित्यादि वचः परमगम्भीरार्थमनुचिताचरणप्रकाशकमुक्तवान्न तूपेक्षितवानित्यर्थः ।**

29 **अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जोत्पादनं प्रहासः । लज्जा च दुःखात्मिकेति द्वेषविषय एव स मुख्यः । अर्जुनस्य तु भगवत्कृपाविषयत्वादनुचिताचरणप्रकाशनस्य च विवेकोत्पत्तिहेतुत्वादेकदलाभावेन गौण एवायं प्रहास इति कथयितुमिवशब्दः । लज्जामुत्पादयितुमिव विवेकमुत्पादयितुमर्जुनस्यानुचिताचरणं भगवता प्रकाश्यते । लज्जोत्पत्तिस्तु नान्तरीयकतयाऽस्तु माऽस्तु वेति न विवक्षितेति भावः ।**

जो युद्ध के लिए बाह्य इन्द्रियों का व्यापार किया था उस व्यापार की निवृत्ति हो जाने से वह निर्व्यापार (निश्चेष्ट) हो गया[46] । स्वभावतः आलस्यजयी और सर्वशत्रुसंतापी उस अर्जुन में आगन्तुक आलस्य और अतापकत्व नहीं रह सकेंगे ----यह द्योतित करने के लिए 'ह' शब्द का प्रयोग किया है । सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व के सूचक गोविन्द और हृषीकेश ---इन दो पदों से यह सूचित किया है कि भगवान् के लिए उसके मोह को दूर करना अनायास ही सम्भव है ॥ 9 ॥

27 इसप्रकार अर्जुन के द्वारा युद्ध की उपेक्षा किए जाने पर भी भगवान् ने उसकी उपेक्षा नहीं की ---यह धृतराष्ट्र की दुराशा को दूर करने कि लिए सञ्जय कहता है ----
[हे भारत[47] ! = हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के बीच में विषाद को प्राप्त हुए उस अर्जुन से भगवान् हृषीकेश हँसते हुए – से यह वचन बोले ॥ 10 ॥]

28 युद्ध के उद्यम से दोनों सेनाओं के बीच में आकर उसके विरोधी विषाद = मोह को प्राप्त हुए उस अर्जुन से हँसते हुए -- से अर्थात् उसके अनुचित आचरण के प्रकाशन से उसे लज्जा के सागर में डुबाते हुए -- से हृषीकेश = सर्वान्तर्यामी भगवान् यह अनुचित आचरण के प्रकाशक परम गम्भीर अर्थ से युक्त 'अशोच्यान्' इत्यादि वक्ष्यमाण वचन बोले अर्थात् उन्होंने उसकी उपेक्षा नहीं की ।

29 अनुचित आचरण के प्रकाशन से लज्जा उत्पन्न करना 'प्रहास' कहलाता है और लज्जा दुःखरूप होती है, इसलिए वह मुख्यतः द्वेष का विषय ही है । किन्तु अर्जुन तो भगवत्कृपा का पात्र है, इसलिए

वह आलस्यजयी और सर्वशत्रुसंतापी है । किन्तु वह यहाँ शोक और मोह से अभिभूत होने के कारण 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि वाक्य से अपनी युद्धस्वरूप अयोग्यता कहकर और 'न योत्स्ये' इत्यादि वाक्य से युद्धरूप फल के अभाव को बतलाकर अपने को युद्धरूप कार्य की कारणताद्वय से रहित कह रहा है ।

46. अभिप्राय यह है कि अर्जुन आलस्यजयी और शत्रुसंतापी है, अत: वह आलस्य के कारण अथवा असामर्थ्य के कारण युद्ध से विरत हुआ है, यह बात नहीं है किन्तु वह युद्ध में स्वजन-समुदाय के वध की आशंका कर उनके निमित्त शोक और मोह से अभिभूत होकर युद्ध से विरत या निश्चेष्ट हुआ है ।

47. यहाँ 'भारत' – सम्बोधन पद से अभिप्राय यह है कि हे धृतराष्ट्र ! तुम इतने बडे महावीर भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो, तुमको पुत्रस्नेह के वश हो अर्जुन के युद्ध से विरत होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए ।

30 यदि हि युद्धारम्भात्प्रागेव गृहे स्थितो युद्धमुपेक्षेत तदा नानुचितं कुर्यात् । महता संरम्भेण तु युद्धभूमावागत्य तदुपेक्षणमतीवानुचितमिति कथयितुं सेनयोरित्यादिविशेषणम् । एतच्चाशोच्यानित्यादौ स्पष्टं भविष्यति ॥ 10 ॥

31 तत्रार्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे स्वतो जाताऽपि प्रवृत्तिर्द्विविधेन मोहेन तन्निमित्तेन च शोकेन प्रतिबद्धेति द्विविधो मोहस्तस्य निराकरणीयः । तत्राऽऽत्मनि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपे सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणि स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूप एकः सर्वप्राणिसाधारणः । अपरस्तु युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपोऽर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनोऽसाधारणः । एवमुपाधित्रयविवेकेन शुद्धात्मस्वरूपबोधः प्रथमस्य निवर्तकः सर्वसाधारणः । द्वितीयस्य तु हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावबोधोऽसाधारणः । शोकस्य तु कारणनिवृत्त्यैव निवृत्तेर्न पृथक्साधनान्तरापेक्षेत्यभिप्रेत्य क्रमेण भ्रमद्वयमनुवदन्--

उसके अनुचित आचरण के प्रकाशन का हेतु तो विवेक की उत्पत्ति ही है, अतः उसमें लज्जारूप एक अंश (दल) का अभाव होने के कारण भगवान् का यह प्रहास गौण ही है —यह कहने के लिए ही 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है । भगवान् लज्जा उत्पन्न करने के लिए किए जानेवाले प्रहास के समान ही विवेक उत्पन्न करने के लिए अर्जुन के अनुचित आचरण को प्रकाशित करते हैं । अतः भाव यह है प्रहास के साथ अनिवार्य रूप से जुडी हुई लज्जा उत्पन्न हो या न हो —वह भगवान् को विवक्षित नहीं है[48] ।

30 यदि युद्ध आरम्भ होने से पहले ही घर में रहते हुए ही युद्ध की उपेक्षा कर देता तो कोई अनुचित नहीं था, किन्तु अब महान् संरम्भ(विक्षोभ) से युद्धभूमि में आकर उसकी उपेक्षा करना तो अतीव अनुचित है --यह कहने के लिए ही 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' --यह विशेषण दिया है । यह 'अशोच्यान्' --इत्यादि श्लोक में स्पष्ट होगा ।।10 ।।

31 यहाँ अर्जुन की युद्ध नामक स्वधर्म में स्वतः उत्पन्न हुई भी प्रवृत्ति द्विविध मोह और उसके कारण उत्पन्न हुए शोक से प्रतिबद्ध हो गई है, इसलिए उसका द्विविध मोह निराकरणीय है । उसमें, स्वयंप्रकाश, परमानन्दस्वरूप और संसार के सभी धर्मों से असंग-आत्मा में स्थूल-सूक्ष्म-- दो प्रकार के शरीर और उनकी कारणभूता अविद्या [49] -इन तीन उपाधियों[50] के अविवेक के कारण मिथ्याभूत

48. यहाँ भगवान् पर यह आक्षेप हो सकता है कि अर्जुन को निमित्त बनाकर सभी सेनाओं को नाश करने में प्रवृत्त और अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्त करने में उद्यत, उसके गुरु और उपदेष्टा बनकर, उनको अर्जुन का उपहास करना उचित नहीं है । तो इसका उत्तर यह भी है कि अर्जुन की विद्या-बुद्धि की कुशलता के अहंकार को दूर कर उसे तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए भगवान् ने उपहास के सदृश कहा । अत: भगवान् का यह उपहास गौण ही है ।

49. अविद्या का अर्थ अज्ञान है । अविद्या जीवाश्रया है। अविद्या के कारण ही जीव परमार्थ सत् स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का बोध करने में असमर्थ होता है और मिथ्या जगत् को सत्य समझ लेता है । इस प्रकार प्रपञ्च की जननी 'अविद्या' ही है । ('अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः' — ब्रह्मसूत्र– शाङ्करभाष्य, 1.4. 3) ।

50. 'उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीत्युपाधि':, —अर्थात् जो अपने समीपवर्ती में अपने धर्मों का आरोप कर देती है वह 'उपाधि' है । अज्ञान उपाधि है । अज्ञान अपने समीपवर्त्ती अर्थात् अधिष्ठानरूप ब्रह्म में भी अपने धर्मों का आरोप कर देता है । इस आरोप का यह परिणाम होता है कि अज्ञानी जीव अधिष्ठान-रूप ब्रह्म का बोध न करके ब्रह्म में जगत् के धर्मों का आरोप करके जगत् का ही बोध करता है । यह उसी प्रकार है जिस प्रकार दृष्टा भ्रम के कारण रज्जु में सर्प का आरोप कर लेता है ।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ 11 ॥

32 **अशोच्याञ्शोचितुमयोग्यानेव भीष्मद्रोणादीनात्मसहितांस्त्वं पण्डितोऽपि सन्नन्वशोचोऽनुशोचितवानसि ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेत्येवमर्थकेन दृष्ट्वेमं स्वजनमित्यादिना । तथा चाशोच्ये शोच्यभ्रमः पश्वादिसाधारणस्तवात्यन्तपण्डितस्यानुचित इत्यर्थः । तथा कुतस्त्वा कश्मलमित्यादिना मद्वचनेनानुचितमिदमाचरितं मयेति विमर्शे प्राप्तेऽपि त्वं स्वयं प्रज्ञोऽपि सन्प्रज्ञानामवादान्प्रज्ञैर्वक्तुमनुचिताञ्शब्दांश्च कथं भीष्ममहं संख्य इत्यादीन्भाषसे वदसि, न तु लज्जया तूष्णीं भवसि ।**

भी संसार की सत्यता और आत्मधर्मता आदि का प्रतिभास[51] रूप सभी प्राणियों के लिए साधारण होने से 'साधारण' नामक प्रथम मोह है । तथा युद्ध नामक स्वधर्म में हिंसादि की बहुलता के कारण अधर्मत्व का प्रतिभासरूप अर्जुन के ही करुणादि दोषों के कारण होने से 'असाधारण' नामक द्वितीय मोह है । इसप्रकार तीनों उपाधियों के विवेक से शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध प्रथम मोह का निवर्तक है, जो सर्वसाधारण है । तथा, हिंसादि से युक्त होने पर भी स्वधर्म होने के कारण युद्ध में अधर्मत्व का अभाव-बोध द्वितीय मोह का निवर्तक है, जो विशेषरूप से अर्जुन से ही सम्बद्ध है, अतः असाधारण है । शोक के तो अपने कारणों की निवृत्ति से ही निवृत्त हो जाने से उसके लिए पृथक्-रूप से किन्हीं दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं है ---इस अभिप्राय से भगवान् क्रमशः उन दोनों भ्रमों का अनुवाद करते हुए कहते हैं ----

[श्रीभगवान् ने कहा ----हे अर्जुन ! तू न शोक करने योग्य जनों के लिए शोक करता है और प्रज्ञावानों की --सी बात करता है । किन्तु पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गए हैं उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गए हैं उनके लिए भी शोक नहीं करते ।।11 ।।]

32 'मेरे निमित्त ये मर जाएंगे, उनके बिना मैं राज्यसुखादि से क्या करूँगा' ---ऐसे अर्थ वाले 'दृष्ट्वेमं स्वजनं[52]--' इत्यादि वाक्यों से तुम पण्डित[53] होकर भी अशोच्य अर्थात् शोक करने के अयोग्य अपने सहित भीष्म-द्रोणादि के लिए शोक कर रहे हो । तात्पर्य यह है कि अशोच्य में शोच्य का भ्रम पशु आदि में साधारण होने के कारण तुम जैसे महान् पण्डित के लिए अनुचित ही है । तथा 'कुतस्त्वा कश्मलम्[54]----' इत्यादि मेरे वचनों से 'मैंने यह अनुचित आचरण किया है'--

---

51. 'प्रतिभास' अध्यासरूप है । जो वस्तु जिसमें नहीं है उसको उस वस्तु में देखना 'अध्यास' है । अध्यास अविद्यारूप है । शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प का भ्रम अध्यासरूप ही है । ('अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः' – ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 1.1.1)
52. गीता, 1. 28-46 ।
53. जो गुरुमुख से वेदान्तादि के श्रवण, मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि से आत्मसाक्षात्कार कर अविद्या-ग्रन्थि का छेदन कर लेते हैं तथा समस्त जगत् के दृश्य पदार्थ को कल्पित जानकर उसमें लिप्त नहीं होते हैं वे 'पण्डित' कहे जाते हैं ।
54. गीता, 2. 2 ।
55. असत् (अनात्म) वस्तु से सत् (आत्मस्वरूप) का विवेक कर जो प्रकृष्ट रूप से आत्मस्वरूप को जानते हैं उन्हें 'प्रज्ञ' अर्थात् बुद्धिमान या पण्डित कहते हैं । उनकी जो वाणी शास्त्र में व्याप्त है उसे 'प्रज्ञावाद' कहते हैं ।
56. गीता, 2. 4 ।

33 **अतः परं किमनुचितमस्तीति सूचयितुं चकारः । तथाचाधर्मे धर्मत्वभ्रान्तिर्धर्मे चाधर्मत्वभ्रान्तिरसाधारणी तवातिपण्डितस्य नोचितेति भावः । प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान्भाषसे परं न तु बुध्यस इति वा भाषणापेक्षयाऽनुशोचनस्य प्राक्कालत्वादतीतत्वनिर्देशः । भाषणस्य तु तदुत्तरकालत्वेनाव्यवहितत्वाद्वर्तमानत्वनिर्देशः । छान्दसेन तिङ्व्यत्ययेनानुशोचसीति वर्तमानत्वं वा व्याख्येयम् ।**

34 **ननु बन्धुविच्छेदे शोको नानुचितो वसिष्ठादिभिर्महाभागैरपि कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह- गतासूनिति । ये पण्डिता विचारजन्यात्मतत्त्वज्ञानवन्तस्ते गतप्राणानगतप्राणांश्च बन्धुत्वेन कल्पितान् देहान्नानुशोचन्ति । एते मृताः सर्वोपकरणपरित्यागेन गताः किं कुर्वन्ति क्व तिष्ठन्ति एते**

--ऐसा विचार प्राप्त होने पर भी और तुम स्वयं बुद्धिमान् (प्रज्ञ)[55] होकर भी 'कथं भीष्ममहं संख्ये--[56]' इत्यादि बुद्धिमानों के अवाद अर्थात् बुद्धिमानों के बोलने के लिए अनुचित शब्दों को बोल रहे हो, लज्जा से चुप भी तो नहीं रहते ।

33 इससे आगे क्या करना अनुचित है -- यह सूचित करने के लिए पूर्वार्ध में चकार का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार इसका भाव यह है कि तुम जैसे महान् पण्डित के लिए अधर्म में धर्मत्व की और धर्म में अधर्मत्व की असाधारण भ्रान्ति होना उचित नहीं है । तुम प्रज्ञावानों = पण्डितों की सी बातें तो करते हो परन्तु समझते कुछ नहीं हो । अथवा भाषण की अपेक्षा अनुशोचन पहले होने से 'अन्वशोचः' धातु पद से शोक में अतीतत्व (भूतकालिकत्व) का निर्देश है । और अनुशोचन के बाद अव्यवहित भाषण होने से 'भाषसे[57]' धातुपद से भाषण में वर्तमानत्व (वर्तमान कालिकत्व) का निर्देश है । अथवा 'तिङ्' विभक्ति के व्यत्यय (परिवर्तन) को छान्दस मानकर 'अन्वशोचः' के स्थान पर 'अनुशोचसि' पाठ कर वर्तमानकालिक व्याख्या कर लेनी चाहिए ।

34 'बन्धुओं से विच्छेद होने पर शोक करना अनुचित नहीं है, क्योंकि वसिष्ठादि[58] महाभागों ने भी ऐसा किया था' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं -- 'गतासून्' इत्यादि । जो पण्डित[59] अर्थात् विचारजन्य आत्मतत्त्वज्ञान से युक्त हैं वे बन्धुरूप से कल्पित मृत और जीवित शरीरों के लिए शोक नहीं करते हैं । 'ये मृतजन अपनी समस्त सामग्री यहीं छोडकर गए हैं, ये क्या करेंगे और कहाँ रहेंगे ? तथा ये जीवित शेष जन अपने बन्धुओं से विच्छेद होने के कारण कैसे जीयेंगे ?' --

---

57.'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' -- (पाणिनिसूत्र 3. 3. 131) अर्थात् वर्तमान के समीपवर्ती में भी वर्तमानकाल बोधक लकार का ही प्रयोग होता है । इस नियम के अनुसार यहाँ 'भाषसे' पद में वर्तमानकाल-बोधक लकार का प्रयोग हुआ है, क्योंकि अर्जुन का 'भाषण' (बातें करना) श्रीकृष्ण के उत्तर (बोलने) केअव्यवहित पूर्वकालवर्ती ही है अर्थात् अर्जुन के चुप होने के तुरन्त बाद ही श्रीकृष्ण बोल रहे हैं । दोनों के वार्तालाप में अत्यन्त सामीप्य है ।

58. अयोध्या के राजा कल्माषपाद = सौदास ने वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र 'शक्ति' के शाप से राक्षस बनकर वसिष्ठ के सौ पुत्रों का भक्षण कर लिया था । वंश-विनाश के कारण महान् शोक से व्याकुल होकर महर्षि वसिष्ठ आत्म-हत्या करने के लिए अपने शरीर को रस्सी से बांधकर नदी में कूद पड़े । नदी में कूदने पर उन के बन्धन (पाश) खुल गए और वे डूबे नहीं, फलतः उस नदी का नाम 'विपाशा' = आधुनिक 'व्यासा' हो गया । तदनन्तर वे हैमवती नदी में कूद पड़े । उनके कूदते ही नदी शतधा धाराओं में विभक्त हो गई, जिससे वे पुनः बच गए । तभी से उस नदी का नाम शतद्रु =,आधुनिक सतलज हो गया ।

59. मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं -- मूढ़, शास्त्रज्ञ और पण्डित (तत्त्वज्ञ) । 'मूढ़' वे होते हैं जो पुत्रादि के लिए 'मेरा यह पुत्र मर गया है' ऐसा शोक करते हैं और जीवित पुत्रादि के लिए शोक नहीं करते हैं । 'शास्त्रज्ञ' वे हैं जो 'मेरे सभी पुत्र मूढ़, दुर्भागी, दुराचारी हैं', -- ऐसा सोचकर जीवित पुत्रों के लिए शोक करते हैं , मृत पुत्रों के लिए शोक नहीं करते हैं । तथा 'पण्डित' तत्त्वज्ञ या आत्मज्ञ होते हैं । आत्मविषयिणी बुद्धि को 'पण्डा' कहते हैं, जिनकी ऐसी बुद्धि (पण्डा) हो

च जीवन्तो बन्धुविच्छेदेन कथं जीविष्यन्तीति न व्यामुह्यन्ति, समाधिसमये तत्प्रतिभासाभावात्, व्युत्थानसमये तत्प्रतिभासेऽपि मृषात्वेन निश्चयात् । न हि रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभयकम्पादि सम्भवति, न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद्गुडे तिक्तताप्रतिभासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः सम्भवति मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्त्वात् । एवमात्मस्वरूपाज्ञाननिबन्धनत्वाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेतेति भावः । वसिष्ठादीनां तु प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तथा तथाऽनुकरणं न शिष्टाचारतयाऽन्येषामनुष्ठेयतामापादयति, शिष्टैर्धर्मबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्, अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि पण्डितो भूत्वा शोकं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ 11 ॥

35 **न त्वेवेत्याद्येकोनविंशतिश्लोकैरशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्येतस्य विवरणं क्रियते । स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्याद्यष्टभिः श्लोकैः प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्यस्य मोहद्वयस्य पृथक्प्रयत्ननिराकर्तव्यत्वात् । तत्र स्थूलशरीरादात्मानं विवेक्तुं नित्यत्वं साधयति—**

इस प्रकार के मोह से भी वे ग्रस्त नहीं होते हैं, क्योंकि समाधि के समय इन सभी का प्रतिभास ही नहीं होता है और व्युत्थान के समय उन सभी का प्रतिभास होने पर भी उनका मिथ्यारूप से निश्चय रहता है । रज्जुतत्त्व के साक्षात्कार से सर्प-भ्रम के निवृत्त होने पर उसके निमित्त भयकम्पादि सम्भव नहीं होते हैं । अथवा पित्तदोष से उपहत रसनेन्द्रिय की कदाचित् गुड़ में तिक्तता का प्रतिभास होने पर भी तिक्त-स्वाद की इच्छा से उसमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है, क्योंकि उसमें मधुरता होने का निश्चय ही अधिक बलवान् होता है । भाव यह है कि इस प्रकार शोच्य--भ्रम आत्मस्वरूप के अज्ञान के ही कारण होता है, आत्मस्वरूप के ज्ञान से तत्सम्बन्धी अज्ञान के निवृत्त होने पर अज्ञान का कार्यभूत शोच्यभ्रम कैसे ठहर सकता है ? वसिष्ठादि ने तो प्रारब्धकर्म की प्रबलता के कारण उस-उस प्रकार का अनुकरण किया था, अत: वह दूसरों के लिए शिष्टाचार के रूप में कर्तव्य नहीं हो सकता है । उनका आचरण तो शिष्टपुरुषों द्वारा धर्मबुद्धि से किया हुआ अलौकिक व्यवहार ही हो सकता है, अन्यथा उनके समान थूकने आदि की भी क्रियाएँ करने का प्रसङ्ग होगा -- यह समझ लेना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जब ऐसा है तो तुम भी पण्डित होकर शोक मत करो ।। 11 ।।

35 'न त्वेवाहम्[60]' इत्यादि उन्नीस श्लोकों से 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' --- इस वाक्य का विवरण किया गया है । और 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य[61]' इत्यादि आठ श्लोकों से 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इस वाक्य की विवृति की गई है, क्योंकि मोहद्वय का पृथक्-पृथक् प्रयत्न से निराकरण करना है । उनमें प्रथम स्थूल शरीर से आत्मा का विवेक करने के लिए सर्वप्रथम आत्मा की नित्यता सिद्ध करते हैं : —

जाती है वे 'पण्डित' कहलाते है ।' 'पाण्डित्यं निर्विद्य' अर्थात् 'पाण्डित्य = आत्मज्ञान को निश्चित रूप से प्राप्तकर' —इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है कि जिनको पण्डा = आत्मतत्त्वज्ञान होता है वे ' पण्डित' होते हैं । पण्डित जीवित या मृत किसी के लिए भी शोक नहीं करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जीवन और मृत्यु — दोनों ही अविद्या के कार्य हैं, अत: स्वप्न के पदार्थों की भांति मिथ्या हैं । उन्हें सृष्टि में सर्वावस्था में जन्म-मृत्यु के अधिष्ठान ब्रह्म का ही दर्शन होता है । वे सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं ।

60. गीता, 2. 12-- 30 ।

61. गीता, 2. 31-- 38 ।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ 12 ॥

36 **तुशब्दो देहादिभ्यो व्यतिरेकं सूचयति- यथाऽहमितः पूर्वं जातु कदाचिदपि नाऽऽसमिति नैवापि तु आसमेव तथा त्वमप्यासीः। इमे जनाधिपाश्चाऽऽसन्नेव। एतेन प्रागभावाप्रतियोगित्वं दर्शितम्। तथा**

[न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, या तू नहीं था, अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सभी नहीं होंगे ॥ 12 ॥]

36 'तु' शब्द देहादि से आत्मा की भिन्नता सूचित करता है। जैसे –मैं इससे पूर्व कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, अपितु था ही, वैसे ही तू भी था, और ये राजालोग थे ही। इससे आत्मा में प्रागभाव[62] की

62. कारण में कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव रहता है उसे 'प्रागभाव' कहते हैं (कारणे कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः — वेदान्तपरिभाषा)। जैसे –घटरूप कार्य उत्पन्न होने से पूर्व जो घटाभाव है वह घट-प्रागभाव है। प्रागभाव, कार्य के उपादान कारण में रहता है। घटरूप कार्य का अभाव मृत्पिण्डरूप कारण में होता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति 'भविष्यति' = 'यहाँ कार्य होगा' –इसप्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है (स एव भविष्यतीति प्रतीतिविषयः –वेदान्त-परिभाषा)। उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए ही प्रागभाव को स्वीकार करना पडता है। मृत्पिण्ड के अतिरिक्त तन्तु आदि कारणों में 'यहाँ घट होगा' –ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिए घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड में ही रहता है — यह स्वीकार करना होगा। इसप्रकार कार्य उत्पन्न होने से अव्यवहित पूर्वक्षण तक कार्य का कारण में जो अभाव प्रतीत होता है, वह 'प्रागभाव' है। किन्तु न्याय-मत में अनादि और सान्त अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है। प्रागभाव अपने प्रतियोगी के उपादान-कारण में रहता है। जैसे – घट के प्रागभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसके उपादान-कारण कपाल में घट का प्रागभाव रहता है और कपाल की उत्पत्ति से पूर्व घट का प्रागभाव कपाल के उपादान-कारण में भी रहता है। इसी प्रकार सृष्टि से पूर्व घटारम्भक परमाणुसमुदाय में भी घट– प्रागभाव रहता है तथा परमाणु व घट के मध्य में द्व्यणुकादि से लेकर कपाल पर्यन्त जितने भी अवयवी हैं उन सभी के प्रागभाव सृष्टि से पूर्व परमाणु में रहते हैं। इसप्रकार प्रागभाव अनादि और सान्त है। न्यायमत के अनुसार कपाल में घट के प्रागभाव को जो अनादि कहा गया है वह प्रमाणविरुद्ध है, इसलिए वह वेदान्त-विरुद्ध है। क्योंकि घट-प्रागभाव का अनुयोगी = अधिकरण सादि है और प्रतियोगी घट भी सादि है, तो फिर प्रागभाव में ही अनादिता किसप्रकार हो सकती है ? यदि माया में समस्त कार्यों के प्रागभाव को अनादि कहा जाय तो किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है, क्योंकि माया अनादि है। किन्तु माया में समस्त कार्यों का प्रागभाव मानना व्यर्थ है और सिद्धान्त में इष्ट नहीं है, क्योंकि घट की उत्पत्ति केवल कपाल में ही होती है, अन्य किसी में नहीं और पट की उत्पत्ति केवल तन्तु में ही होती है, अन्य में नहीं। इसप्रकार प्रागभाव को अनादि नहीं कहा जा सकता है। फलतः यहाँ वेदान्तविरुद्ध अंश को छोड़कर ही प्रागभाव का लक्षण स्वीकार्य है।

63. 'प्रतियोगिता' शब्द का अधिकतर व्यवहार अभाव और सम्बन्ध के सन्दर्भ में होता है। 'अभाव'के अर्थ में प्रतियोगिता शब्द का अर्थ 'विरोधिता' है। इस अर्थ के अनुसार अभाव के विरोधी को अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है, जैसे – घट घटाभाव का विरोधी है। घटाभाव के अधिकरण में घट नहीं रहता और घट के अधिकरण में घटाभाव नहीं रहता। इस प्रकार इन दोनों में असामानाधिकरण्य अर्थात् एकाधिकरण में अवृत्तित्व रूप विरोध है। इस विरोध के कारण ही घट घटाभाव का विरोधी कहा जाता है। इसप्रकार घट घटाभाव का प्रतियोगी है, इसका अर्थ होता है कि घट घटाभाव का विरोधी है। फलतः प्रतियोगिता अभाव के साथ भाव का एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध विरोधिता-रूप है। तथा जहाँ प्रतियोगिता नहीं है वह अप्रतियोगिता है।

64. कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है वह 'प्रध्वंसाभाव' है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण, कार्य का उपादान कारण ही होता है। जैसे – मिट्टी के घट पर एक मुद्गर मारने पर वह फूट जाता है अर्थात् उस मृत्तिका को जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घटादिकों के इस ध्वंस को ही प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उसका आधार घट के उपादान कारण कपाल ही हैं। क्योंकि कपाल की ओर देखकर ही 'ध्वस्तः घटः' = 'यह घट नष्ट हुआ' – यह प्रतीति होती है। इसलिए प्रध्वंसाभाव का अधिकरण

सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्चातः परं न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एवेति ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम् । अतः कालत्रयेऽपि सत्तायोगित्वादात्मनो नित्यत्वेनानित्याद्देहाद्वैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ 12 ॥

37 **ननु देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति लोकायतिकाः । तथा च स्थूलोऽहं गौरोऽहं गच्छामि चेत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां प्रामाण्यमनपोहितं भविष्यति । अतः कथं देहादात्मनो व्यतिरेको व्यतिरेकेऽपि कथं वा जन्मविनाशशून्यत्वं जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इति प्रतीतेर्देहजन्मनाशाभ्यां सहाऽऽत्मनोऽपि जन्मविनाशोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह–**

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ 13 ॥

38 **देहाः सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमाना जगन्मण्डलवर्तिनोऽस्य सन्तीति देही । एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेकवचनम् । सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वत्र देहभेदानुवृत्त्या न त्वात्मभेदाभिप्रायेणेति न दोषः ।**

अप्रतियोगिता[63] दिखाई है । इसीप्रकार हम सभी अर्थात् मैं, तू, और ये राजालोग इससे आगे नहीं होंगे, यह नहीं है, अपितु होंगे ही, ---इससे आत्मा में प्रध्वंसाभाव[64] की अप्रतियोगिता कही है । अतः तात्पर्य यह है कि तीनों कालों में भी सत्ता से सम्बन्ध रखने वाला होने से आत्मा नित्य है, अतएव अनित्य देहादि से उसकी विलक्षणता सिद्ध होती है ।। 12।।

37 अर्जुन की ओर से यह आशङ्का करके कि " 'चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है' -- यह लोकायतिकों[65] का मत है । ऐसा स्वीकार करने पर ही 'मैं स्थूल हूँ, गोरा हूँ, जाता हूँ' -- इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों की प्रामाणिकता अखण्डित होगी । अत: देह से अतिरिक्त आत्मा कैसे हो सकता है ? कदाचित् भेद होने पर भी उसकी जन्मविनाशशून्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? क्योंकि ' देवदत्त उत्पन्न हुआ', 'देवदत्त मर गया' -- ऐसी प्रतीतियों से देह के जन्म और नाश के साथ आत्मा के भी जन्म और विनाश की उपपत्ति होती है", भगवान् कहते हैं :--

[देही (आत्मा) की इस देह में जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे देहान्तर की प्राप्ति भी होती है, उस विषय में धीरपुरुष मोह नहीं करते ।। 13 ।।]

38 जगन्मण्डलवर्ती सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान देह इस आत्मा के ही हैं, अतः यह देही है ।

भी घट का उपादान कारण मृत्तिका ही है । 'घटो ध्वस्त:' – ही प्रध्वंसाभाव की प्रतीति होती है । न्याय-मत में प्रध्वंसाभाव का कभी नाश नहीं होता, वह नित्य है, जो कि वेदान्त-विरुद्ध है । वेदान्तमत में ध्वंस नश्वर ही है (विशेष द्रष्टव्य -- टिप्पणी, 2. 43) ।

65. वाल्मीकि रामायण में लोकायतिकों का उल्लेख प्राप्त होता है जो मिथ्या बातों का प्रचार करते थे और अपने आपको ज्ञानी समझते थे (अयोध्याकाण्ड, अध्याय 2, श्लोक 38-39) । अथवा, लोके आयतं = विस्तीर्णं = प्रसिद्धं यत् प्रत्यक्षप्रमाणं तल्लोकायतम्, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लोकायतम् । 'तदधीते तद्वेद' — (पाणिनिसूत्र, 4. 2. 59) इस सूत्र के अधिकार में ' ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (पाणिनिसूत्र, 4.2.60) – इस सूत्र से उक्थादि गण के अन्तर्गत 'लोकायत' पद से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है अर्थात् लोकायतमधीते वेद वेति लोकायतिक: = लोक में व्याप्त 'लोकायत' शास्त्र के अध्येता को 'लोकायतिक' कहते हैं । लोकायतिक-मत चार्वाकों का कोई सम्प्रदाय है । यह मत भूतचतुष्टयवादी चार्वाक का है । इसके अनुसार पृथिव्यादि भूतों से 'चैतन्य' की उत्पत्ति वैसे ही होती है जैसे किण्वादि से मदशक्ति उत्पन्न होती है । और 'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्' — इत्यादि प्रयोगों से देह में ही 'अहम्' की प्रतीति होने के कारण चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है ।

39 **तस्य देहिन एकस्यैव सतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं यौवनं जरेत्यवस्थात्रयं परस्परविरुद्धं भवति न तु तद्भेदेनाऽऽत्मभेदः, य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवाहं वार्धके प्रणप्तृननुभवामीति दृढतरप्रत्यभिज्ञानादन्यनिष्ठसंस्कारस्य चान्यत्रानुसन्धानाजनकत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेणाविकृतस्यैव सत आत्मनो देहान्तरप्राप्तिरेतस्माद्देहादत्यन्तविलक्षणदेहप्राप्तिः स्वप्ने योगैश्वर्ये च तद्देहभेदानुसन्धानेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात् । तथा च यदि देह एवाऽऽत्मा भवेत्तदा**

एक ही आत्मा से विभु होने के कारण सभी देहों से सम्बन्ध होने से सभी की चेष्टा हो सकती है, अत: प्रत्येक देह में आत्मा की भिन्नता स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है -- यह सूचित करने के लिए ही 'देहिन:' पद में एकवचन प्रयुक्त हुआ है । 'सर्वे वयम्' — यहाँ जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है वह तो पूर्वत्र देहभेद की अनुवृत्ति से हुआ है, न कि आत्म-भेद के अभिप्राय से हुआ है, इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है ।

39 उस देही (आत्मा) की, एक ही होने पर भी, इस वर्तमान देह में जैसे-बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था -- ये तीन परस्पर विरुद्ध अवस्थाएँ होती हैं, न कि इनके भेद से आत्मभेद होता है, क्योंकि 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया था वही मैं वृद्धावस्था में परपोतों का अनुभव करता हूँ' -- ऐसी सुदृढ़ प्रत्यभिज्ञा[66] होती है और एक व्यक्ति में रहने वाले संस्कार[67] किसी दूसरे व्यक्ति में अपनी स्मृति पैदा नहीं करते हैं ; वैसे ही अविकृत आत्मा को देहान्तर की प्राप्ति अर्थात् इस देह से अत्यन्त विलक्षण देह की प्राप्ति होती है, क्योंकि स्वप्न और योग-सिद्धि के समय उनसे प्राप्त होने वाले देहभेद का ज्ञान (स्मृति) रहने पर भी 'स एवाहम्' = 'मैं वही हूँ' - ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । इसप्रकार यदि देह ही आत्मा होता तो युवावस्था आदि भेद से देह में भी भेद हो जाने के कारण ऐसा अनुभव नहीं होता । यदि कोई यह कहे कि 'जब तक प्रत्यभिज्ञा होती है, तब तक एक वस्तु की ही

---

66. 'प्रत्यभिज्ञा' ऐक्य-विषयक ज्ञान है । प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है -- 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा' —अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' —दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति को ' प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं । 'तत्ता' का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध है । और 'इदन्ता' का अर्थ एतद्देश और एतत्काल सम्बन्ध है । जिसमें पूर्वदेश पूर्वकाल और वर्तमानदेश वर्तमानकाल दोनों की प्रतीति हो उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते है । जैसे :— 'सोऽयं देवदत्तः' – यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है ।

67. सन्तानात्मवादी बौद्धों के अनुसार आत्मा और जगत् अनित्य हैं । इनका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता । वे प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करते रहते हैं, अत: वे दोनों परिणामशाली हैं । चित्तसन्तति के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नहीं है । जैसे दीपक की शिखा एक स्थिर प्रतीत होती है, किन्तु वह अनेक प्रकाशों की सन्तति या धारा है, वैसे ही शरीर में जो एक आत्मा अनुभूत होता है, वह भी एक नहीं है अपितु अनेक चित्तक्षणों की अविरल सन्तति है । प्रत्येक चित्तक्षण विनष्ट होता हुआ अपने समान दूसरे चित्तक्षण को उत्पन्न करता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को । यह धारा केवल एक ही शरीर में प्रवाहित नहीं रहती, अपितु अनन्त शरीरों में निरन्तर प्रवाहित रहती है । जब एक शरीर का चित्तक्षण शान्त होता हुआ दूसरे शरीर में चित्तक्षण को जन्म देता है, तब वहाँ मृत्यु-जन्म का व्यवहार होता है । जैसे दूध अपने समानरूप दधि को जन्म देता है वैसे ही चित्तक्षण भी अपने समान संस्कारों वाले दूसरे चित्तक्षण को जन्म देता है, इसीलिए उसमें स्थिरत्व और एकत्व की अनुभूति होती है । फलत: चित्तसन्तति से भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं है। इसी बौद्ध-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि एकव्यक्ति में रहनेवाले चित्तक्षण के संस्कारों से किसी दूसरे व्यक्ति के चित्तक्षण में स्मृतिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । देवदत्त के संस्कारों से यज्ञदत्त में स्मृति नहीं होती । अतएव चित्तक्षणों की सन्तति से भिन्न एक स्थिर आत्मा है, जो अनेक शरीरों में अपनी एकता का निर्बाध अनुभव करता है । उसे ही इस शरीर की बाल्यादि अवस्थाओं के भेद से शरीरभेद में ; स्वप्न में प्राप्त शरीर-भेद में ; और योग-सिद्धि से प्राप्त विभिन्न शरीरों में एकता का प्रत्यभिज्ञान होता है ।

कौमारादिभेदेन देहे भिद्यमाने प्रतिसन्धानं न स्यात् । अथ तु कौमाराद्यवस्थानामत्यन्तवैलक्षण्येऽप्यवस्थावतो देहस्य यावत्प्रत्यभिज्ञं वस्तुस्थितिरिति न्यायेनैक्यं ब्रूयात्तदाऽपि स्वप्नयोगैश्वर्ययोर्देहधर्मिभेदे प्रतिसन्धानं न स्यादित्युभयोदाहरणम् । अतो मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धेरिव स्थूलोऽहमित्यादिबुद्धेरपि भ्रमत्वमवश्यमभ्युपेयं बाधस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । एतच्च न जायत इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते । एतेन देहाद्व्यतिरिक्तो देहेन सहोत्पद्यते विनश्यति चेति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः । तत्रावस्थाभेदे प्रत्यभिज्ञोपपत्तावपि धर्मिणो देहस्य भेदे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः ।

40 **अथवा यथा कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिरविकृतस्याऽऽत्मन एकस्यैव तथा देहान्तरप्राप्तिरे-तस्माद्देहादुत्क्रान्तौ । तत्र स एवाहमितिप्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि जातमात्रस्य हर्षशोकभयादिसम्प्रतिपत्तेः पूर्वसंस्कारजन्याया दर्शनात् । अन्यथा स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्तस्या इष्टसाधनतादिज्ञानजन्यत्वस्यादृष्टमात्रजन्यत्वस्य चाभ्युपगमात् । तथा च पूर्वापरदेहयोरात्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादित्यन्यत्र विस्तरः । कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः । अकृतयोः पुण्यपापयो-रकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः ।**

स्थिति रहती है' – इस न्याय से युवावस्था आदि अवस्थाओं में अत्यन्त विलक्षणता रहने पर भी अवस्थावान् देह की एकता ही रहती है, तो भी स्वप्न और योग-सिद्धि से प्राप्त होने वाले देहधर्मियों में भेद रहने पर तो ऐसा अनुभव (प्रत्यभिज्ञा) नहीं होगा, इसी से ये दो उदाहरण दिए हैं । अतः मरुमरीचिकादि में जलादि बुद्धि के समान 'स्थूलोऽहम्' = 'मैं स्थूल हूँ' --- इत्यादि बुद्धि को भी भ्रमरूप अवश्य स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि भ्रमत्वसाधक बाध दोनों में समान है । यह 'न जायते[68]' इत्यादि के व्याख्यान में विस्तार से कहेंगे । इससे 'आत्मा देह से भिन्न है, किन्तु वह देह के साथ ही उत्पन्न और विनष्ट होता है' --- यह पक्ष भी खण्डित हो गया, क्योंकि इस पक्ष में युवावस्था आदि अवस्थाओं का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होने पर भी धर्मी(आत्मा) की देह का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी ।

40 अथवा, जैसे अविकृत एक ही आत्मा में कौमारादि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है, वैसे ही इस देह से उत्क्रमण करने पर उसे देहान्तर की प्राप्ति होती है । वहाँ 'स एवाऽहम्' --- ऐसी प्रत्यभिज्ञा न होने पर भी उत्पन्न होते ही बालक में पूर्वसंस्कारजनित हर्ष, शोक, भयादि की प्राप्ति देखी जाती है, अन्यथा उसकी स्तनपानादि में प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि उस प्रवृत्ति को इष्टसाधनतादि ज्ञान से और अदृष्ट मात्र से ही उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है[69] । इस प्रकार भी पूर्वापर देह के आत्मा

68. गीता, 2.20 ।

69. नवजात शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति का होना उपपन्न होता है । इससे स्पष्ट होता है कि जिस आत्मा ने पूर्वजन्म में माता के स्तनपान का जो अनुभव 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — किया था, उसी से उत्पन्न संस्कार से वह दूसरे जन्म में पैदा होने पर प्रथम स्तन्यपान-प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — इसप्रकार की स्तन्यपाननिष्ठ अपनी इष्टसाधनता का स्मरण करता है, उस स्मरण से उसे इच्छा होती है, तभी बालक की प्रवृत्ति होती है । इसप्रकार 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' — इत्याकारक इष्टसाधनतास्मारक संस्कार के प्रति जीवनादृष्ट को ही अनायत्या उद्बोधक स्वीकार करना पड़ता है । अन्यथा बालक का जीवन ही असंभव हो जायेगा । इससे पूर्वापर देह के आत्मा की एकता ही सिद्ध होती है ।

41 अथवा देहिन एकस्यैव तव यथा क्रमेण देहावस्थोत्पत्तिविनाशयोर्न भेदो नित्यत्वात्तथा युगपत्सर्वदेहान्तरप्राप्तिरपि तवैकस्यैव विभुत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेन नित्यत्वायोगात्, अणुत्वे सकलदेहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्, विभुत्वे निश्चिते सर्वत्र दृष्टकार्यत्वात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा त्वमिति निश्चितोऽर्थः ।

की एकता सिद्ध होती है, अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग होगा । इसका अन्यत्र विस्तृत वर्णन किया गया है । किये गए पुण्य और पाप का भोग के बिना जो नाश है वह 'कृतनाश' है । जन्मकाल में ही नहीं किये गए पुण्य और पाप का अकस्मात् फल दे देना 'अकृताभ्यापगम' कहलाता है ।

41 अथवा, जैसे तुम्हारी एक ही देही (आत्मा) में यथाक्रम देह की बाल्यादि अवस्थाओं के उत्पाद और विनाश से कोई भेद नहीं होता, क्योंकि आत्मा नित्य है ; वैसे ही तुम्हारी एक ही देही (आत्मा) को एक साथ समस्त देहान्तरों की भी प्राप्ति होती है, क्योंकि आत्मा विभु है [70] । यदि आत्मा को मध्यमपरिमाणरूप[71] स्वीकार करें तो उसके सावयव होने से उसमें नित्यता नहीं रह सकती और यदि उसे अणुरूप[72] स्वीकार करें तो फिर सकल देह में व्याप्त सुखादि की उपलब्धि न होने का प्रसंग उपस्थित होगा । अत: आत्मा का विभुत्व निश्चित होने पर सर्वत्र आत्मकार्यदर्शन से सभी शरीरों में एक ही आत्मा 'तू' है, यही त्वमर्थ निश्चित है ।

---

70. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने नित्य-विभु-अनेकात्मवादी वैशेषिकादि मतों के निरासनार्थ उक्त ग्रन्थ की योजना की है ।

71. जैन दर्शन जीव को मध्यम-परिमाणविशिष्ट स्वीकार करता है । जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है । जैसे दीपक जिस जिस प्रकार के छोटे या बडे आकारवाले कक्ष में रहने पर पूर्णप्रकाश करता है, वैसे ही जीव भी जिस प्रकार के छोटे या बडे आकारवाले शरीर में प्रवेश करता है, उसी के रूप में वह भासित होता है । वह हाथी के शरीर में प्रविष्ट होने पर हाथी के आकार का और चींटी के शरीर में प्रवेश करने पर चींटी के आकार का हो जाता है । यही मध्यमपरिमाणवाद कहलाता है । इसी का खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने किया है ।

72. रामानुज, निम्बार्क आदि सभी वैष्णव आचार्य जीव को अणुरूप स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार हृदयदेश में निवास करने के कारण जीव अणु है । जीव के अणुत्व की सिद्धि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है :—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।' (श्वेता० 5.9)

अर्थात् बाल जितना मोटा होता है उतना ही लम्बा काटकर एक गोल टुकड़ा कर लें, फिर उस टुकड़े के सौ भाग करें । उसमें से एक भाग के पुनः सौ भाग करें, उसमें से एक भाग के समान जीव 'अणु' है ।
तब संशय उत्पन्न होता है कि वह जीव अणु होने पर शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है, इसी गुण की सहायता से वह सकल शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव सदा किया करता है । उदाहरण के लिए ललाट पर लगी हुई चन्दन की एक बिन्दु जैसे सकल शरीर को अपने गन्ध से आह्लादित करती है वैसे ही जीवात्मा एक स्थान पर स्थित रहकर सारे शरीर को प्रकाशित करता है और सुख-दुःखादि का अनुभव कराता है । दीपक गृह के एक कोने में रखा जाता है, परन्तु वहीं से समस्त गृह को प्रकाशित करता है । अणु जीव की भी ठीक यही स्थिति है ।

शंका होती है कि चन्दन के बिन्दु की तो एक ही स्थान पर अवस्थिति है, परन्तु जीवात्मा तो चैतन्य है अतएव सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता होगा, इसीलिए चन्दन का दृष्टान्त उचित नहीं । ऐसी शंका व्यर्थ है क्योंकि जीवात्मा भी चन्दन के ही समान हृदय में एक ही स्थान पर स्थित रहता है । इसप्रकार सिद्ध है कि जीव परिमाण में अणु है । यही अणुपरिमाणवाद का सिद्धान्त है । इसी का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने किया है ।

42 तत्रैवं सति वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति अहमेषां हन्तैते मम वध्या इति भेददर्शनाभावात् । तथा च विवादगोचरापन्नाः सर्वे देहा एकभोक्तृकादेहत्वात्त्वद्देहवदिति । श्रुतिरपि– 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वेता० 6.11) इत्यादि । एतेन यदाहुर्देहमात्रमात्मेति चार्वाकाः, इन्द्रियाणि

42 आत्मा सभी शरीरों में एक है, ऐसी स्थिति में हिंस्य-हिंसक-भेद की कल्पना से तू ही अधीर होने के कारण मोह कर रहा है, धीर विद्वान् तो मोह नहीं करता, क्योंकि उसे 'मैं इनका हन्ता हूँ, ये मेरे वध्य हैं' -- ऐसी भेददृष्टि नहीं होती । अनुमान इसप्रकार होगा --'विवाद के विषयभूत सभी देह एक ही भोक्तावाले हैं, देह होने के कारण, तेरे देह के समान'[73] । श्रुति भी कहती है -- 'एक ही देव समस्त भूतों में गूढ है, वह सर्वव्यापी है और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.11) इत्यादि । इससे चार्वाकों[74] ने जो कहा है कि 'देह ही आत्मा है' ; चार्वाकों में ही एकदेशी जो कहते हैं कि 'इन्द्रिय, मन और प्राण आत्मा है' ; सौगतों[75] का जो मत है कि 'क्षणिकविज्ञान आत्मा है' :

73. यहाँ सभी शरीरों में व्याप्त आत्मा के एकत्व की सिद्धि के लिए अनुमान-वाक्य का प्रयोग किया गया है — 'सर्वे देहा एकभोक्तृका, देहत्वात्, त्वद्देहवत्' । तो प्रश्न है कि जब वध्य-घातक भाव भेद के बिना नहीं हो सकता और क्रिया कर्तृकर्मभाव भेद में ही होता है तब इस व्याप्ति में क्या प्रमाण है ? भिन्न आत्मा स्वीकार करने पर भी देह हो सकती है । वही व्याप्ति प्रामाणिक कही जाती है, जिसमें अनुकूल तर्क हो । अन्यथा 'सर्वे देहा भिन्नभोक्तृकाः, देहत्वात्, त्वद्देहवत्' — इसप्रकार अनुमान से आत्मभेद ही स्वीकार करना चाहिए । अतएव उत्तर-व्याप्ति के खण्डनार्थ ही मधुसूदन सरस्वती ने पूर्व उक्त व्याप्ति में श्रुति का प्रमाण दिया है — 'एको देवः सर्वभूतेषु' इत्यादि । फलतः आत्मा का एकत्व ही श्रुतिप्रमाणित है ।

74. 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति 'चर्व अदने' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ 'चबाना' या 'भोजन करना' होता है । इस सम्प्रदाय में खाने-पीने और भोग-विलास पर ही अधिक जोर दिया गया है, अतः इसे चार्वाकदर्शन कहते हैं और इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों को भी चार्वाक कहते हैं । कुछ विचारक 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति 'चारु + वाक्' (मधुरवचन) से करते हैं । कुछ विद्वान् ' चार्वी' शब्द से चार्वाक शब्द को निष्पन्न मानते हैं जैसा कि काशिकावृत्ति के उद्धरण से ज्ञात होता है कि 'चार्वी बुद्धि को कहते हैं और बुद्धि से सम्बन्ध होने के कारण आचार्य को भी 'चार्वी' कहा जाता था' । चार्वाक दर्शन के प्रमुख आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं, जिन्होंने कोई सूत्रग्रन्थ लिखा था, जो कि उपलब्ध नहीं है, उसके सूत्र यत्र-तत्र प्रकीर्ण-रूप में मिलते हैं । इन चार्वाकों में अनेक मत प्रचलित रहें हैं । इनके मतों की विभिन्नता बतलाने के लिए कहीं 'अपरश्चार्वाकः' और कहीं 'तदेकदेशिनः' शब्दों का प्रयोग किया गया है । प्रथम मत में 'स्थूल शरीर आत्मा है' ; द्वितीय के अनुसार 'पुत्र आत्मा है' ; तृतीय में 'इन्द्रिय आत्मा है' ; चतुर्थ में 'प्राण आत्मा है', और पंचम के अनुसार 'मन ही आत्मा है' (विशेष द्रष्टव्य–वेदान्तसार) ।

75. दुःख और दुःख के कारणों की कक्षा से निर्गत हो जाने को 'सुगतत्व' कहते हैं । अर्थात् 'सुगत' बुद्ध की संज्ञा है । जैसा कि धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक में कहा है—

'हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात् ।
दुःखस्य शस्त्रं नैरात्म्यदृष्टेः तद्युक्तितोऽपि वा ॥ (प्रमाणवार्तिक, 2. 140)

उन सुगतों के अनुयायियों को 'सौगत' कहते हैं, उनमें क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के अनुसार क्षणिक-विज्ञान अर्थात् प्रवृत्ति, आलय रूप उभयविध विज्ञान आत्मा है, क्योंकि वह विज्ञान भी स्वप्रकाशरूप होने से चेतन है । ज्ञान, सुख आदि उस विज्ञान के ही आकार विशेष हैं । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है । पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में कारण होता है, अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान की धारा निर्बाध बनी रहती है । जैसे कस्तूरी की गन्ध शतपट में प्रथम पट से लेकर अन्तिम पट तक क्रमशः सङ्क्रान्त होती जाती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में स्वानुभवजन्य संस्कारों को उत्पन्न करता रहता है । इस कारण स्मरणानुपपत्तिरूप दोष भी यहाँ नहीं रहता । इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब विज्ञान-स्वरूप ही हैं । विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं है । अतः क्षणिक-विज्ञान ही आत्मा है ।

मनः प्राणश्चेति तदेकदेशिनः, क्षणिकं विज्ञानमिति सौगताः, देहातिरिक्तः स्थिरो देहपरिमाण इति दिगम्बराः, मध्यमपरिमाणस्य नित्यत्वानुपपत्तेर्नित्योऽणुरित्येकदेशिनः, तत्सर्वमपाकृतं भवति नित्यत्वविभुत्वस्थापनात् ॥ 13 ॥

43 - **नन्वात्मनो नित्यत्वे विभुत्वे च न विवदामः प्रतिदेहमेकत्वं तु न सहामहे, तथाहि– बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यनवविशेषगुणवन्तः प्रतिदेहं भिन्ना एव नित्या विभवश्चाऽऽत्मान इति वैशेषिका मन्यन्ते । इममेव च पक्षं तार्किकमीमांसकादयोऽपि प्रतिपन्नाः । सांख्यास्तु विप्रतिपद्यमाना अप्यात्मनो गुणवत्त्वे प्रतिदेहं भेदे न विप्रतिपद्यन्तेऽन्यथा सुखदुःखादिसंकरप्रसङ्गात् । तथा च भीष्मादिभिन्नस्य मम नित्यत्वे विभुत्वेऽपि**

दिगम्बरों[76] का जो मत है कि 'देह से भिन्न, स्थिर और देहपरिमाणवाला आत्मा है' ; तथा उन्हीं के एकदेशी जो कहते हैं कि 'मध्यमपरिमाण वाला आत्मा नित्य नहीं हो सकता, इसलिए नित्य, अणु आत्मा है' -- ये सभी मत निराकृत हो गए, क्योंकि आत्मा का नित्यत्व और विभुत्व सिद्ध ही है ॥ 13 ॥

43 'आत्मा के नित्यत्व और विभुत्व के विषय में हम विवाद नहीं करते हैं, किन्तु 'प्रतिदेह में एक ही आत्मा है' --- यह हमें सहन नहीं होता । क्योंकि वैशेषिक[77] आत्मा को बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना-संज्ञक नौ विशेष गुणवाला, नित्य और विभु मानते हैं । इसी पक्ष को तार्किक मीमांसक आदि भी मानते हैं । सांख्य[78] लोगों की आत्मा के गुणवान् होने में इनसे विप्रतिपत्ति होने पर भी प्रतिदेह में आत्म-भेद स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, अन्यथा समस्त आत्माओं में सुख-दुःखादि के परस्पर सांकर्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । इस प्रकार भीष्मादि से भिन्न मेरे नित्यत्व और विभुत्व होने पर भी सुख-दुःखादि से सम्बन्ध वाला होने के

76. जिसने रागद्वेषादि मनोविकारों का दमन कर विजय प्राप्त करली है वही 'जिन' है और जो उन केवली 'जिनों' के उपासक हैं वे 'जैन' कहलाते हैं । जैनों के दो सम्प्रदाय हैं —दिगम्बर और श्वेताम्बर । दिगम्बरों के अनुसार जीव ज्ञानरूप है (बोधात्मको जीवः), वह स्थिर और स्वदेह परिमाण वाला = मध्यपरिमाण वाला है (विशेष द्रष्टव्य – टिप्पणी 2.71) । श्वेताम्बरों के मत में आत्मा नित्य है और अणुपरिमाणवाला है । इनके अनुसार आत्मा मध्यमपरिमाणरूप नहीं हो सकता क्योंकि स्वदेहपरिमाण होने से वह अनित्य हो जायेगा । मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ जो 'एकदेशी-मत' प्रस्तुत किया है वह श्वेताम्बरों का मत ही है ।

77. न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान के अधिकरण को 'आत्मा' कहते हैं । आत्मा का विशेष गुण 'चैतन्य' है । प्राण, अपान, निमिष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तविकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के सूचक चिह्न हैं (वैशेषिक सूत्र, 3.2.4) । बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना — ये आत्मा के नौ विशेष गुण हैं । संख्या, परिणाम, संयोग, विभाग,, पृथक्त्व -- ये पांच आत्मा के सामान्य गुण हैं । बुद्धि आदि गुणों का आधार होने से आत्मा 'द्रव्य' है और निरवयव होने से वह नित्य है । जीवात्मा अनेक हैं । प्रत्येक शरीर में रहने वाला आत्मा नित्य और विभु है । आत्मा के दो रूप हैं -- परमात्मा और जीवात्मा । मीमांसकों के अनुसार भी आत्मा नित्य, विभु, चैतन्य और अनेक है । वह ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, एवं ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म और अधर्म का आश्रय भी है (श्लोकवार्तिक, – आत्मवाद) ।

78. सांख्यकारिका में कहा है ---

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सांख्यकारिका, 18)

अर्थात् सांख्य के अनुसार जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एकसाथ प्रवृत्ति के अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरुष ('आत्मा) की अनेकता सिद्ध होती है ।

सुखदुःखादियोगित्वाद्भीष्मादिबन्धुदेहविच्छेदे सुखवियोगो दुःखसंयोगश्च स्यादिति शोकमोहौ नानुचिताविति अर्जुनाभिप्रायमाशङ्क्य लिङ्गशरीरविवेकायाऽऽह–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ 14 ॥

44 मीयन्त आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि तासां स्पर्शा विषयैः संबन्धास्तत्तद्विषयाकारान्तःकरणपरिणामा वा । त आगमापायिन उत्पत्तिविनाशवतोऽन्तःकरणस्यैव शीतोष्णादिद्वारा सुखदुःखदा, नतु नित्यस्य विभोरात्मनः; तस्य निर्गुणत्वान्निर्विकारत्वाच्च । न हि नित्यस्यानित्यधर्माश्रयत्वं संभवति धर्मधर्मिणोरभेदात्संबन्धान्तरानुपपत्तेः साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वानुपपत्तेश्च । तदुक्तम्–

कारण भीष्मादि बन्धुओं के देह का विच्छेद होने पर मुझे सुख से वियोग और दुःख से संयोग होगा ही । अतः मेरे शोक और मोह अनुचित नहीं हैं' -- ऐसे अर्जुन के अभिप्राय की आशङ्का करके लिङ्गशरीर के विवेक (ज्ञान) के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे कौन्तेय ! सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति--विनाशशील और अनित्य हैं, अतएव हे भारत ! उनको तू सहन कर ॥ 14 ॥]

44 इनसे विषयों का मान (ज्ञान) होता है, इसलिए इन्द्रियाँ 'मात्रा' कहलाती हैं । उनके स्पर्श = विषयों से सम्बन्ध अथवा तद्-तद् विषयों के आकार वाले अन्तःकरण के परिणाम -- ये आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति और विनाश वाले हैं और सर्दी-गर्मी आदि द्वारा अन्तःकरण को ही सुख-दुःख देने वाले हैं, नित्य और विभु आत्मा को नहीं, क्योंकि आत्मा तो निर्गुण और निराकार है ।[79] नित्यवस्तु को अनित्य धर्मों की आश्रयता होना संभव नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी का अभेद होने के

79. सांख्य, योग और वेदान्त -- तीनों दर्शनों ने अन्तःकरण को 'वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी' माना है । सांख्यदर्शन 'बुद्धि' को 'महत्तत्त्व' 'अन्तःकरण', 'सत्त्व', 'चित्त' आदि शब्दों से भी व्यवहृत करता है । इनके मत के अनुसार 'अन्तःकरण' एक तैजस द्रव्य के समान है । इनके मत में जब बुद्धि का बाह्य घट–पटादि वस्तुओं के साथ इन्द्रियरूप प्रणालिका के द्वारा सम्बन्ध होता है, तो सम्बन्ध के पश्चात् वह बुद्धि (अन्तःकरण) उस घटादि पदार्थों के आकार में परिणत हो जाती है । 'बुद्धि' की इस अर्थाकार परिणति को ही 'बुद्धिवृत्ति' = चित्तवृत्ति = अन्तःकरणवृत्ति कहते हैं । उसके इस अर्थाकार परिणाम को ही 'ज्ञान' भी कहते हैं । 'परिणाम' हमेशा परिणामी वस्तु में ही रहता है । इसलिए यह 'अर्थाकार परिणामात्मक ज्ञान' परिणामिनी बुद्धि = अन्तःकरण के ही आश्रित रहता है । अत: 'ज्ञान' आत्मा का धर्म नहीं है, अपितु बुद्धि (अन्तःकरण) का ही धर्म है । फलत: तद्-तद् विषयों के आकार वाले अन्त:करण के परिणाम अन्तःकरण को ही सुख-दुःख प्रदान करते हैं, नित्य और विभु आत्मा को नहीं ।

80. अद्वैत–सिद्धान्त के अनुसार धर्म–धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध है, सम्बन्धान्तर नहीं । किन्तु नैयायिक धर्म-धर्मी में 'समवाय' सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । जैसे, आत्मा (धर्मी) में 'ज्ञान' (धर्म) समवाय सम्बन्ध से रहता है । इसकी अनुमान से उपपत्ति होती है — 'गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वाद्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' — इस अनुमान से वह विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध समवाय के अतिरिक्त दूसरा और कोई संयोगादि सम्भव नहीं हो सकता । यहाँ पर जैसे 'दण्डीपुरुष' – विशिष्टज्ञान विशेषण-विशेष्य के संयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, वैसे ही अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावत् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्तिः, विशेषवत् नित्यद्रव्यम् -- आदि विशिष्टज्ञानों का विशेष भी विशेषण-विशेष्य दोनों का सम्बन्ध ही होगा । वह सम्बन्ध 'समवाय' के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता, क्योंकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने अपने द्रव्य के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता । क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है । अत: 'समवाय' की सिद्धि हो जाती

'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः' इति ॥
(बृह० वा० 1.4.561)

45 **तथा च सुखदुःखाद्याश्रयीभूतान्तःकरणभेदादेव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्न निर्विकारस्य सर्वभासकस्याऽऽत्मनो भेदे मानमस्ति, सद्रूपेण च सर्वत्रानुगमात् । अन्तःकरणस्य तावत्सुखदुःखादौ जनकत्वमुभयवादिसिद्धम् । तत्र समवायिकारणत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात्तदेव कल्प-**

कारण उनका और कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता [80] तथा साक्ष्य साक्षी का धर्म भी नहीं हो सकता । ऐसा कहा भी है -- 'विकार के बिना आत्मा दुःखी नहीं हो सकता और यदि उसे विकारी मानें तो उसमें साक्षिता कैसे हो सकती है ? विकारी साक्ष्यकोटि में संभव है, साक्षिकोटि में नहीं । 'अहं' आत्मा बुद्धि के सहस्रों विकारों का साक्षी है, अत: अविकारी है' –(बृह० वा० 1. 4. 561) ।

45 इसप्रकार सुख, दुःखादि के आश्रयीभूत अन्तःकरण के भेद से ही सभी प्रकार की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाने के कारण निर्विकार सर्वजगत्भासक आत्मा के भेद में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो सद्रूप और चिद्रूप से सर्वत्र अनुगत है । अन्तःकरण का सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में कारण होना दोनों ही वादियों के मत में सिद्ध है । उसमें समवायिकारणता के ही अभ्यर्हित होने के कारण सुख-दुःखादि के प्रति समवायिकारणता की ही कल्पना करना उचित है, कोई अन्य समवायिकारण न होने पर उसे निमित्तमात्र मानना उचित नहीं है[81] । इसी प्रकार 'कामः संकल्पः[82]' इत्यादि श्रुति

है । परन्तु नैयायिकों का 'समवाय' सम्बन्ध–उपपादन उचित नहीं है, क्योंकि प्रश्न है कि 'समवाय' किस सम्बन्ध से धर्मी में रहता है ? गुण के समान समवाय सम्बन्ध भी सम्बन्धी से भिन्न है, अत: किसी सम्बन्ध से रह कर ही सम्बन्धिता का नियामक होगा, अन्यथा हिमवान् और बिन्ध्य पर्वत की भी सम्बन्धिता हो जायेगी । यदि इसका भी कोई सम्बन्ध होगा, तो उसका भी सम्बन्धान्तर पुन: उसका सम्बन्धान्तर — इस प्रकार सम्बन्धान्तर की कल्पना करते रहने से अनवस्था होगी । यदि अन्त्य सम्बन्ध का कोई सम्बन्ध नहीं होगा, तो आमूल सम्बन्ध असिद्ध हो जायेगा । इस दोष का वारण करने के लिए यदि समवाय को स्वरूपसम्बन्ध कहें, तो गुण-गुणी का ही स्वरूप सम्बन्ध मान लेने से समवाय सम्बन्ध की सिद्धि का उपपादन नहीं हो सकता । गुण-गुणी का जो स्वरूप सम्बन्ध होगा वह 'तादात्म्य' सम्बन्ध में ही पर्यवसित होगा । अत: धर्म-धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध ही है, सम्बन्धान्तर नहीं ।

81. यहाँ यह शंका होती है कि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीति से सुखादि आत्मनिष्ठ प्रतीत होते हैं, तो फिर उनको मनोवृत्ति क्यों मानते हैं ? समाधान यह है कि एकजीववादी (अद्वैत) और अनेकजीववादी (न्याय-वैशेषिकादि) — दोनों ही वादियों के मत में अन्तःकरण का सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में कारण होना स्वीकार है । भेद इतना ही है कि नैयायिक अन्तःकरण को सुखादि का निमित्तकारण मानते हैं, समवायिकारण नहीं और अद्वैतवादी अन्तःकरण को सुखादि का समवायिकारण मानते हैं, निमित्तकारण नहीं । जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो, वह समवायिकारण है और समवायिकारण में रहकर ही कारण हो, वह असमवायिकारण है । इन दोनों ही कारणों से भिन्न निमित्तकारण कहलाता है, यह नैयायिकों की कारणभेदप्रक्रिया है । इसमें विचारणीय यह है कि अन्तःकरण = मन सुखादि का समवायिकारण है या निमित्तकारण ? एतदर्थ इन तीनों कारणों में मुख्य कारण कौन है ? यह पूर्वमेव विचारणीय है । समवायिकारण के बिना असमवायिकारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि समवायिकारणघटित असमवायिकारण का लक्षण है, अत: समवायिकारण के अधीन असमवायिकारण के होने से समवायिकारण प्रधान है । निमित्तकारण तो दोनों के अधीन होने से दोनों कारणों से अप्रधान है । यदि मन सुखादि का प्रधान = समवायिकारण हो सकता है, तो उसे अप्रधान कारण = निमित्तकारण क्यों माना जाय ? इसीलिए समवायिकारणता को अभ्यर्हित कहा है । और फिर समवायिकारणान्तर के निश्चित होने से ही मन को निमित्तकारण कह सकते हैं, किन्तु निश्चित यदि दूसरा समवायिकारण नहीं हैं, तो मन को ही समवायिकारण मानना उचित है ।

यितुमुचितं न तु समवायिकारणान्तरानुपस्थितौ निमित्तत्वमात्रम् । तथा च 'कामः संकल्प' इत्यादिश्रुतिरेतत्सर्वं मन एवेति कामादिसर्वविकारोपादानत्वमभेदनिर्देशान्मनस आह । आत्मनश्च स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूपत्वस्य श्रुतिभिर्बोधनान्न कामाद्याश्रयत्वम् । अतो वैशेषिकादयो भ्रान्त्यैवाऽऽत्मनो विकारित्वं भेदं चाङ्गीकृतवन्त इत्यर्थः ।

46 **अन्तःकरणस्याऽऽगमापायित्वाद् दृश्यत्वाच्च नित्यदृग्रूपात्त्वत्तो भिन्नस्य सुखादिजनका ये मात्रास्पर्शास्तेऽप्यनित्या अनियतरूपा, एकदा सुखजनकस्यैव शीतोष्णादेरन्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात्, एवं कदाचिद्दुःखजनकस्याप्यन्यदा सुखजनकत्वदर्शनात् । शीतोष्णग्रहणमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखोपलक्षणार्थम् । शीतमुष्णं च कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं सुखदुःखे तु न कदाऽपि विपर्ययेते इति पृथङ्निर्देशः ।**

47 **तथा चात्यन्तास्थिरांस्त्वद्भिन्नस्य विकारिणः सुखदुःखादिप्रदान्भीष्मादिसंयोगवियोगरूपान्मात्रास्पर्शांस्त्वं तितिक्षस्व=नैते मम किंचित्करा इति विवेकेनोपेक्षस्व, दुःखितादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं दुःखिनं मा ज्ञासीरित्यर्थः । कौन्तेय भारतेति संबोधनद्वयेनोभयकुलविशुद्धस्य तवाज्ञानमनुचितमिति सूचयति ॥ 14 ॥**

'एतत्सर्वं मन एव' ऐसा कहकर मन के साथ कामादि सभी विकारों का अभेद बनाकर मन को ही कामादि सभी विकारों का उपादान बतलाती है । श्रुतियों ने तो आत्मा की स्वप्रकाशज्ञानानन्दस्वरूपता का उपदेश किया है, इसलिए उसमें कामादि की आश्रयता नहीं हो सकती । अतः वैशेषिकादि ने भ्रान्ति से ही आत्मा में विकारित्व और भेद स्वीकार किया है -- यह तात्पर्य है ।

46 अन्तःकरण आगमापायी (उत्पत्ति-विनाशशाली) और दृश्य होने के कारण नित्य, दृग् (साक्षी), चैतन्यरूप त्वंपदार्थ से भिन्न है, अतः उसके जो सुखादिजनक मात्रास्पर्श हैं वे भी अनित्य -- अनियतरूप हैं, क्योंकि जो शीतोष्णादि एक समय सुखजनक होते हैं वे ही दूसरे समय दुःखजनक देखे जाते हैं । इसीप्रकार कदाचित् दुःखजनक होने पर भी वे दूसरे समय सुखजनक देखे जाते हैं । शीतोष्ण का ग्रहण आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक--- तीनों प्रकार के सुख-दुःखों का उपलक्षण कराने के लिए है । शीत और उष्ण तो कभी सुख और कभी दुःख हो जाते हैं, किन्तु सुख[83]-दुःख[84] में ऐसा विपर्यय कभी नहीं होता, इसीलिए उनका पृथक् निर्देश किया है ।

47 इसप्रकार जो अत्यन्त अस्थिर, त्वद्भिन्न विकारी चित्त को सुख-दुःखादि देने वाले हैं, उन भीष्मादि के संयोग-वियोगरूप मात्रास्पर्शों को तू सहन कर अर्थात् 'ये मेरा कुछ भी नहीं कर सकते' -- इस प्रकार के विवेक से उनकी उपेक्षा कर अर्थात् दुःखी चित्त के साथ आत्मा के अभेद का अध्यास करके अपने को दुःखी मत समझ । 'कौन्तेय' और 'भारत' -- इन दो सम्बोधन पदों से यह सूचित करते हैं कि जिसके मातृकुल और पितृकुल -- दोनों ही कुल शुद्ध हैं ऐसे तुझको अज्ञान होना अत्यन्त अनुचित है ॥ 14 ॥

---

82. 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' — अर्थात् काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय — ये सभी मन ही हैं ।

83. जो इष्ट, मित्र, शत्रु आदि सभी को अनुकूल जान पड़े वह 'सुख' है (सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् = इष्टसाधनताज्ञानानधीनेच्छाविषयत्वं सुखस्य लक्षणम् -- (तर्कसंग्रह) ।

84. जो इष्ट, मित्र, शत्रु, आदि सभी को प्रतिकूल जान पड़े वह दुःख है (प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् = इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयताशालित्वं दुःखस्य लक्षणम् —- तर्कसंग्रह) ।

48 नन्वन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वे तस्यैव कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च चेतनत्वमभ्युपेयं, तथा च तद्व्यतिरिक्ते तद्भासके भोक्तरि मानाभावान्नाममात्रे विवादः स्यात्, तदभ्युपगमे च बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः, अन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन बद्धत्वात्, आत्मनश्च तद्व्यतिरिक्तस्य मुक्तत्वादित्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह भगवान्–

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 15 ॥

49 यं स्वप्रकाशत्वेन स्वत एव प्रसिद्धम् 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृह० 4.3.19) इति श्रुतेः पुरुषं पूर्णत्वेन पुरि शयानं 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन किंचनानावृतं नैतेन किंचनासंवृतम्' (बृह० 2.5.18) इति श्रुतेः, समदुःखसुखं= समे दुःखसुखे अनात्मधर्मतया भास्यतया च यस्य निर्विकारस्य स्वयंज्योतिषस्तं, समदुःखग्रहणमशेषान्तःकरणपरिणामोपलक्षणार्थम्, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह० 4.4.23) इतिश्रुत्या वृद्धिकनीयस्तारूपयोः सुखदुःखयोः प्रतिषेधात्, धीरं धियमीरयति

48 'सुख, दुःख आदि का आश्रय होने से अन्तःकरण कर्त्ता और भोक्ता है, इसीलिए उसी को ही चेतन भी स्वीकार करना चाहिए । इसप्रकार इसके अतिरिक्त अन्तःकरणादिभासक भोक्ता में कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए उसके नाममात्र में विवाद होगा । यदि उसे माना भी जाय तो बन्ध-मोक्ष के विभिन्न अधिकरणों में होने की आपत्ति होगी, क्योंकि सुख, दुःख आदि का आश्रय होने से अन्तःकरण तो बद्ध है और सुखादि से रहित होने कारण आत्मा मुक्त है[85]' ---ऐसी अर्जुन की आशङ्का के निवारण के लिए भगवान् कहते हैं :--

[हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख और दुःख में समान रहने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध व्याकुल नहीं करते, वही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होता है ॥ 15 ॥]

49 'यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति अर्थात् स्वप्रकाश होता है'(बृह० 4.3.19) --- इस श्रुति के अनुसार स्वप्रकाश होने के कारण स्वतः ही प्रसिद्ध जिस पुरुष को, -- जो 'वह यह पुरुष समस्त देहरूप पुरियों में हृदय के भीतर रहने वाला है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इससे आच्छादित न हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है जो इससे ढकी न हो' (बृह० 2.5.18) --- इस श्रुति के अनुसार पूर्ण होने से देहरूप पुरी में शयन = व्याप्त रहने के कारण 'पुरुष' कहलाता है तथा जो समदुःख--सुख है अर्थात जिस निर्विकार स्वयंज्योतिस्वरूप के लिए अनात्मधर्म और भास्य होने के कारण दुःखसुख

85.यहाँ अर्जुन की ओर से वैशेषिकमतानुसार आशङ्का की गई है । वैशेषिकों के अनुसार सुख, दुःखादि का आश्रय आत्मा है, वही कर्त्ता और भोक्ता है तथा चेतन है । अद्वैत-सिद्धान्त में सुख, दुःखादि का आश्रय अन्तःकरण है, वही कर्त्ता और भोक्ता है, किन्तु वह अचेतन है । उनके अनुसार आत्मा ही चेतन है जो कि अन्तःकरण से सर्वथा भिन्न है । इसप्रकार सुखादि के आश्रय होने के कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व के लिए वैशेषिक जिसे 'आत्मा' कहते हैं, उसे ही अद्वैतवादी 'अन्तःकरण' कहते हैं, केवल नाम में भेद हैं । अतः वैशेषिक यहाँ पुनः यह कहते हैं कि अन्तःकरण का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा में आरोपित होने के कारण अन्तःकरण से अतिरिक्त उसका प्रकाशक स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं होने से आत्मा को अन्तःकरण से पृथक् नहीं मानना चाहिए, अन्यथा बन्धन और मुक्ति एक अधिकरण में नहीं रह सकेंगे, फलतः युक्तिविरुद्ध सिद्धान्त होगा, क्योंकि सुखादि का आश्रय होने के कारण अन्तःकरण बद्ध हो जायेगा और आत्मा अन्तःकरण से भिन्न होने के कारण मुक्त रहेगा । निष्कर्षतः आत्मा (अन्तःकरण) को ही सुखादि का आश्रय होने के कारण कर्त्ता, भोक्ता और चेतन स्वीकार करना चाहिए ।

प्रेरयतीति व्युत्पत्त्या चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरकं धीसाक्षिणमित्यर्थः । 'स धीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृह० 4.3.7) इति श्रुतेः । एतेन बन्धप्रसक्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

'यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा ।
भावाभावविभागश्च स ब्रह्मास्मीति बोध्यते'
(बृह० वा० सं० 1082) इति

एते सुखदुःखदा मात्रास्पर्शा हि यस्मान्न व्यथयन्ति परमार्थतो न विकुर्वन्ति सर्वविकारभासकत्वेन विकारायोग्यत्वात् ।

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'
(कठ० 5.11) इति श्रुतेः ।

समान हैं उस पुरुष को, --। यहाँ सुख-दु:ख का ग्रहण अन्त:करण के समस्त परिणामों को उपलक्षित कराने के लिए है, क्योंकि 'ब्रह्मवित् पुरुष की यह नित्य महिमा है कि वह शुभकर्म से न बढ़ता है और न पापकर्म से घटता है' (बृह० 4.4.23) --- इस श्रुति से ब्रह्मवित् पुरुष के वृद्धि और ह्रासरूप सुख-दु:ख का निषेध किया गया है ।, --- और जो धीर है अर्थात् 'धियम् ईरयति प्रेरयति' = जो बुद्धि को प्रेरित करता है, इस व्युत्पत्ति से चिदाभास द्वारा अर्थात् चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्त:करण (बुद्धि) के साथ तादात्म्य (अभेद) का अध्यास होने से बुद्धि के प्रेरक अर्थात् बुद्धि के साक्षी आत्मा (पुरुष) को, -- यह भाव है । इसमें 'वह पुरुष बुद्धि के साथ स्वप्नरूप होकर इस लोक से परे चला जाता है' (बृह० 4.3.7), -- यह श्रुति प्रमाण है । इससे आत्मा में बन्धन की प्रसक्ति दिखलाई गई है । [86] कहा भी है ----

"जिससे सभी प्रमाण, जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ तथा भाव, अभाव और उनका विभाग अर्थात् सद्-असद् का विवेक -- ये सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म मैं हूँ' ---- यह बोध कराया जाता है" (बृह० वा० सं० 1082) ।

ये सुख-दु:ख देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध उस पुरुष (आत्मा) को व्यथित नहीं करते अर्थात् वस्तुत: विकृत नहीं करते क्योंकि आत्मा सभी विकारों का भासक होने के कारण स्वयं विकारयोग्य नहीं होता है । जैसा कि श्रुति कहती है ----

'जैसे समस्त लोकों का नेत्र सूर्य नेत्रेन्द्रियसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा, जो उनसे बाहर भी व्याप्त है, लोक के दु:ख से लिप्त नहीं होता है' (कठ० 5.11) ।

86. अर्जुन की ओर से की गई आशङ्का के रूप में वैशेषिकों ने यह आपत्ति की थी कि आत्मा को अन्त:करण से पृथक् स्वीकार करने से मुक्त आत्मा और बद्ध अन्त:करण के अधिकरण भिन्न होने के कारण बन्धन और मुक्ति एक अधिकरण में नहीं रह सकेंगे । यहाँ अद्वैत-सिद्धान्त से वैशेषिकों की इस आपत्ति का निवारण किया गया है । अद्वैत-वेदान्त के अनुसार बन्धन अन्त:करण (बुद्धि) का धर्म होने पर भी अज्ञानवश चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट अन्त:करण (बुद्धि) के साथ तादात्म्यापन्न (अभेदापन्न) चिदाभास के साथ आत्मा का तादात्म्याध्यास होने के कारण सदा मुक्त आत्मा में ही बन्धन का प्रसङ्ग होता है और जब वह आत्मा (पुरुष) बुद्धि के साथ तादात्म्याभिमान का परित्याग कर अपने स्वरूप का अभिमान करता है अर्थात् 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ' — ऐसा अभिमान करता है, तब उसे बन्धन से निवृत्ति या मुक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार आत्मा (पुरुष) को ही अध्यास के ही कारण सदा मुक्त होते हुए भी बन्धन और मुक्ति प्राप्त होती है । फलत: बन्धन और मुक्ति एक ही अधिकरण आत्मा में ही अध्यास के कारण निष्पन्न होते हैं । इससे वैशेषिक-मत खण्डित हो जाता है ।

अतः स पुरुषः स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन सर्वदुःखोपादानतदज्ञाननिवृत्त्युपलक्षिताय निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपायामृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवतीत्यर्थः ।

50 यदि ह्यात्मा स्वाभाविकबन्धाश्रयः स्यात्तदा स्वाभाविकधर्माणां धर्मिनिवृत्तिमन्तरेणानिवृत्तेर्न कदाऽपि मुच्येत । तथाचोक्तम्–

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः' इति ॥

प्रागभावासहवृत्तेर्युगपत्सर्वविशेषगुणनिवृत्तेर्धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयकत्वदर्शनात्। अथाऽऽत्मनि बन्धो न स्वाभाविकः किंतु बुद्ध्याद्युपाधिकृतः, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ 5.4) इति श्रुतेः । तथा च धर्मिसद्भावेऽपि तन्निवृत्या मुक्त्युपपत्तिरिति चेत्, हन्त ! तर्हि यः स्वधर्ममन्य–

अतः वह पुरुष स्वस्वरूपभूत ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से अमृतत्व अर्थात् मोक्ष के लिए योग्य होता है, जो मोक्ष समस्त दुःखों के उपादान-ब्रह्मात्मैक्य के अज्ञान की निवृत्ति से उपलक्षित है और निखिल द्वैत के संसर्ग से रहित, स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप है,-- यह तात्पर्य है ।

50 यदि आत्मा स्वाभाविक बन्ध का आश्रय होगा, तो उसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि स्वाभाविक धर्मों की निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति के बिना नहीं होती । ऐसा कहा भी है ---

'यदि आत्मा कर्त्तादिरूप हो, तो उसकी मुक्ति की इच्छा मत करो, क्योंकि सूर्य की उष्णता के समान भावपदार्थों का स्वभाव कदापि निवृत्त नहीं होता ।'

क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जिनकी स्थिति प्रागभाव को सहन नहीं करती [87] अर्थात् जिनकी स्थिति अनादि होती है उन एक साथ रहनेवाले सभी विशेष गुणों [88] की निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति

---

87. वैशेषिक-मत के अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना -- ये नौ विशेष-गुण बद्ध आत्मा के धर्म कहे जाते हैं । ऐसा होने से ही आत्मा में उन विशेष-गुणों का प्रागभाव रहता है अर्थात् जिस समय आत्मा में एक सुख या दुःख या अन्य विशेष-गुण रहता है उस समय असंख्य सुख-दुखादि का प्रागभाव भी रहता है । अतः प्रत्येक विशेषगुण की निवृत्ति ही प्रागभावसहवृत्ति है अर्थात् आत्मा में किसी विशेषगुण की निवृत्ति के साथ साथ उस विशेषगुण का प्रागभाव भी रहता है । फलतः संसार अवस्था में आत्मा के विशेषगुणों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती है । इसीलिए वैशेषिक कहते हैं कि आत्मा के सभी विशेषगुणों की एक साथ निवृत्ति और उनके प्रागभाव की असहवृत्ति ही 'अपवर्ग' (मोक्ष) है ('प्रागभावासहवृत्तिः युगपदुत्पन्न सर्वविशेषगुणनिवृत्तिरपवर्गः' –वैशेषिकसूत्रोपस्कार) । जैसे ईंधन के जलजाने पर अग्नि एकरूप में स्थिर हो जाती है, वैसे ही समस्त विशेषगुणों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी स्थिति का नाम 'मोक्ष' है ('दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः' — प्रशस्तपादभाष्य) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती इस वैशेषिक-मोक्षमत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वैशेषिक-मत में आत्मा में विशेष-गुण स्वाभाविक हैं या औपाधिक ? यदि स्वाभाविक हैं तो उन गुणों की तब तक आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी, जबतक कि उन गुणों का आश्रय (धर्मी = आत्मा) नष्ट न हो जाय । आश्रय का विनाश स्वीकार करने पर आत्मा ही नहीं रहेगी, तो मुक्ति किसकी होगी ? स्वाभाविक धर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति धर्मी की निवृत्ति के बिना हो नहीं सकती । अतः आत्मा के गुणों को स्वाभाविक कहना उचित नहीं है । यदि आत्मा में उन धर्मों को औपाधिक स्वीकार करें, तो वैशेषिकों का सिद्धान्त नहीं है ; वेदान्त-सिद्धान्त में तो आत्मा में धर्मों की औपाधिकता ही स्वीकार है ।

८८. 'द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति-गुणवृत्ति-जातिमत्त्वम् विशेषगुणत्वम्' –(तर्कदीपिका) –अर्थात् द्रव्यविभाजक उपाधिद्वय = धर्मद्वय के साथ रहने वाले गुण में अवृत्ति जातिमान् गुण 'विशेषगुण' कहलाते हैं । जैसे -- द्रव्यविभाजक धर्म हैं पृथ्वीत्व, जलत्व आदि , उपाधिद्वय समानाधिकरण गुण हैं संयोग, विभाग आदि ; उनमें अवृत्ति जाति होती है रूपत्व, रसत्व आदि ; तादृश जातिमत्ता आती है रूप, रस आदि विशेषगुणों में, अतः लक्षणसमन्वय

निष्ठतया भासयति स उपाधिरित्यभ्युपगमाद् बुद्ध्यादिरुपाधिः स्वधर्ममात्मनिष्ठतया भासयतीत्यायातम् । तथा चाऽऽयातं मार्गे बन्धस्यासत्यत्वाभ्युपगमात् । न हि स्फटिकमणौ जपाकुसुमोपधाननिमित्तो लोहितिमा सत्यः । अतः सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणोऽप्यात्मन उपाधिवशात्तत्संसर्गित्वप्रतिभासो बन्धः, स्वस्वरूपज्ञानेन तु स्वरूपाज्ञानतत्कार्य-बुद्ध्याद्युपाधिनिवृत्या तन्निमित्तनिखिलभ्रमनिवृत्तौ निर्मृष्टनिखिलभास्योपरागतया शुद्धस्य स्वप्रकाशपरमानन्दतया पूर्णस्याऽऽत्मनः स्वत एव कैवल्यं मोक्ष इति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः । अत एव नाममात्रे विवाद इत्यपास्तं, भास्यभास-कयोरेकत्वानुपपत्तेः । दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यो भास्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाद्भास्यस्य भासकत्वादर्शनात् । एकस्यैव भास्यत्वे भासकत्वे च कर्तृकर्मविरोधात् ।

के बिना नहीं होती । आत्मा में बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधि के कारण है, जैसा कि श्रुति कहती है --- 'इन्द्रिय और मन के सहित आत्मा भोक्ता है --- ऐसा मनीषी लोग कहते हैं' (कठ, 5.4) । यदि यह कहें कि ऐसी स्थिति में तो धर्मी (आत्मा) के रहते हुए भी औपाधिक बन्ध की निवृत्ति होने से उसकी मुक्ति उपपन्न हो सकती है, तो यह आश्चर्य है कि 'जो स्वधर्म को अन्यनिष्ठ होकर भासित कराती है वह 'उपाधि है' – ऐसा स्वीकार करने से यही निश्चय हुआ कि बुद्धि आदि उपाधि स्वधर्म बन्ध का आत्मनिष्ठ होकर भान कराती है । इस प्रकार आत्मा के बन्ध को असत्य स्वीकार करने से तो तुम भी हमारे ही मार्ग में आ गए । स्फटिकमणि में जपाकुसुम की सन्निधि के कारण जो अरुणिमा होती है वह सत्य नहीं होती । अतः समस्त संसारधर्मों से असंग होने पर भी आत्मा में उपाधिवश ही सांसारिक धर्मों से संसर्ग का प्रतिभास ही उसका बन्ध है । आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से तो स्वरूपाज्ञान और अज्ञान की कार्यभूता बुद्धि आदि उपाधि की निवृत्ति होने से उसके कारण होने वाले सम्पूर्ण भ्रम की निवृत्ति से भास्यजनित समस्त अध्यास के निरस्त हो जाने के कारण पूर्ण आत्मा के शुद्ध और स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होने से स्वतः ही उसका कैवल्यरूप 'मोक्ष' सिद्ध हो जाता है --- इस प्रकार बन्ध और मोक्ष के विभिन्न अधिकरणों में होने की आपत्ति नहीं होती । 'अतएव नाममात्र में ही विवाद होगा' --- यह पूर्वोक्त विवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि भास्य और भासक की एकता नहीं हो सकती । 'दुःखी अपने से भिन्न भासक के द्वारा भास्य होता है, भास्य होने के कारण, घट के समान' --- इस अनुमान से भी जो भास्य है उसकी भासकता कभी नहीं देखी जाती । यदि एक ही वस्तु में भास्यता और भासकता रहेंगी, तो एक वस्तु में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों भावों के रहने पर विरोध उपस्थित होगा ।

होता है । किन्तु विशेषगुण का ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर एकत्व संख्या और परिमाण स्वरूप सामान्यगुण में अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है, अतः 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-स्नेह-सांसिद्धिकद्रवत्वादृष्ट-भावना-शब्दान्यतमत्वं विशेषगुणत्वम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रभा) — यह विशेषगुण का निर्वचन ज्ञातव्य है । उक्त अन्यतमत्व प्रत्येक विशेषगुण में रहेगा, सामान्यगुण में नहीं । 'विशेषगुण' है वही जो एक समय में मात्र एक द्रव्य में रहता है, दो या दो से अधिक द्रव्यों में नहीं रहता । सामान्यगुण एक साथ दो या दो से अधिक द्रव्यों में रहता है । विशेषगुण सोलह होते हैं –

'बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ।। (भाषापरिच्छेद)

51 आत्मनः कथमिति चेत्, न, तस्य भासकत्वमात्राभ्युपगमात्, अहं दुःखीत्यादि-वृत्तिसहिताहंकारभासकत्वेन तस्य कदाऽपि भास्यकोटावप्रवेशात् । अत एव दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षो भासकत्वाद्दीपवदित्यनुमानमपि न, भास्यत्वेन स्वातिरिक्तभासकत्वसाधकेन प्रतिरोधात् । भासकत्वं च भानकरणत्वं स्वप्रकाशभानरूपत्वं वा । आद्ये दीपस्येव करणान्तरानपेक्षत्वेऽपि स्वातिरिक्तभानसापेक्षत्वं दुःखिनो न व्याहन्यतेऽन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः । द्वितीये त्वसिद्धो हेतुरित्यधिकबलतया भास्यत्वहेतुरेव विजयते ।

51 यदि यह कहें कि आत्मा भास्य और भासक दोनों क्यों नहीं है, तो इसका यही समाधान है कि आत्मा की तो मात्र भासकता ही स्वीकार की गई है, भास्यता नहीं । 'मैं दुःखी हूँ' – इत्यादि वृत्तिसहित अहंकार के भासक होने पर उसका भास्यकोटि में प्रवेश कदापि नहीं हो सकता । अतएव ऐसा अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि 'दुःखी अपने से भिन्न किसी अन्य भासक की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वह भासक है, दीपक के समान' । क्योंकि अपने से भिन्न भासक के सिद्ध करनेवाले भास्यत्व हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष[89] हो जाता है । भासकत्व का अर्थ भानकरणत्व [90] या स्वप्रकाशभानरूपत्व है । प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर दीपक के समान यद्यपि दुःखी को अपने भान में अपने से भिन्न करण की अपेक्षा नहीं है, तथापि उसकी अपने से भिन्न अपने भान की अपेक्षा का तो व्याघात नहीं होता, अन्यथा दृष्टान्त में साध्यवैकल्य की आपत्ति होगी[91] । द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर तो हेतु असिद्ध[92] हो जाता है । अत: अधिक बलवान् होने के कारण 'भास्यत्व' हेतु [93] की ही विजय होती है ।

89. तुल्यबल हेतुस्थल में 'सत्प्रतिपक्ष' होता है (तुल्यबलयोरेव सत्प्रतिपक्षत्वम् नातुल्यबलयोरिति नियम:) । 'दुःखी न स्वव्यतिरिक्तभास्य:, भास्यत्वात्, धटवत्' यह वेदान्तियों का अनुमान है । 'दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्ष:, भासकत्वात्, प्रदीपवत्' — यह नैयायिकों का अनुमान है । इन दोनों अनुमान-वाक्यों में तुल्यबल हेतु प्रतीत होने से 'सत्प्रतिपक्ष' प्रतीत होता है । वस्तुत: इन दोनों हेतुओं में 'सत्प्रतिपक्ष' हो नहीं सकता, क्योंकि नैयायिकों का हेतु दुष्ट होने से न्यूनबल वाला है । अत: दोनों हेतुओं में से नैयायिकों का हेतु न्यूनबल वाला है तो वेदान्तिओं का हेतु अधिक बलवाला हुआ, इस प्रकार दुर्बल का प्रबल हेतु के द्वारा बाध हो गया, फिर तो हेतु बाधित हुआ, सत्प्रतिपक्ष नहीं ।

90. व्यापार से युक्त असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं ('व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्' (न्यायबोधिनी) । इस लक्षण के अनुसार निर्व्यापार आत्मा में 'करणत्व' नहीं रह सकता । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने भासकत्व के अर्थ भानकरणत्व के साथ विकल्प में भासकत्व का दूसरा अर्थ स्वप्रकाशभानरूपत्व किया है ।

91. यहाँ यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि भासकत्व का अर्थ भानकरणत्व उचित नहीं है । क्योंकि दीपक के समान दुःखी में अपने से भिन्न भासक की अपेक्षा का अभाव रहता है, तो मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि दुःखी को दीपक के समान अपने से भिन्न भासक की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु दीपक और दुःखी – इन दोनों में अपने से भिन्न अपने भान की अपेक्षा तो रहती है । यदि पक्ष में यह स्वीकार नहीं किया गया तो दृष्टान्त में भानकरणार्थक भासकत्वरूप हेतु से साध्य (दु:खी) की सिद्धि नहीं होगी अर्थात् साध्य की सिद्धि न होने से 'साध्यवैकल्यदोष' होगा ।

92. लिङ्ग (ज्ञापक) के रूप में निश्चित न होनेवाला हेतु 'असिद्ध' कहलाता है ('लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्ध:' – तर्कभाषा) । दुःखी भानस्वरूप है – यह नैयायिकों को इष्ट नहीं है । नैयायिक आत्मा को भानाश्रय स्वीकार करते हैं, भानस्वरूप नहीं । वेदान्त-मत में यद्यपि आत्मा भानस्वरूप है, किन्तु दुःखाश्रय नहीं है । अत: दुःखी में भानत्व हेतु उभयमत से 'असिद्ध' हो जाता है ।

93. पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व -- इन पांच रूपों से उपपन्न हेतु ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होने के कारण सद्हेतु होता है ('पञ्चरूपोपपन्न एव हेतु: स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते' – तर्कभाषा) । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तियों के अनुभान वाक्य में प्रयुक्त हेतु –'भास्यत्वात्' – को पञ्चरूपोपपन्न होने से ही अधिक बलवान् स्वीकार किया है ।

52 **बुद्धिवृत्त्यतिरिक्तभानानभ्युपगमाद् बुद्धिरेव भानरूपेति चेत्,न, भानस्य सर्वदेशकालानुस्यूततया भेदकधर्मशून्यतया च विभोर्नित्यस्यैकस्य चानित्यपरिच्छिन्नानेकरूपबुद्धिपरिणामात्मकत्वानुपपत्तेः उत्पत्तिविनाशादिप्रतीतेश्चावश्यकल्प्यविषयतयाऽप्युपपत्तेः। अन्यथा तत्तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाश - भेदादिकल्पनायामतिगौरवापत्तेरित्याद्यन्यत्र विस्तरः । तथा च श्रुतिः—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० 4.3.23), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (छा० 3.14.3), 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० 2.4.12), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरम-वाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० 2.5.19) इत्याद्या विभुनित्यस्वप्रकाशज्ञानरूपतामात्मनो दर्शयति । एतेनाविद्यालक्षणादप्युपाधेर्व्यतिरेकः सिद्धः । अतोऽसत्योपाधिनिबन्धनबन्धभ्रमस्य सत्यात्मज्ञानान्निवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमवदातम् ।**

53 **पुरुषर्षभेति संबोधयन्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन पुरुषत्वं परमानन्दरूपत्वेन चाऽऽत्मन ऋषभत्वं सर्वद्वैतापेक्षया श्रेष्ठत्वमजानन्नेव शोचसि, अतः स्वस्वरूपज्ञानादेव तव शोकनिवृत्तिः सुकरा 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) इति श्रुतेरिति सूचयति । अत्र पुरुषमित्येकवचनेन सांख्यपक्षो निराकृतस्तैः पुरुषबहुत्वाभ्युपगमात् ॥ 15 ॥**

---

52 यदि यह कहें कि बुद्धिवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भान स्वीकार न करने के कारण बुद्धि ही भानरूप है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त देश और काल में अनुस्यूत और भेदकधर्मशून्य होने से विभु, नित्य, एक ही है, वह भान अनित्य, परिच्छिन्न, अनेकरूप बुद्धि--परिणामरूप नहीं हो सकता । तथा उसकी उत्पत्ति और विनाशादि की जो प्रतीति होती है वह तो अवश्य कल्पनीय विषयों की विषयता से भी हो सकती है । अन्यथा तद्-तद् ज्ञान के उत्पत्ति और विनाशरूप भेदादि की कल्पना में अतिगौरव की आपत्ति होगी, --- इत्यादि अन्यत्र विस्तार से कहा गया है । इसी प्रकार 'दृष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है' (बृह० 4.3.32) ; 'आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है' (छा० 3.14.3) ; 'वह महद्भूत (सद् ब्रह्म) अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है' (बृह० 2.4.12) ; 'वह यह ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य अर्थात् कारण-कार्यरहित और अन्तर-बाह्य-भावशून्य है, यह आत्मा सभी का अनुभविता (साक्षी) ब्रह्म है' (बृह० 2.5.19), --- इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा की विभुता, नित्यता, स्वप्रकाशज्ञानरूपता दिखाती हैं । इससे अविद्यारूप उपाधि से भी आत्मा की भिन्नता सिद्ध हो जाती है । अत: सत्य आत्मज्ञान से असत्य उपाधि के कारण प्रतीत होनेवाले बन्धरूप भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर मुक्ति हो जाती है --- इस प्रकार सब स्पष्ट हो गया ।

53 'पुरुषर्षभ' --- इस प्रकार सम्बोधन करते हुए भगवान् अर्जुन से यह कहते हैं कि तुम स्वप्रकाश चैतन्यरूप से अपने 'पुरुषत्व' और परमानन्दरूप से आत्मा का 'ऋषभत्व' अर्थात् सम्पूर्ण द्वैत की अपेक्षा 'श्रेष्ठत्व' को न जानते हुए ही शोक कर रहे हो । अत: आत्मस्वरूप के ज्ञान से ही तुम्हारे शोक की निवृत्ति सुकर है । जैसा कि 'आत्मविद् शोक को तर जाता है' --- (छा० 7.1.3), -- यह श्रुति सूचित करती है । यहाँ 'पुरुषम्' इस एकवचन से सांख्य-पक्ष का निराकरण किया गया है, क्योंकि वे पुरुषबहुत्व को स्वीकार करते हैं ।। 15 ।।

54 ननु भवतु पुरुषैकत्वं तथाऽपि तस्य सत्यस्य जडद्रष्टृत्वरूपः सत्य एव संसारः । तथाच शीतोष्णादिसुखदुःखकारणे सति तद्भोगस्याऽऽवश्यकत्वात्सत्यस्य च ज्ञानाद्विनाशानुपपत्तेः कथं तितिक्षा कथं वा सोऽमृतत्वाय कल्पत इति चेत् , न, कृत्स्नस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्याऽऽत्मनि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानाद्विनाशोपपत्तेः शुक्तौ कल्पितस्य रजतस्य शुक्तिज्ञानेन विनाशवत् ।

55 कथं पुनरात्मानात्मनोः प्रतीत्यविशेष आत्मवदनात्माऽपि सत्यो न भवेदनात्मवदात्माऽपि मिथ्या न भवेदुभयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याशङ्क्य विशेषमाह भगवान्–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ 16 ॥

56 यत्कालतो देशतो वस्तुतो वा परिच्छिन्नं तदसत् । यथा घटादि जन्मविनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिद्यते ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात् । कादाचित्कं कालपरिच्छिन्नमित्युच्यते । एवं देशपरिच्छिन्नमपि तदेव मूर्तत्वेन सर्वदेशावृत्तित्वात् । कालपरिच्छिन्नस्य देशपरिच्छेदनियमेऽपि देशपरिच्छिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य परमाण्वादेस्तार्किकैः कालपरिच्छेदानभ्युपगमाद्देशपरिच्छेदोऽपि पृथगुक्तः स च किञ्चिद्देशवृत्तिरत्यन्ताभावः । एवं सजातीयभेदो विजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति

---

54 शंका - अच्छा, स्वीकार कर लेता हूँ कि पुरुष एक ही है, तथापि उस सत्य पुरुष का जडद्रष्टत्वरूप संसार तो सत्य ही है । इस प्रकार शीतोष्णादि सुख-दु:ख के कारणों के रहने पर उनका भोग आवश्यक होने के कारण और सत्य संसार का ज्ञान से विनाश हो सकने के कारण तितिक्षा कैसे होगी ? अथवा वह साधक = धीर पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के योग्य कैसे होगा ? समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि समस्त द्वैतप्रपञ्च (विश्व) आत्मा में कल्पित ही है, अत: आत्मज्ञान से उसका विनाश होना संभव ही है, जैसे कि शुक्ति (सीपी) में कल्पित रजत (चाँदी) का शुक्तिज्ञान से विनाश हो जाता है ।

55 'अच्छा, आत्मा और अनात्मा की प्रतीति जब समान है, तो फिर आत्मा के समान अनात्मा सत्य क्यों नहीं है, अथवा अनात्मा के समान आत्मा मिथ्या क्यों नहीं है ? क्योंकि दोनों का योग-क्षेम तो समान ही है' - ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् दोनों के विशेष (भेद) को कहते हैं -

[असत् वस्तु की कभी सत्ता नहीं होती और सत् का कभी अभाव नहीं होता । तत्त्वज्ञानियों द्वारा इन दोनों की ऐसी ही नियतरूपता निश्चित की गई है ॥16॥]

56 जो काल, देश अथवा वस्तु से परिच्छिन्न होता है वह 'असत्' कहलाता है । जैसे घटादि जन्म और विनाशशील पदार्थ पूर्वकाल और परकाल से परिच्छिन्न हैं, क्योंकि वे ध्वंसाभाव और प्रागभाव के प्रतियोगी हैं । कादाचित्क अर्थात् जो कभी होते हैं = जो किसी समय-विशेष में होते हैं, वे 'कालपरिच्छिन्न' कहे जाते हैं । इसीप्रकार मूर्तरूप होने से समस्त देश में न रह सकने के कारण अर्थात् किसी देशविशेष में रह सकने के कारण वे ही देशपरिच्छिन्न भी कहलाते हैं । यद्यपि यह नियम है कि जो कालपरिच्छिन्न होता है वह देशपरिच्छिन्न भी होता है, तथापि नैयायिकों ने परमाणु आदि की देशपरिच्छिन्नता स्वीकार करने पर भी कालपरिच्छिन्नता स्वीकार नहीं की है, इसीलिए देशपरिच्छेद का पृथक् निर्देश किया है और वह 'देशपरिच्छेद' किञ्चिद्-देशवृत्ति अर्थात् थोड़े से

त्रिविधो भेदो वस्तुपरिच्छेदः । यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः । अथवा जीवेश्वरभेदो जीवजगद्भेदो जीवपरस्परभेद ईश्वरजगद्भेदो जगत्परस्परभेद इति पञ्चविधो

देश में रहने वाला अत्यन्ताभाव[94] है । इसीप्रकार सजातीयभेद [95], विजातीयभेद[96] और स्वगतभेद[97] - यह तीन प्रकार का भेद 'वस्तुपरिच्छेद' है । जैसे - वृक्ष का वृक्षान्तर से, शिला आदि से और अपने पत्र पुष्पादि से भेद होता है । अथवा जीव से ईश्वर का भेद, जीव से जगत् का भेद,

94. (अ) जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों काल में प्रतीति न होती हो, वहाँ उस वस्तु का 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है । जैसे - वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है (यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः, सोऽत्यन्ताभावः, यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः - वेदान्तपरिभाषा)।'यहाँ अमुक नहीं है' - इस आकार में ही अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है । तार्किक अत्यन्ताभाव को नित्य स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदान्ती उसका निरसन करने के लिए कहते हैं कि घटादि पदार्थ जैसे ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं, वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वंसप्रतियोगी ही है । उसका भी प्रलयकाल में ध्वंस (नाश) होता ही है । अतः ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव में नहीं होता । जिसप्रकार आकाशादि पदार्थ यावत् प्रपञ्चभावी हैं, किन्तु प्रलयकाल में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह अत्यन्ताभाव भी जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, और प्रलयावस्था में समस्त पदार्थों का ध्वंस होने पर उन पर अवलम्बित होकर रहने वाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है । प्रलयकाल में ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती ।

(ब) यहाँ मधुसूदन सरस्वती के देशपरिच्छेद को 'अत्यन्ताभाव' कहने का तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार अत्यन्ताभाव जब तक जगत् है तब तक ही रहता है, प्रलयावस्था में अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है, उसी प्रकार परमाणु देशपरिच्छिन्न होने पर भी अत्यन्ताभावरूप होने से प्रलयावस्था में नष्ट होते ही हैं, परमाणु नित्य नहीं हैं । वैसे भी अद्वैत-वेदान्त के अनुसार परमाणु अनित्य हैं । (विशेष द्रष्टव्य - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 2.2.15) । फलतः परमाणु अनित्य हैं, तो कालपरिच्छिन्न भी हैं, और जो कालपरिच्छिन्न होता है वह देशपरिच्छन्न भी होता है - यह नियम भी उचित ठहरता है । 'देशपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश तो मात्र नैयायिकों के मत का निराकरण करने के लिए ही किया गया है । नैयायिकों के अनुसार परमाणु नित्य होने के कारण कालपरिच्छिन्न नहीं है, किन्तु प्रदेशमात्र होने के कारण देश–परिच्छिन्न हैं ।

95. 'लक्ष्यतावच्छेदकसाक्षाद्व्यापकजात्यवच्छिन्नम् सजातीयम्' - (प्रमाण-चन्द्रिका) - अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक की साक्षात् - व्यापक जाति से अवच्छिन्न को 'सजातीय' कहा जाता है । जैसे - गो और अश्व सजातीय हैं । 'गो' का लक्षण है 'सास्नादिमत्व' । उसमें रहने वाली जाति 'गोत्व' सजातीयव्यावृत्ति की प्रयोजक होने के कारण लक्षणलक्ष्यतावच्छेदक है । और उसकी साक्षात्-व्यापक-जाति है - 'पशुत्व' । 'पशुत्व' से अवच्छिन्न 'अश्व' होता है । अतः गो और अश्व सजातीय हैं ।

96. 'लक्ष्यतावच्छेदकसाक्षाद्व्यापकजात्यनवच्छिन्नम् विजातीयम्' - (प्रमाणचन्द्रिका) -अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक की साक्षात्-व्यापक-जाति से अनवच्छिन्न को 'विजातीय' कहते हैं । जैसे- गो और घट विजातीय हैं । 'गो' में रहने वाली जाति 'गोत्व' विजातीयव्यावृत्ति की प्रयोजक होने के कारण लक्षणलक्ष्यतावच्छेदक है । और उसकी साक्षात्-व्यापक-जाति है– 'पशुत्व' । 'पशुत्व' से अनवच्छिन्न 'घट' होता है । अतः गो और घट विजातीय हैं ।

97. (अ) जो अपने में ही विद्यमान रहता है वह 'स्वगत' है (स्वस्मिन्विद्यमानम्) । जैसे - 'गो' में विद्यमान सींग, पूँछ आदि स्वगत हैं ।

(ब) सजातीय भेद, विजातीयभेद और स्वगतभेद - इन तीनों पदों में पञ्चमी तत्पुरुषसमास रहने के कारण समास-विग्रह होगा - 'सजातीयाद्भेदः', 'विजातीयाद्भेदः' और 'स्वगताद्भेदः' । जैसे - वृक्ष का वृक्षान्तर से भेद, वृक्ष का शिलादि से भेद और वृक्ष का पत्रपुष्पादि से भेद । ऐसा ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है - 'यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः' । न्याय-वैशेषिक में भी सजातीय और विजातीय और स्वगत-भेद पर विचार किया गया है । यहाँ वेदान्त और न्याय-वैशेषिक सजातीय और विजातीय के लक्षण-दृष्टान्त के प्रयोग में समान हैं, किन्तु 'स्वगतभेद' के विषय में दोनों में मतैक्य नहीं है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयव में अवयवी अर्थात् शाखादि में वृक्ष समवाय सम्बन्ध से रहता है, न कि अवयवी में अवयव अर्थात् वृक्ष में शाखादि रहते हैं । ऐसी स्थिति में न्याय-वैशेषिक-मत में स्वगत का अर्थ स्व = वृक्ष में गत = विद्यमान पत्रपुष्पादि न होकर स्वगत = स्व = शाखादि में गत = विद्यमान वृक्ष होगा । न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त का खण्डन चार्वाक और बौद्ध

वस्तुपरिच्छेदः । कालदेशापरिच्छिन्नस्याप्याकाशादेस्तार्किकैर्वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमात्पृथङ्निर्देशः । एवं सांख्यमतेऽपि योजनीयम् ।

57 **एतादृशस्यासतः शीतोष्णादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः सत्ता पारमार्थिकत्वं स्वान्यूनसत्ताकतादृशपरिच्छेदशून्यत्वं न विद्यते न संभवति घटत्वाघटत्वयोरिव परिच्छिन्नत्वा-**

जीवों का परस्परभेद, ईश्वर से जगत् का भेद तथा जगत् का परस्पर भेद - यह पाँच प्रकार का भेद ही वस्तुपरिच्छेद है । नैयायिक काल और देश से अपरिच्छिन्न होने पर भी आकाशादि का वस्तुपरिच्छेद स्वीकार करते हैं, इसीलिए वस्तुपरिच्छेद का पृथक् निर्देश किया है[98] । इसी प्रकार सांख्यमत[99] में परिच्छेद की योजना करनी चाहिए ।

57 ऐसे असत् शीतोष्णादि समस्त प्रपञ्च का भाव = सत्ता = पारमार्थिकता अर्थात् स्वान्यूनसत्ताक[100] = अपने से अन्यूनसत्ताक परिच्छेदशून्यता नहीं होती है = नहीं हो सकती है, क्योंकि घटत्व और अघटत्व

दार्शनिकों ने अनेकत्र किया है - उनके अनुसार वृक्ष में शाखा, पर्वत में शिला आदि ही प्रयोग लोक में देखे जाते है, अत: न्याय-वैशेषिकों का सिद्धान्त लोकविपरीत है, सर्वथा अयुक्त है । वेदान्त ने भी न्याय-वैशोषिक का इसी प्रकार खण्डन किया है । इसीलिए यहाँ भी मधुसूदन सरस्वती ने अपना मत प्रस्तुत कर न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त का भी खण्डन किया है ।

98. नैयायिकों के अनुसार आकाश नित्य है, अत: वह कालपरिच्छिन्न नहीं है और वह सर्वव्यापी होने के कारण देशपरिच्छिन्न भी नहीं है, किन्तु सर्वात्मक नहीं होने के कारण मात्र वस्तुपरिच्छिन्न है । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने 'वस्तुपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश किया है । किन्तु उन्होंने आकाश को वस्तुपरिच्छिन्न कहकर उसकी अनित्यता सिद्ध की है, क्योंकि वस्तुपरिच्छिन्नता 'असत्' का लक्षण ही है । यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त में आकाश की अनित्यता 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन: आकाश: सम्भूत:' - इत्यादि श्रुति से पूर्वसिद्ध है, तथापि मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ आकाश को वस्तुपरिच्छिन कहकर उसकी अनित्यता नैयायिकों के खण्डन के साथ सिद्ध की है । यही विशेषता है ।

99. (अ) सांख्य के अनुसार पुरुष का बहुत्व स्वीकृत होने से एक पुरुष से दूसरा पुरुष भिन्न है, एवं प्रकृति भी पुरुष से भिन्न है । पुरुष में सजातीय और विजातीय - दोनों भेद रहते है, प्रकृति में विजातीय भेद रहता है । प्रकृति और पुरुष विभु हैं । अत: प्रकृति और पुरुष देशपरिच्छिन्न नहीं हैं । प्रकृति के महदादि कार्य विभु नहीं हैं, अपितु परिमित हैं, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है 'भेदानां परिमाणात् ——' (सांख्यकारिका, 15), अत: वे देशपरिच्छिन्न हो सकते हैं । महदादि कार्य काल-परिच्छिन्न नहीं है, क्योंकि सांख्य-मत में कार्य सदैव अपने कारण में विद्यमान रहता है, उसका समय-समय पर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है । प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं, अत: प्रकृति और पुरुष कालपरिच्छिन्न नहीं है । निष्कर्षत: प्रकृति और पुरुष विभु और नित्य होने के कारण देशपरिच्छिन्न और कालपरिच्छिन्न नहीं है, अपितु वस्तुपरिच्छिन्न हैं । इसलिए यहाँ 'वस्तुपरिच्छेद' का पृथक् निर्देश किया गया है ।

(ब) निष्कर्ष यह है कि मधुसूदन सरस्वती के अनुसार जो देश, काल और वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण व्यभिचारी होता है अर्थात् किसी स्थान में किसी समय में रहता है और दूसरे स्थान में या दूसरे समय में नहीं रहता है वह 'असत्' है । जगत्-प्रपञ्च की प्रत्येक वस्तु ही सर्वदा ही अपने समान या अपने से अधिक सत्तावाले देश, काल और वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न होती है, इसलिए प्रत्येक जागतिक वस्तु ही 'असत्' है । और जो देश, काल और वस्तु किसी से भी परिच्छिन्न नहीं है अर्थात् जो सर्वकाल में एवं सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) है वह 'सत्' है । ब्रह्म सर्वकाल में सर्वत्र व्याप्त है, वही सत् है, उसी की ही मात्र सत्ता है ।

100. प्रातिभासिकी, व्यावहारिकी और पारमार्थिकी सत्ताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अन्यूनसत्ता है । घटादि तद्गत सजातीय, विजातीय और स्वगत - त्रिविध भेद न्यायमत में पारमार्थिकसत्ताक हैं, किन्तु वेदान्तमत में ये व्यावहारिकसत्ताक हैं । त्रिविधिभेदवाले घटादि में न्यूनसत्ताक भेदशून्यत्व रह सकता है, किन्तु अन्यूनसत्ताक भेद-शून्यत्व नहीं रह सकता । अन्यूनसत्ताक भाव और अभाव में विरोध है । 'स्व' पद से उक्त त्रिविधभेद ग्रहण करना चाहिए, उन त्रिविध भेद के अन्यूनसत्ताक तादृश भेदाभाव इनमें नहीं है । जैसा - घटत्व और अघटत्व समसत्ताक एक ही घट में नहीं रहते । इसी प्रकार एक ही घट में समानसत्ताक परिच्छेद और परिच्छेद-शून्यत्व नहीं रह सकते,

परिच्छिन्नत्वयोरेकत्र विरोधात् । न हि दृश्यं किंचित्कचित्काले देशे वस्तुनि वा न निषिध्यते सर्वत्राननुगमात् । न वा सद्वस्तु कचिद्देशे काले वस्तुनि वा निषिध्यते सर्वत्रानुगमात् । तथा च सर्वत्रानुगते सद्वस्तुनि अननुगतं व्यभिचारि वस्तु कल्पितं रज्जुखण्ड इवानुगते व्यभिचारि सर्पधारादिकमिति भावः ।

58 **ननु व्यभिचारिणः कल्पितत्वे सद्वस्त्वपि कल्पितं स्यात्तस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वेन व्यभिचारित्वादित्यत आह– नाभावो विद्यते सत इति । सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छिन्नत्वं तच्च न तुच्छव्यावृत्तत्वेन, तुच्छे शशविषाणादौ सत्त्वायोगात् । 'सद्भ्यामभावो**

के समान परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व का एक वस्तु में होना परस्पर विरोध है । कोई भी दृश्य ऐसा नहीं है जिसका किसी भी काल, देश अथवा वस्तु में निषेध न होता हो, क्योंकि वह सर्वदेशकालवर्त्ती नहीं होता, किन्तु सद्वस्तु का किसी भी काल, देश अथवा वस्तु में निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वत्र अनुगत होती है । अतः भाव यह है कि सर्वत्रानुगत सद्वस्तु में अननुगत व्यभिचारी वस्तु कल्पित ही होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि रज्जुखण्ड में अनुगत व्यभिचारी सर्पधारा आदि कल्पित होती हैं ।

58 'यदि व्यभिचारी होने से ही वस्तु कल्पित होती है, तो सद्वस्तु भी कल्पित होगी, क्योंकि वह भी तुच्छव्यावृत्त = असत्व्यावृत्त होने से व्यभिचारी है'- ऐसी आशङ्का करके भगवान् कहते हैं - 'नाभावो विद्यते सतः' अर्थात् 'सद्वस्तु का कभी अभाव नहीं होता' । सत् जिसका अधिकरण[101] है उस भेद का प्रतियोगी होना ही वस्तुपरिच्छेद[102] है । तुच्छ से व्यावृत्त होने के कारण कोई वस्तु असत् नहीं होती क्योंकि तुच्छ शशविषाण आदि में सत्ता नहीं होती । और नियम है कि 'सत् और असत् से अभाव का निरूपण होता है[103]' । एक ही स्वप्रकाश, नित्य, विभु, सत्, सर्वानुस्यूत = सर्वत्रानुगत = सर्वव्याप्त है, इसलिए सत् और व्यक्ति का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि 'घटः सन्' इत्यादि प्रतीति सर्वलोकानुभवसिद्ध है । अतः घटादि में रहने वाले भेद की प्रतियोगिता सत् में नहीं रह सकती । इस-

क्योंकि परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व में एकत्र परस्पर विरोध है । आत्मा ही सद्वस्तु है, परमार्थ वस्तु है । वह अपरिच्छिन्न है । अतः जिसकी सत्ता उससे न्यून है वह पदार्थ परिच्छिन्न है । उस परिच्छिन्नता का अभाव ही यहाँ 'भाव' शब्द का तात्पर्य है । शीतोष्ण आदि निखिल प्रपञ्च परिच्छिन्न है, असत् है, अतः उसकी सत्ता = भाव पारमार्थिक नहीं है । आत्मा अपरिच्छिन्न है, सत् है, अतः उसकी सत्ता =भाव पारमार्थिक है ।

101. सत् पदार्थ जिसका अधिकरण होता है उस अभाव को 'सदधिकरण-अभाव' कहा जाता है, उस अभाव की प्रतियोगिता को ही 'वस्तुपरिच्छिन्नता' कहा जाता है । (सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छिन्नत्वम्) । यहाँ यद्यपि ब्रह्म तुच्छव्यावृत्त = असद्व्यावृत्त अर्थात् तुच्छाधिकरणक-अभाव का प्रतियोगी है, तथापि तुच्छ सत् नहीं हैं, अतः तुच्छाधिकरणक-अभाव को सदधिकरणक-अभाव नहीं कह सकते, फलतः उसकी प्रतियोगिता को भी वस्तु-परिच्छिन्न नहीं कह सकते, निष्कर्षतः ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न नहीं है, अतः वह कल्पित नहीं है इसीलिए ब्रह्म के वस्तुपरिच्छिन्न न होने से उस पर कल्पितत्व और मिथ्यात्व का भी आरोपण नहीं किया जा सकता । वस्तुपरिच्छिन्नता के कारण ही कोई पदार्थ कल्पित और मिथ्या होता है ।

102. घट-पट आदि समस्त वस्तुओं का अधिकरण सत् ही होता है, क्योंकि घटादि की प्रतीति सद्-रूप से ही होती है । अतः सद्-अधिकरणवाले घट में रहने वाला जो पट का भेद है उस भेद का प्रतियोगी पट है । यही घट और पट की वस्तुपरिच्छिन्नता है ।

103. जो वस्तु न सत् है और न असत् है वह अभाव की प्रतियोगी नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव तो भाव पदार्थ का ही होता है वह भाव पदार्थ घटादि के समान सद्-रूप हो सकता है, अथवा शुक्तिरजतादि के समान असद्-रूप भी हो सकता है । इसीलिए कहा है कि सत् और असत् से अभाव का निरूपण होता है ।

निरूप्यते' इति न्यायात् । एकस्यैव स्वप्रकाशस्य नित्यस्य विभोः सतः सर्वानुस्यूतत्वेन सद्व्यक्तिभेदानभ्युपगमात् । घटः सन्नित्यादिप्रतीतेः सार्वलौकिकत्वेन सतो घटाद्यधिकरणकभेदप्रतियोगित्वायोगात् । अभावः परिच्छिन्नत्वं देशतः कालतो वस्तुतो वा सतः सर्वानुस्यूतसन्मात्रस्य न विद्यते न संभवति पूर्ववद्विरोधादित्यर्थः ।

59 **ननु सन्नाम किमपि वस्तु नास्त्येव यस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि सत्त्वं नाम परं सामान्यं तदाश्रयत्वेन द्रव्यगुणकर्मसु सद्व्यवहारः, तदेकाश्रयत्वसंबन्धेन सामान्यविशेषसमवायेषु । तथा चासतः प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वं**

लिए भाव यह है कि सत् अर्थात् सर्वानुस्यूत सन्मात्र का अभाव = देश, काल अथवा वस्तु से परिच्छेद नहीं होता = नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववत् यहाँ भी विरोध आता है ।

59 'सत् नामक कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके देश, काल और वस्तु से परिच्छेद का प्रतिषेध किया जाय । तो क्या है ? सत्ता नाम तो पर सामान्य[104] का ही है, जिसके आश्रय से द्रव्य, गुण और कर्म में सद्-व्यवहार होता है । सामानाधिकरण्यसम्बन्ध[105] से सामान्य, विशेष,[106] और समवाय[107] में सद्-व्यवहार होता है । इसीप्रकार असत्, प्रागभाव के प्रतियोगी घटादि की कारणव्यापार से सत्ता होती है, और कारण के नाश से उस सत् का भी अभाव होता ही है[108], फिर यह कैसे कहा कि

104. वैशेषिक-मत के अनुसार सात पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-- ये छः भाव पदार्थ हैं, तथा एक अभाव है । भाव 'सत्' को कहते हैं और अभाव 'असत्' को कहते हैं । 'सत्' में 'सत्ता' जाति रहती है । सामान्य जातिपदार्थ है । नित्य होकर अनेक पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं (नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्) । सामान्य दो प्रकार का है– पर और अपर । अधिकदेशवृत्ति 'पर' है और न्यूनदेशवृत्ति 'अपर' है । सत्ता इतरजातियों से अधिकदेशवृत्ति होने से 'पर' कहलाती है । त्रिक अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म– इन्हीं तीन पदार्थों में सत्ता की वृत्ति होती है अर्थात् 'द्रव्यं सत्' 'गुणःसत्,' 'कर्म सत्'— इस प्रकार की जो अनुगत प्रतीति होती है वही 'सत्ता' की साधक है । 'द्रव्यत्व', 'गुणत्व' और 'कर्मत्व' आदि जाति सत्ता की अपेक्षा न्यूनदेशवृत्ति होने से 'अपर' कहलाती हैं ।

105. तात्पर्य यह है कि जिस आश्रय में अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में 'सत्ता' रहती है उस आश्रय में सामान्य, विशेष और समवाय भी रहता है । अतः सत्ता के साथ सामान्य, विशेष और समवाय का 'तदेकाश्रयत्वसम्बन्ध' अर्थात् 'सामानाधिकरण्यसम्बन्ध' है । इसीलिए सामान्य, विशेष और समवाय में भी सद्-व्यवहार होता है ।

106. जो पदार्थ चरम व्यावर्तक के रूप में हो और नित्यद्रव्य - परमाणु, आकाश आदि में रहे उसे 'विशेष' कहते हैं (अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः) ।

107. नित्यसम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं (समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्) । जैसे - अवयव (तन्तु आदि) और अवयवी (पटादि द्रव्य), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया (कर्म) और क्रियावान् (द्रव्य), विशेष और नित्यद्रव्य (परमाणु आदि)- इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे 'समवाय' कहते है । 'समवाय' शब्द 'समुदाय' अर्थ का वाचक है । समवाय (सम्+अव+अय् = समवाय्यते इति समवायः) शब्द और समुदाय (सम्+उद्+अय् = समुदायते इति समुदायः) शब्द पर्यायवाचक हैं । प्राचीन पदार्थशास्त्रियों के अनुसार समवाय एक है, किन्तु नवीन पदार्थशास्त्रियों ने इसे अनेक कहा है । कुछ विद्वान् अनुमान प्रमाण मात्र से इसकी सिद्धि स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य कुछ विद्वानों का कथन है कि अनुमान से ही केवल इस समवाय की सिद्धि नहीं होती, प्रत्यक्षप्रमाण से भी समवाय सिद्ध होता है ।

108. तात्पर्य यह है कि घट की उत्पत्ति के पूर्व घट असत् था, घट की उत्पत्ति के समय उस असत् से सत् का आविर्भाव हुआ अर्थात् असत् का अभाव हुआ । और घट के ध्वंस के बाद सत् भाव का अभाव हुआ । अतः असत्, प्रागभाव के प्रतियोगी घट की कारणव्यापार से सत्ता हुई और कारण के नाश से उस सत् का अभाव भी हुआ ।

कारणव्यापारात्सतोऽपि तस्याभावः कारणनाशाद्भवत्येवेति कथमुक्तं नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इति । एवं प्राप्ते परिहरति— उभयोरपीत्यर्धेन ।

60 **उभयोरपि सदसतोः सतश्चासतश्चान्तो मर्यादा नियतरूपत्वं यत्सत्तत्सदेव यदसत्तदसदेवेति दृष्टो निश्चितः श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्विचारपूर्वकम् । कैः ? तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिर्न तु कुतार्किकैः । अतः कुतार्किकाणां न विपर्ययानुपपत्तिः । तु शब्दोऽवधारण एकान्तरूपो नियम एव दृष्टो न त्वनेकान्तरूपोऽन्यथाभाव इति, तत्त्वदर्शिभिरेव दृष्टो नातत्त्वदर्शिभिरिति वा । तथा च श्रुतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० 3.2.1) इत्युपसंहरन्ती सदेकं सजातीयविजातीय–**

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' - अर्थात् 'असत् वस्तु की कभी सत्ता नहीं होती और सत् का कभी अभाव नहीं होता'? - ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् 'उभयोरपि....' इत्यादि आधे श्लोक से इसका परिहार करते हैं ।

60 उभय अर्थात् सत् और असत् का = सत् का और असत् का अन्त अर्थात् मर्यादा = नियतरूपता -'जो सत् है वह सत् ही है, और जो असत् है वह असत् ही है'- श्रुति, स्मृति और युक्तियों से विचारपूर्वक देखी गई है = निश्चित की गई है । किनके द्वारा ? तत्त्वदर्शियों के द्वारा = वस्तु [109] के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा, न कि कुतार्किकों [110] के द्वारा । अतः कुतार्किकों का विपर्यय[111] अनुपपन्न नहीं है । यहाँ 'तु' शब्द यह निश्चय करने के लिए है कि एकान्तरूप नियम ही देखा गया, न कि अनेकान्तरूप[112] अन्यथाभाव । अथवा, तत्त्वदर्शियों के द्वारा ही देखा गया, न कि अतत्त्वदर्शियों के द्वारा । इसीप्रकार श्रुति भी 'हे सोम्य ! आरम्भ में एक अद्वितीय सत् ही था' - यहाँ से प्रारम्भ करके 'यह सब इस सत् से अभिन्न ही है, वह सत्य है और वही आत्मा है; हे श्वेतकेतो ! तू वही है' (छा० 3.2.1) - इसप्रकार उपसंहार करती हुई यही दिखलाती है कि सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद से शून्य एक सत् ही सत्य है । 'विकार वाणी का आरम्भण और नाममात्र है, मृत्तिका

109. सच्चिदानन्दस्वरूप, अनंत (असीम), अद्वैत ब्रह्म 'वस्तु' है (वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म - वेदान्तसार) । अज्ञान से लेकर समस्त जड़ प्रपञ्च तो अवस्तु है (अज्ञानादि सकलजडसमूहोऽवस्तु - वेदान्तसार) ।

110. अद्वैत-वेदान्त के अनुसार श्रुति से अनुगृहीत श्रुति के अनुकूल ही तर्क का अनुभव के अङ्गरूप से आश्रयण किया जाता है ('श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 2.1.6) । विद्यारण्यमुनि ने कहा है - स्वानुभूति के अनुसार तर्क करना चाहिए, कुतर्क नहीं करना चाहिए ('स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्' - पञ्चदशी, 6.30) । जो श्रुति के अनुकूल ही तर्क का अवलम्बन करते हैं, स्वानुभूति के अनुसार तर्क प्रस्तुत करते हैं वे ही तार्किक होते हैं । इसके विपरीत तो कुतार्किक ही कहे जाते हैं ।

111. अज्ञान अर्थात् अविद्या को 'विपर्यय' कहते है । 'विपर्यय' मिथ्याज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता (विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् - पातञ्जलयोगसूत्र, 1.8) । जैसे - शुक्ति में रजतज्ञान । विपर्ययज्ञान पांच प्रकार का होता है - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

112. अनेकान्त का अर्थ है कि जिसमें किसी एक के अन्त का आग्रह न हो, किसी एक पक्षविशेष या धर्मविशेष का आग्रह न हो । अनेकान्त भी एक विचार है, एक दृष्टिकोण है, और वस्तु को समझने का एक मार्ग है । प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखना या विचार करना 'अनेकान्तवाद' कहलाता है । प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों, अनन्त विशेषताओं का समूह होता है, वस्तु की प्रत्येक अवस्थाओं का विचार करना अनेकान्तवाद है । यह अनेकान्तवाद जैनदर्शन की आधारशिला है । अनेकान्तवाद वेदान्त-सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल और विरोधी है । अद्वैत-वेदान्त में एक, अद्वैतस्वरूप ब्रह्म में समस्त वस्तुओं का अन्त है, अतः उनका सिद्धान्त एकान्तरूप है (विशेषद्रष्टव्य - ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य, 2.2.33) ।

स्वगतभेदशून्यं सत्यं दर्शयति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० 6.1.4) इत्यादिश्रुतिस्तु विकारमात्रस्य व्यभिचारिणो वाचारम्भणत्वेनानृतत्वं दर्शयति । 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा :' (बृ० 6.8.4) इति श्रुतिः सर्वेषामपि विकाराणां सति कल्पितत्वं दर्शयति ।

61 सत्त्वं च न सामान्यं तत्र मानाभावात् । पदार्थमात्रसाधारण्यात्सत्सदिति प्रतीत्या द्रव्यगुणकर्ममात्रवृत्तिसत्त्वस्य स्वानुपपादकस्याकल्पनात् । वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । एकरूपप्रतीतेरेकरूपविषयनिर्वाह्यत्वेन संबन्धभेदस्य स्वरूपभेदस्य च कल्पयितुमनुचितत्वात्। विषयस्याननुगमेऽपि प्रतीत्यनुगमे जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मादेकमेव सद्वस्तु स्वतः स्फुरणरूपं ज्ञाताज्ञातावस्थाभासकं स्वतादात्म्याध्यासेन सर्वत्र सद्व्यवहारोपपादकम् । सन्घट इति प्रतीत्या तावत्सद्व्यक्तिमात्राभिन्नत्वं घटे विषयीकृतं न तु सत्तासमवायित्वमभेदप्रतीते-र्भेदघटितसंबन्धानिर्वाह्यत्वात् । एवं द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीत्या सर्वाभिन्नत्वं सतः सिद्धम् । द्रव्यगुणादिभेदासिद्ध्या च न तेषु धर्मिषु सत्त्वं नाम धर्मः कल्प्यते किं तु सति धर्मिणि द्रव्याद्यभिन्नत्वं लाघवात् । तच्च वास्तवं न संभवतीत्याध्यासिकमित्यन्यत् । तदुक्तं वार्तिककारैः--

ही सत्य है' (छा० 6.1.4) - इत्यादि श्रुति तो व्यभिचारी विकारमात्र को वाचाम्भणरूप से मिथ्या ही कहती है । 'हे सोम्य ! अन्नरूप शुङ्ग (अङ्कुर) कार्य से उनके मूलकारण जल की शोध कर, हे सोम्य ! जलरूप अङ्कुर से उसके मूल तेज की शोध कर और हे सोम्य ! तेज रूप अङ्कुर से उसके मूल सत् की शोध कर, सोम्य ! इस सारी प्रजा का मूल सत् है, सत् ही उसका आयतन है, सत् ही उसकी प्रतिष्ठा (आधार) है' (बृह० 6.8.4) - यह श्रुति समस्त विकारों का 'सत्' में कल्पित होना ही प्रदर्शित करती है ।

61 सत्ता नाम सामान्य का नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । पदार्थमात्र में साधारण (सामान्य) भाव से रहने वाली 'सत्-सत्' ऐसी प्रतीति से द्रव्य, गुण और कर्म मात्र में ही रहनेवाली सत्ता (सामान्य) नहीं स्वीकार की जा सकती, क्योंकि उसके द्वारा 'सत्' की सिद्धि नहीं हो सकती[113]। इसके विपरीत, पदार्थमात्र में अनुस्यूत (व्याप्त) सत् ही सामान्य है - यह सरलता से कहा जा सकता है । एकरूप प्रतीति का एकरूप विषय से ही निर्वाह हो सकने से सम्बन्धभेद और स्वरूपभेद की कल्पना करना अनुचित ही है[114] विषय की एकरूपता के बिना भी प्रतीति की एकरूपता

113. पदार्थमात्र में 'सत्, सत्' - इसप्रकार की प्रतीति को ग्रहण किया जाता है, इस प्रतीति की निर्वाहक द्रव्यादि त्रिक में रहने वाली 'सत्ता' नहीं हो सकती, क्योंकि 'सामान्यं सत्', 'विशेषः सत् ', 'अभावः सत्' - इस प्रकार सामान्य, विशेष और अभाव में भी 'सत्' की प्रतीति होती है, किन्तु सामान्य, विशेष और अभाव में सत्ता (जाति) नहीं स्वीकार की जाती । जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है -

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥ (किरणावली)

अतः यह सत्ता (जाति) सत्-प्रतीति की उपपादक नहीं है, अनुपपादक है । इसके विपरीत पदार्थमात्र में व्याप्त 'सत्' ही सामान्य है ।

**'सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः ।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन्गुणस्तथा' ॥
(बृह० वा० सं० 968) इत्यादि ।**

सत्ताऽपि नासतो भेदिका तस्याप्रसिद्धेः । द्रव्यत्वादिकं तु सद्धर्मत्वान्न सतो भेदकमित्यर्थः । अत एव घटाद्भिन्नः पट इत्यादि प्रतीतिरपि न भेदसाधिका घटपटतद्भेदानां सदभेदेनैक्यात् । एवं यत्रैव न भेदग्रहस्तत्रैव लब्धपदा सती सदभेदप्रतीतिर्विजयते । तार्किकैः कालपदार्थस्य सर्वात्मकस्याभ्युपगमात्तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपदार्थकल्पने मानाभावात्तस्यैव सर्वानुस्यू-

स्वीकार करने पर तो जातिमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अतः ज्ञात और अज्ञात - दोनों अवस्थाओं का भासक, स्वतः स्फुरणरूप एक ही सद्वस्तु अपने तादात्म्याध्यास से सर्वत्र सद्-व्यवहार की उपपादक है । 'सन् घटः' (घट सत् है) - इस प्रतीति से घट में सत् और घटव्यक्ति की अभिन्नता ही विषय होती है, न कि घटादि व्यक्तियों के साथ सत्ता सामान्य की समवायिता, क्योंकि अभेदप्रतीति का भेदघटित सम्बन्ध से निर्वाह नहीं होता, किन्तु अभेदाख्य तादात्म्य सम्बन्ध से होता है । इसी प्रकार 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सत्' = 'द्रव्य सत् है', 'गुण सत् है'इत्यादि प्रतीति से भी सत् का सर्वाभिन्नत्व सिद्ध होता है । 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सत्' - इत्यादि प्रतीति से द्रव्य, गुण आदि का भेद ही सिद्ध नहीं होता, तो उन धर्मियों में सत्त्व = सत्ता नामक धर्म की ही कल्पना कैसे की जा सकती है । किन्तु लाघव की दृष्टि से धर्मीरूप 'सत्' में द्रव्यादि की अभिन्नता है । यह दूसरी बात है कि वह जड़-चेतन की अभिन्नता वास्तविक नहीं हो सकती, आध्यासिक है । यही वार्तिककार ने भी कहा है - 'द्रव्यत्व आदि का तो सत्ता से भी भेद नहीं है, फिर किसी अन्य से तो हो ही कैसे सकता है ? क्योंकि 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सत्' - यह संवित्ति (ज्ञान) एकाकार ही है' (बृह० वा०, 968) इत्यादि ।

सत्ता तो असत् की भी भेदिका नहीं है, क्योंकि असत् की तो सिद्धि ही नहीं होती[115] । अतः तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व आदि 'सत्' के ही धर्म होने के कारण 'सत्' के ही भेदक नहीं हो सकते । अतएव 'घटाद्भिन्नः पटः' = 'घट से पट भिन्न है' - इत्यादि प्रतीति भी भेद की साधिका नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्', 'पटः सन्', 'तद्गतभेदःसन्' - इत्यादि प्रतीति से घट, पट, तद्गतभेद 'सत्' से अभिन्न होने के कारण एक ही हैं[116] । इसप्रकार जहाँ भी भेद का ग्रहण नहीं होता, वहीं

114. तात्पर्य यह है कि एक प्रतीति का एक ही विषय से निर्वाह होना चाहिए, विषयभेद से नहीं, अन्यथा प्रतीतिवैलक्षण्य होगा । 'द्रव्यं सत्' - इस प्रतीति में सत्त्व का सम्बन्ध समवाय है और 'सामान्यं सत्'– इस प्रतीति में सत्त्व का स्वाश्रयवृत्तित्व सम्बन्ध है । इस प्रकार सम्बधभेद से स्वरूपभेद होने के कारण दोनों स्थलों में 'सत्-सत्' इसप्रकार समानाकार प्रतीति नहीं हो सकती, यहाँ प्रतीतिवैलक्षण्य ही है । अतः सम्बन्धभेद और स्वरूपभेद की कल्पना करना अनुचित है । एकरूप प्रतीति का एकरूप विषय से ही निर्वाह होना चाहिए, अन्यथा जातिमात्र का ही उच्छेद हो जायेगा, गोत्वादि जाति भी सिद्ध नहीं होगी । अतः एक ही सद्-वस्तु ब्रह्म सर्वत्र सद्-व्यवहार की उपपादक है ।

115. प्रश्न है कि नैयायिक सत्ता जाति तो मानते ही हैं, लेकिन वह किसकी विशेषक है ? असत् की या सत् की ? 'असत्' की विशेषक तो कह नहीं सकते, क्योंकि जो है ही नहीं, उसका विशेषक कौन होगा ? यदि 'सत्' की विशेषक कहें तो सत् एक ही है, उसमें भेद की क्या आवश्यकता है ? द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सत्-स्वरूप है, अतः जब स्वतः भिन्न नहीं है, तो अपने आश्रय को कैसे भिन्न कर सकेंगे ? इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'सत्ता तो असत् की भी भेदिका नहीं है, क्योंकि असत् की तो सिद्धि ही नहीं होती । अतः द्रव्यत्व आदि सत् के ही धर्म होने के कारण 'सत्' के ही भेदक नहीं हो सकते' ।

तस्य सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वतादात्म्येन प्रतीत्युपपत्तेः । स्फुरणस्यापि सर्वानुस्यूतत्वेनैकत्वान्नित्यत्वं विस्तरेणाग्रिमश्लोके वक्ष्यते ।

62 तथाच यथा कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽघटस्य पटादेर्न देशान्तरे कालान्तरे वा घटत्वम् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा घटस्यान्यत्राघटत्वं शक्रेणापि न शक्यते संपादयितुं पदार्थस्वभावभङ्गायोगात् । एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽसतो देशान्तरे कालान्तरे वा सत्त्वं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा सतोऽन्यत्रासत्त्वं न शक्यते संपादयितुं युक्तिसाम्यात् । अत उभयोर्नियतरूपत्वमेव द्रष्टव्यमित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । अतः सदेव वस्तु मायाकल्पितासन्निवृत्त्याऽमृतत्वाय कल्पते सन्मात्रदृष्ट्या च तितिक्षाऽप्युपपद्यत इति भावः ॥16॥

स्थित होकर सत् की अभिन्नता की प्रतीति विजयिनी होती है । नैयायिक 'काल'[117] पदार्थ की सर्वात्मकता स्वीकार करते हैं । उससे ही समस्त व्यवहार उपपन्न हो सकता है । अत: उससे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । उस सर्वानुस्यूत काल की ही सर्वतादात्म्यभाव से सद्-रूप और स्फुरण से ही प्रतीति उपपन्न हो सकती है । स्फुरण भी सर्वानुस्यूत होने के कारण एक रूप ही है, अत: नित्य है । इसकी नित्यता को विस्तार से अगले श्लोक में कहेंगे ।

62 इस प्रकार जैसे - किसी भी देश में या काल में जो घट नहीं हैं अर्थात् अघट - घटभिन्न पटादि हैं, उन पटादि में किसी दूसरे देश में या काल में घटत्व नहीं हो सकता, वैसे ही किसी भी देश में या काल में जो घट है उसका अन्यत्र अघटत्व सम्पादन करना इन्द्र के लिए भी संभव नहीं है, क्योंकि पदार्थ के स्वभाव का भङ्ग होना असंभव है । इसीप्रकार समानयुक्ति होने के कारण किसी भी देश में या काल में जो 'असत्' है उसका किसी दूसरे देश में या काल में सत्त्व सम्पादन करना संभव नहीं है और किसी भी देश में या काल में जो 'सत्' है उसका अन्यत्र असत्त्व सम्पादन करना संभव नहीं है । अत: सत् और असत् - दोनों की नियतरूपता ही देखनी चाहिए - इसका विस्तार 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ में किया गया है । अत: मायाकल्पित 'असत्' की निवृत्ति हो जाने से सद्-वस्तु ही अमृतत्व = मोक्षप्राप्ति के योग्य होती है और 'सत्' मात्र पर ही दृष्टि रहने से तितिक्षा होना भी सम्भव है - यही इसका भाव है ॥ 16 ॥

---

116. तात्पर्य यह है कि जब घट दिखाई देता है तब घट का ही बोध होता है और जब पट दिखाई देता है तब पट का ही बोध होता है किन्तु घट तथा पट की जो भिन्नता या भेद है वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा दिखाई नहीं देता है । यदि कहें कि भेद के अनुभव को एक पृथक् अनुभव स्वीकार करना होगा तो यह कहा जायेगा कि इस भेद का अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न है, यह भी अनुभव करना होगा । किन्तु इस भेद को किस इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जायेगा ? अत: अनवस्था-दोष उपस्थित होगा । फलत: भेद असिद्ध है । इसीलिए कहा गया है कि 'घट से पट भिन्न है' – इत्यादि प्रतीति भेद की साधिका नहीं है, अपितु घट, पट, तद्गतभेद 'सत्' के अभिन्न होने के कारण एक ही हैं, क्योंकि भेद असिद्ध है और अभेद ही सिद्ध है ।

117. उत्पन्न पदार्थों का उत्पादक (निमित्तकारण) 'काल' कहलाता है । यह 'काल' समस्त जन्य पदार्थो की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है, इस कारण यह काल 'कालिक' संज्ञक सम्बन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार है, सर्वात्मक है, सर्वानुस्यूत है । 'यह घट पट है' और 'यह घट अपट है' इसप्रकार की बुद्धि का 'हेतु' - असाधारण निमित्त कारण 'काल' ही है । कहा भी है -

'जन्यानां जनक: कालो जगतामाश्रयो मत: ।
परापरत्वधीहेतु: क्षणादि: स्यादुपाधित: ॥ - भाषापरिच्छेद, 45-46 ।

63 नन्वेतादृशस्य सतो ज्ञानाद्भेदे परिच्छिन्नत्वापत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमभ्युपेयम् । तच्चानाध्यासिकमन्यथा जडत्वापत्तेः । तथा चानाध्यासिकज्ञानरूपस्य सतो धात्वर्थत्वादुत्पत्तिविनाशवत्त्वं घटज्ञानमुत्पन्नं घटज्ञानं नष्टमिति प्रतीतेश्च । एवं चाहं घटं जानामीति प्रतीतेस्तस्य साश्रयत्वं सविषयत्वं चेति देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वात्स्फुरणस्य कथं तद्रूपस्य सतो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमित्या शङ्क्याऽऽह —

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ 17 ॥

64 विनाशो देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदः सोऽस्यास्तीति विनाशि परिच्छिन्नं तद्विलक्षणमविनाशि सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यं तु एव तत्सद्रूपं स्फुरणं त्वं विद्धि जानीहि । किं तत् ? येन सद्रूपेण स्फुरणेनैकेन नित्येन विभुना सर्वमिदं दृश्यजातं स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्त्यध्यासेन रज्जुशकलेनेव सर्पधारादि स्वस्मिन्समावेशितं तदविनाश्येव विद्धीत्यर्थः ।

---

63 'ऐसे (उक्त) सत् का ज्ञान से भेद होने पर तो परिच्छिन्नत्व की प्राप्ति होगी, इसलिए उसे ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए और वह ज्ञानस्वरूप भी अनाध्यासिक होनी चाहिए, अन्यथा उसमें जडत्व की प्राप्ति होगी[118] । इसप्रकार अनाध्यासिक ज्ञानस्वरूप सत् धात्वर्थ[119] होने के कारण तथा 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, घटज्ञान नष्ट हुआ'- ऐसी प्रतीति होने के कारण उत्पत्ति-विनाशवान् ही है । इसीप्रकार 'मैं घट को जानता हूँ'-- ऐसी प्रतीति होने के कारण ज्ञान की साश्रयता और सविषयता भी सिद्ध होती है । ऐसी स्थिति में स्फुरण की देश-काल-वस्तुपरिच्छिन्नता होने पर स्फुरणरूप सत् की देशकालवस्तुपरिच्छेद- शून्यता कैसे हो सकती है' ?- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :-

[जिससे यह समस्त दृश्य-समूह व्याप्त है उस सद्-रूप स्फुरण को तो तुम अविनाशी ही समझो । इस अव्यय सत् का विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥ 17 ॥]

64 विनाश अर्थात् देश, काल या वस्तु से जो परिच्छेद है वह जिसमें रहे वह विनाशी है, परिच्छन्न है, उससे विलक्षण अविनाशी है । उस सद्-रूप स्फुरण को तो तुम अविनाशी अर्थात् सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य समझो । वह सत् क्या है ? जिस सद्-रूप नित्य, विभु एक स्फुरण से यह समस्त दृश्यसमूह, जो स्वतः सत्तास्फुरणशून्य है, व्याप्त है । तात्पर्य यह है कि जो रज्जुखण्ड में सर्पधारादि के समान अपने में अपनी सत्ता और स्फूर्ति के अध्यास से समस्त दृश्यसमूह को समावेशित[120] किए हुए है उस सत् को तुम अविनाशी ही समझो ।

---

118. ज्ञान दो प्रकार का होता है - आध्यासिक और अनाध्यासिक । आध्यासिक ज्ञान होने से बुद्धि जड़ ही कहलाती है । यद्यपि चैतन्यतादात्म्याध्यास से वह प्रकाशक होती है, किन्तु स्वरूप से वह जड़ ही है । अतः सत् को आध्यासिक ज्ञान स्वीकार करने पर तो उसमें जड़त्व की प्राप्ति होगी । फलत: उसे अनाध्यासिक ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए ।

119. 'शब्दयोनि: धातु:' - (अमरकोश, 3.3.65) व्याकरण शास्त्र के अनुसार जिससे 'शब्द' की उत्पत्ति हो उसे 'धातु' कहते हैं । 'धात्वर्थ' क्रियारूप ही होता है (धात्वर्थ: क्रिया ज्ञेया) । 'क्रिया' सदैव उत्पत्ति और विनाश वाली होती है । यहाँ 'सत्' ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान 'ज्ञा' धातु का अर्थ (धात्वर्थ) होने से क्रियारूप है, अत: 'सत्' = ज्ञान = धात्वर्थ = क्रियारूप होने के कारण उत्पत्ति-विनाशवान् ही है ।

120. 'समावेशित' शब्द का तात्पर्य यह है कि अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान से पृथक् सत्ता या स्फुरण नहीं रहता है । जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण अधिष्ठान की सत्ता में ही सत्तावान् हुआ करता है और इस अधिष्ठान के प्रकाश के द्वारा ही प्रकाशित होता है । ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानने के कारण ही भ्रान्तिवश जगत् ब्रह्म में आरोपित होता है । अत:

65 **कस्मात् ? यस्माद्विनाशं परिच्छेदमव्ययस्यापरिच्छिन्नस्यापरोक्षस्य सर्वानुस्यूतस्य स्फुरणरूपस्य सतः कश्चित्कोऽपि आश्रयो वा विषयो वेन्द्रियसंनिकर्षादिरूपो हेतुर्वा न कर्तुमर्हति समर्थो न भवति, कल्पितस्याकल्पितपरिच्छेदकत्वायोगात् । आरोपमात्रे चेष्टापत्तेः । अहं घटं जानामीत्यत्र हि अहंकार आश्रयतया भासते घटस्तु विषयतया । उत्पत्तिविनाशवती काचिदहंकारवृत्तिस्तु सर्वतो विप्रसृतस्य सतः स्फुरणस्य व्यञ्जकतया, आत्ममनोयोगस्य परैरपि ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात् । तदुत्पत्तिविनाशेनैव च तदुपहिते स्फुरणरूपे सत्युत्पत्तिविनाशप्रतीत्युपपत्तेर्नैकस्य स्फुरणस्य स्वत उत्पत्तिविनाशकल्पनाप्रसङ्गः, ध्वन्यवच्छेदेन शब्दवद्घटाद्यवच्छेदेनाऽऽकाशवच्च । अंहकारस्तु**

65 क्यों ? क्योंकि इस अव्यय का अर्थात् अपरिच्छिन्न, अपरोक्ष, सर्वानुस्यूत, स्फुरणरूप सत् का कोई भी आश्रय, विषय, या इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप हेतु विनाश अर्थात् परिच्छेद नहीं कर सकता अर्थात् ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित वस्तु अकल्पित वस्तु का परिच्छेद ही नहीं हो सकती, अकल्पित वस्तु में कल्पित वस्तु का आरोप तो अभीष्ट ही है । 'अहं घटं जानामि'---'मैं घट को जानता हूँ'--- इस वाक्य में अहंकार ज्ञान की आश्रयता से और घट विषयता से भासित है । उत्पत्तिविनाशवती कोई अहंकार वृत्ति[121] अर्थात् 'अहम्' (मैं) इत्याकारक अन्त:करण की उत्पत्ति-विनाशवती वृत्तिविशेष तो सर्वत्र फैले हुए सद्-रूप स्फुरण की व्यञ्जकता से भासित रहती है, क्योंकि पर = नैयायिक भी आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का हेतु मानते ही हैं[122] । उस अन्त:करणवृत्ति के उत्पत्ति और विनाश से ही उससे उपहित स्फुरणरूप सत् में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति उपपन्न होती है, अत: उस एकमात्र स्फुरण में स्वत: उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का प्रसङ्ग नहीं हो सकता, जैसे ध्वनि के अवच्छेद से शब्द और घटादि के अवच्छेद से आकाश के उत्पत्ति और विनाश की कल्पना नहीं हो सकती[123] । अहंकार तो 'सत्' में अध्यस्त होने पर

असत् जगत्रूप दृश्यसमूह सत् ब्रह्म में ही समावेशित = आरोपित रहता है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

121. अन्त:करण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को 'वृत्ति कहते हैं । जैसे तालाब का जल छेद से निकलकर नाली के रास्ते से होता हुआ क्षेत्रों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का चतुष्कोण आदि आकारवाला हो जाता है, वैसे ही अन्त:करण भी चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत हो जाता है, उस परिणाम को ही 'वृत्ति' कहते हैं (वेदान्तपरिभाषा) ।

122. न्याय-मत में मन के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग तथा उस इन्द्रियविशेष के साथ मन का संयोग और उस ग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का संयोग आदि ज्ञान के कारण कहे गये हैं । (आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति-वात्स्यायन-भाष्य, 1.1.4) ।

123. मीमांसकों के अनुसार 'शब्द' नित्य है । वे 'उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार :'— इत्यादि प्रतीति से होने वाले शब्द के उत्पत्ति और विनाश को आरोपित मानते हैं । वे कहते हैं कि वायवीय संयोग-विभाग = ध्वनि या नाद शब्द के अभिव्यञ्जक होते हैं, शब्द में उत्पत्ति और विनाश का व्यवहार तो वैसे ही हो जाता है जैसे कि कूपखनन पर कूपाकाश की उत्पत्ति और कूपपूरण पर कूपाकाश के विनाश का व्यवहार होता है । व्यञ्जक उपाधि (ध्वनि) के सन्निधान से नित्यभूत व्यङ्ग्य (शब्द) की अभिव्यक्ति और व्यञ्जक (ध्वनि) का असन्निधान होने से व्यङ्ग्य (शब्द) की अनभिव्यक्ति से ही उसमें (शब्द में) उत्पत्ति-विनाश का व्यवहार होता है । 'शब्दो नित्य: ; भावत्वे सति अकारणत्वाद् ; व्योमवत्'— इस अनुमान के द्वारा शब्द में नित्यता ही सिद्ध होती है । इसी प्रकार घटाद्याकार अन्त:करणवृत्ति ज्ञानरूप सत्-तत्त्व की व्यञ्जक होती है, उस अन्त:करणवृत्ति के उत्पत्ति और विनाश से ही उससे उपहित स्फुरण रूप सत् में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति उपपन्न होती है, वस्तुत: उस एकमात्र स्फुरण में स्वत: उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का भी प्रसङ्ग नहीं होता ।

तस्मिन्नध्यस्तोऽपि तदाश्रयतया भासते तद्वृत्तितादात्म्याध्यासात् । सुषुप्तावहंकाराभावेऽपि तद्वासनावासिताज्ञानभासकस्य चैतन्यस्य स्वतः स्फुरणात् । अन्यथैतावन्तं कालमहं किमपि नाज्ञासिषमिति सुषुप्तोत्थितस्य स्मरणं न स्यात् । न चोत्थितस्य ज्ञानाभावानुमितिरियमिति वाच्यं, सुषुप्तिकालरूपपक्षाज्ञानाल्लिङ्गासंभवाच्च । अस्मरणादेर्व्यभिचारित्वात्स्मरणाजनक निर्विकल्पकाद्यभावासाधकत्वाच्च । ज्ञानसामग्र्य भावस्य चान्योन्याश्रयग्रस्तत्वात् । तथा च श्रुतिः 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० 4.3.23) इत्यादिः सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्फुरणसद्भावं तन्नित्यतया दर्शयति ।

66 **एवं घटादिर्विषयोऽपि तदज्ञातावस्थाभासके स्फुरणे कल्पितः, य एव प्रागज्ञातः स एवेदानीं मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञानात् । अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । यथार्थानुभवः**

भी उस 'सत्' की आश्रयता से ही भासित होता है, क्योंकि उसकी वृत्ति का 'सत्' के साथ तादात्म्याध्यास होता है । सुषुप्ति-अवस्था[124] में अहंकार का अभाव रहने पर भी उसकी वासना से वासित (युक्त) अज्ञान का भासक चैतन्य स्वत: स्फुरित होता रहता है । अन्यथा सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष को 'इतने समय तक मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा' --- ऐसा स्मरण नहीं होगा । 'सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष का ज्ञानाभाव अनुमिति [125] ही है'--- यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय सुषुप्तिकालरूपपक्ष का अज्ञान रहता है, उसका साधक कोई लिङ्ग (हेतु) भी नहीं रहता, क्योंकि अस्मरणादि उसका हेतु भी व्यभिचारी है और यह अस्मरणादि स्मरण की उत्पत्ति न करने वाले निर्विकल्पक ज्ञान आदि के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकता । इसके अतिरिक्त ज्ञान की सामग्री का अभावरूप हेतु भी अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है । इसीप्रकार 'जो यह है वह इसे नहीं देखता, देखते हुए भी वह द्रष्टव्य वस्तु को नहीं देखता, दृष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है' (बृह० 4.3.23) इत्यादि श्रुति भी सुषुप्ति में स्वप्रकाश स्फुरण की सत्ता को उसकी नित्यता के कारण दिखाती है ।

66 इसीप्रकार घटादि विषय भी घटाद्यज्ञानावस्थाभासक = घटादि के अज्ञान की अवस्था के आभासक स्फुरण में कल्पित हैं, क्योंकि 'जो घटादि पूर्व में अज्ञात था, वही अब मुझे ज्ञात हुआ है'--- ऐसी

124. अद्वैत-वेदान्त में 'सुषुप्तिर्नामाविद्यागोचराऽविद्यावृत्त्यवस्था' (वेदान्तपरिभाषा)— अविद्याविषयक अविद्या की वृत्ति को 'सुषुप्ति-अवस्था' कहते हैं । सुषुप्ति में अन्त:करणवृत्ति का अभाव रहता है, उसमें मात्र अविद्यावृत्ति रहती है । जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्था में अविद्याकारवृत्ति अन्त:करण की वृत्ति होती है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब अन्त:करण की वृत्ति ही चैतन्य ज्ञान की व्यञ्जक होती है और वह अन्त:करणवृत्ति सुषुप्ति-अवस्था में रहती नहीं है तो सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होगा जबकि सुषुप्ति में ज्ञान न होने में कोई प्रमाण नहीं है– इस शंका के समाधान में ही यहाँ यह कहा गया कि सुषुप्ति-अवस्था में अन्त:करणवृत्ति का अभाव रहने पर भी उसकी वासना से युक्त अज्ञान का भासक चैतन्य स्वत: स्फुरित होता रहता है, अत: वहाँ ज्ञान का सद्भाव मानना ही होगा ।

125. यह कथन नैयायिकों का है । नैयायिक वेदान्त-मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सुषुप्ति से उठा हुआ पुरुष जो यह कहता है कि 'इतने समय तक मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा' वह अनुमानमात्र है, स्मरण नहीं । स्मरण संस्कार से होता है, संस्कार अनुभव से होता है, सुषुप्ति में यदि अनुभव ही नहीं है तो संस्कार भी नहीं होगा, जब संस्कार नहीं होगा, तो उक्त स्मरण भी नहीं होगा । अनुमानात्मक ज्ञान है । अनुमान-वाक्य-प्रयोग इस प्रकार होगा— "अहं तदा ज्ञानसामान्याभाववान्; ज्ञानसामान्यप्रयोजकसामग्रीशून्यत्वात्; यदा नैवं तदा नैवम्, यथा जागरित:" । न्याय-मत में सुषुप्ति में ज्ञान-सामान्य का अभाव रहता है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के साधारण कारण आत्मा-मन:-संयोग का अभाव रहता है, कारण कि न्यायमतानुसार सुषुप्ति-अवस्था में मन पुरीतति नाडी में प्रवेश करता है । कारणाभाव से कार्याभाव का अनुमान सर्वसंमत है । अत: उक्त ज्ञान अनुमिति मात्र है, स्मरणस्वरूप नहीं है ।

प्रमेति वदद्भिस्तार्किकैरपि ज्ञातज्ञापिकायाः स्मृतेर्व्यावर्तकमनुभवपदं प्रयुञ्जानैरेतदभ्युगमात् । अज्ञातत्वं च घटादेर्न चक्षुरादिना परिच्छिद्यते तत्रासामर्थ्यात्तज्ज्ञानोत्तरकालमज्ञानस्यानुवृत्ति-प्रसङ्गाच्च । नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावात् । नहीदानीं ज्ञातत्वेन प्रागज्ञातत्वमनुमातुं शक्यं धारावाहिकानेकज्ञानविषये व्यभिचारात् । इदानीमेव ज्ञातत्वं तु प्रागज्ञातत्वे सतीदानीं ज्ञातत्वरूपं साध्याविशिष्टत्वादसिद्धम् । नचाज्ञातावस्थाज्ञानमन्तरेण ज्ञानं प्रति घटादेर्हेतुता ग्रहीतुं शक्यते पूर्ववर्तित्वाग्रहात् । घटं न जानामीति सार्वलौकिकानुभवविरोधश्च । तस्मादज्ञातं स्फुरणं भासमानं

प्रत्यभिज्ञा होती है । 'अज्ञात वस्तु का ज्ञापक होना--- यही प्रामाण्य है', यह सभी शास्त्रकारों का सिद्धान्त है[126] । 'यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं'--- ऐसा 'प्रमा' का लक्षण करनेवाले नैयायिकों ने भी लक्षण में प्रयुक्त 'अनुभव' पद से ज्ञात वस्तु की ज्ञापिका स्मृति की व्यावृति करके 'अज्ञातज्ञापकत्व स्मृतिव्यावृत ज्ञान में प्रामाण्य है'--- ऐसा ही स्वीकार किया है[127] । घटादि का अज्ञातत्व चक्षु आदि से परिच्छिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उनका सामर्थ्य नहीं है[128] और यदि उसमें उनका सामर्थ्य मान भी लिया जाय, तो घटादि का ज्ञान होने के उत्तरक्षण में उनके अज्ञान की अनुवृत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । इसीप्रकार अनुमान से भी घटादि का अज्ञातत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस अनुमान का साधक कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं है । वर्तमान (इदानीम्) ज्ञातत्वरूप हेतु से प्रागज्ञातत्व (साध्य) का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि धारावाहिक रूप से अनेक ज्ञान के विषय में इस हेतु का 'व्यभिचार' दिखाई देता है[129] । यदि कहें कि 'इदानीमेव

126. प्रायः सभी दार्शनिक 'अज्ञातज्ञापकत्व' को 'प्रामाण्य' मानते हैं । अद्वैत-वेदान्त में कहा है— अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान 'प्रमा' है (अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम् (वेदान्तपरिभाषा) । मीमांसकों के अनुसार अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को 'प्रमाण' कहते हैं (अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् (तर्कभाषा); सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यम् (श्लोकवार्तिक); कारणदोषबाधज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् (शास्त्रदीपिका) इत्यादि) । आचार्य धर्मोत्तर ने भी ऐसा ही निर्णय दिया है — 'अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तत्रैव चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ? अतोऽधिगतविषयमप्रमाणम् '– (धर्मोत्तरप्रदीप) । इत्यादि ।

127. यद्यपि नैयायिकों ने अपने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतत्व' = 'अज्ञातत्व' का कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न कहकर यही सूचित किया है कि 'अनधिगत अर्थ' को ग्रहण करनेवाला ज्ञान 'प्रमा' और 'अधिगत अर्थमात्र' को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाभिन्न है । अन्यथा 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा और 'यथार्थ स्मृति' को प्रमाभिन्न करने का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता । दोनों में मात्र इतना ही भेद है कि 'अनुभव' पूर्व से अज्ञात रहनेवाले अर्थ को ग्रहण करता है और 'स्मृति' सदैव पूर्व से ज्ञात रहने वाले अर्थ को ही ग्रहण करती है (ज्ञातविषयकं ज्ञानं स्मृतिः) । अतः नैयायिकों ने अपने 'यथार्थानुभवः प्रमा' -- इस प्रमा के लक्षण में 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' = 'अज्ञातज्ञापकत्व' का यद्यपि शब्दतः सन्निवेश नहीं किया है, तथापि तात्पर्यतः उसे स्वीकार कर लिया है । अपने प्रमालक्षणगत 'अनुभव' शब्द से स्मृति की व्यावृति करके उसकी सूचना दे दी है ।

128. जैसे सूर्य अन्धकार को प्रकाशित नहीं कर सकता अर्थात् जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ विषय को ज्ञात करने में ही समर्थ हैं, किन्तु विषय के अज्ञातत्व को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं ।

129. यदि घटादि का अज्ञातत्व अनुमान से सिद्ध करें– 'इदं पूर्वमज्ञातम्, इदानीं ज्ञातत्वात् ; यन्नैवं तन्नैवम् ; यथा ज्ञानम्' – तो वह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि 'इदानीं ज्ञातत्वात्' – यह हेतु 'इदं पूर्वमज्ञातम्'— इस प्रागज्ञातत्व साध्य का साध्याभाव के अधिकरण में रहने से 'व्यभिचारी' है ('साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः'— तर्कसंग्रह) अर्थात् इस अनुमान-वाक्य में साधारण व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हेत्वाभास है । 'इदानीं ज्ञातत्वात्' — इस हेतु के साध्याभाव के अधिकरण में रहने से तात्पर्य यह है कि यह हेतु 'धारावाहिक ज्ञान' अर्थात् ज्ञातज्ञा पकत्व

स्वाध्यस्तं घटादिकं भासयति घटादीनामज्ञाते स्फुरणे कल्पितत्वसिद्धिः, अन्यथा घटादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वतद्भानयोरनुपपत्तेः । स्फुरणं चाज्ञातं स्वाध्यस्तेनैवाज्ञानेनेति स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति– 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव :' (गी० 5.14) इत्यत्र । एतेन विभुत्वं सिद्धम् । तथाच श्रुतिः 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० 2.4.12) इति

ज्ञातत्वम्' = वर्तमान ज्ञातत्वरूप हेतु तो प्रागज्ञातत्व होने पर ही है अर्थात् पूर्व में अज्ञात होने पर ही है, तो इदानीं ज्ञातत्वरूप हेतु साध्य = प्रागज्ञातत्व के समान होने के कारण असिद्ध हेतु ही है [130] । इसके अतिरिक्त घटादि की अज्ञातावस्था के ज्ञान के बिना घटादि के ज्ञान के प्रति घटादि की हेतुता (कारणता) भी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी पूर्व विद्यमानता का भी ग्रहण नहीं होगा, और 'मैं घट को नहीं जानता' --- इस सार्वलौकिक अनुभव से भी विरोध होगा । अतः अज्ञात भासमान स्फुरण अर्थात् स्वयंप्रकाश स्फुरण ही अपने में अध्यस्त घटादि को प्रकाशित करता है, इस प्रकार घटादि के अज्ञात स्फुरण में घटादि के कल्पित होने की भी सिद्धि हो जाती है । अन्यथा जड़ होने के कारण घटादि के अज्ञातत्व और भान दोनों की ही सिद्धि नहीं हो सकती[131]। स्फुरण तो अपने में अध्यस्त अज्ञान के कारण ही अज्ञात है--- यह भगवान् श्रीकृष्ण 'अज्ञान से ज्ञान आवृत है, उसी से जीव मोह को प्राप्त होते हैं' (गीता 5.14) में स्वयं ही कहेंगे । इससे स्फुरण की विभुता भी सिद्ध होती है । इसीप्रकार 'ब्रह्म महद्भूत, अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है' (बृह० 2.4.12) ; ब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' (तै० 2.1)-- इत्यादि श्रुतियाँ भी ज्ञान के महत्त्व और अनन्तत्व को दिखाती

के अधिकरण में रहता है, जबकि उक्त अनुमानवाक्य में साध्य 'अज्ञातत्व' है, अतः वह हेतु साध्याभाव = 'अज्ञातत्व' साध्य के अभाव = ज्ञातज्ञापकत्व के अधिकरण = धारावाहिक ज्ञान में रहने से व्यभिचारी' है । एक ही घट में निरन्तर कई क्षण तक 'घटोऽयं घटोऽयम्' — इस प्रकार का ज्ञान होता रहे अर्थात् दो चार मिनट तक घटज्ञान ही निरन्तर होता रहे, मध्य में ज्ञानान्तर यदि न हो, तो उसे 'धारावाहिक ज्ञान' कहते हैं । इसमें प्रथम ज्ञान का विषय ही उत्तरोत्तर ज्ञान का विषय होता है, अतः उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्वपूर्वज्ञान ज्ञातज्ञापकत्व ही है, अज्ञातज्ञापकत्व नहीं — ऐसा मधुसूदन सरस्वती, मीमांसक प्रभाकर, उनके शिष्य शालिकनाथ आदि और नैयायिकों के समान स्वीकार करते हैं ।

130. 'इदानीमेव ज्ञातत्वम्'— इस हेतु को प्रागज्ञातत्व से युक्त स्वीकार करने पर यहाँ 'साध्यसम' हेत्वाभास होगा । जो हेतु, स्वयं साध्य होने के कारण साध्य से विशिष्ट न हो अर्थात् साध्य के समान हो, उसे 'साध्यसम' हेत्वाभास कहा जाता है (साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः— न्यायसूत्र, 1.2.8) । उक्त अनुमान वाक्य में 'पूर्वमज्ञातम्' साध्य है, उस प्रागज्ञातत्व से युक्त ' इदानीमेव ज्ञातत्वम्'— हेतु स्वीकार करने पर हेतु के साध्य के समान होने के कारण 'साध्यसम' हेत्वाभास होगा ।

131. तात्पर्य यह है कि घटादि जड़ हैं, जड़ का कोई आवरण नहीं होता, प्रकाश ही आवरण होता है क्योंकि प्रकाशमान वस्तु को ही अप्रकाश करना ही आवरण का परिणाम है । जड़ वस्तु तो स्वयं ही प्रकाशहीन है, अतः उसे अप्रकाश करने के लिए आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, फलतः जड़ अज्ञान का आश्रय या विषय नहीं है । जड़ चैतन्य से प्रकाशित होता है । चैतन्य को ही अखण्ड होने पर भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने से 'साक्षी-चैतन्य' और विषय से अवच्छिन्न होने से 'विषयचैतन्य' कहा जाता है । अज्ञान से जब विषयचैतन्य आवृत रहता है तब 'घटादि विषय आवृत हैं '— ऐसी प्रतीति होती है । विषयचैतन्य का आवरक जो अज्ञान है, वह साक्षी चैतन्य के द्वारा गृहीत होता है । घटादि जब अज्ञात रहते हैं तब यह समझना होगा कि घटादि से अवच्छिन्न चैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत है और जब उस चैतन्य की आवरण-वृत्ति ज्ञान से नष्ट हो जाती है तब चैतन्य ही प्रकाशित होता है और यह प्रतीति होती है कि 'घट अज्ञात था, अब उसका ज्ञान हुआ है' । घटादि विषय उस चैतन्य के साथ तादात्म्य सन्बन्ध प्राप्त होकर प्रकाशित होते हैं । अत; अध्यास के बिना तादात्म्य नहीं हो सकता है, अतः घटादि विषय चैतन्य में अध्यस्त (कल्पित) हैं ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० 2.1) इति च ज्ञानस्य महत्त्वमनन्तत्वं च दर्शयति । महत्त्वं स्वाध्यस्तसर्वसंबन्धित्वमनन्तत्वं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वमिति विवेकः ।

67 एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्रमायोगान्निरवधिबाधायोगाच्च । तथा श्रुतिः 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० 3.11) इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि । उक्तं च भाष्यकारैः:-- सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यति' इति । एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च । तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाशस्फुरणस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नं नाभावो विद्यते सत इति ॥ 17 ॥

68 ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य देहधर्मत्वाद् देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनस्तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति –

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ 18 ॥

हैं । अपने में अध्यस्त समस्त पदार्थों से सम्बन्ध रखना ब्रह्म का 'महत्त्व' है । देश, काल और वस्तु -- इस तीनों के परिच्छेद से शून्य होना ब्रह्म का 'अनन्तत्व' है -- यह जान लेना चाहिए ।

67 इससे शून्यवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि अधिष्ठान के बिना कोई भ्रम नहीं हो सकता और वस्तु का निरवधि बाध होना असम्भव है । इसीप्रकार 'पुरुष के परे कुछ नहीं है, वही काष्ठा (सीमा) है और वही परा गति है' (कठ० 3.11)-- यह श्रुति भी पुरुष को सम्पूर्ण बाधाओं की अवधि घोषित करती है । 'नष्ट होने वाली सभी वस्तुएँ पुरुषपर्यन्त ही नष्ट होती हैं, पुरुष विनाश का कोई हेतु न होने के कारण नष्ट नहीं होता' -- इत्यादि वाक्य से भाष्यकार ने भी बाध को सावधि कहा है, निरवधि नहीं । इससे क्षणिकवाद भी निरस्त हुआ, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा अबाधित = प्रत्यक्ष होती है और अन्य के द्वारा इष्ट पदार्थ का किसी अन्य के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता[132] । अत: एक सर्वानुस्यूत = सर्वत्रानुवृत स्वयंप्रकाशात्मक स्फुरणरूप सत् देश, काल और वस्तु -- सभी प्रकार के परिच्छेद से शून्य होने के कारण 'सत् का अभाव नहीं होता'-- यह कथन उपपन्न ही है ।। 17 ।।

68 'स्फुरणरूप सत् अविनाशी क्यों है ? स्फुरण देहधर्म है । देह के प्रतिक्षण परिणामी होने से तद्-धर्म स्फुरण भी प्रतिक्षण विनाशी है'-- यह भूतचैतन्यवादी चार्वाकादि कहते हैं । उनका निराकरण करने के लिए भगवान् 'नासतो विद्यते भाव:' इत्यादि का विवरण करते हैं :--

[हे भारत ! नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्मा के ये सभी देह विनाशशील हैं, इसलिए तुम युद्ध करो ।। 18 ।।]

132. तात्पर्य यह है कि जिस मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्रों का अनुभव करता हूँ, यह बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में एक ही स्थिर आत्मा है, इसका साधक अबाधित प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है । यहाँ क्षणिक आत्मा स्वीकार करने पर तो यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पायेगी, क्योंकि आत्मा के क्षणिक होने से अनन्त आत्माओं की कल्पना करनी होगी और जिस समय प्रत्यभिज्ञान होगा, उस समय वह पूर्व का आत्मा तो नष्ट हो जाने के कारण रहेगा नहीं और पूर्व के आत्मा के न होने से प्रत्यभिज्ञान होने की अनुपपत्ति होगी । इसके अतिरिक्त अन्यानुभूत पदार्थ का स्मरण भी अन्य को नहीं होता, यह भी एक बात है । क्षणिक आत्मा होने पर तो उक्त स्मरण नहीं हो सकेगा, इसलिए क्षणिकवाद अयुक्त है ।

69 अन्तवन्तो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहा उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि । बहुवचनात्स्थूलसूक्ष्मकारणरूपा विराट्सूत्राव्याकृताख्याः समष्टिव्यष्ट्यात्मानः सर्वे नित्यस्याविनाशिन एव शरीरिण आध्यासिकसंबन्धेन शरीरवत एकस्याऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्फुरणरूपस्य संबन्धिनो दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन चोक्ताः श्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तथाच तैत्तिरीयकेऽन्नमयाद्यानन्दमयान्तान्पञ्चकोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० 2.5) इति दर्शितम् । तत्र पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको विराण्मूर्तराशिरन्नमयकोशः

69 ये अपरोक्ष देह[133] = शरीर[134] उपचित (वृद्धि) और अपचित (ह्रास) रूप होने के कारण अन्तवान् अर्थात् विनाशी हैं। 'देहा:'-- इस पद में बहुवचन होने के कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीर हैं। इनका क्रमश: विराट्, सूत्र और अव्याकृत नाम भी है। ये समष्टि-व्यष्टि स्वरूप हैं। ये सभी नित्य, अविनाशी शरीरी[135] के ही हैं, आध्यासिक सम्बन्ध से देहधारी स्वप्रकाश स्फुरणरूप एक ही आत्मा के दृश्य और भोग्यरूप से सम्बन्धी हैं, यह श्रुति और ब्रह्मवादिओं ने कहा है। इसीप्रकार तैत्तिरीयक श्रुति में भी अन्नमय से लेकर आनन्दमयपर्यन्त = अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय-- इन पाँच कोशों की कल्पना करके उनके अधिष्ठान को 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० 2.5) इत्यादि से अकल्पित बतलाया है। उनमें पञ्चीकृत पंचमहाभूत और उनका कार्यस्वरूप विराट् मूर्तराशि जो अन्नमयकोश है वह स्थूलसमष्टि है। इसका कारणीभूत[136] अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत[137] और उनका

133. 'देह: = देग्धि प्रतिदिनम्, दिह् उपचये + अच्' अर्थात् जो प्रतिदिन उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है उसे देह कहते हैं। 'देह' शब्द उपचयार्थक 'दिह्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। देह प्रतिक्षण आगन्तुक अवयवों से उपचित और वर्तमान अवयवों से अपचित होते रहते हैं। देह में अवयवों का संयोग और वियोग अनिवार्य है, उपचित (वृद्धिगत) वस्तु का अपचित (ह्रास) होना अनिवार्य है, अत: देह को उपचितापचित कहा गया है। 'अपचित' शब्द के योग से देह की अन्तवत्ता सर्वथा सिद्ध हो जाती है, इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने देह के लिए 'उपचित' शब्द के साथ 'अपचित' पद का प्रयोग किया है।

134. वेदान्त में स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर के भेद से तीन प्रकार का शरीर माना गया है। जाग्रत्-अवस्था में 'अहं स्थूल:, अहं कृश:' – इत्यादि रूप से स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष होता है। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओं में 'अहं सुखी, अहं ज्ञानवान्' इत्यादि रूप से सूक्ष्मशरीर का प्रत्यक्ष होता है। और सुषुप्ति-अवस्था में 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि रूप से कारणशरीर = अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यह त्रिविध शरीर अपरोक्ष ही है।

135. सभी शरीर आत्मा में अविद्या या माया से कल्पित हैं। अत: कल्पित सभी शरीरों के साथ आत्मा का कल्पित सम्बन्ध रहने के कारण उन्हें 'शरीरी' कहा जाता है।

136. पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत से तात्पर्य है– आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी – इस पाँच महाभूतों का सम्मिश्रण होना। इस प्रक्रिया के अनुसार पाँचों भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन-उन भूतों के आधे-आधे भागों में अन्य-अन्य भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं। जैसा कि कहा है –

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुन: ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ (पञ्चदशी, 1.27)

इसे पञ्चीकरण-प्रक्रिया भी कहते हैं। इस प्रक्रिया को निम्नप्रकार से और स्पष्ट किया जा सकता है :–

1. आकाश = आकाश 1/2 + वायु 1/8 + तेज 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 =1 आकाश।
2. वायु = वायु 1/2 + आकाश 1/8 + तेज 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 वायु।
3. तेज = तेज 1/2 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 तेज।
4. जल = जल 1/2 + तेज 1/8 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 + पृथ्वी 1/8 = 1 जल।
5. पृथ्वी = पृथ्वी 1/2 + जल 1/8 + तेज 1/8 + वायु 1/8 + आकाश 1/8 = 1 पृथ्वी।

स्थूलसमष्टिः । तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (1.6.1) इति बृहदारण्यकोक्तत्र्यन्नात्मकः सर्वकर्मात्मकत्वेन क्रियाशक्तिमात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः । नामात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमात्रमादाय मनोमयकोश उक्तः । रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः । ततः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयात्मैक एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः । तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्य आनन्दमयकोशः । ते च सर्व एकस्यैवाऽऽत्मनः शरीराणीत्युक्तम् । 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' (तै० 2.3.4) इति । तस्य प्राणमयस्यैष एव शरीरे भवः शारीर आत्मा यः सत्यज्ञानादिलक्षणो गुहानिहितत्वेनोक्तः पूर्वस्यान्नमयस्य । एवं प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु योज्यम् ।

70 **अथवेमे सर्वे देहास्त्रैलोक्यवर्तिसर्वप्राणिसंबन्धिन एकस्यैवाऽऽत्मन उक्ता इति योजना । तथा च श्रुतिः --**

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ॥
(श्वेता० 6.11)

इति सर्वशरीरसंबन्धिनमेकमात्मानं नित्यं विभुं दर्शयति ।

कार्यात्मक हिरण्यगर्भ (सूत्र) अमूर्तराशि जो सूक्ष्मसमष्टि है वह 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' = 'यह नाम, रूप और कर्म-- ये तीन अन्न हैं' (बृह० 1.6.1)- इस बृहदारण्यक उपनिषद् की उक्ति से त्र्यन्नात्मक सम्पूर्ण कर्मस्वरूप होने से एकमात्र क्रियाशक्ति को लेकर प्राणमयकोश कहा गया है । नामात्मक होने से एकमात्र ज्ञानशक्ति को लेकर मनोमयकोश कहा गया है । रूपात्मक होने से उन दोनों के आश्रयरूप से कर्तृत्व को लेकर विज्ञानमयकोश कहा गया है । इससे प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयात्मा एक ही हिरण्यगर्भ नामक लिङ्गशरीरकोश है । उसका कारणीभूत मायोपहित चैतन्यात्मा सर्व संस्कारों का शेषरूप [138] अव्याकृत नामवाला आनन्दमयकोश है । ये सभी एक ही आत्मा के शरीर हैं -- यह कहा गया है । इसमें श्रुति भी प्रमाण है -- 'उस प्राणमय कोश का यह शारीर अर्थात् आत्मा है, जो पूर्वकोश का है' (तै० 2.3.4) । अर्थात् उस प्राणमयकोश का यही शरीर में रहनेवाला शारीर -- आत्मा है, जो सत्यज्ञानादिरूप गुहानिहित = हृदयाकाश में निहित पूर्वोक्त अन्नमयकोश का भी कहा गया है । इसीप्रकार प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों में भी योजना करनी चाहिए ।

70 अथवा, ये सभी देह, जो त्रिलोक में रहने वाले समस्त प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले हैं, एक ही आत्मा के कहे गये हैं -- यह योजना करनी चाहिए । इसी प्रकार 'एक ही देव समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का प्रवर्तक, समस्त प्राणिओं का निवासस्थान, साक्षी, चैतन्य, केवल (अद्वितीय) और निर्गुण है' (श्वेता० 6.11) -- यह श्रुति भी समस्त शरीरों से सम्बन्ध रखने वाले एक, नित्य, विभु आत्मा को प्रदर्शित करती है ।

137. अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत शब्द का अर्थ है,- आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी - इनका किसी के साथ किसी का सम्मिश्रण नहीं है, प्रत्येक अपने अपने स्वरूप में रहते हैं ।

138. प्राणमय शरीर में मायोपहित चैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेष होने से 'अव्याकृत' कहलाता है । समस्त प्रपञ्चसंस्काररूप से वह शक्तिरूप से रहता है, उसी से प्रपञ्च का आविर्भाव होता है । सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य अपने कारण में लीन रहता है - सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है, अतः वह सर्वसंस्कारशेष है ।

71 ननु नित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं तथा चाविद्यादिवत्कालेन सह नाशेऽपि तदुपपन्नमित्यत आह– अनाशिन इति । देशतः कालतोः वस्तुतश्च परिच्छिन्नस्याविद्यादेः कल्पितत्वेनानित्यत्वेऽपि यावत्कालस्थायिस्वरूपमौपचारिकं नित्यत्वं व्यवह्रियते 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्र० सू० 2.3.7) इति न्यायात् । आत्मनस्तु परिच्छेदत्रयशून्यस्याकल्पितस्य विनाशहेत्वभावान्मुख्यमेव कूटस्थनित्यत्वं न तु परिणामिनित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं चेत्यभिप्रायः ।

72 नन्वेतादृशे देहिनि किंचित्प्रमाणमवश्यं वाच्यमन्यथा निष्प्रमाणस्य तस्यालीकत्वापत्तेः शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेश्च । तथा च वस्तुपरिच्छेदो दुष्परिहरः 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० 1.1.3) इति न्यायाच्च, अत आह– अप्रमेयस्येति । 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' (बृह० 4.1.2) अप्रमयमप्रमेयम् ।

---

71 यदि कहो कि नित्यता तो यावत्काल-स्थायित्व है अर्थात् जब तक काल की स्थिति वर्तमान रहे तब तक ही नित्यता कही जाती है । इस दृष्टि से अविद्यादि के समान काल के साथ नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नित्यत्व माना ही जा सकता है -- तो इस पर भगवान् कहते हैं -- 'अनाशिनः' इत्यादि । अविद्यादि देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण कल्पित हैं, अतएव अनित्य हैं, फिर भी उनमें 'यावत्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र 2.3.7) = 'आकाशादि[139] जितना विकार है उस सभी में व्यावहारिक भेद के समान विभाग देखा जाता है'-- इस न्याय से यावत्कालस्थायित्वस्वरूप औपचारिक नित्यत्व का व्यवहार होता है । किन्तु आत्मा देश, काल और वस्तु -- इन तीनों प्रकार के परिच्छेद से शून्य होने के कारण अकल्पित है, अतः आत्मा के विनाश का को हेतु नहीं है, इसलिए आत्मा की मुख्य कूटस्थनित्यता ही कही गई है, न कि परिणामिनित्यता या यावत्कालस्थायित्वस्वरूप नित्यता -- यही इसका अभिप्राय है ।

72 यदि कहो कि ऐसे देही आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण तो अवश्य कहना चाहिए, अन्यथा निष्प्रमाण होने से उसकी अलीकता प्राप्त होगी और ऐसी स्थिति में उसके लिए शास्त्रारम्भ[140]

---

139. आकाश नित्य है ? या अनित्य ? इस प्रकार का सन्देह होने पर नैयायिकों का कहना है कि आकाश नित्य है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है । आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह नित्य है । आकाश की उत्पत्ति की साधक कोई श्रुति भी नहीं है, 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' – यह जो श्रुति आकाश की उत्पत्ति बताती है, वह गौणार्थक है, क्योंकि पदार्थशास्त्रियों ने सजातीय से ही उत्पत्ति को संगत माना है, आकाश की जनक ऐसी कोई सजातीय प्रसिद्ध सामग्री नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति संभव ही नहीं है । 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' – यह श्रुति 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' – ऐसा चिन्तन करने का आदेश देती है, जिससे आत्मा की सर्वश्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास हो । आत्मा आकाश का अवयव नहीं है कि उससे उसकी उत्पत्ति होगी । फलतः आकाश की उत्पत्तिविषयक उक्त श्रुति गौणी है । इसके उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा है 'यावत्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र, 2.3.7) अर्थात् लोक में देखा जाता है कि जहाँ विभाग है, वहाँ विकारत्व (कार्यत्व) अवश्य है । जैसे – घट, घटिका, उदञ्चन आदि जितने भी विकार लोक में दिखाई देते हैं, उनका अपने अन्यूनसत्ताक पदार्थों से विभाग देखा जाता है । उसी प्रकार आकाश का पृथ्वी आदि से विभाग सुविदित है, अतः आकाश का विकारत्व भी सिद्ध होता है । आकाश का कार्यत्व सिद्ध होने पर उसकी अनित्यता ही सिद्ध होती है । आकाश की नित्यता जो कही जाती है, वह नित्यता औपचारिक या गौण है, क्योंकि वह नित्यता जब तक काल वर्तमान रहता है तब तक ही रहती है, महाप्रलय में काल और आकाश का भी लय होता ही है ।

140. सभी शास्त्र देही आत्मा के इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय बतलाने के लिए हैं । उन-उन उपायों के अनुष्ठान से दृष्टा दृष्ट-पुत्रादि और अदृष्ट-स्वर्गादि फल प्राप्त करे । इन कर्मों का त्याग कर शरीररोगादि और नरकादि से बचे -- इस प्रकार के उपदेशार्थ ही शास्त्र हैं । यदि आत्मा ही अप्रामाणिक होगा, तो उक्त उपायों के प्रदर्शन के लिए जो शास्त्र हैं, वे सभी व्यर्थ हो जायेंगे । अर्थात् आत्मा के निष्प्रमाण होने से शास्त्रारम्भवैयर्थ्य-दोष प्राप्त होगा ।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः (कठ० 5.15) । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं० 2.2.10) ॥ इति च श्रुतेः स्वप्रकाशचैतन्यरूप एवाऽऽत्माऽतस्तस्य सर्वभासकस्य स्वभानार्थं न स्वभास्यापेक्षा, किंतु कल्पिताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यर्थं कल्पितवृत्तिविशेषापेक्षा, कल्पितस्यैव कल्पितविरोधित्वात्, 'यक्षानुरूपो बलिः' इति न्यायात् । तथा च सर्वकल्पितनिवर्तकवृत्तिविशेषोत्पत्त्यर्थं शास्त्रारम्भः,

ही व्यर्थ हो जायेगा और यदि 'शास्त्रयोनित्वात्'[141] (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) 'शास्त्र ही ब्रह्म की योनि = प्रमाण है, उससे भिन्न अन्य कोई प्रमाण नहीं है', – इस न्याय से उसे उपनिषद्-वेद्य[142] मानेंगे तो उसके वस्तुपरिच्छेद का निराकरण करना कठिन होगा, – तो इसपर भगवान् कहते हैं – 'अप्रमेयस्य' इत्यादि । "आत्मा को एक अद्वैत के रूप में ही देखना चाहिए, यह आत्मतत्त्व अप्रमय = अप्रमेय और ध्रुव है' (बृह० 4.1.2) ; 'इस आत्मा में सूर्य का प्रकाश नहीं है, न चन्द्रमा और ताराओं का प्रकाश है, विद्युत् का भी प्रकाश नहीं है, फिर यह अग्नि तो उसे प्रकाशित कर ही कैसे सकता है' (कठ० 5.15) ; ' उसके प्रकाशित होने के बाद ही सब प्रकाशित होते हैं, उसका प्रकाश ही इन सब को प्रकाशित करता है' (मुं० 2.2.10)"-- इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि स्वप्रकाश चैतन्यरूप ही आत्मा है । अत: उस सर्वप्रकाशक को अपने भान के लिए अपने किसी भासक की अपेक्षा नहीं है, किन्तु कल्पित अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति के लिए एक कल्पित वृत्तिविशेष[143] की अपेक्षा अवश्य है, क्योंकि 'जैसा यक्ष हो तदनुरूप ही बलि होनी चाहिए' – इस न्याय से कल्पित ही कल्पित का विरोधी हो सकता है । इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पित प्रपञ्च की निवर्तक उस कल्पित वृत्तिविशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्रारम्भ हुआ है,[144] क्योंकि वह वृत्ति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के ही अधीन है । स्वत: सर्वदा भासमान होने, समस्त कल्पनाओं का अधिष्ठान होने और दृश्यमात्र का भासक होने के कारण

141. भाष्यकार ने इस सूत्र के दो अर्थ किये हैं – (1) 'शास्त्रं योनि: प्रमाणं यस्मिन्' अर्थात् शास्त्र ब्रह्म के स्वरूप के यथार्थज्ञान में योनि अर्थात् प्रमाण है । (2) 'शास्त्रस्य योनि: कारणं ब्रह्म' अर्थात् शास्त्र का योनि = कारण ब्रह्म है ।

142. 'शास्त्रयोनित्वात्'– इस न्याय से आत्मा को उपनिषद्-वेद्य मानने पर वह वस्तु-परिच्छिन्न ही होगा । शास्त्र (उपनिषद्) रूप प्रमाण से आत्मा-प्रमेयपरिच्छिन्न होगा, क्योंकि अभेद में अर्थात् एक ही वस्तु में प्रमाण-प्रमेयभाव हो ही नहीं सकता ।

143. कल्पितवृत्तिविशेष से तात्पर्य है – ब्रह्म के अखण्ड आकार से आकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' – चित्तवृत्ति । इस वृत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म नहीं है, अपितु वह अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयिणी है । अत: यह वृत्ति चैतन्य को अवभासित नहीं करती, अपितु चैतन्य के अज्ञान को दूर करके चैतन्य की ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति में सहायक होती है । यही इसका प्रयोजन है (तस्याश्चैतन्यावरकाज्ञाननिवृत्तिरेव प्रयोजनम्-सुबोधिनी) । चैतन्य के अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर समस्त कार्यप्रपञ्च के बाधित होने पर अज्ञान और उसके कार्यप्रपञ्च के अन्तर्गत आनेवाली उक्त कल्पित वृत्ति का भी बाध हो जाता है । फलत: अज्ञान कल्पित है और उसकी निवर्तक वृत्ति भी कल्पित है । कल्पित के बाध के लिए कल्पित की ही अपेक्षा होती है, स्वप्न की क्षुधा स्वप्न में भुक्त पदार्थों से ही शान्त की जाती है ।

144. अखण्डाकाराकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' चित्तवृत्ति 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों से उत्पन्न होती है । अधिकारी जब आध्यात्मिक गुण अध्यारोप और अपवाद न्याय से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का शोध कर लेता है, तो उसको अखण्ड अर्थ का बोध होता है और उसमें 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) – ऐसी चित्तवृत्ति का उदय होता है, अत: स्पष्ट है कि उक्तकल्पित चित्तवृत्ति विशेष की उत्पत्ति के लिए ही शास्त्रारम्भ हुआ है ।

तस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यमात्राधीनत्वात् । स्वतः सर्वदाभासमानत्वात्सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वाद्दृश्यमात्रभासकत्वाच्च न तस्य तुच्छत्वापत्तिः । तथा चैकमेवाद्वितीयं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रमेव स्वप्रमेयानुरोधेन स्वस्यापि कल्पितत्वमापादयति अन्यथा स्वप्रामाण्यानुपपत्तेः ।

73 **कल्पितस्य चाकल्पितपरिच्छेदकत्वं नास्तीति प्राक्प्रतिपादितम् । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं च युक्तितोऽपि भगवत्पूज्यपादैरुपपादितम् । तथाहि—यत्र जिज्ञासोः संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाणानामन्यतममपि नास्ति तत्र तद्विरोधि ज्ञानमिति सर्वत्र दृष्टम् । अन्यथा त्रितयान्यतमापत्तेः । आत्मनि चाहं वा नाहं वेति न कस्यचित्संशयः, नापि नाहमिति विपर्ययो व्यतिरेकः प्रमा वेति तत्स्वरूपप्रमा सर्वदाऽस्तीति वाच्यं तस्य सर्वसंशयविपर्ययधर्मित्वात्, 'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति न्यायात् । अत एवोक्तम्—**

उसके तुच्छत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । तथा 'एकमेवाद्वितीयम्'[145]; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र भी 'स्वप्रमेय के अनुरोध से स्व भी कल्पित है, ऐसा कहते हैं, अन्यथा स्वप्रामाण्य नहीं होगा ।

73 कल्पित अकल्पित का परिच्छेदक नहीं हो सकता -- यह पूर्व में ही प्रतिपादित हो चुका है । भगवान् पूज्यपाद शंकराचार्य ने आत्मा के स्वप्रकाशत्व को युक्ति द्वारा भी सिद्ध किया है । यथा -- यह सर्वत्र देखा गया है कि जहाँ जिज्ञासुको संशय, विपर्यय और व्यतिरेक -- इन तीनों प्रमाओं में से एक भी नहीं होती वहीं इनका विरोधी ज्ञान होता है, अन्यथा उक्त त्रितय में से कोई एक अवश्य होगा । आत्मा में 'मैं हूँ या नहीं हूँ' -- यह संशय किसी को नहीं होता । 'मैं नहीं हूँ' -- यह विपर्यय या व्यतिरेक प्रमा भी नहीं होती [146] । किन्तु 'मैं हूँ' -- यह आत्मस्वरूप प्रमा सर्वदा रहती है -- यह कहना चाहिए, क्योंकि सर्व संशय-विपर्यय का धर्मी वह आत्मा है । ऐसी अभियुक्तोक्ति भी है कि 'संशयादि ज्ञान धर्म्यंश = धर्मी अंश = आत्मा में अभ्रान्त अर्थात् प्रमा होता है, केवल प्रकारांश अर्थात् धर्मों में ही विपर्यय होता है' -- अतएव कहा है -- 'प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाणाभास --

---

145. 'एकमेवाद्वितीयम्' का अर्थ है – 'आत्मा एक है, अद्वितीय है' । यह शास्त्र 'आत्मा' को प्रमेय कहकर आत्मातिरिक्त सब कल्पित है, यह बोध कराता है । उक्त शास्त्र को यदि सत्य कहते हैं, तो द्वैतापत्ति होगी और शास्त्र के बाधितार्थक होने से उसमें प्रामाण्य अनुपपन्न होगा । यदि उसे असत्य कहते हैं, तो अप्रामाण्य है ही । अतः उक्त शास्त्र ही कहता है कि 'आत्मातिरिक्त सब कल्पित है', इससे वह अपने कल्पितत्व का भी प्रतिपादन कर रहा है । इस प्रकार उक्त शास्त्र प्रमाण बनता है । शास्त्र व्यावहारिक सत्य वस्तु होने पर भी पारमार्थिक सत्य वस्तु नहीं है – यह अभिप्राय है । श्रुति में भी कहा गया है कि 'अत्र वेदाः अवेदाः भवन्ति' (बृह० 4.3.22) अर्थात् तुरीयावस्था में = आत्मस्वरूप में वेद भी अवेद हो जाता है ।

146. यहाँ संशय और विपर्यय या व्यतिरेक रूप से दो ही प्रमा विवक्षित नहीं है, अपितु संशय, विपर्यय और व्यतिरेक – ये तीन प्रमाएं कही गई हैं, अन्यथा 'संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाणामन्यतमम्' 'त्रितयान्यतमापत्तेः' – इस प्रकार का लेख संगत नहीं होगा । जहाँ जिज्ञासु को संशय, विपर्यय और व्यतिरेक प्रमा नहीं होती वहीं संशयादि-विरोधी ज्ञान होता है । जैसे – पुरुष के विषय में ' यह पुरुष है या नहीं' – यह संशय है ; '– यह स्थाणु है' – यह विपर्यय है ; 'यह पुरुष नहीं है' – यह व्यतिरेक प्रमा है । 'यह पुरुष ही है' – ऐसा ज्ञान होने पर उक्त संशयादि नहीं होते । वैसे ही आत्मा के विषय में 'मैं हूँ या नहीं हूँ' – यह संशय है ; 'मैं मैं नहीं हूँ, दूसरा कोई हूँ' -- यह विपर्यय है ; 'मैं नही हूँ' – यह व्यतिरेक है । 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने पर उक्त संशयादि ज्ञान नहीं होते । अन्यथा जहाँ यथार्थ ज्ञान नहीं होगा वहाँ संशयादि में से कोई एक अवश्य होगा ।

'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः ॥' (बृह० वा० 1.4.874)

प्रमाभासः संशयः । स्वप्रकाशे सद्रूपे धर्मिणि प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषो नास्तीत्यर्थः । आत्मनो भासमानत्वे च घटज्ञानं मयि जातं न वेत्यादिसंशयः स्यात् । न चाऽऽन्तरपदार्थे विषयस्यैव संशयादिप्रतिबन्धकत्वस्वभावः कल्प्यः, बाह्यपदार्थे क्लृप्तेन विरोधिज्ञानेनैव संशयादि-प्रतिबन्धसंभव आन्तरपदार्थे स्वभावभेदकल्पनाया अनौचित्यात् । अन्यथा सर्वविप्लवापत्तेः । आत्ममनोयोगमात्रं चाऽऽत्मसाक्षात्कारे हेतुः । तस्य च ज्ञानमात्रे हेतुत्वाद् घटादिभानेऽप्यात्म-भानं समूहालम्बनन्यायेन तार्किकाणां प्रवरेणापि दुर्निवारम् । न च चाक्षुषत्वमानसत्वादिसंकरः, लौकिकत्वालौकिकत्ववदंशभेदेनोपपत्तेः । संकरस्यादोषत्वाच्चाक्षुषत्वादेर्जातित्वानभ्युपगमाद्वा ।

ये सब जहाँ अपनी प्रमा उत्पन्न करते हैं उस आत्मतत्त्व के विषय में संशय कैसे हो सकता है ?' -- (बृह० वा० 1.4.874) । प्रमाणाभास संशय को कहते हैं । स्वप्रकाश सद्-रूप धर्मी में प्रमाण और अप्रमाण का कोई भेद नहीं है -- यह तात्पर्य है । आत्मा के भासमान होने पर ही 'घटज्ञान मुझे हुआ या नहीं' इत्यादि संशय होता है । किन्तु बाह्य विषय के समान आन्तर पदार्थ में संशयादि प्रतिबन्धकता के स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । बाह्य पदार्थों के विषय में निश्चित किये हुए विरोधी ज्ञान से ही संशयादि की सम्भावना होती है, आन्तर पदार्थ में स्वभावभेद की कल्पना करना तो अनुचित ही है, अन्यथा सर्वविप्लव उपस्थित होगा[147] । नैयायिकों के मत में आत्मा और मन का संयोगमात्र ही आत्मसाक्षात्कार में हेतु है, और वही आत्म-मन:संयोग ज्ञानमात्र में हेतु है, अत: घटादि का भान होने पर भी समूहालम्बन न्याय से आत्मा का भान किसी भी तार्किकप्रवर के लिए दुर्निवार होगा [148] । घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व का भी सङ्कर नहीं है, क्योंकि लौकिकत्व और अलौकिकत्व के समान अंशभेद से भी ये दोनों प्रकार के ज्ञान एक साथ रह सकते हैं[149] । अथवा सङ्कर कोई दोष न होने के कारण तथा चाक्षुषत्व आदि में कोई जाति न मानने के कारण भी ये दोनों प्रकार के ज्ञान एक साथ रह सकते हैं[150] । इससे व्यवसाय मात्र में

147. तात्पर्य यह है कि बाह्य पदार्थों के स्वभाव से भिन्न आत्मा का स्वभाव स्वीकार करने पर बाह्य पदार्थों में भी स्वभाव-भेद की कल्पना करने से सभी धर्मों की सभी पदार्थों में प्राप्ति होगी । जैसे – जल में उष्णत्व है, वह्नि में शीतत्व है, परन्तु वे प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते । स्वभावभेद से प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हो सकती है। जलीय उष्णत्व का स्वभाव है कि जिस सामग्री से वह्निगत उष्णत्व का प्रत्यक्ष होता है उस सामग्री से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उससे विलक्षण सामग्री से प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार वह्निगत शीतत्व में भी सामग्रीभेद मानकर सब धर्मों में अनित्यत्वव्यवस्था हो जायेगी, जो सर्वथा अनुचित है ।

148. तात्पर्य यह है कि बडे बडे तार्किकों को भी यह मानना ही होगा कि सर्वत्र घटादि का ज्ञान होने पर भी आत्मा का ज्ञान होता ही है, फलत: आत्मा स्वयंप्रकाश होती है, क्योंकि वे स्वयं घटादिज्ञानोत्पत्तिक्षण में आत्मज्ञानसामग्री अर्थात् आत्मा और मन के संयोग को हेतु मानते ही हैं । और फिर यह आत्मा और मन का संयोग समस्त ज्ञानों का जनक (हेतु) होने के कारण सर्वत्र घटादि ज्ञानों के पूर्व होता ही है, अत: उस आत्मज्ञानसामग्री से घटादि विषय और आत्मा – दोनों का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि समूहालम्बन न्याय से अनेक विषयों का ज्ञान एक समय में होता ही है । तार्किकों के अनुसार घट, पट आदि अनेक पदार्थों को मुख्यतया विषय करनेवाला ज्ञान 'समूहालम्बनज्ञान' है । उनके अनुसार घट, पट आदि अनेक पदार्थों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान हो जाता है । इसीप्रकार घटादि विषय और आत्मा– दोनों का एक समय में ज्ञान हो जायेगा, क्योंकि दोनों ज्ञान की जनक (हेतु) आत्मज्ञान-सामग्री विद्यमान है । इस प्रकार घटादि विषय के साथ-साथ आत्मा के भान का निवारण तार्किकप्रवर भी नहीं कर सकते ।

149. नैयायिकों के अनुसार घटादि विषय और चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है – लौकिक और अलौकिक । जिस इन्द्रिय का जो विषय है वही उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, जैसे – चक्षु के द्वारा रूप ही गृहीत होता है, शब्दादि अन्य विषय नहीं, इसलिए चक्षु और

व्यवसायमात्र एवाऽऽत्मभानसामग्र्या विद्यमानत्वादनुव्यवसायोऽप्यपास्तः । न च व्यवसाय-भानार्थं स तस्य दीपवत्स्वव्यवहारे सजातीयानपेक्षवात् । न हि घटतज्ज्ञानयोरिव व्यवसायानु-व्यवसाययोरपि विषयत्वविषयित्वव्यवस्थापकं वैजात्यमस्ति व्यक्तिभेदातिरिक्तवैधर्म्यानभ्युपगमात् । विषयत्वावच्छेदकरूपेणैव विषयित्वाभ्युपगमे घटयोरपि तद्भावापत्तिरविशेषात् ।

ही आत्मभान की सामग्री विद्यमान रहने के कारण अनुव्यवसाय [151] का भी निराकरण हो जाता है । वह अनुव्यवसाय व्यवसाय के भान के लिए नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवसाय के भान में प्रदीपवत्सजातीय प्रकाश की अपेक्षा नहीं है [152] । घट और घटज्ञान के समान व्यवसाय और अनुव्यवसाय में भी विषयत्व और विषयित्व की व्यवस्थापक विजातीयता नहीं है, क्योंकि इनमें व्यक्तिभेद के अतिरिक्त कोई व्यवस्थापक वैधर्म्य नहीं माना जाता तथा विषयत्व के अवच्छेदकरूप से ही विषयित्व को स्वीकार करने पर तो घटद्वय में भी वैधर्म्यरूप कोई विशेषता न होने के कारण विषयविषयिभाव की आपत्ति हो जायेगी[153] ।

रूप का सन्निकर्ष होने से रूप के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यही 'लौकिक' सन्निकर्ष है । यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है– संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्यभाव । जिस इन्द्रिय का जो विषय नहीं है वह उस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने से उसे 'अलौकिक सन्निकर्ष' कहा जाता है । अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का होता है – सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज । एक ही घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से यदि अन्य सभी घटों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष न भी हो तो घटत्व जाति के साथ सन्निकर्ष होने के कारण जगत् के सभी घटों का ज्ञान होता है, उसे 'सामान्यलक्षण' अलौकिक सन्निकर्ष कहा जाता है । योगी लोगों का जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सम्बन्ध में प्रत्यक्षज्ञान होता है वही ज्ञान 'योगजसन्निकर्ष' कहा जाता है । जहाँ कोई दूर से चन्दन-काष्ठ ले जाता है तो दूरता-प्रयुक्त घ्राण के साथ सम्बन्ध न होने पर चक्षु से ही वहाँ 'चन्दनं सुरभिः' – 'यह चन्दन सुगन्धित है' – इस प्रकार से प्रत्यक्ष होता है, वहाँ सुगन्ध का स्मरण ही सुगन्धविशिष्ट चन्दन के प्रत्यक्ष में करण हो जाता है, उसे ही 'ज्ञानलक्षण' अलौकिक सन्निकर्ष कहते हैं । प्रकृत प्रसंग में मधुसूदन सरस्वती ने इसी 'ज्ञानलक्षण' लौकिक सान्निकर्ष की ओर ही संकेत करते हुए कहा है कि जैसे – 'चन्दनं सुरभिः' के प्रत्यक्ष में अंश-भेद से चन्दनांश में लौकिक और सौरभांश में अलौकिकत्व एक साथ रहता है वैसे ही घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व भी एकसाथ रह सकता है । अतः वहाँ चाक्षुषत्व और मानसत्व में संकर-दोष नहीं है ।

150. यहाँ मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व में सङ्कर कोई दोष ही नहीं है, क्योंकि सांकर्य द्रव्यगत जाति में ही दूषक माना जाता है, कारण कि गौ और अश्व रूप एक व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है । अन्यत्र लाघवानुरोध से उन्हें एक मानने में दोष नहीं है । अथवा सांकर्य जाति का बाधक माना गया है, उपाधि का नहीं । प्रकृत चाक्षुषत्व और मानसत्व में जाति नहीं है, किन्तु उपाधि है । अतः घटादि के भान में चाक्षुषत्व और मानसत्व एक साथ रह सकते हैं ।

151. न्याय-मत में ज्ञान के ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं । जैसे – 'अयं घटः' यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है । इस ज्ञान का विषय घट होता है । इस प्रथम ज्ञान को व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते है । इसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' – इस प्रकार का ज्ञान होता है । इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट नहीं अपितु 'घटज्ञान' होता है । इस ज्ञान विषयक ज्ञान को ' 'अनुव्यवसाय' कहते हैं ।

152. तात्पर्य यह है कि जैसे -- प्रदीपप्रकाश के लिए विजातीय चक्षु, घट आदि की अपेक्षा होती है, सजातीय प्रदीपादि की नहीं, वैसे ही व्यवसाय के भान के लिए अनुव्यवसाय रूप सजातीय ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है ।

153. तात्पर्य यह है घट और घटज्ञान के समान व्यवसाय और अनुव्यवसाय में विषयत्व और विषयित्व रूप विजातीयता नहीं है क्योंकि व्यवसाय और अनुव्यवसाय – दोनों ही ज्ञान है । यदि दोनों को विजातीय स्वीकार करके उनमें विषयत्व और विषयित्व की स्वीकार करेगे तो व्यवसाय को विषय मानने पर व्यवसायगत ज्ञानत्व को विषयतावच्छेदक मानना होगा, और अनुव्यवसाय को विषयी मानने पर अनुव्यवसायगत ज्ञानत्व को ही विषयितावच्छेदक मानना होगा, जो कि असम्भव है, क्योंकि विषयतावच्छेदक घर्म ही यदि विषयितावच्छेदक होगा तो घटत्व को विषयितावच्छेक और जड घट को विषयी कहना होगा, जो सर्वथा अनुचित है । इसप्रकार 'अनुव्यवसाय' ही अस्वीकार्य है ।

74 ननु यथा घटव्यवहारार्थं घटज्ञानमभ्युपेयते तथा घटज्ञानव्यवहारार्थं घटज्ञानविषयं ज्ञानमभ्युपेयं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति चेत्, काऽनुपपत्तिरुद्भाविता देवानांप्रियेण स्वप्रकाशवादिनः । न हि व्यवहर्तव्यभिन्नत्वमपि ज्ञानविशेषणं व्यवहारहेतुतावच्छेदकं गौरवात् । तथा चेश्वरज्ञानवद्योगिज्ञानवत्प्रमेयमितिज्ञानवच्च स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ न ज्ञानान्तरकल्पनावकाशः । अनुव्यवसायस्यापि घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वं किं घटज्ञानज्ञानत्वेन किंवा घटज्ञानत्वेनैवेति विवेचनीयम्, उभयस्यापि तत्र सत्त्वात् । तत्र घटव्यवहारे घटज्ञानत्वेनैव हेतु-

74 यदि कहो कि जैसे घट के व्यवहार के लिए घटज्ञान स्वीकार किया जाता है वैसे ही घटज्ञान के व्यवहार के लिए भी घटज्ञानविषयक ज्ञान भी स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि व्यवहार व्यवहर्तव्यज्ञान का साध्य होता है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ज्ञानस्वप्रकाशवादी के मत में देवानांप्रिय नैयायिक क्या अनुपपत्ति उद्भावित करते हैं ? व्यवहर्तव्यज्ञानभिन्नत्व = व्यवहर्तव्य से भिन्न होना -- यह ज्ञान का विशेषण भी व्यवहार की हेतुता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर गौरव-दोष [154] उपस्थित होगा । इसप्रकार ईश्वरज्ञान, योगिज्ञान, और 'यह प्रमेय है' इस ज्ञान के समान स्वयं अपने से ही अपना व्यवहार उपपन्न हो सकने के कारण किसी दूसरे ज्ञान की कल्पना के लिए अवकाश नहीं है [155] । अनुव्यवसाय में भी जो घटज्ञान के व्यवहार की हेतुता है उसके विषय में ही विवेचन करना चाहिए कि वह अनुव्यवसाय घटज्ञान के ज्ञानत्व का हेतु है या घटज्ञानत्व का ही हेतु है ? क्योंकि न्यायमतानुसार उसमें तो ये दोनों ही रहते हैं । घट-

154. नैयायिकों का कथन है कि व्यवहार व्यवहर्त्तव्यज्ञान का साध्य होता है अर्थात् व्यवहर्त्तव्यज्ञान व्यवहार का हेतु होता है । इस नियम के अनुसार घटज्ञान के व्यवहार के लिए व्यवहर्त्तव्य-घट-ज्ञान का ज्ञान अपेक्षणीय है, अतः घटज्ञानविषयक ज्ञानरूप अनुव्यवसाय सिद्ध होता है । किन्तु यहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि घटज्ञान रूप व्यवसाय जहाँ व्यवहर्त्तव्य है वहाँ यही व्यवहर्त्तव्यज्ञान अपने और घटादि के व्यवहार में हेतु हो जाता है, इससे भिन्न अनुव्यवसाय को मानने का आवश्यकता नहीं है । यदि व्यवहार का जो ज्ञान हेतु है उसे व्यवहर्त्तव्य से भिन्न मानेंगे, तो कार्य-कारण-भाव में गौरव उपस्थित होगा, क्योंकि 'व्यवहार का व्यवहर्त्तव्यज्ञान हेतु है ', इसकी अपेक्षा 'व्यवहार में व्यवहर्त्तव्यज्ञान से भिन्न व्यवहर्तव्य-ज्ञान हेतु होता है' - ऐसा मानने में गौरव स्पष्ट है । जहाँ "व्यवहार का हेतु, 'व्यवहर्त्तव्यज्ञान' है" - इतना कहने से ही निर्वाह हो जाता है वहाँ 'व्यहर्तव्यज्ञान से भिन्न व्यहर्तव्यज्ञान' व्यवहार में हेतु 'व्यवहर्त्तव्यज्ञान' - ऐसा कहने पर व्यवहर्तव्यज्ञान में रहने वाली हेतुता का अवच्छेदक इसका विशेषण 'व्यवहर्तव्यभिन्नत्व' को अधिक दिया जा रहा है । अतः गौरव स्पष्ट है ।

155. यहाँ यह शंका हो सकती है कि स्व से ही स्वव्यवहार की उपपत्ति स्वीकार करने पर तो ज्ञान में स्वकर्तृ-कर्मत्व विरोध होगा, तो इसका समाधान इस प्रकार है (1) बौद्धों के अनुसार ज्ञानव्यवहारानुरोध से उक्त विरोधज्ञान में नहीं होता, ज्ञानातिरिक्त में होता है, अन्यथा अव्यवस्था उत्पन्न होगी, या ज्ञानव्यवहारानुपपत्ति होगी, जो मान्य नहीं है ।, (2) मीमांसक प्रभाकर-मिश्र के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है, अत: घटादि ज्ञान विषयत्वसम्बन्ध से घटादि का, आश्रयत्व-सम्बन्ध से आत्मा का, और असम्बन्ध से 'स्व' का भासक होता है । यद्यपि ज्ञान 'स्व' को स्वयं स्वविषय नहीं करता, फिर भी वह स्वप्रकाश होने के कारण स्वव्यवहारक्षम होता है । स्वप्रकाश स्वव्यवहारजनक होता है, प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं करता - ऐसा प्रभाकर स्वीकार करते हैं । अत: उनके मत में ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध नहीं हो सकता, तथा (3) वेदान्त-मत में वृत्तिरूपज्ञान तो स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूपज्ञान मीमांसक प्रभाकर--मत के समान स्वप्रकाश है । अत: वेदान्त-मत में भी ज्ञान में उक्त विरोध की सम्भावना नहीं हो सकती । निष्कर्ष यह है कि वेदान्त-मत में आत्मा स्वप्रकाश है, ज्ञानस्वरूप है, अत: ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध नहीं हो सकता । न्याय-मत में तो आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, - आत्मा ज्ञानवान् - ज्ञानधर्मी है, इसीलिए उनके अनुसार व्यवसायात्मक ज्ञान के प्रकाश के लिए अनुव्यवसायात्मक द्वितीय ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अत: न्यायमत में ज्ञान के स्वप्रकाश न होने के कारण ही ज्ञान में स्वकर्तृकर्मत्व विरोध की सम्भावना की जाती है ।

तायाः क्लृप्तत्वात्तेनैव रूपेण घटज्ञानव्यवहारेऽपि हेतुतोपपत्तौ न घटज्ञानज्ञानत्वं हेतुतावच्छेदकं गौरवान्मानाभावाच्च । तथा च नानुव्यवसायसिद्धिरेकस्यैव व्यवसायस्य व्यवसायतरि व्यवसेये व्यवसाये च व्यवहारजनकत्वोपपत्तेरिति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकराः ।

75 **औपनिषदास्तु मन्यन्ते स्वप्रकाशज्ञानरूप एवाऽऽत्मा न स्वप्रकाशज्ञानाश्रयः कर्तृकर्मविरोधेन तद्भानानुपपत्तेः । ज्ञानभिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वेन कल्पितत्वापत्तेश्च । स्वप्रकाशज्ञानमात्र-स्वरूपोऽप्यात्माऽविद्योपहितः सन्साक्षीत्युच्यते । वृत्तिमदन्तःकरणोपहितः प्रमातेत्युच्यते । तस्य चक्षुरादीनि करणानि । स चक्षुरादिद्वाराऽन्तःकरणपरिणामेन घटादीन्व्याप्य तदाकारो भवति । एकस्मिंश्चान्तःकरणपरिणामे घटावच्छिन्नचैतन्यमन्तःकरणवच्छिन्नचैतन्यं चैकलोलीभावापन्नं**

व्यवहार में तो घटज्ञानत्व से ही उसकी हेतुता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार घटज्ञान के व्यवहार में भी उसकी हेतुता हो ही सकती है । ऐसी स्थिति में वस्तुतः घटज्ञान का ज्ञानत्व उसकी हेतुता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ गौरव-दोष है और प्रमाण का अभाव भी है । इसप्रकार अनुव्यवसाय की सिद्धि नहीं होती । एक ही व्यवसाय स्वव्यवसाता (आत्मा), व्यवसेय (घटादि विषय) और व्यवसाय (विषयज्ञान) - इन तीनों का व्यवहारजनक है - यह त्रिपुटीप्रत्यक्षवादी[156] प्रभाकर के अनुयायियों का मत है ।

75 औपनिषद = वेदान्ती तो मानते हैं कि स्वप्रकाशज्ञानरूप ही आत्मा है, वह स्वप्रकाश ज्ञान का आश्रय नहीं है, क्योंकि कर्तृकर्मविरोध से स्वयं स्व का ग्रहण नहीं करता । फलतः आत्मा में ज्ञान का कर्तृत्व और ज्ञान का कर्मत्व - इसप्रकार के विरोधी धर्म रहने के कारण उसका भान ही नहीं हो सकेगा[157]। और यदि आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं, तो घटादि के समान जड़ होने के कारण वह कल्पित हो जायेगा । इस प्रकार यद्यपि आत्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप ही है, तथापि अविद्या से उपहित होने के कारण वह 'साक्षी' कहा जाता है तथा वृत्तियुक्त अन्तःकरण से उपहित होने के कारण 'प्रमाता' कहलाता है । चक्षु आदि उसके करण हैं, वह चक्षु आदि के द्वारा अन्तःकरण के परिणाम से घटादि को व्याप्त करके तदाकार हो जाता है, एक अन्तःकरण के परिणाम में घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य - दोनों मिलकर एकलोलीभूत अर्थात् एकरूप हो जाते हैं । तब प्रमाता के साथ अभेद होने के कारण घटावच्छिन्न चैतन्य अपने अज्ञान का नाश करके अपरोक्ष हो जाता है और अपने अवच्छेदक घट को अपने तादात्म्याध्यास से भासित = प्रकाशित कर देता है । और अन्तःकरण का जो वृत्ति-संज्ञक अत्यन्त स्वच्छ परिणाम होता है वह तो अपने से अविच्छिन्न चैतन्य द्वारा ही भासित होता है । इस प्रकार अन्तःकरण, उसकी वृत्ति और घट की अपरोक्षता है । 'अहं घटं जानामि' = 'मैं घट को जानता हूँ'-- इस ज्ञान में इन्हीं

156. 'त्रयाणां प्रमातृप्रमेयप्रमितीनां पुटानां समाहारः त्रिपुटी' - अर्थात् प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति - इन तीनों के समुदाय को 'त्रिपुटी' कहते हैं, इनका ज्ञापक ज्ञान होता है । अर्थात् प्रभाकर के मत में 'अयं घटः' - इस एक ही ज्ञान में घट (प्रमेय), घटज्ञान (प्रमिति), और आत्मा (प्रमाता) - इन तीनों का प्रत्यक्ष होता है ।

157. तात्पर्य यह है कि प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं और आत्मा को स्वप्रकाशज्ञान का आश्रय, अतः उनके अनुसार वही ज्ञान स्वयं अपना भासक होता है अर्थात् भासन क्रिया का वही ज्ञान कर्त्ता भी होता है और कर्म भी होता है । यहाँ वेदान्ती कहते हैं कि प्रभाकर मत में स्वकर्तृकर्म-विरोध हैं, क्योंकि किसी भी क्रिया का कर्त्ता और कर्म एक पदार्थ में नहीं होता । अन्यथा आरोहण क्रिया का कर्त्ता सिंह यदि कर्म भी हो जाय, तो 'सिंहो गिरिमारोहति' के समान ' सिंहः स्वमारोहति' - इसप्रकार का भी प्रयोग होने लगेगा । अतः कर्तृकर्मभाव का विरोध होने के कारण प्रभाकरसम्मत आत्मा का भान नहीं हो सकता । इसलिए 'स्वप्रकाशज्ञानाश्रय' प्रभाकर-मत हेय है ।

भवति । ततो घटावच्छिन्नचैतन्यं प्रमात्रभेदात्स्वाज्ञानं नाशयदपरोक्षं भवति । घटं च स्वावच्छेदकं स्वतादात्म्याध्यासाद्भासयति । अन्तःकरणपरिणामश्च वृत्त्याख्योऽतिस्वच्छः स्वावच्छिन्नेनैव चैतन्येन भास्यत इत्यन्तःकरणतद्वृत्तिघटानामपरोक्षता । तदेतदाकारत्रयमहं जानामि घटमिति । भासकचैतन्यस्यैकरूपत्वेऽपि घटं प्रति वृत्त्यपेक्षत्वात्प्रमातृता, अन्तःकरणतद्वृत्तीः प्रति तु वृत्त्यनपेक्षत्वात्साक्षितेति विवेकः । अद्वैतसिद्धौ सिद्धान्तबिन्दौ च विस्तरः ।

76 यस्मादेवं प्रागुक्तन्यायेन नित्यो विभुरसंसारी सर्वदैकरूपश्चाऽऽत्मा तस्मात्तन्नाशशङ्कया स्वधर्मे युद्धे प्राक्प्रवृत्तस्य तव तस्मादुपरतिर्न युक्तेति युद्धाभ्यनुज्ञया भगवानाह— तस्माद्युध्यस्व भारतेति । अर्जुनस्य स्वधर्मे युद्धे प्रवृत्तस्य तत उपरतिकारणं शोकमोहौ । तौ च विचारजनितेन विज्ञानेन बाधितावित्यपवादापवाद उत्सर्गस्य स्थितिरिति न्यायेन युध्यस्वेत्यनुवादो न विधिः । यथा

तीनों आकारों का समावेश होता है । भासक चैतन्य के एकरूप होने पर भी घट के प्रति वृत्तिसापेक्ष होने से वह 'प्रमाता' कहलाता है तथा अन्तःकरण और उसकी वृत्ति के प्रति वृत्त्यनपेक्ष होने से वह 'साक्षी' है - यह दोनों में भेद है । यह सब अद्वैतसिद्धि और सिद्धान्तबिन्दु में विस्तार से कहा गया है ।

76 क्योंकि इसप्रकार पूर्वोक्त न्याय से आत्मा नित्य, विभु, असंसारी और सर्वदा एकरूप ही है, इसलिए उसके नाश की शङ्का से स्वधर्म युद्ध में पहले से प्रवृत्त हुए तुमको उससे विमुख होना उचित नहीं है, - इस प्रकार युद्ध की अनुमतिप्रदान द्वारा भगवान् कहते हैं -'तस्माद् युध्यस्व भारत' = 'इसलिए हे भारत ! तुम युद्ध करो' । स्वधर्म युद्ध में प्रवृत्त हुए अर्जुन की उससे उपरति = निवृत्ति के कारण शोक और मोह थे । वे दोनों विचारजनित विज्ञान से बाधित हो गए । इसलिए 'अपवाद का अपवाद होने पर उत्सर्ग ही स्थित रहता है' - इस न्याय[158] से 'युध्यस्व' = 'युद्ध करों' - यह अर्जुन की पूर्वप्रवृत्ति का अनुवाद ही है, विधि नहीं[159] । जैसे - 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पाणिनि सूत्र 2.3.65) (कृत्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कर्त्ता और कर्म में षष्ठी होती है)- यह उत्सर्ग है । इसमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पाणिनि सूत्र, 2.3.66) (जहाँ पर कृदन्त शब्द के साथ कर्त्ता और कर्म

158. 'उत्सर्ग' का अर्थ है - 'सामान्यविधि' या 'साधारण नियम' । 'अपवाद' का अर्थ है - 'विशेष विधि ' या 'विशेष नियम' । इस प्रकार इस न्याय का अर्थ हुआ कि जब अपवाद का अपवाद हो अर्थात् विशेष विधि या नियम के ऊपर यदि विशेष विधि या नियम प्रयुक्त हो तो 'उत्सर्ग' की स्थिति होती है अर्थात् जो सामान्य विधि या साधारण नियम है, वही रह जाता है । जैसे- किसी बुभुक्षित व्यक्ति की भोजन के लिए सहज ही जो प्रवृत्ति होती है वह 'उत्सर्ग' है । किन्तु उसे यदि खाद्य के सम्बन्ध में यह संकेत प्राप्त हो जाय कि खाद्यान्न विषमिश्रित है या दूषित है तब उसकी भोजन से जो उपरति या निवृत्ति होगी - वह उत्सर्ग का 'अपवाद' हुआ । किन्तु पुनः विशेष परीक्षण के पश्चात् उसे यह निश्चय हो जाय कि पूर्वसंकेत भ्रम ही था तो यह उस अपवाद का अपवाद हुआ । ऐसा निश्चय होने पर उस बुभुक्षित की भोजन के लिए जो पूर्वप्रवृत्ति थी पुनः उसकी भोजन के लिए वैसे ही प्रवृत्ति हो जायेगी - यह पुनः उत्सर्ग की स्थिति हुई । इसी प्रकार यहाँ अर्जुन की स्वधर्मयुद्ध में प्रवृत्ति उत्सर्ग थी । किन्तु युद्धभूमि में स्वजनों को सम्मुख देख उसे जो शोक और मोह हुए उससे उसकी जो युद्धोपरति हुई - वह उत्सर्ग का अपवाद हुआ । किन्तु पुनः भगवान् ने आत्मोपदेश से अर्जुन के शोक और मोह को बाधित जो किया - वह पूर्व अपवाद का अपवाद हो गया । फलतः अर्जुन की पुनः स्वधर्मयुद्ध में प्रवृत्ति हो गई - वह पुनः उत्सर्ग की स्थिति हो गई । यही प्रकृत न्याय का तात्पर्य है ।

159. यहाँ 'अनुवाद' से तात्पर्य है - 'पुनरुक्ति' और विधि का अर्थ है - 'नियुक्ति' । प्रकृत प्रसङ्ग में 'युध्यस्व' पद से क्षत्रिय का जो स्वधर्म है युद्ध करना, उसी का अनुवाद = पुनरुक्ति कर भगवान् कह रहे हैं - 'हेअर्जुन!

'कर्तृकर्मणोः कृति'(पा० सू०) इत्युत्सर्गः । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू०) इत्यपवादः । 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' इति तदपवादः । तथाच मुमुक्षोर्ब्रह्मणो जिज्ञासेत्यत्रापवादापवादे पुनरुत्सर्गस्थितेः कर्तृकर्मणोः कृतीत्यनेनैव षष्ठी । तथा च कर्मणि चेति निषेधाप्रसराद् ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठीसमासः सिद्धो भवति । कश्चित्त्वेतस्मादेव विधेर्मोक्षे

दोनों होते हैं, वहाँ पर कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्त्ता में नहीं) - यह अपवाद है । इसका 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' (वार्तिक 1513) (अक और अ कृत्प्रत्ययान्त शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग होंगे, तो उनके साथ 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' – यह नियम नहीं लगेगा) - यह अपवाद का अपवाद है । इसी से 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' (मुमुक्षु की ब्रह्म को जानने की इच्छा) इसमें अपवाद का अपवाद होने पर पुनः उत्सर्ग की स्थिति रहने से 'कर्तृकर्मणोः कृति' - इस प्रकार नियम से ही षष्ठी हुई है [160]। इसी प्रकार 'कर्मणि च' (पाणिनिसूत्र, 2.2.14) (जहाँ पर कृदन्त शब्द के साथ कर्ता और कर्म दोनों होते हैं और कर्म में षष्ठी होती है, उस षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता) - इस सूत्र से समास के निषेध का अवसर न होने के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' - यह कर्मषष्ठीसमास सिद्ध होता है । कोई विद्वान्[161] तो 'युध्यस्व भारत' - इस विधि से मोक्ष में ज्ञान और कर्म का समुच्चय है' - ऐसा प्रलाप[162] करते हैं । यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'युध्यस्व' - इस

तुम युद्ध करो' । भगवान् अर्जुन को युद्ध करने में नियुक्त नहीं कर रहे है, अतः यहाँ 'विधि' नही है । जैसे कोई व्यक्ति यदि चल रहा है और उसे कहा जाय 'चलो' तब इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसे चलनरूप क्रिया में नियुक्त किया जा रहा है क्योंकि उसे उसकी चलन क्रिया की केवल अनुमति दी जा रही है । उसी प्रकार युद्ध में प्रवृत्त अर्जुन को 'युद्ध करो' कहकर भगवान् केवल उसे युद्ध करने की अनुमति दे रहे हैं ।

160. मधुसूदन सरस्वती ने पूर्वोद्धृत न्याय का व्याकरण के सूत्रों द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए उदाहरण दिया है - 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' । इस प्रयोग में 'मुमुक्षु' शब्द 'मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः' = 'मुच्' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने के बाद 'सनाशंस०' इत्यादि से 'उ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न है और 'जिज्ञासा' पद 'ज्ञा' धातु से भाव में 'सन्' प्रत्यय करने के बाद 'अ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न है । यहाँ मुमुक्षु कर्त्ता और ब्रह्म कर्म है । दोनों पदों में 'कर्तृकर्मणोः कृति' - इस 'उत्सर्ग' सूत्र से षष्ठी प्राप्त होती है । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' - इस अपवादक सूत्र से केवल 'ब्रह्म' पद में षष्ठी प्राप्त होती है । 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्', 'शेषे विभाषा', 'स्त्रीप्रत्यय इत्येके' - इस वार्तिक के आधार पर उक्त अपवाद का अपवाद हो जाता है और 'कर्तृकर्मणोः कृति' - यह उत्सर्ग सूत्र प्रवृत्त होकर मुमुक्षु और ब्रह्म - दोनों में षष्ठी कर देता है - 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' । और ' कर्मणि च' सूत्र से समास के निषेध का अवसर न होने के कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' - यह कर्मषष्ठीसमास सिद्ध होता है ।

161. रामानुजाचार्य 'युध्यस्व' पद को विधिपरक कहते हैं, तदनुसार उस युद्ध का फल मोक्ष स्वीकार करते हैं - 'अमृतत्वप्राप्तये अनभिसंहितफलं युद्धाख्यं कर्माऽऽरभस्व' (गीता भाष्य) अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए फलाभिसंधिरहित युद्ध नामक कर्म को प्रारम्भ करो ।

रामानुजभाष्य की व्याख्या करते हुए वेदान्तदेशिक ने कहा है - 'युद्धस्यानिप्सित - राज्यादिक्षुद्रभोगान्तरप्रधानकत्वव्युदासाय प्रकरणारम्भोक्तमेव फलमुचितमिति 'अमृतत्वप्राप्तये' इत्युक्तम् । धात्वर्थस्य पराभिमतं करणतयार्थमपाकुर्वन् युध्यस्वे' त्यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थौ विविच्याह युद्धाख्यं कर्मारभस्वे' ति ।' मधुसूदन सरस्वती उक्त मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रथम तो 'युध्यस्व' पद विधिपरक है ही नहीं, अनुवाद मात्र है । यदि विधिपरक मान भी लें तो वह मोक्षपरक नहीं हो सकता, क्योंकि युद्ध के प्रसङ्ग में विधि का फल विजय होगी, मोक्ष नहीं । मोक्ष ज्ञान से होता है, वहाँ कर्म विधि का उपयोग नहीं हो सकता । जब एक कर्म में दूसरा कर्म उपयुक्त नहीं हो सकता तब कर्म के विरोधी ज्ञान-प्रकरण में तो कर्मविधि का उपयोग हो ही नहीं सकता अतः मोक्ष में ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता । इसीलिए शंकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य में कहा है - 'तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः' ।

162. 'प्रलापोऽनर्थकं वचः'- अर्थात् अर्थशून्य वाक्य 'प्रलाप' कहलाता है ।

ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति प्रलपति । तन्न, युध्यस्वेत्यतो मोक्षस्य ज्ञानकर्मसमुच्चय-साध्यत्वाप्रतीतेः । विस्तरेण चैतदग्रे भगवद्गीतावचनविरोधेनैव निराकरिष्यामः ॥ 18 ॥

77 **नन्वेवमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना भीष्मादिबन्धुविच्छेदनिबन्धने शोकेऽपनीतेऽपि तद्वधकर्तृत्वनिबन्धनस्य पापस्य नास्ति प्रतीकारः । नहि यत्र शोको नास्ति तत्र पापं नास्तीति नियमः, द्वेष्यब्राह्मणवधे शोकाविषये पापाभावप्रसङ्गात् । अतोऽहं कर्ता त्वं प्रेरक इति द्वयोरपि हिंसानिमित्तपातकापत्तेरयुक्तमिदं वचनं तस्माद्युध्यस्व भारतेत्याशङ्क्य काठकपठितयर्चा परिहरति भगवान्--**

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ 19 ॥

78 **एनं प्रकृतं देहिनमदृश्यत्वादिगुणकं यो हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति अहमस्य हन्तेति विजानाति । यश्चान्य एनं मन्यते हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं देहहननेन हतोऽहमिति विजानाति । तावुभौ देहाभिमानित्वादेनमविकारिणमकारकस्वभावमात्मानं न विजानीतो न विवेकेन जानीतः शास्त्रात् । कस्मात्, यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते कर्ता कर्म च न भवतीत्यर्थः ।**

79 **अत्र य एनं वेत्ति हन्तारं हतं चेत्येतावति वक्तव्ये पदानामावृत्तिर्वाक्यालंकारार्था । अथवा य एनं**

कथन से 'मोक्ष ज्ञान और कर्म के समुच्चय से साध्य है' - ऐसा प्रतीत नहीं हो सकता । आगे भगवद्-गीता के वचनों के विरोध से ही हम इसका विस्तार के साथ निराकरण करेंगे ।। 18।।

77 इस प्रकार 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोक से भीष्मपितामह आदि बन्धुजनों के वियोग से जनित शोक की निवृत्ति हो जाने पर भी उनका वध करने से जो पापोत्पत्ति होगी उसका तो प्रतीकार नहीं है । यह तो कोई नियम है नहीं कि जहाँ शोक नहीं होता वहाँ पाप भी नहीं होता । अन्यथा, द्वेष्य ब्राह्मण का वध करने से शोक का विषय न होने पर पाप के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । जबकि द्वेष्य ब्राह्मण का वध करने पर शोक नहीं होता किन्तु ब्राह्मणवधजन्य पाप होता ही है । अत: मैं इस पाप का कर्त्ता होऊँगा और आप प्रेरक, इस कारण हम दोनों को पाप लगेगा ही । इस हिंसाजनित पाप की प्राप्ति होने के कारण 'तस्मात् युध्यस्व भारत' - यह आपका वचन उचित नहीं है' - ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् काठकोपनिषद् में पठित ऋचा से इसका परिहार करते हैं :-

[जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसको दूसरे के द्वारा मारा जाने वाला मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह तो न मारता है, न मरता है ।।19।।]

78 अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त इस प्रकृत देही (आत्मा) को जो हन्ता अर्थात् हनन क्रिया का कर्त्ता समझता है अर्थात् 'मैं इसका हन्ता हूँ' - ऐसा जानता है । और जो अन्य इसको हत अर्थात् हनन क्रिया का कर्मभूत मानता है अर्थात् देह के हनन से 'मैं मारा गया हूँ' - ऐसा जानता है । वे दोनों ही देहाभिमानी होने से इस अविकारी, अकारक स्वभाव आत्मा को नहीं जानते अर्थात् शास्त्रानुसार विवेक से = अनात्मा से पृथक् करके नहीं जानते । क्यों ? क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा ही जाता है अर्थात् यह आत्मा न हनन का कर्त्ता है और न उसका कर्म ही है ।

79 यहाँ 'य एनं वोत्ति हन्तारं हतं च' = 'जो इस आत्मा को मारने वाला और मारा जाने वाला समझता

वेत्ति हन्तारं तार्किकादिरात्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् । तथा यश्चैनं मन्यते हतं चार्वाकादिरात्मनो विनाशित्वाभ्युपगमात् । तावुभौ न विजानीत इति योज्यम् । वादिभेदख्यापनाय पृथगुपन्यासः । अतिशूरातिकातरविषयतया वा पृथगुपदेशः । 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' (कठ० 2.19) इति पूर्वार्धे श्रौतः पाठ : ॥ 19 ॥

80 कस्मादयमात्मा हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति ? अविक्रियत्वादित्याह द्वितीयेन मन्त्रेण--

न जायते म्रियते वा कदाचि--
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥20 ॥

81 'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकारा इति वार्ष्यायणिः' इति नैरुक्ताः । तत्राऽऽद्यन्तयोर्निषेधः क्रियते-- न जायते म्रियते वेति । वाशब्दः समुच्चयार्थः । न जायते न म्रियते चेत्यर्थः । कस्मादयमात्मा नोत्पद्यते ? यस्मादयमात्मा कदाचित्कस्मिन्नपि काले न भूत्वाऽभूत्वा प्राग्भूयः पुनरपि भविता न । यो ह्यभूत्वा भवति स उत्पत्तिलक्षणां विक्रियामनुभवति । अयं तु प्रागपि सत्त्वाद्यतो नोत्पद्यतेऽतोऽजः । तथाऽयमात्मा भूत्वा प्राक्

समझता है' - इतना ही कहना चाहिए था, फिर भी जो 'यः' 'एनम्' इत्यादि पदों की आवृत्ति की है वह वाक्यालङ्कार के लिए है । अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादि से तार्किक मत का निरास है, क्योंकि नैयायिक आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं । तथा 'यश्चैनं मन्यते हतम्' - यह चार्वाकादि का मत है, क्योंकि वे आत्मा को विनाशी मानते हैं । वे दोनों अर्थात् चार्वाक और तार्किक उसे नहीं जानते - इस प्रकार योजना करनी चाहिए । वादियों का भेद प्रकट करने के लिए ही यह पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है । अथवा 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' और 'यश्चैनं मन्यते हतम्' - ये दोनों बातें क्रमशः अतिशूर और अतिकायर की विषय हैं, अतः पृथक्-पृथक् उपदेश किया है । अथवा प्रकृत श्लोक के पूर्वार्ध में जो पाठ है उसके स्थान पर 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' (कठ० 2.19) - यह काठकश्रुति में पाठ मिलता है ॥19॥

80 'यह आत्मा हनन क्रिया का कर्ता और कर्म क्यों नहीं होता ? क्योंकि यह अविकारी है' - यही उत्तर भगवान् श्रुति के द्वितीय मन्त्र से देते हैं -
[यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता ही है । यह पहले कभी न होकर फिर होगा - ऐसा भी नहीं है । यह तो अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है । शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता ॥20॥]

81 'जायते (जन्म लेता है), अस्ति (होता है), वर्धते (बढ़ता है), विपरिणमते (बदलता है), अपक्षीयते (घटता है), और विनश्यति (नष्ट होता है) - ये छः भावविकार है, यह वार्ष्यायणि का मत है', - यह निरुक्तकार ने कहा है । इनमें से 'न जायते म्रियते वा' - इत्यादि से आदि (जायते) और अन्त (विनश्यति) के विकारों का निषेध करते हैं । यहाँ 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है, अर्थात् यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है । यह आत्मा उत्पन्न क्यों नहीं होता ? क्योंकि यह आत्मा कदाचित् अर्थात् किसी काल में भी न होकर अर्थात् पूर्वकाल में न होकर भूयः = पुनरपि

कदाचिद् भूयः पुनर्न भविता। नवाशब्दाद्वाक्यविपरिवृत्तिः। यो हि प्राग्भूत्वोत्तरकाले न भवति स मृतिलक्षणां विक्रियामनुभवति। अयं तूत्तरकालेऽपि सत्त्वाद्यतो न म्रियतेऽतो नित्यो विनाशायोग्य इत्यर्थः। अत्र न भूत्वेत्यत्र समासाभावेऽपि नानुपपत्तिर्नानुयाजेष्वितिवत्, भगवता पाणिनिना महाविभाषाधिकारे नञ्समासपाठात्। यत्तु कात्यायनेनोक्तं समासनित्यताभिप्रायेण 'वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्' इति, तद्भगवत्पाणिनिवचनविरोधादनादेयम्। तदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना– 'असद्वादी हि कात्यायनः' इति।

= फिर होगा - ऐसा भी नहीं है। जो पहले कभी न होकर होता है वही उत्पत्तिरूप विकार का अनुभव करता है। यह तो पहले भी विद्यमान रहने के कारण क्योंकि उत्पन्न नहीं होता, इसलिए अज है। तथा यह आत्मा पहले होकर कदाचित् फिर नहीं रहेगा - ऐसा भी नहीं है-- इसप्रकार 'न' और 'वा' शब्द से वाक्यपरिवर्तन हो जाता है। जो पूर्वकाल में होकर उत्तर काल में नहीं होता वही मरणलक्षण विकार का अनुभव करता है। यह तो उत्तरकाल में भी रहने के कारण क्योंकि मरता नहीं है, इसलिए नित्य अर्थात् विनाश के अयोग्य है। यहाँ 'न भूत्वा' इनमें समास न होने पर भी 'नानुयाजेषु' इत्यादि प्रयोग के समान कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि भगवान् पाणिनि ने महाविभाषाधिकार में 'नञ्' (पाणिनि सूत्र, 2.2.6) समास का पाठ किया है[163]। कात्यायन ने जो समास की नित्यता के अभिप्राय से 'वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्' = 'समास की नित्यता स्वभावसिद्ध होने के कारण 'नञ्' समास के विषय में पाणिनि का 'वा' - इस उक्ति से विकल्प करना व्यर्थ है' - ऐसा जो कहा है वह भगवान् पाणिनि के वचन से विरोध होने के कारण ग्रहण करने के योग्य नहीं है। इस विषय में आचार्य शबर स्वामी ने भी कहा है कि 'कात्यायन तो असद्वादी है'[164]।

163. यहाँ प्रश्न यह है कि इस श्लोक के 'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' - वाक्य में प्रथम नकार का अन्वय 'भूत्वा' के साथ किया जाय या 'भविता' के साथ किया जाय ? यदि 'भविता' के साथ अन्वय करते हैं, तो एक वाक्य के दो वाक्य हो जायेंगे - (i) 'भूत्वा न भविता', और (ii) 'भूयो न भविता'। किन्तु यहाँ स्वारस्येण वाक्य एक ही होना चाहिए, वह तो तब ही होगा जबकि 'न' का 'भूत्वा' के साथ समास करके पर्युदास - वृत्ति का आश्रय लिया जाय। यहीं मधुसूदन सरस्वती का कहना यह है कि 'न' का 'भूत्वा' के साथ समास न होने पर भी वाक्य-भेद की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'न' का 'भूत्वा' के साथ अन्वय बिना समास किए वैसे ही हो सकता है, जैसे कि 'नानुयाजेषु' इत्यादि प्रयोग में होता है। 'नानुयाजेषु' इत्यादि का विधायक वाक्य है - 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' अर्थात् 'यज्' धातु - गर्भित विधिवाक्यों से विहित कर्मों में 'ये यजामहे' का उच्चारण करना चाहिए, अनुयाज - कर्मों में नहीं। यहाँ यदि 'न' का अन्वय 'करोति' (तिङन्त) के साथ किया जाता है, तो विकल्प की आपत्ति होती है, एक श्रुति से विहित अर्थ का श्रुत्यन्तर से निषेध हो जाने पर 'विकल्प' माना जाता है और विकल्प के आठ दोष होते हैं। अतः 'न' का 'अनुयाजेषु' के साथ अन्वय करके बिना समास किए पर्युदास-वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, और 'नानुयाज' का 'अनुयाज-भिन्न' अर्थ =अनुयाजभिन्नेषु यजतिषु ये यजामहं करोति' = करके विकल्प की आपत्ति से बचा जाता है। इसी प्रकार 'न' का 'भूत्वा' के साथ अन्वय करके बिना समास किए ही 'न भूत्वा = अभूत्वा भूयो न भविता' - इस प्रकार प्रयोग करके वाक्यभेद से बचा जा सकता है, क्योंकि पाणिनि ने 'नञ्' सूत्र का महाविभाषाधिकार में पाठ करके 'नञ्' के साथ समास की विकल्पता ही कही हैं, नित्यता नहीं।

164. आचार्य शबरस्वामी का कहना है कि कात्यायन ने यह जो कहा है कि 'जैसे घटादि शब्दों की अपने कम्बुग्रीवादियुक्त अर्थ में साधुता स्वभावसिद्ध है, वहाँ किसी विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही अभूत्वा आदि शब्दों की भी अपने अभवन आदि अर्थ में साधुता स्वभावसिद्ध है, वहाँ 'नञ्' समास के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, अर्थात् 'नञ्' समास नित्य है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह वचन आचार्य पाणिनि के वचनों के विरुद्ध है। और फिर असमस्तपर्युदासार्थक 'नञ्' का प्रयोग लोक और वेद में अनेक स्थान पर देखा जाता है, इसलिए भी कात्यायनवचन अनुपादेय है - ग्राह्य नहीं है।

82 अत्र न जायते म्रियते वेति प्रतिज्ञा। कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय इति तदुपपादनम्। अजो नित्य इति तदुपसंहार इति विभागः। आद्यन्तयोर्विकारयोर्निषेधेन मध्यवर्तिविकाराणां तद्व्याप्यानां निषेधे जातेऽपि गमनादिविकाराणामनुक्तानामप्युपलक्षणायापक्षयश्च वृद्धिश्च स्वशब्देनैव निराक्रियेते। तत्र कूटस्थनित्यत्वादात्मनो निर्गुणत्वाच्च न स्वरूपतो गुणतो वाऽपक्षयः संभवतीत्युक्तं– शाश्वत इति। शाश्वत्सर्वदा भवति नापक्षीयते नापचीयत इत्यर्थः। यदि नापक्षीयते तर्हि वर्धतामिति नेत्याह– पुराण इति। पुराऽपि नव एकरूपो न त्वधुना नूतनां काञ्चिदवस्थामनुभवति। यो हि नूतनां काञ्चिदुपचयावस्थामनुभवति स वर्धत इत्युच्यते लोके। अयं तु सर्वदैकरूपत्वान्नापचीयते नोपचीयते चेत्यर्थः। अस्तित्वविपरिणामौ तु जन्मविनाशान्तर्भूतत्वात्पृथङ्न निषिद्धौ। यस्मादेवं सर्वविकारशून्य आत्मा तस्माच्छरीरे हन्यमाने तत्संबद्धोऽपि केनाप्युपायेन न हन्यते न हन्तुं शक्यत इत्युपसंहारः॥ 20॥

82 यहाँ 'न जायते म्रियते वा' - यह प्रतिज्ञा है, 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' - यह प्रतिज्ञात अर्थ का उपपादन = युक्ति = हेतु है, तथा 'अजो नित्यः' - यह उसका उपसंहार है इस प्रकार वाक्य-विभाग है। यद्यपि षड्भावविकारों में से आदि (जायते) और अन्त (विनश्यति) के विकारों के निषेध से उनसे व्याप्य बीच के विकारों (अस्ति, वर्धते, विपरिणमते और अपक्षीयते) का भी निषेध हो जाता है, फिर भी अनुक्त गमनादि विकारों के उपलक्षणार्थ अपक्षय और वृद्धि का अपने शब्दों से ही निराकरण करते हैं। आत्मा कूटस्थ नित्य और निर्गुण है, अतः उसका स्वरूप से या गुण से अपक्षय नहीं हो सकता,[165] यह 'शाश्वतः' शब्द से कहा गया है। शाश्वत अर्थात् जो सदा रहता है अर्थात् उसका अपक्षय = अपचय नहीं होता है। यदि अपक्षय नहीं होता, तो बढ़ता ही होगा, इसलिए कहते हैं - नहीं, यह 'पुराण'[166] है। पहले भी यह नव अर्थात् एकरूप ही था और अब भी यह किसी नूतन अवस्था का अनुभव नहीं करता। जो किसी नूतन अर्थात् उपचय अवस्था का अनुभव करता है वह बढ़ता है, ऐसा लोक में कहा जाता है। यह तो सदा एकरूप है, अतः यह न बढ़ता है और न घटता है, - यह अर्थ है। अस्तित्व और विपरिणाम तो जन्म और विनाश के ही अन्तर्गत आते हैं, अतः उनका पृथक् निषेध नहीं किया है। इस प्रकार, क्योंकि आत्मा सर्वविकारशून्य है, इसलिए शरीर के मारे जाने पर भी उससे सम्बद्ध यह आत्मा किसी भी उपाय से मारा नहीं जाता = मारा नहीं जा सकता - यह उपसंहार है ॥20॥

165. अपक्षय दो प्रकार का होता है - स्वरूप का अपक्षय और गुण का अपक्षय। जैसे देह सावयव है, अतः अनित्य है, फलतः अनित्य होने से उसके स्वरूप का अपक्षय होता है। इसी प्रकार देह सगुण है, अतः: उसका अनित्य होने के कारण गुणों की दृष्टि से अपक्षय भी होता है। किन्तु देही (आत्मा) निरवयव है, अतः कूटस्थ नित्य है, फलतः उस देही के स्वरूप का अपक्षय सम्भव नहीं है। इसी प्रकार देही निर्गुण है, अतः गुणों का अपक्षय होने के कारण उसका गुणों की दृष्टि से भी अपक्षय सम्भव नहीं है।

166. 'पुराण' का अर्थ है - 'पुरा अपि अधुना च सर्वदा नवत्वात् पुराणः' अर्थात् पहले भी और अब भी अर्थात् सर्वदा जो नवीन है वह 'पुराण' है। आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिस प्रकार नया था अब भी उसी प्रकार नया है, अतः उसे 'पुराण' कहा है। साधारणतया पुराने अवयव के साथ कुछ युक्त होने से उस अवयव की वृद्धि होती है और उसे 'नवीन' कहा जाता है, किन्तु आत्मा निरवयव होने के कारण पहले भी जिसप्रकार नया था अब भी वैसा ही नया है अर्थात् आत्मा सर्वदा एकरूप होने के कारण उसमें कोई वृद्धि नहीं होती है। 'पुराण' शब्द से अपक्षय के विपरीत वृद्धिरूप विक्रिया का प्रतिषेध किया गया है।

83 नायं हन्ति न हन्यत इति प्रतिज्ञाय न हन्यत इत्युपपादितमिदानीं न हन्तीत्युपपादयन्नुपसंहरति–

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ 21 ॥

84 न विनष्टुं शीलं यस्य तमविनाशिनमन्त्यविकाररहितम् । तत्र हेतुः-- अव्ययं न विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य तमव्ययमवयवापचयेन गुणापचयेन वा विनाशदर्शनात्तदुभयरहितस्य न विनाशः संभवतीत्यर्थः ।

85 ननु जन्यत्वेन विनाशित्वमनुमास्यामहे नेत्याह– अजमिति । न जायत इत्यजमाद्यविकाररहितम् । तत्र हेतुः-- नित्यं सर्वदा विद्यमानं, प्रागविद्यमानस्य हि जन्म दृष्टं न तु सर्वदा सत इत्यभिप्रायः ।

86 अथवाऽविनाशिनमबाध्यं सत्यमिति यावत् । नित्यं सर्वव्यापकम् । तत्र हेतुः-- अजमव्ययं जन्मविनाशशून्यं जायमानस्य विनश्यतश्च सर्वव्यापकत्वसत्यत्वयोरयोगात् ।

87 एवं सर्वविक्रियाशून्यं प्रकृतमेनं देहिनं स्वमात्मानं यो वेद विजानाति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां साक्षात्करोति अहं सर्वविक्रियाशून्यः सर्वभासकः सर्वद्वैतरहितः परमानन्दबोधरूप इति स एवं विद्वान्पुरुषः पूर्णरूपः कं हन्ति कथं हन्ति । किंशब्द आक्षेपे । न कमपि हन्ति न कथमपि

---

83 'यह आत्मा न मारता है, न मारा जाता है' - ऐसी प्रतिज्ञा करके 'यह मारा नहीं जाता' - इसका उपपादन तो हो गया, अब 'यह मारता नहीं है' - इसका उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं :- [हे पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय समझता है, वह कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ॥21॥]

84 जिसका नष्ट होने का स्वभाव नहीं है वह अविनाशी अर्थात् अन्त्यविकाररहित = नाशरूप अन्तिम विकार से रहित है, उसको = उस आत्मा को । इसमें हेतु है - 'अव्ययंम्' । जिसका व्यय अर्थात् जिसके अवयवों का अपचय = ह्रास या जिसके गुणों का अपचय = ह्रास नहीं होता है वह अव्यय है, उसको = उस आत्मा को । तात्पर्य यह है कि अवयवों के अपचय = क्षय से या गुणों के अपचय = क्षय से ही विनाश देखा जाता है, यह आत्मा इन दोनों क्षयों से रहित है, अतः इसका विनाश सम्भव नहीं है ।

85 यदि हम जन्यत्व लिङ्ग से आत्मा में विनाशित्व का अनुमान करेंगे = 'आत्मा विनाशी, जन्यत्वात्, घटादिवत्', तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि वह आत्मा 'अज' है - ऐसा भगवान् कहते हैं । वह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता, इसलिए अज है अर्थात् जन्मरूप आद्य विकार से रहित है । इसमें हेतु है - वह नित्य है अर्थात् सर्वदा विद्यमान है । अभिप्राय यह है कि जो वस्तु पूर्व में विद्यमान नहीं रहती उसका ही जन्म होता देखा जाता है, जो सर्वदा रहती है उसका नहीं ।

86 अथवा, अविनाशी का अर्थ है - अबाध्य अर्थात् सत्य । नित्य का अर्थ है - सर्वव्यापक । इसमें हेतु है 'अजमव्ययम्' अर्थात् जन्म और विनाश से शून्य होना, क्योंकि जायमान और विनश्वर पदार्थों में सर्वव्यापकत्व और सत्यत्व सम्भव नहीं होता ।

87 इस प्रकार सम्पूर्ण विकारों से शून्य इस प्रकृत देही अर्थात् अपने आत्मा को जो जानता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से 'मैं सम्पूर्ण विकारों से शून्य, सभी का भासक, और सभी प्रकार के द्वैत से रहित परमानन्द बोधरूप हूँ' - ऐसा साक्षात्कार करता है वही ऐसा विद्वान् पुरुष पूर्णरूप है । वह किसको मारता है और कैसे मारता है । यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेपार्थ है । अर्थ

हन्तीत्यर्थः। तथा कं घातयति कथं घातयति कमपि न घातयति कथमपि न घातयतीत्यर्थः। नहि सर्वविकारशून्यस्याकर्तुर्हननक्रियायां कर्तृत्वं संभवति। तथा च श्रुतिः--

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः |
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' ॥ (बृह० 4.4.12)

इति शुद्धमात्मानं विदुषस्तदज्ञाननिबन्धनाध्यासनिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषाद्यभावात्कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभावं दर्शयति।

88 **अयमत्राभिप्रायो भगवतः-- वस्तुगत्या कोऽपि न करोति न कारयति च किंचित्सर्वविक्रियाशून्यस्वभावत्वात्परं तु स्वप्न इवाविद्यया कर्तृत्वादिकमात्मन्यभिमन्यते मूढः। तदुक्तम्-- 'उभौ तौ न विजानीतः'इति। श्रुतिश्च 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० 4.3.7) इत्यादिः। अत एव सर्वाणि शास्त्राण्यविद्वदधिकारिकाणि। विद्वांस्तु समूलाध्यासबाधान्नाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमभिमन्यते स्थाणुस्वरूपं विद्वानिव चोरत्वम्। अतो विक्रियारहितत्वादद्वितीयत्वाच्च विद्वान्न करोति कारयति चेत्युच्यते। तथा च श्रुतिः --'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० 2.9.1) इति। अर्जुनो हि स्वस्मिन्कर्तृत्वं भगवति च कारयितृत्वमध्यस्य हिंसानिमित्तं दोषमुभयत्राप्याशशङ्के। भगवानपि विदिताभिप्रायो हन्ति घातयतीति तदुभयमाचिक्षेप। आत्मनि कर्तृत्वं मयि च कारयितृत्वमारोप्य प्रत्यवायशङ्कां मा कार्षीरित्यभिप्रायः।**

है कि वह किसी को नहीं मारता और किसी प्रकार भी नहीं मारता। तथा वह किसको मरवाता है और कैसे मरवाता है अर्थात् वह किसी को नहीं मरवाता और किसी प्रकार भी नहीं मरवाता। क्योंकि सम्पूर्ण विकारों से शून्य अकर्त्ता आत्मा का हनन क्रिया में कर्तृत्व सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'यदि पुरुष आत्मा को 'यह मैं हूँ' - ऐसा जाना जाय, तो क्या इच्छा करते हुए किस काम (सुख) के लिए शरीर के पीछे सन्तप्त हो' (बृह० 4.4.12) - इत्यादि श्रुति भी शुद्ध आत्मतत्त्व विद्वान् के, उसके अज्ञानजनित अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर तन्मूलक राग - द्वेषादि का अभाव हो जाने के कारण, कर्तृत्व - भोक्तृत्वादि का अभाव दिखाती है।

88 यहाँ भगवान् का यह अभिप्राय है - वस्तुत: कोई भी नहीं करता है और न कुछ कराता ही है, क्योंकि वह सर्वविक्रियाशून्य स्वभाव है, किन्तु मूढ़ पुरुष स्वप्न के समान अविद्या से आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान करता है। स्मृति ने भी ऐसा ही कहा है -'वे दोनों ही नहीं जानते' - इत्यादि। 'बुद्धि के ध्यान करने पर चिदाभास ध्यान करता सा और विषय-देश में जाने पर वहाँ जाता सा दिखाई देता है' (बृह० 4.3.7) - इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है। अतएव अविद्वान् पुरुष ही समस्त शास्त्रों का अधिकारी है। विद्वान् तो मूल (अज्ञान) सहित अध्यास का बाध हो जाने के कारण आत्मा में कर्तृत्वादि का अभिमान उसी प्रकार नहीं करता जिस प्रकार स्थाणु के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् उसमें चोरत्व का भान नहीं करता। अत: विकाररहित और अद्वितीय होने से विद्वान् न कुछ करता है और न कराता ही है - ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार श्रुति भी कहती है - 'विद्वान् किसी से भी नहीं डरता है' (तै० 2.9.1) इत्यादि। अर्जुन ने अपने में कर्तृत्व और भगवान् में कारयितृत्व का अध्यास करके दोनों ही में हिंसाजनित दोष की आशंका की थी। भगवान् ने भी उसका अभिप्राय समझकर 'कौन मारता है, कौन मरवाता है,' - ऐसा कहकर उन दोनों का आक्षेप किया है। अभिप्राय यह है कि तुम अपने में कर्तृत्व और मेरे में कारयितृत्व का आरोप करके किसी प्रत्यवाय की शंका मत करो।

89 अविक्रियत्वप्रदर्शनेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रतिषेधात्सर्वकर्माक्षेपे भगवदभिप्रेते हन्तिरुपलक्षणार्थः पुरःस्फूर्तिकत्वात् । प्रतिषेधहेतोस्तुल्यत्वात्कर्मान्तराभ्यनुज्ञानुपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति– तस्य कार्यं न विद्यत इति । अतोऽत्र हननमात्राक्षेपेण कर्मान्तरं भगवताऽभ्यनुज्ञायत इति मूढजनजल्पितमपास्तम् । तस्माद्युध्यस्वेत्यत्र हननस्य भगवताऽभ्यनुज्ञानाद्वास्तवकर्तृत्वाद्यभावस्य कर्ममात्रे समत्वादिति दिक् ॥ 21 ॥

90 नन्वेवमात्मनो विनाशित्वाभावेऽपि देहानां विनाशित्वाद्युद्धस्य च तन्नाशकत्वात्कथं भीष्मादिदेहानामनेकसुकृतसाधनानां मया युद्धेन विनाशः कार्य इत्याशङ्काया उत्तरम्–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ 22 ॥

89 आत्मा के अविक्रियत्व के प्रदर्शन से और उसके कर्तृत्व के प्रतिषेध से सभी कर्मों के आक्षेप में भगवान् का अभिप्राय है, इसलिए 'हन्ति' - यह हनन क्रिया उपलक्षणार्थ ही है, क्योंकि वही सामने स्फुरित हो रही है । प्रतिषेध का हेतु समान होने के कारण कर्मान्तर के लिए भगवान् की अभ्यनुज्ञा उपपन्न नहीं है । इसी प्रकार 'उसका कोई कार्य नहीं है' (गीता, 3.17) इत्यादि से भगवान् कहेंगे । अत: 'यहाँ हननमात्र के आपेक्ष से भगवान् ने कर्मान्तर की आज्ञा दी है'- यह मूढ़जनप्रलाप निराकरणीय है । 'तस्मात् युध्यस्व' इत्यादि से यहाँ भगवान् ने हनन की आज्ञा दी है । वास्तव में कर्तृत्वादि का अभाव तो कर्ममात्र में समान ही है[167] - यह दिग्दर्शनमात्र है ।।21।।

90 'इस प्रकार आत्मा के विनाशित्व का अभाव होने पर भी देह तो विनाशी ही है और उसका नाशक युद्ध है, अत: अनेक सुकृतों के साधन भीष्मादि के देहों का मुझे युद्ध के द्वारा कैसे विनाश करना चाहिए' - ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् उत्तर देते है :-
[जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही यह देही = आत्मा पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरों का परित्याग कर अन्य नवीन शरीरों को धारण करता है ।।22 ।।]

167. इस श्लोक में भगवान् ने आत्मा के अविक्रियत्व के प्रदर्शन से और उसके कर्तृत्व के प्रतिषेध से विद्वान् के लिए सभी प्रकार के कर्मों का ही आक्षेप (निषेध) किया है । 'हन्ति' - यह हनन क्रिया सभी कर्मों के उपलक्षण के अर्थ में व्यवहृत हुई है, क्योंकि युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन की बुद्धि में उस समय हनन क्रिया ही प्रकाशमान थी । आत्मा में कर्तृत्व का अभाव रहने के कारण जिस प्रकार आत्मा हनन नहीं कर सकती उसी प्रकार दूसरे कोई कर्म भी उसके लिए सम्भव नहीं है । सामान्याभाव से विशेषाभाव गतार्थ होता है । जो मूढ़ व्यक्ति 'हन्ति' का जो यह अर्थ करते हैं कि 'यहाँ केवल हनन क्रिया का ही निषेध किया गया है किन्तु दूसरे कर्मों का भगवान् ने अनुमोदन किया है = हनन निषिद्ध है, न करे; विहित नित्य-नैमित्तिक कर्म करें' - वह ठीक नहीं है, क्योंकि अविक्रियत्वादि से यदि आत्मा में हननकर्तृत्व नहीं है, तो तुल्य न्याय से उसमें विहित कर्म-कर्तृत्व भी संभव नहीं है । अविक्रियत्व-दर्शन तो निषिद्ध और विहित - दोनों प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान में विरोधी है । और फिर भगवान् 'तस्मात् युध्यस्व' इत्यादि से तो युद्ध में हनन क.. अनुमोदन कर रहे हैं, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् केवल हनन क्रिया का ही निषेध कर रहे हैं ? अतः वास्तव में आत्मा में कर्तृत्व का अभाव सभी कर्मों में ही समान है अर्थात् परमार्थतः किसी कर्म में भी आत्मा का कर्तृत्व नहीं है । किन्तु जब तक तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक चित्तशुद्धि के लिए अपने-अपने आश्रयाधिकार के अनुसार सभी को कर्त्तव्य-कर्म तो करने चाहिए, इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को क्षत्रियधर्मानुसार 'युध्यस्व' (युद्ध करो) - ऐसा उपदेश दिया । वास्तव में तत्त्वज्ञानी के लिए किसी कर्म का विधान करना उनका अभिप्राय नहीं है । यही इस श्लोक का तात्पर्य है ।

91 जीर्णानि विहाय वस्त्राणि नवानि गृह्णाति विक्रियाशून्य एव नरो यथेत्येतावतैव निर्वाहेऽपराणीति विशेषणमुत्कर्षातिशयख्यापनार्थम् । तेन यथा निकृष्टानि वस्त्राणि विहायोत्कृष्टानि जनो गृह्णातीत्यौचित्यायातम् । तथा जीर्णानि वयसा तपसा च कृशानि भीष्मादिशरीराणि विहायान्यानि देवादिशरीराणि सर्वोत्कृष्टानि चिरोपार्जितधर्मफलभोगाय संयाति सम्यग्गर्भवासादि-क्लेशव्यतिरेकेण प्राप्नोति देही प्रकृष्टधर्मानुष्ठातृदेहवान्भीष्मादिरित्यर्थः । 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गन्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा' इत्यादिश्रुतेः ।

92 एतदुक्तं भवति— भीष्मादयो हि यावज्जीवं धर्मानुष्ठानक्लेशेनैव जर्जरशरीरा वर्तमान-शरीरपातमन्तरेण तत्फलभोगायासमर्था यदि धर्मयुद्धेन स्वर्गप्रतिबन्धकानि जर्जराणि शरीराणि पातयित्वा दिव्यदेहसंपादनेन स्वर्गभोगयोग्याः क्रियन्ते त्वया तदाऽत्यन्तमुपकृता एव ते । दुर्योधनादीनामपि स्वर्गभोगयोग्यदेहसंपादनान्महानुपकार एव । तथा चात्यन्तमुपकारके युद्धेऽपकारकत्वभ्रमं मा कार्षीरिति । अपराणि अन्यानि संयातीतिपदत्रयवशाद्भगवदभिप्राय एवमभ्यूहितः । अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम् ॥ 22 ॥

91 'जैसे विकारशून्य ही मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है' - इतना कहने मात्र से भी यहाँ निर्वाह हो सकता था, फिर भी 'अपराणि' - यह विशेषण नये वस्त्रों के अतिशय उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए है । अत: 'जैसे मनुष्य निकृष्ट वस्त्रों को त्यागकर उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता है' - ऐसा कहने से इस कथन में औचित्य आ जाता है । वैसे ही देही अर्थात् प्रकृष्ट धर्म के अनुष्ठाता देह से युक्त भीष्मादि आयु और तप से जीर्ण, कृश भीष्मादि शरीरों का परित्याग कर अन्य सर्वोत्कृष्ट देवादि शरीरों को अपने चिरकाल से उपार्जित धर्मफल के भोग के लिए सम्यक् रूप से प्राप्त हो जाता है अर्थात् गर्भवासादि क्लेश के बिना ही उन्हें प्राप्त कर लेता है । 'यह आत्मा पितृलोक में या गन्धर्वलोक में या देवलोक में या प्रजापति-लोक में या ब्रह्म-लोक में अन्य नवतर कल्याणतर रूप (देह) को प्राप्त कर लेता है' (बृह० उ० 4.4.4) - इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है ।

92 यहाँ यह कहा गया है कि भीष्मादि आजीवन धर्मानुष्ठान के क्लेश से ही जर्जर-शरीर हैं, वर्तमान शरीर के पात के बिना वे अपने धर्मानुष्ठान के फल को भोगने के लिए भी असमर्थ हैं, यदि तुम उन्हें धर्मयुद्ध से उनके स्वर्गभोग के प्रतिबन्धक जर्जर शरीरों को गिराकर दिव्य देह के संपादन द्वारा स्वर्गभोग के योग्य कर देते हो तो वे अत्यन्त उपकृत ही होंगे ! दुर्योधन आदि का भी स्वर्गभोग के योग्य देह के संपादन द्वारा महान् उपकार ही होगा । इस प्रकार तुम अत्यन्त उपकारक युद्ध में अपकारकत्व का भ्रम मत करो । 'अपराणि', 'अन्यानि', और 'संयाति' - इन तीनों पदों के कारण भगवान् का ऐसा ही अभिप्राय कहा गया है । इस दृष्टान्त से आत्मा के अविकृतत्व का प्रतिपादन किया गया है - यह प्राचीन आचार्यों की व्याख्या तो अत्यन्त स्पष्ट ही है[168] ॥ 22 ॥

168. आचार्य धनपति ने अपनी 'भाष्योत्कर्षदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती कृत इस श्लोक की व्याख्या पर दोषारोपण करते हुए कहा है कि मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक का प्रकरण के विरुद्ध अर्थ किया है । प्रकृत श्लोक में न तो भीष्मादि के उपकार और अपकार की सूचना है; और न जीर्णादि विशेषणों का उत्कृष्टापकृष्टादि तात्पर्यार्थ ही है, अत: उनकी व्याख्या में प्रकरणविरोध और विशेष्याध्याहार दोष है । दूसरा उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या में 'अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मन: क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम्' - ऐसा कहकर प्राचीन आचार्यों पर कटाक्ष भी किया है । आचार्य धनपति का उक्त दोषारोपण अयुक्त है, क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ जीर्णादि विशेषणों को एक गम्भीर दृष्टि से देखा है, उनकी यह नवीन दृष्टि है । किसी लौकिक दृष्टान्त की व्याख्या मात्र

93 ननु देहनाशे तदभ्यन्तरवर्तिन आत्मनः कुतो न विनाशो गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषवदित्यत आह–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ 23 ॥

94 शस्त्राण्यस्यादीनि अतितीक्ष्णान्यपि एनं प्रकृतमात्मानं न छिन्दन्ति अवयवविभागेन द्विधा कर्तुं न शक्नुवन्ति । तथा पावकोऽग्निरतिप्रज्वलितोऽपि नैनं भस्मीकर्तुं शक्नोति । न चैनमापोऽत्यन्तं वेगवत्योऽपि आर्द्रीकरणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नुवन्ति । मारुतो वायुरतिप्रबलोऽपि नैनं नीरसं कर्तुं शक्नोति । सर्वनाशकाक्षेपे प्रकृते युद्धसमये शस्त्रादीनां प्रकृतत्वादवयुत्या नुवादेनोपन्यासः । पृथिव्यप्तेजोवायूनामेव नाशकत्वप्रसिद्धेस्तेषामेवोपन्यासो नाऽऽकाशस्य ॥ 23 ॥

95 शस्त्रादीनां तन्नाशकत्वासामर्थ्ये तस्य तज्जनितनाशानर्हत्वे हेतुमाह–

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ 24 ॥

---

93 यदि कोई ऐसा कहे कि 'देह का नाश होने पर उसके भीतर रहने वाले आत्मा का विनाश क्यों नहीं होगा, घर जलने पर उसके भीतर रहने वाला पुरुष भी जल ही जाता है' - तो भगवान् कहते है :- [इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको अग्नि जला नहीं सकती, इसको जल गला नहीं सकता और वायु भी सुखा नहीं सकती ॥ 23॥]

94 इस प्रकृत आत्मा को शस्त्र अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार आदि भी नहीं काटते हैं अर्थात् अवयव-विभाग से अलग-अलग नहीं कर सकते हैं । तथा पावक अर्थात् अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित होने पर भी इसको भस्म नहीं कर सकती । और इसको जल अत्यन्त वेगवान् होने पर भी आर्द्र बनाकर विश्लिष्ट-अवयव नहीं कर सकता । इसीप्रकार मारुत = वायु अत्यन्त प्रबल होने पर भी इसको नीरस नहीं कर सकता । यहाँ नाश के सभी साधनों के आक्षेप का प्रसङ्ग होने पर भी प्रकृत युद्ध-समय में शस्त्र आदि के प्रकृत होने के कारण ही शस्त्रादि का अवयुति अनुवाद से उपन्यास किया गया है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार भूत ही नाश करने वाले प्रसिद्ध हैं, इसीलिए उनका ही यहाँ उपन्यास किया गया है, आकाश का नहीं[169] ॥23॥

95 शस्त्रादि जो आत्मा का नाश करने में असमर्थ हैं और वह आत्मा भी जो शस्त्रादि के द्वारा नाश के अयोग्य है उसमें हेतु कहते हैं :-

---

लौकिक बाह्यस्तर पर ही करना औचित्य नहीं है, यदि वह व्याख्या गम्भीरता से विचार करने पर अधिक व्यापक हो जाय, तो स्तुत्य ही है । फलतः मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ एक सामान्य दृष्टान्त को एक नई दृष्टि देकर एक विशेष सन्दर्भ में घटित कर उसे अधिक स्पष्ट कर दिया है, वहाँ कोई प्रकरणविरोध जैसा दोष कदापि नहीं है । इसी प्रकार 'प्राचीन आचार्यों का व्याख्यान अतिस्पष्ट है' - ऐसा कहकर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर कोई कटाक्ष नहीं किया है, अपितु उन्होंने इतना ही कहा है कि उनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट है । अर्थात् मधुसूदन सरस्वती पूर्वाचार्यों की इस मान्यता का समर्थन ही कर रहे हैं कि 'इस दृष्टान्त से आत्मा के अविकृतत्व का प्रतिपादन किया गया है' ।

169. पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार महाभूत नाश करने वाले प्रसिद्ध हैं । इस श्लोक में जल, तेज और वायु का निर्देश तो 'पावक:', 'आप:' और 'मारुत:' - पदों से किया गया है, किन्तु पृथ्वी का निर्देश किस पद से किया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री बच्चा शर्मा ने कहा है कि 'शस्त्र' पद से पृथ्वी का निर्देश किया गया है । तो दूसरा प्रश्न यह है कि यहाँ पृथ्वी के स्थान शस्त्र पद का प्रयोग क्यों किया गया है ? इसी के उत्तर में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जगत् की कोई भी नाशक वस्तु आत्मा का नाश नहीं कर सकती है, यह कहने का उद्देश्य होने पर भी युद्ध के समय शस्त्रादि ही प्राप्त होते हैं, अत: प्रसङ्गवशात् शस्त्रादि का अवयुति

96 **यतोऽच्छेद्योऽयमतो नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि । अदाह्योऽयं यतोऽतो नैनं दहति पावकः । यतोऽक्लेद्योऽयमतो नैनं क्लेदयन्त्यापः । यतोऽशोष्योऽयमतो नैनं शोषयति मारुत इति क्रमेण योजनीयम् । एवकारः प्रत्येकं संबध्यमानोऽच्छेद्यत्वाद्यवधारणार्थः । चः समुच्चये हेतौ वा । छेदाद्यनर्हत्वे हेतुमाहोत्तरार्धेन—**

97 **नित्योऽयं पूर्वापरकोटिरहितोऽतोऽनुत्पाद्यः । असर्वगतत्वे ह्यनित्यत्वं स्यात्, 'यावद्विकारं तु विभागः' इति न्यायात्पराभ्युपगतपरमाण्वादीनामनभ्युपगमात् । अयं तु सर्वगतो विभुरतो नित्य एव । एतेन प्राप्यत्वं पराकृतम् । यदि चायं विकारी स्यात्तदा सर्वगतो न स्यात् । अयं तु स्थाणुरविकारी । अतः सर्वगत एव । एतेन विकार्यत्वमपाकृतम् । यदि चायं चलः क्रियावान्स्यात्तदा विकारी स्याद्घटादिवत् । अयं त्वचलोऽतो न विकारी । एतेन संस्कार्यत्वं निराकृतम् । पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विक्रिया । अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं क्रियेति विशेषः । यस्मादेवं तस्मात्सनातनोऽयं सर्वदैकरूपो न कस्या अपि क्रियायाः कर्मेत्यर्थः । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृत्यन्यतरक्रियाफलयोगे हि कर्मत्वं स्यात् । अयं तु नित्यत्वान्नोत्पाद्यः,**

[यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य ही है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु (अविकारी), अचल और सनातन (सर्वदा एकरूप) है ॥24॥]

96 क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है = छेदन के अयोग्य है = काटे जाने के अयोग्य है, अतः इसको शस्त्र काट नहीं सकते । क्योंकि यह अदाह्य है = जलाये जाने के अयोग्य है, अतः इसको अग्नि जला नहीं सकती । क्योंकि यह अक्लेद्य है = भिगोये जाने के अयोग्य है, अतः इसको जल भिगो नहीं सकता = गला नहीं सकता = सड़ा नहीं सकता । क्योंकि यह अशोष्य है = सुखाये जाने के अयोग्य है, अतः इसको वायु भी सुखा नहीं सकता —इस क्रम से योजना करनी चाहिए । एवकार का प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से वह आत्मा के अच्छेद्यत्वादि को निश्चित करने के लिए है अर्थात् यह आत्मा अच्छेद्य ही है, च्छेद्य नहीं है; अदाह्य ही है, दाह्य नहीं है; अक्लेद्य ही है, क्लेद्य नहीं, इत्यादि । 'च' का प्रयोग समुच्चय अथवा हेतु अर्थ में हुआ है । उत्तरार्ध श्लोक से छेदनादि की अयोग्यता में हेतु कहते हैं -

97 यह आत्मा नित्य अर्थात् पूर्वापरकोटिरहित है[170], अतः अनुत्पाद्य अर्थात् उत्पादन के अयोग्य है । यदि यह असर्वगत होता, तो अनित्य होता, क्योंकि ऐसा न्याय है कि 'जो भी पदार्थ विभक्त होता है, वह सब विकार होता है, अनित्य होता है' (ब्रह्मसूत्र 2.3.7), इसी न्याय से पर = नैयायिकों द्वारा स्वीकृत परमाणु आदि को भी आचार्यों ने नित्य स्वीकार नहीं किया है । यह आत्मा तो सर्वगत, विभु है, अतः नित्य ही है । इससे आत्मा के प्राप्यत्व का निराकरण हो जाता है । यदि यह आत्मा विकारी होता, तो सर्वगत नहीं होता । यह तो स्थाणु अर्थात् अविकारी है, अतः सर्वगत ही है । इससे आत्मा के विकार्यत्व का भी निराकरण हो जाता है । और यदि यह चल अर्थात् क्रियावान् होता, तो घटादि के समान विकारी होता । यह तो अचल है, अतः विकारी नहीं है ।

= पृथक् रूप से अनुवाद = नामोल्लेख किया गया है । इसप्रकार यहाँ 'शस्त्र' शब्द के प्रयोग से युद्ध-प्रसङ्ग का निर्वाह और पृथ्वी के आक्षेप का उल्लेख किया गया है । आकाश किसी का भी नाशक नहीं है, अतः आकाश का नामोल्लेख नहीं किया गया है ।

170. पूर्वापरकोटि से तात्पर्य है - पूर्वकोटि और अपरकोटि = उत्तरकोटि । पूर्वकोटि प्रागभाव है और उत्तरकोटि ध्वंस है । जिसकी पूर्वकोटि या उत्तरकोटि प्रसिद्ध होती है उसी वस्तु की उत्पत्ति होती है । उत्पत्ति अनित्य वस्तु की होती है । फलतः अनित्य वस्तु की ही पूर्वापरकोटि होती है, नित्य वस्तु की नहीं । निष्कर्षतः आत्मा नित्य है अर्थात् पूर्वापरकोटिरहित है । इसीलिए आत्मा अनुत्पाद्य है ।

अनित्यस्यैव घटादेरुत्पाद्यत्वात् । सर्वगतत्वान्न प्राप्यः परिच्छिन्नस्यैव पयआदेः प्राप्यत्वात् । स्थाणुत्वादविकार्यः, विक्रियावतो घृतादेरेव विकार्यत्वात् । अचलत्वादसंस्कार्यः सक्रियस्यैव दर्पणादेः संस्कार्यत्वात् । तथा च श्रुतयः—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छा० 3.14.3) 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः', (श्वेता० 3.9) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वेता० 6.19) इत्यादयः । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तर :' (बृह० 3.7.3) इत्याद्या च श्रुतिः सर्वगतस्य

इससे आत्मा के संस्कार्यत्व का निराकरण हो जाता है । पूर्वावस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति को 'विक्रिया' कहा जाता है, और अवस्था एक होने पर भी चलनमात्र को 'क्रिया' कहा जाता है - यही विक्रिया और क्रिया का भेद है ।[171] क्योंकि यह आत्मा ऐसा ही है, अत: यह सनातन अर्थात् सर्वदा एकरूप है । तात्पर्य यह है कि यह किसी भी क्रिया का कर्म नहीं है । क्योंकि उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति[172] —इनमें से किसी भी क्रिया का फल होने पर ही 'कर्मत्व' होगा । यह तो नित्य होने के कारण उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अनित्य घटादि ही उत्पाद्य होते हैं । सर्वगत होने के कारण प्राप्य नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न पय आदि ही प्राप्य होते हैं । स्थाणु होने के कारण अविकार्य है, क्योंकि विकारी घृत आदि ही विकार्य होते हैं । और अचल होने के कारण असंस्कार्य है, क्योंकि सक्रिय दर्पण आदि ही संस्कार्य होते हैं । इसीप्रकार 'आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है' (छा० 3.14.3); ' यह अपने स्वप्रकाश रूप में वृक्ष के समान निष्पन्द अकेला ही स्थित है' (श्वेता० 3.9); 'वह ब्रह्म निरवयव, निष्क्रिय और शान्त है' (श्वेता० 6.19) - इत्यादि श्रुतियाँ और'जो पृथ्वी में रहकर पृथ्वी का अन्तर्यामी है, जो जल में रहकर जल का अन्तर्यामी है, जो तेज में रहकर तेज का अन्तर्यामी है, जो वायु में रहकर वायु का अन्तर्यामी हैं — (बृह०3.7.3) - इत्यादि श्रुति सर्वगत आत्मा के सर्वान्तर्यामी होने से उसमें उन - उन विकारों की अविषयता दिखाती है । जो शस्त्रादि में नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं । यह आत्मा तो शस्त्रादि को सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करने वाला होने से उनका प्रेरक और अन्तर्यामी है । अतः इसको शस्त्रादि अपने व्यापार का विषय कैसे बना सकते हैं - यह अभिप्राय

---

171. प्रश्न है कि 'स्थाणु' का अर्थ है 'अविकारी', और 'अचल' का अर्थ है 'जो विकारी नहीं है' - इसप्रकार तो इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ हुआ, फिर 'स्थाणु' और 'अचल' - इन दोनों शब्दों को श्लोक में पृथक्-पृथक् क्यों कहा गया है ? इसके समाधानार्थ ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'स्थाणु' में 'विक्रियारहितत्व' है और 'अचल' में 'क्रियारहितत्व' है । पूर्वावस्थात्यागपूर्वक नवीनोत्तरावस्थाप्राप्ति 'विक्रिया' कहलाती है । विक्रिया = विकार से अवस्थाभेद होता है, जैसे - पक्व और अपक्व तण्डुल अवस्थाभेद से भिन्न होते हैं । अवस्था एक होने पर भी चलनमात्र को 'क्रिया' कहा जाता है, जैसे - स्थिर पक्ष में घटादि में चलन है । विक्रिया और क्रिया का यह भेद है । आत्मा में अवस्थाभेद न रहने के कारण कोई विक्रिया = विकार नहीं होता, अत: स्थाणु = अविकारी = विक्रियारहित है । आत्मा की एक ही अवस्था होने पर भी उसमें कोई क्रिया नहीं होती, अत: अचल = क्रियारहित है । इसप्रकार स्थाणु और अचल शब्द में भेद है ।

172. उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति - इन चारों क्रियाओं से 'कर्मत्व' होता है । 'अग्नीनादधीत' वाक्य से विहित आधान कर्म से श्रौताग्नि की 'उत्पत्ति' की जाती है । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वाक्य से विहित अध्ययन कर्म से स्वाध्याय की 'प्राप्ति' की जाती है । 'व्रीहीन् अवहन्ति' आदि वाक्यों से विहित अवघात आदि कर्म से व्रीहि का 'विकार' किया जाता है । और 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों से विहित प्रोक्षण आदि कर्म से 'संस्कार' किया जाता है । आत्मा इनमें से किसी भी क्रिया का 'कर्म' नहीं है । अत: यह न उत्पाद्य है, न प्राप्य है, न विकार्य है, और न संस्कार्य ही है ।

173. इस श्लोक के मधुसूदन सरस्वती कृत व्याख्यान पर टिप्पणी करते हुए आचार्य धनपति ने अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में तीन आपत्तियाँ की है :-

सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति । यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयश्छिन्दन्ति । अयं तु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी । अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापारविषयी कुर्युरित्यभिप्रायः । अत्र 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० 3.12.97) इत्यादिश्रुतयोऽनुसंधेयाः । सप्तमाध्याये च प्रकटी करिष्यति श्रीभगवानिति दिक् ॥ 24 ॥

98 छेद्यत्वादिग्राहकप्रमाणाभावादपि तदभाव इत्याह— अव्यक्तोऽयमित्यार्धेन—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ 25 ॥

99 यो हीन्द्रियगोचरो भवति स प्रत्यक्षत्वाद्व्यक्त इत्युच्यते । अयं तु रूपादिहीनत्वान्न तथा । अतो न प्रत्यक्षं तत्र च्छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः ।

है[173] । यहाँ 'जिस तेज से सूर्य तपता है' (तै० ब्रा० 3.12.97) इत्यादि श्रुतियों का अनुसंधान करना चाहिए । सप्तम अध्याय में श्री भगवान् इसे और स्पष्ट रूप से कहेंगे - यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र है ॥ 24 ॥

98 छेद्यत्वादि को ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव होने के कारण भी आत्मा में छेद्यत्वादि का अभाव है - यह 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं -
[यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है । अतः इस आत्मा को इस प्रकार का जानकर तुम शोक नहीं कर सकते ॥25॥]

99 जो पदार्थ इन्द्रियगोचर होता है, वह प्रत्यक्ष होने के कारण 'व्यक्त' कहा जाता है । यह आत्मा तो रूपादिहीन होने के कारण वैसा = इन्द्रियगोचर = प्रत्यक्ष = व्यक्त है नहीं, यह तो 'अव्यक्त'है, अतः इसमें छेद्यत्वादि को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

(अ) भाष्यकार के मतानुसार इस श्लोक से पूर्व अंशों में जो कहा गया है वह उत्तरोत्तर का हेतु है किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने हेतु को विपरीत रूप से ग्रहण किया है । उससे श्लोक के तात्पर्य में कोई पार्थक्य नहीं हुआ है, अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है ।

(ब) मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि; 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या—' इत्यादि श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन जो किया है वह हृदयग्राही नहीं है क्योंकि गीता के प्रथम छः अध्यायों में त्वंपदार्थ का शोधन है, यह भाष्यकारों का सिद्धान्त है, तदनुसार मधुसूदन सरस्वती ने भी यही स्वीकार किया है, फिर भी उन्होंने यहाँ तत्पदार्थपरक श्रुतियों का प्रदर्शन कर अनुचित प्रयोग किया है ।
धनपति की इस आपत्ति का समाधान यह है कि इस श्लोक में जब आत्मा को नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन कहा गया है तो उसके अनुकूल श्रुतिप्रमाणप्रदर्शन कदापि अनुचित नहीं है । रही बात तत्त्वम्पदार्थशोधन के पूर्वापर की, उसमें उत्तर यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में त्वंपदार्थशोधन पूर्व में है, किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत्पदार्थ का उल्लेख पूर्व में है, इसके अनुसार गीता के प्रथम षट्क में तत्पदार्थशोधन क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाय । इसके अतिरिक्त, वस्तुतः मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ 'स्थाणु' आदि की व्याख्या में भेदवादियों के आत्मा के 'अणुत्व' और 'नानात्व' के सिद्धान्त का खण्डन और शांकर मत का व्यवस्थापन करने के लिए ही अत्यन्त अनुकूल व उपयुक्त 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' श्रुति का उल्लेख किया है ।

(स) मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ यह जो कहा है कि 'यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति—' इत्यादि अर्थात् 'जो शस्त्रादि में नहीं रहता, उसको शस्त्रादि काटते हैं । यह आत्मा तो शस्त्रादि को सत्ता और स्फूर्ति प्रदान करने वाला होने से उनका प्रेरक और अन्तर्यामी है । अतः इसको शस्त्रादि अपने व्यापार का विषय कैसे बना सकते हैं ?' वह भी असंगत है, क्योंकि शस्त्रादि में स्थित लोहा आदि भी शस्त्रादि से काटा जाता है । इसका उत्तर यह है कि शस्त्रादि में स्थित लोहा आदि भी शस्त्रादि से अवश्य कट जाता है किन्तु जिस शस्त्र में लोहा स्थित है उसी शस्त्र से उसी में स्थित लोहा नहीं कटता, दूसरे शस्त्र से कट सकता है । आत्मा तो सभी शस्त्रों का प्रेरक और अन्तर्यामी है, उसी से उसे कौन काट सकता है ?

100 प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानं स्यादित्यत आह– अचिन्त्योऽयं चिन्त्योऽनुमेयस्तद्विलक्षणोऽयम् । कचित्प्रत्यक्षो हि वह्न्यादिर्गृहीतव्याप्तिकस्य धूमादेर्दर्शनात्कचिदनुमेयो भवति । अप्रत्यक्षे तु व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमेयत्वमिति भावः । अप्रत्यक्षस्यापीन्द्रियादेः सामान्यतोदृष्टानुमानविषयत्वं दृष्टमत आह– अविकार्योऽयं यद्विक्रियावच्चक्षुरादिकं तत्स्वकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानमर्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टानुमानस्य च विषयो भवति । अयं तु न विकार्यो न विक्रियावानतो नार्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टस्य वा विषय इत्यर्थः । लौकिकशब्दस्यापि प्रत्यक्षादिपूर्वकत्वात्तन्निषेधेनैव निषेधः ।

100 यदि ऐसा कहो कि आत्मा के छेद्यत्वादि का प्रत्यक्ष न होने पर भी उनका अनुमान तो हो ही सकता है, तो भगवान् कहते हैं - 'यह आत्मा अचिन्त्य है', चिन्त्य अनुमेय कहलाता है, उससे यह विलक्षण है । कहीं = महानसादि में प्रत्यक्ष ही वह्नि आदि से गृहीत व्याप्तियुक्त धूम आदि के दर्शन से कहीं = पर्वतादि में वह्नि आदि अनुमेय होता है । अप्रत्यक्ष पदार्थ में तो व्याप्ति-ग्रहण सम्भव न होने के कारण वह अनुमेय नहीं होता - यह भाव है । अप्रत्यक्ष इन्द्रियादि में भी सामान्यतोदृष्ट[174] अनुमान की विषयता देखी जाती है, अत: कहते हैं - 'यह अविकार्य है' । जो चक्षु आदि विकारी पदार्थ हैं, वे ही स्वकार्यान्यथानुपपत्ति[175] से कल्प्यमान होकर अर्थापत्ति और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के विषय होते हैं । यह आत्मा तो विकार्य नहीं है अर्थात् विक्रियावान् नहीं है, अत: यह न तो अर्थापत्ति का विषय है और न सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय है - यह तात्पर्य है । लौकिक शब्द भी प्रत्यक्षादिपूर्वक[176] ही है, अत: प्रत्यक्ष का निषेध होने से ही शब्द का भी निषेध हो जाता है ।

174. महर्षि गौतम ने अपने न्यायसूत्र, 1.1.5 में अनुमान के तीन भेद कहे हैं - पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । जहाँ प्रसिद्ध साध्य और अनुमेय, दोनों अत्यन्त भिन्न जाति के हो, वहाँ हेतु सामान्य और अनुमेय सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान किया जाता है, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं । जैसे - इन्द्रियविषयक अनुमान - 'रूपादिज्ञानं सकरणकं, क्रियात्वात् छिदादिवत्' । यहां ' क्रियात्व' हेतु से 'इन्द्रियत्व' साध्य को सिद्ध करना है, किन्तु 'इन्द्रियत्व' की व्याप्ति का 'क्रियात्व ' में दर्शन नहीं हुआ, अपितु 'वास्यत्व' की व्याप्ति 'छेदन' क्रिया में देखी गई है । उसके बल पर 'इन्द्रियत्व' करण का अनुमान किया जाता है । इसप्रकार इन्द्रियादि अप्रत्यक्ष पदार्थों में सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषयत्व होता है ।

175. 'स्वकार्यान्यथानुपपत्ति' पद में 'स्व' शब्द से चक्षुरादि का ग्रहण होता है, उनका कार्य होता है - रूपदर्शन आदि । रूपदर्शनादि की अन्यथा अर्थात् चक्षुरादि के बिना अनुपपत्ति अर्थात् उपपत्ति नहीं हो सकती, अत: स्वकार्यान्यथानुपपत्ति से चक्षुरादि की कल्पना की जाती है । इसी को अर्थापत्ति कहते हैं ।

176. लौकिक शब्द प्रत्यक्षादिपूर्वक ही होता है । क्योंकि गृहीतशक्तिक शब्द ही अर्थबोधक होता है, अगृहीतशक्तिक शब्द नहीं । शब्दशक्तिग्रह प्रयोज्य - प्रयोजक वृद्धव्यवहार से होता है । जैसे– प्रयोजक – उत्तमवृद्ध ने प्रयोज्यक– मध्यम वृद्ध से कहा - 'घटमानय' । प्रयोज्य - मध्यमवृद्ध 'घट' को लाने में प्रवृत्त होकर 'घट' ले आया । इन प्रयोज्य और प्रयोजक - दोनों के समीप स्थित बालक ने प्रयोज्य - प्रयोजक के प्रत्यक्ष व्यवहार से 'इयं प्रयोज्यप्रवृत्तिः घटानयनधर्मिक - इष्टसाधनताज्ञानजन्या, प्रवृत्तित्वात् मदीयस्तनपानादिप्रवृत्तिवत्' - ऐसा अनुमान करके 'घटमानय' वाक्य से 'घटानयन' अर्थ को ग्रहण किया । तदनन्तर 'घटमानय' वाक्य घटानयन-ज्ञान का ही जनक है, अर्थान्तरज्ञान का नहीं - यह नियतार्थबोधान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति से सिद्ध है । इसप्रकार शब्दार्थ-सम्बन्धज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति - इन तीनों प्रमाणों से होता है । यहाँ प्रत्यक्ष सर्वप्रथम कारणत्वेन अपेक्षित है, और अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रत्यक्ष के अनुयायी हैं । अत: लौकिक शब्द प्रत्यक्षादिमूलक ही होता है ।

101 ननु वेदेनैव तत्र च्छेद्यत्वादि ग्रहीष्यत इत्यत आह— उच्यते = वेदेन सोपकरणेनाच्छेद्याव्यक्तादिरूप एवायमुच्यते तात्पर्येण प्रतिपाद्यते । अतो न वेदस्य तत्प्रतिपादकस्यापि च्छेद्यत्वादिप्रतिपादकत्वमित्यर्थः ।

102 अत्र 'नैनं छिन्दन्ति' (गी० 2.23) इत्यत्र शस्त्रादीनां तन्नाशकसामर्थ्याभाव उक्तः । अच्छेद्योऽयमित्यादौ तस्य च्छेदादिकर्मत्वायोग्यत्वमुक्तम् । अव्यक्तोऽयमित्यत्र तच्छेदादिग्राहकमानाभाव उक्त इत्यपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । वेदाविनाशिनमित्यादीनां तु श्लोकानामर्थतः शब्दतश्च पौनरुक्त्यं भाष्यकृद्भिः परिहृतम्– 'दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरमापन्नं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यात्' (गी० शां० भा० 2.24) इति वदद्भिः ।

103 एवं पूर्वोक्तयुक्तिभिरात्मनो नित्यत्वे निर्विकारत्वे च सिद्धे तव शोको नोपपन्न इत्युपसंहरति— तस्मादित्यर्धेन । एतादृशात्मस्वरूपवेदनस्य शोककारणनिवर्तकत्वात्तस्मिन्सति शोको नोचितः कारणभावे कार्याभावस्याऽऽवश्यकत्वात् । तेनाऽऽत्मानमविदित्वा यदन्वशोचस्तद्युक्तमेव । आत्मानं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ 25 ॥

104 एवमात्मनो निर्विकारत्वेनाशोच्यत्वमुक्तमिदानीं विकारवत्त्वमभ्युपेत्यापि श्लोकद्वयेनाशोच्यत्वं प्रतिपादयति भगवान् । तत्राऽऽत्मा ज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षणविनाशीति सौगताः । देह एवाऽऽत्मा

101 यदि कहो कि वेद से ही आत्मा के छेद्यत्वादि का ग्रहण हो जायेगा तो भगवान् कहते हैं - 'कहा जाता है' अर्थात् निगमनिरुक्तादि उपकरण = सहायता सामग्री सहित वेद से यह आत्मा अच्छेद्य अव्यक्त आदि रूप ही कहा जाता है - तात्पर्य[177] से प्रतिपादित किया जाता है । अत: आत्मप्रतिपादक वेद में भी आत्मा के छेद्यत्वादि की प्रतिपादकता नहीं है - यह तात्पर्य है ।

102 यहाँ 'नैनं छिन्दन्ति' (गीता, 2.23) इत्यादि वचनों से शस्त्रादि में आत्मनाशक सामर्थ्य का अभाव कहा गया है । 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादि से आत्मा में छेदादि के कर्मत्व की अयोग्यता कही गयी है । 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि से आत्मा के छेदादि के ग्राहक प्रमाण का अभाव कहा गया है, - अत: यहाँ अपुनरुक्ति ही समझनी चाहिए । भाष्यकार ने भी 'आत्म-वस्तु दुर्बोध है, अत: भगवान् वासुदेव पुन: पुन: प्रसङ्ग लाकर शब्दान्तर से उसी वस्तु का निरूपण करते हैं, जिससे किसी भी प्रकार यह तत्त्व संसारी पुरुषों का बुद्धिगोचर होकर संसारनिवृत्ति के लिए हेतु बन सके' (गीता-शांकर-भाष्य - 2.24)- यह कहते हुए 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकों की अर्थत: और शब्दत: पुनरुक्ति का परिहार किया है ।

103 इसप्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से आत्मा की नित्यता और निर्विकारिता सिद्ध होने पर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है - ऐसा 'तस्मात्' इस अर्द्धश्लोक से भगवान् उपसंहार करते हैं । इसप्रकार का आत्मस्वरूपज्ञान शोक के कारण का निवर्तक है, अत: उस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि कारण का अभाव होने पर तो कार्य का अभाव होना आवश्यक है । अत: आत्मा को न जानकर तुमने जो शोक किया वह तो ठीक ही है । किन्तु आत्मा को जानकर तो तुम शोक नहीं कर सकते हो - यह अभिप्राय है ।।25।।

104 इसप्रकार आत्मा के निर्विकार होने से उसकी अशोच्यता कही, अब भगवान् दो श्लोकों से उसकी विकारवत्ता स्वीकार करके भी उसकी अशोच्यता का प्रतिपादन करते हैं । इस पक्ष में सौगत =

177. भाव यह है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेद-वाक्य से यद्यपि विशुद्ध आत्मा शब्दगम्य नहीं है, तथापि लक्षणा = उपचार से अर्थात् तात्पर्यवृत्ति से विशुद्ध आत्मा के अर्थ में तात्पर्य है ।

स च स्थिरोऽप्यनुक्षणपरिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लोकायतिकाः । देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते नश्यति चेत्यन्ये । सर्गाद्यकाल एवाऽऽकाशवज्जायते देहभेदेऽप्यनुवर्तमान एवाऽऽकल्पस्थायी नश्यति प्रलय इत्यपरे । नित्य एवाऽऽत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः । तथाहि— प्रेत्यभावो जन्म । स चापूर्वदेहेन्द्रियादिसंबन्धः । एवं मरणमपि पूर्वदेहेन्द्रियादिविच्छेदः । इदं चोभयं धर्माधर्मनिमित्तत्वात्तदाधारस्य नित्यस्यैव मुख्यम् । अनित्यस्य तु कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन धर्माधर्माधारत्वानुपपत्तेर्न जन्ममरणे मुख्ये इति वदन्ति । नित्यस्याप्यात्मनः कर्णशष्कुलीजन्मनाऽऽकाशस्येव देहजन्मना जन्म तन्नाशाच्च मरणं तदुभयमौपाधिकममुख्यमेवेत्यन्ये । तत्रानित्यत्वपक्षेऽपि शोच्यत्वमात्मनो निषेधति—

बौद्ध[178] कहते हैं कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रतिक्षण विनाशी है' । लोकायतिक[179] कहते हैं कि 'देह ही आत्मा है और वह स्थिर होने पर भी प्रतिक्षण परिणामी है, अतएव वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है - यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है' ।'देह से अतिरिक्त होने पर भी आत्मा देह के साथ ही उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' - ऐसा अन्य[180] कहते हैं । कोई दूसरे[181] कहते हैं कि 'आत्मा सृष्टि के आरम्भकाल में ही आकाश के समान उत्पन्न होता है, देहभेद होने पर भी यह उनमें अनुवर्तमान होकर ही आकल्प स्थायी रहता है और प्रलय में नष्ट होता है' । तार्किक[182] कहते हैं कि 'नित्य ही आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है' । क्योंकि 'प्रेत्य = मरकर भाव = पैदा होना ' जन्म' है और वह जन्म अपूर्व = नवीन देह और इन्द्रियादि का सम्बन्ध है । इसीप्रकार मरण भी पूर्व देह और इन्द्रियादि का विच्छेद है । ये जन्म और मरण - दोनों धर्म और अधर्म से जनित होने के कारण तदाधार = धर्मादि के आधार नित्य ही आत्मा के मुख्य धर्म हैं । अनित्य में तो कृतहानि और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग होने के कारण धर्म और अधर्म की आधारता ही उपपन्न

178. विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञान का परिणाम है । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है - 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' - ऐसा उनका कहना है । प्रतिक्षण विशेष ज्ञान के नाश के साथ-साथ आत्मा भी नाश को प्राप्त होता है । अतः आत्मा विज्ञान स्वरूप है किन्तु प्रतिक्षण विनाशी है ।

179. लोकायतिक = चार्वाक कहते हैं कि देह ही आत्मा है । आत्मा स्थिर = स्थायी होने पर भी क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होता है, अतः यह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है ।

180. अन्य = दूसरे चार्वाकवादी कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न होने पर भी देह के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है ।

181. दूसरे चार्वाक लोग कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही आकाशादि की तरह आत्मा की उत्पत्ति होती है । प्रत्येक जन्म में देह-भेद होने से वही सभी देहों में अनुवर्तमान होकर रहता है । देह के साथ उत्पन्न-नाशशील नहीं है, वह मृत्यु के बाद भी दूसरे देह का आश्रय कर विद्यमान रहता है, वह कल्प तक स्थायी रहता है । प्रलय में आकाशादि के समान नष्ट होता है ।

182. नैयायिकों के मत में आत्मा नित्य ही है, तो भी वह उत्पन्न होता है और मरता है । इनके मतानुसार प्रेत्यभाव जन्म है = 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (न्यायसूत्र 1.1.19), अर्थात् प्रेत्य = मरकर, भाव = पुनः उत्पन्न होना 'जन्म' है । अपूर्व देह और इन्द्रियों के साथ अर्थात् जो पहले विद्यमान नहीं थे ऐसे देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध ही 'जन्म' है । और पूर्व = पुराने देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करना 'मरण' है । इस प्रकार इस नित्य आत्मा का ही पुराने देहेन्द्रिय से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर 'मरण' और नवीन देहेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर 'जन्म' होता है । यही जन्म-मरण मुख्य है । अतः नित्य आत्मा का जन्म-मरण होता है - ऐसा नैयायिक स्वीकार करते हैं । नैयायिकों के अनुसार धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट ही जन्म-मरण का कारण है, और धर्म तथा अधर्म का आधार नित्य आत्मा ही है, अतः यह जन्म-मरण धर्माधर्म के आधार नित्य आत्मा का ही मुख्यतः = वस्तुतः हुआ करता है अर्थात् तार्किक मत में जन्म-मरण आत्मा में आरोपित नहीं है, अपितु वास्तविक हैं । जो लोग देह के जन्म-मरण का व्यवहार-मात्र आत्मा में स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार आत्मा में जन्म-मरण गौण है ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ 26 ॥

105 **अथेति पक्षान्तरे । चोऽप्यर्थे । यदि दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनोऽसकृच्छ्रवणेऽप्यवधारणासामर्थ्यान्मदुक्तपक्षानङ्गीकारेण पक्षान्तरमभ्युपैषि । तत्राप्यनित्यत्वपक्षमेवाऽऽश्रित्य यद्येनमात्मानं नित्यं जातं नित्यं मृतं वा मन्यसे । वाशब्दश्चार्थे । क्षणिकत्वपक्षे नित्यं प्रतिक्षणं पक्षान्तर आवश्यकत्वान्नित्यं नियतं जातोऽयं मृतोऽयमिति लौकिकप्रत्ययवशेन यदि कल्पयसि तथाऽपि हे महाबाहो पुरुषधौरेयेति सोपहासं कुमताभ्युपगमात्, त्वय्येतादृषी कुदृष्टिर्न संभवतीति सानुकम्पं वा । एवम्— 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' (गी० 1.45) इत्यादि**

नहीं होगी, फलतः उसके जन्म और मरण भी उसके मुख्य धर्म नहीं होंगे' - ऐसा कहते हैं । अन्य[183] कहते हैं कि 'नित्य भी आत्मा का कर्णशष्कुली के जन्म से आकाश के जन्म के समान देह के जन्म से जन्म और देह के नाश से उसका मरण - ये दोनों औपाधिक, अमुख्य ही हैं' । इसप्रकार आत्मा की अनित्यता के पक्ष को स्वीकार करके भी उसकी शोच्यता का भगवान् निषेध करते हैं -

[हे महाबाहो ! यदि तुम इस आत्मा को नित्य उत्पन्न और नित्य मृत समझते हो, तो भी तुम इसप्रकार शोक नहीं कर सकते ।।26।।]

105 यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ 'पक्षान्तर' है । 'च' शब्द 'अपि' के अर्थ में व्यवहृत किया गया है । अर्थात् 'अथ च' शब्दों का अर्थ है - पक्षान्तर से विचार करने पर भी । यदि आत्म-वस्तु की दुर्बोधता के कारण अनेक बार सुनने पर भी उसे समझने में असमर्थ होने के कारण मेरे द्वारा कहे गए पक्ष को स्वीकार न करके तुम कोई दूसरा पक्ष ही स्वीकार करते हो, और उसमें भी अनित्यता के पक्ष का ही आश्रय लेकर यदि इस आत्मा को नित्यजात और नित्यमृत मानते हो । यहाँ 'वा' शब्द 'च = और' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्षणिकत्व पक्ष में नित्य अर्थात् प्रतिक्षण और पक्षान्तर = नित्यत्व पक्ष में आवश्यक होने के कारण नित्य अर्थात् नियत = नियमित = नियमानुसार 'यह उत्पन्न हुआ, यह नष्ट हुआ' - इस लौकिक प्रतीति के कारण यदि तुम आत्मा के जन्म और नाश की कल्पना करते हो, तो भी 'हे महाबाहो = हे पुरुषधौरेय' - ऐसा कहकर भगवान् अर्जुन का उपहास करते हैं, क्योंकि उसने कुमत को स्वीकार किया हुआ है । अथवा 'तुझमें ऐसी कुदृष्टि संभव नहीं हैं' - ऐसा करुणापूर्वक कहते हैं । इस प्रकार तुम जो 'ओह ! हमने बहुत बड़ा पाप करने का निश्चय किया है' (गीता 1.45) - ऐसा शोक करते हो, तुम स्वयं भी वैसे ही होकर इस प्रकार का शोक करने के योग्य नहीं हो । क्षणिकत्व पक्ष में, देहात्मवाद पक्ष में और देह के साथ ही आत्मा के जन्म और विनाश को मानने वाले पक्ष में जन्मान्तर का अभाव होने के कारण पाप का भय संभव न होने पर भी तुम पाप के भय से ही शोक करते हो । पाप का भय तो इस --

183. अन्य कहते हैं कि कर्णशष्कुली = कर्णगोलक = कर्णछिद्र के जन्म लेने पर जिस प्रकार कहा जाता है कि कर्णशष्कुली से परिच्छिन्न आकाश का भी जन्म हुआ है, किन्तु वास्तविक रूप से आकाश का जन्म नहीं होता है, उसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि देह के जन्म के साथ आत्मा का जन्म होता है और देह की मृत्यु के साथ आत्मा की मृत्यु होती है तो इसका अर्थ यही है कि आत्मा का जन्म तथा मृत्यु औपाधिक हैं, अमुख्य हैं, या गौण हैं, आरोपित हैं, वस्तुतः आत्मा का जन्म तथा मृत्यु नहीं होते हैं ।

यथा शोचसि एवंप्रकारमनुशोकं कर्तुं स्वयमपि त्वं तादृश एव सन्नार्हसि योग्यो न भवसि । क्षणिकत्वपक्षे देहात्मवादपक्षे देहेन सह जन्मविनाशपक्षे च जन्मान्तराभावेन पापभयासंभवात्पापभयेनैव खलु त्वमनुशोचसि । तच्चैतादृशे दर्शने न संभवतीत्यर्थः । क्षणिकत्वपक्षे च दृष्टमपि दुःखं न संभवति बन्धुविनाशदर्शित्वाभावादित्यधिकम् । पक्षान्तरे दृष्टदुःखनिमित्तं शोकमभ्यनुज्ञातुमेवंकारः । दृष्टदुःखनिमित्तशोकसंभवेऽप्यदृष्टदुःखनिमित्तः शोकः सर्वथा नोचित इत्यर्थः प्रथमश्लोकस्य ॥ 26 ॥

106 नन्वात्मन आभूतसंप्लवस्थायित्वपक्षे नित्यत्वपक्षे च दृष्टादृष्टदुःखसंभवात्तद्भयेन शोचामीत्यत आह द्वितीयश्लोकेन–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 27 ॥

107 हि यस्माज्जातस्य स्वकृतधर्माधर्मादिवशाल्लब्धशरीरेन्द्रियादिसंबन्धस्य स्थिरस्याऽऽत्मनो ध्रुव आवश्यको मृत्युस्तच्छरीरादिविच्छेदस्तदारम्भककर्मक्षयनिमित्तः संयोगस्य वियोगावसानत्वात् । तथा ध्रुवं जन्म मृतस्य च प्राग्देहकृतकर्मफलोपभोगार्थं सानुशयस्यैव प्रस्तुतत्वान्न जीवन्मुक्ते व्यभिचारः । तस्मादेवमपरिहार्ये परिहर्तुमशक्येऽस्मिञ्जन्ममरणलक्षणेऽर्थे विषये त्वमेवं विद्वान्न

प्रकार के दर्शनों में संभव ही नहीं है - यह तात्पर्य है । क्षणिकत्व पक्ष में दृष्ट दु:ख भी संभव नहीं है, क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार बन्धुविनाश को देखने वाले आत्मा का दूसरे ही क्षण में अभाव हो जाता है - इतना अधिक समझ लेना चाहिए । पक्षान्तर में दृष्टदु:खजनित शोक स्वीकार करने के लिए 'एवंकार' का प्रयोग हुआ है । दृष्टदु:खजनित शोक संभव होने पर भी अदृष्टदु::खजनित शोक सर्वथा अनुचित है - यह 'अव्यक्तोऽयम्' - इत्यादि प्रथम श्लोक का तात्पर्य है ।।26।।

106 यदि यह कहो कि आत्मा के भूतों के प्रलयपर्यन्त रहने तथा नित्य रहने के पक्ष में भी दृष्ट और अदृष्ट दु:खों की संभावना रहती ही है, अत: उन्हीं के भय से मैं शोक करता हूँ -- तो भगवान् द्वितीय श्लोक से कहते हैं :--

[जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है उसका जन्म निश्चित है । अत: जिसका किसी प्रकार भी परिहार नहीं किया जा सकता उस विषय में तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ।। 27 ।।]

107 हि = यस्मात् = क्योंकि उत्पन्न हुए अर्थात् स्वकृत धर्म और अधर्म आदि के कारण जिसे शरीर और इन्द्रियों आदि का सम्बन्ध प्राप्त हुआ है उस स्थिर आत्मा की मृत्यु = शरीर के आरम्भक कर्मों के क्षय से जनित उन शरीरादि का विच्छेद ध्रुव = आवश्यक है, क्योंकि संयोग का अन्त वियोग में ही होता है । तथा मृत का जन्म निश्चित है, क्योंकि पूर्वदेहकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए संस्काररूप वासनाओं के साथ जीव ही प्रस्तुत होता है, जीवन्मुक्त[184] के विषय में कोई

---

184. तात्पर्य यह है कि मृत का जन्म निश्चित है, क्योंकि पूर्वदेहकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए पुनः शरीर धारण करना आवश्यक है, अत: एतदर्थ ही जीव कर्मवासनाओं के साथ पुन: शरीर धारण करता है । यहाँ यदि यह शंका की जाय कि 'यदि मृत का जन्म निश्चित है, तो विदेहमुक्ति = विदेहकैवल्य कैसे होगा ? जिसकी प्राप्ति जीवन्मुक्त को देहपात के पश्चात् ही होती है । यदि जीवन्मुक्त का भी पुन: देह से सम्बन्ध होगा, तो उसे कैवल्य

शोचितुमर्हसि। तथा च वक्ष्यति – 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गी० 11.32) इति। यदि हि त्वया युद्धेनाहन्यमाना एते जीवेयुरेव तदा युद्धाय शोकस्तवोचितः स्यात्। एते तु कर्मक्षयात्स्वयमेव म्रियन्त इति तत्परिहारासमर्थस्य तव दृष्टदुःखनिमित्तः शोको नोचित इति भावः।

108 **एवमदृष्टदुःखनिमित्तेऽपि शोके 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्येवोत्तरम्। युद्धाख्यं हि कर्म क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवत्। तच्च 'युध संप्रहारे' इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं शत्रुप्राणवियोगानुकूलशस्त्रप्रहाररूपं विहितत्वादग्नीषोमीयादिहिंसावन्न प्रत्यवायजनकम्। तथा च गौतमः स्मरति–'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वासारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोप—**

व्यभिचार नहीं है। अतः = इस प्रकार जो अपरिहार्य है अर्थात् जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उस जन्म-मरणरूप अर्थ = विषय में तुम्हारे जैसे विद्वान् को शोक करना उचित नहीं है। इस विषय में भगवान् आगे कहेंगे -- 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गीता, 11.32) -- अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सभी में से कोई नहीं रहेगा' -- इत्यादि। यदि युद्ध में तुम्हारे द्वारा न मारे जाने पर ये जीवित रह सकते होते, तो युद्ध के लिए तुम्हारा शोक करना उचित होता, किन्तु ये तो कर्मों का क्षय होने से स्वयं ही मर जायेंगे, अत: उसका परिहार करने में असमर्थ तुम्हारा यह दृष्टदु:ख के लिए शोक करना उचित नहीं है -- यह भाव है।

108 इसी प्रकार अदृष्टनिमित्तक शोक में भी 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्यादि ही उत्तर है अर्थात् जो अर्थ = विषय अपरिहार्य है उस विषय में तुम्हारा अदृष्टदु:खनिमित्तक शोक करना भी उचित नहीं है[185]। युद्ध रूप कर्म तो क्षत्रिय के लिए अग्निहोत्रादि नित्यकर्म के समान नियत है और वह 'युध् संप्रहारे' = संप्रहार के अर्थ में 'युध्' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करने से निष्पन्न, शत्रु के प्राणवियोग के अनुकूल शस्त्रप्रहाररूप युद्ध क्षत्रिय के लिए कर्म विहित होने के कारण अग्निषोमीयादि यज्ञों में होने वाली हिंसा के समान प्रत्यवायजनक नहीं है। इसी प्रकार गौतम भी अपनी स्मृति में कहते हैं – 'अश्वरहित, सारथिशून्य, आयुधरहित, बद्धाञ्जलि, प्रकीर्णकेश, पराङ्मुख, उपविष्ट, स्थलारूढ़, वृक्षारूढ़, दूत, अपने

प्राप्त नहीं होगा, और यदि जीवन्मुक्त का पुन: देह से सम्बन्ध नहीं होगा, तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' – इस नियम का व्यभिचार होगा। इसी शंका के समाधान के लिए ही मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'जीवन्मुक्त के विषय में कोई व्यभिचार नहीं है', क्योंकि जीवन्मुक्त में तो कर्मवासना ही नहीं होती, अत: वह विदेह कैवल्य प्राप्त करता है और पुन: देह सम्बन्ध भी नहीं प्राप्त करता। उसके देह सम्बन्ध न प्राप्त करने से 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' – इस नियम में व्यभिचार भी नहीं होता, क्योंकि जन्म कर्मवासनाओं से युक्त जीव ही प्राप्त करता है, जीवन्मुक्त की कर्मवासनाएँ ही नहीं होती, तो उसके जन्म का प्रश्न ही नहीं होता और इससे उक्त नियम में व्यभिचार का भी प्रश्न नहीं है।

185. यहाँ यदि अर्जुन यह कहे कि 'भगवान् के पूर्वोक्त वचनों के अनुसार यह मान भी लिया जाय कि भीष्मादि की मृत्यु से उत्पन्न दृष्टदु:ख के लिए शोक करना उचित नहीं है, किन्तु उन लोगों के साथ युद्ध कर उनके वध का निमित्त होने पर हमें पाप लगेगा, फलत: अदृष्टदु:ख = परलोक में दु:ख भोगना पडेगा, अत: अदृष्टदु:ख के लिए शोक करना तो उचित ही है', तो भगवान् कहते हैं कि अदृष्टदु:खनिमित्तक शोक करना भी तुम्हारे लिए उचित नहीं है क्योंकि तुम क्षत्रिय हो और युद्ध तुम्हारे लिए अपरिहार्य अर्थ = विषय है। अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के समान युद्धरूप कर्म क्षत्रिय के लिए अवश्य अनुष्ठेय है। युद्ध का अर्थ है इस प्रकार से शस्त्र के द्वारा प्रहार करना जिससे वह शत्रु के प्राणवियोग के अनुकूल हो, किन्तु युद्ध क्षत्रिय के लिए विहित कर्म होने कारण अग्निषोमीयादि यज्ञ में पशुबलिरूप हिंसा से जिस प्रकार पाप नहीं है उसी प्रकार क्षत्रिय के लिए युद्ध में शत्रुवध करना भी पापजनक नहीं है। जब पाप ही नहीं होगा, तो अदृष्टदु:ख = परलोक में दु:ख का भोग भी नहीं होगा, अत: अदृष्टदु:ख के लिए तुम्हारा शोक करना भी उचित नहीं है।

विष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः' इति । ब्राह्मणग्रहणं चात्रायोद्धृब्राह्मणविषयं गवादिप्रायपाठादिति स्थितम् । एतच्च सर्वं स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्यत्र स्पष्टी करिष्यते । तथा च युद्धलक्षणेऽर्थेऽग्निहोत्रादिवद्विहितत्वादपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये तदकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गात्त्वमदृष्टदुःखभयेन शोचितुं नार्हसीति पूर्ववत् ।

109 यदि तु युद्धाख्यं कर्म काम्यमेव,

'य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥' (याज्ञ० 13.324)

इति याज्ञवल्क्यवचनात्, 'हतो वा प्रापस्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति भगवद्वचनाच्च, तदाऽपि प्रारब्धस्य काम्यस्यापि अवश्यपरिसमापनीयत्वेन नित्यतुल्यत्वात्त्वया च युद्धस्य प्रारब्धत्वादपरिहार्यत्वं तुल्यमेव ।

110 अथवाऽऽत्मनित्यत्वपक्ष एव श्लोकद्वयमर्जुनस्य परमास्तिकस्य वेदबाह्यमताभ्युपगमासंभवात् । अक्षरयोजना तु नित्यश्चासौ देहेन्द्रियादिसंबन्धवशाज्जातश्चेति नित्यजातस्तमेनमात्मानं नित्यमपि सन्तं जातं चेन्मन्यसे तथा नित्यमपि सन्तं मृतं चेन्मन्यसे तथाऽपि त्वं नानुशोचितुमर्हसीति हेतुमाह– जातस्य हीत्यादिना । नित्यस्य जातत्वं मृतत्वं च प्राग्व्याख्यातं, स्पष्टमन्यत् । भाष्यमप्यस्मिन्पक्षे योजनीयम् ॥ 27 ॥

को गौ और ब्राह्मण कहने वाला -- इनके अतिरिक्त की युद्ध में हिंसा करने पर दोष नहीं होता' । इस स्मृतिवाक्य में जो 'ब्राह्मण' शब्द का ग्रहण किया गया है वह युद्ध न करने वाले ब्राह्मण के लिए है -- ऐसा ब्राह्मण के साथ 'गो' के पाठ से निश्चय होता है । यह सब ' स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' -- इस श्लोक में स्पष्ट करेंगे । इस प्रकार युद्धरूप विषय में, जो अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के समान विहितकर्म होने के कारण अपरिहार्य है अर्थात् जिसका परिहार नहीं किया जा सकता, उसके न करने पर प्रत्यवाय का प्रसंग उपस्थित होगा, अत: अदृष्टदु:ख के भय से इस युद्ध के विषय में तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है -- इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिए ।

109 यदि तो तुम युद्धरूप कर्म को काम्य कर्म ही मानो, क्योंकि 'जो लोग युद्ध से विमुख न होकर पृथ्वी के लिए कपटरहित होकर शस्त्रों से युद्ध करते हैं वे लोग योगियों के समान स्वर्ग में जाते हैं' (याज्ञ० 13.324) इत्यादि याज्ञवल्क्य के वचनानुसार तथा 'मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा' (गीता 2.37) इस भगवद्वचन के अनुसार युद्ध काम्य कर्म ही है, तो भी प्रारब्ध[186] काम्यकर्म भी अवश्य परिसमापनीय होने से नित्य तुल्य ही है । तुम्हारा यह युद्ध भी प्रारब्धकर्म-वश ही है, अत: इसकी अपरिहार्यता तुल्य ही है ।

110 अथवा, आत्मा की नित्यता के पक्ष में ही ये दोनों श्लोक हैं, क्योंकि परम आस्तिक अर्जुन की वेदबाह्यता (नास्तिकता = आत्मानित्यता) स्वीकार करना संभव नहीं है । इस अर्थ में उक्त श्लोकाक्षरार्थ योजना इस प्रकार होगी -- यह आत्मा नित्य है तथा देह और इन्द्रियादि के सम्बन्ध के कारण जात

---

186. तत्तत् शरीर के द्वारा भोग के जनक कर्म को ही 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं । प्रारब्ध कर्म का नाश भोग के बिना नहीं होता है । कहा भी है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

111 तदेवं सर्वप्रकारेणाऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपादितमथेदानीमात्मनोऽशोच्यत्वेऽपि भूतसंघातात्मकानि शरीराण्युद्दिश्य शोचामीत्यर्जुनाशङ्कामपनुदति भगवान्–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ 28 ॥

112 आदौ जन्मनः प्रागव्यक्तानि अनुपलब्धानि भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि मध्ये जन्मानन्तरं मरणात्प्राग्व्यक्तानि उपलब्धानि सन्ति । निधने पुनरव्यक्तान्येव भवन्ति । यथा स्वप्नेन्द्रजालादौ प्रतिभासमात्रजीवनानि शुक्तिरूप्यादिवन्न तु ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा स्थितानि दृष्टिसृष्ट्यभ्युपगमात् । तथा च 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (मा० का० 2.6) इति न्यायेन मध्येऽपि न सन्त्येवैतानि । 'नासतो विद्यते भावः' (गी० 2.16) इति प्रागुक्तेश्च ।

113 एवं सति तत्र तेषु मिथ्याभूतेष्वत्यन्ततुच्छेषु भूतेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापो न कोऽप्युचित इत्यर्थः । न हि स्वप्ने विविधान्बन्धूनुपलभ्य प्रतिबुद्धस्तद्विच्छेदेन शोचति पृथग्जनोऽपि एतदेवोक्तं

भी है -- अतः यह नित्यजात है । इस प्रकार इस आत्मा को तुम यदि नित्य होते हुए भी देहेन्द्रियादि-सम्बन्ध से जात मानते हो तथा नित्य होते हुए भी इसको देहेन्द्रियादि-सम्बन्धवियोग से मृत मानते हो, तो भी तुम शोक नहीं कर सकते हो– यह प्रतिज्ञा कर इसमें भगवान् 'जातस्य हि' -- इत्यादि से हेतु कहते हैं । नित्य के जातत्व और मृतत्व की व्याख्या पहले की जा चुकी है । अन्य सब स्पष्ट है । इस पक्ष में भाष्य की भी योजना करनी चाहिए ॥ 27 ॥

111 इस प्रकार सभी प्रकार से आत्मा की अशोच्यता का उपपादन हुआ । अब 'आत्मा अशोच्य होने पर भी मैं तो भूतसंघातरूप = पञ्चभूतात्मक शरीर के उद्देश्य से शोक करता हूँ' -- ऐसी अर्जुन की आशङ्का का भगवान् निवारण करते हैं --

[हे भारत ! ये पञ्चभूतात्मक शरीर जन्म से पूर्व अव्यक्त ही रहते हैं, मध्य -- जन्म के पश्चात् और मृत्यु से पूर्व – में व्यक्त रहते हैं, और मृत्यु हो जाने पर वे पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में फिर क्या शोक करना है ? ॥ 28 ॥]

112 ये भूत अर्थात् पृथ्वी आदि भूतमय शरीर आदि में अर्थात् जन्म से पूर्व अव्यक्त = अनुपलब्ध रहते हैं, मध्य में अर्थात् जन्म के पश्चात् और मरण से पूर्व व्यक्त = उपलब्ध होते हैं, तथा निधन पर पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं । जैसे -- स्वप्न, इन्द्रजालादि में प्रतीत वस्तुएँ शुक्ति में आरोपित रजत के समान प्रतिभासमात्रजीवन होती हैं अर्थात् जितने काल तक उनकी प्रतीति होती है उतने काल तक ही स्थित रहती हैं । ज्ञान से पूर्व या उत्तर = बाद में तो उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद अर्थात् यावत् दृष्टि तावत् सृष्टि -- यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । वैसे ही 'जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है' इस न्याय से मध्य में भी वे नहीं ही हैं । 'असत् की सत्ता नहीं होती' (गीता 2.16) -- यह पूर्व में कह चुके हैं ।

113 ऐसा होने पर तो तत्र अर्थात् इन मिथ्याभूत अत्यन्त तुच्छ भूतों = शरीरों के लिए क्या परिदेवना = शोक करना अथवा क्या दुःख प्रलाप करना ? इस विषय में तुम्हारा कोई भी प्रलाप उचित नहीं है --

---

187. महाभारत में कहा हैं –

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥"

पुराणे—'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।' भूतसंघ इति शेषः । तथा च शरीराण्यप्युद्दिश्य शोको नोचित इति भावः ।

114 आकाशादिमहाभूताभिप्रायेण वा श्लोको योज्यः । अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः प्रागवस्था येषां तानि तथा व्यक्तं नामरूपाभ्यामेवाऽऽविद्यकाभ्यां प्रकटीभूतं न तु स्वेन परमार्थसदात्मना मध्यं स्थित्यवस्था येषां तादृशानि भूतानि आकाशादीनि अव्यक्तनिधानान्येवाव्यक्ते स्वकारणे मृदिव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां तेषु भूतेषु का परिदेवनेति पूर्ववत् । तथा च श्रुतिः 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृह० 1.4.7) इत्यादिरव्यक्तोपादानतां सर्वस्य प्रपञ्चस्य दर्शयति । लयस्थानत्वं तु तस्यार्थसिद्धं कारण एव

यह तात्पर्य है । स्वप्न में विविध बन्धुओं को देखकर प्रतिबुद्ध मूढ़जन भी उनके वियोग से शोक नहीं करते । यही पुराण में भी कहा है -- 'यह भूतसमुदाय अदर्शन से आया है और पुनः अदर्शन को ही प्राप्त हो जाता है'[187] । यहाँ 'भूतसंघ' यह शेष है । इस प्रकार भाव यह है कि शरीरों को भी उद्देश्य बनाकर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।

114 अथवा, आकाशादि महाभूतों के अभिप्राय से इस श्लोक की योजना करनी चाहिए । अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् अविद्योपहित चैतन्य है आदि =प्रागवस्था = कारणावस्था जिनकी वे; तथा व्यक्त अर्थात् अविद्यक नाम और रूपों से ही, न कि स्वकीय परमार्थ सद्रूप से, प्रकट है मध्य = स्थिति की अवस्था जिनकी ऐसे वे आकाशादि भूत अव्यक्तनिधन हैं । जैसे घटादि अपने कारण मिट्टी में लीन हो जाते हैं, वैसे ही जिनका निधन = प्रलय अपने कारण अव्यक्त मे हो जाता है, ऐसे इन भूतों के विषय में क्या परिदेवना = शोक-दुःखादि करना -- ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिए । इसी प्रकार 'सृष्टि के आरम्भ में यह सत् अव्याकृत ही था, यह नाम और रूप से ही व्यक्त होता है' (बृह० 1.4.7) इत्यादि श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्च में अव्यक्तोपादानता दिखाती है । अव्यक्त की लयस्थानता तो अर्थतः सिद्ध हो जाती है । क्योंकि कारण में ही कार्य का लय होता देखा जाता है । अन्य ग्रन्थों में तो इस विषय का विस्तार किया गया है । इस प्रकार भाव यह है कि अज्ञान से कल्पित होने के कारण तुच्छ आकाशादि भूतों को भी उद्देश्य करके यदि शोक करना उचित है

अर्थात् इस संसार की उत्पत्ति अदर्शन से हुई है और पुनः यह अदर्शन को ही प्राप्त हो जाता है । अतः यह संसार तुम्हारा नहीं है, तुम भी इसके नहीं हो, तब क्यों वृथा यह परिदेवना = शोक करते हो ? अत्यन्त मूढ़ जन भी स्वप्नावस्था में अनेक बन्धुओं का साक्षात्कार करके पुनः जाग्रदवस्था में उन्हें न देखकर उनके विरह में शोक नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि स्वप्न में जिन्हें वह देखरहा था, वे वास्तविक नहीं थे, केवल दर्शनमात्र थे, जब तक स्वप्न था तब तक ही थे । भीष्मादि के शरीर भी स्वाप्निक पदार्थों के समान ही हैं, प्रातिभासिक ही हैं, यावत् दृष्टि तावत् सृष्टि हैं, वे भी आदि और अन्त में न रहने वाले के समान वर्तमान में भी अव्यक्त ही हैं । तुम विद्वान् होकर भी वैसे पदार्थों को शोचते हो, यह उचित नहीं है । अतः स्वाप्निक और ऐन्द्र-जालिक पदार्थों के समान भीष्मादि के शरीर के लिए भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, यही भावार्थ है ।

188. आचार्य धनपति के अनुसार यह श्लोक शरीरपरक हैं, पञ्चमहाभूतपरक नहीं है । वे कहते हैं कि भगवत्पाद शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या पञ्चमहाभूतपरक नहीं की है, क्योंकि 'तत्र का परिदेवना' इस वाक्य से विरोध होता है । अर्जुन पञ्चमहाभूतों के विषय में शोक नहीं कर रहा था, भीष्मादि के शरीरों के विषय में ही शोक कर रहा था, क्योंकि युद्धभूमि में उन्हीं का उस समय निधन प्रसक्त था, अतः प्रतिषेध भी उसी का उचित है । किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मधुसूदन सरस्वती की पञ्चमहाभूतपरक व्याख्या भी श्लोक की संगति ही बताती है, क्योंकि इस व्याख्या से कारणस्वभाव का कार्य में प्रदर्शन होने के कारण अपरिहार्यता ही दृढ़ होती है ।

कार्यलयस्य दर्शनात् । ग्रन्थान्तरे तु विस्तरः । तथाचाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादिभूतान्यप्युद्दिश्य शोको नोचितश्चेत्तत्कार्याण्युद्दिश्य नोचित इति किमु वक्तव्यमिति भावः ।

115 अथवा सर्वदा तेषामव्यक्तरूपेण विद्यमानत्वाद्विच्छेदाभावेन तन्निमित्तः प्रलापो नोचित इत्यर्थः । भारतेत्यनेन सम्बोधयञ्शुद्ध वंशोद्भवत्वेन शास्त्रीयमर्थं प्रतिपत्तुमर्होऽसि किमिति न प्रतिपद्यस इति सूचयति ॥ 28 ॥

116 ननु विद्वांसोऽपि बहवः शोचन्ति तत्किं मामेव पुनरेवमुपालभसे । अन्यच्च 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' इति न्यायात्त्वद्वचनार्थाप्रतिपत्तिरपि मम न दोषः, तत्रान्येषामपि तवेवाऽऽत्मापरिज्ञानादेव शोक आत्मप्रतिपादकशास्त्रार्थाप्रतिपत्तिश्च तवाप्यन्येषामिव स्वाशयदोषादिति नोक्तदोषद्वयमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ 29॥

तो इस विषय में तो कहना ही क्या है कि उनके कार्यों को उद्देश्य बनाकर शोक करना उचित नहीं है[188] ।

115 अथवा, अर्थ यह है कि ये भूत सर्वदा अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं, अतः उनका कभी विच्छेद नहीं होता, फलतः उनके लिए प्रलाप करना उचित नहीं है । 'भारत' इस शब्द से सम्बोधित करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि शुद्ध वंश में जन्म लेने के कारण तुम शास्त्रीय अर्थ समझने के योग्य हो, फिर क्यों नहीं समझते हो ? ॥ 28 ॥

116 'बहुत से विद्वान् भी शोक करते हैं, फिर मुझे ही क्यों आप बार-बार उलाहना देते हैं । और फिर 'जहाँ श्रोता नहीं समझता है वहाँ वक्ता की ही जड़ता समझी जाती है' – इस न्याय से आपके वचनों के तात्पर्य को न समझना भी मेरा दोष नहीं है ' – ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् इस अभिप्राय से कि अन्य लोगों को भी तुम्हारे ही समान आत्मा का ज्ञान न होने से ही शोक और आत्मप्रतिपादक शास्त्रों के अर्थ का अग्रहण होता है तथा तुमको भी अन्य लोगों के समान ही अपने आशय =[189] चित्त के दोष से ही यह सब हो रहा है, वस्तुतः तुममें तो पूर्वोक्त दोनों ही दोष नहीं है – आत्मा की दुर्विज्ञेयता को कहते हैं :--

[इस आत्मा को कोई आश्चर्य-सा देखता है तथा कोई अन्य इसको आश्चर्य-सा कहता है एवं कोई अन्य इस आत्मा को आश्चर्य-सा सुनता है और सुनकर भी कोई इसको नहीं ही जानता है ।। 29 ।।

---

189. यहाँ 'आशय' का अर्थ 'वासना' है । वासनाएँ फल पकने तक चित्तभूमि में पड़ी हुई सोती हैं, इसीलिए वे 'आशय' कहलाती हैं – आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः (योगभाष्यतत्त्ववैशारदी, 1.24)' । वासनाएँ चित्त में दो प्रकार के संस्काररूप से होती हैं -- एक स्मृतिमात्र फलवाली, दूसरी जाति, आयु, भोग-- फलवाली । जब कोई कर्म फल देता है तो उसके फल के अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं । योगियों के अतिरिक्त सकामी पुरुष फलों की वासना से कर्म करते हैं । वासनाएँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं, किन्तु प्रबल दोष कहलाती हैं । वासनाओं के कारण ही तो राग, द्वेष और मोह जन्म लेते हैं, अतः ये स्थूल दोष हैं । दोष प्रवर्तनारूप होते हैं -- 'प्रवर्तनालक्षणा

117 एनं प्रकृतं देहिनमाश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानमाविद्यकनानाविधविरुद्धधर्मवत्तया सन्तमप्यसन्तमिव स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवाऽऽनन्दघनमपि दुःखितमिव निर्विकारमपि सविकारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव सम्भावितविचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामाविद्यकसर्वद्वैतनिषेधेन परमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्य-जन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन साक्षात्करोति कश्चिच्छमदमादिसाधनसम्पन्नचरमशरीरः कश्चिदेव न तु सर्वः । तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम् । आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य

117. आश्चर्यवत्[190] = आश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानम् = आश्चर्य अर्थात् अद्भुत के समान वर्तमान = विद्यमान इस प्रकृत देही = आत्मा को जो अविद्यक = अविद्या[191] --जनित अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण 'होते हुए भी न होते हुए के समान है, स्वप्रकाश चैतन्यरूप होते हुए भी जड-सा है, आनन्दघन होते हुए भी दुःखित-सा है, निर्विकार होते हुए भी सविकार-सा है, नित्य होते हुए भी अनित्य-सा है, प्रकाशमान होते हुए भी अप्रकाशमान-सा है, ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी उससे भिन्न-सा है, मुक्त होते हुए भी बद्ध-सा है, अद्वितीय होते हुए भी सद्वितीय-सा है' -- इसप्रकार सम्भावित विचित्र अनेक आकारवाली प्रतीति का विषय[192] देखता है । वह कोई ही, सब नहीं = कोई शमदमादिसाधनसम्पन्न चरम शरीर ही शास्त्र और आचार्य के उपदेश से अविद्याजनित सम्पूर्ण द्वैत के निषेध द्वारा वेदान्त के महावाक्यों से जन्य और सम्पूर्ण सुकृतों की फलभूता परमात्मस्वरूपमात्र आकारवाली अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिफलित = प्रतिबिम्बित इस आत्मा का समाधि के परिपाक से साक्षात्कार करता है । इसीप्रकार, कोई इस आत्मा को जो देखता है वह आश्चर्य-सा ही है -- इसप्रकार 'आश्चर्यवत्' क्रियाविशेषण भी है । आत्मदर्शन भी आश्चर्यवत् ही है, जो स्वरूपः मिथ्याभूत होते हुए भी सत्य का व्यञ्जक है, अविद्या-जनित होते हुए भी अविद्या का विघातक है और अविद्या का नाश करते हुए उसका कार्य होने से अपना भी नाश कर देता है । तथा जो कोई इस आत्मा को देखता है वह भी आश्चर्य जैसा ही है -- इस प्रकार 'आश्चर्यवत्' कर्ता का भी विशेषण है । क्योंकि यह आत्मसाक्षात्कार करने वाला अविद्या और उसके कार्य के निवृत्त होने पर भी प्रारब्धकर्म की प्रबलता के कारण अविद्यावान् के समान ही व्यवहार करता है, सर्वदा समाधिनिष्ठ होते हुए भी व्युत्थित होता है और व्युत्थित होते हुए भी पुनः समाधि का अनुभव करता है -- इस प्रकार प्रारब्धकर्म की विचित्रिता के कारण विचित्र चरित्रवाला होता है और जिसका

दोषाः' (न्यायसूत्र, 1.1.8), अतः ये दोष इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपाय में पुरुष की प्रवृत्ति कराते हैं । निष्कर्ष यह है कि दूषित चित्तवृत्ति पुरुष ही आत्मा का ज्ञान न होने से शोकसन्तप्त होते हैं ।

190. 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (पाणिनिसूत्र, 5.1.115) अर्थात् तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय होता है, जो तुल्य है यदि वह क्रिया हो'-- इस सूत्र के अनुसार 'आश्चर्यवत्' = आश्चर्येण अद्भुतेन (विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्-- अमरकोशः) तुल्यम् = 'आश्चर्य' शब्द से 'वति' प्रत्यय होकर 'आश्चर्य + वति → आश्चर्य + वत् → 'आश्चर्यवत्' निष्पन्न हुआ है ।

191. जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना 'अविद्या' का सामान्य लक्षण है । फलतः अविद्या अनेक प्रकार के विरुद्ध धर्मों की उत्पादिका होती है ।

192. जो जिस प्रकार की प्रतीति के योग्य न हो वह उसी प्रकार से प्रतीत होता हो, तो उसको आश्चर्यवत् प्रतीतिविषय कहते हैं ।

व्यञ्जकमाविद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपघ्नत्तत्कार्यतया स्वात्मानमप्युपहन्तीति । तथा यः कश्चिदेनं पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम् । यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तद्वानिव व्यहरति सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽत आश्चर्यवदेव भवति । तदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः ।

118 **एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जानाति स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासम्भवात्, जानंस्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु । व्युत्थितचित्तोऽपि परेण ज्ञातुमशक्यः । यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि लाभपूजाख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्षत्वान्न ब्रवीत्येव । कथंचित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह– आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य इति । यथा जानाति तथैव वदति । एनमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः । स चान्यः सर्वाज्ञजनविलक्षणः । न तु**

प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के कारण सभी लोगों के लिए स्पृहणीय होता है, अतः यह आश्चर्य जैसा ही होता है । इस प्रकार आत्मा, उसका ज्ञान और उसका ज्ञाता - ये तीनों ही आश्चर्यरूप हैं । अतः इस परम दुर्विज्ञेय आत्मा को तुम अनायास ही कैसे जान सकते हो - यह अभिप्राय है[193]।

118 इसी प्रकार उपदेष्टा का अभाव होने से भी आत्मा दुर्विज्ञेय है, निश्चय ही जो आत्मा को जानता है वही उस आत्मा को दूसरे को निश्चयपूर्वक बता सकता है, क्योंकि अज्ञ तो उसका उपदेष्टा हो नहीं सकता । जो जानता है, जिसका चित्त समाहित = समाधिनिष्ठ = समाधि में स्थित है, वह तो प्रायः कहेगा कैसे ? और जो व्युत्थित चित्त है उसे दूसरा पहचान नहीं सकता । किसी प्रकार उसे पहचान भी लिया जाय तो वह लाभ, पूजा, ख्याति आदि प्रयोजनों की अपेक्षा नहीं होने के कारण बोलता ही नहीं है । किसी प्रकार करुणामात्र से वह बोलता भी है तो वह परमेश्वरवत् दुर्लभ ही होता है । यही भगवान् कहते हैं - 'कोई अन्य इस आत्मा को आश्चर्य-सा कहता है' इत्यादि । जैसा जानता है वैसा ही कहता है । 'एनम्' पद को प्रथम चरण से खींचने के लिए दूसरे चरण में 'चकार' का प्रयोग हुआ है । वह 'अन्य' समस्त अज्ञजनों से विलक्षण होता है । किन्तु जो आत्मा को देखता है उससे अन्य = भिन्न नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो व्याघातदोष[194] होगा । यहाँ भी 'आश्चर्यवत्' इस

193. इस श्लोक के 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' वाक्य के 'आश्चर्यवत्' शब्द की कर्त्ता, कर्म और क्रिया - तीनों के साथ योजना कर मधुसूदन सरस्वती ने इस वाक्य के तीन अर्थ किए हैं - 'कश्चिदाश्चर्यवत् एनं पश्यति' ऐसी वाग्योजना से दर्शन के 'कर्म' आत्मा में आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत है । 'कश्चिदेनं आश्चर्यवत्पश्यति' ऐसी वाग्योजना से दर्शन 'क्रिया' में आश्चर्यवत्त्व अभिप्रेत है । तथा 'आश्चर्यवत्कश्चिदेनं पश्यति'- इस वाग्योजना से दर्शन के 'कर्ता' में आश्चर्यवत्त्व इष्ट है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से व्युत्पन्न 'वति' प्रत्ययान्त का क्रिया के ही साथ सम्बन्ध होता है, अन्यत्र नहीं । तो फिर यहाँ कर्ता आदि अक्रिया में 'वति' प्रत्ययान्त का अन्वय कैसे किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ भी अवस्थान आदि क्रिया का अध्याहार करके 'आश्चर्यवत् अवस्थितं आत्मानम्' = आश्चर्यवत् अवस्थित आत्मा इत्यादि यथायोग क्रियासम्बन्ध समझना चाहिए ।

194. तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को देखता है उससे अन्य = भिन्न हुआ जो आत्मा को नहीं देखता है, और यदि जिसने आत्मा को नहीं देखा है उसे ही यहाँ 'अन्य' शब्द के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो यह अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि जिसने आत्मा को नहीं देखा है वह आत्मा के विषय में कह ही क्या सकता है, आत्मा को कह ही वह सकता है जो आत्मा को देख चुका होता है, अतः ऐसी स्थिति में स्ववदतोव्याघात दोष होगा । इसलिए यहाँ जो आत्मा को देखता है वही 'अन्य' है, उससे अन्य = भिन्न नहीं है ।

यः पश्यति ततोऽन्य इति व्याघातात् । अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम् । तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्रागाश्चर्यवत्त्वं व्याख्यातं क्रियायास्तु व्याख्यायते । सर्वशब्दावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं तदाश्चर्यवत् । तथा च श्रुतिः-- 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति । केनापिशब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणया कल्पितसम्बन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनं तदपि निर्विकल्पसाक्षात्कार-रूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः ।

विशेषण की कर्म, क्रिया और कर्ता -- तीनों के साथ ही योजना कर लेनी चाहिए । इनमें से कर्म और कर्ता के आश्चर्यवत्त्व की व्याख्या पूर्व में कर चुके हैं, अब क्रिया के आश्चर्यवत्त्व की व्याख्या की जाती है । सम्पूर्ण शब्दों के अवाच्य शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में कहे गए जो वचन हैं वे भी आश्चर्यवत् ही हैं । इसी प्रकार 'जहाँ से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' - यह श्रुति भी कहती है । किसी भी शब्द से अवाच्य शुद्ध आत्मा का जहदजहत्स्वार्थलक्षणा[195] के द्वारा विशिष्ट शक्त पद = विशिष्ट वाचक शब्द के कल्पित सम्बन्ध से लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के बिना ही प्रतिपादन किया जाता है, वह भी निर्विकल्पक साक्षात्काररूप होता है, यह अत्यन्त आश्चर्य ही है - ऐसा इसका तात्पर्य है ।

195. शब्दवृत्ति शक्ति और लक्षणा के भेद से दो प्रकार की होती है । ईश्वर की इच्छा, अथवा वाच्य-वाचक का तादात्म्य सम्बन्ध अथवा पदार्थ-बोध का हेतु = सामर्थ्य 'शक्ति' है । जिस अर्थ में पद की शक्ति हो, वह अर्थ उस पद का 'शक्य' कहलाता है । पद के शक्य से सम्बन्ध को 'लक्षणा ' कहते हैं, इसलिए पद की परम्परा-सम्बन्धरूप 'लक्षणा' होती है, क्योंकि पद का साक्षात् सम्बन्ध तो शक्य से होता है और उस शक्य का लक्ष्य से सम्बन्ध होता है, इसीलिए पद का शक्य द्वारा सम्बन्ध होने से परम्परा सम्बन्धरूप 'लक्षणा-वृत्ति' कहलाती है । केवल-लक्षणा और लक्षित लक्षणा के भेद से लक्षणा दो प्रकार की होती है । जहाँ पद का शक्य से साक्षात् सम्बन्ध हो वहाँ तो 'केवल-लक्षणा' कही जाती है, जैसे - 'गंगायां घोषः' । जहाँ पद का शक्य से परम्परा-सम्बन्ध हो वहाँ 'लक्षित-लक्षणा कही जाती है, जैसे -' द्विरेफो रौति' । यहाँ 'द्विरेफ' पद का शक्य तो 'दो रेफ'= 'दो रकार' हैं, उन दो रेफों का लक्षणा द्वारा अवयविता-सम्बन्ध 'भ्रमर' पद में है और उस 'भ्रमर' पद की शक्ति-वृत्ति अपने वाच्य 'मधुप' में है । इस प्रकार 'द्विरेफ' पद का शक्य जो दो रेफ, उस दो रेफ का लक्ष्य जो 'भ्रमर'पद उसका शक्य जो 'मधुप ' उस मधुप में द्विरेफ का लक्षणाद्वारा परम्परा-सम्बन्ध होने से यह 'लक्षित-लक्षणा' कही जाती है । पुनः यह लक्षणा जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा भेद से तीन प्रकार की होती है । जहाँ शब्द अपने शक्यार्थ के विशेष्य और विशेषण - दोनों का त्याग कर लक्ष्यार्थ के बोधक होते हैं, वहाँ 'जहत्स्वार्थलक्षणा' कही जाती है, जैसे :- 'गंगायां घोषः', 'विषं भुङ्क्ष्व' । जहाँ शब्द अपने शक्यार्थ के विशेष्य-विशेषणों का परित्याग न करके अतिरिक्तलक्ष्यार्थ को बताता है, वहाँ 'अजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है, जैसे :- 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' । यहाँ 'काक' शब्द अपने शक्यार्थ के साथ दधिभक्षक बिडालादि-प्राणिमात्रपरक है, क्योंकि दधि-रक्षा में वक्ता का तात्पर्य है, काक से द्वेष नहीं है, अतः 'काक' शब्द की सभी दधि-उपघातकों में 'अजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है । जहाँ शब्द = विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषणांश का परित्याग कर मात्र विशेष्यांश का बोधक होता है, वहाँ 'जहदजहत्स्वार्थलक्षणा' होती है, जैसे :- 'सोऽयं देवदत्तः' । यहाँ 'सः' पदका 'तत्कालविशिष्ट' और 'अयम्' पद का 'एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है, परन्तु 'देवदत्त' परोक्ष और अपरोक्षरूप विरुद्ध उभयकालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता । अतः 'सः' और 'अयम्' - दोनों पद केवल देवदत्तरूप विशेष्य अर्थ के बोधक हैं अर्थात् दोनो पद केवल विशेष्यपरक हैं, स्वार्थपरक नहीं, अतः यहाँ 'जहदजहत्स्वार्थलक्षणा' है । इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' आदि अभेदबोधक वाक्यों में 'तत्' शब्द सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है और 'त्वम्' शब्द किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है । सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट्च चैतन्य का किञ्चिद्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य = अभेद संभव नहीं हो सकता, अतः विशेषणीभूत सर्वज्ञत्वादि और किञ्चिद्ज्ञत्वादि का परित्यागकर 'तत्' और 'त्वम्' - ये दोनों पद केवल विशेष्यपरक 'चैतन्य' मात्र के जहदजहत्स्वार्थलक्षणा से बोधक होते हैं । 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों में लाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तर के बोधक होते हैं, इसलिए उन शब्दों से निर्विकल्पक शाब्दबोध नहीं होता है । निर्विकल्पक शाब्दबोध से तात्पर्य है कि जो निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक होता है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लाक्षणिक शब्द स्वलक्ष्यतावच्छेदक विशिष्टार्थान्तर के बोधक नहीं होते, अपितु निर्विकल्पक साक्षात्काररूप होते हैं, क्योंकि जिन शब्दों ने स्वप्रवृत्ति का त्यागमात्र किया, अर्थान्तर का ग्रहण नहीं किया, उनसे निष्प्रकारक व्यक्तिमात्रविषयक ही बोध होता है । यह अत्यन्त आश्चर्य ही है ।

119 अथवा विना शक्तिं विना लक्षणां विना सम्बन्धान्तरं सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत् , शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् । न च विना सम्बन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसम्बन्धस्यानेकसाधारणत्वात् । तात्पर्यविशेषान्नियम इति चेत्, न, तस्यापि सर्वान्प्रत्यविशेषात् । कश्चिदेव तात्पर्यविशेषमवधारयति न सर्व इति चेत्, हन्त तर्हि पुरुषगत एव कश्चिद्विशेषो निर्दोषत्वरूपो नियामकः । स चास्मिन्पक्षेऽपि न दण्डवारितः । तथा च यादृशस्य शुद्धान्तःकरणस्य तात्पर्यानुसन्धानपुरःसरं लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवद्भिरङ्गीक्रियते तादृशस्यैव केवलः शब्दविशेषोऽखण्डसाक्षात्कारं विनाऽपि सम्बन्धेन जनयतीति किमनुपपन्नम् । एतस्मिन्पक्षे शब्दवृत्त्यविषयत्वाद्यतो वाचो निवर्तन्त इति सुतरामुपपन्नम् । अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः—

'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः ।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विद्मस्तं मोहहानतः ॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः ।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्तेर्बोधिताः परैः ॥

119 अथवा, शक्ति= अभिधा शक्ति के बिना, लक्षणा के बिना और किसी दूसरे सम्बन्ध के बिना ही जो सोये हुए व्यक्ति को उठानेवाले वाक्य[196] के समान 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, वह आश्चर्य-जैसा ही है, क्योंकि शब्द की शक्ति तो अचिन्त्य है । सम्बन्ध के बिना उसके बोध होने में भी अतिव्याप्तिदोष[197] नहीं है, क्योंकि लक्षणा के पक्ष में भी समानता ही है, वहाँ भी शक्यसम्बन्धरूप हेतु साधारणरूप से अनेक में रहता है । यदि कहो कि वक्ता के तात्पर्यविशेष से वह नियमतः ही आत्मा का ही बोध कराती है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तात्पर्य भी सभी श्रोताओं के लिए अविशेष = अभिन्न = समान रहता है । यदि कहो कि उस तात्पर्यविशेष को कोई बिरला श्रोता ही समझ सकता है, सब नहीं, तब तो पुरुषगत ही कोई निर्दोषता-रूप विशेषता ही नियामक होती है, और उसे तो हमारे पक्ष में भी कोई दण्ड

196. वस्तुतः आत्मा असङ्ग है, अतः आत्मबोधक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में न शक्ति है, न लक्षणाग्रह है, न तात्पर्यादि वृत्तिग्रह है । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य 'सुषुप्तोत्थापक वाक्यवत्' हैं । जैसे - सुषुप्ति में निमग्न पुरुष को जगाने के लिए कोई उसका नामोच्चारण कर वाक्योच्चारण करता है - 'अये देवदत्त ! उत्तिष्ठ', इस पर वह सुषुप्त पुरुष जाग जाता है । यहाँ विचारणीय यह है कि वह सुषुप्त पुरुष उच्चारित वाक्य के शब्दों के सम्बन्धज्ञान से जागता है, अथवा शब्दसम्बन्धज्ञान के बिना ही जागता है । प्रथमपक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन स्वकारण में लीन रहता है, अतः सुषुप्ति में शब्दसम्बन्धज्ञान हो ही नहीं सकता सम्बन्धज्ञान के बिना ही शब्दमात्र अगृहीतसम्बन्ध सुषुप्तपुरुष को बोध कराता है । उसे जागने को बाध्य करता है । अन्यथा शब्दव्यापार से पूर्व भी जागरणापत्ति होगी । इसीप्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में प्रयुक्त शब्द भी अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक हैं ।

197. यदि कोई कहे कि शब्द तो स्वसम्बद्धार्थ का बोधक होता है, असम्बद्धार्थ का नहीं, अन्यथा एक ही शब्द से असम्बद्ध सभी अर्थों का बोध होगा, लोकमर्यादा भङ्ग होगी, अतिप्रसङ्ग = अतिव्याप्तिदोष होगा, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में लक्षणादि वृत्ति स्वीकार करनी ही जाहिए । तो इसका उत्तर है कि लक्षणा शक्यसम्बन्धवाली होती है, शक्यसम्बन्ध एक ही व्यक्ति में नहीं रहता, किन्तु अनेक व्यक्तियों में साधारण होता है, अतः वहाँ भी तो यह निर्णय नहीं हो सकता कि लक्षणा अमुक व्यक्ति में भी है, दूसरे व्यक्ति में नहीं । अतः 'सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्' 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य में शब्द अगृहीतात्मसंसर्गक ही आत्मबोधक है, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । फलतः वहाँ कोई अतिप्रसङ्ग जैसा दोष भी नहीं है ।

जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन ।
ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम् ॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत् ।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्' ॥

(बृह० वा० 1.4.860-63) इत्यादिना ग्रन्थेन ।

120 तदेवं वचनविषयस्य वक्तुर्वचनक्रियायाश्चात्याश्चर्यरूपत्वाददात्मनो दुर्विज्ञानत्वमुक्त्वा श्रोतुर्दुर्मिलत्वादपि तदाह–आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेदेति । अन्यो द्रष्टुर्वक्तुश्च मुक्ताद्विलक्षणो मुमुक्षुर्वक्तारं ब्रह्मविदं विधिवदुपसृत्यैनं शृणोति श्रवणाख्यविचारविषयीकरोति वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिश्चयेनावधारयतीति यावत् । श्रुत्वा चैनं मनननिदिध्यासनपरिपाकाद्वेदापि साक्षात्करोत्यपि आश्चर्यवत् । तथा चाऽऽश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमिति व्याख्यातम् । अत्रापि कर्तुराश्चर्यरूपत्वमनेकजन्मानुष्ठितसुकृतक्षालितमनोमलतयाऽतिदुर्लभत्वात् । तथा च वक्ष्यति--

से भी निवारित नहीं कर सकता । इसीप्रकार जिसप्रकार के शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषों को आप तात्पर्य के अनुसन्धानपूर्वक लक्षणा से महावाक्यार्थ का बोध स्वीकार करते हैं उसीप्रकार के पुरुष को केवल शब्दविशेष ही सम्बन्धज्ञान के बिना भी अखण्डसाक्षात्कार को उत्पन्न करता है - ऐसा स्वीकार करने में क्या अनुपपत्ति है ? इस पक्ष में शब्दवृत्ति का विषय न होने के कारण ही 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति भी सुतराम् उपपन्न है । और भगवान् के इस अभिप्राय को वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी इस प्रकार कहा है :- ''अविद्या के दुर्बल होने के कारण, आत्मा के बोधस्वरूप होने के कारण और शब्दशक्ति के अचिन्त्य होने के कारण हम उस आत्मा को मोह की निवृत्ति होने पर जान सकते हैं । सुषुप्ति में निमग्न पुरुष दूसरों के द्वारा नामोच्चारण या वाक्योच्चारण से जगाये जाने पर वाक्योक्त अभिधान और अभिधेय के सम्बन्ध को ग्रहण किए बिना ही निद्रा त्यागकर जाग ही जाते हैं, क्योंकि सुषुप्ति में कोई भी पुरुष जाग्रतकाल के समान शब्द को समझ नहीं सकता । अतः ज्ञान से अज्ञान के विध्वस्त = विनष्ट हो जाने पर 'मैं ब्रह्म हूँ'- यह फल होता है । फिर अविद्याघाती शब्द से जो 'मैं ब्रह्म हूँ' - ऐसी बुद्धि होती है वह भी अविद्या के साथ उसीप्रकार नष्ट हो जाती है जैसे औषधि रोग का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है'' (बृह० वा० 1.4.860-863), इत्यादि ।

120 इसप्रकार वचन = वाक्य के विषय = कर्म -- जिज्ञासित आत्मा, वक्ता और वचनक्रिया-- इन तीनों की आश्चर्यरूपता से आत्मा की दुर्विज्ञानता = दुर्विज्ञेयता कहकर श्रोता की दुर्लभता से भी उसको कहते हैं -- 'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद' इत्यादि । अन्य अर्थात् मुक्त दृष्टा और वक्ता से विलक्षण मुमुक्षु विधिपूर्वक ब्रह्मवेत्ता वक्ता के समीप पहुँचकर उस आत्मा को सुनता है = श्रवणनामक विचार को विषय बनाता है अर्थात् वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का निश्चय कर अवधारण करता है । और श्रवण करके मनन और निदिध्यासन के परिपाक[198] से भी इस आत्मा का साक्षात्कार करता भी है, यह आश्चर्यसा ही है । इसी प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' -- इस वाक्य की व्याख्या हो गई । इसमें भी जो कर्ता की आश्चर्यरूपता है वह अनेक जन्मों में अनुष्ठित सुकृतों के द्वारा क्षालित मनोमल = मनोगत रागद्वेषकामादि मलवाले दृष्टा-पुरुष की अत्यन्त दुर्लभता के कारण है । यही भगवान् स्वयं गीता में ही आगे कहेंगे --

198. तात्पर्य यह है कि आत्मबोध के लिए श्रवणादि के दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर = लगातार व्यवधानरहित सत्कारपूर्वक = श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक सेवन = अनुष्ठान से श्रवण-मननादि का परिपाक होता है, श्रवणादि के परिपाक से ही आत्मसाक्षात्कार होता है ।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० 7.3) इति ।
'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० 2.7)
इति श्रुतेश्च । एवं श्रवणश्रोतव्ययोराश्चर्यत्वं प्राग्वद्व्याख्येयम् ।

121 ननु यः श्रवणमननादिकं करोति स आत्मानं वेदेति किमाश्चर्यमत आह--न चैव कश्चिदिति । चकारः क्रियाकर्मपदयोरनुषङ्गार्थः । कश्चिदेनं नैव वेद श्रवणादिकं कुर्वन्नपि । तदकुर्वस्तु न वेदेति किमु वक्तव्यम् । 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० 3.4.51) इति न्यायात् । उक्तं च वार्तिककारैः --

'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥'
(बृह० वा० स० 294) इति ।

श्रवणादि कुर्वतामपि प्रतिबन्धपरिक्षयादेव ज्ञानं जायते । अन्यथा तु न । स च प्रतिबन्धपरिक्षयः कस्यचिद्भूत एव । यथा हिरण्यगर्भस्य । कस्यचिद्भावी । यथा वामदेवस्य । कस्यचित्वर्तते । यथा श्वेतकेतोः । तथा च प्रतिबन्धक्षयस्यातिदुर्लभत्वात् 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मृतेश्च दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेति निर्गलितोऽर्थः ।

'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धि के लिए = मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों = योगीयों में भी कोई एक ही मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वतः अर्थात् यथार्थरूप से जानता है' (गीता, 7.3) इत्यादि । इस अर्थ को "बहुतों के द्वारा जो श्रवण के लिए भी लभ्य नहीं है, और बहुत जिसें सुनते हुए भी नहीं समझते । उस आत्मतत्त्व का वक्ता = निरूपण करनेवाला कुशल आचार्य आश्चर्यरूप है और उस कुशल आचार्य से आत्मोपदेश पाकर इसे जान लेनेवाला = ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है"-- (कठ० 2.7) इत्यादि श्रुति भी कहती है । इसीप्रकार पूर्ववत् श्रवण = श्रवणक्रिया और श्रोतव्य = श्रवण के विषय की भी आश्चर्यरूपता की व्याख्या कर लेनी चाहिए ।

121 यदि यह कहो कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो द्रष्टव्यः' -- इस श्रुति से जो श्रवण, मनन आदि करता है वह आत्मा को जान ही लेता है, इसमें आश्चर्य क्या है ? तो भगवान् कहते हैं -- 'न चैव कश्चित्' । यहाँ 'च'कार क्रियापद-'वेद' और कर्मपद -- 'एनम्' -- इन दोनों पदों के सम्बन्ध के लिए है । अर्थात् कोई तो श्रवणादि करने पर भी इस आत्मा को नहीं ही जानता, फिर श्रवणादि न करने पर इसे कोई नहीं जानता -- इसमें तो कहना ही क्या है ? यह अर्थ 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' = 'यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित न हो तो इस जन्म में ही विद्यालाभ हो सकता है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है' (ब्र० सू० 3.4.51) -- इस न्याय से भी सिद्ध होता है । यही वार्तिककार ने भी कहा है -- "यदि कोई कहे कि वह ज्ञान कैसे होता है ? तो प्रतिबन्ध के क्षय से ही होता है । वह प्रतिबन्धक्षय भी या तो किसी का हो गया है, या किसी का होनेवाला है, अथवा किसी का हो रहा है' (बृह० वा० स० 294) इत्यादि । श्रवणादि करनेवालों को भी प्रतिबन्ध का परिक्षय होने से ही ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता । बह प्रतिबन्ध-परिक्षय किसी का तो हो ही गया है, जैसे --

122 यदि तु श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदित्येव व्याख्यायेत तदा 'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० 2.7) इति श्रुत्यैकवाक्यता न स्यात्, 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० 7.3) इति भगवद्वचनविरोधश्चेति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः । अथवा न चैव कश्चिदित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः कश्चिदेनं न पश्यति न वदति न शृणोति श्रुत्वाऽपि न वेदेति पञ्च प्रकारा उक्ताः कश्चित्पश्यत्येव न वदति कश्चित्पश्यति च वदति च कश्चित्तद्वचनं शृणोति च तदर्थं जानाति च कश्चिच्छ्रुत्वाऽपि न जानाति च कश्चित्तु सर्वबहिर्भूत इति । अविद्वत्पक्षे तु असम्भावनाविपरीतभावनाभिभूतत्वादाश्चर्यतुल्यत्वं दर्शनवदनश्रवणेष्विति निगदव्याख्यातः श्लोकः । चतुर्थपादे तु दृष्ट्वोक्त्वा श्रुत्वाऽपीति योजना ॥ 29 ॥

123 इदानीं सर्वप्राणिसाधारणभ्रमनिवृत्तिसाधनमुक्तमुपसंहरति –

हिरण्यगर्भ का । किसी का होनेवाला है, जैसे -- वामदेव का । और किसी का हो रहा है, जैसे -- श्वेतकेतु का । इस प्रकार प्रतिबन्धक्षय के अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण, तथा 'पुरुषों के पापकर्म का क्षय होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है' -- इस स्मृतिवाक्य से 'यह आत्मा दुर्विज्ञेय है' -- यह निष्कर्ष निकलता है ।

122 यदि 'श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्' -- इस वाक्य की व्याख्या इसप्रकार की जाय कि 'श्रवण करके भी इस आत्मा को कोई नहीं जानता' -- तो 'कुशल आचार्य से आत्मोपदेश पाकर इसे जानलेनेवाला = ज्ञाता आश्चर्यरूप है' (कठ० 2.7) -- इस श्रुति से इसकी एकवाक्यता नहीं होगी, और 'यत्न करनेवाले सिद्धपुरुषों में कोई एक ही मुझे तत्त्वतः जानता है, (गीता, 7.3) -- इस भगवद्वचन से भी विरोध होगा । अतः विद्वान् हमारे अविनय = अशिष्ट प्रयत्न के लिए क्षमा करें । अथवा, 'न चैव कश्चित्' इसका सर्वत्र = श्लोकस्थ सभी वाक्यों के साथ सम्बन्ध करना चाहिए; अर्थात् कोई इस आत्मा को न देखता है, न कहता है, न सुनता है, और सुनकर भी न जानता है । इसप्रकार यहाँ ये पाँच प्रकार कहे गए हैं :--(1) कोई देखता ही है कहता नहीं है, (2) कोई देखता भी है, कहता भी है, (3) कोई आत्मबोधक वचन = वाक्य को सुनता है और उसका अर्थ जानता है, (4) कोई सुनकर भी नहीं जानता है, और (5) कोई तो इन सभी बातों से वञ्चित रहता है । अविद्वत्पक्ष = सर्वबहिर्भूतपक्ष में तो असम्भावना[199] और विपरीतभावना[200] से अभिभूत होने के कारण आत्मदर्शन, कथन और श्रवण में आश्चर्यरूपता समानरूप से रहती है, अतः अविद्वत् पक्ष में बोलने मात्र से ही इस श्लोक की व्याख्या हो जाती है । चतुर्थपाद में तो 'देखकर, कहकर, और सुनकर भी' -- यह और जोड़ लेना चाहिए ।। 29 ।।

123 अब सभी प्राणियों में साधारणरूप से रहने वाले भ्रम की निवृत्ति का जो साधन कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं :--

---

199. असम्भावना से तात्पर्य है – अभेदासम्भावना = अभेद की असम्भावना अर्थात् अभेद की सम्भावना न होना । अज्ञान के कारण अविद्वान् की बुद्धि अभेदासम्भावना से अभिभूत रहती है । वह सोचता है कि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मूल है, जबकि जीव अल्पज्ञ, असर्वज्ञत्वादि से युक्त और परमात्मा के आश्रित है, अतः ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते । यही अभेदासम्भावना है ।

200. विपरीतभावना से तात्पर्य है -- विरुद्धभावना अर्थात् एकत्र विरुद्धस्वभाव की प्रतीति होना । अज्ञानी पुरुष की बुद्धि अज्ञान के कारण अद्वैत के स्थान पर द्वैतभावना और उसमें भी विपरीतभावना से अभिभूत रहती है । अज्ञानी कहता है कि जीव सदा ईश्वर से भिन्न है, अनेक है और स्वकर्मानुसार फल भोगता है, किन्तु ईश्वर इससे विपरीत है, -- इन दोनों का तम और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव है । इनका अभेद = अद्वैत असंभव है । यही विपरीतभावना है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 30 ॥

124 सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही लिङ्गदेहोपाधिरात्मा वध्यो न भवतीति नित्यं नियतं यस्मात्तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च भीष्मादिभावापन्नान्युद्दिश्य त्वं न शोचितुमर्हसि। स्थूलदेहस्याशोच्यत्वमपरिहार्यत्वात्, लिङ्गदेहस्याशोच्यत्वमात्मवदेवावध्यत्वादिति न स्थूलदेहस्य लिङ्गदेहस्याऽऽत्मनो वा शोच्यत्वं युक्तमिति भावः ॥ 30 ॥

125 तदेवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूपं सर्वप्राणिसाधारणमर्जुनस्य भ्रमं निराकर्त्तुमुपाधित्रय-विवेकेनाऽऽत्मस्वरूपमभिहितवान् । संप्रति युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूप-मर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनमसाधारणं भ्रमं निराकर्तुं हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावं बोधयति भगवान्--

[हे भारत[201] ! सभी प्राणियों के देह में विद्यमान लिङ्गदेहोपाधिक यह आत्मा नित्य = सर्वदा ही अवध्य है । अत: उन सभी स्थूल और सूक्ष्म भूतों के लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है ।। 30।।]

124 समस्त प्राणियों के देहों = शरीरों के मारे जाने पर भी यह देही अर्थात् लिङ्गदेह[202] = लिङ्गशरीर की उपाधि से उपहित = लिङ्गशरीरोपहित चैतन्य आत्मा वध्य नहीं होता = मारा नहीं जा सकता, यह क्योंकि नित्य = नियत = निश्चित है, अत: भीष्मादि के रूप में स्थित उन सभी स्थूल और सूक्ष्म भूतों के लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है । स्थूलदेह की अशोच्यता तो उसके विनाश की अपरिहार्यता के कारण है तथा लिङ्गदेह की अशोच्यता आत्मा के समान ही अवध्य होने के कारण है । अत: भाव यह है कि स्थूलदेह, लिङ्गदेह = सूक्ष्मदेह = सूक्ष्मशरीर अथवा आत्मा -- किसी की भी शोच्यता उचित नहीं है ।। 30 ।।

125 इसप्रकार, स्थूल और सूक्ष्म -- दोनों शरीर और उनकी कारण अविद्या -- इन तीन उपाधियों के अविवेक से मिथ्याभूत भी संसार में सत्यत्व, आत्मधर्मत्व आदि का प्रतिभास = अध्यास = मिथ्याज्ञान सभी प्राणियों में साधारण होता है, यही सर्वसाधारण भ्रम अर्जुन में भी है, अत: अर्जुन के सर्वसाधारण भ्रम का निराकरण करने के लिए उपाधित्रय का विवेचन कर आत्मा के स्वरूप को कहा । अब युद्धरूप स्वधर्म में हिंसा आदि की बहुलता से अधर्मत्व के प्रतिभासरूप अर्जुन के ही

201. भारत = भा + रत अर्थात् भा = ज्योति = आत्मज्योति = ब्रह्म, उसमें रत = भारत । भारत = अर्जुन आत्मज्ञान का अधिकारी है और भगवान् की कृपा से वह आत्मनिष्ठ भी होगा । अत: अर्जुन को साधारण पुरुषों = अविद्वत्पुरुषों = अज्ञानीपुरुषों के समान अनात्मदेहादि के विनाश के कारण शोक और मोह से अभिभूत नहीं होना चाहिए , यही सूचित करने के लिए यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधन किया गया है ।

202. मृत्यु के बाद जन्म से पूर्व जीव के कर्म-संस्कार जिस शरीर में रहते हैं, उसे 'सूक्ष्मशरीर' कहते हैं । सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर भी कहा जाता है, क्योंकि इससे प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन होता है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण -- इन सत्रह अवयवों से मिलकर 'सूक्ष्मशरीर' बनता है --'सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि' -- (वेदान्तसार) । यह शरीर सर्गादि से सर्गान्त तक एक ही रहता है । इसी का प्रत्येक स्थूल शरीर से सम्बन्ध 'जन्म' और उससे वियोग 'मरण' कहा जाता है । सूक्ष्म होने से क्षुद्र जन्तु-शरीर में भी इसका प्रवेश अनायास ही हो जाता है । स्थूलशरीर में इसका प्रवेश स्वकर्मफलभोग के लिए आवश्यक होता है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर से प्राणी भोग नहीं कर सकता । इसी सूक्ष्मशरीर = लिङ्गशरीर से उपहित चैतन्य आत्मा को 'देही' कहते हैं, अत: इस सूक्ष्मशरीर का नाश नहीं होता । फलत: सूक्ष्मशरीर और आत्मा -- दोनों ही अविनाशी हैं ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ 31 ॥

126 न केवलं परमार्थतत्त्वमेवावेक्ष्य किंतु स्वधर्ममपि क्षत्रियधर्ममपि युद्धापराङ्मुखत्वरूपमवेक्ष्य शास्त्रतः पर्यालोच्य विकम्पितुं विचलितुं धर्मादधर्मत्वभ्रान्त्या निवर्तितुं नार्हसि । तत्रैवं सति 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' इत्यादिना 'नरके नियतं वासो भवति' इत्यन्तेन युद्धस्य पापहेतुत्वं त्वया यदुक्तं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना च गुरुवधब्रह्मवधाद्यकरणं यदभिहितं तत्सर्वं धर्मशास्त्रापर्यालोचनादेवोक्तम् । कस्मात्, हि यस्माद्धर्म्यादपराङ्मुखत्वधर्मादनपेताद्युद्धा-दन्यत्क्षत्रियस्य श्रेयः श्रेयःसाधनं न विद्यते । युद्धमेव हि पृथिवीजयद्वारेण प्रजारक्षणब्राह्मण-शुश्रूषादिक्षात्रधर्मनिर्वाहकमिति तदेव क्षत्रियस्य प्रशस्ततरमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं पराशरेण--

---

करुणा आदि दोष से पूर्ण असाधारण भ्रम का निराकरण करने के लिए भगवान् हिंसा आदि से युक्त होने पर भी स्वधर्म होने के कारण युद्ध में अधर्मत्व का अभाव समझाते हैं :--
[स्वधर्म = अपना धर्म समझकर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है ॥ 31 ॥]

126 केवल परमार्थतत्त्व को ही देखकर नहीं, किन्तु युद्ध से पराङ्मुख न होना रूप स्वधर्म अर्थात् क्षत्रियधर्म को भी देखकर = शास्त्र से पर्यालोचना कर तुम्हारा कम्पित होना = विचलित होना अर्थात् धर्म में अधर्मत्व की भ्रान्ति से निवर्तित होना = पीछे लौटना उचित नहीं है । वहाँ -- पूर्व में ऐसा होने के कारण -- युद्ध से विमुख होने के कारण तुमने जो 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' (गीता, 1.38) इत्यादि श्लोक से लेकर 'नरके नियतं वासो भवति' (गीता, 1.44) इत्यादि तक के ग्रन्थ से युद्ध को पाप का कारण बताया है, तथा 'कथं भीष्ममहं संख्ये' (गीता 2.4) इत्यादि श्लोक से गुरुवध, ब्रह्मवध आदि न करने के लिए कहा है, वह सब भी धर्मशास्त्र की पर्यालोचना न करने के कारण ही कहा है । क्यों ? क्योंकि जो धर्म्य अर्थात् पराङ्मुख न होनारूप धर्म से अनपेत -- रहित नहीं है, किन्तु सहित ही है उस युद्ध से अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई श्रेय = श्रेय का साधन नहीं है । अभिप्राय यह है कि युद्ध ही पृथिवीजय के द्वारा प्रजारक्षण ब्राह्मणशुश्रूषा आदि क्षात्रधर्मों = क्षत्रियधर्मों के निर्वाह का कारण होता है, अतः वही क्षत्रिय के लिए विशेष प्रशंसनीय है । यही पराशर ने कहा है -- 'क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा करते हुए, हाथ में शस्त्र धारणकर कठोर दण्ड देते हुए, शत्रुओं की सेना को पराजित करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करना चाहिए' (पराशरस्मृति, 1.58) इत्यादि । मनु ने भी कहा है -- 'प्रजा का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम बलवाले शत्रुओं के बुलाने पर क्षात्र-धर्म का स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न हो । युद्ध से डरकर नहीं भागना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना -- ये राजा का परम कल्याण करनेवाले धर्म हैं' (मनुस्मृति, 7.88) इत्यादि । '' 'राजा' शब्द क्षत्रियजातिमात्र का वाचक है'' -- यह पूर्वमीमांसा के इष्टि - अधिकरण में निश्चित ही किया गया है । अतः यहाँ यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि 'यह भूमिपाल का ही धर्म है' । यहाँ उदाहृत वचनों में भी 'क्षत्रियो हि' और 'क्षात्रं धर्मम्' इत्यादि पद क्षत्रियमात्र के स्पष्ट लिङ्ग हैं । अतः क्षत्रिय के लिए युद्ध श्रेष्ठ धर्म है -- यह भगवान् ने ठीक ही कहा है । 'पशु तो गौ और अश्व ही हैं, गौ और अश्व से भिन्न अन्य प्राणी तो पशु ही नहीं है' -- इस प्रकार की प्रशंसा = स्तुति[203] के समान ही यह कहा

'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षञ्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इति ॥
(परा० स्मृ० 1.58)

मनुनाऽपि–

'समोत्तमाधमै राजा चाऽऽहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम्' ॥
(मनु० स्मृ० 7.87,88) इत्यादिना ।

राजशब्दश्च क्षत्रियजातिमात्रवाचीति स्थितमेवेष्ट्यधिकरणे । तेन भूमिपालस्यैवायं धर्म इति न भ्रमितव्यम् । उदाहृतवचनेऽपि क्षत्रियो हीति क्षात्त्रं धर्ममिति च स्पष्टं लिङ्गम् । तस्मात्क्षत्रियस्य युद्धं प्रशस्तो धर्म इति साधु भगवताऽभिहितम् । 'अपशवोऽन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' इतिवत्प्रशंसालक्षणया युद्धादन्यच्छ्रेयःसाधनं न विद्यत इत्युक्तमिति न दोषः । एतेन युद्धात्प्रशस्ततरं किंचिदनुष्ठातुं ततो निवृत्तिरुचितेति निरस्तम् । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्येतदपि ॥ 31 ॥

127 ननु युद्धस्य कर्तव्यत्वेऽपि न भीष्मद्रोणादिभिर्गुरुभिः सह तत्कर्तुमुचितमतिगर्हितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह--

गया है कि 'युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है , अत: इसमें कोई दोष नहीं है । इससे 'युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कार्य-युद्धभूमि से लौट जाना उचित है' तथा 'मैं युद्ध में अपने बन्धुओं को मारकर कोई श्रेय = कल्याण नहीं देखता हूँ' (गीता, 1.31), इत्यादि अर्जुनोक्त विचारकथन का भी निराकरण हो जाता है ।। 31 ।।

127. 'युद्ध क्षत्रिय का कर्त्तव्य है, यह तो ठीक है किन्तु भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनों के साथ युद्ध करना तो उचित नहीं है, क्योंकि यह अतिनिन्दित है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :--

203. ' स्तुति ' अविद्यमान गुणों के अरोप से ही होती है, विद्यमान गुणों के कथन से तो वस्तुतत्त्व ही सिद्ध होता है । यह स्तुति दो प्रकार की होती है -- अन्यत्र विद्यमान गुणों को अन्यत्र आरोपित करना प्रथम स्तुति है, जैसे -- किसी विद्वान् को बृहस्पति कहकर सम्बोधित करना । द्वितीय स्तुति है – किसी के आरोपित गुणों का अन्यत्र प्रतिषेध करना । जैसे – पशु तो गौ और अश्व ही हैं, गौ और अश्व से भिन्न अन्य प्राणी तो पशु ही नहीं है । यहाँ 'गौ और अश्व ही पशु है ' -- इस कथन से गौ और अश्व की प्रशंसा – स्तुति की गई है, किन्तु अन्य पशुओं में पशुत्व नहीं है, इसप्रकार का अर्थ प्रकाशित करने का यहाँ कोई उद्देश्य नहीं है । इसीप्रकार प्रकृत प्रसंग में 'क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का साधन नहीं है' -- ऐसा कहने से क्षत्रिय के लिए प्रतिषेध के व्याज से युद्ध -- प्रशंसा की गई है, किन्तु युद्ध के अतिरिक्त क्षात्रधर्म-प्रजापालन, ब्राह्मणसेवा इत्यादि धर्म का पालन नहीं करना चाहिए -- ऐसा कहने का यहाँ कोई उद्देश्य नहीं है । यह एक स्वधर्म में प्रवृत्ति के लिए उपयुक्त वचनशैली है ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। 32 ।।

128 यदृच्छया स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण, चोऽवधारणे, अप्रार्थनयैवोपस्थितमीदृशं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं कीर्तिराज्यलाभदृष्टफलसाधनं युद्धं ये क्षत्रियाः प्रतियोगित्वेन लभन्ते ते सुखिनः सुखभाज एव । जये सत्यनायासेनैव यशसो राज्यस्य च लाभात् । पराजये चातिशीघ्रमेव स्वर्गस्य लाभादित्याह--स्वर्गद्वारमपावृतमिति । अप्रतिबद्धं स्वर्गसाधनं युद्धमव्यवधानेनैव स्वर्गजनकं ज्योतिष्टोमादिकं तु चिरतरेण देहपातस्य प्रतिबन्धाभावस्य चापेक्षणादित्यर्थः । स्वर्गद्वारमित्यनेन श्येनादिवत्प्रत्यवायशङ्का परिहृता । श्येनादयो हि विहिता अपि फलदोषेण दुष्टाः, तत्फलस्य शत्रुवधस्य 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धस्य प्रत्यवायजनकत्वात्फले विध्यभावाच्च न 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायावतारः । युद्धस्य हि फलं स्वर्गः स च न निषिद्धः । तथा च मनुः--

[हे पार्थ ! बिना किसी प्रयत्न के ही प्राप्त हुआ स्वर्ग का खुला द्वाररूप ऐसा युद्ध तो सुखी क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है ।। 32 ।।]

128 यदृच्छया = यदृच्छा से ही अर्थात् अपने प्रयत्न के बिना ही । 'चकार' निश्चयार्थक है । अर्थात् बिना प्रार्थना के ही उपस्थित = प्राप्त हुआ ऐसा युद्ध, जिसमें भीष्म-द्रोण आदि वीर पुरुष प्रतियोगी = प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं तथा जो कीर्ति और राज्यलाभ = राज्यप्राप्तिरूप दृष्ट फलों का साधन है, जिन क्षत्रियों को प्रतियोगितया प्राप्त होता है वे तो सुखी = सुख के भागी ही हैं, क्योंकि जय = विजय होने पर तो अनायास ही यश और राज्य की प्राप्ति होगी और पराजय होने के कारण देहनाश हो तो अतिशीघ्र ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी, यही भगवान् ने 'स्वर्गद्वारमपावृतम्' से कहा है । अर्थात् प्रतिबन्धशून्य[204] स्वर्ग का साधनरूप युद्ध बिना किसी व्यवधान के ही स्वर्ग का जनक है । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ तो अत्यन्त विलम्ब से स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं, क्योंकि उनमें देहपात और प्रतिबन्ध के अभाव की अपेक्षा रहती है । 'स्वर्गद्वारम्' इससे श्येनयागादि[205] के समान प्रत्यवाय की शंका का भी

204. स्वर्गसाधन दो प्रकार के हैं – सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध । सप्रतिबन्ध ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं और अप्रतिबन्ध युद्ध है । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यविहित हैं, ये स्वर्ग के जनक हैं, किन्तु इनसे स्वर्ग की प्राप्ति विलम्ब से होती है, क्योंकि देह के विद्यमान रहते हुए अविलम्ब स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् प्रारब्ध-कर्माधीन देह की स्थिति ही ज्योतिष्टोम के फलस्वरूप स्वर्गप्राप्ति की प्रतिबन्धक होती है । देहपातोत्तर ही स्वर्गप्राप्ति होती है, अतः ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ सप्रतिबन्ध स्वर्ग-साधन हैं । युद्ध में क्षत्रिय की मृत्यु होने के साथ-साथ स्वर्ग की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रतिबन्धक तो देह होता है, उसका युद्ध में नाश ही हो जाता है, अतः देहपात के साथ ही स्वर्गप्राप्ति भी अविलम्ब हो जाती है, इसीलिए युद्ध अप्रतिबन्ध स्वर्गसाधन है ।

205. श्येनयाग शास्त्रविहित है, किन्तु नरक का कारण है, क्योंकि इसमें शत्रुबधरूप हिंसा होती है । श्येनयाग स्वतः दुष्ट नहीं है, किन्तु इसका फल'शत्रुवध '-- दुष्ट होने से यह फलदोष से दुष्ट है । ' शत्रुवधकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत' -- इस वाक्य से श्येनयाग मात्र विहित है, शत्रुवधरूप फल नहीं । अतः इसमें हिंसा होने से पाप होता है, जो नरक का कारण है । दूसरी ओर युद्ध क्षत्रिय के लिए शास्त्रविहित है, और उसका फल'स्वर्गप्राप्ति' कहीं भी निषिद्ध नहीं है, अतः युद्ध हिंसात्मक होने पर भी पापजनक नहीं है । यदि कोई कहे कि श्येनयाग में निषिद्ध हिंसा होने से पाप होता है तो युद्ध में निषिद्ध हिंसा होने से पाप क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर हैं कि जहाँ हिंसा होने से अनिष्ट की प्राप्ति अधिक हो, जिसका फल दुःख ही हो, वहाँ हिंसा पापजनक होती है, किन्तु जहाँ हिंसा होने से अनिष्ट की प्राप्ति न हो, जिसका फल सुख ही हो तो वहाँ हिंसा पापजनक नहीं होती, जैसे युद्ध ।

**'आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' ॥
(मनु० स्मृ० 7.89) इति ॥**

129 युद्धं तु अग्नीषोमीयाद्यालम्भवद्विहितत्वान्न निषेधेन स्प्रष्टुं शक्यते षोडशिग्रहणादिवत् । ग्रहणाग्रहणयोस्तुल्यबलतया विकल्पवत्सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण संकोचसंभवात् । तथा च 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायाद्युद्धं न प्रत्यवायजनकं नापि भीष्मद्रोणादिगुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तो दोषः, तेषामाततायित्वात् । तदुक्तं मनुना–

परिहार किया गया है । श्येनयागादि विहित होने पर भी फलदोष से दूषित कहे गए हैं, क्योंकि 'किसी प्राणी की हिंसा न करे' 'ब्राह्मण का वध न करे' इत्यादि शास्त्र से निषिद्ध श्येनयागादि का शत्रुवधरूप फल प्रत्यवाय का जनक है; और श्येनयागादि के फल के लिए कोई विधि नहीं है, अतः यहाँ 'जहाँ विधि [206] का स्पर्श होता है वहाँ निषेध[207] का अवकाश नहीं रहता' इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं है । युद्ध का फल तो स्वर्ग है और वह निषिद्ध भी नहीं है । मनु भी यही कहते हैं--

"जो राजा परस्पर एक दूसरे का संहार करने की इच्छा से युद्धों में अपार शक्तिपूर्वक युद्ध करते हैं और उससे विमुख नहीं होते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं" -- (मनुस्मृति, 7.89) इत्यादि ।

129 युद्ध तो अग्निषोमीयादि यज्ञों की हिंसा = आलम्भ के समान विहित होने के कारण षोडशिग्रहण आदि के समान निषेध से स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि षोडशी के ग्रहण और अग्रहण में समान बल होने से विकल्प रहने कारण ग्रहणरूप सामान्य शास्त्र का अग्रहणरूप विशेष शास्त्र से संकोच होना सम्भव है[208] । इसीप्रकार 'विधि का स्पर्श रहने पर निषेध का अवकाश नहीं रहता' इस न्याय से भी युद्ध प्रत्यवाय (पाप) का जनक = कारण नहीं है । इसके अतिरिक्त, भीष्म-द्रोण आदि गुरु-ब्राह्मणादि का वध करने से भी कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वे आततायी हैं । आततायी के विषय में मनु ने कहा भी है --

206. वेद के उस भाग को 'विधि' कहा जाता है जो लौकिक प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थों का विधान करती है -- 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' । उदाहरण के लिए 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस वाक्य को विधि कहा जाता है । विधि को सुनकर व्यक्ति में यागादि के अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । जिसमें पुरुष की प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती, उसमें प्रवृत्ति कराने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है । फल में पुरुष की स्वतः प्रवृत्ति होती है, अतः उसमें प्रवर्तक विधि की आवश्यकता नहीं होती ।

207. 'निषेध' ऐसे वाक्य को कहते हैं जो पुरुष को अनर्थकारणभूत क्रिया के करने से रोकता है -- 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः' । विधिवाक्य किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जबकि निषेधवाक्य पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है, जबकि निषेध वाक्य निवर्तना ।

208. अभिप्राय यह है कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' अर्थात् 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करे' -- यह सामान्य शास्त्र है और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' अर्थात् 'अग्नि और सोम के लिए पशु की हिंसा करनी चाहिए' – यह एक विशेष शास्त्र है । जिस प्रकार अतिरात्र यज्ञ में षोडशीरूप यज्ञपात्र विशेष का ग्रहण तथा अग्रहण – 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' -- दोनों ही शास्त्र में विकल्परूप से विहित हैं, दोनों के समानबल होने के कारण किसी का भी इच्छानुसार अनुष्ठान किया जा सकता है । कहाँ ग्रहण करना चाहिए और कहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह विधि के अन्तर्गत दूसरे वाक्य की पर्यालोचनाकर समझ लेना चाहिए । उसीप्रकार विशेष शास्त्र से सामान्य शास्त्र का संकोच होना चाहिए । सामान्यशास्त्र और विशेष शास्त्र -- दोनों ही स्थलभेद के अनुसार प्रमाण हैं -- कोई भी अप्रमाण नहीं हैं । इन दोनों में सामंजस्य करने के लिए यही कहना होगा कि अग्निषोमीयादि

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥
(मनु० स्मृ० 8.350-51) इत्यादि ।

130 ननु--'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' ॥ (याज्ञ० 2.21)
इति याज्ञवल्क्यवचनादाततायिब्राह्मणवधेऽपि प्रत्यवायोऽस्त्येव । 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इति हि दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वाद्धर्मशास्त्रम्, 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत्' इति च स्वजीवनार्थत्वादर्थशास्त्रम् ।

"गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो, ब्राह्मण हो, अथवा बहुश्रुत हो; आततायी को तो आते ही बिना विचार किए ही अर्थात् तत्काल ही मारना चाहिए । अपने को मारने की इच्छा से आए हुए वेदान्त-पारगामी आततायी को भी मारने का ही निश्चय करे । ऐसा करने से ब्रह्मघाती नहीं होता । आततायी को मारने से मारनेवाले को कोई दोष नहीं होता ।"[209] -- (मनुस्मृति, 8.350–351) इत्यादि ।

130 शंका -- 'दो स्मृतियों का विरोध होने पर व्यवहार से न्याय बलवान् होता है । अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र अधिक बलवान् होता है -- ऐसी स्थिति है' (याज्ञ० 2.21) -- इस याज्ञवल्क्य के वचन के अनुसार आततायी ब्राह्मण को मारने में भी प्रत्यवाय = दोष है ही । क्योंकि 'ब्राह्मण का वध न करे' -- यह किसी दृष्टप्रयोजन की अपेक्षावाला न होने से धर्मशास्त्र है, और 'जो मारने की इच्छावाला हो उसे मारने का ही निश्चय करे, ऐसा करने से ब्रह्मघाती नहीं होता' -- यहाँ अपने जीवन का प्रयोजन रहने से यह अर्थशास्त्र है ।

विहित स्थल के अतिरिक्त दूसरे अविहित स्थल में ही हिंसा अनर्थकारिणी होने के कारण निषेध है । इसके अतिरिक्त सामान्यविधि से विशेष विधि बलवान् होती है । इस न्याय से भी 'मा हिंस्यात्' सामान्यविधि की अपेक्षा 'अग्निसोमीयं पशुमालभेत' – विशेष विधि बलवान् है । अतः विशेषविधि से सामान्यविधि बाधित होने के कारण हिंसा साधारणतः अधर्म होने के कारण प्रत्यवायजनक होने पर भी विशेषस्थल में अर्थात् अग्निषोमीयादि यज्ञ में अथवा क्षत्रिय के लिए युद्धादि विषयों में धर्मरूप में विहित होने के कारण प्रत्यवायजनक नहीं होती । इसलिए वेदान्तदर्शन में कहा गया है -- 'अशुद्धमिति चेत् न शब्दात् – (वेदान्तसूत्र 3.1.25) अर्थात् यज्ञादि कर्म हिंसाबहुल होने के कारण अशुद्ध = पापजनक है – ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह शास्त्र विहित है ।

209. यहाँ ------------ "गुरुं वा बालबृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥" मनुस्मृति, 8.350-351

यह मनुस्मृति है । तथा --
"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयात्र तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

इत्यादि तो अर्थशास्त्र है ।

131 अत्रोच्यते-- 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इतिवद्युद्धविधायकमपि धर्मशास्त्रमेव 'सुखदु:खेसमे कृत्वा' इत्यत्र दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । याज्ञवल्क्यवचनं तु दृष्टप्रयोजनोद्देश्यककूटयुद्धादिकृतवधविषयमित्यदोषः । मिताक्षराकारस्तु धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहिण एतदेवेति द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्याऽऽपस्तम्बेन विधानान्मित्रलब्ध्याद्यर्थशास्त्रानुसारेण चतुष्पाद्व्यवहारे शत्रोरपि जये धर्मशास्त्रातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत्परं वचनमेतदित्याह । भवत्वेवं न नो हानिः । तदेवं युद्धकरणे सुखोक्तेः 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव' इत्यर्जुनोक्तमपाकृतम् ॥ 32 ॥

132 ननु नाहं युद्धफलकामः 'न कांक्षे विजयं कृष्ण' 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' इत्युक्तत्वात्तत्कथं मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याकरणे दोषमाह—

131 समाधान -- यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'ब्रह्मा के उद्देश्य से ब्राह्मण का आलम्भन (वध) करे' इस विधि के समान युद्धविधायक भी धर्मशास्त्र ही है, क्योंकि 'सुखदु:खे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) इत्यादि श्लोक में भगवान् दृष्टप्रयोजन की अपेक्षा का अभाव भी कहेंगे । याज्ञवल्क्य वचन तो दृष्टप्रयोजन के उद्देश्य से किये जानेवाले कपट युद्धादि के द्वारा होनेवाले वध के विषय में है, अत: प्रकृत में ऐसा होने से कोई दोष नहीं है[210] । मिताक्षराकार तो कहते हैं -- 'धर्म और अर्थ का विरोध होने पर धर्म का अतिक्रमणकर जो अर्थ को ग्रहण करता है उसे यह करना चाहिए -- इस वाक्य में 'एतद् = यह' शब्द से परामृष्ट द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्त का आपस्तम्ब ने विधान किया है । इससे इस वचन का वही तात्पर्य जान पड़ता है कि मित्रलाभ आदि अर्थशास्त्र का अनुसरण करने से चारपाद[211] वाले व्यवहार में शत्रु की विजय होने पर भी धर्मशास्त्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ।' ऐसा ही हो, तो भी हमारी कोई हानि नहीं है । इस प्रकार भगवान् ने युद्ध करने में सुख कहकर 'हे माधव ! स्वजनों को ही मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?' इसप्रकार के अर्जुन के कथन का निराकरण किया है ।। 32 ।।

132 "मैं तो युद्ध के फल की इच्छा ही नहीं करता, यह मैं 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' (गीता, 1.32), 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' (गीता, 1.35) इत्यादि वाक्यों से पहले ही कह चुका हूँ, तो फिर मुझे युद्ध क्यों करना चाहिए" -- इसप्रकार की अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् युद्ध न करने में दोष कहते हैं --

210. तात्पर्य यह है कि दृष्ट = लौकिक प्रयोजन की सिद्धि ही जिसका उद्देश्य है अर्थात् राज्य की प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है ऐसे कूटयुद्ध में यदि ब्राह्मणवध किया जाय तो ब्रह्महत्या से पाप होगा क्योंकि वह धर्मयुद्ध नहीं है, किन्तु यदि किसी फल की आकांक्षा न कर केवल कर्तव्य के बोध से युद्ध किया जाय तो उसप्रकार के युद्ध में यदि कोई ब्राह्मण आततायी के रूप में उपस्थित हो तो उसका वध करने से कोई पाप नहीं होगा, क्योंकि ऐसा युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्मशास्त्र द्वारा विहित है ।

211. बृहस्पति ने व्यवहार के चार पाद इसप्रकार कहे हैं --

"पूर्वपक्ष आद्यपादो द्वितीयश्चोत्तरो मतः ।
क्रियापादस्तथान्यश्च चतुर्थो निर्णयः स्मृतः ।।"

अर्थात् प्रथमपाद पूर्वपक्ष है, द्वितीयपाद उत्तरपक्ष है, तृतीय क्रियापाद = प्रमाणादि के द्वारा स्वमत स्थापित करना है, और चतुर्थ निर्णयपाद होता है । इन्हें क्रमशः पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्तपक्ष और निर्णयपक्ष कहा जाता है ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ 33 ॥

133 अथेति पक्षान्तरे । इमं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं धर्म्यं हिंसादिदोषेणादुष्टं सतां धर्मादनपेतामिति वा । स च मनुना दर्शित:--

'न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनै: ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ।
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्' ॥ (मनु० 7.90-93) इति ।

सतां धर्ममुल्लङ्घ्य युध्यमानो हि पापीयान्स्यात्, त्वं तु परैराहूतोऽपि सद्धर्मोपेतमपि सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि धर्मतो लोकतो वा भीत: परावृत्तो भविष्यसि चेत्ततो 'निर्जित्य परसैन्यानि

[यदि तुम इस धर्म्य = धर्मोपेत संग्राम को नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्ति को त्यागकर पाप को प्राप्त करोगे ॥ 33 ॥]

133 यहाँ 'अथ' शब्द पक्षान्तर में है। यदि तुम इस, जिसमें भीष्म-द्रोण आदि वीर पुरुष प्रतियोगी-प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभट हैं, धर्म्य = हिंसादि दोषों से अदूषित अथवा सत्पुरुषों के धर्म से अनपेत = युक्त संग्राम को नहीं करोगे तो ऐसे संग्राम के विषय में मनु ने स्पष्ट कहा है --

''रणभूमि में युद्ध करता हुआ कोई योद्धा कूटशस्त्र = बाहर में लकड़ी आदि तथा भीतर में घातक तीक्ष्णशस्त्र या लोहा आदि से युक्त शस्त्र; कर्णि के आकार वाला फल = बाण का अगला भाग, विषादि में बुझाये गये, अग्नि से प्रज्वलित अग्रभाग वाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे ।''

''रथपर बैठा हुआ योद्धा, भूमिपर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और 'मैं तुम्हारा हूँ' -- ऐसा कहते हुए शरणागत योद्धा को न मारे ।''

''सोये हुए, कवच से रहित, नग्न, शस्त्र से रहित, युद्ध नहीं करते हुए, केवल युद्ध को देखते हुए जैसे -- युद्धसंवाददाता आदि और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े हुए योद्धा को न मारे ।''

''अपने शस्त्र-अस्त्र के टूटने आदि से दु:खी, पुत्रादि के शोक से आर्त, अतिपरिक्षत, भीत और युद्ध से विमुख योद्धा को सज्जन क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करता हुआ कोई भी योद्धा न मारे ।'' (मनुस्मृति, 7.90,91,92,93) इत्यादि ।

जो व्यक्ति 'सतां धर्ममनुस्मरन्' इस मनुवाक्य से सत्पुरुषों = सज्जन क्षत्रियों के धर्म का उल्लंघन कर युद्ध करता है, वह पापी होता है । तुम भी यदि युद्ध के लिए शत्रुओं के द्वारा ललकारे जाने पर भी सत्पुरुषों के धर्म से युक्त भी इस संग्राम = युद्ध को नहीं करोगे = धर्म या लोक से भयभीत होकर युद्ध से विमुख हो जाओगे तो 'शत्रुओं की सेना को जीतकर धर्मानुसार पृथ्वी का पालन करे' इत्यादि शास्त्र से विहित युद्ध न करने के कारण स्वधर्म का त्याग करने से अर्थात् अनुष्ठान न करने से महादेव आदि के साथ युद्ध करने से प्राप्त अपनी कीर्ति का परित्याग कर

धर्मेण पालयेत्" इत्यादिशास्त्रविहितस्य युद्धस्याकरणात्स्वधर्मं हित्वाऽननुष्ठाय कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धसङ्ग्रामनिवृत्या च रणजन्यं पापमेव केवलमवाप्स्यसि न तु धर्मं कीर्तिं चेत्यभिप्रायः ।

134 अथवाऽनेकजन्मार्जितं धर्मं त्यक्त्वा राजकृतं पापमेवावाप्स्यसीत्यर्थः । यस्मात्त्वां परावृत्तमेते दुष्टा अवश्यं हनिष्यन्ति अतः परावृत्तहतः संश्चिरोपार्जितनिजसुकृतपरित्यागेन परोपार्जितदुष्कृतमात्रभाङ्मा भूरित्यभिप्रायः । तथा च मनुः–

"यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥
यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु" ॥ (मनुः 7, 94-95) इति ॥

याज्ञवल्क्योऽपि "राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्" इति ।

तेन यदुक्तं–

"पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।" (गी० 1.36)
"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।" (गी० 1.35)

इति तन्निराकृतं भवति ॥ 33 ॥

135 एवं कीर्तिधर्मयोरिष्टयोरप्राप्तिरनिष्टस्य च पापस्य प्राप्तिर्युद्धपरित्यागे दर्शिता । तत्र पापाख्यमनिष्टं व्यवधानेन दुःखफलदमामुत्रिकत्वात्, शिष्टगर्हालक्षणं त्वनिष्टमासन्नफलदमत्यसह्यमित्याह –

'संग्राम से पीछे न हटे' इत्यादि शास्त्र से निषिद्ध संग्रामनिवृत्ति से रणजन्य केवल पाप ही प्राप्त करोगे, धर्म और कीर्ति तुम्हें नही मिलेगी -- यह अभिप्राय है ।

134 अथवा, अनेक जन्मों में अर्जित धर्म को त्यागकर राजकृत = राजा युधिष्ठिर के कारण होने वाले पाप को ही प्राप्त करोगे -- यह अभिप्राय है । क्योंकि युद्ध से पराङ्मुख हुए तुमको ये दुष्ट अवश्य मार डालेंगे । अत: तात्पर्य यह है कि पराङ्मुख होकर मारे जाने पर अपने चिरसञ्चित सुकृतों का परित्यागकर दूसरे के द्वारा सञ्चित दुष्कृतों = पापों के ही भागी मत बनो । इसी प्रकार मनु भी कहते हैं --
"जो पुरुष भयवश युद्ध से पराङ्मुख हुआ शत्रुओं के द्वारा मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप होता है, उसे प्राप्त करता है ।"
"भयवश युद्ध से पराङ्मुख होने पर शत्रुओं से अभिहत योद्धा का परलोक के लिए उपार्जित जो कुछ पुण्य होता है वह सब उसके स्वामी को प्राप्त हो जाता है" (मनु स्मृति, 7,94-95) इत्यादि ।
याज्ञवल्क्य ने भी कहा है -- "युद्ध से विमुख होकर भागते हुए हत योद्धाओं का पुण्य राजा को प्राप्त होता है ।"
इससे अर्जुन ने जो कहा था -- 'हे मधुसूदन ! इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा, मैं तो इनके मारने पर भी इन्हें मारना नहीं चाहता' -- उसका निराकरण हो जाता है ॥ 33 ॥

135 इस प्रकार युद्ध का परित्याग करने में कीर्ति और धर्मरूप इष्ट की अप्राप्ति और पापरूप अनिष्ट की प्राप्ति दिखायी गयी । इसमें 'पापरूप अनिष्ट आमुत्रिक = पारलौकिक होने के कारण व्यवधान से अर्थात् देशान्तर तथा कालान्तर में दु:खस्वरूप फल देनेवाला है, किन्तु शिष्टगर्हास्वरूप अर्थात् शिष्ट

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ 34 ॥

136 भूतानि देवर्षिमनुष्यादीनि ते तवाव्ययां दीर्घकालमकीर्तिं न धर्मात्माऽयं न शूरोऽयमित्येवंरूपां कथयिष्यन्त्यन्योन्यं कथाप्रसङ्गे । कीर्तिधर्मनाशसमुच्चयार्थौ निपातौ । न केवलं कीर्तिधर्मौ हित्वा पापं प्राप्स्यसि अपि तु अकीर्तिं च प्राप्स्यसि । न केवलं त्वमेव तां प्राप्स्यसि अपितु भूतान्यपि कथयिष्यन्तीति वा निपातयोरर्थः ।

137 ननु युद्धे स्वमरणसंदेहात्तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या आत्मरक्षणस्यात्यन्तापेक्षितत्वात् । तथा चोक्तं शान्तिपर्वणि–

"साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युध्येत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

जनों में निन्दा होनारूप अनिष्ट तो आसन्न = अतिसंनिहित = तत्काल फलदेनेवाला होने से अत्यन्त असह्य होगा' – ऐसा भगवान् कहते हैं :--

[तथा समस्त प्राणी बहुत समय तक रहनेवाली तुम्हारी अपकीर्ति का भी कथन करेंगे, और संभावित = सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति तो मरण से भी बढ़कर होती है ॥ 34 ॥]

136 भूत अर्थात् देवर्षि = देवता और ऋषि, तथा मनुष्य आदि अथवा, देवर्षिनारदादि मनुष्य आदि प्राणी परस्पर कथाप्रसङ्ग में तुम्हारी अव्यया = दीर्घकाल तक रहनेवाली अपकीर्ति का कथन इसप्रकार करेंगे कि 'अर्जुन धर्मात्मा नहीं था, शूरवीर नहीं था' । यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में 'अपि' और 'च' -- ये दोनों निपात कीर्ति और धर्म -- इन दोनों के नाश के समुच्चायक हैं । अर्थात् केवल कीर्ति और धर्म को त्यागकर पाप को ही प्राप्त नहीं करोगे अपितु अकीर्ति को भी प्राप्त करोगे । अथवा, केवल तुम ही उस अकीर्ति = अपकीर्ति को प्राप्त नहीं करोगे अपितु समस्त प्राणी भी तुम्हारी अपकीर्ति का कथन करेंगे – निपातद्वय का यह अर्थ भी हो सकता है ।

137 'युद्ध में अपने मरण का संदेह रहता है, अतः उसके परिहार के लिए अर्थात् मरण से बचने के लिए अपकीर्ति भी सहनी चाहिए, क्योंकि आत्मरक्षण अत्यन्त अपेक्षित = आवश्यक होता है[212] । इसीप्रकार शान्तिपर्व में भी कहा गया है :--

"साम, दान और भेद -- इन तीनों उपायों से एक साथ या पृथक्-पृथक् एक-एक से शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे । युद्ध कभी न करें, क्योंकि युद्ध में युद्ध करनेवालों में विजय और पराजय अनित्य अर्थात् अनियत = अनिश्चित देखी जाती है । अतः युद्ध से बचना ही चाहिए । यदि

---

212. शंका का तात्पर्य यह है कि "जब युद्ध में स्वयं के मरण का ही संदेह रहता है तो मरण से अच्छा तो अपकीर्ति को सहन करना है, क्योंकि आत्मरक्षा करना अत्यन्त आवश्यक होता है – कहा भी है, "आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि" अर्थात् आत्मरक्षा तो दारा, धन आदि से निरन्तर करनी चाहिए । आत्मरक्षा तो जीवन का प्रधान कर्त्तव्य है । 'जीवन् नरो भद्रशतानि भुङ्क्ते' – इस न्याय से जीवन होगा तो कालान्तर में और देशान्तर में धर्म, कीर्ति का अर्जन किया जा सकता है । जीवन न रहने पर तो कुछ भी संभव नहीं है । अतः 'गुणप्रधानयोर्विरोधे गुणेत्वन्यायकल्पना' = प्रधान और गौण लक्ष्यों में विरोध होने पर गुणीभूत लक्ष्य को ग्रहण करना तो अन्याय ही होगा, फलतः प्रधान लक्ष्य 'आत्मरक्षण' ही प्रथम कर्त्तव्य है'। इस शंका का निराकरण ही भगवान् प्रकृत श्लोक के उत्तरार्ध में करते हैं ।

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत संयत्तो विजयेन रिपून्यथा" ॥ इति ॥

एवमेव मनुनाऽप्युक्तम् ।

तथा च मरणभीतस्य किमकीर्तिदुःखमिति शङ्कामपनुदति–संभावितस्य धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिरनन्यलभ्यैर्गुणैर्बहुमतस्य जनस्याकीर्तिर्मरणादप्यतिरिच्यतेऽधिका भवति । चो हेतौ । एवं यस्मादतोऽकीर्तेर्मरणमेव वरं न्यूनत्वात् । त्वमप्यतिसंभावितोऽसि महादेवादिसमागमेन । अतो नाकीर्तिदुःखं सोढुं शक्ष्यसीत्यभिप्रायः । उदाहृतवचनं त्वर्थशास्त्रत्वात् 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' (मनु० 7.87) इत्यादिधर्मशास्त्राद् दुर्बलमिति भाव : ॥ 34 ॥

138 ननूदासीना जना मां निन्दन्तु नाम भीष्मद्रोणादयस्तु महारथाः कारुणिकत्वेन स्तोष्यन्ति मामित्यत आह–

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ 35 ॥

139 कर्णादिभ्यो भयायुद्धान्निवृत्तं न कृपयेति त्वां मंस्यन्ते भीष्मद्रोणदुर्योधनादयो महारथाः । ननु ते मां बहु मन्यमानाः कथं भीतं मंस्यन्त इत्यत आह-येषामेव भीष्मादीनां त्वं बहुमतो बहुभिः

पूर्वोक्त तीनों ही उपाय सम्भव न हों, तो इसप्रकार युद्ध करे जिससे शत्रुओं पर संयत्तरूपेण = निश्चितरूपेण = अवश्य ही विजय प्राप्त कर सके" इत्यादि ।

ऐसा ही मनु ने भी कहा है । इसप्रकार मरण से भयभीत पुरुष के लिए अपकीर्ति ऐसा क्या दु:ख है ? -- इस शंका का भगवान् निराकरण करते हैं -- सम्भावित अर्थात् अन्यों के लिए = दूसरों के लिए अलभ्य = दुर्लभ धर्मात्मा, शूर आदि गुणों के कारण सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर होती है । यहाँ 'च' हेतु अर्थ में है । क्योंकि ऐसा है, अत: अपकीर्ति से मरण ही अच्छा है, क्योंकि इसमें न्यून = कम दु:ख है । महादेव आदि के साथ समागम होने के कारण तुम भी अत्यन्त संभावित = सम्मानित = बहुमत पुरुष हो । अत: तुम अपकीर्तिजनित दु:ख को सहन नहीं कर सकोगे -- यह अभिप्राय है । तुमने जो शान्तिपर्व के वचनों को उद्धृत किया है वे तो अर्थशास्त्र के होने के कारण 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' (मनुस्मृति 7.87) इत्यादि धर्मशास्त्र के वचनों से दुर्बल हैं -- यह भाव है ॥ 34 ॥

138 यदि अर्जुन कहे कि उदासीन लोग अर्थात् जिनका युद्ध से विशेष सम्बन्ध नहीं है वे लोग भले ही मेरी निन्दा करें, भीष्म-द्रोण आदि महारथी तो मेरी कारुणिकता के कारण स्तुति ही कहेंगे -- तो भगवान् कहते हैं ;--

[जिन भीष्मादि की दृष्टि में तुम बहुमत = सम्मानित हो वे ही महारथी तुमको भय के कारण रण = युद्ध से उपरत मानेंगे । अत: युद्ध से उपरत होकर तुम लघुता को प्राप्त होओगे ॥ 35 ॥]

139 भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि महारथी तुमको, कृपा से नहीं, कर्ण आदि के भय के कारण युद्ध से निवृत्त = उपरत मानेंगे । यदि कहो कि वे तो मेरा बहुत मान करते हैं, फिर मुझे भीत कैसे मानेंगे ? तो भगवान् कहते हैं -- जिन भीष्मादि की ही दृष्टि में तुम बहुमत हो अर्थात् 'यह अर्जुन बहुत से गुणों

गुणैर्युक्तोऽयमर्जुन इत्येवं मतस्त एव त्वां महारथा भयादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः । अतो भूत्वा युद्धादुपरत इति शेषः । लाघवमनादरविषयत्वं यास्यसि प्राप्स्यसि । सर्वेषामिति शेषः । येषामेव त्वं प्राग्बहुमतोऽभूस्तेषामेव तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसीति वा ॥ 35 ॥

140 ननु भीष्मादयो महारथा न बहु मन्यन्तां दुर्योधनादयस्तु शत्रवो बहु मंस्यन्ते मां युद्धनिवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यत आह –

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ 36 ॥

141 तवासाधारणं यत्सामर्थ्यं लोकप्रसिद्धं तन्निन्दन्तस्तव शत्रवो दुर्योधनादयोऽवाच्यान्वादान्वचनानर्हान्षण्ढतिलादिरूपानेव शब्दान्बहूननेकप्रकारान्वदिष्यन्ति न तु बहु मंस्यन्त इत्यभिप्रायः । अथवा तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्तीत्यन्वयः ।

से युक्त है' -- इसप्रकार माने जाते हो, वे ही महारथी तुमको भय के कारण उपरत मानेंगे -- यह अन्वय है । अत: युद्ध से उपरत होकर -- यहाँ 'भूत्वा' के पूर्व 'युद्धादुपरत:' -- इसका अध्याहार करना चाहिए -- सभी की दृष्टि में लाघव अर्थात् अनादर की विषयता को प्राप्त होओगे । यहाँ 'सर्वेषाम्' इस पद का अध्याहार होगा । अथवा, यह अर्थ करना चाहिए कि जिनकी ही दृष्टि में तुम पहले बहु सम्मानित थे उन्हीं की दृष्टि में वैसे होकर अर्थात् युद्ध से उपरत होकर तुम लाघव = अनादर के योग्य हो जाओगे ।। 35 ।।

140 यदि अर्जुन कहे कि 'भीष्मादि महारथी भले ही मेरा सम्मान न करें, दुर्योधनादि शत्रु तो मेरा मान करेंगे ही, क्योंकि युद्ध से निवृत्त होने के कारण मैं उनके लिए उपकारी होऊँगा', तो भगवान् कहते हैं --

[तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुमको बहुत से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे । उससे बढ़कर दु:ख और क्या होगा ? ।। 36 ।।]

141 तुम्हारा जो असाधारण सामर्थ्य लोक में प्रसिद्ध है उसकी निन्दा करते हुए तुम्हारे शत्रु दुर्योधन आदि तुमको बहुत-से = अनेक प्रकार के अवाच्य = न कहने योग्य वाद = वचन अर्थात् षण्ढतिल[213] आदि रूप शब्द कहेंगे, न कि वे तुम्हारा बहुत मान = सम्मान करेंगे -- यह अभिप्राय है । अथवा, श्लोक का इसप्रकार अन्वय करना चाहिए -- 'तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवद्वान्व दिष्यन्ति' -- अर्थात् तुम्हारे सामर्थ्य = तुम्हारी स्तुति -- योग्यता के लिए तुम्हारी निन्दा करने वाले शत्रु अवाच्य = न कहने योग्यवचन कहेंगे ।

---

213. षण्ढ: निष्फल: तिल: =षण्ढतिल: अर्थात् निष्फल-तिल = बिना तेलवाले तिल को षण्डतिल कहते हैं । इसके तिलपेज और तिलपिञ्ज – ये दो नाम भी हैं (तिलपिञ्जस्तिलपेजस्तथा षण्ढतिल: स्मृत: – हलायुधकोश, 2.583; द्वौ तिले तिलपेजश्च तिलपिञ्जश्च निष्फले – अमरकोश, 2.9.19) । इसे 'जर्तिल' भी कहते हैं (जर्तिल: कथ्यते सद्भिररण्यप्रभवस्तिल: – हलायुधकोश, 2.583) । यह जंगली तिल होता है और तैलहीन होता है, अत: निष्फल होता है । निष्फल होने के कारण यह निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, अवहेलनीय होता है, निन्दनीय होता है । यहाँ मधुसूदन सरस्वती के कथन का तात्पर्य यह है कि अर्जुन के युद्ध से निवृत्त होने पर उसे दुर्योधन आदि शत्रु षण्ढतिल के समान व्यर्थ ही समझेंगे, उसकी निन्दा ही करेंगे ।

142 ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः शत्रुकृतसामर्थ्यनिन्दनादिदुःखं सोढुं शक्ष्यामीत्यत आह-ततस्तस्मान्निन्दाप्राप्तिदुःखात्किं नु दुःखतरं ततोऽधिकं किमपि दुःखं नास्तीत्यर्थः ॥ 36 ॥

143 ननु तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थकृता निन्दा ततो निवृत्तौ तु शत्रुकृता निन्देत्युभयतःपाशा रज्जुरित्याशङ्क्य जये पराजये च लाभध्रौव्यायुद्धार्थमेवोत्थानमावश्यकमित्याह –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ 37 ॥

144 स्पष्टं पूर्वार्धम् । यस्मादुभयथाऽपि ते लाभस्तस्माज्जेष्यामि शत्रून्मरिष्यामि वेति कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ, अन्यतरफलसंदेहेऽपि युद्धकर्तव्यताया निश्चितत्वात् । एतेन 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यादि परिहृतम् ॥ 37 ॥

142 यदि अर्जुन कहे कि मैं तो भीष्म-द्रोण आदि के वध से होनेवाले अत्यन्त कष्टप्रद दुःख को न सह सकने के कारण युद्ध से निवृत्त होने पर शत्रुओं के द्वारा की गई अपने सामर्थ्य की निन्दा आदि से होनेवाले दुःख को सह ही सकूँगा, तो भगवान् कहते हैं -- ततः =उससे अर्थात् उस निन्दा-प्राप्ति के दुःख से बढ़कर दुःख और क्या होगा ? अर्थात् उससे अधिक दुःख कोई भी नहीं है[214] ॥ 36 ॥

143 'तब तो युद्ध में गुरु आदि का वध करने से मध्यस्थों द्वारा की गई निन्दा प्राप्त होगी और युद्ध से निवृत्त होने पर तो शत्रुओं द्वारा की गई निन्दा होगी ही -- इस प्रकार युद्ध करें, तो निन्दा, न करें, तो भी निन्दा -- यह स्थिति दोनों ओर पाश (फंदा) वाली रज्जु के समान है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् यह कहते हैं कि जय और पराजय -- दोनों ही में लाभ की ध्रुवता (निश्चितता) रहने के कारण युद्ध के लिए ही उत्थान = उठ खड़ा होना ही आवश्यक है --

[हे कौन्तेय ! मारे गए तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीतकर तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे । अतः युद्ध के लिए निश्चय करके उठ जाओ ॥ 37 ॥]

144 पूर्वार्ध तो स्पष्ट ही है । क्योंकि दोनों ही स्थितियों में तुम्हें लाभ है, अतः 'शत्रुओं को जीतूँगा अथवा युद्ध में मर जाऊँगा' -- ऐसा निश्चय करके युद्ध के लिए उठ जाओ, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक के फल के विषय में सन्देह होने पर भी युद्ध की कर्त्तव्यता ही निश्चित होती है । इससे 'हम तो यह भी नहीं जानते कि दोनों में से क्या श्रेष्ठ है, अथवा उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे, (गीता 2.6) -- इत्यादि अर्जुन की शंका का भी परिहार हो गया ॥ 37 ॥

कुछ विद्वानों ने 'षण्ढ-तिल' शब्द को षण्ढ और तिल – दो शब्दों के प्रयोग से अर्थ किया है कि अर्जुन के युद्ध से निवृत्त होने पर उसे दुर्योधन आदि शत्रु षण्ढ अर्थात् नपुंसक समझेंगे और तिल के समान अत्यन्त लघु समझेंगे । यह अर्थ तो औपचारिक (गौण) ही है। और फिर भगवान् पूर्व में ही अर्थात् गीता के द्वितीय अध्याय के तृतीय श्लोक में ही 'क्लैब्य' शब्द के प्रयोग से अर्जुन को नपुंसकता से सावधान कर ही चुके हैं, अतः यहाँ मधुसूदन सरस्वती को पुनः अर्जुन को नपुंसकता से सावधान करना अभीष्ट नहीं ही होगा ।

214. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है कि अर्जुन ! तुम्हें युद्ध करना ही चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह सब कुछ सहन कर सकता है, किन्तु अपने सामर्थ्य के लिए शत्रुओं द्वारा की गई निन्दा को सहन नहीं कर सकता है, यतः शौर्य, तेज तथा प्रभुत्वभाव क्षत्रिय के सहज कर्म होते हैं (गीता 18.43) । यदि तुम युद्ध से विरत होगे तो शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य के लिए अवाच्य शब्द कहेंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, उससे तुम्हें महान् दुःख होगा, उसे तुम स्वभाववश सहन ही नहीं कर सकोगे, अतः उस निन्दा--दुःख से बढ़कर दुःख कोई भी नहीं है ।

145 नन्वेवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य नित्यत्वव्याघातः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे त्वर्थशास्त्रत्वाद्धर्मशास्त्रापेक्षया दौर्बल्यं स्यात्, ततश्च काम्यस्याकरणे कुतः पापं दृष्टार्थस्य गुरुब्राह्मणादिवधस्य कुतो धर्मत्वं, तथा चाथ चेदितिश्लोकार्थो व्याहत इति चेत्तत्राऽऽह --

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ 38 ॥

146 समताकरणं रागद्वेषराहित्यम् । सुखे तत्कारणे लाभे तत्कारणे जये च रागमकृत्वा, एवं दुःखे तद्धेतावलाभे तद्धेतावजये च द्वेषमकृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवं सुखकामनां दुःखनिवृत्तिकामनां वा विहाय स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानो गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं नित्यकर्माकरणनिमित्तं च पापं न प्राप्स्यसि । यस्तु फलकामनया करोति स गुरुब्राह्मणादि--

145 यदि अर्जुन आशंका करे कि 'इसप्रकार तो स्वर्ग के उद्देश्य से युद्ध करने में युद्ध-कर्म की नित्यता का व्याघात होगा और राज्य के उद्देश्य से युद्ध करने में तो युद्ध-कर्म अर्थशास्त्र रूप होने से धर्मशास्त्र की अपेक्षा दुर्बल होगा । ऐसी स्थिति में इस काम्य कर्म के न करने से पाप कैसे हो सकता है ? और जिसका प्रयोजन मात्र ऐहिक राज्य-लाभ ही है उस दृष्टार्थ युद्ध में गुरु, ब्राह्मण आदि का वध धर्मरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रकार 'अथ चेत्' (गीता, 2.33) इत्यादि श्लोक के अर्थ की भी व्याहृति = असंगति ही सिद्ध होती है[215], तो भगवान् कहते हैं :--

[सुख-दु:ख, लाभ-हानि और जय-पराजय -- सबको समान समझकर = इनमें समता रखकर फिर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । ऐसा करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ 38 ॥]

146 समताकरण = समता रखने का अर्थ है -- राग-द्वेष से रहित होना । सुख, उसके कारण लाभ और उसके कारण जय में राग न करके; तथा दु:ख, उसके हेतु अलाभ और उसके हेतु अवजय = पराजय में द्वेष न करकें फिर युद्ध के लिए तैयार = युक्त = सन्नद्ध हो जाओ । इस प्रकार सुख की कामना और दु:ख--निवृत्ति की कामना को छोड़कर 'युद्ध मेरा धर्म है' -- ऐसी स्वधर्म बुद्धि से युद्ध करते हुए तुम्हें गुरु, ब्राह्मण आदि के वध से और नित्यकर्म न करने से होनेवाला पाप नहीं लगेगा[216] । जो पुरुष किसी फल की कामना से युद्ध करता है उसी को गुरु, ब्राह्मण आदि के वध से पाप लगता है और जो नहीं करता उसे नित्यकर्म न करने से पाप लगता है ।

215. यहाँ अर्जुन की ओर से की गई शंका का अभिप्राय यह है कि स्वर्ग के उद्देश्य से तो किया गया युद्ध-कर्म नित्यकर्म नहीं होगा, काम्य-कर्म होगा, क्योंकि फल के उद्देश्य से किया गया कर्म काम्य-कर्म ही होता है । कहा भी है –

"यत् किञ्चित् फलमुद्दिश्य यज्ञदानजपादिकम् ।
क्रियते कायिकं यच्च तत्काम्यं परिकीर्तितम् ॥"

काम्य-कर्म इच्छाधीन होता है, इसका यदि अनुष्ठान न भी करें, तो पुरुष को कोई पाप नहीं लगता । अत: प्रकृत युद्ध-कर्म = काम्य-कर्म न करने से पाप कैसे हो सकता है ? अर्थात् प्रकृत युद्ध न करने से पाप नहीं लगेगा । अपितु राज्यलाभार्थ प्रकृत युद्ध करने में गुरु, ब्राह्मण आदि का वध अवश्यंभावी होने से अधर्म ही होगा, धर्म कैसे होगा ? भगवान् जो कहते हैं कि 'प्रकृत धर्म्य संग्राम न करने से स्वधर्म को त्यागकर पाप लगेगा' – यह असंगत कथन ही है ।

216. भगवान् के कथन का तात्पर्य यह है कि फल की कामना को छोड़कर 'यह मेरा धर्म है' – ऐसी स्वधर्म बुद्धि से किया गया कर्म तो नित्य-कर्म ही होता है । प्रकृत युद्ध-कर्म 'युद्ध मेरा धर्म है' – ऐसी स्वधर्म बुद्धि से करने के लिए ही कहा जा रहा है, अत: प्रकृत धर्म्य युद्ध नित्य-कर्म ही है । इसे न करने से पाप लगेगा, क्योंकि नित्यकर्म न करने से पाप लगता है (नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि -- वेदान्तसार) । अत: प्रकृत युद्ध-कर्म =

वधनिमित्तं पापं प्राप्नोति यो वा न करोति स नित्यकर्माकरणनिमित्तम् । अतः फलकामनामन्तरेण कुर्वन्नुभयविधमपि पापं न प्राप्नोतीति प्रागेव व्याख्यातोऽभिप्रायः । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति त्वानुषङ्गिकफलकथनमिति न दोषः । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति – 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । अतो युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वाभावात् 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इत्यादि निराकृतं भवति ॥ 38 ॥

147 **ननु भवतु स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानस्य पापाभावः, तथापि न मां प्रति युद्धकर्तव्यतोपदेशस्तवोचितः, 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादिना 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' इत्यन्तेन विदुषः सर्वकर्मप्रतिक्षेपात् । नह्यकर्त्रभोक्तृशुद्धस्वरूपोऽहमस्मि युद्धं कृत्वा तत्फलं भोक्ष्य इति च ज्ञानं सम्भवति विरोधात् । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवात्प्रकाशतमसोरिव । अयं चार्जुनाभिप्रायो ज्यायसी चेदित्यत्र व्यक्तो भविष्यति । तस्मादेकमेव मां प्रति ज्ञानस्य कर्मणश्चोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, न, विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मोपदेशोपपत्तेरित्याह भगवान् –**

अतः फल की कामना के बिना युद्ध करने पर दोनों ही प्रकार का पाप नहीं लगता -- यह अभिप्राय पूर्व में ही कह चुके हैं । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'= 'मारे गए तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीत कर तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे' -- यह तो आनुषङ्गिक = प्रासंगिक फल[217] कहा गया है -- अतः कोई दोष नहीं है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी अपनी स्मृति में कहते हैं -- 'जिस प्रकार फल (आम) की प्रत्याशा से लगाए गए आम के वृक्ष से छाया और गन्ध स्वतः (आनुषङ्गिक रूप से) उत्पन्न होते ही हैं, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्म की कोई हानि नहीं होती ।' अतः युद्धशास्त्र में अर्थशास्त्रत्व न होने के कारण 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इत्यादि वाक्यों से की गई अर्जुन की शंकाओं का निराकरण हो जाता है ॥ 38 ॥

147 अच्छा, यही सही कि स्वधर्मबुद्धि से युद्ध करनेवाले को पाप नहीं लगता, तथापि आपका मुझे युद्ध की कर्त्तव्यता का उपदेश करना तो उचित नहीं है, क्योंकि 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' (गीता, 2.19) इत्यादि श्लोक से लेकर 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयन्ति हन्ति कम्' (गीता 2.21) तक के ग्रन्थ से आपने विद्वान् के लिए सभी प्रकार के कर्मों का प्रतिक्षेप = निराकरण किया है । 'मैं अकर्ता, अभोक्ता और शुद्धस्वरूप हूँ और युद्ध करके उसका फल भोगूँगा' -- इस प्रकार का ज्ञान तो परस्पर

नित्यकर्म करने से ही पाप नहीं लगेगा । नित्यकर्मानुष्ठान तो परम्परया तत्त्वज्ञान का कारण होता है । नित्यकर्मानुष्ठान से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पापनाश होता है, पापनाश से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से संसार की वास्तविकता का बोध होने पर वैराग्य, वैराग्य से मोक्षेच्छा और मोक्ष की आकांक्षा होने पर मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और इसका परिणाम समस्त कर्मों का त्याग है । इसके पश्चात् योगाभ्यास से चित्तवृत्ति आत्मनिष्ठ होती है । चित्तवृत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर जीव का अज्ञान-नष्ट हो जाने से मोक्षलाभ होता है (नैष्कर्म्यसिद्धि 1.52) । अतः नित्यकर्म तो अवश्यमेव अनुष्ठेय है । यही भावार्थ है ।

217. फल दो प्रकार का होता है – मुख्य और आनुषङ्गिक । जैसे – 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनं त्विति' अर्थात् तप्त पयस् = दूध में दधि मिश्रित करने पर दो परिणाम होते हैं – आमिक्षा = छेना और वाजिन = छेने का पानी । यहाँ मुख्य प्रयोजन 'आमिक्षा' ही है, वही सारवान् वस्तु है और 'वाजिन' आनुषङ्गिक फल है, यह निःसार है । इसीप्रकार प्रकृत युद्ध कर्म करने में मुख्य प्रयोजन तो स्वधर्मानुष्ठान ही है; स्वर्गप्राप्ति, राज्यलाभ आदि तो इसके आनुषङ्गिक फल हैं ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ 39 ॥

148 **एषा न त्वेवाहमित्याद्येकविंशतिश्लोकैस्ते तुभ्यमभिहिता सांख्ये सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत्तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्य औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः । तस्मिन्बुद्धिस्तन्मात्रविषयं ज्ञानं सर्वानर्थनिवृत्तिकारणं त्वां प्रति मयोक्तं नैतादृशज्ञानवतः क्वचिदपि कर्मोच्यते, तस्य कार्यं न विद्यत इति वक्ष्यमाणत्वात् । यदि पुनरेवं मयोक्तेऽपि तवैषा बुद्धिर्नोदेति चित्तदोषात्, तदा तदपनयेनाऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्काराय कर्मयोग एव त्वयाऽनुष्ठेयः । तस्मिन्योगे कर्मयोगे तु करणीयामिमां 'सुखदुःखे समे कृत्वा'**

विरुद्ध होने के कारण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकाश और तम के समान ज्ञान और कर्म का समुच्चय होना सम्भव नहीं है अर्थात् एक ही आत्मा में एक ही समय में अकर्तृत्वज्ञानविरोधी कर्तृत्वादिज्ञान का होना सम्भव नहीं है। अर्जुन का यह अभिप्राय 'ज्यायसी चेद्' (गीता, 3.1) इस श्लोक में अभिव्यक्त होगा। अत: मुझ एक ही को ज्ञान और कर्म-दोनों का उपदेश करना उचित नहीं है' -- ऐसी अर्जुन की आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्ति को विद्वदवस्था = ज्ञानावस्था और अविद्वदवस्था = अज्ञानावस्था के भेद से ज्ञान और कर्म -- दोनों का उपदेश करना उपपन्न हो सकता है। हाँ, एक ही समय में दोनों का प्रयोग नहीं हो सकता, यह ठीक है, किन्तु अवस्थाभेद से तो दोनों के अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं हो सकती -- यही भगवान् कहते हैं --

[हे पार्थ ! यह तो सांख्यसम्बन्धी बुद्धि = ज्ञान तुमको कहा गया, अब इस कर्मयोग सम्बन्धी विचार को सुनो, जिस बुद्धि = ज्ञान = विचार से युक्त होकर तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे ।। 39 ।।]

148 यह 'न त्वेवाहम्' इत्यादि इक्कीस श्लोकों से तुमको सांख्यसम्बन्धी बुद्धि = ज्ञान कहा गया । 'सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत्' अर्थात् जिसके द्वारा सभी उपाधियों -- कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि -- से शून्य परमात्मतत्त्व को सम्यक् रूप से ख्यात = प्रकाशित किया जाता है = प्रतिपादित किया जाता है, वह संख्या उपनिषत् है । उसी के द्वारा जो अपने तात्पर्य की परिसमाप्तिपूर्वक प्रतिपादित होता है, वह 'सांख्य' है अर्थात् वह औपनिषद पुरुष है । उसमें बुद्धि अर्थात् उसी से सम्बन्ध रखनेवाला जो सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति का कारणभूत ज्ञान है वह मैंने तुमको कहा है । एतादृश ज्ञानवान् पुरुष को कहीं भी कर्म करने के लिए नहीं कहा गया है, क्योंकि 'उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहता' -- ऐसा आगे (गीता, 3.10) कहा जायेगा । यदि इस प्रकार मेरे कहने पर भी चित्तदोष के कारण तुमको यह बुद्धि = ज्ञान उदित नहीं होता तो उस दोष की निवृत्ति द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए तुमको कर्मयोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए । उस योग अर्थात् कर्मयोग के सम्बन्ध में 'सुखदु:खे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) इस श्लोक में कही गई फलाभिसन्धि = फलाकांक्षा की त्यागरूपा अवश्यकरणीया उस बुद्धि = ज्ञान को अब आगे मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक कहे जाने पर सुनो । 'तु' शब्द पूर्वबुद्धि = सांख्यबुद्धि से योग की विषयता का व्यतिरेक सूचित करने के लिए है । इस प्रकार शुद्ध अन्त:करणवाले पुरुष को ज्ञान का उपदेश किया जाता है और अशुद्ध अन्त:करणवाले पुरुष को कर्म का उपदेश किया जाता है । ऐसी स्थिति में ज्ञान और कर्म -- इन दोनों के समुच्चय की शङ्का से विरोध का अवकाश कहाँ है ? -- यह अभिप्राय है ।

इत्यत्रोक्तां फलाभिसन्धित्यागलक्षणां बुद्धिं विस्तरेण मया वक्ष्यमाणां शृणु । तुशब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थः । तथा च शुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानोपदेशोऽशुद्धान्तःकरणं प्रति कर्मोपदेश इति कुतः समुच्चयशङ्कया विरोधावकाश इत्यभिप्रायः ।

149 **योगविषयां बुद्धिं फलकथनेन स्तौति - यया व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या कर्मसु युक्तस्त्वं कर्मनिमित्तं बन्धमाशयाशुद्धिलक्षणां ज्ञानप्रतिबन्धं प्रकर्षेण पुनः प्रतिबन्धानुत्पत्तिरूपेण हास्यसि त्यक्ष्यसि । अयं भावः – कर्मनिमित्तो ज्ञानप्रतिबन्धः कर्मणैव धर्माख्येनापनेतुं शक्यते 'धर्मेण पापमपनुदति' (महाना 13.6) इति श्रुतेः । श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्ध-रहितस्यासम्भावनादिप्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति न कर्मबन्धनिराकरणायोपदेष्टुं शक्यते । अतोऽत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वाद्बाहिरङ्गसाधनं कर्मैवत्वयाऽनुष्ठेयं, नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेति । तथा च वक्ष्यति – 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति । एतेन**

149 फलकथन द्वारा योगविषयिणी बुद्धि की स्तुति करते हैं -- जिस व्यवसायात्मिका बुद्धि से कर्मों में व्यापृत होकर तुम कर्मनिमित्तक आशय = चित्त= अन्तःकरण के अशुद्धिरूप बन्धन[218] को, जो ज्ञान का प्रतिबन्धक है, प्रकर्ष से अर्थात् पुनः प्रतिबन्ध की उत्पत्ति न हो -- इस प्रकार त्याग दोगे । भाव यह है कि कर्मनिमित्तक ज्ञान का प्रतिबन्धक धर्म-नामक कर्म से ही दूर किया जा सकता है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'धर्म से पाप को दूर करता' (महाना०, 13.6) । श्रवणादिरूप विचार तो कर्मात्मक प्रतिबन्ध से रहित पुरुष के असम्भावना[219] आदि प्रतिबन्धों को दृष्टरूप से ही दूर करता है, इसलिए कर्मबन्धन के निराकरण के लिए उसका उपदेश नहीं किया जा सकता[220] । अतः अत्यन्त मलिन अन्तःकरणवाले

218. कर्म से आशय उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त संस्कार युक्त होता है । यही चित्त की अशुद्धि है और यही अशुद्धि ही ज्ञान का प्रतिबन्धक होकर अज्ञानजनित संसारबन्धन का कारण होती है – ऐसे कर्मनिमित्तक बन्धन को संक्षिप्ताभिधानतात्पर्य से 'कर्मबन्ध' कहा है ।

219. परमात्मा या ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य = इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं है, अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त नहीं है । जो प्रत्यक्ष प्रमाणगत नहीं है उसके सम्बन्ध में अनुमान प्रमाण भी प्रयुक्त नहीं हो सकता । अतः किसी प्रकार से ब्रह्म का अनुभव सम्भव नहीं है – ऐसी भावना को प्रमाणगत 'असम्भावना' कहते हैं ।

220. तात्पर्य यह है कि आत्मसाक्षात्कारोत्पत्ति के प्रतिबन्धक दोष दो हैं – दृष्ट और अदृष्ट । दृष्ट दोष असम्भावनादि हैं । जिनकी निवृत्ति दृष्ट श्रवण-मनन आदि उपायों से होती हैं । 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-महावाक्यादि के श्रवण से ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में संसारनिवृत्ति होने पर प्रमाणगत असम्भावनादि दृष्टदोषों की निवृत्ति होती है । मनन से प्रमेयगत असम्भावना -- ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, यह सम्भव नहीं है – ऐसी भावना दूर हो जाती है और निदिध्यासन से विपरीत भावना -- जगत् सत्य है – की निवृत्ति होती है । अदृष्ट दोष पापादि हैं । जो अशुभ कर्मजन्य होते हैं, अतः उनकी निवृत्ति शुभकर्मजन्यपुण्यरूप अदृष्ट से होती है । जैसा कि श्रुति कहती है – 'धर्मेण पापमपनुदति' इति । अदृष्ट दोष की निवृत्ति के लिए दृष्ट श्रवणादि उपायों का उपदेश नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी निवृत्ति के वे साधन ही नहीं है । यही मधुसूदन सरस्वती के कहने का अभिप्राय है । किन्तु आचार्य धनपति अपनी 'भाष्योत्कर्षदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती के प्रकृत कथन को उचित नहीं मानते । उनके अनुसार 'कर्म' पद स्वर्ग और नरकादि के साधन पुण्य और पाप का प्रतिपादक है, अन्तःकरणदोष का नहीं । कर्म का पुण्य और पाप व्यापक अर्थ है अन्तःकरणदोष तो व्याप्य अर्थ है । व्यापक अर्थ को ग्रहण न करके व्याप्य अर्थ को ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । इसीप्रकार 'बन्ध' शब्द का प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । यदि 'कर्म' और 'बन्ध' -- इन दोनों पदों का मधुसूदन सरस्वती कृत अर्थ ग्रहण करेंगे तो वे दोनों 'कर्म' और 'बन्ध' -- लाक्षणिक शब्द स्वीकार करने होंगे, क्योंकि सामान्यवाची शब्दों का विशेष अर्थ-ग्रहण करने में लक्षणा ही से प्रयोग होता है । अभिधा से उपपत्ति हो रही हो तो लक्षणा वृत्ति का आश्रयण उचित नहीं

सांख्यबुद्धेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणादि विहाय बहिरङ्गसाधनं कर्मैव भगवता किमित्यर्जुनायोपदिश्यत इति निरस्तम् । कर्मबन्धं संसारमीश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्या प्रहास्यसीति प्राचां व्याख्याने त्वध्याहारदोषः कर्मपदवैयर्थ्यं च परिहर्तव्यम् ॥ 39 ॥

150 ननु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृह० 4.4.22) इति श्रुत्या विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन सर्वकर्मणां विनियोगात्तत्र चान्तःकरण-

होने के कारण तुमको बहिरङ्ग साधन[221] कर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए । अभी तो तुममें श्रवणादि की योग्यता भी उत्पन्न नहीं हुई है, ज्ञान की योग्यता तो बहुत दूर है । ऐसा ही 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता, 2.47) इत्यादि श्लोक से भगवान् आगे भी कहेंगे । इससे यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि भगवान् ने अर्जुन को सांख्यबुद्धि के अन्तरङ्ग साधन श्रवणादि को छोड़कर बहिरंग साधन कर्म का ही उपदेश क्यों किया ? 'ईश्वरप्रसादजनित ज्ञानप्राप्ति के द्वारा कर्मबन्ध-संसार से मुक्त हो जायेगा' -- ऐसी प्राचीन आचार्यों की व्याख्या में अध्याहार दोष[222] और कर्मपद की व्यर्थता[223] का परिहार कर लेना चाहिए ॥ 39 ॥

150 ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' अर्थात् 'ब्राह्मण उस इस ब्रह्म को वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृह० 4.4.22)-- इस श्रुति से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान -- इन दोनों के उद्देश्य से संयोगपृथक्त्वन्याय[224] से यज्ञदानादि

होता । अतः 'कर्म' और 'बन्ध' – पदों का मधुसूदन सरस्वतीकृत अर्थ उचित नहीं है । तथा यह जो कहा है कि दृष्ट असम्भावनादि दोष दृष्ट श्रवणमननादि उपायों से ही निवृत्त होते हैं, कर्मयोग से नही; औरअदृष्ट पापादि दोष अदृष्ट पुण्यकर्म से दूर होते हैं, श्रवणादि से नहीं, क्योंकि अदृष्ट-दोष-निवृत्ति के साधन अदृष्ट कर्म ही होते हैं, दृष्ट श्रवणादि नहीं, वह भी ठीक नहीं है। कारण कि 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' – यह जो आत्मज्ञानार्थ श्रवणविधायक वाक्य है, नियमविधिपरक वाक्य है, अपूर्वविधिपरक वाक्य नहीं है । अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करनेवाली विधि 'अपूर्वविधि' कहलाती है और पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को 'नियमविधि' कहते हैं ('विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति', तन्त्रवार्तिक, 1.2.34) । आत्मश्रवण श्रुतिवाक्य से होता है और भाषावाक्य से भी होता है । जिस समय भाषावाक्य से श्रोता श्रवण में प्रवृत्त होगा उस समय श्रुतिवाक्य अप्राप्त होगा । अतः उसकी प्राप्ति के लिए ' श्रोतव्यः' यह नियमविधि है । श्रुतिवाक्य से ही आत्मश्रवण करना चाहिए, भाषावाक्य से नहीं, यह नियमविधि है । नियम से अर्थात् दृष्ट श्रुतिवाक्य-श्रवण से अदृष्ट पुण्य होता है, जो असंभावनादि दोषों के कारण होनेवाले पापादि में प्रयुक्त चित्ताशुद्धि का निवर्तक होता है – ऐसा विवरणाचार्य ने कहा है । अतः ऐसा नहीं है कि अदृष्ट दोषों के निवर्तक दृष्ट श्रवणादि साधन नहीं होते, अदृष्ट दोषों के निवर्तक दृष्ट श्रवणादि साधन हो सकते हैं ।

221. ज्ञानोत्पत्ति के दो साधन हैं – बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग । जो परम्परया उपकारजनक होते हैं, वे बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं, जैसे, – निष्काम कर्म का अनुष्ठान । निष्काम कर्म के अनुष्ठान से धर्म-लाभ होता है, उसमें फलाकांक्षा न होने से वह चित्तदोषों का निवर्तक होता है, दोषनिवृत्ति से अन्तः:करण शुद्ध होता है । इसप्रकार निष्काम कर्म का अनुष्ठान परम्परया उपकारजनक होने से बहिरङ्ग साधन है । अन्तरङ्ग साधन श्रवणमननादि हैं । ये असम्भावनादि अन्तरङ्ग दोषों के निवर्तक होते हैं, अतः ये अन्तरङ्ग साधन कहे जाते हैं । बहिरङ्ग साधन के बिना अन्तरङ्ग साधन में प्रवृत्ति व्यर्थ ही होती है क्योंकि अन्तरङ्ग साधन की उत्पत्ति बहिरङ्ग साधन के बिना नहीं होती है ।

222. प्रकृत श्लोक में 'ईश्वरप्रसादनिमित्त = ईश्वरप्रसादजनित' पदों के प्राप्त न होने से वाक्यार्थ की पूर्त्ति के लिए 'ईश्वरप्रसादनिमित्त' पदों का अध्याहार करने के कारण 'अध्याहारदोष, होगा ।

223. यदि 'कर्मबन्ध'का अर्थ संसार करेंगे, तो 'कर्मबन्ध' पद के 'कर्म' शब्द की व्यर्थता सिद्ध होगी, क्योंकि 'बन्धन' शब्द द्वारा कर्म से उत्पन्न संसारबन्धन ही समझा जाता है । किन्तु यहाँ आचार्य धनपति कहते हैं कि जैसे -- 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ता' इत्यादि में 'जन्म' पद बन्ध के स्वरूप के ज्ञापन के लिए प्रयुक्त हुआ है, वैसे ही 'कर्मबन्ध' पद में 'कर्म पद भी बन्धस्वरूपज्ञापनार्थ ही है । अतः भाष्यकार के व्याख्यान में कोई दोष नहीं है ।

शुद्धेर्द्वारत्वान्मां प्रति कर्मानुष्ठानं विधीयते । तत्र 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० 8.1.6) इति श्रुतिबोधितस्य फलनाशस्य सम्भवाज्ज्ञानं विविदिषां चोद्दिश्य क्रियमाणस्य यज्ञादेः काम्यत्वात्सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठेयस्य यत्किंचिदङ्गासम्पत्तावपि वैगुण्यापत्तेर्यज्ञेनेत्यादिवाक्यविहितानां च सर्वेषां कर्मणामेकेन पुरुषायुषपर्यवसानेऽपि कर्तुमशक्यत्वात्कुतः कर्मबन्धं प्राहास्यसीतिफलं प्रत्याशेत्यत आह भगवान् –

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ 40 ॥

सभी कर्मों के विनियोग का विधान किया गया है, तथा ज्ञानप्राप्ति में अन्तःकरणशुद्धि द्वार है, इसीलिए मुझको कर्मानुष्ठान का विधान किया जा रहा है जिससे कि मेरा अन्तःकरण कर्मों से शुद्ध हो, तदनन्तर मुझको ज्ञानप्राप्ति हो । किन्तु 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' = 'जिसप्रकार यहाँ कर्मोपार्जित लोक (भोग) क्षीण हो जाता है वैसे ही परलोक में पुण्यकर्मों से प्राप्त हुए स्वर्गादि लोकों का क्षय हो जाता है' (छा०, 8.1.6) -- इस श्रुति से बतलाए हुए फलों का नाश होना भी सम्भव ही है । ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मजिज्ञासा के उद्देश्य से किए जानेवाले यज्ञादि का काम्य होने के कारण सभी अङ्गों के साथ अनुष्ठान करना आवश्यक है । यदि यज्ञादि के किसी भी अङ्ग का सम्पादन नहीं हुआ अर्थात् कोई भी अङ्ग रह गया तो कर्म में वैगुण्यदोष[225] आ सकता है । तथा 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विहित यज्ञदानतपःप्रभृति सभी कर्मों का अनुष्ठान करना एक मनुष्य के लिए अपनी आयु भर में भी असम्भव है । ऐसी स्थिति में 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' = 'तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे' -- इस फल की आशा कैसे की जा सकती है ?" -- ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् उत्तर देते हैं --

[इस निष्काम कर्मयोग में अभिक्रम = फल का नाश नहीं होता और कोई प्रत्यवाय = दोष भी नहीं होता । इस कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भय से मनुष्य की रक्षा कर लेता है ॥ 40 ॥]

224. मीमांसादर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद का पाँचवा सूत्र है – 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (मीमांसासूत्र, 4.3.5) अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रुति वाक्य में पृथक्-पृथक् फलश्रुति रहने पर एक ही कर्म से अनेक प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है । जैसे– 'दध्ना जुहोति' – इस वाक्य से दधि में क्रत्वर्थ सिद्ध होता है, और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' – इस वाक्य से दधि में पुरुषार्थत्व सिद्ध होता है । वैसे ही 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यों से दर्शपूर्णमास यज्ञों में स्वर्गादि की साधनता है, और 'यज्ञेन दानेन' – इस वाक्य से उन्हीं यज्ञों में अन्तःकरण की शुद्धि की साधनता है । यही संयोगपृथक्त्वन्याय है ।

225. यदि किसी यज्ञादि कर्म का सम्पादन यथाविधि अथवा साङ्ग न हो तो वहाँ 'वैगुण्यदोष' कहलाता है । यह वैगुण्य कर्म, कर्त्ता और साधन की विगुणता के कारण तीन प्रकार का होता है । जैसे – 'इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति' – इस वाक्य में 'इष्टि' करण = साधन है, 'पितरौ' कर्ता है और 'संयोग' कर्म है– इन तीनों के गुणयोग से पुत्रजन्म होता है, किन्तु वैगुण्य से विपरीत होता है । यहाँ 'इज्या' के सम्बन्ध में कर्मवैगुण्य -- समीहाभ्रंशता है, कर्तृवैगुण्य-अविद्वान् प्रयोक्ता का होना और उसका कपूय आचरण होता है, और साधनवैगुण्य – असंस्कृत हवि, न्यूनाधिक अथवा स्वरवर्णहीन मन्त्रों का प्रयोग है, तथा दुरागत, हीन और निन्दित दक्षिणा देना है । 'उपजन' के सम्बन्ध में कर्मवैगुण्य – मिथ्यासम्प्रयोग है, कर्तृवैगुण्य -- योनिव्यापार अथवा बीजोपघात का होना है, तथा साधनवैगुण्य –इष्टि में अभिहितत्व है । इसीप्रकार लोक में विधिवाक्य है -- 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयादिति' -- इस वाक्य में कर्मवैगुण्य – दारु का मिथ्या मन्थन करना है, कर्तृवैगुण्य -- प्रमाद करना है । तथा साधनवैगुण्य -- आर्द्र और सुषिर दारु है । इन वैगुण्यदोषों के कारण यज्ञादिकर्म का कोई फल नहीं होता है (न्यायभाष्य, 2.1.57) ।

151 अभिक्रम्यते कर्मणा प्रारभ्यते यत्फलं सोऽभिक्रमस्तस्य नाशस्तद्यथेहेत्यादिना प्रतिपादित इह निष्कामकर्मयोगे नास्ति, एतत्फलस्य शुद्धेः पापक्षयरूपत्वेन लोकशब्दवाच्यभोग्यत्वाभावेन च क्षयासम्भवात् । वेदनपर्यन्ताया एव विविदिषायाः कर्मफलत्वाद्वेदनस्य चाव्यवधानेनाज्ञान-निवृत्तिफलजनकस्य फलमजनयित्वा नाशासम्भवादिह फलनाशो नास्तीति साधूक्तम् । तदुक्तम्--

'तद्यथेहेति या निन्दा सा फले न तु कर्मणि ।
फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं विशुद्धिकृत्' इति ॥

152 तथा प्रत्यवायोऽङ्गवैगुण्यनिबन्धनं वैगुण्यमिह न विद्यते तमितिवाक्येन नित्यानामेवोपात्तदुरित-क्षयद्वारेण विविदिषायां विनियोगात् । तत्र च सर्वाङ्गोपसंहारनियमाभावात् । काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विनियोग इति पक्षेऽपि फलाभिसन्धिरहितत्वेन तेषां नित्यतुल्यत्वात् । नहि काम्यनित्याग्निहोत्रयोः स्वतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । फलाभिसंधितदभावाभ्यामेव तु काम्यत्वनित्यत्वव्यपदेशः । इदं च पक्षद्वयमुक्तं वार्तिके --

वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥

151 जो फल अभिक्रमित होता है अर्थात् कर्म से प्राप्त होता है, वह 'अभिक्रम' कहा जाता है । उसका इह = यहाँ = इस निष्काम कर्मयोग में 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित नाश नहीं होता । इसका फल अन्त:करण की शुद्धि पापक्षयरूपा है, अत: उसमें 'लोक' शब्दवाच्य भोग न रहने के कारण उसका क्षय होना सम्भव नहीं है[226] । यहाँ तो वेदन = ज्ञान में समाप्त होनेवाली ही विविदिषा = जिज्ञासा कर्म का फल है और वेदन = ज्ञान बिना किसी व्यवधान के अज्ञाननिवृत्तिरूप फल का जनक होता है, अत: उसका अपने फल को उत्पन्न किए बिना नाश होना सम्भव नहीं है । इसलिए भगवान् ने यह ठीक ही कहा है कि 'यहाँ फल का नाश नहीं होता' । ऐसा ही कहा भी है -- 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति ने जो निन्दा की है वह फल के विषय में निन्दा की गई है, कर्म के सम्बन्ध में नहीं । फलेच्छा को त्यागकर किया गया कर्म तो अन्त:करण की शुद्धि करनेवाला होता है ।

152 तथा प्रत्यवाय = अङ्गवैगुण्यजनित वैगुण्यदोष भी यहाँ नहीं होता । 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से नित्यकर्मों के ही प्राप्त हुए पापों के क्षयद्वारा ब्रह्मजिज्ञासा में विनियोग का विधान किया गया है । और वहाँ = नित्यकर्मों में सम्पूर्ण अङ्गों को सम्मिलित करने का नियम नहीं है । 'इस श्रुति से संयोगपृथक्त्व न्याय से काम्य कर्मों के भी विनियोग का विधान किया गया है' -- ऐसा पक्ष भी यदि स्वीकार करें तो भी फलाकांक्षा = फलाशा से रहित होने के कारण वे काम्यकर्म भी नित्यकर्मों के समान ही हो जाते हैं । काम्य और नित्य अग्निहोत्रों में स्वत: कोई विशेष = भेद नहीं होता । फलाशा और फलाशा के अभाव से ही तो क्रमश: काम्य और नित्य कर्म कहे जाते हैं । इन दोनों पक्षों को वार्तिक में इस प्रकार कहा गया है --

226. तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्मयोग का फल अन्त:करणशुद्धि है, जो पापक्षयात्मक है । पापक्षय भावस्वरूप नहीं है, अभावस्वरूप है । जब पापक्षय भावभूत पदार्थ ही नहीं है, तो वह भोग्य भी नहीं है, क्योंकि अभाव का भोग नहीं हो सकता । इसीलिए इसकी निवृत्ति नहीं होती । निवृत्ति = विनाश तो जन्य और जन्यत्वविशिष्ट भाव का होता है । जन्य भावमात्र अनित्य होता है । अतएव 'जन्यो विनाशी, भावत्वात्, घटादिवत्' -- यह अनुमान वाक्य उचित है । निष्कर्षत: निष्काम कर्मयोग का फल भोग्य न होने के कारण तथा जन्य किन्तु अभावस्वरूप होने के कारण कदापि क्षीण नहीं हो सकता है ।

यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति ॥

तथा च फलाभिसन्धिना क्रियमाण एव कर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारनियमात्तद्विलक्षणे शुद्ध्यर्थे कर्मणि प्रतिनिध्यादिना समाप्तिसम्भवान्नाङ्गवैगुण्यनिमित्तः प्रत्यवायोऽस्तीत्यर्थः । तथाऽस्य शुद्ध्यर्थस्य धर्मस्य तमेतमित्यादिवाक्यविहितस्य मध्ये स्वल्पमपि संख्ययेतिकर्तव्यतया वा यथाशक्तिभगवदाराधनार्थं किञ्चिदप्यनुष्ठितं सन्महतः संसारभयात्त्रायते भगवत्प्रसाद-सम्पादनेनानुष्ठातारं रक्षति ।

'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः' ॥

इत्यादिस्मृतेः, तमेतमिति वाक्ये समुच्चयविधायकाभावाच्चाशुद्धितारतम्यादेवानुष्ठान-तारतम्योपपत्तेर्युक्तमुक्तं कर्मबन्धं प्रहास्यसीति ॥ 40॥

153 एतदुपपादनाय तमेतमितिवाक्यविहितानामेकार्थत्वमाह–

"'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से ऐक्यात्मज्ञान की उत्पत्ति के लिए वेदानुवचन आदि नित्यकर्मों की विधि कही गई है । अथवा संयोगपृथक्त्वन्याय से 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा के लिए काम्य कर्मों का भी विधान किया गया है ।"

इस प्रकार फलाशापूर्वक किए जानेवाले ही कर्मों में सम्पूर्ण अङ्गों को सम्मिलित करने का नियम होने से और उनसे भिन्न शुद्धि के लिए किए जानेवाले कर्मों में प्रतिनिधि [227] आदि के द्वारा भी अङ्गों की समाप्ति = पूर्ति सम्भव होने से इस निष्काम कर्मयोग में अङ्गों के वैगुण्य के कारण होने वाला प्रत्यवाय = वैगुण्यदोष नहीं होता -- यह भावार्थ है । तथा 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य से विहित इस अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किए जाने वाले धर्म का संख्या अथवा इतिकर्तव्यता की दृष्टि से मध्य में थोडा-सा भी यथाशक्ति भगवान् की आराधना के लिए कुछ भी किया गया अनुष्ठान भगवत्कृपा के सम्पादन से अनुष्ठाता = अनुष्ठान-कर्ता की महान् संसार-भय से रक्षा करता है ।

'सम्पूर्ण पापों में अत्यन्त आसक्त होने पर भी निमेषमात्र भी अच्युत-नारायण का ध्यान करने से मनुष्य महान् तपस्वी और पंक्तिपावनपावन[228] = पंक्तियों को पवित्र करने वालों को भी पवित्र करनेवाला हो जाता है ।'

इत्यादि स्मृति भी यही कहती है । 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य में ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधायक कोई शब्द न होने से अशुद्धि के तारतम्य = न्यूनाधिक्य के अनुसार ही अनुष्ठान के तारतम्य = न्यूनाधिक्य की उपपत्ति = सिद्धि होती है[229] । अतः 'तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे' -- यह कथन ठीक ही है ॥ 40 ॥

153 उक्तार्थ की उपपत्ति के लिए 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में विहित वेदानुवचन, यज्ञ, दानादि की एकार्थता = एक प्रयोजनता कहते हैं :--

227. यहाँ 'प्रतिनिधि' से तात्पर्य है यज्ञादि की सामग्री में से किसी विशेष सामग्री के अभाव में किसी विशेष दूसरी सामग्री का प्रयोग जैसे, धूप, दीप, नैवेद्यादि के अभाव में अक्षत प्रतिनिधि होते हैं । यद्यपि काम्य कर्म में यजमान का प्रतिनिधि नहीं होता, किन्तु नित्यकर्म में कर्त्ता का भी प्रतिनिधि होता है ।

228. चतुर्वेदाध्ययनकुशलमति, सर्वप्रवचन-सकलवेदाङ्गवेत्ता, श्रोत्रियकुलोत्पन्न, त्रिणाचिकेतु अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण, ज्येष्ठसामग, वेदार्थविद्, प्रवक्ता, ब्रह्मचारी, सहस्रद, शतायु तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण 'पंक्तिपावन' कहलाता है (मनुस्मृति, 3.184-186) । पंक्तिपावन का पावन अच्युतध्यान कर्ता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ 41॥

154 हे कुरुनन्दनेह श्रेयोमार्गे तमेतमितिवाक्ये वा व्यवसायात्मिकाऽऽत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव चतुर्णामाश्रमाणां साध्या विवक्षिता 'वेदानुवचनेन'इत्यादौ तृतीयाविभक्त्या प्रत्येकं निरपेक्षसाधनत्वबोधनात् । भिन्नार्थत्वे हि समुच्चयः स्यात् । एकार्थत्वेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामितिवद्द्वन्द्वसमासेन यदग्नये च प्रजापतये चेतिवच्चशब्देन न तथाऽत्र किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्यर्थः । सांख्यविषया योगविषया च बुद्धिरेकफलत्वादेका व्यवसायात्मिका सर्वविपरीतबुद्धीनां बाधिका निर्दोषवेदवाक्यसमुत्थत्वादितरास्त्वव्यवसायिनां बुद्धयो बाध्या इत्यर्थ

[हे कुरुनन्दन ! इस मोक्षमार्ग में आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु जो कर्मफल की इच्छावाले होते हैं उनकी बुद्धियाँ तो अनेकों शाखाओंवाली = भेदोंवाली और अनन्त होती हैं ॥ 41 ॥]

154 हे कुरुनन्दन ! इह = इस मोक्षमार्ग में अथवा 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में व्यवसायात्मिका अर्थात् आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए साध्य विवक्षित है, क्योंकि 'वेदानुवचनेन' इत्यादि में तृतीया विभक्ति होने के कारण प्रत्येक की स्वतंत्र साधनता बताई गई है[230] । यदि इनका प्रयोजन भिन्न-भिन्न होता तो समुच्चय किया जाता । यदि इन सभी का मिलकर एक प्रयोजन होता तो 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' के समान द्वन्द्वसमास से अथवा 'यदग्नये च प्रजापतये च' के समान 'च' शब्द से उल्लेख किया जाता, किन्तु यहाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है -- ऐसा इसका तात्पर्य है । सांख्यविषया और योगविषया बुद्धि एकफलवाली होने के कारण एक ही है, जो व्यवसायात्मिका अर्थात् निर्दोष वेदवाक्य से उत्पन्न होने के कारण समस्त विपरीत बुद्धियों की बाधिका होती है । अभिप्राय यह है कि अव्यवसायियों की इतर बुद्धियाँ बाध्य होती हैं -- ऐसा भाष्यकार का मत है । अन्य टीकाकार तो इसका इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'परमेश्वर

229. तात्पर्य यह है कि 'तमेतम्' इत्यादि वाक्य के अनुसार ये वेदानुवचनादि प्रत्येक ही पृथक्-पृथक् चित्त की अशुद्धि का विनाश करते हैं । विभिन्न लोगों की चित्त की अशुद्धि विभिन्न प्रकार की होती है । इस कारण किसी का वेदानुवचन से, किसी का यज्ञ से, किसी का दान से तथा किसी का तपश्चर्या से चित्त की अशुद्धि का नाश हो जाता है । और कोई यदि इन सभी का एक साथ अनुष्ठान करता है तब भी चित्तदोष की निवृत्ति होती है । चित्त की अशुद्धता के तारतम्य के अनुसार अनुष्ठान का भी तारतम्य होता है । इसप्रकार 'तमेतम्' वाक्य में अशुद्धि के तारतम्य के अनुसार अनुष्ठान के तारतम्य की सिद्धि की गई है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि इस वाक्य में ज्ञान और कर्म के समुच्चय का विधायक कोई शब्द ही प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

230. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' – इस श्रुतिवाक्य में आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, जो चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए साध्य है, क्योंकि वेदानुवचनादि में पृथक्-पृथक् तृतीया विभक्ति का प्रयोग होने कारण प्रत्येक की स्वतंत्र साधनता बताई गई है । जैसे – ब्रह्मचर्याश्रम में केवल 'वेदानुवचन' से ही चित्त की अशुद्धि का विनाश हो सकता है । गृहस्थाश्रम में केवल यज्ञ, दान आदि से, वानप्रस्थाश्रम में तपश्चर्या से, अथवा संन्यासाश्रम में सभी कामनाओं का परित्याग कर ब्रह्म तथा आत्मा के ऐक्य की साधनरूप परम तपश्चर्या से चित्त की अशुद्धि का नाश हो सकता है अर्थात् केवल अपने अपने आश्रम के अनुसार वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप – इनके प्रत्येक के द्वारा ही निरपेक्षरूप से चित्तशुद्धि हो सकती है । इसप्रकार वेदानुवचनादि की चारों आश्रमों के पुरुषों के लिए पृथक्-पृथक् चित्तशुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है ।

इति भाष्यकृतः। अन्ये तु परमेश्वराराधनेनैव संसारं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैकनिष्ठैव बुद्धिरिह कर्मयोगे भवतीत्यर्थमाहुः। सर्वथाऽपि तु ज्ञानकाण्डानुसारेण 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इत्युपपन्नम्। कर्मकाण्डे पुनर्बहुशाखा अनेकभेदाः कामानामनेकभेदत्वात्, अनन्ताश्च कर्मफलगुणफलादिप्रकारोपशाखाभेदात्, बुद्धयो भवन्त्यव्यवसायिनां तत्तत्फलकामानाम्। बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः। अतः काम्यकर्मापेक्षया महद्वैलक्षण्यं शुद्ध्यर्थकर्मणामित्यभिप्रायः॥ 41॥

155 **अव्यवसायिनामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवति प्रमाणस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्य प्रतिबन्धकसद्भावान्न भवतीत्याह त्रिभि :-**

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥ 42॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 43॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 44।

की आराधना से ही मैं संसार को पार कर लूंगा-- ऐसी निश्चयात्मिका एकनिष्ठा ही बुद्धि इस कर्मयोग में होती है'। किन्तु 'इस धर्म का थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भय से रक्षा कर लेता है'-- इस वाक्य की उपपत्ति तो सर्वथा ज्ञानकाण्ड के अनुसार ही होती है। कर्मकाण्ड में तो कामनाओं के अनेक भेद होने के कारण बहुशाखा = अनेकों भेदोंवाली और कर्मफल, गुणफल, आदि प्रकार से उपशाखाओं के अनेक भेद होने के कारण अनन्त बुद्धियाँ होती हैं। तद्-तद् फल की कामनावाले अव्यवसायियों की बुद्धियों की अनन्तता की प्रसिद्धि द्योतित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है। अत: अभिप्राय यह है कि काम्य कर्मों की अपेक्षा चित्तशुद्धि के लिए किए जानेवाले कर्मों में महती विलक्षणता है॥ 41॥

155 'अव्यवसायियों **को भी व्यवसायात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती है,** प्रमाण तो दोनों के लिए समान ही है' -- ऐसी आशंका करके भगवान् तीन श्लोकों से यह कहते हैं कि प्रतिबन्धक रहने के कारण उनकी यह बुद्धि नहीं होती है :--

[हे पार्थ ! वेदों के अर्थवाद में ही रत, कर्मकाण्ड की अपेक्षा अन्य कोई ज्ञानकाण्ड नहीं है -- ऐसा कहनेवाले, स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाले, कामात्मा अविवेकीजन जो जन्म, कर्म और फल प्रदान करने वाली, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्रादि विशेष कर्मों के विस्तार से युक्त इस पुष्पित पलाश के समान आपातरमणीय वाणी को बोलते हैं, उस वाणी द्वारा अपहृत चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति रखनेवाले उन पुरुषों के अन्त:करण में व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है॥ 42-43-44॥]

156 यामिमां वाचं प्रवदन्ति तथा वाचाऽपहृतचेतसामविपश्चितां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवतीत्यन्वयः । इमामध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धां पुष्पितां पुष्पितपलाशवदापातरमणीयां साध्यसाधनसम्बन्धप्रतिभानान्निरतिशयफलाभावाच्च । कुतो निरतिशयफलत्वाभावस्तदाह जन्मकर्मफलप्रदां जन्म चापूर्वशरीरेन्द्रियादिसम्बन्धलक्षणं तदधीनं च कर्म तत्तद्वर्णाश्रमाभिमाननिमित्तं तदधीनं च फलं पुत्रपशुस्वर्गादिलक्षणं विनश्वरं-तानि प्रकर्षेण घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा ताम् ।

157 कुत एवमत आह-- भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाममृतपानोर्वशीविहारपारिजात-परिमलादिनिबन्धनो यो भोगस्तत्कारणं च यदैश्वर्यं देवादिस्वामित्वं तयोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादयस्तैर्बहुलां विस्तृतामतिबाहुल्येन भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापप्रतिपादिकामिति यावत् । कर्मकाण्डस्य हि ज्ञानकाण्डापेक्षया सर्वत्रातिविस्तृतत्वं प्रसिद्धम् । एतादृशीं कर्मकाण्डलक्षणां वाचं प्रवदन्ति प्रकृष्टां परमार्थस्वर्गादिफलामभ्युपगच्छन्ति ।

156 जो इस वाणी को बोलते हैं, उस वाणी द्वारा अपहृत चित्तवाले अविपश्चित = अविवेकीजनों की व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है -- यह अन्वय है । इस अर्थात् अध्ययनविधि से ग्रहण की हुई होने के कारण प्रसिद्ध पुष्पित अर्थात् पुष्पित पलाश के समान आपातरमणीय, क्योंकि इसमें साध्य-साधन के सम्बन्ध का भान तो रहता है किन्तु निरतिशय = सर्वोत्तम फल का अभाव ही रहता है[231] । निरतिशय फल का अभाव क्यों रहता है ? उसको कहते हैं -- 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' अर्थात् वह जन्म, कर्म और फल -- इन तीनों को प्रदान करनेवाली है । अपूर्व = नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध होना रूप जन्म है, जन्माधीन तद्-तद् वर्णाश्रम के अभिमानवश होनेवाला कर्म है, और कर्माधीन पुत्र, पशु, स्वर्गादि रूप विनश्वर फल है -- इन जन्म, कर्म और फलों को जो प्रकर्ष से अर्थात् घटीयन्त्र के समान निरन्तर प्रदान करती रहती है वह वाणी है, वैसी वाणी को ।

157 वह वाणी ऐसी क्यों है ? अतः कहते हैं -- 'भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए क्रियाविशेषबहुला है' । अर्थात् अमृतपान, उर्वशीविहार, पारिजात पुष्पों की गन्ध आदि से होनेवाला जो भोग है और उसका कारणभूत जो देवतादि का आधिपत्यरूप ऐश्वर्य है -- उन दोनों गति = प्राप्ति के लिए साधनभूत जो अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि क्रियाविशेष हैं उनसे जो बहुल = विस्तृत है अर्थात् जो अत्यन्त बहुलता से भोग और ऐश्वर्य के साधनभूत क्रियाकलाप का प्रतिपादन करनेवाली है, क्योंकि कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा सर्वत्र अतिविस्तृतता[232] ही प्रसिद्ध है । ऐसी कर्मकाण्डरूपा वाणी को बोलते हैं अर्थात् उस वाणी को प्रकृष्ट और परमार्थस्वरूप स्वर्गादि फलवाली स्वीकार करते हैं ।

231. भाव यह है कि जैसे पलाशवृक्ष पुष्पित होता है और पुष्पित होने पर इतर वृक्षों से अधिक सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु वह पुष्पित ही होता है, फलित नहीं, अतः निष्फल होता है; वैसे ही कर्मकाण्डरूपा वाणी श्रवण में अति रमणीय होती है, आपातरमणीय होती है, क्योंकि उसमें साध्य-फल, साधन – कर्म, तत्सम्बन्ध – उपायोपेयभाव और फल के साथ आत्मा के स्व-स्वामिभाव आदि का प्रतिभान रहता है, किन्तु उसमें निरतिशय फल का तो अभाव ही रहता है ।

232. कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा सर्वत्र अतिविस्तृता से तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्डीय ब्राह्मणग्रन्थ जितने बृहद्ग्रन्थ हैं उतने ज्ञानकाण्डीय उपनिषद् नहीं है । कर्मकाण्ड के प्रतिपाद्य विषय अनेक यागादि हैं, जबकि उपनिषदों में प्रतिपाद्य विषय केवल एक आत्मा ही है । उपनिषत्प्रमेय के लिए एक उपनिषद् ही प्रमाण है, जबकि कर्मविद्या में प्रमाण छै हैं । इसीप्रकार कर्मविद्या के अधिकारी भी अनेक हो सकते हैं, ब्रह्मविद्या का अधिकारी तो कोई एक वीतराग पुरुष ही कभी होता है । यही ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा कर्मकाण्ड की सर्वत्र अतिविस्तृता है ।

158 के येऽविपश्चितो विचारजन्यतात्पर्यपरिज्ञानशून्याः। अत एव वेदवादरता वेदे ये सन्ति वादा अर्थवादाः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्येवमादयस्तेष्वेव रता वेदार्थसत्यत्वेनैवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन सन्तुष्टा हे पार्थ। अत एव नान्यदस्तीतिवादिनः कर्मकाण्डापेक्षया नास्त्यन्यज्ज्ञानकाण्ड सर्वस्यापि वेदस्य कार्यपरत्वात्, कर्मफलापेक्षया च नास्त्यन्यन्निरतिशयं ज्ञानफलमितिवदनशीला महता प्रबन्धेन ज्ञानकाण्डविरुद्धार्थभाषिण इत्यर्थः। कुतो मोक्षद्वेषिणस्ते। यतः कामात्मानः काम्यमानविषयशताकुलचित्तत्वेन काममयाः। एवं सति मोक्षमपि कुतो न कामयन्ते ? यतः स्वर्गपराः स्वर्ग एवोर्वश्याद्युपेतत्वेन पर उत्कृष्टो येषां ते तथा। स्वर्गातिरिक्तः पुरुषार्थो नास्तीति भ्राम्यन्तो विवेकवैराग्याभावान्मोक्षकथामपि सोढुमक्षमा इति यावत्।

159 तेषां च पूर्वोक्तभोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वादिदोषादर्शनेन निविष्टान्तःकरणानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतमाच्छादितं चेतो विवेकज्ञानं येषां तथाभूतानामर्थवादाःस्तुत्यर्था-

158 कौन स्वीकार करते हैं ? -- जो अविपश्चित अर्थात् विचारजन्य तात्पर्यज्ञान से शून्य हैं। अतएव जो वेदवादरत हैं = वेद में जो 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालों को अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' इत्यादि प्रकार के वाद = अर्थवाद हैं उन में ही जो रत हैं अर्थात् 'वेदार्थ की सत्यता से यह ऐसा ही है' -- इस प्रकार के मिथ्याविश्वास से सन्तुष्ट हैं। हे पार्थ ! अतएव जो 'नान्यत्' = ' अन्य नहीं है' -- ऐसा कहनेवाले हैं अर्थात् कर्मकाण्ड की अपेक्षा अन्य कोई ज्ञानकाण्ड नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य कर्म में है, इसीलिए कर्मफल की अपेक्षा ज्ञान का अन्य कोई निरतिशय फल (मोक्ष) नहीं है -- ऐसा कहने का जिनका स्वभाव है अर्थात् जो बडे प्रबन्ध[233] से ज्ञानकाण्ड के विरुद्ध अर्थ को कहने वाले हैं। वे मोक्ष से द्वेष करनेवाले क्यों होते हैं ? क्योंकि वे कामात्मा अर्थात् काम्यमान सैकड़ों विषयों से व्याकुलचित्त होने के कारण काममय होते हैं। ऐसे होने पर भी अर्थात् कामात्मा = काममय होने पर भी वे मोक्ष की भी कामना क्यों नहीं करते हैं ? क्योंकि वे स्वर्गपर होते हैं = उनकी दृष्टि में उर्वशी आदि से युक्त होने के कारण स्वर्ग ही परम उत्कृष्ट होता है; तथा ' स्वर्ग के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं है' – ऐसे भ्रम में रहने के कारण विवेक और वैराग्य से हीन होने के कारण वे मोक्ष की कथा को भी सहन करने में समर्थ नहीं होते हैं।

159 और जो पूर्वोक्त भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हैं -- उनके क्षयित्वादि दोष न देखने के कारण जिनका अन्तःकरण उनमें फंसा हुआ है तथा उस क्रियाविशेषबहुला वाणी से जिनका चित्त = विवेकज्ञान

233. यहाँ प्रबन्ध' से तात्पर्य वाक्यविस्तारपूर्वक कथन या रचना है। कर्मकाण्डी बडे प्रबन्ध से ज्ञानकाण्ड के विरुद्ध अर्थ को कहते हैं। जैसे उनकी प्रबन्धकल्पना है – 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मीमांसासूत्र, 1.2.1) अर्थात् 'आम्नाय = वेद के क्रियार्थक होने से क्रियार्थकता से रहित वेदवाक्य अनर्थक हैं'। इससे क्रियारहित वेदान्तवाक्य भी अनर्थक हैं। ' स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' – इस अध्ययनविधि से विहित सार्थक अध्ययन के विषय होने के कारण जैसे अर्थवाद वाक्य को क्रिया की स्तुति द्वारा क्रियार्थक मानकर सार्थक माना गया है, वैसे ही कर्म के कर्ता – देव फलादि के प्रकाशनार्थक होने से क्रियाविधि की अंगरूपता वेदान्त को है, इससे सार्थक है, जीव प्रतिपादक कर्म कर्ता का, ईश्वर का प्रतिपादक कर्मांग देव का बोधक है, या अन्य फल का बोधक है, अथवा उपासनादिरूप क्रियान्तर का विधानार्थक ही है, क्योंकि यज्ञादि कर्म के प्रकरणों से वेदान्त का भिन्न प्रकरण है। सिद्धवस्तु का सर्वथा कर्म-सम्बन्ध के बिना प्रतिपादन नहीं हो सकता है, क्योंकि सिद्ध वस्तु का प्रत्यक्षादि विषयत्व होता है और प्रत्यक्षादि के विषय ब्रह्म का प्रतिपादक विषय वेद अनुवादक अप्रमाण होगा। अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए यदि वेदान्त को प्रमाण स्वीकार करना है तो क्रियार्थक ही स्वीकार करना होगा, सिद्धार्थक नहीं – इत्यादि।

स्तात्पर्यविषये प्रमाणान्तराबाधिते वेदस्य प्रमाण्यमिति सुप्रसिद्धमपि ज्ञातुमशक्तानां समाधावन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते न भवतीत्यर्थः । समाधिविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषां न भवतीति वा अधिकरणे विषये वा सप्तम्यास्तुल्यत्वात् । विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः । समाधीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या समाधिरन्तःकरणं वा परमात्मा वेति नाप्रसिद्धार्थकल्पनम् । अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिस्तन्निमित्तं व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यत इति व्याख्याने तु रूढिरेवाऽऽदृता ।

अपहृत = आच्छादित है ऐसे उन पुरुषों के, जो कि 'अर्थवाद स्तुति के लिए होते हैं, प्रमाणान्तर से अबाधित तात्पर्यविषय में वेद की प्रामाणिकता है' -- ऐसे सुप्रसिद्ध विषय को भी जानने में अशक्त = असमर्थ हैं, समाधि = अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि 'न विधीयते' = 'न भवति' =नहीं होती है -- यह अर्थ है । अथवा यह अर्थ है कि उनकी समाधिविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है, क्योंकि अधिकरण या विषय -- दोनों ही में सप्तमी का विधान समान ही होता है[234] । 'विधीयते' -- इस क्रियापद में कर्मकर्ता में लकार है । 'समाधीयतेऽस्मिन् सर्वम्' = ' इसमें सभी को समाहित किया जाता है' -- ऐसी व्युत्पत्ति से 'समाधि[235]' अन्तःकरण अथवा परमात्मा का वाचक है, किसी अप्रसिद्धार्थ की कल्पना नहीं है । 'अहं ब्रह्मास्मि -- 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी अवस्थिति समाधि है, उस समाधि का निमित्त = कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है -- इस व्याख्यान में तो रूढि को ही आदर दिया गया है ।

---

234. अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है, ('सप्तम्यधिकरणे च' -- पाणिनिसूत्र, 2.3.36) । अधिकरण तीन प्रकार का होता है--औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । औपश्लेषिक अधिकरण वह है जहाँ कर्ता अथवा कर्म आधार में संयोगादि सम्बन्ध से रहते हैं । विषयता सम्बन्ध से होनेवाला आधार वैषयिक अधिकरण कहलाता है । जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती है वह अभिव्यापक अधिकरण कहा जाता है । प्रकृत श्लोक के 'समाधौ' पद में अन्तःकरण-पक्ष में औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी है और ब्रह्मपक्ष में वैषयिकाधिकरण सप्तमी है । दोनों में से किसी भी अर्थ में सप्तमी स्वीकार करने से अर्थ में भेद नहीं होता, क्योंकि व्यवसायत्मिका बुद्धि का निषेधाधिकरण दोनों ही अर्थों के अनुसार 'अन्तःकरण' ही प्राप्त होता है । अन्तःकरण में तो बुद्धि का निषेधाधिकरण अन्तःकरण स्पष्ट ही है । ब्रह्मपक्ष में बुद्धि का निषेधाधिकरण अन्तःकरण इस प्रकार होता है -- समाधि से विवक्षित ब्रह्म में विषयितासम्बन्ध से व्यवसायात्मिका बुद्धि रहती है । बुद्धि का विषय ब्रह्मभाव अन्तःकरण में रहता है । इससे बुद्धि का निषेधाधिकरण भी अन्तः:करण हुआ । इसप्रकार 'समाधौ' पद में अधिकरण या विषय -- दोनों ही अर्थों में सप्तमी स्वीकार करने पर अर्थ समान ही होता है ।

235. यहाँ 'समाधि' पद के तीन व्युत्पत्त्यर्थ दिये गए हैं --

(i) 'समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणम्' (गीताशाङ्करभाष्य, 2.44) अर्थात् पुरुष के उपभोग के लिए जिसमें सभी वस्तुएँ वासना के रूप में समाहित होती है उसे 'समाधि' अर्थात् 'अन्तःकरण ' कहते हैं ।

(ii) 'समाधीयतेऽस्मिन् सर्वम्' अर्थात् जिसमें सभी विषय समाहित होते हैं वह 'समाधि' अर्थात् ' परमात्मा' है । क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति के अनुसार समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है, अतः परमात्मा समाधि है ।

इन दोनों व्युत्पत्तियों से यहाँ 'समाधि' पद यौगिक विवक्षित है । जहाँ यौगिकार्थ भी नहीं होता उसमें प्रयोग करने से अप्रसिद्धार्थकल्पना होती है । प्रकृत में यौगिकार्थ विवक्षित होने से अप्रसिद्धार्थकल्पना दोष नहीं है ।

(iii) 'अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिः' -- अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इस प्रकार समाहित होकर बुद्धि जब अवस्थान करती है तो उसे 'समाधि' कहते हैं । प्रकृत में 'समाधि' का रूढि अर्थ ही विवक्षित है, क्योंकि ध्याता और ध्यान का परित्याग करके क्रमशः ध्येयैकगोचरवृत्ति असंप्रज्ञात 'समाधि' कहलाती है ।

160 अयं भाव:- यद्यपि काम्यान्यग्निहोत्रादीनि शुद्ध्यर्थेभ्यो न विशिष्यन्ते तथाऽपि फलाभिसन्धिदोषान्नाऽऽशयशुद्धिं सम्पादयन्ति । भोगानुगुणा तु शुद्धिर्न ज्ञानोपयोगिनी। एतदेव दर्शयितुं भोगैश्वर्यप्रसक्तानामिति पुनरुपात्तम् । फलाभिसन्धिमन्तरेण तु कृतानि ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधतीति सिद्धं विपश्चिदविपश्चितो: फलवैलक्षण्यम् । विस्तरेण चैतदग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ 42 ॥ 43 ॥ 44 ॥

161 ननु सकामानां मा भूदाशयदोषाद्व्यवसायात्मिका बुद्धि:, निष्कामानां तु व्यवसायात्मकबुद्ध्या कर्म कुर्वतां कर्मस्वाभाव्यात्स्वर्गादिफलप्राप्तौ ज्ञानप्रतिबन्ध: समान इत्याशङ्क्याऽऽह –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ 45 ॥

162 त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यं काममूल: संसार: । स एव प्रकाशत्वेन विषयो येषां तादृशा वेदा: कर्मकाण्डात्मका यो यत्फलकामस्तस्यैव तत्फलं बोधयन्तीत्यर्थ: । न हि सर्वेभ्य: कामेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति विनियोगेऽपि सकृदनुष्ठानात्सर्वफलप्राप्तिर्भवति तत्तत्कामनाविरहात् । यत्फलकामनयाऽनुतिष्ठति तदेव फलं तस्मिन्प्रयोग इति स्थितं योगसिद्ध्यधिकरणे ।

---

160 भाव यह है कि यद्यपि काम्य अग्निहोत्रादि कर्म चित्तशुद्धि के लिए किए जाने वाले अग्निहोत्रादि कर्मों से भिन्न नहीं होते हैं, तथापि फलाकांक्षारूप दोष के कारण वे अन्त:करण= चित्त की शुद्धि नहीं करते हैं । भोगानुगुणा=पुण्यजन्यभोगानुकूला शुद्धि तो ज्ञानोपयोगिनी=तत्त्वज्ञानजनक नहीं होती है । यही दिखलाने के लिए 'भोगैश्वर्यप्रमत्तानाम्'-- यह पद पुन: कहा गया है । फलाभिसन्धि=फलाकांक्षा के बिना ही किए गए कर्म ज्ञानोपयोगिनी शुद्धि करते हैं-- इस प्रकार विपश्चित = विवेकी और अविपश्चित = अविवेकी के कर्मों में फलों की विलक्षणता सिद्ध ही है । इसका विस्तार से आगे प्रतिपादन किया जायेगा । ॥ 42-43-44 ॥

161 'सकाम पुरुषों की चित्ताशुद्धि के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि न हो, किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि से कर्म करनेवाले निष्काम पुरुषों को भी तो कर्म का फलदातृत्व स्वभाव होने के कारण स्वर्गादि फल की प्राप्ति होने पर सकाम पुरुषों के समान ही ज्ञान का प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेगा' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं --

[हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य = काममूल-संसार विषयक ही हैं; तुम निस्त्रैगुण्य = निष्काम, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् हो जाओ ॥ 45 ॥]

162 'त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यम्' = तीनों-सत्त्व, रज और तम -- गुणों का कर्म त्रैगुण्य अर्थात् काममूल संसार है । वही प्रकाश्यरूप से जिनका विषय है वे कर्मकाण्डात्मक वेद हैं । जो जिस फल का कामी होता है उसी को वे उस फल का बोध कराते हैं -- यह अभिप्राय है । 'सर्वेभ्य: कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' = ' समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए दर्श-पूर्णमास इष्टि करे' -- ऐसा विनियोग होने पर भी एकबार दर्शपूर्णमास यज्ञ के अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इनमें तद्-तद् कामनाओं का अभाव रहता है । अत: जो जिस फल की कामना से जिसका अनुष्ठान करता है, उस प्रयोग में वह वही फल प्राप्त करता है -- ऐसा पूर्वमीमांसा के योगसिद्धि -- अधिकरण में निश्चित किया गया है ।

163 यस्मादेवं कामनाविरहे फलविरहस्तस्मात्त्वं निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव हेऽर्जुन । एतेन कर्मस्वाभाव्यात्संसारो निरस्तः । ननु शीतोष्णादिद्वन्द्वप्रतीकाराय वस्त्राद्यपेक्षणात्कुतो निष्कामत्वमत आह - निर्द्वन्द्वः । सर्वत्र भवेति सम्बध्यते । मात्रास्पर्शास्त्वित्युक्तन्यायेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुर्भव । असह्यं दुःखं कथं वा सोढव्यमित्यपेक्षायामाह - नित्यसत्त्वस्थो नित्यमचञ्चलं यत्सत्त्वं धैर्यापरपर्यायं तस्मिंस्तिष्ठतीति तथा । रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वो हि शीतोष्णादिपीडया मरिष्यामीति मन्वानो धर्माद्विमुखो भवति । त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमात्रालम्बनो भव ।

164 ननु शीतोष्णादिसहनेऽपि क्षुत्पिपासादिप्रतीकारार्थं किञ्चिदनुपात्तमुपादेयमुपात्तं च रक्षणीयमिति तदर्थं यत्ने क्रियमाणे कुतः सत्त्वस्थत्वमित्यत आह – निर्योगक्षेमः, अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तद्रहितो भव । चित्तविक्षेपकारिपरिग्रहरहितो भवेत्यर्थः । न चैवं चिन्ता कर्तव्या कथमेवं सति जीविष्यामीति । यतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव तव योगक्षेमादि निर्वाहयिष्यतीत्याह -- आत्मवान्, आत्मा परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमादिनिर्वाहकत्वेन च वर्तते यस्य स आत्मवान् । सर्वकामनापरित्यागेन परमेश्वरमाराधयतो मम स एव देहयात्रामात्रमपेक्षितं सम्पादयिष्यतीति निश्चित्य निश्चिन्तो भवेत्यर्थः । आत्मवानप्रमत्तो भवेति वा ॥45 ॥

---

163 क्योंकि इसप्रकार कामना के न होने पर फल भी नहीं होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तुम निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम हो जाओ । इससे कर्ममय स्वभाववाला होने से संसार का निरास हो जाता है । किन्तु शीतोष्णादि द्वन्द्वों के प्रतीकार के लिए तो वस्त्रादि की अपेक्षा रहती है, फिर निष्कामता कैसे रह सकती है ? अत: कहते हैं -- निर्द्वन्द्व हो जाओ । यहाँ 'भव' = 'हो जाओ' का सम्बन्ध सर्वत्र = सभी पदों के साथ लगाना चाहिए । 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (गीता, 2.14)-- इत्यादि श्लोक में उक्त न्याय से शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करनेवाले हो जाओ । 'दु:ख तो असह्य होता है, उसे कैसे सहा जा सकता है ? -- ऐसी आशंका होने पर कहते हैं -- नित्यसत्त्वस्थ हो जाओ = नित्य -- अविचल सत्त्व, जिसका दूसरा नाम धैर्य है, उसमें जो स्थित रहता है वैसे हो जाओ । रज और तम से जिसका सत्त्व अभिभूत हो गया है वही 'शीतोष्णादि की पीड़ा से मर जाऊँगा' -- ऐसा मानकर धर्म से विमुख होता है । तुम तो रज और तम को अभिभूत कर सत्त्वमात्र का आलम्बन करो ।

164 किन्तु शीतोष्णादि को सहन करने पर भी भूख-प्यास आदि के प्रतीकार के लिए कुछ अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करना और प्राप्त हुई वस्तुओं की रक्षा करना तो आवश्यक ही है । इसके लिए प्रयत्न किये जाने पर सत्त्वस्थता कैसे रह सकती है ? अत: कहते हैं -- निर्योगक्षेम हो जाओ । अप्राप्त को प्राप्त करना 'योग' है और प्राप्त की रक्षा करना क्षेम' है -- योग और क्षेम -- इस दोनों से रहित हो जाओ । अर्थात् चित्तविक्षेपकारी परिग्रह से रहित हो जाओ । और ऐसी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि 'ऐसा होने पर मैं कैसे जीवित रहूँगा', क्योंकि सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही तुम्हारे योगक्षेम आदि का निर्वाह कर देंगे । इसी से कहते हैं -- आत्मवान् हो जाओ । आत्मा अर्थात् परमात्मा ही ध्येयरूप से = योगक्षेमादि के निर्वाहकरूप से है जिसका, वह 'आत्मवान्' कहलाता है । तात्पर्य यह है कि 'समस्त कामनाओं का परित्याग कर परमेश्वर की आराधना में व्यापृत होने पर वही मेरी देहयात्रा मात्र के लिए अपेक्षित वस्तुजात का सम्पादन करेंगे' -- ऐसा निश्चय करके निश्चिन्त हो जाओ । अथवा, आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त हो जाओ -- यह अर्थ है ॥ 45 ॥

165 न चैवं शङ्कनीयं सर्वकामनापरित्यागेन कर्म कुर्वन्नहं तैस्तैः कर्मजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामिति। यस्मात् -

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 46 ॥

166 उदपाने क्षुद्रजलाशये, जातावेकवचनं, यावानर्थो यावत्स्नानपानादि प्रयोजनं भवति सर्वतः संप्लुतोदके महति जलाशये तावानर्थो भवत्येव। यथा हि पर्वतनिर्झराः सर्वतः स्रवन्तः क्वचिदुपत्यकायामेकत्र मिलन्ति तत्र प्रत्येकं जायमानमुदकप्रयोजनं समुदिते सुतरां भवति सर्वेषां निर्झराणामेकत्रैव कासारेऽन्तर्भावात्। एवं सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु काम्यकर्मसु यावानर्थो हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्तस्तावान्विजानतो ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कृतवतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोर्भवत्येव।

165 इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिए कि समस्त कामनाओं का परित्याग कर कर्म करने से मैं उन-उन कर्मजनित आनन्दों से वञ्चित रहूँगा, क्योंकि --

[क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन सर्वत्र व्याप्त जलवाले महान् जलाशय में सिद्ध होता ही है। इसीप्रकार समस्त वेदोक्त काम्य कर्मों में हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना प्रयोजन ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण = ब्रह्मजिज्ञासु को भी अवश्य होता ही है॥ 46 ॥]

166 उदपान[236] अर्थात् क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में -- यहाँ 'उदपाने' -- इस पद में जाति को लक्ष्य कर एक वचन का प्रयोग हुआ है -- जितना प्रयोजन[237] = स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन होता है सर्वतः = सभी ओर से संप्लुत = परिपूर्ण जलवाले महान् जलाशय में उतना प्रयोजन होता ही है। जैसे पर्वत के झरने सभी ओर से बहते हुए कहीं उपत्यका[238] = घाटी में एकत्र = एक स्थान पर मिल जाते हैं तो वहाँ प्रत्येक = एक-एक झरने से पूर्ण होने वाला जल का प्रयोजन उस समुदित = एकत्रित जल से सुतराम् = और भी सुगमता से पूर्ण हो जाता है, क्योंकि वहाँ एक ही कासार[239] = महाजलाशय या सरोवर में सभी झरनों का अन्तर्भाव =समावेश है ही। इसी प्रकार समस्त वेदों में अर्थात् वेदोक्त काम्य कर्मों में हिरण्यगर्भानन्दपर्यन्त = मनुष्यलोक से लेकर हिरण्यगर्भलोकपर्यन्त आनन्दरूप जितना प्रयोजन सिद्ध

---

236. 'उदकं पीयतेऽस्मिन्निति उदपानम्' अर्थात् जिसमें जलपान किया जाता है उसे 'उदपान' कहते हैं। 'उदपान' कूप, तडाग आदि क्षुद्र जलाशयों को कहा जाता है।

237. यावानर्थ = जितना प्रयोजन = स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन। तात्पर्य यह है कि संसार में किसी क्षुद्र तडाग या कूप में स्नान किया जा सकता है तो पान नहीं किया जा सकता; पुनः किसी क्षुद्र जलाशय कूप में वस्त्रप्रक्षालन ही किया जा सकता है तो स्नानादि नहीं अर्थात् किसी एक ही क्षुद्र जलाशय से सभी प्रयोजनों की एक साथ सिद्धि नहीं हो सकती है, पृथक्-पृथक् क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में पृथक्-पृथक् प्रयोजनों की सिद्ध होती है, इसीलिए कहा गया है कि क्षुद्र-क्षुद्र जलाशयों में जितना प्रयोजन सिद्ध होता है। उतना प्रयोजन सभी ओर से परिपूर्णजलवाले महान् जलाशय में सिद्ध होता ही है।

238. पर्वतीय भूप्रदेश दो प्रकार के होते हैं – अधित्यका और उपत्यका। जो पर्वत के ऊर्ध्वभाग की समतल भूमि होती है उसे 'अधित्यका' कहते हैं (अधिरूढा पर्वतोपरिभागम्) और जो पर्वत के समीप निम्न प्रदेश होता है उसे 'उपत्यका' कहते हैं (उपसमीपे आसन्ना भूमिः)। अमरकोशकार ने कहा है – 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' (अमरकोश, 2.4.7)।

239. कासारः = कस्य जलस्य आसारो यत्र। अथवा, कासं शब्दम् ऋच्छति प्राप्नोति जलगमनपतनादिकाले। अथवा, सपद्मो निष्पद्मो वा महाजलाशयः, सरोवरः। 'कासारः सरसी सरः' – हलायुधकोशः, 675।

क्षुद्रानन्दानां ब्रह्मानन्दांशत्वात्तत्र क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात् । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । एकस्याप्यानन्दस्याविद्याकल्पिततत्तदुपाधिपरिच्छेदमादायां-शांशिवद्व्यपदेश आकाशस्येव घटाद्यवच्छेदकल्पनया ।

167 तथा च निष्कामकर्मभिः शुद्धान्तःकरणस्य तवाऽऽत्मज्ञानोदये परब्रह्मानन्दप्राप्तिः स्यात्तथैव च सर्वानन्दप्राप्तौ न क्षुद्रानन्दप्राप्तिनिबन्धनवैयग्र्यावकाशः । अतः परमानन्दप्रापकाय तत्त्वज्ञानाय निष्कामकर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र यथा तथा भवतीतिपदत्रयाध्याहारो यावांस्तावा-नितिपदद्वयानुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः ॥ 46 ॥

168 ननु निष्कामकर्मभिरात्मज्ञानं सम्पाद्य परमानन्दप्राप्तिः क्रियते चेदात्मज्ञानमेव तर्हि सम्पाद्यं किं बह्वायासैः कर्मभिर्बहिरङ्गसाधनभूतैरित्याशङ्क्याऽऽह –

होता है उतना प्रयोजन उस विज्ञानी = ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण[240] = ब्रह्मजिज्ञासु को भी अवश्य होता ही है, क्योंकि क्षुद्र आनन्द ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं, वहाँ ब्रह्मानन्द में क्षुद्र आनन्दों का अन्तर्भाव = समावेश है ही । श्रुति भी कहती है – ' इसी ब्रह्मानन्द के अंश को पाकर ही सभी प्राणी जीवन-धारण करते हैं' (बृ० उ०, 4.3.32) । जिसप्रकार घटादि के अवच्छेदक की कल्पना से एक ही आकाश में अंशाशिभाव का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही अविद्याकल्पित तद्-तद् उपाधि के परिच्छेद को लेकर एक ही आनन्द में अंश और अंशी के समान व्यवहार किया जाता है ।

167 इस प्रकार निष्काम कर्मों से अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर आत्मज्ञान के उदय से जब तुमको परम ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी तो उसी से समस्त आनन्दों की प्राप्ति हो जाने के कारण क्षुद्र आनन्दों की प्राप्ति हेतु व्यग्रता का कोई अवकाश नहीं रहेगा । अतः परमानन्द की प्राप्ति करानेवाले तत्त्वज्ञान के लिए निष्काम कर्म करो – यह अभिप्राय है । यहाँ = प्रकृत श्लोक में 'यथा', 'तथा' और 'भवति' – इन तीन पदों का अध्याहार करना चाहिए तथा 'यावान्' और 'तावान्' -- इन दो पदों का दार्ष्टान्त में सम्बन्ध समझना चाहिए ॥ 46 ॥

168 'यदि निष्काम कर्मों से आत्मज्ञान का सम्पादन करके परमानन्द की प्राप्ति की जाती है, तो आत्मज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिए, उसके बहुकष्टसाध्य बहिरंग साधनभूत कर्मों से क्या प्रयोजन है ?' -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं :–

---

240. यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्म जानातीति ब्रह्मणः' – इस विग्रह से 'ब्रह्मन्' शब्द से 'तदधीते तद्वेद' – (पाणिनिसूत्र, 4.2.59) – इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । अतः 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ यहाँ ब्रह्मज्ञानी है, जाति विशेष नहीं है । यदि यह शंका की जाती है कि 'ब्रह्म वेत्ति' इस विग्रह से 'ब्राह्म' शब्द बनेगा, 'ब्राह्मण' नहीं, क्योंकि 'ब्राह्मोऽजातौ' (पाणिनिसूत्र 6.4.171) -- इस सूत्र के अनुसार जातिभिन्न अर्थ में 'ब्राह्म'--यह निपातन किया गया है । अतः ब्राह्मणत्वजाति- विशिष्ट अर्थ में ही 'ब्राह्मण' शब्द उचित ही है; तो इसके समाधान में 'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार कर सकतें हैं -- 'ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणः' -- इस विग्रह से 'ब्रह्मन्' शब्दपूर्वक शब्दार्थक 'अण्' धातु से 'पचाद्यच्' से 'अच्' प्रत्यय होकर 'ब्रह्मण' हुआ और 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र 5.4.38) सूत्र से 'अण्'प्रत्यय होकर 'ब्राह्मण' शब्द निष्पन्न हुआ । यहाँ 'ब्रह्म' शब्द वेदपरक है, जो प्रकृत श्लोक के 'तावान्सर्वेषुवेदेषु' – इस वाक्य के अनुसार स्वीकार्य है और उचित भी है, अतः 'ब्राह्मण' शब्द वैदिकमात्रपरक हुआ, जातिपरक नहीं । इस प्रकार 'ब्राह्मण' का अर्थ यहाँ 'ब्रह्मज्ञानी' अथवा वैदिक है, 'ब्राह्मण' जाति नहीं है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ 47 ॥

169 ते तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येवान्तःकरणशोधकेऽधिकारो मयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ । कर्म च कुर्वतस्तव तत्फलेषु स्वर्गादिषु कदाचन कस्याञ्चिदप्यवस्थायां कर्मानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं तत्काले वाऽधिकारो मयेदं भोक्तव्यमिति बोधो माऽस्तु ।

170 ननु मयेदं भोक्तव्यमितिबुद्ध्यभावेऽपि कर्म स्वसामर्थ्यादेव फलं जनयिष्यतीति चेन्नेत्याह-- मा कर्मफलहेतुर्भूः, फलकामनया हि कर्म कुर्वन्फलस्य हेतुरुत्पादको भवति । त्वं तु निष्कामः सन्कर्मफलहेतुर्मा भूः । न हि निष्कामेन भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कर्म फलाय कल्पत इत्युक्तम् । फलाभावे किं कर्मणेत्यत आह-- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, यदि फलं नेष्यते किं कर्मणा दुःखरूपेणेत्यकरणे तव प्रीतिर्मा भूत् ॥ 47 ॥

171 पूर्वोक्तमेव विवृणोति--

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ 48 ॥

[तुम्हारा अधिकार तो कर्म करने में ही है, किसी भी अवस्था में उसके फलों को भोगने में नहीं है । अतः तुम कर्मफल के हेतु मत बनो, और कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए ॥ 47 ॥]

169 अशुद्ध अन्तःकरण वाले, अतः तात्त्विकज्ञान की प्राप्ति में अयोग्य तुम्हारा अन्तःकरण के शोधक कर्म में ही अधिकार अर्थात् 'मेरा यह कर्त्तव्य है' -- ऐसा बोध होना चाहिए । ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्य के विचारादि में तुम्हारा अधिकार नहीं है । कर्म करते हुए भी तुम्हारा कदाचन = किसी भी अवस्था में अर्थात् कर्मानुष्ठान के पूर्व, पश्चात् या उसी समय उसके फल स्वर्गादि में अधिकार अर्थात् 'मेरा यह भोक्तव्य है' -- ऐसा बोध नहीं होना चाहिए ।

170 यदि कहो कि 'मेरा यह भोक्तव्य है' -- ऐसी बुद्धि न होने पर भी कर्म अपने सामर्थ्य से ही फल तो उत्पन्न करेगा ही, तो कहते हैं, - नहीं । तुम कर्मफल के हेतु मत बनो । फल की कामना से कर्म करने पर ही कर्त्ता फल का हेतु = उत्पादक होता है । तुम तो निष्काम होकर कर्मफल के हेतु बनो, क्योंकि निष्काम भाव से अर्थात् भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ कर्म फल के लिए नहीं होता, यह कहा गया है । फल न रहने पर कर्म से ही क्या प्रयोजन ? -- अतः कहते हैं -- कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए = 'यदि फल ही की इच्छा नहीं है तो दुखःरूप कर्म से ही क्या प्रयोजन है' -- ऐसा समझकर कर्म न करने में तुम्हारी प्रीति नहीं होनी चाहिए ॥ 47 ॥

171 पूर्वोक्त ही को स्पष्ट करते हैं --

[हे धनञ्जय ! तुम योग में स्थित होकर, फल की अभिलाषा छोड़कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्मों को करो । यह सिद्धि और असिद्धि में समता ही योग कहा जाता है ॥ 48 ॥

172 हे धनञ्जय त्वं योगस्थः सन्सङ्गं फलाभिलाषं कर्तृत्वाभिनिवेशं च त्यक्त्वा कर्माणि कुरु। अत्र बहुवचनात्कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यत्र जातावेकवचनम्। सङ्गत्यागोपायमाह- सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा फलसिद्धौ हर्षं फलासिद्धौ च विषादं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनबुद्ध्या कर्माणि कुर्वित्यर्थः।

173 ननु योगशब्देन प्राक्कर्मोक्तम्। अत्र तु योगस्थः कर्माणि कुर्वित्युच्यते। अतः कथमेतद्बोद्धुं शक्यमित्यत आह-समत्वं योग उच्यते। यदेतत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वमिदमेव योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोच्यते न तु कर्मेति न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन व्याख्यानं क्रियत इत्यपौनरुक्त्यमिति भाष्यकारीयः पन्थाः। 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र जयाजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता। इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलपरित्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेषः ॥ 48 ॥

174 ननु किं कर्मानुष्ठानमेव पुरुषार्थो येन निष्फलमेव सदा कर्तव्यमित्युच्यते 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात्, तद्वरं फलकामनयैव कर्मानुष्ठानमिति चेन्नेत्याह -

---

172 हे धनञ्जय ![241] तुम योग में स्थित होकर, सङ्ग = फल की अभिलाषा अर्थात् कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर कर्मों को करो। यहाँ = इस श्लोक में 'कर्माणि' पद बहुवचनान्त होने से 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' -- इत्यादि पूर्वश्लोक में प्रयुक्त एकवचनान्त 'कर्म' पद को भी जाति के तात्पर्य से एकवचन में प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। सङ्गत्याग का उपाय कहते हैं -- सिद्धि और असिद्धि में समान होकर अर्थात् फल की सिद्धि में हर्ष और फल की असिद्धि में विषाद छोड़कर केवल ईश्वराराधन-बुद्धि से कर्मों को करो।

173 यदि शंका हो कि पहले तो 'योग' शब्द से कर्म को कहा गया है और अब यहाँ 'योग में स्थित होकर कर्म करो' -- 'ऐसा कहा जा रहा है, अतः इसको कैसे समझा जा सकता है ? -- तो कहते हैं -- 'समता ही योग कहा जाता है'। यह जो सिद्धि और असिद्धि में समता है वही 'योगस्थः' -- इस पद में 'योग' शब्द से कही गई है, कर्म नहीं, अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है -- यह अर्थ है। यहाँ उत्तरार्ध से पूर्वार्ध की व्याख्या की गई है, अतः पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए -- यह भाष्यकार का मार्ग है। 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) -- इस श्लोक में युद्ध का प्रकरण होने के कारण जय और पराजय में समता रखते हुए केवल युद्ध की ही कर्तव्यता कही गई है, किन्तु यहाँ तो दृष्ट और अदृष्ट -- सभी फलों का परित्याग करके सभी प्रकार के कर्मों की कर्तव्यता कही गई है -- यही विशेषता है ॥ 48 ॥

174 'क्या कर्मानुष्ठान ही पुरुषार्थ है ? जिससे 'सर्वदा फलहीन कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए' -- यह कहा जा रहा है। तो 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' = 'प्रयोजन के बिना तो मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता' -- इस न्याय के अनुसार फल की कामना से ही कर्मानुष्ठान अच्छा है' -- ऐसी आशंका हो तो भगवान् कहते हैं --

---

241. यहाँ भगवान् ने 'धनञ्जय' सम्बोधन साभिप्राय किया है। धनञ्जय का अर्थ है – 'धनं जयति सम्पादयतीति धनञ्जयः' – अर्थात् जो धन को जीतता है वह 'धनञ्जय' है। कहा भी है –

'सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमाश्रित्य केवलम्।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् ॥
– महाभारत, 4.42.13

इसीलिए यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम युद्ध में अनेक बार जयलाभ कर बहुधन को तो जय कर चुके हो। अब तुम परमार्थज्ञानरूप धन को जय करो, तभी तुम्हारे नाम 'धनञ्जय' की सार्थकता होगी।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ 49 ॥

175 बुद्धियोगादात्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगाद्दूरेणातिविप्रकर्षेणावरमधमंकर्म फलाभिसंधिना क्रियमाणं जन्ममरणहेतुभूतम् । अथवा परमात्मबुद्धियोगाद्दूरेणावरं सर्वमपि कर्म हि यस्माद्धे धनञ्जय तस्माद्बुद्धौ परमात्मबुद्धौ सर्वानर्थनिवर्तिकायां शरणं प्रतिबन्धकपापक्षयेण रक्षकं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ कर्तुमिच्छ । ये तु फलहेतवः फलकामा अवरं कर्म कुर्वन्ति ते कृपणाः सर्वदा जन्ममरणादिघटीयन्त्रभ्रमणेन परवशा अत्यन्तदीना इत्यर्थः । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः । तथा च त्वमपि कृपणो मा भूः किंतु सर्वानर्थनिवर्तकात्मज्ञानोत्पादकं निष्कामकर्मयोगमेवानुतिष्ठेत्यभिप्रायः । यथा हि कृपणा जना अतिदुःखेन धनमर्जयन्तो यत्किंचिद्दृष्टसुखमात्रलोभेन दानादिजनितं महत्सुखमनुभवितुं न शक्नुवन्तीत्यात्मानमेव वञ्चयन्ति तथा महता दुःखेन कर्माणि कुर्वाणाः क्षुद्रफलमात्रलोभेन परमानन्दानुभवेन वञ्चिता इत्यहो दौर्भाग्यं मौढ्यं च तेषामिति कृपणपदेन ध्वनितम् ॥ 49 ॥

176 एवं बुद्धियोगाभावे दोषमुक्त्वा तद्भावे गुणमाह –

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ 50 ॥

[हे धनञ्जय बुद्धियोग की अपेक्षा -- आत्मबुद्धि के साधनभूत निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा -- फलाभिसन्धि से किया जानेवाला कर्म अत्यन्त विप्रकृष्ट होने के कारण अवर है । अत: तुम परमात्मबुद्धि में शरण ग्रहण करो, क्योंकि फल की कामना रखनेवाले मनुष्य तो कृपण होते हैं ।। 49 ।।]

175 बुद्धियोग की अपेक्षा -- आत्मबुद्धि के साधनभूत निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा फल की अभिलाषा से किया जानेवाला जन्म-मरण का हेतुभूत कर्म दूर = अत्यन्त विप्रकृष्ट होने के कारण अवर-अधम है । अथवा परमात्मबुद्धियोग की अपेक्षा सभी कर्म दूर होने के कारण अवर हैं । हे धनञ्जय ! क्योंकि ऐसा है इसलिए तुम बुद्धि में अर्थात् सम्पूर्ण अनर्थों की निवर्तिका परमात्मबुद्धि में शरणग्रहण करो = प्रतिबन्धकपापक्षय के द्वारा रक्षा करनेवाले निष्काम कर्मयोग को करने की इच्छा करो । जो फलहेतु = फल की कामना करनेवाले मनुष्य अधम कर्म करते हैं वे तो सर्वदा कृपण होते हैं = जन्म-मरणादि-घटीयन्त्र में घूमते रहने के कारण परवश अर्थात् अत्यन्त दीन होते हैं । जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने इस लोक से मरकर चला जाता है, वह कृपण है' । इस प्रकार तुम भी कृपण मत हो, किन्तु सम्पूर्ण अनर्थों के निवर्तक आत्मज्ञान के उत्पादक निष्काम कर्मयोग का ही अनुष्ठान करो -- यह अभिप्राय है । जिस प्रकार कृपणजन अत्यन्त दु:ख से धन का उपार्जन कर यत्किञ्चित् = थोड़े-से दृष्ट सुख के ही लोभ से दानादि के कारण मिलनेवाले महान् सुख का अनुभव नहीं कर सकते, अत: वे अपने को ही धोखा देते हैं, इसीप्रकार ये महान् दु:ख से कर्मों को कर क्षुद्र फलों के ही लोभ से परमानन्द के अनुभव से वञ्चित रह जाते हैं -- अहो ! उनका बड़ा ही दुर्भाग्य और मूढ़ता है -- यह कृपण शब्द से ध्वनित होता है ।। 49 ।।

176 इस प्रकार बुद्धियोग के अभाव में दोष कहकर अब बुद्धियोग के सद्भाव में गुण कहते हैं :--

[कर्मों में समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्ति द्वारा पुण्य औप पाप -- दोनों का परित्याग कर देता है, इसलिए तुम बुद्धियोग के लिए प्रयत्न करो । यह कर्मों में समत्वरूप योग महान् कौशल है ।। 50 ।।

177 इह कर्मसु बुद्धियुक्तः समत्वबुद्ध्या युक्तो जहाति परित्यजति उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण । यस्मादेवं तस्मात्समत्वबुद्धियोगाय त्वं युज्यस्व घटस्वोद्युक्तो भव । यस्मादीदृशः समत्वबुद्धियोग ईश्वरार्पितचेतसः कर्मसु प्रवर्तमानस्य कौशलं कुशलभावो यद्बन्धहेतूनामपि कर्मणां तदभावो मोक्षपर्यवसायित्वं च तन्महत्कौशलम् ।

178 समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कर्मात्माऽपि सन्दुष्टकर्मक्षयं करोतीति महाकुशलः । त्वं तु न कुशलो यतश्चेतनोऽपि सन् सजातीयदुष्टक्षयं न करोषीति व्यतिरेकोऽत्र ध्वनितः । अथवा इह समत्वबुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति सत्त्वशुद्धिद्वारेण बुद्धियुक्तः परमात्मसाक्षात्कारवान् सञ्जहात्युभे सुकृतदुष्कृते । तस्मात् समत्वबुद्धियुक्ताय कर्मयोगाय युज्यस्व । यस्मात् कर्मसु मध्ये समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कौशलं कुशलो दुष्टकर्मनिवारणचतुर इत्यर्थः ॥ 50 ॥

179 ननु दुष्कृतहानमपेक्षितं न तु सुकृतहानं पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह –

---

177 इह[242] अर्थात कर्मों में बुद्धियुक्त = समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि से उत्पन्न हुए ज्ञान की प्राप्ति द्वारा सुकृत-दुष्कृत अर्थात् पुण्य-पाप -- दोनों ही का परित्याग कर देता है । क्योंकि ऐसा है इसलिए तुम समत्वबुद्धियोग के लिए युक्त = प्रयत्नशील अर्थात् उद्युक्त = तैयार हो जाओ । कारण कि ऐसा समत्वबुद्धियोग कर्मों में प्रवर्तमान ईश्वरार्पितचित्तवाले पुरुष का कौशल = कुशलभाव है; बन्धन के हेतुभूत होने पर भी कर्मों में बन्धन न रहना और मोक्ष में परिसमाप्त होना है वह महान् कौशल ही है ।

178 समत्वबुद्धि से युक्त कर्मयोग कर्मरूप होने पर भी दुष्टकर्मों का क्षय करता है, अतः वह महाकुशल है । तुम तो कुशल नहीं हो, क्योंकि चेतन होने पर भी अपने सजातीय दुष्ट पुरुषों का क्षय नहीं करते हो -- यह व्यतिरेक यहाँ ध्वनित होता है । अथवा, इह = इस समत्वबुद्धियुक्त कर्म के करने पर सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा बुद्धियुक्त = परमात्मा के साक्षात्कारवाला होकर पुरुष पुण्य और पाप - दोनों का त्याग करता है । इसलिए तुम समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग के लिए प्रयत्न करो, क्योंकि कर्मों के मध्य में समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग कौशल = कुशल अर्थात् दुष्ट कर्मों के निवारण में चतुर है ॥ 50 ॥

179 'दुष्कृत = पाप का परित्याग तो अपेक्षित = उचित है, किन्तु सुकृत = पुण्य का त्याग तो उचित नहीं है, क्योंकि इसके त्याग से तो पुरुषार्थ ही से गिर जाना होगा' -- ऐसी आशंका करके भगवान् तुच्छ फल के परित्याग से परमपुरुषार्थरूप फल की प्राप्ति को कहते हैं --

---

242. भाष्यकार आचार्य शंकर ने 'इह' शब्द का अर्थ 'अस्मिँल्लोके' = 'इस लोक में' किया है और श्लोकान्वय किया है – 'बुद्धियुक्त पुरुष इसलोक में पुण्य और पाप का त्याग करता है' । किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'इह' शब्द का अर्थ 'कर्मसु' = 'कर्मों में' किया है और श्लोक का अर्थ किया है 'कर्मों में समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप का परित्याग करता है' । आचार्य शंकर के अर्थानुसार तो 'इह' का कर्म के साथ कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता है, जबकि मधुसूदन सरस्वती ने 'इह' का शाब्दिक अर्थ ही 'कर्मसु' किया है, किन्तु दोनों अर्थों में कोई भेद नहीं है । द्वितीय अर्थ में 'इह' का कर्म के साथ शाब्दिक सम्बन्ध है, तो प्रथम अर्थ में 'इह' का कर्म के साथ प्राकरणिक सम्बन्ध है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ 51 ॥

180 समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्व शुद्धिद्वारेण मनीषिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति । तादृशाश्च सन्तो जन्मात्मकेन बन्धेन विनिर्मुक्ता विशेषेणाऽऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषं मुक्ताः पदं पदनीयमात्मतत्त्वमानन्दरूपं ब्रह्मानामयमविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहिताभयं मोक्षाख्यं पुरुषार्थं गच्छन्त्यभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

181 यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्वबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तः-करणशुद्धयस्तत्त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्नात्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञानतत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्ति-

[क्योंकि समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष कर्मजनित फल को त्यागकर केवल ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धि द्वारा मनीषी = आत्मज्ञानी हो जाते है और जन्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर अविद्या तथा तत्कार्यात्मक रोग से रहित मोक्ष नामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥ 51 ॥]

180 क्योंकि समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष कर्मजनित फल को त्यागकर केवल ईश्वर की आराधना के लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मनीषी अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से जन्य मनीषा से युक्त हो जाते हैं । और ऐसे होकर वे जन्मात्मक बन्धन से विनिर्मुक्त = विशेष अर्थात् आत्यन्तिकरूप से निरवशेष = सर्वथा मुक्त होकर अनामय -- अविद्या और उसके कार्यरूप रोग से रहित पद = पदनीय-गमनीय-प्राप्त करने योग्य आत्मतत्त्व-आनन्दरूप ब्रह्म अर्थात् अभय मोक्ष नामक पुरुषार्थ को जाते हैं अर्थात् अभेदरूप[243] से प्राप्त करते हैं ।[244]

181 क्योंकि इसप्रकार फल की कामना का त्यागकर समत्वबुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले और उनके द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे पुरुष 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य प्रमाणों से उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' -- इत्याकारक आत्मतत्त्वज्ञान से अज्ञान और उसके कार्य का नाश[245] हो जाने के कारण सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष नामक विष्णु के परमपद को जाते हैं, इसलिए तुम भी 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता, 2.7) = 'जो निश्चित श्रेय हो

243. तात्पर्य यह है कि लोक में गन्ता गमनीय स्थान को जाता है, गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है, गन्तव्य स्थान को प्राप्त करने पर भी गन्ता और गन्तव्य में भेद ही रहता है, गन्ता गन्तव्य स्थान नहीं हो जाता । किन्तु आत्मज्ञान में इसप्रकार का भेद नहीं रहता, अपितु आत्मज्ञान में गन्ता और गन्तव्य – दोनों ब्रह्मरूप हो जाते हैं, इसीलिए यहाँ कहा है – 'अभेदेन प्राप्नुवन्ति' अर्थात् ' अभेद-रूप से प्राप्त करते हैं' ।

244. भाव यह है कि मनीषीजन केवल कर्मजनित भविष्यत् फल अर्थात् इष्टानिष्ट देहप्राप्तिरूप भविष्यत् जन्म का ही त्याग नहीं करते हैं, अपितु वर्तमान जन्मरूप बन्धन से भी जीवित अवस्था में ही विनिर्मुक्त = वि = विशेषरूप से अर्थात् आत्यन्तिकरूप से निर् = निरवशेषरूप से = सर्वथा मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करते हैं । इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर अनामय = अविद्या और उसका कार्यरूप जो संसार है वही आमय = रोग या उपद्रव है इस आमयशून्य = जन्म-मरणादिशून्य-- सर्वोपद्रवशून्य-- समस्त संसार के स्पर्श से शून्य अभयरूप मोक्ष नामक परमपद = आनन्दस्वरूप ब्रह्मपद को अभेदरूप से प्राप्त करते हैं अर्थात् देहपात के पश्चात् विदेह कैवल्य को प्राप्त करते हैं । फलतः मनीषीजन जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं ।

245. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' अर्थात् 'निमित्त = कारण के अभाव में नैमित्तिक = कार्य का भी अभाव हो जाता है' – इस नियम के अनुसार आत्मतत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने पर उसके कार्य का भी नाश हो जाता है ।

परमानन्दप्राप्तिरूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति तस्मात्त्वमपि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्म इत्युक्तेः श्रेयो जिज्ञासुरेवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ 51 ॥

182 एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यादित्यत आह –

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ 52 ॥

183 न ह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति कालनियमोऽस्ति । किंतु यदा यस्मिन्काले ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतितरिष्यति अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्यज्ञानविलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत् । तदा तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैतृष्ण्यं गन्तासि प्राप्तासि । 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इति श्रुतेः । निर्वेदेन फलेनान्तःकरणशुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥ 52 ॥

184 अन्तःकरणशुद्ध्यैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह –

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ 53 ॥

वह मुझे बताइए' -- ऐसा कहने से श्रेय के जिज्ञासु होने के कारण इसप्रकार के कर्मयोग का अनुष्ठान करो -- यह भगवान् का अभिप्राय है ।। 51 ।।

182 'इसप्रकार कर्मों का अनुष्ठान करने से मेरे सत्त्व = मन-चित्त की शुद्धि कब होगी' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् कहते हैं --
[जब तुम्हारी बुद्धि मोहकलिल = अविवेकात्मक कालुष्य को पार कर लेगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत कर्मफल में निर्वेद को प्राप्त होओगे ।। 52 ।।]

183 'इतने समय में सत्त्व-शुद्धि = चित्तशुद्धि होती है' -- ऐसा कोई कालनियम तो नहीं है, किन्तु जब = जिस समय तुम्हारी बुद्धि = अन्त:करण मोहकलिल = अविवेकात्मक कालुष्य आर्थात् 'मैं यह हूँ', 'यह मेरा है' -- इत्यादि अत्यन्त गहन = जटिल अज्ञान के विलास को पार कर लेगी अर्थात् रज और तम के मल को छोड़कर शुद्धभाव को प्राप्त हो जायेगी; तब = उस समय तुम श्रोतव्य = श्रवणयोग्य और श्रुत कर्मफल के निर्वेद = वैतृष्ण्य को प्राप्त होओगे[246] । श्रुति भी कहती है -- ' कर्मोपार्जित लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय' (मु० उ 0,1.2.12) । अभिप्राय यह है कि निर्वेदरूप फल से अर्थात् फलवैतृष्ण्य से तुम अन्त:करण की शुद्धि को जानोगे ।। 52 ।।

184 'अन्त:करण की शुद्धि से इसप्रकार वैराग्य उत्पन्न होने पर ज्ञान की प्राप्ति कब होगी' -- ऐसी अपेक्षा = जिज्ञासा होने पर कहते हैं :--
[अनेकविध फल का वर्णन करनेवाली श्रुतियों से विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परमात्मा में स्थित हो जायेगी तब तुम योग को प्राप्त करोगे ।।53 ।।]

---

246. श्रीमद्भागवत में कहा है –
'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' । (स्कन्ध 11, अ० 20, श्लोक 9)
'भगवान् कहते हैं – कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधिनिषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय'।

185 ते तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारिततात्पर्यैर्विप्रतिपन्नाऽनेकविधसंशयविपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ परमात्मनि निश्चला जाग्रत्स्वप्रदर्शनलक्षणविक्षेपरहिताऽचला सुषुप्तिमूर्छास्तब्धीभावादिरूपलयलक्षणचलनरहिता सती स्थास्यति लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चलाऽसंभावनाविपरीतभावनारहिताऽचला दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निर्वातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना । तदा तस्मिन् काले योगं जीवपरमात्मैक्यलक्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि । तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ 53॥

186 एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच यान्येव हि जीवन्मुक्तानां लक्षणानि तान्येव मुमुक्षूणां मोक्षोपायभूतानीति मन्वानः:-

185 श्रुतियों से = अनेक प्रकार के फलों के श्रवण से, उनका तात्पर्य न समझकर विप्रतिपन्न = अनेक प्रकार के संशय और विपर्ययों से युक्त होने के कारण पहले विक्षिप्त[247] हुई तुम्हारी बुद्धि जब = जिस समय निष्काम कर्मजन्य चित्तशुद्धि से उत्पन्न विवेक से दोषदर्शन द्वारा उस विक्षेप को त्यागकर समाधि = परमात्मा में निश्चल = जाग्रत् और स्वप्रदर्शनरूप विक्षेप से रहित और अचल अर्थात् सुषुप्ति, मूर्च्छा, स्तब्धीभाव आदि रूप लयलक्षण चलन से रहित होकर स्थित हो जायेगी अर्थात् लय -- विक्षेपरूप[248] दोषों को त्यागकर समाहित हो जायेगी; अथवा, निश्चला = असम्भावना और विपरीतभावना से रहित तथा अचला = दीर्घकाल से आरम्भ, निरन्तर और सत्कारपूर्वक सेवन करने से विजातीय प्रत्ययों से दूषित न होकर वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक -- दीपक की लौ के समान आत्मा में स्थित हो जायेगी -- ऐसी योजना करनी चाहिए । तब = उससमय तुम योग = जीव और परमात्मा के ऐक्यरूप समस्त योग के फल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अखण्ड साक्षात्कार को प्राप्त करोगे । अभिप्राय यह है कि तब तुम पुन: साध्यान्तर न होने से कृतकृत्य और स्थितप्रज्ञ[249] हो जाओगे ॥ 53 ॥

186 इसप्रकार अवसर पाकर यह मानते हुए कि जो जीवन्मुक्तों के लक्षण होंगे वे ही मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष के उपाय होने चाहिए, अर्जुन स्थितप्रज्ञ का लक्षण जानने के लिए बोले :--

247. चित्त की पांच भूमियाँ है – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । अत्यन्त चञ्चल चित्त को 'क्षिप्त' और निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादिवाले चित्त को 'मूढ़' कहते हैं । जिसमें कभी-कभी स्थिरता होती रहती है, उसे 'विक्षिप्त' कहते हैं । एक ही विषय में विलक्षणवृत्ति के व्यवधान से रहित सदृश वृत्तियों के प्रवाहवाले चित्त को 'एकाग्र'कहते हैं । सर्ववृत्तियों के निरोधवाले चित्त को 'निरुद्ध' कहते हैं । एकाग्र और निरुद्ध – ये दोनों चित्तभूमियाँ तत्त्वज्ञानोपयोगी होती हैं । क्षिप्त, मूढ़ और बिक्षिप्त – ये तीनों भूमियाँ अयोग्य होती हैं । इनको शुद्ध करने पर ही तत्त्वज्ञान हो सकता है । प्रकृत में अर्जुन की बुद्धि 'विक्षिप्त' कही गई है । अत: यहाँ अर्जुन को तत्त्वज्ञान के लिए निष्काम कर्म द्वारा विक्षिप्तबुद्धि की निवृत्ति के लिए उपदेश किया गया है ।

248. लय और विक्षेप निर्विकल्पकसमाधिकाल में होने वाले विघ्न हैं । अखण्ड वस्तु ब्रह्म का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का सो जाना 'लय' और अन्य वस्तुओं में अवलम्बन ' विक्षेप' कहा जाता है ।

249. 'कृतं कृत्यं येन स:' – यो अपने सभी कर्त्तव्यों को कर चुका है वह 'कृतकृत्य' कहा जाता है, वही स्थितप्रज्ञ होता है । 'स्थिता प्रज्ञा यस्य स:' – जिसकी बुद्धि स्थित होती है वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है ।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ 54 ॥

187 **स्थिता निश्चलाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञोऽवस्थाद्वयवान्समाधिस्थो व्युत्थितचित्तश्चेति, अतो विशिनष्टि समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा । कर्मणि षष्ठी । भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम् । समाधिस्थ: स्थितप्रज्ञ: केन लक्षणेनान्यैर्व्यवहियत इत्यर्थ: ।**

188 **स च व्युत्थितचित्त: स्थितधी: स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत स्तुतिनिन्दादावभिनन्दनद्वेषादिलक्षणं किं कथं प्रभाषते । सर्वत्र संभावनायां लिङ् । तथा किमासीतेति व्युत्थितचित्तनिग्रहाय कथं बहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति । तन्निग्रहाभावकाले च किं व्रजेत कथं विषयान्प्राप्नोति । तत्कर्तृकभाषणासनव्रजनानि मूढजनविलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थ: ।**

189 **तदेवं चत्वार: प्रश्ना: समाधिस्थे स्थितप्रज्ञ एक:, व्युत्थिते स्थितप्रज्ञे त्रय इति । केशवेति संबोधयन्सर्वान्तर्यामितया त्वमेवैतादृशं रहस्यं वक्तुं समर्थोऽसीति सूचयति ॥ 54 ॥**

190 **एतेषां चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं भगवानुवाच यावदध्यायसमाप्ति –**

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ 55 ॥

[अर्जुन बोले -- हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है ? तथा वह व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥ 54 ॥]

187 जिसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी प्रज्ञा = बुद्धि स्थित = निश्चल हो गई है वह स्थितप्रज्ञ दो अवस्थाओंवाला होता है -- समाधिस्थ और व्युत्थितचित्त । अत: विशेषण देते हुए पूछते हैं -- समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की क्या भाषा है ? 'स्थितप्रज्ञस्य' -- इस पद में कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है । 'भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम्' =जिसके द्वारा भाषित = लक्षित होता है वह भाषा= लक्षण कहा जाता है । अर्थात् समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ अन्य पुरुषों के द्वारा किस लक्षण से व्यवहृत होता है ।

188 तथा वह व्युत्थितचित्त स्थितधी = स्थितप्रज्ञ स्वयं क्या बोलता है अर्थात् स्तुति, निन्दा आदि होने पर अभिनन्दन, द्वेष आदि बोधक वाक्य क्या-- कैसे बोलता है ? यहाँ क्रियापदों में सर्वत्र संभावना में लिङ्लकार है । तथा कैसे बैठता है ? अर्थात् अपने व्युत्थितचित्त के निग्रह के लिए कैसे बहिरिन्द्रियों का निग्रह करता है ? तथा इन्द्रियनिग्रहाभावकाल में कैसे चलता है=कैसे विषयों को प्राप्त करता है ? अर्थात् मूढ़जनों से विलक्षण तत्कर्तृक भाषण, आसन और व्रजन कैसे होते हैं ?

189 इसप्रकार ये चार प्रश्न हैं -- एक समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में हैं और तीन व्युत्थित स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में हैं । 'केशव' -- यह संबोधन करके अर्जुन यह सूचित करता है कि सर्वान्तर्यामी होने के कारण आप ही ऐसा रहस्य बताने में समर्थ हो ॥ 54 ॥

190 अध्याय की समाप्तितक इन चारों प्रश्नों का क्रमश: उत्तर देते हुए भगवान् बोले :--

191 कामान्काममसंकल्पादीन्मनोवृत्तिविशेषान्प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभेदेन तन्त्रान्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान्सर्वान्निरवशेषान्प्रकर्षेण कारणबाधेन यदा जहाति परित्यजति सर्ववृत्तिशून्य एव यदा भवति स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते समाधिस्थ इति शेषः । कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागयोग्यतामाह-मनोगतानिति । यदि ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा न त्यक्तुं शक्येरन्वह्न्यौष्ण्यवत्स्वाभाविकत्वात् ।-मनसस्तु धर्मा एते । अतस्तत्परित्यागेन परित्यक्तुं शक्या एवेत्यर्थः ।

192 ननु स्थितप्रज्ञस्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः संतोषविशेषः प्रतीयते स कथं सर्वकामपरित्यागे स्यादित्यत आह-आत्मन्येव परमानन्दरूपे न त्वनात्मनि तुच्छ आत्मना स्वप्रकाशचिद्रूपेण भासमानेन नतु वृत्त्या तुष्टः परितृप्तः परमपुरुषार्थलाभात् । तथा च श्रुतिः –

[श्रीभगवान् बोले– हे पार्थ ! जब विद्वान् अपने मन की सभी वृत्तियों को त्याग देता है तथा परमानन्दस्वरूप आत्मा में स्वप्रकाश चिद्रूप से सन्तुष्ट रहता है तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ।। 55 ।।]

191 कामान् = काम, संकल्प आदि मन की वृत्तियों[250] को, तन्त्रान्तर = योगशास्त्र में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-भेद[251] से पांच प्रकार से प्रपञ्चित -- विस्तारित मनोवृत्तियों को, सर्वान् = निरवशेषान् = किसी का भी शेष न रखते हुए जब उनके कारण-मन का बाध करके त्याग[252] देता है अर्थात् समस्त वृत्तियों से शून्य ही हो जाता है, तब वह (समाधिस्थ) 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है । यहाँ 'समाधिस्थः' पद का अध्याहार करना चाहिए । 'मनोगतान्' – इस पद से अनात्मधर्म होने के कारण वृत्तियों में परित्यागयोग्यता कहते हैं । यदि वे आत्मा की धर्म होतीं तो अग्नि की उष्णता के समान उनका स्वभाव होने के कारण उनको त्यागा नहीं जा सकता था[253] । तात्पर्य यह है कि ये तो मन की धर्म हैं, अतः मन के परित्याग से इनका परित्याग किया ही जा सकता है ।

192 'स्थितप्रज्ञ में तो उसके मुखप्रसादरूप लिङ्ग से अनुमेय एक संतोषविशेष प्रतीत होता है, तो फिर वह समस्त वृत्तियों के परित्याग से युक्त कैसे हो सकता है' ? -- ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं -- परमपुरुषार्थ के लाभ के कारण वह परमानन्दस्वरूप आत्मा में ही – तुच्छ आत्मा में नहीं, आत्मा से अर्थात् स्वप्रकाश चिद्रूप से भासमान आत्मा से ही -- मनोवृत्ति से नहीं, तुष्ट अर्थात् सब प्रकार से तृप्त रहता है[254] । ऐसा ही श्रुति भी कहती है --

250. बृहदारण्यक – उपनिषद् में कहा गया है –
'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्व मन एव' (बृह० उ०, 1.5.3) – अर्थात् काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय – ये सभी मन हैं अर्थात् मन इन सभी रूपों में प्रकट होता है ।

251. योगशास्त्र में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति – ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं । विषय के समान आकार से परिणत चित्तवृत्ति को 'प्रमाण' और विषय से विलक्षण आकार से परिणत चित्तवृत्ति को 'विपर्यय' कहते हैं । शब्दज्ञानानुपाती वस्तु से शून्य ज्ञान 'विकल्प' कहलाता है । जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति की आलम्बना वृत्ति 'निद्रा' है । तथा, अनुभूत विषय का असम्प्रमोष 'स्मृति' है (योगसूत्र, 1.6-11) ।

252. 'त्याग' हान और प्रहाण भेद से दो प्रकार का होता है । जो त्यक्त पुनः उत्पन्न होता है, वह त्याग 'हान' कहलाता है, क्योंकि वहाँ कारण के बिना कार्यमात्र का नाश होता है । जो त्यक्त कदापि पुनः उत्पन्न न हो, वह त्याग 'प्रहाण' कहा जाता है । प्रकृत में 'प्रहाण' नामक त्याग ही विवक्षित है ।

253. यहाँ न्याय-मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार कामादि आत्मा के ही धर्म हैं (इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्, न्यायसूत्र, 1.1.10) ।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' इति ।

तथाच समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ एवं विधैर्लक्षणवाचिभिः शब्दैर्भाष्यत इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् ॥55॥

193 इदानीं व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषणोपवेशनगमनानि मूढजनविलक्षणानि व्याख्येयानि । तत्र किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम् –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ 56 ॥

194 दुःखानि त्रिविधानि शोकमोहज्वरशिरोरोगादिनिमित्तान्याध्यात्मिकानि व्याघ्रसर्पादि-प्रयुक्तान्याधिभौतिकानि अतिवातातिवृष्ट्यादिहेतुकान्याधिदैविकानि तेषु दुःखेषु रजः – परिणामसंतापात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु प्रारब्धपापकर्मप्रापितेषु नोद्विग्नं दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलं न भवति मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः । अविवेकिनो हि दुःखप्राप्तौ सत्यामहो पापोऽहं धिङ्मां दुरात्मानमेतादृशदुःखभागिनं को मे दुःखमीदृशं निराकुर्यादित्यनुतापात्मको भ्रान्तिरूप-

'जब इसके हृदय में स्थित समस्तकामनाएं छूट जाती हैं, तब यह मर्त्य होकर भी अमृत हो जाता है, यहीं यह ब्रह्म को प्राप्त होता है' -- (बृह० उ०, 4.4.7) ।

इसप्रकार समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ इस प्रकार के लक्षणों के वाचक शब्दों से कहा जाता है – यह प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ ॥ 55 ॥

193 अब व्युत्थित स्थितप्रज्ञ के भाषण, उपवेशन और गमन मूढजनों के भाषणादि से विलक्षण हैं -- यह भी विशेषरूप से कहना चाहिए । इनमें से दो श्लोकों के द्वारा प्रथम 'किं प्रभाषेत' = 'वह कैसे बोलता है' -- इसका उत्तर देते हैं --

[दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं होती और जिसके राग, भय और क्रोध जाते रहते हैं वह मुनि 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ॥ 56 ॥]

194 दुःख तीन प्रकार के होते हैं -- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । शोक, मोह, ज्वर, शिरोरोग आदि से होने वाले आध्यात्मिक; व्याघ्र, सर्प आदि के कारण होने वाले आधिभौतिक; और अतिवात, अतिवृष्टि आदि के कारण होनेवाले दुःख आधिदैविक कहे जाते हैं । उन दुःखों में = पापमय प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुई रजोगुण की परिणामभूता संतापात्मिका चित्तवृत्ति-विशेषों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता = दुःखों के परिहार के लिए क्षमता = सामर्थ्य न होने के कारण व्याकुल नहीं होता वह अनुद्विग्नमना होता है । अविवेकी की तो दुःख की प्राप्ति होने पर 'अहो ! मैं बड़ा पापी हूँ; ऐसे दुःख के भागी मुझ दुरात्मा को धिक्कार है, मेरे ऐसे दुःख का निवारण कौन करेगा ?' -- ऐसी पश्चात्तापात्मिका भ्रान्तिरूपा तामसी उद्वेगनाम्नी चित्तवृत्तिविशेष उत्पन्न होती है । यदि ऐसी वृत्ति पाप करते समय होती तो उस प्रवृत्ति की प्रतिबन्धिका होने से वह सफल होती । भोग के समय तो दुःखानुभव का कारण रहने पर कार्य का उच्छेद होना असम्भव होने के कारण वह निष्प्रयोजन ही है;

254. तात्पर्य यह है कि सन्तोष दो प्रकार का होता है – अनात्मसन्तोष और आत्मसन्तोष । 'अनात्मसंतोष' अनात्मविषयक अर्थात् अनात्मनिष्ठ होता है और मनोवृत्तिस्वरूप होता है, जो स्थितप्रज्ञ में कदापि नहीं रहता । 'आत्मसंतोष' तो स्वप्रकाश चिद्रूप से भासमान आत्मा में ही होता है, वह आत्मस्वरूप ही होता है । इसीसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ तुष्ट प्रतीत होता है, वह परमपुरुषार्थरूप परमानन्दस्वरूप आत्मप्राप्ति से परितृप्त रहता है ।

स्तामसश्चित्तवृत्तिविशेष उद्वेगाख्यो जायते । यद्ययं पापानुष्ठानसमये स्यात्तदा तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन सफलः स्यात् । भोगकाले तु भवन्कारणे सति कार्यस्योच्छेत्तुमशक्यत्वान्निष्प्रयोजनो दुःखकारणे सत्यपि किमिति मम दुःखं जायत इति अविवेकजभ्रमरूपत्वान्न विवेकिनः स्थितप्रज्ञस्य संभवति । दुःखमात्रं हि प्रारब्धकर्मणा प्राप्यते नतु तदुत्तरकालीनो भ्रमोऽपि ।

195 **ननु दुःखान्तरकारणत्वात्सोऽपि प्रारब्धकर्मान्तरेण प्राप्यतामिति चेत्, न, स्थितप्रज्ञस्य भ्रमोपादानाज्ञाननाशेन भ्रमासंभवात्तज्जन्यदुःखप्रापकप्रारब्धाभावात् । यथाकथंचिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहकप्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमाभावेऽपि बाधितानुवृत्त्योपपत्तेरिति विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते ।**

196 **तथा सुखेषु सत्त्वपरिणामरूपप्रीत्यात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु त्रिविधेषु प्रारब्धपुण्यकर्मप्रापितेषु विगतस्पृह आगामितज्जातीयसुखस्पृहारहितः । स्पृहा हि नाम सुखानुभवकाले तज्जातीयसुखस्य कारणं धर्ममननुष्ठाय वृथैव तदाकाङ्क्षारूपा तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव । सा चाविवेकिन एव जायते । न हि कारणाभावे कार्यं भवितुमर्हति । अतो यथा सति कारणे कार्यं मा भूदिति वृथाकाङ्क्षारूप उद्वेगो विवेकिनो न संभवति तथैवासति कारणे कार्यं भूयादिति वृथाकाङ्क्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहाऽपि नोपपद्यते प्रारब्धकर्मणः सुखमात्रप्रापकत्वात् ।**

अतः 'दुःख का कारण रहने पर भी मुझे दुःख क्यों होता है' -- यह वृत्ति अविवेकोत्पन्न भ्रम-रूप होने के कारण विवेकी स्थितप्रज्ञ की होना संभव नहीं है। प्रारब्ध कर्म से तो दुःख ही प्राप्त होता है, न कि उसके पश्चात् होनेवाला भ्रम भी ।

195 यदि कहो कि दुःखान्तर का कारण होने से वह भी प्रारब्ध कर्मान्तर से प्राप्त होता ही होगा, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि भ्रम के उपादान कारण अज्ञान का नाश हो जाने से स्थितप्रज्ञ में भ्रमोत्पत्ति संभव ही नहीं है, कारण कि उस भ्रम से जन्य दुःख को प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध भी नहीं रहता है। किसी प्रकार देहयात्रामात्र का निर्वाहक प्रारब्धकर्मफल तो भ्रम न रहने पर भी बाधितानुवृत्ति[255] से रह ही सकता है -- इसको विस्तार से आगे कहेंगे ।

196 इसीप्रकार, सुखों में = पुण्यमय प्रारब्ध कर्मों से प्राप्त हुई सत्त्वगुण की परिणामरूपा तीन प्रकार की प्रीत्यात्मिका चित्तवृत्तिविशेषों में जो विगतस्पृह = आगामी उसी जाति के सुख की स्पृहा = इच्छा से रहित है। सुखानुभवकाल में उसी जाति के सुख के कारणभूत धर्म का अनुष्ठान किए बिना वृथा ही उसकी आकांक्षा करना रूप तामसी चित्तवृत्ति 'स्पृहा' है। वह भ्रान्ति ही है और अविवेकी को ही होती है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। अतः विवेकी में जिसप्रकार कारण रहने पर 'कार्य न हो' -- ऐसा वृथा आकांक्षारूप उद्वेग संभव नहीं है उसीप्रकार कारण न रहने पर 'कार्य हो' -- ऐसी वृथा आकांक्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहा भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म तो सुखमात्र का प्रापक होता है ।

255. जैसे रज्जु के दग्ध हो जाने पर भी उसमें ऐंठन की अनुवृत्ति दिखाई पड़ती है, वैसे ही विवेकी में अज्ञान के बाधित होने पर भी भ्रम की अनुवृत्ति किसीप्रकार देहयात्रामात्र के निर्वाहक प्रारब्धकर्मफल का निर्वाह करती है ।

197 हर्षात्मिका वा चित्तवृत्तिः स्पृहाशब्देनोक्ता । साऽपि भ्रान्तिरेव - अहो धन्योऽहं यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितं को वा मया तुल्यस्त्रिभुवने केन वोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येतेत्येवमात्मिकोत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्तिः । अत एवोक्तं भाष्ये - 'नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने यः सुखान्यनुविवर्धते स विगतस्पृहः' इति । वक्ष्यति च - 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' इति । साऽपि न विवेकिनः संभवति भ्रान्तित्वात् ।

198 तथा वीतरागभयक्रोधः । रागः शोभनाध्यासनिबन्धनो विषयेषु रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः । रागविषयस्य नाशके समुपस्थिते तन्निवारणासामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य दैन्यात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो भयम् । एवं रागविषयविनाशके समुपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्याभिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः । ते सर्वे विपर्ययरूपत्वाद्विगता यस्मात्स तथा । एतादृशो मुनिर्मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञ उच्यते । एवंलक्षणः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिवाचः प्रभाषत इत्यन्वय उक्तः । एवं चान्योऽपि मुमुक्षुर्दुःखे नोद्विजेत्सुखे न प्रहृष्येत्, रागभयक्रोधरहितश्च भवेदित्यभिप्रायः ॥ 56 ॥

---

197 अथवा, 'स्पृहा' शब्द से हर्षात्मिका चित्तवृत्ति कही गई है । वह भी भ्रान्ति ही है । वह 'अहो! मैं धन्य हूँ, जिसको ऐसा सुख प्राप्त हुआ है, त्रिभुवन में मेरे समान कौन है, ऐसा क्या उपाय किया जाय जिससे मेरा ऐसा सुख दूर न हो' -- इस प्रकार की उत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्ति है । अतएव भाष्य में कहा है -- 'ईंधन आदि के डालने से जैसे अग्नि बढ़ती है उसीप्रकार जो सुखों को पाकर फूल नहीं जाता वह 'विगतस्पृह' है' । और भगवान् भी आगे 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' (गीता, 5.20) -- इस श्लोक में यही कहेंगे । भ्रान्तिरूपा होने के कारण वह भी विवेकी में संभव नहीं है ।

198 तथा जो राग, भय और क्रोध से शून्य है । 'राग'[256] शोभनाध्यास के कारण विषयों में रञ्जनात्मिका चित्तवृत्तिविशेष है, जो अत्यन्त अभिनिवेशरूप[257] है । राग के विषय के नाशक के उपस्थित होने पर उसका निवारण करने में अपना असामर्थ्य माननेवाले की जो दैन्यात्मिका = दीनतामयी चित्तवृत्ति विशेष होती है वह 'भय' है । इसीप्रकार राग के विषय के विनाशक के उपस्थित होने पर उसका निवारण करने में अपना सामर्थ्य माननेवाले की जो अभिज्वलनात्मिका = दाहात्मिका चित्तवृत्तिविशेष होती है वह 'क्रोध' है । ये सब विपर्ययरूपा होने के कारण जिससे निवृत्त हो गई हैं वह इसप्रकार का मुनि = मननशील संन्यासी 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है । ऐसे लक्षणोंवाला स्थितधी = स्थितप्रज्ञ अपने अनुभव को प्रकट करके शिष्यों को शिक्षा देने के लिए ही अनुद्वेग, निःस्पृहत्व आदि गुविशिष्ट वाणी बोलता है -- यह अन्वय कहा गया है । अभिप्राय यह है कि इसीप्रकार अन्य भी मुमुक्षु दुःख में दुःखी = उद्विग्न न हों, सुख में हर्ष न करें, और राग, भय, तथा क्रोध से रहित रहें ॥ 56 ॥

---

256. सुख भोगने के पश्चात् जो चित्त में उसके भोगने की इच्छा रहती है वह 'राग' है ('सुखानुशयी रागः' -- योगसूत्र, 2.7) ।

257. 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' = 'शरीर और विषयादि से मेरा वियोग न हो'; 'मा न भूवं भूयासमिति' = 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ' -- ऐसा अनुबन्ध 'अभिनिवेश' कहलाता है (भोजवृत्ति; व्यासभाष्य, योगसूत्र -- 2.9) ।

199 किं च –

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 57 ॥

200 सर्वदेहेषु जीवनादिष्वपि यो मुनिरनभिस्नेहः, यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते स तादृशोऽन्यविषयः प्रेमापरपर्यायस्तामसो वृत्तिविशेषः स्नेहः सर्वप्रकारेण तद्रहितोऽनभिस्नेहः । भगवति परमात्मनि तु सर्वथाऽभिस्नेहवान्भवेदेव, अनात्मस्नेहाभावस्य तदर्थत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

201 तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिप्रापितं शुभं सुखहेतुं विषयं प्राप्य नाभिनन्दति हर्षविशेषपुरस्सरं न प्रशंसति । अशुभं दुःखहेतुं विषयं प्राप्य न द्वेष्टि अन्तरसूयापूर्वकं न निन्दति । अज्ञस्य हि सुखहेतुर्यः स्वकलत्रादिः स शुभो विषयस्तद्गुणकथनादिप्रवर्तिका धीवृत्तिर्भ्रान्तिरूपाऽभिनन्दः । स च तामसः, तद्गुणकथनादेः परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । एवमसूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्याप्रकर्षादिरेनं प्रत्यशुभो विषयस्तन्निन्दादिप्रवर्तिका भ्रान्तिरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः । सोऽपि तामसः, तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । तावभिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ तामसौ कथमभ्रान्ते शुद्धसत्त्वे स्थितप्रज्ञे सम्भवताम् । तस्माद्विचालकाभावात्तस्यानभिस्नेहस्य

---

199 किञ्च --
[जो मुनि सर्वत्र = समस्त देहों में अर्थात् जीवन आदि में भी स्नेहरहित रहता है और उस-उस प्रारब्धकर्म से प्राप्त शुभ विषय को पाकर उसकी प्रशंसा नहीं करता है तथा अशुभ विषय को पाकर उससे द्वेष नहीं करता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जाती है ॥ 57 ॥]

200 समस्त देहों में अर्थात् जीवन आदि में भी जो मुनि अनभिस्नेह है । जिसके होने पर अन्य की हानि-वृद्धि का अपनेमेंआरोप किया जाता है वह इसप्रकार की अन्यविषयिणी, प्रेम की पर्यायवाचिनी तामसी वृत्ति विशेष 'स्नेह' है; जो सभी प्रकार से उससे रहित हो वह 'अनभिस्नेह' होता है, किन्तु भगवान् परमात्मा में तो उसे सर्वथा अभिस्नेहवान् होना ही चाहिए, क्योंकि अनात्मा में स्नेह का अभाव इसी के लिए है -- यह समझना चाहिए ।

201 उस-उस प्रारब्धकर्म से प्राप्त शुभ = सुख के हेतुभूत विषय को पाकर जो अभिनन्दन = हर्षविशेषपूर्वक प्रशंसा नहीं करता है और अशुभ = दु:ख के हेतुभूत विषय को पाकर द्वेष = आन्तरिक असूयापूर्वक निन्दा नहीं करता है । अज्ञ के लिए जो सुख की हेतुभूत अपनी कलत्रादि हैं वह 'शुभ' विषय है, उसके गुणकथन आदि की प्रवर्तिका बुद्धि की भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'अभिनन्द' कहलाती है । यह भी तामसी ही है, क्योंकि उन कलत्रादि के गुणकथनादि दूसरों के लिए रुचिकर न होने के कारण व्यर्थ ही हैं । इसीप्रकार असूयोत्पादन द्वारा दु:ख के हेतु दूसरों के विद्यादि के उत्कर्ष इसके लिए 'अशुभ' विषय हैं । उसकी निन्दादि की प्रवर्तिका बुद्धि की भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'द्वेष'[258] कही जाती है । यह भी तामसी ही है, क्योंकि निन्दा में परकीयविद्याप्रकर्षादि के निवारण करने का सामर्थ्य न होने के कारण वह व्यर्थ ही है । वे भ्रान्तिरूप तामस स्तुति और निन्दा शुद्धसत्त्वमय अभ्रान्त स्थितप्रज्ञ में कैसे सम्भव हो सकते हैं ? इस स्थिति से कोई विचलित करनेवाला न होने से उस

---

258. दु:ख के अनुभव के पश्चात् जो द्वेषरूपी वासना चित्त में शयन करती है, वह 'द्वेष' है (दु:खानुशयी द्वेषः -- योगसूत्र, 2.8) ।

हर्षविषादरहितस्य मुनेः प्रज्ञा परमात्मतत्त्वविषया प्रतिष्ठिता फलपर्यवसायिनी स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एवमन्योऽपि मुमुक्षुः सर्वत्रानभिस्नेहो भवेत् । शुभं प्राप्य न प्रशंसेत्, अशुभं प्राप्य न निन्देदित्यभिप्रायः । अत्र च निन्दाप्रशंसादिरूपा वाचो न प्रभाषेतेति व्यतिरेक उक्तः ॥ 57 ॥

202 इदानीं किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते भगवान्षड्भिः श्लोकैः । तत्र प्रारब्धकर्मवशाद्व्युत्थानेन विक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमिति दर्शयितुमाह –

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58 ॥

203 अयं व्युत्थितः सर्वशः सर्वाणीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सर्वेभ्यः । चः पुनरर्थे । यदा संहरते पुनरुपसंहरति सङ्कोचयति । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीव । तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति स्पष्टम् । पूर्वश्लोकाभ्यां व्युत्थानदशायामपि सकलतामसवृत्त्यभाव उक्तः । अधुना तु पुनः समाध्यवस्थायां सकलवृत्त्यभाव इति विशेषः ॥ 58 ॥

204 ननु मूढस्यापि रोगादिवशाद्विषयेभ्य इन्द्रियाणामुपसंहरणं भवति तत्कथं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तमत आह –

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ 59 ॥

अनभिस्नेह = हर्षविषादरहित मुनि की परमात्मतत्त्वविषया प्रज्ञा प्रतिष्ठित = अन्त में फल प्राप्त करानेवाली होती है अर्थात् वह मुनि 'स्थितप्रज्ञ' होता है । इसीप्रकार अन्य भी मुमुक्षु सर्वत्र अनभिस्नेह हों । शुभ को पाकर प्रशंसा न करें, अशुभ को पाकर निन्दा न करें -- यह अभिप्राय है । यहाँ 'निन्दा-प्रशंसादिरूपा वाणी न बोलें' -- यह व्यतिरेक कहा गया है ॥ 57 ॥

202 अब भगवान् छः श्लोकों से 'किमासीत' = 'वह कैसे बैठता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करते हैं । उनमें 'प्रारब्धकर्मवश व्युत्थान से विक्षिप्त इन्द्रियों को पुनः संकुचित करके समाधि के लिए ही स्थितप्रज्ञ का बैठना होता है' -- यह दिखाने के लिए भगवान् कहते हैं --
[जैसे कछुआ सब ओर से अपने अङ्गों को समेट लेता है वैसे ही जब यह मुनि अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 58 ॥]

203 समाधि से व्युत्थित यह मुनि सर्वशः = समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के शब्दादि समस्त विषयों से जब पुनः संहत = उपसंहत अर्थात् संकुचित कर लेता है । यहाँ 'च' पुनः के अर्थ में है । 'कूर्मोङ्गानीव' = 'जैसे कछुआ अपने अङ्गों को' -- यह इसमें दृष्टान्त है । तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है -- यह स्पष्ट है । पूर्व के दो श्लोकों से व्युत्थानदशा में भी उसमें समस्त तामसी वृत्तियों का अभाव कहा गया है । इस समय तो पुनः समाधि अवस्था में समस्त वृत्तियों का अभाव कहा है -- यही दोनों में विशेष = भेद है ॥ 58 ॥

204 'रोगादि के कारण मूढ़ पुरुष की भी तो इन्द्रियाँ स्वविषयों से उपरत = संकुचित होती हैं, तो फिर कैसे कहा कि उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है' -- ऐसी शंका हो तो भगवान् कहते हैं --

205 निराहारस्येन्द्रियैर्विषयाननाहरतो देहिनो देहाभिमानवतो मूढस्यापि रोगिणः काष्ठतपस्विनो वा विषयाः शब्दादयो विनिवर्तन्ते किं तु रसवर्जं रसस्तृष्णा तं वर्जयित्वा । अज्ञस्य विषया निवर्तन्ते तद्विषयो रागस्तु न निवर्तत इत्यर्थः । अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं पुरुषार्थं दृष्ट्वा तदेवाहमस्मीति साक्षात्कृत्य स्थितस्य रसोऽपि क्षुद्रसुखरागोऽपि निवर्तते । अपिशब्दाद्विषयाश्च । तथाच यावानर्थ इत्यादौ व्याख्यातम् । एवं च सरागविषयनिवृत्तिः स्थितप्रज्ञलक्षणमिति न मूढे व्यभिचार इत्यर्थः यस्मान्नासति परमात्मसम्यग्दर्शने सरागविषयोच्छेदस्तस्मात्सरागविषयोच्छेदिकायाः सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं महता यत्नेन सम्पादयेदित्यभिप्रायः ॥ 59 ॥

206 तत्र प्रज्ञास्थैर्ये बाह्येन्द्रियनिग्रहो मनोनिग्रहश्चासाधारणं कारणं तदुभयाभावे प्रज्ञानाशदर्शनादिति वक्तुं बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावे प्रथमं दोषमाह –

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ 60 ॥

207 हे कौन्तेय यततो भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि, चक्षिङो ङित्त्वकरणा –

[इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण न करनेवाले देहाभिमानी मूढ़ पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उनका राग निवृत्त नहीं होता है । परन्तु परमपुरुषार्थ का साक्षात्कार करके तो इस स्थितप्रज्ञ का राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ 59 ॥]

205 निराहार = इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण न करने वाले देही = देहाभिमानी मूढ़ पुरुष के भी अथवा रोगी या काष्ठ तपस्वी के भी शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु रसवर्ज = रस अर्थत् तृष्णा उसको छोड़कर । तात्पर्य यह है कि अज्ञ = मूढ़पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु तद्विषयक राग निवृत्त नहीं होता । परन्तु इस स्थितप्रज्ञ का परमपुरुषार्थ को देखकर = 'तदेवाहमस्मि' -- 'मैं वही हूँ' -- ऐसा साक्षात्कार करके स्थित होने पर रस = क्षुद्र सुख का राग भी निवृत्त हो जाता है । 'अपि' शब्द से 'विषय भी निवृत्त हो जाते हैं' -- यह समझना चाहिए । इसी प्रकार 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) -- इत्यादि श्लोक में व्याख्या की है । इसप्रकार रागसहितविषय की निवृत्ति स्थितप्रज्ञ का लक्षण है, इसलिए मूढ़पुरुष में व्यभिचार नहीं है -- यह अर्थ है । क्योंकि परमात्मा का सम्यक् रीति से साक्षात्कार हुए बिना रागसहित विषयोच्छेद नहीं हो सकता, अत: रागसहित विषयोच्छेदिका सम्यग्दर्शनात्मिका प्रज्ञा के स्थैर्य का महान् प्रयत्न से संपादन करना चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 59 ॥

206 'इस प्रज्ञा की स्थिरता में बाह्येन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रह असाधारण कारण हैं, क्योंकि इन दोनों के अभाव में प्रज्ञा का नाश ही देखा जाता है' -- यह बताने के लिए पहले बाह्येन्द्रियनिग्रह के अभाव में दोष कहते हैं --

[हे कौन्तेय ! विवेकी पुरुष के बार-बार प्रयत्न करते रहने पर भी विवेक को नष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ बलात्कार से उसके मन को विकृत कर देती हैं ॥ 60 ॥]

207 हे कौन्तेय ! यततः =यत्न करने पर = बार-बार विषयों में दोषदर्शनरूप यत्न करते रहने पर भी विपश्चित = अत्यन्त विवेकी पुरुष के भी मन को, क्षणमात्र निर्विकार किए जाने पर भी, इन्द्रियाँ

---

259. 'यततः' -- पद में 'यत्' धातु से परस्मैपद 'शतृ' प्रत्यय होकर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, जबकि 'यती प्रयत्ने' = प्रयत्न करने में 'यती' धातु का इकार अनुदात्त है और 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (पाणिनिसूत्र, 1.3.12) = 'अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से आत्मनेपद होता है' इस सूत्र से वह आत्मनेपदी है, अतः यहाँ

दनुदात्तेतोऽनावश्यकमात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । विपश्चितोऽत्यन्तविवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमात्रं निर्विकारं कृतमपीन्द्रियाणि हरन्ति विकारं प्रापयन्ति ।

208 ननु विरोधिनि विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिस्तत्राऽऽह – प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि अतिबलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि । अतः प्रसभं प्रसह्य बलात्कारेण पश्यत्येव विपश्चिति स्वामिनि विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथीत्वादेवेन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनस्ततः प्रच्याव्य स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति । प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनं धनरक्षकं चाभिभूय तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि विषयसन्निधाने मनो हरन्तीति ॥ 60 ॥

209 एवं तर्हि तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह –

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 61 ॥

हर लेती हैं अर्थात् विकार को प्राप्त करा देती हैं । "चक्षिङ्' धातु के ङित्करण से यहाँ सिद्ध होता है कि 'अनुदात्तेत्' धातु से आत्मनेपद आवश्यक नहीं है' -- यह बताये जाने के कारण 'यततः'[259] में परस्मैपद विरुद्ध नहीं है ।

208 'मनोविकार के विरोधी विवेकज्ञान के रहने पर स्थितप्रज्ञ को विकार की प्राप्ति कैसे होगी' ? -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं -- प्रमाथीनि[260] प्रमथनशील = अत्यन्त बलवती होने के कारण विवेक का उपमर्दन = मथन करने में समर्थ । अतः प्रसभ = हठपूर्वक -- बलात्कार से अर्थात् विद्वान् -- विवेकी स्वामी के देखते हुए ही और विवेकरूप रक्षक के रहते हुए भी सबको मथित करनेवाली होने के कारण ही इन्द्रियाँ विवेकजा प्रज्ञा में प्रविष्ट हुए मन को वहाँ से च्युत करके अपने विषयों से आविष्ट करते हुए हर लेती हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धि का द्योतक है । अर्थात् लोक में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जैसे प्रमाथी दस्यु = चोर, डाकू आदि बलपूर्वक ही धनी और धन के रक्षकों को दबाकर उनके देखते-देखते ही धन को हर लेते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी मन को विषयों के समीप ले जाती हैं ॥ 60 ॥

209 'यदि ऐसा ही है, तो फिर उसका प्रतीकार क्या है' ? -- यह जिज्ञासा होने पर कहते हैं -- [उन सभी इन्द्रियों को वश में करके, मन को समाहित कर, मेरा अनन्य भक्त होकर निश्चेष्ट भाव से स्थित रहे, क्योंकि जिसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 61 ॥]

आत्मनेपद 'शानच्' प्रत्यय होकर 'यतमानस्य' पद होना चाहिए । इसलिए 'यततः' यह शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग ठीक नहीं है । इसका समाधान यह है कि कि 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' – यहाँ 'चक्षिङ्' धातु का इकार अनुदात्त है, अतः अनुदात्तेत् होने से 'चष्टे' में आत्मनेपद सिद्ध ही है, किन्तु इस धातु में 'ङकार' यह ज्ञापित करता है अनुदात्तेत् धातु से आत्मनेपद होना अनिवार्य नहीं है (अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यम्, परिभाषा, 97), इस ज्ञापन के बाद यदि 'ङ्' अनुबन्ध नहीं रहेगा, तो 'चक्षि' धातु से भी कदाचित् परस्मैपद हो जायेगा । इसीप्रकार 'यती' धातु से परस्मैपद होना भी ठीक है, फलतः 'यततः' – यह परस्मैपद शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग भी ठीक है ।

260. 'प्रमथ्नाति एवं शीलं येषां तानि प्रमाथीनि' -- 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मथेर्हिंसायाम् हिंसा' अर्थ में ' मथ्' धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर 'प्रमाथीनि' शब्द निष्पन्न हुआ है । इसीलिए इन्हें 'प्रमथनशील' कहा है ।

210 तानीन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मसाधनभूतानि संयम्य वशीकृत्य युक्तः समाहितो निगृहीतमनाः सन्नासीत निर्व्यापारस्तिष्ठेत् । प्रमाथिनां कथं स्ववशीकरणमिति चेत्तत्राऽऽह— मत्पर इति । अहं सर्वात्मा वासुदेव एव पर उत्कृष्ट उपादेयो यस्य स मत्पर एकान्तमद्भक्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्— 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति । यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य दस्यवो निगृह्यन्ते राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति तथैव भगवन्तं सर्वान्तर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा तानि तद्वश्यान्येव भवन्तीति भावः । यथा च भगवद्भक्तेर्महाप्रभावत्वं तथा विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यामः । इन्द्रियवशीकारे फलमाह-- वशे हीति । स्पष्टम् । तदेतद्वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ 61 ॥

211 ननु मनसो बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वाराऽनर्थहेतुत्वं निगृहीतबाह्येन्द्रियस्य तूत्खातदंष्ट्रोरगवन्मनस्यनिगृहीतेऽपि न काऽपि क्षतिर्बाह्योद्योगाभावेनैव कृतकृत्यत्वादतो युक्त आसीतेति व्यर्थमुक्तमित्याशङ्क्य निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि युक्तत्वाभावे सर्वानर्थप्राप्तिमाह द्वाभ्याम्--

210 ज्ञान और कर्म की साधनभूत उन सभी इन्द्रियों का संयम कर = उनको वश में कर युक्त = समाहित अर्थात् निगृहीतमनवाला होकर निर्व्यापाररूप से स्थित रहे । यदि कहो कि प्रमाथी इन्द्रियों को अपने वश में कैसे करें, तो कहते हैं-- 'मत्परः' = मत्पर होकर इनको वश में कर सकते हो । 'मैं' = सर्वात्मा वासुदेव[261] ही पर = उत्कृष्ट उपादेय है जिसका, वह 'मत्पर' है अर्थात् मेरा एकान्त भक्त है । ऐसा ही कहा भी है -- 'जो वासुदेव के भक्त हैं उनका कहीं अशुभ नहीं होता' । जैसे लोक में किसी बलवान् राजा का आश्रय लेकर दस्यु = चोर, डाकू आदि पकड़े जाते हैं और 'यह राजा के आश्रित है' -- यह समझकर वे स्वयं ही उसके अधीन हो जाते हैं, वैसे ही सर्वान्तर्यामी भगवान् का आश्रय लेकर उनके प्रभाव से ही दुष्ट इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए । फिर तो 'यह भगवान् के आश्रित है' -- यह मानकर वे इन्द्रियाँ स्वयं ही उसके वश में ही हो जाती हैं -- यह भाव है । भगवद्भक्ति का जैसा महान् प्रभाव है -- इसकी व्याख्या हम विस्तार से आगे करेंगे । 'वशे हि' -- इत्यादि से इन्द्रियों को वश में करने का फल कहते हैं । यह स्पष्ट है । इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करके स्थित हो -- यह 'किमासीत' = 'वह कैसे बैठता है' ? -- इस प्रश्न का 'ईदृश आसीत' = 'ऐसे बैठता है' -- यह उत्तर कहा गया है ॥61॥

211 'मन तो बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति द्वारा अनर्थ का हेतु होता है, जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उसकी तो दाँत उखाड़े हुए सर्प के समान मन के निगृहीत न होने पर भी कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि वह तो बाह्य उद्योग का अभाव होने से ही कृतकृत्य हो जाता है । अतः 'मन का निग्रह करके स्थित रहे' -- यह तो व्यर्थ ही कहा है' -- ऐसी आशंका करके भगवान् दो श्लोकों से जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उसको भी मनोनिग्रह के बिना समस्त अनर्थों की प्राप्ति कहते हैं --

261. 'सर्वत्रासौ वसत्यात्मरूपेण विश्वम्भरत्वादिति वासुदेवः' । यद्वा सर्वान् वासयति स च देवः वासुदेवः । तथा चोक्तम --

'सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि ।
भूतेष्वपि च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥(विष्णुपुराणे)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62 ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63 ॥

212 निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि शब्दादीन्विषयान्ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु विषयेषु सङ्ग आसङ्गो ममात्यन्तं सुखहेतव एत इत्येवंशोभनाध्यासलक्षणः प्रीतिविशेष उपजायते सङ्गात्सुखहेतुत्वज्ञानलक्षणात्सञ्जायते कामो ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेषः । तस्मात्कामात्कुश्चित्प्रतिहन्यमानात्तत्प्रतिघातकविषयः क्रोधोऽभिज्वलनात्माऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावरूपः । संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतेः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थानुसन्धानस्य विभ्रमो विचलनं विभ्रंशः । तस्माच्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेरैकात्म्याकारमनोवृत्तेर्नाशो विपरीतभावनोपचयदोषेण प्रतिबन्धादनुत्पत्तिरुत्पन्नायाश्च फलायोग्यत्वेन विलयः । बुद्धिनाशात्प्रणश्यति तस्याश्च फलभूताया बुद्धेर्विलोपात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थायोग्यो भवति । यो हि पुरुषार्थायोग्यो जातः स मृत एवेति लोके व्यवह्रियते । अतः प्रणश्यतीत्युक्तम् । यस्मादेवं मनसो निग्रहाभावे निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि परमानर्थप्राप्तिस्तस्मान्महता प्रयत्नेन मनो निगृह्णीयादित्यभिप्रायः । अतो युक्तमुक्तं तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेति ॥

[विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उनको प्राप्त करने की प्रबल कामना होती है, कामना के विघात से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से कार्याकार्यविवेकाभावरूप संमोह होता है, संमोह से स्मृति विचलित हो जाती है, स्मृति का भ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से प्राणी नष्ट हो जाता है ॥ 62-63 ॥]

212 जिसने बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है उस पुरुष के शब्दादि विषयों का ध्यान करने पर -- मन से बार-बार चिन्तन करने पर उन विषयों में उसका संग = आसङ्ग -- आसक्ति अर्थात् ये मेरे अत्यन्त सुख के हेतु हैं' -- ऐसी शोभनाध्यासरूपा प्रीतिविशेष उत्पन्न हो जाती है । सुखहेतुत्व ज्ञानलक्षण संग से काम = 'ये सदा मेरे रहें' -- ऐसी तृष्णाविशेष उत्पन्न होती है । उस काम से = यदि किसी कारण से वह काम प्रतिहत हो, तो उसके घातक के प्रति अभिज्वलनात्मक = दाहात्मक क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से कार्य-अकार्य के विवेक का अभावरूप संमोह होता है । संमोह से स्मृतिविभ्रम = स्मृति अर्थात् शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अनुसंधान का विभ्रम-विचलन-विभ्रंश होता है । उस स्मृतिभ्रंश से बुद्धि = ऐकात्म्याकारा मनोवृत्ति का नाश हो जाता है = विपरीत भावना से उपचित दोष से और विक्षेपरूप प्रतिबन्धक रहने के कारण ऐकात्म्यकारा चित्तवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, अथवा उत्पन्न होने पर भी वह फल के योग्य न होने के कारण उसका विलय हो जाता है । तथा बुद्धि का नाश होने से पुरुष नष्ट हो जाता है = उस फलभूता बुद्धि का लोप होने से वह नष्ट अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है । जो पुरुष पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहता वह मृत ही है -- ऐसा लोक में व्यवहार किया जाता है । अतः ' प्रणश्यति'

213 मनसि निगृहीते तु बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावेऽपि न दोष इति वदन् किं व्रजेतेत्यस्योत्तरमाहाष्टभिः--

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। 64 ।।

214 योऽसमाहिचेताः स बाह्येन्द्रियाणि निगृह्यापि रागद्वेषदुष्टेन मनसा विषयांश्चिन्तयन्पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति । विधेयात्मा तु । तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः । वशीकृतान्तःकरणस्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैः स्वाधीनैरिति वा रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैर्विरहितैरिन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्विषयानृशब्दादीननिषिद्धांश्चरन्नुपलभमानः प्रसादं प्रसन्नतां चित्तस्य स्वच्छतां परमात्मसाक्षात्कारयोग्यतामधिगच्छति । रागद्वेषप्रयुक्तानीन्द्रियाणि दोषहेतुतां प्रतिपद्यन्ते । मनसि स्ववशे तु न रागद्वेषौ । तयोरभावे च न तदधीनेन्द्रियप्रवृत्तिः । अवर्जनीयतया तु विषयोपलम्भो न दोषमावहतीति न शुद्धिव्याघात इति भावः ।

= 'वह नष्ट हो जाता है' -- ऐसा कहा है । क्योंकि इसप्रकार मन का निग्रह न होने पर बाह्य इन्द्रियों का निग्रह कर लेनेवाले को भी परम अनर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए बड़े प्रयत्न से मन का निग्रह करना चाहिए -- यह अभिप्राय है । अत: यह ठीक ही कहा है कि 'उन सब इन्द्रियों का संयम करके मन के संयमपूर्वक स्थित रहे' ।। 62-63 ।।

213 'मन का निग्रह हो जाने पर तो बाह्य इन्द्रियों का निग्रह न होने पर भी कोई दोष नहीं है' -- यह कहते हुए 'किं व्रजेत' = 'वह कैसे चलता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर आठ श्लोकों से देते हैं --
[जिसने अपने अन्त:करण को वश में कर लिया है वह पुरुष तो अपने अधीन की हुई अपनी राग-द्वेषरहित इन्द्रियों से शब्दादि अनिषिद्ध विषयों को उपलब्ध करता हुआ चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है ।। 64 ।।]

214 जो पुरुष असमाहितचित्त होता है वह बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करके भी अपने राग-द्वेष से दूषित मन से विषयों का चिन्तन करते रहने से पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । विधेयात्मा तो -- यहाँ 'तु' शब्द पूर्वकथित से इसका व्यतिरेक करने के लिए है -- जिसने अपने अन्त:करण को वश में कर लिया है वह पुरुष तो आत्मवश्य = मन के अधीन अथवा अपने अधीन हुई रागद्वेष से वियुक्त = विरहित श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि अनिषिद्ध विषयों में जाता हुआ = उनको उपलब्ध करता हुआ प्रसाद = प्रसन्नता = चित्त की स्वच्छता अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त करता है । राग-द्वेष से प्रेरित हुई इन्द्रियाँ ही दोष का कारण होती हैं । मन के अपने अधीन हो जाने पर तो राग-द्वेष नहीं रहते हैं, अत: उनका अभाव हो जाने से इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उनके अधीन नहीं रहती । अवर्जनीयता के कारण तो विषयोपलब्धि [262] दोषावह नहीं होती है, इसीलिए इससे अन्तःकरण की शुद्धि का व्याघात = नाश नहीं होता है -- यह भाव है ।

---

262. विषयोपलब्धि दो प्रकार की होती है – रागद्वेषादिपूर्वकोपलब्धि और अवर्जनीयसन्निधिप्रयुक्तोपलब्धि । प्रथम उपलब्धि राग-द्वेषादिपूर्वक होती है, इसमें विषयों की उपलब्धि से पूर्व उनके प्रति राग-द्वेष रहता है, जो दोष उत्पन्न करती है, जैसे – राग से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध आदि । द्वितीय विषयों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर होती है, जो अवर्जनीय होती है, क्योंकि विषयोपलब्धि विषयतन्त्र होती है', पुरुषतन्त्र नहीं होती, पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं होती । अत: ऐसी उपलब्धि अवर्जनीय होती है, किन्तु इसमें राग-द्वेष आदि नहीं रहते, अत: यह दोषावह नहीं होती है, इसीलिए इससे विधेयात्मा की शुद्धि का व्याघात -- नाश नहीं होता है ।

215 एतेन विषयाणां स्मरणमपि चेदनर्थकारणं सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं विषयान्भुञ्जानः कथमनर्थं न प्रतिपद्येतेति शङ्का निरस्ता । स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान्प्राप्नोतीति च किं व्रजेतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ 64 ॥

216 प्रसादमधिगच्छतीत्युक्तं तत्र प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते--

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ 65 ॥

217 चित्तस्य प्रसादे स्वच्छत्वरूपे सति सर्वदु:खानामाध्यात्मिकादीनामज्ञानविलसितानां हानिर्विनाशोऽस्य यतेरुपजायते । हि यस्मात्प्रसन्नचेतसो यतेराशु शीघ्रमेव बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्याकारा पर्यवतिष्ठते परिसमन्तादवतिष्ठते स्थिरा भवति विपरीतभावनादिप्रतिबन्धाभावात् । ततश्च प्रसादे सति बुद्धिपर्यवस्थानं ततस्तद्विरोध्यज्ञाननिवृत्तिः । ततस्तत्कार्यसकलदु:खहानिरिति क्रमेऽपि प्रसादे यत्नाधिक्याय सर्वदु:खहानिकरत्वकथनमिति न विरोधः ॥ 65 ॥

218 इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) द्रढयति--

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ 66 ॥

---

215 इससे 'यदि विषयों का स्मरण भी अनर्थ का कारण है तो उनके भोग की तो बात ही क्या है ? फिर जीवन के निर्वाह के लिए विषयों का भोग करने पर भी उसे अनर्थ की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?' -- यह शङ्का निरस्त हो गई । इसप्रकार अपने अधीन की हुई इन्द्रियों से वह विषयों को प्राप्त करता है -- यह 'किं व्रजेत' = 'वह कैसे चलता है ?' -- इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ॥ 64 ॥

216 'प्रसाद को प्राप्त होता है' -- यह कहा गया, अब प्रसाद होने पर क्या फल होता है -- यह कहा जाता है :--
[चित्त की स्वच्छता होने पर पुरुष के सभी दु:खों का नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त विद्वान् की बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माकारा होकर सब ओर स्थित हो जाती है ॥ 65 ॥]

217 चित्त का स्वच्छतारूप प्रसाद होने पर इस यति के अज्ञान से विलसित-कल्पित आध्यात्मिक आदि सभी दु:खों की हानि अर्थात् विनाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त यति की बुद्धि ब्रह्मात्मैक्याकारा होकर आशु = शीघ्र ही पर्यवस्थित = परि अर्थात् सब ओर से अवस्थित = स्थिर हो जाती है, कारण कि उसके विपरीतभावना आदि प्रतिबन्धकों का अभाव हो जाता है । इस प्रकार प्रसाद होने पर बुद्धि की स्थिति होती है, उससे = स्थिरबुद्धि से तद्विरोधी अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसके अनन्तर अज्ञान के कार्य सम्पूर्ण दु:खों की हानि होती है -- यह क्रम है, फिर भी प्रसादार्थ अधिक यत्न करने के लिए ही प्रसाद को अव्यवहितेन सम्पूर्ण दु:खों की हानि करनेवाला कहा है -- इसलिए इसमें विरोध नहीं है ॥ 65 ॥

218 मन:प्रसाद से ही सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति होती है -- इसी अर्थ को व्यतिरेकपूर्वक दृढ़ करते हैं : --
[अजितचित्त पुरुष को आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती, यह बुद्धि न होने पर उसको निदिध्यासनात्मिका भावना नहीं होती तथा वैसी भावना न करनेवाले को शान्ति प्राप्त नहीं होती और अशान्त को सुख कैसे हो सकता है ? ॥ 66 ॥]

219 अयुक्तस्याजितचित्तस्य बुद्धिरात्मविषया श्रवणमननाख्यवेदान्तविचारजन्या नास्ति नोत्पद्यते । तद्बुद्ध्यभावे न चायुक्तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा । सर्वत्र नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः । न चाभावयत आत्मानं शान्तिः सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कृतिः । अशान्तस्याऽऽत्मसाक्षात्कारशून्यस्य कुतः सुखं मोक्षानन्द इत्यर्थः ॥ 66 ॥

220 अयुक्तस्य कुतो नास्ति बुद्धिरित्यत आह—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ 67 ॥

221 चरतां स्वविषयेषु प्रवर्तमानानामवशीकृतानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकमपीन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनो विधीयते प्रेर्यते प्रवर्तत इति यावत् । कर्मकर्तरि लकारः । तदिन्द्रियमेकमपि मनसाऽनुसृतमस्य

219 अयुक्त = अजितचित्त पुरुष को श्रवण, मननरूप वेदान्तविचार से जन्य आत्मविषयक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती । उस बुद्धि के न होने पर अयुक्त पुरुष को विजातीय प्रत्ययों के अन्तर से रहित सजातीय प्रत्यय की प्रवाहरूपा निदिध्यासनात्मिका[263] भावना नहीं होती । यहाँ सर्वत्र 'न' का 'अस्ति' के साथ अन्वय है । तथा आत्मा की भावना न करनेवाले को शान्ति = कार्यसहित अविद्या की निवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्य की साक्षात्कृति = अनुभूति नहीं होती । और जो अशान्त = आत्मसाक्षात्कार से शून्य है उसको सुख अर्थात् मोक्षानन्द = मुक्ति का आनन्द कहाँ हो सकता है ? ॥ 66 ॥

220 अजितचित्त पुरुष को बुद्धि क्यों नहीं होती ? -- यह कहते हैं --
[अपने-अपने विषयों में प्रवर्तमान इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय को लक्ष्य करके मन अनुप्रवृत्त होता है वह इस अजितचित्त पुरुष की बुद्धि को इसप्रकार हर लेती है जैसे वायु जल में नाव को वहा ले जाती है ॥ 57 ॥]

221 चलती हुई अर्थात् अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हुई अवशीकृत इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के भी पीछे= उसी को लक्ष्य करके मन विधीयते = प्रेरित होता है अर्थात् प्रवृत्त होता है-- 'विधीयते' -- इस क्रियापद में कर्मकर्त्ता में लकार है -- वह इन्द्रिय एक होने पर भी मन का अनुसरण करने से इस साधक अथवा मन की आत्मविषयिणी शास्त्रीय प्रज्ञा को हर लेती है अर्थात् दूर ले जाती

263. ब्रह्मभिन्न प्रतीत होनेवाले विविध प्रकार के देहादि पदार्थों के प्रति ब्रह्मभिन्नरूप भावना का त्याग कर उन सम्पूर्ण पदार्थों को ब्रह्माभिन्न मानना 'निदिध्यासन' है (विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् -- वेदान्तसार) ।

264. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'यत्-यत्' शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण किया है और इन्द्रिय को ही प्रज्ञापहरण में कारण कहा है, तथा 'अस्य' शब्द का अर्थ 'साधकस्य मनसो वा' भी किया है । किन्तु आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती का अर्थ उचित नहीं है । उनका कहना है कि 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' – इस पूर्वश्लोक से इन्द्रियानुगत मन में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व विवक्षित है, और फिर प्रकृत श्लोक में श्रुत मन को छोड़कर अश्रुत इन्द्रिय को 'यत्-यत्' शब्द से ग्रहण करना भी तो अनुचित है । अतः इन्द्रियानुगत मन में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए । इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि भाष्यकारों ने प्रकृत श्लोक के 'इन्द्रियाणां' पद में कर्म में षष्ठी मानकर अर्थ किया है, निर्धारण में षष्ठी करके नहीं । अतः उनके व्याख्यानों के अनुसार भी इन्द्रियानुगत मन ही प्रज्ञापहरण करता है । किन्तु वास्तव में विचार किया जाय तो विषयों को ग्रहण करने में समर्थ मात्र इन्द्रियाँ ही होने के कारण इन्द्रियाँ ही अपने - अपने विषयों को मन-बुद्धि को प्रदान करती

साधकस्य मनसो वा प्रज्ञामात्मविषयां शास्त्रीयां हरति अपनयति मनसस्तद्विषयाविष्टत्वात् । यदैकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति तदा सर्वाणि हरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

222 दृष्टान्तस्तु स्पष्टः । अम्भस्येव वायोर्नौकाहरणसामर्थ्यं न भुवीति सूचयितुमम्भसीत्युक्तम् । एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यम्भःस्थानीये मनश्चाञ्चल्ये सत्येव प्रज्ञाहरणसामर्थ्यमिन्द्रियस्य न तु भूस्थानीये मनःस्थैर्य इति सूचितम् ॥ 67 ॥

223 हि यस्मादेवम् –

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 68 ॥

224 सर्वशः सर्वाणि समनस्कानि । हे महाबाहो, इति सम्बोधयन्सर्वशत्रुनिवारण-क्षमत्वादिन्द्रियशत्रुनिवारणेऽपि त्वं क्षमोऽसीति सूचयति । स्पष्टमन्यत् । तस्येति सिद्धस्य साधकस्य च परामर्शः । इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञं प्रति लक्षणत्वस्य मुमुक्षुं प्रति प्रज्ञासाधनत्वस्य चोपसंहरणीयत्वात् ॥ 68 ॥

है,[264], क्योंकि मन उसी विषय में रंग जाता है । जब एक ही इन्द्रिय प्रज्ञा को हर लेती है तो सब मिलकर हर लेती हैं -- इसमें कहना ही क्या है ? -- यह तात्पर्य है ।

222 दृष्टान्त तो स्पष्ट ही है । वायु का नौका को हरने का सामर्थ्य जल में ही होता है, पृथ्वी पर नहीं -- यह सूचित करने के लिए 'अम्भसि' कहा है । इसीप्रकार दार्ष्टान्तिक में भी 'जलस्थानीय मन की चञ्चलता होने पर ही इन्द्रिय का प्रज्ञा को हरने का सामर्थ्य हो सकता है, पृथ्वीस्थानीय मन की स्थिरता होने पर नहीं -- यह सूचित किया गया है ॥ 67 ॥

223 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिए हे महाबाहो ! जिसकी मनसहित सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों से निगृहीत होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ 68 ॥]

224 सर्वशः = मनसहित सभी इन्द्रियाँ । 'हे महाबाहो !' -- यह सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि समस्त शत्रुओं का निवारण करने में सक्षम होने के कारण तुम इन्द्रियरूप शत्रुओं का निवारण = निग्रह करने में भी सक्षम हो । शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है । 'तस्य' -- इस पद से सिद्ध और साधक -- दोनों का परामर्श किया गया है, क्योंकि स्थितप्रज्ञ के लिए लक्षणरूप और मुमुक्षु के लिए प्रज्ञा के साधनरूप इन्द्रियसंयम का उपसंहार करना है ॥ 68 ॥

हैं, उनको विषयों के प्रति आसक्त करती हैं, इसी से इन्द्रियाँ ही तो विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने से प्रज्ञा =बुद्धि का हरण करती हैं, पूर्व में कहा भी है कि विषयों में आसक्ति से बुद्धि नष्ट हो जाती है (गीता, 2.62-63), अतः इन्द्रियों में ही प्रज्ञाहरणकर्तृत्व स्वीकार करना उचित है । इन्द्रियों में प्रज्ञाहरणकर्तृत्व शास्त्र से भी सिद्ध है –

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा हतेः पादादिवोदकम् ॥
(मनुस्मृति, 2.99)

"यदि सब इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे चमड़े के बर्तन – मशक आदि के एक भी छिद्र से सब जल बहकर नष्ट हो जाता है ।"

इसप्रकार मधुसूदन सरस्वतीकृत अर्थ शास्त्रानुभवसिद्ध होने से सर्वथा उचित ही है ।

225 तदेवं मुमुक्षुणा प्रज्ञास्थैर्याय प्रयत्नपूर्वकमिन्द्रियसंयमः कर्तव्य इत्युक्तं स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतः सिद्ध एव सर्वेन्द्रियसंयम इत्याह –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ 69 ॥

226 या वेदान्तवाक्यजनितसाक्षात्काररूपाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा सर्वभूतानामज्ञानां निशेव निशा तान्प्रत्यप्रकाशरूपत्वात् । तस्यां ब्रह्मविद्यालक्षणायां सर्वभूतनिशायां जागर्ति अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धः सन्सावधानो वर्तते संयमीन्द्रियसंयमवान्स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यस्यां तु द्वैतदर्शनलक्षणायामविद्यानिद्रायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति स्वप्नवद्व्यवहरन्ति सा निशा न प्रकाशत आत्मतत्त्वं पश्यतोऽपरोक्षतया मुनेः स्थितप्रज्ञस्य । यावद्धि न प्रबुध्यते तावदेव स्वप्रदर्शनं बोधपर्यन्तत्वाद् भ्रमस्य । तत्त्वज्ञानकाले तु न भ्रमनिमित्तः कश्चिद्व्यवहारः । तदुक्तं वार्तिककारै :--

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिस्तथा ।
काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः ।
या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः ॥' इति ।

---

225 इसप्रकार यह कहा गया कि मुमुक्षु को प्रज्ञा की स्थिरता के लिए प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियसंयम करना चाहिए, अब 'स्थितप्रज्ञ को तो स्वत: ही समस्त इन्द्रियों का संयम प्राप्त होता है' -- यह कहते हैं --
[जो 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इत्याकारक साक्षात्काररूपा प्रज्ञा समस्त प्राणियों के लिए रात्रि के समान रात्रि है उस ब्रह्मविद्यारूप समस्त प्राणियों की रात्रि में संयमी पुरुष जागता है और जिस द्वैतदर्शनरूपा अविद्या-निद्रा में सोये हुए ही प्राणी जागते हैं वह आत्मतत्त्व का अपरोक्षरूप से साक्षात्कार कर रहे मुनि की रात्रि होती है॥ 69 ॥]

226 या = जो वेदान्तवाक्यजनित साक्षात्काररूपा 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसी प्रज्ञा समस्त अज्ञ प्राणियों के लिए, उनके प्रति अप्रकाशरूपा होने के कारण, रात्रि के समान रात्रि है, उस ब्रह्मविद्यारूपा समस्त प्राणियों की रात्रि में सयंमी अर्थात् इन्द्रियसंयमवान् स्थितप्रज्ञ जागता है = अज्ञाननिद्रा से प्रबुद्ध होकर सावधान रहता है । तथा जिस द्वैतदर्शनरूपा अविद्या-निद्रा में प्रसुत ही प्राणी जागते हैं = स्वप्न के समान व्यवहार करते हैं वह आत्मतत्त्व का अपरोक्षरूप से साक्षात्कार करनेवाले स्थितप्रज्ञ मुनि की निशा होती है जो उसको प्रकाशित नहीं होती, क्योंकि जबतक पुरुष प्रबुद्ध नहीं होता तभी तक स्वप्रदर्शन होता है, कारण कि भ्रम भी तबतक रहता है, जबतक बोध नहीं होता । तत्त्वज्ञान होने पर तो भ्रमनिमित्त कोई व्यवहार ही नहीं होता । ऐसा ही वार्तिककार ने भी कहा है --
''कर्त्तादि कारकों का व्यवहार रहते शुद्ध वस्तु नहीं देखी जा सकती और शुद्ध वस्तु का दर्शन होने पर कारकों का व्यवहार नहीं रहता । यह संसार अज्ञानी के लिए उलूक और आत्मज्ञानी के लिए काक की रात्रि के समान है । यही स्वयं हरि ने 'या निशा सर्वभूतानाम्' -- इत्यादि वाक्य से कहा है ।''

227 तथा च यस्य विपरीतदर्शनं तस्य न वस्तुदर्शनं विपरीतदर्शनस्य वस्त्वदर्शनजन्यत्वात् । यस्य च वस्तुदर्शनं तस्य न विपरीतदर्शनं विपरीतदर्शनकारणस्य वस्त्वदर्शनस्य वस्तुदर्शनेन बाधितत्वात् । तथा च श्रुतिः 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ' इति विद्याविद्ययोर्व्यवस्थामाह । यथा काकस्य रात्र्यन्धस्य दिनमुलूकस्य दिवान्धस्य निशा रात्रौ पश्यतश्चोलूकस्य यद्दिनं रात्रिरेव सा काकस्येति महदाश्चर्यमेतत् । अतस्तत्त्वदर्शिनः कथमाविद्यकक्रियाकारकादिव्यवहारः स्यादिति स्वतः सिद्ध एव तस्येन्द्रियसंयम इत्यर्थः ॥ 69 ॥

228 एतादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वविक्षेपशान्तिरप्यर्थसिद्धेति सदृष्टान्तमाह –

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70॥

229 सर्वाभिर्नदीभिरापूर्यमाणं सन्तं वृष्ट्यादिप्रभवा अपि सर्वा आपः समुद्रं प्रविशन्ति । कीदृशमचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादम् । अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा गाम्भीर्यातिशय उक्तः । यद्वद्येन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं

---

227 इसप्रकार जिसे विपरीत ज्ञान होता है उसे यथार्थ वस्तु का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि विपरीत ज्ञान वस्तु के अज्ञान से ही उत्पन्न होता है । और जिसे वस्तु का ज्ञान होता है उसे विपरीत ज्ञान नहीं होता क्योंकि विपरीत ज्ञान का कारण वस्तु का अज्ञान वस्तु के ज्ञान से बाधित हो जाता है । श्रुति भी कहती है -- 'जहाँ कोई अन्य जैसी वस्तु होती है वहीं अन्य अन्य को देखता है । जहाँ तो इसके लिए सब कुछ आत्मरूप ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसको देखे' (बृह० उ०, 4.3.31)' ? विद्या और अविद्या की ऐसी व्यवस्था कहते हैं -- जैसे रात्रि के अन्धे काक का दिन, दिन के अन्धे उलूक की रात्रि है और रात्रि में देखनेवाले उलूक का जो दिन है वह काक की रात्रि ही है -- यह महान् आश्चर्य है । अत: तत्त्वदर्शी को अविद्याजनित क्रिया -- कारकादि व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस प्रकार उसका इन्द्रियसंयम तो स्वत:सिद्ध ही है -- यह तात्पर्य है ।। 69 ।।

228 इसप्रकार के स्थितप्रज्ञ के समस्त विक्षेपों की शान्ति भी अर्थत: सिद्ध होती है -- यह दृष्टान्त के साथ कहते हैं :--

[जैसे नदियों के द्वारा सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में वर्षा आदि के जल भी प्रवेश कर जाते हैं, वैसे ही जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में शब्दादि सम्पूर्ण विषय प्रवेश करते हैं वही शान्ति को प्राप्त करता है, विषयों की कामना करनेवाला नहीं ।। 70 ।।]

229 सम्पूर्ण नदियों से आपूर्यमाण होते हुए समुद्र में वर्षा आदि के कारण होनेवाले जल भी प्रवेश कर जाते हैं । कैसे समुद्र में ? अचल-प्रतिष्ठ अर्थात् मर्यादा का अतिक्रमण न करनेवाले में, अथवा, जिसमें मैनाक आदि अचलों = पर्वतों की प्रतिष्ठा है -- इस प्रकार उसकी गम्भीरता की अतिशयता कही गई है । यद्वत् = जिस प्रकार से निर्विकाररूप से समुद्र स्थित रहता है, तद्वत् = उसी प्रकार से निर्विकाररूप से जिस निर्विकार स्थितप्रज्ञ में समस्त काम = अज्ञानी लोग जिनकी कामना करते हैं वे शब्दादि सम्पूर्ण विषय अवर्जनीयता के कारण = प्रारब्धकर्मवश अपरिहार्य होने के कारण

निर्विकारमेव सन्तं कामा अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दाद्याः सर्वे विषया अवर्जनीयतया प्रारब्धकर्मवशात्प्रविशन्ति न तु विकर्तुं शक्नुवन्ति स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिं बाधितानुवृत्ताविद्याकार्यनिवृत्तिं चाऽऽप्नोति ज्ञानबलेन । न कामकामी कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकाम्यज्ञः शान्तिं व्याख्यातां नाऽऽप्नोति । अपि तु सर्वदा लौकिकालौकिककर्मविक्षेपेण महति क्लेशार्णवे मग्नो भवतीति वाक्यार्थः । एतेन ज्ञानिन एव फलभूतो विद्वत्संन्यासस्तस्यैव च सर्वविक्षेपनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिर्दैवाधीनविषयभोगेऽपि निर्विकारतेत्यादिकमुक्तं वेदितव्यम् ॥ 70 ॥

230 यस्मादेवं तस्मात् –

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ 71 ॥

231 प्राप्तानपि सर्वान्बाह्यान्गृहक्षेत्रादीनान्तरान्मनोराज्यरूपान्वासनामात्ररूपांश्च पथि गच्छंस्तृणस्पर्शरूपान्कामांस्त्रिविधान्विहायोपेक्ष्य शरीरजीवनमात्रेऽपि निस्पृहः सन् । यतो निरहंकारः शरीरेन्द्रियादावयमहमित्यभिमानशून्यः, विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इति वा । अतो निर्ममः शरीरयात्रामात्रार्थेऽपि प्रारब्धकर्माक्षिप्ते कौपीनाच्छादनादौ ममेदमित्यभिमानवर्जितः सन्यः पुमांश्चरति प्रारब्धकर्मवशेन भोगान्भुङ्क्तेयादृच्छिकतया यत्र

प्रवेश करते हैं, किन्तु वे उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, वह महासमुद्रस्थानीय स्थितप्रज्ञ अपने ज्ञान के बल से शान्ति = समस्त लौकिक और अलौकिक कर्मों से उत्पन्न विक्षेप की निवृत्ति तथा बाधितानुवृत्ति से समस्त अविद्या के कार्य की निवृत्ति प्राप्त करता है; कामकामी नहीं । कामकामी = 'कामान्-विषयान् पशुपुत्रस्वर्गादीन् कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी' अर्थात् पशुपुत्रस्वर्गादि काम्य विषयों की कामना करने का स्वभाव है जिसका वह कामकामी = अज्ञानी पुरुष इस व्याख्या की हुई शान्ति को प्राप्त नहीं करता, अपितु वह तो सर्वदा लौकिक और अलौकिक कर्मों के विक्षेप से महान् क्लेश-समुद्र में निमग्न रहता है-- यह वाक्यार्थ है । इससे ज्ञानी के लिए ही ज्ञान का फलभूत विद्वत्संन्यास तथा उसी के लिए सम्पूर्ण विक्षेप की निवृत्तिरूपा जीवन्मुक्ति, दैवाधीन विषयों को भोगते रहने पर भी निर्विकारता इत्यादि कहा गया है -- यह जानना चाहिए ।। 70 ।।

230 क्योंकि ऐसा है, इसलिए --

[जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर व्यवहार करता है वह शान्ति प्राप्त करता है ।। 71 ।।]

231 प्राप्त होने पर भी सम्पूर्ण कामों को = गृह-क्षेत्र आदि बाह्य तथा मनोराज्यरूप और वासनामात्ररूप आन्तर -- इन तीनों प्रकार के कामों को जो मार्ग में चलते हुए तृणस्पर्श के समान हैं, छोड़कर = उपेक्षा करके, शरीर के जीवनमात्र की भी स्पृहा न कर तथा क्योंकि निरहंकार अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि में 'यह मैं हूँ' -- ऐसे अभिमान से शून्य अथवा विद्यावान् आदि होने के कारण आत्मसम्भावना से रहित होता है, अतः निर्मम = शरीरयात्रामात्र के लिए भी प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए कौपीन, वस्त्र (आच्छादन) आदि में 'यह मेरा है' -- ऐसे अभिमान से रहित होकर जो पुरुष व्यवहार करता है = प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए भोगों को भोगता है अथवा यादृच्छिकता से -- स्वेच्छा से जहाँ कहाँ

क्वापि गच्छतीति वा । स एवंभूतः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरम-लक्षणामविद्यातत्कार्यनिवृत्तिमधिगच्छति ज्ञानबलेन प्राप्नोति । तदेतदीदृशं व्रजनं स्थितप्रज्ञस्येति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरं परिसमाप्तम् ॥ 71 ॥

232 तदेवं चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरव्याजेन सर्वाणि स्थितप्रज्ञलक्षणानि मुमुक्षुकर्तव्यतया कथितानि । सम्प्रति कर्मयोगफलभूतां सांख्यनिष्ठां फलेन स्तुवन्नुपसंहरति –

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ 72 ॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन -
संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोध्यायः ॥ 2 ॥

233 एषा स्थितप्रज्ञलक्षणव्याजेन कथिता, एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिरिति च प्रागुक्ता स्थितिर्निष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकपरमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी ब्रह्मविषया । हे पार्थैनां स्थितिं प्राप्य यः कश्चिदपि पुनर्न विमुह्यति । न हि ज्ञानबाधितस्याज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति अनादित्वेनोत्पत्त्यसम्भवात् । अस्यां स्थितावन्तकालेऽपि अन्त्येपि वयसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं निर्वृत्तिं ब्रह्मरूपं निर्वाणमिति वा, ऋच्छति गच्छत्यभेदेन । किमु वक्तव्यं यो ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य यावज्जीवमस्यां ब्राह्म्यां स्थितावतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीत्यपिशब्दार्थः ॥72॥

भी जाता है -- वह = इसप्रकार का स्थितप्रज्ञ ज्ञान के बल से शान्ति अर्थात् संसार के सम्पूर्ण दु:खों से उपरमरूपा अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति प्राप्त करता है । इसप्रकार का व्रजन = चलना स्थितप्रज्ञ का होता है -- यह चतुर्थ प्रश्न का उत्तर भी समाप्त हो गया ॥ 71 ॥

232 इसप्रकार चारों प्रश्नों के उत्तर के व्याज से स्थितप्रज्ञ के सभी लक्षणों को मुमुक्षु के कर्त्तव्यरूप से कह दिया । अब कर्मयोग की फलभूता सांख्यनिष्ठा का, फल के द्वारा उसकी स्तुति करते हुए, उपसंहार करते हैं --

[हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करके कोई भी पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता और अन्तिम काल = वय में भी इसमें स्थित होकर पुरुष ब्रह्मरूप निर्वाण को प्राप्त करता है ॥ 72 ॥]

233 यह स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के व्याज से कही गई और पहले 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' -- इसप्रकार कही गई स्थिति = सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक परमात्मा की ज्ञानरूपा निष्ठा ब्राह्मी = ब्रह्मविषया है । हे पार्थ ! इस स्थिति को प्राप्त करके जो कोई भी पुरुष पुन: मोह को प्राप्त नहीं होता । ज्ञान से बाधित अज्ञान की पुन: उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनादि होने के कारण उसकी उत्पत्ति असम्भव है । इस स्थिति में अन्तकाल में भी = अन्तिम वय = आयु में भी = वृद्धावस्था में भी स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण = ब्रह्म में निर्वाण अर्थात् निर्वृत्ति अथवा ब्रह्मरूप निर्वाण को अभेदरूप से प्राप्त करता है । जो ब्रह्मचर्य अवस्था से ही संन्यास लेकर जीवनपर्यन्त इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है -- इसमें तो कहना ही क्या है ? -- यह 'अपि' शब्द का अर्थ है ।

234 ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् । तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन्प्रकीर्तितम् ॥

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां सर्वगीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ 2 ॥

---

234 ज्ञान, उसका साधन निष्काम कर्म, उसका फल सत्त्वशुद्धि = चित्तशुद्धि-अन्तःकरण की शुद्धि और उसका फल ज्ञाननिष्ठा -- ये ही पदार्थ इस अध्याय में कहे गये हैं ॥ 72 ॥

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य
श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का सांख्ययोग नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त होता है ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

1 एवं तावत्प्रथमेनाध्यायेनोपोद्घातितो द्वितीयेनाध्यायेन कृत्स्नः शास्त्रार्थः सूत्रितः । तथा हि – आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा । ततोऽन्तःकरणशुद्धिः । ततः शमदमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्मसंन्यासः । ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा । ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा तस्याः फलं च त्रिगुणात्मकाविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तं तदन्ते च विदेहमुक्तिः। जीवन्मुक्तिदशायां च परमपुरुषार्थालम्बनेन परवैराग्यप्राप्तिर्दैवसंपदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया । आसुरसम्पदाख्या त्वशुभवासना तद्विरोधिनी हेया । दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा । आसुरसम्पदस्तु राजसी तामसी चेति हेयोपादेयविभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरिसमाप्तिः ।

2 तत्र 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्यादिना सूत्रिता सत्त्वशुद्धिसाधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा सामान्यविशेषरूपेण तृतीयचतुर्थाभ्यां प्रपञ्च्यते । ततः शुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसाधन-सम्पत्तिपुरःसरा 'विहाय कामान्यः सर्वान्' इत्यादिना सूत्रिता सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा संक्षेपविस्तररूपेण पञ्चमषष्ठाभ्याम् । एतावता च त्वंपदार्थोऽपि निरूपितः । ततो वेदान्तवाक्यविचारसहिता 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना सूत्रिताऽनेकप्रकारा भगवद्भक्तिनिष्ठाऽध्यायषट्केन प्रतिपाद्यते । तावता च तत्पदार्थोऽपि निरूपितः । प्रत्यध्यायं चावान्तरसङ्गतिमवान्तरप्रयोजनभेदं च तत्र तत्र प्रदर्शयिष्यामः । ततस्तत्त्वंपदार्थैक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' इत्यादिना सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषविवेकद्वारा प्रपञ्चिता । ज्ञाननिष्ठायाश्च फलं 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना सूत्रिता त्रैगुण्यनिवृत्तिश्चतुर्दशे सैव जीवन्मुक्तिरिति गुणातीतलक्षणकथनेन प्रपञ्चिता । ' तदा गन्तासि

---

1 इस प्रकार प्रथम अध्याय से जिस अर्थ का उपोद्घात किया गया है वही अर्थ द्वितीय अध्याय में सूत्ररूप से कहा गया है । तथाहि -- आदि में निष्कामकर्मनिष्ठा, ततः अन्तःकरणशुद्धि, तत्पश्चात् शमदमादिसाधनपूर्वक सर्वकर्मसंन्यास, तदनंतर वेदान्त-वाक्य-विचारसहित भगवद्भक्तिनिष्ठा, तदुपरान्त तत्त्वज्ञाननिष्ठा तथा उसका फल त्रिगुणात्मिका अविद्या की निवृत्ति द्वारा प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्त जीवन्मुक्ति और उसके अन्त में विदेह मुक्ति -- का निरूपण किया गया है । जीवन्मुक्ति की अवस्था में ही परम-पुरुषार्थ -- मोक्ष का अवलम्बन कर परवैराग्यकी प्राप्ति होती है । उस समय उसमें उपकारिणी दैवी सम्पत्ति शुभवासना का ग्रहण करना चाहिए और उसकी विरोधिनी आसुरी सम्पदा अशुभवासना का त्याग करना चाहिए । दैवी सम्पत्ति का असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा है और आसुरी सम्पदा का तो कारण राजसी-तामसी श्रद्धा है -- इस प्रकार हेयोपादेय = ग्राह्य और त्याज्य के विभाग से सम्पूर्ण गीता-शास्त्रार्थ की परिसमाप्ति हुई है ।

2 उसमें 'योगस्थः कुरु कर्माणि'(गीता, 2.48) इत्यादि से सूत्रिता = सूत्र रूप में कही हुई सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि की साधनभूता निष्कामकर्मनिष्ठा का सामान्य और विशेष रूप से तृतीय और चतुर्थ अध्यायों द्वारा प्रतिपादन किया गया है । तदनंतर शुद्धान्तःकरण पुरुष के लिए शम-दमादि-साधन-सम्पत्तिपूर्विका 'विहाय कामान् यः सर्वान्' (गीता 2.71) इत्यादि से सूत्रिता = सूत्ररूप में कही हुई सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठा का संक्षेप और विस्तार रूप से पञ्चम और षष्ठ अध्यायों से निरूपण किया

निर्वेदम्' इत्यादिना सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसारवृक्षच्छेदद्वारेण पञ्चदशे। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना' इत्यादिना स्थितप्रज्ञलक्षणेन सूत्रिता परवैराग्योपकारिणी दैवी सम्पदादेया 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिन्यासुरी सम्पच्च हेया षोडशे। दैवसम्पदोऽसाधारणं कारणं च सात्त्विकी श्रद्धा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' इत्यादिना सूत्रिता तद्विरोधिपरिहारेण सप्तदशे। एवं सफला ज्ञाननिष्ठाऽध्यायपञ्चकेन प्रतिपादिना। अष्टादशेन च पूर्वोक्तसर्वोपसंहार इति कृत्स्नगीतार्थसङ्गतिः।

3 **तत्र पूर्वाध्याये सांख्यबुद्धिमाश्रित्य ज्ञाननिष्ठा भगवतोक्ता-- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इति। तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्मनिष्ठोक्ता 'योगे त्विमां शृणु' इत्यारभ्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते – मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इत्यन्तेन। न चानयोर्निष्ठयोरधिकारिभेदः स्पष्टमुपदिष्टो भगवता। न चैकाधिकारिकत्वमेवोभयोः समुच्चयस्य विवक्षितत्वादिति वाच्यम्। 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति कर्मनिष्ठाया बुद्धिनिष्ठापेक्षया निकृष्टत्वाभिधानात्। 'यावानर्थउदपाने'**

गया है और इतने ग्रन्थ से ही 'त्वम्' पदार्थ का भी निरूपण हुआ है। तत्पश्चात् वेदान्त-वाक्य-विचार सहित 'युक्त आसीत मत्परः' (गीता, 2.61) इत्यादि से सूत्रित अनेक प्रकार की भगवद्भक्तिनिष्ठा का आगे के छः अध्यायों से प्रतिपादन किया गया है और इतने ग्रन्थ से ही ' तत्' पदार्थ का भी निरूपण हुआ है। प्रत्येक अध्याय में अवान्तर संगति और अवान्तर प्रयोजनविशेष को तत्र-तत्र = यथास्थान प्रदर्शित करेंगे। तदुपरान्त 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की ऐक्यज्ञानरूपा 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गीता, 2.21) इत्यादि से सूत्रिता तत्त्वज्ञाननिष्ठा तेरहवें अध्याय में प्रकृति-पुरुष-विवेक द्वारा कही गई है। ज्ञाननिष्ठा का फल 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रिता त्रैगुण्यनिवृत्ति चौदहवें अध्याय में निरूपित है, वही जीवन्मुक्ति है -- यह गुणातीत के लक्षणकथन से विस्तारपूर्वक कही गयी है। तदुपरान्त 'तदा गन्तासि निर्वेदम्' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रिता परवैराग्यनिष्ठा संसार-वृक्ष के छेदन द्वारा पन्द्रहवें अध्याय में कही गई है। इसके पश्चात् 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (गीता, 2.56) इत्यादि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों द्वारा सूत्रिता परवैराग्य में उपकारिणी दैवी सम्पत्ति ग्राह्य है और 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (गीता, 2.42) इत्यादि से सूत्रिता परवैराग्य की विरोधिनी आसुरी सम्पदा हेय = त्याज्य है -- यह सोलहवें अध्याय में कहा गया है। फिर 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' (गीता, 2.45) इत्यादि से सूत्रित दैवीसम्पत्ति का असाधारण कारण सात्त्विक श्रद्धा उसकी विरोधिनी राजसी-तामसी श्रद्धा के परिहारपूर्वक सतरहवें अध्याय में कही गई है। इस प्रकार इन पाँच अध्यायों से फल सहित ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। अठारहवें अध्याय में पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषय का उपसंहार हुआ है। यह सम्पूर्ण गीता के अर्थ की संगति है।

3 इसमें पूर्व अध्याय में भगवान् ने सांख्यबुद्धि का आश्रय लेकर 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' (गीता, 2.39) - इसप्रकार ज्ञाननिष्ठा कही है तथा योगबुद्धि का आश्रय लेकर 'योगे त्विमां शृणु' (गीता, 2.39) इत्यादि से लेकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते -- मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (गीता, 2.47) इत्यादि तक कर्मनिष्ठा कही है। किन्तु वहाँ भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा - इन दोनों निष्ठाओं के अधिकारीविशेष का स्पष्टतया उपदेश नहीं किया है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि दोनों का समुच्चय विवक्षित होने के कारण उन दोनों निष्ठाओं का एक ही अधिकारी है, क्योंकि 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' (गीता, 2.49) = 'हे धनञ्जय ! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है' ---- इससे बुद्धिनिष्ठा की अपेक्षा कर्मनिष्ठा की निकृष्टता कही गई है। 'यावानर्थ

इत्यत्र च ज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावस्य दर्शितत्वात् । स्थितप्रज्ञलक्षणमुक्त्वा च – 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशंसं ज्ञानफलोपसंहारात् । 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादौ ज्ञानिनो द्वैतदर्शनाभावेन कर्मानुष्ठानासंभवस्य चोक्तत्वात् । अविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षफले ज्ञानमात्रस्यैव लोकानुसारेण साधनत्वकल्पनात् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेश्च ।

4 **ननु तर्हि तेजस्तिमिरयोरिव विरोधिनोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवाद्भिन्नाधिकारिकत्वमेवास्तु । सत्यम् । नैवं सम्भवति एकमर्जुनं प्रति तूभयोपदेशो न युक्तः । नहि कर्माधिकारिणं प्रति ज्ञाननिष्ठोपदेष्टुमुचिता न वा ज्ञानाधिकारिणं प्रति कर्मनिष्ठा । एकमेव प्रति विकल्पेनोभयोपदेश इति चेत् । न, उत्कृष्टनिकृष्टयोर्विकल्पानुपपत्तेः। अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपे मोक्षे तारतम्यासम्भवाच्च । तस्माज्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्वे एकं प्रत्युपदेशायोगा-देकाधिकारिकत्वे च विरुद्धयोः समुच्चयासम्भवात्कर्मापेक्षया ज्ञानप्राशस्त्यानुपपत्तेश्च विकल्पाभ्युपगमे चोत्कृष्टमनायाससाध्यं ज्ञानं विहाय निकृष्टमनेकायासबहुलं कर्मानुष्ठातुमयोग्यमिति मत्वा पर्याकुलीभूतबुद्धिः--**

उदपाने' (गीता, 2.46) -- इत्यादि में भी ज्ञान के फल में ही सम्पूर्ण कर्मों के फल का अन्तर्भाव दिखाया गया है । स्थितप्रज्ञ का लक्षण कह कर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' (गीता, 2.72) -- इसप्रकार प्रशंसापूर्वक ज्ञान के फल का उपसंहार किया है । 'या निशा सर्वभूतानाम्' (गीता, 2.69) इत्यादि में ज्ञानी के लिए द्वैतदर्शन का अभाव होने से कर्मानुष्ठान की असंभवता कही गई है । अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्षात्मक फल में लोक के अनुसार ज्ञानमात्र की ही साधनता कल्पित की गई है और श्रुति भी कहती है -- 'उस परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्यु के पार हो जाता है, अयन = मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है' (श्वेता०, 3.8) ।

4 'तब तो प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी ज्ञान और कर्म का समुच्चय असम्भव होने के कारण उनके अधिकारी भिन्न ही होने चाहिए' । 'सत्य है' । 'ऐसा नहीं हो सकता, तब तो एक ही अर्जुन को दोनों निष्ठाओं का उपदेश उचित नहीं था, क्योंकि कर्म के अधिकारी को ज्ञाननिष्ठा का उपदेश और ज्ञान के अधिकारी को कर्मनिष्ठा का उपदेश करना उचित नहीं हो सकता ।' 'यदि यह मान लें कि विकल्प से एक को भी दोनों निष्ठाओं का उपदेश किया जा सकता है', तो नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट और निकृष्ट साधनों में विकल्प नहीं हो सकता और अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित आत्मस्वरूप मोक्ष में कोई तारतम्य भी संभव नहीं है । अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा – दोनों निष्ठाओं की भिन्न आधिकारिकता होने से एक ही व्यक्ति को उपदेश नहीं किया जा सकता तथा दोनों निष्ठाओं की एक आधिकारिकता होने से परस्पर विरुद्ध दोनों निष्ठाओं का समुच्चय संभव न होने के कारण कर्म की अपेक्षा ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध नहीं होती । और इनमें विकल्प स्वीकार करने पर तो उत्कृष्ट, अनायाससाध्य ज्ञान को छोड़कर निकृष्ट, अनेक = कायिक, वाचिक, मानसिक आयासों = प्रयत्नों से साध्य = बहुकष्टसाध्य कर्म का अनुष्ठान करना अनुचित होगा' -- ऐसा मानकर व्याकुल चित्त हुए --

[अर्जुन ने कहा -- हे जनार्दन ! यदि आपको निष्काम कर्म की अपेक्षा आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि अधिक श्रेष्ठ अभिमत है, तो हे केशव ! आप मुझे इस हिंसादि अनेक आयासों से साध्य कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥1 ॥]

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ 1 ॥

5 **हे जनार्दन सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति त्वं तथाभूतो मयाऽपि श्रेयोनिश्चयार्थं याच्यस इति नैवानुचितमिति सम्बोधनाभिप्रायः । कर्मणो निष्कामादपि बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्ततरा चेद्यदि ते तव मता तत्तदा किं कर्मणि घोरे हिंसाद्यनेकायासबहुले मामतिभक्तं नियोजयसि 'कर्मण्येवाधिकारस्त' इत्यादिना विशेषेण प्रेरयसि हे केशव सर्वेश्वर । सर्वेश्वरस्य सर्वेष्टदायिनस्तव मां भक्तं 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मामि'त्यादिना त्वदेकशरणतयोपसन्नं प्रति प्रतारणा नोचितेत्यभिप्रायः ॥ 1 ॥**

6 **ननु नाहं कंचिदपि प्रतारयामि किं पुनस्त्वामतिप्रियं, त्वं तु किं मे प्रतारणाचिह्नं पश्यसीति चेत्तत्राऽऽह –**

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 2 ॥

---

5 हे जनार्दन[1] ! = 'सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषितसिद्धय इति' अर्थात् सभी जनों द्वारा अपनी अभिलषित वस्तुओं की सिद्धि = प्राप्ति के लिए आप अर्दित = याचित = प्रार्थित होते हैं, अतः आप 'जनार्दन' हैं । ऐसे होने के कारण ही आपसे मैं भी जो श्रेय का निश्चय करने के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ वह अनुचित नहीं है -- यह इस सम्बोधन का अभिप्राय है । यदि आपको यह अभिमत = स्वीकार है कि निष्कामभाव से भी किए हुए कर्म की अपेक्षा आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि ज्यायसी = प्रशस्ततरा = अधिक श्रेष्ठ है, तो आप अपने परम भक्त मुझको इस घोर = हिंसा आदि अनेक आयासों = प्रयत्नों से साध्य कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं ? 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता, 2.47) = ' तेरा कर्म में ही अधिकार है' -- इत्यादि वाक्यों से विशेषरूप से क्यों प्रेरित करते हैं ? हे केशव = हे सर्वेश्वर ! आप सभी को अभीष्ट प्रदान करने वाले सर्वेश्वर हैं, अतः मुझ अपने भक्त को = ' शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्' (गीता, 2.7) = 'मैं आपका शिष्य हूँ, आप शरण में आये हुए मुझको शिक्षा दीजिए' -- इत्यादि से पूर्व में ही आपकी शरण में आये हुए को प्रतारणा = बहकाना = ठगना उचित नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 1 ॥

6 यदि भगवान् कहें कि मैं तो किसी को भी नहीं ठगता, फिर मेरे अत्यन्त प्रिय तुमको तो कैसे ठगूंगा ? तुमको मुझमें ठगने के क्या चिह्न दिखाई देते हैं ? – तो अर्जुन कहता है –

[आप व्यामिश्र = परस्पर मिले हुए सें अर्थवाले वाक्य से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं । अतः आप निश्चय करके एक ही बात कहिए, जिससे मैं श्रेय = कल्याण प्राप्त करूँ ॥ 2 ॥]

---

1. जन + अर्द गतौ याचने च, नन्द्यादित्वात् ल्यु = 'जन' उपपदयुक्त णिजन्त 'अर्द्' (गति और याचना) धातु से 'ल्यु' प्रत्यय है । अथवा जनैर्लोकैरर्द्यते याच्यते पुरुषार्थानसौ जनार्दनः, कर्मणि ल्युट् = 'जन' उपपदयुक्त णिजन्त 'अर्द्' (याचना) धातु से कर्म अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर ' जनार्दन' शब्द निष्पन्न है, अतः सभी जनों – लोकों द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति के लिए जो याचित = प्रार्थित होते हैं वे 'जनार्दन' हैं ।

7 **तव वचनं व्यामिश्रं न भवत्येव मम त्वेकाधिकारिकत्वभिन्नाधिकारिकत्वसन्देहाद्व्यामिश्रं संकीर्णार्थमिव ते यद्वाक्यं मां प्रति ज्ञानकर्मनिष्ठाद्वयप्रतिपादकं तेन वाक्येन त्वं मे मम मन्दबुद्धेर्वाक्यतात्पर्यापरिज्ञानाद् बुद्धिमन्तःकरणं मोहयसीव भ्रान्त्या योजयसीव । परमकारुणिकत्वात्त्वं न मोहयस्येव मम तु स्वाशयदोषान्मोहो भवतीतीवशब्दार्थः । एकाधिकारित्वे विरुद्धयोः समुच्चयानुपपत्तेरेकार्थत्वाभावेन च विकल्पानुपपत्तेः प्रागुक्तेर्यद्यधिकारिभेदं मन्यसे तदेकं मां प्रति विरुद्धयोर्निष्ठयोरुपदेशायोगात्तज्ज्ञानं वा कर्म वैकमेवाधिकारं मे निश्चित्य वद । येनाधिकारनिश्चयपुरःसरमुक्तेन त्वया मया चानुष्ठितेन ज्ञानेन कर्मणा वैकेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयां प्राप्तुं योग्यः स्याम् । एवं ज्ञानकर्मनिष्ठयोरेकाधिकारित्वे विकल्पसमुच्चययोरसम्भवादधिकारिभेदज्ञानायार्जुनस्य प्रश्न इति स्थितम् ।**

7 आपका वचन व्यामिश्र नहीं है, किन्तु मेरे ही सन्देह के कारण कि -- 'ज्ञान और कर्म एकाधिकारिक हैं या भिन्नाधिकारिक हैं ?' -- मैं आपके वचन को व्यामिश्र = संकीर्ण अर्थवाला सा समझ रहा हूँ । आपने मेरे प्रति जो ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- दोनों ही निष्ठाओं का प्रतिपादक वाक्य कहा है उस वाक्य से आप मुझ मन्दमति की बुद्धि = अन्तःकरण को उस वाक्य के तात्पर्य को न समझने के कारण मोहित - सा कर रहे हैं = मानो भ्रान्तियुक्त कर रहे हैं । परम कारुणिक होने के कारण आप तो मोहित नहीं करते, किन्तु अपने आशय = अन्तःकरण के दोष से ही मुझे मोह हो रहा है[2] -- यह 'इव' शब्द का अभिप्राय है । यदि आप ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- दोनों निष्ठाओं का एकाधिकारित्व स्वीकार करते हैं, तो दोनों विरुद्ध निष्ठाओं में समुच्चय अनुपपन्न होगा और एकार्थत्व = एक ही प्रयोजन का अभाव होने से = एक ही प्रयोजन न होने से विकल्प भी अनुपपन्न होगा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है; तथा यदि इनके अधिकारियों में भेद मानते हैं, तो मुझ एक को ही इन दोनों विरुद्ध निष्ठाओं का उपदेश करना अयुक्त है । अतः आप ज्ञान अथवा कर्म जिस किसी एक का अधिकार मुझमें निश्चय करके मुझे ज्ञान या कर्म एक ही निष्ठा का उपदेश कीजिए । जिससे अधिकार-निश्चयपूर्वक आपके द्वारा उपदिष्ट = उक्त और मेरे द्वारा अनुष्ठित ज्ञान अथवा कर्म एक ही निष्ठा से मैं श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त करूँ = मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो जाऊँ । इसप्रकार ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा -- इन दोनों निष्ठाओं का एकाधिकारित्व स्वीकार करने पर विकल्प और समुच्चय संभव न होने के कारण उनके अधिकारियों के भेद को जानने के लिए अर्जुन का प्रश्न है -- यह स्थिर = निश्चय हुआ ।

8 यहाँ भाष्यकार ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः अन्य विद्वानों के समस्त कुमतों का श्रुति, स्मृति और न्याय के बल से निरकारण किया है, अतः मैं उसके लिए प्रवृत्त नहीं होता हूँ । भाष्यकार के ही मत का सारदर्शी मैं तो यहाँ ग्रन्थ की योजना मात्र कर रहा हूँ । अपनी वाणी की शुद्धि के लिए ही भगवान् भाष्यकार के केवल आशयमात्र को प्रकाशित कर रहा हूँ ।। 2 ।।

2. अर्जुन के कथन का तात्पर्य यह है कि हे जनार्दन ! आपका वाक्य व्यामिश्र = मिश्रित नहीं है, किन्तु मुझे ही अपने अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण संशय हो रहा है कि आपके वाक्य में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा – दोनों का ही प्रतिपादन किया गया है, तो मुझे ज्ञानयोग का अनुष्ठान अपेक्षित है या कर्मयोग का अनुष्ठान अपेक्षित है, क्योंकि दोनों का ही अनुष्ठान एक समय में एक पुरुष से नहीं हो सकता । इसलिए मेरे ही अन्तःकरण में भ्रान्ति सी हो रही है । आप तो परम दयालु हैं, आप व्यर्थ ही किसी के अन्तःकरण को भ्रान्तियुक्त नहीं करते । यहाँ 'इव' शब्द का यह अभिप्राय है ।

8 **इहेतरेषां कुमतं समस्तं श्रुतिस्मृतिन्यायबलान्निरस्तम् ।**
पुनः पुनर्भाष्यकृताऽतियत्नादतो न तत्कर्तुमहं प्रवृत्तः ॥
भाष्यकारमतसारदर्शिना ग्रन्थमात्रमिह योज्यते मया ।
आशयो भगवतः प्रकाश्यते केवलं स्ववचसो विशुद्धये ॥ 2 ॥

9 **एवमधिकारिभेदेऽर्जुनेन पृष्टे तदनुरूपं प्रतिवचनम् –**

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ 3 ॥

10 **अस्मिन्नधिकारित्वाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानपरता कर्मपरता च पुरा पूर्वाध्याये मया तवात्यन्तहितकारिणा प्रोक्ता प्रकर्षेण स्पष्टत्वलक्षणेनोक्ता । तथा चाधिकार्यैक्यशङ्कया मा ग्लासीरिति भावः । हेऽनघापापेति सम्बोधयन्नु**

---

9 इसप्रकार अर्जुन के द्वारा अधिकारिभेद का प्रश्न पूछे जाने पर उसके अनुरूप उत्तर-वाक्य से श्री भगवान् बोले --

[हे अनघ = निष्पाप अर्जुन ! मैने पहले इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा कही है -- ज्ञानयोग के द्वारा सम्यक् रूप से आत्मबुद्धि को प्राप्त हुए सांख्ययोगियों की निष्ठा और कर्मयोग के द्वारा कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा ।। 3 ।।]

10 इस = अधिकारित्व से अभिमत-इष्ट लोक में = शुद्धान्त:करण और अशुद्धान्त:करण भेद से दो प्रकार के जनसमुदाय[3] में तुम्हारे अत्यन्त हितकारी मैने पहले = पूर्व अध्याय[4] में ज्ञानपरता और कर्मपरता के भेद से द्विविधा = दो प्रकार की निष्ठाएँ = स्थितियाँ प्रोक्ता = प्रकर्ष से अर्थात् स्पष्ट रूप से कही हैं । अत: तुम अधिकारी की एकता की शङ्का से खिन्न मत होओ -- यह भाव है । हे अनघ = अपाप अर्थात् निष्पाप -- इसप्रकार सम्बोधन करते हुए भगवांन् अर्जुन की उपदेशयोग्यता सूचित करते हैं ।[5] एक ही निष्ठा साध्य-साधन अवस्था-भेद से दो प्रकार की मैंने कही है, दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ नहीं है -- यह कहने के लिए'निष्ठा'[6] -- यह एकवचनान्त पद प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार आगे भी कहेंगे -- 'एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति' (गीता, 5.5) = 'जो पुरुष सांख्य और योग को एक ही देखता है वही यथार्थ देखता है' ।

---

3. 'लोकस्तु भुवने जने' (अमरकोष, 3.3.2) = 'लोक' के भुवन = संसार और जन – दो अर्थ हैं । यहाँ अमरकोष के अनुसार 'लोक' शब्द जनवाची है ।

4. प्रकृत प्रसङ्ग में आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में कहते हैं कि श्लोक में प्रयुक्त 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सर्गादौ' = 'सृष्टि के आदि में' है, यही भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य को अभीष्ट है । किन्तु मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ और श्रीधर ने'पुरा' का अर्थ 'पूर्वाध्याये' = 'पूर्व अध्याय में' किया है, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि यह अर्थ भाष्यविरुद्ध है; 'प्रोक्ता' – इतना कहने मात्र से ही अर्थ-संगति हो जाने पर 'लोकेऽस्मिन्' और 'पुरा' -- इनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ ही है; तथा 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (गीता, 4.1) –इस श्लोक के भाष्योक्त अर्थ से विरोध भी होता है ।

5. 'अनघ' – इस सम्बोधन से यह सूचित किया गया है कि अर्जुन भगवान् से ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त करने के योग्य है, क्योंकि वह निष्पापान्त:करण है, निष्पापान्त:करण में ही उपदेशवाक्य से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, सपापान्त:करण में आत्मज्ञान नहीं होता, जैसा कि स्मृति कहती है -- 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मण:' इत्यादि ।

6. साधन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठा को 'निष्ठा' कहते हैं ।

पदेशयोग्यतामर्जुनस्य सूचयति । एकैव निष्ठा साध्यसाधनावस्थाभेदेन द्विप्रकारा न तु द्वे एव स्वतन्त्रे निष्ठे इति कथयितुं निष्ठेत्येकवचनम् । तथा च वक्ष्यति –

'एवं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति ।

11 तामेव निष्ठां द्वैविध्येन दर्शयति – सांख्येति, संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां प्राप्तवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां ज्ञानभूमिमारूढानां शुद्धान्तःकरणानां सांख्यानां ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना । अशुद्धान्तःकरणानां तु ज्ञानभूमिमनारूढानां योगिनां

---

11 उसी निष्ठा को दो प्रकार से दिखाते हैं -- सांख्येति = सांख्यों[7] की = संख्या अर्थात् सम्यक् आत्मबुद्धि, उसको प्राप्त हुए हैं जो = जिन्होंने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर लिया है और वेदान्तजनित विज्ञान से वस्तु का भलीभांति निश्चय कर लिया है उन ज्ञान की भूमिकाओं पर आरूढ़ हुए शुद्ध अन्तःकरणवाले सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग के द्वारा कही है । ज्ञानयोग = 'ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः' =ज्ञानरूप योग = ज्ञान ही योग है । योग = 'युज्यते ब्रह्मणाऽनेनेति' = जिसके द्वारा ब्रह्म से युक्त होते हैं, वह 'योग' है -- इसप्रकार की व्युत्पत्ति से ज्ञानरूप योग - ज्ञानयोग = ज्ञान ही = परमार्थ तत्त्व का ज्ञान ही योग है । उस ज्ञानयोग के द्वारा 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' (गीता, 2.61) इत्यादि से सांख्ययोगियों की निष्ठा कही गई है । अशुद्ध अन्तःकरणवाले, अतएव ज्ञान की भूमिकाओं पर अनारूढ़ योगियों की = कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा कर्मयोग के द्वारा कही है । कर्मयोग = 'कर्मैव योगः कर्मयोगः' = कर्मरूपयोग = कर्म ही योग है । योग = ' युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति' = जिसके द्वारा अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ब्रह्म से युक्त होते हैं, वह 'योग' है -- इसप्रकार की व्युत्पत्ति से कर्मरूप योग - कर्मयोग = कर्म ही योग है । उस कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ज्ञान की भूमिकाओं पर आरूढ़ होने के लिए 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' (गीता, 2.31) इत्यादि से कर्माधिकारी योगियों की निष्ठा कही गई है ।

12 अतएव ज्ञान और कर्म का समुच्चय अथवा विकल्प नहीं है । किन्तु निष्काम कर्म के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरणवाले को सर्वकर्मसंन्यास से ही ज्ञान होता है -- इसप्रकार चित्त की शुद्धि और अशुद्धिरूप अवस्था के भेद से एक ही निष्ठा तुमको -- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता, 2.39) इत्यादि में दो प्रकार से कही है । अतः भूमिका के भेद से एक के भी प्रति दोनों का उपयोग होने के कारण अधिकार-भेद होने पर भी उपदेश की व्यर्थता नहीं है--यह अभिप्राय है । यही दिखलाने के लिए अशुद्धचित्त साधक को चित्तशुद्धिपर्यन्त 'न कर्मणामनारम्भात्' (गीता, 3.4) इत्यादि से लेकर 'मोघं पार्थ स जीवति' (गीता, 3.16) तक तेरह श्लोकों से कर्म का अनुष्ठान दिखलाते हैं । शुद्धचित्त ज्ञानी को कोई भी कर्म अपेक्षित नहीं है -- यह 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता, 3.17-18) इत्यादि दो श्लोकों से दिखाते हैं । 'तस्मात् असक्तः' (गीता, 3.19) यहाँ से आरम्भ करके यह दिखायेंगे कि फलाकांक्षा से रहित होनारूप कौशल से बन्धन के हेतु भी कर्म सत्त्वशुद्धि = चित्तशुद्धि, ततः ज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष के हेतु हो सकते हैं । उससे आगे तो 'अथ

---

7. ''वेदान्तैः सर्वैः सम्यगाख्यायते तात्पर्येन प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः ब्रह्मविदस्तेषां सांख्यानां ब्रह्मज्ञानम्'' = सभी वेदान्त के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रकाशित हैं अथवा तात्पर्य के रूप में प्रतिपादित हुए हैं वे सांख्य अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म हैं । उनको जो जन अपने आत्मा के रूप में जानते हैं उन्हें भी सांख्य अर्थात् ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है ।

कर्माधिकारयोगिनां कर्मयोगेन कर्मैव युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या योगस्तेन निष्ठोक्ताऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभूमिकारोहणार्थं 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना ।

12 अत एव न ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो विकल्पो वा । किं तु निष्कामकर्मणा शुद्धान्तःकरणानां सर्वकर्मसंन्यासेनैव ज्ञानमिति चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैकमेव त्वां प्रति द्विविधा निष्ठोक्ता -- 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति । अतो भूमिकाभेदेनैकमेव प्रत्युभयोपयोगान्नाधिकारभेदेऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यभिप्रायः । एतदेव दर्शयितुमशुद्धचित्तस्य चित्तशुद्धिपर्यन्तं कर्मानुष्ठानं 'न कर्मणामनारम्भादि'त्यादिभिर्मोघं पार्थ स जीवती-'त्यन्तैस्त्रयोदशभिर्दर्शयति । शुद्धचित्तस्य तु ज्ञानिनो न किंचिदपि कर्मापेक्षितमिति दर्शयति--यस्त्वात्मरतिरिति द्वाभ्याम् । 'तस्मादसक्त' इत्यारभ्य तु बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्ष-हेतुत्वं सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण सम्भवति फलाभिसंधिराहित्यरूपकौशलेनेति दर्शयिष्यति । ततः परं त्वथ केनेति प्रश्नमुत्थाप्य कामदोषेणैव काम्यकर्मणः शुद्धिहेतुत्वं नास्ति । अतः कामराहित्येनैव कर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानाधिकारी भविष्यसीति यावदध्यायसमाप्ति वदिष्यति भगवान् ॥ 3 ॥

13 तत्र कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः--

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ 4॥

14 कर्मणां 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्याऽऽत्मज्ञाने विनियुक्तानामनारम्भादननुष्ठानाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानायोग्यो बहिर्मुखः पुरुषो नैष्कर्म्यं सर्वकर्मशून्यत्वं ज्ञानयोगेन निष्ठामिति यावत्, नाश्नुते न प्राप्नोति ।

15 ननु 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव ज्ञाननिष्ठोपपत्तेः कृतं कर्मभिरित्यत आह--नच संन्यसनादेव चित्तशुद्धिं विना कृतात्सिद्धिं ज्ञाननिष्ठालक्षणां

केन' (गीता, 3.36) इत्यादि से प्रश्न उठाकर अध्याय की समाप्तिपर्यन्त भगवान् बतायेंगे कि कामदोष से ही काम्यकर्म शुद्धि के हेतु नहीं होते, अत: कामनारहित होकर कर्म करने से तुम अन्त:करण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान के अधिकारी हो जाओगे ॥ 3 ॥

13 कारण का अभाव होने पर कार्य की अनुपपत्ति होने से --
[कर्मों का अनुष्ठान न करने से ही पुरुष सर्वकर्मशून्यतारूप ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है और केवल संन्यास से ही ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है ॥ 4 ॥]

14 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानने की इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति से आत्मज्ञान में विनियुक्त = विनियोग के लिए उपदिष्ट कर्मों का आरम्भ = अनुष्ठान न करने से चित्तशुद्धि न होने के कारण ज्ञान के अयोग्य, अतएव बहिर्मुख पुरुष नैष्कर्म्य = सर्वकर्मशून्यता अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा निष्ठा को प्राप्त नहीं होता है ।

15 यदि कहो कि 'संन्यासी को प्राप्त होने वाले इस ब्रह्मरूपलोक की इच्छा से ही संन्यास ग्रहण करते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार सर्वकर्मसंन्यास से ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो सकती है, तो फिर कर्मों के अनुष्ठान

सम्यक्फलपर्यवसायित्वेनाधिगच्छति नैव प्राप्नोतीत्यर्थः । कर्मजन्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण संन्यास एव न संभवति । यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतोऽपि न फलपर्यवसायीति भावः ॥ 4 ॥

16 **तत्र कर्मजन्यशुद्ध्यभावे बहिर्मुखः--**

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 5 ॥

17 **हि यस्मात्क्षणमपि कालं जातु कदाचित्कश्चिदप्यजितेन्द्रियोऽकर्मकृत्सन्न तिष्ठति । अपि तु लौकिकवैदिककर्मानुष्ठानव्यग्र एव तिष्ठति तस्मादशुद्धचित्तस्य संन्यासो न संभवतीत्यर्थः ।**

18 **कस्मात्पुनरविद्वान्कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति । हि यस्मात्सर्वः प्राणी चित्तशुद्धिरहितोऽवशोऽस्वतन्त्र एव सन्प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैरभिव्यक्तैः सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभावप्रभवैर्वा रागद्वेषादिभिर्गुणैः कर्म लौकिकं वैदिकं वा कार्यते । अतः कर्माण्यकुर्वाणो न कश्चिदपि तिष्ठतीत्यर्थः । यतः स्वाभाविका गुणाश्चालका अतः परवशतया सर्वदा कर्माणि कुर्वतोऽशुद्धबुद्धेः सर्वकर्मसंन्यासो न संभवतीति न संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा संभवतीत्यर्थः ॥ 5 ॥**

19 **यथाकथंचिदौत्सुक्यमात्रेण कृतसंन्यासस्त्वशुद्धचित्तस्तत्फलभाङ्न भवति यतः--**

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ 6 ॥

की क्या आवश्यकता है' -- तो कहते हैं कि चित्तशुद्धि के बिना किये हुए केवल संन्यास से ही पुरुष ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को सम्यक् फल में समाप्तिरूप से अधिगत = प्राप्त नहीं होता है । भाव यह है कि कर्मजन्या चित्तशुद्धि के बिना संन्यास ही संभव नहीं है । यदि किसी प्रकार उत्सुकतामात्र से संन्यास किया भी जाय तो वह फलपर्यवसायी नहीं हो सकता ॥ 4 ॥

16 कर्मजन्या शुद्धि के अभाव में बहिर्मुख --
[कोई भी पुरुष क्योंकि एक क्षण भी कदाचित् कर्म किये बिना रह नहीं सकता,कारण कि प्रकृतिजनित सत्त्वादि गुण अथवा स्वाभाविक गुण राग-द्वेषादि सभी से बलात् कर्म कराते रहते हैं ॥ 5 ॥]

17 हि = यस्मात् = क्योंकि कोई भी अजितेन्द्रिय पुरुष एक क्षण भी जातु = कदाचित् = किसी समय में कर्म किये बिना नहीं रह सकता, अपितु वह लौकिक और वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में व्यग्र ही रहता है, इसलिए अशुद्धचित्त पुरुष का संन्यास होना संभव नहीं है -- यह भाव है ।

18 प्रश्न है कि अविद्वान् कर्म किये बिना क्यों नहीं रह सकता ? क्योंकि चित्तशुद्धि से रहित सभी प्राणी अवश = अस्वतंत्र ही रहने के कारण प्रकृतिज = प्रकृति से जनित कार्यरूप में अभिव्यक्त हुए सत्त्व, रज और तम -- इन गुणों के द्वारा अथवा प्रकृतिज = स्वभावज = स्वभावजनित -- स्वाभाविक रागद्वेषादि गुणों के द्वारा लौकिक अथवा वैदिक कर्मों में लगाये हुए हैं । अत: तात्पर्य यह है कि कर्म न करते हुए कोई भी नहीं रहता । क्योंकि स्वाभाविक गुण चालक हैं, अत: परवशता के कारण सर्वदा कर्म करते रहने वाले अशुद्धबुद्धि -- अशुद्धचित्त पुरुष को सर्वकर्मसंन्यास करना संभव नहीं है और उसमें संन्यासनिबन्धना ज्ञाननिष्ठा नहीं हो सकती है-- यह अभिप्राय है ॥ 5 ॥

19 किसी प्रकार उत्सुकतामात्र से कृतसंन्यास अशुद्धचित्त पुरुष संन्यास के फल का भागी नहीं होता, क्योंकि --

20 यो विमूढात्मा रागद्वेषादिदूषितान्त:करण औत्सुक्यमात्रेण कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि संयम्य निगृह्य बहिरिन्द्रियैः कर्माण्यकुर्वन्निति यावत् । मनसा रागादिप्रेरितेन्द्रियार्थान्शब्दादीन्न त्वात्मतत्त्वं स्मरन्नास्ते कृतसंन्यासोऽहमित्यभिमानेन कर्मशून्यस्तिष्ठति स मिथ्याचारः सत्त्वशुद्ध्यभावेन फलायोग्यत्वात्पापाचार उच्यते,

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ।
श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥'

इत्यादिधर्मशास्त्रेण । अत उपपन्नं न च संन्यसनादेवाशुद्धान्त:करणः सिद्धिं समधिगच्छतीति ॥ 6 ॥

21 औत्सुक्यमात्रेण सर्वकर्माण्यसंन्यस्य चित्तशुद्धये निष्कामकर्माण्येव यथाशास्त्रं कुर्यात् । यस्मात् –

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ 7 ॥

22 तुशब्दोऽशुद्धान्त:करणसंन्यासिव्यतिरेकार्थः । इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनसा सह नियम्य पापहेतुशब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य मनसा विवेकयुक्तेन नियम्येति वा, कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः कर्मयोगं शुद्धिहेतुतया विहितं कर्माऽऽरभते करोत्यसक्तः फलाभिलाषशून्यः

[जो विमूढात्मा = रागद्वेषादि से दूषित अन्तःकरणवाला पुरुष कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है -- मैं संन्यासी हूँ -- ऐसा अभिमान कर कर्मशून्य रहता है, वह मिथ्या आचरण वाला कहा जाता है ॥ 6 ॥]

20 जो विमूढात्मा = रागद्वेषादि से दूषित अन्त:करणवाला पुरुष उत्सुकतामात्र से वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियों का संयम = निग्रह करके अर्थात् बहिरिन्द्रियों से ही कर्म न करता हुआ रागादि से प्रेरित मन से इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का -- न कि आत्मतत्त्व का -- स्मरण करता रहता है अर्थात् 'मैं कृतसंन्यास हूँ' = 'मैंने संन्यास किया है' = 'मैं संन्यासी हूँ' -- ऐसे अभिमान से कर्मशून्य रहता है, वह मिथ्याचार है, सत्त्वशुद्धि = अन्त:करणशुद्धि न होने से फल के अयोग्य होने के कारण पापाचार कहा जाता है ।''त्वम्' -- पदार्थ के विवेक के लिए समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) श्रुति से विहित है, 'त्वंपदार्थ के विवेक के बिना कर्मत्यागी पतित होता है' -- इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य से भी यही सिद्ध होता है । अतः यह कहना उचित ही है कि अशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष केवल संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त नहीं करता ॥ 6 ॥

21 उत्सुकतामात्र से समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) न करके चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रानुसार निष्काम कर्म ही करने चाहिए, क्योंकि --

[हे अर्जुन ! जो पुरुष तो मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों का संयम करके फल की अभिलाषा छोड़कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग = शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह मिथ्याचार -- पापाचार पुरुष से श्रेष्ठ होता है ॥ 7 ॥]

22 श्लोक में 'तु' शब्द अशुद्ध अन्त:करणवाले संन्यासी से कर्मयोगी का व्यतिरेक = श्रेष्ठत्व दिखलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जो विवेकी पुरुष इन्द्रियों अर्थात् श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का मन के साथ संयम करके = पाप की हेतु शब्दादि विषयों के प्रति आसक्ति से उनको निवृत्त करके, अथवा विवेकयुक्त

सन्यो विवेकी स इतरस्मान्मिथ्याचाराद्विशिष्यते । परिश्रमसाम्येऽपि फलातिशयभाक्त्वेन श्रेष्ठो भवति । हेऽर्जुनाऽऽश्चर्यमिदं पश्य यदेकः कर्मेन्द्रियाणि निगृह्णञ्ज्ञानेन्द्रियाणि व्यापारयन्पुरुषार्थशून्योऽपरस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन्परम-पुरुषार्थभाग्भवतीति ॥ 7॥

23 **यस्मादेवं तस्मान्मनसा ज्ञानेन्द्रियाणि निगृह्य कर्मेन्द्रियैः--**

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ 8 ॥

24 **त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा नियतं विध्युद्देशे फलसंबन्धशून्यतया नियतनिमित्तेन विहितं कर्म**

मन से इन्द्रियों का संयम -- निग्रह करके[8] वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग = चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रविहित कर्मों का आरम्भ = अनुष्ठान असक्त = फल की अभिलाषा से रहित होकर करता है, वह कर्मयोगी अन्य (दूसरे) मिथ्याचार की अपेक्षा विशेष होता है । यद्यपि मिथ्याचार और विवेकी -- दोनों का इन्द्रियनिग्रहादि परिश्रम समान होता है, तथापि मिथ्याचार की अपेक्षा विवेकी अधिक फल का भागी होता है, कारण कि मिथ्याचारी अन्तःकरणशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान नहीं किए रहता, अतएव मिथ्याचार की अपेक्षा वह विवेकी कर्मयोगी श्रेष्ठ होता है । हे अर्जुन ! यह आश्चर्य तो देखो कि एक तो कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा व्यापार करने से पुरुषार्थ से शून्य रह जाता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह कर कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यापार करने से परम पुरुषार्थ का भागी हो जाता है ॥ 7 ॥

23 क्योंकि ऐसा है, इसलिए मन से ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह कर कर्मेन्द्रियों से --
[तुम नियत = नित्य कर्मों का अनुष्ठान करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है; कर्म न करने से तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ 8 ॥]

24 तुमने प्राक् = पहले -- पूर्व जन्म में चित्तशुद्धि के हेतु कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया है, इसलिए नियत = विधि के उद्देश्य में फल के सम्बन्ध का अभाव नियत होने से विहित कर्म अर्थात् लोक में प्रसिद्ध

---

8. नियन्त्रण दो प्रकार का होता है – प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्तिमूलक और अनुकूल विषयों में प्रवृत्तिमूलक । इसीलिए प्रकृत में इन्द्रिय-निग्रह को दो प्रकार से कहा है – श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का मनसा सह = मन के साथ निग्रह करना = पाप की हेतु शब्दादि विषयों के प्रति आसक्ति से उनका निवृत्त करना अथवा विहित – अविहित सभी विषयों में प्रवृत्तिशील इन्द्रियों को विवेकयुक्त मनसा = मन से विहित विषयों में ही प्रवृत्त करना । यद्यपि अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति होने से प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्ति अर्थतः सिद्ध होती ही है, तथापि प्रतिकूल विषयों से व्यावृत्ति होने से अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति अर्थतः सिद्ध होती है । इसीप्रकार उभयतः कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्ति होने से कृत्य = अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति और अकृत्य = प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति सिद्ध होती है, अतः कौन सा नियन्त्रण शाब्द है, कौन सा आर्थ, इसमें कोई विनिगमक नहीं है । अतः यहाँ उभयार्थ का अभिधान उचित ही है । तात्पर्य यह है कि कर्मयोग के लिए समस्त इन्द्रियों का सम्पूर्ण विषयों से निरोध करना व्याहत है, क्योंकि कर्मयोग के लिए विहित विषयों में प्रवृत्ति आवश्यक है और केवल प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति परमावश्यक है । कृत्याकृत्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञान इन्द्रियों में संभव नहीं है, यह ज्ञान तो मन में ही संभव है, अतः इन्द्रियाँ मन के ही अधीन होती है, इसीलिए मन को विवेकयुक्त कहा है । यदि मन ही प्रतिकूल विषयों में प्रवृत्त होगा तो वह इन्द्रिय-निग्रह कर ही नहीं सकता, इसीलिए प्रथम अर्थ में मन के साथ (मनसा सह) इन्द्रियों को प्रतिकूल विषयों से हटाना कहा है । द्वितीय अर्थ में मन विवेकी है, अतः वह प्रतिकूल विषयों में प्रवृत्त ही नहीं होगा, अनुकूल विषयों में ही प्रवृत्त होगा, उसका नियन्त्रण करना व्यर्थ है, अतः उससे (मनसा) इन्द्रियों का निग्रह करना उचित ही है । इसलिए उभयार्थाभिधान उचित ही है ।

श्रौतं स्मार्तं च नित्यमिति प्रसिद्धं कुरु । कुर्विति मध्यमपुरुषप्रयोगेणैव त्वमिति लब्धे त्वमिति पदमर्थान्तरे संक्रमितम् ।

25 कस्मादशुद्धान्तःकरणेन कर्मैव कर्तव्यं हि यस्मादकर्मणोऽकरणात्कर्मैव ज्यायः प्रशस्यतरम् । न केवलं कर्माभावे तवान्तःकरणशुद्धिरेव न सिध्येत् । किं तु अकर्मणो युद्धादिकर्मरहितस्य ते तव शरीरयात्रा शरीरस्थितिरपि न प्रकर्षेण क्षात्रवृत्तिकृतत्वलक्षणेन सिध्येत् । तथा च प्रागुक्तम् । अपि चेत्यन्तःकरणशुद्धिसमुच्चयार्थः ॥8॥

26 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतेः सर्वं कर्म बन्धात्मकत्वान्मुमुक्षुणा न कर्तव्यमिति मत्वा तस्योत्तरमाह –

श्रौत और स्मार्त नित्यकर्म[9] करो । 'कुरु' -- इस मध्यमपुरुष की क्रिया के प्रयोग से ही उसका कर्ता 'त्वम्' प्राप्त हो जाता है, फिर भी श्लोक में 'त्वम्' पद का प्रयोग किया गया है, कारण कि वह 'त्वम्' पद यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित है[10] -- 'त्वं प्रागननुष्ठितशुद्धिहेतुकर्मा' ।

25 अशुद्ध अन्तःकरणवाले को कर्म ही क्यों करना चाहिए, क्योंकि अकर्म = कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही ज्याय = प्रशस्यतर = श्रेष्ठतर है । कर्म न करने से न केवल तुम्हारे अन्तःकरण की शुद्धि ही नहीं होगी, अपितु अकर्मी अर्थात् युद्धादि कर्म से रहित होने से तुम्हारी शरीरयात्रा = शरीर की स्थिति भी प्रसिद्ध = प्र--प्रकर्ष से = क्षात्रवृत्ति के कृतत्वरूप से सिद्ध नहीं होगी । इसीप्रकार पहले भी कहा जा चुका है । 'अपि च' -- यह शब्द अन्तःकरण की शुद्धि के साथ समुच्चय करने के लिए है ।। 18 ।।

26 ''कर्मणा बध्यते जन्तुः' = 'कर्म करने से प्राणी बन्धन को प्राप्त होता है' -- इस स्मृति से स्पष्ट है कि समस्त कर्म बन्धनात्मक हैं, अतः मुमुक्षु को कर्म नहीं करना चाहिए' -- ऐसा अर्जुन की ओर से मानकर भगवान् उसका उत्तर देते हैं --

---

9. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' (अर्थसंग्रह) = वेद के उस भाग को 'विधि' कहते हैं जो लौकिक प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थ = प्रधान क्रिया, अङ्गक्रिया, द्रव्य, क्रम अधिकार आदि का विधान करती है । उदाहरण के लिए – 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' – यह वाक्य ' विधि' है, क्योंकि यह स्वर्ग प्राप्त कराने वाले 'अग्निहोत्र' नामक योग के अनुष्ठान का विधान करता है । ऐसे कर्मविधायक वाक्य के उद्देश्य में फल का सम्बन्ध नियम से रहता है, अतः यह ' काम्य-कर्म' विधायक वाक्य है । जिस कर्मविधायकवाक्य के उद्देश्यांश में फल के सम्बन्ध का अभाव नियत रहता है, वह 'नित्यकर्मविधायकवाक्य होता है, उदाहरण के लिए – 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि । यहाँ शुचिविहितकालजीवित्व के उद्देश्य से नित्यकर्म-सन्ध्या का विधान है, अतः उद्देश्यांश में फल के सम्बन्ध का अभाव होने से वही नियतवाक्य है, फलतः विहित सन्ध्या 'नित्यकर्म' है, यह श्रौत नित्यकर्म है । पञ्चमहायज्ञादि जो कर्म हैं वे स्मृतिप्रोक्त नित्यकर्म होने से स्मार्त 'नित्यकर्म' हैं ।

10. 'वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्' (काव्यप्रकाश) = कहीं वाच्य अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर में परिणत हो जाता है, उसे 'अर्थान्तरसंक्रमित' कहते हैं । जैसे – 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' – यह भगवान् राम का वाक्य है । राम वर्षाकाल में समुन्नत मेघमाला को आकाश में देख कर अपने हृदयस्थ भाव से विभोर होकर कहते हैं -- 'मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूंगा' । यहाँ 'अस्मि सहे' इत्यादि शब्दों से ही राम का बोध सिद्ध हो जाता है, किन्तु 'राम' शब्द का प्रयोग अत्यन्त दुःखसहिष्णुस्वरूप अर्थान्तर में संक्रमित है । इसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में 'कुरु' – इस मध्यमपुरुष की क्रिया के प्रयोग से ही उसका कर्त्ता 'त्वम्' प्राप्त हो जाता है, किन्तु श्लोक में 'त्वम्' पद का प्रयोग अर्थान्तर में संक्रमित है अर्थात् 'त्वम्' पद का प्रयोग अर्थान्तरबोधनार्थ है – भगवान् कहते हैं कि अन्यों को असुलभ सकल कल्याणभाजन प्रिय शिष्य 'तुम' ही हो, इसलिए तुमसे ही मैं यह शास्त्ररहस्य कह रहा हूँ । इसप्रकार यहाँ 'त्वम्' पद का प्रयोग प्रियशिष्यस्वरूप अर्थान्तर में संक्रमित है ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ 9 ॥

27 यज्ञः परमेश्वरः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः तदाराधनार्थं यत्क्रियते कर्म तद्यज्ञार्थं तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यते न त्वीश्वराराधनार्थेन । अतस्तदर्थं यज्ञार्थं कर्म हे कौन्तेय त्वं कर्मण्यधिकृतो मुक्तसङ्गः सन्समाचर सम्यक्श्रद्धादिपुरःसरमाचर ॥ 9 ॥

28 प्रजापतिवचनादप्यधिकृतेन कर्म कर्तव्यमित्याह सहयज्ञा इत्यादिचतुर्भिः--

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10 ॥

29 सह यज्ञेन विहितकर्मकलापेन वर्तन्त इति सहयज्ञाः समाधिकृता इति यावत् 'वोपसर्जनस्य'

[हे कौन्तेय ! यज्ञ = परमेश्वर के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला यह कर्माधिकारी कर्मबन्धन में पड़ता है; अत: तुम आसक्ति छोड़कर परमेश्वर की आराधना के लिए सम्यक् प्रकार से कर्म का आचरण करो ॥ 9 ॥]

27 'यज्ञो वै विष्णु:' = 'यज्ञ विष्णु ही है' -- इस श्रुति के अनुसार यज्ञ का अर्थ परमेश्वर है । उस परमेश्वर की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है वह यज्ञार्थ होता है । उस यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म में प्रवृत्त हुआ यह लोक = कर्माधिकारी कर्मबन्धन में पड़ता है = कर्म से बँधता है[11], ईश्वर की आराधना के लिए किए जाने वाले कर्म से नहीं । अत: हे कौन्तेय ! तुम कर्म में अधिकृत हो, आसक्ति छोड़कर तदर्थ = यज्ञार्थ = परमेश्वर की आराधना के लिए कर्म का समाचरण = सम्यक् प्रकार से श्रद्धापूर्वक आचरण करो ॥ 9 ॥

28 प्रजापति के वचनानुसार भी कर्माधिकारी को कर्म करना चाहिए -- यह 'सहयज्ञा:' इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं --

[पुरा = सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजाओं की सृष्टि करके कहा कि इस यज्ञ के अनुष्ठान से अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्मों के अनुष्ठान से तुम्हारी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी, इसे तुम इष्टफल प्रदान करनेवाली कामधेनु समझो ॥ 10 ॥]

29 जो यज्ञ अर्थात् विहितकर्मकलाप के साथ रहते हैं, उनको 'सहयज्ञ[12]' कहते हैं अर्थात् समाधिकृत = यज्ञादि कर्मों में अधिकृत -- अधिकारी कहते हैं । 'वोपसर्जनस्य' (पाणिनिसूत्र, 6.3.82) ='बहु-

11. श्लोक के 'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:' -- इस अंश का अर्थ मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ तथा श्रीधर ने किया है -- 'अन्यत्र = कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोक: कर्मबन्धन: = कर्मणा बध्यते' । आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती कृत यह अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ में ' प्रवृत्त' पद का प्रयोग होने से अध्याहार दोष है, कर्म में 'ल्युट्' प्रत्यय करना व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है, तथा 'कर्मबन्धन:' – पद में बहुव्रीहि समाम न करने से पुल्लिंग का प्रयोग नहीं हो सकता । वस्तुत: मधुसूदन सरस्वती कृत अर्थ भाष्य के विरुद्ध है, क्योंकि भाष्यकार शंकर ने उद्धृत श्लोकांश का अर्थ किया है -- 'अन्यत्र = अन्येन कर्मणा लोकोऽयमधिकृत: कर्मकृत् कर्मबन्धन: कर्म बन्धनं यस्य सोऽयं कर्मबन्धनो लोको' अर्थात् शंकर के अनुसार 'कर्मबन्धन:' पद में बहुव्रीहि समास है, तदनुसार पुल्लिंग भी उचित है, तदनुसार ही 'बन्धन' पद भाव अर्थ में ल्युडन्त है जो शास्त्रसिद्ध है । फलत: भाष्यकारकृत अर्थ ही यहाँ ग्राह्य है, अन्य नहीं ।

इति पक्षे सादेशाभावः । प्रजास्त्रीन्वर्णान्पुरा कल्पादौ सृष्ट्वोवाच प्रजानां पतिः स्रष्टा । किमुवाचेत्याह--अनेन यज्ञेन स्वाश्रमोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वम् । प्रसवो वृद्धिः । उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । कथमनेन वृद्धिः स्यादत आह--एष यज्ञाख्यो धर्मो वो युष्माकमिष्टकामधुक्, इष्टानभिमतान्कामान्काम्यानि फलानि दोग्धि प्रापयतीति तथा । अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः ।

30 अत्र यद्यपि यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थमकरणे प्रत्यवायस्याग्रे कथनात् । काम्यकर्मणां च प्रकृते प्रस्तावो नास्त्येव 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' इत्यनेन निराकृतत्वात्, तथाऽपि नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसद्भावात्, 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' इत्युपपद्यते । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति--'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । फलसद्भावेऽपि तदभिसंध्यनभिसंधिभ्यां काम्यनित्ययोर्विशेषः । अनभिसंहितस्यापि वस्तुस्वभावादुत्पत्तौ न विशेषः । विस्तरेण चाग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ 10 ॥

व्रीहि के अवयव 'सह' के स्थान में 'स' आदेश विकल्प से हो' -- इस सूत्र के अनुसार पक्ष में 'सह' को 'स' आदेश नहीं हुआ है । पुरा = कल्प के आरम्भ में प्रजाओं के पति = प्रजापति = स्रष्टा ने प्रजा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य -- इन तीन वर्णों की सृष्टि करके कहा । क्या कहा ? वह कहते हैं -- 'इस यज्ञ से अर्थात् स्वाश्रमोचित धर्म से तुम प्रसूत होओ - प्रसव = वृद्धि अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करो' । इस यज्ञ से वृद्धि कैसे होगी ? अत: कहते हैं -- 'यह यज्ञनामक धर्म तुम्हारे लिए इष्टकामधुक् हो = जो इष्ट अर्थात् अभिमत काम = काम्य फलों का दोहन करता है = इष्ट काम्य फलों को प्राप्त कराता है ऐसा वह इष्टकामधुक् हो अर्थात् अभीष्ट भोग प्रदान करनेवाला हो' ।

30 यहाँ यद्यपि 'यज्ञ' शब्द का ग्रहण आवश्यक कर्मों के उपलक्षण के लिए किया है, क्योंकि उनका अनुष्ठान न करने पर आगे प्रत्यवाय कहा गया है तथा प्रकृत में काम्य कर्मों का कोई प्रस्ताव ही नहीं है, क्योंकि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता, 2.47) -- इस वाक्य से काम्यकर्म का निराकरण किया गया है, तथापि नित्यकर्मों में भी आनुषङ्गिकरूप से फल रहता ही है, इसलिए 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' = यह तुम्हारे लिए इष्ट फल देने वाला हो' -- यह कथन उचित ही है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी अपनी स्मृति में कहते हैं -- 'जिस प्रकार फल के लिए लगाये हुए आम के वृक्ष से छाया और गन्ध उत्पन्न होते ही हैं, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्म की कोई हानि नहीं होती' । कर्मों में फल विद्यमान रहने पर भी उस फल की इच्छा होने और इच्छा न होने से काम्य और नित्य कर्मों में भेद हो जाता है । इच्छा न होने पर भी वस्तु के स्वभाव से यदि फल की उत्पत्ति हो जाय तो इससे कर्म में कोई भेद नहीं होता । यह विस्तारपूर्वक आगे प्रतिपादित किया जायेगा ॥ 10 ॥

---

12. 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (पाणिनिसूत्र, 2.2.28) इस सूत्र के अनुसार 'तुल्ययोग' में 'सह' अव्यय का तृतीयान्त शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होता है । किन्तु कहीं कहीं 'तुल्ययोग' न होने पर भी 'सह' शब्द का तृतीयान्त शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होता है । सूत्र में 'तुल्ययोग' वचन प्रायिक = वैकल्पिक है ('तुल्ययोगवचनं प्रायिकम्' --सिद्धान्तकौमुदी) इस कल्पना में सूत्रस्थ 'इति' पद का समावेश होना ही प्रमाण है । इसप्रकार 'तेन सहेति तुल्ययोगे'-- इस सूत्र की प्रवृत्ति उदाहरणों के अनुसार स्वीकार्य है ('इति' शब्दोपादानात् अस्य सूत्रस्य प्रयोगदर्शनात् प्रवृत्तिरिति भावः – लघुशब्देन्दुशेखरटीका) । अत: 'यज्ञेन सह वर्तन्ते' इति 'सहयज्ञाः' = यहाँ 'विद्यमान यज्ञवाले' अर्थ में 'तेन सहेति तुल्योगे' -- सूत्र से समास हुआ है । इस समास में 'वोपसर्जनस्य (पाणिनि सूत्र, 6.3.82) -- सूत्र से 'सह' को 'स' विकल्प से होता है । फलत: 'सयज्ञाः', 'सहयज्ञाः' – ये दोनों प्रयोग साधु हैं ।

31 कथमिष्टकामदोग्धृत्वं यज्ञस्येति तदाह--

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

32 अनेन यज्ञेन यूयं यजमाना देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागैः संवर्धयत तर्पयतेत्यर्थः । ते देवा युष्माभिर्भाविताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्यादिनाऽन्नोत्पत्तिद्वारेण संवर्धयन्तु एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च परं श्रेयोऽभिमतमर्थं प्राप्स्यथ देवास्तृप्तिं प्राप्स्यन्ति यूयं च स्वर्गाख्यं परं श्रेयः प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ 11 ॥

33 न केवलं पारत्रिकमेव फलं यज्ञात्, किं त्वैहिकमपीत्याह--

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

34 अभिलषितान्भोगान्पश्वन्नहिरण्यादीन्वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते वितरिष्यन्ति । हि यस्माद्यज्ञैर्भावितास्तोषितास्ते । यस्मात्तैऋणवद्भवद्भ्यो दत्ता भोगास्तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय यज्ञेषु देवोद्देशेनाऽऽहुतीरसंपाद्य यो भुङ्क्ते देहेन्द्रियाण्येव तर्पयति स्तेन एव तस्कर एव स देवस्वापहारी देवर्णानपाकरणात् ॥ 12 ॥

---

31 यज्ञ इष्टकामधुक् कैसे होता है -- यह कहते हैं --
[इस यज्ञ से तुम देवताओं को तृप्त करो और वे देवता तुमको तृप्त करेंगे । इस प्रकार परस्पर तृप्त करते हुए तुम परम श्रेय = कल्याण को प्राप्त करोगे ।। 11 ।।]

32 इस यज्ञ से यजन करते हुए तुम इन्द्रादि देवताओं को भावित करो = हविर्भाग से संवर्धित करो अर्थात् तृप्त करो । तुम्हारे द्वारा भावित - तृप्त किये हुए वे देवता तुमको भावित करें = वृष्टि आदि से अन्नोत्पत्ति के द्वारा संवर्धित करें -- तृप्त करें । इसप्रकार एक-दूसरे का संवर्धन करते हुए देवता और तुम परम श्रेय = अपना अभिमत -- अभीष्ट अर्थ प्राप्त करोगे अर्थात् देवता तृप्ति को प्राप्त होंगे और तुम स्वर्ग नामक परम श्रेय को प्राप्त करोगे ।। 11 ।।

33 यज्ञ से न केवल पारलौकिक ही फल प्राप्त होता है, अपितु ऐहिक फल की भी प्राप्ति होती है -- यह कहते हैं --
[यज्ञ से भावित-तृप्त देवता तुमको इष्ट-अभिलषित भोग देंगे । देवताओं द्वारा दिये गए भोगों को उन्हें समर्पण किये बिना जो पुरुष स्वयं भोगता है वह चोर ही है ।। 12 ।।]

34 देवता तुमको पशु, अन्न, हिरण्य आदि अभिलषित भोग देंगे, हि = यस्मात् = क्योंकि वे तुम्हारे यज्ञों से भावित-तोषित-सन्तुष्ट हैं । क्योंकि उन्होंने तुमको ऋण की भांति भोग दिये हैं, इसलिए उन देवताओं के द्वारा दिये गए भोंगो को उन देवताओं को दिये बिना = यज्ञों में देवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान किये बिना जो पुरुष स्वयं भोगता है -- अपने देह और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है वह देवताओं के ऋण का शोधन न करने के कारण स्तेन -- तस्कर-चोर अर्थात् देवताओं के धन का अपहरण करनेवाला ही है ।। 12 ।।

35 ये तु–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

36 **वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टममृतं येऽश्नन्ति ते सन्तः शिष्टा वेदोक्तकारित्वेन देवाद्यृणापाकरणात् । अतस्ते मुच्यन्ते सर्वैर्विहिताकरणनिमित्तैः पूर्वकृतैश्च पञ्चसूनानिमित्तैः किल्बिषैः । भूतभाविपातकासंसर्गिणस्ते भवन्तीत्यर्थः ।**

37 **एवमन्वये भूतभाविपापाभावामुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह–भुञ्जते ते वैश्वदेवाद्यकारिणोऽघं पापमेव । तुशब्दोऽवधारणे । ये पापाः पञ्चसूनानिमित्तं प्रमादकृतहिंसानिमित्तं च कृतपापाः सन्त आत्मकारणादेव पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थम् । तथा च पञ्चसूनादिकृतपापे विद्यमान एव वैश्वदेवादिनित्यकर्माकरणनिमित्तमपरं पापमाप्नुवन्तीति 'भुञ्जते ते त्वघं पापा इत्युक्तम् । तथा च स्मृतिः–**

---

35 किन्तु जो --
[जो वैश्वदेवादि यज्ञ से अवशिष्ट अन्न खानेवाले हैं, वे सत्पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो अपने ही लिए अन्न -पाक करते हैं, वे पापा:[13] = पापी पुरुष तो अघ[14] = पाप का ही भोग करतें हैं ॥ 13 ॥]

36 जो वैश्वदेवादि यज्ञ से अवशिष्ट अमृत भोजन करते हैं, वे सन्त = शिष्ट पुरुष हैं, क्योंकि वेदोक्त कर्म करनेवाले होने से उन्होंने देवादि के ऋण चुका दिए हैं । अत: वे सम्पूर्ण अर्थात् विहित कर्मों के न करने से होनेवाले और पञ्चसूना = पाँच प्रकार की हिंसाओं से पहले किये हुए पापों से मुक्त हो जाते हैं । भावार्थ यह है कि वे भूत और भावी -- सभी पापों के संसर्ग से शून्य हो जाते हैं ।

37 इस प्रकार अन्वयमुख से भूत और भावी पापों का अभाव कहकर व्यतिरेकमुख से दोष कहते हैं – वे वैश्वदेवादि यज्ञों को न करनेवाले पुरुष अघ = पाप को ही भोगते हैं । यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक = निश्चयार्थक है । जो पापी पुरुष पञ्चसूना = पाँच प्रकार की हिंसाओं से और प्रमादजनित हिंसाओं से होने वाले पाप किये होने पर भी अपने ही लिए अन्न पकाते है, न कि वैश्वदेवादि के लिए तो वे इसप्रकार पञ्चसूनादि से होने वाले पाप के विद्यमान रहते हुए भी वैश्वदेवादि नित्यकर्मों के न करने से होने वाले दूसरे पाप को प्राप्त करते हैं -- यह 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' इससे कहा है ।

---

13. 'अस्त्री पङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्बिषकल्मषम् । कलुषं वृजिनैनोघमंहोदुरितदुष्कृतम् ।' (अमरकोष, 1.4.23) – अमरकोष के अनुसार 'पाप' के बारह नाम है, जिनमें 'पाप' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । किन्तु प्रकृत में 'पाप' शब्द पापीपरक है, अत: यहाँ 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पाणिनिसूत्र, 5.2.127) – इस सूत्र के अनुसार प्रथमान्त 'पापम्' शब्द से मत्वर्थ में 'अच्' प्रत्यय होकर 'पाप:' (पापानि सन्ति अस्य) यह अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह औपचारिक प्रयोग है ।

14. 'अघं भुञ्जते' = 'अघ = पाप का उपभोग करता है ' – इस वाक्य में 'अघ' शब्द औपचारिक है । जो केवल अपने लिए अन्न-पाक करता है, उस भोजन से पाप होता है (अघं स केवलं भुङ्क्ते य: पचत्यात्मकारणात् - मनुस्मृति, 3.118), अत: यहाँ पापपरक भोजन को अघ = पाप कहा है । फलत: 'अघं भुञ्जते ' इस वाक्य का 'अघ = पाप = पापपरक भोजन का उपभोग करता है' – यह अभिप्राय है ।

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥' इति ।

'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति च । श्रुतिश्च--'इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्' इति । मन्त्रवर्णोऽपि –

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥' इति ।

इदं चोपलक्षणं पञ्चमहायज्ञानां स्मार्तानां श्रौतानां च नित्यकर्मणाम् । अधिकृतेन नित्यानि कर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति प्रजापतिवचनार्थः ॥ 13 ॥

38 न केवलं प्रजापतिवचनादेव कर्म कर्तव्यमपि तु जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपीत्याह--अन्नादिति त्रिभिः--

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

इसीप्रकार स्मृति भी कहती है --

'ओखली-मूसल, चक्की, चूल्हा, जल का घट और मार्जनी -- ये गृहस्थ के लिए पञ्चसूना = पाँच जीवहिंसा के स्थान हैं, इन्हीं के कारण वह स्वर्ग प्राप्त नहीं कर पाता'।[15] फिर स्मृति कहती है -- 'पञ्चसूनाकृत पाप को वह पञ्चयज्ञों[16] से दूर कर सकता है' । और श्रुति कहती है -- 'जो कुछ खाया जाता है वह सब कुछ ही समस्त भोक्ताओं का = चींटी तक समस्त प्राणियों का साधारण = सर्वोपभोग्य अन्न है । जो इसकी उपासना करता है अर्थात् केवल अपने लिए ही इन अन्नों का व्यवहार करता है वह पाप से निवृत्त नहीं हो सकता है क्योंकि यह मिश्र है अर्थात् वह अन्न सभी का साधारण है' (बृह० उ०, 9.4.10) । मन्त्रवर्ण = वेद भी कहता है –

'यह अप्रचेता = अविद्वान् = हृदयहीन व्यक्ति जो पापमय अन्न ग्रहण करता है, सत्य कहता हूँ, वह उसका वध ही है । वह न तो अर्यमा का पोषण करता है और न मित्र का, अकेला भोजन करने वाला तो केवल पापी ही होता है' (ऋग्वेद, 10.129.5) । यह कथन पञ्च महायज्ञ तथा स्मार्त और श्रौत नित्यकर्मों का उपलक्षण है । कर्माधिकारी को नित्यकर्मों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए -- यह प्रजापति के वचन का अभिप्राय है ।। 13 ।।

38 न केवल प्रजापति के वचन से ही कर्म कर्तव्य है, अपितु संसारचक्र की प्रवृत्ति का कारण होने से भी कर्म अवश्यकर्त्तव्य है -- यह 'अन्नाद्' इत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं –

[अन्न से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से वृष्टि होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ।। 14 ।।]

---

15. 'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। (मनुस्मृति, 3.68)

'गृहस्थ के लिए चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल और जल का घट – ये पाँच पाप के स्थान हैं; इन्हें व्यवहृत करता हुआ गृहस्थ पाप से बंधता है ।'

16. ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ – ये पाँच महायज्ञ हैं । वेद का अध्ययन और अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, अतिथियों का सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है तथा बलिवैश्वदेव करना 'भूतयज्ञ, है (मनुस्मृति, 3.70) ।

39 अन्नाद्भुक्ताद्रेतोलोहितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिशरीराणि भवन्ति जायन्ते । अन्नस्य संभवो जन्मान्नसम्भवः पर्जन्याद्वृष्टेः । प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् । अत्र कर्मोपयोगमाह—यज्ञात्कारीयदिरग्निहोत्रादेश्चापूर्वाख्याद्धर्माद्भवति पर्जन्यः । यथा चाग्निहोत्राहुतेर्वृष्टिजनकत्वं तथा व्याख्यातमष्टाध्यायीकाण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादरूपायां षट्प्रश्न्याम् । मनुना चोक्तम्—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति ।

स च यज्ञो धर्माख्यः सूक्ष्मः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानव्यापारसाध्यः । यज्ञस्य हि अपूर्वस्य विहितं कर्म कारणम् ॥ 14 ॥

40 तच्चापूर्वोत्पादकम् –

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

41 ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेदः स एवोद्भवः प्रमाणं यस्य तत्तथा । वेदविहितमेव कर्मापूर्वसाधनं जानीहि । न त्वन्यत्पाषण्डप्रतिपादितमित्यर्थः । ननु पाषण्डशास्त्रापेक्षया वेदस्य किं वैलक्षण्यं यतो वेदप्रति–

39 वीर्य और रज के रूप में परिणत भुक्त अन्न से भूत = प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं । अन्न का संभव = जन्म अन्नसंभव है वह पर्जन्य = वृष्टि से होता है । यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है । इसमें कर्म का उपयोग कहते हैं -- कारीरी[17] आदि और अग्निहोत्रादि यज्ञ से अपूर्व नामक धर्म के द्वारा पर्जन्य होता है । अग्निहोत्र की आहुति जिसप्रकार वृष्टिजनक होती है उसका क्रम अष्टाध्यायी-काण्ड[18] में जनक-याज्ञवल्क्यसंवादरूप छः प्रश्नों में दिया है । मनु ने भी कहा है– 'अग्नि में विधिपूर्वक छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त करती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है' (मनुस्मृति, 3.76) ।

वह धर्मनामक सूक्ष्म अपूर्वरूप यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है अर्थात् वह यज्ञ यजमान और ऋत्विज के व्यापार से सिद्ध होता है, क्योंकि अपूर्वरूप यज्ञ का कारण विहित कर्म ही है ॥ 14 ॥

40 यज्ञकारणीभूत कर्म अपूर्वोत्पादक है -- यह कहते हैं --

[कर्म को तुम ब्रह्म-वेद से प्रमाणित जानो और वेद अक्षर-अविनाशी परमात्मा से आविर्भूत हुआ है । अतः सर्वप्रकाशक और अविनाशी वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥ 15 ॥]

41 ब्रह्मोद्भव = ब्रह्म अर्थात् वेद ही है उद्भव = प्रमाण जिसका ऐसे कर्म को अर्थात् वेदविहित ही कर्म को अपूर्व का साधन जानो, अन्य पाखण्डशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म को नहीं -- यह तात्पर्य है[19] । यदि कहो कि पाखण्डशास्त्रों की अपेक्षा वेद की क्या विलक्षणता है जिससे वेदप्रतिपादित

17. 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' = 'वृष्टि की कामना करने वाला कारीरी याग करे' – इस श्रुति से सूखते हुए धानों के समुज्जीवनार्थ 'कारीरी' याग का विधान है । अतः 'कारीरी' याग से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अपूर्वधर्म से मेघ होते हैं, ततः वृष्टि होती है ।

18. यहाँ अष्टाध्यायी-काण्ड से तात्पर्य है -- 'अष्टानामध्यायानां समाहारः' – अष्टाध्यायी बृहदारण्यक उपनिषद् । इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न किए हैं और उन सभी प्रश्नों का उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने दिया है । यह जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद रूप है ।

पादित एव धर्मो नान्य इत्यत आह--ब्रह्म वेदाख्यमक्षरसमुद्भवमक्षरात्परमात्मनो निर्दोषात्पुरुषनिश्वासन्यायेनाबुद्धिपूर्वं समुद्भव आविर्भावो यस्य तदक्षरसमुद्भवम् । तथा चापौरुषेयत्वेन निरस्तसमस्तदोषाशङ्कं वेदवाक्यं प्रमितिजनकतया प्रमाणमतीन्द्रियेऽर्थे न तु भ्रमप्रमादकरणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवत्प्रणीतं पाखण्डवाक्यं प्रमितिजनकमिति भावः। तथा च श्रुतिः--अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि निःश्वसितानि' इति।

42 **तस्मात्साक्षात्परमात्मसमुद्भवतया सर्वगतं सर्वप्रकाशकं नित्यमविनाशि च ब्रह्मवेदाख्यं यज्ञे धर्मा--**

ही धर्म है, अन्य नहीं, तो कहते हैं -- वेदाख्य ब्रह्म अक्षरसमुद्भव है । अक्षर = निर्दोष परमात्मा से पुरुषनिःश्वासन्याय [20] द्वारा अबुद्धिपूर्वक है समुद्भव = आविर्भाव जिसका वह अक्षरसमुद्भव है । इसप्रकार भाव यह है कि अपौरुषेय होने के कारण जिसमें वाक्यार्थप्रमितिप्रतिबन्धक समस्त दोषों की आशङ्का निरस्त है वह वेदवाक्य ही स्वार्थप्रमितिजनक[21] होने से अतीन्द्रिय विषय में प्रमाण है, किन्तु भ्रम[22], प्रमाद[23], इन्द्रियों में अपटुता -- विषयग्रहण में पूर्ण सामर्थ्याभाव, विप्रलिप्सा = ठगने की इच्छा--धोखा देने की इच्छा इत्यादि दोषों वाले व्यक्तियों द्वारा प्रणीत पाखण्डवाक्य प्रमितिजनक नहीं होता, अतएव वह अतीन्द्रिय विषय में प्रमाण नहीं है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- **'यह जो** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं इस महान् भूत = परमात्मा के निःश्वास हैं --- ये इसी के निःश्वास हैं' **(बृह० उ०,** 2.4.10) ।

42 अतः साक्षात् परमात्मा से समुत्पन्न होने के कारण यह सर्वगत = सर्वप्रकाशक और नित्य = अविनाशी वेदाख्य ब्रह्म तात्पर्य से = तात्पर्यविषयत्वसम्बन्ध[24] से अतीन्द्रिय धर्मनामक यज्ञ में प्रतिष्ठित

19. भाव यह है कि श्रुतिप्रमाणक कर्मों को ही अपूर्व का साधन समझना चाहिए । इनके अन्तर्गत स्मार्त कर्मों का भी संग्रह हो जाता है । यद्यपि सभी स्मार्त कर्म श्रुतियों में उपलब्ध नहीं होते, इसलिए उसको श्रुतिप्रमाणक नहीं कह सकते; तथापि स्मृतियों में उनके विधान से यह अनुमान किया जाता है कि ये स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणसिद्ध हैं, क्योंकि 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जैमिनिसूत्र, 1.3.3) = 'श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष = अप्रमाण त्याज्य होती है, विरोध नहीं रहने पर उसके मूलरूप श्रुति का अनुमान होता है' – इस मीमांसा सूत्र के अनुसार श्रुतिविरुद्ध स्मार्तकर्म त्याज्य हैं, जिनमें न विरोध है, न उसकी विधि ही है, उनके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि तद्विषयक श्रुति अवश्य है । यदि वह श्रुति उपलभ्यमांन शाखा में प्राप्त नहीं होती तो अनुपलभ्यान शाखा में अवश्य होगी । निष्कर्षतः स्मार्तकर्म श्रुतिप्रमाणक हैं ।

20. पुरुषनिश्वासन्याय = पुरुष की श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया का न्याय । जब कोई सुप्तपुरुष श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया करता है तो उस समय उसको यह बुद्धि नहीं होती कि मैं श्वास अन्दर खींचूँ, बाहर करूँ; वह श्वास-प्रश्वासप्रक्रिया स्वतः ही अबुद्धिपूर्वक चलती रहती है । सुषुप्तिदशा में भी श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया निरन्तर अबुद्धिपूर्वक चलती रहती है । अतः यह पुरुषनिश्वासन्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है जब कोई क्रिया अबुद्धिपूर्वक की जाय । जैसा कि प्रकृत प्रसंग में वेदों का अविर्भाव ईश्वर से पुरुषनिश्वासन्यायेन अबुद्धिपूर्वक हुआ है ।

21. प्रमिति प्रमा है । प्रमा अनधिगत और अबाधित विषय के ज्ञान को कहते हैं (अनधिगताबाधित-विषयज्ञानत्वम् प्रमात्वम् – वेदान्त परिभाषा) ।

22. अतस्मिंस्तद्बुद्धि 'भ्रम' है ।

23. अनवधानता - असावधानी - अन्तःकरण की दुर्बलता 'प्रमाद' है । विषयान्तर में चित्त को व्यावृत करना 'प्रमाद' है ।

24. यहाँ यह शंका की जा सकती है कि धर्म वेदान्त-मत के अनुसार मन में रहता है, सांख्य-मतानुसार बुद्धि में रहता है और न्याय-मतानुसार आत्मा में रहता है, अतः धर्म अतीन्द्रिय है, एवंभूत धर्म वेद का अधिकरण कैसे हो सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि सभी वेदों का तात्पर्य 'तात्पर्यवृत्ति' से धर्म में रहता है, अतः तात्पर्यविषयत्वसम्बन्ध से वेद धर्म में है, वेदमूलक धर्म है ।

ध्येऽतीन्द्रिये प्रतिष्ठितं तात्पर्येण । अतः पाषण्डप्रतिपादितोपधर्मपरित्यागेन वेदबोधित एव धर्मोऽनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ 15 ॥

43 **भवत्वेवं ततः किं फलितमित्याह –**

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

44 **परमेश्वरात्सर्वावभासकनित्यनिर्दोषवेदाविर्भावः । ततः कर्मपरिज्ञानं ततोऽनुष्ठानाद्धर्मोत्पादः । ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं परमेश्वरेण प्रवर्तितं चक्रं सर्वजगन्निर्वाहकं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति हे पार्थ तस्य जीवनान्मरणमेव वरं जन्मान्तरे धर्मानुष्ठानसम्भवादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः– 'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति ।**

45 **ब्रह्मविदं व्यावर्तयति–इन्द्रियाराम इति । यत इन्द्रियैर्विषयेष्वारमति अतः कर्माधिकारी संस्तदकरणात्पापमेवाऽऽचिन्वन्व्यर्थमेव जीवतीत्यभिप्रायः ॥ 16 ॥**

है । अतः अभिप्राय यह है कि पाखण्डप्रतिपादित उपधर्म का परित्याग कर वेदबोधित = वेदोक्त ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ 15 ॥

43 अच्छा, ऐसा ही सही -- 'वेद धर्म में प्रतिष्ठित है', किन्तु इससे प्रकृत में क्या फलित हुआ -- यह कहते हैं --

[परमेश्वर से वेदाविर्भाव, ततः कर्मपरिज्ञान, तदनन्तर उनका अनुष्ठान--इत्यादिरूप से परमेश्वर द्वारा प्रवर्तित इस चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता, हे पार्थ ! वह अघायु = पापजीवन और इन्द्रियाराम पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ 16॥]

44 सर्वप्रथम सर्वावभासक परमेश्वर से नित्य और निर्दोष वेद का आविर्भाव होता है, उससे = वेद से कर्म का ज्ञान होता है, तदनन्तर वेदविहित कर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति होती है । धर्म से पर्जन्य = वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है, अन्न से भूत = प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, पुनः इसीप्रकार प्राणियों की कर्म में प्रवृत्ति होती है -- इसप्रकार परमेश्वर द्वारा प्रवर्तित सम्पूर्ण जगत् के निर्वाहक इस चक्र का जो अनुवर्तन = अनुष्ठान नहीं करता वह अघायु = पापजीवन -- पापमय जीवनवाला मोघ = व्यर्थ ही जीता है । हे पार्थ ! उसके जीवन से तो मरण ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जन्मान्तर में तो उससे धर्म का अनुष्ठान सम्भव होगा ही -- यह तात्पर्य है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'यह आत्मा निश्चय ही समस्त प्राणियों का लोक है; यह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओं का लोक होता है; जो अध्ययन करता है, उससे ऋषियों का लोक होता है; पितरों को जो पिण्डदान करता है और प्रजा की इच्छा करता है, उससे पितरों का; मनुष्यों को जो बसाता है और भोजन देता है, उससे मनुष्यों का; पशुओं को जो तृण और जल देता है, उससे पशुओं का तथा उसके घर में जो कुत्ते, पक्षी और चींटी पर्यन्त जीव अपना जीवननिर्वाह करते हैं, उससे उनका लोक होता है' (बृह० उ०, 1.4.16) ।

45 'इन्द्रियाराम' -- इस पद से ब्रह्मविद् को कर्माधिकारी से पृथक् करते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों के

46 यस्त्विन्द्रियारामो न भवति परमार्थदर्शी स एवं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूतं कर्माननुतिष्ठन्नपि न प्रत्यवैति कृतकृत्यत्वादित्याह द्वाभ्याम्--

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥17 ॥

47 इन्द्रियारामो हि स्रक्चन्दनवनितादिषु रतिमनुभवति, मनोज्ञान्नपानादिषु तृप्तिं, पशुपुत्रहिरण्यादिलाभेन रोगाद्यभावेन च तुष्टिम्, उक्तविषयाभावे रागिणामरत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनाद् । रतितृप्तितुष्टयो मनोवृत्तिविशेषाः साक्षिसिद्धाः । लब्धपरमात्मानन्दस्तु द्वैतदर्शनाभावादतिफल्गुत्वाच्च विषयसुखं न कामयत इत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र । अतोऽनात्मविषयकरतितृप्तितुष्ट्यभावादात्मानं परमानन्दमद्वयं साक्षात्कुर्वन्नुपचारादेवमुच्यते--आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट इति । तथा च श्रुतिः--'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। आत्मतृप्तश्चेति चकार

द्वारा विषयों में ही रमण करता है, अतः कर्माधिकारी होकर भी उनका आचरण न करने से केवल पाप का ही चयन = संग्रह करने के कारण वह व्यर्थ ही जीता है -- यह अभिप्राय है ॥ 16 ॥

46 जो परमार्थदर्शी इन्द्रियाराम नहीं होता वह इसप्रकार संसारचक्र की प्रवृत्ति के हेतुभूत कर्मों का अनुष्ठान न करने पर भी कृतकृत्य होने के कारण प्रत्यवाय का भागी नहीं होता, - यह दो श्लोकों से कहते हैं -

[जो पुरुष आत्मा में ही रति-प्रीति रखता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है उसके लिए कोई भी कार्य नहीं रहता ॥ 17 ॥]

47 इन्द्रियाराम पुरुष तो माला, चन्दन, वनिता आदि में रति-प्रीति का अनुभव करता है, रुचिकर अन्न-पानादि में तृप्ति का अनुभव करता है और पशु, पुत्र, हिरण्य आदि के लाभ तथा रोगादि के अभाव से सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि उक्त विषयों का अभाव होने पर रागी पुरुषों की अरति, अतृप्ति और अतुष्टि देखी जाती हैं । रति, तृप्ति और तृष्टि -- ये सब मनोवृत्तियाँ विशेष हैं, इनकी सिद्धि -- अनुभूति साक्षी चैतन्य के द्वारा होती है, अतएव ये साक्षिसिद्ध -- साक्ष्यानुभवसिद्ध हैं । जो लब्ध-प्राप्त परमानन्द हैं, वे तो द्वैतदर्शन = द्वैतदृष्टि का अभाव हो जाने के कारण विषयों के तत्त्वहीन हो जाने से -- अत्यन्त तुच्छ हो जाने से विषयसुख की कामना नहीं करते -- यह 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) इस श्लोक में कह चुके हैं । अतः अद्वय-अद्वैत और परमानन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष में अनात्मविषयिणी रति, तृप्ति और तुष्टि का अभाव होने के कारण उसको उपचार से ही आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट कहा जाता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'यह आत्मक्रीड, आत्मरति, और क्रियावान् ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है' । 'आत्मतृप्तश्च' ---- यहाँ चकार एवकारार्थ है अथवा एवकार का अनुकर्षण करता है, अन्य 'आत्मरतिरेव' और

---

25. आचार्य शंकर के मतानुसार 'मानव' शब्द का अर्थ 'संन्यासी' है । शंकरानन्द कहते है – ' बहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मैव मापयति ग्राहयति मानं प्रत्यग्दर्शनं तदेव सर्वदा वाति भजतीति मानवो ब्रह्मविद् यतिः' = बाहर तथा अन्दर सर्वत्र ब्रह्म को ही जो ग्रहण कराता है उसको मान = प्रत्यग्दर्शन कहते हैं । उस प्रत्यग्दर्शन का ही जो सर्वदा भजन करता है उसको मानव = ब्रह्मज्ञानी कहते हैं । मधुसूदन सरस्वती कहते हैं – जो व्यक्ति मानव = तत्त्वज्ञ होते हैं वे ही कृत-कृत्य होते हैं – मात्र जन्म की उत्कर्षता के लिए व्यक्ति ब्राह्मण इत्यादि होते हैं, ऐसा नहीं है -- इसप्रकार के अर्थ को प्रकाशित करनेके लिए ही 'मानव' शब्द को प्रयुक्त किया गया है ।

एवकारानुकर्षणार्थः । मानव इति यः कश्चिदपि मनुष्य एवंभूतः स एव कृतकृत्यो न तु ब्राह्मणत्वादिप्रकर्षेणेति कथयितुम् । आत्मन्येव च संतुष्ट इत्यत्र चकारः समुच्चयार्थः । य एवंभूतस्याधिकारहेत्वभावात्किमपि कार्यं वैदिकं लौकिकं वा न विद्यते ॥ 17 ॥

48 नन्वात्मविदोऽपि अभ्युदयार्थं निःश्रेयसार्थं प्रत्यवायपरिहारार्थं वा कर्म स्यादित्यत आह–

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

49 तस्याऽऽत्मरतेः कृतेन कर्मणाऽभ्युदयलक्षणो निःश्रेयसलक्षणो वाऽर्थ प्रयोजनं नैवास्ति तस्य स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वात्, निःश्रेयसस्य च कर्मासाध्यत्वात् । तथा च श्रुतिः– 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इति । अकृतो नित्यो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीत्यर्थः । ज्ञानसाध्यस्यापि व्यावृत्तिरेवकारेण सूचिता । आत्मरूपस्य हि निःश्रेयसस्य नित्यप्राप्तस्याज्ञानमात्रमप्राप्तिः । तच्च तत्त्वज्ञानमात्रापनोद्यम् । तस्मिंस्तत्त्वज्ञानेनापनुन्ने तस्याऽऽत्मविदो न किंचित्कर्मसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा प्रयोजनमस्तीत्यर्थः ।

'आत्मन्येव' -- दोनों में एवकार है केवल 'आत्मतृप्तश्च' में चकार है । अतः चकार एवकार के अनुकर्षण के लिए है और अनुकर्षण कर 'आत्मन्येव तृप्तः' -- इस अर्थ का बोध कराता है । 'मानव'[25] -- शब्द यह बतलाने के लिए है कि जो कोई भी मनुष्य इसप्रकार का है वही कृतकृत्य है, ब्राह्मणत्वादि के प्रकर्ष -- लाभ से कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता । 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' -- इसमें चकार समुच्चय के लिए है । जो इसप्रकार का है उसके कर्माधिकार का कोई हेतु न रहने से उसके लिए कोई भी वैदिक अथवा लौकिक कार्य नहीं रहता ॥ 17 ॥

48 यदि कहो कि आत्मवेत्ता पुरुष को भी अभ्युदय, निःश्रेयस अथवा प्रत्यवाय के परिहार के लिए कर्म तो करना ही होगा, तो कहते हैं --
[उस आत्माराम पुरुष का कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है और कर्म न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतों में उसका किसी से भी प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है ॥ 18 ॥]

49 उस आत्माराम का कृत अर्थात् कर्म से कोई अभ्युदयरूप अथवा निःश्रेयसरूप अर्थ = प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह स्वर्गादि अभ्युदय का तो अर्थी = अभिलाषी--इच्छुक नहीं है और निःश्रेयस = मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है ---- 'कर्मचित लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को विरक्त हो जाना चाहिए, क्योंकि अकृत-मोक्ष कृत - कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता' (मु०उ०, 1.2.12) । तात्पर्य यह है कि अकृत - नित्य मोक्ष कृत -- कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता । 'नैव' शब्द के एवकार से यह सूचित किया गया है कि उसका ज्ञानसाध्य भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि निःश्रेयस आत्मरूप है, अतएव वह तो नित्य ही प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति है -- केवल अज्ञान, वह तत्त्वज्ञान से ही नष्ट होता है; जब अज्ञान तत्त्वज्ञान से नष्ट हो गया, तब उस आत्मवेत्ता के लिए ऐसा कोई प्रयोजन नहीं रहता, जो कि कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य हो -- यह अभिप्राय है ।

50 एवंभूतेनापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माण्यनुष्ठेयान्येवेत्यत आह--नाकृतेनेति। भावे निष्ठा । नित्यकर्माकरणेनेह लोके गर्हितत्वरूपः प्रत्यवायप्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो नास्ति । सर्वत्रोपपत्तिमाहोत्तरार्धेन । चो हेतौ । यस्मादस्याऽऽत्मविदः सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कोऽपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनसंबन्धो नास्ति । कंचिद्भूतविशेषमाश्रित्य कोऽपि क्रियासाध्योऽर्थो नास्तीति वाक्यार्थः । अतोऽस्य कृताकृते निष्प्रयोजने 'नैनं कृताकृते तपतः' इति श्रुतेः । 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेर्देवा अपि तस्य मोक्षाभवनाय न समर्था इत्युक्तेर्न विघ्नाभावार्थमपि देवाराधनरूपकर्मानुष्ठानमित्यभिप्रायः ।

51 एतादृशो ब्रह्मविद्भूमिकासप्तकभेदेन निरूपितो वसिष्ठेन –

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति ।

50 ऐसा होने पर भी उसको प्रत्यवाय-पाप के परिहार के लिए तो कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिए -- तो कहते हैं 'नाकृतेन' इत्यादि । 'अकृतेन' -- इस पद में भाव में निष्ठा 'क्त' प्रत्यय है । नित्यकर्म न करने से उसका इस लोक में गर्हितत्वरूप = निन्दित होना रूप अथवा प्रत्यवाय प्राप्तिरूप कोई प्रयोजन नहीं है ।[26] उत्तरार्द्ध श्लोक से सर्वत्र = उपर्युक्त सभी बातों की उपपत्ति कहते हैं । 'च' पद हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्योंकि इस आत्मवेत्ता का ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्तभूतों में कोई भी अर्थव्यपाश्रय = प्रयोजनसम्बन्ध नहीं है । इस वाक्य का अर्थ यह है कि इस आत्मवेत्ता का किसी भूतविशेष का आश्रय लेकर कोई भी क्रियासाध्य प्रयोजन नहीं है । अत: इसके लिए कृत = कर्म करना और अकृत = कर्म न करना -- दोनों ही निष्प्रयोजन हैं, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'इस ज्ञानी को कृत और अकृत -- दोनों ही ताप नहीं पहुँचाते' । 'देवता भी उसका पराभव करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह उनका आत्मा ही है' -- इस श्रुति के अनुसार देवता भी उसका मोक्ष न होने देने में समर्थ नहीं है -- इस कथन से यह अभिप्राय निकलता है कि उस आत्मवेत्ता को मोक्षमार्ग में आगत विघ्नों के अभाव के लिए भी देवताराधनरूप कर्म का भी अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है ।

51 इसप्रकार के ब्रह्मवेत्ता का वसिष्ठ ने सात भूमिकाओं के भेद से निरूपण किया है -- " 'शुभेच्छा' नाम की पहली ज्ञानभूमि कही जाती है । 'विचारणा' दूसरी है और तीसरी 'तनुमानसा' है । 'सत्त्वापत्ति' चौथी है और 'असंसक्ति' नामिका पाँचवी है । छठी 'पदार्थभाविनी' है तथा सातवीं 'तुर्यगा' कही गई है ।"

---

26. यद्यपि लोक में नित्यकर्म न करने से दो प्रकार का अनर्थ होता है – प्रथम लोक में निन्दा होना और द्वितीय प्रत्यवाय की प्राप्ति । किन्तु आत्मवेत्ता को इन दोनों से कोई प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि आत्मवेत्ता नित्यकर्म करने के लिए अधिकृत नहीं होता, ऐसा होने से प्रत्यवायजनक भावरूप विहित अकर्म में उसकी व्यापृतता भी नहीं होती अथवा वह आत्मवेत्ता लोक में निन्दा और स्तुति से उदासीन रहता है और अकर्म में व्यापृत न होने से उसको प्रत्यवाय होता ही नहीं है ।

52 तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा । ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया । ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया । एतद्भूमिकात्रयं साधनरूपं जाग्रदवस्थोच्यते योगिभिः, भेदेन जगतो भानात् । तदुक्तम् –

'भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥' इति ।

53 ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः स्वप्नावस्थोच्यते । सर्वस्यापि जगतो मिथ्यात्वेन स्फुरणात् । तदुक्तम्–

'अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः ॥' इति ।

सोऽयं चतुर्थभूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते ।

54 पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यस्तु भूमिका जीवन्मुक्तेरेवावान्तरभेदाः । तत्र सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पकसमाध्यवस्था साऽसंसक्तिरिति सुषुप्तिरिति चोच्यते । ततः स्वयमेव व्युत्थानात् । सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः । ततस्तदभ्यासपरिपाकेण चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थाभावनीति गाढसुषुप्तिरिति चोच्यते । ततः स्वयमनुत्थितस्य योगिनः परप्रयत्नेनैव व्युत्थानात् । सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान् । उक्तं हि –

---

52 इनमें नित्यानित्यवस्तुविवेकादि से आरम्भ होकर फल में परिणत होनेवाली 'मोक्षेच्छा' पहली भूमिका है । तदनन्तर गुरु के समीप जाकर श्रवणमननात्मक वेदान्तवाक्यों का विचार करना दूसरी भूमिका है । ततः निदिध्यासन के अभ्यास से मन की एकाग्रता द्वारा सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करने की योग्यता हो जाना तीसरी भूमिका है । ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं, इनको योगिजन 'जाग्रदवस्था' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में भेदज्ञान से जगत् का भान होता है । ऐसा कहा भी है -- 'राम ! ये तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् हैं -- ऐसा निश्चय किया गया है । इस जाग्रदवस्था में जगत् भेदबुद्धि से यथावत् दिखाई देता है ।'

53 इसके पश्चात् वेदान्तवाक्य से ब्रह्म और आत्मा की एकता का निर्विकल्पक साक्षात्कार होना चौथी भूमिका है, यह फलरूपा है -- 'सत्त्वापत्ति' रूपा है, इसको स्वप्नावस्था कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में सम्पूर्ण ही जगत् मिथ्यारूप से स्फुरित होता है । कहा भी है --
'अद्वैत के स्थिर हो जाने पर और द्वैत के निवृत्त हो जाने पर चौथी भूमिका को प्राप्त हुए योगी जगत् को स्वप्नवत् देखते हैं ।' यह चौथी भूमिका को प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है ।

54 पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिकाएँ तो जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद हैं । इनमें सविकल्पक समाधि के अभ्यास से मन का निरोध हो जाने पर जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है, वह 'असंसक्ति' है, इसको 'सुषुप्ति' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था से योगी स्वयं ही व्युत्थित होता है, अतः वह योगी 'ब्रह्मविद्वर' कहलाता है । तदनन्तर, उस अभ्यास के परिपाक से जो चिरकालावस्थायिनी निर्विकल्पक समाधि प्राप्त होती है, वह 'पदार्थाभाविनी' है, उसको 'गाढ़सुषुप्ति' कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था से स्वयं उत्थित न होने वाले योगी का दूसरों के प्रयत्न से ही व्युत्थान होता है । यह योगी 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाता है । जैसा कि कहा है --

'पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥' इति ।

55 यस्यास्तु समाध्यवस्थाया न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति सर्वथा भेददर्शनाभावात् । किं तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमाण-दैहिकव्यवहारः परिपूर्णपरमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति । सा सप्तमी तुरीयावस्था । तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । उक्तं हि –

'षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
किंचिदेवैष संपन्नस्त्वथवैष न किंचन ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु ॥' इति ।

यामधिकृत्य श्रीमद्भागवते स्मर्यते–

'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥' इति ।

'''सुषुप्ति' -- पद नामिका पाँचवीं भूमिका में पहुँचकर फिर योगी क्रमशः 'गाढ़सुषुप्ति' नामिका छठी भूमिका को प्राप्त होता है ।''

55 सर्वथा भेददर्शन -- भेददृष्टि न रहने के कारण जिस समाधि -- अवस्था से योगी न स्वतः, न परतः व्युत्थित होता है; किन्तु सर्वदा तन्मय ही रहने के कारण अपना कोई प्रयत्न न होने पर भी परमेश्वर द्वारा प्रेरित प्राणवायु के कारण दूसरों के द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होते रहने से सर्वतः परिपूर्ण परमानन्दघनरूप से ही स्थित रहता है, वह सातवीं 'तुरीयावस्था' है । इस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहा जाता है । कहा भी है -- ''यह योगी छठी भूमिका में स्थित होकर सातवीं भूमिका को प्राप्त करे । उस अवस्था में यह थोड़ा- सा भेद रखते हुए अथवा कुछ भी भेद न रखते हुए परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । यह सातवीं योगभूमिका 'विदेहमुक्ति' कही गई है । यह वाणी के लिए अगम्य, शान्त और योगभूमियों में सीमारूप है ।''

इसी को लक्ष्य करके श्रीमद्भागवत में भी कहा है --

''जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है -- नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता । प्राण और इन्द्रियों के साथ यह शरीर भी प्रारब्ध के अधीन है । इसलिए अपने आरम्भक कर्म जब तक है तब तक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है । परन्तु आत्मवस्तु का साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योग में आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपञ्च के सहित उस शरीर को फिर कभी स्वीकार नहीं करता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्था के शरीर आदि को स्वीकार नहीं करता'' (श्रीमद्भागवत, 11.13.36-37) ।

श्रुतिश्च--'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।' इति ।

56 तत्रायं संग्रहः--

'चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।
जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परास्तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥'

अत्र प्रथमभूमित्रयमारूढोऽज्ञोऽपि न कर्माधिकारी किं पुनस्तत्त्वज्ञानी तद्विशिष्टो जीवन्मुक्तो वेत्यभिप्रायः ॥ 18 ॥

57 यस्मान्न त्वमेवंभूतो ज्ञानी किं तु कर्माधिकृत एव मुमुक्षुः--

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

58 असक्तः फलकामनारहितः सततं सर्वदा न तु कदाचित्कार्यमवश्यकर्तव्यं यावज्जीवादिश्रुतिचोदितं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुत्या ज्ञाने विनियुक्तं कर्म नित्यनैमित्तिकलक्षणं सम्यगाचर यथाशास्त्रं निर्वर्तय । असक्तो हि यस्मादाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन्सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण परं मोक्षमाप्नोति पूरुषः स एव सत्पुरुषो नान्य इत्यभिप्रायः ॥ 19 ॥

श्रुति भी कहती है -- 'जिसप्रकार साँप की केंचुली वल्मीक = वामी पर मरी पड़ी रहती है उसीप्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, तथा यह अशरीर, अमृत और सभी का प्रवर्तक आत्मा तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है' ।

56 इन सभी भूमिकाओं का संग्रह इसप्रकार है --
''चौथी भूमिका ज्ञानरूप है, पहली तीन भूमिकाएँ साधनरूपा हैं और बाद की तीन भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति की अवस्थाएँ कही गई हैं ।''
इनमें से पहली तीन भूमिकाओं पर आरूढ़[27] अज्ञ = अज्ञानी भी कर्म का अधिकारी नहीं है, तो फिर तत्त्वज्ञानी या उससे भी विशिष्ट जीवन्मुक्त के लिए क्या कहना -- यह अभिप्राय है ॥ 18॥

57 क्योंकि तुम ऐसे ज्ञानी नहीं हो, कर्माधिकारी मुमुक्षु ही हो --
[इसलिए फल की कामना से रहित होकर तुम निरन्तर अवश्यकर्त्तव्य कर्मों का सम्यक् प्रकार से आचरण करो, क्योंकि फल की कामना से रहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परम मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ 19 ॥]

58 असक्त = फल की कामना से रहित होकर सतत -- सर्वदा, न कि कदाचित् = कभी-कभी, कार्य = अवश्य कर्त्तव्य, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' = 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' -- इस श्रुति से उदित् = विहित-कथित, तथा 'ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति द्वारा आत्मज्ञान में विनियुक्त नित्यनैमित्तिकरूप कर्मों का सम्यक् प्रकार से आचरण करो अर्थात् शास्त्रानुसार आचरण करो । हि = यस्मात् = क्योंकि फल

---

27. यहाँ आचार्य धनपति ने मधुसूदन सरस्वती पर आक्षेप किया है कि उन्होंने श्लोक में अप्रयुक्त 'भूमिकारूढ़' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से वसिष्ठोक्त सप्तभूमिकाओं का अप्रासंगिक प्रदर्शन किया है ।

59 ननु विविदिषोरपि ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्यर्थं श्रवणमनननिदिध्यासनानुष्ठानाय सर्वकर्मत्यागलक्षणः संन्यासो विहितः । तथा च न केवलं ज्ञानिन एव कर्मानधिकारः किं तु ज्ञानार्थिनोऽपि विरक्तस्य । तथा च मयाऽपि विरक्तेन ज्ञानार्थिना कर्माणि हेयान्येवेत्यर्जुनाशङ्कां क्षत्रियस्य संन्यासानधिकारप्रतिपादनेनापनुदति भगवान् –

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

60 जनकादयो जनकाजातशत्रुप्रभृतयः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः क्षत्रिया विद्वांसोऽपि कर्मणैव सह न तु कर्मत्यागेन सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठामास्थिताः प्राप्ताः । हि यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि क्षत्रियो विविदिषुर्विद्वान्वा कर्म कर्तुमर्हसीत्यनुषङ्गः । 'ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति संन्यासविधायके वाक्ये ब्राह्मणत्वस्य विवक्षित्वात् । 'स्वाराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्र क्षत्रियत्ववत् । 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' इति च स्मृतेः । पुराणेऽपि –

की कामना से रहित होकर ईश्वर के लिए कर्म करने से पुरुष सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति द्वारा परम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है । वही पुरुष सत्पुरुष है, दूसरा नहीं -- यह अभिप्राय है ॥ 19 ॥

59 'विविदिषु = ब्रह्मजिज्ञासु को भी ज्ञाननिष्ठा की प्राप्तिहेतु श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अनुष्ठान करने के लिए सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास विहित है । इसप्रकार न केवल ज्ञानी का ही कर्म में अनधिकार है, अपितु विरक्त ज्ञानार्थी का भी कर्म में अनधिकार है । अतः विरक्त ज्ञानार्थी मुझे भी कर्मों का त्याग करना चाहिए' -- ऐसी अर्जुन की आशंका का भगवान् 'क्षत्रिय का संन्यास में अनधिकार है' इस प्रतिपादन से निराकरण करते हैं --

[जनकादि क्षत्रिय विद्वानों ने कर्म के द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी, इसलिए और लोकसंग्रह पर दृष्टि रखकर भी तुमको कर्म करना चाहिए ॥ 20 ॥]

60 जनकादि = जनक, अजातशत्रु आदि श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध क्षत्रिय विद्वानों ने भी कर्म ही के साथ, न कि कर्मत्याग के साथ, संसिद्धि = श्रवणादिसाध्य ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की थी । हि = यस्मात् = क्योंकि ऐसा है, इसलिए तुम भी क्षत्रिय हो, बह्मजिज्ञासु हो या विद्वान्, कर्म करने के योग्य हो । यहाँ अन्तिम पादस्थ 'अर्हसि' का अनुषङ्ग[28] = सम्बन्ध विवक्षित है । 'ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थित होकर = विरत होकर भिक्षाचरण करते हैं' (बृह० उ०, 4.4.12) - इस संन्यासविधायक वाक्य में ब्राह्मणत्व विवक्षित है, जैसे कि 'स्वर्ग चाहने वाला राजा राजसूय यज्ञ करे' -- इस वाक्य में क्षत्रियत्व विवक्षित है । तथा 'ब्राह्मण के लिए चार आश्रम हैं, क्षत्रिय के लिए तीन और वैश्य के लिए दो[29] - इस स्मृति--वाक्य में और 'विष्णुलिङ्ग = परमात्मलिङ्ग दण्ड-

---

28. उत्तर पद का पूर्व में सम्बन्ध 'अनुषङ्ग' कहलाता है और पूर्वपद का उत्तर में सम्बन्ध को ' अनुवृत्ति' कहते हैं ।
29. तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास -- ये चार आश्रम विहित हैं, क्षत्रिय के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ -- ये तीन आश्रम विहित हैं, तथा वैश्य के लिए ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य -- ये दो आश्रम विहित हैं ।

'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥'

इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः । तस्माद्युक्तमेवोक्तं भगवता—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति ।

61 'सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' इत्यादिस्मृतेर्वर्णाश्रमधर्मप्रवर्तकत्वेनापि क्षत्रियोऽवश्यं कर्म कुर्यादित्याह--लोकेति । लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनमुन्मार्गान्निवर्तनं च लोकसंग्रहस्तं पश्यन्नपिशब्दाज्जनकादिशिष्टाचारमपि पश्यन्कर्म कर्तुमर्हस्येवेत्यन्वयः । क्षत्रियजन्मप्रापकेण कर्मणाऽऽरब्धशरीरस्त्वं विद्वानपि जनकादिवत्प्रारब्धकर्मबलेन लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तुं योग्यो भवसि न तु त्यक्तुं ब्राह्मणजन्मालाभादित्यभिप्रायः । एतादृशभगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् । वार्त्तिककृता तु प्रौढिवादमात्रेण क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासोऽस्तीत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ 20 ॥

62 ननु मया कर्मणि क्रियमाणेऽपि लोकः किमिति तत्संगृह्णीयादित्याशङ्क्य श्रेष्ठाचारानुविधायित्वादित्याह--

---

धारण मुखोत्पन्न ब्राह्मणों का धर्म है, बाहुजात क्षत्रिय और उरुजात वैश्य के लिए यह धर्म श्रेष्ठ नहीं हैं' -- इस पुराण-वाक्य में क्षत्रिय और वैश्य के लिए संन्यास का अभाव कहा गया है; इसलिए भगवान् ने ठीक ही कहा है कि -- 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' ।

61 'सभी धर्म राजा के आश्रित हैं, राजा ही धर्म का धारक है' -- इत्यादि स्मृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्म का प्रवर्तक होने से भी क्षत्रिय को अवश्य कर्म करना चाहिए -- यह 'लोकसंग्रहमेवापि' इत्यादि से कहते हैं । लोकों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त करना और विपरीत मार्ग से हटाना 'लोकसंग्रह' है, उसको देखते हुए, 'अपि' शब्द से जनकादि के शिष्टाचार को भी देखते हुए तुम कर्म करने के योग्य हो अर्थात् तुम कर्म कर ही सकते हो -- यह अन्वय है । तुम्हारा शरीर क्षत्रिय जन्म की प्राप्ति करानेवाले प्रारब्धकर्म से आरम्भ हुआ है, तुम विद्वान् भी हो, अत: जनकादि के समान प्रारब्धकर्म के बल से लोकसंग्रह के लिए कर्म करने योग्य हो, ब्राह्मण जन्म की प्राप्ति न होने के कारण तुम कर्म का त्याग करने के अधिकारी नहीं हो -- यह अभिप्राय है । इस प्रकार के भगवान् के अभिप्राय को जानने वाले भगवान् भाष्यकार ने ऐसा ही निर्णय किया है कि ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है, अन्य वर्ण को नहीं । वार्तिककार ने तो प्रौढिवाद से ही यह कहा है कि क्षत्रिय और वैश्य को भी संन्यास का अधिकार है -- यह द्रष्टव्य[30] है ॥ 20 ॥

62 'मेरे कर्म करने पर भी लोक उस आचरण को क्यों ग्रहण करेगा ?' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण अनुविधान -- अनुकरण करने वाला होने से वह उस आचरण को ग्रहण करेगा --

---

30. अर्जुन को भगवान् के कहने का यहाँ अभिप्राय यही है कि हे अर्जुन ! यदि तुमने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो तुमको अवश्य कर्म करना चाहिए और यदि तुम तत्त्वज्ञ हो गए हो तो भी कर्म त्याग कर संन्यास ग्रहण करने का तुमको अधिकार नहीं है । उस अवस्था में जनक आदि राजर्षियों की भाँति लोक-संग्रह के प्रति दृष्टि रखकर तुमको क्षत्रिय धर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

63 **श्रेष्ठः प्रधानभूतो राजादिर्यद्यत्कर्माऽऽचरति शुभमशुभं वा तत्तदेवाऽऽचरतीतरः प्राकृतस्तदनुगतो जनः, न त्वन्यत्स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः ।**

64 **ननु शास्त्रमवलोक्याशास्त्रीयं श्रेष्ठाचारं परित्यज्य शास्त्रीयमेव कुतो नाऽऽचरति लोक इत्याशङ्क्याऽऽचारवत्प्रतिपत्तावपि श्रेष्ठानुसारितामितरस्य दर्शयति–स यदिति । स श्रेष्ठो यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुवर्तते प्रमाणं कुरुते न तु स्वातन्त्र्येण किंचिदित्यर्थः । तथा च प्रधानभूतेन त्वया राज्ञा लोकसंरक्षणार्थं कर्म कर्तव्यमेव प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायादित्यभिप्रायः ॥ 21 ॥**

65 **अत्र चाहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः--**

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

66 **हे पार्थ मे मम त्रिष्वपि लोकेषु किमपि कर्तव्यं नास्ति । यतोऽनवाप्तं फलं किंचिन्ममावाप्तव्यं**

[श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस कर्म का आचरण करता है उसी-उसी को इतर जन भी करने लगते हैं । वह जिस को प्रमाणभूत करता है उसी का लोक अनुवर्तन करने लगता है ।। 21 ।।]

63 श्रेष्ठ = प्रधानभूत राजा आदि शुभ अथवा अशुभ जिस-जिस कर्म का आचरण करते हैं उसी-उसी को उनके अनुयायी दूसरे साधारण जन भी करने लगते हैं, वे जन स्वतंत्रता से दूसरे कर्मों का आचरण नहीं करते -- यह अर्थ है ।

64 'लोक शास्त्र देखकर अशास्त्रीय श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अनुकरण छोड़कर शास्त्रीय ही कर्मों का आचरण क्यों नहीं करता ?' -- ऐसी आशङ्का करके भगवान् ' स यत्' इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध से यह दिखाते हैं कि आचरण के समान ज्ञान में भी इतर जन श्रेष्ठ पुरुषों का ही अनुसरण करते हैं । वह श्रेष्ठ जिस लौकिक अथवा वैदिक कर्म को प्रमाणभूत करता है = प्रमाणरूप से मान लेता है उसी का लोक भी अनुवर्तन करने लगता है = लोक उसी को प्रमाणभूत मान लेता है, वह स्वतंत्रता से कुछ नहीं करता -- यह तात्पर्य है । इसप्रकार अभिप्राय यह है कि प्रधानभूत राजा =क्षत्रिय तुमको भी लोक की रक्षा के लिए कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि 'सर्वसाधारण के व्यवहार प्रधान पुरुष का अनुसरण करनेवाले होते हैं' -- ऐसा न्याय है ।। 21 ।।

65 इसमें तो मैं ही दृष्टान्त हूँ -- ऐसा भगवान् आगे के तीन श्लोकों से कहते हैं --

[हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, क्योंकि कोई ऐसा अप्राप्त फल नहीं है जो मुझे पाना हो; फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ ।। 22 ।।]

66 हे पार्थ ! मेरा तीनों लोकों में कोई भी कर्त्तव्य नहीं है; क्योंकि कोई भी ऐसा अप्राप्त फल नहीं है जो मुझे पाना हो: फिर भी मैं कर्म में तत्पर रहता ही हूँ = कर्म करता ही हूँ[31] । 'पार्थ' -- ऐसा

31. तात्पर्य यह है कि भगवान् सत्यकाम, सत्यसंकल्प हैं, इस कारण समस्त वस्तुएँ ही उनको संकल्पमात्र से ही प्राप्त होती हैं, अतः उनके लिए अप्राप्त नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । वे स्वयं पूर्णकाम अथवा प्राप्तकाम है, अतः उनके लिए प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है । इसीलिए भगवान् को किसी वस्तु को उद्देश्य करके कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहने के कारण उनके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है । तथापि लोक की उन्मार्ग से रक्षा कर उसको सन्मार्ग में चालित करने के लिए लोकसंग्रहरूप कर्म में भगवान् तत्पर रहते ही हैं ।

नास्ति। तथापि वर्त एव कर्मण्यहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः। पार्थेति संबोधयन्विशुद्धक्षत्रियवंशोद्भवस्त्वं शूरापत्यापत्यत्वेन चात्यन्तं मत्समोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शयति ॥ 22 ॥

67 **लोकसंग्रहोऽपि न ते कर्तव्यो विफलत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–**

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

68 **यदि पुनरहमतन्द्रितोऽनलसः सन्कर्मणि जातु कदाचिन्न वर्तेय नानुतिष्ठेयं कर्माणि तदा मम श्रेष्ठस्य सतो वर्त्म मार्गं हे पार्थ मनुष्याः कर्माधिकारिणः सन्तोऽनुवर्तन्तेऽनुवर्तेरन्सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ 23 ॥**

69 **श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेव अनुवर्तित्वे को दोष इत्यत आह–**

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ 24 ॥

70 **अहमीश्वरश्चेद्यदि कर्म न कुर्यां तदा मदनुवर्तिनां मन्वादीनामपि कर्मानुपपत्तेर्ल्लोकस्थितिहेतोः कर्मणो लोपेनेमे सर्वे लोका उत्सीदेयुर्विनश्येयुः। ततश्च वर्णसंकरस्य च कर्ताऽहमेव स्याम्। तेन चेमाः सर्वाः प्रजा अहमेवोपहन्यां धर्मलोपेन विनाशयेयम्। कथं च प्रजानामनुग्रहार्थं प्रवृत्त ईश्वरोऽहं ताः सर्वा विनाशयेयमित्यभिप्रायः।**

सम्बोधन करके भगवान् यह दिखाते हैं कि तुम विशुद्ध क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए हो और शूरसेन की पुत्री के पुत्र होने के कारण बहुत कुछ मेरे ही समान हो, इसलिए तुम मेरे समान ही व्यवहार करो ॥ 22 ॥

67 'लोकसंग्रह भी आपको नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह भी आपके लिए विफल है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् कहते हैं --
[हे पार्थ ! यदि कदाचित् आलस्यरहित होकर मैं कर्म न करूँ तो मनुष्य सर्वशः मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे ॥ 23 ॥]

68 यदि पुनः मैं अतन्द्रित = आलस्यरहित होकर जातु = कदाचित् कर्म मैं तत्पर न रहूँ = कर्मों का अनुष्ठान न करूँ, तो हे पार्थ ! कर्म के अधिकारी होकर भी मनुष्य मुझ श्रेष्ठ के वर्त्म = मार्ग का सर्वशः = सब प्रकार से अनुवर्तन करने लगेंगे ॥ 23 ॥

69 'श्रेष्ठ आपके मार्ग का अनुसरण करना मनुष्यों के लिए उचित ही है, उनके अनुवर्ती होने में क्या दोष है' -- ऐसा यदि कहो तो कहते हैं --
[यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक विनष्ट हो जाँय। इसप्रकार मैं वर्णसंकरता का कर्ता होऊँ और इस समस्त प्रजा का नाश करूँ ॥ 24 ॥]

70 मैं ईश्वर यदि कर्म न करूँ तो मेरे अनुवर्ती मनु आदि की भी कर्म करने की उपपत्ति न होने से लोक की स्थिति के हेतुभूत कर्म का लोप हो जाने से ये सब लोक उत्सन्न = विनष्ट हो जाँय। इससे मैं ही वर्णसंकरता का कर्ता होऊँ और उसके द्वारा मैं ही इस समस्त प्रजा का नाश करूँ = धर्मलोप के द्वारा इसको विनष्ट करूँ। यह कैसे हो सकता है कि प्रजाओं के अनुग्रहार्थ प्रवृत्त ईश्वर मैं उन सबका विनाश करूँ -- यह भगवान् का अभिप्राय है।

71 यद्यदाचरतीत्यादेरपरा योजना--न केवलं लोकसंग्रहं संपश्यन्कर्तुमर्हस्यपि तु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह--यद्यदिति । तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश एव आचारस्तादृश एव मदनुवर्तिना त्वयाऽनुष्ठेयो न स्वातन्त्र्येणान्य इत्यर्थः । कीदृशस्तवाऽऽचारो यो मयाऽनुवर्तनीय इत्याकाङ्क्षायां न मे पार्थेत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनमिति ॥ 24 ॥

72 ननु तवेश्वरस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावान्न काऽपि क्षतिः । मम तु जीवस्य लोकसंग्रहार्थं कर्माणि कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवः स्यादित्यत आह--

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ 25 ॥

73 सक्ताः कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मण्यभिनिविष्टा अविद्वांसोऽज्ञा यथा कुर्वन्ति कर्म लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुर्विद्वानात्मविदपि तथैव कुर्यात् । किंतु असक्तः सन्कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसंधिं चाकुर्वन्नित्यर्थः । भारतेति भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तस्यां रतत्वेन वा त्वं यथोक्तशास्त्रार्थबोधयोग्योऽसीति दर्शयति ॥ 25 ॥

74 ननु कर्मानुष्ठानेनैव लोकसंग्रहः कर्तव्यो न तु तत्त्वज्ञानोपदेशेनेति को हेतुरत आह--

---

71 'यद्यदाचरति' इत्यादि श्लोकों की दूसरी योजना इसप्रकार हो सकती है -- न केवल लोकसंग्रह पर ही दृष्टि रखकर तुमको कर्म करना चाहिए, अपितु श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण को भी देखकर कर्म करना चाहिए -- यह 'यद्यत्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं । इसप्रकार मुझ श्रेष्ठ का जैसा आचरण है वैसा ही मेरे अनुयायी तुमको भी अनुष्ठान करना चाहिए, स्वतंत्रता से कोई दूसरा आचरण नहीं करना चाहिए -- यह इसका तात्पर्य है । 'आपका आचरण कैसा है, जिसका मुझे अनुवर्तन करना चाहिए' -- ऐसी जिज्ञासा होने पर भगवान् 'न मे पार्थ' -- इत्यादि तीन श्लोकों से उसका प्रदर्शन करते हैं ॥ 24 ॥

72 यदि अर्जुन कहे कि 'आप ईश्वर हैं, अत: लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहने पर भी कर्तृत्व का अभिमान न होने के कारण आपकी कोई क्षति नहीं है । मैं तो जीव हूँ, अत: लोकसंग्रह के लिए कर्म करने पर कर्तृत्व का अभिमान होने से मेरा ज्ञान अभिभूत हो सकता है', तो भगवान् कहते हैं --
[हे भारत ! कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसन्धि से कर्म में अभिनिविष्ट अविद्वान् जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसीप्रकार लोकसंग्रह के चिकीर्षु विद्वान् असक्त होकर कर्म करें ॥ 25 ॥]

73 सक्त = आसक्त = कर्तृत्व के अभिमान और फल की कामना से कर्म में अभिनिविष्ट --अभिनिवेश रखने वाले अविद्वान् = अज्ञ - अज्ञानी जिसप्रकार कर्म करते हैं, लोकसंग्रह करने की इच्छावाला विद्वान् = आत्मवेत्ता भी उसी प्रकार कर्म करे, किन्तु असक्त होकर अर्थात् कर्तृत्व का अभिमान और फल की कामना न करते हुए । 'भारत' -- इस सम्बोधन से यह दिखलाते हैं कि भरतवंश में उत्पन्न होने के कारण अथवा 'भा' जो ज्ञान है उसमें रत होने के कारण तुम शास्त्र के यथोक्त तात्पर्य को समझने में सक्षम हो ॥ 25 ॥

74 'कर्मानुष्ठान से ही लोकसंग्रह करना चाहिए, तत्त्वज्ञानोपदेश से नहीं, इसमें क्या हेतु है ?'-- इस पर कहते हैं --

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ 26 ॥

75 **अज्ञानामविवेकिनां कर्तृत्वाभिमानेन फलाभिसंधिना च कर्मसङ्गिनां कर्मण्यभिनिविष्टानां या बुद्धिरहमेतत्कर्म करिष्य एकत्फलं च भोक्ष्य इति तस्या भेदं विचालनमकर्त्रात्मोपदेशेन न कुर्यात् । किंतु युक्तोऽवहितः सन्विद्वाँल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरविद्वदधिकारिकाणि सर्वकर्मणि समाचरन् स्तेषां श्रद्धामुत्पाद्य जोषयेत्प्रीत्या सेवयेत् । अनधिकारिणामुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेरुभयभ्रष्टत्वं स्यात् । तथा चोक्तम् –**

'अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः ॥' इति ॥ 26 ॥

76 **विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि कर्तृत्वाभिमानतदभावाभ्यां विशेषं दर्शयन्सक्ताः कर्मणीतिश्लोकार्थं विवृणोति द्वाभ्याम् –**

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

77 **प्रकृतिर्माया सत्त्वरजस्तमोगुणमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः 'मायां तु प्रकृतिं विद्या-**

[कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि को आत्मोपदेश से विचलित न करे । विद्वान् समस्त कर्मों का समाहित चित्त से सम्यक् प्रकार आचरण करता हुआ प्रीतिपूर्वक उनसे भी कर्मों का सेवन कराये ॥ 26 ॥]

75 कर्तृत्व के अभिमान और फल की कामना से कर्मसङ्गी = कर्म में आसक्त = कर्म में अभिनिविष्ट अज्ञ = अविवेकी पुरुषों की जो ऐसी बुद्धि है कि 'मैं यह कर्म करूँगा और इसका फल भोगूँगा' -- उसका भेद = विचालन अकर्ता आत्मा के उपदेश से न करे । किन्तु लोकसंग्रह का चिकीर्षु विद्वान् युक्त = अवहित-समाहित होकर जिनमें अविद्वानों = अज्ञानियों का ही अधिकार है उन समस्त कर्मों का सम्यक् प्रकार आचरण करता हुआ उनमें उनकी श्रद्धा उत्पन्न करके उनका उनसे प्रीतिपूर्वक सेवन कराये । आत्मोपदेश से अनधिकारियों की बुद्धि को विचलित करने पर तो कर्मों में श्रद्धा न रहने से और ज्ञान की उत्पत्ति न होने से -- वे दोनों ओर से ही भ्रष्ट हो जायेंगे । ऐसा कहा भी है –

'जो पुरुष अर्द्धप्रबुद्ध अज्ञानी पुरुष से यह कह देता है कि 'सब ब्रह्म है', तो वह उसको महान् नरकजाल में ही फंसा देता है ।'

76 विद्वान् और अविद्वान् के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी कर्तृत्वाभिमान और उसके अभाव से उसमें भेद दिखलाकर आगे के दो श्लोकों से 'सक्ताः कर्मणि' इत्यादि श्लोक के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं --

[ये सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति = माया के गुणों द्वारा किये जाते हैं, किन्तु अहंकार से जिसका आत्मा = अन्तःकरण अत्यन्त मूढ़ है वह पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा मानता है ॥ 27 ॥]

77 प्रकृति = माया अर्थात् परमेश्वर की मिथ्या ज्ञानात्मिका सत्त्वरजस्तमोगुणमयी शक्ति है,[32] जैसा कि श्रुति भी कहती है-- 'माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर जानो' (श्वेता० उ०,4.10) । सर्वशः

न्मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः । तस्याः प्रकृतेर्गुणैर्विकारैः कार्यकारणरूपैः क्रियमाणानि लौकिकानि वैदिकानि च कर्माणि सर्वशः सर्वप्रकारैरहंकारेण कार्यकारणसंघातात्मप्रत्ययेन विमूढः स्वरूपविवेकासमर्थ आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽहंकारविमूढात्माऽनात्मन्यात्माभिमानी तानि कर्माणि कर्ताऽहमिति करोम्यहमिति मन्यते कर्तृत्वाध्यासेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययः । तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ 27 ॥

78 **विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह–**

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

79 **तत्त्वं याथात्म्यं वेत्तीति तत्त्ववित् । तुशब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्ट्यमाह । कस्य तत्त्वमित्यत आह**

= सब प्रकार से उस प्रकृति के गुणों अर्थात् कार्य-कारणरूप विकारों द्वारा किये जाते हुए लौकिक और वैदिक -- सम्पूर्ण कर्मों को अहंकार अर्थात् कार्य-कारणसंघात में आत्मप्रत्यय – आत्मबुद्धि = कार्य -- शरीर और कारण-इन्द्रियाँ इनका जो संघात है उसमें -- अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि से अत्यन्त मूढ़ = स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ है आत्मा = अन्तःकरण जिसका वह अहंकारविमूढात्मा अर्थात् अनात्मा में आत्मा का अभिमान रखनेवाला पुरुष कर्तृत्व के अध्यास से ऐसा मानता है कि 'उन कर्मों का कर्ता मैं हूँ अर्थात् मैं उन कर्मों को करता हूँ' । ' कर्ताऽहम्' इसमें 'कर्तृ' शब्द में 'तृन्' प्रत्यय है; इसलिए 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनि-सूत्र, 2.3.69) – इस पाणिनि-सूत्र से षष्ठी का निषेध होने के कारण 'कर्माणि' पद में षष्ठी विभिक्ति नहीं हुई है[33] ॥ 27 ॥

78 विद्वान् ऐसा नहीं मानता, -- यह कहते है :--

[हे महाबाहो ! गुण-कर्म और आत्मा -- इनके तत्त्व को जानने वाला तो - 'गुण = चक्षु आदि अपने गुणों = रूपादि विषयों में अनुवृत्त होते हैं' ऐसा मानकर कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता ॥ 28 ॥]

79 जो तत्त्व = यथार्थ स्वरूप को जानता है[34] उसे 'तत्त्ववित्' कहते हैं । 'तु' शब्द से उसकी अज्ञानी से विशिष्टता कहते हैं । किसका तत्त्व जानता है ? अतः कहते हैं – 'गुणकर्मविभागयोः' =गुण-

32. चराचर जगत् के कारण को 'प्रकृति' कहते हैं (प्रकरोतीति प्रकृतिः) । सांख्यमतानुसार सत्त्व, रज और तम – इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं । इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को 'प्रधान' भी कहते हैं । वेदान्त-मत में इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को 'माया' कहते हैं, इसी भेद के कारण परिणामवाद का मायावाद से व्यवहार होता है । माया मिथ्या ज्ञानात्मिका है, परमेश्वर की शक्ति है, स्वतंत्र नहीं है । सांख्यमत में प्रकृति स्वयंभू – स्वतंत्र कही जाती है । यही दोनों मतों में भेद है ।

33. यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रकृत श्लोक में 'तानि कर्माणि कर्ताऽहम्' – यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है क्योंकि 'ण्वुलतृचौ' (पाणिनि-सूत्र, 3.1.133) सूत्र से 'कर्ता' में ' तृच्' प्रत्यय करने पर 'कर्तृकर्मणोः कृति ' (पाणिनिसूत्र, 2.6.65) सूत्र से 'कर्माणि' द्वितीयान्त पद के स्थान पर षष्ठी होने से 'तेषां कर्मणां कर्ताऽहम्' प्रयोग साधु है, तो इसका समाधान यह है कि 'तानि कर्माणि कर्ताऽहम्' यह प्रयोग भी शुद्ध है, क्योंकि इस प्रयोग के 'कर्ता' पद में 'तृन्' (पाणिनिसूत्र, 3.2.135) सूत्र से 'कृ' धातु से 'तृन्' प्रत्यय हुआ है; और 'न लोका—व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनिसूत्र, 2.3.69) = 'ल (ल के आदेश शतृ, शानच् आदि), उ, उक-कृदन्त, अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा (क्त, क्तवतु), खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तृन् प्रत्याहार (इसमें 'शतृशानचौ' (पाणिनिसूत्र, 3.2.134) के 'तृ' अक्षर से लेकर 'तृन्' ('पाणिनिसूत्र, 3.2.135) के नकार तक के प्रत्यय-शानच्, चानश्, शतृ और तृन् लिए जाते हैं) – इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती' – इस सूत्र से 'तृन्' के योग में षष्ठी का निषेध होने के कारण 'कर्माणि' पद में षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

गुणकर्मविभागयो:, गुणा देहेन्द्रियान्त:करणान्यहंकारास्पदानि कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानीति गुणकर्मेति द्वंद्वैकवद्भाव: । विभज्यते सर्वेषां जडानां विकारिणां भासकत्वेन पृथम्भवतीति विभाग: स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा । गुणकर्म च विभागश्चेति द्वंद्व: । तयोर्गुणकर्मविभागयोर्भास्यभासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारिनिर्विकारयोस्तत्त्वं याथात्म्यं यो वेत्ति स गुणा: करणात्मका गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते विकारित्वान्न तु निर्विकार आत्मेति मत्वा न सज्जते सक्तिं कर्तृत्वाभिनिवेशमतत्त्वविदिव न करोति । हे महाबाहो, इति संबोधयन्सामुद्रिकोक्तसत्पुरुषलक्षणयोगित्वान्न पृथग्जनसाधारण्येन त्वमविवेकी भवितुमर्हसीति सूचयति ।

80 **गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति वा । अस्मिन्पक्षे गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ॥ 28 ॥**

कर्म और विभाग का तत्त्व जानता है । गुण से यहाँ अहंकारास्पद = अहिमित्याकारक प्रतीति के विषय देह, इन्द्रिय और अन्त:करण विवक्षित है[35] तथा कर्म से उन देह, इन्द्रिय और अन्त:करण के व्यापारभूत ममकारास्पद = ममकार के विषय इष्ट है ।[36] 'गुण-कर्म' -- इनका द्वन्द्वैकवद्भाव है ।[37] जो समस्त जड़ विकारियों का भासक होने से उनसे विभक्त-पृथक् है वह स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप असङ्ग आत्मा 'विभाग' है । गुणकर्म और विभाग -- इनमें द्वन्द्व समास है ।[38] उन गुणकर्म और विभाग = भास्य और भासक = जड़ और चैतन्य = विकारी और निर्विकार के तत्त्व = यथार्थ स्वरूप को जो जानता है वह यह मानकर कि 'करणात्मक = इन्द्रियरूप गुण ही गुणों = विषयों में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि वे विकारी हैं, निर्विकार आत्मा नहीं', -- आसक्त नहीं होता अर्थात् अतत्त्ववित् के समान आसक्ति = कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता । 'हे महाबाहो !' -- ऐसा सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि सामुद्रिकशास्त्रोक्त सत्पुरुष के लक्षणों से युक्त होने के कारण तुम अन्य साधारण जनों के समान अविवेकी होने के योग्य नहीं हो ।

80 अथवा, 'गुणकर्मविभागयो: तत्त्ववित्' -- इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्ववित् । इस पक्ष में 'गुणकर्मणो:' -- इतने से ही निर्वाह हो जाता है, अत: 'विभाग' पद का प्रयोजन चिन्त्य = विचारणीय है[39] ॥ 28 ॥

---

34. अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप से जो जानता है वही 'तत्त्ववित्' कहा जाता है ।

35. जैसे – 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्', 'काणोऽहम्', 'बधिरोऽहम्', 'मूढोऽहम्' = 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं काणा हूँ', 'मैं बधिर हूँ', 'मैं मूढ़ हूँ' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध है ।

36. जैसे –'मैंने अपने देह से परिश्रम किया', 'मैने अपने नेत्र से देखा', 'मैने अपने मन से सोचा' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं ।

37. 'गुणकर्म' पद में 'गुणश्च कर्म च अनयो: समाहार: गुणकर्म'– इसप्रकार समाहार द्वन्द्व समास होने कारण एक वचन है ।

38. 'गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्व:' = गुणकर्म और विभाग – इन द्रोनों पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है । अत: 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयो:' (पाणिनिसूत्र, 2.4.26) = 'द्वन्द्व और तत्पुरुष समास के अर्थ में पर पद के समान अर्थात् उत्तर पद को अभिलक्षित कर लिङ्ग प्रयोग किया जाता है' -- इस सूत्र से पर पद 'विभाग' को अभिलक्षित कर-पुल्लिङ्ग होकर 'गुणाकर्मविभागौ' -- यह प्रथमा द्विवचन में रूप निष्पन्न हुआ है और प्रकृत में षष्ठी द्विवचन में 'गुणकर्मविभागयो:'– यह रूप निष्पन्न होकर प्रयुक्त हुआ है ।

39. यहाँ आचार्य धनपति कहते हैं कि प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने 'गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहे विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्' – ऐसा कहकर भगवान् भाष्यकार शंकर के 'गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति' -- इस

81 तदेवं विद्वदविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येन विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युक्तमुपसंहरति–

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

82 प्रकृतेः पूर्वोक्ताया मायाया गुणैः कार्यतया धर्मैर्देहादिभिर्विकारैः सम्यङ्मूढाः स्वरूपास्फुरणेन तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमानास्तेषामेव गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां कर्मसु व्यापारेषु सज्जन्ते सक्तिं वयं कर्मस्तत्फलायेति दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति ये तान्कर्मसङ्गिनोऽकृत्स्नविदोऽनात्मा-

81 इसप्रकार विद्वान् और अविद्वान् के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी विद्वान् को अपने अभिप्राय के अनुसार उपदेश देकर अविद्वान् की बुद्धि विचलित नहीं करनी चाहिए[40] – इस उक्तार्थ का उपसंहार करते हैं --

[प्रकृति = माया के गुणों से अत्यन्त मूढ़ हुए पुरुष देहेन्द्रिय आदि गुणों के कर्मों में आसक्ति करते हैं, उन मन्द अनात्मज्ञ पुरुषों को पूर्णतत्त्वज्ञ = परिपूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता विद्वान् कर्म की श्रद्धा से विचलित न करें ॥ 29 ॥]

82 प्रकृति के = पूर्वोक्त माया के गुणों से = कार्य होने के कारण धर्मों से अर्थात् देहादि विकारों से अत्यन्त मूढ़ = स्वरूप का स्फुरण न होने के कारण उन देहादि को ही आत्मरूप माननेवाले उन गुणों के ही = देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणों के ही कर्मों = व्यापारों में आसक्ति करते हैं = उनमें आसक्ति अर्थात् 'हम फल के लिए कर्म करते हैं' -- इस प्रकार दृढ़तर आत्मीयबुद्धि करते हैं जो उन कर्मसङ्गियों को अकृत्स्नवित् = अनात्माभिमानी -- अनात्मज्ञ मन्द = अशुद्ध चित्त होने के कारण

भाष्य पर आक्षेप किया है । वस्तुतः भाष्य के अर्थ को न समझकर ही मधुसूदन सरस्वती ने भाष्य पर आक्षेप किया है । भाष्य का अर्थ इस प्रकार है -- " नाहं कार्यकरणसंघातात्मेति गुणेभ्य आत्मनो विभागः न मे कर्माणीत्यात्मनस्तेभ्यो विभागः गुणकर्मभ्यां विभक्तात्मसाक्षात्कारवान् । तथा च नायमहंकारविमूढात्मा नापि कर्मण्यासक्तो येनाहं कर्तेति मन्येत" = "मैं कार्य-कारण का संघातात्मा नहीं हूँ' – इसप्रकार गुणों से आत्मा के विभाग, तथा 'मेरे कर्म नहीं हैं' – इसप्रकार कर्मों से आत्मा के विभाग को जानने वाला अर्थात् गुण और कर्मों से विभक्त साक्षात्कारवान् तत्त्ववेत्ता अहंकारविमूढात्मा नहीं कहा जा सकता और न वह कर्म में आसक्त ही होता है जिससे 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान करे, क्योंकि वह उन दोनों से अतिरिक्त 'आत्मा' को जानता है" -- यह अर्थ 'विभाग' पद के न रहने पर नहीं हो सकता । अतः 'गुणकर्मविभागयोः' पद में 'विभाग' पद सप्रयोजन है, व्यर्थ नहीं है । इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'गुणकर्मविभागयोः' – पद का समासविग्रह इसप्रकार समझना चाहिए -- 'विभागश्च विभागश्च विभागौ गुणकर्मभ्यो विभागौ गुणकर्मविभागौ तयोः गुणकर्मविभागयोः' – इति ।
यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रदर्शित व्याख्या ही विचारणीय है । उन्होंने 'गुणकर्मविभागयोः' पद का समासविग्रह किया है – 'गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्वः' – इसप्रकार इतरेतरद्वन्द्व समास करने पर यहाँ 'विभाग' पद अल्पाच् और 'आत्मा' का बोधक होने से अभ्यर्हित है । अतः 'अल्पाच्तरम्' (पाणिनिसूत्र, 2.2.34) = 'जिस पद में थोड़े स्वर होते हैं, उसका द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयोग होता है' – इस सूत्र से और 'अभ्यर्हितं च' (वार्तिक – 1412) = 'द्वन्द्व में श्रेष्ठ = पूज्य (अभ्यर्हित) का पूर्व निपात होता है' -- इस वार्तिक से 'विभाग' पद का पूर्वनिपात होगा, ऐसा होने पर 'गुणकर्मविभागयोः' – पद ही असंगत हो जायेगा । तथा पूर्वनिपात प्रकरण को अनित्य मानकर उक्त प्रयोग की उपपत्ति तो अगति की गति होगी जो भाष्योक्त रीति से गति रहने पर अनुचित ही होगी । इसके अतिरिक्त 'विभाग' पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्धार्थ की कल्पना और क्लिष्ट कल्पना करना भी अनुचित ही है जैसी कि मधुसूदन सरस्वती ने अपने व्याख्यान में की है (द्रष्टव्य -- भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

40. तात्पर्य यह है कि विद्वान् को अविद्वान् के लिए सत्य और हितकर वही उपदेश करना चाहिए जिसमें अविद्वान् का कल्याण हो, जिस समीचीन उपदेश से भी उसका अहित हो उसका उपदेश नहीं करना चाहिए ।

भिमानिनो मन्दानशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारमप्राप्तान्कृत्स्नवित्परिपूर्णात्मवित्स्वयं न विचालयेत्कर्मश्रद्धातो न प्रच्यावयेदित्यर्थः । ये त्वमन्दा शुद्धान्तःकरणास्ते स्वयमेव विवेकोदयेन विचलन्ति ज्ञानाधिकारं प्राप्ता इत्यभिप्रायः ।

83 कृत्स्नाकृत्स्नशब्दावात्मानात्मपरतया श्रुत्यर्थानुसारेण वार्तिककृद्भिर्व्याख्यातौ –

'सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः कृत्स्नं वस्तु यतोऽद्वयम् ।
संभवस्तद्विरुद्धस्य कुतोऽकृत्स्नस्य वस्तुनः ॥
यस्मिन्दृष्टेऽप्यदृष्टोऽर्थः स तदन्यश्च शिष्यते ।
तथाऽदृष्टेऽपि दृष्टः स्यादकृत्स्नस्तादृगुच्यते ॥' इति ।

अनात्मनः सावयवत्वादनेकधर्मवत्त्वाच्च केनचिद्धर्मेण केनचिदवयवेन वा विशिष्टे तस्मिन्नेकस्मिन्घटादौ ज्ञातेऽपि धर्मान्तरेणावयवान्तरेण वा विशिष्टः स एवाज्ञातोऽवशिष्यते । तदन्यश्च पटादिरज्ञातोऽवशिष्यत एव । तथा तस्मिन्घटादावज्ञातेऽपि पटादिर्ज्ञातः स्यादिति तज्ज्ञानेऽपि तस्यान्यस्य चाज्ञानात्तदज्ञानेऽप्यन्यज्ञानाच्च सोऽकृत्स्न उच्यते । कृत्स्नस्त्वद्वय आत्मैव तज्ज्ञाने कस्यचिदवशेषस्याभावादिति श्लोकद्वयार्थः ॥ 29 ॥

84 एवं कर्मानुष्ठानसाम्येऽप्यज्ञविज्ञयोः कर्तृत्वाभिनिवेशतदभावाभ्यां विशेष उक्तः । इदानीमज्ञस्यापि मुमुक्षोरमुमुक्ष्वपेक्षया भगवदर्पणं फलाभिसंध्यभावं च विशेषं वदन्नज्ञतयाऽर्जुनस्य कर्माधिकारं द्रढयति–

ज्ञानाधिकार को अप्राप्त पुरुषों को कृत्स्नवित् = परिपूर्णात्मवित् -- परिपूर्ण आत्मा का ज्ञाता स्वयं विचलित न करे अर्थात् कर्म की श्रद्धा से च्युत न करे । जो अमन्द अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं वे तो विवेक का उदय होने से स्वयं ही विचलित होते हैं, क्योंकि उनको तब ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है -- यह अभिप्राय है ।

83 कृत्स्न और अकृत्स्न शब्दों की वार्तिककार ने भी श्रुति के तात्पर्य के अनुसार आत्मा और अनात्मा के वाचकरूप से व्याख्या की है --

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों के अनुसार अद्वय-अखण्ड आत्मा ही कृत्स्नपूर्णवस्तु है, इसलिए उससे विरुद्ध अकृत्स्न -- अपूर्ण वस्तु की सम्भावना ही कैसे हो सकती है । जिस वस्तु को देख लेने पर भी उससे भिन्न कोई दूसरा अदृष्ट = न देखा हुआ पदार्थ रह जाय तथा जिसको न देखने पर भी उस भिन्न पदार्थ को देखा जा सके वह 'अकृत्स्न' कहा जाता है ।"

अनात्मा के सावयव और अनेक धर्मवान् होने के कारण किसी धर्म अथवा किसी अवयव से विशिष्ट एक घटादि के ज्ञात होने पर भी धर्मान्तर अथवा अवयवान्तर से विशिष्ट होने पर वही घटादि अज्ञात रहता है; उससे भिन्न पटादि तो अज्ञात ही रहता है । इसीप्रकार उस घटादि के अज्ञात रहने पर भी पटादि ज्ञात रहता है, पटादि का ज्ञान होने पर भी उससे भिन्न वस्तु का ज्ञान न होने से और उसका ज्ञान न होने पर भी उससे भिन्न का ज्ञान होने से वह 'अकृत्स्न' कहलाता है । कृत्स्न तो अद्वय = अद्वैत आत्मा ही है, उसका ज्ञान होने पर कोई अज्ञात अवशिष्ट नहीं रहता है -- यह वार्तिक के दोनों श्लोकों का अर्थ है ॥ 29 ॥

84 इसप्रकार अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मानुष्ठान में समानता रहने पर भी कर्तृत्व के अभिनिवेश और उसके अभाव के कारण अज्ञानी और ज्ञानी का भेद कहा । अब अज्ञानी भी मुमुक्षु की अमुमुक्षु

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

85 **मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वनियन्तरि सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसाऽहं कर्ताऽन्तर्याम्यधीनस्तस्मा एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीत्यनया बुद्ध्या संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्ममो देहपुत्रभ्रात्रादिषु स्वीयेषु ममताशून्यो विगतज्वरः । संतापहेतुत्वाच्छोक एव ज्वरशब्देनोक्तः । ऐहिकपारत्रिकदुर्यशोनरकपातादिनिमित्तशोकरहितश्च भूत्वा त्वं मुमुक्षुर्युध्यस्व विहितानि कर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र भगवदर्पणं निष्कामत्वं च सर्वकर्मसाधारणं मुमुक्षोः । निर्ममत्वं त्यक्तशोकत्वं च युद्धमात्रे प्रकृत इति द्रष्टव्यमन्यत्र ममताशोकयोरप्रसक्तत्वात् ॥ 30 ॥**

की अपेक्षा से भगवदर्पण और फलाभिसन्धि = फलाशा का अभाव -- यह विशेषता बतलाते हुए अज्ञानी होने के कारण अर्जुन के कर्माधिकार को भगवान् दृढ़ करते है --

[तुम अध्यात्मबुद्धि से सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पण कर, फल की आशा और ममता से रहित होकर, शोकहीन होकर युद्ध करो ॥ 30 ॥]

85 मुझे = सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, परमेश्वर भगवान् वासुदेव को ही सम्पूर्ण कर्म = लौकिक और वैदिक सब प्रकार के कर्म अध्यात्मबुद्धि से = 'मैं कर्ता अन्तर्यामी के अधीन हूँ और सेवक जैसे राजा के लिए कर्म करता है उसी प्रकार मैं भी उस ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ' -- ऐसी बुद्धि से संन्यस्त करके = समर्पण[41] करके निराशीः = निष्काम, निर्मम = देह, पुत्र, भ्राता आदि आत्मीयों में ममताशून्य, और विगतज्वर होकर -- यहाँ संताप का हेतु होने से 'ज्वर' शब्द से शोक ही कहा गया है, अतः किसी ऐहिक या पारलौकिक कारण से, अपकीर्ति से, अथवा नरकपातादि कारणों से होनेवाले शोक से रहित होकर तुम युद्ध करो = मुमुक्षु होने के कारण विहित कर्म करो -- यह अभिप्राय है । यहाँ मुमुक्षु के लिए भगवदर्पण और निष्कामता तो सम्पूर्ण कर्मों में समान हैं, किन्तु निर्ममत्व और त्यक्तशोकत्व प्रकृत युद्धमात्र से ही सम्बन्धित हैं -- यह द्रष्टव्य है, क्योंकि दूसरे कर्मों में तो ममता और शोक का प्रसंग ही नहीं होता[42] ॥ 30 ॥

---

41. कर्मो का समर्पण दो प्रकार से होता है – ईश्वरार्पण और ब्रह्मार्पण । ईश्वरार्पण पुनः दो प्रकार का होता है – (क) 'मैं कर्ता हूँ'– इस प्रकार का अभिमान पूर्णरूप से त्याग कर कर्म करना । जब साधक में 'भगवान् की प्रकृति ही समस्त कर्मों के द्वारा भगवान् की ही सेवा कर रही है । देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण – यह सब तो प्रकृति ही हैं । 'मैं' भी प्रकृति ही हूँ । अतः 'मैं कर्ता हूँ' – यह कैसे हो सकता है । ईश्वर ही अपनी प्रकृति के द्वारा अपने कर्मों को करता है और ईश्वर ही कर्ता होने से कर्मफल भी उसका ही होता है' – ऐसी दृढ़ बुद्धि हो जाती है तो वह पूर्णरूप से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' – इसप्रकार कर्तृत्व के अभिमान से शून्य होकर यंत्र की तरह समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण करने में समर्थ होता है । यह प्रथम प्रकार का ईश्वरार्पण है । (ख) आंशिकरूप से 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान कर कर्म करना । आंशिक रूप से 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा अभिमान कर कर्म करनेवाले व्यक्ति यह नहीं समझ पाते हैं कि अखंड चित्शक्ति = माया = प्रकृति ही विश्व का कार्य कर रही है । अतः वे अपने को ईश्वर के अंशरूप से कल्पना करके भगवान् की आज्ञा के अनुसार ईश्वर के ही दास या दासी के रूप में कर्म करते हुए समस्त कर्मों को ईश्वर में ही अर्पण कर देते हैं । यह द्वितीय प्रकार का ईश्वरार्पण है । **ब्रह्मार्पण** में ज्ञानी व्यक्ति समस्त जगत् और अपने को ब्रह्म ही मानते हैं । कर्ता, कर्म, करण, कर्मफल इत्यादि सब प्रकृति के गुणों का ही कार्य है अर्थात् ब्रह्मरूप अधिष्ठान में माया के द्वारा ही वे रचित होते हैं । अतः उनकी ब्रह्म की सत्ता से कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है । इस कारण से ज्ञानी की दृष्टि से कर्ता, कर्म इत्यादि ब्रह्म ही है अर्थात् वे सब उनकी अपनी आत्मा ही है । यही ब्रह्मार्पण है ।

86 फलाभिसंधिराहित्येन भगवदर्पणबुद्ध्या विहितकर्मानुष्ठानं सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण मुक्तिफलमित्याह –

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ 31 ॥

87 इदं फलाभिसंधिराहित्येन विहितकर्माचरणरूपं मम मतं नित्यं नित्यवेदबोधित – त्वेनानादिपरम्परागतमावश्यकमिति वा सर्वदेति वा । मानवा मनुष्या ये केचिन्मनुष्याधिकारित्वात्कर्मणां श्रद्धावन्तः शास्त्राचार्योपदिष्टेऽर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा तद्वन्तः। अनसूयन्तः, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सा च दुःखात्मके कर्मणि मां प्रवर्तयन्नकारुणिकोऽयमित्येवंरूपा प्रकृते प्रसक्ता तामसूयां मयि गुरौ वासुदेवे सर्वसुहृद्यकुर्वन्तो येऽनुतिष्ठन्ति तेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः ॥ 31 ॥

88 एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह–

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

86 फल की कामना से रहित होकर भगवदर्पण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान सत्त्वशुद्धि-चितशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति द्वारा मुक्तिफलक है -- यह कहते हैं --
[जो मनुष्य श्रद्धावान् और असूयारहित होकर नित्य -- सर्वदा मेरे इस मत का अनुसरण करते हैं वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ।। 31 ।।]

87 फल की कामना से रहित होकर भगवदर्पण बुद्धि से विहित कर्मों का आचरणरूप मेरा यह मत नित्य है अर्थात् नित्य वेद द्वारा बोधित -- प्रतिपादित होने के कारण अनादि परम्परा से प्राप्त है अथवा आवश्यक है; अथवा नित्य = सर्वदा ही जो कोई मानव = मनुष्य कर्मों के अधिकारी होने के कारण श्रद्धावान् = शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ में अनुभूत न होने पर भी 'यह ऐसा ही है' -- इसप्रकार का विश्वास श्रद्धा है उससे युक्त होकर और असूया न करते हुए= गुणों में भी दोष निकालना असूया है[43], 'यह बड़ा अकारुणिक है जो मुझको इस दुःखात्मक कर्म में प्रवृत्त कर रहा है' -- यह उसका स्वरूप है, प्रकृत में प्रसक्त उस असूया को सबके सुहृद और अपने गुरु मुझ वासुदेव के प्रति न करते हुए मेरे इस मत का अनुसरण करते हैं वे भी चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति के द्वारा सम्यग्ज्ञानी के ही समान धर्माधर्मरूप कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ।। 31 ।।

88 इसप्रकार अन्वय में गुण कहकर व्यतिरेक में दोष कहते हैं --
[जो लोग दोषदृष्टिपरायण होकर मेरे इस मत का अनुष्ठान -- अनुसरण नहीं करते हैं उन दुष्टचित्त और सब प्रकार के ज्ञान में अनेक प्रकार से मूढ़ पुरुषों को तुम समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट समझो ।। 32 ।।]

---

42. मधुसूदन सरस्वती का यह व्याख्यान विचारणीय है कि युद्ध के अतिरिक्त अन्यत्र ममता और शोक का प्रसंग ही नहीं होता । सभी कर्मों में 'ममेदम्' = 'यह मेरा है' – ऐसी 'ममता' का प्रसंग होता है और निष्फल अथवा कष्टसाध्य कर्म में ज्वर = 'शोक' का भी प्रसंग होता है । जैसा कि भगवान् ने शोकादि की निवृत्ति के लिए ही गीता में ही कहा है – 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (गीता, 2.48) इत्यादि । (द्रष्टव्य-भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

43. 'अ[illegible] तु दोषारोपो गुणेष्वपि' (अमरकोश, 1.7.24) = औद्धत्य से किसी के गुणों में दोषों का आरोप करना 'असूया' है ।

89 तुशब्दः श्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धां सूचयति । तेन ये नास्तिक्यादश्रद्दधाना अभ्यसूयन्तो दोषमुद्भावयन्त एतन्मम मतं नानुवर्तन्ते तानचेतसो दुष्टचित्तानत एव सर्वज्ञानविमूढान्सर्वत्र कर्मणि ब्रह्मणि सगुणे निर्गुणे च यज्ज्ञानं तत्र विविधं प्रमाणतः प्रमेयतः प्रयोजनतश्च मूढान्सर्वप्रकारेणायोग्यान्नष्टान्सर्वपुरुषार्थभ्रष्टान्विद्धि जानीहि ॥ 32 ॥

90 ननु राज्ञ इव तव शासनातिक्रमे भयं पश्यन्तः कथमसूयन्तस्तव मतं नानुवर्तन्ते कथं वा सर्वपुरुषार्थसाधने प्रतिकूला भवन्तीत्यत आह–

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ 33 ॥

91 प्रकृतिर्नाम प्राग्जन्मकृतधर्माधर्मज्ञानेच्छादिसंस्कारो वर्तमानजन्मन्यभिव्यक्तः सर्वतो बलवान् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इतिश्रुतिप्रमाणकः । तस्याः स्वकीयाया प्रकृतेः सदृशमनुरूपमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवान्ब्रह्मविदपि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इतिन्यायात्, गुणदोषज्ञानवान्वा चेष्टते किं पुनर्मूर्खः । तस्माद्भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिं यान्ति अनुवर्तन्ते

---

89 यहाँ 'तु' शब्द श्रद्धावान् के धर्म से विपरीत अश्रद्धा को सूचित करता है । उसके कारण जो नास्तिकता से श्रद्धा न करते हुए और असूया = दोषों की उद्भावना -- कल्पना करते हुए मेरे इस मत का अनुवर्तन -- अनुसरण नहीं करते हैं उन अचेता = दुष्टचित्त अतएव सर्वज्ञानविमूढ = सर्वत्र अर्थात् कर्म तथा सगुण और निर्गुण ब्रह्म में जो ज्ञान है उसमें विविधरूप से अर्थात् प्रमाण से, प्रमेय से और प्रयोजन से मूढ़ अर्थात् सब प्रकार से अयोग्य पुरुषों को तुम नष्ट = समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट समझो ।। 32 ।।

90 'राजा की आज्ञा के समान आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने में भय देखते हुए भी वे किसप्रकार दोषदृष्टिपरायण होकर आपके मत का अनुवर्तन -- अनुसरण नहीं करते हैं और क्यों सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधन के प्रतिकूल रहते है' -- ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं --
[ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, अत: समस्त प्राणी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं । इसमें निग्रह क्या करेगा ? ।। 33 ।।]

91 'प्रकृति' पूर्वजन्म में कृत धर्म, अधर्म, ज्ञान, इच्छा आदि के संस्कार का नाम है, वह वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त होकर सर्वत: बलवान् होता है, इसमें श्रुति प्रमाण है -- 'विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा उसका अनुसरण करते हैं' (बृह० उ०, 4.4.2) । उस अपनी प्रकृति के सदृश -- अनुरूप ही समस्त प्राणी, यहाँ तक कि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' = 'इन्द्रियादि का व्यवहार ज्ञानी, अज्ञानी और पशुओं का भी अज्ञानजनित ही होता है, अत: उसमें ज्ञानी का अज्ञानी और पशुआदि से कोई भेद नहीं है ' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, उपोद्घात) इस न्याय से ज्ञानवान् = ब्रह्मवेत्ता अथवा गुण-दोषों का ज्ञान रखनेवाला भी चेष्टा करता है, फिर मूर्ख की तो बात ही क्या हैं ? इसलिए भूत = समस्त प्राणी अपनी प्रकृति को ही जाते हैं अर्थात् उसका ही अनुवर्तन करते हैं, भले ही वह उनके पुरुषार्थ की भ्रंशता का ही हेतु हो । उसमें मेरा या किसी राजा का निग्रह क्या करेगा ? अर्थात् राग की उत्कटता[44] के कारण वह अपने आपको पाप से निवृत्त नहीं कर सकता । वह महान् नरक का कारण जानकर भी दुर्वासना

---

44. राग दो प्रकार का होता है - उत्कट और अनुत्कट । दोषाज्ञानपूर्वक इष्ट में प्रवृत्ति राग से होती है, प्रवृत्तिजनक राग होता है । प्रवृत्तिकाल में दोष का ज्ञान है तो भी अनुचित कर्म में प्रवृत्ति होती है, तो वह उत्कट राग के कारण होती है । दोषाज्ञानपूर्वक इष्ट में प्रवृत्ति होती है, तो वह अनुत्कट राग के कारण होती है ।

पुरुषार्थभ्रंशहेतुभूतामपि । तत्र मम वा राज्ञो वा निग्रहः किं करिष्यति । रागौत्कट्येन दुरितान्निवर्तयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वाऽपि दुर्वासनाप्राबल्यात्पापेषु प्रवर्तमाना न मच्छासनातिक्रमदोषाद्बिभ्यतीति भावः ॥ 33 ॥

92 ननु सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकारविषयाभावाद्विधिनिषेधानर्थक्यं प्राप्तं, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति यं प्रति तदर्थवत्त्वं स्यादित्यत आह–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

93 इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थे विषये शब्दे स्पर्श रूपे रसे गन्धे च । एवं कर्मेन्द्रियविषयेऽपि वचनादावनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागः प्रतिकूले शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितावानुकूल्यप्रातिकूल्यव्यवस्थया स्थितौ न त्वनियमेन सर्वत्र तौ भवतः। तत्र पुरुषकारस्य शास्त्रस्य चायं विषयो यत्तयोर्वशं नाऽऽगच्छेदिति । कथं या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे कलञ्जभक्षणादौ प्रवर्तयति । तथा बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं द्वेषं पुरुस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि संध्यावन्दनादेर्निवर्तयति । तत्र शास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापिते सहकार्यभावात्केवलं दृष्टेष्टसाधनताज्ञानं मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इव तत्र न रागं जनयितुं

की प्रबलता के कारण पापों में प्रवर्तमान मेरी आज्ञा के उल्लंघन के दोष से नहीं डरता -- यह भाव है ॥ 33 ॥

92 'यदि समस्त प्राणिवर्ग प्रकृति के ही वशीभूत है,तो लौकिक या वैदिक कर्म पुरुषार्थ के कोई विषय न रहने के कारण विधि और निषेध की व्यर्थता प्राप्त होती है, क्योंकि प्रकृति से शून्य तो कोई है नहीं, जिसके प्रति उसकी सार्थकता हो' -- ऐसी शंका हो तो भगवान् कहते हैं --
[इन्द्रिय -- इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष अनुकूलता और प्रतिकूलता की व्यवस्था से स्थित रहते हैं, उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे ही इसके शत्रु हैं ॥ 34 ॥]

93 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' -- यहाँ 'इन्द्रियस्य' शब्द की वीप्सा -- द्विरुक्ति से 'सर्वेषामिन्द्रियाणाम्' = 'सभी इन्द्रियों का' -- यह अर्थ ग्रहण है अर्थात् सभी इन्द्रियों के अर्थ = विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं । इसीप्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय वचनादानविहरणोत्सर्गानन्द हैं । इन विषयों में जो विषय अनुकूल प्रतीत होता है, वह शास्त्र से निषिद्ध भी हो, तो भी उसमें राग होता है; इसीप्रकार जो प्रतिकूल प्रतीत होता है, वह शास्त्रविहित भी हो, तो भी उसमें द्वेष होता है । इसप्रकार अनुकूलता और प्रतिकूलता की व्यवस्था से प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ = विषय में राग और द्वेष स्थित रहते हैं, किन्तु वे अनियम से सर्वत्र नहीं होते अर्थात् प्रतिकूल में राग और अनुकूल में द्वेष कभी नहीं होता । इसमें पुरुषाकार = पुरुष प्रयत्न -- पुरुषार्थ और शास्त्र का यह विषय है कि उन राग और द्वेष के वश में न हो । क्यों ? क्योंकि पुरुष की जो प्रकृति है वह बलवदनिष्टसाधनता के ज्ञान के अभाव से सहकृत इष्टसाधनता के ज्ञान के कारण राग को पुरस्कृत करके ही उसको शास्त्रनिषिद्ध कलञ्जभक्षणादि में प्रवृत्त करती है तथा बलवदिष्टसाधनता के ज्ञान के अभाव से सह-

शक्नोति । एवं विहितस्य शास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावात्केवलमनिष्टसाधनत्वज्ञानं भोजनादाविव तत्र न द्वेषं जनयितुं शक्नोति । ततश्चाप्रतिबद्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति निषिद्धाच्च निवर्तयतीति शास्त्रीयविवेकविज्ञानप्राबल्येन स्वाभाविकरागद्वेषयोः कारणोपमर्देनोपमर्दात्र प्रकृतिर्विपरीतमार्गे पुरुषं शास्त्रदृष्टिं प्रवर्तयितुं शक्नोतीति न शास्त्रस्य पुरुषकारस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

94 **तयो रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत्तदधीनो न प्रवर्तेत निवर्तेत वा किन्तु शास्त्रीयतद्विपक्षज्ञानेन तत्कारणविघटनद्वारा तौ नाशयेत् । हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ स्वाभाविकदोषप्रयुक्तावस्य पुरुषस्य श्रेयोर्थिनः परिपन्थिनौ शत्रू श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ दस्यू इव पथिकस्य इदं च "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त" इत्यादिश्रुतौ स्वाभाविकरागद्वेषनिमित्तशास्त्रविपरीतप्रवृत्तिमसुरत्वेन शास्त्रीयप्रवृत्तिं च देवत्वेन निरूप्य व्याख्यातमतिविस्तरेणेत्युपरम्यते ॥ 34 ॥**

95 **ननु स्वाभाविकरागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रवृत्तिप्रहाणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यं चेत्तर्हि यत्सुकरं भिक्षाशनादि तदेव क्रियतां किमतिदुःखावहेन युद्धेनेत्यत आह–**

कृत अनिष्टसाधनता के ज्ञान के कारण द्वेष को पुरस्कृत करके ही शास्त्रविहित भी सन्ध्यावन्दनादि से निवृत्त करती है । ऐसी स्थिति में शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तु की बलवदनिष्टसाधनता का ज्ञान करा दिये जाने पर सहकारी कारण का अभाव हो जाने से केवल दृष्ट इष्टसाधनता का ज्ञान जैसे मधु-विषसंपृक्त अन्न-भोजन में रागोत्पत्ति नहीं करता वैसे ही शास्त्रनिषिद्ध कलञ्जभक्षणादि में राग उत्पन्न नहीं कर सकता । इसीप्रकार शास्त्र के द्वारा विहित वस्तु की बलवदिष्टसाधनता का बोध करा दिये जाने पर सहकारी कारण का अभाव हो जाने से केवल अनिष्टसाधनता का ज्ञान जैसे भोजनादि में द्वेषोत्पत्ति नहीं करता वैसे ही शास्त्रविहित सन्ध्यावन्दनादि में द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिए शास्त्र बिना किसी प्रतिबन्ध के पुरुष को विहित कर्म में प्रवृत्त करता है और निषिद्धकर्म से निवृत्त करता है । इसप्रकार शास्त्रीय विवेक -- विज्ञान की प्रबलता से स्वाभाविक राग और द्वेष के कारण--प्रकृति के उपमर्दन के साथ राग-द्वेष का उपमर्दन हो जाता है, इसलिए प्रकृति शास्त्रदृष्टिवाले पुरुष को विपरीत मार्ग में प्रवृत्त नहीं कर सकती । इसप्रकार शास्त्र और पुरुषकार -- पुरुषार्थ की व्यर्थता का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता ।

94 उन राग-द्वेष के वश में न हो अर्थात् उनके अधीन होकर कर्म में प्रवृत्त या निवृत्त न हो, किन्तु शास्त्रीय उनके विपक्ष -- विरोधी ज्ञान से उनके कारण के विघटन द्वारा उनका नाश कर दे,क्योंकि स्वाभाविक दोष से होनेवाले वे राग और द्वेष इस श्रेयोर्थी = कल्याणकामी पुरुष के परिपन्थी = शत्रु हैं अर्थात् पथिक के मार्ग में विघ्न करनेवाले दस्यु की भाँति उसके श्रेयोमार्ग = कल्याणमार्ग में विघ्न करनेवाले हैं । इसकी 'प्रजापति के देव और असुर -- दो पुत्र थे, इनमें देवता छोटे थे और असुर बड़े थे, वे इस लोक में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे' -- इत्यादि श्रुति में स्वाभाविक राग-द्वेष के कारण होनेवाली शास्त्रविपरीत प्रवृत्ति का असुररूप से और शास्त्रीयप्रवृत्ति का देवरूप से निरूपण करके अतिविस्तारपूर्वक व्याख्या की है, अत: इस चर्चा से उपरत होते हैं ।। 34 ।।

95 'यदि स्वाभाविक राग-द्वेष से प्रयुक्त पशु आदि के समान प्रवृत्ति का प्रहाण -- त्याग कर शास्त्रीय ही कर्म करना चाहिए, तो जो अत्यन्त सुकर भिक्षाशनादि हैं वे ही करने चाहिए, इस अत्यन्त दु:खावह युद्ध से क्या प्रयोजन है ?' -- ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं --

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

96 **श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो यं वर्णाश्रमं वा प्रति यो विहितः स तस्य स्वधर्मो विगुणोऽपि सर्वाङ्गोपसंहारमन्तरेण कृतोऽपि परधर्मात्स्वं प्रत्यविहितात्स्वनुष्ठितात्सर्वाङ्गोपसंहारेण संपादितादपि । न हि वेदातिरिक्तमानगम्यो धर्मः, येन परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो धर्मत्वात्स्वधर्मवदित्यनुमानं तत्र मानं स्यात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति न्यायात् । अतः स्वधर्मे किंचिदङ्गहीनेऽपि स्थितस्य निधनं मरणमपि श्रेयः प्रशस्यतरं परधर्मस्थस्य जीवितादपि । स्वधर्मस्थस्य निधनं हीह लोके कीर्त्यावहं परलोके च स्वर्गादिप्रापकम् । परधर्मस्तु इहाकीर्तिकरत्वेन परत्र नरकप्रदत्वेन च भयावहो यतोऽतो रागद्वेषादिप्रयुक्तस्वाभाविकप्रवृत्तिवत्परधर्मोऽपि हेय एवेत्यर्थः ।**

97 **एवं तावद्भगवन्मताङ्गीकारिणां श्रेयःप्राप्तिस्तदनङ्गीकारिणां च श्रेयोमार्गभ्रष्टत्वमुक्तम् । श्रेयोमार्गभ्रंशेन फलाभिसंधिपूर्वककाम्यकर्माचरणे च केवलपापमात्राचरणे च बहूनि कारणानि कथितानि ये त्वेतदभ्यसूयन्त इत्यादिना । तत्रायं संग्रहश्लोकः--**

[स्वधर्म = अपना धर्म विगुण होने पर भी -- अंगवैगुण्य के कारण असम्पूर्ण रूप से अनुष्ठित होने पर भी सम्यक्-प्रकार से अनुष्ठित -- समस्त अंगों के साथ सम्पादित परधर्म से अधिक प्रशंसनीय है । स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारक है, परधर्म तो भयावह -- भयदायक होता है ॥ 35 ॥]

96 जिस वर्ण और आश्रम के लिए जो कर्म विहित है वह उसका स्वधर्म होता है । वह स्वधर्म विगुण होने पर भी = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार के बिना कृत होने पर भी स्वनुष्ठित = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार के साथ सम्पादित परधर्म = अपने लिए अविहित धर्म की अपेक्षा श्रेयान् = अधिक प्रशंसनीय है । क्योंकि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' = 'जो पदार्थ विधिरूप हो वह धर्म है'-- इस न्याय से धर्म वेद के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से तो जाना ही नहीं जाता जिससे कि 'परधर्मोऽप्यनुष्ठेयो, धर्मत्वात्, स्वधर्मवत्'[45] = 'परधर्म भी अनुष्ठेय है, धर्म होने के कारण, स्वधर्म के समान' -- यह अनुमान उसमें प्रमाण माना जा सके । अतः कुछ अङ्गहीन होने पर भी स्वधर्म में स्थित पुरुष का निधन = मरण भी परधर्म में स्थित रहकर जीनेवाले की अपेक्षा श्रेय = अधिक प्रशंसनीय है । क्योंकि स्वधर्म में स्थित पुरुष का निधन इस लोक में कीर्तिदायक और परलोक में स्वर्गादि की प्राप्ति करानेवाला है । परधर्म तो क्योंकि इस लोक में अकीर्तिकर होने से और परलोक में नरकादि की प्राप्ति कराने वाला होने से भयावह है, अतः राग-द्वेषादि से प्रयुक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति के समान परधर्म भी हेय ही है -- यह अभिप्राय है ।

97 इसप्रकार निस्सन्देह भगवान् के मत को अंगीकार करनेवालों को श्रेय = मोक्ष की प्राप्ति होती है और उनके मत को अंगीकार न करनेवालों का श्रेयोमार्ग से अधःपात होता है -- यह कहा गया है । 'ये

45. यह अनुमान असंगत है । इस अनुमान वाक्य में 'असिद्ध-हेत्वाभास' है । 'लिङ्ग के रूप में निश्चित न होनेवाला हेतु 'असिद्ध-हेत्वाभास' कहलाता है ('लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः' -- तर्कभाषा) । परधर्म में अन्यदीय की अपेक्षा से धर्मत्व ही नहीं है अर्थात् गोत्वादि जाति के समान धर्मत्व जाति नहीं है, जिससे कि गवान्तर में गोत्वादि जाति के दर्शन से तादात्म्य होने के कारण गवादि के अनुमान के समान परकीय अनुष्ठेय में धर्मत्व (लिङ्ग) के ज्ञान से अनुष्ठेय का अनुमान भी हो जायेगा । यदि ऐसा स्वीकार भी किया गया तो वह धर्मशास्त्रैकसमधिगम्य नहीं होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अनुमानादिगम्य तो होगा ही, वह अनुमानादिगम्य भी कदापि नहीं होगा । 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' -- ब्रह्मसूत्र, 3.1.25) – इस वेदान्त-सूत्र में यही सिद्ध किया गया है कि धर्म और अधर्म मात्र वेदैकसमधिगम्य हैं, अनुमानादिगम्य नहीं है ।

श्रद्धाहानिस्तथाऽसूया दुष्टचित्तत्वमूढते ।
प्रकृतेर्वशवर्त्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ ॥
परधर्मरुचित्वं चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥ 35 ॥

98 तत्र काम्यप्रतिषिद्धकर्मप्रवृत्तिकारणमपनुद्य भगवन्मतमनुवर्तितुं तत्कारणावधारणाय–

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

99 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' इत्यादिना पूर्वमनर्थमूलमुक्तम् । सांप्रतं च 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' इत्यादिना बहुविस्तरं कथितम् । तत्र किं सर्वाण्यपि समप्राधान्येन कारणानि । अथवैकमेव मुख्यं कारणमितराणि तु तत्सहकारीणि केवलम् । तत्राऽऽद्ये सर्वेषां पृथक्पृथङ्निवारणे महान्प्रयासः स्यात् । अन्त्ये त्वेकस्मिन्नेव निराकृते कृतकृत्यता स्यादित्यतो ब्रूहि मे केन हेतुना प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं त्वन्मताननुवर्ती सर्वज्ञानविमूढः पुरुषः पापमनर्थानुबन्धि सर्वं फलाभिसंधिपुरःसरं काम्यं चित्रादि शत्रुवधसाधनं च श्येनादि प्रतिषिद्धं च कलञ्चभक्षणादि बहुविधं कर्माऽऽचरति स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि न तु निवृत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थानुबन्धि त्वदुपदिष्टं कर्मेच्छन्नपि करोति । न च पारतन्त्र्यं विनेत्थं संभवति । अतो येन बलादिव नियोजितो राज्ञेव भृत्यस्त्वन्मतविरुद्धं सर्वानर्थानुबन्धित्वं जानन्नपि तादृशं कर्माऽऽचरति तमनर्थमार्गपर्वर्तकं मां प्रति ब्रूहि ज्ञात्वा

त्वेतदभ्यसूयन्तः' -- इत्यादि से श्रेयोमार्ग से पतित होकर फलाभिसन्धिपूर्वक काम्य कर्मों का आचरण करने में और केवल पापमात्र का आचरण करने में अनेक कारण कहे गए हैं । इस विषय में यह संग्रहश्लोक है --

'श्रद्धाहीनता, असूया, दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृति की वशवर्त्तिता, पुष्कल राग-द्वेष और परधर्म में रुचि होना -- ये सब कुपथ के वाहक हैं' ॥ 35 ॥

98 अब काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति के कारणों का निराकरण कर भगवान् के मत का अनुवर्तन -- अनुसरण करने के लिए उनके कारण का निश्चय करने के उद्देश्य से --

[अर्जुन ने कहा -- हे वार्ष्णेय ! यह पुरुष इच्छा न होने पर भी बलात्कार से नियुक्त किये हुए के समान किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है ॥ 36 ॥]

99 आपने पहले 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' (गीता, 2.62) इत्यादि से अनर्थ का मूल = कारण कहा और अब 'प्रकृतेर्गुणसंमूढा' (गीता, 3.29) इत्यादि से उस मूल = कारण का बहुत विस्तार कहा -- तो क्या ये सभी समानरूप से प्रधानता को ग्रहण कर कारण हैं, अथवा इनमें कोई एक ही मुख्य कारण है और दूसरे उसके केवल सहकारी हैं ? इनमें प्रथम पक्ष होने पर तो उन सभी कारणों का पृथक्-पृथक् निवारण करने में महान् प्रयास = कष्ट होगा और अन्तिम पक्ष होने पर तो एक का ही निराकरण कर देने से कृतकृत्यता हो जायेगी । अतः आप मुझे बताइए कि किस कारण से प्रयुक्त = प्रेरित होकर यह आपके मत का अनुसरण न करने वाला सर्वज्ञानविमूढ़ पुरुष पाप अर्थात् परिणाम में अनर्थरूप फलकामनापूर्वक चित्रादि सम्पूर्ण काम्य कर्म, श्येनादि शत्रु के वध के साधन, कलञ्जभक्षणादि प्रतिषिद्ध कर्म इत्यादि अनेक प्रकार के कर्मों का -- स्वयं इच्छा न होने पर भी --

समुच्छेदायेत्यर्थः । हे वार्ष्णेय वृष्णिवंशे मन्मातामहकुले कृपयाऽवतीर्णेतिसंबोधनेन वार्ष्णेयीसुतोऽहं त्वया नोपेक्षणीय इति सूचयति ॥ 36 ॥

100 एवमर्जुनेन पृष्टे 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति' 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इत्यादिश्रुतिसिद्धमुत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

101 यस्त्वया पृष्टो हेतुर्बलादनर्थमार्गे प्रवर्तकः स एष काम एव महाञ्शत्रुः । यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम् । ननु क्रोधोऽप्यभिचारादौ प्रवर्तको दृष्ट इत्यत आह--क्रोध एषः । काम एव केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येष काम एव । एतस्मिन्नेव महावैरिणि निवारिते सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरित्यर्थः । तन्निवारणोपायज्ञानाय तत्कारणमाह--रजोगुणसमुद्भवः । दुःखप्रवृत्ति-- बलात्मको रजोगुण एव समुद्भवः कारणं यस्य, अतः कारणानुविधायित्वात्कार्यस्य

आचरण करता है, तथा जिसका परिणाम परम पुरुषार्थ है उस आपके द्वारा उपदिष्ट निवृत्तिरूप कर्म का -- इच्छा होने पर भी -- आचरण नहीं करता है । ऐसा होना परतन्त्रता = पराधीनता के बिना तो सम्भव नहीं है । अत: जिसके द्वारा बलपूर्वक राजा से प्रेरित सेवक के समान नियुक्त होकर यह आपके मत से विरुद्ध कर्म का -- उसे सब प्रकार के अनर्थमय परिणामवाला जानकर भी -- आचरण करता है, उस अनर्थ मार्ग के प्रवर्त्तक कारण को आप मुझे बताइए जिससे उसे जानकर मैं नष्ट कर सकूँ -- यह अभिप्राय है । हे वार्ष्णेय -- वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामह के कुल में कृपा करके अवतीर्ण हुए ! -- ऐसा संबोधन करके यह सूचित करता है कि मैं भी वार्ष्णेयी = वृष्णिवंश में उत्पन्न हुई कुन्ती का पुत्र हूँ, इसलिए आपको मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।। 36 ।।

100 इसप्रकार अर्जुन के पूछने पर "यह पुरुष = आत्मा काममय है -- ऐसा कहते है", "पहले यह एक आत्मा ही था, उसने कामना की 'मेरी जाया हो', 'प्रजा हो', 'वित्त हो', 'मैं कर्म करूँ" --, इत्यादि श्रुतिसिद्ध उत्तर भगवान् ने दिया --

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! यह काम है । यही रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला क्रोध भी है । यही महान् अशन (भोजन) अर्थात् अग्नि से सदृश भोगों से तृप्त न होनेवाला और महान् पापी है, तुम इसे संसार में अपना शत्रु समझो ।। 37 ।।]

101 तुमने जो बलात् अनर्थ के मार्ग में प्रवृत्त करानेवाला कारण पूछा वह महान् शत्रु यह काम ही है, जिसके कारण प्राणियों को सम्पूर्ण अनर्थों की प्राप्ति होती है । यदि कहो कि अभिचारादि में क्रोध भी तो अनर्थ के मार्ग में प्रवर्त्तक देखा जाता है, तो कहते हैं -- 'क्रोध एषः' = क्रोध भी तत्त्वतः काम ही है । यह काम ही किसी कारण से प्रतिहत होने पर क्रोधरूप में परिणत हो जाता है, अत: क्रोध भी यह काम ही है । तात्पर्य यह है कि इसी महान् शत्रु काम का निवारण कर सकने पर ही समस्त पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है । उसके निवारण के उपाय के ज्ञान के लिए उसके कारण को कहते हैं -- 'रजोगुणसमुद्भवः' = दुःख, प्रवृत्ति और बलरूप रजोगुण ही है समुद्भव = कारण जिसका, अत: वह भी वैसा ही है, क्योंकि कार्य अपने कारण का अनुवर्त्ती होता है ।

सोऽपि तथा। यद्यपि तमोगुणोऽपि तस्य कारणं तथाऽपि दु:खे प्रवृत्तौ च रजस एव प्राधान्यात्तस्यैव निर्देशः। एतेन सात्त्विक्या वृत्या रजसि क्षीणे सोऽपि क्षीयत इत्युक्तम्।

102 अथवा तस्य कथमनर्थमार्गे प्रवर्तकत्वमित्यत आह—रजोगुणस्य प्रवृत्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात्। कामो हि विषयाभिलाषात्मकः स्वयमुद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं दु:खात्मके कर्मणि प्रवर्तयति। तेनायमवश्यं हन्तव्य इत्यभिप्रायः।

103 ननु सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायास्तत्र प्रथमत्रिकस्यासंभवे चतुर्थो दण्डः प्रयोक्तव्यो न तु हठादेवेत्याशङ्क्य त्रयाणामसंभवं वक्तुं विशिनष्टि--महाशनो महापाप्मेति। महदशनमस्येति महाशनः।

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥' इति स्मृतेः।

अतो न दानेन संधातुं शक्यः। नापि सामभेदाभ्यां यतो महापाप्माऽत्युग्रः। तेन हि बलात्प्रेरितोऽनिष्टफलमपि जानन्पापं करोति। अतो विद्धि जानीहि एनं काममिह संसारे वैरिणम्।

104 तदेत्सर्वं विवृतं वार्तिककारैः 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतिव्याख्याने—

यद्यपि तमोगुण भी उसका कारण होता है, किन्तु दु:ख में, प्रवृत्त करने में रजोगुण की ही प्रधानता होती है, अत: उसी का निर्देश किया गया है। इससे यह भी कहा गया है कि सात्त्विकी वृत्ति से रजोगुण के क्षीण हो जाने पर उस काम का भी क्षय हो जाता है।

102 अथवा, काम अनर्थमार्ग में कैसे प्रवर्त्तक होता है -- यह कहते हैं -- जिससे प्रवृत्ति-आदिरूप रजोगुण का समुद्भव = प्रादुर्भाव होता है -- ऐसा यह काम है। काम विषयाभिलाषात्मक = विषयों की अभिलाषारूप प्रसिद्ध ही है, अत: वह जब स्वयं उद्भूत होता है तो रजोगुण को प्रवृत्त कर पुरुष को दु:खात्मक कर्म में प्रवृत्त करता है, इसलिए इसका हनन = नाश अवश्य करना चाहिए -- यह अभिप्राय है।

103 'साम,दान, भेद और दण्ड -- ये चार उपाय शत्रु को वश में करने के लिए शास्त्र में कहे गए हैं, उनमें से पहले तीन के संभव न होने पर ही चौथे उपाय दण्ड का प्रयोग करना चाहिए, हठात् = अकस्मात् ही दण्ड का तो प्रयोग नहीं करना चाहिए' -- ऐसी आशंका करके प्रकृत में इन पहले तीनों उपायों का प्रयोग असम्भव बताने के लिए काम को विशेषण देते हैं -- 'महाशनो महापाप्मेति' = यह काम महाशन और महापापी है। इसका महान् अशन (भोजन) है, इसलिए यह 'महाशन' है -- जैसा कि स्मृति कहती है -- 'पृथ्वी में जितने धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं -- वे सब भी एक पुरुष की कामनाओं की तृप्ति में पर्याप्त नहीं हैं -- ऐसा मानकर शान्त हो जाना चाहिए'। अत: इसको न दान से साधा जा सकता है और न साम तथा भेद से ही, क्योंकि यह महान् पापी अर्थात् अत्यन्त उग्र है। इससे बलात् प्रेरित हुआ पुरुष अनिष्टमय फल को जानता हुआ भी पाप करता है। अत: इह = संसार में तुम इस काम को अपना वैरी समझो।

104 इन सबका विशेष विवरण वार्तिककार ने 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' -- इस श्रुति के व्याख्यान में प्रस्तुत किया है --

'प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यथोक्तस्याधिकारिणः ।
स्वातन्त्र्ये सति संसारसृतौ कस्मात्प्रवर्तते ॥
न तु निःशेषविध्वस्तसंसारानर्थवर्त्मनि ।
निवृत्तिलक्षणे वाच्यं केनायं प्रेर्यतेऽवशः ॥
अनर्थपरिपाकत्वमपि जानन्प्रवर्तते ।
पारतन्त्र्यमृते दृष्टा प्रवृत्तिर्नेदृशी क्वचित् ॥
तस्माच्छ्रेयोर्थिनः पुंसः प्रेरकोऽनिष्टकर्मणि ।
वक्तव्यस्तन्निरासार्थमित्यर्था स्यात्परा श्रुतिः ॥
अनाप्तपुरुषार्थोऽयं निःशेषानर्थसंकुलः ।
इत्यकामयतानाप्तान्पुमर्थान्साधनैर्जडः ॥
जिहासति तथाऽनर्थानविद्वानात्मनि श्रितान् ।
अविद्योद्भूतकामः सन्नथो खल्विति च श्रुतिः ॥
अकामतः क्रियाः काश्चिद्दृश्यन्ते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
काम एष क्रोध एष इत्यादिवचनं स्मृतेः ।
प्रवर्तको नापरोऽतः कामादन्यः प्रतीयते ॥' इति ।

अकामत इति मनुवचनम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ 37 ॥

105 तस्य महापाप्मत्वेन वैरित्वमेव दृष्टान्तैः स्पष्टयति–

'प्रवृत्ति और निवृत्ति में यथोक्त अधिकारी = प्रमाता स्वतंत्र होने पर भी संसारमार्ग में ही क्यों प्रवृत्त होता है ? निवृत्तिरूप मार्ग में यद्यपि संसाररूप अनर्थमय मार्ग का सर्वथा नाश है तो भी, बताओ तो, यह किसके कारण विवश होकर उसमें प्रेरित नहीं होता ? यह जो प्रवृत्ति की अनर्थपरिणामता को भी जानकर उसी की ओर प्रवृत्त होता है -- ऐसा परतन्त्रता के बिना कभी देखने में नहीं आता । इसलिए जो कल्याणकामी पुरुष को अनिष्ट कर्म में प्रेरित करता है उसको बताना है, जिससे कि उसका निराकरण किया जा सके । यही अर्थ कहने के लिए 'सोऽकामयत' -- यह आगे की श्रुति है । यह पुरुष अनेक प्रकार के अनर्थों से व्याप्त है और इसको पुरुषार्थ भी प्राप्त नहीं थे, इसलिए इस जड़ = मूढ़ ने अपने को अप्राप्त पुरुषार्थों को साधनों से प्राप्त कराने के लिए कामना की तथा यह अविद्वान् जीव अविद्याजनित कामना से युक्त होकर अपने में आश्रित अनर्थों को त्यागना चाहता है -- ऐसा 'अथो खलु' -- यह श्रुति कहती है । इस संसार में कामना के बिना किसी की कोई क्रिया नहीं देखी जाती । प्राणी जो-जो क्रियाएँ करता है वह काम = कामना की ही चेष्टा होती है । तथा 'यह काम है यह क्रोध है' -- ऐसा स्मृति का भी वचन है । अत: काम के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा प्रवर्तक प्रतीत नहीं होता' इत्यादि ।

अकामत: क्रिया:--' इत्यादि वाक्य मनु का है (मनुस्मृति, 11.127) । शेष सब स्पष्ट ही है ॥ 37 ॥

105 महान् पापी होने के कारण उस काम के वैरित्व = शत्रुत्व को ही दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं --
[जैसे अग्नि धूएँ से, दर्पण मल से और गर्भ उल्व = जरायु = जेर से ढ़का रहता है, वैसे ही यह ज्ञान उस काम से ढ़का हुआ है ॥ 38 ॥]

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

106 तत्र शरीरारम्भात्प्रागन्त:करणस्यालब्धवृत्तिकत्वात्सूक्ष्मः कामः शरीरारम्भकेण कर्मणा स्थूलशरीरावच्छिन्ने लब्धवृत्तिकेऽन्त:करणे कृताभिव्यक्तिः सन्स्थूलो भवति । स एव विषयस्य चिन्त्यमानतावस्थायां पुनः पुनरुद्रिच्यमानः स्थूलतरो भवति । स एव पुनर्विषयस्य भुज्यमानतावस्थायामत्यन्तोद्रेकं प्राप्तः स्थूलतमो भवति । तत्र प्रथमावस्थायां दृष्टान्तः--यथा धूमेन सहजेनाप्रकाशात्मकेन प्रकाशात्मको वह्निराव्रियते । द्वितीयावस्थायां दृष्टान्तः--यथाऽऽदर्शो मलेनासहजेनाऽऽदर्शोत्पत्त्यनन्तरमुद्रिक्तेन । चकारोऽवान्तरवैधर्म्यसूचनार्थं आव्रियत इतिक्रियानुकर्षणार्थश्च । तृतीयावस्थायां दृष्टान्तः--यथोल्बेन जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन सर्वतो निरुध्याऽऽवृतस्तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनेदमावृतम् ।

106 शरीर की रचना होने से पूर्व अन्त:करण अलब्ध वृत्ति होता है, अत: उसमें काम सूक्ष्म रहता है। शरीरारम्भक कर्म से जब अन्त:करण स्थूलशरीरावच्छिन्न होकर वृत्ति लाभ करता है, तो उसमें काम अभिव्यक्त हो जाने पर स्थूल हो जाता है। वही विषय की चिन्त्यमान अवस्था में पुन: पुन: उद्रिच्यमान -- उपचीयमान -- वर्द्धमान होने पर स्थूलतर हो जाता है और वही फिर विषय की भुज्यमान -- भोग करने की अवस्था में अत्यन्त उद्रेक को प्राप्त होकर स्थूलतम हो जाता है। उनमें से प्रथम अवस्था में दृष्टान्त कहते हैं -- जैसे सहज = साथ ही उत्पन्न होनेवाले अप्रकाशात्मक धूएँ से प्रकाशात्मक अग्नि ढ़का रहता है। द्वितीय अवस्था में दृष्टान्त है -- जैसे असहज = साथ ही उत्पन्न न होनेवाले मल से दर्पण ढ़का रहता है, जो कि दर्पण की उत्पत्ति के अनन्तर -- पश्चात् उत्पन्न होता है। यहाँ चकार उसका अवान्तर वैधर्म्य सूचित करने के लिए है और 'आव्रियते' इस क्रिया पद का अनुकर्षण करने के लिए है। तृतीय अवस्था में दृष्टान्त है -- जैसे उल्ब = जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन अतिस्थूल चर्म से गर्भ सब ओर से रोककर आवृत रहता है, वैसे ही इन तीनों ही प्रकार से उस काम से इदम्[46] = यह ज्ञान आवृत है।

46. 'इदम्' शब्द से आत्मा के सत्, चित् और आनन्द – ये तीनों स्वरूप विवक्षित हैं। एतदनुरूप ही तीन दृष्टान्त हैं – जैसे – धूम अग्नि के साथ-साथ उत्पन्न होता है और अपने स्वभाव के अनुसार अपने ही उत्पत्ति-स्थान अग्नि को ढ़क देता है वैसे ही काम ज्ञान से उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञान ही एकमात्र सद्वस्तु है, यह ज्ञान-सत्ता ही माया के द्वारा अनेक रूपों में परिणत होकर परिच्छिन्न शब्दादि विषय के रूप में प्रतिभासित होती है और उन शब्दादि विषयों में अनुकूलत्व बोध होने से उन विषयों के प्रति काम का उदय होता है अर्थात् ज्ञान की सत्ता से ही काम सत्तावान् होता है। ज्ञान से उत्पन्न काम अपने उत्पत्ति-स्थान प्रकाशात्मक ज्ञान को अपने स्वभाव के अनुसार आवृत करता है अर्थात् अखंडाद्वय ज्ञान सत्ता को = सत्स्वरूप आत्मा को उपलब्ध होने में बाधा डालकर परिच्छिन्न विषय के रूप में खण्डित तथा विकारी कर देता है। जैसे दर्पण मुखादि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर दर्शक के लिए आनन्दकर होता है किन्तु मल से आवृत हो जाने पर वह दर्पण उसी प्रतिबिम्ब को ग्रहण भी नहीं कर पाता है वैसे ही चित्तरूप दर्पण में भी कामरूप मल जम जाने पर उसकी स्वच्छता को आवृत कर आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में बाधा देता है अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्माको प्रकाशित नहीं होने देता है। जैसे अचेतन जरायु चेतन भ्रूण को चारों ओर से आवृत करके रखता है वैसे ही काम और उससे उत्पन्न संकल्प आदि अचेतन होने पर भी चेतन ज्ञान को प्रकाशित न होने देकर सभी प्रकार से आवृत करके रखता है।

किसी के मत में 'इदम्' शब्द से जीव, ईश्वर और अन्त:करण – ये तीन विवक्षित हैं। एतदनुरूप ही तीन दृष्टान्त हैं – जैसे धूम से आवृत प्रकाशात्मक भी अग्नि दूसरे को प्रकाशित नहीं करती है वैसे ही परमात्मा सर्वप्रकाशक

107 अत्र धूमेनाऽऽवृतोऽपि वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यं करोति । मलेनाऽऽवृतस्त्वादर्शः प्रतिबिम्बग्रहणलक्षणं स्वकार्यं न करोति । स्वच्छताधर्ममात्रतिरोधानात्स्वरूपतस्तूपलभ्यत एव । उल्बेनाऽवृतस्तु गर्भो न हस्तपादादिप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति विशेषः ॥ 38 ॥

108 तथा तेनेदमावृतमिति संग्रहवाक्यं विवृणोति–

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

109 ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमन्तःकरणं विवेकविज्ञानं इदंशब्दनिर्दिष्टमेतेन कामेनाऽऽवृतम् । तथाऽप्यापाततः सुखहेतुत्वादुपादेयः स्यादित्यत आह--ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । अज्ञो हि विषयभोगकाले कामं मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते वैरित्वं जानाति कामेनाहं दुःखित्वमापादित इति । ज्ञानी तु भोगकालेऽपि जानात्यनेनाहमनर्थे प्रवेशित इति । अतो विवेकी दुःखी भवति भोगकाले च तत्परिणामे चानेनेति ज्ञानिनोऽसौ नित्यवैरीति सर्वथा तेन हन्तव्य एवेत्यर्थः ।

107 इन दृष्टान्तों में अग्नि धूएँ से आवृत होने पर भी दाहादिरूप अपना कार्य करता है, किन्तु मल से आवृत दर्पण प्रतिबिम्बग्रहणरूप अपना कार्य नहीं करता, क्योंकि उसके स्वच्छतारूप धर्म का ही तिरोधान हो जाता है, किन्तु स्वरूपतः तो उसकी उपलब्धि होती ही है । उल्ब से आवृत गर्भ तो न हाथ-पैर फैलानारूप अपना कार्य करता है और न स्वरूप से दिखाई ही देता है -- यह विशेष-भेद है ॥ 38 ॥

108 'तथा तेनेदमावृतम्' = 'वैसे ही यह उससे आवृत है' -- इस संग्रहवाक्य को स्पष्ट करते हैं -- [हे कौन्तेय ! इस अग्निसदृश न पूर्ण = तृप्त होनेवाले कामरूप ज्ञानी के नित्यवैरी से ज्ञान ढ़का हुआ है ॥ 39॥]

109 जिसके द्वारा जाना जाय उसे 'ज्ञान' कहते हैं । वह ज्ञान -- अन्तःकरण अथवा विवेक विज्ञान ही पूर्वश्लोक में 'इदम्' (यह) शब्द से निर्दिष्ट है । यही इस काम से ढ़का हुआ है । तथापि आपाततः = तत्काल सुख का हेतु होने से यदि कोई कहे कि यह उपादेय है तो कहते हैं -- 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा' = 'काम ज्ञानी का नित्य वैरी है', क्योंकि अज्ञानी पुरुष विषयभोग के समय काम को मित्र के समान देखता है, किन्तु उसके कार्य दुःख को प्राप्त होने पर उसके वैरित्व को जानता है कि काम ने ही मुझे इस दुःखावस्था को प्राप्त कराया है । ज्ञानी तो भोग के समय भी जानता है कि इसी ने मुझको अनर्थ में फंसाया है । अतः विवेकी पुरुष भोगकाल में और उसके परिणाम में भी इससे दुःखी रहता है, इसलिए यह ज्ञानी का नित्यवैरी है; अतः भावार्थ यह है कि ज्ञानी को तो सर्वथा काम का नाश कर ही डालना चाहिए ।

स्वयंप्रकाश होने पर भी काम से आवृत होकर दूसरे को स्फुट प्रकाशित नहीं होता है । जैसे दर्पण मल से आवृत होकर मुखादि को प्रकाशित नहीं करता है वैसे ही काम से आवृत अन्तःकरण परमात्मा के साक्षात्कार का हेतु नहीं होता है । जैसे उल्ब से आवृत गर्भ अपने हस्तपादादि को प्रसारित नहीं कर सकता है वैसे ही काम से आवृत जीव ईश्वरादि के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है ।

110 तर्हि किंस्वरूपोऽसावित्यत आह--कामरूपेण। काम इच्छा तृष्णा सैव रूपं यस्य तेन। हे कौन्तेयेति संबन्धाविष्कारेण प्रेमाणं सूचयति। ननु विवेकिनो हन्तव्योऽप्यविवेकिन उपादेयः स्यादित्यत आह--दुष्पूरेणानलेन च। चकार उपमार्थः। न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः। स यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथाऽयमपि भोगेनेत्यर्थः। अतो निरन्तरं संतापहेतुत्वाद्विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि हेय एवासौ। तथा च स्मृतिः--

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' इति।

अथवेच्छाया विषयसिद्धिनिवर्त्यत्वादिच्छारूपः कामो विषयभोगेन स्वयमेव निवर्तिष्यते किं तत्रातिनिर्बन्धेनेत्यत उक्तं--दुष्पूरेणानलेन चेति। विषयसिद्ध्या तत्कालमिच्छातिरोधानेऽपि पुनः प्रादुर्भावात्र विषयसिद्धिरिच्छानिवर्तिका। किं तु विषयदोषदृष्टिरेव तथेति भावः॥ 39॥

111 ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन स जेतुं शक्यत इति तदधिष्ठानमाह--

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ 40॥

---

110 'अच्छा तो उसका स्वरूप क्या है' ? — इसपर कहते हैं --- 'कामरूपेण' = 'वह कामरूप है'। काम इच्छा तृष्णा यही है रूप जिसका एवंरूप 'काम' है, उससे ज्ञान आवृत है। "हे कौन्तेय !"-- इस सम्बोधन से अपना सम्बन्ध व्यक्त करते हुए भगवान् अर्जुन के प्रति अपना प्रेमातिशय प्रकट करते हैं। यहाँ चकार उपमार्थक है। 'न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः" = जिसका अलं = पर्याप्ति न हो वह अनल -- वह्नि है। जैसे वह्नि -- अग्नि की पूर्ति = तृप्ति हविःप्रदान से असम्भव है वैसे ही काम की तृप्ति भोग से नहीं हो सकती -- यह अभिप्राय है। अतः निरन्तर सन्ताप का हेतु होने से यह काम विवेकी के समान अविवेकी के लिए भी है हेय = त्याज्य ही है। ऐसा ही स्मृति कहती है -- 'भोगों की कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, जैसे हविः से अग्नि प्रज्वलित होता है वैसे ही भोगों के उपभोग से तो वह काम और भी वृद्धि को प्राप्त होता है' (मनुस्मृति, 2.94)।

अथवा, कोई यह कहे कि 'विषय की सिद्धि = प्राप्ति से तो इच्छा की निवृत्ति हो जाती है, अतः विषयों के भोग से इच्छारूप काम स्वयं ही निवृत्त हो जायेगा, उसके लिए विशेष आग्रह करने की क्या आवश्यकता है ?' -- इसीलिए 'दुष्पूरेणानलेन च' = 'काम अग्निसदृश न पूर्ण = तृप्त होने वाला है' -- यह कहा है। विषय की सिद्धि = प्राप्ति होने पर तो उस समय इच्छा निवृत्त हो जाने पर भी उसका पुनः-पुनः प्रादुर्भाव होता रहता है, अतः विषयसिद्धि इच्छा को निवृत्त करनेवाली नहीं है, किन्तु विषयदोषदृष्टि ही इच्छा को निवृत्त करनेवाली है -- यह भाव है॥ 39॥

111 क्योंकि शत्रु का अधिष्ठान = निवासस्थान ज्ञात होने पर उसको सुख से जीता जा सकता है, इसलिए उस काम का अधिष्ठान कहते हैं --

[इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि -- ये इस काम के अधिष्ठान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आवृत करके इस देही = देहाभिमानी जीव को मोहित करता है॥ 40॥]

112 इन्द्रियाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि वचनादानगमनविसर्गानन्दजनकानि वागादीनि च । मनः संकल्पात्मकं बुद्धिरध्यवसायात्मिका च । अस्य कामस्याधिष्ठानमाश्रय उच्यते । यत एतैरिन्द्रियादिभिः स्वस्वव्यापारवद्भिराश्रयैर्विमोहयति विविधं मोहयति एष कामो ज्ञानं विवेकज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य देहिनं देहाभिमानिनम् ॥ 40 ॥

113 यस्मादेवम्–यस्मादिन्द्रियाधिष्ठानः कामो देहिनं मोहयति–

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

114 तस्मात्त्वमादौ मोहनात्पूर्वं कामनिरोधात्पूर्वमिति वा । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि नियम्य वशीकृत्य, तेषु हि वशीकृतेषु मनोबुद्ध्योरपि वशीकरणं सिध्यति संकल्पाध्यवसाययोर्बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैवानर्थहेतुत्वात् । अत इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरिति पूर्वं पृथङ्निर्दिश्यापीहेन्द्रियाणीत्येतावदुक्तम् । इन्द्रियत्वेन तयोरपि संग्रहो वा । हे भरतर्षभ महावंशप्रसूतत्वेन समर्थोऽसि । पाप्मानं सर्वपापमूलभूतमेनं कामं वैरिणं प्रजहिहि परित्यज हि

112 इन्द्रियाँ = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करनेवाली श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द को उत्पन्न करने वाली वागादि कर्मेन्द्रियाँ, संकल्पात्मक मन और अध्यवसायात्मिका बुद्धि -- ये इस काम के अधिष्ठान = आश्रय कहे जाते हैं, क्योंकि यह काम इन स्वस्वव्यापारविशिष्ट इन्द्रियादिरूप आश्रयों से ज्ञान = विवेकज्ञान को आवृत = आच्छादित करके इस देही = देहाभिमानी जीव को मोहित करता है[47] ॥ 40 ॥

113 क्योंकि ऐसा है = क्योंकि इन्द्रियरूप अधिष्ठानवाला काम देही को मोहित करता है –
[इसलिए हे भरतर्षभ ! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाले सम्पूर्ण पापों के मूल इस काम को प्रकर्षपूर्वक मारो ॥ 49 ॥]

114 इसलिए तुम पहले = मोहन -- मोहग्रस्त होने से पहले अथवा कामनिरोध से पहले ही श्रोत्रादि इन्द्रियों को नियत = वश में करके, क्योंकि उन इन्द्रियों को वश में करने पर मन और बुद्धि का भी वशीकरण अनायास ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि संकल्प और अध्यवसायरूप मन और बुद्धि के व्यापार बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ही अनर्थ के हेतु होते हैं । इसीलिए पहले 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' -- इसप्रकार तीनों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके भी यहाँ मात्र 'इन्द्रियाणि' इतना ही कहा है । अथवा इन्द्रियरूप होने से मन और बुद्धि का भी इन्द्रियों में संग्रह -- समावेश हो सकता है । हे भरतर्षभ ! = महान वंश में जन्म लेने के कारण तुम सामर्थ्यवान् हो -- यह उक्त सम्बोधन का अर्थ है । अतः पाप्मा = सम्पूर्ण पापों के मूलभूत इस कामरूप वैरी -- शत्रु को प्रजहि हि = परित्यज हि = त्याग ही दो -- स्फुटं प्रजहि = स्फुटतया नष्ट कर दो अथवा प्रकर्षपूर्वक मार दो, क्योंकि 'जहि शत्रुम्' -- इस प्रकार इस अध्याय का उपसंहार किया है । और फिर यह काम ज्ञान = शास्त्र और आचार्य के उपदेश

47. यहाँ भाव यह है कि काम सर्वप्रथम इन्द्रियों में आता है, तदनन्तर मन संकल्प करता है, ततः बुद्धि में विश्वास द्वारा ज्ञान = विवेकज्ञान को आवृत = आच्छादित करके देही = आत्मा को मोहित कर तदनिष्ट में प्रवृत्त कराता है । अतः सर्वप्रथम इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए, जिससे क्रोधादि इन्द्रियों में प्रकट न हो सके । यह चेष्टा मोहग्रस्त होने से पहले अथवा कामनिरोध से पहले ही करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों को वश में करने पर मन और बुद्धि का भी वशीकरण अनायास ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि संकल्प और अध्यवसाय रूप मन और बुद्धि के व्यापार बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ही अनर्थ के हेतु होते हैं ।

स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारयेति वा । जहि शत्रुमित्युपसंहाराच्च । ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षं विज्ञानमपरोक्षं तत्फलं तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयःप्राप्तिहेत्वोर्नाशनम् ॥ 41 ॥

115 ननु यथाकथंचिद्बाह्येन्द्रियनियमसंभवेऽप्यान्तरतृष्णात्यागोऽतिदुष्कर इति चेत् । न, 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र परदर्शनस्य रसाभिधानीयकतृष्णात्यागसाधनस्य प्रागुक्तेः । तर्हि कोऽसौ परो यद्दर्शनात्तृष्णानिवृत्तिरित्याशङ्क्य शुद्धमात्मानं परशब्दवाच्यं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति--

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ 42 ॥

116 श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च स्थूलं जडं परिच्छिन्नं बाह्यं च देहमपेक्ष्य पराणि सूक्ष्मत्वात्प्रकाशकत्वाद्व्यापकत्वादन्तःस्थत्वाच्च प्रकृष्टान्याहुः पण्डिताः श्रुतयो वा । तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः संकल्पविकल्पात्मकं तत्प्रवर्तकत्वात् । तथा मनसस्तु परा बुद्धिरध्यवसायात्मिका । अध्यवसायो हि निश्चयस्तत्पूर्वक एव संकल्पादिर्मनोधर्मः । यस्तु बुद्धेः परतस्तद्भास- कत्वेनावस्थितो यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तं स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा । 'स एष इह प्रविष्टः' इतिवद्व्यवहितस्यापि देहिनस्तदा परामर्शः ।

से समुत्पन्न परोक्षात्मक ज्ञान तथा विज्ञान= उक्त ज्ञान का फलभूत अपरोक्षात्मक ज्ञान -- इन दोनों ज्ञान और विज्ञान को, जो श्रेयःप्राप्ति के हेतु हैं, नष्ट करने वाला है, अतः इस काम का हनन युक्त ही है ।। 41 ।।

115 यदि यह कहो कि 'किसी न किसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों का नियमन तो संभव भी हो सकता है, किन्तु आन्तरिक तृष्णा का त्याग होना तो अत्यन्त दुष्कर -- कठिन है', तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता, 2.59) -- इस पूर्व श्लोक में 'परदर्शन = परमात्मदर्शन रससंज्ञक तृष्णा के त्याग का साधन है' -- यह पहले कह चुके हैं । अतः ऐसी आशंका करके कि 'तो फिर वह 'पर' क्या है ? जिसके दर्शन से तृष्णा की निवृत्ति होती है' -- ' पर' शब्द वाच्य शुद्ध आत्मा को देहादि से पृथक् करके दिखलाते हैं --

[पण्डितों अथवा श्रुतियों का कथन है कि इन्द्रियाँ स्थूल देह की अपेक्षा पर = श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन पर है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से पर है वह तो वही परमात्मा ही है ।। 42 ।।]

116 पण्डितों अथवा श्रुतियों ने श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों को सूक्ष्म, प्रकाशक, व्यापक और अन्तःस्थ होने के कारण स्थूल, जड़, परिच्छिन्न और बाह्य देह की अपेक्षा पर = प्रकृष्ट -- श्रेष्ठ कहा है । तथा इन्द्रियों की अपेक्षा संकल्प -- विकल्पात्मक मन पर = श्रेष्ठ है, क्योंकि वह इन्द्रियों का प्रवर्तक है । तथा मन से भी पर = श्रेष्ठ = अध्यवसायात्मिका बुद्धि है, क्योंकि अध्यवसाय निश्चय को कहते हैं और तत्पूर्वक = निश्चयपूर्वक ही संकल्पादि मन के धर्म होते हैं । तथा जो बुद्धि से भी पर = श्रेष्ठ है = उसका भासक होने से अवस्थित = विद्यमान है; जिस देही को इन्द्रियादिरूप आश्रयों से युक्त काम उसके ज्ञान का आवरण करके मोहित करता है -- ऐसा कहा है वह बुद्धि का द्रष्टा पर आत्मा है । 'स एष इह प्रविष्टः' = 'वह यह आत्मा इस देह में प्रविष्ट है' -- इस श्रुति-वचन के अनुसार यद्यपि बुद्धि और आत्मा के बीच में महत्तत्त्व और अव्यक्त का व्यवधान है तो भी तत्तच्छब्द से आत्मा का परामर्श -- ग्रहण होता है ।

117 अत्रार्थे श्रुतिः--

> **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।**
> **मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥**
> **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।**
> **पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'**
>
> **(कठ० 1.3.10,11) इति ॥**

अत्राऽऽत्मनः परत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यविषयत्वादिन्द्रियादिपरत्वस्याविवक्षितत्वादिन्द्रियेभ्यः परा अर्था इति स्थानेऽर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणीति विवक्षाभेदेन भगवदुक्तं न विरुध्यते । बुद्धेरस्मदादिव्यष्टिबुद्धेः सकाशान्महानात्मा समष्टिबुद्धिरूपः परः 'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः' इति वायुपुराणवचनात् । महतो हैरण्यगर्भ्या बुद्धेः परमव्यक्तमव्याकृतं सर्वजगद्बीजं मायाख्यं 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति च । अव्यक्तात्सकाशात्सकलजडवर्गप्रकाशकः पुरुषः पूर्ण आत्मा परः । तस्मादपि कश्चिदन्यः परः स्यादित्यत आह--पुरुषान्न परं किंचिदिति । कुत एवं यस्मात्सा काष्ठा समाप्तिः सर्वाधिष्ठानत्वात् । सा परा गतिः 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा परा गतिरपि सैवेत्यर्थः । तदैतत्सर्वं 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यनेनोक्तम् ॥42 ॥

---

117 इस अर्थ में श्रुति भी है -- 'इन्द्रियों की अपेक्षा विषय पर हैं, विषयों से मन पर है, मन से बुद्धि पर है, बुद्धि से पर महान् आत्मा है, महत् से पर अव्यक्त है, और अव्यक्त से पुरुष पर है । पुरुष से पर कुछ भी नहीं है, वही परत्व की काष्ठा -- सीमा और परा गति है' (कठ०, 1.3.10-11) । यहाँ वाक्य का तात्पर्य आत्मा की परता -- उत्कृष्टता -- श्रेष्ठता बताना ही है, इन्द्रियादि की परता -- श्रेष्ठता बताना नहीं है, अतः भगवान् ने यदि विवक्षाभेद से 'इन्द्रियेभ्यः परा अर्था' -- इसके स्थान पर 'अर्थेभ्यः पराणीन्द्रियाणि' -- कहा है तो वहाँ अर्थ में कोई विरोध नहीं है । बुद्धि अर्थात् हम लोगों की व्यष्टि बुद्धि की अपेक्षा समष्टि बुद्धिरूप महान्[48] आत्मा पर = श्रेष्ठ है । वायुपुराण के वचन के अनुसार -- 'मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पुर्, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर -- ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं' । महत्तत्त्व अर्थात् हिरण्यगर्भ की बुद्धि की अपेक्षा अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् मायासंज्ञक सम्पूर्ण जगत् का बीज पर -- श्रेष्ठ है; जैसा कि श्रुति कहती है -- 'माया को तो प्रकृति समझना चाहिए', 'उस समय यह जगत् अव्याकृत था' । अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण जड वर्ग का प्रकाशक पुरुष = पूर्ण आत्मा पर -- श्रेष्ठ है । उस पुरुष से भी पर -- श्रेष्ठ कोई और होगा ? -- ऐसी शंका हो सकने के कारण कहते हैं -- 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' = 'पुरुष से पर -- श्रेष्ठ कोई नहीं हैं' -- ऐसा श्रुति कहती है । ऐसा क्यों है ? -- क्योंकि वह पुरुष काष्ठा = समाप्ति है, कारण कि वह समस्त जगत् का अधिष्ठान होने से परा गति है । तात्पर्य यह है कि 'वह संसारमार्ग के पार = अन्त को प्राप्त करता है, वही विष्णु का परम पद है' -- इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परा गति भी वही है । यह सब 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' -- इस वाक्य से कहा गया है ॥ 42 ॥

---

48. यहाँ 'महान्' शब्द से बुद्धि अर्थ विवक्षित है, किन्तु बुद्धि से बुद्धि में परत्व = श्रेष्ठत्व नहीं हो सकता है, अतः प्रथम बुद्धि से तात्पर्य हम लोगों की व्यष्टि बुद्धि है, इसकी अपेक्षा पर = श्रेष्ठ महान् आत्मा समष्टि बुद्धिरूप है ।

118 फलितमाह--

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ 43 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

---

119 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यत्र यः परशब्देनोक्तस्तमेवंभूतं पूर्णमात्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा साक्षात्कृत्य संस्तभ्य स्थिरीकृत्याऽऽत्मानं मन आत्मनैतादृशनिश्चयात्मिकया बुद्ध्या जहि मारय शत्रुं सर्वपुरुषार्थशातनं हे महाबाहो महाबाहोर्हि शत्रुमारणं सुकरमिति योग्यं संबोधनम् । कामरूपं तृष्णारूपं दुरासदं दुःखेनाऽऽसादनीयं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति यत्नाधिक्याय विशेषणम् ॥ 43 ॥

120 उपायः कर्मनिष्ठाऽऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता । उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ 3 ॥

---

118 अब इसका फलितार्थ कहते हैं --
[हे महाबाहो ! इसप्रकार आत्मा को बुद्धि से पर -- श्रेष्ठ जानकर आत्मा = मन का संयमकर आत्मा से = निश्चयात्मिका बुद्धि से इस कामरूप दुरासद = दुर्जय शत्रु को मारो ॥ 43 ॥]

119 'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' = 'पर का दर्शन करके इसका रस भी निवृत्त हो जाता है' – इस वाक्य में जो 'पर' शब्द से कहा गया है उस एवंभूत = उक्त गुणविशिष्ट पूर्ण आत्मा को बुद्धि से पर -- श्रेष्ठ जानकर = साक्षात् अनुभव कर आत्मा = मन को संस्तभ्य = सम्यक् प्रकार से स्तम्भित = स्थिर करके आत्मा = एतादृश = ऐसी -- पूर्वोक्त निश्चयात्मिका बुद्धि से सकल पुरुषार्थ के नाशक इस कामरूप = तृष्णारूप दुरासद = दुःख से आसादनीय, दुर्विज्ञेय, अनेक विशेषताओं वाले शत्रु को मार दो । यहाँ काम के विशेषण उसके हननार्थ विशेष यत्न की आवश्यकता सूचित करने के लिए हैं । 'हे महाबाहो !' -- यह सम्बोधन उचित ही है, क्योंकि महाबाहु = विशाल बाहुवाले के लिए शत्रु को मारना सुगम होता है ॥ 43 ॥

120 इस अध्याय में ज्ञान की उपायभूता कर्मनिष्ठा का प्रधानता से निरूपण किया है और उसकी उपेयभूता ज्ञाननिष्ठा का उसके गुणरूप से उल्लेख किया है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का कर्मयोग नामक तृतीय अध्याय समाप्त होता है ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

1 **यद्यपि पूर्वमुपेयत्वेन ज्ञानयोगस्तदुपायत्वेन च कर्मयोग इति द्वौ योगौ कथितौ तथाऽपि 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इत्यनया दिशा साध्यसाधनयोः फलैक्यादैक्यमुपचर्य साधनभूतं कर्मयोगं साध्यभूतं च ज्ञानयोगमनेकविधगुणविधानाय स्तौति वंशकथनेन भगवान् --**

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ 1 ॥

2 **इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मनिष्ठोपायलभ्यं विवस्वते सर्वक्षत्रियवंश-बीजभूतायाऽऽदित्याय प्रोक्तवान्प्रकर्षेण सर्वसंदेहोच्छेदादिरूपेणोक्तवानहं भगवान्वासुदेवः सर्वजगत्परिपालकः सर्गादिकाले राज्ञां बलाधानेन तदधीनं सर्वं जगत्पालयितुम् । कथमनेन**

1 यद्यपि पहले उपेयरूप से ज्ञानयोग और उसके उपायरूप से कर्मयोग - इन दोनों योगों को कहा है, तथापि 'जो पुरुष सांख्य =ज्ञानयोग और योग = कर्मयोग को फलरूप में एक ही देखता है, वही यथार्थ देखता है'[1] --- इस वचन के अनुसार साध्य = ज्ञानयोग और साधन = कर्मयोग -- इन दोनों के फल = मोक्ष की एकता से इनकी भी एकता का उपचार कर अनेक प्रकार के गुणों का विधान करने के लिए साधनभूत कर्मयोग और साध्यभूत ज्ञानयोग की, वंश कथन द्वारा भगवान् स्तुति करते हैं -----

[श्रीभगवाल् बोले --- हे अर्जुन ! मैंने इस अव्यय= अविनाशी योग को सृष्टि के आदि में सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ॥ 1 ॥

2 मैंने = सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करने वाले भगवान् वासुदेव ने इस = इससे पूर्व के दो अध्यायों में उक्त --- द्वितीय और तृतीय अध्यायों में उक्त कर्मनिष्ठारूप उपाय से लभ्य = प्राप्त होने वाले ज्ञाननिष्ठारूप योग को सृष्टि के आदि - आरम्भकाल में राजाओं में इससे बलाधान = बल का सञ्चार कर उनके अधीन सम्पूर्ण जगत् का पालन करने के लिए समस्त क्षत्रियवंश के बीजभूत विवस्वान्[2] = आदित्य[3] सूर्य से प्रोक्तवान् = प्र -- प्रकर्ष से अर्थात् सभी प्रकार के सन्देहों की निवृत्ति आदि करते हुए उक्तवान् = कहा था । इससे = इस योग से बलाधान = बल का संचार कैसे होता है --- यह इस योग के विशेषण 'अव्यय' से दिखलाते हैं । जो अव्यय -- अविनाशी वेदमूलक होने से अथवा अव्यय मोक्षरूप फलवाला होने से [4] अव्यय है । अथवा जो 'न व्येति

1. गीता, 5.5 ।

2. विवस्वान् = विशेषेण वस्ते आच्छादयति = वि+वस् +क्विप् । विवस्तेजोऽस्यास्तीति, विवस् + मतुप्, मस्य वः, 'तसौ मत्वर्थे' (पाणिनिसूत्र, 1.4.19) इति भत्वादुत्वाभावः = सूर्यः ।

3. आदित्यः = अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् +ण्य = सूर्यः ।

4. यहाँ यह शंका हो सकती है कि साध्य तो साधन के द्वारा सिद्ध होने के कारण अनित्य होता है , अतः मोक्ष भी ज्ञानसाध्य होने के कारण नित्य नहीं होगा, तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार के अनुमान का यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि यह अनुमान 'न स पुनरावर्तते' ='मोक्ष पाकर वह फिर संसार में लौटकर नहीं आता' --- इस श्रुति से बाधित हो जाता है । इस श्रुति का अभिप्राय यह है कि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन रूप योग के द्वारा जिस मोक्ष की प्राप्ति होती है उसका व्यय = नाश नहीं होता है, इस कारण ज्ञान अव्यय फल= अक्षय्य --- अविनाशी मोक्षरूप फल का ही हेतु होता है ।

बलाधानमिति विशेषणेन दर्शयति--अव्ययमव्ययवेदमूलत्वादव्ययमोक्षफलत्वाच्च न व्येति स्वफलादित्यव्ययमव्यभिचारिफलम् । तथाचैतादृशेन बलाधानं शक्यमिति भावः ।

3 **स च मम शिष्यो विवस्वान्मनवे वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह । स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्राया-ऽऽदिराजायाब्रवीत् । यद्यपि प्रतिमन्वन्तरं स्वायंभुवमन्वादिसाधारणोऽयं भागवदुपदेशस्तथाऽपि सांप्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेणाऽऽदित्यमारभ्य संप्रदायो गणितः ॥ 1 ॥**

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ 2 ॥

4 **एवमादित्यमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं योगं राजानश्च त ऋषयश्चेति राजर्षयः प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमा निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिप्रोक्तं विदुः । तस्मादनादिवेदमूलत्वेनानन्त-**

व्यभिचरति स्वफलात्' = अपना फल देने से इधर-उधर नहीं होता अर्थात् अवश्य फल देने वाला है । इस प्रकार ऐसे योग से बलाधान = बल का सञ्चार हो सकता है -- यह भाव है ।

3 फिर मेरे शिष्य उस विवस्वान् = सूर्य ने यह योग अपने पुत्र वैवस्वत[5] = मनु से कहा । और उस मनु ने इसको अपने पुत्र आदिराज इक्ष्वाकु से कहा[6] । यद्यपि भगवान् का यह उपदेश प्रत्येक मन्वन्तर[7] में स्वायम्भुव[8] मनु आदि के लिए भी समानरूप से होता है, तथापि सांप्रतिक वैवस्वत मन्वन्तर के अभिप्राय से सूर्य से लेकर ही इसके सम्प्रदाय की गणना की गई है ॥1॥

[हे परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षि जानते थे, किन्तु अब बहुत समय हो जाने के कारण वह योग नष्ट = लुप्त हो गया है ॥ 2 ॥

4 इस प्रकार सूर्य से लेकर गुरु - शिष्य - परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को जो राजा भी थे और ऋषि भी थे वे निमिप्रमुख राजर्षि,[9]--- जो प्रभुता होने पर भी सूक्ष्म विषयों के निरीक्षण में समर्थ

5. वैवस्वत = विवस्वतोऽपत्यमिति -- विवस्वत् + अण् = सप्तमो मनुः, यथा रघुवंशे, 1.11--- 'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्' । विष्णुपुराणे चतुर्दश मनव उक्तास्तन्नामानि यथा, ---

"मनुः स्वायंभुवो नाम मनुः स्वारोचिषस्तथा ।
औत्तमिस्तामसिश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥
एते तु मनवोऽतीताः सप्तमस्तु रवे सुतः ।
वैवस्वतोऽयं यस्यैतत् सप्तमं वर्तते युगम् ॥
सावर्णिर्दक्षसावर्णो ब्रह्मसावर्ण इत्यपि
धर्मसावर्णरुद्रस्तु सावर्णो रौच्यभौत्यवत् ॥"।

6. 'स्वयं तीर्णोऽपरान् तारयति' = 'स्वयं संसार से उत्तीर्ण होकर दूसरों का त्राण करते हैं'---- इस न्याय के अनुसार सूर्य ने इस योग को मनु से, और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा था ।

7. 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः' (अमरकोष, 1.22) = 'देवताओं के इकहत्तर युग का 'मन्वन्तर' अर्थात् चौदह मनुओं में से प्रत्येक मनु का स्थितिकाल होता है । मनु ने कहा है --

'यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ (मनुस्मृति, 1.79)

'जो 12,000 दिव्य वर्ष = मनुष्यों के चारों युगों के परिमाण -43,20.000 वर्ष का ' देवों का युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाण को इस शास्त्र में 'मन्वन्तर' कहा गया है ।' इस प्रकार 12,000 दिव्य वर्ष = 1 दैव युग = 43,20,000 मानुषवर्ष या मानुष चतुर्युग परिमाण × 71 = 8,52,000 दिव्य वर्ष = 71 दैव युग = 30,67, 20.000 मानुष वर्ष एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण होता है ।

8. स्वायम्भुवः = स्वयम्भुवोऽपत्यमिति; स्वयम्भू + अण् ; संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वात् न गुणः ; = प्रथमोमनुः ।

फलत्वेनानादिगुरुशिष्यपरम्पराप्राप्तत्वेन च कृत्रिमत्वशङ्कानास्पदत्वान्महाप्रभावोऽयं योग इति श्रद्धातिशयाय स्तूयते ।

5 **स एवं महाप्रयोजनोऽपि योगः कालेन महता दीर्घेण धर्महासकरेणेहेदानीमावयोर्व्यवहारकाले द्वापरान्ते दुर्बलानजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो नष्टो विच्छिन्नसंप्रदायो जातः । तं विना पुरुषार्थाप्राप्तेरहो दौर्भाग्यं लोकस्येति शोचति भगवान् । हे परंतप परं कामक्रोधादिरूपं शत्रुगणं शौर्येण बलवता विवेकेन तपसा च भानुरिव तापयतीति परंतपः शत्रुतापनो जितेन्द्रिय इत्यर्थः । उर्वश्युपेक्षणाद्यद्भुतकर्मदर्शनात् । तस्मात्त्वं जितेन्द्रियत्वादत्राधिकारीति सूचयति ॥ 2 ॥**

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ 3 ॥

6 **य एवं पूर्वमुपदिष्टोऽप्यधिकार्यभावाद्विच्छिन्नसंप्रदायोऽभूत् । यं विना च पुरुषार्थो न लभ्यते । स एवायं पुरातनोऽनादिगुरुपरम्परागतो योगोऽद्य संप्रदायविच्छेदकाले मयाऽतिस्निग्धेन ते तुभ्यं प्रकर्षेणोक्तः । न त्वन्यस्मै कस्मैचित्। कस्मात्, भक्तोऽसि मे सखा चेति, इतिशब्दो हेतौ । यस्मात्त्वं**

थे, अपने पिता आदि के उपदेश करने से जानते थे । अतः अनादिवेदमूलक, अनन्त फलक और अनादि गुरु-शिष्य- परम्परा से प्राप्त होने के कारण कृत्रिमता की शङ्का के योग्य न होने से यह योग महान् प्रभावशाली है -- इस प्रकार इसमें अत्यन्त श्रद्धा की वृद्धि के लिए इसकी स्तुति की गई है ।

5 इस प्रकार महान् प्रयोजनवाला होने पर भी यह योग धर्म का ह्रास करने वाले महान् =दीर्घ काल के कारण इह= इदानीम् = इस समय अर्थात् हमारे व्यवहार के समय -- द्वापर का अन्त आने पर दुर्बल और अजितेन्द्रिय अनधिकारी पुरुषों को प्राप्त होकर काम -- क्रोधादि से अभिभूत = तिरस्कृत होकर नष्ट हो गया है अर्थात् विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया है = इसके सम्प्रदाय का विच्छेद हो गया है । इस ज्ञान -- निष्ठारूप योग के बिना धर्मार्थकामादि पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए भगवान् 'अहो ! लोक का दुर्भाग्य है जो इस योग से वञ्चित हुआ' --- इस प्रकार का दुःख प्रकट करते हैं । हे परंतप = जो पर= कामक्रोधादिरूप आन्तर शत्रुसमुदाय को अपने शौर्य,प्रबल विवेक और तप से सूर्य की भांति तापित करता है -- ऐसे हे परंतप = शत्रुओं को तपानेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय! क्योंकि उर्वशी की उपेक्षा करना आदि तुम्हारे अद्भुत कर्म देखे जाते हैं, इसलिए तुम जितेन्द्रिय होने कारण इस योग के अधिकारी हो --- यह इस सम्बोधन से सूचित करते हैं ।।2।।

[वही यह पुरातन योग आज मैंने तुमको कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिए कि यह ज्ञान उत्तम रहस्य है ।।3।।

6 जो इस प्रकार पूर्वोपदिष्ट भी अधिकारी न रहने से विच्छिन्न सम्प्रदाय हो गया है और जिसके बिना पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है, उसी इस पुरातन = अनादि गुरु - परम्परा से आगत योग

9. जो राजा भी हों और ऋषि भी हों अर्थात् जो भूपति होकर सूक्ष्मार्थदर्शी हों, उनको 'राजर्षि' कहते हैं । इस अर्थ से 'राजर्षि' शब्द ब्राह्मणादि का उपलक्षण है । अथवा 'राजानश्च ऋषयश्च' --- इस प्रकार'राजर्षि' शब्द का द्वन्द्व समास कर राजा लोक भी जानते थे और ऋषिलोक भी जानते थे --- ऐसा अर्थ कर सकते हैं ।

मम भक्तः शरणागतत्वे सत्यत्यन्तप्रीतिमान्सखा च समानवयाः स्निग्धसहायोऽसि सर्वदा भवसि अतस्तुभ्यमुक्त इत्यर्थः अन्यस्मै कुतो नोच्यते तत्राऽऽह-- हे यस्मादेतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यमति गोप्यम् ॥ 3 ॥

7 **या भगवति वासुदेवे मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वानित्यत्वाशङ्का । मूर्खाणां तामपनेतुमनुवदन्नर्जुन आशङ्कते –**

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ 4 ॥

8 **अपरमल्पकालीनमिदानींतनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म शरीरग्रहणं विहीनं च मनुष्यत्वात् । परं बहुकालीनं सर्गादिभवमुत्कृष्टं च देवत्वात्, विवस्वतो जन्म । अत्राऽऽत्मनो जन्माभावस्य प्राग्व्युत्पा-**

को आज = सम्प्रदाय -विच्छेद के समय अत्यन्त स्नेहवान् मैंने तुमको ही प्रकर्ष से = पूर्णरूप से कहा है, किसी अन्य को नहीं । क्यों ? 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' = 'क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो'। 'इति'शब्द यहाँ हेतु अर्थ में है । क्योंकि तुम मेरे भक्त हो[10]--- शरणागत होने के कारण मेरे प्रति अत्यन्त प्रीतिमान् हो और सखा -- समवयस्क अर्थात् सर्वदा स्नेही सहायक हो[11], इसलिए मैंने तुमको ही कहा है --- यह तात्पर्य है । किसी अन्य को यह क्यों नहीं कहा ? इसमें कारण कहते हैं - हि = यस्मात् = क्योंकि यह ज्ञान उत्तम रहस्य[12] = अत्यन्त गोपनीय है ॥ 3॥

7 मूर्खों को जो भगवान् वासुदेव में मनुष्यत्व के कारण असर्वज्ञत्व और अनित्यत्व की आशंका होती है, उसकी निवृत्ति के लिए तदनुवादपूर्वक अर्जुन शङ्का करता है ---

[अर्जुन बोला -- आपका जन्म तो अल्पकालीन अर्थात् अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुकालीन अर्थात् सृष्टि के आरम्भ का है, इसलिए यह मैं कैसे समझूँ कि आपने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य से यह योग कहा था ॥4॥

8. आपका वसुदेव के गृह में जन्म[14] अर्थात् शरीर धारण करना अपर = अल्पकालीन अर्थात् इदानींतन--

10. तुम मेरे भक्त हो अर्थात् भजनशील हो । जैसे – 'शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः' = 'जैसे शिवमय विष्णु है वैसे ही विष्णुमय शिव है'– इस शास्त्र -वचन के अनुसार शिव और विष्णु का अभेद सिद्ध होने कारण शिवस्वरूप मेरा बाहर और अन्दर से निष्कपट श्रद्धा से तुम भजन करते हो । इस कारण तुम मेरे भक्त हो अर्थात् सर्वदा मेरा भजन करना ही तुम्हारा स्वभाव है ।

11. तुम सखा हो अर्थात् कृष्णरूपी सखा के स्मरण और श्रवणादि से तुम्हारा चित्त द्रवीभूत हो जाता है ।

12. यह योग शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान करने वाले गृहस्थ का उत्तम साधन है अर्थात् सर्वोत्तम परब्रह्म की प्राप्ति का कारण है, अतः मुक्ति का भी साधन है । इस कारण यह उत्तम रहस्य है ।

13. यहाँ भगवान् के कहने का तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन ! यह ज्ञाननिष्ठारूप योग उत्तम रहस्य है । यह सभी को प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, केवल अधिकारी को ही कहा जा सकता है । इस रहस्योद्‌घाटन के लिए तुम ही उत्तम अधिकारी हो, क्योंकि (i) तुम परंतप = जितेन्द्रिय हो, (ii) तुम मेरे ही भक्त हो, अतएव मेरे प्रति अतिशय श्रद्धावान् ही हो । इस कारण मैं जो भी कहूँगा तुम संशयहीन होकर उसको ग्रहण करोगे, और (iii) तुम मेरे सखा भी हो, इस कारण तुम्हारा चित्त मेरे प्रति अत्यन्त स्निग्ध = स्नेहयुक्त होने से मेरी वाणी को अनायास ही धारण करेगा और प्रभावित होगा । इसीलिए मैंने इस उत्तम रहस्य को तुमको ही प्रकाशित किया है, अन्य को नहीं ।

दितत्वाद्देहाभिप्रायेणैवार्जुनस्य प्रश्नः । अतः कथमेतद्विजानीयामतिविरुद्धार्थतया । एतच्छब्दार्थमेव विवृणोति—त्वमादौ प्रोक्तवानिति । त्वमिदानींतनो मनुष्योऽसर्वज्ञः सर्गादौ पूर्वतनाय सर्वज्ञायाऽऽदित्याय प्रोक्तवानिति विरुद्धार्थमेतदिति भावः ।

9 अत्रायं निर्गलितोऽर्थः--एतद्देहावच्छिन्नस्य तव देहान्तरावच्छेदेन वाऽऽदित्यं प्रत्युपदेष्टृत्वमेतद्देहेन वा । नाऽऽद्यः । जन्मान्तरानुभूतस्यासर्वज्ञेन स्मर्तुमशक्यत्वात् । अन्यथा ममापि जन्मान्तरानुभूतस्मरणप्रसङ्गः, तव मम च मनुष्यत्वेनासर्वज्ञत्वाविशेषात् । तदुक्तमभियुक्तैः-- 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' इति । नापि द्वितीयः सर्गादाविदानींतनस्य देहस्यासद्भावात् । तदेवं देहान्तरेण सर्गादौ सद्भावसंभवेऽपीदानीं तत्स्मरणानुपपत्तिः । अनेन देहेन स्मरणोपपत्तावपि सर्गादौ सद्भावानुपपत्तिरित्यसर्वज्ञत्वानित्यत्वाभ्यां द्वावर्जुनस्य पूर्वपक्षौ ॥ 4 ॥

10 तत्र सर्वज्ञत्वेन प्रथमस्य परिहारमाह –

वर्तमानकालिक -- आधुनिक है तथा मनुष्यत्व के कारण विहीन अर्थात् देवशरीर से विहीन -- अपकृष्ट है और सूर्य का जन्म पर = बहुकालीन अर्थात् सृष्टि के आरम्भ का है तथा देवत्व के कारण उत्कृष्ट भी है । क्योंकि आत्मा के जन्माभाव की सिद्धि पहले की जा चुकी है, इसलिए यहाँ अर्जुन का प्रश्न देह के अभिप्राय से ही है ।अतः प्रत्यक्षरूपेण विरुद्धार्थक होने से मैं यह कैसे समझूँ कि 'आपने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य से यह योग कहा था' = 'त्वमादौ प्रोक्तवानिति' ऐसा कहकर 'एतद्'शब्द का अर्थ ही स्पष्ट करते हैं । भाव यह है कि आप इदानींतन =इस समय के मनुष्य है, अतएव असर्वज्ञ है, सृष्टि के आरम्भ में आपने अपने पूर्ववर्ती सर्वज्ञ सूर्य से यह योग कहा था -- यह तो स्पष्ट विरुद्धार्थक है ।

9 यहाँ इसका निर्गलित = निचोड़ अर्थ यह है -- इस देह से अवच्छिन्न आपका आदित्य = सूर्य के प्रति उपदेशकत्व देहान्तर के अवच्छेद से है या इसी देह से है ? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य जन्मान्तरानुभूत = जन्मान्तर में अनुभव किए हुए विषय का स्मरण नहीं कर सकता । अन्यथा मुझको भी जन्मान्तरानुभूत विषय का स्मरण होने लगेगा, क्योंकि मनुष्य होने से आपकी और मेरी असर्वज्ञता में तो कोई विशेष = भेद है नहीं । विद्वानों ने ऐसा कहा भी है -- 'जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते' = 'जन्मान्तर में अनुभूत विषय का स्मरण नहीं होता है ।' द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में इदानींतन = इस समय के शरीर की स्थिति नहीं हो सकती । यदि इसप्रकार देहान्तर के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में आपकी स्थिति संभव भी हो तो इस समय उसका स्मरण होना संभव नहीं है । तथा इस देह से स्मरण करना संभव भी हो तो सृष्टि के आरम्भ में इसकी स्थिति नहीं हो सकती । इसप्रकार असर्वज्ञत्व और अनित्यत्व की दृष्टि से अर्जुन के ये दो पूर्वपक्ष हैं ॥ 4 ॥

10 इसमें से सर्वज्ञत्व की दृष्टि से श्रीभगवान् प्रथम पक्ष का परिहार करते हैं :--

[श्रीभगवान् बोले -- हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं । मैं उन सबको जानता हूँ, किन्तु हे परंतप ! तुम नहीं जानते ॥ 5 ॥]

14. यहाँ 'जन्म' शब्द से यह सूचित किया गया है कि जिसका जन्म होता है, नाम व रूप होता है वह माया के अधीन होने के कारण अनित्य, असर्वज्ञ और विकारी अवश्य ही होगा, अतः मूर्खजन वासुदेव कृष्ण को भगवान् के रूप में कभी स्वीकार नहीं करेंगे । इस कारण प्रकृत विषय को स्पष्ट करके समझाकर कहना चाहिए जिससे यह संशय पूर्णरूप से निराकृत हो जाय, यही यहाँ अर्जुन के प्रश्न का अभिप्राय है ।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ 5 ॥

11 जन्मानि लीलादेहग्रहणानि लोकदृष्ट्यभिप्रायेणाऽऽदित्यस्योदयवन्मे मम बहूनि व्यतीतानि तव चाज्ञानिनः कर्मार्जितानि देहग्रहणानि । तव चेत्युपलक्षणमितरेषामपि जीवानां, जीवैक्याभिप्रायेण वा । हेऽर्जुन श्लेषेणार्जुनवृक्षनाम्ना संबोधयन्नावृतज्ञानत्वं सूचयति । तानि जन्मान्यहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो वेद जानामि सर्वाणि मदीयानि त्वदीयान्यन्यदीयानि च । न त्वमज्ञो जीवस्तिरो-

11 लौकिक दृष्टि के अभिप्राय से सूर्य के उदय के समान मेरे बहुत से जन्म = लीला[15] देहग्रहण व्यतीत हो चुके हैं[16] । और अज्ञानी तुम्हारे भी अनेक बार कर्मार्जित देहग्रहण हो चुके हैं । 'तव च' = 'तुम्हारे भी' -- यह कथन 'अन्य जीवों के भी अनेक जन्म हो चुके हैं' -- इसका उपलक्षण है; अथवा, जीवैक्य = जीवों की एकता के अभिप्राय से है । 'हे अर्जुन ! -- इससे श्लेष[17] द्वारा अर्जुनवृक्ष के नाम से संबोधन करके यह सूचित करते हैं कि 'तुम्हारा ज्ञान आवृत है' । उन अपने, तुम्हारे और अन्य जीवों के समस्त जन्मों को मैं[18] सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो जानता हूँ, किन्तु

15. लीला = लयनमिति, ली + सम्पदादित्वात् क्विप् । लियं लातीति, ला + कः । केलिः, विलास : ।

16. श्री भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि जन्म कर्मनिमित्तक होता है, किन्तु भगवान् का तो कोई भी शुभाशुभ कर्म ही नहीं होता, कारण कि मिथ्याज्ञान से राग-द्वेष के कारण शुभाशुभ कर्म होते हैं, भगवान् में मिथ्याज्ञान नहीं होता है, अतः उनका वास्तविक जन्म नहीं होता है, भगवान् तो लीलादेहग्रहण करते हैं – लीलया जन्म ग्रहण करते हैं, इस जन्म को भी लौकिक दृष्टि से जन्म कहा जाता है वैसे ही जैसे कि सूर्य का उदय होता है । सूर्य सदैव आकाश में प्रकाशित रहता है, किन्तु लोक में यह व्यवहार होता है कि सूर्य प्रातःकाल उदय होता है और सायंकाल अस्त होता है, प्रतिदिन सूर्योदयास्त भिन्न-भिन्न माना जाता है । परमार्थतः भगवान् अज = जन्मरहित हैं, उसका किसी प्रकार का देहग्रहण संभव नहीं है, तथापि विभिन्न योनियों में भगवान् के जो जन्म दिखाई देते हैं वे सब उनकी माया का विलास मात्र है ।

17. जहाँ दो भिन्न अर्थों के बोधक समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जाने के कारण एक शब्द के रूप में प्रतीत होते हैं, जैसे – जतु और काष्ठ – दो भिन्न वस्तुएँ हैं, किन्तु कभी-कभी जतु काष्ठ के साथ चिपककर एक हो जाती है, वहाँ शब्दों का श्लेष होने से उसको 'श्लेष' अलंकार कहते हैं ('वाच्यभेदेन भिन्ना युगपद्भाषणस्पृशः । श्लिष्यन्ति शब्दः श्लेषः'– काव्यप्रकाश) । अभिप्राय यह है कि एक बार उच्चरित जो शब्द अनेक अर्थ का बोधक हो उसे 'श्लेष' कहते हैं । प्रकृत में अर्जुन'शब्द श्लिष्ट है, जिससे पार्थ अर्जुन और वृक्षविशेष – दोनों प्रतीत होते हैं । वृक्ष की जड़ता प्रसिद्ध है, अर्जुन वृक्ष के नाम से सम्बोधन कर भगवान् ने अर्जुन का जड़त्व = अज्ञान = आवृतज्ञान सूचित किया है ।

18. मैं जानता हूँ, कारण 'मैं'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव हूँ; मेरी ज्ञानशक्ति पर कोई आवरण नहीं है, इस कारण मुझसे कुछ भी अज्ञात नहीं है । श्रुति कहती है -- 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' = 'विज्ञाता के विज्ञान का कभी लोप नहीं होता है' । 'मैं'सभी जीवों के भीतर सर्वावस्था में नित्य शाश्वत विज्ञाता हूँ, इस कारण मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानता हूँ ।

19. तुम नहीं जानते हो, कारण 'तुम' अज्ञ जीव हो । स्वरूप की दृष्टि से तुममें और मुझमें कोई भेद न होने पर भी तुम्हारी ज्ञानशक्ति अज्ञान के आवरण से आवृत है, इस कारण तुमसे सब कुछ अज्ञात है । इसीकारण तुम अपने को भी नहीं जानते हो ।

20. यहाँ 'परंतप' – इस सम्बोधन से भगवान् ने यह सूचित किया है कि 'अर्जुन अज्ञान की विक्षेप शक्ति के कारण भेद-दृष्टि विशिष्ट होकर पर = शत्रु की कल्पना करके उसका हनन करने के लिए प्रवृत्त है' । वस्तुतः पर = द्वितीय तो कोई नहीं है, 'नान्योऽतो दृष्टा श्रोता' – इत्यादि श्रुति के अनुसार चैतन्य एक ही है, अद्वितीय है और उसका हनन नहीं हो सकता है, जैसा कि गीता में ही भगवान् ने कहा है -- 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' ।

भूतज्ञानशक्तिर्वेत्थ न जानासि स्वीयान्यपि किं पुनः परकीयाणि । हे परंतप परं शत्रुं भेददृष्ट्या परिकल्प्य हन्तुं प्रवृत्तोऽसीति विपरीतदर्शित्वाद्भ्रान्तोऽसीति सूचयति । तदनेन संबोधनद्वयेनाऽऽवरणविक्षेपौ द्वावप्यज्ञानधर्मौ दर्शितौ ॥ 5 ॥

12 **नन्वतीतानेकजन्मवत्त्वमात्मनः स्मरसि चेत्तर्हि जातिस्मरो जीवस्त्वं परजन्मज्ञानमपि योगिनः सार्वात्म्याभिमानेन 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इति न्यायेन संभवति । तथाचाऽऽह वामदेवो जीवोऽपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' इत्यादिदाशतय्याम् । अत एव न मुख्यः सर्वज्ञस्त्वम् । तथाच कथमादित्यं सर्वज्ञमुपदिष्टवानस्यनीश्वरः सन् । न हि जीवस्य मुख्यं सार्वज्ञ्यं संभवति व्यष्ट्युपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंबन्धित्वाभावात् । समष्ट्युपाधेरपि विराजः स्थूलभूतोपाधित्वेन सूक्ष्मभूतपरिणामविषयं मायापरिणामविषयं च ज्ञानं न संभवति । एवं सूक्ष्म-**

तुम[19] अज्ञानी जीव, जिसकी ज्ञानशक्ति तिरोभूत हो गई है, अपने भी जन्मों को नहीं जानते, अन्य जीवों के जन्मों को तो कैसे जानोगे ? 'हे परंतप[20] !' -- इस सम्बोधन से यह सूचित करते हैं कि 'तुम भेददृष्टि से पर = शत्रु की कल्पना करके उसका हनन करने के लिए प्रवृत्त हो ।' इसप्रकार इन दो सम्बोधनों से अज्ञान के आवरण[21] और विक्षेप[22] दोनों धर्मों को दिखलाया है ॥ 5 ॥

12 यदि आपको अपने अतीत अनेक जन्मों का स्मरण होता है, तो आप कोई जातिस्मर = पूर्वजन्मों का स्मरण रखनेवाले जीव हैं, क्योंकि 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' = 'वामदेव के समान इन्द्र ने शास्त्रीय दृष्टि से अपने को परमात्मस्वरूप कहा है' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.32) - इस न्याय से योगी को सार्वात्म्य का अभिमान होने से अन्य जन्मों का ज्ञान भी हो सकता है । वामदेव ने जीव होकर भी दाशतयी श्रुति में इसीप्रकार कहा है -- 'मैं मनु हुआ था और सूर्य हुआ था तथा अब ब्राह्मण कक्षीवान् ऋषि हूँ' -- इत्यादि । अतएव आप मुख्य सर्वज्ञ नहीं है । फिर आपने अनीश्वर होकर सर्वज्ञ सूर्य को उपदेश कैसे दिया ? क्योंकि जीव में मुख्य सर्वज्ञता नहीं हो सकती, कारण कि व्यष्टि उपाधि[23] परिच्छिन्न होने के कारण सबसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं होती । समष्टि उपाधि[24] वाले विराट् को भी स्थूलभूत उपाधि होने से सूक्ष्मभूतों के परिणाम और माया के परिणाम के विषय में ज्ञान नहीं हो सकता । इसीप्रकार सूक्ष्मभूत उपाधि वाले हिरण्यगर्भ को भी उसकी कारणभूता माया के परिणाम - आकाशादि के सर्गक्रम आदि के विषय में ज्ञान न होना सिद्ध ही है । इसलिए ईश्वर ही कारण उपाधिवाला होने से अतीत = भूत, अनागत = भविष्य और वर्तमान - सभी विषयों का ज्ञानवान्-मुख्य सर्वज्ञ है । भूत, भविष्य और वर्तमान को विषय करनेवाली माया की तीन वृत्तियाँ हैं, अथवा इन सबको विषय करनेवाली एक मायावृत्ति है -- यह दूसरी बात है । किन्तु उस सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर का तो, उसमें धर्माधर्मादि का अभाव होने के कारण, जन्म

21. अज्ञान की उस शक्ति को 'आवरण-शक्ति' कहते हैं, जो स्वयं परिच्छिन्न होते हुए भी अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप को उसीप्रकार आच्छादित कर देती है जिसप्रकार एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा दर्शक के नेत्रों के सम्मुख आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को भी ढक लेता है और फलस्वरूप दर्शक सूर्य को देख नहीं पाता है (आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायततमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसंसारिणम-वलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् -- वेदान्तसार) ।

22. अखण्ड वस्तु = ब्रह्म का अवलम्बन न करने के कारण, चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं में अवलम्बन 'विक्षेप' कहा गया है (अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः – वेदान्तसार) ।

भूतोपाधेरपि हिरण्यगर्भस्य तत्कारणमायापरिणामाकाशादिसर्गक्रमादिविषयज्ञानाभावः सिद्ध एव। तस्मादीश्वर एव कारणोपाधित्वादतीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवान्मुख्यः सर्वज्ञः । अतीतानागतवर्तमानविषयं मायावृत्तित्रयमेकैव वा सर्वविषया मायावृत्तिरित्यन्यत् । तस्य च नित्येश्वरस्य सर्वज्ञस्य धर्माधर्माद्यभावेन जन्मैवानुपपन्नमतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमेव । तथाच जीवत्वे सार्वज्ञ्यानुपपत्तिरीश्वरत्वे च देहग्रहणानुपपत्तिरिति शङ्काद्वयं परिहरन्ननित्यत्वपक्षस्यापि परिहारमाह –

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

13 **अपूर्वदेहेन्द्रियादिग्रहणं जन्म । पूर्वगृहीतदेहेन्द्रियादिवियोगो व्ययः । यदुभयं तार्किकैः प्रेत्यभाव इत्युच्यते । तदुक्तम् 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति । तदुभयं च धर्माधर्मवशाद्भवति । धर्माधर्मवशत्वं चाज्ञस्य जीवस्य देहाभिमानिनः कर्माधिकारित्वाद्भवति । तत्र यदुच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वकारणस्येदृग्देहग्रहणं नोपपद्यत इति तत्तथैव । कथं, यदि तस्य**

होना ही असम्भव है; अतः उसका अतीत अनेकजन्मवत्व तो दूर ही रह जाता है ।इसप्रकार यदि आप जीव हैं तो आपमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती और यदि आप ईश्वर हैं तो देहग्रहण नहीं हो सकता -- इन दो शंकाओं का परिहार करते हुए अनित्यत्व के पक्ष का भी परिहार करते हैं –
['मैं' अव्ययात्मा = अविनाशीस्वरूप, अज = अजन्मा होते हुए भी तथा समस्त भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी माया से ही प्रकट होता हूँ ।।6।।]

13 अपूर्व = नवीन देह और इन्द्रियादि को ग्रहण करना 'जन्म' है तथा पूर्व गृहीत देह और इन्द्रियादि का वियोग होना व्यय = 'मृत्यु' है । इन्हीं दोनों को तार्किक 'प्रेत्यभाव'[25] कहते हैं । यह कहा भी है -- 'उत्पन्न होने वाले की मृत्यु निश्चित है और मृत का जन्म होना निश्चित है' । ये दोनों=

---

23. व्यष्टि उपाधि परिच्छिन्न = सीमित को व्याप्त करनेवाली होती है । यह निकृष्ट अर्थात् जीव की उपाधि है । यह निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान है । इसकी मलिनसत्त्वप्रधानता का कारण यह है कि इसमें सत्त्व रजस् और तमस् से अभिभूत होकर मलिन रहता है तथा रजस् और तमस् की ही प्रधानता रहती है । अतएव यह जीव के स्वरूप = शुद्धचैतन्य को आच्छन्न किये रहती है । व्यष्टि से उपहित जीव को 'प्राज्ञ' कहा जाता है । प्राज्ञ 'प्रायेण अज्ञः' = प्रायः अज्ञ ही होता है । 'प्राज्ञ' सुषुप्ति अवस्था में वर्तमान जीव है । जाग्रत् अवस्था में वर्तमान जीव 'विश्व' कहा जाता है और स्वप्न अवस्था में वर्तमान जीव को 'तैजस' कहते हैं ।

24. समष्टि उपाधि सर्वत्र व्याप्त रहती है । यह उत्कृष्ट अर्थात् ज्ञानात्मक चैतन्य की उपाधि है । इसको उत्कृष्ट उपाधि कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का उपाधिभूत समष्टिमूलक अज्ञान ईश्वर को आवृत नहीं करता है । यह उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्वप्रधान है । यहाँ विशुद्धता का अर्थ यह है कि इसमें सत्त्वगुण जो प्रधान होता है, वह रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता है । समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त अज्ञानजन्य प्रपञ्च का अवभासक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व और सर्वनियन्तृत्व आदि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण और 'ईश्वर' नाम से व्यवहृत होता है । ईश्वर की यह समष्टि स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च के विलय का आधार होने के कारण 'सुषुप्ति' और इसीलिए स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च लय का स्थान कहलाती है । ईश्वर की इस समष्टि की स्वप्नावस्था वह है जिसमें सूक्ष्म भूतों की दृष्टि के परिणामस्वरूप सूक्ष्मशरीर उत्पन्न हो जाते हैं और स्वप्नावस्था में वर्तमान ईश्वर-चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' और 'सूत्रात्मा' कहते हैं । ईश्वर की समष्टि की जाग्रदवस्था वह है जिसमें स्थूल भूतों के कार्यरूप स्थूलप्रपञ्च की सृष्टि होती है । जाग्रदवस्था में वर्तमान ईश्वर – चैतन्य को 'विराट्' और'वैश्वानर' कहते हैं ।

शरीरं स्थूलभूतकार्यं स्यात्तदा व्यष्टिरूपत्वे जाग्रदवस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च विराड्जीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात् । अथ सूक्ष्मभूतकार्यं तदा व्यष्टिरूपत्वे स्वप्नावस्थाऽस्मदादितुल्यत्वं, समष्टिरूपत्वे च हिरण्यगर्भजीवत्वं तस्य तदुपाधित्वात् । तथाच भौतिकं शरीरं जीवानाविष्टं परमेश्वरस्य न संभवत्येवेति सिद्धम् । नच जीवाविष्ट एव तादृशे शरीरे तस्य भूतावेशवत्प्रवेश इति वाच्यम् । तच्छरीरावच्छेदेन तज्जीवस्य भोगाभ्युपगमेऽन्तर्यामिरूपेण सर्वशरीरप्रवेशस्य विद्यमानत्वेन शरीरविशेषाभ्युपगमवैयर्थ्यात् । भोगाभावे च जीवशरीरत्वानुपपत्तेः । अतो न भौतिकं शरीरमीश्वरस्येति पूर्वार्धेनाङ्गीकरोति—अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्निति ।

14 **अजोऽपि सन्नित्यपूर्वदेहग्रहणमव्ययात्माऽपि सन्निति पूर्वदेहविच्छेदं भूतानां भवनधर्माणां सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वरोऽपि सन्निति धर्माधर्मवशत्वं निवारयति । कथं तर्हि देहग्रहणमित्युत्तरार्धेनाऽऽह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि प्रकृतिं मायाख्यां विचित्रानेकशक्तिमघटमानघटनापटीयसीं स्वां स्वोपाधिभूतामधिष्ठाय चिदाभासेन वशीकृत्य संभवामि तत्परि-**

जन्म और मृत्यु धर्म और अधर्म के कारण होते हैं । देहाभिमानी अज्ञानी जीव को धर्म और अधर्म की अधीनता कर्म का अधिकारी होने से होती है । यहाँ यह जो कहा गया है कि सर्वकारणस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर का इसप्रकार देहग्रहण करना संभव नहीं है, वह ठीक ही है । कैसे ? यदि ईश्वर का शरीर स्थूलभूतों का कार्य होगा तो व्यष्टिरूप होने पर जाग्रदवस्था में हम लोगों के समान ही होगा और समष्टिरूप होने पर विराट् जीव होगा, क्योंकि वह विराट् भी उस स्थूलभूत की उपाधिवाला है । यदि वह सूक्ष्मभूतों का कार्य होगा तो व्यष्टिरूप होने पर स्वप्नावस्था में हम लोगों के समान ही होगा और समष्टिरूप होने पर हिरण्यगर्भ जीव होगा, क्योंकि वह हिरण्यगर्भ भी उस सूक्ष्मभूत की उपाधि वाला है । इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर का जीव के आवेश से रहित भौतिक शरीर नहीं हो सकता[26] । यह भी नहीं कहना चाहिए कि भूत के आवेश के समान ईश्वर का किसी जीवाविष्ट भौतिक शरीर में प्रवेश हो जाता है, क्योंकि यदि वह उस शरीर के अवच्छेद द्वारा उस जीव के भोगों को स्वीकार करता है तो अन्तर्यामीरूप से उसका सभी शरीरों में प्रवेश है ही, अत: किसी विशेष शरीर में प्रवेश स्वीकार करना व्यर्थ ही है और यदि वह भोगों को स्वीकार नहीं करता है तो उस शरीर की जीवशरीरता ही सिद्ध नहीं हो सकती । अत: ईश्वर का शरीर भौतिक नहीं होता -- यह 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' -- इस पूर्वार्ध से स्वीकार करते हैं ।

14 'अजोऽपि सन्' = 'अज -- अजन्मा होते हुए भी' -- इसमें अपूर्व नवीन देहग्रहण का; 'अव्ययात्माऽपि सन्' = 'अव्ययात्मा -- अविनाशी स्वरूप होते हुए भी' -- इससे पूर्व गृहीत देह के विच्छेद का; और 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' = 'भूतों का -- उत्पत्ति धर्मवाले ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त

25. प्रेत्यभाव = 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से ' क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय होकर 'प्रेत्य' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है – मरकर । 'भाव' शब्द का अर्थ है – जन्म । इसप्रकार मृत्यु के पश्चात् जन्म ग्रहण करना ही 'प्रेत्यभाव' है ('पुनरुत्पत्ति: प्रेत्यभाव:' – न्यायसूत्र, 1.1.19) । आत्मा के पूर्व देह की निवृत्ति और अपूर्व = नवीन देहसंघात की प्राप्ति 'प्रेत्यभाव' है ('प्रेत्यभावश्च आत्मन: पूर्वदेहनिवृत्ति:, अपूर्वदेहसंघातलाभ:' – तर्कभाषा) ।

26. तात्पर्य यह है कि भौतिक शरीर जीवाविष्ट ही होता है, जीव के आवेश से रहित नहीं होता । यदि ईश्वर का शरीर भौतिक होगा, तो वह जीवाश्रित ही होगा, ईश्वराश्रित नहीं, अतएव सर्वज्ञ नहीं होगा । फलत: सर्वज्ञ ईश्वर का भौतिक शरीर हो ही नहीं सकता ।

णामविशेषैरेव देहवानिव जात इव च भवामि। अनादिमायैव मदुपाधिभूता यावत्कालस्थायित्वेन च नित्या जगत्कारणत्वसंपादिका मदिच्छयैव प्रवर्तमाना विशुद्धसत्त्वमयत्वेन मम मूर्तिस्तद्विशिष्टस्य चाजत्वमव्ययत्वमीश्वरत्वं चोपपन्नम् । अतोऽनेन नित्येनैव देहेन विवस्वन्तं च त्वां च प्रतीमं योगमुपदिष्टवानहमित्युपपन्नम् । तथाच श्रुतिः -- 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति । आकाशोऽत्राव्याकृतम् । 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्यादौ तथा दर्शनात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायाच्च।

15 **तर्हि भौतिकविग्रहाभावात्तद्धर्ममनुष्यत्वादिप्रतीतिः कथमिति चेत्तत्राऽऽह -- आत्ममाययेति । मन्माययैव मयि मनुष्यत्वादिप्रतीतिर्लोकानुग्रहाय न तु वस्तुवृत्त्येति भावः । तथा चोक्तं मोक्षधर्मे --**

प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी' -- इससे धर्म और अधर्म की अधीनता का निवारण करते हैं । 'तो फिर आपका देहग्रहण कैसे होता है'? -- इसका उत्तर 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि' इस उत्तरार्द्ध से देते हैं :-- प्रकृति[27] = अनेक प्रकार की विचित्र शक्तियों से सम्पन्न, अघटमानघटनापटीयसी -- असम्भव को सम्भव करने में कुशल, स्व -- अपनी उपाधिभूता माया नाम की प्रकृति को अधीन करके = चिदाभास के द्वारा अपने वश में करके संभवामि[28] = प्रकट होता हूँ अर्थात् उसके परिणामविशेषों से ही देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ सा हो जाता हूँ। काल की स्थितिपर्यन्त रहनेवाली होने से नित्य, जगत् के कारणत्व की सम्पादिका, मेरी इच्छा से ही प्रवृत होनेवाली, मेरी उपाधिभूता अनादि माया ही विशुद्ध सत्त्वमयी होने के कारण मेरी मूर्त्ति है । उससे विशिष्ट मुझमें अजत्व, अव्ययत्व और ईश्वरत्व उपपन्न होता है । अत: इस नित्य देह से ही मैंने सूर्य और तुमको इस योग का उपदेश किया है -- यह युक्तियुक्त ही है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'ब्रह्म आकाशशरीरवाला है' । इस श्रुति में अव्याकृत आकाश का ही ग्रहण है, क्योंकि 'आकाश में ही वह ओतप्रोत है' -- इत्यादि श्रुति में ऐसा देखा गया है, तथा 'आकाशस्तल्लिङ्गात्[29] (ब्रह्मसूत्र, 1.1.22) -- इस न्याय से भी यही सिद्ध होता है ।

15 'तो फिर भौतिक शरीर न होने पर आपमें भौतिक शरीर के धर्म मनुष्यत्वादि क्यों प्रतीत होते हैं ?' -- ऐसी यदि शङ्का हो तो कहते हैं -- 'आत्ममाययेति' । मेरी माया से ही मुझमें मनुष्यत्वादि की प्रतीति होती है और वह लोकानुग्रह के लिए ही होती है, वस्तुदृष्टि से नहीं होती अर्थात् वास्तविक मनुष्यत्वादि मुझमें नहीं होते । इसीप्रकार महाभारत के शान्तिपर्व के खण्ड 'मोक्षधर्म' में भी कहा है -- 'हे नारद !तुम जो

27. प्रकृतिः = प्र + कृ + कर्तरि क्तिच् (पाणिनि सूत्र, 3.3.174) = प्रकृष्टा कृतिः कार्यं यस्याः सा; प्रकर्षेण सृष्ट्यादिकं करोतीति वा प्रकृतिः = प्रकृष्ट कार्य है जिसका वह; अथवा जो प्रकर्ष से सृष्टि आदि कार्य करती है वह 'प्रकृति' है -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रकृति' शब्द से यहाँ भगवान् की दैवी माया विवक्षित है। सांख्याभिमत सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था 'प्रकृति' विवक्षित नहीं है। कारण कि सांख्य – मत में प्रकृति स्वतन्त्र है, जबकि प्रकृत में प्रकृति ईश्वराधीन है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी 'प्रकृति' की व्युत्पत्ति करते हुए ऐसा ही कहा है –

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्त्तिता: ॥"

28. संभवामि = सम्यगप्रच्युतज्ञानबलवीर्यादिशक्त्यैव भवामि – अर्थात् मैं सम्यक् अप्रच्युत – अस्खलित ज्ञान, बल, वीर्य आदि शक्तियों के साथ ही होता हूँ – प्रकट होता हूँ । प्रकृति के परिणामविशेषों द्वारा मैं देहग्रहण न करके भी देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ सा हो जाता हूँ ।

29. 'आकाश इति होवाच' – इस श्रुति में 'आकाश' शब्द ब्रह्म = परमात्मा का वाचक है, क्योंकि इसमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' = 'आकाश से ही ये सब भूत समुत्पन्न होते हैं' -- इत्यादि श्रुतिवाक्य उस ब्रह्म के ही लिङ्ग हैं ।

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥' इति ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं कारणोपाधिं मां चर्मचक्षुषा द्रष्टुं नार्हसीत्यर्थः । उक्तं च भगवता भाष्यकारेण -- 'स च भगवाञ्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वल्लँक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया' इति । व्याख्यातृभिश्चोक्तं स्वेच्छाविनिर्मितेन मायामयेन दिव्येन रूपेण संबभूवेति ।

नित्यो यः कारणोपाधिर्मायाख्योऽनेकशक्तिमान् ।
स एव भगवद्देह इति भाष्यकृतां मतम् ॥

16 **अन्ये तु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते । किं यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति । अस्मिन्पक्षे योजना -- 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इत्यादिश्रुतेः 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' 'नाऽऽत्माऽ-श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यादिन्यायाच्च वस्तुगत्या जन्मविनाशरहितः सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन्नहं प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम् । मायां**

मुझको देख रहे हो यह मेरी रची हुई माया ही है, सम्पूर्ण भूतों के गुणों से युक्त मुझको तो तुम देख नहीं सकते ।' अर्थात् सम्पूर्ण भूतों के गुणों से युक्त, उनकी कारणभूता मायारूप उपाधिवाले मुझको तुम इन चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकते । भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है -- 'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सदा सम्पन्न वह भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायारूप प्रकृति को वश में करके अजन्मा, अविनाशी, समस्त भूतों के ईश्वर तथा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव होते हुए भी और अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा से लोकानुग्रह के लिए अपनी माया से देहवान्-सा और उत्पन्न हुआ-सा दिखाई देता है ।'व्याख्याकारों ने भी कहा है -- 'भगवान् स्वेच्छा-निर्मित मायामय दिव्यरूप से प्रकट हुए ।' अतः भाष्यकार का ऐसा मत है कि जो अनेकशक्तिवाली, कारणरूपा माया नाम की नित्य उपाधि है वही भगवान् का देह है ।

16 अन्य विद्वान् तो परमेश्वर में देह-देही भाव भी नहीं मानते, किन्तु उनके अनुसार जो नित्य, विभु, सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा हैं वही उनका विग्रह--शरीर है, अन्य कोई भौतिक अथवा मायिक उनका शरीर नहीं है । इस पक्ष में इसप्रकार योजना करनी चाहिए -- 'वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है', 'अरे मैत्रेय ! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और

---

30. सत् स्वरूप ब्रह्म के किसी अन्य से सम्भव = उत्पत्ति – जन्म की आशंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अनुपपत्ति से ब्रह्म का सम्भव = जन्म नहीं होता है । जिससे सत्मात्र ब्रह्म है, उस सत्मात्र सत्सामान्य की सत्मात्र से उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि अतिशय = भेद के बिना प्रकृति-विकारभाव की असिद्धि होती है । दृष्ट विपर्ययरूप दोष से किसी सत् विशेष से भी सत् सामान्य रूप ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि सामान्यस्वरूप मृत्तिकादि से विशेषरूप घटादि उत्पन्न होते देखे जाते हैं, न कि विशेषों से उत्पन्न होते हुए सामान्य देखे जाते हैं । निरात्म होने के कारण असत् से भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रुति कहती है – 'कथमसतः सज्जायेत' = 'असत् से सत्, कैसे उत्पन्न हो सकता है' । और 'न चास्य कश्चिज्जनिता' (श्वेता० उ०, 6.9) = 'उसका कोई जनयिता नहीं है' -- यह श्रुति भी ब्रह्म के जनयिता का वारण करती है । इसप्रकार युक्ति और श्रुति से सत् स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

व्यावर्तयति--स्वामिति । निजस्वरूपमित्यर्थः । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन्संभवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि । कथं तह्यदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह--आत्ममाययेति । निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिर्मायामात्रमित्यर्थः तदुक्तम् --

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाऽऽभाति मायया ॥' इति ।
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥' इति च ।

17 **केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेवेच्छन्ति ते ' निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः । यदि संभवेत्तथैवास्तु किमतिपल्लवितेनेत्युपरम्यते ॥6 ॥**

अनुच्छेदरूप धर्मवाला है' इत्यादि श्रुतियों तथा 'अंसभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः[30] (ब्रह्मसूत्र, 2.3.9); 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः[31] (ब्रह्मसूत्र, 2.3.17) -- इत्यादि सूत्रों के न्याय से भी वस्तुतः जन्मविनाशरहित, सर्वभासक, सर्वकारणभूता माया का अधिष्ठान होने से समस्त भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी प्रकृति = अपने सच्चिदानन्दघनैकरस स्वरूप को -- यहाँ 'स्वाम्' -- ऐसा कहकर भगवान् माया की व्यावृति कर रहे हैं -- अर्थात् निजस्वरूप को, -- जैसा कि श्रुति कहती है -- 'वह भगवान् किसमें प्रतिष्ठित हैं ? अपनी महिमा में', -- उस अपने स्वरूप को अधिष्ठित करके अर्थात् अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहते हुए ही प्रकट होता हूँ = देह-देहीभाव के बिना ही देही के समान व्यवहार करता हूँ । 'तो फिर अदेह सच्चिदानन्दघन में देहत्व की प्रतीति कैसे होती है ?' -- अतः कहते हैं -- 'आत्ममाययेति' । अर्थात् मुझ निर्गुण, शुद्ध, सच्चिदानन्दरसघन, देह-देहीभावशून्य भगवान् वासुदेव में जो देह-देहीरूप से प्रतीति होती है वह मायामात्र है । कहा भी है -- 'इस कृष्ण को तुम निखिल आत्माओं का आत्मा समझो, वही जगत् के हित के लिए यहाँ माया से देही-सा दिखाई देता है'; तथा 'अहो इन नन्दगोप और व्रजवासियों का बड़ा ही भाग्य है, जिनके मित्र सनातन परमानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हैं ।'

17 कोई विद्वान् नित्य, निरवयव और निर्विकार होने पर भी उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा के अवयव-अवयवी = अंशांशी--भाव को वास्तविक ही मानना चाहते हैं । 'जो निर्युक्तिक कहते हैं, हम उनका निराकरण नहीं करते' -- इस न्याय से मैं उनका निराकरण नहीं करता । यदि ऐसा संभव हो तो हो, इसका विस्तार करने-की क्या आवश्यकता है । अतः हम इस विचार से उपरत होते है ॥ 6 ॥

---

31. जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उत्पत्ति प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति का अश्रवण है । यदि कहें कि कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का वारण नहीं करता है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि कहा सत्य गया है, किन्तु इस जीवात्मा की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है; क्योंकि उन श्रुतियों से जीवात्मा के नित्यत्व का बोध होता है, और अजत्व, अमरत्व, अभयत्वादि श्रुतियों से भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है । श्रुतियाँ हैं -- 'न जीवो म्रियते' (छा०, 6.11.3); ' स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० 4.4.22); 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० 2.18), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० 2.18) इत्यादि ।

18 एवं सच्चिदानन्दघनस्य तव कदा किमर्थं वा देहिवद्व्यवहार इति तत्रोच्यते –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

19 धर्मस्य वेदविहितस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य वर्णाश्रमतदाचारव्यङ्ग्यस्य यदा यदा ग्लानिर्हानिर्भवति हे भारत भरतवंशोद्भवत्वेन भा ज्ञानं तत्र रतत्वेन वा त्वं न धर्महानिं सोढुं शक्नोषीति संबोधनार्थः । एवं यदा यदाऽभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य नानाविधदुःखसाधनस्य धर्मविरोधिनस्तदा तदाऽऽत्मानं देहं सृजामि नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव दर्शयामि मायया ॥ 7 ॥

18 इसप्रकार सच्चिदानन्दघन आपका कब और किस लिए देही के समान व्यवहार होता है ? -- इसका उत्तर भगवान् देते हैं :--

[हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि = हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान = उद्भव होता है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ॥ 7 ॥]

19 वेदविहित, प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप तथा वर्ण, आश्रम और इनके आचार से व्यक्त धर्म[32] की जब-जब ग्लानि अर्थात् हानि होती है । 'हे भारत !' -- इस सम्बोधन का तात्पर्यार्थ यह है कि भरत वंश में समुत्पन्न होने के कारण अथवा भा = ज्ञान उसमें रत होने के कारण तुम धर्म की हानि को सहन नहीं कर सकते हो । इसीप्रकार जब-जब वेदनिषिद्ध, नाना प्रकार के दुःखों के साधन, वेदविरोधी अधर्म का अभ्युत्थान अर्थात् उद्भव होता है, तब-तब मैं अपने आत्मा = देह को रचता हूँ अर्थात् अपने नित्यसिद्ध देह = स्वरूप को ही माया से सृष्ट = रचा हुआ-सा दिखलाता हूँ [33] ॥ 7 ॥

32. धर्म दो प्रकार का होता है – प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण । प्रवृत्तिलक्षण धर्म से अर्थात् याग-यज्ञादि और अन्यान्य वेदविहित काम्य कर्मों के अनुष्ठान से धर्म, अर्थ और काम – ये त्रिवर्ग – तीनों पुरुषार्थ सिद्ध होकर प्राणिवर्ग का अभ्युदय होता है । निवृत्तिलक्षण धर्म से अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा त्यागकर कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य निःश्रेयस अर्थात् परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

33. मधुसूदन सरस्वती ने प्रकृत श्लोक के 'आत्मानं सृजाम्यहम्' – इस अंश का अर्थ किया है – 'आत्मानं = देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव सृष्टमिव प्रदर्शयामीति' = 'मैं अपने आत्मा = देह को रचता हूँ अर्थात् नित्यसिद्ध देह को ही माया से सृष्ट-सा दिखलाता हूँ'; जो कि उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं – क्या परमेश्वर का देह परमेश्वर से अन्य है अथवा अनन्य है ? परमेश्वर का देह परमेश्वर से अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर परमेश्वर में असत्त्वादि की आपत्ति होगी, अतएव उसके सच्चिदादिरूप होने की मान्यता से विरोध होगा । यदि परमेश्वर का देह परमेश्वर से अनन्य स्वीकार करते हैं, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि परमेश्वर का वह देह क्या परिच्छिन्न है अथवा अपरिच्छिन्न है ? यदि कहें कि परमेश्वर का वह देह परिच्छिन्न है, तो ईश्वर के नित्य देह में ही परिच्छिन्नता होगी, इसप्रकार तो ईश्वर के देह को नित्यसिद्ध कहनेवाले विद्वानों द्वारा परमेश्वर में असत्त्वादि के सम्पादन से मूलोच्छेद ही सम्पादित होगा । यदि कहें कि परमेश्वर का वह देह अपरिच्छिन्न है, तो अपरिच्छिन्न होकर भी अवयवों का समूह और परिमित आकारवाला देह होगा, इसप्रकार स्ववदतोव्याघात दोष होगा । अतः प्रकृत में 'आत्मानं सृजाम्यहम्' का अर्थ होना चाहिए – 'आत्मानं = स्वं सृजामि, जन्मवन्तमिव प्रदर्शयामीति' = 'मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ अर्थात् जन्मवान्-सा दिखलाता हूँ' । श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द का अर्थ 'देह' नहीं होना चाहिए । (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

20 तत्किं धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काल आविर्भवसीति तथा चानर्थावह एव तवावतारः स्यादिति नेत्याह –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ 8॥

21 धर्महान्या हीयमानानां साधूनां पुण्यकारिणां वेदमार्गस्थानां परित्राणाय परितः सर्वतो रक्षणाय । तथाऽधर्मवृद्ध्या वर्धमानानां दुष्कृतां पापकारिणां वेदमार्गविरोधिनां विनाशाय च । तदुभयं कथं स्यादिति तदाह – धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यगधर्मनिवारणेन स्थापनं वेदमार्गपरिरक्षणं धर्मसंस्थापनं तदर्थं संभवामि पूर्ववत्, युगे युगे प्रतियुगम् ॥ 8 ॥

20 'तो क्या धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि आपके परितोष का कारण हैं जिसमें आप उसी समय में आविर्भूत -- प्रादुर्भूत -- प्रकट होते हैं ? तब तो आपका अवतार अनर्थ की प्राप्ति करानेवाला ही होगा' । -- इसका उत्तर देते हैं, 'नहीं' :--
[मैं साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिए दूषित कर्म करनेवालों का विनाश करने के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ ॥ 8 ॥]

21 धर्म की हानि से हीयमान = क्षीण होते हुए साधुओं = वेदमार्ग में स्थित पुण्य करने वालों के परित्राण = परितः -- सर्वतः -- सब ओर से रक्षा करने के लिए तथा अधर्म की वृद्धि से वर्धमान = बढ़ते हुए दुष्कृतों = वेदमार्ग के विरोधी पाप करने वालों के विनाश के लिए[34] । 'ये दोनों कार्य कैसे हो सकते हैं' ? तो कहते हैं -- धर्म संस्थापन के लिए = अधर्म के निवारण द्वारा धर्म की सम्यक् स्थापना अर्थात् वेदमार्ग का परिरक्षण ही धर्म संस्थापन है उसके लिए मैं युगे-युगे[35] = युग-युग में = प्रत्येक युग में पूर्ववत् प्रकट होता हूँ[36] ॥ 8 ॥

---

34. यदि कोई यहाँ शङ्का करे कि भगवान् का अवतरण यदि दुष्कृतों के विनाश के लिए होता है, तो ऐसा होने पर भगवान् का तो नैर्घृण्य अर्थात् निष्ठुरता ही सिद्ध होगी; तो यह आशङ्का उचित नहीं होगी, क्योंकि भगवान् गुण और दोष का नियन्त्रण करनेवाले हैं, नियन्त्रणार्थ दुष्कृतों का विनाश उनकी निष्ठुरता नहीं कही जा सकती, जैसे – माता बालक का लालन व ताडन करती है, किन्तु उसकी ताड़ना बालक के प्रति निष्ठुरता नहीं कही जा सकती है । देवी भागवत में कहा भी है –

'लालने ताड़ने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥'

35. 'युगे-युगे' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसप्रकार किया है – (i) प्रत्येक युग में बार-बार अर्थात् सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, और कलियुग – इन चारों युगों में बार-बार; (ii) धर्म की हानि और अधर्म के अभ्युत्थान के सन्धिक्षणों में; तथा (iii) आवश्यक अवसरों पर ।

36. आचार्य धनपति का मत है कि प्रकृत श्लोक में भगवान् के अवतरण के तीन प्रयोजन कहे गए हैं – सन्मार्ग में स्थित साधुओं की रक्षा, दुष्कृतों = असाधुओं का विनाश और धर्म का संस्थापन । मधुसूदन सरस्वती ने यह जो कहा है कि साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश – ये दोनों कार्य धर्मसंस्थापन के लिए ही है, अतः भगवान् का अवतरण धर्मसंस्थापनार्थ ही है, विचारणीय है । क्योंकि धर्मसंस्थापन मात्र से साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश सिद्ध नहीं होता है । जैसे – भगवान् श्रीकृष्ण ने वसुदेव के गृह में अवतार लेकर गीता के उपदेश से धर्मसंस्थापन, युधिष्ठिरादि के परिपालन से साधुओं की रक्षा और कंसवधादि से असाधुओं का विनाश – इसप्रकार तीन प्रयोजन संपादित किये हैं । अतएव गीता के उपदेशमात्र से तत्र-तत्र कृत अर्जुनसंरक्षण और तद्-तद् उपायों से कर्मनाश सिद्ध नहीं होता है । इससे इस कथन का भी उत्तर दिया गया है कि साधुओं की रक्षा और असाधुओं का विनाश धर्मसंस्थापनार्थ हैं । कारण कि वसुदेवादि की रक्षा और कंसादि के वध से किसी धर्म की स्थापना नहीं हुई है, अन्यथा धर्मसंस्थापनार्थ व्यासावतार ही व्यर्थ हो जायेगा, उन्होंने साधुरक्षा और असाधु

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 9 ॥

22 **जन्म नित्यसिद्धस्यैव मम सच्चिदानन्दघनस्य लीलया तथाऽनुकरणम् । कर्म च धर्मसंस्थापनेन जगत्परिपालनं मे मम नित्यसिद्धेश्वरस्य दिव्यमप्राकृतमन्यैः कर्तुमशक्यमीश्वरस्यैवासाधारणम् । एवमजोऽपि सन्नित्यादिना प्रतिपादितं यो वेत्ति तत्त्वतो भ्रमनिवर्तनेन । मूढैर्हि मनुष्यत्वभ्रान्त्या भगवतोऽपि गर्भवासादिरूपमेव जन्म स्वभोगार्थमेव कर्मेत्यारोपितम् । परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दरूपत्वज्ञानेन तदपनुद्याजस्यापि मायया जन्मानुकरणमकर्तुरपि परानुग्रहाय कर्मानुकरणमित्येवं यो वेत्ति स आत्मनोऽपि तत्त्वस्फुरणात्त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म नैति । किं तु मां भगवन्तं वासुदेवमेव सच्चिदानन्दघनमेति संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । हेऽर्जुन ॥ 9 ॥**

23 **मामेति सोऽर्जुनेत्युक्तं तत्र स्वस्व सर्वमुक्तप्राप्यतया पुरुषार्थत्वमस्य मोक्षमार्गस्यानादिपरम्परागतत्वं च दर्शयति –**

[हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अप्राकृत हैं -- ऐसा जो तत्त्वतः जानता है वह देह को त्यागकर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ 9 ॥]

22 जन्म = नित्यसिद्ध होने पर भी सच्चिदानन्दघन मेरा लीला से वैसा = जन्म ग्रहण-सा अनुकरण करना और कर्म = धर्मसंस्थापन से जगत् का परिपालन करना । मे = मेरे = नित्य सिद्ध ईश्वर मेरे जन्म और कर्म दिव्य[37] = अप्राकृत हैं अर्थात् दूसरों से हो सकने के योग्य नहीं हैं, ये ईश्वर के ही असाधारण चिह्न हैं -- इसप्रकार = 'अजोऽपि सन् ---' (गीता, 4.6-8) इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादित ईश्वर के इन असाधारण जन्म और कर्मों को जो तत्त्वतः = भ्रम की निवृत्ति करके जानता है । मूढ़ पुरुष तो मनुष्यत्व की भ्रान्ति से 'भगवान् का भी जन्म गर्भवासादिरूप ही है और उनके कर्म अपने भोग के लिए ही हैं ' -- ऐसा आरोप करते हैं । इस भ्रान्ति को उनकी परमार्थतः शुद्धसच्चिदानन्दघनरूपता के ज्ञान से दूर करके जो ऐसा जानता है कि भगवान् अज -- अजन्मा होने पर भी माया से जन्म-ग्रहण का अनुकरण करते हैं और अकर्त्ता होने पर भी परानुग्रहार्थ = दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए कर्मों का अनुकरण करते हैं, वह आत्मा के भी तत्त्व का स्फुरण हो जाने के कारण इस देह को त्यागकर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुझ सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव को ही प्राप्त होता है अर्थात् हे अर्जुन[38] ! वह संसार से मुक्त हो जाता है ॥ 9 ॥

विनाश नहीं किया था जबकि प्रतिपक्षानुसार उक्तकर्मद्वय से ही धर्मसंस्थापन होता है । इसप्रकार भगवान् का अवतरण कदाचित् एक प्रयोजन के लिए, कदाचित् दो प्रयोजनों के लिए, अथवा कदाचित् तीनों प्रयोजनों के लिए होता है – यह कहना ही यहाँ अधिक उचित प्रतीत होता है ।

37. दिव्य = दूसरे की सहायता के बिना जो अपने प्रकाश से दीप्त = प्रकाशित होता है उसको 'दिव्य' कहते हैं । अतः 'दिव्य' शब्द का अर्थ स्वयंप्रकाश अर्थात् निर्विशेष चिदैकरस परब्रह्म है । निर्विशेष स्वयंप्रकाश = दिव्य ब्रह्म में जो कुछ जन्म अथवा कर्म कल्पित होकर प्रतीत होते हैं वे सभी दिव्य ही होते हैं, परब्रह्म के स्वरूप ही होते हैं । जैसे स्वर्णनिर्मित आभूषणों के अणु-परमाणु में स्वर्ण ही विद्यमान रहता है, कारण कि उनके नाम तथा रूप केवल वाक्य के विलासमात्र होते हैं, अतः मिथ्या होते हैं ।

38. यहा भगवान् ने 'अर्जुन' -- सम्बोधन से यह सूचित किया है कि हे अर्जुन ! हे शुद्धबुद्धे ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल है, इस कारण तुम तो मेरे जन्म और कर्म के यथार्थ तत्त्व को अनायास ही जान सकते हो, ऐसा कर मुझे प्राप्त कर सकते हो = पुनर्जन्म से मुक्त हो सकते हो । फलतः तुम ऐसा ही करो ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ 10 ॥

24 **रागस्तत्तत्फलतृष्णा । सर्वान्विषयान्परित्यज्य ज्ञानमार्गे कथं जीवितव्यमिति त्रासो भयम् । सर्वविषयोच्छेदकोऽयं ज्ञानमार्गः कथं हितः स्यादिति द्वेषः क्रोधः । त एते रागभयक्रोधा वीता विवेकेन विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधाः शुद्धसत्त्वाः । मन्मया मां परमात्मानं तत्पदार्थं त्वंपदार्थाभेदेन साक्षात्कृतवन्तो मदेकचित्ता वा । मामुपाश्रिता एकान्तप्रेमभक्त्या मामीश्वरं शरणं गताः । बहवोऽनेके ज्ञानतपसा ज्ञानमेव तपः सर्वकर्मक्षयहेतुत्वात्, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति हि वक्ष्यति । तेन पूताः क्षीणसर्वपापाः सन्तो निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः । मद्भावं मद्रूपत्वं विशुद्धसच्चिदानन्दघनं मोक्षमागता अज्ञानमात्रापनयेन मोक्षं प्राप्ताः ।**

25 **ज्ञानतपसा पूता जीवन्मुक्ताः सन्तो मद्भावं मद्विषयं भावं रत्याख्यं प्रेमाणमागता इति वा । 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति हि वक्ष्यति ॥ 10 ॥**

26 **ननु ये ज्ञानतपसा पूता निष्कामास्ते त्वद्भावं गच्छन्ति, ये त्वपूताः सकामास्ते न गच्छन्तीति फलदातुस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामिति नेत्याह –**

---

23 'मामेति सोऽर्जुन' = 'हे अर्जुन ! वह मुझे ही प्राप्त होता है' -- यह पूर्वश्लोक में कहा । इसमें समस्त मुक्त पुरुषों के प्राप्यरूप से अपनी पुरुषार्थरूपता और इस मोक्ष मार्ग की अनादि परम्परा से प्राप्ति दिखलाते हैं --
[जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे, जिनका मुझ में ही चित्त लगा रहता था, और जो मेरा ही आश्रय लिए रहते थे -- ऐसे ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए बहुत- से भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ॥ 10 ॥]

24 तत्-तत् फल की तृष्णा को 'राग' कहते हैं । 'समस्त विषयों का परित्याग कर ज्ञानमार्ग में कैसे जीवेंगे' -- ऐसे त्रास को 'भय' कहते हैं । 'यह ज्ञानमार्ग समस्त विषयों का उच्छेदक है, इससे कैसे हित होगा ?' -- ऐसे द्वेष को 'क्रोध' कहते हैं । वे ये राग, भय और क्रोध जिनसे वीत = विवेकपूर्वक निवृत्त हो गये थे, वे वीतरागभयक्रोध = शुद्धचित्त अतएव मन्मय = 'तत्' पद के अर्थ मुझ परमात्मा का 'त्वम्' पद के अर्थ के साथ अभेदरूप से साक्षात्कार करने वाले अथवा एकमात्र मुझमें ही चित्त रखनेवाले अतएव मामुपाश्रित = मेरे आश्रित = एकान्त प्रेमा भक्ति के द्वारा मुझ ईश्वर की शरण को प्राप्त हुए ज्ञानतप से = सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का हेतु होने से ज्ञान ही है तप, जैसा कि आगे कहेंगे भी 'ज्ञान के समान इस लोक में कुछ भी पवित्र नहीं है' (गीता, 4.38), उससे पूत = पवित्र = क्षीण हो गये थे सम्पूर्ण पाप जिनके अर्थात् जिनका अज्ञान और उसका कार्यरूप मल निवृत्त हो गया था ऐसे बहुत -- से भक्त मद्भाव = मेरे विशुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् अज्ञानमात्र की निवृत्ति से मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं ।

25 अथवा, ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए = जीवन्मुक्त हुए मद्भाव = मद्विषयक 'रति' नामक भाव अर्थात् प्रेम को प्राप्त हो चुके हैं, क्योंकि 'उनमें नित्य एकान्तभक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है' (गीता, 7.17) -- ऐसा कहेंगे भी ॥ 10 ॥

26 'जो पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र है अतएव निष्काम हैं तो वे तो त्वद्भाव = ईश्वरभाव = मोक्ष को प्राप्त होते हैं किन्तु जो अपवित्र है अतएव सकाम हैं वे त्वद्भाव को प्राप्त नहीं होते -- ऐसी

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 11 ॥

27 य आर्ता अर्थार्थिनो जिज्ञासवो ज्ञानिनश्च यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मामीश्वरं सर्वफलदातारं प्रपद्यन्ते भजन्ति तांस्तथैव तदपेक्षितफलदानेनैव भजाम्यनुगृह्णाम्यहं न विपर्ययेण । तत्रामुमुक्षूनार्तानर्थार्थिनश्चाऽऽर्तिहरणेनार्थदानेन चानुगृह्णामि । जिज्ञासून्विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतिविहितनिष्कामकर्मानुष्ठातॄञ्ज्ञानदानेन ज्ञानिनश्च मुमुक्षून्मोक्षदानेन न त्वन्यकामायान्यद्ददामीत्यर्थः ।

28 ननु तथाऽपि स्वभक्तानामेव फलं ददासि न त्वन्यदेवभक्तानामिति वैषम्यं स्थितमेवेति नेत्याह – मम सर्वात्मनो वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गं कर्मज्ञानलक्षणमनुवर्तन्ते हे पार्थ सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादीनप्यनुवर्तमाना मनुष्या इति कर्माधिकारिणः । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायाच्च सर्वरूपेणापि फलदाता भगवानेक एवेत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यादि ॥ 11 ॥

स्थिति में तो कर्मफल प्रदान करने वाले आपमें विषमता और निष्ठुरता के दोष सिद्ध होते हैं' -- ऐसा यदि अर्जुन कहे तो उसका भगवान् निषेध करते हैं --

[हे पार्थ ! जो पुरुष मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ; मनुष्य सर्वशः = सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं ॥ 11 ॥]

27 जो आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त सर्वफलप्रद मुझ ईश्वर को सकाम अथवा निष्काम जैसे भी भाव से भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही = उनके अभीष्ट फलदान से ही भजता हूँ अर्थात् अनुगृहीत करता हूँ, विपरीत फलदान से नहीं । उनमें से अमुमुक्षु = मोक्षेच्छा से रहित आर्त और अर्थार्थियों को तो उनकी आर्ति = आपत्ति को दूर करके और अर्थ = सम्पत्ति प्रदान करके अनुगृहीत करता हूँ । जिज्ञासुओं = 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि-श्रुतिविहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान करनेवालों को ज्ञानदान से और ज्ञानियों = मुमुक्षुओं को मोक्षदान से अनुगृहीत करता हूँ अर्थात् अन्य कामनावान् को अन्य फल नहीं देता हूँ ।

28 यदि कहो कि 'फिर भी आप अपने भक्तों को ही फल देते हैं, अन्य देवताओं के भक्तों को नहीं देते, इसलिए आपमें विषमता तो बनी ही रही' -- तो कहते हैं, नहीं । हे पार्थ[39] ! सर्वशः = सब प्रकार से इन्द्रादि देवताओं का भी अनुवर्तन करनेवाले मनुष्य अर्थात् कर्माधिकारी भी मुझ सर्वात्मा वासुदेव के ही कर्म-ज्ञानरूप वर्त्म = भजन मार्ग का अनुवर्तन करते हैं । अभिप्राय यह है कि 'भगवान् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं' -- इत्यादि मन्त्रवर्ण से और 'परमात्मा ही जिस फल का जो अधिकारी होता है उसे तदनुरूप ही फल देते हैं, क्योंकि उपपत्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है ' (ब्रह्मसूत्र, 3.2.38) -- इस न्याय से सब प्रकार से फलदाता भगवान् एक ही हैं । इसी प्रकार 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' (गीता, 9.23) -- इत्यादि श्लोक से कहेंगे ॥ 11 ॥

---

39. यहाँ 'पार्थ' -- इस सम्बोधन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि हे पार्थ ! इतर मनुष्य भी मेरे मार्ग का अनुवर्तन करते हैं, तुम तो पृथा के पुत्र होने के कारण मेरे सम्बन्धी होने पर भी मेरा अनुवर्तन नहीं करते हो, यह आश्चर्य है ।

29 ननु त्वामेव भगवन्तं वासुदेवं किमिति सर्वे न प्रपद्यन्त इति तत्राऽऽह –

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ 12 ॥

30 कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इह लोके देवता देवानिन्द्राग्न्याद्यान्यजन्ते पूजयन्ति अज्ञानप्रतिहतत्वान्न तु निष्कामाः सन्तो मां भगवन्तं वासुदेवमिति शेषः । कस्मात्, हि यस्मादिन्द्रादिदेवतायाजिनां तत्फलकाङ्क्षिणां कर्मजा सिद्धिः कर्मजन्यं फलं क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति मानुषे लोके । ज्ञानफलं त्वन्तःकरणशुद्धिसापेक्षत्वान्न क्षिप्रं भवति ।

31 मानुषे लोके कर्मफलं शीघ्रं भवतीति विशेषणादन्यलोकेऽपि वर्णाश्रमधर्मव्यतिरिक्तकर्मफलसिद्धिर्भगवता सूचिता । यतस्तत्तत्क्षुद्रफलसिद्ध्यर्थं सकामा मोक्षविमुखा अन्या देवता यजन्तेऽतो न मुमुक्षव इव मां वासुदेवं साक्षात्ते प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ 12 ॥

32 शरीरारम्भकगुणवैषम्यादपि न सर्वे समानस्वभावा इत्याह –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ 13 ॥

---

29 यदि कहो कि 'आप ही सर्वफलप्रदाता हैं तो सब आप भगवान् वासुदेव को ही क्यों नहीं भजते है, तत्तद्फलेच्छा से देवतान्तर की उपासना क्यों करते हैं', -- तो भगवान् कहते हैं --
[इस लोक में कर्मों की सिद्धि की कामना करने वाले मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मजनित सिद्धि अतिशीघ्र प्राप्त हो जाती है ।। 12 ।।]

30 मनुष्य कर्मों की सिद्धि = फलोत्पत्ति -- फलप्राप्ति की इच्छा करते हुए अज्ञान से प्रतिहत होने के कारण इस लोक में इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का यजन = पूजन करते है[40], निष्काम होकर मुझ भगवान् वासुदेव को नहीं भजते हैं -- यह अध्याहार करना चाहिए । ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि मनुष्यलोक में इन्द्रादि देवताओं का पूजन करनेवाले और कर्मफल की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को कर्मजा सिद्धि अर्थात् कर्मजन्य फल क्षिप्र = शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । ज्ञानफल तो अन्तः -- करणशुद्धि की अपेक्षा रखने के कारण शीघ्र प्राप्त नहीं होता ।

31 'मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र प्राप्त होता है' -- इस विशेषण से भगवान् ने यह सूचित किया है कि अन्य लोकों में भी वर्णाश्रमधर्म के अतिरिक्त कर्मफल की सिद्धि होती है । क्योंकि वे मनुष्य तत्-तत् क्षुद्र कर्मफलों की सिद्धि के लिए सकाम अतएव मोक्ष से विमुख होकर अन्य देवताओं का पूजन करते हैं, अतः वे मुमुक्षुओं के समान मुझ वासुदेव को साक्षात् नहीं भजते हैं -- यह अर्थ है ।। 12 ।।

32 शरीराम्भक गुणों के वैषम्य के कारण भी सभी मनुष्य समान स्वभाववाले नहीं होते,-- यह कहते हैं --

---

40. श्रुति में भी कहा गया है – 'योऽन्यां देवतामुपासते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृह० उ० 1.4.10) अर्थात् जो मनुष्य दूसरे देवता की इसप्रकार उपासना करता है कि जैसे मैं अन्य हूँ और देवता मुझसे अन्य हैं – वह तत्त्व को नहीं जानता है, वह अज्ञान से प्रतिहत होता है अर्थात् उसको आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता है – वह देवताओं के समीप पशु की भाँति रहता है अर्थात् पशु जिस प्रकार आहारादि के लिए अपने स्वामी के अनुकूल कार्य करता है वह भी वैसे ही अपने क्षुद्र कर्मफलों की सिद्धि के लिए देवताओं की प्रीति के लिए कार्य करता है ।

33 **चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशश्च । तथाहि सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां च सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च कृष्यादीनि तादृशानि कर्माणि । तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तामसानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणीति मानुषे लोके व्यवस्थितानि ।**

34 **एवं तर्हि विषमस्वभावचातुर्वर्ण्यस्रष्टृत्वेन तव वैषम्यं दुर्वारमित्याशङ्क्य नेत्याह – तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य व्यवहारदृष्ट्या कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या विद्धयकर्तारमव्ययं निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम् ॥ 13 ॥**

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ 14 ॥

35 **कर्माणि विश्वसर्गादीनि मां निरहंकारत्वेन कर्तृत्वाभिमानहीनं भगवन्तं न लिम्पन्ति देहारम्भकत्वेन न बध्नन्ति । एवं कर्तृत्वं निराकृत्य भोक्तृत्वं निराकरोति न मे ममाऽऽप्तकामस्य कर्मफले स्पृहा**

[गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र -- चारों वर्णों की रचना मैंने की है, किन्तु उनका कर्ता होने पर भी तुम मुझको अकर्ता और अव्यय समझो ॥ 13 ॥]

33 चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम् = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र -- इन चार वर्णों को ही 'चातुर्वर्ण्य'[41] कहते हैं । यहाँ स्वार्थ में 'ष्यञ्' तद्धित प्रत्यय हुआ है । इस चातुर्वर्ण्य को गुणकर्मविभाग से = गुणविभाग से और कर्मविभाग मैंने अर्थात् ईश्वर ने रचा है अर्थात् उत्पन्न किया है[42] । इसीलिए ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान हैं और उनके शमदमादि कर्म भी सात्त्विक हैं । क्षत्रिय सत्त्वोपसर्जन = सत्त्व की गौणता और रजःप्रधान = रजोगुण की प्रधानता से युक्त हैं तथा उनके शौर्य, तेज आदि कर्म भी वैसे ही हैं । वैश्य तमोगुण की गौणता और रजोगुण की प्रधानता से युक्त हैं तथा उनके कृषि आदि कर्म भी वैसे ही हैं । शूद्र तमःप्रधान हैं और उनके त्रैवर्णिकों की = ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन वर्णों की सेवा, शुश्रूषा आदि कर्म भी तामस ही हैं -- इसप्रकार मनुष्यलोक में वर्ण और उनके गुणकर्मों की व्यवस्था है ।

34 'इसप्रकार तो विषम स्वभाववाले चातुर्वर्ण्य की रचना करनेवाले होने से आपकी विषमता दुर्वार = अनिवार्य ही है' -- ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् कहते हैं -- नहीं, उस विषम स्वभाव वाले चातुर्वर्ण्य का व्यवहार-दृष्टि से कर्ता होने पर भी परमार्थदृष्टि से तुम मुझको अकर्ता और अव्यय अर्थात् अहंकार रहित होने के कारण अपनी महिमा से अक्षीण = अच्युत समझो ॥ 13॥

['मुझको कर्म लिप्त नहीं करते और न मेरी कर्मफल में स्पृहा = इच्छा है' -- इसप्रकार जो पुरुष मुझको जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता ॥ 14 ॥]

---

41. चातुर्वर्ण्यम् = चत्वारो वर्णा एव – चतुर्वर्ण + ष्यञ् = य – आदिवृद्धि, अन्त्यवर्ण-लोप = 'चतुर्वर्ण' शब्द से 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (वार्तिक, 3091) = 'चतुर्वर्ण आदि शब्दों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' तद्धित प्रत्यय होता है, – इस वार्तिक के अनुसार स्वार्थ में 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय होकर 'चातुर्वर्ण्यम्' शब्द निष्पन्न हुआ है ।

42. यहाँ अर्थ में कुछ अनुपपत्ति प्रतीत होती है । जो यह कहा कि शरीराम्भक गुणों के वैषम्य के कारण भी सभी मनुष्य समान स्वभाववाले नहीं होते, इससे तो यही कहना चाहिए कि गुणकर्मविभाग से चातुर्वर्ण्य उत्पन्न हुआ है, 'मया सृष्टम्' = 'मैंने उत्पन्न किया है', -- यह कहने की आवश्यकता नहीं है । (द्रष्टव्य-भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

तृष्णा ' आप्तकामस्य का स्पृहा' इति श्रुतेः । कर्तृत्वाभिमानफलस्पृहाभ्यां हि कर्माणि लिम्पन्ति तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीति । एवं योऽन्योऽपि मामकर्तारमभोक्तारं चाऽऽत्मत्वेनाभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यतेऽकर्त्रात्मज्ञानेन मुच्यते इत्यर्थः ॥ 14 ॥

36 यतो नाहं कर्ता न मे कर्मफलस्पृहेति ज्ञानात्कर्मभिर्न बध्यतेऽतः –

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ 15 ॥

37 एवमात्मनोऽकर्तुः कर्मालेपं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरतिक्रान्तैरपि अस्मिन्युगे ययातियदुप्रभृतिभिर्मुमुक्षुभिः । तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु न तूष्णीमासनं नापि संन्यासम् । यद्यतत्त्ववित्तदाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थम् । पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरमतिपूर्वं युगान्तरेऽपि कृतम् । एतेनास्मिन्युगेऽन्ययुगे च पूर्वपूर्वतरैः कृतत्वादवश्यं त्वया कर्तव्यं कर्मेति दर्शयति ॥ 15 ॥

38 ननु कर्मविषये किं कश्चित्संशयोऽप्यस्ति येन पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्बध्नासि अस्त्येवेत्याह –

---

35 विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, संहारादि कर्म निरहङ्कार होने के कारण कर्तृत्व के अभिमान से रहित मुझ भगवान् को लिप्त नहीं करते अर्थात् देहारम्भकरूप से नहीं बाँधते । इसप्रकार अपने कर्तृत्व का निराकरण कर भोक्तृत्व का भी निराकरण करते हैं -- मुझ आप्तकाम को कर्मफल में स्पृहा = तृष्णा नहीं है, श्रुति भी कहती है -- 'आप्तकामस्य का स्पृहा' अर्थात् 'आप्तकाम को क्या स्पृहा = इच्छा हो सकती है'? कर्म कर्तृत्वाभिमान और फलस्पृहा से ही जीव को लिप्त करते हैं, उन दोनों का अभाव होने के कारण कर्म मुझको लिप्त नहीं करते । इसप्रकार जो कोई अन्य जीव भी मुझ अकर्ता और अभोक्ता को आत्मरूप से जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता अर्थात् वह अकर्ता आत्मा के ज्ञान से मुक्त हो जाता है ॥ 14 ॥

36 क्योंकि 'मैं कर्ता नहीं हूँ और न मुझको कर्मफल में स्पृहा है' -- ऐसे ज्ञान से जीव कर्मों से नहीं बँधता, इसलिए --

[ऐसा जानकर इस युग में पूर्ववर्ती मुमुक्षु भी कर्म करते थे और उनसे पहले अन्य युगों में होनेवाले मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था, अतः तुम भी कर्म ही करो ॥ 15 ॥]

37 एवं = इसप्रकार अकर्ता आत्मा में कर्मालेप = कर्म के लेप का अभाव जानकर पूर्ववर्ती = इस युग में अतिक्रान्त ययाति, यदु आदि मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था । अतः तुम भी कर्म ही करो, चुप नहीं बैठो और न संन्यास ही ग्रहण करो । यदि तुम तत्त्वविद् नहीं हो, तो चित्तशुद्धि के लिए और तत्त्वविद् हो, तो लोकसंग्रह के लिए कर्म करो । पूर्ववर्ती जनकादि ने पूर्वतर = अत्यन्त पूर्वकाल में युगान्तरों में भी कर्म किया था । इससे भगवान् यह दिखाते हैं कि इस युग में और अन्य युगों में भी पूर्ववर्ती और अत्यन्त पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था, अतः तुमको भी कर्म अवश्य करना चाहिए ॥ 15 ॥

38 'क्या कर्म के विषय में कोई सन्देह भी है जिससे आप 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' = 'पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी अत्यन्त पूर्वकाल में भी कर्म किया था' -- ऐसा कहकर अत्यन्त आग्रह कर रहे हैं ?' -- इसके उत्तर में कहते हैं, 'हाँ, है ही'--

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 16 ॥

39 नौस्थस्य निष्क्रियेष्वपि तटस्थवृक्षेषु गमनभ्रमदर्शनात्तथा दूराच्चक्षुःसंनिकृष्टेषु गच्छत्स्वपि पुरुषेष्वगमनभ्रमदर्शनात्परमार्थतः किं कर्म किं वा परमार्थतोऽकर्मेति कवयो मेधाविनोऽप्यत्रास्मिन्विषये मोहिता मोहं निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ता अत्यन्तदुर्निरूपत्वादित्यर्थः । तत्तस्मात्ते तुभ्यमहं कर्म, अकारप्रश्लेषेण च्छेदादकर्म च प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहोच्छेदेन वक्ष्यामि । यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यस्यशुभात्संसारात्॥ 16 ॥

40 ननु सर्वलोकप्रसिद्धत्वादहमेवैतज्जानामि देहेन्द्रियादिव्यापारः कर्म तूष्णीमासनमकर्मेति तत्र किं त्वया वक्तव्यमिति तत्राऽऽह –

[कर्म क्या है और अकर्म क्या है -- इस विषय में मेधावी पुरुषों को भी मोह हो जाता है, अतः मैं तुमको प्रकर्ष से कर्म और अकर्म बताऊँगा, जिसको जानकर तुम अशुभ = संसार से मुक्त हो जाओगे ॥ 16 ॥]

39 जैसे नौका में बैठे हुए पुरुष को निष्क्रिय = क्रियारहित तट के वृक्षों में चलने का भ्रम होता देखा जाता है तथा दूरी पर दिखाई देनेवाले चलते हुए पुरुषों में भी न चलने का भ्रम होता देखा जाता है, वैसे ही परमार्थतः क्या कर्म है अथवा क्या अकर्म है -- इस विषय में कवि = मेधावी पुरुष भी मोहित = मोह अर्थात् निर्णय करने में असमर्थता को प्राप्त होते देखे जाते हैं, क्योंकि इसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है -- ऐसा इसका अर्थ है । अतः मैं तुमको कर्म और 'तत्तेऽकर्म'-- इसप्रकार अकार का योग करते हुए 'तत् ते + अकर्म' -- ऐसा पदच्छेद करके अकर्म भी प्रवक्ष्यामि = प्र + वक्ष्यामि = प्र -- प्रकर्षेण = प्रकर्ष से = संदेह का उच्छेद करते हुए बताऊँगा, जिस कर्म और अकर्म के स्वरूप को जानकर तुम अशुभ अर्थात् संसार से मुक्त हो जाओगे[43] ॥ 16 ॥

40 'सर्वलोकप्रसिद्ध होने के कारण यह तो मैं भी जानता हूँ कि देह, इन्द्रियादि का व्यापार कर्म है और चुप बैठे रहना अकर्म है, इसमें आपको क्या कहना है ?' -- ऐसा यदि अर्जुन कहे तो भगवान् कहते हैं :--

43. भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म और अकर्म का तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है अतएव दुर्ज्ञेय है । इसीलिए कर्म के सम्बन्ध में विद्वानों में महान् वैषम्य दिखाई देता है । किसी के मत में कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान ही कर्म है और वेदनिषिद्ध अकरणीय कर्म का अनुष्ठान 'अकर्म' है । किसी के अनुसार देहेन्द्रियादि की चेष्टा ही 'कर्म' है और कुछ न करके संन्यासी के रूप में चुप रहना 'अकर्म' है । कोई कहता है कि भगवान् की आराधना ही 'कर्म' है और इसके अतिरिक्त सब 'अकर्म' है । अन्य कहते हैं कि कामनासहित शास्त्रीय या लौकिक कर्म ही 'कर्म' है और परमात्मा के स्वरूप का परोक्ष ज्ञान गुरुमुख से प्राप्त कर उस ज्ञान के साथ निष्कामरूप से अनुष्ठित कर्म 'अकर्म' है -- इत्यादि । इसप्रकार अत्यन्त मेधावी अर्थात् सर्वशास्त्रज्ञ विद्वान् भी कौन कर्म है और कौन अकर्म है -- इस विषय का निर्णय करने में प्रायशः असमर्थ होते हैं । अतः मैं ही कहता हूँ कि क्या कर्म है और क्या अकर्म है जिससे कि संसार से मुक्ति प्राप्त हो सके । यदि कर्म से कर्मफल उत्पन्न होता है तो वही कर्म संसार बन्धन का हेतु होता है अर्थात् कर्म में कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल की कामना रहने पर वही कर्म जन्म-मृत्यु का कारण बनकर संसार-गति प्राप्त कराता है और यदि कर्तृत्वाभिमान का त्यागकर अर्थात् प्रकृति से सम्भूत देहादि ही कर्म कर रहा है, मैं मात्र उसका द्रष्टा हूँ -- इस प्रकार की बुद्धि से आत्मस्वरूप में स्थित होकर कर्मफल में स्पृहाशून्य होकर देहेन्द्रियादि से कर्म करने पर भी कर्म संसार के बीज = कर्मफल को उत्पन्न नहीं कर सकता है । इसप्रकार का कर्म अकर्म ही हो जाता है । जो मनुष्य इसप्रकार कर्म और अकर्म के स्वरूप = तत्त्व को जानकर कर्म करते हैं तो उनका कर्म अकर्म हो जाता है और उसीकारण से वे संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

41 **हि यस्मात्कर्मणः शास्त्रविहितस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणश्च प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणश्च तूष्णींभावस्य । अत्र वाक्यत्रयेऽपि तत्त्वमस्तीत्यध्याहारः । यस्माद्गहना दुर्ज्ञाना । कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणाम् । गतिस्तत्त्वमित्यर्थः ॥ 17 ॥**

42 **कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वमिति तदाह –**

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥ 18 ॥

43 **कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे विहिते प्रतिषिद्धे चाहं करोमीति धर्म्यध्यासेनाऽऽत्मन्यारोपिते नौस्थेनाचलत्सु तटस्थवृक्षादिषु समारोपिते चलन इवाकर्त्रात्मस्वरूपालोचनेन वस्तुतः कर्माभावं तटस्थवृक्षादिष्विव यः पश्येत्पश्यति । तथा देहेन्द्रियादिषु त्रिगुणमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेषु निर्व्यापारस्तूष्णीं सुखमास इत्यभिमानेन समारोपितेऽकर्मणि व्यापारोपरमे दूरस्थचक्षुःसंनिकृष्टपुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमन इव सर्वदा सव्यापारदेहेन्द्रियादिस्वरूपपर्यालोचनेन**

[कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है ॥ 17 ॥]

41 हि = यस्मात् = क्योंकि कर्म = शास्त्रविहित कर्म का भी तत्त्व जानना चाहिए, विकर्म = प्रतिषिद्ध कर्म और अकर्म = चुप बैठे रहने का भी तत्त्व जानना चाहिए । यहाँ तीनों ही वाक्यों में 'बोद्धव्यम्' के साथ 'तत्त्वमस्ति' -- इतना अध्याहार करना चाहिए । क्योंकि कर्म की -- यह कर्म, अकर्म और विकर्म का उपलक्षण है, अतः इन तीनों ही की गति अर्थात् तत्त्व गहन = दुर्ज्ञेय है ॥ 17 ॥

42 'तो फिर इन कर्मादि का तत्त्व कैसा है ?' इसके उत्तर में कहते हैं :--
[जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान्, योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ॥ 18 ॥]

43 कर्म में = देहेन्द्रियादि के विहित और प्रतिषिद्ध व्यापार में, जिसका कि नौका में बैठे हुए पुरुष के द्वारा तटस्थ वृक्षों में आरोपित चलन के समान 'अहं करोमि' = 'मैं करता हूँ' -- इसप्रकार धर्मी के अध्यास से आत्मा में आरोप कर लिया गया है, -- जो अकर्त्ता आत्मा के स्वरूप का विचार करने से तटस्थ वृक्षों में चलनाभाव के समान वस्तुतः कर्माभाव देखता है; तथा त्रिगुणमयी माया के परिणामरूप से सर्वदा सव्यापार देहेन्द्रियादि में 'मैं निर्व्यापार चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ' -- इसप्रकार के अभिमान से आरोपित अकर्म में = व्यापाराभाव में, -- जो दूरी पर दिखाई देनेवाले चलते हुए पुरुषों में आरोपित गमनाभाव के समान है, -- जो सर्वदा सव्यापार देहेन्द्रियादि के स्वरूप का विचार करने से उदाहृत पुरुषों में गमन के समान वस्तुतः कर्म = निवृत्ति नामक प्रयत्नरूप व्यापार ही देखता है; तथा उदासीन अवस्था में भी 'मैं उदासीन हूँ' -- ऐसा अभिमान भी कर्म ही है -- इसप्रकार जो वास्तविक वस्तु को देखनेवाला है वह बुद्धिमान् है । 'स बुद्धिमान्'-- इत्यादि से बुद्धिमत्त्व, योगयुक्तत्व और सर्वकर्मकृत्त्व-- इन तीन धर्मों से उसकी स्तुति की गई है ।

वस्तुगत्या कर्म निवृत्त्याख्यप्रयत्नरूपं व्यापारं यः पश्येदुदाहृतपुरुषेषु गमनमिव । औदासीन्यावस्थायामप्युदासीनोऽहमास इत्यभिमान एव कर्म । एतादृशः परमार्थदर्शी स बुद्धिमानित्यादिना बुद्धिमत्त्वयोगयुक्तत्वसर्वकर्मकृत्त्वैस्त्रिभिर्धर्मैः स्तूयते ।

44 अत्र प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वं कर्मशब्दस्य विहितप्रतिषिद्धपरत्वात्, द्वितीयपादेन चाकर्मणस्तत्त्वं दर्शितमिति द्रष्टव्यम् । तत्र यत्त्वं मन्यसे कर्मणो बन्धहेतुत्वात्तूष्णीमेव मया सुखेन स्थातव्यमिति तन्मृषा । असति कर्तृत्वाभिमाने विहितस्य प्रतिषिद्धस्य वा कर्मणो बन्धहेतुत्वाभावात् । तथा च व्याख्यातं 'न मां कर्माणि लिम्पन्ती'त्यादिना । सति च कर्तृत्वाभिमाने तूष्णीमहमास इत्यौदासीन्याभिमानात्मकं यत्कर्म तदपि बन्धहेतुरेव वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । तस्मात्कर्मविकर्माकर्मणां तत्त्वमीदृशं ज्ञात्वा विकर्माकर्मणी परित्यज्य कर्तृत्वाभिमानफलाभिसंधिहानेन विहितं कर्मैव कुर्वित्यभिप्रायः ।

45 अपरा व्याख्या -- कर्मणि ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वभ्रमाधिष्ठानमकमविद्यं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत् । तथाऽकर्मणि च स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म दृश्यं मायामयं न परमार्थसत्, दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तेः --

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते' इति श्रुतेः ॥

---

44 यहाँ प्रथम पाद से कर्म और विकर्म -- इन दोनों के तत्त्व को दिखाया गया है, क्योंकि 'कर्म' शब्द विहित और प्रतिषिद्ध -- दोनों ही प्रकार के कर्मों का वाचक है; तथा द्वितीय पाद से अकर्म का तत्त्व दिखाया गया है -- यह द्रष्टव्य है । इसमें तुम जो ऐसा मानते हो कि कर्म तो बन्धन का हेतु है, अतः मुझे सुख से चुप ही बैठना चाहिए -- यह मृषा = असत्य है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान न रहने पर विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता । ऐसा ही 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (गीता, 4.14) -- इत्यादि श्लोक में भगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है । कर्तृत्वाभिमान रहने पर तो 'मैं चुप बैठा हूँ' -- ऐसा उदासीनता का अभिमानात्मक जो कर्म है वह भी बन्धन का ही हेतु होता है, क्योंकि तब वस्तुतत्त्व का ज्ञान नहीं होता । अतः कर्म, विकर्म और अकर्म -- इन तीनों के इसप्रकार के तत्त्व को जानकर विकर्म और अकर्म का परित्याग कर कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसंधि = फलाशा का त्याग कर विहित कर्म ही करो -- यह अभिप्राय है ।

45 दूसरी व्याख्या -- कर्म में = ज्ञान के कर्मभूत दृश्य जड़समूह में सद्रूप से और स्फुरणरूप से अनुस्यूत सम्पूर्ण भ्रम के अधिष्ठान अकर्म अर्थात् अवेद्य स्वप्रकाश चैतन्य को परमार्थ दृष्टि से जो देखता है; तथा अकर्म में = स्वप्रकाश दृग्वस्तु -- चिद्वस्तु में जो कल्पित कर्म = मायामय दृश्य को देखता है, परमार्थ सत् को नहीं, क्योंकि दृक् और दृश्य का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । श्रुति भी कहती है -- 'जो समस्त भूतों को आत्मा में और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है वह ऐसी दृष्टि के कारण किसी की निन्दा नहीं करता ।' इसप्रकार आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास होने पर भी जो शुद्ध वस्तु को ही देखता है वही मनुष्यों के मध्य में बुद्धिमान् है, अन्य नहीं, क्योंकि यही परमार्थदर्शी है, अन्य तो अपरमार्थदर्शी हैं । वह बुद्धि के साधन योग से युक्त और अन्तःकरण की शुद्धि के कारण एकाग्रचित्त है; अतः वही अन्तःकरण की शुद्धि के साधन सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है -- इसप्रकार उसके वास्तविक धर्मों से ही उसकी स्तुति की जाती है । क्योंकि ऐसा है,

एवं परस्पराध्यासेऽपि शुद्धं वस्तु यः पश्यति मनुष्येषु मध्ये स एव बुद्धिमान्नान्यः । अस्य परमार्थदर्शित्वादन्यस्य चापरमार्थदर्शित्वात् । स च बुद्धिसाधनयोगयुक्तोऽन्तः -- करण-शुद्ध्यैकाग्रचित्तः । अतः स एवान्तःकरणशुद्धिसाधनकृत्स्नकर्मकृदिति वास्तवधर्मैरेव स्तूयते । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि परमार्थदर्शी भव तावतैव कृत्स्नकर्मकारित्वोपपत्तेरित्यभिप्रायः ।

46 **अतो यदुक्तं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभादिति, यच्चोक्तं कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति, स बुद्धिमानित्यादिस्तुतिश्च, तत्सर्वं परमार्थदर्शने संगच्छते। अन्यज्ञानादशुभात्संसारान्मोक्षानुपपत्तेः। अतत्त्वं चान्यन्न बोद्धव्यं न वा तज्ज्ञाने बुद्धिमत्त्वमिति युक्तैव परमार्थदर्शिनां व्याख्या।**

47 **यत्तु व्याख्यानं कर्मणि नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत् । तथाऽकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति यः पश्येत्स बुद्धिमानित्यादि तदसंगतमेव । नित्यकर्मण्यकर्मेदमिति ज्ञानस्याशुभमोक्षहेतुत्वाभावात्, मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यैवाशुभत्वाच्च । न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वं नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्त्वादिस्तुत्युपपत्तिर्भान्तत्वात् । नित्यकर्मानुष्ठानं हि स्वरूपतोऽन्तःकरणशुद्धिद्वारोपयुज्यते न तत्राकर्मबुद्धिः कुत्राप्युपयुज्यते शास्त्रेण नामादिषु ब्रह्मदृष्टिवदविहितत्वात् । नापीदमेव वाक्यं**

इसलिए तुम भी परमार्थदर्शी बनो, क्योंकि उसी से तुम्हारा सम्पूर्णकर्मकारित्व उपपन्न होगा -- यह अभिप्राय है ।

46 अत: यह जो कहा गया था कि 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गीता, 4.16) = 'जिसको जानकर तुम अशुभ = संसार से मुक्त हो जाओगे'; तथा यह जो कहा था कि 'कर्मादीनां तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति' = ' कर्म, विकर्म और अकर्म -- इन तीनों के तत्त्व को जानना चाहिए'; एवं 'स बुद्धिमान्' (गीता, 4.18)' = 'वही बुद्धिमान् है' -- इत्यादि से जो उसकी स्तुति की थी -- यह सब परमार्थ का दर्शन होने पर ही संगत होता है, क्योंकि अन्य ज्ञान से तो अशुभ = संसार से मोक्ष होना सम्भव नहीं है । अन्य जो अतत्त्व है वह न तो बोद्धव्य = जानने योग्य है और न उसके ज्ञान में कोई बुद्धिमत्ता ही है -- इसप्रकार परमार्थदर्शियों की यह व्याख्या युक्त ही है ।

47 यह जो व्याख्यान है कि परमेश्वर के लिए अनुष्ठीयमान नित्य कर्म में बन्धन की हेतुता का अभाव होने के कारण 'यह अकर्म है' -- ऐसा जो देखता है; तथा नित्य कर्म न करने रूप अकर्म में प्रत्यवाय की हेतुता होने से 'यह कर्म है' -- ऐसा जो देखता है वह बुद्धिमान् है -- इत्यादि, वह असंगत ही है; क्योंकि नित्य कर्म में 'यह अकर्म है' -- ऐसा ज्ञान अशुभ = संसार से मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता, कारण कि मिथ्याज्ञान होने से वह स्वयं ही अशुभ है । ऐसा मिथ्याज्ञान न तो बोद्धव्य तत्त्व ही हो सकता है और न ऐसे ज्ञान में बुद्धिमत्त्वादि स्तुति ही उपपन्न हो सकती है, क्योंकि ऐसे ज्ञानवाला मनुष्य तो भ्रान्त ही है । क्योंकि नित्य कर्मों का अनुष्ठान स्वरूपत: अन्त:करण की शुद्धि के द्वारा ही उपयोगी होता है, अत: उसमें अकर्मबुद्धि का कहीं भी उपयोग नहीं होता, क्योंकि शास्त्र ने नामादि में ब्रह्मदृष्टि के समान उसमें अकर्मबुद्धि का कहीं विधान ही नहीं किया है । और न यही वाक्य इसका विधायक है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो उपक्रम आदि से विरोध होगा -- यह कह रहे हैं । इसीप्रकार नित्यकर्मों का न करना भी स्वरूपत: नित्यकर्म से विरुद्ध कर्म के रूप में ही उपयोगी होता है, उसमें कर्मदृष्टि का तो कहीं भी उपयोग नहीं होता । तथा नित्यकर्मों को न करने से कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती । अन्यथा, सर्वदा नित्य कर्म न करने से अविशेषता -- अभिन्नता -- समानता रहने के

तद्विधायकमुपक्रमादिविरोधस्योक्तेः । एवं नित्यकर्माकरणमपि स्वरूपतो नित्यकर्म-विरुद्धकर्मलक्षकतयोपयुज्यते न तु तत्र कर्मदृष्टिः काप्युपयुज्यते । नापि नित्यकर्माकरणात्प्रत्यवायः, अभावाद्भावोत्पत्त्ययोगात् । अन्यथा तदविशेषेण सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयत इति न्यायेन भावार्थस्यैवापूर्वजनकत्वात् । 'अतिरात्रे षोड़शिनं न गृह्णाति' इत्यादावपि संकल्पविशेषस्यै-वापूर्वजनकत्वाभ्युपगमात्, 'नेक्षेतोयन्तमादित्यम्' इत्यादिप्रजापतिव्रतवत् । अतो नित्यकर्मा-नुष्ठानार्हे काले तद्विरुद्धतया यदुपवेशनादि कर्म तदेव नित्यकर्माकरणोपलक्षितं प्रत्यवायहेतुरिति वैदिकानां सिद्धान्तः । अत एवाकुर्वन्विहितं कर्मेत्यत्र लक्षणार्थे शता व्याख्यातः । 'लक्षणहेत्वोः

कारण उससे कार्य की उत्पत्ति होती रहने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। पूर्वमीमांसा में कहा है – 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते' (मीमांसा सूत्र,2.1.1) = 'कर्मवाचक शब्द भावरूप अर्थ के द्योतक हैं, उनसे क्रिया की प्रतीति होती है और इसी अर्थ का उनसे विधान किया जाता है' -- इस न्याय में भावरूप अर्थ ही अपूर्व का जनक माना गया है। जैसे प्रजापतिव्रत में 'नेक्षेताद्यन्तमादित्यम्' = 'उदित होते हुए सूर्य को न देखे' -- इत्यादि में अनीक्षण संकल्प ही अनुष्ठेय है वही अपूर्वजनक है, ईक्षणाभाव नहीं; वैसे ही 'अतिरात्रे षोडशिनं न गृह्णाति' = 'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता' --इत्यादि में भी तदग्रहण संकल्प विशेष ही अनुष्ठेय होने के कारण अपूर्व का जनक माना गया है, ग्रहणाभाव नहीं। अतः नित्यकर्म के अनुष्ठान के योग्य समय में उसके विरुद्ध जो उपवेशन = कर्म न कर बैठे रहना आदि कर्म है वही नित्य कर्म न करने से उपलक्षित प्रत्यवाय का हेतु होता है[44] -- यह वैदिकों का सिद्धान्त है। अतएव 'अकुर्वन् विहितं कर्म' -- इस वाक्य में 'अकुर्वन्' शब्द में जो 'शतृ' प्रत्यय किया गया है उसको लक्षणार्थक मानकर व्याख्या की गई है। यद्यपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनिसूत्र, 3.2.126) = 'क्रिया से लक्षण और हेतु -- दोनों अर्थ में 'शतृ' प्रत्यय होता है' -- इस पाणिनिसूत्र के अनुसार लक्षण और हेतु – दोनों अर्थों में 'शतृ' प्रत्यय का विधान समानरूप से होता है, किन्तु यहाँ हेतु-अर्थ उपपन्न नहीं है[45]। अतः मिथ्यादर्शन के निराकरण का प्रसङ्ग होने पर मिथ्यादर्शन से ही व्याख्या करना शोभा नहीं देता। यह वाक्य नित्यकर्मानुष्ठानपरक भी नहीं है,

44. तात्पर्य यह है कि नित्यकर्म के अनुष्ठान के योग्य समय में उसके विरुद्ध कर्म अर्थात् नित्य कर्म न कर बैठे रहना ही भावरूप होने से प्रत्यवाय का जनक होता है अथवा उस समय नित्यकर्म न कर अनुष्ठीयमान कर्मान्तर ही प्रत्यवाय का कारण होता है, उस समय का अभावरूप नित्यकर्माकरण प्रत्यवाय का हेतु नहीं होता, क्योंकि वह अभावरूप होने से किसी का कारण ही नहीं हो सकता। अतएव श्रुति में कहा है – 'कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् 'असत् से सत् की उत्पति कैसे हो सकती है'। भगवान् ने स्वयं भी कहा है 'नासतो विद्यते भावः' (गीता, 2,16) अर्थात् 'असत्वस्तु से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है'। अतः यह वैदिक सिद्धांत है कि नित्यकर्माकरणोपलक्षित उपवेशनादि प्रत्यवाय-जनक होता है।

45. यहाँ यह शङ्का की गई है 'अकुर्वन् विहितं कर्म'– इस वाक्य में 'अकुर्वन्' शब्द में 'शतृ'प्रत्यय है और 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पाणिनिसूत्र,3.2.126) इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार प्रकृतवाक्य में 'शतृ'प्रत्यय लक्षण और हेतु दोनों के अर्थों में प्रयुक्त होना चाहिए, यहाँ 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग मात्र 'लक्षण' के अर्थ में हुआ है, हेतु अर्थ में नहीं, तो यह कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि प्रयोगान्तर में 'शतृ'प्रत्यय लक्षण और हेतु – दोनों अर्थों में विवक्षा भेद से वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थों में उपपत्ति होती है। किन्तु प्रकृत वाक्य में हेतु अर्थ में अनुपपत्ति है अतः हेतु की अविवक्षा है। यहाँ हेतु अर्थ में अनुपपत्ति क्यों है, क्योंकि अभाव से भाव नहीं होता। यदि प्रकृत में हेतु अर्थ स्वीकार करेंगे तो अभाव से भावोत्पत्ति को स्वीकार करना होगा जो असंभव है, अतः यहाँ 'शतृ'प्रत्यय मात्र 'लक्षण'के अर्थ में हुआ है।

क्रियाया' इत्यविशेषस्मरणेऽप्यत्र हेतुत्वानुपपत्तेः । तस्मान्मिथ्यादर्शनापनोदे प्रस्तुते मिथ्यादर्शनव्याख्यानं न शोभतेतराम् । नापि नित्यानुष्ठानपरमेवैतद्वाक्यं, 'नित्यानि कुर्या' दित्यर्थे 'कर्मण्यकर्म यः पश्ये' दित्यादि तदबोधकं वाक्यं प्रयुञ्जानस्य भगवतः प्रतारकत्वापत्तेरित्यादि भाष्य एव विस्तरेण व्याख्यातमित्युपरम्यते ॥ 18 ॥

48 तदेतत्परमार्थदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावेन कर्मालिप्तत्वं प्रपञ्च्यते ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्यन्तेन —

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ 19 ॥

49 यस्य पूर्वोक्तपरमार्थदर्शिनः सर्वे यावन्तो वैदिका लौकिका वा समारम्भाः समारभ्यन्त इति व्युत्पत्त्या कर्माणि कामसंकल्पवर्जिताः कामः फलतृष्णा संकल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः । लोकसंग्रहार्थं वा जीवनमात्रार्थं वा प्रारब्धकर्मवेगाद्वृथाचेष्टारूपा

क्योंकि 'नित्यानि कुर्याद्' = 'नित्यकर्म करने चाहिए' -- इस अर्थ में उस अर्थ का बोध न कराने वाले 'कर्मण्यकर्म यः पश्येद्' = 'जो कर्म में अकर्म देखता है' -- इत्यादि वाक्य का प्रयोग करने से भगवान् में प्रतारकत्वापत्ति होगी -- इत्यादि भाष्य में ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, अतः इस निरूपण से उपरत होता हूँ ॥ 18 ॥

48 तो उस परमार्थदर्शी में कर्तृत्व का अभिमान न रहने से कर्मलिप्तत्व भी नहीं रहता -- यह 'यस्य' इत्यादि से लेकर 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' (गीता 4.24) तक विस्तारपूर्वक कहते हैं --

[जिसके समस्त कर्म कामना = फल की तृष्णा और संकल्प = कर्तृत्वाभिमान से रहित होते हैं उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा दग्ध हुए कर्मों वाले पुरुष को बुधजन 'पण्डित' कहते हैं ॥19॥

49 जिसके = पूर्वोक्त परमार्थदर्शी के सर्वे = समस्त = जितने भी वैदिक या लौकिक सभी समारम्भ[46] = 'समारभ्यन्त' इति = 'जिनका सम्यक् आरम्भ किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्म कामसंकल्पवर्जित = काम -- फल की तृष्णा और संकल्प -- 'अहं करोमि' = 'मैं करता हूँ' -- इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान -- इनसे रहित लोकसंग्रह के लिए अथवा जीवनमात्र के लिए प्रारब्धकर्म के वेग से वृथा चेष्टारूप होते हैं । उसको=कर्मादि में अकर्मादिदर्शनरूप जो ज्ञान है वही है अग्नि

46. समारम्भ = 'समारभ्यत इति समारम्भः' अर्थात् सम्यक् प्रकार से देहेन्द्रियादि के द्वारा जिसका आरम्भ =अनुष्ठान किया जाता है उसको 'समारम्भ' कहते हैं अर्थात् प्राणरक्षा के उपयोगी देहेन्द्रियादि के सम्पूर्ण व्यापार को 'समारम्भ' कहते हैं ।

47. "तदधिगम =तद्= ब्रह्म का अधिगम= अनुभव होने पर उत्तर के अघ = पाप का अश्लेष और पूर्व के अघ = पाप का विनाश हो जाता है । श्रुति भी कहती है कि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ' (छा० उ० 4.14.3) अर्थात् 'जिसप्रकार पद्मपत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसीप्रकार तत्त्वज्ञानी पापकर्म से निर्लिप्त रहता है'— इस श्रुति से आगामी पाप के साथ विद्वान् के असम्बन्ध को कहा गया है । इसी प्रकार पूर्व के संचित पाप के विनाश को भी श्रुति कहती हे – 'तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० उ०, 5.24.3) अर्थात् 'जिस प्रकार तुला अग्नि से भस्मीभूत हो जाती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानी का निखिल पाप विनष्ट हो जाता है' । श्रुति कर्मक्षय का भी व्यपदेश करती है –

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'
(मुण्ड० उ०,2.2.8)

भवन्ति । तं कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात्, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं बुधा ब्रह्मविदः परमार्थतः पण्डितमाहुः । सम्यग्दर्शी हि पण्डित उच्यते न तु भ्रान्त इत्यर्थः ॥ 19 ॥

50 **भवतु ज्ञानाग्निना प्राक्तनानामप्रारब्धकर्मणां दाह आगामिनां चानुत्पत्तिः । ज्ञानोत्पत्तिकाले क्रियमाणं तु पूर्वोत्तरयोरनन्तर्भावात्फलाय भवेदिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनुदति --**

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ 20 ॥

51 **कर्मणि फले चाऽऽसङ्गं कर्तृत्वाभिमानं भोगाभिलाषं त्यक्त्वाऽकर्त्रभोक्त्रात्मसम्यग्दर्शनेन बाधित्वा नित्यतृप्तः परमानन्दस्वरूपलाभेन सर्वत्र निराकाङ्क्षः । निराश्रय आश्रयो देहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शनेन निर्गतो यस्मात्स निराश्रयो देहेन्द्रियाद्यभिमानशून्यः । फलकामनायाः कर्तृत्वाभिमानस्य च निवृत्तौ हेतुगर्भं क्रमेण विशेषणद्वयम् । एवंभूतो जीवन्मुक्तो व्युत्थानदशायां कर्मणि वैदिके लौकिके वाऽभिप्रवृत्तोऽपि प्रारब्धकर्मवशाल्लोकदृष्ट्याऽभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किंचित्करोति स निष्क्रियात्मदर्शनेन बाधितत्वादित्यर्थः ॥ 20 ॥**

उससे 'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' [47] (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) – इस न्याय से दग्ध हो गए हैं शुभाशुभरूप कर्म जिसके ऐसे ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्मोवाले उस पुरुष को बुध = ब्रह्मविद् -- ब्रह्मज्ञ - ब्रह्मवेत्ता वास्तविक 'पण्डित'कहते हैं । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शी ही 'पण्डित'[48] कहा जाता है, भ्रान्त नहीं ।।19।।

50 'अच्छा, ज्ञानाग्नि से प्राक्तन = पूर्वकृत अप्रारब्ध = प्रारब्धव्यतिरिक्त कर्मों का दाह और आगामी कर्मों की अनुत्पत्ति हो, किन्तु ज्ञानोत्पत्ति के समय क्रियमाण =किये हुए कर्म तो पूर्व और उत्तर = आगामी कर्मों में नहीं आते हैं, अतः वे तो फल के लिए होंगे '--- ऐसी यदि किसी की आशङ्का हो तो उसका निराकरण करते हैं :--

[जो पुरुष कर्म और फल की आसक्ति छोड़कर नित्यतृप्त और निराश्रय रहता है वह कर्म में प्रवृत्त रहने पर भी कुछ नहीं करता है ।।20 ।।]

51 कर्म और फल में आसङ्ग = क्रमशः कर्तृत्वाभिमान और भोग की अभिलाषा को त्यागकर = अकर्ता और अभोक्ता आत्मा के सम्यक् दर्शन से बाधित कर जो नित्यतृप्त = अपने परमानन्दमय स्वरूप के लाभ से सर्वत्र = सब विषयों से निराकाङ्क्ष – निस्पृह;और निराश्रय =अद्वैतदर्शन से देहेन्द्रियादि आश्रय निर्गत - निवृत्त हो गया है जिससे ऐसा निराश्रय अर्थात् देहेन्द्रियादि के अभिमान से शून्य होता है । फल की कामना और कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति में ये दोनों विशेषण क्रम से

अर्थात् 'उस परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि = अज्ञानग्रन्थि का भेदन हो जाता है, समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है तथा कर्मों का क्षय हो जाता है ।"

48. पण्डित = 'पण्डा वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः, सा संजाता अस्य, स पण्डितः' अर्थात् 'पण्डा' शब्द से 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (पाणिनिसूत्र, 5.2.36) – इस सूत्र के अनुसार 'इतच्'प्रत्यय होकर 'पण्डित' शब्द निष्पन्न हुआ है । 'पण्डा ' शब्द का अर्थ है -- वेदोज्ज्वला अथवा तत्त्वविषयिणी 'बुद्धि'। अथवा, कल्याणी =सर्वत्र एक अखण्ड चैतन्याकारा 'चित्तवृत्ति' को अर्थात् सर्वत्र 'समदर्शन' को 'पण्डा' कहते हैं । समदर्शन होने से आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता अर्थात् कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल की भिन्नत्वबुद्धि लुप्त हो जाती है । इस प्रकार के समदर्शी = परमार्थदर्शी को 'पण्डित' कहते हैं ।

52 यदाऽत्यन्तविक्षेपहेतोरपि ज्योतिष्टोमादेः सम्यग्ज्ञानवशान्न तत्फलजनकत्वं तदा शरीरस्थितिमात्रहेतोरविक्षेपकस्य भिक्षाटनादेर्नास्त्येव बन्धहेतुत्वमिति कैमुत्यन्यायेनाऽऽह –

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ 21 ॥

53 निराशीर्गततृष्णो यतचित्तात्मा चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्येन्द्रियसहितो देहस्तौ संयतौ प्रत्याहारेण निगृहीतौ येन सः । यतो जितेन्द्रियोऽतो विगततृष्णत्वात्त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा भोगोपकरणानि येन सः । एतादृशोऽपि प्रारब्धकर्मवशाच्छारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कौपी-

हेतुगर्भित हैं । एवंभूत वह जीवन्मुक्त व्युत्थान दशा में वैदिक अथवा लौकिक कर्म में अभिप्रवृत्त = प्रारब्धकर्मवश लोकदृष्टि से अभितः = साङ्गोपाङ्गरूप से अनुष्ठान करने के लिए प्रवृत्त होने पर भी अपनी दृष्टि से कुछ भी नहीं करता है, क्योंकि निष्क्रिय आत्मा के दर्शन से सब कर्म बाधित हो जाते हैं -- यह अर्थ है ॥20॥

52 'जब अत्यन्त विक्षेप के हेतु भी ज्योतिष्टोम आदि काम्य कर्म सम्यग्ज्ञान के कारण अपने फल के जनक = उत्पादक नहीं होते, तब शरीर की स्थिति मात्र के हेतु और अविक्षेपक = विक्षेप शून्य भिक्षाटनादि कर्म तो बन्धन के कारण हो ही नहीं सकते' -- यह कैमुतिकन्याय[49] से कहते हैं :-- [जो तृष्णाशून्य, अन्तःकरण और देह का निग्रह करनेवाला तथा सम्पूर्ण भोगसाधनों को त्यागनेवाला है वह पुरुष केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करता हुआ भी किल्विष = संसार को प्राप्त नहीं होता है ॥ 21 ॥]

53 निराशीः = तृष्णाशून्य, यतचित्तात्मा = जिसने चित्त = अन्तःकरण और आत्मा = बाह्य इन्द्रियों सहित देह -- इन दोनों का प्रत्याहार के द्वारा संयम = निग्रह कर लिया है वह; तथा क्योंकि जितेन्द्रिय है, अतः तृष्णाशून्य होने के कारण जो त्यक्तसर्वपरिग्रह है अर्थात् जिसने सम्पूर्ण परिग्रह = भोगसाधनों का त्याग कर दिया है वह ऐसा होने पर भी प्रारब्धकर्मवश शारीर = शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कौपीन और आच्छादन आदि धारण करना तथा भिक्षाटनादि करना रूप यति के लिए शास्त्र द्वारा अनुमोदित कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को--उनको भी कर्तृत्वाभिमान से शून्य होकर केवल दूसरों के द्वारा आरोपित कर्तृत्व से करता हुआ, परमार्थतः अकर्ता आत्मा का दर्शन करने के कारण किल्विष = धर्माधर्म के फलभूत अनिष्ट संसार को प्राप्त नहीं होता है[50] । ————

49. कैमुतिकन्याय = 'किमुत इत्यव्ययं तस्मात् आगतः = किमुत + ठक् = कैमुतिकः' = 'किमुत' (और कितना अधिक) अव्यय से 'तत आगतः' (पाणिनिसूत्र, 4.3.74) – इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होकर 'कैमुतिक' शब्द निष्पन्न हुआ है । यह न्यायविशेष है । इसका प्रयोग यह दिखलाने के लिए होता है जब बहुत बड़ा कार्य हो गया तो छोटे कार्य का क्या कहना । प्रकृत प्रसङ्ग में इस न्याय की सार्थकता यह है कि जब ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म भी सम्यग्ज्ञान के कारण अपने फल के जनक नहीं होते तो शरीरस्थितिमात्र के लिए कृत भिक्षाटनादि कर्म तो बन्धन के कारण हो ही नहीं सकते ।

50. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अधर्म का फल तो अनिष्ट = दुःखमय संसार होता है, क्योंकि अधर्म किल्विष = पाप है; किन्तु धर्म का फल अनिष्ट = दुःखमय संसार नहीं होगा, अपितु सुखमय संसार ही होगा, धर्म तो किल्विष = पाप नहीं, पुण्य है । तो इसका समाधान यह है कि प्रकृत में 'किल्विष' शब्द अनिष्टार्थक है । तत्त्वज्ञानी के लिए पाप के समान पुण्य भी बन्धक होने से अनिष्ट ही है, अतः वह भी किल्विष ही है, फलतः धर्म = पुण्य भी किल्विष = अनिष्ट संसार का हेतु है ।

नाच्छादनादिग्रहणभिक्षाटनादिरूपं यतिं प्रति शास्त्राभ्यनुज्ञातं कर्म कायिकं वाचिकं मानसं च, तदपि केवलं कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्परमार्थतोऽकर्त्रात्मदर्शनान्नाऽऽप्नोति न प्राप्नोति किल्बिषं धर्माधर्मफलभूतमनिष्टं संसारं पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टफलत्वेन किल्बिषत्वात् ।

54 **ये तु शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमिति व्याचक्षते तन्मते केवलं कर्म कुर्वन्नित्यतोऽधिकार्थालाभादव्यावर्तकत्वेन शारीरपदस्य वैयर्थ्यम् । अथ वाचिकमानसिकव्यावर्तनार्थमिति ब्रूयात्तदा कर्मपदस्य विहितमात्रपरत्वेन शारीरं विहितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमित्यप्रसक्तप्रतिषेधोऽनर्थकः। वाचिकं मानसं च विहितं कर्म कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषमिति च शास्त्रविरुद्धमुक्तं स्यात् । विहित प्रतिषिद्धसाधारणपरत्वेऽप्येवमेव व्याघात इति भाष्य एव विस्तरः ॥21॥**

55 **त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं कर्माभ्यनुज्ञातं तत्रान्नाच्छादनादिव्यतिरेकेण शरीरस्थितेरसंभवाद्याञ्चादिनाऽपि स्वप्रयत्नेनान्नादिकं संपाद्यमिति प्राप्ते नियमायाऽऽह –**

जिसप्रकार पाप अनिष्ट का कारण होने से किल्विष है वैसे ही पुण्य भी अनिष्ट का कारण होने से किल्विष ही है ।

54 जो 'शरीरनिर्वर्त्यं शारीरम्' = 'शरीरनिर्वर्त्य = शरीरसाध्य अर्थात् शरीर से साध्य कर्म 'शारीर' कर्म है' -- ऐसी व्याख्या करते हैं, उनके मत में तो 'केवलं कर्म कुर्वन्' -- इससे अधिक अर्थ का लाभ नहीं है, अत: उसके व्यावर्तक रूप से 'शारीर' पद व्यर्थ ही हो जाता है । यदि वे कहें कि 'शारीर' पद का प्रयोग वाचिक और मानसिक कर्मों की व्यावृत्ति के लिए है, तो 'कर्म' पद तो सभी विहित कर्मों का वाचक है, अत: इससे 'शास्त्रविहित शारीरिक कर्मों को करने से ज्ञानी किल्विष = पाप को प्राप्त नहीं होता है' -- यह अर्थ होगा, वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि तत्त्वज्ञानी के लिए शास्त्रविहित कर्म प्रसक्त ही नहीं है अतएव उसका प्रतिषेध ही व्यर्थ होगा । यदि 'शास्त्रविहित वाचिक और मानसिक कर्म करने से ज्ञानी किल्विष = पाप को प्राप्त होता है' -- यह अर्थ करेंगे, तो यह शास्त्रविरुद्ध होगा । यदि इसको विहित और प्रतिषिद्ध -- दोनों ही प्रकार के कर्मों का समानरूप से वाचक मानें तब भी ऐसा ही व्याघात उपस्थित होगा -- इसप्रकार इसका भाष्य में ही बहुत विस्तार किया है ॥ 21॥

55 सम्पूर्ण भोगसाधनों के परित्यागी यति के लिए शरीर की स्थितिमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कर्म की अभ्यनुज्ञा -- अनुमति शास्त्र में दी गई है,[51] इसमें अन्न, आच्छादनवस्त्रादि के बिना शरीर की स्थिति संभव न होने के कारण उसको याञ्चा -- याचना आदि करके भी अपने प्रयत्न से अन्नादि का संग्रह करना चाहिए -- ऐसा प्राप्त होने पर भगवान् नियम के लिए कहते हैं :–

---

51. शास्त्र में यति के लिए पाँच प्रकार की भिक्षा की व्यवस्था कही गई है –

"माधुकरमसंक्लिप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकापपन्नञ्च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम् ॥"

(i) माधुकरी भिक्षा -- मधुकर जैसे पुष्प-पुष्प पर मधु के लिए घूमता रहता है वैसे ही परिव्राजक भी यदि घर-घर घूमकर प्रयोजनीय भिक्षा का संग्रह करता है वह 'माधुकरी' भिक्षा है । (ii) असंक्लिप्त भिक्षा--अभिशप्त पापियों के गृह वर्जन करके संकल्प न कर तीन, पाँच अथवा सात गृहों से भिक्षा ग्रहण करना 'असंक्लिप्त' भिक्षा है । (iii) प्राक्प्रणीत भिक्षा-पहले ही यदि कोई भक्त भिक्षा के लिए अनुरोध करे तो उसको स्वीकार करने से उसी भिक्षा को 'प्राक्प्रणीत' भिक्षा कहते हैं । (iv) अयाचित भिक्षा – याचना या प्रयत्न के बिना ही जो भिक्षा स्वत: ही प्राप्त हो उसको ' अयाचित' भिक्षा कहते हैं । (v) तात्कालिकोपपन्न भिक्षा -- भिक्षा के समय यदि कोई भक्त संन्यासी के समीप भिक्षा लाकर उपस्थित हो तो उसे 'तात्कालिकोपपन्न' भिक्षा कहते हैं ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ 22 ॥

56 शास्त्राननुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा तयैव यो लाभोऽन्नाच्छादनादेः शास्त्रानुमतस्य स यदृच्छालाभस्तेन संतुष्टस्तदधिकतृष्णारहितः । तथा च शास्त्रं 'भैक्षं चरेत्' इति प्रकृत्य अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' इति याञ्चासंकल्पादिप्रयत्नं वारयति । मनुरपि --

'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् इति ॥'

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्तीत्यादिशास्त्रानुमतस्तु प्रयत्नः कर्तव्य एव । एवं लब्धव्यमपि शास्त्रनियतमेव --

'कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥' इत्यादि ।

एवमन्यदपि विधिनिषेधरूपं शास्त्रमूह्यम् ।

57 ननु स्वप्रयत्नमन्तरेणालाभे शीतोष्णादिपीडितः कथं जीवेदत आह -- द्वंद्वातीत द्वंद्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादीनि अतीतोऽतिक्रान्तः समाधिदशायां तेषामस्फुरणात् । व्युत्थानदशायां

[जो यदृच्छामात्र से -- अपने आप ही होनेवाले लाभ में सन्तुष्ट रहनेवाला, हर्षशोकादि द्वन्द्वों से अतीत -- परे, मत्सरता -- ईर्ष्या से रहित, तथा सिद्धि और असिद्धि में समत्व--भाववाला होता है, वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करके भी उनमें नहीं बँधता है ।। 22 ।।

56 शास्त्र में जिसकी अनुमति नहीं दी गई है उस प्रयत्न से भिन्न 'यदृच्छा' है । उसी से जो शास्त्रानुमत -- शास्त्रसम्मत अन्न, वस्त्रादि का लाभ होता है वह 'यदृच्छालाभ' है, उसी से जो सन्तुष्ट है अर्थात् उससे अधिक की तृष्णा से रहित है । इसीप्रकार शास्त्र भी 'भैक्षं चरेत्' = 'भिक्षाटन करे' -- ऐसा प्रकरण उठाकर फिर 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' = 'संन्यासी न मांगी हुई, न संकल्प की हुई, स्वयं ही प्राप्त तथा यदृच्छा से प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करे' -- ऐसा कहकर याञ्चा, संकल्पादि के प्रयत्न को रोकता ही है । मनु ने भी कहा है --

"यति भूकम्पादि उत्पात और निमित्त = शकुन बताकर, नक्षत्रविद्या से, हस्तरेखा आदि अङ्गविद्या से, शासनपूर्वक और वाद-विवाद करके कभी भी भिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न न करे" (मनुस्मृति, 6.50) । 'यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्ति' = 'यतिजन भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करते हैं' -- इत्यादि शास्त्रानुमत प्रयत्न तो करना ही चाहिए । इसी प्रकार 'लब्धव्य' = 'कितना ग्रहण करना चाहिए' -- यह भी शास्त्र से नियत है --

"दो कौपीन, वस्त्र, शीतनिवारिणी कन्था और पादुकाएँ -- इतना ग्रहण कररना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का संग्रह न करे" -- इत्यादि । इसीप्रकार अन्य विधि -- निषेधरूप शास्त्र भी समझ लेने चाहिए ।

57 'यदि अपने प्रयत्न के बिना कन्था, वस्त्रादि की प्राप्ति न हो तो शीतोष्णादि = सर्दी-गर्मी आदि से पीड़ित होकर यति कैसे जीवेगा ?' ऐसी शंका हो, तो कहते हैं -- 'द्वन्द्वातीत:' = 'भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और वर्षा आदि जो द्वन्द्व हैं इनसे जो अतीत = अतिक्रान्त -- ऊपर उठा हुआ है अर्थात्

स्फुरणेऽपि परमानन्दाद्वितीयाकर्त्रभोक्त्रात्मप्रत्ययेन बाधात्तैर्द्वंद्वैरुपहन्यमानोऽप्यक्षुभितचित्तः । अत एव परस्य लाभे स्वस्यालाभे च विमत्सरः परोत्कर्षासहनपूर्विका स्वोत्कर्षवाञ्छा मत्सरस्तद्रहितोऽद्वितीयात्मदर्शनेन निर्वैरबुद्धिः । अत एव समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ च सिद्धौ न हृष्टो नाप्यसिद्धौ विषण्णः स स्वानुभवेनाकर्तैव परैरारोपितकर्तृत्वः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते बन्धहेतोः सहेतुकस्य कर्मणो ज्ञानाग्निना दग्धत्वादिति पूर्वोक्तानुवादः ॥ 22 ॥

58 त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य यतेर्यच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिरूपं कर्म तत्कृत्वा न निबध्यत इत्युक्ते गृहस्थस्य ब्रह्मविदो जनकादेर्यज्ञादिरूपं यत्कर्म तद्बन्धहेतुः स्यादिति भवेत्कस्यचिदाशङ्का तामपनेतुं त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गमित्यादिनोक्तं विवृणोति —

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ 23 ॥

59 गतसङ्गस्य फलासङ्गशून्यस्य मुक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसो निर्विकल्पकब्रह्मात्मैक्यबोध एव स्थितं चित्तं यस्य तस्य स्थितप्रज्ञस्येत्यर्थः । उत्तरोत्तरविशेषणस्य पूर्व-

---

समाधि अवस्था में इनका स्फुरण नहीं होने से और व्युत्थान दशा में इनका स्फुरण होने पर भी परमानन्दस्वरूप, अद्वितीय, अकर्ता, अभोक्ता आत्मा के अनुभव से बाधित हो जाने के कारण उन द्वन्द्वों से उपहत होने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता । अतएव, दूसरे को लाभ होने पर और अपने को लाभ न होने पर जो 'विमत्सर' होता है तथा दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करते हुए स्वोत्कर्ष -- आत्मोत्कर्ष की अभिलाषा करना जो 'मत्सर' है -- उससे जो रहित है अर्थात् अद्वितीय आत्मा के दर्शन से जिसकी बुद्धि निर्वैर = वैरहीन है । अतएव जो यदृच्छा लाभ की सिद्धि और असिद्धि में समान -- एक सा रहता है अर्थात् सिद्धि होने पर प्रसन्न नहीं होता और असिद्धि में खिन्न नहीं होता वह अपने अनुभव से तो अकर्ता ही रहता है, दूसरे लोग ही उसमें कर्तृत्व का आरोप कर लेते हैं । वह शरीर की स्थितिमात्र के लिए भिक्षाटनादिरूप कर्मों को करता हुआ भी उनमें नहीं बँधता है, क्योंकि बन्धन का हेतु कर्म तो अपने कारण सहित ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है -- यह पूर्वोक्तानुवाद है ॥ 22 ॥

58 'सम्पूर्ण भोगसाधनों का परित्यागी और यदृच्छालाभ में सन्तुष्ट यति शरीर की स्थितिमात्र के लिए भिक्षाटनादिरूप कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता है' -- ऐसा कथन होने पर यदि किसी की यह आशङ्का हो कि 'गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी जनकादि के यज्ञादिरूप जो कर्म हैं वे उनके बन्धन के हेतु होंगे'? -- तो उसका निराकरण करने के लिए भगवान् 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (गीता, 4.20) -- इत्यादि श्लोक से कहे हुए कथन का स्पष्टीकरण करते हैं --

[फलासक्ति से शून्य, कर्तृत्व -- भोक्तृत्व आदि के अध्यास से शून्य, स्थितप्रज्ञ और यज्ञ = विष्णु के लिए करनेवाले पुरुष का कर्म अपने फलसहित सर्वथा लीन हो जाता है ॥ 23 ॥]

59 'गतसङ्गस्य' = फल की आसक्ति से शून्य का, 'मुक्तस्य' = कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के अध्यास से शून्य का, 'ज्ञानावस्थितचेतसः' = निर्विकल्पक ब्रह्म और आत्मा की एकता के बोध में स्थित है चित्त जिसका उसका अर्थात् स्थितप्रज्ञ का । यहाँ उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व-पूर्व विशेषण का हेतु समझकर अन्वय

पूर्वहेतुत्वेनान्वयो द्रष्टव्यः । गतसङ्गत्वं कुतो यतोऽध्यासहीनत्वं तत्कुतो यतः स्थितप्रज्ञत्वमिति । ईदृशस्यापि प्रारब्धकर्मवशायज्ञाय यज्ञसंरक्षणार्थं ज्योतिष्टोमादियज्ञे श्रेष्ठाचारत्वेन लोकप्रवृत्त्यर्थं यज्ञाय विष्णवे तत्प्रीत्यर्थमिति वा । आचरतः कर्म यज्ञदानादिकं समग्रं सहाग्रेण फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते प्रकर्षेण कारणोच्छेदेन तत्त्वदर्शनाद्विलीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ 23 ॥

60 **ननु क्रियमाणं कर्म फलमजनयित्वैव कुतो नश्यति ब्रह्मबोधे तत्कारणोच्छेदादित्याह –**

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥ 24 ॥

61 **अनेककारकसाध्या हि यज्ञादिक्रिया भवति । देवतोद्देशेन हि द्रव्यत्यागो यागः । स एव त्यज्यमानद्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपाद्धोम इत्युच्यते । तत्रोद्देश्या देवता संप्रदानं, त्यज्यमानं द्रव्यं हविः**

करना चाहिए । 'गतसङ्गत्व क्यों हैं ?' -- क्योंकि अध्यासहीनता है । 'अध्यासहीनता क्यों है' ? -- क्योंकि स्थितप्रज्ञता है । ऐसे पुरुष के भी प्रारब्धकर्मवश 'यज्ञाय' = यज्ञ की रक्षा के लिए -- श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण होने के कारण ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में लोक की प्रवृत्ति कराने के लिए -- अथवा यज्ञ अर्थात् विष्णु उनकी प्रीति -- प्रसन्नता के लिए आचरण करनेवाले पुरुष का कर्म = यज्ञदानादि समग्र[52] = 'सहाग्रेण फलेन विद्यते' अर्थात् जो अग्र = फल के सहित रहे वह 'समग्र' है, इसप्रकार फल सहित प्रविलीन = प्र--प्रकर्ष से--तत्त्व--दर्शन से कारणोच्छेदपूर्वक विलीन अर्थात् विनष्ट हो जाता है ॥ 23 ॥

60 'किन्तु क्रियमाण कर्म अपना फल उत्पन्न किये बिना ही क्यों नष्ट हो जाता है' ? -- इस शङ्का का उत्तर देते हैं – 'क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर कर्म के कारण का उच्छेद--नाश हो जाता है' -- यही कहते हैं :--

[अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है -- इसप्रकार जिसकी कर्म में ब्रह्मदृष्टि है उसके लिए उससे प्राप्त होनेवाला फल भी ब्रह्म ही है ॥ 24 ॥]

61 यज्ञादि क्रिया कर्तादि अनेक कारकों से साध्य होती है । देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग करना 'याग' है । उसी त्यज्यमान = त्याग किये जानेवाले द्रव्य को अग्नि में छोड़ने से 'होम' कहा जाता है । इसमें उद्देश्य देवता 'सम्प्रदान' कारक है, 'हवि' शब्द का वाच्य त्यज्यमान द्रव्य 'प्रक्षेप' धातु के अर्थ का साक्षात् 'कर्म' है । उसका फल व्यवहित स्वर्गादि[53] तो भावना का 'कर्म' है ।

52. समग्र = यद्यपि 'समग्र' शब्द समस्तवाची है तथापि प्रकृत में यौगिक अर्थ से फलसहित साधनपरक है । इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने 'सहाग्रेण फलेन विद्यते इति समग्रम्' – ऐसी व्युत्पत्ति की है । भाष्यकार शंकराचार्य ने 'सहाग्रेण कर्मफलेन वर्तत इति समग्रम्' -- यह व्युत्पत्ति की है ।

53. उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत जो उत्पादयिता का मानसिक व्यापार विशेष होता है उसको 'भावना' कहते हैं । भावना दो प्रकार की होती है -- शाब्दी और आर्थी । उत्पादयिता = प्रयोजक के उस व्यापारविशेष को, जो प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला होता है, 'शाब्दी भावना' कहते हैं । शाब्दी भावना का बोध 'लिङ्' अंश से होता है, अतः लिङर्थ को 'शाब्दी भावना' कहते हैं । स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार उत्पन्न होता है उसको 'आर्थी भावना' कहते हैं । आर्थी--भावना का बोध 'धातु' अंश से होता है, अतः धात्वर्थ को 'आर्थी–भावना' कहते हैं । शाब्दी–भावना का कर्म आर्थी भावना होती है और आर्थी भावना का कर्म स्वर्गादि होता है । अतः शाब्दी भावना का कर्म स्वर्गादि होता है किन्तु वह आर्थी भावना से व्यवहित होता है । इसीलिए प्रकृत में 'व्यवहित स्वर्गादि' कहा है ।

शब्दवाच्यं साक्षाद्धात्वर्थकर्म, तत्फलं तु स्वर्गादि व्यवहितं भावनाकर्म। एवं धारकत्वेन हविषोऽग्नौ प्रक्षेपे साधकतमतया जुह्वादि करणं प्रकाशकतया मन्त्रादीति करणमपि कारकज्ञापकभेदेन द्विविधम्। एवं त्यागोऽग्नौ प्रक्षेपश्च द्वे क्रिये। तत्राऽऽद्यायां यजमानः कर्ता। प्रक्षेपे तु यजमानपरिक्रीतोऽध्वर्युः प्रक्षेपाधिकरणं चाग्निः। एवं देशकालादिकमप्यधिकरणं सर्वक्रियासाधारणं द्रष्टव्यम्।

62 **तदेवं सर्वेषां क्रियाकारकादिव्यवहाराणां ब्रह्माज्ञानकल्पितानां रज्ज्वज्ञानकल्पितानां सर्पधारादण्डादीनां रज्जुतत्त्वज्ञानेनेव ब्रह्मतत्त्वज्ञानेन बाधे बधितानुवृत्त्या क्रियाकारकादिव्यवहाराभासो दृश्यमानोऽपि दग्धपटन्यायेन न फलाय कल्पत इत्यनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। ब्रह्मदृष्टिरेव च सर्वयज्ञात्मिकेति स्तूयते।**

63 **तथाहि - अर्प्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणं जुह्वादि मन्त्रादि च। एवमर्प्यतेऽस्मा इति व्युत्पत्त्याऽर्पणं देवतारूपं संप्रदानम्। एवमर्प्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याऽर्पणमधिकरणं देशकालादि। तत्सर्वं ब्रह्मणि कल्पितत्वाद्ब्रह्मैव रज्जुकल्पितभुजंगवदधिष्ठानव्यतिरेकेणासदित्यर्थः। एवं हविस्त्यागप्रक्षेपक्रिययोः साक्षात्कर्म कारकं तदपि ब्रह्मैव। एवं यत्र प्रक्षिप्यतेऽग्नौ सोऽपि ब्रह्मैव। ब्रह्माग्नाविति समस्तं पदम्। तथा येन कर्त्रा यजमानेनाध्वर्युणा च त्यज्यते प्रक्षिप्यते च तदुभयमपि**

इसीप्रकार अग्नि में छोड़ते समय हवि को धारण करनेवाले होने से जुहु आदि अत्यन्त साधक होने के कारण 'करण' हैं तथा प्रकाशक होने से मन्त्रादि भी 'करण' ही है -- इसप्रकार 'करण' भी कारक और ज्ञापक भेद से दो प्रकार का है। इसीप्रकार त्याग और अग्नि में प्रक्षेप = छोड़ना ये दो क्रियाएँ हैं इनमें प्रथम क्रिया 'त्याग' का कर्ता तो यजमान है, किन्तु 'प्रक्षेप' में यजमान के द्वारा दक्षिणादि से परिक्रीत अध्वर्यु कर्ता है। तथा प्रक्षेप का 'अधिकरण' अग्नि है। इसीप्रकार देश, कालादि को भी समस्त क्रियाओं का साधारण अधिकरण समझना चाहिए।

62 इसप्रकार, जैसे रज्जु के अज्ञान से कल्पित सर्प, धारा, दण्डादि का रज्जु के तत्त्वज्ञान से बाध हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित इन क्रिया, कारकादि समस्त व्यवहारों का ब्रह्मतत्त्वज्ञान से बाध हो जाने पर बाधित अनुवृत्ति से यदि इस क्रिया-कारकादि के व्यवहाराभास की प्रतीति भी होती रहे तो भी यह दग्धपटन्याय[54] से फलदायक नहीं होता -- यही इस श्लोक से प्रतिपादित किया गया है। 'ब्रह्मदृष्टि ही सर्वयज्ञात्मिका है' -- इसप्रकार उसकी स्तुति की जाती है।

63 जैसे कि 'अर्पणम्' = 'अर्प्यतेऽनेनेति' = 'इनके द्वारा अर्पण किया जाता है' -- इस करणव्युत्पत्ति से जुहु आदि और मन्त्रादि 'अर्पण' है। इसीप्रकार 'अर्प्यतेऽस्मा इति' = 'इनके लिए अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से देवतारूप सम्प्रदान 'अर्पण' है। इसीप्रकार 'अर्प्यतेऽस्मिन्निति' = 'इनमें अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से देश-कालादि अधिकरण 'अर्पण' है। ये सब ब्रह्म में कल्पित होने के कारण ब्रह्म ही हैं। रज्जु में कल्पित सर्प के समान अपने अधिष्ठान से पृथक् ये असत् ही हैं -- यह अर्थ है। इसीप्रकार त्याग और प्रक्षेप क्रियाओं का साक्षात् कर्मकारक 'हवि' भी ब्रह्म ही है। इसीप्रकार जिस अग्नि में हवि छोड़ा जाता है वह भी ब्रह्म ही है। 'ब्रह्माग्नौ' -- यह समस्त पद है। इसीप्रकार जिन यजमान और अध्वर्यु कर्ताओं के द्वारा हवि का त्याग और प्रक्षेप किया जाता है वे दोनों कर्ताकारक भी ब्रह्म हैं -- जैसा कि कर्ता में विहित तृतीया के द्वारा अनुवाद करके 'ब्रह्मणा' पद से ब्रह्म का विधान किया गया है। इसीप्रकार 'हुतम्'= हवन अर्थात् त्यागक्रिया और प्रक्षेपक्रिया--

54. दग्धपटन्याय = जले हुए वस्त्र का न्याय। यह न्याय किसी वस्तु की निष्प्रयोजनता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे दग्ध वस्त्र में वस्तु का आकारमात्र प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में उससे वस्त्र का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रकृत में भी ठीक वैसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञान से क्रिया-कारकादि व्यवहार बाधित हो जाते हैं, बाधित हो जाने पर भी वे बाधितानुवृत्ति से आभासरूप में प्रतीत होते रहते हैं, किन्तु वे फलदायक नहीं होते हैं।

कर्तृकारकं कर्तरि विहितया तृतीययाऽनूद्य ब्रह्मेति विधीयते ब्रह्मणेति । एवं हुतमिति हवनं त्यागक्रिया प्रक्षेपक्रिया च तदपि ब्रह्मैव । तथा तेन हवनेन यद्गन्तव्यं स्वर्गादि व्यवहितं कर्म तदपि ब्रह्मैव । अत्रत्य एवकारः सर्वत्र संबध्यते । हुतमित्यत्रापीत एव ब्रह्मेत्यनुषज्यते व्यवधानाभावात्साकाङ्क्षत्वाच्च 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' इत्यादावच्छिद्रेणेत्यादिपरवाक्यशेषवत् ।

64 **अनेन रूपेण कर्मणि समाधिर्ब्रह्मज्ञानं यस्य स कर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मविदा कर्मानुष्ठात्राऽपि ब्रह्म परमानन्दाद्वयं गन्तव्यमित्यनुषज्यते साकाङ्क्षत्वादव्यवधानाच्च या ते अग्ने रजाशयेत्यादौ तनूर्वर्षिष्ठेत्यादिपूर्ववाक्यशेषवत् ।**

65 **अथवाऽर्प्यतेऽस्मै फलायेति व्युत्पत्त्याऽर्पणपदेनैव स्वर्गादिफलमपि ग्राह्यम् । तथा च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इत्युत्तरार्धं ज्ञानफलकथनायैवेति समञ्जसम् । अस्मिन्पक्षे ब्रह्मकर्मसमाधिनेत्येकं वा पदम् । पूर्वं ब्रह्मपदं हुतमित्यनेन संबध्यते चरमं गन्तव्यपदेनेति भिन्नं वा पदम् । एवं च नानुषङ्गद्वयक्लेश इति द्रष्टव्यम् । ब्रह्म गन्तव्यमित्यभेदेनैव तत्प्राप्तिरुपचारात् । अत एव न स्वर्गादि तुच्छफलं तेन गन्तव्यं विद्ययाऽऽविद्यककारकव्यवहारोच्छेदात् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः –**

ये भी ब्रह्म ही हैं । इसीप्रकार उस हवन से जो गन्तव्य है वह स्वर्गादि व्यवहित कर्म भी ब्रह्म ही है । अत्रत्य = यहाँ के = श्लोक के 'एवकार' का सबके साथ सम्बन्ध है । व्यवधान का अभाव और साकांक्ष होने के कारण जैसे 'चित्पतिस्त्वा पुनातु' = 'चित्पति तुमको पवित्र करे' -- इत्यादि वाक्यों में अन्य वाक्यों से 'अच्छिद्रेण' = 'निरन्तर' आदि पद का अध्याहार कर लिया जाता है वैसे ही यहाँ 'हुतम्' -- इस पद के साथ भी इधर से ही = श्लोक से 'ब्रह्म' पद का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए ।

64 इस रूप से कर्म में समाधि = ब्रह्मज्ञान है जिसका वह 'कर्मसमाधि' है उस ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठाता के लिए भी परमानन्द अद्वयस्वरूप ब्रह्म ही गन्तव्य है -- इसप्रकार अव्यवधान और साकांक्ष होने के कारण 'ब्रह्मैव गन्तव्यम्' का 'कर्मसमाधिना' के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए, जैसे कि 'या ते अग्ने रजाशया' इत्यादि वाक्य में 'तनूवर्षिष्ठा' इत्यादि पूर्ववाक्य के शेष का अध्याहार कर लिया जाता है ।

65 अथवा, 'अर्प्यतेऽस्मै फलायेति' = 'इस फल के लिए अर्पण किया जाता है' -- इस व्युत्पत्ति से 'अर्पण' पद से ही स्वर्गादि फल भी ग्रहण कर सकते हैं । इसप्रकार 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह उत्तरार्ध ज्ञानफल बताने के लिए ही है -- यह कहना ठीक है । इस पक्ष में 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' यह या तो एक पद है या इस उत्तरार्ध के पूर्व 'ब्रह्म' पद का 'हुतम्' के साथ सम्बन्ध है और चरम = अन्तिम 'ब्रह्म' पद का 'गन्तव्यम्' के साथ सम्बन्ध है -- इसप्रकार ये भिन्न-भिन्न पद हैं । इसप्रकार दो सम्बन्ध लगाने का कष्ट नहीं होगा -- यह द्रष्टव्य है । 'ब्रह्म गन्तव्य है' -- इसप्रकार भी ब्रह्मप्राप्ति ब्रह्माभेद होने से औपचारिक है[55] । अतएव उसके द्वारा स्वर्गादि तुच्छफल गन्तव्य नहीं है, क्योंकि विद्या से अविद्यक कारक व्यवहार का उच्छेद हो जाता है । वार्तिककार ने कहा है --

55. 'ब्रह्म गन्तव्य है' -- इस वाक्य में उक्त ब्रह्मप्राप्ति औपचारिक है, क्योंकि ब्रह्म गन्तव्य ज्ञानी वस्तुतः ब्रह्म ही है ।

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिः कुतः ॥' इति ।

66 **अर्पणादिकारकस्वरूपानुपमर्देनैव तत्र नामादाविव ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते संपन्मात्रेण फलविशेषायेति केषांचिद्व्याख्यानं भाष्यकृद्भिरेव निराकृतमुपक्रमादिविरोधाद्ब्रह्मविद्याप्रकरणे संपन्मात्रस्याप्रसक्तत्वादित्यादियुक्तिभिः ॥ 24 ॥**

67 **अधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञरूपत्वेन स्तावकतया ब्रह्मार्पणमन्त्रे स्थिते पुनरपि तस्य स्तुत्यर्थमितरान्यज्ञानुपन्यस्यति –**

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ 25 ॥

68 **देवा इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन स दैवस्तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिरूपमपरे योगिनः कर्मिणः पर्युपासते सर्वदा कुर्वन्ति न ज्ञानयज्ञम् । एवं कर्मयज्ञमुक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्फलभूतं ज्ञानयज्ञ-**

''कारक व्यवहार रहते हुए शुद्ध वस्तु का दर्शन नहीं हो सकता और शुद्ध वस्तु का अनुभव होने पर कारकव्यापार कैसे रह सकता है ?''

66 'नामादि में ब्रह्मदृष्टि करने के समान सम्पत्[56] मात्र के द्वारा किसी फलविशेष की प्राप्ति के लिए यहाँ अर्पणादि कारकों के स्वरूप का त्याग किये बिना ही ब्रह्मदृष्टि कही गई है' -- ऐसे किन्हीं के व्याख्यान का निराकरण उपक्रमादि से विरोध, ब्रह्मविद्या के प्रकरण में सम्पत् मात्र का प्रसंग न होना इत्यादि युक्तियों से भगवान् भाष्यकार ने ही कर दिया है ॥ 24 ॥

67 अब, 'ब्रह्मार्पणम्' -- इत्यादि मन्त्र में = पूर्वश्लोक में यज्ञरूप से सम्यग्दर्शन = तत्त्वज्ञान की स्तावकता निश्चित होने पर भी पुन: उसकी स्तुति के लिए दूसरे यज्ञों का उल्लेख करते हैं --
[कोई कर्मयोगी इन्द्रादि देवताओं का यजन करने के लिए दर्शपूर्णमासादि यज्ञों का सर्वदा अनुष्ठान करते हैं और दूसरे ज्ञानयोगी ब्रह्मरूप अग्नि में = तत्पदार्थ में यज्ञ को = त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मा को यज्ञरूप से = तत्पदार्थ से -- अभेदरूप से ही हवन करते हैं ॥ 25 ॥]

68 जिसके द्वारा इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का यजन किया जाता है वह 'दैवयज्ञ' है । कोई योगी = कर्मयोगी उस दर्शपूर्णमास -- ज्योतिष्टोमादिरूप यज्ञ का ही पर्युपासन करते हैं = सर्वदा अनुष्ठान करते हैं, ज्ञानयज्ञ का नहीं । इसप्रकार कर्मयज्ञ को कहकर अन्त:करणशुद्धि द्वारा उसके फलभूत ज्ञानयज्ञ को 'ब्रह्माग्नौ' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं -- अपरे अर्थात् पूर्वोक्त कर्मयोगियों से भिन्न तत्त्वदर्शननिष्ठ संन्यासी ब्रह्माग्नि में = सत्यज्ञानानन्तानन्दरूप समस्त विशेषों से रहित = निर्विशेष

---

56. अनुत्तम अधिकरण में उत्तम वस्तु का आरोप 'सम्पत्' कहलाता है । जैसे मनोवृत्ति में विश्वेदेवा का आरोप है (अनन्तं वै मनः अनन्ता विश्वेदेवा' इत्यादि) । प्रकृत में अनुत्तम यज्ञादि में उत्तम ब्रह्मदृष्टि का आरोप 'सम्पत्' है ।
57. अभिप्राय यह है कि 'यज्ञ' शब्द यहाँ 'आत्मा' का वाची है, वस्तुत: स्वात्मा भी परब्रह्म ही है, अत: 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति -- वाक्य का अर्थ इसप्रकार होगा --'यज्ञम्' = यज्ञ को = निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप होकर भी जो बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट होकर सोपाधिक हुआ है वही जीव अपने को, 'यज्ञेनैव' = यज्ञ से ही = अपने द्वारा ही अर्थात् उक्त सर्वधर्मउपाधिविशिष्ट जीव अपने द्वारा ही -- निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप के साथ एकत्वदर्शन द्वारा ही = अपने को निर्विशेषब्रह्म से अनुभव कर, 'ब्रह्माग्नौ उपजुह्वति' = ब्रह्माग्नि में -- अखण्डाद्वय ब्रह्म में आहुति दान करता है अर्थात् अग्नि में जो कुछ आहुति दी जाती है वह जिस प्रकार अग्नि ही बन जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्माग्नि में आहुति देने से वह जीवत्वभाव का परित्याग कर ब्रह्म ही हो जाता है ।

माह – ब्रह्माग्नौ सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं निरस्तसमस्तविशेषं ब्रह्म तत्पदार्थस्तस्मिन्नग्नौ यज्ञं प्रत्यगात्मानं त्वंपदार्थं यज्ञेनैव, यज्ञशब्द आत्मनामसु यास्केन पठितः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । एवकारो भेदाभेदव्यावृत्त्यर्थः । त्वंपदार्थाभेदेनैवोपजुह्वति तत्स्वरूपतया पश्यन्तीत्यर्थः । अपरे पूर्वविलक्षणास्तत्त्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः ।

69 **जीवब्रह्माभेददर्शनं यज्ञत्वेन संपाद्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ इत्यादिना स्तोतुम् ॥ 25 ॥**

70 **तदनेन मुख्यगौणौ द्वौ यज्ञौ दर्शितौ यावद्धि किंचिद्वैदिकं श्रेयःसाधनं तत्सर्वं यज्ञत्वेन संपाद्यते । तत्र–**

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ 26 ॥

71 **श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि तानि शब्दादिविषयेभ्यः प्रत्याहृत्यान्ये प्रत्याहारपराः संयमाग्निषु, धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयं संयमशब्देनोच्यते । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः – 'त्रयमेकत्र संयम :' इति । तत्र हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा । एवमेकत्र धृतस्य चित्तस्य भगवदाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तराऽन्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम् । सर्वथा विजातीय-**

ब्रह्म जो तत्पदार्थ है वही है अग्नि उसमें यज्ञ = प्रत्यगात्मा अर्थात् त्वंपदार्थ को यज्ञरूप से ही = त्वंपदार्थ के अभेद से ही हवन करते हैं अर्थात् तत्स्वरूप से -- ब्रह्मरूप से देखते हैं[57] । यास्क ने 'यज्ञ' शब्द का आत्मा के नामों में उल्लेख किया है । यहाँ 'यज्ञेन' शब्द में 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनि सूत्र, 2.3.21) = 'इत्थंभूत = किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है' -- सूत्र से तृतीया विभक्ति है[58] । एवकार भेदाभेद की व्यावृत्ति के लिए है ।

69 इसप्रकार जीव और ब्रह्म के अभेददर्शन का यज्ञरूप से सम्पादन कर उसकी स्तुति के लिए 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' (गीता, 4.33) इत्यादि श्लोक से उसका उसके साधनभूत यज्ञों में पाठ किया जाता है ॥ 25 ॥

70 इसप्रकार इस श्लोक से यज्ञ के मुख्य और गौण -- ये दो भेद बतलाये । अब जितने भी श्रेयः-- प्राप्ति के वैदिक साधन हैं उन सबका यज्ञरूप से सम्पादन करते हैं । इनमें --
[अन्य योगीजन श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं और दूसरे योगी शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करते हैं ॥ 26 ॥]

71 अन्य = प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटाकर संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं । धारणा, ध्यान और समाधि -- इन तीनों का एक विषय में होना 'संयम' कहा जाता है । इसीप्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'त्रयमेकत्र संयमः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 4.4) = 'त्रयम् = धारणा, ध्यान और समाधि -- तीनों का एकत्र = एक विषय में होना 'संयम' कहलाता है' । इनमें, मन को हृदयकमल आदि स्थानों में अधिक देर तक स्थित रखना 'धारणा'

58. शंकरानन्द के अनुसार 'यज्ञेन' शब्द में सहयोग से तृतीया है । उनके अनुसार प्रकृत वाक्य का अर्थ है -- '' 'यज्ञम्' = सोपाधिक आत्मा को 'यज्ञेन' = 'यज्ञो वै विष्णुः' -- इस श्रुति के अनुसार सोपाधिक ईश्वर के साथ ही 'उपजुह्वति' = निर्विशेष आत्मा में आहुति देते हैं ।''

प्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः । स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । तत्र रागद्वेषादिवशाद्विषयेष्वभिनिविष्टं क्षिप्तं, तन्द्रादिग्रस्तं मूढं, सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तं, तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति । विक्षिप्ते तु चेतसि कादाचित्कः समाधिर्विक्षेपप्राधान्याद्योगपक्षे न वर्तते । किं तु तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति । एकाग्रं तु एकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थं सत्त्वोद्रेकेण तमोगुणकृततन्द्रादिरूपलयाभावादात्मकारा वृत्तिः । सा च रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावादेकविषयैवेति शुद्धे सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम् । अस्यां भूमौ संप्रज्ञातः समाधिः । तत्र ध्येयाकारा वृत्तिरपि भासते । तस्या अपि निरोधे निरुद्धं चित्तमसंप्रज्ञातसमाधिभूमिः । तदुक्तम् "तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः" इति । अयमेव सर्वतो विरक्तस्य समाधि-

है । इसप्रकार एक स्थान पर स्थित चित्त का बीच-बीच में अन्य-अन्य प्रकार के ज्ञानों से व्यवहित जो भगवदाकारवृत्ति का प्रवाह है वह 'ध्यान' है । विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से सर्वथा शून्य जो सजातीयप्रत्ययप्रवाह है उसको 'समाधि' कहते हैं । वह समाधि चित्त की भूमिकाओं के भेद से दो प्रकार की होती है -- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । चित्त की पाँच भूमियाँ हैं -- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । इनमें, जो चित्त राग-द्वेषादि के कारण विषयों में अभिनिविष्ट = लिप्त रहता है वह 'क्षिप्त' है, जो तन्द्रादि से ग्रस्त है वह 'मूढ़' कहलाता है, तथा जो सर्वदा विषयासक्त होने पर भी कदाचित् ध्याननिष्ठ हो जाता है वह क्षिप्त से विशिष्ट होने के कारण 'विक्षिप्त' कहलाता है । इनमें, क्षिप्त और मूढ़ चित्तों में तो समाधि की सम्भावना ही नहीं है । विक्षिप्त चित्त में तो कदाचित् समाधि होती है, वह विक्षेप की प्रधानता के कारण योगपक्ष में नहीं रहती, किन्तु तीव्र पवन से विक्षिप्त = चञ्चल हुए दीपक के समान स्वयं ही नष्ट हो जाती है । एकाग्र चित्त तो एक विषयसम्बन्धी धारावाहिक वृत्ति में समर्थ होता है । उसमें सत्त्व के उद्रेक के कारण तमोगुणकृत तन्द्रादिरूप लय का अभाव रहने से आत्माकार वृत्ति रहती है । वह वृत्ति रजोगुणकृत चाञ्चल्यरूप विक्षेप का अभाव रहने के कारण एक विषयसम्बन्धी ही होती है, अतः इस शुद्ध सत्त्व की अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाता है । इस चित्तभूमि में संप्रज्ञात समाधि होती है । उसमें ध्येयाकारा वृत्ति का भी भान रहता है । उस वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर निरुद्ध चित्त की असंप्रज्ञात समाधि भूमि होती है । ऐसा ही कहा भी है -- 'तस्या अपि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पातञ्जलयोग -- सूत्र, 1.51) = 'पर-वैराग्यद्वारा ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य संस्कार का भी निरोध हो जाने पर पुरातन--नूतन सब संस्कारों का निरोध हो जाने से 'निर्बीज-समाधि' होती है' । सर्वतः विरक्त समाधिफलरूप सुख की भी अपेक्षा न रखनेवाले योगी की यह निर्बीज-समाधि ही दृढ़भूमि होने पर 'धर्ममेघ'[59] कही जाती है । कहा भी है-- 'प्रसंख्यानेऽप्य-

59. अति उत्तम पुण्य-पाप से रहित परम पुरुषार्थ के साधक धर्म की जो वर्षा करता है वह 'धर्ममेघ' कहलाता है (प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः – भोजवृत्ति) । विवेकख्याति की परिपक्व अर्थात् निरन्तर रहने वाली अवस्था 'धर्ममेघ-समाधि' है । इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद – नामक पर-वैराग्य है । जिसका फल असंप्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है ।

60. जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूपवाले हैं, उनका यथाक्रम विचार करना 'प्रसंख्यान' कहलाता है (प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनम् – भोजवृत्ति) । इसी को 'पुरुष-प्रकृति-विवेक-ज्ञान' भी कहते हैं । सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति = प्रसंख्यान है ।

फलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य योगिनो दृढभूमिः सन्धर्ममेघ इत्युच्यते । तदुक्तम् – "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" इति । अनेकरूपेण संयमानां भेदादग्निष्विति बहुवचनम् । तेषु इन्द्रियाणि जुह्वति धारणाध्यान-समाधिसिद्ध्यर्थं सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरन्तीत्यर्थः । तदुक्तम् – "स्वस्व-विषयासंप्रयोगे चित्तरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" इति । विषयेभ्यो निगृहीतानीन्द्रियाणि चित्तरूपाण्येव भवन्ति । ततश्च विक्षेपाभावाच्चित्तं धारणादिकं निर्वहतीत्यर्थः । तदनेन प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपं योगाङ्गचतुष्टयमुक्तम् । तदेवं समाध्यवस्थायां सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधो यज्ञत्वेनोक्तः ।

72 **इदानीं व्युत्थानावस्थायां रागद्वेषराहित्येन विषयभोगो यः सोऽप्यपरो यज्ञ इत्याह – शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति अन्ये व्युत्थितावस्थाः श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं स्पृहाशून्यत्वेनान्यसाधारणं कुर्वन्ति । स एव तेषां होमः ॥ 26 ॥**

कुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 4.29-30) = 'जो योगी प्रसंख्यान[60] – ज्ञान से भी विरक्त है उसको सर्वथा = निरन्तर विवेकख्याति का उदय होने से 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है, उस धर्ममेघ समाधि से उसके क्लेश और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है ।' अनेकरूप से संयमों के भेद होने के कारण 'अग्निषु' -- इस पद में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है[61]। उन संयमरूप अग्नियों में इन्द्रियों का हवन करते हैं अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से खींच लेते हैं । कहा भी है -- 'स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तरूपानुकार एवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.54) = 'इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना 'प्रत्याहार' है' । विषयों से निगृहीत = खींची हुई इन्द्रियाँ चित्तरूप ही हो जाती है । इससे विक्षेप का अभाव हो जाने के कारण चित्त धारणा, ध्यान और समाधि को धारण करता है -- यह अर्थ है । इसप्रकार इस श्लोकार्ध से प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप योग के चार अङ्ग कहे गए हैं । अतः इसप्रकार यहाँ समाधि-अवस्था में समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध ही यज्ञरूप से कहा गया है ।

72 अब, 'व्युत्थान अवस्था में जो राग-द्वेष से रहित विषयभोग है वह भी एक-दूसरा यज्ञ है' -- यह 'शब्दादीन्' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं --'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' = 'दूसरे योगी शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करते हैं' अर्थात् अन्य = दूसरे व्युत्थित अवस्थावाले योगी श्रोत्रादि इन्द्रियों से योगाविरुद्ध विषयों को ग्रहण कर स्पृहा--तृष्णाशून्य होकर अन्य साधारण विषयों को ग्रहण करते हैं -- यही उनका होम है ।। 26 ।।

---

61. आचार्य धनपति ने प्रकृत श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ किया है – 'दूसरे प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों का संयमन ही करते हैं' । वे कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने यह जो अर्थ किया है कि 'दूसरे प्रत्याहारपरायण योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का धारणा, ध्यान और समाधि – भेद से अनेकविध संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं ' – वह चिन्त्य है, क्योंकि प्रकृत में प्रत्याहाररूप अग्नियों में श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का होम विवक्षित है, अन्यथा श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के होम का अधिकरण ही अप्राप्त होगा, कारण कि ध्यानादि तो मनोहोम के अधिकरण हैं । इससे प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरूप योगाङ्गचतुष्टय भी यहाँ अविवक्षित सिद्ध होता है ।

73 तदेवं पातञ्जलमतानुसारेण लयपूर्वकं समाधिं ततो व्युत्थानं च यज्ञद्वयमुक्त्वा ब्रह्मवादिमतानुसारेण बाधपूर्वकं समाधिं कारणोच्छेदेन व्युत्थानशून्यं सर्वफलभूतं यज्ञान्तरमाह –

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ 27 ॥

74 द्विविधो हि समाधिर्भवति लयपूर्वको बाधपूर्वकश्च । तत्र "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० 2.1.14) इति न्यायेन कारणव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात्पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपं समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं कार्यमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तत्रापि पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चगुणा गन्धेतरचतुर्गुणापकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । ताश्चतुर्गुणा आपो गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण न सन्ति । तदपि त्रिगुणात्मकं तेजो गन्धरसरूपेतरद्विगुणवायुकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । सोऽपि द्विगुणात्मको वायुः शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । स च शब्दगुण आकाशो बहु स्यामिति परमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । सोऽपि संकल्पात्मकोऽहंकारो मायेक्षणरूपमहत्तत्त्वकार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तदपीक्षणरूपं महत्तत्त्वं मायापरिणामत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तदपि मायाख्यं कारणं जडत्वेन चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्यनु-

---

73 इसप्रकार पातञ्जलमतानुसार लयपूर्वक समाधि और उससे व्युत्थान -- इन दो यज्ञों को कहकर अब ब्रह्मवादिमतानुसार बाधपूर्वक समाधि को जो कारण का उच्छेद हो जाने से व्युत्थानशून्य है और सर्वफलभूत है, एक अन्य यज्ञ कहते हैं :--

[दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों का और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्नि में हवन करते हैं ॥ 27 ॥]

74 समाधि दो प्रकार की होती है -- लयपूर्वक और बाधपूर्वक । उसमें, "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्रह्मसूत्र, 2.1.14) " = 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा- उ०, 6.1.1) -- इस श्रुति के वाचारम्भण आदि शब्दों के कारण घटादि विकार = कार्य केवल नाममात्र ही हैं, वस्तुतः मृत्तिका = कारण ही सत्य है", -- इस न्याय से कारण के अतिरिक्त कार्य की सत्ता ही नहीं है, अतएव पञ्चीकृत पञ्चभूतों का व्यष्टिरूप कार्य समष्टिरूप विराट् का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है तथा समष्टिरूप पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । उसमें भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- इन पाँच गुणोंवाली पृथ्वी, गन्ध के अतिरिक्त चार गुणों वाले जल का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; वह चार गुणोंवाला जल, गन्ध और रस के अतिरिक्त शेष तीन गुणोंवाले तेज का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; वह तीन गुणोंवाला तेज भी, गन्ध, रस और रूप के अतिरिक्त शेष दो गुणों वाले वायु का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है; तथा वह दो गुणोंवाला वायु भी, केवल शब्दमात्र गुण वाले आकाश का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । वह शब्दगुणवाला आकाश भी, 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- ऐसे परमेश्वर संकल्परूप अहंकार का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । वह परमेश्वर का संकल्परूप अंहकार भी, माया के ईक्षणरूप महत्तत्व का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । वह ईक्षणरूप महत्तत्व भी, माया का

संधानेन विद्यमानेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः स लयपूर्वक उच्यते । तत्र तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याक्षीणत्वात् । एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्नप्रपञ्चोत्थानादयं सुषुप्तिवत्सबीजः समाधिर्न मुख्यः । मुख्यस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणाविद्याया निवृत्तौ सर्गक्रमेण तत्कार्यनिवृत्तेरनाद्य-विद्यायाश्च पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यस्यापि पुनरुत्थानाभावान्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः । स ऐवानेन श्लोकेन प्रदर्श्यते ।

75 तथाहि—सर्वाणि निखिलानि स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि चेन्द्रियकर्माणीन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानां पञ्चानां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानां च पञ्चानां बाह्यानामान्तरयोश्च मनोबुद्ध्योः कर्माणि शब्दश्रवणस्पर्शग्रहणरूपदर्शनरसग्रहणगन्धग्रहणानि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यानि च संकल्पाध्यवसायौ च । एवं प्राणकर्माणि च प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यानां पञ्चानां कर्माणि बहिर्नयनमधोनयनमाकुञ्चनप्रसारणादि अशितपीतसमनयनमूर्ध्वनयनमित्यादीनि । अनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणा मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशात्मकं लिङ्गमुक्तम् । तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यमिह विवक्षित-

---

परिणाम होने से उससे अतिरिक्त नहीं है । वह माया संज्ञक कारण भी, जड़ होने से चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण उससे अतिरिक्त नहीं है । इसप्रकार के अनुसंधान से कार्य-कारणरूप प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर भी चैतन्यमात्रगोचर जो समाधि होती है, वह 'लयपूर्वक' कही जाती है, क्योंकि इसमें 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त के महावाक्यों के अर्थ का ज्ञान न होने के कारण अविद्या और उसका कार्य क्षीण नहीं होता । इसप्रकार चिन्तन करने पर भी कारण की सत्ता रहने से पुनः सम्पूर्ण प्रपञ्च का आविर्भाव हो सकने के कारण यह सुषुप्ति के समान 'सबीज-समाधि' होती है, यह मुख्य समाधि नहीं है । मुख्य समाधि तो वह है जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का साक्षात्कार होने से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर सर्गक्रमसहित उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने से अनादि अविद्या का पुनः उत्थान न होने के कारण उसके कार्य का भी पुनः उत्थान न होने से 'बाधपूर्वक' निर्बीज-समाधि होती है । उसी को इस श्लोक से दिखलाते हैं ।

75 सर्वाणि = सम्पूर्ण अर्थात् सब स्थूलरूप और संस्काररूप इन्द्रियकर्मों को = श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण-नामक पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-नामक पाँच कर्मेन्द्रिय -- इन दस बाह्य इन्द्रियों के; तथा, मन और बुद्धि -- इन आन्तर इन्द्रियों के--क्रमशः शब्दश्रवण, स्पर्शग्रहण, रूपदर्शन, रसग्रहण, गन्धग्रहण और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द; तथा संकल्प और अध्यवास -- इन कर्मों को । और इसीप्रकार प्राणकर्मों को = प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पाँच प्राणों के -- क्रमशः बहिर्नयन, अधोनयन, आकुञ्चन-प्रसारणादि, अशित-पीत का समनयन और ऊर्ध्वनयन इत्यादि कर्मों को । इससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि -- इन सत्तरह अवयवोंवाले 'लिङ्गशरीर' को कहा गया है । यहाँ वह सूक्ष्मभूतों का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही विवक्षित है -- यह बतलाने के लिए 'सर्वाणि' -- यह विशेषण दिया है । आत्मसंयमयोगाग्नि में = आत्मविषयक धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयम उसका परिपाक होने पर निरोधसमाधिरूप योग; -- जिसको पतञ्जलि ने इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचितान्वयो

मिति वदितुं सर्वाणीति विशेषणम् । आत्मसंयमयोगाग्नौ, आत्मविषयकः संयमो धारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिरूपस्तत्परिपाके सति योगो निरोधसमाधिः । यं पतञ्जलिः सूत्रयामास -- " व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" इति । व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं तत्संस्काराः समाधिविरोधिनस्ते योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते । तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति । ततश्च निरोधमात्रक्षणेन चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । तस्य फलमाह -- "ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" इति । तमोरजसोः क्षयाल्लयविक्षेपशून्यत्वेन शुद्धसत्त्वरूपं चित्तं प्रशान्तमित्युच्यते । पूर्वपूर्वप्रशमसंस्कारपाटवेन तदाधिक्यं प्रशान्तवाहितेति । तत्कारणं च सूत्रयामास – "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" इति । विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारण वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन संपादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्योऽन्यः संप्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । एतादृशो य आत्मसंयमयोगः स एवाग्निस्तस्मिञ्ज्ञानदीपिते ज्ञानं वेदान्तवाक्यजन्यो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्तेनाविद्यातत्कार्यनाशद्वारा दीपितेऽत्यन्तोज्ज्वलिते बाधपूर्वके समाधौ समष्टिलिङ्गशरीरमपरे जुह्वति प्रविलापयन्तीत्यर्थः । अत्र च सर्वाणीति आत्मेति ज्ञानदीपित इति विशेषणैरग्नावित्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यं सूचितमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ 27 ॥

निरोधपरिणामः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 3.9) = 'व्युत्थान के संस्कार का अभिभव और निरोध के संस्कार का प्रादुर्भाव -- यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का दोनों संस्कारों में अन्वय-अनुगत-सम्बन्ध होना है वह 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है' । क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त -- इन तीन पूर्वोक्त भूमिकाओं को 'व्युत्थान' कहते हैं, उसके संस्कार समाधिविरोधी होते हैं अतएव योगी प्रयत्न से उनका प्रतिदिन और प्रतिक्षण पराभव करता रहता है । इससे उनके विरोधी निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होता है । तब निरोधमात्र क्षण से जो चित्त का अन्वय होता है वही उसका 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है । उसके फल को कहते हैं -- 'ततः[62] प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (पातञ्जलयोगसूत्र, 3.10) = 'निरोधसंस्कार से चित्त की शान्त प्रवाहवाली गति होती है' । तमोगुण और रजोगुण का क्षय हो जाने से लय और विक्षेप से शून्य हो जाने के कारण शुद्धसत्त्वरूप चित्त 'प्रशान्त' कहा जाता है । पूर्व--पूर्व प्रशमसंस्कार की पटुता से उसका अधिक होना ही 'प्रशान्तवाहिता' है । उसके कारण को इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 1.18) = 'सब वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असंप्रज्ञात-समाधि है' । विराम = वृत्तियों का उपरम-निरोध, उसका प्रत्यय = कारण जो वृत्तियों के उपरम-निरोध के लिए पुरुष प्रयत्न ही है, उसका अभ्यास = पुनः-पुनः संपादन करना, उसके द्वारा उससे जन्य योग अन्य = संप्रज्ञात से विलक्षण अर्थात् असंप्रज्ञात है । ऐसा जो आत्मसंयमयोग है वही है अग्नि, ज्ञान से प्रकाशित उस अग्नि में = ज्ञान जो वेदान्तवाक्यों से जन्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्काररूप है, उससे अविद्या और उसके कार्य के नाश द्वारा दीपित = अत्यन्त उज्ज्वलित उस अग्नि में अर्थात् बाधपूर्वक समाधि में अन्य योगी समष्टि लिङ्गशरीर का हवन करते हैं अर्थात् उसको उसमें लीन कर देते हैं । यहाँ 'सर्वाणि, आत्मा, ज्ञानदीपिते' -- इन विशेषणों से और 'अग्नौ' -- ऐसा एकवचन होने से पूर्वश्लोक से वैलक्षण्य सूचित हुआ है, अतः यह पुनरुक्ति नहीं है ।। 27 ।।

62. पातञ्जलयोगसूत्र में 'ततः' के स्थान पर 'तस्य' पाठ है ।

76 एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वाऽधुनैकेन श्लोकेन षड्यज्ञानाह –

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ 28 ॥

77 द्रव्यत्याग एव यथाशास्त्रं यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः पूर्तदत्ताख्यस्मार्तकर्मपराः । तथा च स्मृतिः --

"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥" इति ।

इष्टाख्यं श्रौतं कर्म तु दैवमेवापरे यज्ञमित्यत्रोक्तम् । अन्तर्वेदि दानमपि तत्रैवान्तर्भूतम् । तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञास्तपस्विनः ।

78 तथा योगश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽष्टाङ्गो यज्ञो येषां ते योगयज्ञा यमनियमासनादियोगाङ्गानुष्ठानपराः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो हि योगस्याष्टावङ्गानि । तत्र प्रत्याहारः श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्य इत्यत्रोक्तः । धारणाध्यानसमाधय आत्मसंयमयोगाग्नावित्यत्रोक्ताः । प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यन्तरश्लोके वक्ष्यते । यमनियमासनान्यत्रोच्यन्ते । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः पञ्च । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः पञ्च । स्थिरसुखमासनं पद्मकस्वस्तिकाद्यनेकविधम् ।

---

76 इसप्रकार तीन श्लोकों से पाँच यज्ञों को कहकर अब एक श्लोक से छः यज्ञों को कहते हैं :-- [कोई योगी द्रव्ययज्ञ करते हैं, कोई तप ही रूप यज्ञ करते हैं तथा दूसरे योग ही रूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं । कोई स्वाध्यायरूप यज्ञ करते हैं, कोई ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं और कोई यत्नशील पुरुष तीव्रव्रतों का आचरण करते हैं ।। 28 ।।]

77 शास्त्र के अनुसार द्रव्यत्याग ही है यज्ञ जिनका वे 'द्रव्ययज्ञ' कहलाते हैं अर्थात् वे पूर्त -- दत्तसंज्ञक स्मार्त कर्म करनेवाले हैं । यहाँ ऐसी स्मृति है --
"बावड़ी, कूआँ, तडागादि और देवमन्दिर बनवाना; अन्नदान करना और बगीचा लगवाना -- ये 'पूर्त' कर्म कहे जाते हैं । शरणागतों की रक्षा करना, प्राणियों की हिंसा न करना, और जो यज्ञवेदी से बाहर दान किया जाय -- ये 'दत्त' कर्म कहे जाते हैं ।"
इष्टाख्य श्रौत कर्म तो 'दैवमेवापरे यज्ञम्' (गीता, 4.25) -- इत्यादि में कहा गया है । अन्तर्वेदि = वेदी के भीतर किये जानेवाला दान भी दैवयज्ञ के ही अन्तर्गत है तथा कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप ही यज्ञ है जिनका वे तपस्वी तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं ।

78 इसी प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोधरूप अष्टाङ्गयोग ही है यज्ञ जिनका वे योगयज्ञ अर्थात् यम, नियम, आसनादि योग के अङ्गों का अनुष्ठान करनेवाले हैं । यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि -- ये योग के आठ अङ्ग हैं । इनमें, 'प्रत्याहार' 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये' (गीता, 4.26) -- इत्यादि स्थान पर कह दिया है । 'धारणा, ध्यान और समाधि '-- ये तीनों अङ्ग 'आत्मसंयमयोगाग्नौ' इत्यादि में कहे गये हैं । 'प्राणायाम' को 'अपाने जुह्वति प्राणम्'-- इस समनन्तर श्लोक में कहेंगे । यहाँ यम, नियम और आसन -- इन तीन अङ्गों को कहते हैं । अहिंसा, सत्य,

79 अशास्त्रीयः प्राणिवधो हिंसा । सा च कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधा । एवमयथार्थभाषणमवध्यहिंसानुबन्धि यथार्थभाषणं चानृतम् । स्तेयमशास्त्रीयमार्गेण परद्रव्यस्वीकरणम् । अशास्त्रीयः स्त्रीपुंसव्यतिकरो मैथुनम् । शास्त्रानिषिद्धमार्गेण देहयात्रानिर्वाहकाधिकभोगसाधनस्वीकारः परिग्रहः । एतन्निवृत्तिलक्षणा उपरमा यमाः । 'यम उपरमे' इति स्मरणात् ।

80 तथा शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । मृज्जलादिभिः कायादिक्षालनं हितमितमेध्याशनादि च बाह्यं, मैत्रीमुदितादिभिर्मदमानादिचित्तमलक्षालनमान्तरं, संतोषो विद्यमानभोगोपकरणादधिकस्यानुपादित्सारूपा चित्तवृत्तिः । तपः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिद्वंद्वसहनं काष्ठमौनाकारमौनादिव्रतानि च । इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनं काष्ठमौनमवचनमात्रमाकारमौनमिति भेदः । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतयाऽर्पणम् । एते विधिरूपा नियमाः । पुराणेषु येऽधिका उक्तास्त एष्वेव यमनियमेष्वन्तर्भाव्याः । एतादृशयमनियमाद्यभ्यासपरा योगयज्ञाः । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यथाविधि वेदाभ्यासपराः स्वाध्याययज्ञाः । न्यायेन वेदार्थनिश्चयपरा ज्ञानयज्ञाः ।

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह -- ये पाँच 'यम' हैं । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान -- ये पाँच 'नियम' हैं । जो स्थिर और सुखदायी हो वह 'आसन' है, यह पद्म -- स्वस्तिकादि भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

79 अशास्त्रीय प्राणिवध 'हिंसा' है । वह कृत =की हुई, कारित = करायी हुई और अनुमोदित = अनुमोदन की हुई भेद से तीन प्रकार की है । इसीप्रकार अयथार्थ भाषण और जिसका परिणाम किसी अवध्य प्राणी की हिंसा हो वह यथार्थभाषण 'असत्य' हैं । अशास्त्रीय मार्ग से दूसरे के धन को ले लेना 'स्तेय' है । अशास्त्रीय स्त्री - पुरुषसंयोग 'मैथुन'है । शास्त्रप्रतिषिद्ध मार्ग से देहयात्रा के निर्वाहक अधिक भोगसाधनों का संग्रह करना 'परिग्रह' है । इन सबसे निवृत्तिरूप उपरम 'यम'हैं, क्योंकि 'यम उपरमे' = 'यम' धातु 'उपरम होना' अर्थ में है -- ऐसा व्याकरणशास्त्र कहता है ।

80 इसी प्रकार 'शौच'दो प्रकार का होता है -- बाह्य और आभ्यन्तर । मिट्टी, जलादि से शरीरादि को शुद्ध करना तथा हितकारी, परिमित और मेध्य= पवित्र भोजन करना आदि 'बाह्य' शौच है ;एवं मित्रता, मुदिता आदि से मद-मान आदि चित्त के मलों को धोना 'आन्तर' शौच है । अपने पास विद्यमान भोग के साधन से अधिक प्राप्त करने की इच्छा न होना रूप जो चित्तवृत्ति होती है उसको 'संतोष' कहते हैं । भूख - प्यास, सर्दी - गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करना तथा काष्ठमौन, आकारमौन आदि व्रत 'तप'हैं । संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना 'काष्ठमौन' है और केवल न बोलना 'आकारमौन'है -- यह इन दोनों का भेद है । मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणवजप 'स्वाध्याय'कहलाता है । फल की अपेक्षा न करते हुए अपने समस्त कर्मों को उस परमगुरु - ईश्वर को समर्पण करना 'ईश्वर प्रणिधान'कहा जाता है । ये विधिरूप 'नियम'हैं । पुराणों में जो अधिक यम - नियम कहे गये हैं उनका इन्हीं यम - नियमों में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । जो इस प्रकार के यम - नियमादि के अभ्यास में लगे हुए हैं वे 'योगयज्ञ' कहे जाते हैं । स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ = जो विधिपूर्वक वेदाभ्यास में रत रहते हैं वे 'स्वाध्याययज्ञ' कहलाते हैं और जो न्यायपूर्वक अर्थात् युक्ति और विचारपूर्वक वेद के तात्पर्य का निश्चय करने में तत्पर रहते हैं वे 'ज्ञानयज्ञ' कहे जाते हैं ।

81 **यज्ञान्तरमाह--यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक्शितानि तीक्ष्णीकृतान्यतिदृढानि व्रतानि येषां ते संशितव्रता व्रतयज्ञा इत्यर्थः । तथा च भगवान्पतञ्जलिः -- "ते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" इति। ये पूर्वमहिंसाद्याः पञ्च यमा उक्तास्त एव जात्याद्यनवच्छेदेन दृढभूमयो महाव्रतशब्दवाच्याः। तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना यथा मृगयोर्मृगातिरिक्तान्न हनिष्यामीति। देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति सैव कालावच्छिन्ना यथा न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनीति । सैव प्रयोजनविशेषरूपसमयावच्छिन्ना यथा क्षत्रियस्य देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि युद्धं विना न हनिष्यामीति च । एवं विवाहादिप्रयोजनव्यतिरेकेणानृतं न वदिष्यामीति एवमापत्कालव्यतिरेकेणक्षुद्भयाद्यतिरिक्तस्तेयं न करिष्यामीति एवमृतुव्यतिरिक्तकाले पत्नीं न गमिष्यामीति एवं गुर्वादि प्रयोजनमन्तरेण न परिग्रहीष्यामीति यथायोग्यमवच्छेदो द्रष्टव्यः । एतादृगवच्छेदपरिहारेण यदा सर्वजातिसर्वदेशसर्वकालसर्वप्रयोजनेषु भवाः सार्वभौमा अहिंसादयो भवन्ति महता प्रयत्नेन परिपाल्यमानत्वात्, तदा ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते। एवं काष्ठमौनादिव्रतमपि द्रष्टव्यम् । एतादृशव्रतदार्ढ्ये च कामक्रोधलोभमोहानां चतुर्णामपि नरकद्वारभूतानां निवृत्तिः ।**

81 एक और यज्ञ कहते हैं -- यति अर्थात् यत्नशील संशितव्रत = सम्यक् - प्रकार से शिततीक्ष्ण किये हुए अर्थात् अत्यन्त दृढ़ किये हुए हैं व्रत जिनके वे 'संशितव्रत' अर्थात् व्रतरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'ते[63] जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2-31) = 'जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सर्वभूमियों में पालन करने योग्य यम 'महाव्रत' कहलाते हैं'। पहले जो अहिंसा आदि पाँच यम कहे गये हैं वे ही जाति आदि के अवच्छेद से रहित होने के कारण दृढ़भूमिवाले होने से 'महाव्रत' शब्द से कहे जाते हैं। इनमें, जाति से अवच्छिन्न अहिंसा है, जैसे -- शिकारी कहता है कि 'मैं मृग के अतिरिक्त किसी और जीव को नहीं मारूँगा' । देश से अवच्छिन्न अहिंसा है कि 'मैं तीर्थस्थान पर वध नहीं करूँगा'। वही कालावच्छिन्न होती है, जैसे -- 'मैं चतुर्दशी या पुण्यतिथि को नहीं मारूँगा' । वही प्रयोजनविशेषरूप समय - अनुबंध से भी अवच्छिन्न होती है, जैसे -- कोई क्षत्रिय कहता है कि 'मैं देवता और ब्राह्मणों के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से हिंसा नहीं करूँगा' अथवा 'युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से हिंसा नहीं करूँगा'। इसी प्रकार 'विवाह आदि प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से असत्य नहीं 'बोलूँगा' ; एवं 'आपत्काल और भूख के भय आदि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से चोरी नहीं करूँगा' ; एवं 'ऋतुकाल के अतिरिक्त भार्यागमन नहीं करूँगा' ;एवं 'गुरू आदि के प्रयोजन के बिना अन्य किसी उद्देश्य से परिग्रह नहीं करूँगा' इत्यादि प्रकार से सत्यादि का भी यथायोग्य अवच्छेद समझ लेना चाहिए। इस प्रकार के अवच्छेद के परिहार से ये अहिंसा आदि अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पालन किये जाने के कारण जब सर्वजाति, सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वप्रयोजनों में रहते हुए सार्वभौम रहते हैं, तो ये 'महाव्रत' शब्द से कहे जाते हैं। इसी प्रकार काष्ठमौन आदि व्रतों को भी समझना चाहिए। इस प्रकार के व्रतों की दृढ़ता हो जाने पर नरक के द्वारभूत काम, क्रोध, लोभ और मोह - इन चारों की भी निवृत्ति हो जाती है। इनमें अहिंसारूप क्षमा से क्रोध की, ब्रह्मचर्यरूप वस्तुविचार से काम की, अस्तेय और अपरिग्रहरूप संतोष से लोभ की तथा सत्य अर्थात् यथार्थ ज्ञानरूप विवेक से मोह और मोह जिनका मूल है उन सबकी निवृत्ति हो जाती है -- ऐसा समझना चाहिए। इनसे अन्य फल सकाम पुरुषों के लिए योगशास्त्र में कहे गए हैं ।।28।।

63. पातञ्जलयोगसूत्र में 'ते' -- यह पाठ ही नहीं है ।

तत्राहिंसया क्षमया क्रोधस्य, ब्रह्मचर्येण वस्तुविचारेण कामस्य, अस्तेयापरिग्रहरूपेण संतोषेण लोभस्य, सत्येन यथार्थज्ञानरूपेण विवेकेन मोहस्य, तन्मूलानां च सर्वेषां निवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । इतराणि च फलानि सकामानां योगशास्त्रे कथितानि ॥ 28 ॥

82 प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन –

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ 29 ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

83 अपानेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणवृत्तिं बाह्यवायोः शरीराभ्यन्तरप्रवेशेन पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्राणे अपानं तथाऽपरे जुह्वति शारीरवायोर्बहिर्निर्गमनेन रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थ : । पूरकरेचककथनेन च तदविनाभूतो द्विविधः कुम्भकोऽपि कथित एव । यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं श्वासप्रश्वासनिरोधः क्रियमाणोऽन्तःकुम्भकः । यथाशक्ति सर्वं वायुं विरिच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिष्कुम्भकः ।

84 एतत्प्राणायामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकमाह – प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यामान्तरस्य वायोर्बहिर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः । बहिर्निर्गतस्यान्तःप्रवेशः प्रश्वासोऽपानस्य गतिः । तत्र पूरके प्राणगतिनिरोधः । रेचकेऽपानगतिनिरोधः । कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण

---

82 अब डेढ़ श्लोक से प्राणायामयज्ञ को कहते है :--
[कोई योगीजन अपान में प्राण का हवन करते हैं और दूसरे कोई प्राण में अपान का हवन करते हैं । तथा अन्य आहार का संयम करने वाले प्राणायामपरायण योगीजन प्राण और अपान की गतियों को रोककर प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं ।।29-30 अ।।]

83 कोई अपान = अपानवृत्ति में प्राणवृत्ति का हवन करते हैं = प्रक्षेप करते हैं अर्थात् बाह्यदेशस्थित वायु का शरीर के भीतर प्रवेश करने से 'पूरक'संज्ञक प्राणायाम करते हैं । तथा दूसरे कोई प्राण में अपान का हवन करते हैं अर्थात् शरीरस्थित वायु को बाहर निकालने से ' रेचक' नामक प्राणायाम करते हैं । पूरक और रेचक के कथन से उनके अविनाभूत = साथ ही होनेवाले दो प्रकार के 'कुम्भक' को भी कहा ही गया है । बाह्यदेशस्थित वायु को यथाशक्ति शरीर के भीतर पूर्ण कर उसके पश्चात् किये जानेवाला श्वास- प्रश्वास का निरोध 'अन्तः - कुम्भक' है और शरीरस्थित सब वायु को यथाशक्ति बाहर निकाल कर उसके पश्चात् किये जानेवाला श्वास - प्रश्वास - निरोध 'बाह्यकुम्भक' है ।

84 इन तीनों प्राणायामों के अनुवादपूर्वक चतुर्थ प्राणायाम 'कुम्भक' को कहते हैं । प्राण और अपान की गतियों को = मुख और नासिका के भीतर रहनेवाले वायु का बाहर निकलनारूप श्वास प्राण की गति है तथा बाहर निकले हुए वायु का भीतर प्रवेश होना रूप प्रश्वास अपान की गति है । इनमें, पूरक में प्राण की गति का निरोध होता है, रेचक में अपान की गति का निरोध होता है, तथा कुम्भक में तो प्राण और अपान -- दोनों ही की गति का निरोध होता है -- इस प्रकार क्रम से अथवा एक साथ श्वासप्रश्वाससंज्ञक प्राण और अपान की गतियों को रोककर प्राणायामपरायण - प्राणायाम में तत्पर होते हुए पूर्वोक्त योगियों से भिन्न दूसरे योगी नियाताहार = आहार का संयम

युगपच्च श्वासप्रश्वासाख्ये प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तोऽपरे पूर्वविलक्षणा नियताहारा आहारनियमादियोगसाधनविशिष्टाः प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणञ्ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाञ्जुह्वति चतुर्थकुम्भकाभ्यासेन विलापयन्तीत्यर्थः ।

85 **तदेतत्सर्वं भगवता पतञ्जलिना संक्षेपविस्ताराभ्यां सूत्रितम् । तत्र संक्षेपसूत्रम् – "तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः" इति । तस्मिन्नासने स्थिरे सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः । कीदृशः, श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोर्या गतिः पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोध एव लक्षणं स्वरूपं यस्य स तथेति । एतदेव विवृणोति -- "बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" इति । बाह्यगतिनिरोधरूपत्वाद्बाह्यवृत्तिः पूरकः । आन्तरगतिनिरोध- रूपत्वादान्तरवृत्ती रेचकः । केचित्तु बाह्यशब्देन रेचक आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः । युगपदुभयगतिनिरोधः स्तम्भस्तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तं यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात्प्रयत्नादभावो भवति न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारणं नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणं, किं तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः संकोचमापद्यत एवमयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्नावरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते । न तु पूरयति येन पूरकः । न तु रेचयति येन रेचक इति । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति**

करना आदि योग के साधनों से सम्पन्न हो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकों के अभ्यास से निगृहीत प्राणों में ज्ञानेन्द्रिय - कर्मेन्द्रिय रूप प्राणों का हवन करते हैं अर्थात् चतुर्थ प्राणायाम 'कुम्भक' के अभ्यास से उनको विलीन कर देते हैं ।

85 यह सब भगवान् पतञ्जलि ने संक्षेप और विस्तार से सूत्रबद्ध किया है । इनमें संक्षेप सूत्र है -- 'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः[64] प्राणायामः' (पातञ्जलयोगसूत्र 2.49) = 'आसन के स्थिर होने पर श्वास - प्रश्वास की गति को रोकना स्वरूप 'प्राणायाम'है' । तस्मिन् =आसन के स्थिर होने पर प्राणायाम करना चाहिए । वह प्राणायाम कैसा होता है ? 'श्वासप्रश्वास -- योर्गतिविच्छेदलक्षणः' = प्राण और अपान के धर्म श्वास और प्रश्वास की जो गति अर्थात् पुरुष के प्रयत्न के बिना ही स्वाभाविक प्रवाह है उसका पुरुष के प्रयत्नविशेष के द्वारा क्रम से अथवा एक साथ विच्छेद अर्थात् निरोध हो जाना ही है लक्षण अर्थात् स्वरूप जिसका वह 'प्राणायाम' होता है । इसी को स्पष्ट करते हैं :--- 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.50) = 'यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है । देश, काल और संख्या से परिदृष्ट= देखा हुआ दीर्घ = लंबा और सूक्ष्म = हल्का होता है' । बाह्यगति का निरोधरूप होने के कारण पूरक 'बाह्यवृत्ति' है और आन्तरगति का निरोधरूप होने के कारण रेचक 'आभ्यन्तरवृत्ति' है । कोई विद्वान् [65]---- तो बाह्यशब्द से रेचक

64. पातञ्जलयोगसूत्र में 'लक्षण' पाठ नहीं है ।

65. भोजवृत्ति के अनुसार बाह्यवृत्ति श्वास 'रेचक' है और अन्तर्वृत्ति प्रश्वास 'पूरक' है (बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । भोजवृत्ति, 2.50) । भाष्यकार और तत्त्ववैशारदीकार भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं ।

तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते। तथाहि-- हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसम्मुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते देशे श्वासः समाप्यते। तत एव च परावृत्य हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गच्छति। नासातश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिर्निवाते देश इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रिययाऽनुमातव्या। अन्तरपि पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमातव्या। सेयं देशपरीक्षा। तथा निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणस्तेषामियत्ताऽवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य च्छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा। ताभिः षट्त्रिंशता मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः। स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्र इति। नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्विरिच्यमानस्य शिरस्यभिहननमुद्घात इत्युच्यते। सेयं कालपरीक्षा संख्यापरीक्षा च। प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा संख्यापरीक्षा श्वासप्रवेशगणनया वा। कालसंख्ययोः कथंचिद्भेदविवक्षया पृथगुपन्यासः। यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते तथाऽपि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव। स खल्वयं प्रत्यहमभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्यापितया दीर्घः परमनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्म इति निरूपितस्त्रिविधः प्राणायामः। चतुर्थं फलभूतं सूत्रयति

और आन्तरशब्द से पूरक अर्थ ग्रहण करते हैं। एक साथ बाह्य और आभ्यन्तर -- दोनों गतियों का निरोधरूप कुम्भक 'स्तम्भवृत्ति' है। इसके विषय में कहा गया है -- जहाँ श्वास और प्रश्वास -- दोनों का एक ही प्राणविधारक = प्राणों को धारण करने वाले प्रयत्न से अभाव हो जाता है, तो पूर्ववत् पुनः आपूरण प्रयत्नौघ = प्रयत्नप्रवाह विधारण =रोकना नहीं होता है और रेचक प्रयत्नौघ भी विधारण नही होता है, किन्तु जिस प्रकार तप्त पाषाण पर डाला हुआ जल सूखता हुआ सब ओर से संकुचित हो जाता है उसी प्रकार वहनशील =गतिशील यह मारुत =वायु भी बलवान् विधारक प्रयत्न से अवरुद्धगति होकर = अपनी क्रिया रुक जाने पर शरीर में ही सूक्ष्म होकर रहता है। न तो पूरण करता है जिससे 'पूरक' कहा जाय और न रेचन ही करता है जिससे 'रेचक' कहा जाय। इस प्रकार यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से परीक्षित होने पर अर्थात् परीक्षा किये जाने पर दीर्घ और सूक्ष्म संज्ञावाला होता है। जिस प्रकार रूई का सघन पिण्ड फैलाने पर विरल= झीना हो जाने के कारण दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है उसी प्रकार प्राण भी देश, काल और संख्या की अधिकता से अभ्यास किये जाने पर दीर्घ और दुर्लक्ष्य होने के कारण सूक्ष्म हो जाता है। जैसे -- श्वास हृदय से निकलकर नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुलपर्यन्त देश में समाप्त होता है और वहीं से लौटकर हृदयपर्यन्त भीतर जाता है -- यह प्राण और अपान की स्वाभाविकी गति है। अभ्यास से तो वह क्रम से नाभि अथवा आधार से निकलता है और नासिकाग्र से चौबीस अंगुलपर्यन्त अथवा छत्तीस अंगुलपर्यन्त देश में समाप्त होता है। इसी प्रकार उसका प्रवेश भी उतना ही समझना चाहिए। इनमें, श्वास की बाह्यदेश में व्याप्ति का तो सरकण्डे आदि के सूक्ष्म = बारीक रूओं की क्रिया से अनुमान करना चाहिए। आन्तर - देश - व्याप्ति का भी चींटी के स्पर्श के समान स्पर्श से अनुमान करना चाहिए। यही देशपरीक्षा है। इसी प्रकार पलक गिरने की क्रिया में व्यतीत होनेवाले काल का चतुर्थ भाग जो क्षण है उन क्षणों की इयत्ता = इयत्--परिमाणता = संख्या भी जाननी चाहिए। अपने जानुमण्डल = घुटने की पाली -

स्म -- 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' इति । बाह्यविषयः श्वासो रेचकः । आभ्यन्तरविषयः प्रश्वासः पूरकः । वैपरीत्यं वा । तावुभावपेक्ष्य सकृद्बलवद्विधारकप्रयत्नवशाद्भवति बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्तृतीयः कुम्भकः । तावुभावनपेक्ष्यैव केवलकुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्तत्प्रयत्नवशाद्भवति चतुर्थ : कुम्भकः । तथा च बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीति तदनपेक्ष इत्यर्थः । अन्या व्याख्या -- बाह्यो विषयो द्वादशान्तादिराभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायाम इति । तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरौ विषयावपर्यालोच्यैव सहसा भवतीति विशेषः । एतादृशश्चतुर्विधः प्राणायामोऽपाने जुह्वति प्राणमित्यादिना सार्धेन श्लोकेन दर्शितः ॥ 29-30 अ ॥

86 तदेवमुक्तानां द्वादशधा यज्ञविदां फलमाह--

घेरे को हाथ से तीन बार स्पर्श करके चुटकी बजाने में जितना काल लगता है उसको 'मात्रा'कहते हैं । उन छत्तीस मात्राओं से प्रथम उद्घात होना 'मन्द' है, वही दुगुना होने पर द्वितीय 'मध्यम' उद्घात कहलाता है तथा वही तिगुना होने पर तृतीय 'तीव्र' उद्घात होता है । नाभिमूल से प्रेरित होकर विरिच्यमान वायु का जो शिर में अभिघात होता है उसको 'उद्घात' कहते हैं । यही कालपरीक्षा और संख्यापरीक्षा है । अथवा प्रणवजप की आवृत्तिओं के भेद से या श्वासप्रवेश की गणना से संख्यापरीक्षा होती है । काल और संख्या के कथंचिद् भेद की विवक्षा से इनका पृथक् उल्लेख किया है । यद्यपि कुम्भक में देशव्याप्ति का ज्ञान नहीं होता तथापि काल और संख्या की व्याप्ति का ज्ञान तो होता ही है । यह प्राणायाम दिन, पक्ष, मास आदि के क्रम से प्रतिदिन अभ्यास करने पर देश, काल और संख्या में व्यापक होने से दीर्घ और अत्यन्त निपुणता से समझने के योग्य होने से सूक्ष्म होता है । इस प्रकार तीन प्रकार के प्राणायाम का निरूपण हुआ । इनका फलभूत जो चतुर्थ प्राणांयाम है उसको पतञ्जलि ने इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है --- 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' (पातञ्जलयोगसूत्र,2.51) = 'बाह्य और आभ्यन्तर विषयों को फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चतुर्थ प्राणायाम है' । बाह्य जिसका विषय है वह श्वास 'रेचक' है और आभ्यन्तर जिसका विषय है वह प्रश्वास 'पूरक' है । अथवा, इसके विपरीत बाह्य जिसका विषय है वह श्वास 'पूरक' है और आभ्यन्तर जिसका विषय है वह प्रश्वास 'रेचक' है -- ऐसा भी व्याख्यान हो सकता है । उन दोनों की अपेक्षा कर एक ही बलवान् विधारक प्रयत्न से जो बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कुम्भक होता है वह तृतीय प्राणायाम है । तथा उन दोनों की अपेक्षा न करके ही केवल कुम्भक के अभ्यास की पटुता से बार - बार तद्- तद् प्रयत्न करने पर चतुर्थ कुम्भक होता है । इस प्रकार 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' -- इसका अर्थ यही है कि बाह्य = रेचक और आभ्यन्तर = पूरक की अपेक्षा न करनेवाला चतुर्थ कुम्भक होता है । इसकी दूसरी व्याख्या इसप्रकार हो सकती है -- बाह्य विषय नासिकाग्र से बारह अंगुल आदि की दूरी है और आभ्यन्तर विषय हृदय, नाभिचक्र आदि हैं, उन दोनों विषयों का आक्षेप कर अर्थात् पर्यालोचन कर जो स्तम्भरूप प्राणगति का विच्छेद होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है । तृतीय प्राणायाम तो बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की पर्यालोचना किए बिना ही सहसा होता है -- यही इन दोनों में भेद है । इस प्रकार चार प्रकार के प्राणायाम को 'अपाने जुह्वति प्राणम्' इत्यादि डेढ़ श्लोक से दिखलाया है ।।29- 30अ ।।

86 इसप्रकार उक्त बारह प्रकार के यज्ञवेत्ताओं का फल कहते हैं :--

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 30 ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

87 यज्ञान्विदन्ति जानन्ति विन्दन्ति लभन्ते वेति यज्ञविदो यज्ञानां ज्ञातारः कर्तारश्च । यज्ञैः पूर्वोक्तैः क्षपितं नाशितं कल्मषं पापं येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः । यज्ञान्कृत्वाऽवशिष्टे कालेऽन्नममृतशब्दवाच्यं भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः । ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यान्ति ब्रह्म सनातनं नित्यं संसारान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ 30 ब – 31 अ ॥

88 एवमन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाहार्धेन –

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ 31 ॥

89 उक्तानां यज्ञानां मध्येऽन्यतमोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति सोऽयज्ञस्तस्यायमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोको नास्ति सर्वनिन्द्यत्वात्, कुतोऽन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः परलोको हे कुरुसत्तम ॥ 31 ब ॥

90 किं त्वया स्वोत्प्रेक्षामात्रेणैवमुच्यते न हि वेद एवात्र प्रमाणमित्याह –

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32 ॥

[यज्ञों के ज्ञाता, यज्ञों के द्वारा जिनके पापों का क्षय हो गया है वे तथा जो यज्ञों से अवशिष्ट अमृतरूप अन्न का भोजन करते हैं वे सभी योगीजन सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।। 30 ब -31अ ।।]

87 जो यज्ञों को 'विदन्ति '= 'जानन्ति' = जानते हैं अथवा 'विन्दन्ति' = 'लभन्ते' = प्राप्त करते हैं वे यज्ञविद्[66] =यज्ञों के ज्ञाता और कर्ता ; पूर्वोक्त यज्ञों से क्षपित =विनाशित हैं कल्मष अर्थात् पाप जिनके वे यज्ञक्षपितकल्मष ; तथा जो यज्ञों को करके अवशिष्ट काल में अमृतशब्दवाच्य अन्न का भोजन करते हैं ऐसे यज्ञशिष्टामृतभुज् -- ये सभी सत्त्वशुद्धि-- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानप्राप्ति द्वारा सनातन = नित्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार से मुक्त हो जाते हैं ।। 30ब-- 31अ ।।

88 इसप्रकार यज्ञान्वय में =यज्ञ करने में गुण कहकर यज्ञ - व्यतिरेक में = यज्ञ न करने में आधे श्लोक से दोष कहते हैं :-

[हे कुरुसत्तम - कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! अयज्ञ को तो यह मनुष्यलोक भी प्राप्त नहीं होता, फिर परलोक तो प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?।। 31ब ।।]

89 हे कुरुसत्तम - कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! उक्त यज्ञों में से कोई एक भी यज्ञ जिसका नहीं है वह 'अयज्ञ' कहलाता है । उसको यह अल्पसुखवाला मनुष्यलोक भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह सभी का निन्दनीय होता है; फिर अन्य अर्थात् विशिष्टसाधनसाध्य परलोक तो प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?।। 31 ब ।।

90 "क्या आप अपनी उत्प्रेक्षा -- सम्भावना -- कल्पना से ही ऐसा कह रहे हैं ?'इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं --- 'नहीं, इसमें वेद ही प्रमाण है ' --

---

66. यहाँ 'यज्ञविद्' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है । यज्ञविद् = यज्ञं विन्दन्ति विदन्ति वा । 'यज्ञ' कर्मपूर्वक 'विद ज्ञाने 'और 'विद्लृ लाभे' धातु से 'संपदादिभ्यः क्विप्' (वार्तिक, 2233) – वार्तिक से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'यज्ञविद्' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका क्रमशः अर्थ हुआ --- 'यज्ञों का ज्ञाता 'और 'यज्ञों का कर्ता'। प्रकृत में दोनों व्युत्पत्ति विवक्षित हैं, अतः 'यज्ञविद्' शब्द से 'यज्ञवेत्ता' और 'यज्ञकर्ता'-- ये दोनों अर्थ विवक्षित हैं ।

91 एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञाः सर्ववैदिकश्रेयःसाधनरूपा वितता विस्तृता ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे वेदद्वारेणैवैतेऽवगता इत्यर्थः । वेदवाक्यानि तु प्रत्येकं विस्तरभयान्नोदाहियन्ते । कर्मजान्कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि जानीहि तान्सर्वान्यज्ञान्नाऽऽत्मजान् । निर्व्यापारो ह्यात्मा न तद्व्यापारा एते किं तु निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसेऽस्मात्संसार-बन्धनादिति शेषः ॥ 32 ॥

92 सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात्कर्मज्ञानयोः साम्यप्राप्तावाह –

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33 ॥

93 श्रेयान्प्रशस्यतरः साक्षान्मोक्षफलत्वात्, द्रव्यमयात्तदुपलक्षिताज्ज्ञानशून्यात्सर्वस्मादपि यज्ञात्संसारफलाज्ज्ञानयज्ञ एक एव हे परंतप । कस्मादेवं यस्मात्सर्वं कर्मेष्टिपशुसोमचयनरूपं श्रौतमखिलं निरवशेषं स्मार्तमुपासनादिरूपं च यत्कर्म तज्ज्ञाने ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे समाप्यते

[इसप्रकार वेद के द्वारा ही अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तार हुआ है । उन सबको तुम कर्मजनित जानो । ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे ॥32॥

91 इसप्रकार यथोक्त बहुविध = बहुत प्रकार के यज्ञ, जो सभी वैदिक = वेदप्रतिपादित श्रेय के साधनरूप हैं, ब्रह्म के = वेद के मुख अर्थात् द्वार में वितत = विस्तृत हैं अर्थात् वेद के द्वारा ही उनका ज्ञान हुआ है । यहाँ विस्तार के भय से उनमें से प्रत्येक से सम्बन्ध रखनेवाले वेदवाक्य उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं । उन सब यज्ञों को तुम कर्मज = कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म से उत्पन्न हुए जानो, आत्मा से उत्पन्न हुए नहीं, क्योंकि आत्मा तो निर्विकार है, ये उसके व्यापार नहीं हो सकते । किन्तु 'मैं निर्व्यापार और उदासीन हूँ'-- ऐसा जानकर तुम इस संसारबन्धन से मुक्त हो जाओगे । इस वाक्य में 'अस्मात् संसारबन्धनात् ' = 'इस संसार - बन्धन से'---इतना अध्याहार करना चाहिए ॥ 32 ॥

92 सभी यज्ञों का एक जैसा उल्लेख होने के कारण कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ की समानता प्राप्त होने पर कहते हैं :--

[हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ !सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं ॥33॥

93 हे परंतप ! संसारफलक सभी द्रव्यमय यज्ञों से अर्थात् उनसे उपलक्षित ज्ञानशून्य यज्ञों से ज्ञानयज्ञ एक ही श्रेष्ठ अर्थात् अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि उसका फल साक्षात् मोक्ष ही है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि 'सर्वम्' = इष्टि, पशु और सोमचयनरूप सब श्रौतकर्म और 'अखिलम्' = उपासनादि रूप जितना भी कर्म है वह समग्र स्मार्तकर्म ब्रह्म और आत्मा की एकता के साक्षात्काररूप ज्ञान में ही समाप्त होते हैं अर्थात् प्रतिबन्धक्षय के द्वारा पर्यवसित होते हैं । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृ० उ० 4.4.22), 'धर्म

67. ज्ञान की उत्पत्ति में समस्त आश्रमकर्मों की अपेक्षा रहती है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'-- यह श्रुति अश्ववत् यज्ञादि की ज्ञान -साधनता को सूचित करती है । अर्थात् जैसे योग्यतावश अश्व हल खींचने में नियुक्त नहीं किया जाता है, किन्तु रथ खींचने में नियुक्त किया जाता है । इसी प्रकार आश्रमकर्म ज्ञान के फल मोक्ष में अपेक्षित नहीं होते हैं, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति में तो अवश्य अपेक्षित होते हैं ।

प्रतिबन्धक्षयद्वारेण पर्यवस्यति । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति "धर्मेण पापमपनुदति" इति च श्रुतेः "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति न्यायाच्चेत्यर्थः ॥ 33 ॥

94 एतादृशज्ञानप्राप्तौ कोऽतिप्रत्यासन्न उपाय इति उच्यते –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 34 ॥

95 तत्सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानं विद्धि लभस्व आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारस्तेन कोऽहं कथं बद्धोऽस्मि केनोपायेन मुच्येयमित्यादिपरिप्रश्नेन बहुविषयेण प्रश्नेन । सेवया सर्वभावेन तदनुकूलकारितया । एवं भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकेणावनति-

से पाप को दूर करता है' इत्यादि । ब्रह्मसूत्र के 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'[67] ---(ब्रह्मसूत्र,3.4.26)-- इस न्याय से भी यह अर्थ सिद्ध होता है ।।33।।

94 ऐसे ज्ञान की प्राप्ति में अत्यन्त समीपवर्ती उपाय कौन सा है ? -- इस विषय में भगवान् कहते हैं -- [उस ज्ञान को तुम आचार्यो के समीप जाकर उनको दण्डवत् - प्रणाम करके, उनसे अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्न करके और उनकी सेवा के द्वारा जानो । वे ज्ञानी और तत्त्वदर्शी आचार्य तुमको ज्ञान का उपदेश करेंगे ।।34।।]

95 उस समस्त कर्मों के फलभूत ज्ञान को तुम आचार्यों के समीप जाकर उनको प्रणिपात = प्रकर्ष से -- प्रकृष्ट भाव से - विनीत भाव से नीचे -- भूमि पर पतन - साष्टांग दण्डवत् प्रणाम अथवा दीर्घ नमस्कार[68] करके ;उनसे 'मैं कौन हूँ ?', 'किस प्रकार बद्ध हुआ हूँ ?' 'किस उपाय से मुक्त होऊँगा ?' -- इत्यादि परिप्रश्न = अनेक विषयसम्बन्धी प्रश्न करके ; और उनकी सेवा = सभी प्रकार से उनके अनुकूल कार्य करके जानो अर्थात् प्राप्त करो । इस प्रकार भक्ति और श्रद्धा की अतिशयतापूर्वक अवनतिविशेष से अभिमुख -- अनुकूल होकर ज्ञानी = पद -व्याकरण, वाक्य - मीमांसा और न्याय आदि प्रमाणों में निपुण और तत्वदर्शी = ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले आचार्य तुमको साक्षात् मोक्षफलक परमात्मविषयक ज्ञान का उपदेश करेंगे अर्थात् उपदेश के द्वारा तुममें ज्ञान का सम्पादन करेंगे । 'ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट ही ज्ञान फलरूप में परिणत होनेवाला होता है, उससे रहित अर्थात् तत्त्वदर्शन से रहित पद - वाक्य आदि प्रमाणों में निपुण भी ज्ञानी आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान नहीं'---- यह भगवान् का मत 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० उ० 1.2.12) = 'उसको जानने के लिए वह जिज्ञासु हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय' -- इस श्रुति के समान है; क्योंकि उक्त श्रुति में भी 'श्रोत्रिय = अधीतवेद = वेदों के अध्येता, और ब्रह्मनिष्ठ = ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले गुरु के समीप जाय'-- ऐसी व्याख्या की है [68] । यहाँ 'ज्ञानिनः, तत्त्व-

६८. कालिका पुराण में कहा है --

'प्रसार्य्य पादौ हस्तौ च पतित्वा दण्डवत् क्षितौ ।
जानुभ्यां धरणीं गत्वा शिरसा स्पृश्य मेदिनीम् ।।
क्रियते यो नमस्कार उत्तमः कायिकस्तु सः ।'

विशेषेणाभिमुखाः सन्त उपदेक्ष्यन्ति उपदेशेन संपादयिष्यन्ति ते तुभ्यं ज्ञानं परमात्मविषयं साक्षान्मोक्षफलं ज्ञानिनः पदवाक्यन्यायादिमाननिपुणास्तत्त्वदर्शिनः कृतसाक्षात्काराः । साक्षात्कारवद्भिरुपदिष्टमेव ज्ञानं फलपर्यवसायि न तु तद्रहितैः पदवाक्यमाननिपुणैरपीति भगवतो मतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इतिश्रुतिसंवादि। तत्रापि श्रोत्रियमधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठं कृतब्रह्मसाक्षात्कारमिति व्याख्यानात् । बहुवचनं चेदमाचार्य-विषयमेकस्मिन्नपि गौरवातिशयार्थं न तु बहुत्वविवक्षया । एकस्मादेव तत्त्वसाक्षात्कारवत आचार्यात्तत्त्वज्ञानोदये सत्याचार्यान्तरगमनस्य तदर्थमयोगादिति द्रष्टव्यम् ॥ 34 ॥

96 एवमतिनिर्बन्धेन ज्ञानोत्पादने किं स्यादत आह –

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 35 ॥

97 यत्पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्यैरुपदिष्टं ज्ञात्वा प्राप्य, ओदनपाकं पचतीतिवत्तस्यैव धातोः सामान्यविवक्षया प्रयोगः । न पुनर्मोहमेवं बन्धुवधादिनिमित्तं भ्रमं यास्यसि हे पाण्डव ।

98 कस्मादेवं यस्मादेव ज्ञानेन भूतानि पितृपुत्रादीनि अशेषेण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि स्वाविद्यावि-

-दर्शिनः'-- इत्यादि पदों में जो बहुवचन का प्रयोग हुआ है वह भी एक ही आचार्य के लिए उनके अत्यन्त गौरव के लिए प्रयुक्त हुआ है,अनेक आचार्यों की विवक्षा से प्रयुक्त नहीं हुआ है[70]; -- क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कारवान् एक ही आचार्य से तत्त्वज्ञान का उदय हो सकने पर पुनः उसके लिए किसी अन्य आचार्य के समीप जाना उचित नहीं है -- यह द्रष्टव्य है ।।34 ।।

96 इसप्रकार -- अत्यन्त आग्रहपूर्वक ज्ञान उत्पन्न करने से क्या होगा ? -- इस पर भगवान् कहते हैं :-- [हे पाण्डव ! जिस पूर्वोक्त ज्ञान को जानकर तुम पुनः इसप्रकार मोह को प्राप्त नहीं होओगे तथा जिसके द्वारा तुम सम्पूर्ण भूतों को अपने में और मेरे में भी अभेद रूप से देखोगे ।।35।।]

97 हे पाण्डव ![71] आचार्यों से उपदिष्ट जिस पूर्वोक्त ज्ञान को जानकर अर्थात् प्राप्तकर तुम पुनः इस-- प्रकार मोह को = बन्धुवधादिनिमित्तक भ्रम को प्राप्त नहीं होओगे। 'ओदनपाकं पचति' = 'ओदनरूप पाक पकाता है '-- इस वाक्य में जैसे 'पाकम्' और 'पचति' -- इन पदों में एक ही 'पच्' धातु है वैसे ही प्रकृत श्लोक में समानता की विवक्षा से 'ज्ञानम्'और 'ज्ञात्वा' -- इन दोनों पदों में एक ही 'ज्ञा'- धातु का प्रयोग किया है ।

98 ऐसा क्यों होगा ? क्योंकि जिस ज्ञान के द्वारा तुम अपनी अविद्या से विजृम्भित= प्रतीत होनेवाले भूतों को = पिता - पुत्रादि पदार्थों को अशेषरूप से = ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त अपने में अर्थात् त्वंपद के अर्थ तुममें और मेरे मे अर्थात् 'तत्' पद के अर्थ मुझ वासुदेव में जो परमार्थतः भेद--

69. यहाँ 'ज्ञानी' शब्द को 'तत्त्वदर्शी' शब्द से विशिष्ट इसलिए किया गया है कि तत्त्वज्ञानोपदेश के लिए उपदेष्टा गुरु को शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञ - दोनों ही होना चाहिए; क्योंकि कोई - कोई शास्त्रज्ञ भी तत्त्वदर्शन में असमर्थ होते हैं । इसीलिए भगवान् का मत है कि 'ब्रह्मवेत्ता आचार्य के द्वारा उपदिष्ट ही ज्ञान फलरूप में परिणत होता है , पद- वाक्य - प्रमाणज्ञ किन्तु अतत्त्वज्ञ आचार्य के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान नहीं ', यही 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'-- इस श्रुति वाक्य से भी प्रमाणित है ।

70. स्मृति - वचन भी है -- 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' = 'गुरु, आत्मा और ईश्वर के लिए एकवचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।' अतः प्रकृत में एक गुरु की विवक्षा में भी बहुवचन का प्रयोग उचित ही है ।

जृम्भितानि आत्मनि त्वयि त्वंपदार्थेऽथो अपि मयि भगवति वासुदेवे तत्पदार्थे परमार्थतो भेदरहितेऽधिष्ठानभूते द्रक्ष्यस्यभेदेनैव, अधिष्ठानातिरेकेण कल्पितस्याभावात् । मां भगवन्तं वासुदेवमात्मत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वाज्ञाननाशे तत्कार्याणि भूतानि न स्थास्यन्तीति भावः ॥ 35 ॥

99 किं च शृणु ज्ञानस्य माहात्म्यम् –

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ 36 ॥

100 अपि चेदित्यसंभाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ । यद्यप्ययमर्थो न संभवत्येव तथाऽपि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते । यद्यपि त्वं पापकारिभ्यः सर्वेभ्योऽप्यतिशयेन पापकारी पापकृत्तमः स्यास्तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापमतिदुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानप्लवेनैव नान्येन ज्ञानमेव प्लवं पोतं कृत्वा संतरिष्यसि सम्यगनायासेन पुनरावृत्तिवर्जितत्वेन च तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । वृजिनशब्देनात्र धर्माधर्मरूपं कर्म संसारफलमभिप्रेतं मुमुक्षोः पापवत्पुण्यस्याप्यनिष्टत्वात् ॥ 36 ॥

101 ननु समुद्रवत्तरणे कर्मणां नाशो न स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 37 ॥

रहित और अधिष्ठानभूत है, अभेदरूप से ही देखोगे ; क्योंकि अधिष्ठान के अतिरिक्त कल्पित = अध्यस्त पदार्थ की सत्ता नहीं होती । भाव यह है कि मुझ भगवान् वासुदेव का आत्मरूप से साक्षात्कार करके सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाने पर उसके कार्यभूत भूतों की स्थिति नहीं रहेगी ।। 35।।

99 इसके अतिरिक्त ज्ञान का माहात्म्य सुनो --
[यदि तुम समस्त पापियों से भी बढ़कर पाप करने वाले हो तो भी ज्ञानरूप नौका से ही समस्त पापों के पार हो जाओगे ।।36 ।।

100 'अपि'और 'चेत्' -- ये दोनों निपात असंभावित वस्तु की स्वीकृति प्रदर्शित करने के लिए हैं । यद्यपि यह अर्थ संभव नहीं है, तथापि ज्ञान का फल कहने के लिए इसको स्वीकार करके कहा जाता है । यद्यपि तुम समस्त पापकारियों की अपेक्षा भी पापकृत्तम = अधिक पापकारी हो, तथापि समस्त वृजिन अर्थात् पाप को, जो अत्यन्त दुस्तर होने के कारण अर्णव =समुद्र सदृश है, ज्ञानरूप नौका से ही -- किसी अन्य से नहीं, अर्थात् ज्ञान को ही नौका = जहाज बनाकर संतरिष्यसि=सम्यक् -- अनायास और पुनरावृत्तिरहित ही तर जाओगे -- पार कर जाओगे । 'वृजिन'शब्द यद्यपि पापवाची है तथापि यहाँ इस शब्द से संसारफलक धर्माधर्मरूप कर्म अभिप्रेत है, क्योंकि मुमुक्षु के लिए तो पाप के समान पुण्य भी अनिष्ट ही है ।।36।।

101 'समुद्र के समान पाप को तरने से भी कर्मों का नाश तो नहीं होगा' -- ऐसी आशङ्का करके दूसरा दृष्टांत देते हैं ----

---

71. तुम्हारी बुद्धि पाण्डु अर्थात् शुद्ध है अतएव तुम ज्ञान प्राप्त कर मोह से मुक्त होओगे और सर्वभूत को अपने में और मुझमें अद्वैतरूप से देख सकोगे -- यह सूचित करने के लिए ही यहाँ 'पाण्डव' कहकर सम्बोधन किया है ।

102 यथैधांसि काष्ठानि समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते भस्मीभावं नयति हेऽर्जुन ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि चाविशेषेण प्रारब्धफलभिन्नानि भस्मसात्कुरुते तथा तत्कारणाज्ञानविनाशेन विनाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः --

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" इति ।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्," "इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु," इति च सूत्रे । अनारब्धे पुण्यपापे नश्यत एवेत्यत्र सूत्रम् – "अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" इति । ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणां तु तद्देहान्त एव विनाशः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति श्रुतेः, "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते" इति सूत्राच्च । आधिकारिकाणां तु यान्येव ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकाणि तान्येव देहान्तरारम्भकाण्यपि । यथा वसिष्ठापान्तरतमःप्रभृतीनाम् । तथा च सूत्रं "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति ।

[हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देता है ॥37॥

102 जैसे समिद्ध = प्रज्वलित अग्नि एधांसि = काष्ठों को भस्मसात् कर देता है = भस्मीभाव को प्राप्त करा देता है, हे अर्जुन ! वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि प्रारब्धफल के अतिरिक्त पाप और पुण्य समस्त कर्मों को अविशेष - समानरूप से भस्मसात् कर देता है अर्थात् उनके कारण अज्ञान का नाश करके उनको नष्ट कर देता है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है -- 'उस पर और अपर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है और समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं एवं समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है' (मु० उ०, 2.2.8) । इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है -- 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'तदधिगम =ब्रह्म का अधिगम -- अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ--पाप का विनाश हो जाता है, क्योंकि श्रुति इस प्रकार का व्यपदेश -- कथन करती है' ; और 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.14) = 'इतर - पुण्य कर्म का भी इसी प्रकार = अघ- पाप के समान ज्ञानी के साथ अश्लेष और विनाश होता हैं, इससे उसका शरीरपात होने पर उसको विदेह- कैवल्य प्राप्त हो जाता है'।

अनारब्ध फलवाले पुण्य और पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं -- इस विषय में यह सूत्र है -- 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.15) = 'अनारब्ध कार्यवाले पूर्व के संचित पुण्य और पाप ही नष्ट होते हैं ; प्रारब्ध कार्यवाले नहीं, क्योंकि उनकी तो देहपात अवधि कही गई है'। किन्तु जो ज्ञानोत्पादक देह का आरम्भ करनेवाले कर्म हैं उनका तो उस देह का अन्त होने पर ही विनाश होता है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० उ०, 6.14.2) = 'उस ज्ञानी के विदेहमोक्ष में तब तक ही विलम्ब होता है जब तक उसका शरीर नहीं छूटता, फिर तो वह विदेह मुक्त हो ही जाता है'। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र भी है -- 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.19) = 'इतर - प्रारब्ध कर्मों को तो ज्ञानी उपभोग से क्षीण करके ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं',आधिकारिक पुरुषों के तो जो कर्म ज्ञानोत्पादक देह का आरम्भ करने वाले होते हैं वे ही अन्य देह के भी आरम्भक होते हैं, जैसे कि वसिष्ठ, अपान्तरतम आदि के कर्म थे । इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र भी कहता है --'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्रह्मसूत्र, 3.3.32) = 'आधिकारिक पुरुषों की अपने

अधिकारोऽनेकदेहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म । तच्चोपासकानामेव नान्येषाम् । अनारब्धफलानि नश्यन्ति आरब्धफलानि तु यावद्भोगसमाप्ति तिष्ठन्ति । भोगश्चैकेन देहेनानेकेन वेति न विशेषः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ॥ 37 ॥

103 यस्मादेवं तस्मात् --

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

104 न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनं शुद्धिकरमन्यदिह वेदे लोकव्यवहारे वा विद्यते, ज्ञानभिन्नस्याज्ञानानिवर्तकत्वेन समूलपापनिवर्तकत्वाभावात्कारणसद्भावेन पुनः पापोदयाच्च । ज्ञानेन त्वज्ञाननिवृत्त्या समूलपापनिवृत्तिरिति तत्सममन्यन्न विद्यते ।

105 तदात्मविषयं ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते तत्राऽऽह -- तज्ज्ञानं कालेन महता योगसंसिद्धो योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः स्वयमात्मन्यन्तःकरणे विन्दति लभते न तु योग्यतामापन्नोऽन्यदत्तं स्वनिष्ठतया न वा परनिष्ठं स्वीयतया विन्दतीत्यर्थः ॥ 38 ॥

अधिकार की समाप्ति तक स्थिति रहती है'। अनेक देहों का आरम्भक बलवान् प्रारब्धफल कर्म 'अधिकार'कहलाता है । ऐसा कर्म उपासकों का ही होता है, अन्यों का नहीं । अनारब्ध फलवाले कर्म तो ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध फलवाले कर्म तो भोग की समाप्ति तक रहते हैं । वह भोग एक देह से समाप्त हो अथवा अनेक देहों से -- इससे कोई अन्तर नहीं आता । इस विषय का विस्तार आकर ग्रन्थों में देखना चाहिए ॥37॥

103 क्योंकि ऐसा है, इसलिए --

[वेद या लोकव्यवहार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाली कोई भी वस्तु नहीं है । उस ज्ञान को कर्मयोग के द्वारा बहुत काल में संस्कृत हुआ पुरुष स्वयं अपने आत्मा =अन्तःकरण में प्राप्त करता है ॥38॥]

104 इह = वेद में या लोकव्यवहार में ज्ञान के समान पवित्र - पावन अर्थात् शुद्धि करनेवाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न -अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु अज्ञान की निवृत्ति करनेवाली न होने से मूलसहित पाप को दूर करनेवाली नहीं हो सकती, कारण कि पाप का हेतु विद्यमान रहने से पुनः पाप का उदय हो सकता है[72] । ज्ञान से तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण मूलसहित पाप की निवृत्ति हो जाती है, अतः उसके समान दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है ।

105 'अच्छा तो वह आत्मविषयक ज्ञान सभी को तुरन्त उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता '?-- इस विषय में कहते हैं -- उस ज्ञान को पुरुष बहुत समय में योगसंसिद्ध = योग से --- पूर्वोक्त कर्मयोग से संसिद्ध --संस्कृत

72. यदि कहें कि ज्ञान के अतिरिक्त प्रायश्चित्तादि तो पापों को नष्ट करते ही हैं तो इसका उत्तर है कि प्रायश्चित्तादि पापों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते, कारण पाप का हेतु अज्ञान विद्यमान रहने से पुनः पाप का उदय होना संभव है । प्रायश्चित्तादि विशेष कर्म से विशेष पाप ही नष्ट होता है किन्तु उससे अनेक जन्मों से संचित और इस जन्म में क्रियमाण समस्त पाप सर्वकाल के लिए एक-साथ निवृत्ति नहीं हो सकते । प्रायश्चित्तादि किसी पाप की सामयिक रूप से निवृत्ति करते हैं, अतः पाप का पुनः उदय होना संभव होता है । और फिर प्रायश्चित्तादि केवल पाप को ही नष्ट करते हैं, पुण्य को तो नहीं, अतः पुण्य रहने से भी जन्म-मरण का बीज रहता है । इस प्रकार प्रायश्चित्तादि मूलसहित पाप की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं करते हैं । ज्ञान से ही पाप, पुण्य, मिश्र, संचित

106 येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपायः पूर्वोक्तप्रणिपाताद्यपेक्षयाऽप्यासन्नतर उच्यते –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ 39 ॥

107 गुरुवेदान्तवाक्येष्विदमित्थमेवेतिप्रमारूपास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा तद्वान्पुरुषो लभते ज्ञानम् । एतादृशोऽपि कश्चिदलसः स्यात्तत्राऽऽह – तत्परः, गुरूपासनादौ ज्ञानोपायेऽत्यन्ताभियुक्तः । श्रद्धावांस्तत्परोऽपि कश्चिदजितेन्द्रियः स्यादत आह – संयतेन्द्रियः, संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानीन्द्रियाणि येन स संयतेन्द्रियः । य एवं विशेषणत्रययुक्तः सोऽवश्यं ज्ञानं लभते । प्रणिपातादिस्तु बाह्यो मायावित्वादिसंभवादनैकान्तिकोऽपि । श्रद्धावत्त्वादिस्त्वैकान्तिक उपाय इत्यर्थः ।

108 ईदृशेनोपायेन ज्ञानं लब्ध्वा परां चरमां शान्तिमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिमचिरेण तदव्यवधानेनैवाधिगच्छति लभते । यथा हि दीपः स्वोत्पत्तिमात्रेणैवान्धकारनिवृत्तिं करोति न तु कंचित्सहकारिणमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तिमात्रेणैवाज्ञाननिवृत्तिं करोति न तु किंचित्प्रसंख्यानादिकमपेक्षत इति भावः ॥ 39 ॥

अर्थात् योग्यता को प्राप्त होने पर स्वयं आत्मा में अर्थात् अन्तःकरण में विन्दति -- लभते = प्राप्त करता है अर्थात् योग्यता को प्राप्त हुआ पुरुष भी उस ज्ञान को दूसरे के देने पर अपने में स्थितरूप से अथवा दूसरे में स्थित होने पर अपने स्वत्वरूप से प्राप्त नहीं करता है ।।38।।

106 जिससे अवश्य ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और जो पूर्वोक्त प्रणिपात आदि की अपेक्षा भी अधिक समीपवर्ती है उस उपाय को कहते हैं :--

[श्रद्धावान्, ज्ञानप्राप्ति के उपायों में तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।।39।।

107 गुरु और वेदान्त के वाक्यों में 'इदमित्थमेव' = 'यह ऐसा ही है'-- ऐसी प्रमारूपा आस्तिक्य - बुद्धि 'श्रद्धा' है, उससे युक्त = श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है । एतादृश = ऐसा - श्रद्धावान् होने पर भी कोई आलसी हो तो इस पर कहते हैं -- तत्पर = गुरूपासना आदि ज्ञान के उपायों में अत्यन्त अभियुक्त - व्यस्त -- लगा हुआ हो । श्रद्धावान् और तत्पर होने पर भी कोई अजितेन्द्रिय हो तो कहते हैं -- संयतेन्द्रिय = जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयों से संयत अर्थात् निवृत्त कर लिया है ऐसा वह संयतेन्द्रिय पुरुष होना चाहिए । जो ऐसे तीन विशेषणों से युक्त है वह अवश्य ही ज्ञान को प्राप्त करता है । प्रणिपातादि तो बाह्य साधन हैं और वे मायावीरूप आदि भी हो सकते हैं, अतः वे अनैकान्तिक = अवश्य ही फल न देनेवाले भी हैं, किन्तु श्रद्धावान् होना आदि तो ऐकान्तिक = अवश्य ही फल देने वाले उपाय हैं -- यह अर्थ है ।

108 इस प्रकार के उपाय से ज्ञान प्राप्त करके वह अचिर = शीघ्र ही अर्थात् ज्ञान होते ही पर = चरम शान्ति को अर्थात् अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिरूपा मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । भाव यह है कि जैसे दीपक अपनी उत्पत्तिमात्र से ही अन्धकार की निवृत्ति करता है, किसी सहकारी की

तथा क्रियमाण सर्वकर्म एकसाथ नष्ट होते हैं अर्थात् ज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर अज्ञान के कार्य समस्त पापों की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, इसलिए ज्ञानसदृश पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है, यह सिद्ध है ।

109 अत्र च संशयो न कर्तव्यः, कस्मात् –

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ 40 ॥

110 अज्ञोऽनधीतशास्त्रत्वेनाऽऽत्मज्ञानशून्यः । गुरुवेदान्तवाक्यार्थ इदमेवं न भवत्येवेतिविपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धिरश्रद्धा तद्वानश्रद्दधानः । इदमेवं भवति न वेति सर्वत्र संशयाक्रान्तचित्तः संशयात्मा विनश्यति स्वार्थाद्भ्रष्टो भवति । अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यतीति संशयात्मापेक्षया न्यूनत्वकथनार्थं चकाराभ्यां तयोः प्रयोगः । कुतः, संशयात्मा हि सर्वतः पापीयान्यतो नायं मनुष्यलोकोऽस्ति वित्तार्जनाद्यभावात्, न परो लोकः स्वर्गमोक्षादिर्धर्मज्ञानाद्यभावात्, न सुखं भोजनादिकृतं संशयात्मनः सर्वत्र संदेहाक्रान्तचित्तस्य । अज्ञस्याश्रद्दधानस्य च परो लोको नास्ति मनुष्यलोको भोजनादिसुखं च वर्तते । संशयात्मा तु त्रितयहीनत्वेन सर्वतः पापीयानित्यर्थः ॥ 40 ॥

111 एतादृशस्य सर्वानर्थमूलस्य संशयस्य निराकरणायऽऽत्मनिश्चयमुपायं वदन्नध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकाभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति –

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ 41 ॥

अपेक्षा नहीं करता वैसे ही ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्र से ही अज्ञान की निवृत्ति करता हैं, किसी प्रसंख्यान आदि अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता ॥ 39 ॥

109 इसमें संशय नहीं करना चाहिए । क्यों ? क्योंकि --
[अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है । संशयात्मा को तो न यह लोक है, न परलोक है और न उसको सुख ही प्राप्त होता है ॥40 ॥]

110 अज्ञ= शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ न होने से जो आत्मज्ञान से शून्य है ; गुरु और वेदान्त के वाक्यों के अर्थ में 'इदमेवं न भवत्येव' = ' यह ऐसा हो ही नहीं सकता' -- इस प्रकार की विपर्ययरूपा नास्तिक्यबुद्धि अश्रद्धा है उससे जो युक्त है वह अश्रद्दधान =श्रद्धा न रखने वाला ; तथा 'इदमेवं भवति न वा' = 'यह ऐसा है या नहीं' -- इस प्रकार जिसका चित्त सर्वत्र संशय से आक्रांत = संशयग्रस्त रहता है वह संशयात्मा नष्ट हो जाता है अर्थात् स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च विनश्यति'-- इस प्रकार संशयात्मा की अपेक्षा उन दोनों की --- अज्ञ और अश्रद्दधान की न्यूनता कहने के लिए उनका प्रयोग दो चकारों के सहित किया है । ऐसा क्यों है ? कारण कि संशयात्मा सबकी अपेक्षा अधिक पापी है, क्योंकि जिसका चित्त सर्वत्र संशयग्रस्त रहता है उस संशयात्मा का वित्तार्जन आदि न होने से न यह मनुष्यलोक है ; न धर्म - ज्ञानादि का अभाव होने के कारण स्वर्ग - मोक्षादि परलोक ही है ; और न उसको भोजनादिकृत सुख ही प्राप्त होता है । अज्ञानी और अश्रद्दधान का तो परलोक ही नहीं है, उनको मनुष्यलोक और भोजनादि सुख तो प्राप्त है ही । अतः भाव यह है कि संशयात्मा तो इहलोक, परलोक और भोजनादिसुख -- इन तीनों ही से रहित होने के कारण सबकी अपेक्षा अधिक पापी है ॥40 ॥

111 इस प्रकार इस समस्त अनर्थों के मूल संशय का निराकरण करने के लिए आत्मनिश्चयरूप उपाय को बताते हुए भगवान दो अध्यायों में उक्त पूर्वापर-- भूमिकाभेद से कर्म और ज्ञानमयी दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा का उपसंहार करते हैं:--

112 योगेन भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण संन्यस्तानि भगवति समर्पितानि कर्माणि येन। यद्वा परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन संन्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि येन तं योगसंन्यस्तकर्माणम्। संशये सति कथं योगसंन्यस्तकर्मत्वमत आह -- ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेनाऽऽत्मनिश्चयलक्षणेन छिन्नः संशयो येन तम्। विषयपरवशत्वरूपप्रमादे सति कुतो ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह -- आत्मवन्तमप्रमादिनं सर्वदा सावधानम्। एतादृशमप्रमादित्वेन ज्ञानवन्तं ज्ञानसंछिन्नसंशयत्वेन योगसंन्यस्तकर्माणं कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि वृथाचेष्टारूपाणि वा न निबध्नन्ति अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नाऽऽरभन्ते हे धनंजय ॥ 41 ॥

113 यस्मादेवम् --

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ 42 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ 4 ॥

---

114 अज्ञानादविवेकात्संभूतमुत्पन्नं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं, कारणस्याऽऽश्रयस्य च ज्ञाने शत्रुः सुखेन हन्तुं शक्यत इत्युभयोपन्यासः। एनं सर्वानर्थमूलभूतं संशयमात्मनो ज्ञानासिनाऽऽत्मविषयकनि-

[हे धनञ्जय! समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास = भगवान् में समर्पण कर दिया है और आत्मनिश्चयरूप ज्ञान से जिसने संशय का छेदन कर दिया है उस आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ॥41॥

112 भगवान् की आराधना ही जिसका लक्षण है ऐसे समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास =भगवान् में समर्पण कर दिया है ; अथवा, परमार्थदर्शन ही जिसका लक्षण है ऐसे योग के द्वारा जिसने अपने कर्मों का संन्यास = त्याग कर दिया है उस योगसंन्यस्तकर्मा को। संशय रहने पर योगसंन्यस्तकर्मत्व कैसे हो सकता है ? अतः कहते है -- 'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' = जिसने आत्मनिश्चयरूप ज्ञान से संशय का छेदन कर दिया है उसको। विषयपरवशत्वरूप प्रमाद होने पर ज्ञानोत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः कहते हैं -- 'आत्मवन्तम्' =आत्मवान् को = अप्रमादी को -- सर्वदा सावधान को। ऐसे अप्रमादी होने के कारण ज्ञानवान् को और ज्ञानसंछिन्नसंशय होने के कारण योगसंन्यस्तकर्मा को लोकसंग्रह के लिए किये गए या वृथाचेष्टारूप कर्म नहीं बाँधते अर्थात् हे धनञ्जय ! वे उसके इष्ट, अनिष्ट अथवा मिश्र शरीर का आरम्भ नहीं करते ॥41 ॥

113 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिए हे भारत ! अज्ञान से उत्पन्न और ह्रदय में स्थित इस संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्मयोग का आचरण करो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ॥42॥]

114 अज्ञान = अविवेक से संभूत =उत्पन्न और हृत्स्थ = हृत् अर्थात् बुद्धि में स्थित, -- कारण और आश्रय का ज्ञान होने पर शत्रु को सुख से मारा जा सकता है, इसलिए यहाँ दोनों का उल्लेख किया है, -- इस समस्त अनर्थों के मूलभूत संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से = आत्मविषयक

श्चयखड्गेन छित्त्वा योगं सम्यग्दर्शनोपायं निष्कामकर्माऽऽतिष्ठ कुरु । अत इदानीमुत्तिष्ठ युद्धाय हे भारत भरतवंशे जातस्य युद्धोद्यमो न निष्फल इति भावः ॥ 42 ॥

115 स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते ।
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृत ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ 4 ॥

निश्चयरूप खड्ग से काटकर सम्यग्दर्शन के उपायभूत योग = निष्काम कर्म का अनुष्ठान करो । अतः इस समय तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ । हे भारत! -- इस सम्बोधन से यह भाव है कि भरतवंश में उत्पन्न हुए तुम्हारा युद्ध के लिए उद्यम निष्फल नहीं होगा ॥42 ॥

115 यहाँ भगवान् ने अपने अनीशत्व का बाध करके भक्ति और श्रद्धा को दृढ़ किया है और धी- बुद्धि - ज्ञान की हेतुभूता कर्मनिष्ठा का उपसंहार किया है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य
श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का ब्रह्मार्पणयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त होता है ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

1 **अध्यायाभ्यां कृतो द्वाभ्यां निर्णयः कर्मबोधयोः ।**
कर्मतत्त्यागयोर्द्वाभ्यां निर्णयः क्रियतेऽधुना ॥

2 **तृतीयेऽध्याये 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादिनाऽर्जुनेन पृष्टो भगवाञ्ज्ञानकर्मणोर्विकल्पसमुच्चयासंभवेनाधिकारिभेदव्यवस्थया 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया' इत्यादिना निर्णयं कृतवान् । तथा चाज्ञाधिकारिकं कर्म न ज्ञानेन सह समुच्चीयते तेजस्तिमिरयोरिव युगपदसंभवात्कर्माधिकारहेतुभेदबुद्ध्यपनोदकत्वेन ज्ञानस्य तद्विरोधित्वात् । नापि विकल्प्यते, एकार्थत्वाभावात्, ज्ञानकार्यस्याज्ञाननाशस्य कर्मणा कर्तुमशक्यत्वात् 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । ज्ञाने जाते तु कर्मकार्यं नापेक्ष्यत एवेत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने ' इत्यत्र । तथा च ज्ञानिनः कर्मानधिकारे निश्चिते**

---

1 गत दो अध्यायों से कर्म और ज्ञान (बोध) का निर्णय किया गया है, अब दो अध्यायों से कर्म और उसके त्याग = कर्मसंन्यास का निर्णय किया जाता है ।

2 तृतीय अध्याय में 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादि श्लोक से अर्जुन के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् ने ज्ञान और कर्म का विकल्प अथवा समुच्चय असंभव होने के कारण अधिकारिभेद से व्यवस्था करते हुए उनका 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ' -- इत्यादि श्लोकों से निर्णय किया था । अतः जिसका अधिकारी अज्ञानी पुरुष है उस कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म के अधिकार की हेतुभूता भेदबुद्धि का अपनोदक = निवर्त्तक होने के कारण ज्ञान कर्म का विरोधी है, अतः प्रकाश और अन्धकार के समान वे एक साथ नहीं रह सकते । इसी प्रकार ज्ञान और कर्म का विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनों का एक ही प्रयोजन नहीं है -- ज्ञान का कार्य जो अज्ञाननाश है वह कर्म से हो ही नहीं सकता । श्रुति भी कहती है -- 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' = 'उसको ही जानकर पुरुष मृत्यु को पार कर जाता है, मोक्ष - प्राप्ति के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है' । ज्ञान उत्पन्न होने पर तो कर्म के कार्य की अपेक्षा ही नहीं रहती -- यह 'यावानर्थ उदपाने' (गीता, 2.46) -- इस श्लोक में कहा है । इसप्रकार ज्ञानी का कर्म में अधिकार नहीं है -- यह निश्चित होने पर वह प्रारब्धकर्मवश वृथा चेष्टारूप से कर्मानुष्ठान करता रहे अथवा समस्त कर्मों का त्याग कर दे -- यह निर्विवाद रूप से चतुर्थ अध्याय में निर्णय किया गया है । अज्ञानी पुरुष को तो अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिए; जैसा कि श्रुति में कहा गया है -- 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' = 'उस इस ब्रह्म को ब्राह्मणजन वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवास के द्वारा जानना चाहते हैं' और भगवान् के वचन हैं -- 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता, 4.33) = 'हे पार्थ ! श्रौत और स्मार्त्त -- सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं । इस प्रकार समस्त कर्म ज्ञान के लिए हैं तथा सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग भी ज्ञान के लिए है -- यह -- 'इसी आत्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं'; 'पहले दान्त अर्थात् बाह्येन्द्रियों के व्यापारों से उपरत होकर तत्पश्चात् शान्त अर्थात् अन्तःकरण की तृष्णाओं से निवृत्त हुआ, उपरत अर्थात् समस्त कामनाओं

प्रारब्धकर्मवशाद्वृथाचेष्टारूपेण तदनुष्ठानं वा सर्वकर्मसंन्यासो वेति निर्विवादं चतुर्थे निर्णीतम् । अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतेः, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति भगवद्वचनाच्च । एवं सर्वकर्माणि ज्ञानार्थानि । तथा सर्वकर्मसंन्यासोऽपि ज्ञानार्थः श्रूयते -- 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्', 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्', 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादौ ।

3 **तत्र कर्मतत्त्यागयोराराद्उपकारकसंनिपत्योपकारकयोः प्रयाजावघातयोरिव न समुच्चयः संभवति विरुद्धत्वेन यौगपद्याभावात् । नापि कर्मतत्त्यागयोरात्मज्ञानमात्रफलत्वेनैकार्थत्वाददतिरात्रयोः षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिव विकल्पः स्यात्, द्वारभेदेनैकार्थत्वाभावात् । कर्मणो हि पापक्षयरूपमदृष्टमेव द्वारं, संन्यासस्य तु सर्वविक्षेपाभावेन विचारावसरदानरूपं दृष्टमेव द्वारं, नियमापूर्वं तु दृष्टसमवायित्वादवघातादाविव न प्रयोजकम् । तथा चादृष्टार्थदृष्टार्थयोराराद्उपकारक-**

से मुक्त और विधिपूर्वक समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला संन्यासी तथा तितिक्षु आत्मा में समाहित होकर आत्मस्वरूप में ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करे'; 'त्याग करनेवाले पुरुष को ही उसके प्रत्यगात्मस्वरूप परम पद का ज्ञान हो सकता है'; 'सत्य-असत्य, सुख--दुःख, वेद तथा यह लोक और परलोक -- इन सभी का त्याग करके आत्मानुसन्धान करे' -- इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है ।

3 उसमें कर्म और उसके त्याग = कर्मसंन्यास का समुच्चय होना आरात् उपकारक प्रयाज और सन्निपत्य उपकारक अवघात[1] के समान सम्भव नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध होने के कारण ये एक साथ नहीं रह सकते । कर्म और उसके त्याग का आत्मज्ञानमात्र फल होने से एक ही प्रयोजन होने पर भी उनका विकल्प भी अतिरात्र के उद्देश्य से किये जानेवाले षोडशी के ग्रहण और अग्रहण के समान नहीं हो सकता, क्योंकि द्वारभेद होने के कारण उनकी एकार्थता नहीं है । निश्चय ही कर्म का तो पापक्षयरूप अदृष्ट ही द्वार है, किन्तु संन्यास का तो समस्त विक्षेपों के अभाव के संपादन द्वारा विचारावसरदानरूप = विचार के लिए अवसरप्रदानरूप दृष्ट ही द्वार है । अवघातादि के समान नियमापूर्व भी कर्म का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वह अपूर्वतोदृष्टसमवायी होता —

1. योग के उपकारक अङ्ग दो प्रकार के होते हैं – आरादुपकारक और सन्निपत्योपकारक । ऐसे कर्म जिनका विधान प्रधान कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि को उद्देश्य न करके केवल कर्म के रूप में ही होता है अर्थात् जिनका प्रधान कर्म के अङ्गों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जो स्वतन्त्ररूप से प्रधान कर्म के उपकारक होते हैं 'आरादुपकारक' कहे जाते हैं, आरादुपकारक फलापूर्व अर्थात् परमापूर्व के आरात् = समीपता से अर्थात् साक्षात् रूप से उपकारक होते हैं । जैसे दर्शपूर्णमास प्रधान याग है, 'प्रयाज' दर्शपूर्णमास का ही साक्षात् अङ्ग है जिसका साध्य दर्शपूर्णमास के परमापूर्व को उत्पन्न करना होता है, जो इसप्रकार दर्शपूर्णमास प्रधान याग के फलापूर्व की उत्पत्ति में साक्षात् उपकारक होता है, इसीलिए 'प्रयाज' की संज्ञा 'आरादुपकारक' है । इसके विपरीत ऐसे कर्म जिनका विधान प्रधान कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि को उद्देश्य करके किया जाता है 'सन्निपत्योपकारक' कहे जाते हैं । जैसे – दर्शपूर्णमास प्रधान कर्म है, इसके अङ्ग द्रव्य-ब्रीहि हैं । ब्रीहि को उद्देश्य करके 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' 'ब्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि = ब्रीहि का अवघात (कूटना), प्रोक्षण इत्यादि करना 'सन्निपत्योपकारक' कर्म हैं । सन्निपत्योपकारक सन्निपत्य = किसी मध्यवर्ती अङ्गी में निपत्य = गिरकर अर्थात् किसी मध्यवर्ती अंगी का आश्रय लेकर परमापूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होता है, इसीलिए इसको 'आश्रयि कर्म' 'सामवायिक कर्म' कहा जाता है । यद्यपि स्वर्गार्थ ही आरादुपकाररक प्रयाजादि है एवं तदर्थ ही सन्निपत्योपकारक अवघातादि भी हैं, किन्तु वे विभिन्न काल में अनुष्ठित होते हैं, अतः इनका समुच्चय सम्भव नहीं है । इसीप्रकार कर्म और कर्मसंन्यास का भी समुच्चय संभव नहीं है ।

संनिपत्योपकारकयोरेकप्रधानार्थत्वेऽपि विकल्पो नास्त्येव, प्रयाजावघातादीनामपि तत्प्रसङ्गात् । तस्मात्क्रमेणोभयमप्यनुष्ठेयम् । तत्रापि संन्यासानन्तरं कर्मानुष्ठानं चेत्तदा परित्यक्त-पूर्वाश्रमस्वीकारेणाऽऽरूढपतितत्वात्कर्मानधिकारित्वं प्राक्तनसंन्यासवैयर्थ्यं च तस्यादृष्टार्थ-त्वाभावात् । प्रथमकृतसंन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे तदुत्तरकाले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यं च । तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण वैराग्येण विविदिषायां सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणमननादिरूपवेदान्तवाक्यविचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतम् । तथा चोक्तम् -- 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति । वक्ष्यते च --

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥' इति ।

है अर्थात् दृष्टफल के साथ समवेत होकर उत्पन्न होता है[2] । इसप्रकार अदृष्टार्थ आरात् उपकारक कर्म और दृष्टार्थ सन्निपत्य उपकारक कर्मत्याग -- ये दोनों आत्मज्ञानोत्पादन रूप एक प्रधान प्रयोजन के लिए होने पर भी इनमें विकल्प नहीं हो सकता, अन्यथा प्रयाज और अवघातादि में भी विकल्प होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अत: कर्म और उसके त्याग -- इन दोनों का ही क्रमश: अनुष्ठान करना चाहिए । इसमें भी यदि कहो कि संन्यास के बाद कर्मों का अनुष्ठान किया जाय तो परित्यक्त पूर्व आश्रम को स्वीकार करने से आरूढ़पतित होने के कारण पुन: कर्म का अधिकार ही नहीं रहता और इसप्रकार प्राक्तन = पूर्वस्वीकृत संन्यास भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि उसका कोई अदृष्ट प्रयोजन नहीं है । इसके अतिरिक्त जब प्रथम स्वीकृत संन्यास से ही ज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो उसके उत्तरकाल में कर्मों का अनुष्ठान करना व्यर्थ ही है । अतः सर्वप्रथम भगवदर्पण बुद्धि से निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए उससे अन्त:करण = मन की शुद्धि होने पर तीव्र वैराग्य से विविदिषा = ब्रह्मजिज्ञासा -- ब्रह्मज्ञानेच्छा दृढ़ होगी तदनन्तर श्रवण-मननादिरूप वेदान्तवाक्यविचार के लिए सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिए-- यही भगवान् को अभिमत है । ऐसा ही भगवान् ने कहा भी है-- 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता, 3.4) = 'कर्मों का आरम्भ किये बिना कोई पुरुष नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं कर सकता' । आगे भी भगवान् कहेंगे -- 'योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्मयोग ही साधन कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए शम ही साधन कहा जाता है' (गीता, 6.3) । यहाँ

2. विविध साधनों से सिद्ध होनेवाली क्रिया के अनुष्ठान में अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होने लगने पर अभिप्रेत साधन की प्राप्ति करानेवाली विधि को 'नियमविधि' कहते हैं । उदाहरण के लिए ब्रीहितुषविमोक एक क्रिया है जिसका अनुष्ठान नखविदलन, अश्मकुट्टन और अवहनन से हो सकता है । इसीप्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है । इसप्रकार तुषविमोक के अनेक साधनों द्वारा सम्पाद्य होने पर जब तुषिविमोक में अवघात के अतिरिक्त नखविदलन आदि किसी भी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अवघात की अप्राप्ति हो उठती है, अत: उस अवघात को प्राप्त कराने के लिए नियमविधि की प्रवृत्ति होती है । नियमविधि इसप्रकार अप्राप्त अवघात का विधान करती है । प्रकृत स्थल में अनभिप्रेत एक साधन की प्राप्ति हो रही थी जिसका बाधकर अभिप्रेत अप्राप्त साधन -- अवघात का विधान किया गया है । अवघात द्वारा ही तुषविमोक होने पर अपूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है, नखविदलन द्वारा नहीं, इसीलिए अवघात का नियमन किया गया है । भाव यह है कि अवघात का प्रयोजन नियमापूर्व की उत्पत्ति है, तुषविमोकमात्र नहीं । अवघात होने पर तुषविमोक होता है और अवघात के अभाव में तुषविमोक नहीं होता है --- इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा तुषविमोक की सिद्ध्यसिद्धि लोकत: प्राप्त है -- सर्वविदित है, अतएव अवघात का विधान तुषविमोक के लिए ही नहीं है, अपितु नियमापूर्व की उत्पत्ति के लिए भी है । इसप्रकार नियमापूर्व अवघात का प्रयोजक है । अवघातादि नियमविधि तुषविमोकरूप दृष्ट फल के साथ ही अपूर्वरूप अदृष्ट फल का जनक होती है । कर्म से ऐसा कोई दृष्ट फल नहीं होता, इसलिए नियमापूर्व इसका प्रयोजक नहीं है ।

योगोऽत्र तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा । तदुक्तं वार्तिककारैः--
'प्रत्यग्विविदिषासिद्धयै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात् ॥' इति

स्मृतिश्च --

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ' इति ।

मोक्षधर्मे च --

' कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥
भावितः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥
तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः ॥' इति ।

4 **मोक्षं वैराग्यम् । एतेन क्रमाक्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ । तथा च श्रुतिः -- 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेयदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति ।**

'योग' शब्द का अर्थ तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा = ब्रह्मज्ञानेच्छा है । यह वार्तिककार ने भी कहा है -- ''ईप्सन्ति' = 'इच्छा करते हैं' -- इस श्रुति के बल से यह सिद्ध होता है कि वेदानुवचनादि जो समस्त कर्म श्रुति में विहित हैं उनका मुख्य उद्देश्य है प्रत्यगात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विविदिषा = जानने की इच्छा उत्पन्न करना, किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिए तो तत्त्वज्ञानी उन कर्मों का त्याग करने की ही इच्छा करते हैं ।'' स्मृति में भी कहा गया है -- 'कर्मों से राग-द्वेषादि रूप चित्त के कषाय पक्व = क्षीण हो जाते हैं, ज्ञान तो परम गति है । कर्मों से कषायों के पक्व = क्षीण हो जाने पर उसके बाद ज्ञान की प्रवृत्ति होती है अर्थात् तत्त्वज्ञान का उदय होता है' । मोक्ष-धर्म में भी ऐसा ही कहा गया है -- 'तीन श्रेणीरूप तीन आश्रमों में = ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ और वानप्रस्थ -- इन तीन आश्रमों में कषाय = राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि को क्षीण करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए । संन्यास सबसे उत्तम अन्तिम आश्रम है । संसार की अनेक योनियों में जितेन्द्रिय रहकर जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसको तो प्रथम = ब्रह्मचर्य आश्रम में ही मोक्ष = वैराग्य प्राप्त हो जाता है । वैराग्य = मोक्ष को प्राप्तकर दृष्टार्थ अतएव विद्वान् जीवन्मुक्त को अन्य तीन आश्रमों में और क्या प्रयोजन अभीष्ट रह जाता है ?'

4 यहाँ 'मोक्ष' शब्द का अर्थ वैराग्य है । इससे क्रम और अक्रम -- दोनों प्रकार के संन्यास दिखाये गये हैं । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'ब्रह्मचर्य समापन कर गृही = गृहस्थ बने फिर गृहस्थ से वनी = वानप्रस्थ होकर संन्यासी हो जाय अथवा दूसरे प्रकार से ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर ले अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थ से ही जिस दिन ही वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लें' ।

5 अतः अज्ञानी के लिए वैराग्य न होने की दशा में कर्मानुष्ठान ही विहित है वही करना चाहिए तथा वैराग्य की अवस्था में उसी के लिए श्रवणादि का अवसर प्रदान कर ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिए संन्यास का विधान किया गया है -- इसप्रकार अवस्थाभेद से अज्ञानी के लिए ही कर्म और उसके त्याग की व्याख्या

5 **तस्मादज्ञस्याविरक्ततादशायां कर्मानुष्ठानमेव । तस्यैव विरक्ततादशायां संन्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थ इति दशाभेदेनाज्ञमधिकृत्यैव कर्मतत्त्यागौ व्याख्यातुं पञ्चमषष्ठावध्यायावारभ्येते । विद्वत्संन्यासस्तु ज्ञानबलादर्थसिद्ध एवेति संदेहाभावान्नात्र विचार्यते ।**

6 **तत्रैकमेव जिज्ञासुमज्ञं प्रति ज्ञानार्थत्वेन कर्मतत्त्यागयोर्विधानात्तयोश्च विरुद्धयोर्युगपदनुष्ठानासंभवान्मया जिज्ञासुना किमिदानीमनुष्ठेयमिति संदिहानः --**

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ 1 ॥

7 **हे कृष्ण सदानन्दरूप भक्तदुःखकर्षणेति वा । कर्मणां यावज्जीवादिश्रुतिविहितानां नित्यानां नैमित्तिकानां च संन्यासं त्यागं जिज्ञासुमज्ञं प्रति कथयसि वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगं च**

करने के लिए पञ्चम और षष्ठ अध्यायों का आरम्भ किया गया है । विद्वत्संन्यास तो ज्ञान के बल से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, अतः उसके विषय में कोई सन्देह न होने के कारण यहाँ उसका विचार नहीं किया गया है ।

6 इसप्रकार एक ही जिज्ञासु अज्ञानी पुरुष के लिए ज्ञान के प्रयोजन से जब कर्म और उसके त्याग -- इन दोनों का विधान किया गया है और परस्पर विरुद्ध होने के कारण जब एक ही समय में एक ही पुरुष के द्वारा उन दोनों का अनुष्ठान असम्भव है तब 'मेरे जैसे जिज्ञासु के लिए अब किसका अनुष्ठान करना चाहिए ?' -- इसप्रकार संशयापन्न होकर --

[अर्जुन ने कहा -- हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास का और फिर कर्मयोग का भी उपदेश कर रहे हैं, अतः इनमें से जो अधिक श्रेयस्कर हो उस एक का ही अच्छी प्रकार निश्चय करके मुझको उपदेश कीजिए ॥ 1 ॥]

7 हे कृष्ण ! = हे सदानन्दरूप[3] ! अथवा हे भक्तदुःखकर्षण[4] ! = हे भक्तों के दुःखों का कर्षण = हरण करनेवाले ! आप 'संन्यासी लोग इसी आत्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं' (बृ० उ० 4.4.22); ' उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण लोग वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानना चाहते हैं' (बृ० उ० 4.4.22) इत्यादि -- इन दो श्रुति-वाक्यों से, अथवा, 'जो तृष्णाशून्य, अन्तःकरण और देह का निग्रह करनेवाला तथा सम्पूर्ण भोग साधनों को त्यागनेवाला है वह पुरुष केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिए आवश्यक कर्मों को करता हुआ भी किल्विष = संसार को प्राप्त नहीं होता है' (गीता, 4.21); 'हे भारत ! अज्ञानसंभूत और हृदयस्थ इस संशय को अपने ज्ञानरूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्मयोग का आचरण करो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ' (गीता, 4.42) -- इन दो गीता-वाक्यों से एक ही जिज्ञासु अज्ञानी को वेद के आधार से 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुतिद्वारा विहित नित्य और नैमित्तिक कर्मों के संन्यास = त्याग का और फिर उसके विरुद्ध कर्मानुष्ठानरूप योग का उपदेश कर रहे हैं । इसप्रकार आप एक ही अज्ञानी के

---

3. विष्णुपुराण में कहा है –

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'कृषि' शब्द का अर्थ है -- सत्ता या सत्, और 'ण' शब्द का अर्थ है – आनन्द । सत् और आनन्द का जो ऐक्यरूप है अर्थात् सदानन्दरूप जो परब्रह्म है उसे ही 'कृष्ण' कहा जाता है ।

4. 'कर्षति दुःखानि शरणागतानां भक्तानाम्, बाहुलकात् कृषेर्नक् वर्णं विनापि णत्वं च, कृष्णः--' अर्थात् जो शरणागत भक्तों के दुःखों का कर्षण -- हरण – निवारण करते हैं वे ही 'कृष्ण' हैं ।

कर्मानुष्ठानरूपं शंससि 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिवाक्यद्वयेन,

'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥'

'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' इति गीतावाक्यद्वयेन वा । तत्रैकमज्ञं प्रति कर्मतत्त्यागयोर्विधानाद्युगपदुभयानुष्ठानासंभवादेतयोः कर्मतत्त्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः प्रशस्यतरं मन्यसे कर्म वा तत्त्यागं वा तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं तव मतमनुष्ठानाय ॥ 1 ॥

8 **एवमर्जुनस्य प्रश्ने तदुत्तरम् –**

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ 2 ॥

9 **निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासादनधिकारिकृतात्कर्मयोगो विशिष्यते श्रेयानधिकारसंपादकत्वेन ॥ 2 ॥**

लिए कर्म और कर्मत्याग-- इन दोनों का विधान कर रहे हैं, किन्तु इन दोनों का एक साथ अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है, अत: कर्म और कर्मत्याग -- इन दोनों में से जिस एक को आप श्रेयस्कर = अधिक प्रशस्त समझते हो उस कर्म अथवा कर्मत्याग रूप अपने सुनिश्चित मत को मुझे अनुष्ठान करने के लिए कहिए ।। 1 ।।

8 इसप्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर उसके उत्तर में श्रीभगवान् बोले --

[कर्मसंन्यास और कर्मयोग -- ये दोनों ही नि:श्रेयस = कल्याण करनेवाले हैं, किन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ।। 2 ।।]

9 संन्यास और कर्मयोग -- ये दोनों की नि:श्रेयसकर हैं अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के हेतु होने कारण मोक्ष में उपयोगी हैं । किन्तु उन दोनों में भी अनधिकारी द्वारा किए हुए कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिकार का संपादक होने से विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है[5] ।। 2 ।।

---

5. संन्यास साधारणत: दो प्रकार का होता है – विद्वत्संन्यास और विविदिषासंन्यास । प्रकृत श्लोक में विद्वत्संन्यास के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है क्योंकि विद्वान् = ब्रह्मनिष्ठ के लिए कर्मयोगानुष्ठान असम्भव है, यही इस अध्याय की उपक्रमिका में पहले ही कहा गया है । अत: जिसने अनात्मज्ञ किन्तु जिज्ञासु होकर विविदिषासंन्यास ग्रहण किया है उसके कर्म परित्याग को अर्थात् वेदान्तवाक्यादि के श्रवणादि के लिए मुमुक्षु जब गृहस्थाश्रमोचित समस्त कर्म का परित्याग कर देता है तब उसप्रकार के कर्म परित्याग को यहां 'संन्यास' शब्द से अभिहित किया गया है । इसप्रकार कर्मसंन्यास श्रवणादि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष का हेतु होता है । और जिनकी चित्तशुद्धि न होकर विविदिषा की उत्पत्ति नहीं हुई है उनकी चित्तशुद्धि के लिए कर्मयोगानुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है । इसप्रकार साधक कर्मयोगानुष्ठान से पहले चित्तशुद्धि कर तत्पश्चात् श्रवणादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, यही भेद है । किन्तु कर्मसंन्यास और कर्मयोगानुष्ठान – दोनों ही अधिकारी-भेद से ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होने के कारण मोक्ष के हेतु होते हैं, अत: दोनों की नि:श्रेयसकर हैं । यद्यपि दोनों ही मोक्ष के हेतु होने के कारण नि:श्रेयसकर हैं, तथापि उन दोनों में भी मात्र कर्मसंन्यास से = ज्ञानरहित कर्मत्याग से अर्थात् जो चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं हुआ है ऐसे अनधिकारी पुरुष के द्वारा जो कर्मसंन्यास होता है उसकी अपेक्षा कर्मयोगानुष्ठान ही श्रेष्ठ होता है, क्योंकि कर्मयोग के फलस्वरूप ही कर्मयोगी चित्तशुद्धि प्राप्त कर प्रकृत संन्यास का अधिकारी होता है, ऐसा कहकर ही भगवान् कर्मयोग की स्तुति कर रहे हैं ।

10 तमेव कर्मयोगं स्तौति त्रिभि:--

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

11 स कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं संन्यासीति ज्ञेयः । कोऽसौ ? यो न द्वेष्टि भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म निष्फलत्वशङ्कया । न काङ्क्षति स्वर्गादिकम् । निर्द्वंद्वो रागद्वेषरहितो हि यस्मात्सुखमनायासेन हे महाबाहो बन्धादन्तःकरणाशुद्धिरूपाज्ज्ञानप्रतिबन्धात्प्रमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेकादिप्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ 3 ॥

12 ननु यः कर्मणि प्रवृत्तः स कथं संन्यासीति ज्ञातव्यः कर्मतत्त्यागयोः स्वरूपविरोधात्, फलैक्यात्तथेति चेत्, न स्वरूपतो विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधस्यौचित्यात् । तथाच निः-श्रेयसकरावुभावित्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह --

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ 4 ॥

13 संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरङ्गसाधनतया सांख्यः संन्यासः । योगः पूर्वोक्तः कर्मयोगः । तौ पृथग्विरुद्धफलौ बालाः शास्त्रार्थविवेकज्ञानशून्याः प्रवदन्ति न पण्डिताः । किं

---

10 उसी कर्मयोग की तीन श्लोकों से स्तुति करते हैं --
[हे महाबाहो ! जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है उसको नित्यसंन्यासी ही समझना चाहिए, क्योंकि निर्द्वन्द्व = राग--द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होने के कारण वह सुखपूर्वक = सुगमता से ही संसाररूप बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥]

11 वह कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ भी नित्यसंन्यासी है -- यह समझना चाहिए । वह कौन ? जो भगवदर्पण बुद्धि से किये जाते हुए कर्म से, उसकी निष्फलता की आशङ्का से, द्वेष नहीं करता और न उससे स्वर्गादि की आकांक्षा करता है; क्योंकि हे महाबाहो ! निर्द्वन्द्व = राग-द्वेषरहित पुरुष सुखपूर्वक = अनायास ही बन्धन से = अन्त:करण की अशुद्धिरूप ज्ञान के प्रतिबन्ध से प्रमुच्यते = नित्यानित्यवस्तुविवेकादि के प्रकर्ष से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥

12 'जो कर्म में प्रवृत्त है उसको संन्यासी कैसे समझना चाहिए ? क्योंकि कर्म और कर्मत्याग के स्वरूप में तो विरोध है । यदि कहें कि दोनों के फल में एकता होने से उनमें अविरोध है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वरूपत: विरुद्ध हैं उनके तो फल में भी विरोध रहना ही उचित है, अत: कर्म और कर्मत्याग -- ये दोनों ही नि:श्रेयसकर हैं -- यह कथन भी सर्वथा उपपत्तिशून्य है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं :--
[सांख्य = संन्यास और योग = निष्काम कर्मयोग पृथक्-पृथक् फलवाले हैं = विरुद्ध फलवाले हैं -- ऐसा तो मूर्खलोग कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ 4 ॥]

13 संख्या सम्यक् आत्मबुद्धि को कहते हैं, उसको॰ज्ञान के अन्तरङ्गसाधनरूप से जो धारण करता है

तर्हि पण्डितानां मतम् । उच्यते -- एकमपि संन्यासकर्मणोर्मध्ये सम्यगास्थितःस्वाधिकारानुरूपेण सम्यग्यथाशास्त्रंकृतवान्सन्नुभयोर्विन्दतेफलंज्ञानोत्पत्तिद्वारेणनिःश्रेयसमेकमेव॥4॥

14 एकस्यानुष्ठानात्कथमुभयोः फलं विन्दते तत्राऽऽह --

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ 5 ॥

15 सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिरैहिककर्मानुष्ठानशून्यत्वेऽपि प्राग्भवीयकर्मभिरेव संस्कृतान्तःकरणैः श्रवणादिपूर्विकया ज्ञाननिष्ठया यत्प्रसिद्धं स्थानं तिष्ठत्येवास्मिन्नतु कदाऽपि च्यवत इति व्युत्पत्त्या मोक्षाख्यं प्राप्यत आवरणाभावमात्रेण लभ्यत इव नित्यप्राप्तत्वात् । योगैरपि भगवदर्पणबुद्ध्या फलाभिसंधिराहित्येन कृतानि कर्माणि शास्त्रीयाणि योगास्ते येषां सन्ति तेऽपि योगाः । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । तैर्योगिभिरपि सत्त्वशुद्ध्या संन्यासपूर्वकश्रवणादिपुरःसरया ज्ञाननिष्ठया वर्तमाने भविष्यति वा जन्मनि संपत्स्यमानया तत्स्थानं गम्यते । अत एकफलत्वादेकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्यः ।

वह सांख्य[6] = संन्यास और योग = पूर्वोक्त कर्मयोग -- ये दोनों पृथक् = विरुद्ध फलवाले हैं -- ऐसा तो बाल = शास्त्रार्थ के विवेकज्ञान से शून्य मूर्खलोग कहते हैं, न कि पण्डितजन । तो पण्डितों का क्या मत है ? कहते हैं -- संन्यास और कर्म -- इन दोनों में से एक में भी सम्यक् आस्थित होने पर अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार सम्यक् -- यथाशास्त्र आचरण करने पर पुरुष ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा दोनों के मोक्षरूप एक ही फल को प्राप्त होता है ॥ 4 ॥

14 एक का अनुष्ठान करने पर दोनों का फल कैसे प्राप्त होता है ? इसपर कहते हैं :--
[सांख्यों = संन्यासियों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है वही कर्मयोगियों को भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य = संन्यास और योग = कर्मयोग को एकरूप से देखता है वही यथार्थ देखता है ॥ 5 ॥]

15 ऐहिक = लौकिक कर्मानुष्ठान से शून्य होने पर भी अपने पूर्वजन्म के कर्मों से ही संस्कृत -- शुद्ध अन्तःकरणवाले सांख्यों अर्थात् ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के द्वारा श्रवणादिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से जो प्रसिद्ध स्थान = 'इसमें स्थित ही रहता है, कभी च्युत नहीं होता' -- इस व्युत्पत्ति से 'मोक्ष' संज्ञक स्थान प्राप्त किया जाता है -- नित्य प्राप्त होने के कारण जो आवरण की निवृत्तिमात्र से प्राप्त किया जाता -- सा प्रतीत होता है । योगियों द्वारा भी भगवदर्पण बुद्धि से फलाभिसन्धि = फल की कामना न रखकर किये जानेवाले शास्त्रीय कर्म 'योग' हैं, वे जिनके हैं वे भी 'योग' कहे जाते हैं -- 'योग' शब्द अर्शादिगण में है, अतः यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में 'अच्' प्रत्यय हुआ है -- उन योगियों के द्वारा भी सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि होने पर वर्तमान या भावी जन्म में संन्यासपूर्वक किये हुए श्रवणादि से प्राप्त हुई ज्ञाननिष्ठा से वही स्थान प्राप्त किया जाता है । अतः एक मोक्षरूप फलवाले होने से जो सांख्य और योग को एकरूप देखता है वही सम्यक् = यथार्थ देखता है, अन्य नहीं ।

---

6. यहाँ 'तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्' (पाणिनिसूत्र, 4.4.76) = 'द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों से 'वहति' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है' -- सूत्र से 'यत्' प्रत्यय हुआ है । संख्या सम्यगात्मबुद्धिः तां वहति इति सांख्यः = संख्या + यत्, 'यस्येति च' (पाणिनिसूत्र 6.4.148) -- सूत्र से अन्त्य आकार का लोप होकर 'सांख्य' शब्द निष्पन्न हुआ ।

16 अयं भावः—येषां संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन प्राग्जन्मसु भगवदर्पितकर्मनिष्ठाऽनुमीयते । कारणमन्तरेण कार्योत्पत्त्ययोगात् । तदुक्तम्—

'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः ॥' इति ।

एवं येषां भगवदर्पितकर्मनिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन भाविनी संन्यासपूर्वज्ञाननिष्ठाऽनुमीयते सामग्र्याः कार्याव्यभिचारित्वात् । तस्मादज्ञेन मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्धये प्रथमं कर्मयोगोऽनुष्ठेयो न तु संन्यासः । स तु वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यतीति ॥ 5 ॥

17 अशुद्धान्तःकरणेनापि संन्यास एव प्रथमं कुतो न क्रियते ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वेन तस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेत्तत्राऽऽह—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ 6 ॥

18 अयोगतो योगमन्तःकरणशोधकं शास्त्रीयं कर्मान्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुःखमाप्तुमेव भवति अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् । शोधके च

---

16 भाव यह है कि जिनकी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा देखी जाती है उसी ज्ञाननिष्ठास्वरूप लिङ्ग = हेतु से ही उनकी पूर्वजन्मों में भगवदर्पित कर्मनिष्ठा का अनुमान होता है, क्योंकि कारण के बिना कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है । कहा भी है --

'वर्तमान जन्म के अतिरिक्त अन्य जो जन्म हुए थे जन्मों में इस ज्ञानी पुरुष ने अवश्य ही सत्कर्म किये होंगे, नहीं तो इसकी ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती थी ।' इसीप्रकार जिनकी भगवदर्पित कर्मनिष्ठा देखी जाती है उनकी, उसी लिङ्ग से, भावी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि कारण-सामग्री कार्य का व्यभिचार नहीं करती है अर्थात् अपने कार्य की उत्पत्ति करती ही है । अत: अज्ञ मुमुक्षु पुरुष को पहले अन्त:करण की शुद्धि के लिए कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिए, न कि संन्यास का, क्योंकि वैराग्य की तीव्रता होने पर संन्यास तो स्वयं ही हो जायेगा ॥ 5 ॥

17 यदि कोई कहे कि 'अशुद्ध अन्त:करणवाले पुरुष को भी पहले संन्यास ही क्यों नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्ञाननिष्ठा का हेतु होने से उसको करना आवश्यक ही है' -- तो कहते हैं :--

[हे महाबाहो ! निष्काम कर्मयोग के बिना हठात् किया हुआ संन्यास दु:ख प्राप्त करने के लिए ही होता है । योगयुक्त होकर संन्यास करनेवाला मुनि अचिरेण = शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ 6 ॥]

18 अयोगत: = अन्त:करणशोधक शास्त्रीय कर्मरूप योग के बिना हठ से ही किया हुआ जो संन्यास होता है वह तो दु:ख प्राप्त करने के लिए ही होता है, क्योंकि अन्त:करण के अशुद्ध होने से तत्फल -- भूता = संन्यासफलभूता = संन्यास की फलभूता ज्ञाननिष्ठा तो हो नहीं सकती और अन्त: -- करणशोधक कर्म में अधिकार भी नहीं रहता-- इसप्रकार कर्म और ब्रह्म--दोनों से भ्रष्ट हो जाने के

कर्मण्यनधिकारात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसंकटापत्तेः । कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तः -- करणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मानं नचिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिबन्धकाभावात् । एतच्चोक्तं प्रागेव--

'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥' इति ।

19 अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम् ॥ 6 ॥

20 ननु कर्मणो बन्धहेतुत्वाद्योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीत्यनुपपन्नमित्यत आह--

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 7 ॥

21 भगवदर्पणफलाभिसन्धिराहित्यादिगुणयुक्तं शास्त्रीयं कर्म योग इत्युच्यते । तेन योगेन युक्तः पुरुषः प्रथमं विशुद्धात्मा विशुद्धो रजस्तमोभ्यामकलुषित आत्माऽन्तःकरणरूपं सत्त्वं यस्य स तथा । निर्मलान्तःकरणः सन्विजितात्मा स्ववशीकृतदेहः । ततो जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेन मनूक्तस्त्रिदण्डी कथितः,

---

कारण परम संकट उपस्थित हो जाता है । कर्मयोगयुक्त मुनि = मननशील तो शुद्धचित्त होने के कारण संन्यासी होकर ब्रह्म = सत्य, ज्ञानादिलक्षण आत्मा को नचिर = अचिर = शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने के कारण उसका साक्षात्कार कर लेता है । यह पहले ही कहा जा चुका है -- 'कर्मों का अनुष्ठान न करने से ही पुरुष सर्वकर्मशून्यतारूप ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है और केवल संन्यास से ही ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है' (गीता, 3.4) ।

19 अतः एक फलवाले होने पर भी 'कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट = श्रेष्ठ है' -- यह जो पहले कहा है वह उचित ही है ॥ 6 ॥

20 'कर्म तो बन्धन का हेतु है, अतः यह कहना उचित नहीं है कि कर्मयोगयुक्त मुनि ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है' -- ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं :--

[कर्मयोगयुक्त पुरुष विशुद्धात्मा = विशुद्ध अन्तःकरणवाला, विजितात्मा = संयत शरीरवाला, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण जड़-अजड़ को आत्मभाव से देखनेवाला होने के कारण कर्म करने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता ॥ 7 ॥]

21 भगवदर्पण और फलाभिसन्धिराहित्य आदि गुणों से युक्त शास्त्रीय कर्म 'योग' कहा जाता है । उस योग से युक्त पुरुष प्रथम विशुद्धात्मा = विशुद्ध अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अकलुषित -- अदूषित है आत्मा = अन्तःकरणरूप सत्त्व जिसका ऐसा निर्मल अन्तःकरणवाला होकर, विजितात्मा = अपने वश में किया हुआ है देह जिसने ऐसा होकर, पुनः जितेन्द्रिय = अपने वश में की हुई हैं समस्त बाह्य इन्द्रियाँ जिसने ऐसा होकर उक्त तीनों को वश में कर लेता है, वह त्रिदण्डी कहलाता है । इससे मनु के कहे हुए त्रिदण्डी का उल्लेख किया गया है -- 'वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड -- ये तीन दण्ड जिसके अधीन होते हैं वह 'त्रिदण्डी' कहा जाता है (मनुस्मृति, 12.10) । यहाँ 'वाक्' बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षण है । ऐसे पुरुष को तत्त्वज्ञान अवश्य होता है -- यह 'सर्वभूतभूतात्मा' से कहते हैं ।

'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥' इति ।

वागिति ब्राह्येन्द्रियोपलक्षणम् । एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यं भवतीत्याह--सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वभूत आत्मभूतश्चाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य स तथा । जडाजडात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यन्नित्यर्थः । सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्येति व्याख्याने तु सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूतेत्यधिकं स्यात् । सर्वात्मपदयोर्जडाजडपरत्वे तु समञ्जसम् । एतादृशः परमार्थदर्शी कुर्वन्नपि कर्माणि परदृष्ट्या न लिप्यते तैःकर्मभिः स्वदृष्ट्या तदभावादित्यर्थः ॥7॥

22 **एतदेव विवृणोति द्वाभ्याम् –**

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ 8 ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ 9 ॥

सर्वभूतात्मभूतात्मा = सर्वभूत और आत्मभूत है आत्मा -- स्वरूप जिसका वह अर्थात् जड़ -- अजड़रूप सभी को आत्ममात्र देखनेवाला है । 'सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य इति' = 'समस्त भूतों -- प्राणियों का आत्मभूत हैं आत्मा जिसका वह' -- ऐसा व्याख्यान करने पर तो 'सर्वभूतात्मा' -- इतने से ही उक्त अर्थ निकल सकता था, अत: 'आत्मभूत' -- यह पद अधिक ही रहेगा[7] । फलत: 'सर्व' और 'आत्मा' -- इन दो पदों को जड़ और अजड़परक मानना उचित होगा । ऐसा परमार्थदर्शी दूसरों की दृष्टि में कर्म करता हुआ भी उन कर्मों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि अपनी दृष्टि में तो वह कुछ करता ही नहीं है -- यह अर्थ है ॥ 7 ॥

22 इसी का दो श्लोकों से स्पष्टीकरण करते हैं --

[तत्त्व को जाननेवाला सांख्य-योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी 'इन्द्रियाँ इन्द्रियों के = अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं' -- ऐसा समझता हुआ 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है ॥ 8-9 ॥]

---

7. प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने भाष्योक्तार्थ पर दोषारोपण करते हुए यह जो कहा है कि 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' का 'सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य इति' -- ऐसा व्याख्यान करने पर तो 'सर्वभूतात्मा' मात्र पद से ही भाष्योक्तार्थ निकल सकता था, अत: वहाँ 'आत्मभूत' पद अधिक ही रहेगा; फलत: 'सर्व' और 'आत्मा' – इन दो पदों को जड़ और अजड़परक मानना उचित होगा', – वह प्रमादमात्र है; क्योंकि उक्त समस्त पद का 'सर्व' शब्द कृत्स्नवाची = अखिलार्थक है, अत: 'सर्व' शब्द से ही जड़ और अजड़ का ग्रहण होने पर 'सर्वभूतात्मा' – इतने से ही मधुसूदन सरस्वती का इष्टार्थ निकल आता है, तो फिर उनके व्याख्यान के अनुसार भी 'आत्मभूत' पद अधिक ही रहेगा; पुन:, यदि उक्त समस्त पद का 'सर्वमचेतनमात्मनश्चेतनास्तद्भूत आत्मा यस्य इति' = 'समस्त = अचेतन और आत्मा = चेतन भूत है आत्मा जिसका' -- ऐसा विग्रह करने पर 'सर्वात्मभूतात्मा' इतने से ही मधुसूदन सरस्वती का अभीष्टार्थ निकल आता है, तो फिर उनके व्याख्यान में प्रथम 'भूत' पद अधिक ही रहेगा, इस प्रकार 'यत्रोभयो: समो दोष:' -- इस न्याय से मधुसूदन सरस्वती का भाष्य पर आक्षेप अनुचित है (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

23 चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणीन्द्रियादीन्येवेन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते न त्वहमिति धारयन्नवधारयन्नैव किंचित्करोमीति मन्येत मन्यते तत्त्ववित्परमार्थदर्शी युक्तः समाहितचित्तः । अथवाऽऽदौ युक्तः कर्मयोगेन पश्चादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्त्वविद्भूत्वा नैव किंचित्करोमीति मन्यत इति संबन्धः ।

24 तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः । गतिः पादयोः । प्रलापो वाचः । विसर्गः पायूपस्थयोः । ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्च कर्मेन्द्रियव्यापारा गच्छन्प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नित्युक्ताः । श्वसन्निति प्राणादिपञ्चकस्य व्यापारोपलक्षणम् । उन्मिषन्निमिषन्निति नागकूर्मादिपञ्चकस्य । स्वपन्नित्यन्तः-करणचतुष्टयस्य । अर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा व्याख्याताविमौ श्लोकौ । यस्मात्सर्वव्यापा-रेष्वप्यात्मनोऽकर्तृत्वमेव पश्यति अतः कुर्वन्नपि न लिप्यत इति युक्तमेवोक्तमिति भावः ॥ 8-9 ॥

25 तर्ह्यविद्वान्कर्तृत्वाभिमानाल्लिप्यतैव तथाच कथं तस्य संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा स्यादिति तत्राऽऽह--

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ 10 ॥

---

23 चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से, वागादि कर्मेन्द्रियों से, प्राणादि वायुविशेष से और अन्तःकरणचतुष्टय से उन-उन चेष्टाओं को करने पर 'इन्द्रियाणि = इन्द्रियादि ही इन्द्रियार्थों में = अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं = प्रवृत्त हो रही हैं, मैं नहीं' -- ऐसी धारणा अर्थात् निश्चय करके तत्त्ववित् = परमार्थदर्शी युक्त = समाहितचित्त पुरुष 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है । अथवा, इसका यह सम्बन्ध इष्ट है कि पहले कर्मयोग से युक्त होकर फिर अन्तःकरणशुद्धि द्वारा तत्त्ववित् होकर 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' -- ऐसा मानता है ।

24 उसमें दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, घ्राण और अशन -- ये चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना -- इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः व्यापार 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन् और अश्नन्' -- इन पदों से कहे गये हैं । पैरों की गति, वाणी का प्रलाप, पायु और उपस्थ का विसर्ग तथा हाथों का ग्रहण -- ये पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार 'गच्छन्, प्रलपन्, विसृजन् और गृह्णन्' -- इन पदों से कहे गये हैं । 'श्वसन्' -- यह प्राणादि पाँच वायुओं के व्यापार का उपलक्षण है, 'उन्मिषन्, निमिषन्' इत्यादि नाग, कूर्मादि पाँच वायुओं के व्यापार हैं । 'स्वपन्' आदि अन्तःकरणचतुष्टय के व्यापार हैं । अर्थक्रम के कारण पाठक्रम को भङ्ग करके इन दोनों श्लोकों की व्याख्या की गई है[8] । क्योंकि समस्त व्यापारों में भी वह तत्त्ववित् आत्मा का अकर्तृत्व ही देखता है, अतः 'वह कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नही होता है' -- यह ठीक ही कहा है -- ऐसा इसका भाव है ॥8-9 ॥

25 प्रश्न होगा -- 'अविद्वान् तो कर्तृत्वाभिमान से लिप्त होता ही है, ऐसी स्थिति में उसको संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा कैसे प्राप्त होगी'? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं :--

[जो पुरुष फल की अभिलाषा छोड़कर ब्रह्म = परमेश्वर को अर्पण करते हुए कर्म करता है वह जल से कमल के पत्ते के समान पाप से लिप्त नहीं होता ॥ 10 ॥]

---

८. यह न्याय है -- 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' -- अर्थात् पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, क्योंकि अर्थबोध के लिए ही शब्द का प्रयोग होता है ।

26 **ब्रह्मणि परमेश्वर आधाय समर्प्य सङ्गं फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरार्थं भृत्य इव स्वाम्यर्थं स्वफलनिरपेक्षतया करोमीत्यभिप्रायेण कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च करोति यो लिप्यते न स पापेन पापपुण्यात्मकेन कर्मणेति यावत् । यथा पद्मपत्रमुपरि प्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् । भगवदर्पणबुद्धयाऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमेव स्यात् ॥ 10 ॥**

27 **तदेव विवृणोति--**

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ 11 ॥

28 **कायेन मनसा बुद्धयेन्द्रियैरपि योगिनः कर्मिणः फलसङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति । कायादीनां सर्वेषां विशेषणं केवलैरिति । ईश्वरायैव करोमि न मम फलायेति ममताशून्यैरित्यर्थः । आत्मशुद्धये चित्तशुद्धयर्थम् ॥ 11 ॥**

29 **कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽपि तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चित्तु बध्यत इति वैषम्ये को हेतुरिति तत्राऽऽह--**

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ 12 ॥

---

26 जो पुरुष ब्रह्म = परमेश्वर में आधान = समर्पण करके सङ्ग = फल की अभिलाषा छोड़कर 'जैसे सेवक स्वामी के लिए अपने फल की इच्छा न रखकर कार्य करता है वैसे ही मैं ईश्वर के लिए निरभिलाष होकर कर्म कर रहा हूँ' -- इस अभिप्राय से समस्त लौकिक और वैदिक कर्म करता है वह पाप से अर्थात् पाप--पुण्य रूप कर्म से लिप्त नहीं होता । जिसप्रकार कमल का पत्ता अपने ऊपर डाले हुए जल से लिप्त नहीं होता उसीप्रकार अविद्वान् भी कर्मलिप्त नहीं होता । भगवदर्पणबुद्धि से अनुष्ठित कर्म बुद्धि की शुद्धिरूप फलवाला ही होता है ॥ 10 ॥

27 इसी को स्पष्ट करते हैं :--
[निष्काम कर्मयोगी आत्मशुद्धि = चित्तशुद्धि के लिए फल की अभिलाषा छोड़कर ममताशून्य शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी कर्म करते रहते हैं ॥11॥]

28 योगी अर्थात् कर्मयोगी फल की आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं । 'केवलैः' -- यह 'काय' आदि सभी का विशेषण है । इसका अर्थ यह है कि 'मैं ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ अपने फल के लिए नहीं' -- इसप्रकार ममताशून्य शरीरादि से योगी कर्म करते हैं । आत्मशुद्धि के लिए अर्थात् चित्त की शुद्धि के लिए करते हैं ॥ 11 ॥

29 'कर्तृत्वाभिमान समान होने पर भी उसी कर्म से कोई मुक्त होता है और कोई बंध जाता है -- इस विषमता का क्या कारण है ?' -- ऐसी आशङ्का होने पर भगवान् कहते हैं :--
[युक्त = निष्काम कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है, किन्तु अयुक्त पुरुष सकामभाव से प्रवृत्त होने के कारण फल में आसक्त होकर कर्मों में अत्यन्त बंध जाता है ॥ 12 ॥]

30 युक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्येवमभिप्रायवान्कर्मफलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वञ्शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं सत्त्वशुद्धिनित्यानित्यवस्तुविवेकसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण जातामिति यावत् । यस्तु पुनरयुक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्यभिप्रायशून्यः स कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलायैवेदं कर्म करोमीति फले सक्तो निबध्यते कर्मभिर्नितरां संसारबन्धं प्राप्नोति । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि युक्तः सन्कर्माणि कुर्विति वाक्यशेषः ॥ 12 ॥

31 अशुद्धचित्तस्य केवलात्संन्यासात्कर्मयोगः श्रेयानिति पूर्वोक्तं प्रपञ्च्याधुना शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मसंन्यास एव श्रेयानित्याह–

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ 13 ॥

32 नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं चेति सर्वाणि कर्माणि मनसा कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यत्रोक्तेनाकर्त्रात्मस्वरूपसम्यग्दर्शनेन संन्यस्य परित्यज्य प्रारब्धकर्मवशादास्ते तिष्ठत्येव । किं दुःखेन नेत्याह–सुखमनायासेन, आयासहेतुकायवाङ्मनोव्यापारशून्यत्वात् । कायवाङ्मनांसि स्वच्छन्दानि कुतो न व्याप्रियन्ते तत्राऽऽह-वशी स्ववशीकृतकार्यकरणसंघातः । क्वाऽऽस्ते नवद्वारे पुरे द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त द्वे पायूपस्थाख्ये अध इति नवद्वारविशिष्टे देहे । —

---

30 युक्त = 'ये कर्म ईश्वर के लिए ही हैं, मेरे फल के लिए नहीं है' -- ऐसे अभिप्रायवाला पुरुष कर्मफल को त्यागकर कर्म करता हुआ नैष्ठिकी अर्थात् सत्त्वशुद्धि-चित्तशुद्धि, नित्यानित्यवस्तुविवेक, संन्यास और ज्ञाननिष्ठा के क्रम से उत्पन्न हुई मोक्षसंज्ञक शान्ति प्राप्त करता है । किन्तु जो अयुक्त है = 'ये कर्म ईश्वर के लिए ही हैं, मेरे फल के लिए नहीं हैं' -- ऐसे अभिप्राय से शून्य है वह कामकार अर्थात् सकामभाव से प्रवृत्त होने के कारण 'अपने फल के लिए यह कर्म कर रहा हूँ' -- ऐसे विचार से फल में आसक्त होकर निबद्ध हो जाता है अर्थात् कर्मों से सर्वथा संसार के बन्धन को प्राप्त होता है । क्योंकि ऐसा है, इसलिए तुम भी युक्त होकर कर्म करो -- यह वाक्य का शेष अंश है ॥ 12 ॥

31 अशुद्धचित्त पुरुष के लिए केवल संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है --इस पूर्वकथन का विस्तार से निरूपण कर अब भगवान् यह कहते हैं कि शुद्धचित्त पुरुष के लिए तो सर्वकर्मसंन्यास ही अति श्रेष्ठ है --

[वशी = कार्यकरणसंघात को वश में करलेनेवाला देही मन से समस्त कर्मों का संन्यास = त्याग कर नौ द्वारोंवाले पुर = देह - शरीर में कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न करवाता हुआ सुख से रहता है ॥ 13 ॥]

32 नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध -- इन समस्त कर्मों का 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गीता, 4.18) -- इस श्लोक में कहे हुए अकर्त्ता आत्मा के स्वरूप का सम्यक् दर्शन करने के द्वारा मन से संन्यास = परित्याग करके प्रारब्धकर्मवश केवल स्थित रहता है । क्या दुःख से रहता है ? कहते हैं -- नहीं, सुख से अर्थात् अनायास से रहता है, क्योंकि आयास = श्रम के हेतु शरीर, वाणी और मन के व्यापार से शून्य होता है । उसके शरीर, वाणी और मन स्वच्छन्द होकर व्यापार क्यों नहीं करते हैं ? इस पर कहते हैं -- वशी = उसने कार्य-करण = शरीर-इन्द्रियादि के संघात को अपने वश में कर लिया है । फिर वह सुख से कहाँ रहता है ? नव द्वारवाले = दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो नथुने (नासिकाद्वार), एक वाक्-द्वार (मुख) -- ये सात शिर अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग के द्वार और

देही देहभिन्नात्मदर्शी प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्नहंकारममकारशून्यस्तिष्ठति। अज्ञो हि देहतादात्म्याभिमानाद्देह एव न तु देही। स च देहाधिकरणमेवाऽऽत्मनोऽधिकरणं मन्यमानो गृहे भूमावासने वाऽहमास इत्यभिमन्यते न तु देहेऽहमास इति भेददर्शनाभावात्। संघातव्यतिरिक्तात्मदर्शी तु सर्वकर्मसंन्यासी भेददर्शनाद्देहेऽहमास इति प्रतिपद्यते। अत एव देहादिव्यापाराणामविद्ययाऽऽत्मन्यक्रिये समारोपितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसंन्यास इत्युच्यते। एतस्मादेवाज्ञवैलक्षण्याद्युक्तं विशेषणं नवद्वारे पुर आस्त इति।

33 **ननु देहादिव्यापाराणामात्मन्यारोपितानां नौव्यापाराणां तीरस्थवृक्ष इव विद्यया बाधेऽपि स्वव्यापारेणाऽऽत्मनः कर्तृत्वं देहादिव्यापारेषु कारयितृत्वं च स्यादिति नेत्याह—नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्त इति संबन्धः ॥ 13 ॥**

पायु तथा उपस्थ -- ये दो शरीर के नीचे के भाग के द्वार – इसप्रकार नौ द्वारवाले देह में रहता है। देही = देह से भिन्न आत्मा को देखनेवाला पुरुष दूसरे के घर में रहनेवाले प्रवासी के समान उस देहरूप घर के पूजा, परिभव आदि से हर्ष या विषाद न करता हुआ अहंकार -- ममकार से रहित होकर केवल स्थित रहता है। अज्ञानी तो देह में तादात्म्य का अभिमान रखने के कारण देह ही है, देही नहीं। वह देह के अधिकरण को ही अपना अधिकरण मानता हुआ 'मैं घर, भूमि अथवा आसन पर बैठा हूँ' -- ऐसा मानता है, यह नहीं कहता कि 'मैं देह में स्थित हूँ' – क्योंकि उसकी देह और देही = आत्मा में भेददृष्टि नहीं है। देहादिरूप संघात से अतिरिक्त = भिन्न आत्मा को देखनेवाला सर्वकर्मसंन्यासी तो भेद-दृष्टि के कारण 'मैं देह में स्थित हूँ' -- ऐसा समझता है। अतएव अविद्या के कारण अक्रिय -- क्रियाशून्य आत्मा में समारोपित देहादि के व्यापारों का विद्या = ज्ञान से बाध हो जाना ही 'सर्वकर्मसंन्यास' कहा जाता है। अज्ञानी की इसी विलक्षणता के कारण 'नौ द्वारवाले शरीर में रहता है' -- यह विशेषण ठीक है।

33 यदि कहें कि जैसे तीरस्थ वृक्षों में नौकास्थित चलनादि व्यापारों को आरोपित किया जाता है वैसे ही आत्मा में आरोपित देहादि के व्यापारों का विद्या-ज्ञान से बाध हो जाने पर भी अपने व्यापार से आत्मा में कर्तृत्व और देहादि के व्यापारों में उसका कारयितृत्व हो सकता है, तो कहते हैं – नहीं[9], 'नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्ते' = 'वह कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न कराता हुआ, रहता है' -- इसप्रकार इस वाक्य का सम्बन्ध लगाना चाहिए ॥ 13 ॥

9. अभिप्राय यह है कि नैयायिक इच्छा-ज्ञानादि को आत्मा का धर्म मानते हैं। उनके मत में आत्मसमवेत – इच्छा-ज्ञानादिरूप जो क्रियाएँ हैं उनको आत्मा स्वयं सम्पन्न करता है, अत: आत्मा अपने व्यापार से कर्ता है। और उन इच्छा-ज्ञानादि के अनुसार देहादि की गमनादि क्रियाओं को देहादि के द्वारा सम्पादित कराता है, इसलिए आत्मा कारयिता भी है -- इसप्रकार आत्मा कर्ता और कारयिता है। इस न्याय-मत के खण्डन के अभिप्राय से ही प्रकृत में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि – नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देही = आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है। गीता में यह पहले ही कहा गया है – 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता, 2.25) = 'यह आत्मा अविकारी है'। श्रुति भी कहती है – 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ०, 4.3.7) = 'आत्मा मानो ध्यान कर रहा है, मानो क्रिया कर रहा है'। यदि कहें कि 'एष एव साधु कर्म कारयति' = 'यही आत्मा साधु कर्म कराता है' –इत्यादि श्रुतिवाक्य तो आत्मा के कर्तृत्व और कारयितृत्व का प्रतिपादन करता है, तो क्या यह श्रुतिवाक्य अप्रमाणित है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है – नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं हैं, क्योंकि आत्मा की सन्निधि-मात्र से देहेन्द्रियादि की क्रियाएँ होती हैं, न कि आत्मा स्वयं कुछ करता, कराता है। जैसे सूर्य की सन्निधि में अन्धकार के दूर हो जाने पर यह माना जाता है कि सूर्य ने अन्धकार को दूर कर दिया है; जैसे चुम्बक की सन्निधि में लोहा चालित होता है और चुम्बक लोहा को चालित करता है – ऐसा माना जाता है; उसीप्रकार आत्मा की सन्निधिमात्र से प्रकृति अर्थात् बुद्धि आदि कार्य में प्रवृत्त होते हैं और वे कार्य अविक्रिय आत्मा में आरोपित होने के कारण आत्मा करता है, कराता है – ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार आत्मा में कर्तृत्व या कारयितृत्व आरोपित है, स्वाभाविक नहीं। वस्तुत: वह कुछ भी न करता हुआ और कुछ भी न कराता हुआ, रहता है।

34 देवदत्तस्य स्वगतैव गतिर्यथा स्थितौ सत्यां न भवति एवमात्मनोऽपि कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्वगतमेव सत्संन्यासे सति न भवति अथवा नभसि तलमलिनतादिवद्वस्तुवृत्त्या तत्र नास्त्येवेति सन्देहापोहायाऽऽह–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ 14 ॥

35 लोकस्य देहादेः कर्तृत्वं प्रभुरात्मा स्वामी न सृजति त्वं कुर्विति नियोगेन तस्य कारयिता न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्माणीप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्म कृतवतस्तत्फलसंबन्धं सृजति भोजयिताऽपि भोक्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव सुधीः' इत्यादि श्रुतेः । अत्रापि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इत्युक्तेः ।

36 यदि किंचिदपि स्वतो न कारयति न करोति चाऽऽत्मा कस्तर्हि कारयन्कुर्वंश्च प्रवर्तत इति तत्राऽऽह–स्वभावस्तु, अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृतिः प्रवर्तते ॥ 14 ॥

34 जिसप्रकार देवदत्त की स्वगता = उसमें रहनेवाली गति उसके ठहर जाने पर नहीं रहती है उसी प्रकार आत्मा के कर्तृत्व और कारयितृत्व उसमें रहने पर भी संन्यास लेने पर नहीं रहते हैं अथवा आकाश के तल, मलिनता आदि के समान उसमें वास्तविक दृष्टि से नहीं रहते हैं ? –. इस सन्देह के निराकरण के लिए भगवान् कहते हैं :–

[प्रभु = आत्मा लोक = देहादि के कर्तृत्व या कर्मों की रचना नहीं करता है और न कर्मफल के सम्बन्ध की ही रचना करता है । स्वभाव = प्रकृति ही इसप्रकार प्रवृत्त होती रहती है ।। 14 ।।]

35 प्रभु[10] = देहादि का स्वामी आत्मा लोक[11] = देहादि के कर्तृत्व की रचना नहीं करता है अर्थात् 'तू कर' -- इसप्रकार आज्ञा देकर उसका कारयिता नहीं होता है, और न लोक के कर्म[12] = ईप्सिततम घटादि की स्वयं रचना करता है अर्थात् कर्ता भी नहीं होता है । तथा कर्म करनेवाले लोक = देहादि का उसके फल के साथ सम्बन्ध की भी रचना नहीं करता है अर्थात् भोजयिता = भोग करानेवाला या भोक्ता = भोग करनेवाला भी नहीं होता है; जैसा कि श्रुति भी कहती है – 'वह आत्मा बुद्धिवृत्ति के अनुरूप होकर दोनों लोकों में उसका अनुसरण करता है और ध्यान करता हुआ-सा तथा क्रिया करता हुआ-सा जान पड़ता है' (बृ० उ०, 4.3.7) इत्यादि । यहाँ भी 'हे कौन्तेय ! शरीर में स्थित रहने पर भी यह आत्मा न तो कर्म करता है, और न उससे लिप्त ही होता है' – इस वाक्य से यही कहा गया है ।

36 यदि आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं कराता है और कुछ भी नहीं करता है, तो फिर कौन कराता हुआ

10. 'प्रकर्षेण स्वयमेव सर्वत्र भाति सर्वं भासयतीति वा सर्वात्मना स्वयमेव भातीति वा प्रभुः' अर्थात् जो प्रकृष्टरूप से सर्वत्र स्वयं प्रकाशित रहता है अथवा सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है अथवा सभी के आत्मस्वरूप से स्वयं ही प्रकाशित रहता है उसको 'प्रभु = आत्मा' कहा जाता है ।

11. 'लोक्यते प्रकाश्यत इति लोकः = जडवर्गः' अर्थात् जो प्रकाशित किया जाता है उसको 'लोक अर्थात् जडवर्ग' कहा जाता है ।

12. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पाणिनि सूत्र, 1.4.49) – इस सूत्र के अनुसार क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिए जो ईप्सिततम = इष्टतम हो उसको 'कर्म' कहा जाता है ।

37 नन्वीश्वरः कारयिता जीवः कर्ता, तथा च श्रुतिः--'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादिः । स्मृतिश्च--

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' इति ।

तथाच जीवेश्वरयोः कर्तृत्वकारयितृत्वाभ्यां भोक्तृत्वभोजयितृत्वाभ्यां च पापपुण्यलेपसंभवात्कथमुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तत इति तत्राऽऽह--

**नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ 15 ॥**

38 परमार्थतः विभुः परमेश्वरः कस्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते परमार्थतो जीवस्य कर्तृत्वाभावात्परमेश्वरस्य च कारयितृत्वाभावात् । कथं तर्हि श्रुतिः स्मृतिर्लोकव्यवहारश्च तत्राऽऽह-- अज्ञानेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येनानृतेन तमसाऽऽवृतमाच्छादितं ज्ञानं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतं नित्यं स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दरूपमद्वितीयं परमार्थसत्यं, तेन स्वरू-

और करता हुआ प्रवृत्त होता है ? इसपर कहते हैं -- 'स्वाभावस्तु प्रवर्तते' । स्वभाव[13] अर्थात् अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृति ही प्रवृत्त होती है ।। 14 ।।

37 'ईश्वर कारयिता है और जीव कर्ता है' --ऐसा श्रुति कहती है, -- 'यह परमेश्वर जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है और जिसको इन लोकों से अधोलोक में ले जाना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है' (कौषीतकि ब्राह्मण); यही स्मृति भी कहती है-- 'अपने सुख-दु:ख के भोग में अनीश यह अज्ञ जीव ईश्वर से प्रेरित ही स्वर्ग में या श्वभ्र = नरक में जाता है' । इसप्रकार जीव और ईश्वर के कर्तृत्व और कारयितृत्व से तथा भोक्तृत्व और भोजयितृत्व से उनके लिए पुण्य और पाप के लेप की संभावना हो सकती है, तो फिर यह कैसे कहा है कि स्वभाव = प्रकृति ही प्रवृत्त होती है ? -- ऐसा प्रश्न होने पर भगवान् कहते हैं :--

[विभु = परमेश्वर न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान से ज्ञान आवृत है, इससे सभी जीव मोह में पड़ जाते हैं ।। 15 ।।]

38 परमार्थत: = वस्तुत: यह है कि विभु = परमेश्वर किसी भी जीव के पाप और पुण्य को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि परमार्थत: जीव का कर्तृत्व नहीं है और परमेश्वर का कारयितृत्व नहीं है । अब प्रश्न है कि श्रुति, स्मृति और लोकव्यवहार -- ये सब कैसे होते हैं ? तो इसके उत्तर में कहते हैं -- अज्ञान से = आवरण और विक्षेप शक्तिवाले मायासंज्ञक अनृत= मिथ्या अन्धकार से ज्ञान अर्थात् जीव, ईश्वर और जगत्रूप भेदभ्रम का अधिष्ठानभूत नित्य स्वप्रकाश सच्चिदानन्दरूप अद्वितीय परमार्थ सत्य आवृत = आच्छादित = ढका हुआ है । उस स्वरूप के आवरण से ही जन्तु = जननशील संसारी पुरुष, जो वस्तु के स्वरूप को नहीं देखते हैं, मोह में पड़ जाते हैं अर्थात् प्रमाता,

13. 'स्वो भाव: स्वभाव: = स्वयमेव सर्वं भावयतीति वा स्वभाव:' अर्थात् जो स्वयं सभी प्राणियों की भावना करता है अथवा स्वयं भावना कराता है उसको ही 'स्वभाव = प्रकृति' कहा जाता है । कोई 'स्वस्मिन् भावस्यापि आरोपिता सत्ताऽस्येति स्वभावोऽन्त:करणम्' -- इस व्युत्पत्ति से स्वभाव का अर्थ अन्त:करण करते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंक अन्त:करण भी प्रकृति के अधीन रहकर ही प्रवृत्तिक होता है । अत: स्वभाव का अर्थ प्रकृति ही है (द्रष्टव्य भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

पावरणेन मुह्यन्ति प्रमातृप्रमेयप्रमाणकर्तृकर्मकरणभोक्तृभोग्यभोगाख्यनवविधसंसाररूपं मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपं गच्छन्ति जन्तवो जननशीलाः संसारिणो वस्तुस्वरूपादर्शिनः । अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयात्मस्वरूपादर्शननिबन्धनोऽयं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमः प्रतीयमानो वर्तते मूढानाम् । तस्यां चावस्थायां मूढप्रत्ययानुवादिन्यावेते श्रुतिस्मृती वास्तवाद्वैतबोधिवाक्यशेषभूते इति न दोषः ॥ 15 ॥

39 तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतत्वात्कथं संसारनिवृत्तिः स्यादत आह--

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ 16 ॥

40 तदावरणविक्षेपशक्तिमदनाद्यनिर्वाच्यमनृतमनर्थव्रातमूलमज्ञानमात्माश्रयविषयं म विद्यामायादि-शब्दवाच्यमात्मनो ज्ञानेन गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन श्रवणमनननिदिध्यासन-परिपाकनिर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण निर्विकल्पकसाक्षात्कारेण शोधिततत्त्वंपदार्थाभेदरूपशुद्ध-सच्चिदानन्दाखण्डैकरसवस्तुमात्रविषयेण नाशितं बाधितं कालत्रयेऽप्यसदेवासत्तया ज्ञातमधिष्ठान-चैतन्यमात्रतां प्रापितं शुक्ताविव रजतं शुक्तिज्ञानेन येषां श्रवणमननादिसाधनसंपन्नानां भगवदनुगृहीतानां मुमुक्षूणां तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो

प्रमेय, प्रमाण; कर्ता, कर्म, करण; भोक्ता, भोग्य और भोग नामक नौ प्रकार के संसाररूप मोह को = अवस्तु में वस्तुत्वप्रतीतिरूप विक्षेप को प्राप्त हो जाते हैं । अकर्ता, अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय आत्मस्वरूप को न देखने के कारण ही मूढ़ पुरुषों को जीव, ईश्वर और जगत् का प्रतीयमान भेदभ्रम होता है । उस अवस्था में मूढ़ पुरुषों की प्रतीति का अनुवाद करनेवाली ये श्रुति और स्मृति वस्तुतः अद्वैत तत्त्व का बोध करानेवाले वाक्यों की शेषभूत हैं, अतः ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है ॥ 15 ॥

39 यदि सभी का ज्ञान ही अनादि अज्ञान से आवृत है तो फिर संसार की निवृत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं --

[जिनके उस अज्ञान का आत्मा के ज्ञान से नाश हो गया है, उनको वह ज्ञान सूर्य के समान उस परमात्मतत्त्व को प्रकाशित कर देता है ॥ 16 ॥]

40 जिनके अर्थात् श्रवण, मनन आदि साधनों से सम्पन्न और भगवान् से अनुगृहीत मुमुक्षुओं के उस आवरण और विक्षेप शक्तियों से युक्त, अनादि, अनिर्वाच्य, अनृत, अनर्थसमूह के मूल, आत्मा को आश्रय कर आत्मा को ही अपना विषय बनानेवाले, अविद्या--माया आदि शब्दों के वाच्य अज्ञान का आत्मा के ज्ञान से = गुरूपदिष्ट वेदान्त के महावाक्यों से जन्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन के परिपाक से निर्मल हुई अन्तःकरणवृत्तिरूप निर्विकल्पक साक्षात्कार से शोधित हुए 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के अभेदरूप शुद्ध सच्चिदानन्द अखण्डैकरस वस्तुमात्रविषयक ज्ञान से नाश = बाध हो गया है अर्थात् जिसप्रकार शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होने से शुक्ति का ज्ञान होने पर रजत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है और रजत उसके अधिष्ठानभूत शुक्ति के स्वरूप में ही पर्यवसित होता है, उसीप्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान -- तीनों कालों में भी असत् यह अज्ञान भी आत्मज्ञान से असत् के रूप से जान लिए जाने पर = इसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्य को ही प्राप्त हो गया है; उनका वह 'प्रकाशयति' क्रिया का कर्तारूप ज्ञान सूर्य के समान = जैसे सूर्य अपने उदयमात्र से ही निःशेष अन्धकार को दूर कर देता है और किसी भी सहायक

निरवशेषं निवर्तयति न तु कंचित्सहायमपेक्षते तथा ब्रह्मज्ञानमपि शुद्धसत्त्वपरिणामत्वाद्व्यापक-प्रकाशरूपं स्वोत्पत्तिमात्रेणैव सहकार्यन्तरनिरपेक्षतया सकार्यमज्ञानं निवर्तयत्परं सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपमेकमेवाद्वितीयं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मतामन्तरेणाभिव्यनक्ति ।

41 **अत्राज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानेन नाशितमित्यज्ञानस्याऽऽवरणत्वज्ञाननाश्यत्वाभ्यां ज्ञानाभावरूपत्वं व्यावर्तितम् । नह्यभावः किंचिदावृणोति न वा ज्ञानाभावो ज्ञानेन नाश्यते स्वभावतो नाशरूपत्वात्तस्य । तस्मादहमज्ञो मामन्यं च न जानामीत्यादिसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धं भावरूपमेवाज्ञानमिति भगवतो मतम् । विस्तरस्त्वद्वैतसिद्धौ द्रष्टव्यः ।**

42 **येषामिति बहुवचनेनानियमो दर्शितः । तथाच श्रुतिः–'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इत्यादिर्यद्विषयं यदाश्रयमज्ञानं तद्विषयतदाश्रयप्रमाणज्ञानात्तन्निवृत्तिरिति न्यायप्राप्तनियमं दर्शयति । तत्राज्ञानगतमावरणं द्विविधम्–एकं सतोऽप्यसत्त्वापादकमन्यत्तु भातोऽप्यभानापादकम् । तत्राऽऽद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रान्निवर्तते । अनुमितेऽपि वह्न्यादौ पर्वते वह्निर्नास्ती-**

अपेक्षा न करके ही सभी रूप को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही शुद्ध सत्त्व का परिणाम होने के कारण व्यापक प्रकाशरूप ब्रह्मज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्र से ही, किसी दूसरे सहकारी की अपेक्षा न करते हुए कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति करके पर = सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्दरूप एक अद्वितीय परमात्मतत्त्व को प्रकाशित कर देता है = बिना किसी क्रिया के केवल उसके प्रतिबिम्ब के ग्रहणमात्र से अभिव्यक्त कर देता है ।

41 यहाँ 'अज्ञानेनाऽवृतम्' = 'अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है' और 'ज्ञानेन नाशितम्' = 'ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है' -- इस कथन से अज्ञान में आवरणत्व और ज्ञाननाश्यत्व कहकर अज्ञान के ज्ञानाभावरूपत्व[14] की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि अभाव किसी को आवृत नहीं कर सकता है और न ज्ञानाभाव का ज्ञान से नाश ही हो सकता है, कारण कि अभाव स्वभाव से ही नाशरूप होता है । अत: 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अपने को और अन्य को नहीं जानता हूँ' -- इत्यादि साक्षी के प्रत्यक्ष से सिद्ध अज्ञान भावरूप ही है -- ऐसा भगवान् का मत है । इसका विस्तार अद्वैतसिद्धि में द्रष्टव्य है ।

42 'येषाम्' इस वहुवचन से ज्ञान में जाति, काल आदि का अनियम दिखाया है । इसीप्रकार 'देवताओं में से जिस -जिसने उस परमात्मतत्त्व को जाना वही तद्रूप हो गया, ऐसा ही ऋषियों और मनुष्यों में भी हुआ, आज भी जो इसको इसप्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वही यह सब हो जाता है' (बृ० उ०, 1.4.10) इत्यादि श्रुति भी, जिसको विषय और जिसको आश्रय करनेवाला जो अज्ञान होता है उसकी उसी को विषय और उसी को आश्रय करनेवाले प्रमाणजनित ज्ञान से निवृत्ति होती है -- यह न्यायप्राप्त नियम दिखलाती है । उसमें अज्ञानगत आवरण दो प्रकार का होता है -- एक तो सत् में भी असत्त्व का आपादक है और दूसरा प्रतीति में भी अभान = अप्रतीति का आपादक है ।

---

14. नैयायिकों के अनुसार अज्ञान ज्ञान के अभाव को कहते हैं, अत: प्रकृत में नैयायिकाभिमत अज्ञान के ज्ञानाभावरूपत्व की व्यावृत्ति की गई है ।

त्यादिभ्रमादर्शनात् । तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' इति वाक्यात्परोक्षनिश्चयेऽपि ब्रह्म नास्तीति भ्रमो निवर्तत एव । अस्त्येव ब्रह्म किं तु मम न भातीत्येकं भ्रमजनकं द्वितीयमभानावरणं साक्षात्कारादेव निवर्तते । स च साक्षात्कारो वेदान्तवाक्येनैव जन्यते निर्विकल्पक इत्याद्यद्वैतसिद्धावनुसंधेयम् ॥ 16 ॥

43 **ज्ञानेन परमात्मतत्त्वप्रकाशे सति –**

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 17 ॥

44 **तस्मिञ्ज्ञानप्रकाशिते परमात्मतत्त्वे सच्चिदानन्दघन एव बाह्यसर्वविषयपरित्यागेन साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः साक्षात्कारलक्षणा येषां ते तद्बुद्धयः सर्वदा निर्बीजसमाधिभाज इत्यर्थः । तत्किं बोद्धारो जीवा बोद्धव्यं ब्रह्मतत्त्वमिति बोद्धृबोद्धव्यलक्षणभेदोऽस्ति नेत्याह—तदात्मानः, तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तथा । बोद्धृबोद्धव्यभावो हि मायाविजृम्भितो न वास्तवाभेदविरोधीति भावः ।**

45 **ननु तदात्मान इति विशेषणं व्यर्थम् । अविद्वद्व्यावर्तकं हि विद्वद्विशेषणम् । अज्ञा अपि हि वस्तुगत्या तदात्मान इति कथं तद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न, इतरात्मत्वव्यावृत्तौ तात्पर्यात् । अज्ञा**

उसमें प्रथम तो परोक्ष और अपरोक्ष -- दोनों प्रकार की वस्तुओं को विषय करनेवाले साधारण प्रमाण ज्ञान से ही निवृत्त हो जाता है, जैसे कि पर्वतादि पर धूमादि लिङ्ग से अग्नि आदि का अनुमान ज्ञान होने पर भी 'पर्वत पर अग्नि नहीं है' -- यह भ्रम होता नहीं देखा जाता है । इसीप्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' -- इस वाक्य से ब्रह्म का परोक्षरूप से निश्चय होने पर भी 'ब्रह्म नहीं है' -- यह भ्रम निवृत्त हो ही जाता है । 'ब्रह्म है ही, किन्तु मुझे प्रतीत नहीं होता' -- इसप्रकार का एक भ्रमजनक दूसरा अभानावरण साक्षात्कार से ही निवृत्त होता है और वह निर्विकल्पक साक्षात्कार वेदान्तवाक्य से ही उत्पन्न होता है । इसका विस्तार 'अद्वैतसिद्धि' में देखना चाहिए ॥ 16 ॥

43 ज्ञान से परमात्मतत्त्व के प्रकाशित होने पर --
[जिनकी बुद्धि = अन्तःकरणवृत्ति परमात्मा में ही रहती है, जो परमात्मा को ही अपनी आत्मा समझते हैं, परमात्मा में ही जिनकी निष्ठा = स्थिति रहती है और परमात्मा ही जिनका परम प्राप्तव्य अयन = स्थान है वे ज्ञान से सर्वथा निष्कल्मष हुए यतिजन पुनः देहसम्बन्ध की अभावरूपा मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ 17 ॥]

44 ज्ञान से प्रकाशित उस सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व में ही बाह्य सभी विषयों के परित्याग से साधनपरिपाक होता है, उससे पर्यवसित -- परिनिष्पन्न--स्थित हो गई है बुद्धि = साक्षात्काररूपा अन्तःकरण की वृत्ति जिनकी वे तद्बुद्धि अर्थात् सर्वदा निर्बीजसमाधि का अनुभव करनेवाले हैं । तो क्या उस समय 'जीव बोद्धा है और ब्रह्म बोद्धव्य है' -- ऐसा बोद्ध -- बोद्धव्यरूप भेद रहता है ? इसपर कहते हैं -- नहीं, वे तदात्मा हैं = तद् -- वह -- परब्रह्म ही है आत्मा जिनका वे तदात्मा हैं । भाव यह है कि माया से विजृम्भित = प्रतीत होनेवाला यह बोद्ध--बोद्धव्यभाव वास्तव में अभेद का विरोधी नहीं है ।

45 यदि कोई कहे कि 'तदात्मनः' -- यह विशेषण तो व्यर्थ है । विद्वान् का विशेषण तो अविद्वान् की व्यावृत्ति करनेवाला होता है । वास्तव में, अज्ञानी भी तदात्मा ही है, अतः 'तदात्मनः' विशेषण से अविद्वान् की व्यावृत्ति कैसी होगी ? तो कहते हैं, नहीं, इस विशेषण का तात्पर्य तो इतरात्मत्व =

हि अनात्मभूते देहादावात्माभिमानिन इति न तदात्मान इति व्यपदिश्यन्ते । विज्ञास्तु निवृत्तदेहाद्यभिमाना इति विरोधिनिवृत्त्या तदात्मान इति व्यपदिश्यन्त इति युक्तं विशेषणम् ।

46 ननु कर्मानुष्ठानविक्षेपे सति कथं देहाद्यभिमाननिवृत्तिरिति तत्राऽऽह—तन्निष्ठाः, तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या निष्ठा स्थितिर्येषां ते तन्निष्ठाः, सर्वकर्मसंन्यासेन तदेकविचारपरा इत्यर्थः । फलरागे सति कथं तत्साधनभूतकर्मत्याग इति तत्राऽऽह—तत्परायणाः, तदेव परमयनं प्राप्तव्यं येषां ते तत्परायणाः, सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः ।

47 अत्र तद्बुद्धय इत्यनेन साक्षात्कार उक्तः । तदात्मान इत्यनात्माभिमानरूपविपरीतभावनानिवृत्तिफलको निदिध्यासनपरिपाकः, तन्निष्ठा इत्यनेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकः प्रमाणप्रमेयगतासंभावनानिवृत्तिफलको वेदान्तविचारः श्रवणमननपरिपाकरूपः, तत्परायणा इत्यनेन वैराग्यप्रकर्ष इत्युत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम् । उक्तविशेषणा यतयो गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं पुनर्देहसंबन्धाभावरूपां मुक्तिं प्राप्नुवन्ति । सकृन्मुक्तानामपि पुनर्देहसंबन्धः कुतो न स्यादिति

भिन्नात्मत्व की व्यावृत्ति में है । अज्ञानी जन तो अनात्मभूत देहादि में आत्मा का अभिमान करते हैं, इस कारण उनको 'तदात्मा' नहीं कहा जाता है । ज्ञानीजन तो देहादि में अभिमान नहीं करते हैं, अत: विरोध न रहने के कारण उनको 'तदात्मा' कहा जाता है; इसलिए 'तदात्मन:' -- यह विशेषण उचित ही है ।

46 'कर्मानुष्ठान की अवस्था में विक्षेप रहने पर उन तदात्माओं के देहादि में अभिमान की निवृत्ति कैसे हो सकती है' ? इसपर कहते हैं -- 'तन्निष्ठा:' = वे तन्निष्ठ हैं = सम्पूर्ण कर्मानुष्ठानरूप विक्षेप की निवृत्ति से उस ब्रह्म में ही निष्ठा = स्थिति है जिनकी वे तन्निष्ठ हैं अर्थात् वे समस्त कर्मों के संन्यासपूर्वक एकमात्र ब्रह्मविचार में ही लगे रहने वाले हैं । 'कर्मफल के प्रति राग रहने पर उसके साधनभूत कर्म का त्याग ही कैसे होगा ' ? तो कहते हैं -- 'तत्परायणा:' = वे तत्परायण हैं = तद् -- वह -- ब्रह्म ही परम अयन = प्राप्तव्य है जिनका वे तत्परायण हैं अर्थात् वे सर्वत: विरक्त हैं ।

47 यहाँ 'तद्बुद्धय:' -- इस विशेषण से यतिजन का ब्रह्म -- साक्षात्कार कहा गया है । 'तदात्मन:' से अनात्मा = देहादि में आत्मा का अभिमानरूप विपरीत भावना का निवृत्तिफलक निदिध्यासन का परिपाक कहा गया है । 'तन्निष्ठा:' -- इससे सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक प्रमाण--प्रमेयगत असंभावना का निवृत्तिफलक श्रवण--मनन का परिपाकरूप वेदान्तविचार कहा गया है । 'तत्परायणा:' इस पद से वैराग्य का प्रकर्ष कहा है -- इसप्रकार इनमें से उत्तरोत्तर विशेषण को पूर्व-पूर्व विशेषण का हेतु समझना चाहिए । उक्त विशेषणों से युक्त यतिजन[15] अपुनरावृत्ति = पुन: देहसम्बन्ध की अभावरूपा मुक्ति को प्राप्त होते हैं । 'मुक्तों का एक बार भी पुन: देहसम्बन्ध क्यों नहीं होता है' ? इसपर कहते हैं -- 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:' = 'वे ज्ञान से सर्वथा निष्कल्मष हो जाते हैं' = ज्ञान से निर्धूत

15. इस श्लोक में मुक्त पुरुष के 'तद्बुद्धि' आदि जो चार विशेषण कहे गये हैं वे यतिजनों के लिए ही सम्भव हैं, क्योंकि यतिजन अपनी ज्ञाननिष्ठा से समस्त पाप-पुण्यरूप कर्मों का क्षय कर देते हैं । ये लक्षण ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमों में स्थित जनों के लिए प्राय: असम्भव ही हैं, इसलिए ही भाष्य में 'यतय:' शब्द का प्रयोग किया गया है । सर्वकर्मत्यागी ज्ञाननिष्ठ यतिजन जब तक प्रारब्धवश देह धारण करते हैं तब तक ब्रह्मस्वरूप में ही अवस्थान कर जीवन्मुक्तावस्था का आनन्द भोग करते हैं और देहपात के बाद परब्रह्म में ही लीन होकर विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं । श्रुति में भी कहा गया है – 'ब्रह्म सत् ब्रह्माप्येति' ।

तत्राऽऽह--ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः, ज्ञानेन निर्धूतं समूलमुन्मूलितं पुनर्देहसंबन्धकारणं कल्मषं पुण्यपापात्मकं कर्म येषां ते तथा। ज्ञानेनानाद्यज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यकर्मक्षये तन्मूलकं पुनर्देहग्रहणं कथं भवेदिति भावः ॥ 17 ॥

48 देहपातादूर्ध्वं विदेहकैवल्यरूपं ज्ञानफलमुक्त्वा प्रारब्धकर्मवशात्सत्यपि देहे जीवन्मुक्तिरूपं तत्फलमाह--

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥18 ॥

49 विद्या वेदार्थपरिज्ञानं ब्रह्मविद्या वा। विनयो निरहंकारत्वमनौद्धत्यमिति यावत्। ताभ्यां संपन्ने ब्रह्मविदि विनीते च ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वोत्तमे, तथा गवि संस्कारहीनायां राजस्यां मध्यमायां, तथा हस्तिनि शुनि श्वपाके चात्यन्ततामसे सर्वाधमेऽपि, सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैरस्पृष्टमेव समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः, पण्डिता ज्ञानिनः, यथा गङ्गातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्याऽऽदित्यस्य न तद्गुणदोषसंबन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसंबन्ध इति प्रतिसंदधानाः सर्वत्र समदृष्ट्यैव रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ 18 ॥

50 ननु सात्त्विकराजसतामसेषु स्वभावविषमेषु प्राणिषु समत्वदर्शनं धर्मशास्त्रनिषिद्धम्। तथाच तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रम्य गौतमः स्मरति -- 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति।

-- समूल उन्मूलित हो गया है कल्मष -- पुनः देहसंबन्ध का कारणभूत पुण्य-पापरूप कर्म जिनका वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष होते हैं। इसप्रकार ज्ञान से अनादि अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से उसके कार्यभूत कर्मों का क्षय हो जाने पर उनके कारण होनेवाला पुनः देहग्रहण कैसे हो सकता है ? यह तात्पर्य है ।। 17 ।।

48 देहपात के पश्चात् ज्ञान का विदेहकैवल्यरूप फल कहकर प्रारब्धकर्मवश देह के रहने पर भी उसका जीवन्मुक्तिरूप फल कहते हैं :--

[पण्डितजन विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में भी समभाव से देखनेवाले ही होते हैं ।। 18 ।।]

49 विद्या = वेदार्थज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या और विनय = निरहंकारता अर्थात् अनौद्धत्य = अनुद्दण्डता -- इन दोनों से सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता और विनीत ब्राह्मण में, जो सात्त्विक और सर्वोत्तम है; तथा गौ में, जो संस्कारहीन रजोगुणी अतएव मध्यमा है; तथा हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी, जो अत्यन्त तमोगुणी अतएव सबसे अधम हैं; सत्त्वादिगुण और उनसे होनेवाले संस्कारों से सर्वथा अस्पृष्ट -- असंयुक्त सम अर्थात् ब्रह्म को देखने का स्वभाव है जिनका वे समदर्शी पण्डित अर्थात् ज्ञानीजन, 'जैसे गंगाजल में, तालाब के जल में, सुरा-मदिरा में अथवा मूत्र में प्रतिबिम्बित सूर्य में प्रतिबिम्बाधार वस्तुगत गुण या दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही चिदाभास द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्म में भी उपाधिगत गुण या दोषों का सम्बन्ध नहीं है' -- ऐसा अनुसन्धान करते हुए सर्वत्र समदृष्टि होने से ही राग-द्वेष से रहित रहने के कारण परमानन्द की स्फूर्ति से जीवन्मुक्ति का अनुभव करते हैं -- यह अर्थ है ।। 8 ।।

50 'जो सात्त्विक, राजस और तामस -- इसप्रकार स्वभाव से ही विषम प्राणी हैं, उनमें समदृष्टि करना तो धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। ऐसा ही 'तस्यान्नमभोज्यम्' = 'उसका अन्न अभोज्य होता है' -- इसप्रकार उपक्रम करके गौतम अपनी स्मृति में कहते हैं' -- 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति' अर्थात् 'जो

समासमाभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम् । विषमसम इति द्वंद्वैकवद्भावेन सप्तम्येकवचनम् । चतुर्वेदपारगाणामत्यन्तसदाचाराणां यादृशो वस्त्रालंकारान्नादिदानपुरःसरः पूजाविशेषः क्रियते तत्समायैवान्यस्मै चतुर्वेदपारगाय सदाचाराय विषमे तदपेक्षया न्यूने पूजाप्रकारे कृते, तथाऽल्पवेदानां हीनाचाराणां यादृशो हीनसाधनः पूजाप्रकारः क्रियते तादृशायैवासमाय पूर्वोक्तवेदपारगसदाचारब्राह्मणापेक्षया हीनाय तादृश --हीनपूजाधिके मुख्यपूजासमे पूजाप्रकारे कृते, उत्तमस्य हीनतया हीनस्योत्तमतया पूजातो हेतोस्तस्य पूजयितुरन्नमभोज्यं भवतीत्यर्थः । पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्धनाद्धर्माच्च हीयत इति च दोषान्तरम् । यद्यपि यतीनां निष्परिग्रहाणां पाकाभावाद्धनाभावाच्चाभोज्यान्नत्वं धनहीनत्वं च स्वत एव विद्यते तथाऽपि धर्महानिर्दोषो भवत्येव । अभोज्यान्नत्वं चाशुचित्वेन पापोत्पत्त्युपलक्षणम् । तपोधनानां च तप एव धनमिति तद्धानिरपि दूषणं भवत्येवेति कथं समदर्शिनः पण्डिता जीवन्मुक्ता इति प्राप्ते परिहरति --

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ 19 ॥

51 **तैः समदर्शिभिः पण्डितैरिहैव जीवनदशायामेव जितोऽतिक्रान्तः सर्गः सृज्यत इति व्युत्पत्त्या द्वैतप्रपञ्चः । देहपातादूर्ध्वमतिक्रमितव्य इति किमु वक्तव्यम् । कैः, येषां साम्ये सर्वभूतेषु**

सम और असम व्यक्तियों को पूजा, दान आदि कर सम को विषम और असम को सम करता है उस पूजयिता का अन्न अभोज्य होता है' (गौतम-स्मृति, 17.20) । 'समासमाभ्याम्' -- यह चतुर्थी विभक्ति का द्विवचन है । 'विषमसमे' -- यह द्वन्द्व समास में एकवद्भाव करने से सप्तमी का एकवचन है । इसका तात्पर्य यह है कि चारों वेदों के पारङ्गत, अत्यन्त सदाचारी विद्वानों की जैसी वस्त्राभूषणों के दानपूर्वक विशेष पूजा की जाती है उनके समान ही किसी दूसरे चारों वेदों के पारङ्गत सदाचारी विद्वान् की विषम अर्थात् उसकी अपेक्षा न्यून पूजा करने पर; तथा अल्पवेदाभिज्ञ = थोड़े वेदों को जाननेवालों और हीनाचार = हीन आचारवालों की जैसे हीन साधनों से पूजा की जाती है, तादृश ही, अतएव असम अर्थात् पूर्वोक्त वेदपारङ्गत सदाचारी ब्राह्मण की अपेक्षा हीन पुरुष की उसके अनुरूप हीन पूजा से अधिक मुख्य पूजा के समान पूजा करने पर; अर्थात् उत्तम की हीन प्रकार से और हीन की उत्तमप्रकार से पूजा करने के कारण उस पूजयिता का अन्न अभोज्य हो जाता है । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि पूजयिता पात्र के अनुरूप पूजा, दानादि करने के विषय में विशेष ध्यान न देने के कारण धन और धर्म से भी च्युत हो जाता है । यद्यपि यतिजन निष्परिग्रह होते हैं अर्थात् सञ्चयशील नहीं होते हैं, अत: उनमें परिग्रहपाकाभाव और धनाभाव होने के कारण अभोज्यान्नत्व और धनहीनत्व तो स्वत: ही सिद्ध है; तथापि धर्महानिरूप दोष तो उनको भी होता ही है । अभोज्यान्नत्व भी अपवित्रता के कारण होने से पाप की उत्पत्ति का ही सूचक है। तपोधनपतियों का तो तप ही धन होता है, अत: उनको भी तपरूप धन की हानि का दोष तो होता ही है । इसप्रकार समदर्शी पण्डितजन जीवन्मुक्त कैसे हो सकते हैं ?' -- ऐसी शंका प्राप्त होने पर भगवान् उसका परिहार करते हैं --

[जिनका मन साम्य में स्थित है उनके द्वारा इस जीवनदशा में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अत: वे ब्रह्म में ही स्थित हैं ॥ 19 ॥]

51 उन समदर्शी पण्डितों के द्वारा इहैव = यहीं = जीवनदशा में ही सर्ग = 'सृज्यत इति' = 'जो रचा जाय' -- इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्वैतप्रपञ्च जीत लिया गया है = पार कर लिया गया है; अत:

विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मणः समभावे स्थितं निश्चलं मनः । हि यस्मान्निर्दोषं समं सर्वविकारशून्यं कूटस्थनित्यमेकं च ब्रह्म तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः ।

52 **अयं भावः--दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति अदुष्टस्यापि दुष्टसंबन्धात्स्वतोदुष्टत्वाद्वा । यथा गङ्गोदकस्य मूत्रगर्तपातात्, स्वत एव वा यथा मूत्रादेः । तत्र दोषवत्सु श्वपाकादिषु स्थितं तद्दोषैर्दुष्यति ब्रह्मेति मूढैर्विभाव्यमानमपि सर्वदोषासंसृष्टमेव ब्रह्म व्योमवदसङ्गत्वात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः',**

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥' इति श्रुतेः ।

नापि कामादिधर्मवत्तया स्वत एव कलुषितं कामादेरन्तःकरणधर्मत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यतयो जीवन्मुक्ताअभोज्यान्नादिदोषदुष्टाश्चेति व्याहतम् । स्मृतिस्त्वविद्व -- द्गृहस्थविषयैव, तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रमात्, पूजात इति मध्ये निर्देशात्, धनाद्धर्माच्च हीयत इत्युपसंहाराच्चेति द्रष्टव्यम् ॥ 19 ॥

'देहपात के पश्चात् वे द्वैतप्रपञ्च को पार कर लेंगे' -- इसमें तो कहना ही क्या है ? किनके द्वारा पार कर लिया गया है ? जिनका साम्य में = समस्त विषम भूतों में भी विद्यमान ब्रह्म के समभाव में मन स्थित अर्थात् निश्चल है । क्योंकि ब्रह्म निर्दोष सम[16] अर्थात् समस्त विकारों से शून्य, कूटस्थ, नित्य और एक है; इसलिए वे समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित हैं ।

52 भाव यह है -- वस्तु की दुष्टता दो प्रकार की होती है :-- प्रथम, -- स्वयं दूषित न होने पर भी दूषित वस्तु के सम्बन्ध से दूषित होना, जैसे -- गंगाजल स्वयं दूषित नहीं होता है, किन्तु मूत्र के गड्ढे में गिरने से तत्सम्बन्ध से दूषित हो जाता है । द्वितीय -- स्वतः दूषित होना, जैसे स्वतः दूषित मूत्रादि प्रसिद्ध ही हैं । यद्यपि मूढ़ पुरुष ऐसी कल्पना करते हैं कि स्वतः दुष्ट चाण्डालादि में स्थित ब्रह्म उनके दोषों से दूषित हो जाता है तथापि आकाश के समान असङ्ग होने के कारण ब्रह्म तो समस्त दोषों से अस्पृष्ट ही रहता है, जैसा कि 'यह पुरुष असङ्ग ही है', (बृ० उ० 4.3.15) तथा ' जिसप्रकार समस्त लोकों का चक्षुरूप सूर्य चक्षुःस्थित बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है उसीप्रकार समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोकों के दुःख से लिप्त नहीं होता है' (क० उ०, 2.5.11) -- इन श्रुतियों से भी सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त वह ब्रह्म कामादि धर्मों वाला होने पर भी स्वयं दूषित नहीं होता है, क्योंकि कामादि अन्तःकरण के धर्म हैं -- यह श्रुति और स्मृतियों से सिद्ध ही है । अतः 'निर्दोषब्रह्मरूप यतिजन जीवन्मुक्त होते हैं और अभोज्यान्नत्व आदि दोषों से दूषित भी होते हैं' -- यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है । 'समासमाभ्याम्' -- इत्यादि स्मृति तो अविद्वान् गृहस्थ विषयक ही है, क्योंकि इसका 'तस्यान्नमभोज्यम्' -- इसप्रकार उपक्रम हुआ है, 'पूजातः' -- ऐसा मध्य में निर्देश किया है और 'धनाद्धर्माच्च हीयते' -- इसप्रकार उपसंहार किया है -- ऐसा शास्त्र का तात्पर्य निर्णय समदर्शी के लिए संभव नहीं है, -- यह समझना चाहिए ॥ 19 ॥

16. ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों से रहित है क्योंकि चिद्स्वरूप ब्रह्म निर्गुण है और इस कारण ब्रह्म गुणों के भेद से भिन्न नहीं हो सकता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह सकता है, क्योंकि भेद या द्वैतमात्र गुणों का कार्य है । जब जहाँ भेद ही नहीं रहेगा तो कौन किसको दूषित करेगा ? वैशेषिकों के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में 'नित्य अन्त्य विशेष' को स्वीकार किया जाता है और वे कहते हैं कि 'विशेष' के द्वारा ही आत्मा का नानात्वरूप सिद्ध हो सकता है, किन्तु वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिशरीर के भेद से आत्मगत तादृश 'अन्त्य विशेष' वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है । अतः इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सम है, सभी वस्तुओं में समानरूप से अखण्ड चैतन्यरूप से स्थित है और एक ही है । इस कारण ब्रह्म निर्दोष है (द्रष्टव्य--शाङ्करभाष्य) ।

53 यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म तस्मात्तद्रूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन् –

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ 20 ॥

54 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इत्यत्र व्याख्यातं पूर्वार्धम् । जीवन्मुक्तानां स्वाभाविकं चरितमेव मुमुक्षुभिः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति वदितुं लिङ्प्रत्ययौ । अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगान्न तन्निमित्तौ हर्षविषादावित्यर्थः ।

55 अद्वितीयात्मदर्शनमेव विवृणोति–स्थिरबुद्धिः स्थिरा निश्चला संन्यासपूर्वक-वेदान्तवाक्यविचारपरिपाकेण सर्वसंशयशून्यत्वेन निर्विचिकित्सा निश्चिता ब्रह्मणि बुद्धिर्यस्य स तथा, लब्धश्रवणमननफल इति यावत् । एतादृशस्य सर्वासंभावनाशून्यत्वेऽपि विपरीतभावनाप्रतिबन्धात्साक्षात्कारो नोदेतीति निदिध्यासनमाह–असंमूढः, निदिध्यासनस्य विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहस्य परिपाकेण विपरीतभावनाख्यसंमोहरहितः । ततः सर्वप्रतिबन्धापगमाद्ब्रह्मविद्ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । ततश्च समाधिपरिपाकेण निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितो नान्यत्रेति ब्रह्मणि स्थितो जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एतादृशस्य द्वैतदर्शनाभावात्प्रहर्षोद्वेगौ न भवत इत्युचितमेव । साधकेन तु द्वैतदर्शने विद्यमानेऽपि विषयदोषदर्शनादिना प्रहर्षविषादौ त्याज्यावित्यभिप्रायः ॥ 20 ॥

---

53 क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए आत्मा का उस रूप से साक्षात्कार करनेवाला -- [स्थिरबुद्धि, असंमूढ = संमोहरहित, और ब्रह्म में स्थित हुआ ब्रह्मविद् प्रिय के प्राप्त होने पर हर्षित न हो और अप्रिय के प्राप्त होने पर उद्विग्न न हो ॥ 20 ॥]

54 इस श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' (गीता, 2.56) इत्यादि स्थल पर की जा चुकी है। मुमुक्षुओं को जीवन्मुक्तों के स्वाभाविक चरित = आचरण का ही प्रयत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए -- यह बताने के लिए 'प्रहृष्येत्' और 'उद्विजेत्' – इनमें लिङ् प्रत्यय दिये हैं। जिसका स्वभाव अद्वितीय आत्मा का ही दर्शन करना ही है उसके लिए ब्रह्म के अतिरिक्त प्रियाप्रिय की प्राप्ति का अयोग होने से तन्निमित्तक हर्ष और विषाद नहीं होते हैं -- यह तात्पर्य है।

55 अद्वितीयात्मदर्शन का विवरण करते हैं -- स्थिरबुद्धि = स्थिर -- निश्चल अर्थात् संन्यासपूर्वक वेदान्तवाक्यों के विचार के परिपाक से सब प्रकार के संशयों का अभाव हो जाने के कारण निर्विचिकित्स -- असंदिग्ध अर्थात् निश्चित बुद्धि है ब्रह्म में जिसकी वह पुरुष, जिसको श्रवण और मनन का फल प्राप्त हो गया है। ऐसे पुरुष को सब प्रकार की असंभावनाओं का अभाव हो जाने पर भी विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक के कारण साक्षात्कार नहीं होता है, अतः 'असंमूढ' विशेषण से निदिध्यासन कहते हैं। असंमूढ अर्थात् जो विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से शून्य सजातीय प्रत्यय के प्रवाहरूप निदिध्यासन के परिपाक से विपरीत भावनारूप संमोह से रहित होता है। उससे समस्त प्रतिबन्धों की निवृत्ति हो जाने से जो ब्रह्मविद् अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला हो गया है तथा उस साक्षात्कार से समाधि के परिपक्व हो जाने पर, अन्यत्र नहीं, निर्दोष और सम ब्रह्म में ही जो स्थित है वह जीवन्मुक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ है। ऐसे पुरुष को द्वैतदृष्टि का अभाव हो जाने के कारण हर्ष और उद्वेग नहीं होते हैं -- यह उचित ही है। किन्तु साधक को द्वैतदृष्टि के विद्यमान रहते हुए भी विषयदोषदर्शन आदि से प्रहर्ष और विषाद का त्याग करना ही चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 20 ॥

56 ननु बाह्यविषयप्रीतेरनेकजन्मानुभूतत्वेनातिप्रबलत्वात्तदासक्तचित्तस्य कथमलौकिके ब्रह्मणि दृष्टसर्वसुखरहिते स्थितिः स्यात्, परमानन्दरूपत्वादिति चेत्, न, तदानन्दस्याननुभूतचरत्वेन चित्तस्थितिहेतुत्वाभावात् । तदुक्तं वार्तिके–

'अप्यानन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः ।
दृष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥' इति ।

तत्राऽऽह –

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ 21 ॥

57 इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयः । ते च बाह्या अनात्मधर्मत्वात् । तेष्वसक्तात्माऽनासक्तचित्तस्तृष्णाशून्यतया विरक्तः सन्नात्मनि अन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमात्मकं सुखं तद्विन्दति लभते निर्मलसत्त्ववृत्त्या । तदुक्तं भारते–

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति ।

58 अथवा प्रत्यगात्मनि त्वंपदार्थे यत्सुखं स्वरूपभूतं सुषुप्तावनुभूयमानं बाह्यविषयासक्तिप्रतिबन्धादलभ्यमानं तदेव तदभावाल्लभते ।

56 'बाह्य विषयों के प्रति समुत्पन्न प्रीति अनेक जन्मों में अनुभूत होने से अति प्रबल होती है, अतः उसमें आसक्तचित्त पुरुष की अलौकिक और दृष्ट सब प्रकार के सुखों से रहित ब्रह्म में कैसे स्थिति हो सकती है ? यदि कहें कि परमानन्दरूप होने के कारण उस ब्रह्म में स्थिति होगी, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उस ब्रह्म का आनन्द अनुभूति का विषय न होने से चित्त की स्थिति का कारण नहीं हो सकता है । ऐसा ही वार्तिक में कहा है -- 'शास्त्रों में आनन्द भले ही सुना गया हो, किन्तु यदि उसका प्रमाणद्वारा साक्षात् अनुभव न किया जाय, तो वह दृष्ट = लौकिक आनन्द की अभिलाषा को मन्द करने में समर्थ नहीं हो सकता' । इस पर कहते हैं :--

[बाह्य स्पर्शों = विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष, आत्मा = अन्तःकरण में जो स्वरूपभूत सुख है, उसको प्राप्त करता है । वह ब्रह्म में समाधियुक्त अन्तःकरणवाला पुरुष अक्षय = अनन्त सुख में व्याप्त हो जाता है ॥ 21 ॥]

57 'इन्द्रियैः स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादय विषयाः' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिनका स्पर्श ग्रहण किया जाता है उन शब्दादि विषयों को 'स्पर्श' कहा जाता है । वे स्पर्श = शब्दादि विषय बाह्य है, क्योंकि वे अनात्म धर्म हैं । उनमें असक्तात्मा = अनासक्तचित्त पुरुष तृष्णाशून्य होने के कारण विरक्त होकर आत्मा में = अन्तःकरण[17] में ही बाह्य विषयों से निरपेक्ष जो उपशमात्मक सुख है उसको निर्मल सत्त्ववृत्ति से प्राप्त करता है । यही महाभारत में कहा है -- 'लोक में जो कामसुख है और देवलोक में जो दिव्य स्वर्गादि सुख हैं -- ये तृष्णाक्षयजन्य सुख के सोलहवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकते ।'

58 अथवा, आत्मा = प्रत्यगात्मा = 'त्वं' पद के अर्थ जीव में जो स्वरूपभूत सुख है जिसका कि सुषप्ति में अनुभव होता है और विषयासक्तिरूप प्रतिबन्ध के कारण जो प्रतीत नहीं होता है, उसी को विषयासक्तिरूप प्रतिबन्ध का अभाव होने से प्राप्त करता है ।

17. यहाँ 'आत्मा शब्द रजोगुण और तमोगुण से शून्य सात्त्विक चित्तवृत्ति से 'अन्तःकरण' के अर्थ में प्रयुक्त है ।

59 **न केवलं त्वंपदार्थसुखमेव लभते किं तु तत्पदार्थैक्यानुभवेन पूर्णसुखमपीत्याह—स तृष्णाशून्यो ब्रह्मणि परमात्मनि योगः समाधिस्तेन युक्तस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा। अथवा ब्रह्मणि तत्पदार्थे योगेन वाक्यार्थानुभवरूपेण समाधिना युक्त ऐक्यं प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूपं यस्य स तथा, सुखमक्षयमनन्तं स्वस्वरूपभूतमश्नुते व्याप्नोति सुखानुभवरूप एव सर्वदा भवतीत्यर्थः। नित्येऽपि वस्तुन्यविद्यानिवृत्त्यभिप्रायेण धात्वर्थयोग औपचारिकः। तस्मादात्मन्यक्षयसुखानुभवार्थी सन्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया महानरकानुबन्धिन्याः सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयेत्तावतैव च ब्रह्मणि स्थितिर्भवतीत्यभिप्रायः॥ 21॥**

60 **ननु बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तावात्मन्यक्षयसुखानुभवस्तस्मिंश्च सति तत्प्रसादादेव बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तिरितीतरेतराश्रयवशान्नैकमपि सिध्येदित्याशङ्क्य विषयदोषदर्शनाभ्यासेनैव तत्प्रीतिनिवृत्तिर्भवतीति परिहारमाह—**

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 22॥

61 **हि यस्माद्ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंबन्धजा भोगाः क्षुद्रसुखलवानुभवा इह वा परत्र वा रागद्वेषादिव्याप्तत्वेन दुःखयोनय एव ते, ते सर्वेऽपि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दुःखहेतव एव। तदुक्तं विष्णुपुराणे—**

---

59 वह अनासक्तचित्त पुरुष केवल 'त्वं' पदार्थ के सुख को ही प्राप्त नहीं करता है, अपितु 'तत्' पदार्थ के साथ ऐक्य का अनुभव होने से पूर्ण सुख भी प्राप्त करता है -- ऐसा 'स' इत्यादि से कहते हैं। स = वह तृष्णाशून्य पुरुष ब्रह्म = परमात्मा में जो योग = समाधि है उससे युक्त होकर अर्थात् उस ब्रह्मयोग में व्यापृत = लीन है आत्मा = अन्त:करण जिसका ऐसा 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' होकर अथवा, ब्रह्म = 'तत्' पदार्थ में योग से = वाक्यार्थ के अनुभवरूप समाधि से युक्त = ऐक्य को प्राप्त है आत्मा = 'त्वं' पदार्थ का स्वरूप जिसका ऐसा होकर वह अक्षय = अनन्तस्वस्वरूपभूत सुख को प्राप्त करता है अर्थात् उसमें व्याप्त हो जाता है। अर्थ यह है कि वह सर्वदा सुखानुभवरूप ही हो जाता है। यद्यपि स्वस्वरूपभूत सुख नित्य है, तथापि अविद्या की निवृत्ति के अभिप्राय से उसमें उपचार से 'व्याप्त हो जाना' रूप धातु के अर्थ का योग किया है। अत: अभिप्राय यह है कि आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव करने का इच्छुक होकर बाह्यविषयक क्षणिक प्रीति जो महानरकनिदान है उससे इन्द्रियों को निवृत्त करे, इतने ही से ब्रह्म में स्थिति हो जाती है॥ 21॥

60 'बाह्य विषयों के प्रति समुत्पन्न प्रीति के निवृत्त होने पर तो आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता है और आत्मसुख का अनुभव होने पर आत्मसुखानुभव के प्रसाद से ही बाह्य विषयों के प्रति प्रीति की निवृत्ति होती है -- इसप्रकार एक दूसरे के आश्रित होने के कारण तो इनमें से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता है' -- ऐसी आशंका करके उसका इसप्रकार परिहार करते हैं कि विषयों में दोषदर्शन का अभ्यास करने से ही विषयों के प्रति प्रीति की निवृत्ति हो जाती है :--

[हे कौन्तेय ! इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से जो भोग प्राप्त होते हैं वे दु:ख के ही कारण हैं तथा आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् -- विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता है॥ 22॥]

61 हि = यस्मात् = क्योंकि जो संस्पर्शज = विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न भोग = क्षुद्रसुखलेश के अनुभव इस लोक में या परलोक में हैं वे राग-द्वेष से व्याप्त होने के कारण दु:खयोनि = दु:ख के मूल ही हैं अर्थात् वे सब ब्रह्मलोकपर्यन्त सब दु:खों के हेतु ही हैं। विष्णुपुराण में भी ऐसा कहा है --

'यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥' इति ।

एतादृशा अपि न स्थिराः किं तु आद्यन्तवन्तः, आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगोऽन्तश्च तद्वियोग एवं तौ विद्येते येषां ते पूर्वापरयोरसत्त्वान्मध्ये स्वप्नवदाविर्भूताःक्षणिका मिथ्याभूताः । तदुक्तं गौडपादाचार्यैः-- 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' इति ।

62 यस्मादेवं तस्मात्तेषु बुधो विवेकी न रमते प्रतिकूलवेदनीयत्वान्न प्रीतिमनुभवति । तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना -- 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पा० द० 2.15) इति । सर्वमपि विषयसुखं दृष्टमानुश्रविकं च दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिस्वरूपस्य न त्वविवेकिनः । अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखलेशेनाप्युद्विजते यथोर्णातन्तुरतिसुकुमारोऽप्यक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नेतरेष्वङ्गेषु तद्वद्विवेकिन एव मधुविषसंपृक्तान्नभोजनवत्सर्वमपि भोगसाधनं कालत्रयेऽपि क्लेशानुविद्धत्वाद्दुःखं न मूढस्य बहु-

---

'प्राणी जितने प्रिय पदार्थों के साथ मन का सम्बन्ध करता है, उतने ही शोक के काँटे अपने हृदय में गाड़ता है' ।

ऐसे होकर भी ये स्थिर नहीं हैं, किन्तु आदि और अन्तवाले हैं । आदि = विषय और इन्द्रियों का संयोग तथा अन्त = उनका वियोग -- इसप्रकार ये दोनों विद्यमान हैं जिनमें वे पूर्व में और उत्तर में असद्रूप होने के कारण मध्य में भी स्वप्न के समान प्रतीत होनेवाले, क्षणिक और मिथ्या ही हैं । ऐसा ही गौडपादाचार्य ने कहा है -- ' जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा नहीं है' ।

62 क्योंकि ऐसा है, इसलिए बुध = विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता है अर्थात् प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण उनमें प्रीति का अनुभव नहीं करता है । भगवान् पतञ्जलि ने भी ऐसा ही कहा है -- 'परिमाणतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पातञ्जलयोगसूत्र, 2.15) अर्थात् परिणाम -- दुःख[18], ताप-दुःख[19] और संस्कारदुःख[20] तथा गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख[21] के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब अर्थात् सुख भी दुःखरूप ही है' । दृष्ट = ऐहिक और आनुश्रविक = वैदिक-प्रमाणसिद्ध स्वर्गादि = अदृष्ट -- सभी विषयसुख प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण दुःख ही हैं ।

---

18. परिणाम-दुखः -- विषय-सुख के भोग से इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होती हैं, अपितु राग-क्लेश उत्पन्न होता है । जैसे-जैसे भोग का अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे तृष्णा बलवती होती जाती है । विषयों के भोग से इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, अन्त में इन्द्रियों में विषय-भोग की शक्ति ही नहीं रहती है और तृष्णा सताती रहती है । यह सुख परिणाम में दुःख ही है । यही परिणाम-दुःख है ।

19. ताप-दुःख -- विषय-सुख की प्राप्ति में और उसके साधन में राग-क्लेश उत्पन्न होता है और उनमें जो विघ्न होता है, उससे द्वेष-क्लेश उत्पन्न होता है । यह सुख के नाश होने का दुःख सुख के भोग-काल में भी सताता रहता है । इसी कारण यह सुख परिणाम में ताप-दुःख है ।

20. संस्कार-दुःख -- सुख के भोग के जो संस्कार चित्त में रहते हैं उनसे राग उत्पन्न होता है, मनुष्य उसको प्राप्त करने के लिए यत्न करता है । उसमें विघ्न होता है तो उससे द्वेष उत्पन्न होता है । इसप्रकार राग-द्वेष के भी संस्कार चित्त में एकत्रित होते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके भी संस्कार चित्त में एकत्रित होते रहते हैं । ये संस्कार जात्यादि के कारण होते हैं, इसलिए यह सुख परिणाम में संस्कार-दुःख है ।

21. गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख -- सत्त्व, रजस् और तमस् -- ये तीनों गुण क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाववाले हैं । इनकी क्रमशः सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियाँ हैं । ये तीनों गुण परिणामी हैं । कभी एक गुण दूसरे गुण का अभिभव करके प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको । जब सत्त्व रजस् और तमस् का अभिभव करता है, तब सुख-वृत्ति का उदय होता है । जब रजस् सत्त्व और तमस् का अभिभव करता है, तब दुःख-वृत्ति का उदय होता है । जब तमस् सत्त्व और रजस् का अभिभव करता है, तब मोह-वृत्ति उत्पन्न होती है । इन तीनों गुणों में परिणाम रहता है । इस कारण इनकी वृत्तियों में भी परिणाम का होना आवश्यक है और सुख के पश्चात् दुःख और मोह का होना स्वाभाविक है । यह गुण-वृत्तियों के विरोध से सुख में दुःख की प्रतीति है ।

विधदु:खसहिष्णोरित्यर्थः । तत्र परिणामतापसंस्कारदु:खैरिति भूतवर्तमानभविष्यत्कालेऽपि दु:खानुविद्धत्वादौपाधिकं दु:खत्वं विषयसुखस्योक्तं, गुणवृत्तिविरोधाच्चेत्यनेन स्वरूपतोऽपि दु:खत्वम् । तत्र परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च त एव दु:खानि तैरित्यर्थः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । तथाहि--रागानुविद्ध एव सर्वोऽपि सुखानुभवः । न हि तत्र न रज्यति तेन सुखी चेति संभवति । राग एव च पूर्वमुद्भूतः सन्विषयप्राप्त्या सुखरूपेण परिणमते । तस्य च प्रतिक्षणं वर्धमानत्वेन स्वविषयाप्राप्तिनिबन्धनदु:खस्यापरिहार्यत्वाद्दु:खरूपतैव । या हि भोगेष्विन्द्रियाणामुपशान्तिः परितृप्तत्वात्तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दु:खम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । स्मृतिश्च -- 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति । तस्माद्दुः--खात्मकरागपरिणामत्वाद्विषयसुखमपि दु:खमेव कार्यकारणयोरभेदादिति परिणामदु:खत्वम् ।

किसके लिए हैं ? विवेकी पुरुष के लिए हैं । क्यों ? क्योंकि विवेकी पुरुष क्लेशादि के स्वरूप को जानता है । अविवेकी तो विषय के यथार्थस्वरूप को नहीं जानता है, इसलिए वह उनमें रमण करता है । विद्वान् नेत्रगोलक के समान है, वह अत्यन्त अल्प दु:खलेश से भी उद्विग्न हो जाता है । जैसे मकड़ी का जाला अतिसूक्ष्म अतिकोमल होने पर भी नेत्रगोलक में पड़ने पर अपने स्पर्श से ही दु:ख देता है, किन्तु दूसरे अङ्गों में लगने से भी दु:ख नहीं देता है; वैसे ही सभी भोगसाधन विद्वान् के लिए ही मधु और विष से संमिश्रित अन्न के भोजन के समान तीनों कालों में क्लेशयुक्त होने के कारण दु:खरूप ही हैं, किन्तु अनेक प्रकार के दु:खों को सहन करनेवाले मूढ़ पुरुष के लिए वे भोगसाधन दु:खरूप नहीं है -- यह अर्थ है । यहाँ 'परिणामतापसंस्कारदु:खैः' -- इस पद से भूत, वर्तमान और भविष्य काल में भी दु:ख से युक्त होने के कारण विषयसुख का औपाधिक दु:खरूपत्व कहा है । 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' -- इस पद से विषयसुख को स्वरूपतः भी दु:खरूप कहा है । 'परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च त एव दु:खानि तैः' अर्थात् परिणाम, ताप और संस्कार -- ये जो दु:ख हैं इनके कारण, -- विषयसुख भी दु:खरूप हैं । यहाँ इत्थंभूतलक्षण[22] में तृतीया विभक्ति है । जैसे सभी सुखानुभव रागानुविद्ध ही हैं । यह नहीं हो सकता कि 'उसमें राग नहीं है और उससे सुखी है' । राग ही पूर्व में उद्भूत होकर पुनः विषयप्राप्ति से सुखरूप में परिणत होता है । वह राग प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अतः उस अवस्था में विषय प्राप्ति न होने से होनेवाला दु:ख अपरिहार्य होने के कारण वह राग दु:खरूप ही है । भोगों में परितृप्त होने से जो इन्द्रियों की उपशान्ति होती है वही सुख है । भोगों में लोलुपता होने से जो इन्द्रियों की अनुपशान्ति = अशान्ति होती है वही दु:ख है । भोगों के अभ्यास से भोगो में इन्द्रियों की तृष्णा का अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि भोगों के अभ्यास से तो राग और इन्द्रियों का कौशल-नैपुण्य अर्थात् चमत्कार बढ़ता ही है । मनुस्मृति भी कहती है -- 'विषय-कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, किन्तु हविः = हवन-सामग्री के डालने से अग्नि के सदृश और अधिक बढती है' (मनुस्मृति, 2.94) । अतः दु:खरूप राग का परिणाम होने के कारण विषयसुख भी दु:ख ही है क्योंकि कार्य और कारण में अभेद होता है -- यह 'परिणामदु:खत्व' है ।

22. 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.21) = इत्थंभूत शब्द का अर्थ है -- इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ । किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिहन में तृतीया विभक्ति होती है ।

63 तथा सुखानुभवकाले तत्प्रतिकूलानि दुःखसाधनानि द्वेष्टि। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति भूतानि च हिनस्ति। द्वेषश्च सर्वाणि दुःखसाधनानि मे मा भूवन्निति संकल्पविशेषः। न च तानि सर्वाणि कश्चिदपि परिहर्तुं शक्नोति। अतः सुखानुभवकालेऽपि तत्परिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्तापदुःखं दुष्परिहरमेव। तापो हि द्वेषः। एवं दुःखसाधनानि न परिहर्तुमशक्तो मुह्यति चेति मोहदुःखताऽपि व्याख्येया। तथाचोक्तं योगभाष्यकारैः — सर्वस्य द्वेषानुविद्धचेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति। तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते। तथा च वर्तमानः सुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते। स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीति संस्कारदुःखता। एवं तापमोहयोरपि संस्कारौ व्याख्येयौ।

64 एवं कालत्रयेऽपि दुःखानुवेधाद्विषयसुखं दुःखमेवेत्युक्त्वा स्वरूपतोऽपि दुःखतामाह — गुणवृत्तिविरोधाच्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहात्मकाः परस्परविरुद्धस्वभावा अपि तैलवर्त्यग्नय इव दीपं पुरुषभोगोपयुक्तत्वेन त्र्यात्मकमेकं कार्यमारभन्ते तत्रैकस्य प्राधान्ये द्वयोर्गुणभावात्प्र-

---

63 इसीप्रकार सुख का अनुभव करते समय सुखविरोधी दु:ख के साधनों से सुखार्थी द्वेष करता है। 'प्राणियों को पीड़ा पहुँचाए बिना विषयोपभोग सम्भव नहीं है' -- ऐसा सोचकर वह जीवों की हिंसा करता है। 'दु:ख के सम्पूर्ण साधन मुझको प्राप्त न हों' -- इसप्रकार का संकल्पविशेष ही 'द्वेष' है, किन्तु उन सभी दु:ख के साधनों का परिहार कोई भी संसारी जीव नहीं कर सकता है। अत: सुख का अनुभव करते समय भी सुखविरोधी के प्रति सर्वदा द्वेष रहने के कारण तापदु:ख दुष्परिहार ही है। ताप भी द्वेष ही है। इसप्रकार दु:ख के साधनों का परिहार करने में अशक्त -- असमर्थ होकर मोह भी करता हीं है -- इसप्रकार मोहदु:खता को भी समझना चाहिए। ऐसा ही योगभाष्यकार ने भी कहा है -- 'सब को द्वेष से अनुविद्ध चेतन और अचेन रूप साधनों के अधीन तापदु:ख का अनुभव होता है। उसमें द्वेष से उत्पन्न हुए कर्माशय ही कारण हैं। सुख--साधनों का प्रार्थी शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टा करता है। उससे वह दूसरों पर अनुग्रह -- निग्रह करता है -- इसप्रकार वह दूसरों पर अनुग्रह और पीड़ा द्वारा धर्म और अधर्म का संचय करता है। वह कर्माशय लोभ और मोह से होता है -- यही 'तापदु:खता' कही जाती है' (योगभाष्य, 2.15)। इसीप्रकार जब वर्तमान सुखानुभव अपने विनाश को प्राप्त होता है, तो वह उस समय अपने संस्कार का आधान करता है। और वह संस्कार सुख का स्मरण कराता है, स्मरण से राग उत्पन्न होता है, राग से मानसिक, शारीरिक और वाचिक चेष्टा होती है, वह चेष्टा पुण्य-पापरूप कर्माशय को उत्पन्न करती है और वे पुण्य-पापरूप कर्माशय जन्मादि करते हैं -- इसप्रकार यह 'संस्कारदु:खता' कही जाती है। इसीप्रकार ताप और मोह के संस्कारों की भी व्याख्या कर लेनी चाहिए।

64 इसप्रकार तीनों कालों में भी दु:ख से अनुविद्ध -- व्याप्त रहने के कारण विषयसुख दु:ख ही है -- यह कहकर उसकी स्वरूपत: भी दु:खता को कहते हैं -- 'गुणवृत्तिविरोधाच्च'। सत्त्व, रज और तम -- ये गुण क्रमश: सुख, दु:ख और मोहरूप हैं तथा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होने पर भी; तैल, बत्ती और अग्नि मिथोविरुद्धस्वभाव होने पर भी जिसप्रकार दीपकरूप एक कार्य को आरम्भ करते हैं वैसे ही; पुरुष के भोग में उपयुक्त होकर त्रिगुणमय एक ही कार्य आरम्भ करते हैं। उस

धानमात्रव्यपदेशेन सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिगुणमपि कार्यमेकेन गुणेन व्यपदिश्यते । तत्र सुखोपभोगरूपोऽपि प्रत्यय उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽप्यनुद्भू- तरजस्तमःकार्यत्वात्त्रिगुणात्मक एव । तथा च सुखात्मकत्ववद्दुःखात्मकत्वं विषादात्मकत्वं च तस्य ध्रुवमिति दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । न चैतादृशोऽपि प्रत्ययः स्थिरः । यस्माच्चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धसुखदुःखमोहत्वान्येकदा प्रतिपद्यत इति चेत्, न, उद्भूतानुद्भूतयोर्विरोधाभावात् । समवृत्तिकानामेव हि गुणानां युगपद्विरोधो न विषमवृत्तिकानाम् । यथा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि लब्धवृत्तिकानि लब्धवृत्तिकैरेवाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः सह विरुध्यन्ते न तु स्वरूपसद्भिः । प्रधानस्य प्रधानेन सह विरोधो न तु दुर्बलेनेति हि न्यायः । एवं सत्त्वरजस्तमांस्यपि परस्परं प्राधान्यमात्रं युगपन्न सहन्ते न तु सद्भावमपि ।

65 एतेन परिणामतापसंस्कारदुःखेष्वपि राद्वेषमोहानां युगपत्सद्भावो व्याख्यातः प्रसुप्ततनुविच्छि-न्नोदाररूपेण क्लेशानां चतुरवस्थत्वात् । तथा हि -- 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।' 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।' 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।' ' दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।' 'सुखानुशयी रागः ।' 'दुःखानुशयी द्वेषः ।' 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः

कार्य में एक की प्रधानता और दो की गौणता रहने से वह कार्य त्रिगुणमय होने पर भी प्रधान गुण के नामानुसार एक गुण से ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस कहा जाता है । उनमें सुखोपभोगरूप भी प्रत्यय -- अनुभव उद्भूत सत्त्वगुण का कार्य होने पर भी अनुद्भूत रजोगुण और तमोगुण का भी कार्य होने से त्रिगुणमय ही है । इसप्रकार सुखरूपता के समान उसकी दुःखरूपता और विषादरूपता भी निश्चित ही है -- अतः विवेकी पुरुष के लिए सब दुःखरूप ही है । इसप्रकार प्रत्यय भी स्थिर नहीं है, क्योंकि गुणों की वृत्ति चञ्चल है, इसलिए चित्त भी क्षिप्रपरिणामी कहा गया है । यदि प्रश्न करें कि 'एक ही प्रत्यय एक समय में परस्पर विरुद्ध सुख, दुःख और मोहरूप कैसे हो सकता है', तो यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि उद्भूत और अनुद्भूत गुणों में विरोध नहीं होता है । समान वृत्तिवाले गुणों के ही एक साथ रहने में विरोध होता है, विषमवृत्तिवाले गुणों के एक साथ रहने में विरोध नहीं होता । जैसे वृत्तियुक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का ही वृत्तियुक्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के साथ विरोध होता है, जिनकी स्वरूपतः सत्ता है उनके साथ नहीं । प्रधान का प्रधान के साथ ही विरोध होता है, दुर्बल के साथ नहीं -- यही न्याय है । इसीप्रकार सत्त्व, रज और तम भी एक साथ एक-दूसरे की प्रधानता को ही सहन नहीं करते हैं, सत्ता को भी सहन नहीं करते हों -- ऐसा नहीं है ।

65 इससे परिणाम, ताप और संस्कार दुःखों में भी राग, द्वेष और मोह की समकालीन सत्ता की व्याख्या हो जाती है, क्योंकि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप से क्लेश चार अवस्थाओंवाले हैं, जैसा कि पातञ्जल-योग सूत्र में कहा गया है :-- 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' (योग-सूत्र, 2.3) = 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश -- ये पाँच क्लेश हैं' । 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (योग सूत्र, 2.4) = 'अविद्या प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले उत्तर = अस्मितादि क्लेशों की क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है' । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (योगसूत्र, 2.5) = 'अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान 'अविद्या' है' । 'दृग्दर्शन शक्त्यो-

सूक्ष्माः ।' 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।' 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।' 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (पा० द० 2.3.13) इति पातञ्जलानि सूत्राणि । तत्रातस्मिंस्तद्-बुद्धिर्विपर्ययो मिथ्याज्ञानमविद्येति पर्यायाः । तस्या विशेषः संसारनिदानम् । तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा--ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौरमृता दिवौकस इति । अशुचौ परमबीभत्से काये शुचिबुद्धिर्यथा--नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयतीवेति कस्य केन संबन्धः ।

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥'

इति च वैयासिकः श्लोकः । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययोऽनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । दुःखे सुखख्यातिरुदाहृता परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

रेकात्मतेवास्मिता' (योगसूत्र 2.6) = 'दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का एक स्वरूप जैसा भान होना 'अस्मिता' है' । 'सुखानुशयी रागः' (योगसूत्र, 2.7) = सुख-भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है, वह 'राग' है' । 'दुःखानुशयी द्वेषः' (योगसूत्र, 2.8) = 'दुःख के अनुभव के पीछे जो चित्त में घृणा की वासना रहती है, उसको 'द्वेष' कहते हैं' । 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा-रूढोऽभिनिवेशः' (योगसूत्र, 2.9) = 'जिस मरणभय में स्वभाव से ही विद्वान् भी उसी प्रकार आरूढ़ होता है जैसे मूर्ख वह 'अभिनिवेश' है' । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' (योगसूत्र, 2.10) = 'वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया-योग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्त के अपने कारण में लीन होने से निवृत्त करने योग्य हैं' । 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' (योगसूत्र, 2.11) = 'क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रियायोग से तनु कर दी गई हैं, प्रसंख्यान-संज्ञक ध्यान से त्यागने योग्य हैं' । 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' (योगसूत्र, 2.12) = 'क्लेश जिसका मूल है ऐसा कर्माशय दृष्ट = वर्तमान और अदृष्ट = भावी जन्मों में भोगने के योग्य होता है' । 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योगसूत्र,2.13) = 'अविद्यादि क्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने पर उस कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग होता है' । ये 'अविद्यास्मिता...' से लेकर 'भोगाः' पर्यन्त योगसूत्र हैं । उनमें यथाक्रम प्रथम निर्दिष्ट अविद्या का लक्षण कहते हैं -- जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी मानना 'विपर्यय' है; विपर्यय, मिथ्याज्ञान और अविद्या -- ये पर्यायवाची शब्द हैं । अविद्या का विशेष धर्म 'संसार का कारण होना' है । अनित्य में नित्यबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- पृथ्वी नित्य है, चन्द्रमा और तारों के सहित आकाश नित्य है, देवता अमर हैं -- इत्यादि । अपवित्र = परम बीभत्स -- अतिघृणित शरीर में पवित्रबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- 'नवीन शशिकला के समान सुन्दरी यह कन्या मानो मधु और अमृत के अवयवों से निर्मित है, ऐसी जान पड़ती है मानो चन्द्रमा का भेदन करके निकली हो, इसके नेत्र नीलकमल के दल के समान विशाल हैं -- उन हावगर्भित नेत्रों से मानो यह जीवलोक को आश्वासन दे रही है' -- इसप्रकार की उक्ति में सोचिए किसका किससे सम्बन्ध है ? व्यासभाष्य में श्लोक है -- तदनुसार, -- 'उत्पत्तिस्थान, बीज, उपष्टम्भ = अस्थिमांसादि आश्रय, निष्यन्द और निधन आदि के कारण शौचदृष्टि से शरीर का विचार करके पण्डितजन इस शरीर को अपवित्र ही समझते हैं' । इससे अपुण्य में पुण्यबुद्धि और अनर्थ में अर्थबुद्धि की भी व्याख्या हो जाती है । दुःखबुद्धि में सुखबुद्धि का उदाहरण

अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—शरीरे मनुष्योऽहमित्यादिः । इयं चाविद्या सर्वक्लेशमूलभूता तम इत्युच्यते । बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता मोहः । साधनरहितस्यापि सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति विपर्ययविशेषो रागः। स एव महामोहः । दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः । स तामिस्रः । आयुरभावेऽप्येतैः शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदित्यविद्वदङ्गनाबालं स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः । सोऽन्धतामिस्रः । तदुक्तं पुराणे—

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥' इति ।

66 एते च क्लेशाश्चतुरवस्था भवन्ति । तत्रासतोऽनुत्पत्तेरनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था । अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यलाभात्कार्याजनकत्वं तन्ववस्था । अभिव्यक्तस्य जनितकार्यस्यापि केनचिद्बलवताऽभिभवो विच्छेदावस्था । अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन स्वकार्य-

---

तो 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' -- इस सूत्र की व्याख्या में दे ही चुके हैं । अनात्मा में आत्मबुद्धि इसप्रकार होती है जैसे -- शरीर में 'मैं मनुष्य हूँ' -- ऐसी बुद्धि होती है । यह समस्त क्लेशों की मूलभूता अविद्या 'तम' कही जाती है । बुद्धि और पुरुष के अभेद से जो अभिमान होता है वह अस्मिता 'मोह' है । साधनरहित पुरुष भी चाहता है कि 'मुझको सब प्रकार के सुख प्राप्त हों ' -- यह विपर्ययविशेष 'राग' है । यही 'महामोह' है । दुःख के साधन विद्यमान रहते हुए भी 'मुझको कोई भी दुःख न हो' -- यह विपर्ययविशेष 'द्वेष' है । यह 'तामिस्र' है । आयु न रहने पर भी 'इन अनित्य शरीर, इन्द्रिय आदि से भी मेरा वियोग न हो' -- ऐसा विद्वान्, स्त्री और बालकपर्यन्त स्वाभाविक, सभी प्राणियों में साधारण मरणत्रास -- मरणभयरूप विपर्ययविशेष 'अभिनिवेश' है । यह 'अन्धतामिस्र' है । पुराण में कहा भी है -- 'तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र -- यह पञ्चपर्वा अविद्या परमात्मा से प्रकट हुई है' ।

66 ये क्लेश चार अवस्थाओं वाले होते हैं । उनमें, असत् की उत्पत्ति[23] न होने से अनभिव्यक्तरूप से क्लेशावस्थान 'सुप्तावस्था[24]' है । अभिव्यक्त होने पर भी सहकारी कारण का लाभ न होने से कार्याजनकत्व अवस्था 'तन्ववस्था -- तनु अवस्था[25]' है । अभिव्यक्त आरब्ध कार्य का भी किसी बलवान् कारण से अभिभव होना 'विच्छेदावस्था[26]' है । अभिव्यक्त क्लेश का सहकारी संपत्ति --

---

23. यहाँ 'उत्पत्ति' शब्द अभिव्यक्तिपरक है । कारण से कार्य की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति होती है । यह अभिव्यक्ति सत् की ही होती है, असत् की नहीं । गीता में कहा ही है – 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता, 2,16) । प्रकृत में गीता -- सम्मत अर्थ ही किया गया है ।

24. जो क्लेश चित्तभूमि में अवस्थित रहते हैं, उद्बुद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि अपने विषय आदि के अभाव-काल में अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते हैं वे 'प्रसुप्त' कहलाते हैं । जैसे बाल्यावस्था में विषयभोग की वासनाएँ बीजरूप से अवस्थित रहती हैं, युवावस्था में जाग्रत् होकर अपना फल प्रकट करती हैं ।

25. जो क्लेश प्रतिपक्षभावना द्वारा अथवा क्रियायोग आदि से तनु = शिथिल कर दिए जाते हैं वे 'तनु' कहलाते हैं । तनु = शिथिल किये जाने के कारण ये विषय के होते हुए भी अपने कार्य को आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते है, शान्त रहते है; किन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्मरूप से चित्त में बनी रहती हैं ।

26. जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान् क्लेश से अभिभूत होकर शक्तिरूप से रहते हैं और उसके अभाव में प्रकट हो जाते हैं वह क्लेशों की 'विच्छिन्नावस्था' है । जैसे द्वेषावस्था में राग अभिभूत रहता है और रागावस्था में द्वेष ।

करत्वमुदारावस्था । एतादृगवस्थाचतुष्टयविशिष्टानामस्मितादीनां चतुर्णां विपर्ययरूपाणां क्लेशानामविद्यैव सामान्यरूपा क्षेत्रं प्रसवभूमिः, सर्वेषामपि विपर्ययरूपत्वस्य दर्शितत्वात् । तेनाविद्यानिवृत्त्यैव क्लेशानां निवृत्तिरित्यर्थः । ते च क्लेशाः प्रसुप्ता यथा प्रकृतिलीनानां, तनवः प्रतिपक्षभावनया तनूकृता यथा योगिनाम् । त उभयेऽपि सूक्ष्माः प्रतिप्रसवेन मनोनिरोधेनैव निर्बीजसमाधिना हेयाः । ये तु सूक्ष्मवृत्तयस्तत्कार्यभूताः स्थूला विच्छिन्ना उदाराश्च । विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः प्रादुर्भवन्तीति विच्छिन्नाः, यथा रागकाले क्रोधो विद्यमानोऽपि न प्रादुर्भूत इति विच्छिन्न उच्यते, एवमेकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति नान्यासु विरक्तः किं त्वेकस्यां रागो लब्धवृत्तिरन्यासु च भविष्यद्वृत्तिरिति स तदा विच्छिन्न उच्यते, ये यदा विषयेषु लब्धवृत्तयस्ते तदा सर्वात्मना प्रादुर्भूता उदारा उच्यन्ते, त उभयेऽप्यतिस्थूलत्वाच्छुद्धसत्त्वभवेन भगवद्ध्यानेन हेया न मनोनिरोधमपेक्षन्ते । निरोधहेयास्तु सूक्ष्मा एव । तथा च परिणामतापसंस्कारदुःखेषु प्रसुप्ततनुविच्छिन्नरूपेण सर्वे क्लेशाः सर्वदा सन्ति । उदारता तु कदाचित्कस्यचिदिति विशेषः । एते च बाधनालक्षणं दुःखमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति । यतः कर्माशयो धर्माधर्माख्यः क्लेशमूलक एव । सति च मूलभूते क्लेशे तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलं जन्माऽऽयुर्भोगश्चेति । स

साधनों को पाकर बिना किसी प्रतिबन्ध के अपना कार्य करना 'उदारावस्था[27]' है । इसप्रकार की चारों अवस्थाओं से विशिष्ट अस्मिता आदि चार विपर्ययरूप क्लेशों की सामान्यरूपा अविद्या ही क्षेत्र = प्रसवभूमि -- उत्पत्तिभूमि है । इन सभी क्लेशों की विपर्ययरूपता तो दिखला ही चुके हैं । अत: तात्पर्य यह है कि अविद्या की निवृत्ति से ही क्लेशों की भी निवृत्ति हो सकती है । वे क्लेश प्रसुप्त, जैसे कि प्रकृतिलीनों के होते हैं और तनु, जैसे कि प्रतिपक्षभावना से तनु किये हुए योगियों के क्लेश होते हैं । ये दोनों प्रकार के क्लेश सूक्ष्म हैं, प्रतिप्रसव = मनोनिरोध अर्थात् निर्बीज समाधि से ही हेय -- निवर्त्तनीय हैं । जो सूक्ष्मवृत्ति क्लेश हैं उनके कार्यभूत विच्छिन्न और उदार -- स्थूलवृत्ति क्लेश होते हैं । जो बीच-बीच में विच्छिन्न हो-होकर उस-उस स्वरूप से पुन: प्रकट होते हैं वे 'विच्छिन्न' क्लेश होते हैं । जैसे राग काल में क्रोध के विद्यमान रहने पर भी वह प्रकट नहीं होता है, इसलिए वह 'विच्छिन्न' कहा जाता है । इसी प्रकार एक स्त्री में चैत्र नामक व्यक्ति अनुरक्त है, दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं है; किन्तु एक में तो उसके राग की वृत्ति उद्बुद्ध है और दूसरी स्त्रियों में भविष्य में उद्बुद्ध हो सकती है, उस समय वह राग विच्छिन्न कहा जाता है । जो क्लेश जिस समय विषयों में वृत्तियुक्त होते हैं, उस समय वे सर्वात्मना प्रवृत्त होते हैं -- प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए 'उदार' कहे जाते हैं । ये दोनों प्रकार के क्लेश अतिस्थूल हैं, अत: शुद्ध सत्त्वमय -- शुद्ध सात्त्विक भगवद्ध्यान से हेय हैं, इनकी हानि के लिए मनोनिरोध की अपेक्षा नहीं है । मनोनिरोध से तो सूक्ष्म क्लेश ही हेय हैं । इसप्रकार परिणाम, ताप और संस्कार दु:खों में प्रसुप्त, तनु और विच्छिन्न रूप से सब क्लेश सर्वदा रहते हैं । उदारता तो कदाचित् किसी की होती है -- यही उनसे इनका भेद है । ये क्लेश बाधना-पीड़ारूप दु:ख को उत्पन्न करते हैं, अत: 'क्लेश' शब्द से वाच्य हैं । क्योंकि धर्माधर्मरूप कर्माशय क्लेशमूलक ही है, इसलिए मूलभूत क्लेश के रहने पर उस कर्माशय का विपाक = फल जन्म, आयु और भोग होते हैं । वह कर्माशय इस लोक और परलोक में अपने विपाक -- फल जात्यादि का आरम्भक होने से दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में वेदनीय होता है । इसप्रकार

---

27. जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं वे 'उदार' कहलाते हैं । जैसे व्युत्थान अवस्था में क्लेश साधारण मनुष्यों में रहते हैं ।

च कर्माशय इह परत्र च स्वविपाकारम्भकत्वेन दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । एवं क्लेशसंततिर्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तते । अतः समीचीनमुक्तं ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्त इति । दुःखयोनित्वं परिणामादिभिर्गुणवृत्तिविरोधाच्च आद्यन्तवत्त्वं गुणवृत्तस्य जलत्वादिति योगमते व्याख्या ।

67 **औपनिषदानां तु अनादि भावरूपमज्ञानमविद्या । अहंकारधर्म्यध्यासोऽस्मिता । रागद्वेषाभिनिवेशास्तद्वृत्तिविशेषा इत्यविद्यामूलत्वात्सर्वेऽप्यविद्यात्मकत्वेन मिथ्याभूता रज्जुभुजंगाध्यासवन्मिथ्यात्वेऽपि दुःखयोनयः स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्रत्वेनाऽऽद्यन्तवन्तश्चेति बुधोऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवृत्तभ्रमस्तेषु न रमते, मृगतृष्णिकास्वरूपज्ञानवानिव तत्रोदकार्थी न प्रवर्तते । न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा ततः सर्वाणीन्द्रियाणि निवर्तयेदित्यर्थः ॥ 22 ॥**

68 **सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवारोऽयं श्रेयोमार्गप्रतिपक्षः कष्टतमो दोषो महता यत्नेन मुमुक्षुणा निवारणीय इति यत्नाधिक्यविधानाय पुनराह—**

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ 23 ॥

क्लेश की संतति -- परम्परा घटीयन्त्र के समान निरन्तर चलती रहती है । अत: यह समीचीन ही कहा है कि 'जो इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से होनेवाले भोग हैं वे दु:ख के कारण और आदि-अन्तवाले हैं' । उन संस्पर्शज भोगों की दु:खकारणता परिणामादि दु:खों से है और गुणवृत्तिविरोध से उनकी आद्यन्तवत्ता है, क्योंकि गुणवृत्ति चञ्चल होती है -- यह व्याख्या योगमतानुसार है ।

67 औपनिषदों = वेदान्तियों के मत में तो अनादि, भावरूप अज्ञान ही 'अविद्या' है । अहंकार और धर्मी = आत्मा का अध्यास 'अस्मिता' है । राग, द्वेष और अभिनिवेश उस अहंकार की वृत्तिविशेष हैं । इसप्रकार ये सभी अविद्यामूलक हैं, अत: अविद्यारूप होने से मिथ्याभूत ही हैं । रज्जु में सर्प के अध्यास के समान मिथ्याभूत होने पर भी दु:ख के कारण हैं, स्वप्नादि के समान दृष्टिसृष्टि[28]मात्र होने से आदि-अन्तवान् हैं । इसलिए बुध = विवेकी पुरुष अधिष्ठान का साक्षात्कार कर लेने के कारण भ्रम दूर हो जाने से उन विषयों में उसीप्रकार नहीं रमता है जिसप्रकार मृगतृष्णा के स्वरूप को जाननेवाला उदकार्थी पुरुष मृगतृष्णा में प्रवृत्त नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि 'संसार में सुख का गन्धमात्र भी नहीं है' -- ऐसा जानकर सांसारिक सब विषयों से समस्त इन्द्रियों की निवृत्ति करे ॥ 22 ॥

68 समस्त अनर्थों की प्राप्ति का हेतु, श्रेयोमार्ग -- मोक्षमार्ग का प्रतिपक्ष -- प्रबल शत्रु यह अत्यन्त कष्टमय दोष कठिनता से दूर होनेवाला है, अत: मुमुक्षु को अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक इसका निवारण करना चाहिए -- इसप्रकार दोषनिवारणार्थ विशेष यत्न का विधान करने के लिए भगवान् पुन: कहते हैं --

[जो पुरुष शरीर-त्याग से पूर्व ही यहीं काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सह सकता है वह योगी है, वही सुखी है और वही नर = पुरुष है ॥ 23 ॥]

---

28. अद्वैत वेदान्त में दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या की गई है । कुछ विद्वानों के अनुसार जाग्रत्कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है, क्योंकि अर्थ-सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं रहता है । जगत् कल्पित है, समस्त प्रपञ्चरूप जगत् की सृष्टि दृष्टिसमकालीन ही है, इसलिए इस सिद्धान्त को दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं । प्रकृत में 'दृष्टिसृष्टि' से इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है । प्रकाशानन्द के अनुसार--दृष्टि की विश्वसृष्टि है । स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपञ्च की सृष्टि है । अत: दृष्टि-समकालिक अन्य प्रपञ्च भी सृष्टि नहीं है । इस दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के अनुसार सकल जगत् की सत्ता आत्मा में ही है ('आत्मन्येव जगत् सर्वम्'--वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली,23) । यह सिद्धान्त प्रकृत कथन से पृथक् है ।

69 आत्मनोऽनुकूलेषु सुखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्गुणानुसंधानाभ्यासेन यो रत्यात्मको गर्धोऽभिलाषस्तृष्णा लोभः स कामः । स्त्रीपुंसयोः परस्परव्यतिकराभिलाषे त्वत्यन्तनिरूढः कामशब्दः । एतदभिप्रायेण कामः क्रोधस्तथा लोभ इत्यत्र धनतृष्णा लोभः स्त्रीव्यतिकरतृष्णा काम इति कामलोभौ पृथगुक्तौ । इह तु तृष्णासामान्याभिप्रायेण कामशब्दः प्रयुक्त इति लोभः पृथङ्नोक्तः । एवमात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु-श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्दोषानुसंधानाभ्यासेन यः प्रज्वलनात्मको द्वेषो मन्युः स क्रोधः । तयोरुत्कटावस्था लोकवेदविरोधप्रतिसंधानप्रतिबन्धकतया लोकवेदविरुद्धप्रवृत्त्युन्मुखत्वरूपा नदीवेगसाम्येन वेग इत्युच्यते । यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलतया लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा मज्जयति चाधो नयति च, तथा कामक्रोधयोरपि वेगो विषयाभिध्यानाभ्यासेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलो लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि विषयगर्ते पातयित्वा संसारसमुद्रे मज्जयति चाधो महानरकान्नयति चेति वेगपदप्रयोगेण सूचितम् । एतच्चाथ केन प्रयुक्तोऽयमित्यत्र विवृतम् ।

70 तमेतादृशं कामक्रोधोद्भवं वेगमन्तःकरणप्रक्षोभरूपं स्तम्भस्वेदाद्यनेकबाह्यविकारलिङ्गमाशरीरविमोक्षणाच्छरीरविमोक्षणपर्यन्तमनेकनिमित्तवशात्सर्वदा संभाव्यमानत्वेनाविस्रम्भणीयमन्त-

---

69 दृश्यमान, श्रूयमाण अथवा स्मर्यमाण अपने अनुकूल और सुख के हेतुभूत विषयों में जो दृश्यमानादि विषयों के गुणों के अनुसन्धान के अभ्यास से रत्यात्मक -- रागात्मक गर्ध = अभिलाषा -- तृष्णा अर्थात् लोभ होता है, उसको 'काम' कहते हैं। 'काम' शब्द स्त्री-पुरुष के परस्परसंपर्काभिलाष में तो अत्यन्त निरूढ-रूढ है । इसी अभिप्राय से 'कामः क्रोधस्तथा लोभः' (गीता, 16.21) -- इस श्लोक में धन की तृष्णा को 'लोभ' और स्त्री--पुरुष के संसर्ग की तृष्णा को 'काम' -- इसप्रकार काम और लोभ को पृथक्-पृथक् कहा है । प्रकृत में तो तृष्णा -- सामान्य के अभिप्राय से 'काम' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसीलिए 'लोभ' को पृथक् से नहीं कहा है । इसीप्रकार, दृश्यमान, श्रूयमाण अथवा स्मर्यमाण अपने प्रतिकूल और दुःख के हेतुभूत विषयों में जो दृश्यमानादि विषयों के दोषों के अनुसन्धान के अभ्यास से प्रज्वलनात्मक द्वेष अर्थात् मन्यु-रोष होता है, उसको 'क्रोध' कहते हैं । काम और क्रोध -- इन दोनों की जो उत्कट अवस्था है वह लोक और वेद के विरोधानुसन्धान में प्रतिबन्धक होने के कारण लोक और वेद से विरुद्ध प्रवृत्ति की उन्मुखतारूप है, अतः नदी के वेग के समान होने से वह 'वेग' कही जाती है । जैसे नदी का वेग वर्षाकाल में अत्यन्त प्रबल होने के कारण लोक और वेद के विरोध का अनुसंधान होने से जिस पुरुष की इच्छा नहीं है कि 'मैं नदी-प्रवाह में डूब जाऊँ, गिर जाऊँ' फिर भी उस पुरुष को गर्त = गड्ढे में गिराकर डुबो देता है और नीचे की ओर ले जाता है; वैसे ही काम और क्रोध का वेग भी वर्षाकालस्थानीय विषयचिन्तन के अभ्यास से अत्यन्त प्रबल होकर लोक और वेद के विरोध का प्रतिसंधान -- अनुसंधान होने से जिस पुरुष की इच्छा नहीं है कि 'मैं विषयगर्त में गिरूँ, संसारसमुद्र में डूबूँ' फिर भी उस पुरुष को विषयों के गड्ढे में गिराकर संसार-समुद्र में डुबो देता है और अधोलोक--महान् नरकों में ले जाता है -- यह 'वेग' पद के प्रयोग से सूचित किया है । इसका विवरण 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' (गीता, 3.36) इस श्लोक में दिया गया है ।

70 उस इसप्रकार के काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को; जो अन्तःकरण का प्रक्षोभरूप है और स्तम्भ -- स्वेदादि अनेक बाह्य विकारों का ज्ञापक है, शरीरत्यागपर्यन्त अनेक कारणों से सदा संभाव्यमान होने से अविश्वसनीय है और अन्तः -- उत्पन्नमात्र है; इहैव = यहाँ ही -- यहीं अर्थात् बाह्य इन्द्रियों

रुत्पन्नमात्रमिहैव बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद्गर्तपतनात्प्रागेव यो यतिर्धीरस्तिमिंगिल इव नदीवेगं विषयदोषदर्शनाभ्यासजेन वशीकारसंज्ञकवैराग्येण सोढुं तदनुरूपकार्यासंपादनेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति समर्थो भवति, स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः पुमान्पुरुषार्थसंपादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

71 प्राक्शरीरविमोक्षणादित्यत्रान्यद्व्याख्यानम्–यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात्कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स युक्त इत्यादि । अत्र यदि मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं ब्रूयात्तदैतद्युज्येत । यथोक्तं वसिष्ठेन–

'प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥' इति ।

इह तूत्पन्नयोः कामक्रोधयोर्वेगसहने प्रस्तुते तयोरनुत्पत्तिमात्रं न दृष्टान्त इति किमतिनिर्बन्धेन ॥ 23 ॥

72 कामक्रोधवेगसहनमात्रेणैव मुच्यत इति न, किं तु–

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ 24 ॥

के व्यापाररूप गर्त -- गड्ढे में गिरने से पूर्व ही जो यति -- धीर जिसप्रकार तिमिंगल = महामत्स्य नदीवेग को सहन करने में समर्थ होता है उसीप्रकार विषयों के दोषदर्शन के अभ्यास से उत्पन्न वशीकारसंज्ञक वैराग्य से सहन करने में अर्थात् तदनुकूल कार्य न कर उसको निरर्थक करने में समर्थ होता है वही युक्त = योगी है, वही सुखी है, वही नर = पुरुषार्थ करने के कारण पुरुष है । उससे भिन्न व्यक्ति तो आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि पशुधर्मों में ही रत होने के कारण मनुष्य के आकार में पशु ही है -- यह भाव है ।

71 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' -- इसका दूसरा व्याख्यान भी है -- जैसे मनुष्य मरण के पश्चात् विलाप करती हुई युवतियों से आलिङ्ग्यमान और पुत्रादि से दह्यमान होने पर भी प्राणशून्य होने के कारण काम और क्रोध के वेग को सह लेता है, वैसे ही जो मरण से पूर्व भी = जीवित रहते हुए भी काम और क्रोध के वेग को सह लेता है वह युक्त = योगी इत्यादि है । यहाँ यदि मरणावस्था के समान जीवनावस्था में भी काम और क्रोध की अनुत्पत्तिमात्र कही जाती है तो यह व्याख्या ठीक हो सकती थी । जैसा कि वशिष्ठ ने कहा है -- 'प्राण चले जाने पर जिसप्रकार देह सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार यदि प्राणों के रहते हुए भी उनका अनुभव न करे तो उसको कैवल्यपद प्राप्त होता है' । किन्तु यहाँ तो उत्पन्न हुए काम और क्रोध के वेग को सहने का प्रसङ्ग है, काम और क्रोध की अनुत्पत्तिमात्र का कथन दृष्टान्त में नहीं हो सकता है; अतः इसप्रकार की व्याख्या में विशेष आग्रह रखने का क्या प्रयोजन है ॥ 23॥

72 'काम और क्रोध के वेग को सहन करने मात्र से ही मुक्त होता है' -- यह नहीं है, किन्तु --
[जो आत्मा में ही सुख भोगता है, आत्मा में ही रमण करता है और आत्मा में ही ज्ञानवाला है वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाण = ब्रह्मरूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 24 ॥]

73 **अन्तर्बाह्यविषयनिरपेक्षमेव स्वरूपभूतं सुखं यस्य सोऽन्तःसुखो बाह्यविषयजनितसुखशून्य इत्यर्थः। कुतो बाह्यसुखाभावस्तत्राऽऽह--अन्तरात्मन्येव न तु स्त्र्यादिविषये बाह्यसुखसाधन आराम आरमणं क्रीडा यस्य सोऽन्तरारामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वेन बाह्यसुखसाधनशून्य इत्यर्थः। ननु त्यक्तसर्वपरिग्रहस्यापि यतेर्यदृच्छोपनतैः कोकिलादिमधुरशब्दश्रवणमन्दपवनस्पर्शनचन्द्रोदयमयूरनृत्यादिदर्शनातिमधुरशीतलगङ्गोदकपानकेतकीकुसुमसौरभाद्यवघ्राणादिभिर्ग्राम्यैः सुखोत्पत्तिसंभवात्कथं बाह्यसुखतत्साधनशून्यत्वमिति तत्राऽऽह-- तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः। यथाऽन्तरेव सुखं न बाह्यैर्विषयैस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मनि ज्योतिर्विज्ञानं न बाह्यैरिन्द्रियैर्यस्य सोऽन्तर्ज्योतिः श्रोत्रादिजन्यशब्दादिविषयविज्ञानरहितः। एवकारो विशेषणत्रयेऽपि संबध्यते। समाधिकाले शब्दादिप्रतिभासाभावाद्व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न बाह्यविषयैस्तस्य सुखोत्पत्तिसंभव इत्यर्थः।**

74 **य एवं यथोक्तविशेषणसंपन्नः स योगी समाहितो ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म परमानन्दरूपं कल्पितद्वैतोपशमरूपत्वेन निर्वाणं तदेव, कल्पिताभावस्याधिष्ठानात्मकत्वात्, अविद्यावरणनिवृत्त्याऽधिगच्छति नित्यप्राप्तमेव प्राप्नोति। यतः सर्वदैव ब्रह्मभूतो नान्यः, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेः, 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इति न्यायाच्च ॥ 24 ॥**

---

73 जिसको अन्तः = बाह्य विषयों से निरपेक्ष स्वरूपभूत ही सुख है ऐसा जो अन्तःसुख है अर्थात् बाह्यविषयजनित सुख से शून्य है। उसको बाह्य सुख का अभाव क्यों है ? इस पर कहते हैं -- 'अन्तरारामः' = जिसका अन्तः -- आत्मा में ही, स्त्री आदि बाह्य सुख के साधनों में नहीं, आराम -- आरमण अर्थात् क्रीडा है ऐसा जो अन्तराराम है अर्थात् समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग करनेवाला होने से बाह्य सुख के साधनों से शून्य है। प्रश्न है -- 'त्यक्त सर्वपरिग्रह यति -- संन्यासी को भी यदृच्छा से प्राप्त कोकिल आदि के मधुर शब्दों के श्रवण से, मन्द पवन के स्पर्श से, चन्द्रोदय और मयूरनृत्यादि के दर्शन से, अत्यन्त मधुर-शीतल गङ्गाजल के पान से और केतकी पुष्प के सुगन्धादि के सूंघने से अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण -- इन पाचों इन्द्रियों के साथ अनायास प्राप्त उक्त पाँच प्रकार के विषयों का सम्बन्ध होने से विषयसुख की उत्पत्ति होनी संम्भव ही है, तो उसको बाह्य सुख और उसके साधनों से शून्य कैसे कहा जा सकता है ?' उत्तर कहते हैं -- 'तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः' = 'तथा जो अन्तर्ज्योति ही है' = जिसप्रकार उसको अन्तःसुख ही है, बाह्य विषयों से सुख नहीं है, उसीप्रकार ही उसको अन्तः अर्थात् आत्मा में ही ज्योति -- विज्ञान है, बाह्य इन्द्रियों से नहीं है -- ऐसा जो अन्तर्ज्योति अर्थात् श्रोत्रादि से जन्य शब्दादि विषयों के विज्ञान से रहित है। यहाँ एवकार का सम्बन्ध तीनों विशेषणों से है। तात्पर्य यह है कि समाधिकाल में शब्दादि के प्रतिभास का अभाव रहने से और व्युत्थानकाल में शब्दादि का प्रतिभास रहने पर भी उनके मिथ्यात्व का निश्चय रहने से उस यति को बाह्य विषयों से सुख की उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं है।

74 जो इसप्रकार पूर्वोक्त विशेषणों से सम्पन्न है वह योगी समाहित -- समाधिस्थ होकर ब्रह्मनिर्वाण = कल्पित द्वैत की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म अर्थात् परमानन्दरूप जो निर्वाण है उस नित्यप्राप्त को ही, कल्पित द्वैत के अभाव का अधिष्ठानरूप होने से, अविद्यारूप आवरण की निवृत्ति से अधिगत -- प्राप्त करता है; क्योंकि वह सर्वदा ब्रह्मभूत ही है, कोई अन्य नहीं है। जैसा कि श्रुति कहती है -- 'ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है' (बृ० उ०, 4.4.6)। इसी प्रकार वेदान्तसूत्र में भी कहा है -- 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (ब्रह्मसूत्र, 1.4.22) = 'काशकृत्स्न कहते हैं कि परमात्मा ही जीव-रूप से अवस्थित है' ॥ 24 ॥

75 **मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तराणि विवृण्वन्नाह--**

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ 25 ॥

76 **प्रथमं यज्ञादिभिः क्षीणकल्मषाः, ततोऽन्तःकरणशुद्ध्या--ऋषयः सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः संन्यासिनः, ततः श्रवणादिपरिपाकेण छिन्नद्वैधा निवृत्तसर्वसंशयाः, ततो निदिध्यासनपरिपाकेण संयतात्मानः परमात्मन्येवैकाग्रचित्ताः । एतादृशाश्च द्वैतादर्शित्वेन सर्वभूतहिते रता हिंसाशून्या ब्रह्मविदो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते,**

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति श्रुतेः ।

बहुवचनं, 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादिश्रुत्युक्तनियमप्रदर्शनार्थम् ॥ 25 ॥

77 **पूर्वं कामक्रोधयोरुत्पन्नयोरपि वेगः सोढव्य इत्युक्तमधुना तु तयोरुत्पत्तिप्रतिबन्ध एव कर्तव्य इत्याह--**

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ 26 ॥

---

75 मुक्ति के हेतुभूत ज्ञान के अन्य साधनों का विवरण करते हुए कहते हैं --
[जिनके समस्त कल्मष = पाप क्षीण हो गये हैं ऐसे सूक्ष्मवस्तुविवेचन में समर्थ, संशयशून्य, संयतात्मा = एकाग्रचित्त और समस्त प्राणियों के हित में रत ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ 25 ॥]

76 सर्वप्रथम जो यज्ञदानादि द्वारा पापरहित हो गये हैं, तदनन्तर अन्तःकरण की शुद्धि होने से ऋषि = सूक्ष्म वस्तु का विवेचन करने में समर्थ संन्यासी हैं, तदनन्तर श्रवण-मननादि के परिपाक से छिन्नद्वैध हैं अर्थात् निवृत्तसर्वसंशय हैं, तदनन्तर निदिध्यासन के परिपाक से संयतात्मा हैं अर्थात् परमात्मा में ही एकाग्रचित्त हैं -- ऐसे पुरुष द्वैतदर्शी न होने से समस्त प्राणियों के हित में रत अर्थात् हिंसाशून्य रहते हैं, अतः वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं । जैसा कि श्रुति कहती है -- 'जिस अवस्था में ब्रह्मवेत्ता समस्त प्राणियों को आत्मा ही जानते हैं उसमें उस एकत्व देखनेवाले को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' (ई० उ०, 7) । यहाँ जो बहुवचन का प्रयोग है वह 'तद्यो यो देवानाम्'[29] (बृ० उ०, 1.4.10) इत्यादि श्रुति में उक्त नियम को प्रदर्शित करने के लिए हैं ॥ 25 ॥

77 पूर्व में तो यह कहा था कि 'उत्पन्न हुए भी काम और क्रोध के वेग को सहना चाहिए', किन्तु अब यह कहते हैं कि काम और क्रोध की उत्पत्ति पर ही प्रतिबन्ध = रोक करना चाहिए :--
[काम और क्रोध से वियुक्त, संयतचित्त, और विदितात्मा = परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए यतिजनों को अभितः = उभयतः अर्थात् जीवित और मरण -- इन दोनों दशाओं में ब्रह्मनिर्वाण = मोक्ष प्राप्त है ॥ 26 ॥]

---

29. इस श्रुति का अर्थ इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक की टीका में द्रष्टव्य है ।

78 कामक्रोधयोर्वियोगस्तदनुत्पत्तिरेव तद्युक्तानां कामक्रोधवियुक्तानाम् । अत एव यतचेतसां संयतचित्तानां यतीनां यत्नशीलानां संन्यासिनां विदितात्मनां साक्षात्कृतपरमात्मनामभित उभयतो जीवतां मृतानां च तेषां ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते नित्यत्वात्, न तु भविष्यति साध्यत्वाभावात् ॥ 26 ॥

79 पूर्वमीश्वरार्पितसर्वभावस्य कर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिस्ततः सर्वकर्मसंन्यासस्ततः श्रवणादिपरस्य-तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनमुदेतीत्युक्तम् । अधुना स योगी ब्रह्मनिर्वाणमित्यत्र सूचितं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गसाधनं विस्तरेण वक्तुं सूत्रस्थानीयांस्त्रीञ्श्लोकानाह भगवान् । एतेषामेव वृत्तिस्थानीयः कृत्स्नः षष्ठोऽध्यायो भविष्यति । तत्रापि द्वाभ्यां संक्षेपेण योग उच्यते । तृतीयेन तु तत्फलं परमात्मज्ञानमिति विवेकः —

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ 27 ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ 28 ॥

80 स्पर्शाञ्शब्दादीन्बाह्यान्बहिर्भवानपि श्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिभिरन्तःप्रविष्टान्पुन-र्बहिरेव कृत्वा परवैराग्यवशेन तत्तदाकारां वृत्तिमनुत्पाद्येत्यर्थः । यद्येत आन्तरा भवेयुस्तदोपाय-

---

78 काम और क्रोध का वियोग उन काम और क्रोध की उत्पत्ति न होना ही है उससे युक्त अर्थात् काम और क्रोध से वियुक्त -- रहित, अतएव यतचित्त = संयतचित्त और विदितात्मा = परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए यतिजनों = यत्नशील संन्यासियों को अभितः = उभयतः अर्थात् जीवित और मरण -- दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मनिर्वाण = मोक्ष वर्तते = वर्तमान है -- विद्यमान है -- प्राप्त है, क्योंकि मोक्ष नित्य ही है, वह साध्य नहीं है, इसीलिए 'भविष्यति' = 'होगा' न कहकर 'वर्तते' 'प्राप्त है' कहा है ॥ 26 ॥

79 पहले, ईश्वर में समर्पित सर्वभाव के योग कर्मयोग से अन्तःकरणशुद्धि, तदनन्तर सर्वकर्मसंन्यास, तदनन्तर श्रवणादि में तत्पर होने पर मोक्ष का साधनभूत तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है -- यह कहा; अब, 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' (गीता, 5.24) इत्यादि में सूचित सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोग को विस्तार से कहने के लिए भगवान् पहले यहाँ उसके सूत्रस्थानीय तीन श्लोकों को कहते हैं । तदनन्तर सम्पूर्ण षष्ठ अध्याय इन्हीं सूत्ररूप तीनों श्लोकों का वृत्तिरूप होगा अर्थात् भगवान् षष्ठ अध्याय में उक्त सूत्रों की वृत्ति = व्याख्या स्वयं कहेंगे । इन तीन श्लोकों में भी प्रथम दो श्लोकों से संक्षेप में 'योग' कहते हैं और तृतीय से योगफल 'परमात्मा का ज्ञान' कहते हैं -- यह अन्तर समझना चाहिए :--

[जो मुनि शब्दादि बाह्य विषयों को बाहर कर; नेत्रों को भ्रुकुटि के बीच में स्थिर करके; प्राण और अपान को सम करके नासिका के भीतर ही गतिशील कर; इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत कर; तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो मोक्ष में तत्पर रहता है वह सदा मुक्त ही है ॥ 27--28॥]

80 शब्दादि बाह्य स्पर्शों = विषयों को, जो बाहर होने पर भी श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा तद्-तद् आकारवाली अन्तःकरणवृत्ति से अन्तःप्रविष्ट हैं उनको, पुनः बाहर कर अर्थात् परवैराग्य से तद्-तद् आकारवाली वृत्ति को उत्पन्न न करके । यदि ये विषय आन्तर होते तो सहस्रों उपायों से भी बाहर नहीं हो सकते थे, क्योंकि ऐसा होने से इनके स्वभाव के भङ्ग का प्रसङ्ग हो जाता; बाह्य होकर भी रागवश अन्तःप्रविष्ट होने पर तो वैराग्य से इनका बाहर निकलना संभव हो सकता है -- यह बताने के

सहस्रेणापि बहिर्न स्युः स्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । बाह्यानां तु रागवशादन्तःप्रविष्टानां वैराग्येण बहिर्गमनं संभवतीति वदितुं बाह्यानिति विशेषणम् । तदनेन वैराग्यमुक्त्वाऽभ्यासमाह-- चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः, कृत्वेत्यनुषज्यते । अत्यन्तनिमीलने हि निद्राख्या लयात्मिका वृत्तिरेका भवेत् । प्रसारणे तु प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतयश्चतस्रो विक्षेपात्मिका वृत्तयो भवेयुः । पञ्चापि तु वृत्तयो निरोद्धव्या इति अर्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये चक्षुषो निधानम् । तथा प्राणापानौ समौ तुल्यावूर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यन्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा, अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य स तथा । मोक्षपरायणः सर्वविषयविरक्तो मुनिर्मननशीलो भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोध इति वीतरागभयक्रोध इत्यत्र व्याख्यातम् । एतादृशो यः संन्यासी सदा भवति मुक्त एव सः । न तु तस्य मोक्षः कर्तव्योऽस्ति । अथवा य एतादृशः स सदा जीवन्नपि मुक्त एव ॥ 27-28 ॥

लिए 'बाह्य' -- यह विशेषण दिया है । इसप्रकार इससे 'वैराग्य' कहकर अब 'अभ्यास' को कहते हैं -- 'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः' ='नेत्रों को भ्रुकुटियों के बीच में स्थिर करके'; 'कृत्वा' -- इस पद का सम्बन्ध यहाँ भी लगाना चाहिए । यदि नेत्रों को अत्यन्त बन्द कर लिया जायेगा तो 'निद्रा' नाम की लयात्मिका = लयरूपा एक वृत्ति होगी और यदि नेत्र खुले रहेंगे तो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- ये चार विक्षेपात्मिका = विक्षेपरूपा वृत्तियाँ होंगी । इन पाँचों वृत्तियों का निरोध करना है, इसलिए अर्धनिमीलन से -- अधखुले रूप से नेत्रों को भ्रुकुटियों के बीच में स्थिर करने का विधान है । तथा प्राण और अपान को सम करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण और अपान वायु की ऊर्ध्वगति और अधोगति का विच्छेद करके = निरोध के द्वारा समभाव करके अर्थात् केवल नासिका के भीतर ही संचारित करके । इस उपाय से यत = संयत है इन्द्रिय, मन और बुद्धि जिसकी वह तथा यतेन्द्रियमनोबुद्धि मोक्षपरायण = समस्त विषयों से विरक्त मुनि = मननशील हो और विगतेच्छाभयक्रोध हो । 'विगतेच्छाभयक्रोध' -- इसकी व्याख्या 'वीतरागभयक्रोधः'

30. प्रकृत दोनों श्लोकों में सम्यग्दर्शन = ज्ञानयोग के अन्तरङ्ग साधन ध्यानयोग का वर्णन करने के उद्देश्य से ध्यानयोग की सिद्धि के लिए जो अष्टाङ्ग योग आवश्यक है उसका सूत्ररूप से उल्लेख किया गया है । (i) 'विगतेच्छाभयक्रोध' पद से समाधि के साधनभूत यम, नियम और चित्तप्रसादन सूचित हैं । जो इच्छावान् होता है वह इष्टसिद्धि के लिए हिंसा, असत्य, स्तेय, स्त्री और परिग्रह की इच्छा करता है, अतः उसके विपरीत 'विगतेच्छ' पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन यमों का पालन करता है । भय स्वोच्छेद की शङ्का को कहते हैं उससे उद्विग्न पुरुष शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान – इन नियमों का पालन नहीं करता है, अतः 'विगतभय' पुरुष ही शौचादि नियमों का पालन करता है । क्रोध से आक्रान्त पुरुष मैत्री आदि की भावना करने में अशक्त होने से चित्तप्रसादन नहीं कर सकता है और इस चित्तप्रसादन केबिना चित्त निर्मल नहीं होता है, इसलिए 'विगतक्रोध' पुरुष ही शान्तप्रकृति होने से 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' करता है । इसप्रकार योग की साधनावस्था में यम, नियम और चित्तप्रसादन की सिद्धि के लिए 'विगतेच्छाभयक्रोधत्व' ईप्सित है । इसीप्रकार योग की फलावस्था में भी यम, नियम और चित्तप्रसादन ईप्सित हैं । जैसे – संप्रज्ञात समाधि की फलभूता मधुमती योगभूमि में स्थित योगी के प्रति दिव्य काम उपस्थित होते हैं, उसमें भी विगतेच्छत्व इष्ट होता है । इसीप्रकार भय भी योगान्तरायज और वितर्कज रूप से दो प्रकार होता है, योगान्तरायज भय का निवारण ईश्वरप्रणिधान से होता है और वितर्कज भय का निवारण प्रतिपक्षभावना से होता है, अतः यहाँ भी विगतभयत्व ही ईप्सित है । (ii) इसप्रकार यम, नियम, चित्तप्रसादन, और प्रतिपक्षभावना से मृदुकृतचित्त योगी विविक्त देश में 'आसीनः सम्भवात्' -- इस न्याय से स्थिर सुखकर आसन बैठता है, अतः यहाँ 'आसन' की अनिवार्यता भी सूचित है । (iii) 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ' – इससे 'प्राणायाम' सूचित है । (iv) 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' – इससे 'प्रत्याहार' सूचित है । (v) 'भ्रुवोरन्तरे चक्षुः कृत्वा' – इससे 'धारणा' सूचित है । (vi) 'मुनि' शब्द से ध्यान सूचित होता है । (vii) 'यतेन्द्रिय' पद से वितर्काख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'यतमना' से विचाराख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'यतबुद्धि' पद से आनन्दाख्य और अस्मिताख्य सम्प्रज्ञात समाधि की ओर संकेत है; 'मोक्षपरायण' पद से असम्प्रज्ञात समाधि सूचित होती है और 'मुक्त एव' से योग का चरम फल सूचित होता है (द्रष्टव्य – नीलकण्ठी टीका) ।

81 एवं योगयुक्तः किं ज्ञात्वा मुच्यत इति तदाह –

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ 29 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

82 सर्वेषां यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारं भोगकर्तारं पालकमिति वा । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति धातुः । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारं, सर्वेषां प्राणिनां सुहृदं प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वान्तर्यामिणं सर्वभासकं परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरसं परमार्थसत्यं सर्वात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वाऽऽत्मत्वेन साक्षात्कृत्य शान्तिं सर्वसंसारोपरतिं मुक्तिमृच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । त्वां पश्यन्नपि कथं नाहं मुक्त इत्याशङ्कानिराकरणाय विशेषणानि । उक्तरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिकारणमिति भावः ॥ 29 ॥

83 अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां स्वस्वरूपपरिज्ञानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

(गीता, 2.56) इत्यादि में की गई है । ऐसा जो संन्यासी है वह सदा मुक्त ही है, उसके लिए मोक्ष कर्त्तव्य नहीं है । अथवा, ऐसा जो पुरुष है वह जीवित रहते हुए भी सदा मुक्त ही है[30] ॥ 27--28॥

81 इसप्रकार योगयुक्त पुरुष क्या जानकर मुक्त होता है ? -- इसपर कहते हैं :--
[यज्ञ और तपों के भोक्ता, समस्त लोकों के महेश्वर और समस्त प्राणियों के सुहृद् मुझको जानकर वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 29 ॥]

82 समस्त यज्ञों और तपों के कर्तृरूप से और देवतारूप से भोक्ता = भोगों के कर्ता अथवा भोगों के पालक, क्योंकि 'भुज्' धातु पालन और अभ्यवहार = भोजन करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है । समस्त लोकों के महेश्वर = महान् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगभादि के भी नियन्ता; और समस्त प्राणियों के सुहृद् = प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके उपकार करनेवाले सर्वान्तिर्यामी, सर्वभासक, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द, एकरस, परमार्थसत्य, सर्वात्मा, नारायण मुझको जानकर = आत्मभाव से साक्षात्कार कर शान्ति अर्थात् सर्वसंसारनिवृत्तिरूप मुक्ति को ऋच्छति = प्राप्नोति अर्थात् प्राप्त होता है । 'आपको देखते हुए भी मैं मुक्त क्यों नहीं हुआ' ? -- इस आशङ्का के निराकरण के लिए उक्त विशेषण हैं । भाव यह है कि उक्त रूप से ही मेरा ज्ञान मुक्ति का कारण है ॥ 29 ॥

83 भगवान् ने सब की मुक्ति का साधन और अनेक साधनों के अभ्यास से निष्पन्न अपने स्वरूप का ज्ञान कहा है ॥ 1 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस -- परिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपाद शिष्य श्री मधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का संन्यासयोग नामक पञ्चम अध्याय समाप्त होता है ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

1 **योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पञ्चमान्ते यदीरितम् ।**
षष्ठस्त्वारभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥ 1 ॥

2 **तत्र सर्वकर्मत्यागेन योगं विधास्यंस्त्याज्यत्वेन हीनत्वमाशङ्क्य कर्मयोगंस्तौति द्वाभ्याम् –**

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ 1 ॥

3 **कर्मणां फलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः फलाभिसंधिरहितः सन्कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादि कर्म करोति यः स कर्म्यपि सन्संन्यासी च योगी चेति स्तूयते ।**

4 **संन्यासो हि त्यागः । चित्तगतविक्षेपाभावश्च योगः । तौ चास्य विद्येते फलत्यागात् फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच्च । कर्मफलतृष्णात्याग एवात्र गौण्या वृत्त्या संन्यास-योगशब्दाभ्यामभिधीयते सकामानपेक्ष्य प्राशस्त्यकथनाय । अवश्यंभाविनौ हि निष्कामकर्मा-नुष्ठातुर्मुख्यौ संन्यासयोगौ । तस्मादयं यद्यपि न निरग्निरग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी न भवति, न चाक्रियोऽग्निनिरपेक्षस्मार्तक्रियात्यागी च न भवति, तथाऽपि संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः ।**

---

1 पञ्चम अध्याय के अन्त में तीन श्लोकों से भगवान् ने जो सूत्ररूप से योग = ध्यानयोग का उल्लेख किया है उसकी विस्तार से व्याख्या करने के लिए षष्ठ अध्याय प्रारम्भ किया जाता है ॥ 1 ॥

2 उसमें समस्त कर्मों के त्याग द्वारा योग का विधान करने के इच्छुक भगवान् 'त्याज्य होने के कारण कर्मयोग हीनकोटि का है' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके दो श्लोकों से कर्मयोग की स्तुति -- प्रशंसा करते हैं --

[श्रीभगवान् ने कहा -- जो पुरुष कर्मों के फल की अपेक्षा न करता हुआ अपने कार्य-कर्तव्य = करने योग्य कर्म को करता है, वह संन्यासी है और योगी भी है; यद्यपि निरग्नि = अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी नहीं है और अक्रिय = अग्निनिरपेक्षस्मार्तकर्मत्यागी नहीं है ॥ 1 ॥]

3 जो पुरुष कर्मों के फल के आश्रित न होकर = कर्मफल की अपेक्षा न कर अर्थात् फलाभिसन्धि-फल की कामना से रहित होकर कार्य = शास्त्र द्वारा कर्तव्यरूप से विहित अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों को करता है वह कर्मी भी संन्यासी है और योगी है -- इस प्रकार उसकी स्तुति -- प्रशंसा की जाती है ।

4 'संन्यास' त्याग को कहते हैं और चित्तगत विक्षेप का अभाव 'योग' कहा जाता है । फल का त्याग करने के कारण और फल के प्रति तृष्णारूप चित्त के विक्षेप का अभाव रहने के कारण निष्काम-कर्मयोगी में संन्यास और योग -- ये दोनों विद्यमान रहते हैं । सकाम कर्मियों की अपेक्षा निष्काम-कर्मयोगी की प्रशस्तता -- उत्कृष्टता कहने के लिए यहाँ कर्मफल की तृष्णा के त्याग को ही गौणी वृत्ति से 'संन्यास' और 'योग' शब्दों से कहा गया है, क्योंकि निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले पुरुष को मुख्य संन्यास और योग का होना अवश्यंभावी है । इसलिए यद्यपि यह निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य श्रौत कर्मों का त्यागी नहीं होता है और अक्रिय अर्थात् अग्निनिरपेक्ष स्मार्त कर्मों का त्यागी नहीं होता है, तथापि यह संन्यासी है और योगी भी है -- ऐसा मानना चाहिए ।

5 **अथवा न निरग्निर्न चाक्रियः संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः । किंतु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी संन्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते । 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' इत्यत्रेव प्रशंसालक्षणया नञन्वयोपपत्तिः । अत्र चाक्रिय इत्यनेनैव सर्वकर्मसंन्यासिनि लब्धे निरग्निरिति व्यर्थं स्यादित्यग्निशब्देन सर्वाणि कर्माण्युपलक्ष्य निरग्निरिति संन्यासी क्रियाशब्देन चित्तवृत्तीरुपलक्ष्याक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तिर्योगी च कथ्यते । तेन न निरग्निः संन्यासी मन्तव्यो न चाक्रियो योगी मन्तव्य इति यथासंख्यमुभयव्यतिरेको दर्शनीयः । एवं सति नञ्द्वयमप्युपपन्नमिति द्रष्टव्यम् ॥ 1 ॥**

6 **असंन्यासेऽपि संन्यासशब्दप्रयोगे निमित्तभूतं गुणयोगं दर्शयितुमाह–**

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ 2 ॥

---

5 अथवा, 'केवल निरग्नि और अक्रिय पुरुष ही संन्यासी और योगी होता है -- ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु साग्नि और सक्रिय भी निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला ही संन्यासी और योगी है --ऐसा मानना चाहिए' -- इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी की स्तुति की जाती है । 'गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं अर्थात् पशु नहीं है, पशु तो गौ और अश्व ही हैं' -- इस उक्ति में जिस प्रकार प्रशंसा के अर्थ में 'नञ्' का अन्वय है उसी प्रकार यहाँ भी 'नञ्' का अन्वय उपपन्न है ।[1] यहाँ 'अक्रिय' -- इस पद से ही सर्वकर्मसंन्यास = अग्निसाध्यश्रौतकर्म और अग्निनिरपेक्षस्मार्तकर्म के त्याग का लाभ हो सकता है, तो फिर अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्याग के बोधन के लिए पृथक् से 'निरग्नि' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता है, वह तो व्यर्थ ही होगा' -- इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा गया है कि 'अग्नि' शब्द से समस्त कर्मों को उपलक्ष्य कर 'निरग्नि' शब्द से 'संन्यासी' और 'क्रिया' शब्द से चित्तवृत्तियों को उपलक्ष्य कर 'अक्रिय' शब्द से निरुद्धचित्तवृत्ति 'योगी' कहा जाता है । अतः 'निरग्नि' मात्र को संन्यासी नहीं मानना चाहिए और 'अक्रिय' मात्र को योगी नहीं मानना चाहिए, अपितु यथासंख्य दोनों का व्यतिरेक ही दर्शनीय है -- ऐसा होने पर दोनों नकार उपपन्न = सार्थक होते हैं -- यह समझना चाहिए ॥ 1 ॥

6 असंन्यास में भी 'संन्यास' शब्द का प्रयोग होने में निमित्तभूत = हेतुभूत गुणयोग दिखाने के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे पाण्डव = हे अर्जुन ! जिसको श्रुतियाँ 'संन्यास' कहतीं हैं उसको ही तुम 'योग' जानो, क्योंकि जो कर्मफल के संकल्प का संन्यास = त्याग नहीं करता है ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं होता है ॥ 2 ॥]

---

1. 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' = 'गौ और अश्व से भिन्न अपशु हैं अर्थात् पशु नहीं हैं, पशु तो गौ और अश्व ही हैं' -- इस उक्ति में 'पशु' पद में 'नञ्' का प्रयोग अर्थात् 'अपशु' पद का प्रयोग पशुभेद कहने के लिए हुआ है, प्रशस्त पशु से भिन्नता कहने के लिए हुआ है । गौ और अश्व पशु = प्रशस्त पशु हैं, उनसे भिन्न महिषादि अपशु है, क्योंकि वे प्रशस्त नहीं हैं, पशु तो हैं । प्रशस्त पशु तो गौ और अश्व ही हैं । इसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में नकार से यह कहा गया है कि निरग्नि संन्यासी और अक्रिय योगी है, फिर भी वह प्रशस्त नहीं है, प्रशस्त संन्यासी और योगी तो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला कर्मी गृहस्थ ही है । इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी की स्तुति की जाती है ।

7 **यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागं संन्यासमिति प्राहुः श्रुतयः 'न्यास एवात्यरेचयत्' 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्याद्याः, योगं फलतृष्णाकर्तृत्वाभिमानयोः परित्यागेन विहितकर्मानुष्ठानं तं संन्यासं विद्धि हे पाण्डव। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तमित्याह तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति न्यायात्परशब्दः परत्र प्रयुज्यमानः सादृश्यं बोधयति गौण्या वृत्त्या तद्भावारोपेण वा । प्रकृते तु किं सादृश्यमिति तदाह—नहीति । हि यस्मादसंन्यस्तसंकल्पोऽत्यक्तफलसंकल्पः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवति। अपि तु सर्वो योगी त्यक्तफलसंकल्प एव भवतीति फलत्यागसाम्यात्तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्म्येव संन्यासी च योगी च भवतीत्यर्थः । तथा हि-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः प्रमाण-विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति वृत्तयः पञ्चविधाः । तत्र प्रत्यक्षानुमानशास्त्रोपमानार्था-पत्त्यभावाख्यानि प्रमाणानि षडिति वैदिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि त्रीणीति योगाः। अन्तर्भावबहिर्भावाभ्यां संकोचविकासौ द्रष्टव्यौ। अत एव तार्किकादीनां मतभेदाः । विपर्ययो मिथ्याज्ञानं तस्य पञ्च भेदा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । त एव च क्लेशाः । शब्दज्ञा-नानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारः शशविषाणमसत्पुरुषस्य चैत-न्यमित्यादिः। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा, चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं तमो-गुणस्तदालम्बना वृत्तिरेव निद्रा न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमित्यर्थः। अनुभूतविषयासंप्रमोषः प्रत्ययः**

7 हे पाण्डव = हे अर्जुन ! 'संन्यास ही उत्कृष्ट है'; 'ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से निवृत्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं' -- इत्यादि श्रुतियाँ जिस सम्पूर्ण कर्म और उनके फल के परित्याग को 'संन्यास' कहती हैं उस संन्यास को ही तुम फल की तृष्णा और कर्तृत्वाभिमान के परित्यागपूर्वक विहित कर्मों का अनुष्ठानरूप 'योग' समझो । 'यदि अब्रह्मदत्त को = जिसका नाम ब्रह्मदत्त नहीं है उसको ब्रह्मदत्त कहते हैं तो हम उसको 'यह ब्रह्मदत्त के सदृश -- समान है' --ऐसा मानते हैं[2] -- इस न्याय से जब कोई अन्य शब्द परत्र-अन्यत्र = शक्यार्थातिरिक्त लक्ष्य में प्रयुक्त किया जाता है तो वह गौणी वृत्ति से अथवा तद्भावारोप से तत्सादृश्य का बोधक होता है । प्रकृत में क्या सादृश्य है ? यह 'न हि' इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं -- क्योंकि असंन्यस्तसंकल्प = अत्यक्तफलसंकल्प अर्थात् कर्मफल के संकल्प का संन्यास = त्याग नहीं करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता है, अपितु सभी योगी त्यक्तफलसंकल्प = फल के संकल्प का त्याग करनेवाले ही होते हैं; अतः फलत्यागरूप सादृश्य के कारण और चित्तवृत्तिनिरोधरूप सादृश्य के कारण गौणीवृत्ति से कर्मी ही संन्यासी और योगी होता है -- यह तात्पर्य है । जैसे कि -- 'चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं' (योगसूत्र, 1.2); वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं -- 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (योगसूत्र, 1.6) । उनमें वैदिकमतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव नाम के छः 'प्रमाण' हैं[3]; योगमतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम -- ये तीन 'प्रमाण' हैं ।[4] इन प्रमाणों के परस्पर अन्तर्भाव और बहिर्भाव से ही उनकी संख्या में संकोच =

2. द्रष्टव्य -- महाभाष्य ।
3. 'तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्' -- वेदान्तपरिभाषा ।
4. 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' -- योगसूत्र, 1.7 ।

स्मृतिः, पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः । सर्ववृत्तिजन्यत्वादन्ते कथनम् । लज्जादिवृत्तीनामपि पञ्चस्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । एतादृशां सर्वासां चित्तवृत्तीनां निरोधो योग इति च समाधिरिति न कथ्यते । फलसंकल्पस्तु रागाख्यस्तृतीयो विपर्ययभेदस्तन्निरोधमात्रमपि गौण्या वृत्त्या योग इति संन्यास इति चोच्यत इति न विरोधः ॥ 2 ॥

8 **तत्किं प्रशस्तत्वात्कर्मयोग एव यावज्जीवमनुष्ठेय इति नेत्याह—**

न्यूनता और विकास = अधिकता समझनी चाहिए ।[5] इसी से तार्किक आदि[6] में मदभेद है । 'विपर्यय' मिथ्याज्ञान को कहते हैं, उसके पाँच भेद है -- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । ये ही 'क्लेश' कहलाते हैं । जो शब्दज्ञान के अनन्तर होता है, किन्तु वस्तुशून्य होता है 'विकल्प' कहलाता है (योगसूत्र, 1.9) । यह प्रमा और भ्रम से विलक्षण[7] तथा असत् पदार्थों का व्यवहार है, जैसे कहा जाता है -- 'खरगोश के सींग असत् हैं', 'पुरुष का चैतन्यरूप है' इत्यादि । अभाव के प्रत्यय का आलम्बन करनेवाली वृत्ति 'निद्रा' है (योगसूत्र, 1.10), अर्थात् चारों वृत्तियों के अभाव का प्रत्यय = कारण तमोगुण है उसका आलम्बन करनेवाली वृत्ति ही 'निद्रा' है, ज्ञानादि का अभावमात्र नहीं । अनभूत विषय का असम्प्रमोष प्रत्यय = ज्ञान 'स्मृति' है (योगसूत्र, 1.11), अर्थात् पूर्व अनुभव के संस्कार से जन्य ज्ञान 'स्मृति' है । यह पूर्वोक्त सब वृत्तियों से जन्य होती है, अत: इसको अन्त में कहा गया है । लज्जादि वृत्तियों का भी इन पाँचों वृत्तियों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए । ऐसी सभी चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' और 'समाधि' कहा जाता है । फल का संकल्प 'राग' संज्ञक तृतीय विपर्ययभेद है, उसका निरोधमात्र भी गौणी वृत्ति से 'योग' और 'संन्यास' कहा जाता है, अत: इसमें कोई विरोध नहीं है[8] ॥ 2 ॥

8 'तो क्या प्रशस्त होने के कारण कर्मयोग का ही यावज्जीवन अनुष्ठान करना चाहिए' ? -- इस पर कहते हैं, नहीं, --

5. प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मंत दार्शनिकों में पाये जाते हैं । विभिन्न मतों में एक से लेकर आठ तक प्रमाण माने गए हैं । इन प्रमाणों की संख्या में न्यूनता और अधिकता का कारण उनका परस्पर अन्तर्भाव और बहिर्भाव ही है । जैसे -- वैदिकवेदान्तमत में छ: प्रमाण माने गये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । सांख्य और योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम – ये तीन प्रमाण माने गये हैं । सांख्य और योग में उपमान को पृथक् प्रमाण न मानकर उसका भिन्न-भिन्न लक्षणों के अनुसार क्रमश: प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम में अन्तर्भाव किया गया है । उन्होंने अनुपलब्धि – अभाव का प्रत्यक्ष में तथा अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है । इसप्रकार सांख्य-योग में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम -- ये तीन ही प्रमाण स्वीकृत हैं । इसी प्रकार पौराणिक सम्प्रदाय में वेदान्त के षट् प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य – दो प्रमाणों को पृथक् रूप से स्वीकार किया गया है, अत: पौराणिक सम्प्रदाय में बहिर्भाव से आठ प्रमाण स्वीकार किए गए हैं । सांख्य-योग ने सम्भव का अनुमान में और ऐतिह्य का आगम-शब्द में अन्तर्भाव किया है ।

6. तार्किक – नैयायिक सांख्य-योग के तीन प्रमाणों से बहि: 'उपमान' को पृथक् प्रमाण मानते हैं । वे अर्थापत्ति का 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव दिखाते हैं । वैशेषिक और बौद्ध केवल दो प्रमाण स्वीकार करते हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान । वैशेषिक उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, सम्भव, और अभाव -- इन प्रमाणों का साक्षात् या परम्परया अनुमान में अन्तर्भाव दिखाते हैं । इसप्रकार प्रमाणों के अन्तर्भाव और बहिर्भाव से ही उनकी संख्या में न्यूनता और अधिकता है ।

7. विकल्प वस्तुशून्य अर्थात् निर्विषयक होने से प्रमा नहीं है और भ्रम भी नहीं है, क्योंकि बोध होने पर भी इसका व्यवहार होता रहता है, अत: विकल्प प्रमा और भ्रम से विलक्षण है ।

8. तात्पर्य यह है कि यदि कोई यह कहे कि 'राग' संज्ञक वृत्ति पृथक् स्वीकार करने पर तो 'पाँच ही चित्तवृत्तियाँ हैं' -- इस कथन से विरोध होगा, तो इसका उत्तर है कि 'राग' नामक वृत्ति का 'विपर्यय' में अन्तर्भाव हो जाता है, अत: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति– ये पाँच ही चित्तवृत्तियाँ हैं । फलत: ऐसा स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है कि 'राग' मात्र का निरोधमात्र भी गौणीवृत्ति से 'योग' और 'संन्यास' कहा जाता है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ 3 ॥

9 **योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्न त्वारूढस्य मुनेर्भविष्यतः कर्मफलतृष्णात्यागिनः कर्म शास्त्रविहितमग्निहोत्रादि नित्यं भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कारणं योगारोहणे साधनमनुष्ठेयमुच्यते वेदमुखेन मया । योगारूढस्य योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यं प्राप्तवतस्तु तस्यैव पूर्वं कर्मिणोऽपि सतः शमः सर्वकर्मसंन्यास एव कारणमनुष्ठेयतया ज्ञानपरिपाकसाधनमुच्यते ॥ 3 ॥**

10 **कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते--**

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ 4 ॥

11 **यदा यस्मिंश्चित्तसमाधानकाल इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु च नित्यनैमित्तिककाम्यलौकिकप्रतिषिद्धेषु नानुषज्जते तेषां मिथ्यात्वदर्शनेनाऽऽत्मनोऽकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वयस्वरूपदर्शनेन च प्रयोजनाभावबुद्ध्याऽहमेतेषां कर्ता ममैते भोग्या इत्यभिनिवेशरूपमनुषङ्गं न करोति हि यस्मात्तस्मात्सर्वसंकल्पसंन्यासी सर्वेषां संकल्पानामिदं मया कर्तव्यमेतत्फलं भोक्तव्यमित्येवंरूपाणां**

[योग = अन्तःकरणशुद्धिरूप योग में आरुरुक्षु = आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि = मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही कारण -- साधन कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिए शम = सर्वकर्मसंन्यास ही ज्ञाननिष्ठा के परिपाक का कारण -- साधन कहा जाता है ॥ 3 ॥]

9 योग = अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य में आरुरुक्षु = आरूढ़ होने की इच्छावाले, आरूढ़ नहीं, मुनि = भविष्य में कर्मफल की तृष्णा का त्याग करनेवाले मननशील पुरुष के लिए कर्म = भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्यकर्म कारण = योगारोहण में साधन -- अनुष्ठेय कहा जाता है -- ऐसा मैंने वेदमुख से कहा है । और जो योगारूढ़ है = जो योग -- अन्तःकरणशुद्धिरूप वैराग्य को प्राप्त कर चुका है उसी के लिए -- उस योगारूढ़ पुरुष के लिए ही, भले ही वह पूर्व में कर्मी = कर्म का अनुष्ठाता भी रहा हो, शम = सर्वकर्मसंन्यास ही कारण = अनुष्ठेयरूप से ज्ञाननिष्ठा के परिपाक का साधन कहा जाता है ॥ 3 ॥

10 कब योगारूढ़ होता है, -- यह कहते हैं --
[जब मुनि इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता है, तब वह समस्त संकल्पों का त्याग करनेवाला 'योगारूढ़' कहा जाता है ॥ 4 ॥]

11 जब = चित्त को समाहित करने के समय मुनि शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में और नित्य, नैमित्तिक, काम्य, लौकिक तथा प्रतिषिद्ध कर्मों में आसक्त नहीं होता है अर्थात् उनका मिथ्यात्व तथा अपना अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व एवं परमानन्दाद्वयस्वरूपत्व देखने के कारण प्रयोजनाभावबुद्धि से 'मैं इनका कर्ता हूँ, ये मेरे भोग्य हैं'-- ऐसा अभिनिवेशरूप अनुषङ्ग नहीं करता है; क्योंकि वह ऐसा हो जाता है, इसलिए वह जब सर्वसंकल्पसंन्यासी हो जाता है अर्थात् समस्त संकल्पों को ='यह मेरा कर्तव्य

मनोवृत्तिविशेषाणां तद्विषयाणां च कामानां तत्साधनानां च कर्मणां त्यागशीलः, तदा शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य तद्धेतोश्च संकल्पस्य योगारोहणप्रतिबन्धकस्याभावाद्योगं समाधिमारूढो योगारूढ इत्युच्यते ॥ 4 ॥

12 **यो यदैवं योगारूढो भवति तदा तेनाऽऽत्मनैवाऽऽत्मोद्धृतो भवति संसारानर्थव्रातादतः –**

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ 5 ॥

13 **आत्मना विवेकयुक्तेन मनसाऽऽत्मानं स्वं जीवं संसारसमुद्रे निमग्नं तत उद्धरेत् – उत्, ऊर्ध्वं हरेत्, विषयासङ्गपरित्यागेन योगारूढतामापादयेदित्यर्थः । न तु विषयासङ्गेनाऽऽत्मानमवसादये-**

है, यह फल मेरा भोक्तव्य है' -- ऐसी मनोवृत्तिविशेष, उसके विषयभूत काम और उन कामों के साधनभूत कर्मों को त्यागने के स्वभाववाला हो जाता है; तब वह शब्दादि विषयों में और कर्मों में अनुषङ्ग = आसक्ति तथा उसका कारण संकल्प[9] -- वस्तुत: ये ही दोनों योगारोहण के प्रतिबन्धक हैं, इनका अभाव हो जाने के कारण योग = समाधि में आरूढ़ अर्थात् 'योगारूढ़' कहा जाता है ॥ 4 ॥

12 जो जब इस प्रकार योगारूढ़ होता है, तब वह अपना इस संसाररूप अनर्थसमूह से अपने से ही -- स्वयं ही उद्धार कर लेता है; इसलिए --

[अपने से ही अर्थात् विवेकयुक्त मन से संसारसमुद्र में निमग्न अपने आत्मा का उद्धार करे, उसमें अपने आत्मा को डुबाये नहीं, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है ॥ 5 ॥]

13 आत्मना = अपने से अर्थात् विवेकयुक्त मन से आत्मानम् = अपने आत्मा का अर्थात् संसारसमुद्र में निमग्न स्वस्वरूप जीव का उस संसारसमुद्र से उद्धार करे अर्थात् उसको उससे ऊपर की ओर ले जाय अर्थात् विषयासक्ति का परित्याग कर उसके लिए योगारूढ़ता का सम्पादन करे । विषयासक्ति से अपने आत्मा को संसारसमुद्र में डुबाये नहीं, क्योंकि आत्मा = विवेकयुक्त मन ही आत्मा = जीवात्मा का बन्धु = हितकारी अर्थात् संसारबन्धन से मुक्त कराने का हेतु है, कोई दूसरा नहीं, कारण कि लौकिक बन्धु भी स्नेहानुबन्धन के कारण बन्धन के ही हेतु होते हैं ।[10] तथा आत्मा ही, कोई दूसरा नहीं, कोश-

9. स्मृति में कहा है -- 'संकल्पमूला: कामा: वै यज्ञा: संकल्पसम्भवा:' = 'कामों का मूल – कारण संकल्प है, इसलिए यज्ञ निश्चय ही संकल्प से उत्पन्न होते हैं'; 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् त्वं हि जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि' = 'हे काम ! मैं तुम्हारे मूल – कारण को जानता हूँ, तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो । अत: मैं संकल्प नहीं करूँगा, क्योंकि संकल्प न करने से तुम मेरे हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकोगे' । श्रुति में भी कहा है – 'स यथाकामो भवति, तत् क्रतुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' (बृह० उ०, 4.4.5) = 'संकल्प से काम उत्पन्न होता है, काम उत्पन्न होने पर काम पूर्ण करने की अनुकूल निश्चय करनेवाली बुद्धि = क्रतु होती है, निश्चयात्मिका बुद्धि होने पर कर्म प्रारम्भ होता है तथा जैसा कर्म होता है वैसा ही फलभोग होता है' ।

10. जैसे कोई रोगग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही पथ्य या औषधि ग्रहण करने से रोगमुक्त होता है, किसी दूसरे को पथ्य या औषधि ग्रहण कराकर रोगमुक्त नहीं हो सकता है; वैसे ही आत्मा-जीवात्मा आत्मा -- विवेकयुक्त मन से ही श्रवण-मनन-निदिध्यासनपूर्वक समाधिनिष्ठा के द्वारा संसारबन्धन से मुक्त होता है, पुत्र-कलत्रादि बाह्य बन्धुओं के द्वारा किये गये साधनों से मुक्त नहीं हो सकता है, अपितु लौकिक बन्धुओं के स्नेहानुबन्धन के कारण बन्धन में ही पड़ता है । अत: आत्मा ही आत्मा का बन्धु है ।

त्संसारसमुद्रे मज्जयेत् । हि यस्मादात्मैवाऽऽत्मनो बन्धुर्हितकारी संसारबन्धनान्मोचनहेतुर्नान्यः कश्चिल्लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् । आत्मैव नान्यः कश्चित्, रिपुः शत्रुरहितकारिविषयबन्धनागारप्रवेशात्कोशकार इवाऽऽत्मनः स्वस्य । बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वाद्युक्तमवधारणमात्मैव रिपुरात्मन इति ॥ 5 ॥

14 इदानीं किंलक्षण आत्माऽऽत्मनो बन्धुः किंलक्षणो वाऽऽत्मनो रिपुरित्युच्यते–

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥ 6 ॥

15 आत्मा कार्यकरणसंघातो येन जितः स्ववशीकृत आत्मनैव विवेकयुक्तेन मनसैव न तु शस्त्रादिना, तस्याऽऽत्मा स्वरूपमात्मनो बन्धुरुच्छृङ्खलस्वप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकरणात् । अनात्मनस्तु अजितात्मन इत्येतत् । शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्, बाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खलप्रवृत्त्या स्वस्य स्वेनानिष्टाचरणात् ॥ 6 ॥

16 जितात्मनः स्वबन्धुत्वं विवृणोति–

कार -- कीटविशेष[11] के समान विषयरूप बन्धनागार में प्रवेश करने के कारण अपने आत्मा-जीवात्मा का शत्रु = अहितकारी है । बाह्य शत्रु भी अपने से ही अर्थात् मन से ही बनते हैं, अत: यह अवधारणा उचित ही है कि 'आत्मा -- मन ही आत्मा-जीवात्मा का शत्रु है' ॥ 5 ॥

14 अब, किंलक्षण-किंस्वरूप-कीदृश आत्मा-मन आत्मा का बन्धु है और कीदृश आत्मा-मन आत्मा का शत्रु है, -- यह कहते हैं --

[जिसने आत्मा -- विवेकयुक्त मन से आत्मा -- कार्य-कारणसंघात को जीत लिया है उसका आत्मा आत्मा का बन्धु है और जो अनात्मा -- अजितात्मा है उसकी शत्रुता में आत्मा ही शत्रु के समान वर्तता है ॥ 6 ॥]

15 जिसने आत्मा = कार्य-कारण के संघात को आत्मा = विवेकयुक्त मन से ही जीत लिया है -- अपने वश में कर लिया है, किसी शस्त्रादि से नहीं, उसका आत्मा अर्थात् स्वरूप अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के अभाव से अपना हित करने के कारण आत्मा-जीवात्मा का बन्धु है । किन्तु जो अनात्मा अर्थात् अजितात्मा है उसके शत्रुत्व -- शत्रुभाव में आत्मा-मन ही बाह्य शत्रु के समान उच्छृङ्खल प्रवृत्ति से स्वयं ही अपना अनिष्ट करने के कारण शत्रु के समान वर्तता है[12] ॥ 6 ॥

16 जितात्मा स्वबन्धु है -- इसका स्पष्टीकरण करते हैं --

---

11. जैसे कोशकार–कीटविशेष अर्थात् रेशम का कीड़ा अपने जाल में आप ही फँसकर अपनी मृत्यु का कारण बन जाता है और इसलिए वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है; वैसे ही आत्मा-जीवात्मा आत्मा-मन से ही विषयरूप बन्धनागार में प्रवेश करने के कारण आप ही अपना शत्रु बनता है, कोई दूसरा बाह्य शत्रु नहीं होता, क्योंकि वह भी अपना ही बनाया हुआ होता है ।

12. प्रकृत में जीवात्मा की तीन अवस्थाओं की ओर संकेत किया गया है – (क) प्रत्यगात्मा – जो सर्वोपाधिशून्य यथार्थ आत्मा अर्थात् केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप निर्गुण आत्मा है, (ख) जितात्मा – जो आत्मा देहेन्द्रिय तथा मन के साथ संयुक्त रहकर भी सम्पूर्ण कार्य-कारणसंघात को वश में करके समाधि-योग के द्वारा निज स्वरूप में स्थित रहता है उसको जीवन्मुक्त आत्मा भी कहा जाता है, (ग) अनात्मा – जो आत्मा अज्ञान तथा मोह से अभिभूत होकर मन, इन्द्रिय तथा शरीर में आत्मबुद्धि करता है, इसीलिए मन तथा इन्द्रियों की प्रवृत्तियों के द्वारा चालित होकर उच्छृङ्खल रूप से कार्य करता है । इसी से जितात्मा अपना बन्धु है और अनात्मा अपना शत्रु है । प्रत्यगात्मा निर्विकार है – न बन्धु है, न शत्रु है । यह प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूप है ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ 7 ॥

17 **शीतोष्णसुखदुःखेषु चित्तविक्षेपकरेषु सत्स्वपि तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोश्चित्तविक्षेपहेत्वोः सतोरपि तेषु समत्वेनेति वा । जितात्मनः प्रागुक्तस्य जितेन्द्रियस्य प्रशान्तस्य सर्वत्र समबुद्ध्या रागद्वेषशून्यस्य परमात्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वभाव आत्मा समाहितः समाधिविषयो योगारूढो भवति । परमिति वा छेदः । जितात्मनः प्रशान्तस्यैव परं केवलमात्मा समाहितो भवति नान्यस्य । तस्माज्जितात्मा प्रशान्तश्च भवेदित्यर्थः ॥ 7 ॥**

18 **किं च –**

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ 8 ॥

19 **ज्ञानं शास्त्रोक्तानां पदार्थानामौपदेशिकं ज्ञानं विज्ञानं तदप्रामाण्यशङ्कानिराकरणफलेन विचारेण तथैव तेषां स्वानुभवेनापरोक्षीकरणं ताभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स तथा । कूटस्थो विषयसंनिधावपि विकारशून्यः । अत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तितानीन्द्रियाणि येन सः । अत एव हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि मृत्पिण्डपाषाणकाञ्चनानि यस्य सः । योगी परमहंसपरिव्राजकः परवैराग्ययुक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ 8 ॥**

[शीत, उष्ण, सुख और दुःख में तथा मान और अपमान में जितात्मा और प्रशान्त रहनेवाले आत्मा का ही परमात्मा समाधि का विषय होता है ॥ 7 ॥]

17 चित्त में विक्षेप करनेवाले शीत, उष्ण, सुख और दुःखों के रहते हुए भी तथा चित्त के विक्षेप के हेतुभूत मान = पूजा और अपमान = परिभव -- तिस्कार के रहने पर भी उनमें समत्व = समभाव रखने के कारण जो जितात्मा = पूर्वोक्त जितेन्द्रिय और प्रशान्त = सर्वत्र समबुद्धि रखने के कारण राग-द्वेष से शून्य है उसको परमात्मा = स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप आत्मा समाहित = समाधि का विषय अर्थात् योगारूढ़ होता है । अथवा, 'परम्' इस पद को विच्छेद करके समझना चाहिए । तब अर्थ होगा -- जितात्मा और प्रशान्त पुरुष को ही 'परम्' = केवल आत्मा समाहित होता है, अन्य को नहीं । अतः तात्पर्य यह है कि जितात्मा और प्रशान्त होना चाहिए ॥ 7 ॥

18 इसके अतिरिक्त, --

[जिसका आत्मा = चित्त ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ और विजितेन्द्रिय है, जिसके लिए लोष्ठ = ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान हैं वह योगी 'युक्त' कहा जाता है ॥ 8 ॥]

19 ज्ञान = शास्त्रोक्त पदार्थों का औपदेशिक -- उपदेशजनित ज्ञान और विज्ञान = उपदिष्ट ज्ञान के अप्रामाण्य की शंका के निराकरणरूप फलवाले विचार से अपने अनुभव के द्वारा उन पदार्थों का उसी प्रकार -- जैसा सुना है वैसे ही साक्षात्कार करना -- उपदेश-परोक्षज्ञान और प्रत्यक्ष-अपरोक्षज्ञान -- इन दोनों ज्ञान-विज्ञानों से जिसका आत्मा = चित्त तृप्त है अर्थात् जिसकी उनमें अलंप्रत्यय = पूर्णज्ञान-पूर्णबुद्धि संजात = उत्पन्न हो गई है तथा जो कूटस्थ = शब्दादि विषयों की सन्निधि में भी विकारशून्य है, अतएव जिसने अपनी इन्द्रियों को विजित = रागद्वेषपूर्वक विषयग्रहण से निवृत्त कर लिया है, अतएव

20 **सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धिस्तु सर्वयोगिश्रेष्ठ इत्याह –**

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ 9 ॥

21 **सुहृत्प्रत्युपकारमनपेक्ष्य पूर्वस्नेहं संबन्धं च विनैवोपकर्ता । मित्रं स्नेहेनोपकारकः । अरिः स्वकृतापकारमनपेक्ष्य स्वभावक्रौर्येणापकर्ता । उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः । मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी । द्वेष्यः स्वकृतापकारमपेक्ष्यापकर्ता । बन्धुः संबन्धेनोपकर्ता । एतेषु साधुषु शास्त्रविहितकारिषु पापेषु शास्त्रप्रतिषिद्धकारिष्वपि । चकारादन्येषु च सर्वेषु समबुद्धिः कः कीदृक्कर्मेत्यव्यापृतबुद्धिः सर्वत्र रागद्वेषशून्यो विशिष्यते सर्वत उत्कृष्टो भवति । विमुच्यत इति वा पाठः ॥ 9 ॥**

22 **एवं योगारूढस्य लक्षणं फलं चोक्त्वा तस्य साङ्गं योगं विधत्ते योगीत्यादिभिः स योगी परमो मत इत्यन्तैस्त्रयोविंशत्या श्लोकैः । तत्रैवमुत्तमफलप्राप्तये –**

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ 10 ॥

हेयोपादेयबुद्धि से शून्य-रहित होने के कारण जिसके लिए मृत्पिण्ड = मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान हैं वह योगी = परमहंस परिव्राजक परवैराग्ययुक्त अर्थात् योगारूढ़ कहा जाता है ॥ 8 ॥

20 सुहृद्, मित्रादि में समबुद्धि = समान बुद्धि रखनेवाला तो सभी योगियों में श्रेष्ठ है -- यह कहते हैं, -- [सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु, और पापियों में समान बुद्धि रखनेवाला योगी तो विशिष्ट है ॥ 9 ॥]

21 सुहृद् = प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए पूर्वस्नेह और सम्बन्ध के बिना ही उपकार करनेवाला; मित्र = स्नेहवश उपकार करनेवाला; अरि = अपने प्रति किये हुए अपकार की अपेक्षा न कर स्वाभाविक क्रूरता से अपकार करनेवाला; उदासीन = परस्पर विवाद करनेवाले दोनों ही की उपेक्षा करनेवाला; मध्यस्थ = परस्पर विवाद करनेवाले दोनों ही का हितैषी; द्वेष्य = अपने प्रति किये हुए अपकार के कारण अपकार करनेवाला; बन्धु = सम्बन्धवश उपकार करनेवाला -- इनमें तथा शास्त्रविहित कर्म करनेवाले साधुओं में और शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करनेवाले पापियों में एवं चकार से अन्य सब में भी जो समबुद्धि है अर्थात् 'कौन कैसा कर्म करता है' -- 'कौन क्या करता है' -- इस प्रकार जिसकी बुद्धि का व्यापार नहीं है, इस प्रकार जो सर्वत्र -- सबमें राग-द्वेषशून्य है वह विशेष है अर्थात् सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । अथवा 'विशिष्यते' के सथान पर 'विमुच्यते' पाठ भी हो सकता है ॥ 9 ॥

22 इस प्रकार योगारूढ़ का लक्षण और उसको प्राप्त होनेवाला फल कहकर अब 'योगी' इत्यादि से लेकर 'स योगी परमो मतः' यहाँ तक के तेईस श्लोकों से उसके लिए अङ्गों सहित योग का विधान करते हैं । उनमें ही उत्तम फल की प्राप्ति के लिए,
[योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ आशा और परिग्रह के परित्यागपूर्वक अपने चित्त और देह को संयत करके सतत -- निरन्तर अपने अन्तःकरण को समाधि में लगावे ॥ 10 ॥]

23 योगी योगारूढ आत्मानं चित्तं सततं निरन्तरं युञ्जीत क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिपरित्यागेनैकाग्र-निरोधभूमिभ्यां समाहितं कुर्यात् । रहसि गिरिगुहादौ योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिवर्जिते देशे स्थित एकाकी त्यक्तसर्वगृहपरिजनः संन्यासी, चित्तमन्तःकरणमात्मा देहश्च संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापारशून्यौ यस्य स यतचित्तात्मा । यतो निराशीर्वैराग्यदार्ढ्येन विगततृष्णः । अत एव चापरिग्रहः शास्त्राभ्यनुंज्ञातेनापि योगप्रतिबन्धकेन परिग्रहेण शून्यं ॥ 10 ॥

24 तत्राऽऽसननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्याम् –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ 11 ॥

25 शुचौ स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धे जनसमुदायरहिते निर्भये गङ्गातटगुहादौ देशे समे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं निश्चलं नात्युच्छ्रितं नात्युच्चं नाप्यतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं मृदुवस्त्रम्, अजिनं मृदु व्याघ्रादिचर्म ते कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिंस्तत्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं, कुशमयवृष्युपरि मृदुचर्म तदुपरि मृदुवस्त्ररूपमित्यर्थः । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः -- 'स्थिरसुखमासनम्' इति । आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थं तस्यापि परेच्छानियमाभावेन योगविक्षेपकरत्वात् ॥ 11 ॥

---

23 योगी = योगारूढ रहसि = एकान्त में अर्थात् योग के प्रतिबन्धक दुर्जनादि से शून्य गिरि-कन्दरा आदि एकान्त स्थान में स्थित हुआ एकाकी = गृह-परिजन आदि सबका त्याग कर संन्यासी होकर ही, चित्त = अन्तःकरण और आत्मा = देह -- ये दोनों संयत = योग के प्रतिबन्धक व्यापारों से शून्य हो गये हैं जिसके ऐसा वह यतचित्तात्मा होकर; क्योंकि निराशी परवैराग्य की दृढ़ता से विगततृष्ण होता है अतएव अपरिग्रह = परिग्रहहीन अर्थात् शास्त्रसम्मत भी योग के प्रतिबन्धक परिग्रह से शून्य -- रहित होता है -- इस प्रकार आशा और परिग्रह से रहित हो सतत = निरन्तर अपने आत्मा = चित को योग में लगावे अर्थात् क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों से चित्त को हटाकर एकाग्र और निरोध भूमियों से उसको समाहित करे -- समाधि में लगावे ॥ 10 ॥

24 अब आसन का नियम दिखलाने के लिए दो श्लोकों से कहते है --
[शुचि-पवित्र देश-स्थान में जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो -- ऐसा कुशा के ऊपर मृगचर्म और वस्त्रयुक्त अपना स्थिर आसन स्थापित करके ॥ 11 ॥]

25 शुचि= स्वभावतः अथवा संस्कार द्वारा-परिमार्जनादि के द्वारा शुद्ध किये हुए, जनसमूह से रहित, निर्भय गंगातट-- गिरिगुहादि देश में समान स्थान-भूमि पर स्थिर= निश्चल आसन स्थापित करके, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो तथा जो चैलाजिनकुशोत्तर हो = चैल अर्थात् कोमलवस्त्र और अजिन अर्थात् कोमल व्याघ्रादि की चर्म-ये कुशाओं के उत्तर=ऊपर हों जिसमें वह हो । 'आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्' = 'जिस पर बैठा जाता है उसको 'आसन' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि पहले कुशासन, उसके ऊपर कोमल चर्मासन और उसके ऊपर कोमल वस्त्रासन होना चाहिए । इसीप्रकार भगवान् पतञ्जलि ने कहा है --'स्थिरसुखमासनम्' (योगसूत्र, 2.46)= 'जो स्थिर और सुखदायी हो वह 'आसन' है । 'आत्मनः' = 'अपना ' -- यह विशेषण दूसरे

26 एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यादिति तत्राऽऽह–

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ 12 ॥

27 तत्र तस्मिन्नासन उपविश्यैव न तु शयानस्तिष्ठन्वा । 'आसीनः संभवात्' इति न्यायात् । यताः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया वृत्तयो येन स यतचित्तेन्द्रियक्रियः सन्योगं समाधिं युञ्जीताभ्यसेत् । किमर्थम्, आत्मविशुद्धय आत्मनोऽन्तःकरणस्य सर्वविक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० 1.3.12) इति श्रुतेः ।

28 किं कृत्वा योगमभ्यसेदिति तत्राऽऽह– एकाग्रं राजसतामसव्युत्थानाख्यप्रागुक्तभूमित्रय-परित्यागेनैकविषयकधारावाहिकानेकवृत्तियुक्तमुद्रिक्तसत्त्वं मनः कृत्वा दृढभूमिकेन प्रयत्नेन संपा-

के आसन की व्यावृत्ति के लिए है, क्योंकि दूसरे का आसन भी दूसरे की इच्छा का कोई निश्चित नियम न होने के कारण योग में विक्षेप करने वाला होता है[13] ॥ 11 ॥

26 इस प्रकार आसन स्थापित करके क्या करना चाहिए ? -- इस पर कहते हैं --
[उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके तथा चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत कर आत्मविशुद्धि = अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे ॥ 12 ॥]

27 उस आसन पर बैठकर ही, सोकर अथवा खड़े होकर नहीं, क्योंकि यह न्याय है-- 'आसीनः सम्भवात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.7) = 'उपासना बैठकर ही करनी चाहिए, कारण कि इस प्रकार ही उसका होना सम्भव है', जिसने चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं अर्थात् वृत्तियों को यत = संयत अर्थात् उपरत कर लिया है ऐसा वह यतचित्तेन्द्रियक्रिय = चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं के संयमवाला होकर योग = समाधि का युञ्जान = अभ्यास करे । ऐसा किसलिए करे ? आत्मविशुद्धि के लिए करे अर्थात् आत्मा = अन्तःकरण को सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित हो जाने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त कराने के लिए करे, क्योंकि श्रुति भी कहती है -- 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० उप० 1.3.12)= 'सूक्ष्मदर्शी योगी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही आत्मा का दर्शन करते हैं' ।

28 क्या करके योग का अभ्यास करे ? -- इस पर कहते हैं, -- एकाग्र अर्थात् राजस, तामस और व्युत्थान नामक पूर्वोक्त भूमित्रय के परित्याग से एकविषयक धारावाहिक अनेक वृत्तियुक्त अतएव

13. प्रकृत श्लोक में 'आत्मनः' -- यह विशेषण दूसरे के आसन की व्यावृत्ति करने के लिए है, क्योंकि दूसरे का आसन भी योग में विक्षेप करनेवाला होता है, कारण कि दूसरे के आसन का उपयोग करने से दूसरे की इच्छाओं पर निर्भर रहना पड़ता है और दूसरे की इच्छा नियत नहीं हो सकती, न जाने वह कब कहे कि मेरा आसन दे दो-- इसप्रकार का यह सन्देह योग में विक्षेप ही करता है, इसीलिए दूसरे के आसन के उपयोग से अपने नियम की रक्षा करना कठिन होता है । अतः अपना ही आसन उपयुक्त होता है, दूसरे का नहीं । धर्मशास्त्र में भी अपना-अपना आसन पृथक् रखने के लिए उपदेश दिया गया है --

'आत्मशय्यासनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः ।
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥' (बोधायन धर्मसूत्र, 1.5.67)

'अपनी शय्या, आसन, वस्त्र, स्त्री, सन्तान, कमण्डलु अपने ही हों तो पवित्र होते हैं, ये दूसरे के हों तो अपवित्र ही कहे जाते है' ।

धैकाग्रताविवृद्ध्यर्थं योगं संप्रज्ञातसमाधिमभ्यसेत् । स च ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाह एव निदिध्यासनाख्यः । तदुक्तम् –

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥'इति ।

एतदेवाभिप्रेत्य ध्यानाभ्यासप्रकर्षं विदधे भगवान्–योगी युञ्जीत सततं, युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये, युक्त आसीत मत्पर इत्यादि बहुकृत्वः ॥ 12 ॥

29 **तदर्थं बाह्यमासनमुक्त्वाऽधुना तत्र कथं शरीरधारणमित्युच्यते –**

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ 13 ॥

30 **कायः शरीरमध्यं स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धान्तपर्यन्तं सममवक्रमचलमकम्पं धारयन्नेकतत्त्वाभ्यासेन विक्षेपसहभाव्यङ्गमेजयत्त्वाभावं संपादयन्स्थिरो दृढप्रयत्नो भूत्वा । किं च स्वं स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यैव लयविक्षेपराहित्याय विषयप्रवृत्तिरहितो-**

उद्रिक्त -- उपचित सत्त्व मन करके= दृढ़भूमिक प्रयत्न से तथाभूत मन का सम्पादन करके एकाग्रता की वृद्धि के लिए योग = संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करे । वह ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह ही 'निदिध्यासन' कहलाता है । कहा भी है -- 'अहंकृति = अहंकार के बिना जो ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह है वही ध्यान के अभ्यास के प्रकर्ष से 'संप्रज्ञात समाधि' हो जाता है' । इसी अभिप्राय से भगवान् ने 'योगी युञ्जीत सततं', 'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये', 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि वाक्यों से अनेक बार ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष का विधान किया है ॥ 12 ॥

29 उस योग के लिए बाह्य आसन कहकर अब आसन पर कैसे शरीर धारण करे ? -- यह कहते हैं -- [शरीर के मध्यभाग को, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर, अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर और बीच-बीच में दिशाओं को न देखते हुए आसन पर बैठे ॥ 13 ॥

30 काय = शरीर के मध्यभाग, शिर और ग्रीवा को = इस कायशिरोग्रीव को अर्थात् मूलाधार से लेकर मूर्धान्तपर्यन्त-- मस्तकपर्यन्त भाग को सम=समान-सीधा कर, टेढ़ा न कर, अचल= कम्परहित धारण करते हुए अर्थात् एक तत्त्व के ही अभ्यास से विक्षेप के साथ होने वाले अङ्गमेजयत्व = शरीर के कम्पनादि के अभाव का सम्पादन करते हुए स्थिर होकर= दृढ़ प्रयत्न होकर; इसके अतिरिक्त अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर ही अर्थात् लय और विक्षेप की निवृत्ति के लिए विषयों में प्रवृत्ति से रहित अनिमीलित = अर्द्धनिमीलित नेत्र[14] रखकर ही; तथा दिशाओं को न देखते हुए = बीच-बीच में दिशाओं का अवलोकन न करते हुए, क्योंकि दिग्दर्शन[15] भी योग का

---

14. यहाँ 'अनिमीलित नेत्र' का तात्पर्य 'अर्धनिमिलित नेत्र' ही है । यदि साधक के नेत्र निमीलित रहेंगे तो निद्रा की सम्भावना रहेगी, वह निद्रा यदि स्वप्नात्मक होगी तो चित्त में विक्षेप होगा, यदि सुषुप्त्यात्मक होगी तो चित्त का प्राण में लय हो जायेगा । इसीप्रकार यदि साधक के नेत्र अनिमीलित अर्थात् खुले रहेंगे तो रूपग्रहण करने से चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी । अतः लय और विक्षेप की निवृत्ति के लिए, जो ये दोनों योग के विरोधी हैं, योगी के निदिध्यासनार्थ प्रकृत में 'अर्धनिमीलित नेत्र' ही विशेषरूप से अनुकूल हैं ।

15. दिग्दर्शन योग का प्रतिबन्धक है, क्योंकि साधक के नेत्र इधर-उधर दिशाओं में स्थित वस्तुओं का दर्शन करेंगे, ऐसा होने से 'विक्षेप' उत्पन्न होने की पूर्णतः सम्भावना रहेगी, अतः प्रकृत में 'दिशश्चानवलोकयन्' का विधान

ऽनिमीलितनेत्र इत्यर्थः । दिशश्चानवलोकयन्, अन्तराऽन्तरा दिशां चावलोकनमकुर्वन्योग-प्रतिबन्धकत्वात्तस्य । एवंभूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ 13 ॥

31 किं च –

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ 14 ॥

32 निदाननिवृत्तिरूपेण प्रकर्षेण शान्तो रागादिदोषरहित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स प्रशान्तात्मा शास्त्रीयनिश्चयदार्ढ्याद्विगता भीः सर्वकर्मपरित्यागेन युक्तत्वायुक्तत्वशङ्का यस्य स विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषाभिक्षाभोजनादौ स्थितः सन्, मनः संयम्य विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा, मयि परमेश्वरे प्रत्यक्चिति सगुणे निर्गुणे वा चित्तं यस्य स मच्चित्तो मद्विषयकधारा-वाहिकचित्तवृत्तिमान् । पुत्रादौ प्रिये चिन्तनीये सति कथमेवं स्यादत आह--मत्परः, अहमेव परमानन्दरूपत्वात्परः पुरुषार्थः प्रियो यस्य स तथा । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मा-त्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इति श्रुतेः । एवं विषयाकारसर्ववृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकार-चित्तवृत्तिर्युक्तः संप्रज्ञातसमाधिमानासीतोपविशेद्यथाशक्ति, न तु स्वेच्छया व्युत्तिष्ठेदित्यर्थः ।

प्रतिबन्धक है, अतः ऐसा होकर आसन पर बैठे । यहाँ उत्तरश्लोकस्थ 'आसीत' = 'बैठे' -- क्रिया के साथ सम्बन्ध है ।। 13 ।।

31 तथा--

[प्रशान्तचित्त, विगतभी= निर्भय, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित होकर; मन को संयत करके; मेरे में ही चित्त को लगाकर और मेरे परायण हुआ योगयुक्त होकर आसन पर बैठे ।। 14 ।।]

32 निदान-कारणनिवृत्तिरूप प्रकर्ष से शान्त अर्थात् रागादि दोष से रहित है आत्मा=अन्तःकरण जिसका ऐसा प्रशान्तात्मा, एवं शास्त्रीय निश्चय की दृढ़ता से विगत--निवृत्त है भी -भय अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास से योग होगा कि नहीं-- ऐसी शङ्का जिसकी ऐसा विगतभी, तथा ब्रह्मचारी के व्रत में अर्थात् ब्रह्मचर्य, गुरुशुश्रूषा, भिक्षान्न-भोजन आदि के पालन में स्थित होकर; मन को संयत करके अर्थात् विषयाकार वृत्ति से शून्य करके; मुझ प्रत्यक्चेतन सगुण अथवा निर्गुण परमेश्वर में है चित्त जिसका ऐसा मच्चित अर्थात् मद्विषयक-- मेरे प्रति धारावाहिक चित्तवृत्तिमान् होकर; प्रिय पुत्रादि चिन्तनीय के रहने पर परमेश्वर में ही धारावाहिक चित्तवृत्ति कैसे हो सकती है ? अतः कहते हैं -- 'मत्परः' = मैं ही हूँ परमानन्दस्वरूप होने से परम पुरुषार्थ अर्थात् प्रिय जिसका ऐसा मत्पर होकर, जैसा कि श्रुति भी कहती है-- 'वह यह आत्मा पुत्र से प्रिय है, वित्त से प्रिय है, अन्य सबसे प्रिय है, यह जो आत्मा है अत्यन्त अन्तरतर है' । इस प्रकार विषयाकार समस्त वृत्तियों के निरोध द्वारा एकमात्र भगवदाकार चित्तवृत्ति से युक्त= सम्प्रज्ञात समाधिमान् होकर यथाशक्ति आसन पर बैठा रहे, स्वेच्छा से उत्थान न करे, यह अर्थ है ।

किया है । यहाँ 'च' शब्द से अपने शरीर के नासिका के अग्रभाग के अतिरिक्त दूसरे अंगों के प्रति भी दृष्टिपात करना निषिद्ध हुआ है, क्योंकि वह भी योग के लिए विघ्नकर हो सकता है । अतः योगी समाधि-अभ्यास के समय ध्येय वस्तु के अतिरिक्त बाहर अथवा अपने शरीर के अन्य किसी अंग के प्रति दृष्टिपात न करे--यह अभिप्राय है ।

33 भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेनाऽऽराध्यत्वेन गृह्णाति किं तर्हि राजानं वा देवं वा । अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च सर्वाराध्यत्वेन मामेव मन्यत इति भाष्यकृतां व्याख्या ।

34 व्याख्यातृत्वेऽपि मे नात्र भाष्यकारेण तुल्यता
गुञ्जायाः किं नु हेम्नैकतुलारोहेऽपि तुल्यता ॥ 14 ॥

35 एवं संप्रज्ञातसमाधिनाऽऽसीनस्य किं स्यादित्युच्यते –

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ 15 ॥

36 एवं रहोवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेनाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्नभ्यासवैराग्याभ्यां समाहितं कुर्वन्योगी सदा योगाभ्यासपरोऽभ्यासातिशयेन नियतं निरुद्धं मानसं मनो येन नियता निरुद्धा मानसा मनोवृत्तिरूपा विकारा येनेति वा नियतमानसः सन्, शान्तिं सर्ववृत्त्युपरतिरूपां प्रशान्तवाहितां निर्वाणपरमां तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिद्वारेण सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपमुक्तिपर्यवसायिनीं मत्संस्थां मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति, न तु सांसारिकाण्यैश्वर्याणि अनात्मविषयसमाधि-फलान्यधिगच्छति, तेषामपवर्गोपयोगिसमाध्युपसर्गत्वात् ।

---

33 'कोई रागी पुरुष स्त्रीचित्त हो सकता है, किन्तु वह स्त्री को ही परम पुरुषार्थ अथवा परम उपास्य के रूप में ग्रहण नहीं करता है, तो इस प्रकार किसको ग्रहण करता है ? हो सकता है कि वह राजा अथवा देवता को स्त्री की अपेक्षा 'पर' मानता हो । किन्तु यह योगी मच्चित होकर मत्पर ही होता है अर्थात् मुझको ही सर्वाराध्य मानता है' -- यह भाष्यकार की व्याख्या है ।

34 मैं गीता का व्याख्याता तो हूँ, किन्तु इस विषय में भाष्यकार से मेरी तुल्यता-समता नहीं हो सकती । क्या एक तराजू में चढ़े हुए स्वर्ण के साथ गुञ्जा की तुल्यता-समता हो सकती है ? ॥ 14 ॥

35 इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि से युक्त होकर बैठे हुए योगी को क्या फल प्राप्त होता है ? -- यह कहते हैं:--

[इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ नियत मनवाला योगी मेरे स्वरूप में स्थित तथा अविद्या की निवृत्ति में पर्यवसित होनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है ॥ 15 ॥

36 इस प्रकार एकान्त-स्थान में बैठने आदि पूर्वोक्त नियमों के अनुसार मन को आत्मा में नियुक्त करता हुआ अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से समाहित करता हुआ योगी सदा-सर्वदा योगाभ्यास में तत्पर रहने से = योगाभ्यासातिशय से अपने मानस = मन को नियत-निरुद्ध कर लिया है जिसने, अथवा, अपने मानस= मनोवृत्तिरूप विकारों[16] को नियत-निरुद्ध कर लिया है जिसने ऐसा नियतमानस होकर शान्ति अर्थात् समस्त वृत्तियों की उपरतिरूप प्रशान्तवाहिता को प्राप्त करता है, जो निर्वाणपरमा = तत्त्वसाक्षात्कार की उत्पत्ति के द्वारा कार्यसहित अविद्या की निवृत्तिरूप मुक्ति में पर्यवसित होनेवाली है और मत्संस्था =मत्स्वरूप परमानन्दरूप निष्ठा है । वह योगी अनात्मविषयक समाधि के फलस्वरूप सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त नहीं करता है, क्योंकि वे अपवर्ग-मोक्ष में उपयोगी समाधि के उपसर्ग-प्रतिबन्धक हैं ।

---

16. 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' (अमरकोश, 1.4.31) – इस कोश के अनुसार मानस और मन– ये दोनों पर्यायवाची हैं, अतः दोनों में से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, तथापि गीता में प्रायः लाघवदृष्टि से 'मन' का ही प्रयोग देखा जाता है, यहाँ लाघवन्याय की उपेक्षा कर 'मानस' शब्द का प्रयोग किया

37 **तथा च तत्तत्समाधिफलान्युक्त्वाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः--'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (पा० द० 3.37) इति । 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (पा० द० 3.51) इति च । स्थानिनो देवाः । तथा चोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तत्र सङ्गमादरं स्मयं गर्वं चाकृत्वा देवानवज्ञाय पुनरनिष्टप्रसङ्गनिवारणाय निर्विकल्पकमेव समाधिमकरोदिति वसिष्ठेनोपाख्यायते ।**

38 **मुमुक्षुभिर्हेयश्च समाधिः सूत्रितः पतञ्जलिना -- 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः ।' (पा० द० 1.17) सम्यक्संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते**

37 इसीप्रकार तद्-तद् समाधि के फल बतलाकर भगवान् पतञ्जलि ने कहा है-- 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: (योगसूत्र, 3.37), = व्युत्थानकाल में प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता[17]-- ये छ: जो सिद्धियाँ हैं वे समाधि में उपसर्ग-प्रतिबन्धक-विघ्न हैं' तथा 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (योगसूत्र, 3.51) = 'योगी को जब स्थानी देवता आमन्त्रित करें[18] तब उसको उनमें आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर उसके अनिष्ट का प्रसङ्ग हो सकता है' । स्थानी देवता होते हैं । वसिष्ठ ने ऐसा ही एक उपाख्यान कहा है -- उद्दालक ने देवताओं के आमन्त्रित करने पर भी पुन: अनिष्ट-प्राप्ति के प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए उसमें संग= आदर और स्मय= गर्व न करके देवताओं की अवज्ञा करते हुए निर्विकल्पक समाधि ही की थी ।

38 पतञ्जलि ने मुमुक्षुओं के लिए हेय समाधि को इसप्रकार सूत्रबद्ध किया है -- 'वितर्क-विचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात:, (योगसूत्र 1.17)= 'वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता[19] की अनुगति रहने पर 'सम्प्रज्ञात' समाधि होती है ।' जिसके द्वारा भाव्य-ध्येय वस्तु का स्वरूप अच्छी

है । मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यहाँ 'मानस' शब्द का प्रयोग 'मनसि भवा मानसा विकारा:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विकार' अर्थ में विवक्षित हो सकता है । किन्तु प्रकृत में 'मानस' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं है, 'मन एव मानसम्' -- यह व्युत्पत्ति ही सार्थक है, क्योंकि विषयाकार वृत्तियों का निरोध ही मन का नियन्त्रण है, वही 'नियत' कहने से गतार्थ होता है । मधुसूदन सरस्वती को भी प्रथमत: मानस का मन अर्थ ही अभीष्ट है, इसीलिए उन्होंने द्वितीय अर्थ के प्रयोग में अनास्थासूचक 'वा' शब्द का प्रयोग किया है । अतएव भाष्यकार आदि ने भी मानस का अर्थ मन ही किया है ।

17. मन में सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत वस्तुओं को जानने की योग्यता 'प्रातिभ' सिद्धि है । श्रोत्रेन्द्रिय की दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता 'श्रावण' है । त्वगिन्द्रिय की दिव्यस्पर्श जानने की योग्यता 'वेदना' है । नेत्रेन्द्रिय की दिव्यरूप देखने की योग्यता 'आदर्श' है । रसनेन्द्रिय की दिव्यरस जानने की योग्यता 'आस्वाद' है । घ्राणेन्द्रिय की दिव्यगन्ध सूँघने की योग्यता 'वार्ता' है ।

18. योगी चार प्रकार के होते हैं -- प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय । इन योगियों में से जो दूसरे प्रकार का मधुभूमिक नामक योगी है, उसी को स्वर्गस्थानी इन्द्रादि देवता पास में आकर स्वर्गीय विमान तथा अप्सरादि के द्वारा प्रलोभन देते हुए आमन्त्रित करते हैं, अन्य तीन को नहीं । उसका कारण यह है कि -- जो प्रथमकल्पिक योगी है उसको तो इन्द्रादि-कृत प्रार्थना की शंका ही नहीं है, क्योंकि वह योगाभ्यास में प्रवृत्तमात्र होता है । तृतीय प्रकार का प्रज्ञाज्योति नामक योगी देवताओं के प्रलोभन में आ ही नहीं सकता है, क्योंकि उसको भूतेन्द्रियविजयी होने से अणिमादि ऐश्वर्य स्वत: ही प्राप्त होते हैं । चतुर्थ प्रकार का अतिक्रान्तभावनीय नामक योगी भी प्रलोभन में नहीं आ सकता है, क्योंकि परवैराग्य-सम्पन्न होने से उसको स्वर्गीय भोग की स्पृहा ही नहीं होती है । अत: परिशेषात् ऋतम्भरप्रज्ञ मधुभूमिक नामक योगी ही प्रलोभन का विषय होता है, उसी को स्थानी देवता आमन्त्रित करते हैं ।

19. पाँचों स्थूलभूत-विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावना का नाम 'वितर्कानुगत' संप्रज्ञात है । पाँचों सूक्ष्मभूत- विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावना 'विचारानुगत' है । तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के कारण सत्त्व-प्रधान अहंकार-विषयक केवल ग्रहण-भावना 'आनन्दानुगत' है । अस्मिता अर्थात् चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व बीजरूप अहंकारसहित-विषयक ग्रहीतृ-भावना का नाम 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात है ।

भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञात: समाधिर्भावनाविशेष: । भावना हि भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुन: पुनर्निवेशनम् । भाव्यं च त्रिविधं ग्राह्यग्रहणग्रहीतृभेदात् । ग्राह्यमपि द्विविधं स्थूल-सूक्ष्मभेदात् । तदुक्तं 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्ति: ।' (पा० द० 1.41) क्षीणा राजसतामसवृत्तयो यस्य तस्य चित्तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वात्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थता तत्रैवैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयता न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानस्यैवोत्कर्ष इति यावत् । तथाविधा समापत्तिस्तद्रूप: परिणामो भवति । यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणे-स्तत्तदुपाश्रयवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्ति: समापत्ति: समाधिरिति च पर्याय: । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वित्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद्-ग्राह्यग्रहणग्रहीतृष्विति बोद्धव्यम् । यत: प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिर्भवति ततो ग्रहणनिष्ठस्ततो ग्रहीतृनिष्ठ इति ग्रहीत्रादिक्रमोऽप्यग्रे व्याख्यास्यते ।

39 **तत्र यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते तदा सवितर्क: समाधि: । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने पूर्वापरानुसंधानशब्दार्थोल्लेख-**

प्रकार अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित प्रकर्ष से -- विशेषरूप से -यथार्थरूप से जाना जाता है उस भावना-विशेष को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं । विषयान्तर= अन्य विषयों का परिहार-परित्याग कर एकमात्र ध्येय-भाव्य वस्तु को ही पुन: पुन: चित्त में स्थापित करना 'भावना' है । इस भावना का विषयभूत जो भाव्य है वह ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता[20] के भेद से तीन प्रकार का होता है । इन तीनों में ग्राह्य भी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का है । यह योगसूत्र में कहा है -- 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्ति:' (योगसूत्र, 1.41) = 'जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं ऐसे स्वच्छ चित्त की उत्तमजातीय अतिनिर्मल स्फटिक मणि के समान ग्रहीता = अस्मिता, ग्रहण= इन्द्रिय और ग्राह्य = स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों में स्थित होकर तदञ्जनता-तन्मयता 'समापत्ति' है' । क्षीण हो गई हैं राजस-तामस वृत्तियाँ जिसकी उस चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य= आत्मा-अस्मिता, इन्द्रिय और विषयों में तत्स्थता = उन्हीं में एकाग्रता, तदञ्जनता = तन्मयता अर्थात् न्यग्भूत = क्षीणभूत चित्त में भाव्यमान वस्तु का ही जो उत्कर्ष होता है तथाविध समापत्ति = तद्रूप परिणाम होता है । जैसे अभिजात= निर्मल स्फटिक मणि में तद्-तद् उपाश्रय= समीपस्थित वस्तुओं के कारण तद्-तद् रूप की आपत्ति = प्राप्ति होती है, वैसे ही निर्मल चित्त में तद्-तद् भावनीय = ध्येय वस्तु के सम्बन्ध से तद्-तद् रूप की आपत्ति = प्राप्ति होती है । समापत्ति और समाधि -- ये पर्यायवाची हैं । यद्यपि योगसूत्र में 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु' ऐसा कहा है, तथापि भूमिकाक्रम से 'ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु' -- ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि पहले ग्राह्यनिष्ठ ही समाधि होती है, तदनन्तर ग्रहणनिष्ठ होती है, तत्पश्चात् ग्रहीतृनिष्ठ होती है । ग्रहीता आदि के क्रम की भी आगे व्याख्या की जायेगी ।

39 उनमें, जिस समय पाँच महाभूत और एकादश इन्द्रिय-- इन सोलह विकाररूप स्थूल विषयों को ग्रहण कर पूर्वापर के अनुसन्धान के साथ और शब्द-अर्थ के उल्लेख के साथ = 'इसका वाचक यह शब्द है, इस शब्द का यह अर्थ है' -- इसप्रकार शब्द और अर्थ के उल्लेख के साथ उनकी

20. यद्यपि योगसूत्र में ध्येय की और समाधि की उत्कृष्टता-अपकृष्टता बतलाने के अभिप्राय से ग्रहीता, ग्रहण, और ग्राह्य-- यह क्रम दिया है, तथापि भूमिकाक्रम से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता-- समापत्ति कही गई है, क्योंकि स्थूलालम्बनपूर्वक सूक्ष्मालम्बन चित्तसमापत्ति होती है, इसीलिए यहाँ तदनुसार कहा है ।

शून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ । तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्विचारः । एतावुभावप्यत्र विचारशब्देनोक्तौ । तथा च भाष्यं वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बन आभोगः सूक्ष्मे विचार इति । इयं ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते । यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चिच्छक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति । अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्देनोच्यन्ते । इयं ग्रहणसमापत्तिः । ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या भावना प्रवर्तते तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । न चाहंकारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः । यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान्वेदयते सोऽहं-

भावना की जाती है उस समय 'सवितर्क' समाधि होती है । इसी पूर्वगृहीत आलम्बन में जब पूर्वापर के अनुसन्धान और शब्दार्थ के उल्लेख से शून्य-रहित भावना की जाती है तब 'निर्वितर्क' समाधि होती है । ये दोनों ही उक्त सूत्र (योगसूत्र, 1.17) में 'वितर्क' शब्द से कही गई हैं । तन्मात्रा और अन्तःकरणरूप सूक्ष्म विषय का आलम्बन कर उसमें देश, काल और धर्म के अवच्छेद के साथ जब भावना की जाती है तब 'सविचार' समाधि कहलाती है । इसी आलम्बन में देश, काल और धर्म के अवच्छेद के बिना धर्मीमात्र की अवभासिका-प्रकाशिकारूप से जब भावना की जाती है तब 'निर्विचार' समाधि कही जाती है । ये दोनों हीं सूत्र में 'विचार' शब्द से कही गई हैं । इसीप्रकार योगभाष्य है-- 'वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बन आभोगः सूक्ष्मे विचारः' = 'चित्त की स्थूल आलम्बन में भावना 'वितर्क' समाधि है और सूक्ष्म आलम्बन में भावना 'विचार' समाधि है ।' यही 'ग्राह्यसमापत्ति' शब्द से व्यवहृत होती है । जब रजोगुण और तमोगुण के लेश से अनुविद्ध=सम्बद्ध अन्तःकरणगत सत्त्वगुण की भावना की जाती है तब चिच्छक्ति का गुणभाव हो जाने से भाव्यमान सुखप्रकाशमय सत्त्व का उद्रेक होने से 'सानन्द' समाधि होती है । इसी समाधि में जो बद्धधैर्य-- बद्धादर होकर प्रधानपुरुषरूप तत्त्वान्तर=अन्य तत्त्वों को नहीं देखते हैं वे देहाहङ्काररहित होने से 'विदेह' शब्द से कहे जाते हैं । यह 'ग्रहणसमापत्ति' है । इसके बाद रजोगुण और तमोगुण के लेश से अनभिभूत-अतिरोहित शुद्ध सत्त्व का आलम्बन कर जो भावना की जाती है उसमें ग्राह्य सत्त्व का न्यग्भाव हो जाने के कारण चितिशक्ति का उद्रेक होने से सत्तामात्र शेष रह जाने के कारण 'सास्मित' समाधि कही जाती है । यहाँ अहंकार और अस्मिता के अभेद की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जहाँ अन्तःकरण 'अहम्' --ऐसे उल्लेखपूर्वक विषयों को जानता है वह 'अहंकार' है, जैसे-- 'अहं घटं जानामि' = 'मैं घट को जानता हूँ' । किन्तु जहाँ अन्तमुखरूप से प्रतिलोम परिणाम के द्वारा प्रकृतिलीन चित्त में सत्तामात्र का भान होता है वह 'अस्मिता' है [21]।

21. भाव यह है कि अन्तःकरण का अन्तर्मुख और बहिर्मुख भेद से दो प्रकार का परिणाम होता है । जैसे– घट और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण इन्द्रिय के द्वारा घट से सम्बद्ध होकर घटाकार में परिणत होता है, उस घटाकारवृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से घट का प्रकाश होता है, इसी कारण अहमर्थ का उल्लेख होता है, और जब अन्तर्मुख अतएव अन्तःकरण का प्रतिलोम परिणाम होता है तब वह चित्त-प्रकृति में लीन होने से अहमर्थ का उल्लेख न होकर केवल पदार्थसत्तामात्र का भान होता है वह अस्मिता है ।

कारः। यत्र त्वन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषास्ते परं पुरुषमपश्यन्तश्चेतसः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। सेयं ग्रहीतृसमापत्तिरस्मितामात्ररूपग्रहीतृनिष्ठत्वात्। ये तु परं पुरुषं विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते, तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिर्विवेकेनास्मितायास्त्यागात्।

40 तत्र ग्रहीतृभानपूर्वकमेव ग्रहणभानं तत्पूर्वकं च सूक्ष्मग्राह्यभानं तत्पूर्वकं च स्थूलग्राह्यभानमिति स्थूलविषयो द्विविधोऽपि वितर्कश्चतुष्टयानुगतः। द्वितीयो वितर्कविकलस्त्रितयानुगतः। तृतीयो वितर्कविचाराभ्यां विकलो द्वितयानुगतः। चतुर्थो वितर्कविचारानन्दैर्विकलोऽस्मितामात्र इति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञात इति। एवं सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च समाधिरन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वाद्धेय एव मुमुक्षुभिः। ग्रहीतृग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतादशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्धेयोपादेयविभागकथनाय ग्राह्यसमापत्तिरेव विवृता सूत्रकारेण। चतुर्विधा हि ग्राह्यसमापत्तिः स्थूलग्राह्यगोचरा द्विविधा सवितर्का निर्वितर्का च। सूक्ष्मग्राह्यगोचराऽपि द्विविधा सविचारा निर्विचारा च। 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का' (पा० द० 1.42) शब्दार्थज्ञानविकल्पसंभिन्ना स्थूलार्थावभासरूपा सवितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा सविकल्पकवृत्तिरित्यर्थः। 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (पा० द० 1.43) तस्मिन्नेव स्थूल आलम्बने शब्दार्थस्मृतिप्रविलये प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकार-प्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा

इसी समाधि में जो परितोष-- सन्तोष कर लेते हैं वे परम पुरुष को न देखकर चित्त के प्रकृति में लीन होने से 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं। यही 'ग्रहीतृसमापत्ति' है, क्योंकि अस्मितामात्ररूप ग्रहीतृनिष्ठ=ग्रहीता में ही रहनेवाला है। जो परम पुरुष का विवेक कर भावना करते हैं, उनकी केवल पुरुषविषया विवेकख्याति ग्रहीतृसमापत्ति होने पर भी सास्मित समाधि नहीं है, क्योंकि वे विवेक से अस्मिता का त्याग कर चुके होते हैं।

40 इनमें, ग्रहीतृभानपूर्वक ही ग्रहण का भान होता है, ग्रहणभानपूर्वक सूक्ष्मग्राह्य का भान होता है, और सूक्ष्मग्राह्यभानपूर्वक स्थूलग्राह्य का भान होता है -- इस प्रकार स्थूलविषयक दोनों प्रकार की 'वितर्क' समाधि चतुष्टयानुगत अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता-- इन चारों समाधियों से अनुगत है। द्वितीय 'विचार' समाधि सूक्ष्मविषयक अतएव वितर्क-समाधि से रहित होने से त्रितयानुगत अर्थात् विचार, आनन्द और अस्मिता-- इन तीनों समाधियों से अनुगत है। तृतीय 'आनन्द' समाधि 'वितर्क' और 'विचार' समाधियों से रहित होने से द्वितयानुगत अर्थात् आनन्द और अस्मिता-- इन दो समाधियों से अनुगत है। चतुर्थ 'अस्मिता' समाधि वितर्क, विचार और आनन्द -- इन तीनों समाधियों से रहित होने से एकानुगत अर्थात् अस्मितामात्र है -- इस प्रकार यह चार अवस्थाओं वाली 'संप्रज्ञात' समाधि है। ऐसी सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित-- चतुर्विध समाधि अन्तर्धानादि सिद्धियों की हेतु होने से मुक्ति की हेतुभूता समाधि की विरोधिनी होने के कारण मुमुक्षुओं के लिए हेय-त्याज्य ही है। ग्रहीतृनिष्ठ और ग्रहणनिष्ठ समाधियों का भी चित्तवृत्ति की विषयता दशा में ग्राह्यकोटि के अन्तर्गत निक्षेप = प्रक्षेप होने से सूत्रकार ने हेय = त्याज्य और

निर्विकल्पकवृत्तिरित्यर्थः । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' (पा० द० 1.44) सूक्ष्मस्तन्मात्रादिर्विषयो यस्याः सा सूक्ष्मविषया समापत्तिर्द्विविधा सविचारा निर्विचारा च। सविकल्पनिर्विकल्पकभेदेन एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च स्थूलविषयया समापत्त्या व्याख्याता। शब्दार्थज्ञानविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा। शब्दार्थज्ञानविकल्परहित्वेन देशकालधर्माद्यनवच्छिन्नत्वेन च धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा । सविचारनिर्विचारयोः सूक्ष्मविषयत्वविशेषणात्सवितर्कनिर्वितर्कयोः स्थूलविषयत्वमर्थव्याख्यातम्। 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' (पा० द० 1.45) सविचाराया निर्विचारायाश्च समापत्तेर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यन्तं द्रष्टव्यम्। तेन सानन्दसास्मितयोर्ग्रही-

उपादेय =ग्राह्य के विभाग को कहने के लिए ग्राह्यसमापत्ति का ही विशेष विवरण किया है । ग्राह्यसमापत्ति चार प्रकार की है:-- स्थूलग्राह्यगोचर दो प्रकार की है -- सवितर्क और निर्वितर्क; सूक्ष्मग्राह्यगोचर भी दो प्रकार की है -- सविचार और निर्विचार । 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का (योगसूत्र, 1.42) = 'उन समापत्तियों में से जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों = भेदों से संकीर्ण-संमिलित-- मिश्रित है अर्थात् जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेदरूप से भान होता है वह 'सवितर्का' समापत्ति है' । अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संभिन्न = मिली हुई स्थूल पदार्थों की अवभासरूप=भानस्वरूप 'सवितर्का' समापत्ति है, वह स्थूलविषयक सविकल्पकवृत्ति है । 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (योगसूत्र, 1.43) = 'स्मृति की परिशुद्धि = निवृत्ति होने पर अर्थात् आगम, अनुमान ज्ञान के कारण शब्दसंकेतस्मरण के निवृत्त होने पर जो अर्थमात्र-सी भासने वाली=केवल ग्राह्यरूप अर्थमात्र को ही प्रकाश करनेवाली अतएव स्वरूप से शून्य जैसी=अपने ग्रहणाकार ज्ञानात्मकरूप से रहित चित्तवृत्ति है वह 'निर्वितका' समापत्ति है' । उसी स्थूल आलम्बन में शब्द और अर्थ की स्मृति का विलय-लय हो जाने पर जो प्रत्युदित-उदित हुए स्पष्ट ग्राह्याकार का प्रतिभास-भान होने के कारण ज्ञानांश का भी तिरोधान होने से स्वरूप से शून्य जैसी होती है वह 'निर्वितर्का' समापत्ति है अर्थात् स्थूलविषयक निर्विकल्पक वृत्ति है । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' (योगसूत्र, 1.44) = 'इस सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति के व्याख्यान से ही सूक्ष्मभूत-- पञ्चतन्मात्रविषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्यात है' । सूक्ष्म अर्थात् शब्दादि तन्मात्रादि विषय हैं जिसके वह सूक्ष्मविषया समापत्ति दो प्रकार की है -- सविचारा और निर्विचारा । सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से इस स्थूलविषयक सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति से ही सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्यात है । जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पों सहित देश, काल और धर्मादि से अवच्छिन्न सूक्ष्म अर्थ का भान होता है वह 'सविचारा' समापत्ति है । जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पों से रहित तथा देश, काल और धर्मादि से अनवच्छिन्न मात्र धर्मीरूप से सूक्ष्म अर्थ का भान होता है वह 'निर्विचारा' समापत्ति है । सविचारा और निर्विचारा-- इन दोनों समापत्तियों में 'सूक्ष्मविषयत्व' विशेषण दिया गया है, अतः सवितर्का और निर्वितर्का-- इन दोनों समापत्तियों में 'स्थूल विषयत्व' अर्थतः व्याख्यात-- प्राप्त है । 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' (योगसूत्र, 1.45)= 'और सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्गपर्यन्त है अर्थात् अलिङ्ग= किसी में लीन न होने वाली अर्थात् लिङ्गरहित मूलप्रकृति -पर्यन्त है' । सविचारा और निर्विचारा -- इन दोनों समापत्तियों में जो सूक्ष्म-

तृग्रहणसमापत्त्योरपि ग्राह्यसमापत्तावेवान्तर्भाव इत्यर्थः। तथा हि -- पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्यापि रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं, नभसः शब्दतन्मात्रं, तेषामहंकारस्तस्य लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्याप्यलिङ्गं प्रधानं सूक्ष्मो विषयः। सप्तानामपि प्रकृतीनां प्रधान एव सूक्ष्मताविश्रान्तेस्तत्पर्यन्तमेव सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम्। यद्यपि प्रधानादपि पुरुषः सूक्ष्मोऽस्ति तथाऽप्यन्वयिकारणत्वाभावात्तस्य सर्वान्वयिकारणे प्रधान एव निरतिशयं सौक्ष्म्यं व्याख्यातं, पुरुषस्तु निगित्तकारणं सदपि नानन्वयिकारणत्वेन सूक्ष्मतामर्हति । अन्वयिकारणत्वाविवक्षायां तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मो भवत्येवेति द्रष्टव्यम्। 'ता एव सबीजः समाधिः' (पा० द० 1.46) ताश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्येण बीजेन सह वर्तन्त इति सबीजः समाधिर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात इति प्रागुक्तः। स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः। सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति।

41 **तत्रान्तिमस्य फलमुच्यते--'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (पा० द० 1.47) स्थूलविषयत्वे तुल्येऽपि सवितर्कं शब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्णमपेक्ष्य तद्रहितस्य निर्विकल्पकरूपस्य निर्वितर्कस्य**

विषयत्व कहा गया है वह अलिङ्गपर्यन्त समझना चाहिए। अत: तात्पर्य यह है कि ग्रहीतृनिष्ठ सास्मित और ग्रहणनिष्ठ सानन्द समापत्तियों का भी ग्राह्यसमापत्ति में ही अन्तर्भाव है। पार्थिव परमाणु तथा कारणभूत गन्ध तन्मात्रा समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं। जल-परमाणु तथा उसका कारणभूत रस तन्मात्रा, तेज-अग्नि-परमाणु तथा उसका कारणभूत रूप तन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा उसका कारणभूत स्पर्श तन्मात्रा, आकाशपरमाणु तथा उसका कारणभूत शब्द तंन्मात्रा एवं पञ्चतन्मात्राओं का कारणभूत अहंकार, अहंकार का कारणभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व और लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व का भी कारण अलिङ्गसंज्ञक प्रधान -- प्रकृति -- ये सब समापत्ति के सूक्ष्म विषय हैं। पञ्चतन्मात्रा, अहंकार और महत्तत्त्व-- इन सात प्रकृतियों की सूक्ष्मता की विश्रान्ति प्रधान में ही है, अतएव प्रधान-प्रकृतिपर्यन्त ही सूक्ष्मविषयता कही गई है। यद्यपि प्रधान की अपेक्षा पुरुष अतिसूक्ष्म है, तथापि वह पुरुष उसका अन्वयि-कारण = उपादानकारण नहीं है, अत: सभी के अन्वयिकारण= उपादानकारण प्रधान में ही निरतिशय सूक्ष्मता कही गई है। पुरुष तो निमित्तकारण होने पर भी उपादानकारण नहीं है, इसलिए वह सूक्ष्मता के योग्य नहीं है। यदि अन्वयिकारणत्व= उपादानकारणता की विवक्षा न करे, तो पुरुष भी सूक्ष्म ही है -- ऐसा समझना चाहिए। 'ता एव सबीजः समाधिः' (योगसूत्र, 1.46) = 'ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही 'सबीज' समाधि कहलाती हैं'। ये चारों समापत्तियाँ ग्राह्यरूप बीज से युक्त हैं, इसलिए 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात:'-- इस सूत्र से पहले कही हुई चतुर्विध संप्रज्ञात समाधि 'सबीज' समाधि है। स्थूल आलम्बनविषयक सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति है। सूक्ष्म-आलम्बन-विषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्ति है।

41 इनमें से अन्तिम जो निर्विचारा समापत्ति है उसका फल कहते हैं -- 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:' (योगसूत्र, 1.47) = 'निर्विचारा समाधि की वैशारद्य[22] = प्रवीणता= निर्मलता होने पर अध्यात्म[23]

22. वैशारद्य = अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूत: स्वच्छ: स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् (योगभाष्य, 1.47) = जब रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता होती है, तब चित्तगत सत्त्वगुण तिरस्कृत हो जाता है, यही चित्त में अशुद्धि- आवरणरूप मल है। योगी के अभ्यासवश सत्त्वगुण के प्रबल होने से जब यह अशुद्धि--आवरण--मल दूर हो जाता है, तब राजस-तामसरहित शुद्ध सात्त्विक प्रकाशरूप अतिस्वच्छ चित्त का स्थिर प्रवाह प्रारम्भ होता है, यही समाधि की विशारदता= प्रवीणता=निर्मलता कही जाती है।

23. 'आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्मम्' = जो आत्मा अर्थात् बुद्धि में स्थित रहता है वह 'अध्यात्म' है।

प्राधान्यं, ततः सूक्ष्मविषयस्य सविकल्पकप्रतिभासरूपस्य सविचारस्य, ततोऽपि सूक्ष्मविषयस्य निर्विकल्पकप्रतिभासरूपस्य निर्विचारस्य प्राधान्यम् । तत्र पूर्वेषां त्रयाणां निर्विचारार्थत्वान्निर्विचारफलेनैव फलवत्त्वं, निर्विचारस्य तु प्रकृष्टाभ्यासबलाद्वैशारद्ये रजस्तमोनभिभूतसत्त्वोद्रेके सत्यध्यात्मप्रसादः क्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः प्रादुर्भवति । तथा च भाष्यम्--

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥' इति ।

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पा० द० 1.48) तत्र तस्मिन्प्रज्ञाप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनो या प्रज्ञा जायते सर्तंभरा । ऋतं सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति यौगिक्येवेयं समाख्या । सा चोत्तमो योगः । तथा च भाष्यम् –

= प्रज्ञा की प्रसाद[24] = निर्मलता होती है' । स्थूलविषयता में समानता होने पर भी शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्प से संकीर्ण= मिश्रित= युक्त सवितर्का समापत्ति की अपेक्षा इनसे रहित निर्विकल्पकरूप निर्वितर्का समापत्ति की प्रधानता है । उसकी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिणी सविकल्पक प्रतिभासरूपा सविचारा समापत्ति की प्रधानता है । उसकी भी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिणी निर्विकल्पक प्रतिभासरूपा निर्विचारा समापत्ति की प्रधानता है । इन चारों समापत्तियों में पहली तीन समापत्तियाँ निर्विचारार्थ ही हैं अर्थात् निर्विचारा समापत्ति की अङ्ग हैं, इसलिए निर्विचारा समापत्ति के फल से ही वे तीनों फलवान् हैं, उक्त तीनों का पृथक् फल नहीं है[25] । प्रकृष्ट अभ्यास के बल से निर्विचारा समापत्ति की विशारदता=प्रवीणता=निर्मलता होने पर -- रजोगुण--तमोगुण से अनभिभूत = अतिरस्कृत सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर 'अध्यात्म-प्रसाद' होता है अर्थात् क्लेश और वासनाओं से रहित चित्त का भूतार्थविषयक= परमाणुरूप भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृतिपर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थविषयक क्रम के अनुरोध के बिना ही एक ही काल में स्फुट=साक्षात्काररूप ' प्रज्ञालोक' प्रकट होता है । इसी प्रकार भोगभाष्य भी कहता है--

"शैलशिखरारूढ पुरुष भूमिस्थित पुरुषों को जैसे अल्प देखता है, वैसे ही प्राज्ञ=उक्त साक्षात्कारयुक्त योगी प्रज्ञाप्रसादरूप शैलशिखर पर आरूढ होकर स्वयं शोकरहित होता हुआ अपने से अन्य सब अज्ञानी पुरुषों को शोकयुक्त देखता है । "

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (योगसूत्र, 1.48) = 'निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्यकाल में जो प्रज्ञा= अध्यात्मप्रसादरूप बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह 'ऋतंभरा' कही जाती है ।' तत्र = तस्मिन्= निर्विचारा समापत्ति की विशारदता से जन्य प्रज्ञाप्रसाद= अध्यात्मप्रसाद के होने पर जो समाहित-चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह 'ऋतंभरा' होती है । जो ऋत= सत्य को ही धारण करती है, जिसमें विपर्यास ज्ञान = मिथ्याज्ञान का गन्ध= लेश भी नहीं होता, वह 'ऋतंभरा' है । यह 'ऋतंभरा' यौगिकी समाख्या= संज्ञा है । यह उत्तम योग है । ऐसा ही भाष्य भी कहता है :--

24. अध्यात्म-प्रसाद = 'यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः (योगभाष्य, 1.47) = जब निर्विचार समाधि का यह वैशारद्य लब्ध हो जाता है तब योगी को परमाणुरूप भूतसूक्ष्म से आरम्भ कर प्रकृतिपर्यन्त सर्व सूक्ष्म पदार्थों का क्रम के अनुरोध के बिना ही एक ही काल में साक्षात्काररूप प्रज्ञालोक प्राप्त हो जाता है । वही प्रज्ञालोक 'अध्यात्मप्रसाद' कहा जाता है । बुद्धि में जो प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता रहती है, वह 'अध्यात्म-प्रसाद' है ।

25. 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' – 'फलवान् की सन्निधि में अफल भी फ़लवान् का अङ्ग हो जाता है' – यह न्याय प्रसिद्ध है ।

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥' इति ।

सा तु 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (पा० द० 1.49) श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयमेव । न हि विशेषेण सह कस्यचिच्छब्दस्य संगतिर्ग्रहीतुं शक्यते । तथाऽनुमानं समान्यविषयमेव । न हि विशेषण सह कस्यचिव्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्यते । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति

"आगम नाम श्रवण का, अनुमान नाम मनन का, और ध्यानाभ्यासरस नाम निदिध्यासन का है । इन तीनों साधनों से तीन प्रकार की प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है ।"

वह ऋतंभरा प्रज्ञा 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (योगसूत्र, 1.49)= भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थविषयक होने से श्रुत=वेद-शास्त्रजन्य प्रज्ञा तथा अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्न विषयक है । श्रुतरूप जो आगम-प्रमाणजन्य विज्ञान है वह सामान्यविषयक ही होता है, विशेषविषयक नहीं, क्योंकि आगमरूप प्रमाण से प्रकृति, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुष-गत अपरोक्षरूप विशेष अर्थ का कथन करना शक्य नहीं है । आगम प्रमाण से उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष अर्थ का ज्ञान क्यों शक्य नहीं है ? इस कारण से शक्य नहीं है कि किसी भी शब्द की संगति का ग्रहण विशेष के साथ नहीं हो सकता । शास्त्र जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत करता है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्यरूप से ही बोधन करता है, न कि विशेषरूप से । जैसे-- गो, वृक्षादि शब्दों के श्रवण से गो, वृक्षादि का सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादि का विशेष ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण भी सामान्यविषयक ही होता है, विशेषविषयक नहीं; क्योंकि किसी भी लिङ्ग की व्याति का ग्रहण विशेष के साथ नहीं हो सकता । अत: श्रुत=आगम और अनुमान का विषय विशेष कुछ नहीं है किन्तु इन दोनों का विषय सामान्य ही है ।

यदि कहें कि आगम तथा अनुमान उक्त सम्बन्धग्रह सापेक्ष होने से सामान्यविषयक भले हों, किन्तु इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष तो विशेषविषयक है । तो इसका उत्तर यह है कि इस सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण=ज्ञान नहीं होता है । अर्थात् जैसे निर्विचारा-समापत्तिजन्य ऋतंभरा प्रज्ञा प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थ का साक्षात्कार करती है, वैसे इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष प्रज्ञा उक्त प्रकृत्यादिगत विशेषरूप अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकती है । अतएव यह ऋतंभरा प्रज्ञा श्रुत, अनुमान और इन्द्रियजन्य लोकप्रत्यक्ष से अन्य और उत्कृष्ट है ।

यदि कहें कि उक्त प्रकृतिगत, भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेष उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय न होने से पदार्थ ही नहीं हैं, तो इसका उत्तर है कि उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय होने पर भी उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष का अभाव नहीं है, किन्तु वह विशेष-- चाहे परमाणु आदि भूतसूक्ष्मगत हो अथवा पुरुषगत हो-- समाधिजन्य ऋतंभरा प्रज्ञा से ग्राह्य ही होता है । अत: निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्य से समुत्पन्न, श्रुत और अनुमान से विलक्षण; सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी विशेषों को विषय करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए ही योगी को महान् प्रयत्न करना चाहिए-- यह निष्कर्ष है[26] ।

26. भाव यह है कि पदार्थ के दो रूप होते हैं – सामान्य और विशेष । 'सामान्य' वह है जो उस प्रकार के सभी पदार्थों में पाया जाता है, और 'विशेष' वह है जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना रूप है जिससे एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एकदूसरे से भेद हो सकता है । श्रुत = आगम-शास्त्रजन्य ज्ञान वस्तु के सामान्यरूप को

किं तु समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्मान्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवायां श्रुतानुमानविलक्षणायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टसर्वविशेषविषयायामृतंभरायामेव प्रज्ञायां योगिना महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

42 **ननु क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यव्युत्थानसंस्काराणामेकाग्रतायामपि सवितर्कनिर्वितर्कसविचारजानां संस्काराणां सद्भावात्तैश्चाल्यमानस्य चित्तस्य कथं निर्विचारवैशारद्यपूर्वकाध्यात्मप्रसादलभ्यर्तंभरा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यादत आह -- 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (पा० द० 1.50) तयर्तम्भरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः स तत्त्वविषयया प्रज्ञया जनितत्वेन बलवत्त्वादन्यान्व्यु-**

42 यदि शङ्का करें कि 'क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त संज्ञक व्युत्थान के संस्कारों की एकाग्रता होने पर भी सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार समाधिजनित संस्कारों के रहने से उनसे चंचल हुए चित्त में निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्य से होने वाले अध्यात्मप्रसाद से प्राप्त होनेवाली ऋतंभरा प्रज्ञा किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकती है ?' -- तो कहते हैं -- 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (योगसूत्र, 1.50)= 'ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सभी व्युत्थान के संस्कारों का प्रतिबन्धक[27] = बाधक (रोकने वाला) होता है ।' उस ऋतंभरा प्रज्ञा से जनित जो संस्कार होता है वह तत्त्वविषयिणी प्रज्ञा से जनित होने के कारण अधिक बलवान् होने से अन्य व्युत्थानजनित और समाधिजनित संस्कारों को, जो तत्त्वविषयिणी प्रज्ञा से जनित न होने के कारण दुर्बल होते हैं, प्रतिबद्ध अर्थात् अपना कार्य करने में असमर्थ कर देता है या नष्ट कर देता है[28] । उन व्युत्थान संस्कारों के अभिभव=तिरस्कृत होने से उनसे उत्पन्न होने वाली जो प्रमाण, विपर्यय आदि चित्तवृत्तियाँ (प्रत्यय) थीं वे उत्पन्न नहीं होने पाती हैं, किन्तु निरुद्ध हो जाती हैं । चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर निर्विचार-समाधि उपस्थित हो जाती है । समाधि प्राप्त होने के पश्चात् निर्विचार--समाधि से जन्य ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है । ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् ऋतंभरा प्रज्ञा से जन्य संस्कार प्राप्त होते हैं । इस प्रकार नवीन-नवीन संस्काररूप

ही विषय करता है, विशेष को नहीं, क्योंकि विशेष के साथ शब्द का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है । शास्त्र ने जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत किया है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्यरूप से ही बोधन करता है, न कि विशेषरूप से । जैसे-- गो, अश्व आदि शब्दों के श्रवण से गो, अश्व आदि का सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, अश्व आदि का विशेष ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान-प्रमाण भी सामान्यरूप से वस्तु का ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेषरूप से नहीं, क्योंकि अनुमान में लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है, जहाँ लिङ्ग की प्राप्ति नहीं होगी वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे-- 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है; जहाँ गति का अभाव है वहाँ प्राप्ति का अभाव है' । मात्र प्रत्यक्षप्रमाण ही वस्तु के विशेषरूप को दिखलाने में समर्थ होता है; किन्तु इन्द्रिय-जन्य लोक-प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के प्रत्यक्षरूप को दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों को । पञ्च तन्मात्राएँ, अहंकार, महतत्त्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी पहुँच नहीं है । निर्विचारा समापत्ति की विशारदता = प्रवीणता = निर्मलता में समुत्पन्न ऋतंभरा प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेषरूप का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं । अतएव यह ऋतंभरा प्रज्ञा विशेषविषयक होने से श्रुत- अनुमान प्रज्ञा से अन्य है । यह उत्तम योग है । यही परम प्रत्यक्ष है । यह श्रुत और अनुमान की बीज है । इस ऋतंभरा प्रज्ञा के लिए ही योगी को महान् यत्न करना चाहिए ।

27. प्रतिबन्ध= सम्पूर्ण कार्य-सामग्री रहने पर जिसके कारण से कार्य नहीं होता वह 'प्रतिबन्ध' कहा जाता है ।

28. प्रकृत में 'प्रतिबन्ध' के सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के अभिप्राय से दो अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं – प्रतिबध्नाति= स्वकार्याक्षमान्करोति नाशयतीति वा । प्रथम अर्थ सत्कार्यवाद के अभिप्राय से कहा गया है, क्योंकि सत्कार्यवाद में वस्तु का अत्यन्त नाश नहीं होता किन्तु स्वकारण में लीन होने से 'स्वकार्याक्षम' होता है । द्वितीय अर्थ असत्कार्यवाद के अभिप्राय से कहा है, क्योंकि असत्कार्यवाद में नवीन वस्तु उत्पन्न होती है तो पूर्व का सर्वथा विनाश हो जाता है ।

त्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारानतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितत्वेन दुर्बलान्प्रतिबध्नाति स्वकार्याक्षमान्करोति नाशयतीति वा । तेषां संस्काराणामभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । ततः समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा । ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो वर्धते । ततश्च प्रज्ञा । ततश्च संस्कारा इति ।

43 **ननु भवतु व्युत्थानसंस्काराणामतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितानां तत्त्वमात्रविषयसंप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाप्रभवैः संस्कारैः प्रतिबन्धस्तेषां तु संस्काराणां प्रतिबन्धकाभावादेकाग्रभूमावेव सबीजः समाधिः स्यान्न तु निर्बीजो निरोधभूमाविति तत्राऽऽह -- 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पा० द० 1.51) तस्य संप्रज्ञातस्य समाधेरेकाग्रभूमिजस्य, अपिशब्दात्क्षिप्तमूढविक्षिप्तानामपि निरोधे योगिप्रयत्नविशेषेण विलये सति सर्वनिरोधात्समाधेः समाधिजस्य संस्कारस्यापि निरोधान्निर्बीजो निरालम्बनोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति । स च सोपायः प्राक्सूत्रितः 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पा० द० 1.18) इति । विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कविचारानन्दास्मितादिरूपचिन्तात्यागः । तस्य प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यमिति यावत् । विरामश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति वा । तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनं, तदेव पूर्वं कारणं यस्य स तथा संस्कारमात्रशेषः सर्वथा निर्वृत्तिकोऽन्यः पूर्वोक्तात्सबीजाद्विलक्षणो निर्बीजोऽसंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः । संप्रज्ञातस्य हि समाधेर्द्वावुपायावुक्तावभ्यासो वैराग्यं च । तत्र**

वासना की वृद्धि होती रहती है । और उस समाधिसंस्कार से ऋतंभरा प्रज्ञा तथा ऋतंभरा प्रज्ञा से समाधि-संस्कार-- इस प्रकार संस्कार और प्रज्ञा का चक्र चलता रहता है अर्थात् प्रतिदिन प्रज्ञा से संस्कार तथा संस्कार से प्रज्ञा का उदय होता रहता है ।

43 यदि कोई कहे कि 'तत्त्व को विषय न करने वाली प्रज्ञा से जनित व्युत्थान संस्कारों का तत्त्वमात्र को विषय करनेवाली संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों से प्रतिबन्ध भले ही हो जाय, किन्तु उन सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाजनित संस्कारों का कोई प्रतिबन्धक न होने से एकाग्रभूमि में ही सबीज समाधि होगी, निरुद्धभूमि में निर्बीज समाधि नहीं होगी', तो सूत्रकार कहते हैं -- 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (योगसूत्र, 1.51) = 'परवैराग्य के अभ्यास से प्रज्ञा तथा प्रज्ञाजन्य संस्कार -- इन दोनों का निरोध होने पर नूतन तथा पुरातन सब संस्कारों का निरोध होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह निर्बीज समाधि कही जाती है' । अर्थात् एकाग्रभूमिजन्य सम्प्रज्ञात समाधि का और 'अपि' शब्द से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों का भी निरोध होने पर = योगी के प्रयत्नविशेष से एकाग्रभूमिजन्य सम्प्रज्ञात समाधि का तथा 'अपि' शब्द से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों का भी विलय होने पर सबका निरोध होने से = समाधि और समाधिजन्य संस्कार का भी निरोध होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह निर्बीज = निरालम्बन असम्प्रज्ञात समाधि होती है । वह उसके उपाय सहित पहले ही सूत्रकार के द्वारा सूचित की गई है -- 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः[29]' (योगसूत्र, 1.18) = 'सर्ववृत्तियों के निरोध-विराम का प्रत्ययकारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः पुनः अनुष्ठानरूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह अन्य =असम्प्रज्ञात समाधि है' । 'विरम्यतेऽनेनेति विरामः' = जिसके द्वारा विरत हुआ जाता है वह विराम अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितादिरूप चिन्ता का त्याग है, उसका जो प्रत्यय=

29. प्रस्तुत सूत्र में 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः', 'संस्कारशेषः' और 'अन्यः' -- ये तीन पद हैं, इनमें से पहले विशेषण 'विरामप्रत्ययः' से असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय, दूसरे विशेषण 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण और तीसरे 'अन्यः' से लक्ष्य -- असम्प्रज्ञातसमाधि का निर्देश किया है ।

सालम्बनत्वादभ्यासस्य न निरालम्बनसमाधिहेतुत्वं घटत इति निरालम्बनं परं वैराग्यमेव हेतुत्वेनोच्यते। अभ्यासस्तु संप्रज्ञातसमाधिद्वारा प्रणाड्योपयुज्यते। तदुक्तं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पा० द० 3.7) धारणाध्यानसमाधिरूपं साधनत्रयं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाररूप-साधनपञ्चकापेक्षया सबीजस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनम्। साधनकोटौ च समाधिशब्देनाभ्यास एवोच्यते। मुख्यस्य समाधेः साध्यत्वात्। 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० द० 3.8) निर्बीजस्य तु समाधेस्तदपि त्रयं बहिरङ्गं परम्परयोपकारि तस्य तु परं वैराग्यमेवान्तरङ्गमित्यर्थः।

44 **अयमपि द्विविधो भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च। 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' (पा० द० 1.19) विदेहानां सानन्दानां प्रकृतिलयानां च सास्मितानां देवानां प्राग्व्याख्यातानां जन्मविशेषादोषधि-विशेषान्मन्त्रविशेषात्तपोविशेषाद्वा यः समाधिः स भवप्रत्ययः। भवः संसार आत्मानात्म-**

कारण अर्थात् परवैराग्य है। अथवा, 'विरमश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति' = विरामरूप जो प्रत्यय = चित्तवृत्तिविशेष है -- यह अर्थ भी है। उसका अभ्यास = पुनः-पुनः चित्त में निवेशन-सन्निवेश ही है पूर्व अर्थात् कारण जिसका वह इसप्रकार संस्कारमात्रशेष सर्वथा निर्वृत्तिक-वृत्तिशून्य अन्य अर्थात् पूर्वोक्त सबीज समाधि से विलक्षण निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि के दो उपाय कहे गये हैं -- अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यास आलम्बनसहित होता है, इसलिए यह आलम्बनशून्य निर्बीज समाधि का कारण नहीं हो सकता, अतः इसके कारणरूप से आलम्बनशून्य परवैराग्य ही कहा जाता है। अभ्यास तो सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा परम्परा से इसमें उपयोगी है। कहा भी है -- 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (योगसूत्र, 3.7) = धारणा, ध्यान और समाधिरूप ये तीन साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहाररूप पाँच साधनों की अपेक्षा सबीज समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं। यहाँ साधनकोटि में 'समाधि' शब्द से 'अभ्यास' ही कहा जाता है, क्योंकि मुख्य समाधि तो साध्य ही है। किन्तु 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (योगसूत्र, 3.8) = 'ये धारणा, ध्यान और समाधिरूप तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन होने पर भी निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं'। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसीप्रकार धारणा, ध्यान और समाधि परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका तो अन्तरङ्ग साधन[30] पर-वैराग्य ही है।

44 यह निर्बीज समाधि भी दो प्रकार की है -- भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। इनमें 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् (योगसूत्र, 1.19) = विदेह = सानन्दसमाधिनिष्ठ और प्रकृतिलय = सास्मितसमाधि-निष्ठ देवताओं को, जिनकी पहले व्याख्या की जा चुकी है, जन्मविशेष, औषधिविशेष, मन्त्रविशेष अथवा तपविशेष से जो समाधि प्राप्त होती है वह 'भवप्रत्यय' है। भव अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेक का अभावरूप संसार है प्रत्यय = कारण जिसका वह, अथवा, जो पक्षियों के आकाशगमन

30. जो साधन साध्य के समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधन के दृढ़ होने के पश्चात् साध्य की सिद्धि अवश्य ही हो, वह अन्तरङ्ग साधन कहलाता है। धारणा, ध्यान और समाधि – ये तीनों साधन सालम्बन ध्येयरूप समान विषयवाले होते हैं और उनके दृढ़ होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिए वे सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन निर्विषय होती है और धारणादि संयम के दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जाय, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसलिए धारणादि निर्बीज समाधि के प्रति बहिरङ्ग साधन है। इसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य ही है जो निर्बीज समाधि के समान निरालम्ब और निर्विषय है और जिसके दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है।

विवेकाभावरूपः प्रत्ययः कारणं यस्य स तथा । जन्ममात्रहेतुको वा पक्षिणामाकाशगमनवत्, पुनः संसारहेतुत्वान्मुमुक्षुभिर्हेय इत्यर्थः । 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (पा० द० 1.20) जन्मौषधिमन्त्रतपःसिद्धव्यतिरिक्तानामात्मानात्मविवेकदर्शिनां तु यः समाधिः स श्रद्धादिपूर्वकः । श्रद्धादयः पूर्वं उपाया यस्य स तथा, उपायप्रत्यय इत्यर्थः । तेषु श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः । सा हि जननीव योगिनं पाति । ततः श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुत्साह उपजायते । समुपजातवीर्यस्य पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते । तत्स्मरणाच्च चित्तमनाकुलं सत्समाधीयते । समाधिरत्रैकाग्रता । समाहितचित्तस्य प्रज्ञा भाव्यगोचरा विवेकेन जायते । तदभ्यासात्पराच्च वैराग्याद्भवत्यसंप्रज्ञातः समाधिर्मुमुक्षूणामित्यर्थः । 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन तस्यामपि सर्ववृत्तिनिरोधावस्थायां चित्तपरिणामप्रवाहस्तज्जन्यसंस्कारप्रवाहश्च भवत्येवेत्यभिप्रेत्य संस्कारशेष इत्युक्तम् । तस्य च संस्कारस्य प्रयोजनमुक्तम्-- 'ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (पा० द० 3.10) इति । प्रशान्त-

के समान केवल जन्मरूप हेतु से ही सिद्ध हो जाती है वह 'भवप्रत्यय' समाधि कही जाती है । अर्थ यह है कि यह समाधि पुनः संसारप्राप्ति की हेतु होने के कारण मुमुक्षुओं के लिए हेय है । तथा 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (योगसूत्र, 1.20) = जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से सिद्ध योगियों के अतिरिक्त अन्य आत्मा-अनात्मा का विवेकदर्शन करनेवाले योगियों को जो समाधि प्राप्त होती है वह श्रद्धादिपूर्वक अर्थात् श्रद्धा आदि पूर्व उपाय हैं जिसके वह होती है अर्थात् वह 'उपायप्रत्यय' होती है । उनमें 'श्रद्धा'[31] योगविषय में चित्त के प्रसाद को कहते हैं । वह जननी-माता के समान योगी की रक्षा करती है । उससे श्रद्दधान = श्रद्धालु विवेकार्थी को वीर्य अर्थात् उत्साह उत्पन्न होता है । जिसमें उत्साह उत्पन्न हो गया है उस योगी को पिछली भूमिकाओं की स्मृति होती है । उन भूमिकाओं का स्मरण होने से चित्त व्याकुलता छोड़कर समाहित हो जाता है । यहाँ 'समाधि' एकाग्रता को कहा है । समाहितचित्त की प्रज्ञा विवेक के द्वारा भाव्यगोचरा हो जाती है । उसके अभ्यास और परवैराग्य के द्वारा मुमुक्षुओं को असम्प्रज्ञात समाधि होती है -- यह तात्पर्य है । 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' = 'चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य सब भाव = पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी होते हैं' -- इस न्याय से उस सर्ववृत्तिनिरोधावस्था में भी चित के परिणाम का प्रवाह और तज्जन्य संस्कारों का प्रवाह चलता रहता ही है -- इस अभिप्राय से असम्प्रज्ञात समाधि को सूत्र में 'संस्कारशेषः' कहा है । उस संस्कार का प्रयोजन सूत्रकार ने कहा है -- 'ततः[32] प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (योगसूत्र, 3.10) = 'निरोधसंस्कार के अभ्यास से उस निरोध अवस्थाक चित्त की व्युत्थानसंस्काररूप मल से रहित निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवहनशील स्थिति

31. 'श्रद्धा' योगविषयक चित्त की प्रसन्नता है, जो आगम, अनुमान तथा आचार्य-उपदेश से ज्ञात यथार्थ वस्तुविषयक इच्छाविशेष है, जिसको अभिरुचि, रति तथा उत्कटेच्छा कहते हैं । वह योगियों को ही सम्भव होती है, इन्द्रियादि अनात्म-पदार्थ में आत्माभिमानियों को सम्भव नहीं होती, क्योंकि उनकी अभिरुचि व्यामोह मूलक होने से असंप्रसादरूप होती है, सप्रंसादरूप नहीं । यदि कहें कि योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा क्यों कही जाती है ? तो इसका उत्तर है कि वह श्रद्धा कल्याण करने में समर्थ माता के समान योगिजन की जन्मादि अनर्थ से रक्षा करती है, अतः मोक्षहेतुक होने से योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा है, न कि विदेह प्रकृतिलयों की, क्योंकि अधिकार-समाप्ति के पश्चात् पुनरावृत्ति होने से उनकी श्रद्धा कल्याण का हेतु नहीं होती ।

32. यहाँ 'ततः' के स्थान पर 'तस्य' पाठ है ।

वाहिता नामावृत्तिकस्य चित्तस्य निरिन्धनाग्निवत्प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः । यथा समिदाज्याद्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति। समिदादिक्षये तु प्रथमक्षणे किंचिच्छाम्यति। उत्तरोत्तरक्षणेषु त्वधिकमधिकं शाम्यतीति क्रमेण शान्तिर्वर्धते। तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति । तत्र पूर्वप्रशमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम् । तदा च निरिन्धनाग्निवच्चित्तं क्रमेणोपशाम्यद्व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारैः सह स्वस्यां प्रकृतौ लीयते। तदा च समाधिपरिपाकप्रभवेन वेदान्तवाक्यजेन सम्यग्दर्शनेनाविद्यायां निवृत्तायां तद्धेतुकदृग्दृश्यसंयोगाभावाद्वृत्तौ पञ्चविधायामपि निवृत्तायां स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते। तदुक्तं 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (पा० द० 1.3) इति। तदा सर्ववृत्तिनिरोधे। वृत्तिदशायां तु नित्यापरिणामिचैतन्यरूपत्वेन तस्य सर्वदा शुद्धत्वेऽप्यनादिना दृश्यसंयोगेनाऽऽविद्यकेनान्तःकरणतादात्म्याध्यासादन्तःकरणवृत्तिसारूप्यं प्राप्नुवन्नभोक्ताऽपि

होती है' । 'प्रशान्तवाहिता' का अर्थ है-- अवृत्तिक= वृत्तिशून्य चित्त का निरिन्धन = ईधनशून्य अग्नि के समान प्रतिलोम परिणाम से उपशम = शान्त हो जाना । जैसे – काष्ठ, घृत आदि की आहुति डालने से अग्नि उत्तरोत्तर वृद्धि से प्रज्वलित होती है और काष्ठादि का क्षय होने पर कुछ तो प्रथम क्षण में शान्त होती है तथा उत्तरोत्तर क्षणों में अधिक-अधिक शान्त होती है -- इस प्रकार अग्नि की शान्ति क्रमशः बढ़ती जाती है; इसीप्रकार निरुद्धचित्त का भी उपशम उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है । इसमें पूर्व -- प्रथम उपशम से जनित संस्कार ही उत्तरोत्तर उपशम का कारण होता है । फिर चित्त ईंधनशून्य अग्नि के समान क्रम से शान्त होता हुआ व्युत्थान समाधि और निरोधसंस्कारों के साथ अपने कारण में लीन हो जाता है । तब समाधि के परिपाक से उत्पन्न वेदान्तवाक्यजनित सम्यग्ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर तद्धेतुक = उससे होनेवाले द्रष्टा और दृश्य के संयोग के अभाव द्वारा प्रमाणादि पाँच प्रकार की वृत्तियों के भी निवृत्त हो जाने पर स्वरूप में प्रतिष्ठित-स्थित हुआ पुरुष शुद्ध, केवल और मुक्त कहा जाता है । सूत्रकार ने कहा भी है – 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसूत्र, 1.3) = 'तब = सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधिकाल में द्रष्टा = चितिशक्तिरूप पुरुष की आरोपित शान्त, घोर और मूढ़ रहित निर्विषय चैतन्यमात्र प्रकाश स्वरूप में अवस्थिति होती है' । तदा = सर्ववृत्तिनिरोधे अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर । वृत्तिदशा में यद्यपि नित्य, अपरिणामी, चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा-सर्वदा शुद्ध ही रहता है तथापि अविद्याजनित अनादि दृग्-दृश्यसंयोग से अन्तःकरण में तदात्माध्यासवश अन्तःकरणवृत्तिसारूप्य का अनुभव करता हुआ अर्थात् अन्तःकरण के धर्म को वस्तुतः आत्मधर्म मानता हुआ स्वरूप से दुःखों का अभोक्ता होने पर भी वह अध्यासरूप से दुःखों का भोक्ता हो जाता है । यह सूत्रकार ने कहा है -- 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (योगसूत्र, 1.4) = 'निरोध से भिन्न व्युत्थान काल में बुद्धि द्वारा समर्पित विषय होने से वृत्ति के स्वरूप के समान स्वरूपवाला होकर चितिशक्तिरूप पुरुष भासता है' । इतरत्र = वृत्तिप्रादुर्भावे अर्थात् वृत्तियों के उत्पन्न होने पर । इसी का विवरण सूत्रकार ने किया है -- 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (योगसूत्र, 4.23) = 'द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त चित्त सर्वार्थ = सारे अर्थोंवाला -- आकारवाला होता है' । द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त चित ही विषयी और विषयरूप से भासित होनेवाला, चेतन और अचेतन स्वरूप को प्राप्त हुआ, विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक-सा और अचेतन होने-पर भी चेतन-सा -- इस प्रकार स्फटिकमणि के समान सर्वार्थ = सब अर्थोंवाला --आकारवाला कहा जाता है[33] । इस वृत्तिसारूप्य-- चित्तसारूप्य

भोक्तेव दु:खानां भवति । तदुक्तं 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (पा० द० 1.4) इतरत्र वृत्तिप्रादुर्भावे । एतदेव विवृतं 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (पा० द० 4.23) चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (पा० द० 4.24) यस्य भोगापवर्गार्थं

के कारण भ्रान्त कोई तार्किकादि उसी को = चित्त को 'चेतन' कहते हैं[34] । 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (योगसूत्र, 4.24) = 'वह चित्त असंख्य वासनाओं के द्वारा चित्रित है तो भी संहत्य = विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिलकर कार्य करनेवाला होने से परार्थ अर्थात् अपने से अन्य जो पुरुष है उसके लिए भोग तथा मोक्ष का सम्पादन करनेवाला है । अत: जिसके भोग तथा मोक्ष का सम्पादक चित्त है वह चित्त से अतिरिक्त आत्मा अवश्य स्वीकार करने योग्य है ।' तात्पर्य यह है कि जिसके भोग और अपवर्ग के लिए चित्त है वही पर अर्थात् पुरुष असंहत -- असमुदायात्मक और चेतन है, घटादिवत् संहत्यकारि चित्त चेतन नहीं है । इसप्रकार अनेक युक्तियों से कैवल्य का मूल कारण चित्त से अतिरिक्त आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करके सम्प्रति सूत्रकार उस आत्मा के उपदेश द्वारा साक्षात्कार करने की योग्यतावाला जो अधिकारी है उसका अनधिकारी की अपेक्षा विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं -- 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्ति:' (योगसूत्र, 4.25) = 'विशेषदर्शी उपदेश के अधिकारी पुरुष की अर्थात् चित्त से अतिरिक्त आत्मा के साक्षात्कार करनेवाले योगी पुरुष की जो आत्मभाव-भावना है वह निवृत्त हो जाती है । अर्थात् पूर्वजन्म में 'मैं कौन था, कहाँ था, किस प्रकार से स्थित था, तथा वर्तमान में मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और यह जो मेरा शरीर है वह भूतों का कार्य है अथवा भूतों का समूह है या भूतों से भिन्न है, एवं भविष्य में मैं क्या होऊँगा, कौन होऊँगा और किस प्रकार होऊँगा' -- इसप्रकार का जो विचार है वह 'आत्मभावभावना' कहा जाता है और यह भावना जीवात्मा में अनादि काल से होती चली आती है, परन्तु जब यह आत्मा विशेषदर्शी हो जाती है तब निवृत्त हो जाती है' । इसप्रकार जो अन्त:करण और पुरुष का विशेषदर्शी = विशेष-भेद देखनेवाला है उसकी पहले अविवेक के कारण

33. जिस प्रकार एक स्फटिक-मणि के समीप एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रख दें तो वह एक स्फटिक-मणि ही नीले पुष्प और लाल पुष्प के प्रतिबिम्ब से और तीसरे निज रूप से तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसीप्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुष के प्रतिबिम्ब से और तीसरे अपने रूप से ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूपवाला हो जाता है अर्थात् अपने रूप से ग्रहणाकार, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार और पुरुष के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार होने से चित्त ' सर्वार्थ' है ।

34. चित्त की सर्वार्थता के ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियों को चित्त को पुरुष के प्रतिबिम्ब से भासते हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूप को देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष = आत्मा नहीं है तथा उसके दृश्य के प्रतिबिम्ब से भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूप को देखकर किसी-किसी को यह भ्रम होता है कि चित्त से भिन्न कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है । जैसा कि 'विज्ञानवाद' के अनुसार कहा गया है – 'चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है । चित्त के अतिरिक्त अन्य वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका विनाश होता है । चित्त ही एकमात्र तत्त्व है । बाह्य दृश्य जगत् कदापि विद्यमान नहीं है । चित्त एकाकार है, किन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूप से दिखाई देता है । कभी वह देह के रूप में और कभी भोग – वस्तुओं के उपभोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, अत: चित्त ही वास्तव में सत्ता है । जगत् उसी का परिणाम है । चित्त ही द्विविध रूप से प्रतीयमान होता है -- ग्राह्य-विषय और ग्राहक-विषयी । भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धि -- चित्त में ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहण – इस त्रिपुटी की कल्पना कर उसको भेदवान् बनाता है (लंकावतार सूत्र, 3.63-65 + अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनै: । ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। ') ।

तत्स एव परश्चेतनोऽसंहतः पुरुषो न तु घटादिवत्संहत्यकारि चित्तं चेतनमित्यर्थः । एवं च 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' (पा० सू० 4.25) एवं योऽन्तःकरणपुरुषयोर्विशेषदर्शी तस्य याऽन्तःकरणे प्रागविवेकवशादात्मभावभावनाऽऽसीत्सा निवर्तते, भेददर्शने सत्यभेदभ्रमानुपपत्तेः ।

45 सत्त्वपुरुषयोर्विशेषदर्शनं च भगवदर्पितनिष्कामकर्मसाध्यं,तल्लिङ्गं च योगभाष्ये दर्शितम् -- यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन सिद्धान्तरुचिवशाद्यस्य लोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गमार्गीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते । यस्य तु तादृशं कर्मबीजं नास्ति तस्य मोक्षमार्गश्रवणे पूर्वपक्षयुक्तिषु रुचिर्भवत्यरुचिश्च सिद्धान्तयुक्तिषु । तस्य कोऽहमासं कथमहमासमित्यादिरात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते । सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तत इति। एवं सति किं स्यादिति तदाह -- 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (पा० द० 4.26) निम्नं जलप्रवहणयोग्यो नीचदेशः । प्राग्भारस्तदयोग्य उच्चप्रदेशः । चित्तं च सर्वदा प्रवर्तमानवृत्तिप्रवाहेण प्रवहज्जलतुल्यं, तत्प्रागात्मानात्माविवेकरूपविमार्गवाहिविषयभोगपर्यन्तमस्याऽऽसीत् । अधुना त्वात्मानात्मविवेकमार्गवाहिकैवल्यपर्यन्तं संपद्यत इति । अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायास्ते सहेतुका निवर्तनीया इत्याह सूत्राभ्यां

जो अन्तःकरण में आत्मभावभावना थी वह निवृत्त हो जाती है, क्योंकि भेद का ज्ञान होने से अभेद का भ्रम नहीं होता है ।

45 यह सत्त्व और पुरुष का जो विशेषदर्शन-भेददर्शन-भेदज्ञान है वह भगवच्चरणारविन्द में समर्पित निष्काम कर्म से सिद्ध होता है । इसका लिङ्ग योगभाष्य में इस प्रकार दिखाया गया है -- जैसे वर्षा ऋतु में तृण-घास के अङ्कुर फूट आने से उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है; वैसे ही मोक्ष के मार्ग का श्रवण करने से सिद्धान्त में रुचि होने के कारण जिसके शरीर तथा नेत्र में रोमहर्ष तथा अश्रुपात देखे जाते हैं, उस पुरुष में भी सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विशेषदर्शन-भेदज्ञान-तत्त्वज्ञान का कारण, अपवर्गमार्गीय-अपवर्गभागीय-मोक्ष का भागी, कर्म से अभिनिर्वर्तित-सम्पादित है -- इस प्रकार का अनुमान होता है । जिसमें ऐसा कर्मबीज = कर्मरूप बीज-कारण नहीं होता है उसकी मोक्ष के मार्ग का श्रवण करने पर पूर्वपक्ष की युक्तियों में रुचि होती है और सिद्धान्तपक्ष की युक्तियों में अरुचि होती है । उस विशेषदर्शी में 'मैं कौन था ? किस प्रकार था ?' -- इत्यादि स्वाभाविकी आत्मभाव-भावना प्रवृत्त होती है । किन्तु विशेषदर्शी की ऐसी भावना निवृत्त हो जाती है । ऐसा होने पर क्या होता है -- यह सूत्रकार कहते हैं -- 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' = 'तदा = विशेषदर्शन अवस्था में अर्थात् विवेकख्याति के उदयकाल में विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त विवेकमार्ग में सञ्चार करनेवाला तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है अर्थात् विवेकरूप मार्ग की ओर प्रवाहित होता हुआ कैवल्यपर्यन्त विश्रान्तिवाला हो जाता है ।' जल के प्रवाह के योग्य नीचे देश को 'निम्न' कहते हैं । जल के प्रवाह के अयोग्य ऊँचे देश को 'प्राग्भार' कहते हैं । 'चित्त' सदा-सर्वदा प्रवर्तमान वृत्तिप्रवाह के कारण बहते हुए जल के समान है । यह पहले विषयों के भोगपर्यन्त आत्मा-अनात्मा के अविवेकरूप विमार्ग -- विपरीत मार्ग की ओर बहनेवाला था । अब यह कैवल्यपर्यन्त आत्मा-अनात्मा के विवेकरूप मार्ग में बहनेवाला हो जाता है । इस विवेकवाही चित्त में जो अन्तराय-विघ्न हैं वे सहेतुक निवर्तनीय हैं-- यह दो सूत्रों

'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्य', 'हानमेषां क्लेशवदुक्तं' (पा० द० 4.27-28) तस्मिन्विवेकवाहिनि चित्ते छिद्रेष्वन्तरालेषु प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाण्यहं ममेत्येवंरूपाणि व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्यः क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति। एषां च संस्काराणां क्लेशानामिव हानमुक्तं, यथा क्लेशा अविद्यादयो ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं प्राप्नुवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावाः संस्काराः प्रत्ययान्तराणि न प्ररोढुमर्हन्ति। ज्ञानाग्निसंस्कारास्तु यावच्चित्तमनुशेरत इति। एवं च प्रत्ययान्तरानुदयेन विवेकवाहिनि चित्ते स्थिरीभूते सति 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' (पा० द० 4.29) प्रसंख्यानं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः शुद्धात्मज्ञानमिति यावत्। तत्र बुद्धेः सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठातृत्वं तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वं च विशोका नाम सिद्धिः फलं तद्वैराग्याच्च कैवल्यमुक्तं 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' (पा० द० 3.49) 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (पा० द० 3.50) इति सूत्राभ्यां, तदेतदुच्यते तस्मिन्प्रसंख्याने सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारैर्विवेकख्यातेः परिपोषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति।

से सूत्रकार कहते हैं -- 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (योगसूत्र, 4.27) तथा 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्' (योगसूत्र, 4.28) = 'उस विवेकवाही चित्त में छिद्रेषु = अन्तरालेषु अर्थात् अन्तरालों में -- बीच-बीच में क्षीण होते हुए भी व्युत्थानानुभवजनित संस्कारों से 'अहम्-मम' -- इस प्रकार के व्युत्थानरूप अन्यान्य प्रत्यय होते रहते हैं। इन संस्कारों का हान-नाश अविद्यादि क्लेशों के हान-नाश के समान कहा है। जैसे अविद्यादि क्लेश ज्ञानाग्नि से दग्धबीजभाव होने पर चित्तरूप भूमि में पुनः अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए जो पूर्व के व्युत्थानसंस्कार होते हैं वे संस्कार अन्य प्रत्ययों को उत्पन्न करनेवाले नहीं होते हैं। ज्ञानाग्नि के संस्कार तो चित्त की स्थितिपर्यन्त उसमें रहते ही हैं। इस प्रकार अन्य प्रत्ययों का उदय नहीं होने से विवेकवाही चित्त के स्थिर होने पर -- 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' (योगसूत्र, 4.29) = 'विवेकज्ञानाभ्यासरूप प्रसंख्यान में भी सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि सिद्धिरूप फल की इच्छा के अभाववाले योगी को सर्वथा -- निरन्तर विवेकख्याति- विवेकज्ञान की प्राप्ति होने से धर्ममेघ समाधि का लाभ होता है।' सत्त्व-चित्त और पुरुष के पार्थक्यज्ञान अर्थात् शुद्ध आत्म-ज्ञान को 'प्रसंख्यान' कहते हैं। इसमें बुद्धि के सात्त्विक परिणाम में संयम करने वाले योगी को स्वामी के समान समस्त गुणपरिणामों का पराभव और सर्वाधिष्ठातृत्व[35] प्राप्त होता है तथा शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मीरूप से स्थित उन गुणपरिणामों का यथावत् विवेकज्ञान और सर्वज्ञातृत्व [36] प्राप्त होता है। यह सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्वरूप फल विशोका नामक सिद्धि कहा जाता है। तथा च विवेकख्याति की निष्ठा से विवेकख्याति तथा तज्जन्य सिद्धि-विषयक परवैराग्य प्राप्त होने से परवैराग्य-जन्य असम्प्रज्ञात-

35. सर्वाधिष्ठातृत्व- सर्वभावाधिष्ठातृत्व = गुणों का कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होने पर उनके सब परिणामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान वर्तना है।

36. सर्वज्ञातृत्व = वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमान काल में धर्मीभाव से अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान 'सर्वज्ञातृत्व' कहलाता है।

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति स्मृतेः ।

धर्मं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारं मेहति सिञ्जतीति धर्ममेघस्तत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्यर्थः । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ततो धर्ममेघात्समाधेर्धर्माद्वा क्लेशानां पञ्चविधानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां कर्मणां च कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लभेदेन त्रिविधानामविद्यामूलानामविद्याक्षये बीजक्षयादात्यन्तिकी निवृत्तिः कैवल्यं भवति । कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तेरात्यन्तिक्या उचितत्वादित्यर्थः ।

46 **एवं स्थिते 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्' इत्यनेन संप्रज्ञातः समाधिरेकाग्रभूमावुक्तः । नियतमानस इत्यनेन तत्फलभूतोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्निरोधभूमावुक्तः । शान्तिमिति निरोधसमाधिजसंस्कारफलभूता प्रशान्तवाहिता । निर्वाणपरमामिति धर्ममेघस्य समाधेस्तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्यहेतुत्वं, मत्संस्थामित्यनेनौपनिषदाभिमतं कैवल्यं दर्शितम् । यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्तं महता प्रयत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः ॥ 15 ॥**

समाधि द्वारा रागादि दोषों का बीज जो अविद्या है उसका क्षय होने पर पुरुष-आत्मा को केवल उक्त सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप तथा स्वरूपप्रतिष्ठारूप एतदुभयात्मक कैवल्य प्राप्त होता है -- यह दो सूत्रों से कहा है -- 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' (योगसूत्र, 3.49)तथा 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (योगसूत्र, 3.50) = 'सत्त्व-प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञाननिष्ठ चित्तवाले योगी को सर्व पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का और सर्व पदार्थों के यथार्थ ज्ञातृत्व का लाभ होता है' तथा 'उस विवेकख्याति के वैराग्य से भी दोषों के बीज का क्षय होने पर कैवल्य होता है' । इसी से यह कहा गया है -- उस प्रसंख्यान के होने पर भी जो अकुसीद = उसके फल की इच्छावाला नहीं है उसको अन्य प्रत्ययों का उदय न होने पर सब प्रकार से विवेकख्याति की पुष्टि हो जाने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है । 'यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय और कर्म -- इस सबकी अपेक्षा योग के द्वारा आत्मदर्शन = आत्मसाक्षात्कार करना ही परम -- श्रेष्ठ धर्म है' -- इस स्मृति के अनुसार जो प्रत्यगात्मा और ब्रह्म के ऐक्य -- एकतारूप साक्षात्कार = धर्म का मेहन- सिंचन करता है वह 'धर्ममेघ' है । वह 'धर्ममेघ' तत्त्वसाक्षात्कार का कारण है । एतदुभयात्मक 'धर्ममेघसमाधि' है -- यह अर्थ है । धर्ममेघ समाधि का फल कहते हैं -- 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' (योगसूत्र, 4.30) = 'उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्यादि क्लेश तथा शुक्लादि कर्म की निवृत्ति होती है ।' उस धर्ममेघ समाधि से या धर्म से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच क्लेशों की तथा कृष्ण, शुक्ल और कृष्णशुल्क भेद से तीन प्रकार के अविद्यामूलक कर्मों की -- अविद्या के क्षय से उनके बीज का क्षय हो जाने के कारण -- आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् कैवल्य-मुक्ति हो जाती है, क्योंकि कारण की निवृत्ति से कार्य की आत्यन्तिकी निवृत्ति होना उचित ही है -- यह तात्पर्य है ।

46 ऐसा स्थित -- निश्चित होने पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृत श्लोक के 'युञ्जनेवं सदाऽऽत्मानम्' = 'इस प्रकार आत्मा को सदा-निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ', -- इस वाक्य से एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि कही गई है । 'नियतमानसः' = 'संयत मनवाला योगी ' -- इस शब्द से निरोधभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि की फलभूता असम्प्रज्ञात समाधि कही गई है । 'शान्तिम्' -- इस विशेषण से निरोधसमाधिजनित संस्कारों की फलभूता प्रशान्तवाहिता स्थिति कही गयी है ।

47 एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याऽहारादिनियममाह द्वाभ्याम् --

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नव चार्जुन ।। 16 ।।

48 यद्भुक्तं सज्जीर्यति शरीरस्य च कार्यक्षमतां संपादयति तदात्मसंमितमन्नं तदतिक्रम्य लोभेनाधिकमश्नतो न योगोऽस्ति अजीर्णदोषेण व्याधिपीडितत्वात् । न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति अनाहारादत्यल्पाहाराद्वा रसपोषणाभावेन शरीरस्य कार्याक्षमत्वात् 'यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' इति शतपथश्रुतेः । तस्माद्योगी नाऽऽत्मसंमितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयादित्यर्थः ।

49 अथवा --

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ।।'

इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकं न्यूनं वाऽश्नतो योगो न संपद्यत इत्यर्थः । तथाऽतिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति हेऽर्जुन सावधानो भवेत्यभिप्रायः । एकश्चकार उक्ताहारातिक्रमसमुच्चयार्थः । अपरोऽत्रानुक्तदोषसमुच्चयार्थः । यथा मार्कण्डेयपुराणे--

---

'निर्वाणपरमाम्' = 'अविद्या की निवृत्ति में पर्यवसित होने वाली' इस शब्द से धर्ममेघ समाधि की तत्त्वज्ञान द्वारा कैवल्य-मोक्ष में हेतुता स्पष्ट की गई है । 'मत्संस्थाम्' = 'मेरे स्वरूप में स्थित' -- इस शब्द से औपनिषदाभिमत कैवल्य प्रदर्शित किया है । क्योंकि इसप्रकार योग का महाफल है इसलिए महान् प्रयत्न से उस योग का सम्पादन करना चाहिए -- यह भगवान् का अभिप्राय है ।। 15 ।।

47 अब दो श्लोकों से इसीप्रकार योगाभ्यासपरायण पुरुष के लिए आहारादि का नियम कहते हैं :-- [हे अर्जुन ! यह योग न तो अधिक भोजन करनेवाले से सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवाले से सिद्ध होता है । इसीप्रकार यह योग न तो अधिक सोनेवाले से सिद्ध होता है और न अधिक जागनेवाले से ही सिद्ध होता है ।। 16 ।।]

48 जो भुक्त -- खाया हुआ अन्न अच्छी तरह पच जाता है और शरीर को स्वकार्य करने में समर्थ करता है वह अन्न 'आत्मसम्मित' होता है । उसका उल्लंघन करके लोभ से -- तृष्णा से अधिक भोजन करनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह तो अजीर्णरूप दोष के कारण व्याधियों से पीड़ित रहता है । न सर्वथा न खानेवाले को ही योग सिद्ध होता है, क्योंकि अनाहार -- न खाने अथवा अत्यल्पाहार -- बहुत कम खाने से रसपोषण न होने के कारण शरीर स्वकार्य करने में समर्थ नहीं होता है । जैसा कि शतपथश्रुति कहती है -- 'जो अन्न आत्मसम्मित होता है वही रक्षा करता है, वह मारता नहीं है, जो अधिक होता है वह मारता है और जो कम होता है वह रक्षा नहीं करता है' । इसलिए योगी को आत्मसम्मित = अपनी आवश्यकता पूर्ति करनेवाले अन्न से अधिक अथवा न्यून अन्न नहीं खाना चाहिए -- यह तात्पर्य है ।

49 अथवा, 'उदर के आधे भाग को अन्न से पूर्ण करे, तीसरे चौथाई को जल से भरे और चौथे भाग को वायु के संचार के लिए खाली रखे' -- इत्यादि योगशास्त्रोक्त परिमाण से अधिक अथवा न्यून भोजन करनेवाले से योग सम्पन्न नहीं होता है -- यह तात्पर्य है । इसीप्रकार अधिक सोनेवाले और अधिक जागनेवाले से योग सम्पन्न नहीं होता है । हे अर्जुन ! सावधान हो जाओ -- यह अभिप्राय

नाऽऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥
नातिशीते न चैवोष्णे न द्वंद्वे नानिलान्विते ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥' इत्यादि ॥ 16 ॥

50 **एवमाहारादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा तन्नियमवतो योगान्वयमाह –**

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ 17 ॥

51 **आह्रियत इत्याहारोऽन्नं विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य, तथाऽन्येष्वपि प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिषु कर्मसु युक्ता नियतकाला चेष्टा यस्य, तथा स्वप्नो निद्रा, अवबोधो जागरणं तौ युक्तौ नियतकालौ यस्य तस्य योगो भवतिं साधनपाटवात्समाधिः सिध्यति नान्यस्य । एवं प्रयत्नविशेषेण संपादितो योगः किंफल इति तत्राऽऽह--दुःखहेति । सर्वसंसारदुःखकारणाविद्योन्मूलनहेतुब्रह्मविद्योत्पादकत्वात्समूलसर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः । अत्राऽऽहारस्य नियतत्वम् --**

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु ।
वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

है । श्लोक के उत्तरार्ध में एक चकार पूर्वोक्त आहार के अतिक्रम से समुच्चय करने के लिए है तथा दूसरा चकार यहाँ न कहे गए दोषों के समुच्चय के लिए है । जैसा कि मार्कण्डेय पुराण में कहा है -- 'हे राजेन्द्र ! योगी को आत्मा की सिद्धि के लिए अधिक भोजन करके, क्षुधित अवस्था में, श्रान्त -- थके होने पर तथा व्याकुलचित्त होने पर योग नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार ध्याननिष्ठ योगी को अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, शीतोष्ण अर्थात् द्वन्द्व अथवा अत्यन्त वायु चलने के समय भी योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए' इत्यादि ॥ 16 ॥

50 इसप्रकार आहारादि के नियमों से रहित योगी को योगाभाव कहकर अब उक्त नियमशील = उन नियमों वाले योगी को योग होता है, यह कहते हैं :--

[यह दुःखहा = दुःखों का नाश करनेवाला योग तो युक्त-नियमित-यथायोग आहार और विहार करनेवाले, कर्मों में यथायोग चेष्टा करनेवाले, तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले पुरुष से ही सिद्ध होता है ॥ 17 ॥

51 'आह्रियत इत्याहारोऽन्नम्' = जिसका आहरण-ग्रहण किया जाय वह 'आहार'[37] अर्थात् अन्न है और विहरण अर्थात् पादक्रम-पादविक्षेप 'विहार' है । आहार और विहार -- ये दोनों युक्त -- नियत परिमाण हैं जिसके उससे; तथा प्रणवजप और उपनिषत्पाठ आदि अन्य कर्मों में भी युक्त अर्थात् नियतसमय पर होती है चेष्टा जिसकी उससे; इसी प्रकार स्वप्न-निद्रा और अवबोध-जागरण -- ये दोनों युक्त -- नियतसमय से होते हैं जिसके उससे- उस पुरुष से ही योग सिद्ध होता है अर्थात्

---

37. 'आहार' शब्द का अर्थ केवल अन्न आदि का आहार-भोजन नहीं है, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् -- इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से जिस प्रकार रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श का आहरण -- ग्रहण किया जाता है वह भी आहार शब्द के अन्तर्गत ही है ।

इत्यादि प्रागुक्तम् । विहारस्य नियतत्वं योजनान्न परं गच्छेदित्यादि । कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वागादिचापलपरित्यागः । रात्रेर्विभागत्रयं कृत्वा प्रथमान्त्ययोर्जागरणं मध्ये स्वपनमिति स्वप्नावबोधयोर्नियतकालत्वम् । एवमन्येऽपि योगशास्त्रोक्ता नियमा द्रष्टव्याः ॥ 17 ॥

52 **एवमेकाग्रभूमौ संप्रज्ञातं समाधिमभिधाय निरोधभूमावसंप्रज्ञातं समाधिं वक्तुमुपक्रमते–**

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ 18 ॥

53 **यदा यस्मिन्काले परवैराग्यवशाद्विनियतं विशेषेण नियतं सर्ववृत्तिशून्यतामापादितं चित्तं विगतरजस्तमस्कमन्तःकरणसत्त्वं स्वच्छत्वात्सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतोनिरुद्धवृत्तिकत्वादात्मन्येव प्रत्यक्चिति अनात्मानुपरक्ते वृत्तिराहित्येऽपि स्वतःसिद्धस्याऽऽत्माकारस्य वारयितुमशक्यत्वाच्चितेरेव प्राधान्याद्व्यग्भूतं सदवतिष्ठते निश्चलं भवति, तदा तस्मिन्सर्ववृत्तिनिरोधकाले**

साधन की कुशलता के कारण समाधि सिद्ध होती है, किसी अन्य से नहीं । इसप्रकार प्रयत्नविशेष से संपादित योग का क्या फल है ? इस पर कहते हैं -- 'दु:खहा' अर्थात् सम्पूर्ण संसारदु:ख की कारणभूता अविद्या की निवृत्ति की हेतुभूता जो ब्रह्मविद्या है उसका उत्पादक होने से वह योग मूलसहित सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति का कारण है । यहाँ आहार की नियतता तो 'उदर का आधा भाग सव्यञ्जन अन्न से पूर्ण करे और तीसरा भाग जल से भरे तथा चौथा भाग वायु के संचार के लिए रिक्त रखे' इत्यादि वाक्यों से पूर्व में ही कही जा चुकी है; विहार की नियतता 'योजनान्न परं गच्छेत्' = 'एक योजन से अधिक न चले' इत्यादि से समझनी चाहिए । कर्मों में चेष्टा की नियतता 'वाणी आदि की चपलता का त्याग' आदि से समझी जाती है ।[38] निद्रा और जागरण की नियतकालता यह है कि रात्रि के तीन भाग करके प्रथम और अन्तिम में जागे तथा मध्य भाग में शयन करे[39] । इसीप्रकार योगशास्त्रोक्त अन्य नियमों को भी समझना चाहिए ।। 17 ।।

52 इसप्रकार एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि को कहकर अब निरोधभूमि में असम्प्रज्ञात समाधि को कहना आरम्भ करते हैं :--

[जिस समय विनियत = विशेषरूप से नियत-संयत चित्त आत्मा में ही स्थित हो जाता है उस समय समस्त विषयों की कामनाओं से नि:स्पृह -- स्पृहारहित पुरुष युक्त -- समाहित योगयुक्त कहा जाता है ।। 18 ।।]

53 यदा = यस्मिन् काले = जिस समय परवैराग्य के द्वारा विनियत = विशेषरूप से नियत संयत = समस्त वृत्तियों की शून्यता को प्राप्त चित्त अर्थात् रजोगुण-तमोगुण से रहित अन्त:करण का सत्त्वगुण स्वच्छ होने के कारण समस्त विषयों का आकार ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी सर्वत: निरुद्धवृत्तिक हो जाने के कारण आत्मा अर्थात् प्रत्यक् चेतन में ही, अनात्मानुपरक्त = अनात्मा में अनुपरक्त वृत्तियों का अभाव होने पर भी उनका स्वत:सिद्ध आत्माकार होना रोका न जाने से तथा चिति-चेतन

---

38. चेष्टा के सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है -- वाक्यों की चपलता आदि वृथा परिश्रम का त्याग कर जो चेष्टाएँ योग के लिए अनुकूल होती है, जैसे -- जप, पूजा, शास्त्रों का पाठ आदि, वे ही नियमपूर्वक योगी को करनी चाहिए ।

39. जागृयाद् दशनाड्यस्तु निद्रा तु दशनाडिकाः ।
पश्चाज्जागरणं तद्वद् दशनाड्यस्तु योगिनः ।।

युक्तः समाहित इत्युच्यते। कः, यः सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः, निर्गता दोषदर्शनेन सर्वेभ्यो दृष्टादृष्टविषयेभ्यः कामेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्येति परं वैराग्यमसंप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं साधनमुक्तम्। तथा च व्याख्यातं प्राक्॥ 18॥

54 **समाधौ निर्वृत्तिकस्य चित्तस्योपमानमाह--**

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 19॥

55 **दीपचलनहेतुना वातेन रहिते देशे स्थितो दीपो यथा चलनहेत्वभावान्नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता स दृष्टान्तश्चिन्तितो योगज्ञैः। कस्य, योगिन एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधिमतोऽभ्यासपाटवाद्यतचित्तस्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरसंप्रज्ञातसमाधिरूपं योगं निरोधभूमौ युञ्जतोऽनुतिष्ठतो य आत्माऽन्तःकरणं तस्य निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च निश्चलो दीपो दृष्टान्त इत्यर्थः।**

56 **आत्मनो योगं युञ्जत इति व्याख्याने दार्ष्टान्तिकालाभः सर्वावस्थस्यापि चित्तस्य सर्वदाऽऽत्माकारतयाऽऽत्मपदवैयर्थ्यं च। न हि योगेनाऽऽत्माकारता चित्तस्य संपाद्यते, किं तु**

की ही प्रधानता होने से न्यग्भूत होकर अर्थात् अभाव को प्राप्त हुआ चित्त जब स्थित अर्थात् निश्चल हो जाता है तो उस समय समस्त वृत्तियों के निरोधकाल में यह युक्त = समाहित कहा जाता है। कौन कहा जाता है ? जो समस्त विषयों की कामनाओं से निःस्पृह है अर्थात् जिसकी दोषदर्शन के कारण दृष्ट और अदृष्ट -- सभी विषयों की कामनाओं से स्पृहा-तृष्णा निकल गई है वह पुरुष युक्त-समाहित कहा जाता है -- इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधनरूप परवैराग्य कहा गया है। ऐसी ही पहले व्याख्या की गई है॥ 18॥

54 समाधि में निर्वृत्तिक चित्त की उपमा कहते हैं :--
[जिस प्रकार निवात -- वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है, वैसे ही उपमा आत्मा-परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के यत-संयत जीते चित्त की कही गई है॥ 19॥]

55 दीपक के चलन-प्रकंपन के हेतुभूत वायु से रहित देश में स्थित दीपक जैसे चलन -- प्रकंपन के हेतु-कारण का अभाव होने से नहीं चलता, वही उपमा-दृष्टान्त योगवेत्ताओं ने कहा है। किसका ? योगी का -- एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात-समाधिवाले का, जिसने अभ्यास के पाटव-कौशल से चित्त को संयत कर लिया है = सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध कर लिया है तथा जो निरोधभूमि में असम्प्रज्ञात समाधिरूप योग का अनुष्ठान-अभ्यास कर रहा है उस योगी का जो आत्मा-अन्तःकरण है उसका निश्चलता और सत्त्वोद्रेक के कारण प्रकाशकता होने से यह निश्चल दीपक दृष्टान्त है -- यह अर्थ है।

56 यदि 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' = 'आत्मा का योग करने वाले' -- ऐसी इसकी व्याख्या करें तो कोई दार्ष्टान्तिक नहीं मिलता है और सभी अवस्थाओंवाले चित्त की सर्वदा आत्माकारता ही रहने से 'आत्मा' पद व्यर्थ हो जाता है। कारण कि चित्त की आत्माकारता योग से सम्पादित नहीं होती, किन्तु स्वतः आत्माकार रहते हुए ही उसकी अनात्माकारता निवृत होती है। अतः दार्ष्टान्तिक का प्रतिपादन करने के लिए ही 'आत्मनः' पद का प्रयोग है[40]। 'यतचित्तस्य'-- यह भावपरक निर्देश

स्वत एवाऽऽत्माकारस्य सतोऽनात्माकारता निवर्त्यत इति । तस्माद्दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमेवाऽऽत्मपदम् । यतचित्तस्येति भावपरो निर्देशः कर्मधारयो वा यतस्य चित्तस्येत्यर्थः ॥ 19 ॥

57 **एवं सामान्येन समाधिमुक्त्वा निरोधसमाधिं विस्तरेण विवरीतुमारभते—**

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 20 ॥

58 **यत्र यस्मिन्परिणामविशेषे योगसेवया योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धमेकविषयकवृत्तिप्रवाहरूपामेकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यन्निर्वृत्तिकतया सर्ववृत्ति-**

है अथवा, 'यतस्य चित्तस्य' -- इस प्रकार कर्मधारय समास है -- यह अर्थ है ॥ 19 ॥

57 इस प्रकार सामान्यरूप से समाधि कहकर निरोधसमाधि का विस्तार से विवरण करना आरम्भ करते हैं -- [योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जहाँ उपरत हो जाता है[41] और जहाँ रजोगुण-तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्वमात्र अन्त:करण से आत्मा को आत्मा--परमात्मा से अभिन्न देखकर योगी आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ 20 ॥]

58 जहाँ अर्थात् जिस चित्तपरिणामविशेष के होने पर योग की सेवा से अर्थात् योगाभ्यास के पाटवकौशल से चित्त निरुद्ध होकर एकविषयक वृत्तिप्रवाहरूप एकाग्रता को त्यागकर ईधनशून्य अग्नि के समान

40. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' – ऐसी व्याख्या करने पर दो आपत्तियाँ कही हैं – श्लोक में कोई दार्ष्टान्तिक नहीं रहेगा और श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द व्यर्थ हो जायेगा । ये दोनों आपत्तियाँ युक्तियुक्त नहीं है । (1) श्लोक में 'यतचित्त' और 'आत्मा' दो शब्द हैं । 'चित्त' शब्द अन्तःकरणवाची है – यह प्रसिद्ध है और 'आत्मा' शब्द गौणीवृत्ति से चित्त का वाचक है । यदि मधुसूदन सरस्वती दार्ष्टान्तिक-लाभ के लिए प्रसिद्ध 'चित्त' शब्द को छोड़कर 'आत्मा' शब्द का 'अन्त:करण' अर्थ करके 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' -- इस व्याख्यान में दार्ष्टान्तिकालाभ और 'आत्मा' शब्द का वैयर्थ्य सिद्ध करते हैं तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ का त्याग कर गौणार्थ ग्रहण करना उचित नहीं है । (2) 'यतचित्त' बहुव्रीहि समास से 'योगी' का विशेषण नहीं है, जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने अर्थ किया है, क्योंकि 'यतचित्तस्य योगिन:' -- यहाँ सामानाधिकरण्य में षष्ठी नहीं हैं जिससे 'यतचित्तयोगी' का बोध हो, किन्तु व्यधिकरण में षष्ठी है, अत: 'योगी का यतचित्त ' – यह अर्थ होगा, फलत: दार्ष्टान्तिकलाभ भी होगा । अथवा, 'यतचित्त' विशेषण न कहकर भाववाचक भी कहा जा सकता है, तब 'योगी की यतचित्तता' -- यह अर्थ होगा और दर्ष्टान्तिकलाभ होगा । किन्तु 'यतचित्त' को भाववाचक स्वीकार करने में समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पनागौरव है । 'यतचित्त' शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पाणिनिसूत्र, 5.1.119) सूत्र से भाव अर्थ में 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय है । प्रकृत्यर्थ में विशेषणभूत -- प्रकारीभूत धर्म 'भाव' कहा जाता है । अत: 'यतचित्तता' का अर्थ 'यतचित्त' होगा । बहुव्रीहि समास करने पर 'चित्त' प्रकृत्यर्थ में 'प्रकार' है, फलत: वही 'त्व' प्रत्ययार्थ है । इसमें समासतद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पनागौरव है । इसलिए 'यतचित्त' में 'यतं च तत् चित्तं च' -- इस प्रकार कर्मधारय समास स्वीकार करना उपयुक्त है, इससे 'यतचित्त' = 'संयतचित्त' का लाभ होता है जो दार्ष्टान्तिक भी है । (3) जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि श्लोकस्थ 'आत्मा' शब्द व्यर्थ होगा, यह कहना भी असङ्गत है, विवेकादियुक्त मन से अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है -- इस अर्थ में 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' के समान योग से आत्मा में अनात्माकारता कि निवृत्ति कर स्वत:सिद्धात्माकारता का जो स्फुरणरूप है उसके अनुष्ठायी योगी का चित्त निर्वातदीप के समान निश्चल है – इस अर्थ में 'आत्मनो योगं युञ्जत इति' -- इस वाक्य के प्रयोग में 'आत्मा' 'शब्द सार्थक है । अन्यथा 'आत्मसंस्थं मन: कृत्वा' -- इस वाक्य में 'आत्मा' शब्द व्यर्थ हो जायेगा (भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

41. यहाँ योग का स्वरूपलक्षण कहा गया है, क्योंकि पातञ्जल योगसूत्र में कहा गया है -- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' (योगसूत्र, 1.2) = चित्तवृत्ति के निरोध को ही 'योग' कहते हैं ' ।

निरोधरूपेण परिणतं भवति । यत्र च यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोनभिभूतशुद्ध-सत्त्वमात्रेणान्तःकरणेनाऽऽत्मानं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्माभिन्नं सच्चिदानन्दघनमनन्तमद्वितीयं पश्यन्वेदान्तप्रमाणजया वृत्त्या साक्षात्कुर्वन्नात्मन्येव परमानन्दघने तुष्यति, न देहेन्द्रियसंघाते न वा तद्भोग्येऽन्यत्र । परमात्मदर्शने सत्यतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेति वा । तमन्तःकरणपरिणामं सर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं विद्यादिति परेणान्वयः । यत्र काल इति तु व्याख्यानमसाधु तच्छब्दानन्वयात् ॥ 20 ॥

59 आत्मन्येव तोषे हेतुमाह–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 21 ॥

शान्त होता हुआ निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य होकर समस्तवृत्तियों के निरोधरूप में परिणत हो जाता है; तथा जहाँ अर्थात् जिस परिणाम के होने पर आत्मा से अर्थात् रजोगुण-तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्वमात्र = अन्तःकरण से आत्मा को = प्रत्यक् चैतन्य को परमात्मा से अभिन्न, सच्चिदानन्दघन, अनन्त, और अद्वितीयरूप से देखते हुए अर्थात् वेदान्तप्रमाणजन्य वृत्ति से साक्षात्कार करते हुए परमानन्दघनस्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है = देहेन्द्रियसंघात में नहीं, अथवा, तद्भोग्य अन्य शब्द-स्पर्शादि विषयों में नहीं; अथवा परमात्मा का दर्शन होने पर अतुष्टि के कारणाभाव से सन्तुष्ट हो ही जाता है । उस अन्तःकरण के परिणाम = सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योग[42] को जाने -- इस प्रकार इसका अगले तेईसवें श्लोक के साथ अन्वय है । यहाँ 'यत्र' का अर्थ 'यस्मिन काले' = 'जिस समय' करना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका तेइसवें श्लोक के 'तं योगं विद्यात्' घटक 'तत्' शब्द से अन्यव नहीं हो सकता है, क्योंकि काल योग नहीं है -- यह स्पष्ट है[43] ॥ 20 ॥

59 आत्मा में ही सन्तोष का कारण कहते हैं :--

42. 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' (गीता, 6.2) = 'हे पाण्डव ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसको ही तुम योग जानो' – इत्यादि श्लोक में 'योग' शब्द का अर्थ 'कर्मयोग' माना गया है, फिर 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति' (गीता, 6.16) = 'हे अर्जुन ! अधिक भोजन करनेवाले से योग सिद्ध नहीं हो सकता' – इत्यादि श्लोकों में 'योग' शब्द से 'समाधि' को कहा गया है, तो शंका होती है कि मुख्य योग कौन-सा है ? इसका उत्तर है कि 'समाधि' ही स्वरूपतः और फलतः मुख्य योग है तथा उस 'समाधि' को ही लक्ष्य करके यहाँ 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है । उस निरोधसमाधिरूप 'योग' को ही भगवान् 20वें श्लोक से लेकर 23वें श्लोक के पूर्वार्ध तक अर्थात् साढ़े तीन श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं ।

43. प्रकृत श्लोक के 'यत्र' शब्द का अर्थ शंकराचार्य ने अपने भाष्य में 'यस्मिन् काले' = 'जिस समय' किया है, किन्तु मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि 'यत्र' शब्द का 'जिस समय' अर्थ करना असंगत है, क्योंकि बाद में 'तत्र' या 'तदा' -- ऐसे शब्द का कोई प्रयोग नहीं है और इसका तेइसवें श्लोक के 'तं योगं विद्यात्' घटक 'तत्' शब्द से अन्वय नहीं हो सकता है । अतः मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार 'यत्र' शब्द का अर्थ है – 'यस्मिन् परिणामविशेषे जाते सति', 'यस्मिन् परिणामे सति' = 'जिस चित्तपरिणामविशेष के होने पर', 'जिस परिणाम के होने पर' । श्रीधर स्वामी ने भी ऐसी ही व्याख्या की है । किन्तु विचार करने पर देखा जाय तो भाष्य में 'यत्र' शब्द का जो अर्थ दिया गया है और मधुसूदन सरस्वती ने जो अर्थ कहा है – उनमें केवल भाषा का ही अन्तर है । दोनों का तात्पर्य एक ही है । भाष्यकार के मत में 'यत्र' शब्द का अभिप्राय यह है -- 'जिस समय अर्थात् जिस समय योगसेवा के द्वारा चित्त का विशेष परिणाम = निरोध परिणाम होता है उस समय' ।

60 **यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेष आत्यन्तिकमनन्तं निरतिशयं ब्रह्मस्वरूपमतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसंप्रयोगानभिव्यङ्ग्यं बुद्धिग्राह्यं बुद्ध्यैव रजस्तमोमलरहितया सत्त्वमात्रवाहिन्या ग्राह्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति । यत्र च स्थितोऽयं विद्वांस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति । तं योगसंज्ञितं विद्यादिति परेणान्वयः समानः ।**

61 **अत्राऽऽत्यन्तिकमिति ब्रह्मसुखस्वरूपकथनम् । अतीन्द्रियमिति विषयसुखव्यावृत्तिः, तस्य विषयेन्द्रियसंयोगसापेक्षत्वात् । बुद्धिग्राह्यमिति सौषुप्तसुखव्यावृत्तिः सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात्, समाधौ निर्वृत्तिकायास्तस्याः सत्त्वात् । तदुक्तं गौडपादैः-- 'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते' इति । तथा च श्रूयते –**

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥' इति ।

अन्तःकरणेन निरुद्धसर्ववृत्तिकेनेत्यर्थः । वृत्त्या तु सुखास्वादनं गौडाचार्यैस्तत्र प्रतिषिद्धम्-- 'नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति । महदिदं समाधौ सुखमनुभवामीति

[जो सुख आत्यन्तिक = अनन्त -- निरतिशय, सात्त्विकी बुद्धि से ग्राह्य और अतीन्द्रिय = इन्द्रियों से अतीत है उसको जिस अवस्था में योगी जानता है = अनुभव करता है तथा जिस अवस्था में स्थित यह योगी तत्त्व से = आत्मास्वरूप से = भगवद्स्वरूप से चलायमान नहीं होता है ॥ 21 ॥]

60 यत्र = यस्मिन् अवस्थाविशेषे = जहाँ अर्थात् जिस अवस्थाविशेष में आत्यन्तिक = अनन्त -- निरतिशय -- ब्रह्मस्वरूप, अतीन्द्रिय = विषय और इन्द्रियों के संप्रयोग-संयोग से अनभिव्यङ्ग्य = अभिव्यक्त न होनेवाला, और बुद्धिग्राह्य = रजोगुण-तमोगुणरूप मल से रहित सत्त्वमात्रवाहिनी बुद्धि से ग्राह्य सुख को योगी जानता है -- अनुभव करता है । तथा जहाँ पर स्थित होकर यह विद्वान् -- तत्त्वज्ञानी तत्त्व से = आत्मस्वरूप से वस्तुतः विचलित नहीं होता है, 'उसको योगसंज्ञक समझे' -- इत्यादि आगे के तेईसवें श्लोक के साथ इसका भी पूर्ववत् अन्वय है ।

61 यहाँ 'आत्यन्तिक' -- इस विशेषण से ब्रह्मसुखस्वरूप का कथन है, वही सर्वथा दु:खासंभिन्न है, स्वर्गादिसुख तो अन्ततः क्षयित्वादिजन्य परिताप से युक्त ही है । 'अतीन्द्रिय' -- इस विशेषण से विषयसुख की व्यवृत्ति की गई है, क्योंकि वैषयिकसुख विषय और इन्द्रियों के संयोग की अपेक्षावाला होता है । तथा 'बुद्धिग्राह्य' -- इस विशेषण से सुषुप्ति के सुख की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि सुषुप्ति में बुद्धि लीन हो जाती है और समाधि में वह निर्वृत्तिक = वृत्तिशून्य होकर रहती है । गौडपादाचार्य ने भी कहा है -- 'सुषुप्तिकाल में तद्बुद्धिरूप अन्त:करण लीन हो जाता है । समाधि में योग से निगृहीत चित्त लीन नहीं होता किन्तु निर्वृत्तिक होकर रहता है' (गौडपादकारिका, 3.35) । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- ''समाधि के द्वारा जिसके मल का मार्जन हो गया है उस चित्त के आत्मा में सन्निवेशित होने पर जो सुख होता है उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, उस समय उसका ग्रहण स्वयं अन्त:करण से ही किया जाता है'' ॥

यहाँ 'अन्त:करणेन' = 'अन्त:करण से' -- इसका अर्थ है -- 'जिसकी समस्त वृत्तियों का निरोध कर लिया गया है उस अन्त:करण से' उक्त सुख का ग्रहण किया जाता है । तत्र = उस अवस्था में वृत्ति के द्वारा सुख का आस्वादन करने का तो गौडपादाचार्य ने भी निषेध किया है -- 'उस स्थिति में सुख का आस्वादन न करे, प्रत्युत उससे बुद्धिपूर्वक नि:सङ्ग रहे' (गौडपादकारिका, 3.45) । 'मैं समाधि में

सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वादः । तं व्युत्थानरूपत्वेन समाधिविरोधित्वाद्योगी न कुर्यात् । अत एवैतादृश्या प्रज्ञया सह सङ्गं परित्यजेत्तां निरुन्ध्यादित्यर्थः । निर्वृत्तिकेन तु चित्तेन स्वरूपसुखानुभवस्तैः प्रतिपादितः – 'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्' इति स्पष्टं चैतदुपरिष्टात्करिष्यते ॥ 21 ॥

62 यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत-इत्युक्तमुपपादयति–

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ 22 ॥

63 यं च निरतिशयात्मकसुखव्यञ्जकं निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा संतताभ्यासपरिपाकेन संपाद्यापरं लाभं ततोऽधिकं न मन्यते । 'कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृतेः । एवं विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनं नास्तीत्युक्त्वा शीतवातमशकाद्युपद्रवनिवारणार्थमपि तन्नास्तीत्याह--यस्मिन्परमात्मसुखमये निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महता शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यते किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः ॥ 22 ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ 23 ॥

इस महान् सुख का अनुभव करता हूँ' -- ऐसी सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वाद है । इसमें योगी सङ्ग न रक्खे, क्योंकि यह व्युत्थानरूप होने से समाधि की विरोधी है । अतएव ऐसी प्रज्ञा के साथ सङ्ग का परित्याग करे अर्थात् उसका भी निरोध करे । उन्हीं गौडपादाचार्य ने निर्वृत्तिक चित्त से स्वरूपसुख के अनुभव का प्रतिपादन किया है -- 'वह निर्वृत्तिक चित्त से होनेवाला सुख स्वस्थ = आत्मस्थ -- आत्मनिष्ठ, शान्त, सनिर्वाण, अकथ्य और उत्तम होता है' (गौडपादकारिका, 3.47), -- इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ॥ 21 ॥

62 'जहाँ पर स्थित होकर यह विद्वान् -- योगी तत्त्व से -- आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता है' -- इस पूर्वोक्तार्थ का उपपादान करते हैं --

[जिस अवस्था को पाकर योगी उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता है और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दु:ख से भी विचलित नहीं होता है ॥ 22 ॥]

63 जिस निरतिशयात्मक सुख को अभिव्यक्त करनेवाली निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य चित्त की अवस्थाविशेष को पाकर = निरन्तर अभ्यास के परिपाक से प्राप्त कर योगी उससे अधिक किसी दूसरे लाभ को नहीं मानता है; जैसा कि स्मृति कहती है -- 'जो करना था वह कर लिया और जो पाना था वह पा लिया -- इसप्रकार आत्मलाभ से उत्कृष्ट लाभ दूसरा नहीं है ।' इसप्रकार विषयभोग की वासना से समाधि से विचलित नहीं होता -- यह कहकर अब शीतवायु और मच्छर आदि के उपद्रव के निवारणार्थ -- वारणार्थ भी समाधि से विचलित नहीं होता -- यह कहते हैं -- जिस परमात्मसुखमयी निर्वृत्तिक चित्त की अवस्थाविशेष में स्थित हुआ योगी गुरु -- महान् अर्थात् शस्त्रपातादि के कारण होने वाले महान् दु:ख से भी विचलित नहीं होता, फिर क्षुद्र अतिस्वल्प मशकाद्युपद्रव से विचलित नहीं होता -- इसमें तो कहना ही क्या है -- यह तात्पर्य है ॥ 22 ॥

64 यत्रोपरमत इत्यारभ्य बहुभिर्विशेषणैर्यो निर्वृत्तिकः परमानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तावस्थाविशेष उक्तस्तं चित्तवृत्तिनिरोधं चित्तवृत्तिमयसर्वदुःखविरोधित्वेन दुःखवियोगमेव सन्तं योगसंज्ञितं वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं विद्याज्जानीयान्न तु योगशब्दानुरोधात्किंचित्संबन्धं प्रतिपद्येतेत्यर्थः । तथा च भगवान्पतञ्जलिरसूत्रयत् 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति । 'योगो भवति दुःखहा' इति यत्प्रागुक्तं तदेतदुपसंहतम् ।

65 एवंभूते योगे निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानायाऽऽह--स निश्चयेन इति । स यथोक्तफलो योगो निश्चयेन शास्त्राचार्यवचनतात्पर्यविषयोऽर्थः सत्य एवेत्यध्यवसायेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः । अनिर्विण्णचेतसा, एतावताऽपि कालेन योगो न सिद्धः किमतः परं कष्टमित्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा, इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति किं त्वरयेत्येवं धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः । तदेतद्गौडपादा उदाजह्रुः--

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥' इति ।

[दुःखसंयोग की वियोगरूपा उस अवस्था को 'योग' नाम से जानना चाहिए । उस योग का निश्चयपूर्वक अनिर्विण्ण -- अव्यग्र चित्त से अभ्यास करना चाहिए ।। 23 ।।]

64 'यत्रोपरमते' इत्यादि से आरम्भ करके अनेक विशेषणों से जो परमानन्द को अभिव्यक्त करनेवाली चित्त की निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य अवस्थाविशेष कही है, चित्तवृत्तिमय सम्पूर्ण दुःखों के विरोधीरूप से दुःखवियोग के समान होनेवाले उस चित्तवृत्तिनिरोध को योगसंज्ञित अर्थात् 'वियोग' शब्द से कहने के योग्य होने पर भी विरोधी लक्षणा से 'योग' शब्दवाच्य जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि 'योग' शब्द के अनुरोध से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए । इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्रद्वारा कहा है -- 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1.2) = 'चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं' । 'योगो भवति दुःखहा' = 'योग दुःखों का नाश करनेवाला होता है' -- यह जो पूर्व के सत्रहवें श्लोक में कहा है उसका यह उपसंहार हुआ है ।

65 इसप्रकार के योग में निश्चय और अनिर्वेद -- इन दोनों की साधनता का विधान करने के लिए कहते हैं -- 'स निश्चयेन' इत्यादि । उस यथोक्तफल योग का निश्चयपूर्वक = शास्त्र और आचार्य के वचन के तात्पर्य का विषयरूप अर्थ अर्थात् योग सत्य ही है -- ऐसे अध्यवसायपूर्वक -- निश्चयपूर्वक युञ्जन अर्थात् अभ्यास करना चाहिए । तथा अनिर्विण्ण चित्त से = 'इतना समय होने पर भी योग सिद्ध नहीं हुआ, इससे अधिक कष्ट और क्या होगा ?' -- इसप्रकार का अनुताप निर्वेद है उससे रहित चित्त से अर्थात् 'इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में योग सिद्ध हो ही जायेगा, जल्दी करने से क्या लाभ है' ? -- ऐसे धैर्ययुक्त मन से अभ्यास करना चाहिए । यही गौडपादाचार्य ने भी कहा है --

"जिसप्रकार कुशाग्र की एक-एक बूँद से समुद्र का उत्सेक हो जाता है वैसे ही किसी प्रकार का खेद न मानने से मन का निग्रह भी हो ही जाता है" (गौडपादकारिका, 3.41) । उत्सेक = उत्सेचन अथवा जल बाहर करना = जल को सुखाने का निश्चय करके जल निकालना -- यह फलितार्थ है । इस विषय में सम्प्रदायवेत्ता पूर्वाचार्य किसी पक्षी की आख्यायिका को कहते हैं -- 'एक बार समुद्र ने अपनी तरङ्गों के वेग से अपने तीरवर्ती किसी पक्षी के अण्डे चुरा लिए । उस पक्षी ने यह निश्चय करके कि 'मैं समुद्र को सुखा ही डालूँगा' अपनी चोंच से उसके जल की एक-एक

उत्सेक उत्सेचनं शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत् । अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते--कस्यचित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थानि तरङ्गवेगेन समुद्रोऽपजहार । स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप । तदा च बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम । यदृच्छया च तत्राऽऽगतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा येन केनाप्युपायेन समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिजज्ञे । ततश्च दैवानुकूल्यात्कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास समुद्रस्त्वज्ज्ञातिद्रोहेण त्वामवमन्यत इति वचनेन । ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे प्रददाविति एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति । ततश्च पक्षिण इव तस्याभिमतं सिध्यतीति भावः ॥ 23 ॥

66 **किं च कृत्वा योगोऽभ्यसनीयः--**

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ 24 ॥

67 **संकल्पो दुष्टेष्वपि विषयेष्वशोभनत्वादर्शनेन शोभनाध्यासः । तस्माच्च संकल्पादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति । ताञ्शोभनाध्यासप्रभवान्विषयाभिलाषान्विचारजन्याशोभनत्वनिश्चयेन शोभनाध्यासबाधाद्दृष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिष्वदृष्टेषु चेन्द्रलोकपारिजाताप्सरः--**

बूँद ऊपर फेंकना प्रारम्भ कर दिया । उस समय वह पक्षी अपने बहुत-से भाई-बन्धु पक्षियों के रोकने पर भी नहीं रुका । यदृच्छा से वहाँ आये हुए नारद के द्वारा रोकने पर भी उस पक्षी ने यह प्रतिज्ञा की कि 'इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में जिस किसी उपाय से मैं समुद्र को सुखा ही डालूँगा' । तदनन्तर दैवानुकूलता = प्रारब्धानुकूलता से नारद ने उसकी सहायता के लिए गरुड को यह कहकर भेजा कि 'समुद्र तुम्हारी जाति से द्रोह करके तुम्हारा ही अपमान कर रहा है' । तब गरुड के पंखों की हवा से सूखते हुए समुद्र ने डरकर उस पक्षी को वे अण्डे सौंप दिए ।' इसीप्रकार अखेद से अर्थात् खेदहीन होकर मनोनिरोधरूप परमधर्म में प्रवर्त्तमान योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है । उससे पक्षी के समान उस योगी का अभिमत-मनोरथ भी सिद्ध होता है -- यह भाव है ।। 23 ।।

66 क्या करके योग का अभ्यास करना चाहिए ?--

[संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को अशेषत: -- नि:शेषत: अर्थात् वासना और आसक्ति सहित त्यागकर तथा मन से ही इन्द्रियों के समुदाय को समन्तत: अर्थात् सब ओर से ही अच्छी प्रकार वश में करके ।। 24 ।।

67 दुष्ट विषयों में भी अशोभनत्व न देखने के कारण शोभनता का अध्यास होना 'संकल्प' है । उस संकल्प से 'यह मुझको हो, यह मुझको हो' -- एवंरूप कामनाएँ होती हैं । माला, चन्दन, वनिता आदि दृष्ट विषयों में तथा इन्द्रलोक, पारिजात, अप्सरा आदि अदृष्ट विषयों में शोभनता के अध्यास से होनेवाली उन विषयाभिलाषाओं को विचारजन्य अशोभनत्वनिश्चय से शोभनाध्यास का बाध होने पर कुत्ते की वमन की हुई खीर के समान स्वत: ही ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी विषयों को अशेषत: - नि:शेषत: अर्थात् वासनाओं सहित त्यागकर और इसी से, क्योंकि इन्द्रियों की प्रवृत्ति कामनापूर्वक

प्रभृतिषु श्ववान्तपायसवत्त्वत एव सर्वान्ब्रह्मलोकपर्यन्तानशेषतो निरवशेषान्सवासनांस्त्यक्त्वा, अत एव कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकयुक्तेन मनसैवेन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरण-समूहं विनियम्य समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपरमेदित्यन्वयः ॥ 24॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ 25 ॥

68 भूमिकाजयक्रमेण शनैः शनैरुपरमेत्, धृतिर्धैर्यमखिन्नता तया गृहीता या बुद्धिरवश्यकर्तव्यतानि-श्चयरूपा तया यदा कदाचिदवश्यं भविष्यत्येव योगः किं त्वरयेत्येवंरूपया शनैः शनैर्गुरूपदिष्टमार्गेण मनो निरुन्ध्यात् । एतेनानिर्वेदनिश्चयौ प्रागुक्तौ दर्शितौ । तथा च श्रुतिः--

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥' (कठ० 1.3.13) इति ।

वागिति वाचं लौकिकीं वैदिकीं च मनसि व्यापारवति नियच्छेत्, 'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० उ० 4.4.21) इति श्रुतेः । वाग्वृत्तिनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषो

ही होती है अतः उसकी निवृत्ति होने पर विवेकयुक्त मन ही से इन्द्रियग्राम = चक्षु आदि करणसमूह को समन्ततः = सब ओर से विनियत कर -- सम्पूर्ण विषयों से खींचकर शनैः शनैः = धीरे धीरे उपरत करे अर्थात् संसार से उपरक्त हो -- यह अन्वय है ॥ 24 ॥

[धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा विषयों से चित्त-मन को उपरत करे और मन को आत्मा में स्थित करके अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे ॥ 25 ॥]

68 भूमिकाजय[44] के क्रम से शनैः शनैः[45] = धीरे-धीरे उपरत करे । 'धृति' का अर्थ है -- धैर्य या अखिन्नता । उससे गृहीत -- वश में की हुई जो अवश्यकर्त्तव्यता की निश्चयरूपा बुद्धि है उससे -- 'यदा कदाचित् = कभी-न-कभी या किसी समय योग अवश्य सिद्ध होगा, जल्दी करने से क्या लाभ है ?' -- इसप्रकार की बुद्धि से धीरे-धीरे गुरु के उपदेश किये हुए मार्ग से मन का निरोध करे । इससे पहले कहे हुए अनिर्वेद और निश्चय दिखाये गए हैं । ऐसा ही श्रुति कहती है -- "वाणी के द्वारा उपलक्षित समस्त इन्द्रियों तथा विषयों का मन में लय करे । सर्वप्रपंच का कारण जो मन है उसका ज्ञानात्मा में अर्थात् 'मैं-मैं' रूप जो बुद्धि अर्थात् अहंकार है उसमें लय करे । फिर अहंकार का महत्तत्व में लय करे । महत्तत्व का अव्याकृत -- अव्यक्त में लय करे और अव्याकृत-अव्यक्त का आत्मा में अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा में लय करे" (कठोपनिषद्, 1.3.13) ।

---

44. निरोध का क्रम है – (1) विषयों में दोषदर्शन के द्वारा विषयवासनाओं को क्षीण करना, (2) विवेकयुक्त मन के द्वारा जागतिक वस्तुओं के मिथ्यात्व का निश्चय कर इन्द्रियसमूह को विषयों से उपरत करना, (3) धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा समाधि का अभ्यास कर मन को संकल्प से उपरत करना, तथा (4) अन्त में शान्त आत्मा में स्थितिलाभ कर अहंकार और बुद्धि को सर्वप्रवृत्तियों से उपरत करना । इसी को शास्त्रोक्त चार प्रकार की भूमि का जय कहा गया है, जैसे – (1) वाक्-भूमि की जय, (2) इन्द्रिय-भूमि की जय, (3) मनः-भूमि की जय, तथा (4) अहंकार तथा महत्तत्व भूमि की जय । श्रुति में भी इसी प्रकार कहा गया है –

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥" (कठोपनिषद्, 1.3.13)

45. 'शनैः शनैः' पद का तात्पर्य है -- शास्त्र तथा गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधनमार्ग से भूमिका को क्रमशः जय करना, क्योंकि अनादि संस्कारसम्पन्न मन का सहसा निरोध करना असम्भव है ।

भवेदित्यर्थः । चक्षुरादिनिरोधोऽप्येतस्यां भूमौ द्रष्टव्यः । मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । तन्मनः कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसहकारि नानाविधविकल्पसाधनं करणं ज्ञाने जानातीति ज्ञानमिति व्युत्पत्त्या ज्ञातर्यात्मनि ज्ञातृत्वोपाधावहंकारे नियच्छेत्, मनोव्यापारान्परित्यज्याहंकारमात्रं परिशेषयेत् । तच्च ज्ञानं ज्ञातृत्वोपाधिमहंकारमात्मनि महति महत्तत्त्वे सर्वव्यापके नियच्छेत् । द्विविधो ह्यहंकारो विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति । अयमहमेतस्य पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्ट्यहंकारः । अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः समष्ट्यहंकारः । स च हिरण्यगर्भो महानात्मेति च सर्वानुस्यूतत्वादुच्यते । ताभ्यामहंकाराभ्यां विविक्तो निरुपाधिकः शान्तात्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्महान्तमात्मानं समष्टिबुद्धिं नियच्छेत् । एवं तत्कारणमव्यक्तमपि नियच्छेत् । ततो निरुपाधिकस्त्वंपदलक्ष्यः शुद्ध आत्मा साक्षात्कृतो भवति ।

69 **शुद्धे हि चिदेकरसे प्रत्यगात्मनि जडशक्तिरूपमनिर्वाच्यमव्यक्तं प्रकृतिरुपाधिः । सा च प्रथमं सामान्याहंकाररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति । ततो बहिर्विशेषाहंकाररूपेण । ततो बहिर्मनोरूपेण । ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण । तदेतच्छ्रुत्याऽभिहितम्–**

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

(कठ० 1.3.10,11) इति ।

वाक् अर्थात् लौकिकी और वैदिकी वाणी का व्यापारविशिष्ट मन में निरोध करे । 'बहुत से शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी का विग्लापन -- क्षयमात्र ही है' -- इस श्रुति के अनुसार वाग्वृत्ति के निरोध से मनोवृत्तिमात्रशेष योगी हो अर्थात् न बोलकर केवल विषयविषयक मनोवृत्तिमात्रवान् हो -- यह अर्थ है । इसी भूमि में चक्षु आदि इन्द्रियों का निरोध भी समझना चाहिए । 'मनसी' इसमें ईकार की दीर्घता छान्दस-वैदिकी है । कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के सहकारी तथा अनेक प्रकार के विकल्पों के साधनभूत उस मनरूप करण का ज्ञान में -- 'जानातीति ज्ञानम्'-- इस व्युत्पत्ति से ज्ञाता आत्मा में अर्थात् 'ज्ञातृत्व' उपाधिवाले अहंकार में निरोध करे अर्थात् मन के व्यापारों का भी परित्याग कर अहंकारमात्र को शेष रखे। तथा उस ज्ञान का अर्थात् 'ज्ञातृत्व' उपाधिवाले अहंकार का महत्-आत्मा में = सर्वव्यापक महत्तत्व में निरोध करे । अहंकार दो प्रकार का है -- विशेषरूप और सामान्यरूप । 'यह मैं इसका पुत्र हूँ' -- इस प्रकार व्यक्त-स्पष्ट अभिमान करनेवाला व्यष्टि अहंकार 'विशेषरूप' है तथा 'अस्मि' = 'मैं हूँ' -- एतावन्मात्र अभिमान करने वाला समष्टि अहंकार 'सामान्यरूप' है । वही हिरण्यगर्भ और सबमें अनुस्यूत होने के कारण महानात्मा कहा जाता है । उन दोनों प्रकार के अहंकारों से विविक्त-विवेचित या पृथक् जो निरुपाधिक अतएव शान्त, सर्वान्तर और चिदेकरस आत्मा है उसमें महान् आत्मारूप समष्टिबुद्धि का निरोध करे । इसीप्रकार तत्कारण अव्यक्त का भी निरोध करे । तब निरुपाधिक, 'त्वम्' पद के लक्ष्य शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है ।

69 शुद्ध चिदेकरस प्रत्यगात्मा में जडशक्तिरूप अनिर्वाच्य अव्यक्त या प्रकृति उपाधि है । वह प्रकृति सर्वप्रथम सामान्य-अहंकाररूप 'महत्तत्व' नाम धारण करके व्यक्त होती है । उससे बाहर विशेष अहंकाररूप से, उससे बाहर मनोरूप से, और उससे बाहर वागादि इन्द्रियरूप से व्यक्त होती है । यही श्रुति में कहा गया है --

तत्र गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः । बालमुग्धादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया । तन्द्र्यामिवाहंकारराहित्यं तृतीया । सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमपेक्ष्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । यद्यपि महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्याकृताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहारि, तथाऽपि तत्र महत्तत्त्वस्य नियमनं नाभ्यधायि । सुषुप्ताविव स्वरूपलयप्रसङ्गात् । तस्य च कर्मक्षये सति पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव सिद्धत्वात्तत्त्वदर्शनानुपयोगित्वाच्च । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति पूर्वमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधसमाधेरभिधानात् । स च तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन दृष्टतत्त्वस्य च जीवन्मुक्तिरूपक्लेशक्षयायापेक्षितः ।

70 ननु शान्तात्मन्यवरुद्धस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवन्न दर्शनहेतुत्वमिति चेत्, न, स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तम् –

''इन्द्रियाँ पर कही जाती हैं, इन्द्रियों से पर मन है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से पर महान् आत्मा -- महदात्मा है, महदात्मा से पर अव्यक्त है, और अव्यक्त से पर पुरुष है । पुरुष से पर कुछ भी नहीं है । वही काष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है और वही परम गति है'' (कठोपनिषद्, 1.3.10,11) ।

उसमें गौ आदि के समान वाङ्निरोध प्रथमा भूमि है । बालक, मुग्ध आदि के समान निर्मनः अर्थात् मनोवृत्ति निरोध द्वितीय भूमि है । तन्द्रा आदि के समान अहंकारराहित्य अर्थात् अहंकारवृत्तिविरह तृतीय भूमि है । सुषुप्ति के समान महत्तत्वराहित्य अर्थात् महत्तत्वशून्यता चतुर्थ भूमि है । इन चार भूमिकाओं की अपेक्षा से ही 'शनैः शनैरुपरमेत्' = 'धीरे-धीरे उपरत करे' -- यह कहा है । यद्यपि महत्तत्व और शान्तात्मा के बीच में श्रुति ने महत्तत्व के उपादानकारण अव्याकृत-अव्यक्त नामक तत्त्व का उल्लेख किया है, तथापि उसमें महत्तत्व के नियमन-निरोध को नहीं कहा है; क्योंकि ऐसा होने पर सुषुप्ति के समान 'जीवस्वरूपस्य सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' = 'हे सोम्य ! उस समय यह जीव सबसे अभिन्न हो जाता है' -- इस श्रुति के अनुसार जीव के स्वरूप का लय होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा; और वह तो कर्मों का क्षय होने पर पुरुष के प्रयत्न के बिना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है तथा तत्त्वदर्शन -- तत्त्वसाक्षात्कार में उपयोगी भी नहीं है, कारण कि 'वह आत्मतत्त्व सूक्ष्मदर्शी पुरुषों को स्वतःसिद्ध सूक्ष्मबुद्धि से दिखाई देता है' -- इसप्रकार पहले कहकर बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए श्रुति ने निरोधसमाधि का विधान किया है । वह निरोधसमाधि तत्त्वदिदृक्षु के लिए दर्शन के साधनरूप से और तत्त्वदर्शन किए हुए पुरुष के लिए जीवन्मुक्तिरूप क्लेशक्षय के लिए अपेक्षित है ।

70 यदि यह कहें कि 'शान्तात्मा में अवरुद्ध चित्त वृत्तिरहित होने के कारण सुषुप्ति के समान दर्शन का हेतु नहीं होगा', -- तो ठीक नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में स्वतःसिद्ध आत्मदर्शन का निवारण अशक्य होता है[46] ।' कहा भी है --

''चित्त सदा-सर्वदा स्वभाव से ही आत्माकार या अनात्माकार रहता है, अतः अनात्मदृष्टि के तिरस्कारपूर्वक उसको एकमात्र आत्माकार ही रखना चाहिए[47] ।''

46. अभिप्राय यह है कि विषय जड होता है अतएव तद्विषयक मनोवृत्ति के द्वारा उसका प्रकाश होता है, किन्तु आत्मा उससे विपरीत स्वयंप्रकाश है, इस कारण उसको प्रकाशित करने के लिए मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती । इसीलिए स्वतःसिद्ध आत्मदर्शन का निवारण अशक्य होता है ।

47. अर्थ यह है कि चित्त स्वाभाविक आत्मानात्माकार सदा रहता है, इसमें आत्माकारत्व सदा प्राप्त होने से विधेय नहीं है, किन्तु उसकी सदा अभिव्यक्ति के लिए तद्विरोधी अनात्माकारवृत्ति निरसनीय है ।

'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम् ।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत ॥'

71 **यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते । जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति । तत्र जलादौ निःसारितेऽपि वियन्निःसारयितुं न शक्यते । मुखपिधानेऽप्यन्तर्वियदवतिष्ठत एव, तथा चित्तमुत्पद्यमानं चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते । उत्पन्ने तु तस्मिन्मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्घटदुःखादिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मसहकृतसामग्रीवशाद्भवति । तत्र घटदुःखाद्यनात्माकारे विरामप्रत्ययाभ्यासेन निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदाकारो वारयितुं न शक्यते । ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन चित्तेन संस्कारमात्रशेषतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निरुपाधिकचिदात्ममात्राभिमुखत्वाद्वृत्तिं विनैव निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । तदेतदाह—आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेदिति । आत्मनि निरुपाधिके प्रतीचि संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वप्रकारवृत्तिशून्यं स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः कृत्वा धृतिगृहीतया विवेकबुद्ध्या संपाद्यासंप्रज्ञातसमाधिस्थः सन्किंचिदपि अनात्मानमात्मानं वा न चिन्तयेत्, न वृत्त्या विषयीकुर्यात् । अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात् । आत्माकारवृत्तौ च संप्रज्ञातः समाधिरित्यसंप्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि चित्तवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ 25 ॥**

71 जिस प्रकार उत्पद्यमान -- उत्पन्न होनेवाला घट स्वतः -- स्वभावतः आकाश से पूर्ण उत्पन्न होता है; जल, तण्डुल आदि की पूर्ति तो उत्पन्न घट में पीछे पुरुष के प्रयत्न से होती है । उसमें से जलादि के निकालने पर भी आकाश को नहीं निकाला जा सकता । उसका मुँह बन्द करने पर भी आकाश तो उसके अन्दर ही रहता है । इसीप्रकार उत्पद्यमान-उत्पन्न होनेवाला चित्त चैतन्य से पूर्ण ही उत्पन्न होता है । बाद में मूषानिषिक्त -- साँचे में ढाले हुए द्रुत -- द्रवीभूत ताम्र-ताँबे के समान अर्थात् एक विशेष आकारविशिष्ट किसी पात्र में -- साँचे में गले हुए ताँबे को डालने से जिस प्रकार ताँबा उसी आकार का हो जाता है वैसे ही चित्त में भोग की हेतुभूत धर्म तथा अधर्म की सहकारी घट, दुःखादि सामग्री रहने पर चित्त घट, दुःखादि का रूप -- आकार ग्रहण करता है । चित्त की यह घट, दुःखादिरूप अनात्मकारता विराम प्रत्यय के अभ्यास से निवारित -- निवृत्त होने पर भी चित्त की निर्निमित्त = स्वाभाविक जो चिदाकारता = आत्माकारता है उसका वारण-निवारण नहीं कर सकते हैं । निरोधसमाधि के द्वारा चित्त के निर्वृत्तिक -- वृत्तिहीन होने से वह चित्त केवल संस्कारमात्र होकर अत्यन्त सूक्ष्मरूप से अवस्थान करता है तथा केवल निरुपाधिक चिदात्मा के ही अभिमुख रहता है अर्थात् निरुद्ध चित्त की स्वभावसिद्ध जो आत्माकारता है उसी में वह सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है । इसी कारण से केवलमात्र वृत्तिशून्य चित्त के द्वारा ही निर्बाधरूप से आत्मा का अनुभव होता है । इसी से ऐसा कहते हैं -- 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' = आत्मा -- निरुपाधिक प्रत्यगात्मा में ही है संस्था-समाप्ति जिसकी ऐसा आत्मसंस्थ अर्थात् धृति-धैर्य से गृहीत -- वश में की हुई विवेक-बुद्धि के द्वारा मन को सब प्रकार की वृत्तियों से शून्य, स्वभावसिद्ध आत्माकारमात्र से युक्त करके अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित होकर आत्मा या अनात्मा किसी का भी चिन्तन न करें -- किसी को भी वृत्ति से विषय न करे, क्योंकि अनात्माकारवृत्ति होने पर तो व्युत्थान ही होगा और आत्माकारवृत्ति होने पर सम्प्रज्ञात समाधि होगी । इसलिए असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिरता के लिए चित्त की किसी भी वृत्ति को उत्पन्न न करे -- यह अर्थ है ॥ 25 ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ 26 ॥

72 **एवं निरोधसमाधिं कुर्वन्योगी शब्दादीनां चित्तविक्षेपहेतूनां मध्ये यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ता-च्छब्दादेर्विषयाद्रागद्वेषादेश्च चञ्चलं विक्षेपाभिमुखं सन्मनो निश्चरति विक्षिप्तं सद्विषयाभिमुखीं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमामपि समाधिविरोधिनीं वृत्तिमुत्पादयति, तथा लयहेतूनां निद्राशेषबह्वशनश्रमादीनां मध्ये यतो यतो निमित्तादस्थिरं लयाभिमुखं सन्मनो निश्चरति लीनं सत्समाधिविरोधिनीं निद्राख्यां वृत्तिमुत्पादयति, ततस्ततो विक्षेपनिमित्ताल्लयनिमित्ताच्च नियम्यैतन्मनो निर्वृत्तिकं कृत्वाऽऽत्मन्येव स्वप्रकाशपरमानन्दघने वशं नयेन्निरुन्ध्यात्, यथा न विक्षिप्येत न वा लीयेतेति । एवकारोऽनात्मगोचरत्वं समाधेर्वारयति । एतच्च विवृतं गौडाचार्यपादैः--**

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ 1 ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ 2 ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ 3 ॥

[जिस-जिस कारण से चञ्चल-विक्षेप या अस्थिर --लय के अभिमुख हुआ मन-चित्त समाधि की विरोधी वृत्ति को उत्पन्न करता है उस-उस कारण से इसको रोककर आत्मा में ही इसका निरोध करे ॥ 26 ॥]

72 इस प्रकार निरोधसमाधि करता हुआ योगी चित्तविक्षेप के हेतुभूत शब्दादि में से जिस-जिस निमित्त से -- शब्दादि विषय से अथवा रागद्वेषादि से चञ्चल = विक्षेप के अभिमुख हुआ मन निश्चरति -- निकलता है अर्थात् विक्षिप्त होकर विषयाभिमुखी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- इनमें से एक भी समाधि की विरोधी वृत्ति को उत्पन्न करता है तथा लय के हेतुभूत निद्राशेष -- निद्रावृत्ति का शेष रह जाना, अधिक भोजन और अधिक श्रम करना आदि में से जिस-जिस निमित्त से अस्थिर = लय के अभिमुख हुआ मन निकलता है अर्थात् लीन होता हुआ समाधि की विरोधी निद्राख्य वृत्ति को उत्पन्न करता है, उस-उस विक्षेप के निमित्त और लय के निमित्त से इस मन को रोककर = निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य कर स्वप्रकाश, परमानन्दघन आत्मा में ही वशीभूत -- निरुद्ध करे, जिससे कि वह विक्षिप्त या लीन न हो । 'आत्मन्येव' इस पद में 'एवकार' समाधि की अनात्मगोचरता का वारण-निषेध करता है । यह गौडपादाचार्य ने निम्न पाँच श्लोकों से विवृत-स्पष्ट किया है --

''काम और भोग से विक्षिप्त हुए मन-चित्त का उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्था में सुप्रसन्न हुए चित्त का भी संयम करे, क्योंकि जैसा काम है वैसा ही लय भी है ॥ 1 ॥

सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च दुःखरूप है -- ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्त को कामजनित भोगों से रोके । इसप्रकार निरन्तर सब वस्तुओं को अज-ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता है ॥ 2 ॥

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ 4 ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥' 5 ॥

इति पञ्चभिः श्लोकैः ।

73 **उपायेन वक्ष्यमाणेन वैराग्याभ्यासेन कामभोगयोर्विक्षिप्तं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमयाऽपि वृत्त्या परिणतं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । कामभोगयोरिति चिन्त्यमानावस्थाभुज्यमानावस्थाभेदेन द्विवचनम् । तथा लीयतेऽस्मिन्निति लयः सुषुप्तं तस्मिन्सुप्रसन्नमायासवर्जितमपि मनो निगृह्णीयादेव । सुप्रसन्नं चेत्कुतो निगृह्यते तत्राऽऽह--यथा कामो विषयगोचरप्रमाणादिवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी । सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः । अतः कामादिकृतविक्षेपादिव श्रमादिकृतलयादपि मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥ 1 ॥**

74 **उपायेन निगृह्णीयात्केनेत्युच्यते--सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमल्पं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखम्' इतिश्रुत्यर्थं गुरूपदेशादनु पश्चात्पर्यालोच्य कामांश्चिन्त्यमानावस्थान्विषयान्भोगान्भुज्यमानावस्थांश्च विषयान्निवर्तयेत्, मनसः**

यदि चित्त लय-सुषुप्ति में लीन होने लगे तो उसको सम्यक् प्रकार से जाग्रत् करे । यदि विक्षिप्त होने लगे तो उसको पुन: शान्त करे । और यदि इन दोनों के बीच की अवस्था में स्थित हो तो उसको सकषाय समझे । तथा साम्यावस्था को प्राप्त हुए चित्त को चलायमान न करे ॥ 3 ॥
उस साम्यावस्था में प्राप्त होनेवाले सुख का आस्वादन न करे, अपितु विवेकबुद्धि के द्वारा उससे निःसङ्ग रहे । फिर यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसको प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे ॥ 4 ॥
जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन नहीं होता है और विक्षिप्त भी नहीं होता है तथा निश्चल और विषयभास से रहित हो जाता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ 5 ॥ (गौदपादकारिका, 3.42-46) ।''

73 उपाय से अर्थात् वक्ष्यमाण वैराग्य के अभ्यास से काम और भोग में विक्षिप्त = प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति -- इनमें से किसी एक भी वृत्ति से परिणत हुए मन-चित्त का निग्रह करे अर्थात् आत्मा में ही निरोध करे । 'कामभोगयो:' इसमें चिन्त्यमान और भुज्यमान अवस्था के भेद से द्विवचन दिया गया है । इसीप्रकार 'लीयतेऽस्मिन्निति लय:' = जिसमें लीन होता है उसको लय अर्थात् सुषुप्त अवस्था कहते हैं । उसमें सुप्रसन्न अतएव आयास -- परिश्रम से रहित हुए मन-चित्त का भी निग्रह ही करे । यदि मन लय में सुप्रसन्न है तो उसका निग्रह क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं --जिस प्रकार काम विषयगोचर प्रमाणादि वृत्तियों को उत्पन्न करने के कारण समाधि का विरोधी है उसी प्रकार लय भी निद्रासंज्ञक वृत्ति को उत्पन्न करने के कारण समाधि का विरोधी है । अत: लय में सुप्रसन्न मन का भी निग्रह -- निरोध युक्त ही है क्योंकि समस्त वृत्तियों का निरोध ही 'समाधि' है । इसकारण कामादिकृत विक्षेप के समान श्रमादिकृत लय से भी मन का निरोध करना चाहिए-- यह अर्थ है ॥ 1 ॥

74 पूर्व श्लोक में कहा कि 'उपायेन निगृह्णीयात्' = 'उपाय से निग्रह करे', तो प्रश्न है -- किस उपाय से निग्रह करे ? -- इसके उत्तर में कहते हैं -- 'सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च अविद्या से विजृम्भित -- कल्पित

सकाशादिति शेषः । कामश्च भोगश्च कामभोगं तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा । एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावनोपाय इत्यर्थः । द्वैतविस्मरणं तु परमोपाय इत्याह—अजं ब्रह्म सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किंचिदस्तीति शास्त्राचार्योपदेशादनन्तरमनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं न पश्यत्येव । अधिष्ठाने ज्ञाते कल्पितस्याभावात् । पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः ॥ 2 ॥

75 **एवं वैराग्यभावनातत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनंदिनलयाभ्यासवशाल्लयाभिमुखं भवेत्तदा निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तं सम्यक्प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्नेन । यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशात्कामभोगयोर्विक्षिप्तं स्यात्तदा वैराग्यभावनया तत्त्वसाक्षात्कारेण च पुनः शमयेत् । एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं, नापि समप्राप्तमन्तरालावस्थं चित्तं स्तब्धीभूतं, सकषायं रागद्वेषादिप्रबलवासनावशेन स्तब्धीभावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तं विजानीयात्समाहिताच्चित्ताद्विवेकेन जानीयात् । ततश्च नेदं समाहितमित्यवगम्य लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात् । ततश्च लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते । तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत्, विषयाभिमुखं न कुर्यात् । किं तु धृतिगृहीतया बुद्ध्या लयकषायप्राप्तेर्विविच्य तस्यामेव समप्राप्तावतियत्नेन स्थापयेत् ॥ 3 ॥**

है, अल्प-तुच्छ है अतएव दुःखरूप ही है' -- ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए -- 'जो भूमा है वही सुख है, अल्प-तुच्छ में सुख नहीं है, और अल्प है वह मर्त्य है -- दुःखरूप है' -- इस श्रुति के अर्थ का गुरु के उपदेश के अनु -- पश्चात् स्वयं पर्यालोचन करके -- विचार करके काम अर्थात् चिन्त्यमान अवस्थावाले विषयों को तथा भोग अर्थात् भुज्यमान अवस्थावाले विषयों को मन से निवृत्त करे -- दूर करे । यहाँ 'मनसः सकाशात्' -- इतना अध्याहार करना चाहिए । अथवा, 'कामश्च भोगश्च अनयोः समाहारः -- कामभोगम्' अर्थात् काम और भोग ही कामभोग है उससे मन को निवृत्त करे । इस प्रकार द्वैत का स्मरण होते समय वैराग्यभावना मन की निवृत्ति का उपाय है -- यह तात्पर्य है । द्वैत का विस्मरण तो परम उपाय है -- यही कहते हैं -- सब अज-ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त-भिन्न कुछ भी नहीं है -- ऐसा शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनन्तर स्मरण करके तद्विपरीत द्वैतजात को कोई नहीं देखता है, क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर कल्पित द्वैत का अभाव हो जाता है । पहले उपाय की अपेक्षा इस उपाय में विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ 2 ॥

75 इस प्रकार वैराग्यभावना और तत्त्वदर्शन के द्वारा विषयों से निवर्त्यमान -- निवृत्त किया जाता हुआ चित्त यदि दैनंदिन -- प्रतिदिन लयाभ्यास के कारण लय को अभिमुख हो तो निद्राशेष, अजीर्ण, बहुभोजन और अतिश्रमरूप लय के कारणों के निरोध से चित्त को उत्थान के प्रयत्नद्वारा सम्यक् प्रकार से जाग्रत् करे । फिर भी वह यदि इस प्रकार जगाये जाने पर -- समझाये जाने पर दैनंदिन -- प्रतिदिन के प्रबोध-जगाने के अभ्यासवश काम और भोग से विक्षिप्त होने लगे तो वैराग्यभावना और तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा उसको पुनः शान्त करे । इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेवाले पुरुष के लय से जगाये जाते हुए, विषयों से हटाये जाते हुए और सम-अवस्था को भी प्राप्त न हुए बीच की अवस्था में स्थित स्तब्धीभूत-- सकषाय अर्थात् रागद्वेषादि प्रबल वासनाओं के कारण

76 तत्र समाधौ परमसुखव्यञ्जकेऽपि सुखं नाऽऽस्वादयेत् । एतावन्तं कालमहं सुखीति सुखास्वादरूपां वृत्तिं न कुर्यात्समाधिभङ्गप्रसङ्गादिति प्रागेव कृतव्याख्यानम् । प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखं तदप्यविद्यापरिकल्पितं मृषैवेत्येवंभावनया निःसङ्गो निस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत् । अथवा प्रज्ञया सविकल्पसुखाकारवृत्तिरूपया सह सङ्गं परित्यजेत् । न तु स्वरूपसुखमपि निर्वृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत्स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात् । एवं सर्वतो निवर्त्य निश्चलं प्रयत्नवशेन कृतं चित्तं स्वभावचाञ्चल्याद्विषयाभिमुखतया निश्चरद्बहिर्निर्गच्छदेकीकुर्यात्प्रयत्नतः, निरोधप्रयत्नेन समे ब्रह्मण्येकतां नयेत् ॥ 4 ॥

77 समप्राप्तं चित्तं कीदृशमित्युच्यते--यदा न लीयते नापि स्तब्धीभवति तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्योपलक्षणात् । न च विक्षिप्यते पुनः, न शब्दाद्याकारवृत्तिमनुभवति । नापि सुखमास्वादयति, राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात् । पूर्वं भेदनिर्देशस्तु

स्तब्धीभाव नामक कषाय दोष से युक्त चित्त को जाने अर्थात् समाहित चित्त से विवेक करके जाने-पहचाने । तब 'यह चित्त समाहित नहीं है' -- यह समझकर लय और विक्षेप के समान कषाय से भी चित्त का निरोध करे । इसके बाद तो लय, विक्षेप और कषाय -- इन तीनों का परिहार हो जाने पर परिशेषतः चित्त द्वारा सम ब्रह्म ही की प्राप्ति हो जाती है । उस सम-अवस्था को प्राप्त हुए चित्त को कषाय या लय की भ्रान्ति से चलायमान अर्थात् विषयाभिमुख न करे, किन्तु धृतिगृहीतबुद्धि के द्वारा लय और कषाय की प्राप्ति से उसका विवेक कर उस समप्राप्ति में ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक स्थापित करे ।। 3 ।।

76 वहाँ-समाधि में, उसके परम सुख की अभिव्यक्ति करनेवाली होने पर भी, सुख का आस्वादन न करे । 'इतने समय मैं सुखी रहा' -- इसप्रकार की सुखस्वादरूपा वृत्ति न करे, क्योंकि इससे समाधिभङ्ग का प्रसङ्ग हो सकता है -- इसप्रकार पूर्व में ही व्याख्या की जा चुकी है ! 'प्रज्ञा-बुद्धि से जो सुख उपलब्ध होता है वह भी अविद्या से परिकल्पित है अतएव मिथ्या ही है' -- ऐसी भावना से सब प्रकार के सुखों में निःसङ्ग-निस्पृह रहे । अथवा, सविकल्पक सुखाकारवृत्तिरूपा प्रज्ञा से सङ्ग का परित्याग करे । ऐसा नहीं कि निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य चित्त से स्वरूपसुख का भी अनुभव न करे, क्योंकि स्वभाव से ही प्राप्त वह सुख वारण करने में अशक्य है ! इसप्रकार सब ओर से निवृत्त कर प्रयत्नपूर्वक निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलता के कारण विषयाभिमुख होकर यदि बाहर निकले तो उसको प्रयत्नतः -- निरोध के प्रयत्न द्वारा एकरूप करे अर्थात् समब्रह्म में एकता को प्राप्त करावे ।। 4 ।।

77 समप्राप्त चित्त कैसा होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं -- जिस समय वह न तो लीन होता है अर्थात् न तो स्तब्धीभाव को प्राप्त होता है, क्योंकि तामसत्व में साम्य होने के कारण यहाँ 'लय' शब्द से ही स्तब्धीभाव उपलक्षित है; और न विक्षिप्त ही होता है अर्थात् न तो शब्दादि के आकारवाली वृत्ति का अनुभव करता है और न सुख का ही आस्वादन करता है, क्योंकि राजसत्व में साम्य होने के कारण यहाँ 'विक्षेप' शब्द से ही सुखास्वाद भी उपलक्षित है । पहले जो इन दोनों का भेद दिखाया गया है वह तो अलग-अलग इनके निरोध का प्रयत्न करने के लिए है । इसप्रकार लय और कषाय तथा विक्षेप और सुखास्वाद से रहित अनिङ्गन = इङ्गन-सवात -- वायुयुक्त दीपक के समान लयाभिमुखरूप चलन, उससे रहित निवात-वायुहीन दीपक के समान और अनाभास

पृथक्प्रयत्नकरणाय । एवं लयकषायाभ्यां विक्षेपसुखास्वादाभ्यां च रहितमनिङ्गनमिङ्गनं चलनं सवातप्रदीपवल्लयाभिमुख्यरूपं तद्रहितं निवातप्रदीपकल्पम् । अनाभासं न केचिद्विषयाकारेणाऽऽभासत इत्येतत् । कषायसुखास्वादयोरुभयान्तर्भाव उक्त एव । यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति तदा तच्चित्तं ब्रह्म निष्पन्नं समं ब्रह्म प्राप्तं भवतीत्यर्थः ॥ 5 ॥

78 एतादृशश्च योगः श्रुत्या प्रतिपादितः--

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥'
(कठ० 2.3.11,12) इति ।

एतन्मूलकमेव च 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति सूत्रम् । तस्माद्युक्तं ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति ॥ 26 ॥

79 एवं योगाभ्यासबलादात्मन्येव योगिनः प्रशाम्यति मनः । ततश्च--

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ 27 ॥

80 प्रकर्षेण शान्तं निर्वृत्तिकतया निरुद्धं संस्कारमात्रशेषं मनो यस्य तं प्रशान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् । निर्मनस्कत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयं शान्तरजसमकल्मषमिति । शान्तं विक्षेपकं रजो

= जो किसी भी विषयाकार से भासित नहीं होता ऐसा, -- हो जाता है । कषाय और सुखास्वाद -- इन दोनों का इन दोनों में अन्तर्भाव कहा जा चुका है । जिस समय चित्त इसप्रकार इन चारों दोषों से रहित हो जाता है उस समय वह चित्त ब्रह्मनिष्पन्न अर्थात् सम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ 5 ॥

78 इसप्रकार का योग श्रुति से भी प्रतिपादित है --
'जिस समय मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अवस्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है उसको परमा गति कहते हैं, उस स्थिर इन्द्रियधारणा को 'योग' मानते हैं । उस समय उत्पत्ति और नाश में योगी अप्रमत्त होता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति और प्रलय है' (कठोपनिषद्, 2.3. 11-12) । और इसी मूल के आधार पर 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र, 1.2) = 'चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है' -- यह सूत्र है । अतः 'ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्' -- 'उस-उस कारण से चित्त को रोककर आत्मा में ही इसका निरोध करे' -- यह बहुत ठीक ही कहा है ॥ 26 ॥

79 इसप्रकार योगाभ्यास के बल से योगी का मन आत्मा में ही शान्त हो जाता है । और उससे -- [अत्यन्त शान्तचित्त, शान्तरजोगुण, तमोगुण से रहित और ब्रह्मभूत इस योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ॥ 27 ॥]

80 प्रशान्त = प्रकर्ष से शान्त अर्थात् निर्वृत्तिकता से निरुद्ध संस्कारमात्रावशिष्ट है मन जिसका उस प्रशान्तमन अर्थात् वृत्तिशून्यता से 'निर्मनस्क' । 'शान्तरजसम्' और 'अकल्मषम्' -- ये दो विशेषण निर्मनस्कता में ही हेतुयुक्त हैं । शान्तरजसम् = शान्तरजोगुण अर्थात् शान्त हो गया है विक्षेपक रजोगुण जिसका उस 'विक्षेपशून्य' । तथा 'अकल्मषम्' = तमोगुण से रहित अर्थात् नहीं है कल्मष

यस्य तं विक्षेपशून्यम् । तथा न विद्यते कल्मषं लयहेतुस्तमो यस्य तमकल्मषं लयशून्यम् । शान्तरजसमित्यनेनैव तमोगुणोपलक्षणेऽकल्मषं संसारहेतुधर्माधर्मादिवर्जितमिति वा । ब्रह्मभूतं ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चयेन समं ब्रह्म प्राप्तं जीवन्मुक्तमेनं योगिनम् । एवमुक्तेन प्रकारेणेति श्रीधरः । उत्तमं निरतिशयं सुखमुपैत्युपगच्छति । मनस्तद्वृत्त्योरभावे सुषुप्तौ स्वरूपसुखाविर्भावप्रसिद्धिं द्योतयति हिशब्दः । तथा च प्राग्व्याख्यातं सुखमात्यन्तिकं यत्तदित्यत्र ॥ 27 ॥

81 उक्तं सुखं योगिनः स्फुटीकरोति --

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ 28 ॥

82 एवं मनसैवेन्द्रियग्राममित्याद्युक्तक्रमेणाऽऽत्मानं मनः सदा युञ्जन्समादधद्योगी योगेन नित्यसंबन्धी विगतकल्मषो विगतमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः सुखेनानायासेनेश्वरप्रणिधाना-त्सर्वान्तरायनिवृत्त्या ब्रह्मसंस्पर्शं सम्यक्त्वेन विषयास्पर्शेन सह ब्रह्मणः स्पर्शस्तादात्म्यं यस्मिंस्त-

-- लय का हेतुभूत तमोगुण जिसमें उस अकल्मष -- 'लयशून्य' । अथवा, 'शान्तरजसम्' -- इतने से ही तमोगुण का भी उपलक्षण हो जाने के कारण 'अकल्मषम्' अर्थात् संसार के हेतुभूत धर्म, अधर्म आदि से रहित । तथा 'ब्रह्मभूत' = 'सब ब्रह्म ही है' -- इस निश्चय से सम ब्रह्म को प्राप्त -- 'जीवन्मुक्त' -- इस योगी को । यहाँ श्लोकस्थ 'एनम्' के स्थान पर 'एवम्' -- पाठ मानकर श्रीधर स्वामी 'एवं = उक्तेन प्रकारेण' अर्थात् 'उक्त प्रकार से' -- ऐसी व्याख्या करते हैं । उत्तम = निरतिशय सुख उपलब्ध -- प्राप्त होता है । यहाँ 'हि' शब्द मन और उसकी वृत्तियों का अभाव होने पर भी सुषुप्ति में स्वरूपसुख के आविर्भाव की प्रसिद्धि को द्योतित करता है । इसीप्रकार 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' (गीता, 6.21) -- इस स्थान पर पहले व्याख्या की जा चुकी है ॥ 27 ॥

81 योगी के उक्त सुख को स्पष्ट करते हैं :--

[इसप्रकार आत्मा-मन को सदा-निरन्तर समाधि में नियुक्त करनेवाला योगी संसार के हेतुभूत धर्म और अधर्म से रहित होकर सुखपूर्वक-अनायास ही ब्रह्म से संस्पर्श-तादात्म्य रखनेवाले अत्यन्त-निरतिशय सुख को प्राप्त करता है ॥ 28 ॥]

82 इस प्रकार 'मनसैवेन्द्रियग्रामम्' (गीता, 6.24) इत्यादि श्लोक में उक्त क्रम से आत्मा अर्थात् मन को सदा-निरन्तर युञ्जन् = योगयुक्त अर्थात् समाहित करनेवाला योगी = योग से नित्यसम्बन्धी[48] -- नित्य सम्बन्ध रखनेवाला विगतकल्मष = विगतमल अर्थात् संसार के हेतुभूत धर्म और अधर्म से रहित होकर सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही ईश्वरप्रणिधान के द्वारा सम्पूर्ण अन्तरायों -- विघ्नों की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्मसंस्पर्श = सम्यक् होने के कारण विषय के अस्पर्श के साथ ब्रह्म का स्पर्श-तादात्म्य है जिसमें उस विषयासंस्पर्शी-- विषय को स्पर्श न करनेवाले अर्थात् ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त

48. यहाँ 'योगी' शब्द नित्ययोगसम्बन्धीपरक है । 'योग' शब्द से 'नित्य सम्बन्ध' अर्थ में मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'योगी' शब्द निष्पन्न हुआ है (योग + इनि = योगी) । वार्तिक है –

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥' (वार्तिक 3183)

जिसके अनुसार 'किसी वस्तु का बहुत्व (भूम), निन्दा, प्रशंसा, नित्यसम्बन्ध, अतिशय, अथवा सम्बन्ध का बोध कराने के लिए मतुप् तथा मतुप् अर्थ वाले जैसे – इनि प्रत्यय होते हैं ।'

द्विषयासंस्पर्शि ब्रह्मस्वरूपमित्येतत् । अत्यन्तं सर्वानन्तान्परिच्छेदानतिक्रान्तं निरतिशयं सुखमानन्दमश्नुते व्याप्नोति, सर्वतोनिर्वृत्तिकेन चित्तेन लयविक्षेपविलक्षणमनुभवति, विक्षेपे वृत्तिसत्त्वात्, लये च मनसोऽपि स्वरूपेणासत्त्वात् । सर्ववृत्तिशून्येन सूक्ष्मेण मनसा सुखानुभवः समाधावेवेत्यर्थः ।

83 अत्र चानायासेनेत्यन्तरायनिवृत्तिरुक्ता । ते चान्तराया दर्शिता योगसूत्रेण-- 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' (पा० द० 1.30) चित्तं विक्षिपन्ति योगादपनयन्तीति चित्तविक्षेपा योगप्रतिपक्षाः । संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तिरूपतया वृत्तिनिरोधस्य साक्षात्प्रतिपक्षौ । व्याध्यादयस्तु सप्त वृत्तिसहचरिततया तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः । व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो विकारो ज्वरादिः । स्त्यानमकर्मण्यता गुरुणा शिक्ष्यमाणस्याप्यासनादिकर्मानर्हतेति यावत् । योगः साधनीयो न वेत्युभयकोटिस्पृग्विज्ञानं संशयः । [स च] अतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन विपर्ययान्तर्गतोऽपि सन्नुभयकोटिस्पर्शित्वैककोटिस्पर्शित्वरूपावान्तरविशेषविवक्षयाऽत्र विपर्ययाद्भेदेनोक्तः । प्रमादः समाधिसाधनानामनुष्ठानसामर्थ्येऽप्यननुष्ठानशीलता विषयान्तरव्यापृततया योगसाधनेष्वौदासीन्यमिति यावत्

= सब अन्त अर्थात् परिच्छेदों से अतिक्रान्त -- निरतिशय सुख = आनन्द को प्राप्त करता है अर्थात् उसमें व्याप्त हो जाता है अर्थात् सब ओर से निर्वृत्तिक चित्तद्वारा लय और विक्षेप से विलक्षण सुख का अनुभव करता है, क्योंकि विक्षेप में मानस वृत्ति रहती है और लय में मन स्वरूप से भी नहीं रहता है । समाधि में ही समस्त वृत्तियों से शून्य सूक्ष्म मन से सुख का अनुभव होता है -- यह अर्थ है ।

83 यहाँ 'अनायासेन' = 'अनायास ही' -- ऐसा कहकर अन्तरायों -- विघ्नों की निवृत्ति कही गई है । वे अन्तराय योगसूत्र से इस प्रकार कहे गए हैं -- 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तवेक्षेपास्तेऽन्तरायाः' (योगसूत्र, 1.30) = 'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, तथा अनवस्थितत्व -- ये नौ चित्त के विक्षेपक अर्थात् चित्त को चञ्चल करनेवाले हैं, अतः वे अन्तराय अर्थात् योग के विरोधी होने से विघ्नरूप हैं' । जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं -- योग से दूर ले जाते हैं वे 'चित्तविक्षेप' कहलाते हैं, ये योग के प्रतिपक्षी -- विरोधी हैं । इनमें संशय और भ्रान्तिदर्शन तो वृत्तिरूप होने के कारण वृत्तिनिरोध के साक्षात् प्रतिपक्षी -- विरोधी हैं तथा शेष व्याधि आदि सात अन्तराय वृत्तियों के साथ रहने के कारण उसके परम्परया विरोधी हैं -- ऐसा इनका अर्थ हैं । धातुवैषम्य के कारण होनेवाला ज्वरादि विकार 'व्याधि'[49] है । 'स्त्यान' अकर्मण्यता को कहते हैं अर्थात् गुरु के द्वारा सिखाये जाने पर भी आसनादि कर्मों में अयोग्यता से 'सब करें या नहीं' -- यह 'स्त्यान'[50] है । 'योग साधना चाहिए या नहीं' -- इसप्रकार दोनों

49. 'व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्' (योगभाष्य, 1.30) = धातु की विषमता, रस की विषमता और करण की विषमता को 'व्याधि' कहते हैं । वात, पित्त और कफ -- इन तीनों का नाम दोष है । रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र -- ये सात धातु हैं । इनकी इयत्ता को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना 'धातु की विषमता' या 'दोष-प्रकोप' कहा जाता है । भुक्त-पीत अन्न-जल के परिपाक को प्राप्त हुए सार का नाम 'रस' है । भुक्त-पीत अन्न-जल का परिपाक न होना अर्थात् सम्यक्-रूप से न पचना 'रस की विषमता' है । करण नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है । ज्ञान के करण नेत्रादि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होना 'करण की विषमता' है ।

50. 'स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य' (योगभाष्य, 1.30) = चित्त की अकर्मण्यता = कार्य करने में असमर्थता 'स्त्यान' है । अर्थात् इच्छा होने पर भी कोई कार्य करने की क्षमता न रहना 'स्त्यान' कहा जाता है ।

आलस्यं सत्यामप्यौदासीन्यप्रच्युतौ कफादिना तमसा च कायचित्तयोर्गुरुत्वम् । [तच्च] व्याधित्वेनाप्रसिद्धमपि योगविषये प्रवृत्तिविरोधि । अविरतिश्चित्तस्य विषयविशेष ऐकान्तिकोऽभिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं योगासाधनेऽपि तत्साधनत्वबुद्धिस्तथा तत्साधनेऽप्यसाधनत्वबुद्धिः । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरेकाग्रताया अलाभः क्षिप्तमूढविक्षिप्तरूपत्वमिति यावत् । अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ प्रयत्नशैथिल्याच्चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठितत्वम् । त एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इति चाभिधीयन्ते ।

84 **'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' (पा० द० 1.31) दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः । तच्चाऽऽध्यात्मिकं शारीरं मानसं च व्याधिवशात्कामादिवशाच्च भवति । आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम् । आधिदैविकं ग्रहपीडादिजनितं द्वेषाख्यविपर्ययहेतुत्वात्समाधिविरोधि । दौर्मनस्यमिच्छाविघातादिबलवद्दुःखानुभवजनितश्चित्तस्य तामसः परिणामविशेषः क्षोभापरपर्यायः स्तब्धीभावः । स तु कषायत्वाल्लयवत्समाधिविरोधी । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पनमास-**

कोटियों को स्पर्श करनेवाला विज्ञान 'संशय' है । यदि शंका करें कि अतद्रूपप्रतिष्ठित होने के कारण अर्थात् तद्रूपवस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित न होने के कारण संशय का यद्यपि विपर्यय में अन्तर्भाव हो जाता है, पुनः संशय का पृथक् निर्देश क्यों किया है ? तो इस शंका की निवृत्ति करने के लिए उत्तर है कि संशय और विपर्यय -- दोनों में अवान्तर विशेषधर्म दिखलाने के लिए विपर्यय से भिन्न संशय का पृथक् निर्देश किया है । संशय उभयकोटिविषयक होता है और विपर्यय एककोटिविषयक होता है -- इसप्रकार उभयकोटिकत्व और एककोटित्व -- भेद की विवक्षा से विपर्यय से भिन्न संशय को कहा है । 'प्रमाद' समाधि के साधनों को करने का सामर्थ्य होने पर भी उनको न करने का स्वभाव अर्थात् विषयान्तर में लगे रहने के कारण योगसाधनों में उदासीनता होना है । 'आलस्य' उदासीनताबुद्धि के न रहने पर भी कफादि अथवा तमोगुण के कारण शरीर और चित्त का भारी रहना है । व्याधिरूप से प्रसिद्ध न होने पर भी यह योगविषय में प्रवृत्ति होने का विरोधी है । 'अविरति' किसी विषयविशेष में चित्त की ऐकान्तिकी अभिलाषा है । जो योग का साधन नहीं है फिर भी उसमें योगसाधनताबुद्धि होना, और जो योग का साधन है फिर भी उसमें असाधनताबुद्धि होना 'भ्रान्तिदर्शन' है । 'अलब्धभूमिकत्व' समाधिभूमि और एकाग्रता का लाभ न होना अर्थात् चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तरूपता रहना है । समाधिभूमि के प्राप्त हो जाने पर भी प्रयत्न की शिथिलता से चित्त का उसमें स्थित न होना 'अनवस्थितत्व' है । ये नौ चित्तविक्षेप योग के मल = योग के प्रतिपक्षी-विरोधी अर्थात् योग के अन्तराय कहे जाते हैं ।

84 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' (योगसूत्र, 1.31) = 'दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास -- ये पाँच पूर्वोक्त व्याधि आदि नौ प्रकार के विक्षेपों के साथी हैं अर्थात् व्याधि आदि विक्षेपों के होने पर ये दुःख आदि अन्य पाँच भी प्रतिबन्धक-विघ्नरूप से उपस्थित हो जाते हैं ।' चित्त के बाधनालक्षण राजस परिणाम को 'दुःख'[51] कहते हैं । वह तीन प्रकार का होता है -- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । इनमें व्याधिवश और कामादिवश होने से क्रमशः शरीर और मन से सम्बन्ध रखनेवाला 'आध्यात्मिक' होता है अर्थात् 'आध्यात्मिक' दुःख शारीर -- शारीरिक और मानस-मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है । व्याधि से उत्पन्न दुःख

51. 'येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्' (योगभाष्य, 1.31) = जिससे अभिहत-पीडित हुए प्राणी उस प्रतिकूल वेदनीय हेय दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करते है वह 'दुःख' कहा जाता है ।

नस्थैर्यविरोधि । प्राणेन बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनं श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी । प्राणेन कोष्ठ्यस्य वायोर्बहिर्निःसरणं प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्तीति विक्षेपसहभुवोऽन्तराया एव । एतेऽभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । ईश्वरप्रणिधानेन वा । तीव्रसंवेगानामासन्ने समाधिलाभे प्रस्तुत ईश्वरप्रणिधानाद्वेति पक्षान्तरमुक्त्वा प्रणिधेयमीश्वरं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं' 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (पा० द० 1.24-26) इति त्रिभिः सूत्रैः

को 'शारीरिक' और कामादि से उत्पन्न दु:ख को 'मानसिक' कहते हैं। ये सभी दु:ख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं (आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्, तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च) । व्याघ्रादि से उत्पन्न होनेवाला दु:ख 'आधिभौतिक' है । ग्रहपीडा आदि से होनेवाला दु:ख 'आधिदैविक' कहलाता है । द्वेष नामक विपर्यय का हेतु होने के कारण यह समाधि का विरोधी है । ये तीनों दु:ख विक्षेप द्वारा समाधि के प्रतिपक्षी-विरोधी होने से विक्षेप के साथी और परम्परा से समाधि में अन्तरायरूप कहे जाते हैं । इच्छाविघात -- जो चाहे सो न हो आदि बलवान् दु:खानुभव से उत्पन्न होनेवाला चित्त का तामस परिणामविशेष, जिसका दूसरा नाम क्षोभ है वह स्तब्धीभाव 'दौर्मनस्य कहलाता है । यह भी कषाय होने के कारण लय के समान समाधि का विरोधी है । 'अङ्गमेजयत्व' अङ्गकम्पन है । यह आसन की स्थिरता का विरोधी है । प्राण से बाह्य वायु को भीतर ले जाना 'श्वास' है, यह समाधि के अङ्ग रेचक का विरोधी है । प्राण से कोष्ठ्य -- कुक्षिस्थ -- उदरस्थ वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है, यह समाधि के अङ्ग पूरक का विरोधी है । ये सब समाहित चित्त को नहीं होते हैं, विक्षिप्त चित्त को ही होते है, अत: विक्षेप के साथ होनेवाले अन्तराय ही हैं । इनका अभ्यास और वैराग्य से निरोध करना चाहिए, अथवा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा निरोध करना चाहिए । सूत्रकार पतञ्जलि ने 'तीव्रसंवेग[52]' वाले योगियों को शीघ्र समाधि लाभ होता है[53]' -- ऐसा प्रस्तुत करने पर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा[54]' (योगसूत्र, 1.23) = 'अथवा, ईश्वरप्रणिधान से भी अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ होता है' -- इस पक्षान्तर को कहकर प्रणिधेय ईश्वर का 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (योगसूत्र, 1.24) = 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-- ये पाँच क्लेश है' । राग-द्वेषादि से उत्पन्न शुभाशुभ -- कर्मजन्य होने से पुण्य-पाप 'कर्म'कहलाते हैं । पुण्य-पाप के फल

52. वाचस्पति मिश्र ने 'संवेग' शब्द का अर्थ 'वैराग्य' किया है । विज्ञानभिक्षु 'संवेगः उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्' = 'संवेग' उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता को कहते हैं । भोज के अनुसार 'संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः' = क्रिया के करने में जो कारणरूप दृढ़तर संस्कार होता है वह 'संवेग' कहलाता है । वस्तुत: 'संवेग' शब्द वैराग्य की सांकेतिक संज्ञा है, जैसे अधिमात्र आदि शब्द योगशास्त्र की सांकेतिक संज्ञा हैं । 'संवेग' वैराग्य में तीव्रता का द्योतक है ।

53. 'तीव्रसंवेगानामासन्नः' (योगसूत्र, 1.21) = तीव्रसंवेगवाले योगियों को शीघ्र समाधिलाभ और समाधिफल प्राप्त होते हैं । योगशास्त्र के अनुसार नौ प्रकार के योगी होते हैं – मृदूपाय -- मृदुसंवेग, मृदूपाय – मध्यसंवेग, मृदूपाय -- तीव्रसंवेग, मध्योपाय-मृदुसंवेग, मध्योपाय -- मध्यसंवेग, मध्योपाय – तीव्रसंवेग, अधिमात्रोपाय – मृदुसंवेग, अधिमात्रोपाय -- मध्यसंवेग, और अधिमात्रोपाय -- तीव्रसंवेग । इन नौ योगियों में जो अधिमात्रोपाय – तीव्रसंवेग वाले होते हैं उनको आठ योगियों की अपेक्षा शीघ्र समाधिलाभ और समाधिफल प्राप्त होते हैं ।

54. क्या अधिमात्रोपाय-तीव्रसंवेग से ही अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ होता है ? अथवा, इस समाधिलाभ में दूसरा भी कोई सुलभ उपाय है ? -- इस आशंका के निवारणार्थ ही सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र में अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ के लिए पक्षान्तर -- उपयान्तर कहा है ।

प्रतिपाद्य तत्प्रणिधानं द्वाभ्यामसूत्रयत्– 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (पा० द० 1.27-28) इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (पा० द० 1.29) ततः प्रणवजपरूपात्तदर्थध्यानरूपाच्चेश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृतिविवेकेनाधिगमः साक्षात्कारो भवति । उक्तानामन्तरायाणामभावोऽपि भवतीत्यर्थः ।

८5 अभ्यासवैराग्याभ्यामन्तरायनिवृत्तौ - कर्तव्यायामभ्यासदार्ढ्यार्थमाह– 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (पा० द० 1.32) तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यम् । तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (पा० द० 1.33) मैत्री सौहार्द, करुणा कृपा;

जाति, आयु और भोगरूप सुख-दुःख 'विपाक' कहे जाते हैं । सुख-दुःखात्मक भोग से जन्य नाना प्रकार की वासनाएँ 'आशय' कही जाती हैं । उक्त क्लेश, कर्म, विपाक और आशय – इन चारों पदार्थों से असम्बद्ध जो पुरुषविशेष है वह 'ईश्वर' है ।'; 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (योगसूत्र, 1.25) = 'तत्र = ईश्वर और उसकी ज्ञानक्रियाशक्ति के उत्कर्ष में सर्वज्ञत्व के कारण ज्ञान निरतिशय रहता है अर्थात् अन्तिम उन्नति के रूप में विद्यमान रहता है ।' तथा 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र, 1.26) = 'वह ईश्वर पूर्व -- सृष्टि के आदिकाल में उत्पन्न ब्रह्मा आदि देवों का और अङ्गिरादि ऋषियों का भी गुरु -- पूज्य और उपदेष्टा गुरु है, क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न -- परिच्छिन्न नहीं है' -- इन तीन सूत्रों से प्रतिपादन कर 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र, 1.27) = 'उस ईश्वर का वाचक -- अभिधायक-बोधक शब्द प्रणव[55] -- ओम् है अर्थात् ईश्वर का नाम 'ओम्' है' । तथा 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र, 1.28) = 'उस प्रणव = ओम् का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना -- पुनः पुनः चिन्तन करना 'ईश्वरप्रणिधान[56]' है', – इन दो सूत्रों से ईश्वरप्रणिधान को कहा है । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'उस ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्-चेतना का अधिगम -- ज्ञान -- साक्षात्कार भी होता है और अन्तरायों -- व्याधि-स्त्यान आदि विघ्नों का अभाव होता है ।' उस प्रणवजपरूप और तदर्थध्यानरूप ईश्वरप्रणिधान से प्रकृति के विवेक द्वारा प्रत्यक्-चेतन अर्थात् पुरुष का अधिगम = साक्षात्कार होता है और उक्त व्याधि आदि अन्तरायों का भी अभाव होता है -- यह तात्पर्य है ।

85 अभ्यास और वैराग्य से अन्तरायों-विघ्नों की निवृत्ति करनी चाहिए– ऐसा निश्चित करने पर अभ्यास और वैराग्य में से अभ्यास अर्थात् ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास की दृढ़ता के लिए कहते हैं-- 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (योगसूत्र, 1.32)= 'उन पूर्वोक्त विक्षेपों तथा उपविक्षेपों को दूर करने

55. प्रणव -- प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः' (भोजवृत्ति, 1.27) = परम नम्रता से स्तुति की जाय जिसके द्वारा, अथवा भक्त जिसकी उत्तमता से स्तुति करता है वह 'प्रणव' कहलाता है । वह 'ओम्' ही है । 'अवति इति ओम्' -- जो रक्षा करता है वह 'ओम्' है । ईश्वर ही प्राणिमात्र की रक्षा करता है, अतः ईश्वर का नाम 'ओम्' है । इस 'ओम्' और ईश्वर का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् निरतिशय ज्ञान-क्रिया-शक्तिरूप ऐश्वर्यवाला व्यापक ईश्वर वाच्य है, बोध्य है, और अभिधेय है तथा 'ओम्' वाचक, बोधक और अभिधायक है ।

56. ईश्वरप्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्तिविशेष तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब करणों, उनसे होनेवाले सब कर्मों और उनके फलों अर्थात् सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है, किन्तु विशेषरूप से 'ओम्' का मानसिक जप करना और उसके अर्थभूत ईश्वर के गुणों की भावना अर्थात् पुनः-पुनः ध्यान करना 'ईश्वरप्रणिधान' है । चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में ही स्थिर करना 'भावना' है ।

मुदिता हर्षः, उपेक्षौदासीन्यं, सुखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपाद्यन्ते । सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु साध्वेतन्मम मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं भावयेत्, न त्वीर्ष्याम् । दुःखितेषु कथंनु नामैषा दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव भावयेत्, नोपेक्षां न वा हर्षम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्यान्न तु विद्वेषं न चोपेक्षाम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च विगतरागद्वेषादिमलं चित्तं प्रसन्नं सदेकाग्रतायोग्यं भवति । मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणमभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादीनाम-मानित्वमदम्भित्वमित्यादीनां च धर्माणां, सर्वेषामेतेषां शुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्तकत्वात् । रागद्वेषौ महाशत्रू सर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धकौ महता प्रयत्नेन परिहर्तव्याविति एतत्सूत्रार्थः । एवमन्येऽपि प्राणायामादय उपायाश्चित्तप्रसादनाय दर्शिताः । तदेतच्चित्तप्रसादनं भगवदनुग्रहेण यस्य जातं तं प्रत्येवैतद्वचनं--सुखेनेति । अन्यथा मनःप्रशमानुपपत्ते ॥ 28 ॥

के लिए ईश्वररूप एक-तत्त्व[57] का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्त की स्थिति के लिए यत्न करना चाहिए' । उन अन्तरायों-विघ्नों के प्रतिषेध के लिए किसी एक अभिमत तत्त्व में अभ्यास -- चित्त को पुनः-पुनः स्थित करना चाहिए । तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (योगसूत्र, 1.33) = 'सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, मुदिता -- हर्ष, और उपेक्षा-उदासीनता की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न -- निर्मल होता है', अतः इनके द्वारा योगी अपने चित्त को प्रसन्न करके ईश्वरप्रणिधान में स्थिति-पद को प्राप्त होता है । मैत्री सौहार्द है, करुणा कृपा को कहते हैं, मुदिता का अर्थ हर्ष है तथा उपेक्षा उदासीनता है । 'सुखादि' शब्दों से सुखादिमानों अर्थात् सुखवाले-सुखी आदि का प्रतिपादन किया गया है । सुखसंभोग से सम्पन्न सभी प्राणियों में 'मेरे मित्रों का इसप्रकार सुखी होना अत्यन्त हर्ष की बात है' -- इसप्रकार मैत्री की भावना करे, ईर्ष्या न करे । दुःखी प्राणियों में 'इनके दुःख की निवृत्ति कैसे हो' -- इसप्रकार कृपा की ही भावना करे, उपेक्षा न करे अथवा हर्ष न करे । पुण्यवान् प्राणियों में पुण्य का अनुमोदन करते हुए हर्ष करे, द्वेष न करे अथवा उपेक्षा न करे । तथा अपुण्यवान् प्राणियों में उदासीनता की ही भावना करे, उनका अनुमोदन न करे अथवा उनसे द्वेष न करे । इसप्रकार भावनाशील पुरुष का शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है । उससे उसका रागद्वेषादि मल से रहित हुआ चित्त प्रसन्न होकर एकाग्रता के योग्य हो जाता है । ये मैत्री आदि चार धर्म अभय -- सत्त्वसंशुद्धि आदि तथा अमानित्व -- अदम्भित्व आदि धर्मों के उपलक्षणमात्र है, क्योंकि शुभवासनारूप होने के कारण ये सभी मलिन वासनाओं की निवृत्ति करनेवाले हैं । इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि सब पुरुषार्थों के प्रतिबन्धक -- विरोधी राग-द्वेषरूप महान् शत्रुओं का अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक परिहार-परित्याग करना चाहिए । इसी प्रकार चित्त के प्रसादन के लिए प्राणायाम आदि अन्य उपाय भी दिखाये गये हैं । भगवान् के अनुग्रह से जिसको यह चित्तप्रसाद प्राप्त हुआ है उसी के लिए -- 'सुखेन०' -- यह वचन कहा गया है, अन्यथा मन का शान्त होना सम्भव नहीं है ॥ 28 ॥

---

57. 'एके मुख्यान्यकेवला' (अमरकोष, 3.3.16) तथा 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च०' -- इत्यादि कोष के अनुसार प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द मुख्य -- प्रधान वाचक है । अतः 'एकतत्त्व' शब्द का अर्थ प्रधान तत्त्व हुआ और वह प्रधानतत्त्व प्रकृत प्रसङ्ग में ईश्वर ही है, अन्य स्थूल आदि पदार्थ नहीं । अतः इस ईश्वररूप एकतत्त्वावलम्बन में पुनः पुनः चित्त को लगाना ही 'एकतत्त्वाभ्यास' कहा जाता है । इसी को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं ।

86 तदेवं निरोधसमाधिना त्वंपदलक्ष्ये तत्पदलक्ष्ये च शुद्धे साक्षात्कृते तदैक्यगोचरा तत्त्वमसीतिवेदान्तवाक्यजन्या निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना जायते। ततश्च कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मसुखमत्यन्तमश्नुत इत्युपपादयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्र प्रथमं त्वंपदलक्ष्योपस्थितिमाह--

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ 29 ॥

87 सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु शरीरेषु भोक्तृतया स्थितमेकमेव नित्यं विभुमात्मानं प्रत्यक्चेतनं साक्षिणं परमार्थसत्यमानन्दघनं साक्ष्येभ्योऽनृतजडपरिच्छिन्नदुःखरूपेभ्यो विवेकेनेक्षते साक्षात्करोति। तस्मिंश्चाऽऽत्मनि साक्षिणि सर्वाणि भूतानि साक्ष्याण्याध्यासिकेन संबन्धेन भोग्यतया कल्पितानि साक्षिसाक्ष्ययोः संबन्धान्तरानुपपत्तेर्मिथ्याभूतानि परिच्छिन्नानि जडानि दुःखात्मकानि साक्षिणो विवेकेनेक्षते। कः, योगयुक्तात्मा योगेन निर्विचारवैशारद्यरूपेण युक्तः प्रसादं प्राप्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य स तथा। तथाच प्रागेवोक्तं -- 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इति। तथा च शब्दानुमानागोचरयथार्थविशेषवस्तुगोचरयोगजप्रत्यक्षेण ऋतंभरसंज्ञेन युगपत्सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं च सर्वं तुल्यमेव पश्यतीति सर्वत्र समं दर्शनं यस्येति सर्वत्रसमदर्शनः सन्नात्मानमनात्मानं च योगयुक्तात्मा यथावस्थितमीक्षत इति युक्तम्।

---

86 तब इसप्रकार निरोधसमाधि से 'त्वम्' पद के लक्ष्य और 'तत्' पद के लक्ष्य शुद्ध चेतनब्रह्म का साक्षात्कार करने पर तदैक्यगोचरा -- तदभेदविषयिणी अर्थात् 'त्वम्' और 'तत्' के ऐक्य -- अभेद को विषय करनेवाली तथा 'तत्त्वमसि' -- इस वेदान्तवाक्य से जन्य-उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्याभिधाना निर्विकल्पक साक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है। उससे सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाने से योगी अत्यन्त ब्रह्मसुख प्राप्त करता है -- यह तीन श्लोकों से कहते हैं। इसमें पहले 'त्वम्' पद के लक्ष्य आत्मा की उपस्थिति कहते हैं --

[योग से युक्त-प्रसन्न-निर्मल हुए आत्मा -- चित्तवाला तथा सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगी आत्मा को समस्त भूतों में स्थित और समस्त भूतों को आत्मा में स्थित देखता है ॥ 29 ॥]

87 समस्त भूतों में अर्थात् स्थावर -- जंगम शरीरों में भोक्तारूप से स्थित एक ही नित्य, विभु आत्मा को = साक्षी, परमार्थसत्य, आनन्दघन प्रत्यक्-चेतन को अनृत -- मिथ्या, जड़, परिच्छिन्न, दुःखरूप साक्ष्यों से विवेकपूर्वक देखता है -- साक्षात्कार करता है। उस साक्षी आत्मा में आध्यासिक सम्बन्धद्वारा भोग्यरूप से कल्पित समस्त साक्ष्य भूतों को, साक्षी और साक्ष्य का कल्पित सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई दूसरा सम्बन्ध न हो सकने के कारण वे साक्षी मिथ्याभूत, परिच्छिन्न, जड दुःखात्मक हैं अतएव तद्विपरीत साक्षी से भिन्न हैं -- इस विवेक से देखता है। कौन देखता है ? योगयुक्तात्मा = निर्विचारवैशारद्यरूप योग से युक्त-प्रसाद को प्राप्त है आत्मा -- अन्तःकरण जिसका वह -- इसप्रकार का योगी देखता है। यह 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (योगसूत्र, 1.47) = 'निर्विचार समाधि का वैशारद्य होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद होता है', 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (योगसूत्र, 1.48) 'निर्विचार योग के वैशारद्य काल में जो अध्यात्मप्रसादरूप प्रज्ञा-बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह

88 अथवा यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्रसमदर्शनः स आत्मानमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ । यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुस्तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि । नावश्यं योग एवापेक्षितः । अत एवाऽऽह वसिष्ठः--

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचियोगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥' इति ।

89 चित्तनाशस्य साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्तददर्शनस्य । तस्योपायद्वयम् -- एकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः । संप्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्त्वं साक्षिणाऽनुभूयते निरुद्धसर्ववृत्तिकं तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः । द्वितीयस्तु साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः । तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे, तेषां परमार्थस्य चित्तस्यादर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायासंभवात् । श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः

ऋतंभरा कही जाती है', तथा 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (योगसूत्र, 1.49) = 'वह ऋतंभरा प्रज्ञा भूतसूक्ष्मगत तथा पुरुषगत विशेषरूप अर्थविषयक होने से शास्त्रजन्य प्रज्ञा और अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्नविषयक है' -- इन सूत्रों से पूर्व में =पन्द्रहवें श्लोक की टीका में ही कहा जा चुका है । इसप्रकार शब्द और अनुमान के अगोचर -- अविषयक यथार्थ विशेष वस्तु के गोचर-विषयक ऋतंभरा नामक योगज प्रत्यक्ष से वह योगी एकसाथ अर्थात् एक ही समय में सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थ समस्त विषयों को समान रूप से देखता है । सर्वत्र समान है दर्शन जिसका ऐसा सर्वत्रसमदर्शन होकर वह योगयुक्तात्मा आत्मा और अनात्मा को यथावस्थित अर्थात् जो जैसा है उसको वैसा देखता है -- यह ठीक ही है .

88. अथवा, जो योगयुक्तात्मा है या जो सर्वत्रसमदर्शन है वह आत्मा को देखता है -- इसप्रकार योगी और समदर्शी - ये दोनों आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी कहे गये है । जिस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध साक्षी के साक्षात्कार का हेतु है, उसी प्रकार जड़ के विवेक द्वारा सब में अनुस्यूत चैतन्य को पृथक् करना भी उसका हेतु है । उसके लिए योग ही अवश्य अपेक्षित नहीं है । अतएव वसिष्ठ ने कहा है --
"हे राघव ! चित्तनाश के दो मार्ग हैं -- योग और ज्ञान । 'योग' चित्त की वृत्तियों का निरोध है और 'ज्ञान' सम्यग्दर्शन है । किसी के लिए योग असाध्य होता है और किसी के लिए तत्त्व का निश्चय होना । इसी से देवाधिदेव परम शिव ने दो प्रकार कहे हैं ।"

89 चित्तनाश अर्थात् साक्षी के उपाधिभूत चित्त को साक्षी से पृथक् करके उसकी अप्रतीति करने के दो उपाय हैं -- एक असंप्रज्ञात-समाधि है, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षिद्वारा आत्मैकाकार-वृत्तिप्रवाह से युक्त अन्त:करण-सत्त्व का अनुभव किया जाता है, किन्तु निरुद्धसर्ववृत्तिक चित्त शान्त-लीन हो जाने के कारण साक्षिद्वारा अनुभूत नहीं होता -- यही विशेष-भेद है । दूसरा, साक्षी में कल्पित साक्ष्य अनृत-मिथ्या होने के कारण है ही नहीं, केवल परमार्थसत्य साक्षी ही विद्यमान है-- यह विचार

प्रपञ्चानृतत्ववादिनो द्वितीयमेवोपायमुपेयुः । तेषां ह्यधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते । अत एव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयांबभूवुः । अत एव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचार एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे । विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन ॥ 29 ॥

90 एवं शुद्धं त्वंपदार्थं निरूप्य शुद्धं तत्पदार्थं निरूपयति--

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ 30 ॥

91 यो योगी मामीश्वरं तत्पदार्थमशेषप्रपञ्चकारणमायोपाधिकमुपाधिविवेकेन सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परमार्थसत्यमानन्दघनमनन्तं पश्यति योगजेन प्रत्यक्षेणापरोक्षीकरोति । तथा सर्वं च प्रपञ्चजातं मायया, मय्यारोपितं मद्भिन्नतया मृषात्वेनैव पश्यति, तस्यैवंविवेकदर्शिनोऽहं तत्पदार्थो भगवान्न प्रणश्यामि, ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति

है । इनमें प्रथम उपाय तो प्रपञ्च की परमार्थता का प्रतिपादन करनेवाले हिरण्यगर्भोपासक आदि मानते हैं, क्योंकि उनके विचार से परमार्थ चित्त के अदर्शनद्वारा साक्षी के दर्शन में निरोध से अतिरिक्त अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है । किन्तु भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य के मत का आश्रय लेनेवाले प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी वेदान्ती द्वितीय उपाय का ही अनुसरण करते हैं । उनके मत में अधिष्ठान के ज्ञान की दृढ़ता होने पर उसमें कल्पित अतएव बाधित चित्त तथा उसके दृश्य का अदर्शन अनायास ही उपपन्न हो जाता है । अतएव भगवत्पूज्यपाद ने कहीं भी ब्रह्मवेत्ताओं के लिए योग की अपेक्षा का उपपादन नहीं किया है । इसीलिए अद्वैत वेदान्ती परमहंस गुरु के समीप जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए श्रौत वेदान्तवाक्यों के विचार में ही प्रवृत्त होते हैं, योग में नहीं, क्योंकि विचार के द्वारा ही चित्त के दोषों का निराकरण होने पर वह तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है, अतः चित्तदोषनाश अन्यथासिद्ध है[58] -- इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है ॥ 29 ॥

90 इस प्रकार शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ का निरूपण कर अब शुद्ध 'तत्' पदार्थ का निरूपण करते हैं -- [जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता और मेरे लिए वह परोक्ष-ज्ञान का विषय नही होता ॥ 30 ॥]

91 जो योगी मुझको= 'तत्' पदार्थ सम्पूर्ण प्रपञ्च के कारण मायारूप उपाधिवाले मुझ ईश्वर को उपाधि के विवेक द्वारा सद्-रूप से और स्फुरण-चिद्रूप से प्रपञ्च में सर्वत्र अनुस्यूत, सम्पूर्ण उपाधियों से

58. जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि अद्वैत वेदान्ती परमहंस गुरु के समीप जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए श्रौत वेदान्तमहावाक्य के विचार में ही प्रवृत्त होता है, योग में नहीं – यह उपेक्षणीय है, क्योंकि शंकराचार्य ने स्वयं अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1)- इस सूत्र के 'अथ' शब्द की व्याख्या में सूचित किया है कि ब्रह्मजिज्ञासा नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादिषट्क सम्पत्ति अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान – समाधि तथा मुमुक्षुत्व – इस साधन चतुष्टय के पश्चात् होनी चाहिए । यहाँ उन्होंनें शमादिषट्क सम्पत्ति से योग-साधन को भी 'ब्रह्मजिज्ञासा' के लिए आवश्यक कहा है । यदि कहीं श्रवणादि के बिना तत्त्वसाक्षात्कार की प्राप्ति देखी भी जाती है, तो वहाँ यह कल्पना की जाती है कि उस तत्त्वदर्शी ने पूर्वजन्म में श्रवणादि का अभ्यास किया है । इस प्रसंग में मधुसूदन सरस्वती ने जो वसिष्ठ के वचनों को उद्धृत किया है वे वचन प्रकृत प्रसङ्ग में असंगत ही हैं, क्योंकि वसिष्ठ ने जो योग और ज्ञान साधन कहे हैं, वे चित्तनाश के साधन कहे हैं, न कि साक्षी के साक्षात्कार में साधन कहे हैं (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

परोक्षज्ञानविषयो न भवामि, किं तु योगजापरोक्षज्ञानविषयो भवामि । यद्यपि वाक्यजापरोक्षज्ञानविषयत्वं त्वंपदार्थाभेदेनैव तथाऽपि केवलस्यापि तत्पदार्थस्य योगजापरोक्षज्ञानविषयत्वमुपपद्यत एव । एवं योगजेन प्रत्यक्षेण मामपरोक्षीकुर्वन्स च मे न प्रणश्यति परोक्षो न भवति । स्वात्मा हि मम स विद्वानतिप्रियत्वात्सर्वदा मदपरोक्षज्ञानगोचरो भवति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्युक्तेः । तथैव शरशय्यास्थभीष्मध्यानस्य युधिष्ठिरं प्रति भगवतोक्तेः । अविद्वांस्तु स्वात्मानमपि सन्तं भगवन्तं न पश्यति । अतो भगवान्पश्यन्नपि तं न पश्यति 'एनमविदितो न भुनक्ति' इति श्रुतेः । विद्वांस्तु सदैव संनिहितो भगवतोऽनुग्रहभाजनमित्यर्थः ॥ 30 ॥

92 **एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च शुद्धं निरूप्य तत्त्वमसीतिवाक्यार्थं निरूपयति –**

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ 31 ॥

93 **सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं सर्वानुस्यूतसन्मात्रं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यं स्वेन त्वंपदलक्ष्येण सहे-**

विनिर्मुक्त-शून्य, परमार्थसत्य, आनन्दघन, और अनन्त देखता है अर्थात् योगज प्रत्यक्ष से उसका साक्षात्कार करता है तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चजात को मायाद्वारा मेरे में अरोपित अतएव मुझसे भिन्न होने के कारण मिथ्यारूप से ही देखता है, उस इसप्रकार के विवेकदर्शी को तत्पदार्थ 'अहम्' = 'मैं' भगवान् प्रनष्ट नहीं होता हूँ अर्थात् 'ईश्वर मुझसे कोई भिन्न है' -- इस परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता हूँ, किन्तु योगज अपरोक्षज्ञान का विषय होता हूँ । यद्यपि वेदान्तवाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान की विषयता 'त्वम्' पदार्थ के अभेदरूप से ही होती है, तथापि केवल 'तत्' पदार्थ का भी योगज अपरोक्षज्ञान का विषय होना उपपन्न ही है । इसप्रकार योगज प्रत्यक्ष से मुझको अपरोक्ष -- प्रत्यक्ष करता हुआ वह योगी मेरे लिए प्रनष्ट नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं होता -- मेरे परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता, क्योंकि वह विद्वान् मेरा अपना आत्मा ही है, अतः अत्यन्त प्रिय होने के कारण सर्वदा मेरे अपरोक्षज्ञान का विषय होता है, जैसा कि भगवान् ने कहा है -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिस प्रकार भजते हैं उन पर मैं उसी प्रकार कृपा करता हूँ' । शरशय्या पर स्थित भीष्मपितामह के ध्यान के विषय में भी भगवान् ने युधिष्ठिर से ऐसा ही कहा है । अविद्वान् आत्मस्वरूप होते हुए भी भगवान् को नहीं देखता है, अतः भगवान् उसको देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि 'स एनमविदितो न भुनक्ति' = 'वह ज्ञान न होने पर इसका पालन नहीं करता है'-- यह श्रुति कहती है । विद्वान् तो सदैव सन्निहित होने से भगवान् के अनुग्रह का पात्र होता है -- यह तात्पर्य है ॥ 30 ॥

92 इस प्रकार शुद्ध 'त्वम्' पदार्थ और 'तत्' पदार्थ का निरूपण कर 'तत्त्वमसि' -- इस महावाक्य के अर्थ का निरूपण करते हैं --

[जो एकत्व-एकीभाव में स्थित हुआ समस्त भूतों में स्थित मुझको भजता है वह योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है ॥ 31 ॥]

93 सर्वभूतस्थित = समस्त भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित, सब में अनुस्यूत 'सत्' मात्र, 'तत्' पद के लक्ष्य मुझको = मुझ ईश्वर को जो 'त्वम्' पद के लक्ष्य स्व के साथ अर्थात् अपने स्वरूप के

कत्वमत्यन्ताभेदमास्थितो घटाकाशो महाकाश इत्यत्रेवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन्यो भजति अहं ब्रह्मास्मीतिवेदान्तवाक्यजेन साक्षात्कारेणापरोक्षीकरोति सोऽविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या जीवन्मुक्तः कृतकृत्य एव भवति । यावत्तु तस्य बाधितानुवृत्त्या शरीरादिदर्शनमनुवर्तते तावत्प्रारब्धकर्म-प्राबल्यात्सर्वकर्मत्यागेन वा याज्ञवल्क्यादिवत्, विहितेन कर्मणा वा जनकादिवत्, प्रतिषिद्धेन कर्मणा वा दत्तात्रेयादिवत्, सर्वथा येन केनापि रूपेण वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि स योगी ब्रह्माहमस्मीति विद्वान्मयि परमात्मन्येवाभेदेन वर्तते । सर्वथा तस्य मोक्षं प्रति नास्ति प्रतिबन्धशङ्का 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेः । देवा महाप्रभावा अपि तस्य मोक्षाभवनाय नेशते किमुतान्ये क्षुद्रा इत्यर्थः । ब्रह्मविदो निषिद्धकर्मणि प्रवर्तकयो रागद्वेषयोरसंभवेन निषिद्धकर्मासंभवेऽपि तदङ्गीकृत्य ज्ञानस्तुत्यर्थमिदमुक्तं सर्वथा वर्तमानोऽपीति हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत इतिवत् ॥ 31 ॥

94 एवमुत्पन्नेऽपि तत्वबोधे कश्चिन्मनोनाशवासनाक्षययोरभावाज्जीवन्मुक्तिसुखं नानुभवति चित्तविक्षेपेण च दृष्टदुःखमनुभवति सोऽपरमो योगी देहपाते कैवल्यभागित्वात्, देहसद्भावपर्यन्तं

साथ, घटाकाश घटरूप उपाधिरहित होकर जिस प्रकार महाकाश ही हो जाता है उसी प्रकार जीव और ईश्वर के उपाधिगत भेद के निराकरणद्वारा एकत्व-अत्यन्त अभेद में स्थित होकर = एकत्व-अभेद का निश्चय कर भजता है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस वेदान्तवाक्य से जन्य साक्षात्कार-तत्त्वसाक्षात्कार से अपरोक्ष -- प्रत्यक्ष करता है, वह अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिद्वारा जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य ही हो जाता है । विशेष यह है कि जब तक बाधितानुवृत्ति से उसके शरीरादिदर्शन-ज्ञान की अनुवृत्ति होती है तब तक प्रारब्धकर्म की प्रबलता से याज्ञवल्क्यादि के समान समस्त कर्मों के परित्यागपूर्वक, अथवा जनकादि के समान विहित कर्म करते हुए, अथवा दत्तात्रेयादि के समान प्रतिषिद्ध-निषिद्ध कर्मों का आचरण करते हुए सर्वथा -- जिस किसी भी रूप में वर्तता हुआ -- व्यवहार करता हुआ भी वह योगी = 'मैं ब्रह्म हूँ' – यह जानता हुआ विद्वान् मुझ परमात्मा में ही अभेद भाव से रहता है । किसी भी प्रकार उसके मोक्ष में प्रतिबन्ध होने की शंका नहीं है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'देवतालोग भी उसका पराभव करने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा हो जाता है (छान्दोग्य-उपनिषद्, 1.4.10) । तात्पर्य यह है कि देवतालोग अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी उसका मोक्ष न होने देने में समर्थ नहीं होते, अन्य क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या है ? ब्रह्मवेत्ता में निषिद्ध कर्मों के प्रवर्त्तक राग और द्वेष की सम्भावना न होने के कारण उससे निषिद्ध कर्म होना सम्भव न होने पर भी उनको अङ्गीकार करके ज्ञान की स्तुति के लिए 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' (गीता, 18.17) = 'वह इन समस्त प्राणियों को मारकर भी न मारता है और न कर्मबन्धन से बँधता ही है' -- इस वचन के समान 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' = 'वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी' -- ऐसा कहा है ॥ 31 ॥

94 इस प्रकार तत्त्वबोध -- तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी कोई योगी मनोनाश और वासनाक्षय न होने के कारण जीवन्मुक्तिसुख का अनुभव नहीं करता, चित्तविक्षेप के कारण वह दृष्टदुःख का अनुभव करता है, वह अपरम योगी होता है, क्योंकि वह देहपात होने पर कैवल्य-मोक्ष का भागी होता है तथा देह की स्थितिपर्यन्त दृष्ट दुःख का अनुभव करता है । किन्तु तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का एक साथ अभ्यास करने से दृष्टदुःख की निवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिसुख का अनुभव करते हुए प्रारब्धकर्मवश समाधि से व्युत्थान होने के समय --

च दृष्टदुःखानुभवात्, तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणां तु युगपदभ्यासाद् दृष्टदुःखनिवृत्तिपूर्वकं जीवन्मुक्तिसुखमनुभवन्प्रारब्धकर्मवशात्समाधेर्व्युत्थानकाले –

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 32 ॥

95 आत्मैवौपम्यमुपमा तेनाऽऽत्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समं तुल्यं यः पश्यति स्वस्यानिष्टं यथा न संपादयति एवं परस्याप्यनिष्टं यो न संपादयति प्रद्वेषशून्यत्वात् । एवं स्वस्येष्टं यथा संपादयति तथा परस्यापीष्टं यः संपादयति रागशून्यत्वात्, स निर्वासनतयोपशान्तमना योगी ब्रह्मवित्परमः श्रेष्ठो मतः पूर्वस्मात्, हेऽर्जुन । अतस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामक्रममभ्यासाय महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

96 तत्रेदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैवाऽऽत्मैवैकः परमार्थसत्यः सच्चिदानन्दाद्वयोऽहमस्मीति ज्ञानं तत्त्वज्ञानं प्रदीपज्वालासंतानवद्वृत्तिसंतानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य सर्ववृत्तिविरोधिना निरोधाकारेण परिणामः । पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारविशेषो वासना पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात् । तस्याः

[हे अर्जुन ! जो योगी आत्मदृष्टान्त से -- अपनी सादृश्यता से सभी प्राणियों के सुख या दुःख को समानरूप से देखता है वह परम योगी माना गया है ।। 32 ।।]

95 हे अर्जुन ! आत्मा ही है औपम्य-उपमा-दृष्टान्त जिसका उससे अर्थात् आत्मदृष्टान्त से जो सर्वत्र = समस्त प्राणियों में उत्पन्न सुख को अथवा दुःख को यदि सम-तुल्य देखतां है, अर्थात् जिस प्रकार अपना अनिष्ट अपने से नहीं करता उसीप्रकार द्वेषशून्य होने के कारण जो दूसरों का भी अनिष्ट नहीं करता तथा जिस प्रकार अपना इष्ट करता है उसी प्रकार रागशून्य होने के कारण दूसरों का भी इष्ट करता है तो वह वासनाशून्य होने के कारण प्रशान्तमना ब्रह्मज्ञ योगी पूर्वोक्त योगी की अपेक्षा परम अर्थात् श्रेष्ठ माना गया है । अतः तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का अक्रम अर्थात् एक साथ अभ्यास करने के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए -- यह अर्थ है ।

96 इनमें 'यह सब द्वैतप्रपञ्च अद्वितीय, चिदानन्दस्वरूप आत्मा में माया से कल्पित होने के कारण मिथ्या ही है, आत्मा ही एक, परमार्थसत्य है और वह सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मा मैं हूँ' -- यही ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है । दीपक की ज्योति के संतान -- प्रवाह के समान वृत्तियों के प्रवाहरूप से परिणाम को प्राप्त होते रहनेवाला अन्तःकरणरूप द्रव्य मननात्मक होने से 'मन' कहा जाता है । वृत्तिरूप परिणाम का परित्याग कर समस्त वृत्तियों के विरोधी निरोधाकार से परिणत होना- उस मन का नाश= 'मनोनाश' है । पूर्वापर के परामर्श-विचार के बिना सहसा उत्पद्यमान क्रोधादिवृत्तिविशेष का कारण जो चित्तगत संस्कारविशेष है वह चित्त में पूर्वाभ्यास से वास्यमान होने के कारण -- बसा होने के कारण 'वासना' है । विवेक से जन्य चित्तशान्ति की वासना के दृढ़ होने पर बाह्य निमित्त के रहने पर भी क्रोधादि का उत्पन्न न होना -- उस वासना का क्षय = 'वासनाक्षय' है । उसमें, तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याभूत जगत् में नरशृंगादि के समान बुद्धिवृत्ति का उदय न होने से तथा आत्मदर्शन हो जाने से उसके लिए पुनः वृत्ति का कोई उपयोग न रहने के कारण ईधन-शून्य अग्नि के समान मन का नाश हो जाता है । मन

क्षयो नाम विवेकजन्यायां चित्तप्रशमवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्ये निमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः । तत्र तत्त्वज्ञाने सति मिथ्याभूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति । नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यस्य निमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते । क्षीणायां वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति । नष्टे च मनसि शमदमादिसंपत्त्या तत्त्वज्ञानमुदेति । एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपा वासना क्षीयते । क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परकारणत्वं दर्शनीयम् ।

97 **अत एव भगवान्वसिष्ठ आह–**

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रय ॥' इति ।

पौरुषो यत्नः केनाप्युपायेनावश्यं संपादयिष्यामीत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बन्धः । विवेको नाम विविच्य निश्चयः । तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनं, मनोनाशस्य योगः, वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति । एतादृशविवेकयुक्तेन पौरुषेण प्रयत्नेन भोगेच्छायाः स्वल्पाया अपि हविषा कृष्णवर्त्मेवेति न्यायेन वासनावृद्धिहेतुत्वाद् दूरत इत्युक्तम् ।

98 **द्विविधो हि विद्याधिकारी कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्च । तत्र य उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्तिं**

का नाश होने पर संस्कारों के उद्बोधक किसी बाह्य निमित्त की प्रतीति न होने से वासना का क्षय हो जाता है । वासना का क्षय होने पर कारण का अभाव हो जाने से क्रोधादि वृत्तियों का उदय न होने के कारण मन का नाश हो जाता है । मन का नाश होने पर शम-दमादि षट्सम्पत्ति के प्रभाव से तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है । इस प्रकार तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर रागद्वेषादिरूप वासना क्षीण हो जाती है । तथा वासना के क्षीण होने पर प्रतिबन्ध का अभाव हो जाने से तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है -- इस प्रकार इनकी परस्पर कारणता समझनी चाहिए ।

97 अतएव भगवान् वसिष्ठ ने कहा हैं --

''तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- ये परस्पर कारणता को प्राप्त होकर दुःसाध्य -- कष्टसाध्यरूप से स्थित हैं । अतः राघव ! विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्न के द्वारा भोग की इच्छा को दूर से ही त्याग कर इन तीनों का आश्रय लो ।''

'किसी भी उपाय से मैं इसको अवश्य करूँगा' -- इसप्रकार का उत्साहरूप निर्बन्ध = आग्रह 'पौरुषप्रयत्न' कहलाता है । विवेचन करके अर्थात् पृथक्-पृथक् करके निश्चय करना 'विवेक' है । आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रवणादि तत्त्वज्ञान के साधन हैं, योग -- अष्टाङ्ग योग मनोनाश का साधन है, और प्रतिकूल - विपरीत वासनाओं को उत्पन्न करना वासनाक्षय का साधन है । 'हविषा कृष्णवर्त्मेव' = 'हवि डालने से जैसे अग्नि बढ़ जाती है' -- इस न्याय से वासना वृद्धि का हेतु होती है, अतः इसप्रकार के विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्न से थोड़ी-सी भी भोग की इच्छा दूर से ही त्याज्य है -- यह कहा है ।

98 विद्या-ज्ञान के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं -- कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति । इनमें जो उपास्य के साक्षात्कारपर्यन्त उपास्ति -- उपासना करके तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त होता है वह 'कृतोपास्ति' है, उसके वासनाक्षय और मनोनाश दृढ़ हो जाने के कारण उसको ज्ञान से ऊपर जीवन्मुक्ति स्वतः

कृत्वा तत्त्वज्ञानाय प्रवृत्तस्तस्य वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं जीवन्मुक्तिः स्वत एव सिध्यति । इदानींतनस्तु प्रायेणाकृतोपास्तिरेव मुमुक्षुरौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तते । योगं विना चिज्जडविवेकमात्रेणैव च मनोनाशवासनाक्षयौ तात्कालिकौ संपाद्य शमदमादिसंपत्त्या श्रवणमनननिदिध्यासनानि संपादयति । तैश्च दृढाभ्यस्तैः सर्वबन्धविच्छेदि तत्त्वज्ञानमुदेति । अविद्याग्रन्थिरब्रह्मत्वं हृदयग्रन्थिः संशयाः कर्माण्यसर्वकामत्वं मृत्युः पुनर्जन्म चेत्यनेकविधो बन्धो ज्ञानान्निवर्तते । तथा च श्रूयते – 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।'

**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'**

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्', 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।'

**'यस्तु विज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥'**

ही सिद्ध हो जाती है । आजकल के प्रायः अकृतोपास्ति ही मुमुक्षु हैं जो उपासना न कर उत्सुकतामात्र से सहसा ज्ञान में प्रवृत्त हो जाते हैं । वे योग के बिना जड़ और चेतन के विवेकमात्र से ही तात्कालिक मनोनाश और वासनाक्षय का सम्पादन कर शम-दमादि षट्सम्पत्तिपूर्वक श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करते हैं । दृढ़ अभ्यस्त उन श्रवणादि साधनों से समस्त बन्धनों का छेदन करनेवाला तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है । अविद्याग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकामत्व, मृत्यु और पुनर्जन्म -- ये अनेक प्रकार के बन्धन ज्ञान -- तत्त्वज्ञान से निवृत्त होते हैं । ऐसा ही श्रुति भी कहती है --

'हे सोम्य ! जो हृदयाकाश में निहित आत्मतत्त्व को जानता है वह इस लोक में अविद्याग्रन्थि को काट देता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है' । 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' ।

'पर तथा अवर अर्थात् कारण-हिरण्यगर्भ तथा कार्य के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर जीव की हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ।'

'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है'; 'जो हृदयगुहा में निहित परम व्योम-आकाश स्वरूप उस ब्रह्म को जानता है'; 'वह समस्त कामनाओं को एक साथ प्राप्त कर लेता है'; 'जीव केवल उसको -- आत्मा को ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है अर्थात् मृत्यु को पार कर जाता है ।'

'जो पुरुष विज्ञानवान् -- तत्त्वज्ञानी होता है, जिसका मन अमनीभाव -- अमनस्क होता है तथा जो सदा शुचि अर्थात् भेददृष्टिविहीन होता है वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर जन्म नहीं होता है' । तथा,

'जो ऐसा जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सब हो जाता है' । -- इस प्रकार असर्वत्व की निवृत्ति ही तत्त्वज्ञान का फल कहना चाहिए । ऐसी यह विदेहमुक्ति देह के रहने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के साथ होनेवाली समझनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म में अविद्या से अध्यारोपित इन बन्धनों की अविद्या का नाश होने से निवृत्ति हो जाने पर फिर उत्पत्ति होना संभव नहीं है । अतः शिथिलता का कोई

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इत्यसर्वत्वनिवृत्तिफलमुदाहार्यम् । सेयं विदेहमुक्तिः सत्यपि देहे ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया । ब्रह्मण्यविद्याध्यारोपितानामेतेषां बन्धानामविद्यानाशे सति निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यसंभवात् । अतः शैथिल्यहेत्वभावात्तत्त्वज्ञानं तस्यानुवर्तते । मनोनाशवासनाक्षयौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन कर्मणा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशप्रदीपवत्सहसा निवर्तेते । अत इदानींतनस्य तत्त्वज्ञानिनः प्राक्सिद्धे तत्त्वज्ञाने न प्रयत्नापेक्षा । किं तु मनोनाशवासनाक्षयौ प्रयत्नसाध्याविति । तत्र मनोनाशोऽसंप्रज्ञातसमाधिनिरूपणेन निरूपितः प्राक् । वासनाक्षयस्त्विदानीं निरूप्यते ।

99 तत्र वासनास्वरूपं वसिष्ठ आह—

'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥'

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मस्वभावभेदतद्गतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवेशः सामान्येनोदाहरणम् । सा च वासना द्विविधा मलिना शुद्धा च । शुद्धा दैवी संपत्,शास्त्रसंस्कारप्राबल्यात्तत्वज्ञानसाधनत्वेनैकरूपैव । मलिना तु त्रिविधा लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति । सर्वे जना यथा न निन्दन्ति तथैवाऽऽचरिष्यामीत्यशक्यार्थाभिनिवेशो लोकवासना । तस्याश्च को लोकमाराधयितुं समर्थ इति न्यायेन संपादयितुमशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाच्च मलिनत्वम् । शास्त्रवासना तु त्रिविधा पाठव्यसनं बहुशास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति क्रमेण भरद्वाजस्य दुर्वाससो निदाघस्य च प्रसिद्धा । मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाद्दर्पहेतुत्वाज्जन्महेतुत्वाच्च । देहवासनाऽपि त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्तिर्गुणाधानभ्रान्तिर्दोषापनयनभ्रान्तिश्चेति । तत्राऽऽत्मत्वभ्रान्तिर्विरोचनादिषु प्रसिद्धा

कारण न होने से उसको तत्त्वज्ञान की उत्तरोत्तर अनुवृत्ति रहती है, किन्तु दृढ़ अभ्यास न होने के कारण भोगप्रद प्रारब्ध कर्म से बाध्यमान होकर सवात -- वायुयुक्त स्थान पर स्थित दीपक के समान मनोनाश और वासनाक्षय सहसा निवृत्त हो जाते हैं । अत: आजकल के तत्त्वज्ञानियों को पूर्वसिद्ध तत्त्वज्ञान में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, किन्तु मनोनाश और वासनाक्षय में ही विशेष प्रयत्न की अपेक्षा है उसके लिए पूर्ण श्रम करना चाहिए । इनमें मनोनाश का निरूपण तो असम्प्रज्ञात समाधि के निरूपण द्वारा पहले ही कर चुके हैं । अव वासनाक्षय का निरूपण करते हैं ।

99 वासना का स्वरूप वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा है --

'दृढ़भावनावश अर्थात् पूर्वसंचित संस्कारवश पूर्वापर का विचार छोड़कर जो पदार्थ का ग्रहण करना है वह 'वासना' कही जाती है ।'

इसमें अपने-अपने देश के आचार, कुलधर्म और स्वभावभेद तथा उनमें रहनेवाले अपशब्द और सुशब्द आदि में जो प्राणियों का अभिनिवेश -- आग्रह है वह सामान्यतया वासना का उदाहरण है [59] । वह वासना दो प्रकार की है -- शुद्धा और मलिना । 'शुद्धा' वासना दैवी सम्पद् है, शास्त्रसंस्कार की प्रबलता के कारण तत्त्वज्ञान की साधन होने से वह एकरूप ही है अर्थात् एक

---

59. अर्थ यह है कि दृढ़ पूर्वाभ्यास से गुण-दोष के विचार के बिना आचार, धर्म आदि का जिस देश में प्रचार होता है उस देश के मनुष्यों में उन आचार, धर्म आदि में प्रवृत्ति साग्रह होती है, ये ही वासना चिह्न हैं ।

सार्वलौकिकी। गुणाधानं द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च। समीचीनशब्दादिविषयसंपादनं लौकिकं, गङ्गास्नानशालग्रामतीर्थादिसंपादनं शास्त्रीयम्। दोषापनयनमपि द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च। चिकित्सकोक्तैरोषधैर्व्याध्याद्यपनयनं लौकिकं, वैदिकस्नानाचमनादिभिरशौचाद्यपनयनं वैदिकम्। एतस्याश्च सर्वप्रकाराया मलिनत्वमप्रामाणिकत्वादशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वात्पुनर्जन्महेतुत्वाच्च शास्त्रे प्रसिद्धम्। तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकिनामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वाद्विदुषो ज्ञाननिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम्।

100 तदेवं बाह्यविषयवासना त्रिविधा निरूपिता। आभ्यन्तरवासना तु कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसंपद्रूपा सर्वानर्थमूलं मानसी वासनेत्युच्यते। तदेवं बाह्याभ्यन्तरवासनाचतुष्टयस्य शुद्धवासनया क्षयः संपादनीयः। तदुक्तं वसिष्ठेन–

'मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः।
मैत्र्यादिवासना राम गृहाणामलवासनाः॥' इति।

प्रकार की ही है। मलिन वासना तो तीन प्रकार की है -- लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना। 'सब लोग मेरी जैसे निन्दा न करें वैसा ही आचरण करूँगा' -- ऐसे अशक्य अर्थ – विषय के लिए अभिनिवेश -- आग्रह होना 'लोकवासना' है। 'लोक को प्रसन्न रखने में कौन समर्थ है' इस न्याय से उस लोकवासना को पूरा करना संभव न होने से तथा पुरुषार्थ में उसके उपयोगी न होने से उसकी मलिनता कही गई है। शास्त्रवासना तीन प्रकार ही है -- पाठ-व्यसन, बहुशास्त्रव्यसन और अनुष्ठानव्यसन। ये तीनों व्यसन क्रम से भरद्वाज, दुर्वासा और निदाघ के प्रसिद्ध हैं। क्लेशावह -- क्लेशकर, पुरुषार्थ में अनुपयोगी, दर्प की हेतु और जन्म की हेतु होने से इसकी मलिनता मानी गई है। देहवासना भी तीन प्रकार की है -- आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्ति और दोषापनयनभ्रान्ति। इनमें 'आत्मत्वभ्रान्ति' 'अहं गौरः' -- इत्यादि से सर्वलोकप्रसिद्ध है, शास्त्रोपाख्यान से विरोचनादि में भी प्रसिद्ध ही है। गुणाधान दो प्रकार का है -- लौकिक और शास्त्रीय। समीचीन शब्दादि विषयों का सम्पादन करना 'लौकिक' गुणाधान है तथा गङ्गास्नान, शालग्रामपूजा, तीर्थसेवन आदि का सम्पादन करना 'शास्त्रीय' गुणाधान है। दोषापनयन भी दो प्रकार का है -- लौकिक और शास्त्रीय। चिकित्सक की बताई हुई ओषधियों से व्याधि आदि को दूर करना 'लौकिक' दोषापनयन है तथा वैदिक स्नान, आचमन आदि से अशौचादि को दूर करना 'वैदिक' दोषापनयन है। अप्रमाणिक, अशक्य, पुरुषार्थ में अनुपयोगी और पुनर्जन्म की हेतु होने से इस सभी प्रकार की वासना की मलिनता शास्त्र में प्रसिद्ध है। ये लोक, शास्त्र और देह -- तीनों प्रकार की वासनाएँ अविवेकियों को उपादेयरूप से भासने पर भी विविदिषु -- जिज्ञासु के लिए वेदनोत्पत्ति -- ज्ञानोत्पत्ति की विरोधी और विद्वान् -- ज्ञानी के लिए ज्ञाननिष्ठा की विरोधी होने से विवेकियों के लिए तो त्याज्य ही हैं।

100 इसप्रकार यह तीन प्रकार की बाह्य विषयवासना का निरूपण हुआ। काम, क्रोध, दम्भ, दर्प आदि आसुरसम्पद्रूपा, सब अनर्थों की मूल जो आभ्यन्तर-वासना है वह 'मानसी' वासना कही जाती है। इसप्रकार बाह्य और आभ्यन्तर के भेदोपभेद से चार प्रकार की वासनाओं का शुद्धवासना से क्षय करना चाहिए। यह वसिष्ठ ने भी कहा है --

'हे राम ! तुम पहले मानसी वासनाओं और विषयवासनाओं को त्यागकर मैत्रीवासना आदि अमल-शुद्ध वासनाओं को ग्रहण करो।'

तत्र विषयवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः । मानसवासनाशब्देन कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसंपद्विवक्षिता । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयाः । तेषां भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । काम्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो मानसवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरेवान्तर्भावः, बाह्याभ्यन्तरव्यतिरेकेण वासनान्तरासंभवात् । तासां वासनानां परित्यागो नाम तद्विरुद्धमैत्र्यादिवासनोत्पादनम् । ताश्च मैत्र्यादिवासना भगवता पतञ्जलिना सूत्रिताः प्राक्संक्षेपेण व्याख्याता अपि पुनर्व्याख्यायन्ते ।

101 चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते । तत्र 'सुखानुशयी रागः' मोहादनुभूयमानं सुखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो राजसः सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावात्संपादयितुमशक्यम् । अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति । यदा तु सुखिषु प्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव संपन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते । यथा स्वस्य राज्यनिवृत्तावपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं राज्यं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षाव्यपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति । तथा 'दुःखानुशयी द्वेषः' दुःखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषस्तमोनुगतरजःपरिणाम ईदृशं सर्वं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम् । न च सर्वे ते दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते । अतः

यहाँ विषय वासना' शब्द से पूर्वोक्त लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना -- ये तीनों वासनाएँ विवक्षित हैं । 'मानसी वासना' शब्द से काम, क्रोध, दम्भ, दर्प आदि आसुरसम्पद् विवक्षित है । अथवा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- ये जो पाँच विषय हैं उनकी भुज्यमानत्वदशा से जन्य जो संस्कार होता है वह 'विषयवासना' है । काम्यमानत्वदशा से जन्य संस्कार 'मानसवासना' है । इस पक्ष में पूर्वोक्त चारों वासनाओं का इन दोनों वासनाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर वासनाओं से अतिरिक्त अन्य वासनाओं का होना संभव नहीं है । उन बाह्य और आभ्यन्तर वासनाओं का परित्याग उनके विरुद्ध मैत्री आदि वासनाओं को उत्पन्न करना ही है । उन मैत्री आदि वासनाओं को भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में सूत्रित किया है, जिनकी पहले संक्षेप में व्याख्या की जा चुकी है, फिर भी यहाँ उनकी पुनः व्याख्या की जाती है ।

101 चित्त राग-द्वेष और पुण्य-पाप से मलिन होता है । इनमें 'सुखानुशयी रागः' (योगसूत्र, 2.7) = 'सुखभोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहनेवाला अभिलाष-विशेष 'राग' कहा जाता है ।' मोह-अज्ञान से अनुभूयमान सुख में जो कोई ऐसी राजसी बुद्धिवृत्ति -- चित्तवृत्तिविशेष होती है कि 'मुझको सब प्रकार का सुख प्राप्त हो' वह 'राग' है । दृष्ट और अदृष्ट सुख की सामग्री का अभाव होने से उसका सम्पादन करना अशक्य है, अतः वह राग चित्त को कलुषित -- मलिन कर देता है । जब यह योगी सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करता है कि 'ये सब सुखी प्राणी मेरे हैं', तब 'उनका वह सुख अपना ही है' -- इसप्रकार की भावना करते हुए उसका सुख में राग नहीं रहता है । जैसे राजा अपना राज्य निवृत्त होने पर = अपने पुत्र को देने पर, अथवा चला जाने पर राज्यत्याग के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु पुत्रादि का राज्य अपना ही राज्य है -- ऐसा अनुभव करता है तो उस राजा का राज्य में राग नहीं रहता है; वैसे ही यहाँ समझना चाहिए । राग के निवृत्त होने पर वर्षा के बीत जाने पर जैसे जल साफ होने लगता है वैसे ही चित्त भी प्रसन्न होने लगता है । इसीप्रकार 'दुःखानुशयी द्वेषः' (योगसूत्र, 2.8) = 'दुःखभोग के अनन्तर

स द्वेषः सदा हृदयं दहति । यदा तु स्वस्येव परेषां सर्वेषामपि दुःखं मा भूदिति करुणां दुःखिषु भावयेत्तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति । तथा च स्मर्यते –

'प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥' इति ।

एतदेवेहाप्युक्तम् – आत्मौपम्येन सर्वत्रेत्यादि । तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति पापं त्वनुतिष्ठन्ति । तदाहुः –

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥' इति ।

ते च पुण्यपापे अक्रियमाणक्रियमाणे पश्चात्तापं जनयतः । स च श्रुत्याऽनूदितः– 'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति । यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनावान्स्वयमेवाप्रमत्तोऽशुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवर्तते । तदुक्तं 'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रि-विधमितरेषाम्' अयोगिनां त्रिविधं शुक्लं शुभं कृष्णमशुभं शुक्लकृष्णं शुभाशुभमिति । तथा पापपुरुषेषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि तद्वासनावान्पापान्निवर्तते । ततश्च पुण्याकरणपापकरणनिमित्त-

---

अन्त:करण में रहनेवाला क्रोध 'द्वेष' कहा जाता है ।' दु:ख-भोग के पश्चात् होनेवाली जो तमोनुगत रजोगुण की परिणामरूपा कोई ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है कि 'मुझको सर्वदा सब दु:ख न हों' वह 'द्वेष' है । शत्रु, व्याघ्रादि के रहने पर इसका निवारण इच्छामात्र से नहीं किया जा सकता है और न दु:ख के सब कारणों को नष्ट किया जा सकता है । अत: वह द्वेष सदा हृदय को जलाता रहता है । जब योगी अपने समान दु:खी प्राणियों में भी करुणा -दया की भावना करता है कि 'दूसरे सभी प्राणियों को दु:ख न हो', तब वैरी आदि के प्रति द्वेष के निवृत्त हो जाने से चित्त प्रसन्न हो जाता है । ऐसा ही स्मृति भी कहती है -- "जैसे अपने को प्राण अभीष्ट हैं वैसे ही वे प्राण दूसरे प्राणियों को भी अभीष्ट होते हैं । अत: साधु-पुरुष अपने ही समान सभी प्राणियों पर दया करते हैं ।" प्रकृत श्लोक में भी 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इत्यादि से यही कहा गया है । तथा प्राणी स्वभाव से ही पुण्य का अनुष्ठान नहीं करते हैं, पाप का ही अनुष्ठान करते हैं; जैसा कि कहा है --
"मानव-मनुष्य पुण्य का फल तो चाहते हैं, किन्तु पुण्य करना नहीं चाहते तथा पाप का फल नहीं चाहते हैं, अपितु प्रयत्नपूर्वक पाप ही करते रहते हैं ।"
वे पुण्य न किये जाने पर तथा पाप किये जाने पर पश्चात्ताप उत्पन्न करते हैं । इसका श्रुति ने भी अनुवाद किया है -- 'मैंने साधु-पुण्य कर्म क्यों नहीं किया ? मैंने पाप कर्म क्यों किया ?' इत्यादि । यदि यह योगी पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करता है, तो वह उनकी वासना से युक्त होकर स्वयं भी सावधान होकर अशुक्लकृष्ण पुण्य में प्रवृत्त होता है । कहा भी है --'योगी का कर्म अशुक्लकृष्ण होता है तथा दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं ।' अयोगियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं -- शुक्ल = शुभ, कृष्ण = अशुभ, और शुक्लकृष्ण = शुभाशुभ । इसी प्रकार योगी पापी पुरुषों में उपेक्षा की भावना करता हुआ स्वयं भी उपेक्षावासना से युक्त होकर पाप से दूर रहता है । तब पुण्य का अकारण और पाप का कारण -- ये दोनों पश्तात्ताप के हेतु हैं इनके न होने से चित्त प्रसन्न हो जाता है । इसप्रकार सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करनेवाले का केवल राग ही निवृत्त नहीं होता, किन्तु असूया, ईर्ष्या आदि भी निवृत्त हो जाते हैं । दूसरे के गुणों में दोष खोजना 'असूया' है । दूसरे के गुणों को सह न सकना 'ईर्ष्या' है । जब मैत्री के

स्य पश्चात्तापस्याभावे चित्तं प्रसीदति । एवं सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागो निवर्तते किं त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते । परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया । परगुणानामसहनमीर्ष्या । यदा मैत्रीवशात्परसुखं स्वीयमेव संपन्नं तदा परगुणेषु कथमसूयादिकं संभवेत् । तथा दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यदा निवर्तते तदा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तदर्पोऽपि निवर्तते । एवं दोषान्तरनिवृत्तिरप्यूहनीया वासिष्ठरामायणादिषु ।

102 **तदेवं तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम् । तत्र केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणं तत्त्वज्ञानाभ्यासः । तदुक्तम्--**

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥' इति ।

दृश्यावभासविरोधियोगाभ्यासो मनोनिरोधाभ्यासः । तदुक्तम्--

'अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥' इति ।

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसंपत्तिः । स्वरूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसंपत्तिस्तदर्थम् । युक्त्या योगेन ।

कारण दूसरे का सुख अपना ही हो जाता है तब दूसरे के गुणों में असूया आदि कैसे संभव हो सकते हैं ? तथा दुःखी प्राणियों में करुणा-दया की भावना करनेवाले का जब शत्रुवधादि करनेवाला द्वेष निवृत्त हो जाता है तब दुःखित्वप्रतियोगिक = दुःखित्व के विरोधी अपने सुखित्व-सुखीपन से प्रयुक्त -- होनेवाला दर्प भी निवृत्त हो जाता है[60] । इसी प्रकार योगवासिष्ठ, रामायण आदि ग्रन्थों में दूसरे दोषों की निवृत्ति की भी ऊहा कर लेनी चाहिए ।

102 इसप्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय -- इन तीनों का अभ्यास करना चाहिए । इनमें, किसी भी द्वार-प्रकार से पुनः पुनः तत्त्व का स्मरण करते रहना तत्त्वज्ञान का अभ्यास है । जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा है --

"उस ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्म का कथन करना, परस्पर उस ब्रह्मरूप विषय को समझना और समझाना अर्थात् उसी के विषय में प्रश्नोत्तर करना, तथा एतदेकपरत्व अर्थात् एकमात्र ब्रह्मपरायणता -- इसी के ज्ञानीजन ब्रह्माभ्यास या तत्त्वाभ्यास कहते हैं । सृष्टि के आदि में ही दृश्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हुए और वे सदा विद्यमान भी नहीं रहते -- यह जगत् है तथा इसका ज्ञाता मैं हूँ -- इस प्रकार की भावना भी सत्य नहीं है अर्थात् यह दृश्य जगत् कभी है ही नहीं -- इसको विद्वानों ने परम बोधाभ्यास -- ज्ञानाभ्यास कहा है ।"

दृश्य की प्रतीति का विरोधी योग का अभ्यास मनोनिरोध-मनोनाश का अभ्यास है । जैसा कि कहा है--

---

60. भाव यह है कि दुःखित्व और सुखित्व सापेक्ष हैं, एक की सत्ता के बिना दूसरा नहीं रह सकता है । जब दुःखी प्राणियों में करुणादि की भावना से दुःखनिमित्त द्वेषादि की निवृत्ति होती है, तब दुःखित्व की निवृत्ति द्वारा सुखित्व की भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जो किसी को दुःखी नही देखता वह 'यह सुखी है' -- यह कैसे देखेगा ? सुखित्व के न रहने से उससे प्रयुक्त 'मैं सुखी हूँ' -- ऐसे दर्प की भी निवृत्ति हो जाती है ।

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥'

इति रागद्वेषादिक्षीणतारूपवासनाक्षयाभ्यास उक्तः । तस्मादुपपन्नमेतत्तत्त्वज्ञानाभ्यासेन मनोनाशाभ्यासेन वासनाक्षयाभ्यासेन च रागद्वेषशून्यतया यः स्वपरसुखदुःखादिषु समदृष्टिः स परमो योगी मतो यस्तु विषमदृष्टिः स तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति ॥ 32 ॥

103 उक्तमर्थमाक्षिपन्--

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ 33 ॥

104 योऽयं सर्वत्रसमदृष्टिलक्षणः परमो योगः साम्येन समत्वेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन त्वया सर्वज्ञेनेश्वरेणोक्तः, हे मधुसूदन सर्ववैदिकसंप्रदायप्रवर्तक, एतस्य त्वदुक्तस्य सर्वमनोवृत्तिनिरोधलक्षणस्य योगस्य स्थितिं विद्यमानतां स्थिरां दीर्घकालानुवर्तिनीं न पश्यामि न संभावयामि अहमस्मद्विधोऽन्यो वा योगाभ्यासनिपुणः । कस्मान्न संभावयसि तत्राऽऽह -- चञ्चलत्वात्, मनस इति शेषः ॥ 33 ॥

"ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुओं में मिथ्यात्वबुद्धि होना 'अभावसम्पत्ति' है और उनकी स्वरूप से अप्रतीति 'अत्यन्ताभावसम्पत्ति' है । उनके लिए जो लोग युक्ति-योग और शास्त्रों से यत्न करते हैं वे ही इसमें अभ्यासी माने गये हैं ।"

ज्ञाता और ज्ञेय के विषय में मिथ्यात्वबुद्धि होना 'अभावसम्पत्ति' है तथा उनकी स्वरूप से अप्रतीति 'अत्यन्ताभावसम्पत्ति' है । एतदर्थ युक्ति से अर्थात् योग से और शास्त्रों से जो लोग यत्न करते हैं वे ही अभ्यासी होते हैं ।

"दृश्य पदार्थ रहना असम्भव है -- इसप्रकार जानकर रागद्वेषादि के तानव = क्षीण हो जाने पर जो घनोदित रति अर्थात् घनीभूत प्रेम अर्थात् अविच्छिन्नरूप से ब्रह्मतत्त्व में आसक्ति प्रकट होती है वह 'ब्रह्माभ्यास' कहा जाता है ।"

इसप्रकार राग-द्वेषादि की क्षीणतारूप वासनाक्षय का अभ्यास कहा गया है । अत: यह कहना उचित ही है कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास से, मनोनाश के अभ्यास से और वासनाक्षय के अभ्यास से राग-द्वेषशून्य होने के कारण जो अपने और दूसरे के सुख, दु:ख आदि में समदृष्टि रखता है वह परम-योगी माना जाता है और जो विषमदृष्टि रखता है अर्थात् पर सुख-दु:ख को पर का ही सुख-दु:ख मानता है अपना नहीं वह तत्त्वज्ञानवान् होने पर भी अपरम-योगी है ॥ 32 ॥

103 उक्त अर्थ में शंका करते हुए अर्जुन बोले --

[अर्जुन ने कहा -- हे मधुसूदन ! आपने समता के द्वारा जो सर्वत्र समदृष्टिरूप योग कहा है, मन की चञ्चलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ ॥ 33 ॥]

104 आप = सर्वज्ञ ईश्वर ने साम्य से = समता के द्वारा अर्थात् चित्तगत विषमदृष्टि के हेतुभूत रागद्वेषादि के निराकरणद्वारा जो यह सर्वत्र समदृष्टिरूप परम योग कहा है, हे मधुसूदन[61] = समस्त वैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक ! आपके कहे हुए समस्त मनोवृत्तियों के निरोधरूप इस योग की मैं स्थिर = दीर्घकाल तक रहनेवाली स्थिति = विद्यमानता नहीं देखता अर्थात् मैं अथवा मेरा -- जैसा कोई

105 सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन तदेव चञ्चलत्वमुपपादयति –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ 34 ॥

106 चञ्चलमत्यर्थं चलं सदा चलनस्वभावं मनः, हि प्रसिद्धमेवैतत् । भक्तानां पापादिदोषान्सर्वथा निवारयितुमशक्यानपि कृषति निवारयति तेषामेव सर्वथा प्राप्तुमशक्यानपि पुरुषार्थानाकर्षति प्रापयतीति वा कृष्णः । तेन रूपेण संबोधयन्दुर्निवारमपि चित्तचाञ्चल्यं निवार्य दुष्प्रापमपि समाधिसुखं त्वमेव प्रापयितुं शक्नोषीति सूचयति । न केवलमत्यर्थं चञ्चलं किं तु प्रमाथि, शरीरमिन्द्रियाणि च प्रमथितुं क्षोभयितुं शीलं यस्य तत्, क्षोभकतया शरीरेन्द्रियसंघातस्य विवशताहेतुरित्यर्थः । कि च बलवत्, अभिप्रेताद्विषयात्केनाप्युपायेन निवारयितुमशक्यम् । किं च दृढं विषयवासनासहस्रानुस्यूततया भेत्तुमशक्यम्, तन्तुनागवदच्छेद्यमिति भाष्ये । तन्तुनागो नागपाशः । 'तान्तनी'ति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाहृदनिवासी जन्तुविशेषो वा । तस्यातिदृढतया बलवतो बलवत्तया प्रमाथिनः प्रमाथितयाऽतिचञ्चलस्य महामत्तवनगजस्येव मनसो निग्रहं निरोधं

दूसरा योगाभ्यासनिपुण उसकी सम्भावना नहीं करता । तुम क्यों नहीं सम्भावना करते हो ? इस पर अर्जुन कहते हैं -- 'मन की चञ्चलता के कारण' । यहाँ 'मनसः' -- इस पद का अध्याहार करना चाहिए ॥ 33 ।

105 सर्वलोकप्रसिद्ध होने से उसी मनोगत चञ्चलता का उपपादन करते हैं --
[हे कृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल है, यह शरीर और इन्द्रियों का प्रमथन करनेवाला है, यह बलवान् और दृढ़ है । उसका निग्रह मैं वायु को रोकने के समान अति दुष्कर मानता हूँ ॥ 34 ॥]

106 मन चञ्चल = अत्यन्त चल अर्थात् सदा चलनस्वभाववाला है, हि = यह प्रसिद्ध ही है । यहाँ 'हि' शब्द प्रसिद्धि का द्योतक है । कृष्ण[62] = जो भक्तों के सर्वथा निवारण के अयोग्य भी पापादि दोषों का कर्षण = निवारण करते हैं तथा उन्हीं भक्तों के सर्वथा प्राप्त होने में भी अशक्य पुरुषार्थों का आकर्षण करते हैं अर्थात् उनको प्राप्त कराते हैं वह 'कृष्ण' हैं । इसप्रकार सम्बोधन करके अर्जुन सूचित करते हैं कि आप ही दुर्निवार होने पर भी चित्त की चञ्चलता को दूर करके दुष्प्राप्य समाधिसुख को भी प्राप्त करा सकते हैं । यह मन केवल अत्यन्त चञ्चल ही नहीं है, किन्तु प्रमाथि है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों को प्रमथित -- क्षुभित करने का स्वभाव है जिसका ऐसा है । तात्पर्य यह है कि क्षोभक होने से यह मन शरीर और इन्द्रियसंघात की विवशता का हेतु है । इसके अतिरिक्त यह मन बलवान् है अर्थात् अभिमत विषय से किसी भी उपाय द्वारा निवारण करने में अशक्य है । और फिर यह मन दृढ़ है अर्थात् सहस्रों विषयवासनाओं में अनुस्यूत होने के कारण भेदन करने में अशक्य है । भाष्य में कहा है -- तन्तुनाग के समान यह मन अच्छेद्य है । तन्तुनाग का अर्थ नागपाश है, अथवा, गुजरात आदि देशों में प्रसिद्ध गम्भीर ताल में रहनेवाला 'तान्तनी'

61. मधुसूदन = मधु दैत्य के विनाशक ! मेरे अन्तःकरण के तमोगुण-रजोगुणरूप मधुदैत्य का हनन कर एकमात्र सर्वशक्तिमान् आप ही इसको चंचलतारहित करने में समर्थ हो, मेरी अपनी शक्ति से यह सम्भव नहीं है – इसी भाव को अर्जुन मधुसूदन 'सम्बोधन' करके सूचित करते हैं ।

62. कृष्ण = 'कृष् विलेखने' अर्थात् 'कृष्' धातु का अर्थ है विलेखन – निवारण या कर्षण = आकर्षण करना । भक्तों के पापादि दोषों को निवृत्त करते हैं, रोकते हैं, दूर करते हैं या मिटाते है; इसीलिए भगवान् का नाम 'कृष्ण' है ।

निर्वृत्तिकतयाऽवस्थानं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये, वायोरिव । यथाऽऽकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निश्चलत्वं संपाद्य निरोधनमशक्यं तद्वदित्यर्थः ।

107 अयं भावः--जातेऽपि तत्त्वज्ञाने प्रारब्धकर्मभोगाय जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखरागद्वेषादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशहेतुत्वाद्बाधितानुवृत्त्याऽपि बन्धो भवति । चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण तु योगेन तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते । यस्याः संपादनेन स योगी परमो मत इत्युक्तम् । तत्रेदमुच्यते--बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते किं वा चित्तात्, नाऽऽद्यस्तत्त्वज्ञानेनैव साक्षिणो बन्धस्य निवारितत्वात् । न द्वितीयः स्वभावविपर्ययायोगात्, विरोधिसद्भावाच्च । न हि जलादार्द्रत्वमग्नेर्वोष्णत्वं निवारयितुं शक्यते 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इतिन्यायेन प्रतिक्षणपरिणामस्वभावत्वाच्चित्तस्य प्रारब्धभोगेन च कर्मणा कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्यापि प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापितम् । न च कर्मणा स्वफलसुखदुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिभिर्विना संपादयितुं शक्यते । तस्माद्यद्यपि स्वाभाविकानामपि

नाम का एक जीवविशेष है । मन अति दृढ़ होने के कारण बलवान्, बलवान् होने के कारण प्रमाथि और प्रमाथि होने के कारण अत्यन्त चञ्चल है, अतः वन में रहने वाले महामदोन्मत्तगजराज के समान मन का निग्रह -- निरोध अर्थात् निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्यरूप से स्थिर करना मैं दुष्कर अर्थात् करने में सर्वथा अशक्य मानता हूँ । वायु के समान अर्थात् जिस प्रकार आकाश में बहते हुए वायु को निश्चल कर उसको रोकना असम्भव है वैसे ही मैं मन को रोकना भी असम्भव मानता हूँ -- यह अर्थ है ।

107 भाव यह है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए जब तक पुरुष जीता है तब तक उसको कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, राग, द्वेषादिरूप चित्त का धर्म क्लेश का हेतु होने से, बाधितानुवृत्ति से भी बन्धनरूप ही है । चित्त की वृत्तियों के निरोधरूप योग से उस बन्धन का निवारण 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है । जिसके सम्पादन से 'स योगी परमो मतः' = 'वह परम योगी कहा जाता है' -- यह कह चुके हैं । उसमें यह कहते हैं -- बन्धन क्या साक्षी से दूर किया जाता है या चित्त से ? इनमें पहला पक्ष तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही साक्षी के बन्धन की निवृत्ति होती है । दूसरा पक्ष संगत नहीं है, क्योंकि स्वभाव से विपर्यय -- विपरीत होना सम्भव नहीं है और विरोधी की भी सत्ता रहती ही है[63] । जल की आर्द्रता अथवा अग्नि की उष्णता की निवृत्ति नहीं की जा सकती । 'चितिशक्ति के अतिरिक्त सब भाव-पदार्थ प्रतिक्षण परिणामशील -- परिवर्त्तनशील होते हैं' -- इस न्याय से चित्त प्रतिक्षण परिणामस्वभाववाला है । इसलिए चित्त के परिणामित्व का निरोध कर उसको स्थिर करना असम्भव है । इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्य के विनाश के लिए प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रारब्धभोग कर्म तत्त्वज्ञान की भी प्रतिबन्धकता कर-- तत्त्वज्ञान की भी स्थिति को बाधा प्रदान कर अपना फल देने के लिए देह, इन्द्रिय आदि को नियुक्त करता है । और कर्म चित्तवृत्तियों के बिना अपने फल सुख-दुःखादि भोग

63. भाव यह है कि चञ्चलता चित्त का स्वभाव है, अतः उसकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती, फलतः उससे बन्धननिवृत्ति भी नहीं हो सकती, वस्तुतः स्वभाव से विपरीत होना सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त जब तक पुरुष जीता है तब तक प्रारब्ध कर्म भी शेष रहता ही है, वह भी चित्त की निर्वृत्तिक अवस्था का विरोधी ही है, क्योंकि उसके भोग के लिए भी व्युत्थानरूप चित्त की वृत्तियुक्त अवस्था ही अपेक्षित है, अतः चित्त से बन्धननिवृत्ति सम्भव नहीं है ।

चित्तपरिणामानां कथंचिद्योगेनाभिभवः शक्येत कर्तुं तथाऽपि तत्त्वज्ञानादिव योगादपि प्रारब्धफलस्य कर्मणः प्राबल्यादवश्यंभाविनि चित्तस्य चाञ्चल्ये योगेन तन्निवारणमशक्यमहं स्वबोधादेव मन्ये । तस्मादनुपपन्नमेतदात्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत इत्यर्जुनस्याऽऽक्षेपः ॥ 34 ॥

108 तमिममाक्षेपं परिहरन्–

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ 35 ॥

109 सम्यग्विदितं ते चित्तचेष्टितं मनो निग्रहीतुं शक्ष्यसीति संतोषेण संबोधयति हे महाबाहो महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति । प्रारब्धकर्मप्राबल्या-दसंयतात्मना दुर्निग्रहं दुःखेनापि निग्रहीतुमशक्यम् । प्रमाथि बलवद्दृढमिति विशेषणत्रयं पिण्डीकृत्यैतदुक्तम् । चलं स्वभावचञ्चलं मन इत्यसंशयं नास्त्येव संशयोऽत्र सत्यमेवैतद्ब्रवीषीत्यर्थः । एवं सत्यपि संयतात्मना समाधिमात्रोपायेन योगिनाऽभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते निगृह्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते तन्मन इत्यर्थः । अनिग्रहीतुरसंयतात्मनः सकाशात्संय-

को पूरा नहीं कर सकता । अर्थात् प्रारब्ध कर्म के लिए सुख-दु:खादि भोग अवश्य ही रहेगा । उसके लिए चित्तवृत्ति भी रहेगी और चित्तवृत्ति रहने से राग-द्वेषादि क्लेशरूप बन्धन भी रहेगा । ऐसी अवस्था में जीवन्मुक्ति कैसे सम्भव होगी ? अत: यद्यपि चित्त के स्वाभाविक परिणामों को कथंचित् -- किसी प्रकार योग के द्वारा अभिभूत किया जा सकता है, तथापि जिस प्रारब्ध कर्म का फलभोग प्रारम्भ हो गया है वह कर्म जैसे तत्त्वज्ञान से प्रबल है वैसे ही योग से भी प्रबल है । अत: प्रारब्धफलक कर्म की प्रबलता के कारण अवश्यंभावी चित्त की चञ्चलता होने पर उसका योग से निवारण करना अशक्य है -- ऐसा मैं अपने बोधानुसार ही मानता हूँ । अत: यह सर्वथा अनुपपन्न है कि 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत:' = 'आत्मदृष्टान्त से सर्वत्र समदर्शी परम योगी माना जाता है'-- यह अर्जुन का आक्षेप है ।। 34 ।।

108 इस आक्षेप का परिहार करते हुए भगवान् बोले --

[श्रीभगवान् बोले -- हे महाबाहो ! नि:सन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होनेवाला है, किन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है ।। 35 ।।]

109 मैं तुम्हारे चित्त की चेष्टा-स्थिति-विषय को अच्छी प्रकार जान गया हूँ, तुम मन का निग्रह करने में समर्थ होओगे -- इस संतोष से भगवान् सम्बोधन करते हैं -- 'हे महाबाहो !' = 'महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो !' अर्थात् महान् = साक्षात् महादेव के साथ भी युद्ध करनेवाली हैं बाहू जिसकी वह महाबाहु[64], उसको सम्बोधन करने पर हे महाबाहो ! -- इस प्रकार सम्बोधन से भगवान् अर्जुन के निरतिशय उत्कर्ष को सूचित करते हैं । प्रारब्धकर्म की प्रबलता से असंयतात्मा -- अनियन्त्रितात्मा अर्थात् अजितेन्द्रिय पुरुष के लिए दुर्निग्रह है -- दु:ख से भी निग्रह करना अशक्य है । 'प्रमाथि बलवद्दृढमिति' = प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ -- इन तीनों विशेषणों को एककर 'दुर्निग्रह' -- यह कहा है अर्थात् 'दुर्निग्रह' में उक्त तीनों

तात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय तुशब्दः । मनोनिग्रहेऽभ्यासवैराग्ययोः समुच्चयबोधनाय चशब्दः । हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रस्त्वमवश्यं मया सुखी कर्तव्य इति स्नेहसंबन्धसूचनेनाऽऽश्वासयति । अत्र प्रथमार्धेन चित्तस्य हठनिग्रहो न संभवतीति द्वितीयार्धेन तु क्रमनिग्रहः संभवतीत्युक्तम् ।

110 द्विविधो हि मनसो निग्रहः--हठेन क्रमेण च । तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाणि च तद्गोलकमात्रोपरोधेन हठान्निगृह्यन्ते । तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि हठेन निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति । न च तथा निग्रहीतुं शक्यते तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य निरोद्धुमशक्यत्वात् । अत एव च क्रमनिग्रह एव युक्तस्तदेतद्भगवान्वसिष्ठ आह --

'उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥

विशेषण अन्तर्भूत हो जाते हैं । चल अर्थात् स्वभाव से चञ्चल है मन -- यह असंशय है = इसमें संशय ही नहीं है, अर्थात् तुम यह सत्य ही कहते हो । ऐसा होने पर भी संयतात्मा -- जितेन्द्रिय अर्थात् समाधिमात्रउपाय योगी के द्वारा अभ्यास और वैराग्य से यह मन गृहीत -- निगृहीत अर्थात् सर्ववृत्तिशून्य किया जाता है । अनिग्रहीता अंसयतात्मा पुरुष से निग्रहीता संयतात्मा पुरुष की विशेषता दिखाने के लिए श्लोक में 'तु' शब्द का प्रयोग है । मन के निग्रह में अभ्यास और वैराग्य -- इन दोनों का समुच्चय सूचित करने के लिए 'च' शब्द है । 'हे कौन्तेय[65] !' इस सम्बोधन से 'तुम पितृभगिनी पुत्र = मेरी बूआ के पुत्र हो, अत: मुझे तुमको अवश्य सुखी करना चाहिए' -- इसप्रकार स्नेह-सम्बन्ध की सूचना देकर भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हैं । यहाँ प्रथम श्लोकार्ध से यह अभिव्यक्त किया है कि चित्त का हठपूर्वक निग्रह नहीं हो सकता तथा द्वितीय श्लोकार्ध से यह कहा है कि चित्त का क्रमपूर्वक निग्रह हो सकता है ।

110 मन का निग्रह दो प्रकार से होता है -- हठ से और क्रम से । इसमें जैसे चक्षु, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्-पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमात्र अर्थात् अपने-अपने अभिव्यञ्जक स्थान का उपरोध -- निरोध करने से हठपूर्वक वश में हो जाती हैं, उन्हीं के दृष्टान्त से 'मैं मन को भी हठपूर्वक वश में कर लूँगा' -- ऐसी मूढ़ पुरुष को भ्रान्ति होती है । किन्तु इसप्रकार मन का निग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि मन के गोलक हृदयकमल का निरोध करना अशक्य है । अतएव मन का क्रमपूर्वक निग्रह ही उचित है । यही भगवान् वसिष्ठ ने कहा है --

64. महाभारत के वनपर्व में कथानक है कि महर्षि वेदव्यास के परामर्श से अर्जुन ने महादेव से पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर कठोर तपस्या की थी । उनकी कठोर तपस्या को सुराङ्गनाएँ भी भंग न कर सकीं । अन्त में अर्जुन ने किरातवेशधारी महादेव से बाहुयुद्ध करके उनको अपने बाहुबल और साहस से प्रसन्न किया तथा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त किया था ।

65. हे कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र ! -- इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन को स्मरण करा रहे हैं कि दुर्वासा मुनि अत्यन्त वैराग्यशील और क्रोधी थे । उनको कोई वशीभूत नहीं कर सका । अत्यन्त प्रबल राजा भी उनको कभी अपने महल में रखकर सेवा नहीं कर सके, किन्तु तुम्हारी माता कुन्ती ने निष्कपट सेवा से ऐसे क्रोधी दुर्वासा मुनि को भी अपने घर में रखकर प्रसन्न किया था । तुम उसी कुन्ती के पुत्र हो । अत: तुम अपनी माता के समान दृढ़ प्रयत्न से मेरे बताये हुए उपाय के द्वारा दुर्निग्रह भी मन को अवश्य ही वश में कर सकोगे ।

वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः' इति ॥

111 क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याधिगम एक उपायः । सा हि दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दस्वप्रकाशत्वं बोधयति । तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमानन्दरूपे दृग्वस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते यो वां विस्मरति तयोः साधुसंगम एवोपायः । साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च । यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग एवोपायः । यस्तु वासनानामतिप्राबल्यात्तास्त्यक्तुं न शक्नोति तस्य प्राणस्पन्दनिरोध एव उपायः । प्राणस्पन्दवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते । तदेतदाह स एव--

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥

''चित्तज्ञ पुरुष भी अनिन्दित -- अदूषित अर्थात् उत्तम युक्ति के बिना बार-बार बैठ-बैठकर ही मन को उसी प्रकार नहीं जीत सकता है, जैसे अङ्कुश के बिना मत्त और दुष्ट हाथी को वश में नहीं किया जा सकता है । अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु पुरुषों का समागम, वासनाओं का परित्याग और प्राणस्पन्द का निरोध -- ये ही चित्त को जीतने में प्रबल युक्तियाँ है । इन युक्तियों के रहते हुए भी जो पुरुष हठ से चित्त को नियन्त्रित करते हैं वे मानो दीपक को छोड़कर कज्जल से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं ।''

111 क्रमपूर्वक निग्रह में 'अध्यात्मविद्याधिगम' = अध्यात्मविद्या की प्राप्ति एक उपाय है अर्थात् प्रधान उपाय है, यह विद्या दृश्य के मिथ्यात्व और दृग्वस्तु के परमार्थसत्यत्व, परमानन्दत्व, और स्वप्रकाशत्व का ज्ञान कराती है । ऐसा होने पर यह मन अपने विषयभूत दृश्यों में उनका मिथ्यात्व होने के कारण प्रयोजन का अभाव और प्रयोजनवान् परमार्थसत्य परमानन्दरूप दृग्वस्तु में स्वप्रकाश होने के कारण अपनी अविषयता जानकर ईधनशून्य अग्नि के समान स्वयं ही शान्त हो जाता है । जो सम्बोधित भी तत्त्व को अच्छी प्रकार नहीं समझता अथवा भूल जाता है -- उन दोनों के लिए 'साधुसमागम' ही उपाय है, क्योंकि साधु पुरुष बार-बार उसको समझाते हैं और उसका स्मरण कराते हैं । किन्तु जो पुरुष विद्यामद-ज्ञानाभिमान आदि दुर्वासनाओं से पीडित रहने के कारण साधु पुरुषों की अनुवृत्ति करने का उत्साह नहीं करता उसके लिए पूर्वोक्त विवेक से 'वासनापरित्याग' ही उपाय है । और जो पुरुष वासनाओं के अतिप्रबल होने के कारण उनको त्याग नहीं सकता उसके लिए 'प्राणस्पन्दनिरोध' ही उपाय है । प्राणस्पन्द और वासना -- ये दोनों चित्त के प्रेरक है,

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किंचिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥' इति ।

112 अत्र द्वावेवोपायौ पर्यवसितौ प्राणस्पन्दनिरोधार्थमभ्यासः, वासनापरित्यागार्थं च वैराग्यमिति । साधुसङ्गमाध्यात्मविद्याधिगमौ त्वभ्यासवैराग्योपपादकतयाऽन्यथासिद्धौ तयोरेवान्तर्भवतः अत एव भगवताऽभ्यासेन वैराग्येण चेति द्वयमेवोक्तम् । अत एव भगवान्पतञ्जलिरसूत्रयत् -- 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति । तासां प्रागुक्तानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिरूपेण पञ्चविधानामनन्तानामासुरत्वेन क्लिष्टानां दैवत्वेना- क्लिष्टानामपि वृत्तीनां सर्वासामपि निरोधो निरिन्धनाग्निवदुपशमाख्यः परिणामोऽभ्यासेन वैराग्येण च समुच्चितेन भवति । तदुक्तं योगभाष्ये -- चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च । तत्र या कैवल्यप्राग्भारा विवेकनिम्ना सा कल्याणवहा । या त्वविवेकनिम्ना संसारप्राग्भारा सा पापवहा । तत्र वैराग्येण

अत: उन दोनों का निरोध होने पर चित्त की शान्ति सम्भव होती है । वसिष्ठ ही ने इस विषय में यह कहा है --

"चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज है -- प्राणस्पन्द और वासना । उन दोनों में से एक के क्षीण होने पर तत्काल दोनों ही नष्ट हो जाते हैं । प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, गुरु की दी हुई युक्ति से तथा आसन और अशन -- भोजन के संयम से 'प्राणस्पन्द' का निरोध होता है । असंग व्यवहार, भवभावना के परित्याग और शरीर का नाश देखने के स्वभाव से वासना की प्रवृत्ति नहीं होती । वासना के सम्यक्परित्याग से और प्राणस्पन्द के निरोध से चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है, अत: इनमें से जिसको करना चाहो उसको करो । हे राघव ! मन में वस्तु की वस्तुरूप से और रसरूप से जो भावना करता है इसी को मैं चित्त का स्वरूप समझता हूँ । जब चित्त में हेय और उपादेय-किसी भी वस्तु की भावना -- चिन्ता नहीं रहती है अर्थात् चित्त जब सर्वचिन्ता से रहित होकर स्थित हो जाता है तब चित्त -- चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता है । इसप्रकार जब मन निरन्तर वासनारहित हो जाता है अर्थात् मनन नहीं करता है तब परमात्मपद को देनेवाली अमनस्ता = अचित्तता का उदय होता है अर्थात् तब निर्विकल्पक मन में परमात्मा का प्रकाश होता है ।"

112 यहाँ दो ही उपाय वस्तुत: सिद्ध हुए हैं -- प्राणस्पन्दनिरोध के लिए अभ्यास और वासनापरित्याग के लिए वैराग्य । साधुसङ्गम और अध्यात्मविद्या की प्राप्ति तो अभ्यास और वैराग्य के ही उपपादक साधक होने से अन्यथासिद्ध हैं अर्थात् स्वत: प्राप्त हैं तथा अभ्यास और वैराग्य में ही उनका अन्तर्भाव है । इसी से भगवान् ने 'अभ्यासेन वैराग्येण च' = 'अभ्यास से और वैराग्य से' इसप्रकार दो ही उपाय कहे हैं । अतएव भगवान् पतञ्जलि ने भी सूत्र द्वारा कहा है -- 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:' (योगसूत्र, 1.12) = 'तत्त्वज्ञान के लिए योगाभ्यास और विषयविषयक वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है' । उन प्रागुक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिरूप से

विषयस्रोतः खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन च कल्याणस्रोत उद्घाट्यते, इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति । प्राग्भारनिम्नपदे 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इत्यत्र व्याख्यायते । यथा तीव्रवेगोपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य समाध्यभ्यासेन प्रशान्तवाहिता संपाद्यत इति द्वारभेदात्समुच्चय एव, एकद्वारत्वे हि व्रीहियववद्विकल्पः स्यादिति ।

113 मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपाणामावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः संभवति । सर्वव्यापारोपरमस्य तु समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां निवारयितुमभ्यासं सूत्रयति स्म 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इति । तत्र स्वरूपावस्थिते द्रष्टरि शुद्धे चिदात्मनि चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चल-

पाँच प्रकार की तथा आसुरभाव से अनन्त क्लिष्ट और दैवभाव से अनन्त अक्लिष्ट वृत्तियों में से सभी का निरोध = ईधनशून्य अग्नि के समान उपशमसंज्ञक परिणाम अभ्यास और वैराग्य -- इनके समुच्चय से होता है । यही योगभाष्य में कहा है -- 'चित्त नाम की नदी भीतर तथा बाहर -- दोनों ओर बहनेवाली है । आत्मकल्याण के लिए वह भीतर बहती है और जन्म-मरण आदि दु:ख के लिए बाहर विषयों की ओर भी बहती है । इनमें जो चित्तनदी कैवल्याभिमुख होकर विवेकविषयरूप निम्न मार्ग की ओर ढ़लती हुई मोक्षपर्यन्त बहा करती है वह कल्याण की हेतु होने से 'कल्याणवहा' कही जाती है तथा जो संसाराभिमुख होकर अविवेकविषयरूप निम्न मार्ग की ओर ढ़लती हुई भोगपर्यन्त बहा करती है वह दु:खजनक होने के कारण 'पापवहा' कही जाती है । इनमें से जो 'पापवहा' है उसके विषय की ओर जानेवाले प्रवाह को वैराग्य द्वारा खिल-स्वल्प कर दिया जाता है अर्थात् रोक दिया जाता है तथा सत्त्वपुरुषान्यता-ख्यातिरूप विवेकज्ञान के अभ्यास के द्वारा कल्याण की ओर जानेवाले स्रोत-प्रवाह को खोल दिया जाता है । इसप्रकार उक्त अभ्यास और वैराग्य -- उन दोनों के अधीन चित्तवृत्ति का निरोध है' । उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'प्राग्भार' और 'निम्न' -- इन पदों की 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (योगसूत्र, 4.26) = 'विवेकख्याति के उदयकाल में विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त विवेकमार्ग में सञ्चार करनेवाला तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है' -- इस सूत्र में व्याख्या की गई है । जिस प्रकार तीव्र वेगवाली नदी के प्रवाह को सेतुबन्ध द्वारा रोककर उसमें से नहरं निकालकर खेतों की ओर जानेवाला दूसरा तिरछा प्रवाह उत्पन्न किया जाता है, वैसे ही वैराग्य द्वारा चित्तरूप नदी के विषयप्रवाह को रोककर समाधि के अभ्यास से उसकी प्रशान्तवाहिता सम्पन्न कर दी जाती है । इस प्रकार द्वारभेद से वैराग्य और अभ्यास का समुच्चय ही है अर्थात् वैराग्य से चित्तनदी के विषयप्रवाह का निवारण और अभ्यास से प्रशान्तवाहिता होगी । यदि एक ही द्वार होता तो व्रीहि और यव के समान उसका विकल्प होता[66] ।

113 'मन्त्र, जप, देवता का ध्यान आदि क्रियारूप साधनों का तो पुन: पुन: आवृत्तिरूप अभ्यास सम्भव है, किन्तु सम्पूर्ण व्यापारों की निवृत्तिरूप समाधि का क्या अभ्यास हो सकता है ? अर्थात् समाधि में किसकी पुन: पुन: आवृत्ति होगी, क्योंकि क्रिया ही साक्षात् साध्य है, अन्य नहीं । निरोध क्रिया का अभावरूप है, अतः कृतिसाध्य नहीं है ?' -- इस शंका का निवारण करने के लिए पतञ्जलि

66. जैसे -- 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' – इन वाक्यों में व्रीहि और यव – दोनों का यागसाधक होने से विधान है । पुरोडाश दोनों का द्वार है । उक्त साधनता में पुरोडाशस्वरूपद्वारा एक **होने** से व्रीहि और यव का विकल्प है अर्थात् एक-एक से ही याग किया जाता है, दोनों से नहीं । इसी प्रकार यदि प्रकृत में भी द्वार एक होता तो अभ्यास और वैराग्य का विकल्प होता, समुच्चय नहीं, किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है, अत: अभ्यास और वैराग्य में द्वारभेद से समुच्चय ही है ।

तास्थितिस्तदर्थं यत्नो मानस उत्साहः स्वभावचाञ्चल्याद्बहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवंविधः । स आवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यते । 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' अनिर्वेदेन दीर्घकालासेवितो विच्छेदाभावेन निरन्तरासेवितः सत्कारेण श्रद्धातिशयेन चाऽऽसेवितः । सोऽभ्यासो दृढभूमिर्विषयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति । अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने श्रद्धातिशयाभावे च लयविक्षेपकषायसुखा-स्वादानामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याददृढभूमिरभ्यासः फलाय न स्यादिति त्रयमुपात्तम् ।

114 वैराग्यं तु द्विविधमपरं परं च । यतमानसंज्ञाव्यतिरेकसंज्ञैकेन्द्रिसंज्ञावशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्धा । तत्र पूर्वभूमिजयेनोत्तरभूमिसंपादनविवक्षया चतुर्थमेवासूत्रयत्– 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति । स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमित्यादयो दृष्टा विषयाः । स्वर्गो विदेहता प्रकृतिलय इत्यादयो वैदिकत्वेनाऽऽनुश्रविका विषयास्तेषूभयविधेष्वपि सत्यामेव तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादित्रयं भवति । अत्र जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानम् । स्वचित्ते पूर्वविद्यमानदोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानविवेकेनैते पक्वा एतेऽवशिष्टा इति चिकित्सकवद्विवेचनं व्यतिरेकः । दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन

ने अभ्यास का लक्षण इस प्रकार सूत्रद्वारा किया है -- 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (योगसूत्र, 1.13) = 'चित्तवृत्ति के निरोध में चित्त की स्थिरता के निमित्त जो यत्न अर्थात् मानसिक उत्साहपूर्वक यमादि योगाङ्गों का अनुष्ठान है वह 'अभ्यास' कहा जाता है ।' तत्र = वहाँ अर्थात् स्वरूपावस्थित शुद्ध चिदात्मा द्रष्टा में अवृत्तिक = वृत्तिशून्य चित्त की जो प्रशान्तवाहिता निश्चलता -- स्थिति है उसके लिए यत्न अर्थात् स्वाभाविक चञ्चलता के कारण बाहर की ओर आने के स्वभाववाले इस चित्त का सर्वथा निरोध करूँगा -- ऐसा जो मन का उत्साह है वह पुनः पुनः किये जाने पर 'अभ्यास' कहा जाता है । 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः' (योगसूत्र, 1.14) = 'वह अभ्यास दीर्घकाल तक अन्तरायरहित -- सतत तप, ब्रह्मचर्य, प्रणव आदि भगवान्नाम के जपरूपविद्या तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनुष्ठित हुआ दृढ़ अवस्थावाला होता है' । अनिर्वेदपूर्वक दीर्घकाल तक सेवन किये जाने पर, बिना विच्छेद के निरन्तर सेवित होने पर तथा सत्कार अर्थात् श्रद्धातिशय से सेवन करने पर वह अभ्यास दृढ़भूमि अर्थात् विषयसुख की वासना से चलाने के अयोग्य हो जाता है । दीर्घकाल तक सेवन न करने पर, दीर्घकाल होने पर भी रुक-रुक कर सेवन करने पर तथा श्रद्धातिशय न होने पर लय, विक्षेप, कषाय और सुखास्वाद -- इनका परिहार न होने के कारण व्युत्थानसंस्कारों की प्रबलता से अदृढ़भूमि अभ्यास फल के लिए नहीं होगा, इसलिए दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कार - इन तीनों विशेषणों को ही ग्रहण किया गया है ।

114 वैराग्य दो प्रकार का है -- अपर और पर । यतमान संज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा भेद से 'अपर' वैराग्य चार प्रकार का है । इनमें पूर्वभूमि के जयपूर्वक उत्तरभूमि के सम्पादन की विवक्षा से चतुर्थ 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य का ही सूत्र द्वारा कथन किया है --'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (योगसूत्र, 1.15) = 'दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसकी तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य 'वशीकार' नामवाला अर्थात् अपरवैराग्य' है । स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं । स्वर्ग, विदेहता, प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक विषय हैं । इन दोनों ही प्रकार के विषयों में तृष्णा रहने पर विवेक के तारतम्य से यतमान आदि तीन प्रकार के वैराग्य होते

बहिरिन्द्रियप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णाया औत्सुक्यमात्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियम् । मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यं तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्यं संप्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनमसंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् । तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परमेवं वैराग्यम् । तच्चासूत्रयत् – 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । संप्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कार उत्पद्यते । ततश्चाशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यद्भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यम् । तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोपशमपरिपाकादविलम्बेन कैवल्यमिति ॥ 35 ॥

115 यत्तु त्वमवोचः प्रारब्धभोगेन कर्मणा तत्त्वज्ञानादपि प्रबलेन स्वफलदानाय मनसो वृत्तिषूत्पाद्यमानासु कथं तासां निरोधः कर्तुं शक्य इति तत्रोच्यते–

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ 36 ॥

116 उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वेदान्तव्याख्यानादिव्यासङ्गादालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतो निरुद्ध आत्माऽन्तःकरणं येन तेनासंयतात्मना तत्त्वसाक्षात्कारवताऽपि योगो मनोवृत्ति-

---

हैं । 'इस जगत् में क्या सार है, क्या असार है' -- यह मैं गुरु और शास्त्रों के द्वारा जानूँगा -- इसप्रकार का उद्योग 'यतमान' वैराग्य है । अपने चित्त में पहले जो दोष विद्यमान थे उनमें से विवेक का अभ्यास करने से इतने तो पक गए हैं और इतने शेष हैं -- इसप्रकार चिकित्सक के समान पक्व और अपक्व -- दोनों का विवेचन करना 'व्यतिरेक' वैराग्य है । दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की प्रवृत्ति की दु:खात्मता के ज्ञान से बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होने पर भी औत्सुक्यमात्र से मन में उनकी तृष्णा रहना 'एकेन्द्रिय' वैराग्य है । मन के भी तृष्णाशून्य होने पर सर्वथा वैतृष्ण्य हो जाना अर्थात् ज्ञान की प्रसादरूपा जो तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्ति है वह 'वशीकार' संज्ञा वैराग्य है । यह सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन है और असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन है । उसका अन्तरङ्ग साधन तो पर वैराग्य है । उसका लक्षण इसप्रकार सूत्र द्वारा कहा है -- 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (योगसूत्र, 1.16) = 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति द्वारा गुणों से तृष्णारहित हो जाना 'पर-वैराग्य' है ।' संप्रज्ञातसमाधि की कुशलता से त्रिगुणात्मक प्रधान से विविक्त पुरुष की ख्याति -- साक्षात् अनुभूति होती है । उससे गुणत्रय के समस्त व्यवहारों में जो वैतृष्ण्य होता है वही पर = श्रेष्ठ अर्थात् फलभूत वैराग्य है । उसके परिपाकरूप निमित्त से चित्त की शान्ति का परिपाक होने पर अविलम्ब = अतिशीघ्र ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥ 35 ॥

115 तुमने जो कहा कि 'तत्त्वज्ञान से भी प्रबल प्रारब्धभोग कर्म से अपना फल देने के लिए मन में वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती हैं उनका निरोध कैसे किया जा सकता है' ? इसका उत्तर देते हैं -- [असंयतात्मा अर्थात् जिसने अपने चित्त को संयत-- नियन्त्रित नहीं किया है उसके द्वारा योग दुष्प्राप्य है'-- ऐसा जो तुमने कहा उसमें मेरी भी सम्मति है, किन्तु जो वश्यात्मा है अर्थात् जिसने अपने चित्त को वश में कर लिया है उसके यत्न करने पर उपायद्वारा योग की प्राप्ति हो सकती है ॥ 36 ॥]

116 'तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी वेदान्त के व्याख्यान आदि के व्यसन से अथवा आलस्यादि दोष से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिसने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को संयत-निरुद्ध नहीं किया है उस

निरोधो दुष्प्रापो दुःखेनापि प्राप्तुं न शक्यते प्रारब्धकर्मकृताच्चित्तचाञ्चल्यादिति चेत्त्वं वदसि तत्र मे मतिर्मम संमतिस्तत्तथैवेत्यर्थः । केन तर्हि प्राप्यते, उच्यते -- वश्यात्मना तु वैराग्यपरिपाकेनवासनाक्षये सति वश्यः स्वाधीनो विषयपारतन्त्र्यशून्य आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन । तुशब्दोऽसंयतात्मनो वैलक्षण्यद्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । एतादृशेनापि यतता यतमानेन वैराग्येण विषयस्रोतःखिलीकरणेऽप्यात्मस्रोतउद्घाटनार्थमभ्यासं प्रागुक्तं कुर्वता योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः शक्योऽवाप्तुं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तानि प्रारब्धकर्माण्यप्यभिभूय प्राप्तुं शक्यः ।

117 **कथमतिबलवतामारब्धभोगानां कर्मणामभिभवः, उच्यते-- उपायत उपायात् । उपायः पुरुषकारस्तस्य लौकिकस्य वैदिकस्य वा प्रारब्धकर्मापेक्षया प्राबल्यात् । अन्यथा लौकिकानां कृष्यादिप्रयत्नस्य वैदिकानां ज्योतिष्टोमादिप्रयत्नस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वत्र प्रारब्धकर्मसदसत्त्वविकल्पग्रासात्प्रारब्धकर्मसत्त्वे तत एव फलप्राप्तेः किं पौरुषेण प्रयत्नेन, तदसत्त्वे तु सर्वथा फलासंभवात्किं तेनेति । अथ कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसंपत्तिव्यतिरेकेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेत् । योगाभ्यासेऽपि समं समाधानं तत्साध्याया जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धकर्मफलान्तर्भावात् । अथवा यथा प्रारब्धफलं कर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलमिति कल्प्यते दृष्टत्वात्, यथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य सर्वत्र ततः प्राबल्यदर्शनात् । तथा चाऽऽह भगवान्वसिष्ठः--**

असंयतात्मा के द्वारा, तत्त्वसाक्षात्कारवान् होने पर भी, योग = मनोवृत्तिनिरोध दुष्प्राप्य है अर्थात् प्रारब्धकर्मकृत चित्त की चञ्चलता के कारण दुःख से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है'--ऐसा जो तुम कहते हो उसमें मेरी मति है अर्थात् इस विषय में मेरी सम्मति ऐसी ही है । तो फिर किसके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं-- 'वश्यात्मना' = 'वश्यात्मा के द्वारा' । वैराग्य के परिपाक से वासनाओं का क्षय हो जाने पर वश्य = स्वाधीन अर्थात् विषय की परतन्त्रता से शून्य है आत्मा = अन्तःकरण जिसका उसके द्वारा । यहाँ 'तु' शब्द असंयतात्मा की अपेक्षा संयतात्मा में विलक्षणता दिखाने के लिए अथवा निश्चय करने के लिए है । ऐसे पुरुष के द्वारा भी उसके यत्नशील होने पर अर्थात् 'यतमान' वैराग्य से विषयस्रोत को बन्द कर देने पर भी पूर्वोक्त आत्मस्रोत को खोलने का अभ्यास करनेवाला होने पर योग अर्थात् सर्वचित्तवृत्तिनिरोध प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् चित्त की चञ्चलता के निमित्त प्रारब्धकर्मों को अभिभूत कर प्राप्त किया जा सकता है ।

117 प्रश्न है कि अत्यन्त बलवान् प्रारब्धभोग कर्मों का अभिभव -- पराभव कैसे किया जा सकता है ? तो कहते हैं -- 'उपायतः' = 'उपाय के द्वारा' । उपाय का अर्थ है पुरुषकार, अतः पुरुषकार के द्वारा प्रारब्धभोग कर्मों का अभिभव किया जा सकता है, क्योंकि वह लौकिक या वैदिक पुरुषकार प्रारब्धकर्मों की अपेक्षा प्रबल है, अन्यथा लौकिक पुरुषों के कृषि आदि के लिए प्रयत्न की और वैदिकों के ज्योतिष्टोमादि प्रयत्न की व्यर्थता सिद्ध होगी । प्रारब्धकर्म सर्वत्र सत् = होने और असत् = न होने -- रूप विकल्प से ग्रस्त हैं, अतः प्रारब्ध कर्म के होने पर तो उसी से फल की प्राप्ति हो सकती है, फिर पुरुषप्रयत्न की क्या आवश्यकता है ? और प्रारब्ध कर्म के न होने पर सर्वथा फलभोग हो ही नहीं सकता, तब भी पुरुषप्रयत्न से क्या होगा ? यदि यह कहा जाय कि कर्म स्वयं अदृष्टस्वरूप है, अतः दृष्टसाधनसम्पत्ति के बिना फल उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण उसको कृषि आदि के लिए पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा है ही, तो कहेंगे कि योगाभ्यास के विषय में

'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥
उत्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्' ॥

उच्छास्त्रं शास्त्रप्रतिषिद्धमनर्थाय नरकाय । शास्त्रितं शास्त्रविहितमन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थाय चतुर्ष्वर्थेषु परमाय मोक्षाय ।

'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेव योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन' ॥

वासना शुभेति शेषः ।

'संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥

भी यह समाधान ऐसा ही है, क्योंकि योगाभ्यास से साध्य 'जीवन्मुक्ति' भी सुखातिशयरूप होने के कारण प्रारब्धकर्म-फल के ही अन्तर्गत है । अथवा, जैसे यह कल्पना की जाती है कि प्रारब्धकर्म-फल तत्त्वज्ञान से प्रबल है, क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है; उसी प्रकार उस प्रारब्धकर्म से भी योगाभ्यास प्रबल है, क्योंकि शास्त्रीय प्रयत्न की सर्वत्र प्रारब्ध की अपेक्षा प्रबलता देखी गई है -- यह कहा जा सकता है । ऐसा ही भगवान् वसिष्ठ ने कहा भी है --

'हे रघुनन्दन ! इस संसार में सभी के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त पुरुषकार से सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है । पुरुषकार दो प्रकार का है -- उच्छास्त्र = शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रित = शास्त्रविहित । इनमें उच्छास्त्र अनर्थ के लिए है और शास्त्रित परमार्थ के लिए है ।''

'उच्छास्त्र' का अर्थ है -- 'शास्त्रप्रतिषिद्ध' -- जो अनर्थरूप नरक के लिए है । 'शास्त्रित' अर्थात् 'शास्त्रविहित' अन्तःकरणशुद्धि द्वारा परमार्थ के लिए है अर्थात् चारों अर्थों = पुरुषार्थों में परम = श्रेष्ठ मोक्ष के लिए है ।

''शुभ और अशुभ -- दोनों मार्गों से बहती हुई वासनारूपी नदी को पुरुषप्रयत्न = पुरुषकार के द्वारा शुभ मार्ग की ओर प्रवाहित करना चाहिए । हे बलवानों में श्रेष्ठ ! अशुभों में लगे हुए अपने मन को पुरुषार्थ -- पुरुषकार के द्वारा शुभों में ही बलपूर्वक लगा दो । हे अरिमर्दन । जब अभ्यासवश तुम्हारी शुभ-वासना का आनायास ही उदय होने लगे, तब तुम अपने अभ्यास की सफलता समझो ।''

यहाँ 'वासना' शब्द के साथ 'शुभ' शब्द का अध्याहार करना चाहिए ।

ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना' इति ॥

118 तस्मात्साक्षिगतस्य संसारस्याविवेकनिबन्धनस्य विवेकसाक्षात्कारादपनयेऽपि प्रारब्धकर्मपर्यवस्थापितस्य चित्तस्य स्वाभाविकीनामपि वृत्तीनां योगाभ्यासप्रयत्नेनापनये सति जीवन्मुक्तः परमो योगी । चित्तवृत्तिनिरोधाभावे तु तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति सिद्धम् । अवशिष्टं जीवन्मुक्तिविवेके सविस्तरमनुसंधेयम् ॥ 36 ॥

119 एवं प्राक्तनेन ग्रन्थेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिपरमो योगी मतः । उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिस्तु परमो योगी मत इत्युक्तम् । तयोरुभयोरपि ज्ञानादज्ञाननाशेऽपि यावत्प्रारब्धभोगं कर्म देहेन्द्रियसङ्घातावस्थानात्प्रारब्धभोगकर्मापाये च वर्तमानदेहेन्द्रियसङ्घातापायात्पुनरुत्पादकाभावाद्विदेहकैवल्यं प्रति काऽपि नास्त्याशङ्का । यस्तु प्राक्कृतकर्मभिर्लब्धविविदिषापर्यन्तचित्तशुद्धिः कृतकार्यत्वात्सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य प्राप्तपरमहंसपरिव्राजकभावः परमहंसपरिव्राजकमात्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तं परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपसृत्य ततो वेदान्तमहावाक्योपदेशं प्राप्य तत्रासंभावनाविपरीतभावनाख्यप्रतिबन्धनिरासायाथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यनावृत्तिःशब्दादित्यन्तया चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवणमनननिदिध्यासनानि

जहाँ शुभ और अशुभ वासनाओं के विषय में सन्देह हो वहाँ शुभ को ही स्वीकार करो; क्योंकि हे तात ! शुभ वासना की वृद्धि होने में कोई दोष नहीं है । जब तक तुम्हारा मन अविवेकी है और तुमको उस परमार्थ पद का ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक तुम गुरु और शास्त्र प्रमाणों से निर्णय किये हुए व्यवहार का ही आचरण करो । उसके पश्चात् जब कषायों का पाक = चित्तगत मलिनता की शुद्धि और परमार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाय, तब अवश्य ही शुभ वासनाओं के समूह को भी तुम निरोध समाधि के अभ्यास से त्याग दो ।"

118 अत: अविवेक के कारण साक्षी में प्रतीत होनेवाले संसार की विवेकजन्य साक्षात्कार से निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म द्वारा प्रस्थापित हुए चित्त की स्वाभाविक वृत्तियों का योगाभ्यासरूप प्रयत्न से निरोध हो जाने पर ही जीवन्मुक्त परम योगी होता है तथा चित्तवृत्तियों का निरोध न होने पर तो तत्त्वज्ञानवान् भी अपरम योगी ही होता है -- यह सिद्ध हुआ । शेष विषय का 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक अनुसन्धान किया जा सकता है ।। 36 ।।

119 इसप्रकार पूर्वग्रन्थ से यह कहा गया है कि जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न -- प्राप्त हो गया है, किन्तु जीवन्मुक्ति उत्पन्न -- प्राप्त नहीं हुई है वह 'अपरम योगी' है और जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर जीवन्मुक्ति भी प्राप्त हो गई है वह 'परम योगी' है । तत्त्वज्ञान से उन दोनों का ही अज्ञाननाश हो जाने पर भी जबतक प्रारब्धभोग-कर्म रहते हैं तब तक देह और इन्द्रियों का संघात विद्यमान रहने से और जब प्रारब्धभोग-कर्म समाप्त हो जाते हैं तब वर्तमान देह और इन्द्रियों का संघात भी समाप्त हो जाने से पुन: उनका कोई उत्पादक न होने से उन दोनों का विदेहकैवल्य होने में कोई शङ्का नहीं है । किन्तु जो पुरुष प्राक्-कृत शुभ कर्मों से विविदिषा -- जिज्ञासापर्यन्त चित्तशुद्धि को प्राप्त कर चुका है और वह कृतकार्य होने से सब कर्मों का परित्याग कर, परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त हो, आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवन्मुक्त और परप्रबोधनदक्ष -- दूसरों को उपदेश करने में कुशल परमहंस परिव्राजक गुरु के समीप जाकर, उनसे वेदान्त के महावाक्यों का उपदेश प्राप्त कर, उनमें

गुरुप्रसादात्कर्तुमारभते स श्रद्दधानोऽपि सन्नायुषोऽल्पत्वेनाल्पप्रयत्नत्वादलब्धज्ञानपरिपाकः श्रवणमनननिदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापद्यते। स ज्ञानपरिपाकशून्यत्वेनानष्टाज्ञानो न मुच्यते, नाप्युपासनासहितकर्मफलं देवलोकमनुभवत्यर्चिरादिमार्गेण, नापि केवलकर्मफलं पितृलोकमनुभवति धूमादिमार्गेण, कर्मणामुपासनानां च त्यक्तत्वात्। अत्र एतादृशो योगभ्रष्टः कीटादिभावेन कष्टां गतिमियादज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गासंबन्धित्वाद्वर्णाश्रमाचारभ्रष्टवदथवा कष्टां गतिं नेयात्, शास्त्रनिन्दितकर्मशून्यत्वाद्वामदेववदिति-संशयपर्याकुलमनाः--

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ 37 ॥

120 **यतिर्यत्नशीलः अल्पार्थे नञ्, अलवणा यवागूरित्यादिवत्, अयतिरल्पयत्नः, श्रद्धया गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिरूपयोपेतो युक्तः। श्रद्धा च स्वसहचरितानां शमादीनामुपलक्षणं 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति' इति श्रुतेः। तेन नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रभोगविरागः शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादिसंपन्मुमुक्षुता चेतिसाधन-**

असम्भावना और विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1) -- इस सूत्र से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.22) इस सूत्रपर्यन्त चतुर्लक्षणी= समन्वय, अविरोध, साधन और फल -- इन चार लक्षणों से विशिष्ट चतुरध्यायी उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र के द्वारा गुरुकृपा से श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना आरम्भ करता है, तथा श्रद्धालु होने पर भी आयु की अल्पता अथवा अपने प्रयत्न की शिथिलता के कारण ज्ञान का परिपाक हुए बिना ही श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करते हुए बीच में ही मर जाता है, तो वह ज्ञान के परिपाक से शून्य होने के कारण अज्ञान नष्ट न होने से मुक्त नहीं होता है, न अर्चिरादि मार्ग से उपासनासहित कर्म के फल देवलोक का अनुभव करता है, और न धूमादि मार्ग से केवल कर्म के फल पितृलोक का अनुभव करता है, क्योंकि वह कर्म और उपासना का त्याग कर चुका है; अतः ऐसा योगभ्रष्ट पुरुष अज्ञ होने पर भी देवयान और पितृयान मार्गों से असम्बद्ध होने के कारण वर्णाश्रम -- धर्मों में भ्रष्ट हुए पुरुष के समान कीटादि भाव को प्राप्त होकर कष्टपूर्ण गति को प्राप्त होता है, अथवा, शास्त्रनिन्दित कर्मों से शून्य होने के कारण वामदेव के समान कष्टपूर्ण गति को प्राप्त नहीं होता है -- इस प्रकार संशय से व्याकुलमन अर्जुन बोले --

[अर्जुन ने कहा -- हे कृष्ण !अल्पप्रयत्नशील, श्रद्धायुक्त तथा योग = तत्त्वसाक्षात्कार से जिसका मन विचलित हो गया है वह पुरुष योग की संसिद्धि = सम्यक् सिद्धिरूप ज्ञान को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ 37 ॥]

120 अयति = अ + यति = 'यति' का अर्थ है 'यत्नशील'; 'अल्पार्थे नञ्' = अल्पार्थ में 'नञ्' समास होकर 'न्' का लोप हो जाता है, अतः 'अ + यति = अयति' रूप होता है, और 'अलवणा यवागूः' = 'अल्पलवणा यवागू' के समान 'अयति' का अर्थ होता है 'अल्पयत्नशील'। अयति -- अल्पयत्नशील तथा श्रद्धोपेत -- गुरु और वेदान्तवाक्यों में विश्वासबुद्धिरूप श्रद्धा से युक्त। श्रद्धा

चतुष्टयसंपन्नो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यश्रवणादि कुर्वन्नपि परमायुषोऽल्पत्वेन मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठानासंभवायोगाच्चलितमानसो योगाच्छ्रवणादिपरिपाकलब्धजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्काराच्चलितं तत्फलमप्राप्तं मानसं यस्य स योगानिष्पत्त्यैवाप्राप्य योगसंसिद्धिं तत्त्वज्ञानविमित्तामज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिमपुनरावृत्तिसहितामप्राप्यातत्त्वज्ञ एव मृतः सन्कां गतिं हे कृष्ण गच्छति सुगतिं दुर्गतिं वा, कर्मणां परित्यागाज्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेः शास्त्रोक्तमोक्षसाधनानुष्ठा यित्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च ॥ 37 ॥

121 एतदेव संशयबीजं विवृणोति –

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ 38 ॥

122 कच्चिदिति साभिलाषप्रश्ने । हे महाबाहो महान्तः सर्वेषां भक्तानां सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः

अपने सहचरित शमादि की उपलक्षण है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और श्रद्धा से युक्त होकर अपने अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात्कार करे' । अतः नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रभोगविराग; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता -- इस साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर, गुरु के समीप जाकर, वेदान्त के वाक्यों का श्रवण – मनन और निदिध्यासन करते हुए भी आयु की अल्पता अथवा मरणकाल में इन्द्रियों की व्याकुलता के कारण साधनों का अनुष्ठान संभव न होने से जो योग से चलितमना हो गया है = योग अर्थात् श्रवणादि के परिपाक से उत्पन्न होनेवाले तत्त्वसाक्षात्कार से जिसका मन चलित अर्थात् उसके फल को प्राप्त किये बिना रह गया है वह योग की निष्पत्ति न होने के कारण ही योगसंसिद्धि को = तत्त्वज्ञान के निमित्त अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति को अपुनरावृत्तिसहित न पाकर अतत्त्वज्ञ ही मर जाने पर हे कृष्ण ! सुगति या दुर्गति -- किस प्रकार [67] की गति[68] को प्राप्त होता है ? क्योंकि वह कर्मों का तो परित्याग कर चुका है, उसको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, और वह शास्त्रोक्त मोक्ष के साधनों का अनुष्ठाता है तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मों से शून्य है ॥ 37 ॥

121 इसी संशय के बीज का विवरण – स्पष्टीकरण करते हैं –

[हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ -- अत्यन्त मूढ़ और देवयान--पितृयान मार्गों के हेतुभूत उपासना और कर्म में भी अप्रतिष्ठित -- इसप्रकार ज्ञान और कर्म – दोनों ही से भ्रष्ट हुआ वह पुरुष क्या वायु से छिन्न-भिन्न बादल की भाँति नष्ट हो जाता है ? ॥ 38 ॥]

122 'कच्चित्' यह अव्यय अभिलाषासहित प्रश्न का सूचक है । हे महाबाहो = महान् अर्थात् सभी भक्तों के सम्पूर्ण उपद्रवों का निवारण करने में समर्थ हैं अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष –

---

67. यहाँ 'किम्' शब्द अविज्ञात पदार्थ के ज्ञान के लिए है । जो ज्ञात नहीं है, उसको जानने के लिए प्रयुक्त हुआ है, आक्षेपादि के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

68. 'गम्यते इति गतिः' = 'जो कुछ प्राप्त होता है, वही गति है । श्रुति में मृत्यु के पश्चात् पाँच प्रकार की गति कही गई है -- (1) जो लोग इष्ट-पूर्तादि शास्त्रविहित पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनकी पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में 'गति' होती है । (2) जो सदा पापकर्मों में लिप्त रहते हैं, वे अत्यन्त निम्न 'गति' को प्राप्त होते हैं अर्थात् शूकर, सर्प, मच्छर आदि के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं । (3) जो पापकर्म और पुण्यकर्म -- दोनों का अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी भू-लोक में 'गति' होती है । (4) जो भक्त

पुरुषार्थचतुष्टयदानसमर्था वा चत्वारो बाहवो यस्येति प्रश्ननिमित्तक्रोधाभावस्तदुत्तरदानसहिष्णुत्वं च सूचितम्। ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढो विचित्तः, अनुत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार इति यावत्। अप्रतिष्ठो देवयानपितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः सोपासनानां सर्वेषां कर्मणां परित्यागात्। एतादृश उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव वायुना छिन्नं विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं मेघमप्राप्तमभ्रं यथा वृष्ट्ययोग्यं सदन्तराल एव नश्यति तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्न उत्तरं च ज्ञानमार्गमप्राप्तोऽन्तराल एव नश्यति कर्मफलं ज्ञानफलं च लब्धुमयोग्यो न किमिति प्रश्नार्थः। एतेन ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृतः। एतस्मिन्हि पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफलालाभसंभवेनोभयविभ्रष्टत्वासंभवात्। न च तस्य कर्मसंभवेऽपि फलकामनात्यागात्तत्फलभ्रंशवचनमवकल्पत इति वाच्यं निष्कामानामपि कर्मणां फलसद्भावस्याऽऽपस्तम्बवचनाद्युदाहरणेन

पुरुषार्थचतुष्टय को प्रदान करने में समर्थ हैं चार बाहु[69] जिनकी वह महाबाहु हैं। इस प्रकार, प्रश्न पूछने पर क्रोधाभाव और प्रश्न का उत्तर देने में सहिष्णुता -- ये भगवान् के गुण सूचित किये हैं। ब्रह्म के मार्ग अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग ज्ञान में विमूढ = विचित्त -- विक्षिप्त अर्थात् जिसको ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार नहीं हुआ है। अप्रतिष्ठ = देवयान-पितृयान मार्ग में जाने के हेतुभूत उपासना और कर्मरूप प्रतिष्ठा -- साधनों से रहित, क्योंकि उपासना-सहित समस्त कर्मों का वह परित्याग कर चुका है। इसप्रकार उभयविभ्रष्ट अर्थात् कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग से विभ्रष्ट-भ्रष्ट हुआ पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति -- जैसे वायु से छिन्न -- टुकड़े-टुकड़े किया हुआ बादल पूर्वमेघ से भ्रष्ट -- पृथक् होकर और उत्तरमेघ को न प्राप्त कर वर्षा करने के योग्य न होकर बीच में ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही योगभ्रष्ट पुरुष भी पहले कर्ममार्ग से विच्छिन्न होकर और आगे के ज्ञानमार्ग तक न पहुँच कर बीच में ही क्या नष्ट नहीं हो जाता है = कर्म और ज्ञान -- दोनों ही के फलभोग को प्राप्त करने के अयोग्य क्या नहीं हो जाता है ? -- यह प्रश्न का अर्थ है। इससे ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निराकरण किया है, क्योंकि इस पक्ष में ज्ञान का फल प्राप्त न होने पर भी कर्म का फल प्राप्त न होने की सम्भावना होने पर उभयभ्रष्टता सम्भव नहीं है। यह भी नहीं कहना चाहिए कि उसके द्वारा कर्म करने की सम्भावना होने पर भी उनके फल की कामना के परित्याग से उसका कर्मफल से भ्रष्ट होना कहा जा सकता है, क्योंकि आपस्तम्ब के वचन आदि उदाहरणों से निष्काम कर्मों के फलों का होना भी अनेक प्रकार से कहा गया है। अत: यह प्रश्न समस्त कर्मों का त्याग करनेवाले के विषय में ही है, क्योंकि उसी के विषय में अनर्थप्राप्ति की शङ्का संभव है ।। 38 ।।

लोग सगुण ब्रह्म में रत रहते हैं और मृत्यु के समय भगवान् का ही स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वे देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में 'गति' प्राप्त करते हैं। तथा (5) जिनका तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय हुआ है तथा जिनको निरवच्छिन्नरूप से आत्मस्थिति प्राप्त हुई है – वे मृत्यु के साथ ही ब्रह्म में लीन होकर जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्त हो जाते हैं। उक्त पाँच प्रकार की गतियों में योगभ्रष्ट योगी की प्रथम गति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह शास्त्रविहित पुण्य कर्मों का त्याग कर चुकता है। द्वितीय गति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह किसी पापकर्म का अनुष्ठान भी नहीं करता है। तृतीय गति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि समस्त कर्मों के परित्याग के कारण पाप और पुण्य – दोनों प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करना उसके द्वारा सम्भव नहीं है। चतुर्थ और पञ्चम गतियाँ भी सम्भव नहीं हैं, क्योंकि चित्त की चञ्चलता के कारण उसको योगसंसिद्धि प्राप्त हुई नहीं है। अत: उसको 'किस प्रकार की गति प्राप्त होती है' ?, यह जानने के लिए इच्छुक होकर अर्जुन ने प्रश्न किया है।

69. भगवान् की शंख, चक्र, गदा और पद्म से शोभित चार बाहुएँ हैं।

बहुशः प्रतिपादितत्वात् । तस्मात्सर्वकर्मत्यागिनं प्रत्येवायं प्रश्नः, अनर्थप्राप्तिशङ्कायास्तत्रैव संभवात् ॥ 38 ॥

123 यथोपदर्शितसंशयापाकरणाय भगवन्तमन्तर्यामिणमर्थयते पार्थः--

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ 39 ॥

124 एतदेवं पूर्वोपदर्शितं मे मम संशयं हे कृष्ण च्छेत्तुमपनेतुमर्हस्यशेषतः संशयमूलाधर्माद्युच्छेदेन । मदन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयमिमं संशयमुच्छेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह--त्वदन्यः, त्वत्परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्योऽनीश्वरत्वेनासर्वज्ञः कश्चिदृषिर्वा देवो वाऽस्य योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य संशयस्य च्छेत्ता सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता हि यस्मान्नोपपद्यते न संभवति तस्मात्त्वमेव प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य परमगुरुः संशयमेतं मम च्छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ 39 ॥

125 एवमर्जुनस्य योगिनं प्रति नाशाशङ्कां परिहरन्नुत्तरम्--

---

123 यथोपदर्शित संशय के निराकरण के लिए पार्थ -- अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् से प्रार्थना करते हैं -- [हे कृष्ण ! मेरे इस संशय का अशेषतः = सम्पूर्णता से छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस संशय का छेत्ता = छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ।। 39]

124 हे कृष्ण ! मेरे 'एतत्'[70] = इस पूर्वोपदर्शित संशय का अशेषतः = संशय के मूल अधर्मादि के उच्छेदपूर्वक छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं । 'मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ऋषि या देवता तुम्हारे इस संशय को दूर कर देगा' -- ऐसी भगवान् की ओर से आशङ्का करके अर्जुन कहते हैं-- हि[71]-- यस्मात् = क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई = आप परमेश्वर के-सर्वज्ञ शास्त्रकृत् परमगुरु करुणामय के अतिरिक्त अन्य कोई अनीश्वर होने के कारण असर्वज्ञ ऋषि या देवता इस योगभ्रष्ट के परलोकगति विषयक संशय का छेदन करनेवाला = इसका सम्यक् उत्तर देकर इसका नाशयिता = नाश करनेवाला संभव नहीं है, अतः सबके परमगुरु प्रत्यक्षदर्शी आप ही मेरे इस संशय का छेदन करने में समर्थ हैं -- यह अर्थ है ।। 39 ।।

125 इसप्रकार अर्जुन की योगी के प्रति नाश की आशङ्का का परिहार करते हुए भगवान् उत्तर देते हैं -- [श्रीभगवान् ने कहा -- हे पार्थ ! उस पुरुष का विनाश न तो इस लोक में हो सकता है और न परलोक में ही हो सकता है, क्योंकि हे तात ! कल्याणकृत =.शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ।। 40 ।।]

70. प्रकृत श्लोक में 'संशय' शब्द पुल्लिङ्ग है, अतः यहाँ 'एतत्' शब्द का 'एवम्' अर्थ में प्रयोग हुआ है । श्रीधर स्वामी के अनुसार 'एतत्' शब्द का 'एनम्' अर्थ में प्रयोग किया गया है । शंकरानन्द ने 'एतत्' पाठ ग्रहण न कर 'एतम्' शब्द का ग्रहण किया है ।

71. भगवान् सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ हैं, अतः भगवान् का सर्वसंशयछेतृत्व सर्वशास्त्रों में ही प्रसिद्ध है, यह प्रकाशित करने के लिए यहाँ 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ 40 ॥

126 उभयविभ्रष्टो योगी नश्यतीति कोऽर्थः । किमिह लोके शिष्टगर्हणीयो भवति, वेदविहितकर्मत्यागात्, यथा कश्चिदुच्छृङ्खलः, किं वा परत्र निकृष्टां गतिं प्राप्नोति । यथोक्तं श्रुत्या 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन ते कीटाः पतङ्गा यदि दन्दशूकम्' इति । तथा चोक्तं मनुना – 'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्युतः' इत्यादि । तदुभमपि नेत्याह – हे पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य यथाशास्त्रं कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य गुरुमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादि कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टस्य विद्यते ।

127 उभयत्रापि तस्य विनाशो नास्तीत्यत्र हेतुमाह हि यस्मात्कल्याणकृच्छास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिमिहाकीर्तिं परत्र च कीटादिरूपतां न गच्छति । अयं तु सर्वोत्कृष्ट एव सन्दुर्गतिं न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्यते । स्वार्थिकेऽणि तत एव तातो राक्षसवायसादिवत् । पितैव च पुत्ररूपेण भवतीति पुत्रस्थानीयस्य शिष्यस्य तातेति संबोधनं कृपातिशयसूचनार्थम् । यदुक्तं योगभ्रष्टः कष्टां गतिं गच्छति अज्ञत्वे सति देवयानपितृयान-

---

126 'उभयविभ्रष्ट योगी नष्ट हो जाता है' -- इसका क्या अर्थ है ? क्या वह किसी उच्छृङ्खल पुरुष के समान वेदविहित कर्मों का त्याग करने से इस लोक में शिष्टजनों द्वारा निन्दनीय हो जाता है, अथवा परलोक में निकृष्ट-गति = अधोगति को प्राप्त होता है ? जैसा कि श्रुति ने कहा है -- 'वे देवयान और पितृयान -- इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते, वे कीट, पतङ्ग या दन्दशूक आदि हो जाते हैं' । इसीप्रकार मनु ने भी कहा है -- 'अपने धर्म से च्युत हुआ विप्र वमन किये अन्न को खानेवाला और उल्कामुख = जिनके मुख से अग्नि निकलती है -- ऐसा प्रेत होता है' इत्यादि । इस पर भगवान् कहते हैं कि योगभ्रष्ट के विषय में उक्त दोनों ही बातें सम्भव नहीं हैं -- हे पार्थ ! उसका = जिसने शास्त्रानुसार समस्त कर्मों का संन्यास-त्याग किया है, जो सब ओर से विरक्त है, और जो गुरु के समीप जाकर वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता हुआ बीच में ही मर जाता है उस योगभ्रष्ट पुरुष का न तो इस लोक में विनाश होता है और न परलोक में ही होता है ।

127 उस योगभ्रष्ट का इहलोक और परलोक -- दोनों लोकों में भी विनाश नहीं होता है, -- इसमें भगवान् हेतु कहते हैं -- हि-यस्मात् = क्योंकि कल्याणकृत = शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को अर्थात् इस लोक में अकीर्ति-अपकीर्ति और परलोक में कीटादिरूपता को प्राप्त नहीं होता है । यह तो सर्वोत्कृष्ट ही होता हुआ दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है -- इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा इसका अभिप्राय है । 'तनोति आत्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्युते' = 'जो अपने आत्मा को ही पुत्ररूप से तनता = विस्तृत करता है वह पिता 'तत' कहा जाता है । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र, 5.4.38) = 'प्रज्ञा आदि शब्दों से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है' -- इस सूत्र के अनुसार 'तत एव तातः' = अर्थात् 'तत' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय (तत + अण्) होने पर 'राक्षसवायस' आदि शब्दों के समान 'तत' शब्द ही 'तात' हो जाता है । पिता ही पुत्ररूप से होता है, अतः पुत्रस्थानीय शिष्य का 'तात'-- यह सम्बोधन कृपा की अतिशयता सूचित करने के लिए है । तुमने यह जो कहा कि 'अज्ञ होने पर भी देवयान या पितृयान-- किसी

मार्गान्यतरासंबन्धित्वात्स्वधर्मभ्रष्टवदिति, तदयुक्तम्, एतस्य देवयानमार्गासंबन्धित्वेन हेतोरसिद्धत्वात् । पञ्चाग्निविद्यायां य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्तीत्यविशेषेण पञ्चाग्निविदामिवातत्क्रतूनां श्रद्धासत्यवतां मुमुक्षूणामपि देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनात् । श्रवणादिपरायणस्य च योगभ्रष्टस्य श्रद्धान्वितो भूत्वेत्यनेन श्रद्धायाः प्राप्तत्वात्, शान्तो दान्त इत्यनेन चानृतभाषणरूपवाग्व्यापारनिरोधरूपस्य सत्यस्य लब्धत्वात् । बहिरिन्द्रियाणामुच्छृङ्खलव्यापारनिरोधो हि दमः । योगशास्त्रे चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा इति योगाङ्गत्वेनोक्तत्वात् । यदि तु सत्यशब्देन ब्रह्मैवोच्यते तदाऽपि न क्षतिः, वेदान्तश्रवणादेरपि सत्यब्रह्मचिन्तनरूपत्वात् । अतत्क्रतुत्वेऽपि च पञ्चाग्निविदामिव ब्रह्मलोकप्राप्तिसंभवात् । तथाच स्मृति : 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इति । तथा प्रात्यहिकवेदान्तवाक्यविचारस्यापि कृच्छ्राशीतिफलतुल्यफलत्वं स्मर्यते । एवं च संन्यासश्रद्धासत्यब्रह्मविचाराणामन्यतमस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वात्समुदितानां तेषां तत्साधनत्वं किं चित्रम् । अत एव सर्वसुकृतरूपत्वं योगिचरितस्य तैत्तिरीया आमनन्ति 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना । स्मर्यते च –

> **'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-**
> **र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ॥**
> **संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ**
> **यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्' इति ॥ 40 ॥**

भी मार्ग से सम्बद्ध न होने के कारण स्वधर्म से भ्रष्ट हुए पुरुष के समान योगभ्रष्ट पुरुष भी कष्टमयी गति को प्राप्त करता है', वह ठीक नहीं है,क्योंकि इसका हेतु 'देवयानमार्ग से सम्बन्ध न होना' असिद्ध[72] है, अर्थात् कोई कारण नहीं कि वह योगभ्रष्ट देवयानमार्ग से सम्बद्ध न हो । कारण कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त पञ्चाग्निविद्या में 'य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.9.1) = 'जो वन में रहकर श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं वे अर्चिरादि मार्ग को ही प्राप्त होते हैं' -- इस प्रकार के अविशेष से पञ्चाग्निविद्वानों के समान अतत्क्रतु = पञ्चाग्निवित् न होकर भी अथवा अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हुए भी श्रद्धापूर्वक सत्यस्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करनेवाले मुमुक्षुओं को भी देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है । श्रवणादिपरायण योगभ्रष्ट में 'श्रद्धान्वितो भूत्वा' = 'श्रद्धायुक्त होकर' --इस श्रुति- वाक्य से श्रद्धा तो सिद्ध होती ही है और 'शान्तो दान्तः' = 'शान्त और दान्त' --- इससे अनृतभाषणरूप वाग्व्यापार का निरोधरूप सत्य भी प्राप्त होता है । बाह्य इन्द्रियों के उच्छृङ्खल व्यापार का निरोध ही 'दम' है । योगशास्त्र में 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (योगसूत्र, 1.30) = 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-- ये 'यम' हैं -- इस सूत्र से सत्य को योगाङ्गरूप कहा है । यदि 'सत्य'

72. 'योगभ्रष्ट कष्ट गति को प्राप्त होता है, क्योंकि वह अज्ञ होने से देवयान या पितृयान – किसी भी मार्ग से सम्बद्ध नहीं होता है, जैसे – स्वधर्मभ्रष्ट पुरुष' – इस वाक्य में 'स्वरूपासिद्ध- हेत्वाभास' है । जो हेतु आश्रय = पक्ष में न पाया जाय उसको 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं ('यस्य हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' -- तर्कभाषा) । उक्त वाक्य में प्रयुक्त हेतु -- 'देवयानमार्ग से सम्बद्ध न होना' अपने आश्रय = पक्ष 'योगभ्रष्ट' में नहीं पाया जाता है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि योगभ्रष्ट देवयानमार्ग से सम्बद्ध नहीं होता है अर्थात् सम्बद्ध होता है ।

128 तदेवं योगभ्रष्टस्य शुभकृत्त्वेन लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवतीत्युच्यते –

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ 41 ॥

129 योगमार्गप्रवृत्तः सर्वकर्मसंन्यासी वेदान्तश्रवणादि कुर्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित्पूर्वोपचितभोगवासनाप्रादुर्भावाद्विषयेभ्यः स्पृहयति । कश्चित्तु वैराग्यभावनादाढर्यान्न स्पृहयति । तयोः प्रथमः प्राप्य पुण्यकृतामश्वमेधयाजिनां लोकानर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकान् । एकस्मिन्नपि भोगभूमिभेदापेक्षया बहुवचनम् । तत्र चोषित्वा वासमनुभूय शाश्वतीर्ब्रह्मपरिमाणेनाक्षायाः समाः संवत्सरान्, तदन्ते शुचीनां शुद्धानां श्रीमतां विभूतिमतां महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशेषसद्भावादजातशत्रुजनकादिवद्योगभ्रष्टोऽभिजायते । भोगवासनाप्राबल्याद्ब्रह्मलोकान्ते सर्वकर्मसंन्यासायोग्यो महाराजो भवतीत्यर्थः ॥ 41 ॥

शब्द से ब्रह्म ही कहा जाता हैं तो भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि वेदान्तश्रवणादि भी सत्यब्रह्म का ही चिन्तनरूप है । अत: पञ्चाग्निविद्यारूप यज्ञ से रहित होने पर भी पञ्चाग्निविद्वानों के समान योगभ्रष्ट को भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव ही है । इसीप्रकार स्मृति भी कहती है -- 'संन्यासाद् ब्रह्मण: स्थानम्' = 'संन्यास-त्याग से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है' । स्मृति यह भी कहती है कि 'नित्य वेदान्त वाक्यों के विचार का फल अस्सी कृच्छ्रचान्द्रायणव्रतों के फल के समान है' । इस प्रकार संन्यास, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मविचार -- इनमें से एक-एक में -- प्रत्येक में ब्रह्मलोकप्राप्ति का साधनत्व है, तो उनके समुदाय में ब्रह्मलोकप्राप्ति के साधनत्व का क्या आश्चर्य है ? इसी से तैत्तिरीय शाखाध्यायी 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' -- इत्यादि वाक्य से योगी के चरित की सर्वसुकृतरूपता कहते हैं । स्मृति भी कहती है --

"जिसका मन एक क्षण के लिए भी ब्रह्मविचारण में स्थिरता को प्राप्त हो गया है उसने सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, समस्त पृथ्वी का दान कर दिया, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया, सभी देवताओं की पूजा कर ली, संसार से अपने पितरों का उद्धार कर दिया और तीनों लोकों में वह सबका पूज्य हो गया' ॥ 40 ॥

128 इसप्रकार यदि योगभ्रष्ट का शुभकृत् -- शुभकर्मकारी होने से इहलोक और परलोक -- दोनों लोकों में भी विनाश नहीं होता है, तो क्या होता है ? इस पर भगवान् कहते हैं --

[यह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर पवित्र और श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ॥ 41 ॥]

129 योगमार्ग में प्रवृत्त समस्त कर्मों का संन्यास-त्याग करनेवाला पुरुष वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता हुआ बीच में ही मर जाता है तो कोई पूर्वसंचित भोगवासनाओं के प्रादुर्भाव से विषयों की इच्छा करता है और कोई वैराग्यभावना के दृढ़ होने से विषयों की स्पृहा नहीं करता है । उन दोनों में से प्रथम तो अर्चिरादि मार्ग से पुण्यकृत अर्थात् अश्वमेघ यज्ञ करनेवालों के लोकों -- ब्रह्मलोकों को प्राप्त होकर; ब्रह्मलोक एक होने पर भी भोगभूमि के भेद की अपेक्षा से 'ब्रह्मलोकान्' -- ऐसा बहुवचन दिया है । वहाँ शाश्वती = ब्रह्मा के परिमाण से अक्षय समा: = वर्षों तक बसकर अर्थात् निवास का अनुभव कर, उसके पश्चात् भोगवासना शेष रहने के कारण शुचि -- शुद्ध और श्रीमान् -- विभूतिमान् अर्थात् चक्रवती महाराजाओं के घर अर्थात् कुल में अजातशत्रु, जनक आदि

130 द्वितीयं प्रति पक्षान्तरमाह–

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ 42 ॥

131 श्रद्धावैराग्यादिकल्याणगुणाधिक्ये तु भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानां न तु श्रीमतां राज्ञां कुले भवति धीमतां ब्रह्मविद्यावताम् । एतेन योगिनामिति न कर्मिग्रहणम् । यच्छुचीनां श्रीमतां राज्ञां गृहे योगभ्रष्टजन्म तदपि दुर्लभमनेकसुकृतसाध्यत्वान्मोक्षपर्यवसायित्वाच्च । यत्तु शुचीनां दरिद्राणां ब्राह्मणानां ब्रह्मविद्यावतां कुले जन्म, एतद्धि प्रसिद्धं शुकादिवत्, दुर्लभतरं दुर्लभादपि दुर्लभं लोके यदीदृशं सर्वप्रमादकारणशून्यं जन्मेति द्वितीयः स्तूयते भोगवासनाशून्यत्वेन सर्वकर्मसंन्यासार्हत्वात् ॥ 42 ॥

132 एतादृशजन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं कस्मात् । यस्मात् –

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ 43 ॥

के समान योगभ्रष्ट जन्म लेता है अर्थात् भोगवासना की प्रबलता के कारण ब्रह्मलोक का भोग समाप्त होने पर सर्वकर्मसंन्यास में अयोग्य महाराज होता है ॥ 41 ॥

130 द्वितीय के लिए पक्षान्तर कहते हैं --
[अथवा[73], वह योगभ्रष्ट बुद्धिमान्-ज्ञानवान्-ब्रह्मविद्यासम्पन्न योगियों के कुल में ही जन्म लेता है । लोक में ऐसा जो जन्म होता है वह अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ 42 ॥]

131 श्रद्धा-वैराग्यादि कल्याण-गुणों की अधिकता होने पर तो भोगवासनाओं से रहित होने के कारण वह योगभ्रष्ट पुण्यात्माओं के लोकों में न जाकर ही धीमान् -- ब्रह्मविद्यावान् योगियों के ही = दरिद्र ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेता है, श्रीमान् -- लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के कुल में नहीं । इससे 'योगिनाम्' -- इस पद से कर्मियों का ग्रहण नहीं होता है । पवित्र, श्रीमान् -- लक्ष्मीसम्पन्न राजाओं के घर में जो योगभ्रष्ट का जन्म होता है वह भी दुर्लभ है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के शुभ कर्मों से साध्य-प्राप्त होता है और मोक्ष में परिणत होता है; किन्तु पवित्र, दरिद्र ब्रह्मविद्यावान् -- ब्रह्मविद्यासम्पन्न ब्राह्मणों के कुल में जो योगभ्रष्ट का जन्म होता है वह तो शुकादि के जन्म के समान प्रसिद्ध(हि)[74] है । लोक में सब प्रकार के प्रमाद के कारणों से रहित जो ऐसा जन्म है वह तो दुर्लभतर = दुर्लभ से भी दुर्लभ है -- इसप्रकार द्वितीय की स्तुति की जाती है, क्योंकि भोगवासनाओं से शून्य होने के कारण वह सर्वकर्मसंन्यास के योग्य होता है ॥ 42 ॥

132 ऐसे दोनों ही प्रकार के जन्मों की दुर्लभता क्यों है ? क्योंकि --

---

73. यहाँ 'अथवा' शब्द का यह अर्थ भी किया जा सकता है । अथ + वा = अथवा । 'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर और 'वा' शब्द अवधारणार्थ -- निश्चयार्थ है, अतः 'अथवा' शब्द का अर्थ है – देहपात के अनन्तर ही = मृत्यु के पश्चात् ही ।

74. 'हि' शब्द लोकप्रसिद्धि को सूचित कर रहा है । शुकदेव आदि का भी व्यास आदि ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के घर में जन्म हुआ था, यह शास्त्र में प्रसिद्ध ही है; अतः 'योगभ्रष्ट ब्रह्मविद्यासम्पन्न योगियों के जन्म लेता है' -- इस विषय में शंका का कोई कारण नहीं है, यही सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

133 तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं सर्वकर्मसंन्यासगुरूपसदनश्रवणमनन-निदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्यन्तमेव तं ब्रह्मात्मैक्यविषयया बुद्ध्या संयोगं तत्साधनकलापमिति यावत् । लभते प्राप्नोति । न केवलं लभत एव किं तु ततस्तल्लाभानन्तरं भूयोऽधिकं लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं संपादयितुं संसिद्धौ संसिद्धिर्मोक्षस्तन्निमित्तं यतते च प्रयत्नं करोति च । यावन्मोक्षं भूमिकाः संपादयतीत्यर्थः । हे कुरुनन्दन तवापि शुचीनां श्रीमतां कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति सूचयितुं महाप्रभावस्य कुरोः कीर्तनम् ।

[वहाँ = इन दोनों जन्मों में हे कुरुनन्दन ! वह योगभ्रष्ट पौर्वदेहिक -- पूर्वजन्मोपार्जित बुद्धि के संयोग को अर्थात् समत्वबुद्धियोग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और उसके प्रभाव से वह आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए तथा मोक्षप्राप्ति के लिए पुन: प्रयत्न करता है ।। 43 ।।

133 तत्र[75] = वहाँ = इन दोनों ही प्रकार के जन्मों में 'पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकम्' = पूर्वदेह में उत्पन्न-पौर्वदेहिक अर्थात् पूर्व जन्म के देह में उत्पन्न सर्वकर्मसंन्यास, गुरूपसदन, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन -- इनमें से जिनका जहाँ तक आचरण किया होता है वहाँ तक ही योगभ्रष्ट ब्रह्मात्मैक्यविषया बुद्धि से उस संयोग को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उस साधनकलाप को प्राप्त हो जाता है । केवल उसको प्राप्त ही नहीं होता है, किन्तु ततः[76] = उससे अर्थात् उसकी प्राप्ति के अनन्तर वह भूय: = अधिक अर्थात् प्राप्त हुई भूमि से आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए और (च)[77] संसिद्धि अर्थात् मोक्ष के लिए

75. मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर स्वामी और नीलकंठ ने 'तत्र' शब्द का 'द्विप्रकारेऽपि जन्मनि' = 41 और 42 श्लोकों में उक्त'दोनों ही प्रकार के जन्मों में' – ऐसा अर्थ किया है । शंकराचार्य, आनन्दगिरि और शंकरानन्द ने मात्र 42 श्लोक में उक्त 'दुर्लभतर जो जन्म ब्रह्मविद्‌योगी के कुल में होता है उसको ही 'तत्र' शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण किया है । कारण कि जिस योगी को पूर्वजन्म में पूर्णरूप से विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ था, किन्तु आयु की अल्पता के कारण तत्त्वसाक्षात्कार नहीं हो सका, वह मृत्यु के पश्चात् ही योगी के कुल में जन्मग्रहण कर अनायास ही पौर्वदेहिक आत्मैक्यविषया बुद्धि के संयोग को प्राप्त होता हैं । और जिस योगी की पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण विषयों के प्रति आसक्ति थी उसका दीर्घकाल तक स्वर्ग में सुखभोग करने के पश्चात् पवित्र श्रीमान् के कुल में जन्म होता है । अत: उसके पूर्वजन्म तथा वर्तमान जन्म के बीच में दीर्घकाल का व्यवधान रहने के कारण पौर्वदेहिक आत्मविषयक साधन संस्कार को प्राप्त करने में विलम्ब होता है, क्योंकि आत्मैक्यविषयबुद्धि तथा स्मृति विषयवासनारूप मलिनता के दूर होने पर ही जाग्रत् हो सकती है । अत: उस योगी को पौर्वदेहिक बुद्धि का संयोग कब प्राप्त होगा अथवा उसी जन्म में प्राप्त होगा या नहीं, यह अनिश्चित है । इसलिए इस प्रकार का योगभ्रष्ट वर्तमान श्लोक का विषय नहीं हैं -- यही शंकराचार्य आदि का मत हैं ।

76. मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'ततः' अर्थात् 'पूर्वजन्मोपार्जित आत्मैक्यविषया बुद्धि से संयोग प्राप्त करने के अनन्तर' वह योगभ्रष्ट प्राप्त हुई भूमि से आगे की भूमि का सम्पादन करने के लिए और मोक्ष के लिए अधिक प्रयत्न करता है । शंकराचार्य ने अर्थ किया है – 'ततः = पूर्वकृतसंस्कारात् अर्थात् पूर्वकृत संस्कार से' अधिक प्रयत्न करता है । अन्य टीकाकारों ने 'ततः' = जन्मलाभानन्तरम् अर्थात् जन्मलाभ करने के बाद' अधिक प्रयत्न करता है -- ऐसा अर्थ किया है । शंकरानन्द के मतानुसार 'ततः = पित्रादेः ज्ञानयोगलब्ध्यनन्तरम् अर्थात् पिता, गुरु आदि से ज्ञानयोग प्राप्त करने के बाद' अधिक यत्न करता है । यदि देखा जाय तो इन सब टीकाकारों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पूर्व संस्कार से ही तदनुकूल कुल में जन्मग्रहण होता है और पिता, गुरु आदि के आदेशों के बिना सुप्त संस्कार का जाग्रत् होना कठिन है । अत: समन्वयार्थ 'ततः' शब्द का ऐसा अर्थ होता है -- 'पूर्वजन्मोपार्जित संस्कार के प्रभाव से अनुकूल योगियों के कुल में जन्मग्रहण कर पिता, गुरु आदि के ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त करने के बाद' वह योगभ्रष्ट अधिक प्रयत्न करता है ।

77. 'च' शब्द से भगवान् यही सूचित कर रहे हैं कि वह योगभ्रष्ट पूर्वजन्म में जिस साधनभूमिका में आरूढ हुआ था उससे प्रारम्भ करके जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाय तब तक उत्तरोत्तर भूमिकाओं का अधिक प्रयत्न के साथ सम्पादन करता है ।

134 अयमर्थो भगवद्वसिष्ठवचने व्यक्तः । यथा श्रीरामः--

'एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥'

पूर्वं हि सप्त भूमयो व्याख्याताः । तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थभोग-वैराग्याच्छमदमश्रद्धातितिक्षासर्वकर्मसंन्यासादिपुरःसरा मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका, साधनचतुष्टयसंपदिति यावत् । ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया भूमिका, श्रवणमननसंपदिति यावत् । ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका, निदिध्यासनसंपदिति यावत् । चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कार एव । पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति तृतीये प्राग्व्याख्यातम् । तत्र चतुर्थी भूमिं प्राप्यस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः । तदुत्तरभूमित्रयं

प्रत्यन करता है । तात्पर्य यह है कि वह जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक भूमिकाओं का सम्पादन करता है । हे कुरुनन्दन ! 'तुम्हारा भी पवित्र और श्रीमान् कुल में योगभ्रष्टजन्म हुआ है, अतः पूर्ववासना के कारण तुमको भी अनायास ही ज्ञानलाभ होगा' - यह सूचित करने के लिए 'हे कुरुनन्दन' -- इस सम्बोधन से महाप्रभावशाली कुरु का उल्लेख किया है ।

134 यह अर्थ भगवान् वसिष्ठ के वचन में भी व्यक्त हुआ है । जैसे श्रीराम पूछते हैं --

"भगवन् ! प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय भूमिका पर आरूढ़ होकर मरे हुए पुरुष की कैसी गति होती है ?"

इससे पूर्व सात भूमिकाओं की व्याख्या की गई है । उनमें नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक ऐहिक और आमुष्मिक विषयभोगों से वैराग्य तथा शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा और सर्वकर्मसंन्यासादिपूर्वक होनेवाली जो मुमुक्षा = मोक्ष में इच्छा है वह 'शुभेच्छा' नाम की प्रथम भूमिका है । यह साधनचतुष्टयरूपा सम्पत्ति है । इसके पश्चात् गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों की 'विचारणा' रूप द्वितीय भूमिका है । इसको श्रवणमननरूपा सम्पत्ति कह सकते हैं । इसके बाद श्रवण और मनन से परिनिष्पन्न तत्त्वज्ञान की निर्विचिकित्सतारूपा = निःसन्दिग्धतारूप 'तनुमानसा' नाम की तृतीय भूमिका है । यह निदिध्यासनरूपा सम्पत्ति है । चतुर्थ भूमिका तो तत्त्वसाक्षात्कार ही है । पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद ही हैं -- इसकी पहले तृतीय अध्याय में व्याख्या की जा चुकी है[78] । इनमें चतुर्थ भूमिका को प्राप्त होकर मरे हुए पुरुष के जीवन्मुक्ति का अभाव रहने पर भी विदेहकैवल्य के प्रति संशय नहीं है । इससे आगे की तीन भूमिकाओं को प्राप्त हुआ पुरुष तो जीवित रहते हुए भी मुक्त ही है, शरीरपातानन्तर मुक्ति के विषय में तो कहना ही क्या है ? अतः इन चार भूमिकाओं में मोक्ष की शंका नहीं है । किन्तु साधनभूत तीन भूमिकाओं में कर्म का त्याग हो जाने से और ज्ञान की प्राप्ति न होने से मोक्ष की शंका हो सकती है, अतः प्रथम, द्वितीय और तृतीय-- इन्ही तीन भूमिकाओं के विषय में श्रीराम ने प्रश्न किया है ।

---

78. मोक्ष की सात भूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं -- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावा और तुरीया । उक्त भूमिकाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में कहा गया है --

"चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा ।
जीवनमुक्तेरवस्थास्तु परा तिस्रः प्रकीर्तिताः ॥"

अर्थात् उक्त सात भूमिकाओं में चतुर्थ भूमिका ज्ञान की अवस्था है, उसकी पूर्ववर्ती तीन अवस्थाएँ उसी की साधनस्वरूप हैं और उसकी परवर्ती तीन भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति की अवस्थाएँ कही जाती हैं ।

प्राप्तस्तु जीवन्नपि मुक्तः किमु विदेह इति नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का । साधनभूतभूमिकात्रये तु कर्मत्यागाज्ज्ञानालाभाच्च भवति शङ्केति तत्रैव प्रश्नः ।

135 श्रीवसिष्ठः--

'योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥' इति ।

136 अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यादल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमये प्रादुर्भूतभोगस्पृहः सर्वकर्मसंन्यासी यः स एवोक्तः । यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात्प्रकृष्टपुण्यप्रकटितपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः संन्यासी भोगव्यवधानं विनैव ब्राह्मणानामेव ब्रह्मविदां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य प्राक्तनसंस्काराभिव्यक्तेरनायासेनैव संभवान्नास्ति पूर्वस्यैव मोक्षं प्रत्याशङ्केति स वसिष्ठेन नोक्तो भगवता तु परमकारुणिकेनाथवेति पक्षान्तरं कृत्वोक्त एव । स्पष्टमन्यत् ॥ 43 ॥

---

135 श्रीराम के प्रश्न के उत्तर में श्रीवसिष्ठ ने कहा है --

"जिस देहधारी का प्राण योगभूमिकाओं के प्राप्त होने पर छूटता है, भूमिका के अंशों के अनुसार उसके पूर्वकृत पाप क्षीण हो जाते है । इसके पश्चात् वह सुर-देवताओं के विमानों पर, लोकपालों के पुरों में और सुमेरु के उपवनों की कुञ्जों में देवाङ्गनाओं के साथ रमण करता है । तदनन्तर भोगों का क्षय होने से पूर्वकृत सुकृत और दुष्कृतों के क्षीण होने पर वे योगीजन पृथिवी पर पवित्र, श्रीमान् और गुणवान् सत्पुरुषों से गुप्त -- सुरक्षित घरों में जन्मग्रहण करते हैं तथा योग की वासना से युक्त होने के कारण वहाँ जन्मग्रहण कर योग का ही सेवन करते हैं । तब वे विद्वान् पूर्वभावना से अभ्यास किये हुए योगभूमिकाक्रम का अनुभव करके आगे के भूमिकाक्रम पर उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं ।"

136 यहाँ पूर्वोपचित भोगवासना की प्रबलता से अल्प समय तक अभ्यास की हुई वैराग्यवासना की दुर्बलता के कारण प्राणोत्क्रान्ति -- प्राणत्याग के समय जिसकी भोगवासना प्रादुर्भूत हो गई है ऐसा जो सर्वकर्मसंन्यासी = समस्त कर्मो का संन्यास-त्याग करनेवाला है वही कहा गया है । किन्तु वैराग्यवासना की प्रबलता के कारण प्रकृष्ट-उत्कृष्ट पुण्य से प्रकटित ईश्वरप्रसादवश -- भगवत्कृपावश जिसकी प्राणत्याग के समय भोगस्पृहा -- भोगवासना उद्भूत -- प्रकट नहीं हुई है वह संन्यासी तो

137 ननु यो ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य मध्ये विषयभोगव्यवधानाभावादव्यवहितप्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधात्पुनरपि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वको ज्ञानसाधनलाभो भवतु नाम । यस्तु श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां कुले बहुविधविषयभोगव्यवधानेनोत्पन्नस्तस्य विषयभोगवासनाप्राबल्यात्प्रमादकारणसंभवाच्च कथमतिव्यवहितज्ञानसंस्कारोद्बोधः क्षत्रियत्वेन सर्वकर्मसंन्यासानर्हस्य कथं वा ज्ञानसाधनलाभ इति । तत्रोच्यते --

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ 44 ॥

138 अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेन प्रागर्जितज्ञानसंस्कारेणावशोऽपि मोक्षसाधनायाप्रयतमानोऽपि ह्रियते स्ववशी क्रियते, अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखः क्रियते, ज्ञानवासनाया एवाल्पकालाभ्यस्ताया अपि वस्तुविषयत्वेनावस्तुविषयाभ्यो भोगवासनाभ्यः प्राबल्यात् । पश्य यथा त्वमेव युद्धे प्रवृत्तो ज्ञानायाप्रयतमानोऽपि पूर्वसंस्कारप्राबल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखोऽभूरिति । अत एव प्रागुक्तं नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति । अनेकजन्मसहस्रव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः स्वकार्यं करोत्येव सर्वविरोध्युपमर्देनेत्यभिप्रायः ।

भोगों के व्यवधान के बिना ही प्रमाद के समस्त कारणों से शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के ही कुल में उत्पन्न होता है । उसके पूर्वसंस्कारों की अभिव्यक्ति अनायास ही हो सकती है, इसलिए पूर्वोक्त संन्यासी के समान उसका मोक्ष होने में शंका नहीं है । इसको वसिष्ठ ने नहीं कहा है । परम कारुणिक भगवान् ने तो 'अथवा' -- इसप्रकार पक्षान्तर करके उसको कहा ही है । शेष सब स्पष्ट है ॥ 43 ॥

137 'जो प्रमाद के समस्त कारणों से शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुआ है उसको तो बीच में विषयभोगरूप व्यवधान न रहने के कारण अव्यवहित पूर्वजन्म के संस्कारों के बोध से पुनः भी समस्त कर्मों के संन्यासपूर्वक ज्ञान के साधनों का लाभ हो, किन्तु जो श्रीमान् = महालक्ष्मीसम्पन्न चक्रवर्ती महाराजाओं के कुल में अनेक प्रकार के विषयभोगरूप व्यवधान से युक्त होकर उत्पन्न हुआ है उसको विषयभोग की वासनाओं की प्रबलता के कारण और प्रमाद के कारणों की सम्भावना होने से अत्यन्त व्यवहित ज्ञान के संस्कारों का बोध कैसे होता है ? क्षत्रिय होने से सर्वकर्मसंन्यास के योग्य न होने के कारण ज्ञान के साधनों का लाभ कैसे होता है ?' -- ऐसी यदि आशङ्का हो तो उस पर यह कहा जाता है --

[वह योगभ्रष्ट पुरुष उस पूर्वजन्म के अभ्यास से ही अवश-विवश होकर योग की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योग का जिज्ञासु होने पर भी शब्दब्रह्म -- कर्मप्रतिपादक वेद का अतिक्रमण कर जाता है ॥ 44 ॥]

138 अतिदीर्घकाल तक व्यवहित जन्म में सञ्चित उसी पूर्वाभ्यास से अर्थात् पूर्वोपार्जित ज्ञान के संस्कार से अवश होकर भी अर्थात् मोक्षसाधन के लिए प्रयत्न न करने पर भी अपहृत किया जाता है -- अपने अधीन कर लिया जाता है अर्थात् अकस्मात् ही भोगवासनाओं से पराङ्मुख--विमुख कर मोक्षसाधनों की ओर उन्मुख कर दिया जाता है, क्योंकि थोड़े समय तक अभ्यास की हुई होने पर भी यथार्थवस्तुविषयक होने से ज्ञानवासना अवस्तुविषयक भोगवासनाओं से प्रबल होती है । देखो, जैसे तुम ही युद्ध में प्रवृत्त होकर ज्ञान के लिए प्रयत्न न करते हुए भी पूर्वसंस्कारों की प्रबलता से

139 सर्वकर्मसंन्यासाभावेऽपि हि क्षत्रियस्य ज्ञानाधिकारः स्थित एव । यथा पाटच्चरेण बहूनां रक्षिणां मध्ये विद्यमानमपि अश्वादिद्रव्यं स्वयमनिच्छदपि तान्सर्वानभिभूय स्वसामर्थ्यविशेषादेवापह्रियते । पश्चात्तु कदाऽपहृतमिति विमर्शो भवति । एवं बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानोऽपि योगभ्रष्टः स्वयमनिच्छन्नपि ज्ञानसंस्कारेण बलवता स्वसामर्थ्यविशेषादेव सर्वान्प्रतिबन्धकानभिभूयाऽऽत्मवशी क्रियत इति हृञः प्रयोगेण सूचितम् । अत एव संस्कारप्राबल्याज्जिज्ञासुर्ज्ञातुमिच्छुरपि योगस्य मोक्षसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्म, प्रथमभूमिकायां स्थितः संन्यासीति यावत् । सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतोऽन्तराले बहून्विषयान्भुक्त्वा महाराजचक्रवर्तिनां कुले समुत्पन्नोऽपि योगभ्रष्टः प्रागुपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्यात्तस्मिञ्जन्मनि शब्दब्रह्म वेदं कर्मप्रतिपादकमतिवर्ततेऽतिक्रम्य तिष्ठति कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः । एतेनापि ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृत इति द्रष्टव्यं, समुच्चये हि ज्ञानिनोऽपि कर्मकाण्डातिक्रमाभावात् ॥ 44 ॥

140 यदा चैवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽपि अनेकभोगवासनाव्यवहितमपि विविधप्रमादकारणवति महाराजकुलेऽपि जन्म लब्ध्वाऽपि योगभ्रष्टः पूर्वोपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्येन कर्माधिकारमतिक्रम्य ज्ञानाधिकारी भवति तदा किमु वक्तव्यं द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमिकायां मृतो विषयभोगान्ते

अकस्मात् ही रणभूमि में ज्ञानोन्मुख हुए हो । अतएव पूर्व में कहा है -- 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' (गीता, 2.40) = 'इस कर्मयोग में अभिक्रम का नाश नहीं है' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अनेक सहस्र जन्मों से व्यवहित भी ज्ञानसंस्कार समस्त विरोधियों का उपमर्दन -- पराभव कर अपना कार्य करता ही है ।

139 सर्वकर्मसंन्यास के अभाव में भी क्षत्रिय का ज्ञान में अधिकार तो निश्चित ही है । जैसे बहुत रक्षकों के मध्य में विद्यमान -- स्थित भी अश्व आदि द्रव्य स्वयं इच्छा न करते हुए भी चोर या डाकू के द्वारा अपने सामर्थ्यविशेष से ही उन सब रक्षकों को अभिभूत कर या चकमा देकर चुरा लिया जाता है, बाद में ऐसा विचार आता है कि 'कब चुरा लिया गया'; वैसे ही ज्ञान के अनेक प्रतिबन्धकों के मध्य में स्थित भी योगभ्रष्ट स्वयं की इच्छा न होने पर भी ज्ञान के बलवान् संस्कारों द्वारा अपने सामर्थ्यविशेष से ही समस्त प्रतिबन्धकों का पराभव कर अपने वश में कर लिया जाता है -- यह 'हृ' धातु के प्रयोग से सूचित किया गया है । इसी से ज्ञान के संस्कारों की प्रबलता के कारण जिज्ञासु भी अर्थात् योग = मोक्षसाधनज्ञान के विषय ब्रह्म को जानने का इच्छुक भी अर्थात् जो प्रथम भूमिका में स्थित संन्यासी ही है वह भी उसी भूमिका में मरकर बीच में बहुत विषयों को भोगकर तथा चक्रवर्ती महाराजाओं के कुल में उत्पन्न होकर भी वह योगभ्रष्ट पूर्वसञ्चित ज्ञान के संस्कारों की प्रबलता से उस जन्म में शब्दब्रह्म = कर्मप्रतिपादक वेद का अतिवर्तन = अतिक्रमण करके स्थित होता है अर्थात् कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है । इससे ज्ञानकर्मसमुच्चय का निराकरण भी किया गया है, क्योंकि यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय होता तो ज्ञानी के लिए भी कर्मकाण्ड का अतिक्रमण करना सम्भव नहीं था -- यह द्रष्टव्य है ।। 44 ।।

140 जब इसप्रकार प्रथम भूमिका में मृत, अनेक भोगवासनाओं से व्यवहित भी, विविध प्रमाद के कारणों से युक्त महाराजाओं के कुल में भी जन्म पाकर भी योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वोपार्जित ज्ञान के संस्कारों

लब्धमहाराजकुलजन्मा यदि वा भोगमकृत्वैव लब्धब्रह्मविद्ब्राह्मणकुलजन्मा योगभ्रष्टः कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भूत्वा तत्साधनानि संपाद्य तत्फललाभेन संसारबन्धनान्मुच्यत इति । तदेतदाह –

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ 45 ॥

141 प्रयत्नात्पूर्वकृतादप्यधिकमधिकं यतमानः प्रयत्नातिरेकं कुर्वन्योगी पूर्वोपचितसंस्कारवांस्तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन संशुद्धकिल्बिषो धौतज्ञानप्रतिबन्धकपापमलः । अत एव संस्कारोपचयात्पुण्योपचयाच्चानेकैर्जन्मभिः संसिद्धः संस्कारातिरेकेण पुण्यातिरेकेण च प्राप्तचरमजन्मा ततः साधनपरिपाकाद्याति परां प्रकृष्टां गतिं मुक्तिम् । नास्त्येवात्र कश्चित्संशय इत्यर्थः ॥ 45 ॥

142 इदानीं योगी स्तूयतेऽर्जुनं प्रति श्रद्धातिशयोत्पादनपूर्वकं योगं विधातुम् –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ 46 ॥

की प्रबलता से कर्माधिकार का अतिक्रमण करके ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब द्वितीय या तृतीय भूमिका में मृत, विषयभोग के अन्त में महाराजाओं के कुल में जन्म प्राप्त करनेवाला अथवा विषयभोग के बिना ही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के कुल में जन्म प्राप्त करनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष कर्माधिकार के अतिक्रमणपूर्वक ज्ञान का अधिकारी होकर उसके साधनों का सम्पादन कर उसके फल की प्राप्ति द्वारा संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है -- इसमें कहना ही क्या है ? यही कहते हैं --

[पूर्वकृत यत्न से भी अधिक-अधिक यत्न करनेवाला योगी तो पापरूप मल के धुल जाने पर अनेक जन्मों के संस्कार और पुण्यों से चरम जन्म की प्राप्ति होने पर साधनों का परिपाक होने से परम गति को प्राप्त होता है ॥ 45 ॥]

141 प्रयत्न से अर्थात् पूर्वकृत यत्न से भी अधिक-अधिक यतमान -- यत्न करनेवाला -- अतिशय प्रयत्न करनेवाला पूर्वोपार्जित संस्कारोंवाला योगी तो[79] योगप्रयत्नरूप पुण्य से संशुद्धकिल्बिष = ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के धुल जाने पर अतएव ज्ञान-संस्काराधिक्य से तथा पुण्याधिक्य से अनेक[80] जन्मों में संसिद्ध = संस्कारातिरेक और पुण्यातिरेक से प्राप्त चरम जन्मवाला होकर तत्पश्चात् ज्ञान के साधनों का परिपाक होने से परा -- प्रकृष्ट गति[81] अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है -- यह तात्पर्य है ॥ 45 ॥

142 अब अतिश्रद्धा उत्पन्न करते हुए योग का विधान करने के लिए अर्जुन के प्रति योगी की स्तुति करते हैं --

---

79. कालान्तर में मोक्षफल प्राप्त करनेवाले अल्प प्रयत्नशील योगी से यतमान योगी की विलक्षणता स्पष्ट करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

80. अनेक अर्थात् एक से अधिक । कपिञ्जल-अधिकरण के न्यायानुसार बहुवचन का पर्यवसान तीन संख्या में होता है, अतः 'अनेक' शब्द का अर्थ है -- एक, दो, अथवा तीन ।

81. 'परा-गति' शब्द का अर्थ है -- स्वरूपभूत मोक्षरूप परमावस्था अर्थात् निर्विशेष नित्यशुद्धबुद्धमुक्ताखण्डाद्वय परमानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अचल स्थिति । जब तक प्रारब्धवश देह जीवित रहता है तब तक ब्रह्मविद् योगी उसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर जीवन्मुक्ति का आनन्द-भोग करता है और मृत्यु के पश्चात् विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है -- यही 'परागति' का तात्पर्य है ।

143 तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपः परायणेभ्योऽपि अधिक उत्कृष्टो योगी तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं मनोनाशवासनाक्षयकारी ।

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥ इति श्रुतेः ।

अत एव कर्मिभ्यो दक्षिणासहितज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठायिभ्यश्चाधिको योगी, कर्मिणां तपस्विनां चाज्ञत्वेन मोक्षानर्हत्वात् ।

144 ज्ञानिभ्योऽपि परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि अपरोक्षज्ञानवानधिको मतो योगी । एवमपरोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि मनोनाशवासनाक्षयाभावादजीवन्मुक्तेभ्यो मनोनाशवासनाक्षयवत्त्वेन जीवन्मुक्तो योग्यधिको मतो मम संमतः । यस्मादेवं तस्मादधिकाधिकप्रयत्नबलात्त्वं योगभ्रष्ट इदानीं तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयैर्युगपत्संपादितैर्योगी जीवन्मुक्तो यः स योगी परमो मत इति प्रागुक्तः स तादृशो भव साधनपरिपाकात्, हेऽर्जुनेति शुद्धेति संबोधनार्थः ॥ 46 ॥

[हे अर्जुन ! योगी तपस्वियों से अधिक -- श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी अधिक -- विशेष माना गया है तथा सकाम कर्म करनेवाले कर्मियों से भी योगी अधिक -- श्रेष्ठ है, इसलिए तुम योगी हो जाओ ॥ 46 ॥]

143 योगी अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् मनोनाश और वासनाक्षय करनेवाला पुरुष तपस्वियों से अर्थात् कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपों में लगे हुए पुरुषों से अधिक = उत्कृष्ट है[82] । जैसा कि श्रुति भी कहती है --

"विद्या-ज्ञान के बल से ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी उस पद पर आरूढ़ होते हैं जहाँ समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं । वहाँ न तो दक्षिणगण = धूममार्गी -- कर्मकाण्डी जा सकते है और न अविद्वान् तपस्वी जा सकते हैं ।"

अतएव दक्षिणासहित ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले कर्मियों से योगी अधिक -- श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मी और तपस्वी -- ये दोनों अज्ञ = अविद्वान् होने से मोक्ष के योग्य नहीं होते हैं ।

144 ज्ञानियों अर्थात् परोक्षज्ञानवान् ज्ञानियों से अपरोक्षज्ञानवान् योगी अधिक - विशेष माना गया है । इसी प्रकार मनोनाश और वासनाक्षय के अभाव के कारण अपरोक्षज्ञानवान् अजीवन्मुक्तों से मनोनाश और वासनाक्षयवान् होने के कारण जीवन्मुक्त योगी अधिक-- विशेष माना गया है--ऐसी मेरी सम्मति

82. स्मृति कहती है –

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥' (महाभारत)

अर्थात् मन और इन्द्रियों को एकाग्र कर परमात्मा में निमग्न करना 'परम तपस्या' है, वह सब धर्मों से श्रेष्ठ है, उसको परम धर्म कहा जाता है ।' इसलिए ब्रह्मविद् सम्यग्दर्शी योगी साधारण तपस्वियों से श्रेष्ठ कहा गया है । किञ्च, कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूप तपस्या का फल विशेष-विशेष पाप का नाश होता है (तपसा कल्मषं हन्ति), किन्तु निर्विकल्प समाधि के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान सर्वपापनाशक होता है । आत्मज्ञान होने से भविष्य में और पाप का होना सम्भव नहीं होता है, परन्तु तपस्या के द्वारा अतीत और वर्तमान पापों का नाश किया जा सकता है, भविष्य के पापों को रोका नहीं जा सकता है । तपस्या पुण्यों का सञ्चय कर भविष्य-जन्मों में कर्मफलभोग का हेतु होती है, किन्तु आत्मज्ञान पाप तथा पुण्यरूप सभी कर्मबीजों को नष्टकर जन्म-मृत्युरूप चक्र से मुक्त करता है । इन सब कारणों से भी सम्यग्ज्ञानी योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है ।

145 इदानीं सर्वयोगिश्रेष्ठं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति –

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ 47 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

146 योगिनां वसुरुद्रादित्यादिक्षुद्रदेवताभक्तानां सर्वेषामपि मध्ये मयि भगवति वासुदेवे पुण्यपरिपाकविशेषाद्गतेन प्रीतिवशान्निविष्टेन मद्गतेनान्तरात्मनाऽन्तःकरणेन प्राग्भवीयसंस्कारपाटवात्साधुसङ्गाच्च मद्भजन एव श्रद्धावानतिशयेन श्रद्दधानः सन्भजते सेवते सततं चिन्तयति यो मां नारायणमीश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा मनुष्योऽयमीश्वरान्तरसाधारणोऽयमित्यादिभ्रमं हित्वा स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्तेभ्यः श्रेष्ठो मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतो निश्चितः । समानेऽपि योगाभ्यासक्लेशे समानेऽपि भजनायासे मद्भक्तिशून्येभ्यो मद्भक्तस्यैव श्रेष्ठत्वात्त्वं मद्भक्तः परमो युक्ततमोऽनायासेन भवितुं शक्ष्यसीति भावः ।

147 तदनेनाध्यायेन कर्मयोगस्य बुद्धिशुद्धिहेतोर्मर्यादां दर्शयता ततश्च कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य साङ्गं योगं विवृण्वता मनोनिग्रहोपायं चाऽऽक्षेपनिरासपूर्वकमुपदिशता योगभ्रष्टस्य पुरुषार्थशून्यताशङ्कां

है । क्योंकि ऐसा है, इसलिए योगभ्रष्ट तुम अधिकाधिक प्रयत्न के बल से अब साधनों के परिपाक द्वारा ऐसे बनो जैसे तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का एक-साथ सम्पादन करने से जीवन्मुक्त योगी होता है, वही परम योगी माना गया है -- यह पूर्व में कहा है । 'हे अर्जुन' -- इस संबोधन का अर्थ है -- हे शुद्ध ! ॥ 46 ॥

145 अब समस्त योगियों में श्रेष्ठ योगी को कहते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं --
[समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मेरे में लगे हुए अन्तरात्मा -- अन्तःकरण-चित्त से मुझको निरन्तर भजता है वह युक्ततम है -- ऐसा मेरा मत है ॥ 47 ॥]

146 योगियों में अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य आदि क्षुद्र देवताओं के सब भक्तों में जो मद्गत = विशेष पुण्यपरिपाक से मुझ भगवान् वासुदेव में गत -- लगे हुए अर्थात् प्रीतिवश मुझमें गत -- निविष्ट -- जुडे हुए अन्तरात्मा = अन्तःकरण के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारों की कुशलता और साधुसमागम के कारण मेरे भजन में ही श्रद्धावान् होकर अर्थात् अत्यन्त श्रद्धायुक्त होकर 'यह मनुष्य है, ईश्वर से भिन्न साधारण जीव है' -- इत्यादि भ्रम को त्याग कर मुझ सगुण या निर्गुण नारायण का ही भजन-सेवन अर्थात् निरन्तर चिन्तन करता है, वह मेरा भक्त योगी ही युक्ततम अर्थात् समस्त समाहितचित्त योगयुक्त पुरुषों में श्रेष्ठ है -- ऐसा मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर का मत अर्थात् निश्चय है । योगाभ्यास का क्लेश समान होने पर भी, भजन का आयास-श्रम समान होने पर भी मेरी भक्ति से शून्य पुरुषों में मेरा भक्त ही श्रेष्ठ है, इसलिए मेरे परम भक्त तुम अनायास ही युक्ततम हो सकते हो -- यह भाव है ।

147 इसप्रकार इस अध्याय से बुद्धि की शुद्धि के हेतुभूत कर्मयोग की मर्यादा दिखाते हुए, तत्पश्चात् जिसने सर्वकर्मसंन्यास = सर्वकर्मत्याग किया है उसके लिए साङ्ग योग का विवरण करते हुए तथा

च शिथिलयता कर्मकाण्डं त्वंपदार्थनिरूपणं च समापितम् । अतः परं श्रद्धावान्भजते यो मामिति सूचितं भक्तियोगं भजनीयं च भगवन्तं वासुदेवं तत्पदार्थं निरूपयितुमग्रिममध्यायषट्कमारभ्यत इति शिवम् ॥ 47 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्याय ॥ 6 ॥

शंकासमाधानपूर्वक मनोनिग्रह के उपाय का उपदेश करते हुए और योगभ्रष्ट की पुरुषार्थशून्यतासम्बन्धी शङ्का को शिथिल करते हुए भगवान् ने कर्मकाण्ड और 'त्वम्' पदार्थ के निरूपण को समाप्त किया है । इससे आगे 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' -- इस वाक्य से सूचित भक्तियोग और भजनीय भगवान् वासुदेव 'तत्' पदार्थ का निरूपण करने के लिए आगे के छः अध्यायों का आरम्भ किया जाता है । इति शिवम् ॥ 47 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का आत्मसंयमयोग नामक षष्ठ अध्याय समाप्त होता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता

समीक्षात्मकभूमिका-प्रतिभाख्यहिन्दीभाष्यानुवाद-विमर्शाख्यत्याख्यात्मकटिप्पणी-

विविद्यानुक्रमणिकायुता

द्वितीयभाग

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ. मदनमोहन अग्रवाल

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली
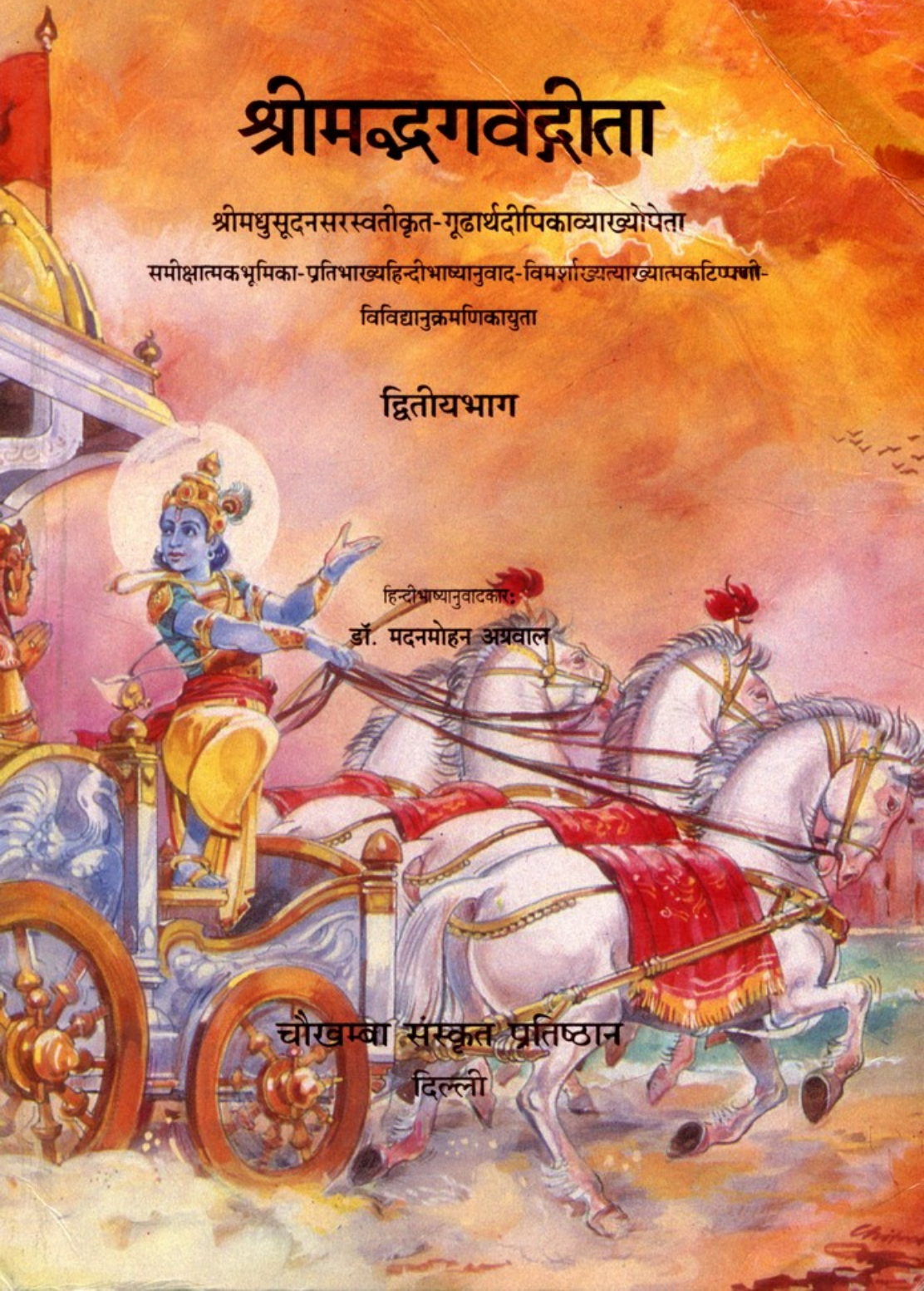
अथ सप्तमोऽध्यायः

1 यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥

2 एवं कर्मसंन्यासात्मकसाधनप्रधानेन प्रथमषट्केन ज्ञेयं त्वंपदलक्ष्यं सयोगं व्याख्यायाधुना ध्येयब्रह्मप्रतिपादनप्रधानेन मध्यमेन षट्केन तत्पदार्थो व्याख्यातव्यः । तत्रापि –

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥'

इति प्रागुक्तस्य भगवद्भजनस्य व्याख्यानाय सप्तमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र कीदृशं भगवतो रूपं भजनीयं कथं वा तद्गतोऽन्तरात्मा स्यादित्येतद्द्वयं प्रष्टव्यमर्जुनेनापृष्टमपि परमकारुणिकतया स्वयमेव विवक्षुः--

श्रीभगवानुवाच

**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ 1 ॥**

3 मयि परमेश्वरे सकलजगदायतनत्वादिविविधविभूतिभागिनि आसक्तं विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य तव स त्वम् । अत एव मदाश्रयो मदेकशरणः, राजाश्रयो भार्याद्यासक्तमनाश्च

---

1 जिसकी भक्ति के विना मुक्ति नहीं होती, जो सब योगियों का परम सेव्य-आराध्य है उस परमानन्दघन श्रीनन्दनन्दन-श्रीकृष्णचन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ ।

2 इसप्रकार कर्मसंन्यासरूप साधनप्रधान पथम छः अध्यायों से 'त्वम्' पदलक्ष्य ज्ञेय-जीव की योगसहित व्याख्या कर अब ध्येय ब्रह्मनिरूपणप्रधान मध्यम छः अध्यायों से 'तत्' पदार्थ व्याख्येय है । उसमें भी--

''समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् पुरुष मद्गत-- मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा=अन्तःकरण-चित्त से मुझको भजता है उसको मैं युक्ततम मानता हूँ'' (गीता, 6.47) ।

इस श्लोक से प्रागुक्त भगवद्-भजन के व्याख्यान के लिए सप्तम अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें, भगवान् का कैसा स्वरूप भजनीय -- भजन करने के योग्य है और किस प्रकार अन्तरात्मा = चित्त तद्गत होगा अर्थात् उसमें लगेगा -- इन दो प्रष्टव्यों को, अर्जुन के न पूछने पर भी, भगवान् ने परमकारुणिकता से स्वयं ही बताने की इच्छा से कहना प्रारम्भ किया ।

[श्रीभगवान् बोले -- हे पार्थ ! मुझमें आसक्तचित्त और मेरे ही आश्रय-आश्रित रहनेवाले तुम योग का अभ्यास करते हुए जिसप्रकार मुझको निःसन्देहरूप से पूर्णतया जान सकोगे वह सुनो ॥ 1 ॥]

3 मुझ में = सकल जगत् का आश्रयत्व आदि विविध विभूतिसम्पन्न परमेश्वर में आसक्त = अन्य समस्त विषयों के परित्यागपूर्वक सर्वदा निविष्ट -- अवस्थित है मन जिसका अर्थात् तुम्हारा वह तुम इसी से मदाश्रय = मदेकशरण हो अर्थात् एकमात्र मेरी ही शरण में स्थित हो । यद्यपि लोक में राजसेवक राजा के आश्रय-आश्रित और अपनी भार्या आदि में आसक्त मन होता है, -- यह प्रसिद्ध है, किन्तु मुमुक्षु मदाश्रय -- मेरे ही आश्रित और मदासक्तमना --- मुझमें ही आसक्त चित्त होता

राजभृत्यः प्रसिद्धो मुमुक्षुस्तु मदाश्रयो मदासक्तमनाश्च, त्वं त्वद्विधो वा योगं युञ्जन्मनः-- समाधानं षष्ठोक्तप्रकारेण कुर्वन्, असंशयं यथा भवत्येवं समग्रं सर्वविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिसंपन्नं मां यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि तच्छृणूच्यमानं मया ॥ 1 ॥

4 **ज्ञास्यसीत्युक्ते परोक्षमेव तज्ज्ञानं स्यादिति शङ्कां व्यावर्तयन्स्तौति श्रोतुरभिमुख्याय –**

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ 2 ॥

5 **इदं मद्विषयं स्वतोऽपरोक्षज्ञानम् । असंभावनादिप्रतिबन्धेन फलमजनयत्परोक्षमित्युपचर्यते असंभावनादिनिरासे तु विचारपरिपाकान्ते तेनैव प्रमाणेन जनितं ज्ञानं प्रतिबन्धाभावात्फलं जनय-**

है[1] । अतएव तुम अथवा तुम्हारे समान कोई दूसरा मुमुक्षु योग का अभ्यास अर्थात् षष्ठ अध्याय में उक्त प्रकार से मन को समाहित करते हुए जिसप्रकार असंशय -- संशयशून्य होकर[2] समग्र[3] अर्थात् समस्त विभूति[4], बल[5], शक्ति[6], ऐश्वर्य[7] आदि[8] से सम्पन्न मुझको जान सकोगे वह मेरे द्वारा कहा जा रहा है उसको सुनो ॥ 1 ॥

4 'ज्ञास्यसि' = 'जान सकोगे' -- ऐसा कहने से तो वह परमेश्वरज्ञान परोक्ष ही होगा, -- इस शंका का निवारण करते हुए श्रोता को अपने अभिमुख करने के लिए उस परमेश्वरज्ञान की स्तुति करते हैं --

[मैं तुमको यह विज्ञानसहित मद्विषयक ज्ञान अशेषतः -- निःशेषरूप से -- सम्पूर्णरूप से कहूँगा, जिसको जानकर इस लोक में फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है ॥ 2 ॥]

5 इदम् = यह मद्विषयक स्वतः अपरोक्ष ज्ञान ज्ञानोत्पत्ति के असंभावना आदि प्रतिवन्धक के कारण फल को उत्पन्न नहीं करता है, अतः यह अपरोक्ष-प्रत्यक्ष भी उपचार से 'परोक्ष' के समान ही कहा जाता है । असंभावना आदि प्रतिबन्धक का निरास होने पर तो उसी विचार का परिपाक होने के अनन्तर उसी प्रमाण से जनित-उत्पन्न ज्ञान प्रतिबन्धक का अभाव होने से फल को उत्पन्न करता

1. अभिप्राय यह है कि यदि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का प्रयोजन सिद्ध करती है तो उसी वस्तु का वह आश्रय ग्रहण करती है, जैसे कोई व्यक्ति यदि स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की कामना करता है तो वह उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधनरूप में अग्निहोत्रादि, तप, दान प्रभृति कर्म का आश्रय ग्रहण करता है, किन्तु मुमुक्षु दूसरी कोई कामना न रहने से अन्य समस्त साधनों का परित्याग कर मात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है । किन्तु किसी का आश्रय ग्रहण कर लेने से ही उसमें उसका मन भी आसक्त होगा – यह आवश्यक नहीं है, जैसे राजसेवक राजा का आश्रय ग्रहण करता है किन्तु उसकी आसक्ति अपनी स्त्रीपुत्रादि में होती है, परन्तु मुमुक्षु मदाश्रय होने के साथ मदासक्तमना भी होगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है ।

2. आत्मा से अतिरिक्त और कोई ईश्वर है या नहीं, -- इस प्रकार की शंका होने पर पातञ्जल और कापिल मत में ईश्वर है, अथवा नैयायिक और मीमांसकों के मत में ईश्वर नहीं है – ऐसा जो मतभेद देखा जाता है उसके द्वारा बुद्धि विचलित होने से जगत् के यथार्थ कारण के ज्ञान के अभाव से जो संशय उत्पन्न होता है उस संशय को विवेकबल से उन्मूलित कर – समग्र मुझको जान सकोगे (द्रष्टव्य-नीलकण्ठी टीका) ।

3. 'समग्र' शब्द का तात्पर्य है – 'मेरे सगुण और निर्गुण भाव को सम्पूर्णरूप से' -- जान सकोगे ।

4. विभूति -- नानाप्रकार की ऐश्वर्यमय साधन सम्पत्ति ।

5. बल -- शरीरगत सामर्थ्य ।

6. शक्ति – मनोगत प्रागल्भ्य ।

7. ऐश्वर्य = ईशन – शासन करने की सामर्थ्य ।

8. 'आदि' शब्द से इच्छा, ज्ञान आदि को भी ग्रहण किया जा रहा है (आनन्दगिरि टीका) ।

दपरोक्षमित्युच्यते । विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वाच्च तदेव विज्ञानं, तेन विज्ञानेन सहितमिदमपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं परमाप्तो वक्ष्याम्यशेषतः साधनफलादिसहितत्वेन निरवशेषं कथयिष्यामि । श्रौतीमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामनुसरन्नाह -- यज्ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्येह व्यवहारभूमौ भूयः पुनरपि अन्यत्किंचिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते। सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्रपरिशेषात्तन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ 2 ॥

हुआ 'अपरोक्ष' कहा जाता है; और विचार के परिपाक से निष्पन्न होने के कारण वही 'विज्ञान' भी है । मैं = परम आप्त -- यथार्थवक्ता उसी विज्ञान के सहित यह शास्त्रजन्य अपरोक्ष ही ज्ञान[9] तुमको अशेषत: = साधन, फल आदि सहित नि:शेषरूप से -- सम्पूर्णरूप से कहूँगा । श्रौती = श्रुतिसिद्ध 'एकविज्ञान से सर्वविज्ञान' की प्रतिज्ञा का अनुसरण करते हुए कहते हैं -- जिस नित्य, चैतन्यरूप ज्ञान को जानकर = वेदान्तवाक्यजन्य मनोवृत्ति का विषय कर इह = यहाँ अर्थात् व्यवहारभूमि में फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है[10] । अभिप्राय यह है कि सर्वाधिष्ठान सन्मात्र ज्ञान से सम्पूर्ण कल्पित वस्तुओं का बाध हो जाने पर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रह जाने के कारण उस सर्वाधिष्ठान सन्मात्र ज्ञान से ही तुम कृतार्थ होओगे ॥ 2 ॥

9. 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त महावाक्यों के विचार से जन्य अर्थात् शास्त्रजन्य ब्रह्म और आत्मा का ऐक्यरूप ज्ञान 'अपरोक्ष ज्ञान' – यथार्थज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति कहलाता है । अब प्रश्न है -- ज्ञान दो प्रकार होता है – अनुभूति और स्मृति । अनुभूति प्रमाणसापेक्ष है । प्रमाण मदभेद से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ: अथवा उससे भी अधिक होते हैं । वेदान्त के अनुसार प्रमाण छ: हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । सभी के मतों में मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से 'अपरोक्ष ज्ञान' की उत्पत्ति होती है और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से जो अनुभूति होती है उसको 'परोक्षज्ञान' कहा जाता है । 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान, अथवा, प्रकृत श्लोक में भगवद्वचनजन्य ज्ञान तो केवल शाब्दिक ज्ञान ही है, वह ज्ञान जब परोक्ष अथवा अपरोक्ष-प्रत्यक्ष नहीं है तब उस शब्द-ज्ञान से अपरोक्षज्ञान – अपरोक्षानुभूति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर है -- शब्द से अपरोक्षज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है । जैसे – दश व्यक्ति एकसाथ एक नदी को तैरकर जब नदी के दूसरे तट पर पहुँचे तब वे परस्पर देखने लगे कि सभी व्यक्ति निरापद पहुँचे हैं या नहीं । प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक्रूप से परस्पर सभी को गिनने लगे और प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को छोड़कर गिनने लगे तो हर बार गिनने पर नौ व्यक्ति ही होते थे । तब सभी सोचने लगे की दशम-दशवाँ व्यक्ति नदी में डूब गया है । ऐसा समझकर वे सभी रोने लगे । उसी समय किसी पथिक ने उन व्यक्तियों को शोकार्त्त देखकर पुन: गिनने के लिए कहा । उन्होंने गिनने के बाद पुन: पूर्ववत् ही कहा कि नौ ही व्यक्ति हैं, दशम-दशवाँ व्यक्ति नहीं है । तब उस आगन्तुक ने स्वयं गिनकर प्रत्येक को तर्जनी से निर्देशकर कहा – 'दशमस्त्वमसि' = 'तुम दशम व्यक्ति हो' । इसप्रकार जो अपरोक्ष-प्रत्यक्ष भ्रम के कारण वे व्यक्ति इतनी देर तक शोक कर रहे थे वह शोक निवृत्त हुआ तथा 'दशमस्त्वमसि' – इस शब्द के श्रवणमात्र से ही 'मैं वह दशम व्यक्ति हूँ' – यह अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हुआ और पूर्व अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति हुई । अत: शब्द से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है – यह प्रत्यक्षसिद्ध है । अपरोक्ष वस्तु यदि ज्ञान का विषय है तब वह ज्ञान भी अपरोक्ष होगा । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य, अथवा भगवद्वचन का विषय प्रत्यक् चैतन्य = 'अहम्' पद लक्ष्य, नित्य, चैतन्यरूप आत्मा है, और 'अहं-ज्ञान' प्रत्येक के समीप सर्वदा अपरोक्ष है । अत: वेदान्तवाक्यजन्यज्ञान शब्दज्ञान होने पर भी उसका विषय प्रत्यक्-चैतन्यरूप अपरोक्षवस्तु, आत्मा होने के कारण अपरोक्षज्ञान ही है । जब वेदान्तवाक्य के श्रवण से सभी को अपरोक्षज्ञान नहीं होता है तब वहाँ ज्ञानोत्पत्ति के असंभावना आदि प्रतिबन्धक उपस्थित रहते हैं, इसलिए वह 'अपरोक्षज्ञान' उत्पन्न नहीं होता है और अपरोक्ष भी उपचार से 'परोक्ष' के समान कहा जाता है । असंभावना आदि प्रतिबन्धक का निरास होने पर तो 'अपरोक्षज्ञान ' ही होता है ।

10. यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने श्लोकस्थ 'यत्' शब्द से दो बार परामर्श किया है – 'इदं मद्विषयं विज्ञानेन सहितमपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं वक्ष्यामि' = 'मैं तुमको यह मद्विषयक ज्ञान = विज्ञान के सहित

6 **अतिदुर्लभं चैतन्मदनुग्रहमन्तरेण महाफलं ज्ञानम् । यतः –**

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ 3 ॥

7 **मनुष्याणां शास्त्रीयज्ञानकर्मयोग्यानां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेकोऽनेकजन्मकृतसुकृतसमासादितनित्यानित्यवस्तुविवेकः सन्यतति यतते सिद्धये सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये । यततां यतमानानां ज्ञानाय सिद्धानां प्रागर्जितसुकृतानां साधकानामपि मध्ये कश्चिदेकः श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकान्ते मामीश्वरं वेत्ति साक्षात्करोति तत्त्वतः प्रत्यगभेदेन तत्त्वमसीत्यादिगुरूपदिष्टमहावाक्येभ्यः । अनेकेषु मनुष्येष्वात्मज्ञानसाधनानुष्ठायी परमदुर्लभः, साधनानुष्ठायिष्वपि मध्ये फलभागी परमदुर्लभ इति किं वक्तव्यमस्य ज्ञानस्य माहात्म्यमित्यभिप्रायः ॥ 3 ॥**

6 यह महाफलदायक ज्ञान मेरे अनुग्रह के बिना प्राप्त होना असंभव है, अतएव अतिदुर्लभ है । कारण कि -- [हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई एक मुझको तत्त्वतः जानता है ॥ 3 ॥]

7 शास्त्रीय-ज्ञान और कर्मयोग के योग्य सहस्र-सहस्र[11] मनुष्यों[12] के मध्य में कोई एक अनेक जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों से सम्प्राप्त नित्यानित्यवस्तुविवेकवाला होकर सिद्धि के लिए यत्न करता है अर्थात् सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिए यत्न करता है । तथा ज्ञान के लिए यत्न करनेवाले सिद्धों के = पूर्वोपार्जित सुकृतोंवाले साधकों के मध्य में भी कोई एक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक के पश्चात् मुझ ईश्वर को तत्त्वतः[13] जानता है अर्थात् गुरूपदिष्ट 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से प्रत्यक्-चैतन्य से अभिन्न मेरा साक्षात्कार करता है । अभिप्राय यह है कि अनेक मनुष्यों में आत्मज्ञान के साधनों का अनुष्ठान करनेवाला ही परमदुर्लभ है तथा उन साधनों का अनुष्ठान करनेवालों में भी उसके फल को प्राप्त करनेवाला तो और भी परमदुर्लभ है -- इस प्रकार इस ज्ञान के माहात्म्य का क्या वर्णन किया जाय ? ॥ 3 ॥

शास्त्रजन्य अपरोक्ष ही ज्ञान कहूँगा'; 'यज्ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्येति' = 'जिस नित्य, चैतन्यरूप ज्ञान को जानकर = वेदान्तवाक्यजन्य मनोवृत्ति का विषय कर' फिर और कुछ भी जानने के योग्य शेष नहीं रहता है । इनमें भाष्योत्कर्षदीपिकाकार के अनुसार द्वितीय अर्थात् 'यज्ज्ञानं–' इत्यादि उपेक्षणीय है, क्योंकि श्लोकस्थ 'यत्' शब्द से जब पूर्व में 'विज्ञानेन सहितमपरोक्षमेव ज्ञानम्' का परामर्श कर दिया गया है, तो फिर 'नित्यचैतन्यरूपं ज्ञानम्' का परामर्श कैसे होगा ? अर्थात् द्वितीय बार परामर्श नहीं हो सकता है । यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यहाँ मधुसूदन सरस्वती का उद्देश्य 'यत्' शब्द से दो बार परामर्श करना नहीं है, अपितु यह स्पष्ट करना है कि जो मद्विषयक – भगवद्विषयक ज्ञान है वही नित्य, चैतन्यपरक ज्ञान ही है । इसप्रकार यद्यपि तात्पर्य में विशेष भेद नहीं हैं फिर भी शाब्द अर्थ में तो भेद है ।

11. सहस्र = यह शब्द हजार, दश हजार, लाख का उपलक्षण है, क्योंकि जिसका केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होना संभव है, वह मुमुक्षा अत्यन्त दुर्लभ है ।

12. यहाँ 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए है कि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव-प्राणी को बन्ध और मोक्ष का ज्ञान नहीं रहता है तथा मनुष्य का ही शास्त्रविहित कर्म के अनुष्ठान में और वेदान्त के महावाक्यादि के श्रवणादि में अधिकार है ।

13. 'तत्त्वतः' शब्द से सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के तत्त्वज्ञान का निर्देश किया गया है, क्योंकि निरुपाधिक शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं । श्रुति भी कहती है – 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति' -- (तैत्तिरीय उपनिषद्) = 'जब यह साधक दृश्यत्वरहित, शरीररहित, वाणी के अविषय, निराधार =

8 **एवं प्ररोचनेन श्रोतारमभिमुखीकृत्याऽऽत्मनः सर्वात्मकत्वेन परिपूर्णत्वमवतारयन्नादावपरां प्रकृतिमुपन्यस्यति –**

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ 4 ॥

9 **सांख्यैर्हि पञ्च तन्मात्राण्यहंकारो महानव्यक्तमित्यष्टौ प्रकृतयः पञ्च महाभूतानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि उभयसाधारणं मनश्चेति षोडश विकारा उच्यन्ते । एतान्येव चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि । तत्र भूमिरापोऽनलो वायुः खमिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यपञ्चमहाभूतसूक्ष्मावस्थारूपाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दात्मकानि पञ्चतन्मात्राणि लक्ष्यन्ते । बुद्ध्यहंकारशब्दौ तु स्वार्थविव । मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते प्रकृतिशब्दसामानाधिकरण्येन स्वार्थहानेरावश्यकत्वात् ।**

10 **मनःशब्देन वा स्वकारणमहंकारो लक्ष्यते पञ्चतन्मात्रसंनिकर्षात् । बुद्धिशब्दस्त्वहंकारकारणे महत्तत्त्वे मुख्यवृत्तिरेव । अहंकारशब्देन च सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तं लक्ष्यते प्रवर्तकत्वा-**

8 इस प्रकार प्ररोचन -- प्रलोभन से श्रोता -- अर्जुन को आत्मज्ञान की ओर अभिमुख कर सर्वात्मकता के कारण आत्मा की परिपूर्णता का अवतरण करते हुए सर्वप्रथम अपरा प्रकृति का वर्णन करते हैं -- [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार -- इसप्रकार यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥ 4 ॥]

9 सांख्य -- विद्वान् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- पाँच तन्मात्राएँ, तथा अहंकार, महान्-महत् और अव्यक्त -- इन आठ को 'प्रकृतियाँ'; पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश -- पाँच महाभूत, वाक्-पाणि आदि -- पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रोत्र, त्वचा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय -- इन दोनों में साधारण-समानरूप से रहनेवाला मन -- इन सोलह को 'विकार' कहते हैं । ये ही सांख्यमतानुसार चौबीस तत्त्व हैं । प्रकृत श्लोक में 'भूमिरापोऽनलो वायुः खमिति' = 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश' -- इत्यादि से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशसंज्ञक पाँच महाभूतों की सूक्ष्मावस्थारूप गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दात्मक पाँच तन्मात्राएँ लक्षित हैं । 'बुद्धि' और 'अहंकार' -- ये दोनों शब्द तो स्वार्थपर ही हैं अर्थात् बुद्धिपरक और अहंकारपरक हैं । तथा 'मन' शब्द से परिशिष्ट अव्यक्त लक्षित होता है[14], क्योंकि 'प्रकृति' शब्द से सामानाधिकरण्य होने के कारण इसके अपने अर्थ की हानि -- स्वार्थहानि अर्थात् स्वार्थत्याग होना आवश्यक ही है ।

10 अथवा, 'मन' शब्द से स्वकारण = उसका कारण अहंकार लक्षित होता है, क्योंकि पाँच तन्मात्राओं के समीप है । 'बुद्धि' शब्द तो अहंकार के कारण महत्तत्त्व में मुख्यवृत्ति से ही अर्थवान् है । तथा

स्वयंप्रकाश अर्थात् माया और उसके कार्य के साथ लेशमात्र सम्बन्धशून्य; नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अद्वितीय, अभय परब्रह्म का अपनी आत्मा से अभिन्नरूप से साक्षात्कार कर उसमें ही स्थिति प्राप्त करता है तब वह अभय हो जाता है अर्थात् सर्वसंसाररूप भय से मुक्त हो जाता है' ।

14. आचार्य धनपति के अनुसार मधुसूदन सरस्वती का यह व्याख्यान कि 'बुद्ध्यहंकारशब्दौ तु स्वार्थविव, मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते' = 'बुद्धि और अहंकार शब्द तो स्वार्थपर ही हैं, तथा 'मन' शब्द से परिशिष्ट अव्यक्त लक्षित होता है' – अरुचिग्रस्त है, क्योंकि प्रकृति-विकृति के क्रम में भङ्ग हो जाता है । प्रकृति-विकृति का क्रम है -- प्रकृति -- महत् -- अहंकार, जबकि प्रकृत व्याख्यान में क्रम होगा – प्रकृति – अहंकार – बुद्धि (महत्) । (भाष्योत्कर्षदीपिका)

यसाधारणधर्मयोगाच्च । इति उक्तप्रकारेणेयमपरोक्षा साक्षिभास्यत्वात्प्रकृतिर्मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिरनिर्वचनीयस्वभावा त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽष्टभिः प्रकारैर्भेदमागता । सर्वोऽपि जडवर्गोऽत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः । स्वसिद्धान्ते चेक्षणसंकल्पात्मकौ मायापरिणामावेव बुद्ध्यहंकारौ । पञ्चतन्मात्राणि चापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीत्यसकृदवोचाम ॥ 4 ॥

11 एवं क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरपरत्वं वदन्क्षेत्रज्ञलक्षणां परां प्रकृतिमाह –

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ 5 ॥

12 या प्रागष्टधोक्ता प्रकृतिः सर्वाचेतनवर्गरूपा सेयमपरा निकृष्टा जडत्वात्परार्थत्वात्संसारबन्धरूपत्वाच्च । इतस्त्वचेतनवर्गरूपायाः क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां, तुशब्दाद्यथाकथंचिदप्यभेदायोग्यां जीवभूतां चेतनात्मिकां क्षेत्रज्ञलक्षणां मे ममाऽऽत्मभूतां विशुद्धां परां प्रकृष्टां प्रकृतिं विद्धि हे महाबाहो, यया क्षेत्रज्ञलक्षणया जीवभूतयाऽन्तरनुप्रविष्टया प्रकृत्येदं जगदचेतनजातं धार्यते स्वतो विशीर्य उत्तम्भ्यते "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः । न हि जीवरहितं धारयितुं शक्यमित्यभिप्रायः ॥ 5 ॥

'अहंकार' शब्द से समस्त वासनाओं से वासित अविद्यात्मक अव्यक्त लक्षित होता है, क्योंकि उसका प्रवर्तकत्वादि असाधारण धर्मों से योग -- सम्बन्ध है । इसप्रकार उक्तरीति से साक्षीभाष्य होने के कारण यह अपरोक्षा प्रकृति -- 'माया' नाम की परमेश्वर की अनिर्वचनीय स्वभाववाली त्रिगुणात्मिका शक्ति अष्टधा भिन्न अर्थात् आठ प्रकार से भेद को प्राप्त हुई है । अर्थ यह है कि सम्पूर्ण जड़वर्ग भी इसी में अन्तर्भूत होता है । अपने सिद्धान्त में तो ईक्षण और संकल्परूप माया के परिणाम ही बुद्धि और अहंकार हैं तथा पाँच तन्मात्राएँ अपञ्चीकृत पाँच महाभूत हैं -- यह अनेक बार हम कह चुके हैं ॥ 4 ॥

11 इसप्रकार क्षेत्ररूपा प्रकृति की अपरता बतलाते हुए क्षेत्रज्ञरूपा परा प्रकृति को कहते हैं --
[हे महाबाहो ! यह पूर्वोक्त अष्टधा विभक्त मेरी प्रकृति अपरा -- निकृष्टा है, इससे भिन्न जो जीवभूता प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, उसको मेरी परा प्रकृति जानो ॥ 5 ॥]

12 पूर्वोक्त आठ प्रकार की जो प्रकृति है, वह सम्पूर्ण अचेतन-जडवर्गरूपा है, अतएव अपरा= निकृष्टा-निम्न कोटि की है; क्योंकि वह जड़, परार्थ=चेतनोपभोगार्थ और संसार की बन्धनरूपा है, अतएव निकृष्टा है । इस अचेतनवर्गरूपा क्षेत्रलक्षणा प्रकृति से अन्य-भिन्न=विलक्षण अर्थात् अपरा प्रकृति से अभेद के अयोग्य जीवभूता चेतनात्मिका क्षेत्रज्ञलक्षणा मेरी आत्मभूता-स्वरूपभूता विशुद्ध परा-प्रकृष्ट प्रकृति को तुम **जिस किसी भी** प्रकार जानो । 'तु' शब्द से अपरा प्रकृति से परा प्रकृति की विलक्षणता सूचित की गई है । हे महाबाहो[15] ! जिस क्षेत्रज्ञलक्षणा, जीवभूता और सर्वान्तरप्रविष्ट प्रकृति से यह सम्पूर्ण अचेतनजात जगत् धारण किया जाता है अर्थात् जगत् स्वतः विशीर्ण-ध्वस्त होने के लिए उन्मुख रहता है किन्तु क्षेत्रज्ञरूप प्रकृति के प्रभाव से ही अवस्थित रहता है । श्रुति भी कहती है -- 'इस जीवरूप आत्मा के द्वारा अर्थात् मायाकल्पित अपने अंश के द्वारा मैं सभी में अनुप्रविष्ट

15. यहाँ भगवान् अर्जुन के लिए 'जीवरूप प्रकृति से अर्थात् 'मैं जीव हूँ' – इस भाव से अपने को मुक्त कर ब्रह्म के साथ ऐक्य लाभ करके संसारगति से उद्धार होने की शक्ति तुममें है' – ऐसा आश्वासन देने के लिए 'महाबाहो !' कह कर सम्बोधन कर रहे हैं

13 **उक्तप्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन्स्वस्य तद्द्वारा जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं दर्शयति –**

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ 6 ॥

14 **एते अपरत्वेन परत्वेन च प्रागुक्ते क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिर्येषां तान्येतद्योनीनि भूतानि भवनधर्मकाणि सर्वाणि चेतनाचेतनात्मकानि जनिमन्ति निखिलानीत्येवमुपधारय जानीहि । कार्याणां चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्वात्तत्कारणमपि चिदचिद्ग्रन्थिरूपमनुमिन्वित्यर्थः । एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे ममोपाधिभूते यतः प्रकृती भवतस्ततस्तद्द्वाराऽहं सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽनन्तशक्तिमायोपाधिः**

होकर नाम तथा रूप को व्याकृत करता हूँ' (छान्दोग्योपनिषद् 6.3.2) । अभिप्राय यह है कि जीवरहित अर्थात् बिना जीव के जड़ पदार्थ को धारण नहीं किया जा सकता है ॥ 5 ॥

13 उक्त अपरा और परा-- दोनों प्रकार की प्रकृतियों के विषय में कार्यलिङ्गक-- कार्यहेतुक अनुमान को प्रमाणित करते हुए उसके द्वारा अपनी जगत् की सृष्टि आदि की कारणता को दिखलाते हैं--

[हे अर्जुन ! तुम यह जानो कि इस द्विविधा प्रकृति से ही सम्पूर्ण भूत योनिवाले-- उत्पत्तिरूप धर्मवाले हैं अर्थात् सम्पूर्ण भूत की उत्पत्ति इन दोनों प्रकृतियों से ही हुई है । ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी उपाधि हैं, इनके द्वारा मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ ॥ 6 ॥

14 अपरा और परारूप से पूर्व में कही हुई ये क्षेत्ररूपा और क्षेत्रज्ञरूपा-- दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ योनि-- कारण हैं जिनकी वे ये सम्पूर्ण भूत योनिवाले हैं अर्थात् उत्पत्तिरूप धर्मवाले हैं अर्थात् समस्त चेतन और अचेतनरूप पदार्थ जनि-उत्पत्तिमान् हैं -- ऐसा तुम जानो । भाव यह है कि कार्य चिदचिद्ग्रन्थिरूप हैं, इसलिए उनके कारण के विषय में भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप होने का अनुमान करो[16] । इसप्रकार ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप प्रकृतियाँ क्योंकि मेरी उपाधिभूत होती हैं, इसलिए उनके द्वारा मैं सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तशक्ति, मायोपाधिक परमात्मा ही सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् के-- सम्पूर्ण कार्यवर्ग के प्रभव[17]-- उत्पत्ति का कारण तथा प्रलय[18] -- विनाश का कारण हूँ अर्थात् माया का आश्रय और विषय होने के कारण स्वाप्निक-प्रपञ्च के समान इस मायिक प्रपञ्च का मैं मायावी ही उपादान कारण और द्रष्टा अर्थात् निमित्त कारण हूँ[19] ॥ 6 ॥

---

16. प्रकृतिद्वय के विषय में कार्यलिङ्गक अनुमान इस प्रकार भी हो सकता है –
'भूतानि चेतनाचेतनपरापरप्रकृतिकानि; सर्वेषां भूतानां चेतनाचेतनरूपत्वात्; यथा – मृन्मयो घटो मृत्प्रकृतिक इति' = 'सम्पूर्ण भूत चेतनाचेतन -- परापर प्रकृतिक हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भूत चेतनाचेतनरूप हैं, जैसे मृन्मय घट मृत्प्रकृतिक होता है' । इसप्रकार सम्पूर्ण भूत-कार्य के चेतनाचेतनरूप होने से चेतनाचेतनरूप परा और अपरा – दोनों प्रकृतियों का उनके कारण होने का अनुमान सिद्ध होता है ।

17. प्रभव = 'प्रभवति अस्मादिति प्रभवः' अर्थात् इससे उत्पत्ति होती है, अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रभव' शब्द का अर्थ उपादान कारण है (शंकरानन्दी टीका) । श्रीधर स्वामी के अनुसार 'प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभवः -- परं कारणमहमित्यर्थः' = 'प्रकृष्टरूप से जिससे उत्पन्न होता है उसको प्रभव = परम कारण कहा जाता है अर्थात् 'मैं' ही वह परम कारण है' ।

18. प्रलय = 'प्रलीयते निष्पाद्यतेऽनेनेति प्रलयः निमित्तकारणम्' अर्थात् जिसके द्वारा कार्य निष्पन्न होता है उसको प्रलय = निमित्तकारण कहा जाता है ।

19. शास्त्र में परा प्रकृति को पुरुष = जीव, अपरा प्रकृति को प्रकृति और परमात्मा को परम पुरुष कहा गया है । पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि होती है । इसीलिए प्रकृत श्लोक में कहा गया

कृत्स्नस्य चराचरात्मकस्य जगतः सर्वस्य कार्यवर्गस्य प्रभव उत्पत्तिकारणं प्रलयस्तथा विनाशकारणम् । स्वाप्निकस्येव प्रपञ्चस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां मायाव्यहमेवोपादानं द्रष्टा चेत्यर्थः ॥ 6 ॥

15 **यस्मादहमेव मायया सर्वस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गहेतुस्तस्मात्परमार्थतः --**

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ 7 ॥

16 **निखिलदृश्याकारपरिणतमायाधिष्ठानात्सर्वभासकान्मत्तः सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वानुस्यूतात्स्वप्रकाशपरमानन्दचैतन्यघनात्परमार्थसत्यात्स्वप्नदृश इव स्वाप्निकं मायाविन इव मायिकं शुक्तिशकलावच्छिन्नचैतन्यादिवत्तदज्ञानकल्पितं रजतं परतरं परमार्थसत्यमन्यत्किंचिदपि नास्ति हे धनंजय । मयि कल्पितं परमार्थतो न मत्तो भिद्यत इत्यर्थः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० 2.1.14) इति न्यायात् । व्यवहारदृष्ट्या तु मयि सद्रूपे स्फुरणरूपे च सर्वमिदं जडजातं**

15 क्योंकि माया से मैं ही सम्पूर्ण जगत् के जन्म, स्थिति और भङ्ग-नाश का हेतु हूँ, इसलिए परमार्थत :-- [हे धनंजय ! मेरे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु परतर = परमार्थसत्य नहीं है । जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोयी रहती हैं उसी प्रकार मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् ओतप्रोत है ॥ 7 ॥]

16 हे धनञ्जय ! = हे अर्जुन ! जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा से अतिरिक्त स्वाप्निक पदार्थ, मायावी से अतिरिक्त मायिक पदार्थ और शुक्तिशकलावच्छिन्न चैतन्य से अतिरिक्त उसके अज्ञान द्वारा कल्पित रजत परतर -- परमार्थसत्य नहीं हैं; उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य के आकार में परिणत माया के अधिष्ठान, सर्वभासक मुझ से = सद्रूप और स्फुरणरूप से सर्वानुस्यूत, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, चैतन्यघन, परमार्थ सत्य -- सन्मात्र से अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु परतर -- परमार्थ सत्य नहीं है । भाव यह है कि मुझमें कल्पित कोई भी पदार्थ परमार्थतः मुझसे भिन्न नहीं है, जैसा कि 'तदनंन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्रह्मसूत्र, 2.1.14) = "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छान्दोग्योपनिषद् 6.1.5) -- 'नाम वाग् से जन्य विकार हैं, और कुछ भी नहीं हैं, अतः मिथ्या है । उनका जो कारण है वही मात्र सत्य है' -- इसप्रकार श्रुति-वाक्य से तद्-तयोः अर्थात् कार्य -- जगत् प्रपञ्च की कारण -- परमात्मा से अनन्यता -- अभिन्नता कही गई है" -- इस सूत्र में कहे हुए न्याय से भी सिद्ध होता है । व्यवहार-

है -- 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी प्रतीयमान होता है उन सबका योनि -- कारण -- उपादानकारण परा और अपरा -- ये दोनों प्रकृतियाँ हैं । जिस उपादान कारण से जिस पदार्थ की सृष्टि होती है उस पदार्थ का लय भी उसी उपादान कारण में ही होता है । जैसे -- मृत्तिका -- उपादान कारण से घट की उत्पत्ति होती है, पुनः घट का नाश होने वह घट मृत्तिका में ही विलय हो जाता है । ये दोनों प्रकृतियाँ स्वतंत्ररूप से सृष्टि अथवा प्रलय का कारण नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों ही मायिक हैं । माया मायावी को आश्रय करके ही कार्य कर सकती है, अतः प्रपञ्च का परमात्मा निमित्तकारण है । जैसे स्वप्नद्रष्टा कल्पनाशक्ति से स्वाप्निक भोक्ता और भोग्य दृश्य की उत्पत्ति का कारण होता है और स्वप्न के समाप्त होने पर जैसे भोक्ता और भोग्य -- सभी स्वाप्निक पदार्थ स्वप्न-द्रष्टा में ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही साक्षी, केवल, निर्गुण परमात्मा माया को उपाधि कर परा -- जीव और अपरा -- प्रकृति के रूप से विभक्त होकर उनके संयोग से जगत् प्रपञ्च की सृष्टि कर स्वयं ही उनकी उत्पत्ति और प्रलय का कारण होता है । माया से सृष्ट सभी पदार्थ मिथ्या हैं -- अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है । अतः परा प्रकृति, अपरा प्रकृति, उनके संयोग से सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि और प्रलय इत्यादि जो कुछ प्रतीत होते हैं वे उनकी अधिष्ठान सत्ता -- परमात्मा से भिन्न और कुछ भी नहीं है अर्थात् परमात्मा ही माया का आश्रय और विषय होकर उन सकल रूप से प्रतीत होता है । परमात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण अर्थात् परम कारण -- मूल कारण है -- यह प्रकृत श्लोक का भाव है ।

प्रोतं ग्रथितं मत्सत्तया सदिव मत्स्फुरणेन च स्फुरदिव व्यवहाराय मायामयाय कल्पते । सर्वस्
चैतन्यग्रथितत्वमात्रे दृष्टान्तः – सूत्रे मणिगणा इवेति । अथवा सूत्रे तैजसात्मनि हिरण्यग
स्वप्नदृशि स्वप्नप्रोता मणिगणा इवेति सर्वांशे दृष्टान्तो व्याख्येयः ।

17 अन्ये तु "परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" (ब्र० सू० 3.2.31) इतिसूत्रोक्त
पूर्वपक्षस्योत्तरत्वेन श्लोकमिमं व्याचक्षते । मत्तः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः सर्वकारणात्परतरं प्रशस्यत
सर्वस्य जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणमन्यन्नास्ति हे धनंजय ! यस्मादेवं तस्मान्मयि
सर्वकारणे सर्वमिदं कार्यजातं प्रोतं ग्रथितं नान्यत्र । सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमा
न तु कारणत्वे । कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः ॥ 7 ॥

18 अबादीनां रसादिषु प्रोतत्वप्रतीतेः कथं त्वयि सर्वमिदं प्रोतमिति च न शङ्क्यं रसादिरूपेण ममै
स्थितत्वादित्याह पञ्चभिः –

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ 8 ॥

दृष्टि से तो सद्रूप और स्फुरणरूप मुझमें प्रोत -- ग्रथित यह सम्पूर्ण जडजात -- जडसमूह मेरी सत्ता से सत्तावान् और मेरे ही स्फुरण से स्फुरणवान् -- प्रकाशवान् के समान मायामय व्यवहार के लिए कल्पित होता है । सम्पूर्ण जगत् के चैतन्य में ग्रथित होने मात्र में दृष्टान्त है -- 'सूत्रे मणिगण इव' = 'जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोयी रहती हैं उसी प्रकार चैतन्य में सम्पूर्ण जगत् ग्रथित है' । अथवा, सूत्र अर्थात् स्वप्न के द्रष्टा-साक्षी, तैजसरूप हिरण्यगर्भ में स्वप्नावस्था में प्रोत-अनुस्यूत मणियों के समान - - -, इसप्रकार सर्वांश में इस दृष्टान्त की व्याख्या की जा सकती है ।

17 कोई अन्य विद्वान् इस श्लोक की व्याख्या 'परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः' (ब्रह्म, 3.2.31) = 'इस ब्रह्म से पर -- भिन्न अन्य तत्त्व भी अस्तित्व के योग्य है, क्योंकि सेतु के व्यपदेश, उन्मान के व्यपदेश, सम्बन्ध के व्यपदेश और भेद के व्यपदेश से परवस्तु की सिद्धि होती है । सेतु का व्यपदेश है-- 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छान्दोग्योपनिषद्, 8.4.1.) = 'यह अमृतत्व आदि लक्षणवाला आत्मा सेतु के समान विधारण कर्ता है ' । उन्मान का व्यपदेश है -- 'तदेतद् ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमिति' = 'यह ब्रह्म चतुष्पाद, अष्टाशफ, षोडशकल इत्यादि परिमाणवाला है' । सम्बन्ध का व्यपदेश है -- 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.8.1) - 'हे सोम्य ! सुषुप्ति में जीवात्मा सत् ब्रह्म के साथ सम्पन्न होता है' । इसी प्रकार भेद का व्यपदेश भी है -- 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छान्दोग्योपनिषद्, 1.6.6.) = 'यह जो आदित्य के अन्दर हिरण्मय -- ज्योतिर्मय पुरुष दीखता है' ।'-- इस सूत्र में कहे हुए पूर्वपक्ष के उत्तररूप से करते हैं । मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सर्वकारण से परतर--प्रशस्यतर--श्रेष्ठतर सम्पूर्ण जगत् के सृष्टि और संहार का अन्य कोई स्वतंत्र कारण नहीं है । हे धनञ्जय ! क्योंकि ऐसा है, इसलिए सर्वकारणभूत मुझमें ही सम्पूर्ण कार्यजात प्रोत -- ग्रथित है, अन्यत्र नहीं अर्थात् किसी अन्य में ग्रथित नहीं है । 'सूत्रे मणिगणा इव' – यह दृष्टान्त तो मात्र उसके ग्रथित होने में है, कारणत्व में नहीं है; क्योंकि सूत्र मणियों का कारण नहीं है, अतः तद्भिन्न है ।'कनके कुण्डलादिवत्' -- यह योग्य दृष्टान्त है, क्योंकि कुण्डलादि का कारण और आश्रय दोनों ही कनक-स्वर्ण है ।। 7 ।।

18 यदि तुम शङ्का करते हो कि 'जलादि तो रसादि में प्रोत होते प्रतीत होते हैं, आपमें कैसे यह सब प्रोत हो सकते हैं ?, -- तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जलादि में रसादिरूप से मैं ही स्थित हूँ -- यह 'रसोऽहम्' इत्यादि पाँच श्लोकों से भगवान् कहते हैं --

19 रसः पुण्यो मधुरस्तन्मात्ररूपः सर्वासामपां सारः कारणभूतो योऽप्सु सर्वास्वनुगतः सोऽहं हे कौन्तेय ! तद्रूपे मयि सर्वा आपः प्रोता इत्यर्थः । एवं सर्वेषु पर्यायेषु व्याख्यातव्यम् । इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यत इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । तथा प्रभा प्रकाशः शशिसूर्ययोरहमस्मि । प्रकाशसामान्यरूपे मयि शशिसूर्यौ प्रोतावित्यर्थः । तथा प्रणव ओंकारः सर्ववेदेष्वनुस्यूतोऽहं "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्" इति श्रुतेः । संतृण्णानि ग्रथितानि । सर्वा वाक्सर्वो वेद इत्यर्थः । शब्दः पुण्यस्तन्मात्ररूपः ख आकाशेऽनुस्यूतोऽहम् । पौरुषं पुरुषत्वसामान्यं नृषु पुरुषेषु यदनुस्यूतं तदहम् । सामान्यरूपे मयि सर्वे विशेषाः प्रोताः श्रौतैर्दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरिति सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ 8 ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ 9 ॥

20 पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिवीसामान्यरूपस्तन्मात्राख्यः पृथिव्यामनुस्यूतोऽहम् । चकारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां हि स्वभावत एव पुण्यत्वमविकृतत्वं प्राणिनामधर्मविशेषात्तु तेषामपुण्यत्वं न तु स्वभावत इति द्रष्टव्यम् । तथा विभावसावग्नौ यत्तेजः

[हे कौन्तेय ! जलों में मैं रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव-ओंकार हूँ, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ ॥ 8 ॥]

19 हे कौन्तेय ! = हे कुन्तिनन्दन ! समस्त जलों का सार, उनका कारणभूत जो तन्मात्ररूप, पुण्य-पवित्र और मधुर रस सम्पूर्ण जलों में अनुगत -- अनुस्यूत है वह मैं हूँ अर्थात् तद्रूप -- रसरूप मुझमें ही सब जल प्रोत हैं । इसी प्रकार सब पर्याय-शब्दों में व्याख्या कर लेनी चाहिए । इस विभूति का केवल ध्यान के लिए उपदेश किया जाता है, इसलिए इसमें विशेष अभिनिवेश -- आग्रह नहीं करना चाहिए । अध्यास से भी विभूतिफलक उपासना होती है । उसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य में मैं प्रभा अर्थात् प्रकाश हूँ अर्थात् प्रकाशसामान्यरूप मुझमें चन्द्रमा और सूर्य -- दोनों प्रोत -- अनुस्यूत हैं । इसी प्रकार मैं सम्पूर्ण वेदों में अनुस्यूत प्रणव -- ओंकार हूँ; जैसा कि श्रुति कहती है -- 'जिस प्रकार सम्पूर्ण पर्ण-पत्ते शङ्कु -- कील-तीक्ष्णधार से व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार समस्त वाणी ओंकार से व्याप्त है' । श्रुति में उक्त 'संतृण्णानि' शब्द का अर्थ है 'ग्रथितानि' = 'जिसप्रकार सम्पूर्ण पर्ण शङ्कु से ग्रथित हैं' । उसी प्रकार समस्त वाक् अर्थात् सम्पूर्ण वेद ओंकार से ग्रथित हैं । ख = आकाश में अनुस्यूत पुण्य तन्मात्ररूप शब्द भी मैं हूँ । तथा नरों में अर्थात् पुरुषों में अनुस्यूत जो पौरुष -- पुरुषत्वसामान्य है वह भी मैं हूँ । सामान्यरूप मुझमें ही समस्त विशेष प्रोत-अनुस्यूत हैं -- ऐसा दुन्दुभि आदि श्रौत दृष्टान्तों से सर्वत्र समझना चाहिए ॥ 8 ॥

[पृथिवी में जो पुण्य -- पवित्र गन्ध है वह मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, समस्त प्राणियों में उनका जीवन मैं हूँ तथा तपस्वियों में तप भी मैं हूँ ॥ 9 ॥]

20 पुण्य = सुरभि अर्थात् अविकृत -- विकारशून्य गन्ध, जो सम्पूर्ण पृथ्वी में सामान्यरूप से स्थित तन्मात्रसंज्ञक है और समस्त पृथ्वी में अनुस्यूत है, मैं हूँ । श्लोकस्थ 'च'कार रसादि के साथ भी पुण्यत्व का समुच्चय करने के लिए है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में स्वभावतः पुण्यत्व -- अविकृतत्व ही है, प्राणियों के अधर्मविशेष के कारण ही उनमें अपुण्यत्व आ जाता है, वह स्वभावतः

सर्वदहनप्रकाशनसामर्थ्यरूपमुष्णस्पर्शसहितं सितभास्वरं रूपं पुण्यं तदहमस्मि । चकाराद्यो वायौ पुण्य उष्णस्पर्शातुराणामाप्यायकः शीतस्पर्शः सोऽप्यहमिति द्रष्टव्यम् ।

21 **सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमस्मि, तद्रूपे मयि सर्वे प्राणिनः प्रोता इत्यर्थः । तपस्विषु नित्यं तपोयुक्तेषु वानप्रस्थादिषु यत्तपः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वंद्वसहनसामर्थ्यरूपं तदहमस्मि, तद्रूपे मयि तपस्विनः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावात् । तपश्चेति चकारेण चित्तैकाग्र्यमान्तरं जिह्वोपस्थादिनिग्रहलक्षणं बाह्यं च सर्वं तपः समुच्चीयते ॥ 9 ॥**

22 **सर्वाणि भूतानि स्वस्वबीजेषु प्रोतानि न तु त्वयीति चेन्नेत्याह –**

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ 10 ॥

23 **यत्सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानामेकं बीजं कारणं सनातनं नित्यं बीजान्तरानपेक्षं न तु प्रतिव्यक्तिभिन्नमनित्यं वा तदव्याकृताख्यं सर्वबीजं मामेव विद्धि न तु मद्भिन्नं हे पार्थ । अतो युक्तमेकस्मिन्नेव मयि सर्वबीजे प्रोतत्वं सर्वेषामित्यर्थः । किं च बुद्धिस्तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यं**

नहीं है -- ऐसा समझना चाहिए । उसी प्रकार विभावसु -- अग्नि में जो सब वस्तुओं के दहन और प्रकाशन में सामर्थ्यरूप, उष्णस्पर्शसहित, सित - शुक्ल, भास्वररूप पुण्य तेज है वह मैं हूँ । 'च'कार से यहाँ यह समझना चाहिए कि वायु में जो उष्णस्पर्श से आतुर पुरुषों का आप्यायक -- आनन्ददायक पुण्य शीत स्पर्श है वह भी मैं ही हूँ ।

21 समस्त भूतों में अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन = प्राणधारण अर्थात् आयु मैं हूँ । भाव यह है कि तद्रूप -- जीवनरूप मुझमें सब प्राणी प्रोत -- अनुस्यूत हैं । तपस्वियों में अर्थात् नित्य तपःपरायण वानप्रस्थ आदि में जो शीत -- उष्ण, क्षुधा -- पिपासा आदि द्वन्द्वों को सहन करने का सामर्थ्यरूप तप है, वह भी मैं हूँ अर्थात् तद्रूप -- तपरूप मुझमें ही तपस्वी अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषण का अभाव रहने पर विशिष्ट का अभाव रहता है । 'तपश्च' -- इसमें 'च'कार से चित्त की एकाग्रतारूप आन्तर और जिह्वा -- उपस्थादि इन्द्रियों का निग्रहरूप बाह्य -- सभी प्रकार के तपों का समुच्चय किया गया है ॥ 9 ॥

22 यदि कहो कि 'समस्त भूत तो अपने-अपने बीजों में अनुस्यूत हैं, आपमें अनुस्यूत नहीं है' -- तो भगवान् कहते हैं, नहीं --

[पार्थ ! तुम मुझको समस्त भूतों का सनातन बीज-कारण जानो । मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ और तेजस्वियों का तेज हूँ ॥ 10 ॥]

23 हे पार्थ ! स्थावर-जङ्गम समस्त भूतों का जो एक सनातन -- नित्य अर्थात् बीजान्तर की अपेक्षा से रहित, न कि प्रतिव्यक्ति का भिन्न-भिन्न बीजान्तर की अपेक्षासहित अथवा अनित्य, बीज -- कारण है वह अव्याकृतसंज्ञक सबका बीज-कारण तुम मुझको ही जानो, न कि मुझसे भिन्न उसको समझो । अतः सब के बीज एकमात्र मुझमें सबका अनुस्यूत होना उचित ही है -- यह अर्थ है । इसके अतिरिक्त, बुद्धि अर्थात् तत्त्वातत्त्वविवेक का सामर्थ्य भी इसप्रकार के बुद्धिमानों का मैं ही हूँ, अर्थात् बुद्धिरूप मुझमें ही समस्त बुद्धिमान् अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषण के अभाव में विशिष्ट का अभाव पहले ही कहा जा चुका है । इसी तेज -- प्रागल्भ्य -- दूसरों का पराभव करने का सामर्थ्य और दूसरों से पराभूत

तादृशबुद्धिमतामहमस्मि, बुद्धिरूपे मयि बुद्धिमन्तः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावस्योक्तत्वात् । तथा तेजः प्रागल्भ्यं पराभिभवसामर्थ्यं परैश्चानभिभाव्यत्वं तेजस्विनां तथाविधप्रागल्भ्ययुक्तानां यत्तदहमस्मि, तेजोरूपे मयि तेजस्विनः प्रोता इत्यर्थः ॥ 10 ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ 11 ॥

24 **अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि प्राप्यतामित्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः कामः, प्राप्तो विषयः क्षयकारणे सत्यपि न क्षीयतामित्येवमाकारश्चित्तवृत्तिविशेषो रञ्जनात्मा रागस्ताभ्यां विशेषेण वर्जितं सर्वथा तदकारणं रजस्तमोविरहितं यत्स्वधर्मानुष्ठानाय देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं सात्त्विकं बलं बलवतां तादृशसात्त्विकबलयुक्तानां संसारपराङ्मुखानां तदहमस्मि, तद्रूपे मयि बलवन्तः प्रोता इत्यर्थः । चशब्दस्तुशब्दार्थो भिन्नक्रमः, कामरागविवर्जितमेव बलं मद्रूपत्वेन ध्येयं न तु संसारिणां कामरागकारणं बलमित्यर्थः ।**

25 **क्रोधार्थो वा रागशब्दो व्याख्येयः । धर्मो धर्मशास्त्रं तेनाविरुद्धोऽप्रतिषिद्धो धर्मानुकूलो वा यो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रानुमतजायापुत्रवित्तादिविषयोऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ । शास्त्राविरुद्धकामभूते मयि तथाविधकामयुक्तानां भूतानां प्रोतत्वमित्यर्थः ॥ 11 ॥**

26 **किमेवं परिगणनेन—**

न होना -- यह जो तेजस्वियों अर्थात् तथाविध प्रागल्भ्य से युक्त पुरुषों का गुण है वह मैं हूँ, अर्थात् तेजरूप मुझमें समस्त तेजस्वी अनुस्यूत हैं ॥ 10 ॥

[हे भरतर्षभ ! मैं बलवानों का काम और राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में जो धर्म से अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल काम है वह मैं हूँ ॥ 11 ॥]

24 'अप्राप्त विषय, प्राप्ति के कारण का अभाव रहने पर भी, प्राप्त हो जाय' -- ऐसी जो चित्त की वृत्तिविशेष है वह 'काम' है, तथा 'प्राप्त विषय, क्षय का कारण रहते हुए भी, क्षीण न हो' -- ऐसी चित्तवृत्तिविशेष रञ्जनस्वरूप होने से 'राग' है -- उन दोनों से विवर्जित = विशेषरूप से वर्जित अर्थात् सर्वथा उक्त प्रकार के काम और राग की उत्पत्ति का अकारण -- अहेतु[20], तथाविध रजोगुण और तमोगुण से विरहित जो स्वधर्म का अनुष्ठान-आचरण करने के लिए देह, इन्द्रिय आदि को धारण करने का सामर्थ्यरूप सात्त्विक बल बलवानों में अर्थात् उस प्रकार के सात्त्विक बल से युक्त और संसार से पराङ्मुख पुरुषों में पाया जाता है वह मैं हूँ, अर्थात् तद्रूप -- उस प्रकार के बलरूप मुझमें समस्त बलवान् अनुस्यूत हैं । श्लोक में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में व्यवहृत हुआ है तथा इसका क्रम भी भिन्न है । अर्थ यह है कि काम और राग से विवर्जित बल ही मेरे रूप से ध्यान करने के योग्य है, न कि संसारियों के काम और राग का कारण बल ।

25 अथवा, 'राग' शब्द की व्याख्या क्रोध के अर्थ में करनी चाहिए । धर्म अर्थात् धर्मशास्त्र उससे अविरुद्ध -- अप्रतिषिद्ध, अथवा धर्मानुकूल जो भूतों में -- प्राणियों में काम अर्थात् शास्त्रानुगत -- शास्त्रसम्मत जाया, पुत्र, धन आदि विषयक अभिलाषा है वह मैं हूँ । अर्थ यह है कि हे भरतर्षभ ! शास्त्र से अविरुद्ध कामभूत मुझमें तथाविध कामयुक्त प्राणी अनुस्यूत हैं ॥ 11 ॥

26 इसप्रकार गणना करने से क्या लाभ है ? अर्थात् व्यर्थ ही है, क्योंकि, --

---

20. अर्थात् जो सर्वथा उक्त प्रकार के काम और राग की उत्पत्ति का हेतु नहीं होता है ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ 12 ॥

27 **ये चान्येऽपि भावाश्चित्तपरिणामाः सात्त्विकाः शमदमादयः । ये च राजसा हर्षदर्पादयः । ये चे तामसाः शोकमोहादयः प्राणिनामविद्याकर्मादिवशाज्जायन्ते तान्मत्त एव जायमानान् इति अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव इत्याद्युक्तप्रकारेण विद्धि समस्तानेव । अथवा सात्त्विका राजसास्तामसाश्च भावाः सर्वेऽपि जडवर्गा व्याख्येया विशेषहेत्वभावात् । एवकारश्च समस्तावधारणार्थः । एवमपि न त्वहं तेषु, मत्तो जातत्वेऽपि तद्वशस्तद्विकाररूषितो रज्जुखण्ड इव कल्पितसर्पविकाररूषितोऽहं न भवामि संसारीव । ते तु भावा मयि रज्वामिव सर्पादयः कल्पिता मदधीनसत्तास्फूर्तिका मदधीना इत्यर्थः ॥ 12 ॥**

28 **तव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्ये नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वे च सति कुतो जगतस्त्वदात्मकस्य संसारित्वम् । एवंविधमत्स्वरूपापरिज्ञानादिति चेत्, तदेव कुत इत्यत आह–**

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ 13 ॥

29 **एभिः प्रागुक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैर्भावैः सर्वैरपि भवनधर्मभिः सर्वमिदं**

[जो भी सात्त्विक भाव हैं और जो राजस तथा तामस भाव हैं वे सब मुझसे ही हैं -- ऐसा उन सबको तुम जानो । मैं तो उनमें नहीं हूँ, वे ही मुझमें हैं ॥ 12 ॥]

27 जो अन्य भी शम, दम आदि सात्त्विक भाव अर्थात् चित्त के परिणाम हैं और जो हर्ष, दर्प आदि राजस तथा शोक, मोह आदि तामस भाव प्राणियों के अविद्या, कर्म आदि के कारण उत्पन्न होते हैं वे सब 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (गीता, 7.6) = 'मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का स्थान हूँ' -- इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं -- ऐसा उन सभी को तुम जानो । अथवा, सात्त्विक, राजस और तामस भावों से सम्पूर्ण जडवर्ग ही अर्थ समझना चाहिए, क्योंकि इनका शम-दमादि अर्थ करने में कोई विशेष हेतु नहीं है । 'एव' शब्द भी इन सबका एकसाथ ही निश्चय करने के लिए है । इस प्रकार भी मैं उनमें नहीं हूँ । यद्यपि वे मुझसे ही उत्पन्न हैं फिर भी मैं संसारी व्यक्तियों के समान उनके वश में नहीं हूँ, उनके विकार से रूषित-लिप्त नहीं हूँ, जैसे रज्जुखण्ड कल्पितसर्प के विकार से लिप्त नहीं होता है । किन्तु वे भाव ही मुझमें हैं = रज्जु में सर्पादि के समान मुझमें कल्पित हैं, मेरे अधीन अपनी सत्ता और स्फूर्तिवाले हैं अर्थात् मेरे अधीन हैं ॥ 12 ॥

28 यदि आप परमेश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अतएव स्वतंत्र हैं तो आपही के स्वरूपभूत जगत् में संसारित्व कैसे होता है ? इसके उत्तर में यदि आप कहते हैं कि इसप्रकार के मत्स्वरूप = भगवद्स्वरूप का ज्ञान न होने से संसारित्व होता है, तो पुनः प्रश्न है कि ऐसा भी क्यों होता है ? इसका उत्तर भगवान् कहते हैं --

[इन त्रिगुणमय भावों से मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत् इनसे पर-भिन्न इनके अधिष्ठानभूत और अव्यय -- अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ 13 ॥]

29 इन प्रागुक्त तीन प्रकार के गुणमय अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण के विकाररूप भावों से = सम्पूर्ण

जगत्प्राणिजातं मोहितं विवेकायोग्यत्वमापादितं सदेभ्यो गुणमयेभ्यो भावेभ्यः परमेषां कल्पनाधिष्ठानमत्यन्तविलक्षणमव्ययं सर्वविक्रियाशून्यमप्रपञ्चमानन्दघनमात्मप्रकाशमव्यवहितमपि मां नाभिजानाति । ततश्च स्वरूपापरिचयात्संसरतीवेत्यहो दौर्भाग्यमविवेकिजनस्येत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ 13 ॥

30 **ननु यथोक्तानादिसिद्धमायागुणत्रयबद्धस्य जगतः स्वातन्त्र्याभावेन तत्परिवर्जनासामर्थ्यान्न कदाचिदपि मायातिक्रमः स्याद्वस्तुविवेकासामर्थ्यहेतोः सदातनत्वादित्याशङ्क्य भगवदेकशरणतया तत्त्वज्ञानद्वारेण मायातिक्रमः संभवतीत्याह--**

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ 14 ॥

31 **दैवी, "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे०, उ०, 6.11) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिते स्वतोद्योतनवति देवे स्वप्रकाशचैतन्यानन्दे निर्विभागे तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पिता "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" (सं० शारी० 1.319) इत्युक्तेः । एषा साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्हा । हिशब्दाद्भ्रमोपादानत्वादर्थापत्तिसिद्धा च । गुणमयी सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका । त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेन बन्धनहेतुः, मम मायाविनः परमेश्वरस्य सर्वजगत्कारणस्य सर्वज्ञस्य सर्व-**

उत्पत्तिधर्मवाले पदार्थों से यह समस्त जगत् -- प्राणीसमूह मोहित हुआ अर्थात् विवेक की अयोग्यता को प्राप्त हुआ इन गुणमय भावों से पर-भिन्न इनकी कल्पना के अधिष्ठान, अत्यन्त विलक्षण और अव्यय -- सब विकारों से शून्य -- अप्रपञ्च-प्रपञ्चरहित, आनन्दघन, आत्मप्रकाश-स्वयंप्रकाश, अव्यवहित भी मुझको नहीं जानता है । इसी से स्वरूप का परिचय न होने के कारण यह संसरण सा करता है, संसारी सा हो जाता है, जन्म-मरण को प्राप्त होता-सा जान पड़ता है । अहो ! अविवेकी जनों का कैसा दुर्भाग्य है -- इसप्रकार भगवान् उनके प्रति अपनी दया दिखलाते हैं ॥ 13 ॥

30 यदि यथोक्त अनादि सिद्ध माया के तीन गुणों से बद्ध यह जगत् स्वतंत्र नहीं है, तो उन गुणों को छोड़ने का सामर्थ्य न होने से कभी भी माया का अतिक्रमण नहीं होगा । यदि आप कहते हैं कि वस्तुविवेक के सामर्थ्य से माया का अतिक्रमण हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक के असामर्थ्य की हेतु माया सदातन-सनातन अर्थात् अक्षुण्णरूप से विद्यमान रहती है -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् कहते हैं कि यह ठीक है -- माया सदातनी है, किन्तु भगवान् की एकमात्र शरण ग्रहण करके तत्त्वज्ञानद्वारा माया का अतिक्रमण होना संभव है --

[मेरी यह गुणमयी -- त्रिगुणात्मिका दैवी माया -- योगमाया दुरत्यया अर्थात् कठिनाई से पार करने के योग्य है; किन्तु जो पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं ॥ 14 ॥]

31 दैवी = 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.11) = 'एक अद्वितीय देव अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा समस्त प्राणियों में गूढ़ -- अविद्याच्छन्न अर्थात् माया से गुप्त -- छिपा हुआ है' -- इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित स्वतः द्योतनवान् -- द्युतिमान् देव को = जो स्वयंप्रकाश, चैतन्य, आनन्दस्वरूप और निर्विभाग -- अखण्ड है उसको आश्रय और विषय कर यह माया कल्पित होती है अतएव 'दैवी' है । ऐसी ही संक्षेपशारीरक की उक्ति है -- 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (संक्षेपशारीरक, 1.319) = 'केवल निर्विभाग -- अखण्ड -- अविभक्त चिति ही अज्ञान का

शक्तेः स्वभूता स्वाधीनत्वेन जगत्सृष्ट्यादिनिर्वाहिका, माया तत्त्वप्रतिभासप्रतिबन्धेनातत्त्वप्रतिभासहेतुरावरणविक्षेपशक्तिद्वयवत्यविद्या सर्वप्रपञ्चप्रकृतिः "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उ०,4.19) इति श्रुतेः ।

आश्रय और विषय होती है' । 'एषा'[21] = 'यह' माया साक्षिचैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण अपलाप--अभाव के योग्य नहीं है,[22] और 'हि'[23] शब्द से 'भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति से भी माया सिद्ध है'[24] – यह सूचित किया गया है । यह गुणमयी अर्थात् सत्त्व, रज और तम रूप त्रिगुणात्मिका है । त्रिगुण रज्जु के समान अत्यन्त दृढ़ होने के कारण बन्धन की हेतु है । मम = मेरी = सम्पूर्ण जगत् के कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति मुझ मायावी परमेश्वर की स्वभूता, स्वाधीन होने से जगत् की सृष्टि आदि की निर्वाहिका माया = तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध कर अतत्त्वज्ञान का हेतु, आवरण और विक्षेपरूप शक्तिद्वयवती अविद्या सम्पूर्ण प्रपञ्च की प्रकृति-कारण है, जैसा कि श्रुति से सिद्ध है -- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.19) = 'माया को तो प्रकृति -- कारण जानो और मायावी को महेश्वर' -- इत्यादि ।

---

21. 'एषा' = 'यह' – शब्द प्रत्यक्ष वस्तु को ही लक्ष्य करके कहा जाता है, अत: 'एषा' – शब्द से 'माया' प्रत्यक्षसिद्ध है' -- यह सूचित किया गया है ।

22. अन्त:करणोपहित चैतन्य 'साक्षी' है, अथवा, अविद्या वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य 'साक्षी' है (साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम् – अद्वैतसिद्धि, 1.59) । अविद्या साक्षिवेद्य ही है, शुद्ध चैतन्य से अविद्या प्रकाशित नहीं मानी जाती है, कारण कि शुद्ध चैतन्य को 'साक्षी' नहीं माना जाता है । अविद्या – अज्ञान की सिद्धि तीन प्रकार के साक्षिप्रत्यक्षों से होती है – (1) 'अहमज्ञ:' = 'मैं अज्ञ हूँ' – यह आत्माश्रित होने के कारण 'सामान्य-प्रत्यक्ष' है, तथा 'मामन्यं न जानामि' = 'मैं मुझको और अन्य को नहीं जानता हूँ' – यह भी आत्मविषयक होने के कारण अन्यविषयक अज्ञान का साधक 'सामान्य-प्रत्यक्ष' है । (2) 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' = 'मैं त्वदुक्त अर्थ को नहीं जानता हूँ' – यह विषयविशेषित अज्ञान का साधक 'विशेष-प्रत्यक्ष' है, तथा (3) 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' = 'मैं इतनी देर तक सुख से सोया, किन्तु मैंने कुछ नहीं जाना' – इस प्रकार के जाग्रत्कालीन स्मरण के बल पर सिद्ध सुषुप्तिकालीन साक्षी प्रत्यक्ष भी अज्ञान की सिद्धि करता है । इस प्रकार त्रिविध साक्षिप्रत्यक्ष भावरूप अज्ञान में प्रमाण है । साक्षिप्रत्यक्ष वस्तु के प्रमा – ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा उससे अवगत शुक्ति-रजतादि में अबाधितत्व प्रसक्त होगा । अत: 'अज्ञाने साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणम्' – का यहाँ इतना ही अर्थ विवक्षित है कि अज्ञान के असत्त्वापादन को निवृत्त कर साक्षि-प्रत्यक्ष उसकी सत्ता सिद्ध करता है (विशेष द्रष्टव्य – अद्वैतसिद्धि, 1.55) ।

23. 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ और निश्चयार्थ में व्यवहृत होता है, अत: 'हि' शब्द से 'माया निश्चयरूप से प्रमाणसिद्ध है' -- यह कहा गया है ।

24. भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम् = 'भ्रमोपादानत्व' अज्ञान का लक्षण है । जैसे शुक्ति में 'यह रजत है' – ऐसा ज्ञान होता है । इस भ्रम का उपादान कारण शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान है, क्योंकि यह भ्रम तब तक रहता है जब तक कि 'इयं शुक्ति:' = 'यह शुक्ति है' – इस अधिष्ठान ज्ञान से उस भ्रम की निवृत्ति होती है – यह अनुभवसिद्ध है । यदि कहें कि 'जन्माद्यस्य यत:', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' – इत्यादि स्थल पर जगत् का उपादान कारण ब्रह्म कहा गया है; अत: भ्रमोपादानत्व ब्रह्म ही है, अज्ञान नहीं; फलत: उक्त अज्ञानलक्षण में अतिव्याप्ति-दोष है; तो इसका समाधान यह है कि यह अज्ञान का लक्षण 'विश्वभ्रम का उपादान कारण माया या अज्ञान है और उसका विषयीभूत ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है'– इस सिद्धान्त के अनुसार कहा गया है । 'केवल ब्रह्म अथवा ब्रह्मसहित अविद्या जगत् का उपादान कारण है'– इस मत के अनुसार उक्त लक्षण नहीं किया गया है, अत: ब्रह्म में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है । फलत: 'भ्रमोपादानत्व'– अज्ञान का निर्दुष्ट लक्षण है। इस लक्षण के आधार पर 'भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' प्रमाण से माया की सिद्धि होती है । कारण कि भ्रम सोपादान है, भ्रम में सोपादानत्व अज्ञान के बिना हो नहीं सकता है, अत: सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति माया के सद्भाव में प्रमाण है ।

32 अत्रैवं प्रक्रिया -- जीवेश्वरजगद्विभागशून्ये शुद्धे चैतन्येऽध्यस्ताऽनादिरविद्या सत्त्वप्राधान्येन स्वच्छ-दर्पण इव मुखाभासं चिदाभासमागृह्णाति । ततश्च बिम्बस्थानीयः परमेश्वर उपाधिदोषाना-स्कन्दितः प्रतिबिम्बस्थानीयश्च जीव उपाधिदोषास्कन्दितः । ईश्वराच्च जीवभोगा-याऽऽकाशादिक्रमेण शरीरेन्द्रियसंघातस्तद्भोग्यश्च कृत्स्नः प्रपञ्चो जायत इति कल्पना भवति । बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखवच्चेशजीवानुगतं मायोपाधि चैतन्यं साक्षीति कल्प्यते । तेनैव च स्वाध्यस्ता माया तत्कार्यं च कृत्स्नं प्रकाश्यते । अतः साक्ष्यभिप्रायेण दैवीति बिम्बेश्वराभिप्रायेण तु ममेति भगवतोक्तम् । यद्यप्यविद्याप्रतिबिम्ब एक एव जीवस्तथाऽप्यविद्यागता-नामन्तःकरणसंस्काराणां भिन्नत्वात्तद्भेदेनान्तःकरणोपाधेस्तस्यात्र भेदव्यपदेशो 'मामेव ये प्रपद्यन्ते, दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते, चतुर्विधा भजन्ते माम्', इत्यादिः । श्रुतौ च 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० उ० 1.4.10) इत्यादिः ।

33 अन्तःकरणोपाधिभेदापर्यालोचने तु जीवत्वप्रयोजकोपाधेरेकत्वादेकत्वेनैवात्र व्यपदेशः 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु', 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादिः । श्रुतौ च 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्', (बृ० उ० 1.4.10) । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० 6.12), 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य', (छा० उ० 6.3.2) --

---

32 यहाँ ऐसी प्रक्रिया है -- जीव, ईश्वर और जगत् के विभाग से शून्य, शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त अनादि अविद्या सत्त्वगुण की प्रधानता होने से स्वच्छदर्पण में मुखाभास -- मुखप्रतिबिम्ब के समान चिदाभास -- चित्प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है । उसी से, बिम्बस्थानीय परमेश्वर उपाधिदोष से अनास्कन्दित -- अलिप्त और प्रतिबिम्बस्थानीय जीव उपाधिदोष से आस्कन्दित -- लिप्त होता है । ईश्वर से जीव के भोग के लिए आकाशादि क्रम से शरीर और इन्द्रियों का संघात तथा उसका भोग्य सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है -- ऐसी कल्पना होती है । बिम्बप्रतिबिम्बरूप मुख में जैसे मुख अनुगत है वैसे ही ईश्वर और जीव में अनुगत मायोपाधिक चैतन्य साक्षी है -- यह कल्पना की जाती है । उसी के द्वारा अपने में अध्यस्त माया और उसका सम्पूर्ण कार्य प्रकाशित होता है । इसी से भगवान् ने साक्षी के अभिप्राय से माया को 'दैवी' और बिम्बभूत ईश्वर के अभिप्राय से 'मम' = 'मेरी' कहा है । यद्यपि अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव एक ही है, तथापि अविद्यागत अन्तःकरण के संस्कारों के भिन्न-भिन्न होने से उनके भेद से अन्तःकरणोपाधिक उस जीव का यहाँ = गीता में भेद = नानात्व-अनेकत्व कहा गया है -- 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' (गीता, 7.15) = 'जो मुझको ही प्राप्त होते हैं', 'दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते' (गीता, 7.15) = 'दुष्कर्मी और मूढ़ पुरुष मुझको प्राप्त नहीं होते हैं'; 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता, 7.16) = 'मुझको चार प्रकार के भक्त भजते हैं' -- इत्यादि । श्रुति में भी उपाधिभेद से जीव का भेद -- बहुत्व निर्देश किया गया है -- 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसको देवताओं में से जिस-जिस ने जाना है वही वह हो गया है, इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में भी हुआ है' -- इत्यादि ।

33 किन्तु अन्तकरणोपाधि के भेद की आलोचना न करने पर जीवत्वप्रयोजक उपाधि एक ही होने के कारण यहाँ = गीता में जीव का एकत्व कहा गया है -- 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु' (गीता, 13.2) = 'हे भारत ! समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तुम मुझको जानो'; 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥' (श्वे० उ० 5.9)

इत्यादिः । यद्यपि दर्पणगतश्चैत्रप्रतिबिम्बः स्वं परं च न जानात्यचेतनांशस्यैव तत्र प्रतिबिम्बितत्वात्तथाऽपि चित्प्रतिबिम्बश्चित्त्वादेव स्वं परं च जानाति, प्रतिबिम्बपक्षे बिम्बचैतन्य एवोपाधिस्थत्वमात्रस्य कल्पितत्वात्, आभासपक्षे तस्यानिर्वचनीयत्वेऽपि जडविलक्षणत्वात् । स च यावत्स्वबिम्बैक्यमात्मनो न जानाति तावज्जलसूर्य इव जलगतकम्पादिकमुपाधिगतं विकारसहस्रमनुभवति । तदेतदाह—दुरत्ययेति । बिम्बभूतेश्वरैक्यसाक्षात्कारमन्तरेणात्येतुं तरितुमशक्येति दुरत्यया । अत एव जीवोऽन्तःकरणावच्छिन्नत्वात्तत्संबद्धमेवाक्ष्यादिद्वारा भासयन्किंचिज्ज्ञो भवति । ततश्च जानामि करोमि भुञ्जे चेत्यनर्थशतभाजनं भवति । स चेद्बिम्बभूतं भगवन्तमनन्तशक्तिं मायानियन्तारं सर्वविदं सर्वफलदातारमनिशमानन्दघनमूर्तिमनेकानवतारान्भक्तानुग्रहाय विदधतमाराधयति परमगुरुमशेषकर्मसमर्पणेन तदा बिम्बसमर्पितस्य प्रतिबिम्बे प्रतिफलनात्सर्वानपि पुरुषार्थानासादयति । एतदेवाभिप्रेत्य प्रह्लादेनोक्तम् —

उभावपि' (गीता, 13.19) = 'प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को ही तुम अनादि जानो'; 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता, 15.7) = 'जीवलोक में मेरा ही अंश सनातन जीवरूप है' -- इत्यादि । श्रुति में भी अनेक स्थलों पर जीव के एकत्व का निर्देश किया गया है -- 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत्सर्वमभवत्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'सृष्टि के पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ', इसलिए वह सब कुछ हो गया'; 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.12) = 'समस्त प्राणियों में एक देव ही गूढ है'; 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2) = 'यह जीवरूप अपने अंश के द्वारा सर्वभूत में अनुप्रविष्ट होकर'; --

'केश-बाल के अग्रभाग के शततम भाग को पुनः शतभाग में कल्पना करने से जो शततम भाग प्राप्त होता है उस प्रकार सूक्ष्म के सूक्ष्मतम चैतन्यांश को जीव जानना चाहिए, वह जीव ही पुनः अनन्तस्वरूप कल्पित होता है' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.9) – इत्यादि ।

यद्यपि दर्पणगत चैत्रादि का प्रतिबिम्ब अपने या दूसरे किसी को भी नहीं जानता है, क्योंकि उसमें अचेतन अंश पार्थिवादि मुख ही प्रतिम्बित होता है; तथापि चित्-चेतन का प्रतिबिम्ब चिद्-रूप होने के कारण अपने को और दूसरे को भी जानता है, क्योंकि प्रतिबिम्बवाद[25] की दृष्टि से बिम्ब चैतन्य में ही उपाधिस्थत्व -- उपाधिस्थतामात्र कल्पित है; आभासवाद[26] की दृष्टि से उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करने पर भी जड़ से विलक्षण होने के कारण वह जब तक आत्मा का अपने बिम्ब से ऐक्य-एकत्व नहीं जानता तभी तक जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान जलगत कम्पादि की तरह उपाधिगत सहस्रों

---

25. प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक विवरणकार पद्मपादाचार्य है । प्रतिबिम्बवाद के अनुसार बिम्बचैतन्य 'ईश्वर' है और प्रतिबिम्ब चैतन्य 'जीव' है । इस सिद्धान्त के अनुसार बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है । जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक देशवर्ती जलों में अनेक रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अविद्या में प्रतिबिम्बित होने के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है । इस प्रकार ब्रह्म और जागतिक जीवों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

26. आभासवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक वार्तिककार सुरेश्वराचार्य हैं । आभासवाद के अनुसार शुद्धचैतन्य ही बिम्ब है, माया में जो चित्प्रतिबिम्ब है अर्थात् जो मायोपहित चैतन्य है वह 'ईश्वर' है; और बुद्धि में जो चित्प्रतिबिम्ब है अर्थात् जो बुद्धि में उपहित अतएव बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न चैतन्य है वह 'जीव' कहा जाता है । बुद्धि विभिन्न होने के कारण जीव भी विभिन्न = अनेक हैं, किन्तु माया एक है, अतः ईश्वर एक है । आभासवाद में जीव

'नैवाऽऽत्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चाऽऽत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' इति

दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्य तिलकादिश्रीरपेक्षिता चेद्बिम्बभूते मुखे समर्पणीया। सा स्वयमेव तत्र प्रतिफलति नान्यः कश्चित्तत्प्राप्तावुपायोऽस्ति यथा तथा बिम्बभूतेश्वरे समर्पितमेव तत्प्रतिबिम्बभूतो जीवो लभते नान्यः कश्चित्तस्य पुरुषार्थलाभेऽस्त्युपाय इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरर्थः।

34 तस्य यदा भगवन्तमनन्तमनवरतमाराधयतोऽन्तःकरणं ज्ञानप्रतिबन्धकपापेन रहितं ज्ञानानुकूल-

विकारों का अनुभव करता है। इसी से कहते हैं -- यह माया 'दुरत्यया' है अर्थात् बिम्बभूत ईश्वर के साथ ऐक्य-एकत्व का साक्षात्कार किए बिना इसका अत्यय = तरण अशक्य-असंभव है। अतएव जीव अन्त:करण से अवच्छिन्न होने के कारण उससे सम्बद्ध पदार्थों को ही नेत्रादि के द्वारा भासित करता हुआ किंचिज्ज्ञ = अल्पज्ञ होता है। उसी से 'जनामि', 'करोमि', 'भुञ्जे' = 'जानता हूँ ', 'करता हूँ', 'भोगता हूँ' -- इत्यादि सैकड़ों अनर्थों का भाजन होता है। वह यदि बिम्बभूत, अनन्तशक्ति, मायानियन्ता, सर्वविद्-सर्वज्ञ, सर्वफलप्रदाता, आनन्दघनमूर्ति, भक्तों के अनुग्रहार्थ अनेक अवतारों को धारण करनेवाले, परमगुरु भगवान् की अपने सम्पूर्ण कर्मों के समर्पण द्वारा अहर्निश आराधना करता है तो बिम्ब में समर्पित वस्तु के प्रतिबिम्ब में प्रतिफलित होने से सभी पुरुषार्थों को प्राप्त होता है। इसी अभिप्राय से प्रह्लाद ने कहा है --

"सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उनको अपने लिए क्षुद्र पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही सरल भक्तों के हित के लिए उनके द्वारा की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसको ही प्राप्त होता है" -- (श्रीमद्भागवतपुराण, 7.9.11)।

यहाँ उक्त दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का अभिप्राय यह है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की तिलक आदि से शोभा करने की यदि अपेक्षा-आवश्यकता होती है तो वह शोभा बिम्बभूत मुख में ही समर्पित होती है, प्रतिबिम्बि में नहीं, वह तो बिम्ब से ही प्रतिबिम्ब में स्वयं ही प्रतिफलित होती है, उसकी प्राप्ति में अन्य कोई उपाय नहीं है जैसे वैसे ही बिम्बभूत ईश्वर में समर्पित ही वस्तु उसके प्रतिबिम्बभूत जीव को स्वत: प्राप्त होती है, उसका पुरुषार्थ-लाभ करने में अन्य कोई उपाय नहीं है।

34 जब भगवान् अनन्त की अनवरत-निरन्तर आराधना करनेवाले उस जीव का अन्त:करण ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप से रहित और ज्ञान के अनुकूल पुण्य से उपचित-समृद्ध होता है तब अत्यन्त निर्मल

और ईश्वर-- दोनों ही शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब हैं, अतः दोनों ही माया के द्वारा सृष्ट है, फलत: दोनों ही उसी प्रकार अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या हैं जिस प्रकार कि समस्त ऐन्द्रजालिक विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या हैं। एकमात्र शुद्ध चैतन्य ही परमार्थत: सत्य वस्तु है। परमार्थसत्यस्वरूप ब्रह्म की जगत् के अनेक रूपों में प्रतीति को 'आभास' कहते हैं और इसका कारण अविद्या है। आभासवाद के अनुसार बिम्ब-चैतन्य और प्रतिबिम्ब-चैतन्य अभिन्न नहीं है। तत्त्वज्ञान के द्वारा यह कल्पित मिथ्या जीवत्व बाधित होने पर शुद्धब्रह्मरूपभावापत्तिरूप मुक्ति होती है। आभासवाद में बुद्धि में उपहित चैतन्य को 'चिदाभास' कहा जाता है।

पुण्येन चोपचितं भवति तदाऽतिनिर्मले मुकुरमण्डल इव मुखमतिस्वच्छेऽन्तःकरणे सर्वकर्मत्यागशमदमादिपूर्वकगुरूपसदनवेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनैः संस्कृते तत्त्वमसीति-गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्यकरणिकाऽहं ब्रह्मास्मीत्यनात्माकारशून्या निरुपाधिचैतन्याकारा साक्षात्कारात्मिका वृत्तिरुदेति । तस्यां च प्रतिफलितं चैतन्यं सद्य एव स्वविषयाश्रयाम-विद्यामुन्मूलयति दीप इव तमः । ततस्तस्या नाशात्तया वृत्त्या सहाखिलस्य कार्यप्रपञ्चस्य नाशः, उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात् । तदेतदाह भगवान् – 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति । 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० उ०, 1.4.7), 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ० उ०, 1.4.10), 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृ० उ० 4.4.23), 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वे० उ०, 6.15) इत्यादिश्रुतिष्विवेहापि मामेवेत्येवकारो-ऽन्यानुपरक्तताप्रतिपत्त्यर्थः । मामेव सर्वोपाधिविरहितं चिदानन्दसदात्मानमखण्डं ये प्रपद्यन्ते वेदान्तवाक्यजन्यया निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपया निर्वचनानर्हशुद्धचिदाकारत्वधर्मविशिष्टया सर्वसुकृतफलभूतया निदिध्यासनपरिपाकप्रसूतया चेतोवृत्त्या सर्वाज्ञानतत्कार्यविरोधिन्या विषयीकुर्वन्ति ते ये केचिदेतां दुरतिक्रमणीयामपि मायामखिलानर्थजन्मभुवमनायासेनैव तरन्ति अतिक्रामन्ति 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृ० उ० 1.4.10) इति श्रुतेः । सर्वोपाधिनिवृत्त्या सच्चिदानन्दघनरूपेणैव तिष्ठन्तीत्यर्थः । बहुवचनप्रयोगो देहेन्द्रियादि संघातभेदनिबन्धनात्मभेदभ्रान्त्यनुवादार्थः ।

दर्पणमण्डल में जैसे मुख की शोभा होती है वैसे ही उसके अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरण में -- सम्पूर्ण कर्मों के त्याग तथा शम-दमादिपूर्वक गुरूपसत्ति और वेदान्तवाक्यों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से संस्कृत उक्त अन्तःकरण में 'तत्त्वमसि' -- इस गुरूपदिष्ट वेदान्तवाक्य की करणिका 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इत्याकारक अनात्माकार से शून्य और निरुपाधिक चैतन्याकार साक्षात्कारस्वरूप वृत्ति उदित होती है । और उस उक्त अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिफलित-प्रतिबिम्बित चैतन्य शीघ्र ही अपने को विषय और आश्रय करनेवाली अविद्या का उन्मूलन करता है ठीक उसी प्रकार जैसे दीपक अन्धकार का उन्मूलन करता है । तदनन्तर उस अविद्या का नाश होने से उस अन्तःकरणवृत्ति के सहित अखिल कार्यप्रपञ्च का नाश हो जाता है, क्योंकि उपादान के नाश से उपादेय का नाश होना सर्वतन्त्रसिद्धान्तों से सिद्ध है । इसी से भगवान् यह कहते हैं -- 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' = 'जो मुझको ही प्राप्त होते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं । 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.7) = 'आत्मा है - इसी प्रकार परमात्मा की उपासना करे'; 'तदात्मानमेवावेत्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसने अपने को ही जाना'; 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.23) = 'धीर पुरुष उसी को जानकर '; 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.15) = 'उसी को जानकर मृत्यु को पार कर लेता है' -- इत्यादि श्रुतियों के समान यहाँ भी 'मामेव' -- इस पद में 'एव'कार अन्यों के प्रति अनुपरक्तता दिखाने के लिए है । जो मुझको ही = सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप, अखण्ड आत्मा मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् वेदान्तवाक्यजन्य, निर्विकल्पक साक्षात्काररूप, निर्वचनानर्ह -- निर्वचन के अयोग्य -- अनिर्वचनीय शुद्ध चिदाकारत्व -- आत्माकारत्वधर्मविशिष्ट, सम्पूर्ण सुकृतों की फलभूता, निदिध्यासन के परिपाक से प्रसूत, सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य की विरोधी चित्तवृत्ति से मुझको ही विषय करते हैं, वे जो कोई भी हों इस दुरतिक्रमणीय भी अखिल अनर्थों की जन्मभूमि माया को सहज

35 प्रपश्यन्तीति वक्तव्ये प्रपद्यन्त इत्युक्तेऽर्थे मदेकशरणाः सन्तो मामेव भगवन्तं वासुदेवमीदृशमनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्वमखिलकलाकलापनिलयमभिनवपङ्कजशोभाधिकचरणकमलयुगलप्रभमनवरतवेणुवादननिरतवृन्दावनक्रीडासक्तमानसहेलोद्धृतगोवर्धनाख्यमहीधरं गोपालं निषूदितशिशुपालकंसादिदुष्टसंघमभिनवजलदशोभासर्वस्वहरणचरणं परमानन्दघनमयमूर्तिमतिवैरिञ्चप्रपञ्चमनवरतमनुचिन्तयन्तो दिवसानतिवाहयन्ति ते मत्प्रेममहानन्दसमुद्रमग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते । किं तु मद्विलासविनोदकुशला एते मदुन्मूलनसमर्था इति शङ्कमानेव माया तेभ्योऽपसरति वारविलासिनीव क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यस्तस्मान्मायातरणार्थी मामीदृशमेव संततमनुचिन्तयेदित्यप्यभिप्रेतं भगवतः । श्रुतयः स्मृतयश्चात्रार्थे प्रमाणीकर्तव्याः ॥ 14 ॥

36 यद्येवं तर्हि किमिति निखिलानर्थमूलमायोन्मूलनाय भगवन्तं भवन्तमेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते चिरसंचितदुरितप्रतिबन्धादित्याह भगवान् –

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ 15 ॥

ही तर जाते है -- पार कर जाते हैं । ऐसा श्रुति भी कहती है -- 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'उसका पराभव करने में देवता भी समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है' । अर्थ यह है कि देहेन्द्रियादि सम्पूर्ण उपाधियों से निवृत्त हो जाने के कारण वे सच्चिदानन्दघनरूप से ही अर्थात् वास्तविक अपने स्वरूप से ही रहते हैं । यहाँ बहुवचन का प्रयोग देह, इन्द्रिय आदि के संघातभेद से होनेवाले आत्मभेद-जीवभेद की भ्रान्ति का अनुवाद करने के लिए है ।

35 श्लोक में 'ये प्रपश्यन्ति' -- यह कहना उचित था, किन्तु वैसा न कहकर 'ये प्रपद्यन्ते' -- कहा गया है । इससे भगवान् के कहने का भाव यह है कि जो एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण कर अनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्व, अखिलकलाकलापनिलय, अभिनव-सद्योजात कमल की शोभा से भी अधिक चरणकमलयुगल की प्रभावाले, निरन्तर वंशीवादन में रत रहकर वृन्दावन की क्रीडा में आसक्तचित्त, हेला-क्रीडा से ही गोवर्धन नामक पर्वत को उठानेवाले, गोपाल -- गोपालक अर्थात् गौओं के चराने तथा पालन करनेवाले, शिशुपाल-कंस आदि दुष्टों के समूह का संहार करनेवाले, नवीन जलपूर्ण मेघ की शोभा के सर्वस्व को हरते हुए चरणवाले, परमानन्दघनमय मूर्ति, ब्रह्म के द्वारा सृष्ट प्रपञ्च से अतीत मुझ भगवान् वासुदेव का निरन्तर चिन्तन करते हुए दिन व्यतीत करते हैं वे मेरे प्रेमरूप महानन्दसमुद्र में मग्नमना रहने के कारण सम्पूर्ण मायिक गुणों के विकारों से अभिभूत नहीं होते हैं; किन्तु 'ये मेरे विलास का विनोद करने में कुशल हैं अतएव मेरा उन्मूलन-नाश करने में समर्थ है' -- इसप्रकार की शङ्कमान-सी = शङ्का करती हुई-सी माया उन भक्तों से उसी प्रकार दूर हो जाती है जैसे क्रोधी तपस्वियों के पास से वारविलासिनी-वेश्या दूर हो जाती है । अत: मायातरणार्थी = माया से तरने की इच्छावाला इसप्रकार से ही -- पूर्वोक्त प्रकार से ही निरन्तर मुझको भजे -- मेरा चिन्तन करे -- यह भी भगवान् का अभिप्राय है । इस अभिप्राय में श्रुतियों और स्मृतियों को प्रमाण समझना चाहिए ॥ 14 ॥

36 यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण अनर्थों की मूलभूत माया का उन्मूलन करने के लिए सब आप भगवान् की ही शरण क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि वे चिरकाल से सञ्चित पापरूप प्रतिबन्धक के कारण मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं --

37 दुष्कृतिनो दुष्कृतेन पापेन सह नित्ययोगिनः । अत एव नरेषु मध्येऽधमा इह साधुभिर्गर्हणीयाः परत्र चानर्थसहस्रभाजः । कुतो दुष्कृतमनर्थहेतुमेव सदा कुर्वन्ति यतो मूढा इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमितिविवेकशून्याः । सति प्रमाणे कुतो न विविञ्चन्ति यतो माययाऽपहृतज्ञानाः शरीरेन्द्रियसंघाततादात्म्यभ्रान्तिरूपेण परिणतया मायया पूर्वोक्तयाऽपहृतं प्रतिबद्धं ज्ञानं विवेकसामर्थ्यं येषां ते तथा । अत एव ते 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यमाणमासुरं भावं हिंसानृतादिस्वभावमाश्रिता मत्प्रतिपत्त्ययोग्याः सन्तो न मां सर्वेश्वरं प्रपद्यन्ते न भजन्ते । अहो दौर्भाग्यं तेषामित्यभिप्रायः ॥ 15 ॥

38 ये त्वासुरभावरहिताः पुण्यकर्माणो विवेकिनस्ते पुण्यकर्मतारतम्येन चुतर्विधाः सन्तो मां भजन्ते क्रमेण च कामनाराहित्येन मत्प्रसादान्मायां तरन्तीत्याह--

[जो दुष्कृति-पापी, मूढ़ हैं, माया ने जिनके ज्ञान को हर लिया है तथा जो आसुरी भाव का आश्रय लेनेवाले हैं, अतएव वे नराधम मुझको प्राप्त नहीं होते हैं -- मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं ।। 15 ।।]

37 'दुष्कृत' शब्द पापवाची है, 'दुष्कृत' शब्द से 'नित्ययोग' अर्थ में मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'दुष्कृति' शब्द निष्पन्न हुआ है , अतएव 'दुष्कृति' = दुष्कृत-पाप के साथ नित्य सम्बन्ध रखनेवाले, इसीलिए नराधम = नरों-मनुष्यों में अधम हैं अर्थात् इस लोक में साधुपुरुषों द्वारा सर्वथा निन्दनीय और परलोक में सहस्रों अनर्थों के भाजन हैं । वे सदा अनर्थों के हेतु पाप ही क्यों करते हैं ? क्योंकि में मूढ़ हैं, अर्थात् 'यह अर्थ-सुख का साधन है और यह अनर्थ-दु:ख का साधन है' -- इस प्रकार के विवेक से शून्य हैं । प्रमाण रहते हुए भी वे ऐसा विवेक क्यों नहीं करते हैं ? क्योंकि माया ने उनके ज्ञान को हर लिया है, अर्थात् शरीर और इन्द्रिय के संघात-पिण्ड में आत्मतादात्म्यभ्रान्तिरूप से परिणत पूर्वोक्त माया ने जिनके ज्ञान = विवेकसामर्थ्य का अपहरण अर्थात् प्रतिबन्ध कर दिया है वे ऐसे हैं । अतएव वे 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च' (गीता, 16.4) इत्यादि से आगे वक्ष्यमाण आसुर भाव -- हिंसा, अनृत भाषण आदि स्वभाव के आश्रित रहने से -- मेरी प्रतिपत्ति के आयोग्य रहने से मुझ सर्वेश्वर को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् मुझको नहीं भजते हैं -- मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं । अहो ! यह उनका दौर्भाग्य है -- ऐसा भगवान् का अभिप्राय है[27] ।। 15 ।।

38 किन्तु जो आसुर भाव से रहित पुण्यकर्मा विवेकी हैं वे पुण्यकर्म के तारतम्य से चार प्रकार के हुए मुझको ही भजते हैं और क्रम से कामनारहित होने से मेरे प्रसाद-अनुग्रह से माया को पार कर जाते हैं-- यह कहते हैं:--

27. प्रकृत श्लोक में 'दुष्कृतिशाली लोग मुझको प्राप्त नहीं होते हैं' -- यह प्रधान वक्तव्य विषय है । पापों के तारतम्य से चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्ति होते हैं -- (1) मूढ = जो सभी प्रकार से परमेश्वर के स्वरूपज्ञान से शून्य होते हैं । (2) नराधम = जिनका परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर भी परमेश्वर में आग्रह = श्रद्धा-प्रेम नहीं होता है । (3) माययापहृतज्ञान = परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर भी कूट युक्ति के प्रभाव से जिनके चित्त असम्भावनारूप संशय से ग्रस्त होते हैं । तथा (4) आसुरभावमाश्रित = परमेश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में सुदृढ़ ज्ञान रहने पर भी बहुजन्मार्जित पापों के कारण जिनके हृदय में परमेश्वर के प्रति प्रेम न रहकर द्वेषभाव ही रहता है । ये चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक नराधम होते हैं, -- किन्तु इस प्रकार की व्याख्या सर्वथा समीचीन नहीं है, कारण कि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी भगवद्भजन से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं -- यह गीता (9.30-32) में ही कहा गया है । अत: इस श्लोक में चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्तियों के वर्णन का अभिप्राय भगवान् का नहीं है, अपितु जो लोग माया से अपहृत ज्ञानवाले हैं, साथ ही साथ आसुरभावापन्न, पापाचारी, मूढ और उस प्रकार के होने के कारण नराधम जैसे समझे जाते हैं अर्थात् जो लोग इन दोषों से ही दूषित होते हैं वे लोग कभी भी भगवान् का आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं -- यह कहने का अभिप्राय है ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ 16 ॥

39 **ये सुकृतिनः पूर्वजन्मकृतपुण्यसंचया जनाः सफलजन्मानस्त एव नान्ये ते मां भजन्ते सेवन्ते हेऽर्जुन । ते च त्रयः सकामा एकोऽकाम इत्येवं चतुर्विधाः । आर्त आर्त्या शत्रुव्याध्याद्यापदा ग्रस्तस्तन्निवृत्तिमिच्छन् । यथा मखभङ्गेन कुपित इन्द्रे वर्षति व्रजवासी जनः, यथा वा जरासंधकारागारवर्ती राजनिचयः, द्यूतसभायां वस्त्राकर्षणे द्रौपदी च, ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रश्च । जिज्ञासुरात्मज्ञानार्थी मुमुक्षुः । यथा मुचुकुन्दः, यथा वा मैथिलो जनकः श्रुतदेवश्च, निवृत्ते मौसले यथा चोद्धवः । अर्थार्थी, इह वा परत्र वा यद्भोगोपकरणं तल्लिप्सुः । तत्रेह यथा सुग्रीवो विभीषणश्च, यथा चोपमन्युः परत्र यथा ध्रुवः । एते त्रयोऽपि भगवद्भजनेन मायां तरन्ति । तत्र जिज्ञासुर्ज्ञानोत्पत्त्या साक्षादेव मायां तरति आर्तोऽर्थार्थी च जिज्ञासुत्वं प्राप्येति विशेषः । आर्तस्यार्थार्थिनश्च जिज्ञासुत्वसंभवाज्जिज्ञासोश्चाऽऽर्तत्वज्ञानोपकरणार्थार्थित्वसंभवादुभयोर्मध्ये जिज्ञासुरुद्दिष्टः ।**

40 **तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते-ज्ञानी च, ज्ञानं भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः । चकारो यस्य कस्यापि निष्काम-**

[हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी -- ये चार प्रकार के सुकृति -- पुण्यकर्मा पुरुष मुझको भजते हैं ॥ 16 ॥]

39 जो सुकृति -- पूर्वजन्म में पुण्यों का सञ्चय करनेवाले और सफलजन्मा पुरुष हैं वे ही, अन्य नहीं, मुझको भजते हैं -- मेरी सेवा करते हैं । हे अर्जुन ! वे तीन सकाम और एक निष्काम -- इसप्रकार चार प्रकार के होते हैं । उनमें जो आर्त -- आर्ति अर्थात् शत्रु, व्याधि आदि आपत्ति से ग्रस्त हैं वे निवृत्ति की इच्छा करते हैं । जैसे -- यज्ञभङ्ग से कुपित होकर इन्द्र के वर्षा करने पर व्रजवासी लोगों ने वृष्टि की आपत्ति से बचने के लिए मेरा भजन किया था, अथवा, जैसे -- जरासन्ध के कारागार में रहनेवाले राजसमूह, द्यूतसभा में वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी, और ग्राह से ग्रस्त गजेन्द्र ने अपनी-अपनी आपत्ति से बचने के लिए मेरा स्मरण किया था । जो जिज्ञासु -- आत्मज्ञान की इच्छावाले हैं वे मोक्ष पाने के इच्छुक हैं । जैसे -- मुचुकुन्द, मैथिल जनक, और श्रुतदेव थे, अथवा जैसे -- मौसलकाण्ड समाप्त होने पर उद्धव हुए । अर्थार्थी -- इस लोक अथवा परलोक में जो भोगोपकरण हैं उनको पाने की इच्छा वाले हैं । जैसे -- इस लोक में भोगों के अर्थी सुग्रीव और विभीषण हुए हैं और परलोक में श्रेष्ठ पद के अर्थी जैसे उपमन्यु और ध्रुव हुए हैं । ये आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी -- तीनों प्रकार के भक्त भी भगवान् के भजन से माया को पार कर जाते हैं । इनमें जिज्ञासु तो ज्ञानोत्पत्ति होने से साक्षात् ही माया को तर जाता है, किन्तु आर्त और अर्थार्थी जिज्ञासुत्व को प्राप्त करके माया को तरते हैं -- यही इनमें विशेष-भेद है । आर्त और अर्थार्थी का जिज्ञासु होना संभव है, तथा जिज्ञासु का आर्त होना और ज्ञानोपकरणार्थार्थी होना सम्भव है, इसलिए आर्त और अर्थार्थी -- इन दोनों के मध्य में जिज्ञासु का उल्लेख किया गया है ।

40 इसप्रकार ये तीनों सकाम भक्त कहे गये । अब चौथा निष्काम भक्त कहा जाता है । 'ज्ञानी च' -- 'ज्ञान' भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार को कहते हैं, उससे जो नित्ययुक्त है वह 'ज्ञानी' अर्थात् माया

प्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः । हे भरतर्षभ त्वमपि जिज्ञासुर्वा ज्ञानी वेति कतमोऽहं भक्त इति मा शङ्किष्ठा इत्यर्थः । तत्र निष्कामभक्तो ज्ञानी यथा सनकादिर्यथा नारदो यथा प्रह्लादो यथा पृथुर्यथा वा शुकः । निष्कामः शुद्धप्रेमभक्तो यथा गोपिकादिर्यथा वाऽक्रूरयुधिष्ठिरादिः । कंसशिशुपालादयस्तु भयाद्द्वेषाच्च संततभगवच्चिन्तापरा अपि न भक्ता भगवदनुरक्तेरभावात् । भगवदनुरक्तिरूपायास्तु भक्तेः स्वरूपं साधनं भेदास्तथा भक्तानामपि भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिता इतीहोपरम्यते ॥ 16 ॥

41 **ननु न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा इत्यनेन तद्विलक्षणाः सुकृतिनो मां भजन्त इत्यर्थात्प्राप्तेऽपि तेषां चातुर्विध्यं चतुर्विधा भजन्ते मामित्यनेन दर्शिताः ततस्ते सर्वे सुकृतिन एव निर्विशेषादिति चेत्तत्राऽऽह च । चतुर्विधानामपि सुकृतित्वे नियतेऽपि सुकृताधिक्येन निष्कामतया प्रेमाधिक्यात् –**

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ 17 ॥

से पार गया हुआ तथा सम्पूर्ण कामनाओं से निवृत्त होता है । चकार जो कोई निष्काम प्रेमी भक्त है उसका भी ज्ञानी में ही अन्तर्भाव करने के लिए है । तात्पर्य यह है कि हे भरतर्षभ[28] ! तुम भी ऐसी शङ्का मत करो कि मैं जिज्ञासु अथवा ज्ञानी इनमें से कौन सा भक्त हूँ ? इनमें निष्काम भक्त ज्ञानी हैं, जैसे -- सनकादि, नारद, प्रह्लाद, पृथु अथवा शुकदेव । निष्काम शुद्ध प्रेमी भक्त हैं, जैसे -- गोपिकादि, अक्रूर, अथवा युधिष्ठिर आदि । कंस, शिशुपाल आदि तो भय और द्वेष के कारण सतत भगवच्चिन्तन में तत्पर रहने पर भी भक्त नहीं थे, क्योंकि उनमें भगवान् के प्रति अनुराग नहीं था । भगवदनुरक्तिरूप भक्ति का स्वरूप, साधन, और उसके भेद; तथा भक्तों के भी स्वरूप आदि का हमने 'भगवद्भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थ में विशेषरूप से विस्तार किया है, इसलिए यहाँ इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं ।। 16 ।।

41 यदि यह शङ्का हो कि यद्यपि 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' -- इस श्लोकार्ध से ही यह अर्थ सिद्ध हो जाता है कि उनसे भिन्न सुकृतिजन मुझको भजते हैं, फिर भी 'चतुर्विधा भजन्ते माम् ' -- इस वाक्य से उनके चार प्रकार दिखाये हैं, इससे क्या यह कहा गया है कि वे सभी अर्थात् चारों निर्विशेष होने के कारण सुकृति ही हैं अथवा उनमें किसी की कोई विशेषता है ? -- तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि चारों प्रकार के भक्तों का सुकृति होना नियत -- निश्चित होने पर भी उनमें सुकृताधिक्य और निष्काम प्रेमाधिक्य होने से ज्ञानी की विशेषता है --

[उनमें नित्ययुक्त -- प्रत्यगभिन्न भगवान् में सदा समाहित चित्त रहनेवाला तथा एकभक्ति -- एकमात्र भगवान् में ही भक्ति रखनेवाला ज्ञानी -- तत्त्वज्ञानी भक्त विशेष -- सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको प्रिय है ।। 17 ।।]

28. हे भरतर्षभ अर्जुन ! तुम शङ्का मत करो कि तुम जिज्ञासु अथवा ज्ञानी – इनमें से कौन से भक्त हो ? तुम तो भरतर्षभ = परम सुकृतिशाली भरतवंश के श्रेष्ठ पुरुष हो स्वयं अर्जुन = शुद्धबुद्धि भी हो, अतः तुम मेरे भक्त होओगे और एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करोगे -- इस विषय में सन्देह करने को क्या है ? यह सूचित करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'भरतर्षभ' कहकर सम्बोधन किया है ।

42 चतुर्विधानां तेषां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्निवृत्तसर्वकामो विशिष्यते सर्वतोऽतिरिच्यते सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। यतो नित्ययुक्तो भगवति प्रत्यगभिन्ने सदा समाहितचेता विक्षेपकाभावात्। अत एवैक-भक्तिरेकस्मिन्भगवत्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथा, तस्यानुरक्तिविषयान्तराभावात्। हि यस्मात्प्रियो निरुपाधिप्रेमास्पदमत्यर्थमत्यन्तातिशयेन ज्ञानिनोऽहं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा च तस्मादत्यर्थं स मम परमेश्वरस्य प्रियः। आत्मा प्रियोऽतिशयेन भवतीति श्रुतिलोकयोः प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ 17 ॥

43 तत्किमार्तादयस्तव न प्रियाः, न, अत्यर्थमिति विशेषणादित्याह–

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्मात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ 18 ॥

44 एत आर्तादयः सकामा अपि मद्भक्ताः सर्वे त्रयोऽप्युदारा एवोत्कृष्टा एव पूर्वजन्मार्जिता-नेकसुकृतराशित्वात्। अन्यथा हि मां न भजेयुरेव, आर्तस्य जिज्ञासोरर्थार्थिनश्च मद्विमुखस्य क्षुद्रदेवताभक्तस्यापि बहुलमुपलम्भात्। अतो मम प्रिया एव ते। न हि ज्ञानवानज्ञो वा कश्चिदपि भक्तो ममाप्रियो भवति। किं तु यस्य यादृशी मयि प्रीतिर्ममापि तत्र तादृशी प्रीतिरिति स्वभाव-

---

42 उन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी -- जिसकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो गई हैं वह तत्त्वज्ञानवान् भक्त विशिष्ट है-- सबसे अतिरिक्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि विक्षेप के कारण का अभाव होने से वह प्रत्यगभिन्न -- स्वात्माऽभिन्न भगवान् में नित्ययुक्त-सदा समाहित चित्त रहता है। इसी से वह एकभक्ति अर्थात् एकमात्र भगवान् में ही है भक्ति--अनुरक्ति जिसकी वैसा है, क्योंकि उसके अनुराग के विषय विषयान्तर नहीं हैं। हि -- यस्मात् -- जिससे ज्ञानी को मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा ही अत्यर्थ-अत्यन्त-अतिशय से प्रिय हूँ -- निरुपाधिक प्रेमास्पद हूँ, और उसी से वह भी मुझ परमेश्वर का अत्यन्त प्रिय है। 'आत्मा अतिशय से प्रिय होता है' -- यह श्रुति[29] और लोक में प्रसिद्ध ही है -- यह इसका तात्पर्य है ॥ 17 ॥

43 'तब क्या आर्त आदि आपके प्रिय नहीं है ?' -- ऐसी अर्जुन की ओर से शङ्का करके भगवान् कहते हैं -- ऐसा नहीं है, वे भी मेरे प्रिय हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त अत्यर्थ -- अत्यन्त प्रिय है -- ।ये सभी उदार -- उत्कृष्ट ही हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा -- स्वरूप ही है -- ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मुझमें ही समाहितचित्त है और मुझको ही अपनी अनुत्तम -- सर्वोत्कृष्ट गति मानता है ॥ 18 ॥।

44 ये सब अर्थात् आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी -- तीनों प्रकार के सकाम भी मेरे भक्त हैं अतएव उदार -- उत्कृष्ट ही हैं, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व जन्मों में अर्जित अनेक पुण्यराशिवाले हैं, अन्यथा वे मेरा भजन ही नहीं करते, कारण कि आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुषों में ऐसे भी बहुत-से देखे जाते हैं जो मुझसे विमुख तथा क्षुद्र देवताओं के भक्त हैं, अतः वे तीनों मेरे प्रिय ही हैं। ज्ञानवान् अथवा अज्ञ कोई भी भक्त मेरा अप्रिय नहीं होता है, किन्तु जिसकी जैसी मुझमें प्रीति होती है मेरी भी उसमें

---

29. श्रुति में कहा गया है -- 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.8) = 'यह वही आत्मा है जो पुत्र से प्रिय, वित्त से प्रिय, अन्य सभी वस्तुओं से प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा सबसे अन्तरतर है'। रासपञ्चाध्यायी में भी गोपियों ने भगवान् कृष्ण को कहा है – 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा (श्रीमद्भागवत, 10.29.32) = 'हे अङ्ग ! आप निश्चितरूप से आत्मा हो और शरीर धारण करनेवालों के परमप्रिय बन्धु हो।'

सिद्धमेतत् । तत्र सकामानां त्रयाणां काम्यमानमपि प्रियमहमपि प्रियः, ज्ञानिनस्तु प्रियान्तरशून्यस्याहमेव निरतिशयप्रीतिविषयः । अतः सोऽपि मम निरतिशयप्रीतिविषय इति विशेषः । अन्यथा हि मम कृतज्ञता न स्यात्कृतघ्नता च स्यात् । अत एवात्यर्थमिति विशेषणमुपात्तं प्राक् । यथा हि 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्यत्र तरबर्थस्य विवक्षितत्वाद्विद्यादिव्यतिरेकेण कृतमपि कर्म वीर्यवद्भवत्येव, तथाऽत्यर्थं ज्ञानी भक्तो मम प्रिय इत्युक्तेर्यो ज्ञानव्यतिरेकेण भक्तः सोऽपि प्रिय इति पर्यवस्यत्येव, अत्यर्थमिति विशेषणस्य विवक्षितत्वात् । उक्तं हि -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति । अतो मामात्वत्वेन ज्ञानवाञ्ज्ञानी, आत्मैव न मत्तो भिन्नः किं त्वहमेव स इति मम मतं निश्चयः । तुशब्दः सकामभेददर्शित्रितयापेक्षया निष्कामत्वभेदादर्शित्वविशेषद्योतनार्थः । हि यस्मात्स ज्ञानी युक्तात्मा

वैसी ही प्रीति होती है-- यह स्वभावसिद्ध है । उन चतुर्विध भक्तों में तीनों सकाम भक्तों को काम्य पदार्थ भी प्रिय हैं और मैं भी प्रिय हूँ; किन्तु ज्ञानी को दूसरा कोई प्रिय है ही नहीं, मैं ही उसकी निरतिशय प्रीति का विषय हूँ, अत: वह भी मेरी निरतिशय प्रीति का विषय है -- यह सकाम भक्तों की अपेक्षा ज्ञानी में विशेष है । अन्यथा मेरी कृतज्ञता नहीं होगी, कृतघ्नता ही होगी । इसी से ज्ञानी के लिए पूर्व में 'अत्यर्थम्' -- यह विशेषण कहा है । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' = 'जो विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् के साथ कोई कर्म करता है वही वीर्यवत्तर = अधिक वीर्यशाली होता है' -- इस श्रुति में उक्त 'वीर्यवत्तरम्' पद के 'तरप्' प्रत्यय का अर्थ 'अतिशय' विविक्षित होने से जिस प्रकार यह निश्चित होता ही है कि विद्यादि के बिना किया हुआ कर्म भी वीर्यवान् होता ही है, उसी प्रकार 'ज्ञानी भक्त मेरा अत्यर्थ -- अत्यन्त प्रिय है' -- यह कहने से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के बिना भी जो मेरा भक्त है वह भी मेरा प्रिय है, कारण कि यहाँ ज्ञानी के लिए 'अत्यर्थम्' -- यह विशेषण विवक्षित है । कहा भी है -- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिस प्रकार भजते हैं उनको मैं उसी प्रकार ही भजता हूँ' । अत: मुझको आत्मस्वरूप से जाननेवाला ज्ञानी मेरा आत्मा ही है, मुझसे भिन्न नहीं है, किन्तु मैं ही वह हूँ -- यह मेरा मत -- निश्चय है । 'तु' शब्द यह सूचित करने के लिए है कि जो सकाम भेददर्शी तीन प्रकार के भक्त हैं उनकी अपेक्षा निष्कामत्व अभेददर्शित्वरूप ज्ञानी विशेष है । हि -- यस्मात् = क्योंकि उस ज्ञानी ने युक्तात्मा -- सदा मुझमें ही समाहित चित्त होकर मुझ अनन्त, आनन्दघन, आत्मस्वरूप भगवान् को ही अनुत्तम -- सर्वोत्कृष्ट गति[30] -- गन्तव्य स्थान अर्थात् परम फलरूप से आस्थित[31] -- अङ्गीकार किया है, न कि मुझसे भिन्न किसी भी फल को वह मानता है-- यह अर्थ है ॥ 18 ॥

30. जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है उसको 'गति' कहते है । 'अनुत्तम' शब्द का अर्थ है -- जिससे उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है । इसप्रकार नित्य, महत्, सूक्ष्म, आन्तर, आनन्दस्वरूप, ज्ञेय और प्राप्यरूप होने के कारण जिस गति से लोक में या शास्त्र में प्रसिद्ध अन्य कोई उत्तम पदार्थ नहीं है वही 'अनुत्तमा गति' है ,। आनन्दस्वरूप परब्रह्म ही 'अनुत्तमा गति' है । श्रुति में भी कहा गया है -- 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति:' (कठोपनिषद्) = 'पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है, वही अन्तिम सीमा है, वही परागति है ।'

31. आस्थित: = इसका व्युत्पत्त्यर्थ है -- 'आ समन्तात् मामेव अधिष्ठाय स्थित: आश्रित:' अर्थात् सर्वतोभाव से मुझको ही आश्रय कर स्थित रहते है = 'मैं परब्रह्म वासुदेव ही हूँ' -- इस प्रकार अखण्डाकारा वृत्ति के द्वारा सदा मेरे स्वरूप में ही स्थितिलाभ करने में प्रवृत्त रहते हैं । इसलिए भाष्य में 'आस्थित:' शब्द का 'आरोढुं प्रवृत्त:' -- यह अर्थ किया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का साक्षात्कार करने पर मुक्तात्मा होते हैं और शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही एकमात्र नित्य और परमानन्द का हेतु जानकर 'वही जीवन की अनुत्तमा-गति है' -- ऐसा निश्चय कर उस आत्मस्वरूप में निरन्तर अप्रतिबद्धरूप से स्थितिलाभ करने में प्रवृत्त होते हैं । किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'आस्थित' शब्द का अर्थ 'अङ्गीकृतवान्' किया है । उनके अनुसार फलितार्थ

49 तत्तद्देवताप्रसादात्तेषामपि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे भक्तिर्भविष्यतीति न शङ्कनीयं, यतः--

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ 21 ॥

50 तेषां मध्ये यो यः कामी यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया जन्मान्तरवासनाबलप्रादुर्भूतया भक्त्या संयुक्तः सन्नर्चितुमर्चयितुमिच्छति प्रवर्तते । चौरादिकस्यार्चयतेर्णिजभावपक्षे रूपमिदम् । तस्य तस्य कामिनस्तामेव देवतातनुं प्रति श्रद्धां पूर्ववासनावशात्प्राप्तां भक्तिमचलां स्थिरां विदधामि करोम्यहमन्तर्यामी, न तु मद्विषयां श्रद्धां तस्य तस्य करोमीत्यर्थः । तामेव श्रद्धामिति व्याख्याने यच्छब्दानन्वयः स्पष्टस्तस्मात्प्रतिशब्दमध्याहृत्य व्याख्यातम् ॥ 21 ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ 22 ॥

51 स कामी तया मद्विहितया स्थिरया श्रद्धया युक्तस्तस्या देवतातन्वा राधनमाराधनं पूजनमीहते निर्वर्तयति । उपसर्गरहितोऽपि राधयतिः पूजार्थः । सोपसर्गत्वे ह्याकारः श्रूयेत । लभते च तत-

49 उस-उस देवता के प्रसाद -- अनुग्रह से उन क्षुद्र देवताओं के भक्तों की भी सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव में भक्ति होगी -- ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि :--
[जो-जो भक्त जिस-जिस देवतामूर्ति को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है उस-उस की उसी-उसी देवताविषयक श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ ॥ 21 ॥]

50 उनमें से जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस तनु[34] -- देवतामूर्ति की श्रद्धा से -- जन्मान्तर की वासना के बल से प्रादुर्भूत भक्ति से संयुक्त होकर अर्चना करने की इच्छा करता है अर्थात् अर्चना-आराधना में प्रवृत्त होता है । 'अर्च पूजायाम्' = 'अर्च्' धातु 'पूजा करने' के अर्थ में चुरादि गण की है, अतः 'अर्च्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय करने पर 'अर्चयितुम्' -- यह रूप निष्पन्न होता है, 'अर्चितुम्' यह रूप ठीक नहीं है -- इस आक्षेप की निवृत्ति के लिए समाधान है कि जिस पक्ष में 'णिच्' का अभाव होता है उस पक्ष में 'अर्चितुम्' -- यह रूप ठीक है । उस-उस सकाम भक्त की उसी-उसी देवतामूर्ति के प्रति श्रद्धा को = पूर्ववासनावश प्राप्त हुई भक्ति को मैं अन्तर्यामी अचल = स्थिर करता हूँ, न कि उस-उस सकाम भक्त की श्रद्धा को मद्विषयक करता हूँ -- यह अर्थ है । 'तामेव श्रद्धाम्' = 'उसी श्रद्धा को' -- ऐसी व्याख्या करने पर इसका 'यां याम्' -- इस रूप में प्रयुक्त 'यत्' शब्द से अन्वय नहीं होता है -- यह स्पष्ट है, इसलिए यहाँ 'तामेव प्रति श्रद्धाम्' -- इसप्रकार 'तामेव' के साथ 'प्रति' शब्द का अध्याहार करके व्याख्या की है ॥ 21 ॥
[उस श्रद्धा से युक्त हुआ वह देवताभक्त उस देवतामूर्ति की आराधना करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही निष्पन्न की हुई अपनी कामनाओं को प्राप्त करता है ॥ 22 ॥]

51 वह सकाम देवताभक्त मेरे द्वारा विहित -- स्थिर की हुई उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवतातनु -- देवतामूर्ति का राधन -- आराधन = पूजन करता है । 'आङ्'-- उपसर्गरहित होने पर भी 'राध्'

संसार में कोई-कोई पुत्र, पशु इत्यादि विषय की और परलोक में स्वर्गादि की कामना करते हैं ।

34. तनु = 'कामितार्थं तनोतीति तनुर्देवता' अर्थात् जो काम्य पदार्थों की वृद्धि करता है उसको ' तनु' अर्थात् 'देवता' कहा जाता है । यहाँ 'तनु' शब्द के एकवचन के प्रयोग से भगवान् यही सूचित करते हैं कि देवताओं के तनु अर्थात् मूर्ति का भेद होता है, परन्तु उनकी आत्मा चैतन्यस्वरूप वासुदेव मैं ही हूँ, अतः परमार्थतः उन देवताओं में और मुझमें कोई भेद नहीं है ।

स्तस्या देवतातन्वाः सकाशात्कामानीप्सितांस्तान्पूर्वसंकल्पितान्हि प्रसिद्धम् । मयैव सर्वज्ञेन सर्वकर्मफलदायिना तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितांस्तत्तत्फलविपाकसमये निर्मितान् । हितान्मनः-प्रियानित्यैकपद्यं वा । अहितत्वेऽपि हिततया प्रतीयमानानित्यर्थः ॥ 22 ॥

52 **यद्यपि सर्वा अपि देवताः सर्वात्मनो ममैव तनवस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराधनमेव, सर्वत्रापि च फलदाताऽन्तर्याम्यहमेव, तथाऽपि साक्षान्मद्भक्तानां च तेषां च वस्तुविवेकाविवेककृतं फलवैषम्यं भवतीत्याह –**

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ 23 ॥

53 **अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन वस्तुविवेकासमर्थानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तन्मया विहितमपि तत्तद्देवताराधनजं फलमन्तवदेव विनाश्येव न तु मद्भक्तानां विवेकिनामिवानन्तं फलं तेषामि-त्यर्थः । कुत एवं यतो देवानिन्द्रादीनन्तवत एव देवयजो मदन्यदेवताराधनपरा यान्ति**

धातु पूजार्थक है, उपसर्गसहित होने पर 'आ'कार सुनाई देता । उस देवतामूर्ति से उन पूर्वसंकल्पित कामनाओं -- ईप्सित वस्तुओं को प्राप्त करता है -- यह प्रसिद्ध है, इसलिए 'हि' शब्द का प्रयोग प्रसिद्धार्थ में हुआ है । उस-उस देवता के अन्तर्यामी, सम्पूर्ण कर्मफलों को देनेवाले मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा ही विहित = उस-उस कर्मफल के विपाक -- परिपाक के समय निर्मित उन कामनाओं को प्राप्त करता है[35] । अथवा, 'विहितान्' पद का 'वि + हितान्' -- इसप्रकार पदच्छेद होने से 'हितान्' -- यह एक पद है, इस पक्ष में 'हितान्' का अर्थ मन:प्रिय है, फलत: अर्थ होगा कि मुझ परमेश्वर के द्वारा ही वि-विशेष हित -- मन:प्रिय कामनाओं को प्राप्त करता है अर्थात् अहितरूप होने पर भी अज्ञानवश हितरूप प्रतीयमान कामनाओं को प्राप्त करता है । यहाँ 'हित' शब्द अनित्य -- औपचारिक ही है[36] ।। 22 ।।

52 यद्यपि सभी देवता मुझ सर्वात्मा के ही तनु-स्वरूप हैं, उनकी आराधना भी वस्तुत: मेरी आराधना ही है, और सर्वत्र फलदाता अन्तर्यामी भी मैं ही हूँ, तथापि साक्षात् मेरे भक्तों में और उन क्षुद्रदेवताभक्तों में वस्तु के विवेक और अविवेक के कारण होनेवाली फल की विषमता रहती ही है -- यह भगवान् कहते हैं :--

[उन अल्पबुद्धि देवताभक्तों का वह फल अन्तवान् -- नाशवान् ही होता है । वे देवताओं की आराधना करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ।। 23 ।।]

53 अल्पबुद्धि = मन्दमति होने से वस्तुविवेक में असमर्थ उन = उस-उस देवता के भक्तों का वह = उस-उस देवता की आराधना से प्राप्त, मेरे द्वारा नियत भी फल अन्तवान् = नाशवान् ही होता है, न कि विवेकी मेरे भक्तों के समान उनका फल अनन्त होता है -- यह अर्थ है । ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि देवयाजी = मुझसे भिन्न देवताओं की अराधना में तत्पर अन्तवान् इन्द्रादि देवताओं

35. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि देवताओं के अन्तर्यामीरूप से मैं ही अवस्थान कर देवताओं के द्वारा उन-उन सभी अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करता हूँ । इसीलिए श्रुति में भी कहा गया है -- 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' ।

36. यहाँ 'हित' शब्द औपचारिक ही है, क्योंकि कामसमूह किसी के लिए हितकर नहीं हो सकता, कारण कि वे सब दु:खमय संसारगति की प्राप्ति का ही हेतु होते हैं ।

प्राप्नुवन्ति । मद्भक्तास्तु त्रयः सकामाः प्रथमं मत्प्रसादादभीष्टान्कामान्प्राप्नुवन्ति । अपिशब्दप्रयोगात्ततो मदुपासनापरिपाकान्मामनन्तमानन्दघनमीश्वरमपि यान्ति प्राप्नुवन्ति । अत: समानेऽपि सकामत्वे मद्भक्तानामन्यदेवताभक्तानां च महदन्तरम् । तस्मात्साधूक्तमुदाराः सर्व एवैत इति ॥ 23 ॥

54 **एवं भगवद्भजनस्य सर्वोत्तमफलत्वेऽपि कथं प्रायेण प्राणिनो भगवद्विमुखा इत्यत्र हेतुमाह भगवान् –**

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ 24 ॥

55 **अव्यक्तं देहग्रहणात्प्राक्कार्याक्षमत्वेन स्थितमिदानीं वसुदेवगृहे व्यक्तिं भौतिकदेहावच्छेदेन कार्यक्षमतां प्राप्तं कंचिज्जीवमेव मन्यन्ते मामीश्वरमप्यबुद्धयो विवेकशून्याः । अव्यक्तं सर्वकारणमपि मां व्यक्तिं कार्यरूपतां मत्स्यकूर्माद्यनेकावताररूपेण प्राप्तमिति वा ।**

56 **कथं ते जीवास्त्वां न विविञ्चन्ति । तत्राबुद्धय इत्युक्तं हेतुं विवृणोति – परं सर्वकारणरूपमव्ययं नित्यं मम भावं स्वरूपं सोपाधिकमजानन्तस्तथा निरुपाधिकमप्यनुत्तमं सर्वोत्कृष्टमनतिशयाद्वितीयपरमा-**

को ही प्राप्त होते हैं[37] । मेरे तीन प्रकार के सकाम भक्त तो प्रथम मेरे अनुग्रह से अपने अभीष्ट कामों को प्राप्त होते हैं और 'अपि' शब्द के प्रयोग से पुन: मेरी उपासना के परिपाक से मुझ अनन्त, आनन्दघन, ईश्वर को भी प्राप्त होते हैं । अत: सकामत्व में समान होने पर भी मेरे भक्तों में और अन्य देवताओं के भक्तों में महान् अन्तर है । अत: ठीक ही कहा है – 'उदाराः सर्व एवैत' इति ॥ 23 ॥

54 इसप्रकार भगवद्-भजन का सर्वोत्तम फल होने पर भी प्राणी प्राय: भगवान् से विमुख क्यों रहते हैं ? इसमें भगवान् कारण कहते हैं :--

[मेरे अव्यय और अनुत्तम -- सर्वोत्तम तथा सर्वकारणरूप भाव को न जाननेवाले बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्व को प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ 24 ॥]

55 अव्यक्त = देहग्रहण से पूर्व कार्य करने में अक्षमरूप से स्थित और इस समय वसुदेव के गृह में व्यक्ति = भौतिक देह के अवच्छेद से कार्य करने में क्षमता को प्राप्त मुझ ईश्वर को भी अबुद्धि = विवेकशून्य पुरुष कोई जीव ही मानते हैं । अथवा, अव्यक्त = सबके कारणभूत भी मुझको व्यक्ति = मत्स्य, कूर्म आदि अनेक अवताररूप से कार्यरूपता को प्राप्त हुआ मानते हैं ।

56 वे जीव आपका विवेचन क्यों नहीं करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त हेतु जो 'अबुद्धयः' है उसका विवरण करते हैं -- पर = सर्वकारणरूप, अव्यय = नित्य मेरे भाव अर्थात् सोपाधिक स्वरूप को न जानकर तथा निरुपाधिक भी अनुत्तम = सर्वोत्कृष्ट अर्थात् अनतिशय -- निरतिशय, अद्वितीय, परमानन्दघन, अनन्त मेरे स्वरूप को न जानकर जीवों के कार्य के समान कार्य करना देखने से

37. 'देवयाजी अन्तवान् इन्द्रादि देवताओं को ही प्राप्त होते हैं' – इसका अर्थ है कि देवयाजी इन्द्रादि देवताओं के सालोक्य को ही प्राप्त होते हैं और उन-उन लोकों अर्थात् ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, शिवलोक इत्यादि लोकों के भोग का उपभोग करते हैं । किन्तु इन्द्रादि देवता स्वयं ही अन्तवान् = विनाशशील हैं अर्थात् चिरस्थायी – नित्य नहीं हैं । कल्प के नाश के साथ-साथ उनका भी नाश होता है, अत: उनकी आराधना से प्राप्त हुआ फल भी विनश्वर होता है ।

नन्दघनमनन्तं मम स्वरूपमजानन्तो जीवानुकारिकार्यदर्शनाज्जीवमेव कंचिन्मां मन्यन्ते । ततो मामनीश्वरत्वेनाभिमतं विहाय प्रसिद्धं देवतान्तरमेव भजन्ते । ततश्चान्तवदेव फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अग्रे च वक्ष्यते -- अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितमिति ॥ 24 ॥

57 **ननु जन्मकालेऽपि सर्वयोगिध्येयं श्रीवैकुण्ठस्थमैश्वरमेव रूपमाविर्भावितवति संप्रति च श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्योपकरणशालिनि कम्बुकमलकौमोदकी-चक्रवरधारिचतुर्भुजे श्रीमद्वैनतेयवाहने निखिलसुरलोकसंपादितराजराजेश्वराभिषेकादिमहावैभवे सर्वसुरासुरजेतरि विविधदिव्यलीलाविलासशीले सर्वावतारशिरोमणौ साक्षाद्वैकुण्ठनायके निखिललोकदुःखनिस्ताराय भुवमवतीर्णे विरिञ्चिप्रपञ्चासंभवि निरतिशयसौन्दर्यसारसर्वस्वमूर्तौ बाललीलाविमोहितविधातरि तरणिकिरणोज्ज्वलदिव्यपीताम्बरे निरुपमश्यामसुन्दरे करदीकृत-पारिजातार्थपराजितपुरंदरे बाणयुद्धविजितशशाङ्कशेखरे समस्तसुरासुरविजयिनरक-प्रभृतिमहादैतेयप्रकरप्राणपर्यन्तसर्वस्वहारिणि श्रीदामादिपरमरङ्कमहावैभवकारिणि षोडश-सहस्रदिव्यरूपधारिण्यपरिमेयगुणगरिमणि महामहिमनि नारदमार्कण्डेयादिमहामुनिगणस्तुते त्वयि कथमविवेकिनोऽपि मनुष्यबुद्धिर्जीवबुद्धिर्वेत्यर्जुनाशङ्कामपनिनीषुराह भगवान् --**

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ 25 ॥

कोई जीवविशेष ही मुझको मानते हैं । इसी कारण अनीश्वररूप से माने हुए मुझको छोड़कर किसी दूसरे प्रसिद्ध देवता को ही भजते हैं और उससे अन्तवान् ही फल प्राप्त करते हैं-- यह इसका अभिप्राय है । भगवान् आगे भी यह कहेंगे -- 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' (गीता, 9.11) अर्थात् 'मूढ व्यक्ति मानुषदेहधारी मेरा अनादर करते हैं' ॥ 24 ॥

57 जन्म लेने के समय भी समस्त योगियों के ध्येय श्रीवैकुण्ठस्थ ईश्वररूप को ही प्रकट करनेवाले और इस समय श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, किरीट, कुण्डल आदि दिव्य भूषण धारण करनेवाले; शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और चक्रवर-सुदर्शन -- इन आयुधों को धारण करनेवाली चार भुजाओंवाले; श्रीमान् वैनतेय-गरुडरूप वाहनवाले; सम्पूर्ण सुरलोकों द्वारा सम्पादित राजराजेश्वराभिषेकरूप महान् वैभववाले; समस्त देवता और असुरों को जीतने वाले; विविध दिव्य लीलाओं के विलासशील; सम्पूर्ण अवतारों में शिरोमणि; साक्षात् वैकुण्ठनायक; सम्पूर्ण लोकों के दु:खों की निवृत्ति के लिए पृथ्वी पर अवतार लेनेवाले; ब्रह्मा की सृष्टि में असम्भव निरतिशय सौन्दर्य की सारसर्वस्वमूर्ति; अपनी बाललीलाओं से विधाता को भी मोहित करनेवाले; तरणि -- सूर्य की किरणों के समान उज्ज्वल दिव्य पीताम्बरधारी; निरुपम श्यामसुन्दर; करदीकृत[38] पारिजात वृक्ष के लिए इन्द्र को पराजित करनेवाले; वाणासुर के साथ युद्ध करते समय शशाङ्कशेखर -- महादेव को पराजित करनेवाले; समस्त देवता और असुरों को जीतनेवाले नरकासुर आदि बडे-बडे दैत्यों के प्राणपर्यन्त सर्वस्व का हरण करनेवाले; श्रीदामा -- सुदामा आदि परम रङ्कों को महान् वैभवशाली बना देनेवाले; सोलह हजार दिव्य रूप धारण करनेवाले; अपरिमित गुणगरिमा से युक्त; महामहिमशाली; नारद, मार्कण्डेय

38. करदीकृत = कर देनेवाले को 'करद' कहते हैं, जो पहले कर नहीं देता है और बाद में पराजित होने पर कर देता है वह 'करदीकृत' कहलाता है । श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी की प्रसन्नता के लिए इन्द्र को पराजित कर नन्दनवन से करदीकृत पारिजात को लाकर उनके प्राङ्गण में रोप दिया था -- ऐसी पौराणिक गाथा है ।

58 अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि । किं तु केषांचिन्मद्भक्तानामेव प्रकटो भवामीत्यभिप्रायः । कथं सर्वस्य लोकस्य न प्रकट इत्यत्र हेतुमाह--योगमायासमावृतः, योगो मम संकल्पस्तद्वशवर्तिनी माया योगमाया तयाऽयमभक्तो जनो मां स्वरूपेण न जानात्विति संकल्पानुविधायिन्या मायया सम्यगावृतः सत्यपि ज्ञानकारणे ज्ञानविषयत्वायोग्यः कृतः । अतो यदुक्तं 'परं भावमजानन्त' इति तत्र मम संकल्प एव कारणमित्युक्तं भवति । अतो मम मायया मूढ आवृतज्ञानः सन्नयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः सत्यपि ज्ञानकारणे मामजमव्ययमनाद्यनन्तं परमेश्वरं नाभिजानाति, किं तु विपरीतदृष्ट्या मनुष्यमेव कंचिन्मन्यत इत्यर्थः । विद्यमानं वस्तुस्वरूपमावृणोत्यविद्यमानं च किंचिद्दर्शयतीति लौकिकमायायामपि प्रसिद्धमेतत् ॥ 25 ॥

59 अतो मायया स्वाधीनया सर्वव्यामोहकत्वात्स्वयं चाप्रतिबद्धज्ञानत्वात् --

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ 26 ॥

आदि महामुनिगण से स्तुत आपमें अविवेकियों की भी मनुष्यबुद्धि या जीवबुद्धि क्यों होती है ? -- इस अर्जुन की आशङ्का का निराकरण करने की इच्छा से भगवान् कहते हैं :--
[योगमाया से समावृत -- आच्छादित हुआ मैं सबको प्रकट नहीं होता हूँ, इसलिए मुझ अजन्मा और अविनाशी को यह मूढ लोक नहीं जानता है ॥ 25 ॥]

58 मैं सब लोक को प्रकाशमान् अर्थात् अपने रूप से प्रकट नहीं होता हूँ, किन्तु अपने किन्हीं भक्तों को ही प्रकट होता हूँ -- यह अभिप्राय है । सब लोक को प्रकट क्यों नहीं होता हूँ ? -- इसमें 'योगमायासमावृतः' -- यह हेतु कहते हैं । 'योग' मेरा संकल्प है, उसके वश में रहनेवाली जो माया है वह 'योगमाया'[39] है, उससे = 'ये अभक्तजन मुझ ईश्वर को स्वरूप से नहीं जानें' -- इसप्रकार के मेरे संकल्प का अनुसरण करनेवाली माया से ज्ञान का कारण रहने पर भी सम्यक् प्रकार से आवृत -- आच्छन्न रहता हूँ अर्थात् ज्ञान की विषयता के अयोग्य कर दिया जाता हूँ । अतः यह जो कहा गया है कि 'परं भावमजानन्तः' = 'मेरे परम भाव को न जानकर', उसमें मेरा संकल्प ही कारण है -- ऐसा कहना होता है । अतः मेरी माया से मूढ और आवृतज्ञान हुआ यह पूर्वोक्त चार प्रकार के भक्तों से विलक्षण लोक ज्ञान का कारण रहने पर भी मुझ अजन्मा, अव्यय-अविनाशी, अनादि, अनन्त परमेश्वर को नहीं जानता है, किन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से मुझको कोई मनुष्य ही मानता है -- यह अर्थ है । लौकिक माया के विषय में भी यह प्रसिद्ध ही है कि वह विद्यमान वस्तु के स्वरूप को ढक लेती है और अविद्यमान किसी वस्तु को दिखाती है ॥ 25 ॥

59 इसलिए स्वाधीन माया से सबका व्यामोहक और स्वयं अप्रतिबद्ध ज्ञानवान् होने से --

39. योगमाया = 'योगो युक्तिः मदीयः कोऽप्यचिन्त्यप्रज्ञाविलासः स एव माया अघटमानघटनाचातुर्यं योगमाया' (श्रीधरी टीका) = 'योग'शब्द का अर्थ है -- 'युक्ति' । वह योग या युक्ति मेरा = भगवान् का कोई एक अचिन्त्य प्रज्ञा का विलासरूप संकल्प है । यह योग अथवा संकल्प ही माया है (योग एव माया योगमाया), कारण कि यह अघटनघटनपटीयसी है । अभिप्राय यह है कि शुद्धचैतन्य में माया भी नहीं है, अतः गुणों की क्रिया भी नहीं है । शुद्धचैतन्य में अचिन्त्य और अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति का उदय होने पर जगत् की सृष्टि का आरम्भ होता है, क्योंकि इस अवस्था में गुणत्रय का योग या संघटन होकर वह जो जगत् की वस्तुतः सत्ता नहीं है उस जगत् को शुद्धब्रह्मरूप अधिष्ठान में प्रतीत कराती रहती है । अतः वह कल्पनाशक्ति अघटनघटनपटीयसी होने के कारण माया = 'योगमाया' कहलाती है ।

60 **अहमप्रतिबद्धसर्वविज्ञानो मायया सर्वांल्लोकान्मोहयन्नपि समतीतानि चिरविनष्टानि वर्तमानानि च भविष्याणि च । एव कालत्रयवर्तीनि भूतानि स्थावरजंगमानि सर्वाणि वेद जानामि हेऽर्जुन । अतोऽहं सर्वज्ञः परमेश्वर इत्यत्र नाऽस्ति संशय इत्यर्थः । मां तु, तुशब्दो ज्ञानप्रतिबन्धद्योतनार्थः । मां सर्वदर्शिनमपि मायाविनमिव तन्मायामोहितः कश्चन कोऽपि मदनुग्रहभाजनं मद्भक्तं विना न वेद मन्मायामोहितत्वात् । अतो मत्तत्त्ववेदनाभावादेव प्रायेण प्राणिनो मां न भजन्त इत्यभिप्रायः ॥ 26 ॥**

61 **योगमायां भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धे हेतुमुक्त्वा देहेन्द्रियसंघाताभिमानातिशयपूर्वकं भोगाभिनिवेशं हेत्वन्तरमाह –**

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ 27 ॥

62 **इच्छाद्वेषाभ्यामनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णसुखदुःखादिद्वंद्वनिमित्तेन मोहेनाहं सुख्यहं दुःखीत्यादिविपर्ययेण सर्वाण्यपि भूतानि संमोहं विवेकायोग्यत्वं सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां यान्ति । हे भारत हे परंतपेति संबोधनद्वयस्य कुलमहिम्ना स्वरूपशक्त्या च त्वां द्वंद्वमोहाख्यः**

[हे अर्जुन ! मैं तो समतीत = पूर्व में व्यतीत हुए, वर्तमान में स्थित और भविष्य में होनेवाले -- सभी प्राणियों को जानता हूँ, किन्तु मुझको कोई नहीं जानता है ॥ 26 ॥]

60 हे अर्जुन ! जिसका सब प्रकार का विज्ञान अप्रतिबद्ध है ऐसा मैं अपनी माया से सम्पूर्ण लोकों को मुग्ध करता हुआ भी समतीत = चिरकाल पूर्व विनष्ट हुए, वर्तमान में स्थित और भविष्य में होनेवाले -- इस प्रकार तीनों कालों में रहनेवाले स्थावर-जंगम सभी प्राणियों को जानता हूँ । अत : मैं सर्वज्ञ परमेश्वर हूँ -- इसमें कोई संशय नहीं है -- यह अभिप्राय है । 'मां तु' -- इसमें प्रयुक्त 'तु' शब्द परमेश्वर से भिन्न सभी प्राणियों के ज्ञान की प्रतिबन्धकता को सूचित करने के लिए है । मायावी के समान सर्वदर्शी भी मुझको मेरे अनुग्रह के पात्र मेरे भक्त के बिना उस माया से मोहित हुआ कोई भी जीव नहीं जानता है, क्योंकि वह मेरी माया से मोहित रहता है । अत: अभिप्राय यह है कि मेरे तत्त्व का ज्ञान न होने के कारण ही प्राणी प्राय: मुझको नहीं भजता है ॥ 26 ॥

61 भगवत्तत्त्व के विज्ञान में प्रतिबन्धक कारण योगमाया को कहकर अब देहेन्द्रियसंघात के अत्यन्त अभिमानपूर्वक भोगाभिनिवेशरूप दूसरा प्रतिबन्धक कारण कहते हैं :--

[हे भारत ! हे परंतप ! स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर समस्त प्राणी इच्छा और द्वेष से समुत्पन्न सुख-दु:खादि द्वन्द्व के निमित्तक मोह से संमोह को प्राप्त होते हैं ॥ 27 ॥]

62 अनुकूलविषयक इच्छा और प्रतिकूलविषयक द्वेष से समुत्पन्न शीतोष्ण, सुख-दु:खादि द्वन्द्वों के निमित्तक मोह से = 'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ' -- इत्यादि विपर्यय = मिथ्याज्ञान से समस्त प्राणी सर्ग अर्थात् स्थूलदेह की उत्पत्ति होने पर ही संमोह = विवेक की अयोग्यता को प्राप्त होते है[40] । 'हे भारत !' और 'हे परन्तप[41] !' -- इन दोनों सम्बोधनों का भाव यह है कि कुल की महिमा और स्वरूपशक्ति

40. कारण कि सुख-दु:खादि वस्तुत: आत्मा के धर्म नहीं है, ये अन्त:करण के धर्म हैं, अत: स्थूलदेह की उत्पत्ति होने पर ही उनमें तादात्म्याध्यास होता है, फलत: इस तादात्म्याध्यास के हेतु विपर्यय – मिथ्याज्ञान से समस्त प्राणी मुग्ध होते हैं ।

41. हे अर्जुन ! तुम परन्तप हो = परम तपस्वी हो, अत: शीतोष्ण, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वरूप शत्रु तुमको अभिभूत नहीं कर सकेंगे । फिर तुम भारत हो = ज्ञानवैराग्यसम्पन्न, प्रसिद्ध भरतवंश में तुम्हारा जन्म हुआ है, अत: तुम

शत्रुर्नाभिभवितुमलमिति भावः । नहीच्छाद्वेषरहितं किंचिदपि भूतमस्ति । न च ताभ्यामाविष्टस्य बहिर्विषयमपि ज्ञानं संभवति किं पुनरात्मविषयम् । अतो रागद्वेषव्याकुलान्तःकरणत्वात्सर्वाण्यपि भूतानि मां परमेश्वरमात्मभूतं न जानन्ति, अतो न भजन्ते भजनीयमपि ॥ 27 ॥

63 यदि सर्वभूतानि संमोहं यान्ति कथं तर्हि 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'त्युक्तम् ? सत्यं, सुकृतातिशयेन तेषां क्षीणपापत्वादित्याह--

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ 28 ॥

64 येषां त्वितरलोकविलक्षणानां जनानां सफलजन्मनां पुण्यकर्मणामनेकजन्मसु पुण्याचरणशीलानां तैस्तैः पुण्यैः कर्मभिर्ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमन्तमवसानं प्राप्तं ते पापाभावेन तन्निमित्तेन द्वंद्वमोहेन रागद्वेषादिनिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव निर्मुक्ताः पुनरावृत्त्ययोग्यत्वेन त्यक्ता दृढव्रता अचाल्यसंकल्पाः सर्वथा भगवानेव भजनीयः स चैवंरूप एवेति प्रमाणजनिताप्रामाण्यशङ्का-शून्यविज्ञानाः सन्तो मां परमात्मानं भजन्तेऽनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते । एतादृशा एव 'चतुर्विधा

के कारण तुमको द्वन्द्वमोहसंज्ञक शत्रु अभिभूत करने में समर्थ नहीं है । इच्छा और द्वेष से रहित तो संसार में कोई भी प्राणी नहीं है और उन इच्छा तथा द्वेष से आविष्ट-वशीकृत प्राणी को बाह्यविषयक ज्ञान भी नहीं होता है, फिर आत्मविषयक ज्ञान की तो बात ही क्या है ? अतः राग-द्वेष से व्याकुलचित्त रहने के कारण सभी प्राणी आत्मभूत -- आत्मस्वरूप मुझ परमेश्वर को नहीं जानते हैं, अतएव भजनीय भी मुझको नहीं भजते हैं ॥ 27 ॥

63 यदि समस्त प्राणी संमोह को प्राप्त होते हैं, तो 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' = 'चार प्रकार के भक्त मुझको भजते हैं' -- ऐसा क्यों कहा है ? ठीक है, पुण्यों की अतिशयता के कारण उनके पाप क्षीण हो जाते हैं -- इसप्रकार भगवान् कहते हैं :--

[जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के पापों का अन्त हो गया है वे रागद्वेषादि द्वन्द्वरूप मोह से सर्वथा मुक्त और सुदृढ़ संकल्पवाले होकर मुझको भजते हैं ॥ 28 ॥]

64 अन्य लोगों से विलक्षण जिन सफलजन्मा पुण्यकर्मा -- अनेक जन्मों में पुण्य कर्मों का आचरण करनेवाले पुरुषों का ज्ञान का प्रतिबन्धक पाप उन-उन पुण्यकर्मों से अन्तगत हो गया है -- समाप्त हो गया है वे पाप का अभाव होने से उसके कारण द्वन्द्वमोह = रागद्वेषादिनिमित्तक विपर्यास -- विपरीत ज्ञान से स्वतः ही निर्मुक्त = पुनरावृत्ति-जन्मग्रहण के अयोग्य होने से त्यक्त-- परित्यक्त हुए दृढव्रत = अचल संकल्प अर्थात् 'सर्वथा भगवान् ही भजनीय है और वह एवंरूप ही है' -- इस प्रकार प्रमाणजनित और अप्रामाण्य की शङ्का से शून्य विज्ञानवाले होकर मुझ परमात्मा को भजते हैं अर्थात् अनन्यशरण होकर -- किसी अन्य की शरण में न जाकर मेरा ही सेवन करते हैं । एतादृश ही -- ऐसे ही पुरुष 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' = 'चार प्रकार के भक्त मुझको भजते हैं' -- इस श्लोक में 'सुकृति' शब्द से कहे गये हैं । अतः 'सर्वभूतानि संमोहं यान्ति' = ' समस्त प्राणी संमोह को प्राप्त होते हैं-- यह उत्सर्ग है और 'तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्या मां भजन्ते'

अपने वंश की महिमा से मोह के वशीभूत नहीं हो सकोगे । द्वन्द्व और मोह -- दोनों ही ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं । तुम अपनी शक्ति के प्रभाव से और वंश की महिमा के प्रभाव से अनायास ही इनको जीत सकोगे -- इस प्रकार आश्वासन देने के लिए ही भगवान् ने अर्जुन को उक्त दोनों सम्बोधनों से सम्बोधित किया है ।

भजन्ते मामि'त्यत्र सुकृतिशब्देनोक्ताः । अतः सर्वभूतानि संमोहं यान्तीत्युत्सर्गः । तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्या मां भजन्त इत्यपवाद इति न विरोधः। अयमेवोत्सर्गः प्रागपि प्रतिपादित-स्त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरित्यत्र। तस्मात्सत्त्वशोधकपुण्यकर्मसंचाय सर्वदा यतनीयमिति भावः ॥ 28 ॥

65 **अथेदानीमर्जुनस्य प्रश्नमुत्थापयितुं सूत्रभूतौ श्लोकावुच्येते । अनयोरेव वृत्तिस्थानीय उत्तरोऽध्यायो भविष्यति--**

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ 29 ॥

66 **ये संसारदुःखान्निर्विण्णा जरामरणमोक्षाय जरामरणादिविविधदुःसहसंसारदुःखनिरासाय तदेकहेतुं मां सगुणं भगवन्तमाश्रित्येतरसर्वविमुख्येन शरणं गत्वा यतन्ति यतन्ते मदर्पितानि फलाभिसंधिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति ते क्रमेण शुद्धान्तःकरणाः सन्तस्तज्जगत्कारणं मायाधिष्ठानं शुद्धं परं ब्रह्म निर्गुणं तत्पदलक्ष्यं मां विदुः। तथाऽऽत्मानं शरीरमधिकृत्य प्रकाशमानं कृत्स्नमुपाध्यपरिच्छिन्नं त्वंपदलक्ष्यं विदुः। कर्म च तदुभयवेदनसाधनं गुरूपसदनश्रवणमननाद्यखिलं निरवशेषं फलाव्यभिचारि विदुर्जानन्तीत्यर्थः॥ 29 ॥**

= 'उनमें जो सुकृति हैं वे संमोहशून्य होकर मुझको भजते हैं' -- यह अपवाद है, अत: यहाँ कोई विरोध नहीं है । यही उत्सर्ग पहले भी 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' -- इस श्लोक में कहा गया है । अत: सत्त्व-चित्त की शुद्धि करनेवाले पुण्यकर्मों के सञ्चय के लिए सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए -- यह भाव है ॥ 28 ॥

65 अब इस समय अर्जुन के प्रश्न के उत्थापन के लिए सूत्रभूत दो श्लोक कहे जाते हैं । इन्हीं सूत्रभूत दोनों श्लोकों की ही वृत्तिरूप -- व्याख्यारूप उत्तर अध्याय होगा --

[जो पुरुष मेरा आश्रय लेकर जरा-मरण की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करते हैं वे तत्पद के लक्ष्य परब्रह्म मुझको तथा शरीरादि उपाधि से अपरिच्छिन्न त्वंपद लक्ष्य आत्मा को और उन दोनों के साधनभूत कर्म को पूर्णतया जानते हैं ॥ 29 ॥]

66 जो पुरुष संसारदु:ख से निर्विण्ण -- खिन्न होकर जरा[42]-मरण से मोक्ष पाने के लिए अर्थात् जरा-मरणादि नानाविध दु:सह -- असहनीय सांसारिक दु:खों की निवृत्ति के लिए उसके एकमात्र हेतु सगुण भगवान् मेरा आश्रय लेकर = इतर सबसे विमुख होते हुए मेरे ही शरण में जाकर यत्न करते हैं अर्थात् मुझको अर्पित करते हुए फलेच्छा से शून्य विहित कर्म करते हैं; वे क्रम से शुद्धचित्त होते हुए जगत् के कारण, माया के अधिष्ठान, तत्पद के लक्ष्य मुझ निर्गुण और शुद्ध परब्रह्म को जानते हैं, तथा अध्यात्म[43] = आत्मा -- शरीर को अधिष्ठान कर प्रकाशमान, सम्पूर्ण उपाधियों से अपरिच्छिन्न, त्वंपद लक्ष्य आत्मा को भी जानते हैं । इसके अतिरिक्त उन दोनों के ज्ञान के साधन

---

42. जरा = 'जायतेऽसौ इति जः -- जीवः ; जं – जीवं राति नश्यतीति जरा' = जो लोग जन्म ग्रहण करते हैं उनको 'ज' -- 'जीव' कहा जाता है । जीव-प्राणी जिसके द्वारा जीर्ण या नष्ट होता है उसको 'जरा' कहा जाता है ।

43. अध्यात्म = 'आत्मानं शरीरमधिकृत्य अधिष्ठानं कृत्वा तिष्ठतीति तदध्यात्मम्' प्रत्येक आत्मा-शरीर को अधिष्ठान कर जो अवस्थान करता है उसको 'अध्यात्म' कहा जाता है अर्थात् किसी प्रकार उपाधि द्वारा परिच्छिन्न न रहकर 'त्वं' पद का लक्ष्य अखण्ड साक्षी चैतन्य प्रत्यगात्मारूप से जो सर्वशरीर में अवस्थान करता है उसको ही यहाँ 'अध्यात्म' शब्द द्वारा कहा गया है ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 30॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥7॥

67 न चैवंभूतानां मद्भक्तानां मृत्युकालेऽपि विवशकरणतया मद्विस्मरणं शङ्कनीयं, यतः साधिभूताधिदैवमधिभूताधिदैवाभ्यां सहितं तथा साधियज्ञं चाधियज्ञेन च सहितं मां ये विदुश्चिन्तयन्ति ते युक्तचेतसः सर्वदा मयि समाहितचेतसः सन्तस्तत्संस्कारपाटवात्प्रयाणकाले प्राणोत्क्रमणकाले करणग्रामस्यात्यन्तव्यग्रतायामपि, चकारादयत्नेनैव मत्कृपया मां सर्वात्मानं विदुर्जानन्ति, तेषां मृतिकालेऽपि मदाकारैव चित्तवृत्तिः पूर्वोपचितसंस्कारपाटवाद्भवति । तथा च ते मद्भक्तियोगात्कृतार्था एवेति भावः।

68 अधिभूताधिदैवाधियज्ञशब्दानुत्तरेऽध्यायेऽर्जुनप्रश्नपूर्वकं व्याख्यास्यति भगवानिति सर्वमनाविलम्।

गुरूपसत्ति, श्रवण-मनन आदि कर्म[44] को भी अखिल = अशेषरूप से अर्थात् फलाव्यभिचारिरूप से = कर्मफल जिससे अवश्य ही प्राप्त हो सके उस प्रकार से जानते हैं ॥ 29 ॥

[जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित मुझको जानते हैं वे युक्तचित्तवाले -- सर्वदा मुझमें ही समाहितचित्त रहनेवाले होकर मरणकाल में भी अनायास ही मुझको ही जानते हैं अर्थात् मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 30 ॥]

67 इसप्रकार के मेरे भक्तों से, मृत्युकाल में भी, इन्द्रियों के विवश रहने से भी मेरे विस्मरण की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि साधिभूताधिदैव = अधिभूत[45] और अधिदैव[46] के सहित तथा साधियज्ञ = अधियज्ञ[47] के सहित मुझको जो पुरुष जानते हैं अर्थात् मेरा चिन्तन करते हैं वे युक्तचित्त = सर्वदा मुझमें ही समाहित चित्त रहनेवाले होकर उस संस्कार की पटुता के कारण प्रयाणकाल में = प्राणोत्क्रमण के समय इन्द्रियसमूह की अत्यन्त व्यग्रता -- विकलता हो जाने पर भी, चकार से बिना प्रयत्न के ही, मेरी कृपा से मुझ सर्वात्मा को जानते हैं । उनकी, मृत्युकाल में भी, मदाकार -- मेरे आकारवाली ही चित्तवृत्ति उनके पूर्वोपचित संस्कारों की पटुता से ही होती है । इसप्रकार भाव यह है कि वे मेरे भक्तियोग से कृतार्थ ही होते हैं ।

68 अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ शब्दों की भगवान् उत्तर अध्याय में अर्जुन के प्रश्नपूर्वक व्याख्या

44. आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में मधुसूदन सरस्वती के मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि 'कर्म' शब्द का अर्थ श्रवण-मननादि साधन किया जाता है तो गीता के अष्टम अध्याय के तृतीय श्लोक में भाष्यकार ने 'कर्म' शब्द का अर्थ जो यज्ञ, दान, होमादि वैदिक कर्म किया है, उसके साथ विरोध होगा । अत: यहाँ 'अखिल कर्म को जानते हैं' -- इस वाक्य का अर्थ होगा 'अखिल – सम्पूर्ण प्रपञ्च के तत्त्व को जानते हैं' ।

45. अधिभूत = उत्पत्ति और विनाशशील वस्तुमात्र को 'अधिभूत' कहा जाता है ।

46. अधिदैव = जो शरीररूप पुर में रहता है उसको 'पुरुष' कहा जाता है । यह पुरुष ही 'अधिदैव ' है । समष्टि लिङ्गशरीररूप हिरण्यगर्भ 'अधिदैव' शब्द के द्वारा अभिहित होता है, क्योंकि वही आदित्यादि देवतागण को आश्रय कर व्यष्टिभूत प्रत्येक जीव की इन्द्रियों का अनुग्राहक होता है ।

47. अधियज्ञ = सभी यज्ञों के अधिष्ठाता और फलदाता विष्णु नाम से जो देवता है वही 'अधियज्ञ' है ।

तदत्रोत्तमाधिकारिणं प्रति ज्ञेयं मध्यमाधिकारिणं प्रति च ध्येयं लक्षणया मुख्यया च वृत्त्या तत्पदप्रतिपाद्यं ब्रह्म निरूपितम् ॥ 30 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती - विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन ज्ञेयध्ये- यप्रतिपाद्यतत्त्वब्रह्मनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ 7॥

करेंगे। इसप्रकार सब अनाविल -- निर्दोष है। यहाँ तत्पद द्वारा लक्षणा और मुख्य वृत्ति से प्रतिपाद्य, उत्तम अधिकारी के प्रति ज्ञेय, मध्यम अधिकारी के प्रति ध्येय ब्रह्म का निरूपण किया गया है ॥ 30 ॥

इस प्रकारश्रीमत्परमहंस -- परिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन- सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

अथ अष्टमोऽध्यायः

1 पूर्वाध्यायान्ते 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इत्यादिना सार्धश्लोकेन सप्त पदार्था ज्ञेयत्वेन भगवता सूत्रितास्तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयमष्टमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र सूत्रितानि सप्त वस्तूनि विशेषतो बुभुत्समानः श्लोकाभ्याम् –

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अभिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ 1 ॥

2 तज्ज्ञेयत्वेनोक्तं ब्रह्म किं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा । एवमात्मानं देवमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीत्यध्यात्मं किं श्रोत्रादिकरणग्रामो वा प्रत्यक्चैतन्यं वा । तथा कर्म चाखिलमित्यत्र किं कर्म यज्ञरूपमन्यद्वा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति श्रुतौ द्वैविध्यश्रवणात् ।

3 तव मम च समत्वात्कथं त्वं मां पृच्छसीति शङ्कामपनुदन्सर्वपुरुषेभ्य उत्तमस्य सर्वज्ञस्य तव न किंचिदज्ञेयमिति संबोधनेन सूचयति हे पुरुषोत्तमेति । अधिभूतं च किं प्रोक्तं पृथिव्यादिभूतमधिकृत्य यत्किंचित्कार्यमधिभूतपदेन विवक्षितं किंवा समस्तमेव कार्यजातम् । चकारः सर्वेषां प्रश्नानां समुच्चयार्थः । अधिदैवं किमुच्यते देवताविषयमनुध्यानं वा सर्वदैवतेष्वादित्यमण्डलादिष्वनुस्यूतं चैतन्यं वा ॥ 1 ॥

---

1 पूर्व अध्याय के अन्त में 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' (गीता, 7.29 ब-30) -- इत्यादि डेढ़ श्लोक से भगवान् ने ज्ञेयरूप से सात पदार्थ सूचित किए हैं । उनकी वृत्तिरूप अर्थात् विशेषव्याख्यारूप यह अष्टम अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें पूर्वसूत्रित सात वस्तुओं -- पदार्थों को विशेषरूप से जानने की इच्छा से अर्जुन दो श्लोकों द्वारा भगवान् से पूछते हैं :--
[अर्जुन ने कहा -- हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसको कहा गया है ? तथा अधिदैव किसको कहा जाता है ? ॥ 1 ॥]

2 वह ज्ञेयरूप से उक्त ब्रह्म क्या है ? वह सोपाधिक है अथवा निरुपाधिक है ? इसी प्रकार वह अध्यात्म = जो आत्मा -- देह को अधिष्ठित करके उस अधिष्ठान में स्थित रहता है, क्या श्रोत्रादि इन्द्रियसमूह है अथवा प्रत्यक्चैतन्य है ? तथा 'कर्म चाखिलम्' (गीता, 7.29) इस स्थान पर उक्त 'कर्म' क्या यज्ञरूप है अथवा दूसरा है ? क्योंकि श्रुति में 'कर्म' शब्द का प्रयोग दोनों प्रकार से सुना जाता है -- 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तैत्तिरीयोपनिषद्) = 'विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है तथा कर्मों का भी विस्तार करता है' ।

3 'तुम मेरे समान ही हो, फिर तुम मुझसे क्यों पूछते हो ? -- इस शङ्का का वारण करते हुए अर्जुन भगवान् को 'हे पुरुषोत्तम !' शब्द से सम्बोधन करते हैं । इस सम्बोधन से अर्जुन यह सूचित करते हैं कि 'आप समस्त पुरुषों से उत्तम हैं, सर्वज्ञ हैं; अतः आपको कुछ भी अज्ञेय नहीं है ' । अधिभूत किसको कहा गया है ? -- पृथिवी आदि भूतों को अधिष्ठित कर जो कुछ कार्य है वह 'अधिभूत' पद से विवक्षित है अथवा समस्त ही कार्यजात विवक्षित है ? चकार सब प्रश्नों के समुच्चय के लिए है । अधिदैव किसको कहा जाता है ? देवताविषयक ध्यान को कहा जाता है, अथवा आदित्यमण्डलादि समस्त देवताओं में अनुस्यूत चैतन्य को कहा जाता है ? ॥ 1 ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ 2 ॥

4 **अधियज्ञो यज्ञमधिगतो देवतात्मा वा परब्रह्म वा । स च कथं केन प्रकारेण चिन्तनीयः । किं तादात्म्येन किंवाऽत्यन्ताभेदेन । सर्वथाऽपि स किमस्मिन्देहे वर्तते ततो बहिर्वा । देहे चेत्स कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वा । अधियज्ञः कथं कोऽत्रेति न प्रश्नद्वयम् । किंतु सप्रकार एक एव प्रश्न इति द्रष्टव्यम् । परमकारुणिकत्वादायासेनापि सर्वोपद्रवनिवारकस्य भगवतोऽनायासेन मत्संदेहोपद्रवनिवारणमीषत्करमुचितमेवेति सूचयन्संबोधयति हे मधुसूदनेति ।**

5 **प्रयाणकाले च सर्वकरणग्रामवैयग्र्याच्चित्तसमाधानानुपपत्तेः कथं केन प्रकारेण नियतात्मभिः समाहितचित्तैर्ज्ञेयोऽसीत्युक्तशङ्कासूचनार्थश्चकारः । एतत्सर्वं सर्वज्ञत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च शरणागतं मां प्रति कथयेत्यभिप्रायः ॥ 2 ॥**

6 **एवं सप्तानां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं त्रिभिः श्लोकैः –**

[हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है ? और वह किस प्रकार चिन्तनीय है तथा प्रयाणकाल मरणकाल में = मृत्यु के समय नियतात्मा -- समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार ज्ञेय हैं ? ॥ 2 ॥]

4 अधियज्ञ = यज्ञ में अधिगत -- ज्ञात जो देवतात्मा या परब्रह्म है वह किस प्रकार चिन्तनीय-ध्येय है ? क्या वह तादात्म्यभाव से चिन्तनीय है, अथवा अत्यन्त अभेदरूप से ध्येय है ? क्या वह सर्वथा इसी देह में रहता है, अथवा इससे बाहर भी देह में है ? यदि वह देह में ही रहता है तो वह कौन है ? बुद्धि आदि है अथवा उनसे भिन्न है ? 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' -- 'अधियज्ञ कैसे है, यहाँ अधियज्ञ कौन है' -- इसप्रकार ये दो प्रश्न नहीं है, किन्तु प्रकारभेदसहित इसको एक ही प्रश्न समझना चाहिए[1] । परम कारुणिक होने से आयास-प्रयत्न से भी सम्पूर्ण उपद्रवों के निवारक भगवान् का अनायास ही मेरे सन्देहरूप उपद्रव का निवारण करना ईषत्कर है -- यह उचित ही है, -- यह सूचित करते हुए अर्जुन 'हे मधुसूदन !' शब्द से सम्बोधन करते हैं ।

5 प्रयाण -- मरण -- मृत्यु के समय सम्पूर्ण इन्द्रियग्राम के अति व्यग्र-व्याकुल रहने के कारण चित्त का समाधान = एकाग्र होना अनुपपन्न होता है, अतः नियतात्मा = समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार से ज्ञेय हैं ? -- इसप्रकार उक्त शङ्का को सूचित करने के लिए 'च'कार का प्रयोग है । अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है कि 'हे मधुसूदन ! आप सर्वज्ञ हैं, परमकारुणिक हैं और मैं आपकी ही शरण हूँ, अतः आप मुझ शरणागत को यह सब कहिये ॥ 2 ॥

6 इसप्रकार इन सात प्रश्नों[2] का क्रमशः उत्तर तीन श्लोकों से भगवान् कहते हैं --

1. भाव यह है कि 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' -- ये दो प्रश्न नहीं हैं, किन्तु 'उस अधियज्ञ को किस प्रकार से जानूँ' -- इस उद्देश्य से प्रश्न किया गया है, इसलिए वह एक ही प्रश्न है । वह अधियज्ञ देह में कौन है और किस प्रकार से चिन्तनीय है -- उसके सम्बन्ध में ऐसा दो प्रकार का ज्ञान रहने से ही उसको ठीक-ठीक रूप से जाना जा सकता है, अतः यहाँ केवल प्रश्न के प्रकार में भेद रहने के कारण इसको एक ही प्रश्न समझना चाहिए ।

2. ब्रह्म कौन है ? अध्यात्म किसको कहा जाता है ? कर्म क्या है ? अधिभूत शब्द का अर्थ क्या है ? अधिदैव कौन है ? अधियज्ञ कौन है ? तथा मृत्यु के समय इन्द्रियग्राम के अति व्याकुल रहने के कारण चित्त का समाहित होना सम्भव न होने से नियतात्मा -- समाहितचित्त पुरुषों के द्वारा आप किस प्रकार से ज्ञेय हैं ?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ 3 ॥

7 **प्रश्नक्रमेण हि निर्णये प्रष्टुरभीष्टसिद्धिरनायासेन स्यादित्यभिप्रायवान्भगवानत्र श्लोके प्रश्नत्रयं क्रमेण निर्धारितवान् । एवं द्वितीयश्लोकेऽपि प्रश्नत्रयं तृतीयश्लोके त्वेकमिति विभागः । निरुपाधिकमेव ब्रह्मात्र विवक्षितं ब्रह्मशब्देन न तु सोपाधिकमिति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह – अक्षरं न क्षरतीत्यविनाशि अश्नुते वा सर्वमिति सर्वव्यापकम् । "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु" इत्याद्युपक्रम्य "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतःनान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादि मध्ये परामृश्य "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्युपसंहृतं श्रुत्या । सर्वोपाधिशून्यं सर्वस्य प्रशासितृ, अव्याकृताकाशान्तस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य धारयितृ, अस्मिंश्च शरीरेन्द्रियसंघाते, विज्ञातृ निरुपाधिकं, चैतन्यं तदिह ब्रह्मेति विवक्षितम् । एतदेव विवृणोति- परममिति । परमं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपं प्रशासनस्य कृत्स्नजडवर्गधारणस्य च लिङ्गस्य तत्रैवोपपत्तेः । "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" (ब्र० सू० 1.3.10) इति न्यायात् ।**

[श्रीभगवान् ने कहा -- अक्षर परमात्मा 'ब्रह्म' है, स्वभाव 'अध्यात्म' कहा जाता है, तथा स्थावर-जंगम प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला यज्ञ-दान-होमरूप त्याग 'कर्म' कहलाता है ॥ 3 ॥]

7 प्रश्न के क्रम से निर्णय करने में -- उत्तर देने में प्रश्नकर्त्ता की अभीष्टसिद्धि अनायास -- सुगमता से होती है -- इस अभिप्राय से भगवान् ने इस श्लोक में प्रथम तीन प्रश्नों का क्रम से निर्णय किया है । इसी प्रकार द्वितीय श्लोक में भी दूसरे तीन प्रश्नों का निर्णय किया है तथा तृतीय श्लोक में शेष एक प्रश्न का निर्णय किया है -- इसप्रकार यह उत्तर विभाग है । यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से निरुपाधिक ब्रह्म ही विवक्षित है, सोपाधिक नहीं -- इसप्रकार प्रथम प्रश्न का उत्तर कहते हैं -- अक्षर = 'न क्षरति इत्यक्षरम्' = जो क्षर-विनष्ट न हो वह अक्षर अर्थात् अविनाशी है, अथवा 'अश्नुते व्याप्नोति सर्वमिति' = जो सबमें व्याप्त हो वह अक्षर अर्थात् सर्वव्यापक है । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' = 'हे गार्गि ! ब्राह्मण लोग इस अक्षर को अस्थूल, अनणु' इत्यादि से प्रारम्भ कर 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' = 'हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्र आकाश में विधृत टिके हुए हैं, इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' -- इत्यादि से मध्य में परामर्श -- विचार कर 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.8-11) = 'हे गार्गि ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है' -- इस प्रकार श्रुति ने उपसंहार किया है । यहाँ जो समस्त उपाधियों से शून्य, सम्पूर्ण का शासन करनेवाला, अव्याकृत और आकाशपर्यन्त समस्त प्रपञ्च को धारण करनेवाला, तथा इस शरीर और इन्द्रिय के संघात में विज्ञाता-साक्षी, निरुपाधिक चैतन्य है वह ब्रह्म ही विवक्षित है । इसी का 'परमम्' शब्द से विवरण करते हैं । परम अर्थात् स्वप्रकाश, परमानन्दरूप है, क्योंकि प्रशासन और सम्पूर्ण जडवर्ग को धारण करना रूप लिङ्ग -- चिह्न उसी में उपपन्न है । जैसा कि 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.10) = 'पृथ्वी से लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण विकारजात को धारण करने के कारण अक्षर परमात्मा है-- इस सूत्रोक्त न्याय से सिद्ध होता है ।

8 **न त्विहाक्षरशब्दस्य वर्णमात्रे रूढत्वाच्छुतिलिङ्गाधिकरणन्यायमूलकेन "रूढिर्योगमपहरति" इति न्यायेन रथकारशब्देन जातिविशेषवत्प्रणवाख्यमक्षरमेव ग्राह्यं तत्रोक्तलिङ्गासंभवात् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति च परेण विशेषणात् "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्" इति न्यायात् । "वर्षासु रथकार आदधीत" इत्यत्र तु जातिविशेषे नास्त्यसंभव इति विशेषः । अनन्यथासिद्धेन तु लिङ्गेन श्रुतेर्बाधः "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यादौ विवृतः । एतावांस्त्विह**

8 'अक्षर' शब्द वर्णमात्र में रूढ़ है, इसलिए श्रुतिलिङ्गाधिकरण[3]न्यायमूलक 'रूढिर्योगमपहरति' = 'रूढ़ि यौगिक अर्थ का बाध कर देती है' -- इस न्याय से 'रथकार[4]' शब्द से जैसे जातिविशेष का ग्रहण होता है वैसे ही 'अक्षर' शब्द से प्रणवसंज्ञक अक्षर का ही ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ 'अक्षर' शब्द का जो अर्थ किया गया है उसमें प्रणववाची लिङ्ग सम्भव नहीं है, तथा आगे इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में वर्णात्मक अक्षर को 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता, 8.13) -- इसप्रकार 'ओम्' -- यह विशेषण भी दिया गया है; अत: 'निरर्थकता से प्रतिहतों की सबलता और निर्बलता में विपरीतता हो जाती है' -- इस न्याय[5] से यहाँ 'अक्षर' शब्द वर्णवाचक नहीं माना जा सकता है । 'वर्षासु रथकार आदधीत' = 'वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे' -- इस विधिवाक्य में तो 'रथकार' शब्द से रूढार्थ 'जातिविशेष' असम्भव नहीं है, अत: यहाँ 'रथकार' शब्द से रूढार्थ ही ग्रहण होगा -- यही 'रथकार' और 'अक्षर' शब्दों के अर्थग्रहण में भेद है । अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से तो श्रुति का बाध हो सकता है -- ऐसा ही विवरण 'आकाशस्तल्लिङ्गात्[6]' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.22) = "आकाश इति होवाच' (छान्दोग्योपनिषद्, 1.9.1) -- इत्यादि श्रुति में 'आकाश' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म का लिङ्ग देखा जाता है"-- इत्यादि सूत्रों में किया गया

3. 'श्रुतिलिंगाधिकरण' जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद का सातवाँ अधिकरण है । इसको 'बलाबलाधिकरण' भी कहते हैं । इस अधिकरण का प्रारम्भ 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मीमांसादर्शन, 3.3.14) -- इस सूत्र से होता है । इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति, लिङ्ग वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या -- इन छ: प्रमाणों में से यदि अनेक प्रमाणों के एक स्थान पर इकट्ठे प्रवृत्त होने और उनमें विरोध होने का अवसर आ जाय तो उनमें से उत्तर-उत्तर को दुर्बल और पूर्व-पूर्व को प्रबल समझना चाहिए । इसी आधार पर गुण-प्रधानभाव का निर्णय करना चाहिए । इसी का नाम 'बलाबलाधिकरण' है । अपने अर्थ के बोधन और प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न करनेवाला शब्द प्रमाण 'श्रुति' कहलाता है । यह 'श्रुति' लिङ्गादि उत्तरवर्ती प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवती होती है । शब्द के सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं । सामर्थ्य का अर्थ 'रूढि' है । छठे प्रमाण 'समाख्या' का अर्थ यौगिक-शब्द है । यौगिक से रूढि प्रबल होती है -- 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' -- यह न्याय है ।

4. योग से रूढ़ि के प्राबल्य में 'रथकाराधिकरणन्याय' का उदाहरण देते हैं -- 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' = 'वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे' । यहाँ 'रथकार' शब्द 'रथं करोति' = 'रथ बनानेवाला' -- इस व्युत्पत्ति से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का बोधक होता है । किन्तु रूढि के अनुसार 'रथकार' शब्द से 'सुधन्वा' जाति विशेष का बोध होता है । योग से रूढ़ि के प्रबल होने के कारण 'रथकार' शब्द से जातिविशेष का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए, यह सिद्धान्त मीमांसादर्शन के षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के बारहवें 'रथकाराधिकरण' में कहा गया है ।

5. इस न्याय का अभिप्राय यह है कि यद्यपि योग से रूढि प्रबल होती है, किन्तु जहाँ रूढि निरर्थक हो जाती है वहाँ उनके बलाबल में विपरीतता हो जाती है, अर्थात् यौगिक अर्थ प्रबल हो जाता है और रूढार्थ दुर्बल हो जाता है । इसी न्याय से प्रकृत प्रसंग में 'अक्षर' शब्द का रूढार्थ - वर्णवाचक प्रणव अक्षर ग्रहण न कर यौगिक अर्थ ही ग्रहण होगा ।

6. छान्दोग्योपनिषद् में कथा है कि शालावत्य नामक ब्राह्मण जैवलि नामक राजा से पूछता है कि -- 'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश: परायणम् (छान्दोग्योपनिषद्, 1.9.1) = 'इस लोक का आधाररूप आश्रय कौन है ? राजा उत्तर देता

विशेषः—अनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन श्रुतेर्बाधे यत्र योगः संभवति तत्र स एव गृह्यते मुख्यत्वात्, यथाऽऽज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवत इत्यादौ । यथा चात्रैवाक्षरशब्दे । यत्र तु योगोऽपि न संभवति तत्र गौणी वृत्तिर्यथाऽऽकाशप्राणादिशब्देषु । आकाशशब्दस्यापि ब्रह्मणि आ समन्तात्काशत इति योगः संभवतीति चेत्, स एव गृह्यतामिति पञ्चपादीकृतः । तथा च परामर्षं सूत्रं "प्रसिद्धेश्च" (ब्र० सू० 1.3.17) इति । कृतमत्र विस्तरेण ।

9 **तदेवं किं तद्ब्रह्मेति निर्णीतम् । अधुना किमध्यात्ममिति निर्णीयते — यदक्षरं ब्रह्मेत्युक्तं तस्यैव स्वभावः स्वो भावः स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यं न तु स्वस्य भाव इति षष्ठीसमासः, लक्षणाप्रसङ्गात्,**

है । यहाँ इतनी ही विशेषता है कि जब अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का बाध हो तब उस प्रसंग में जहाँ उसका यौगिक अर्थ संभव हो वहाँ मुख्य होने के कारण उस यौगिक अर्थ को ही ग्रहण किया जाता हैं, जैसाकि 'आज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवते[7]' इत्यादि प्रयोग में और यहीं 'अक्षर' शब्द में यौगिक अर्थ को ही ग्रहण किया गया है । किन्तु जहाँ यौगिक अर्थ भी संभव न हो वहाँ गौणीवृत्ति से तात्पर्य ग्रहण किया जाता है, जैसा कि आकाश, प्राण आदि शब्दो में गौणी वृत्ति से तात्पर्य ग्रहण किया गया है । यदि कोई कहे कि 'आकाश' शब्द का भी 'ब्रह्म' के अर्थ में 'आ समन्तात् काशते' = 'जो सब ओर से प्रकाशित हो वह 'आकाश' है' -- इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यौगिक अर्थ संभव है, तो वही ग्रहण कीजिए, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है -- ऐसा पञ्चपादिकाकार का मत है । इसी प्रकार पारमर्ष सूत्र है -- 'प्रसिद्धेश्च' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.17) = 'आकाश शब्द की ब्रह्म के अर्थ में प्रसिद्धि होने से भी 'आकाश' को 'ब्रह्म' अर्थ में ग्रहण किया गया है' । यहाँ विस्तार की अपेक्षा नहीं है ।

9 इसप्रकार 'वह ब्रह्म क्या है '? -- इस प्रश्न का निर्णय हुआ, अब 'अध्यात्म क्या है'? -- इसका निर्णय करते हैं -- 'अक्षरं ब्रह्म' = 'अक्षर परमात्मा ब्रह्म है' -- यह जो कहा है उस अक्षर ब्रह्म का ही स्वभाव = स्वः भावः = स्व-ब्रह्म स्वयं ही भाव-स्वरूप है जिसका वह अर्थात् स्वरूप -- ब्रह्मरूप जो प्रत्यक्चैतन्य है वह 'अध्यात्म' है । यहाँ 'स्वभाव' शब्द का 'स्वस्य भावः' = 'अपना भाव' -- इसप्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके अर्थ करना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि षष्ठी तत्पुरुष समास करने से पूर्वपद में 'स्व का सम्बन्धी' -- यह लक्षणा माननी होगी । षष्ठी तत्पुरुष समास

है कि आकाश आधार है, आकाश इसलिए आधार है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं, आकाश ही इन सबसे बडा है । इससे आकाश ही इनका परायण -- परम आश्रय है' । यहाँ संशय होता है कि 'आकाश' शब्द से परब्रह्म कहा जाता है या भूताकाश कहा जाता है ? क्योंकि श्रुतिवाक्यों में 'आकाश ' शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में प्राप्त होता है । भूतविशेष में तो 'आकाश' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध ही है, 'ब्रह्म' अर्थ में भी कहीं कहीं 'आकाश' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । परामर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है ? 'आकाश' शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म का लिङ्ग–चिह्न देखा जाता है (आकाशस्तल्लिङ्गात्' । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' = 'सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' -- यही परब्रह्म का लिङ्ग है, क्योंकि परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह सब वेदान्त में मर्यादा की गई है । यह आकाश के ब्रह्मत्व का निरूपक लिङ्ग अनन्यथासिद्ध है, अत : इससे 'आकाश' शब्द को भूताकाशपरक बतानेवाली श्रुतियों का बाध हो जाता है ।

7. 'आज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवते'-- इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो वाक्यार्थ होगा – 'घृतों से स्तुति करते हुए, पृष्ठों - पीठों से स्तुति करते हुए' । यहाँ वाक्य के 'आज्य' और 'पृष्ठ' – इन दोनों पदों का रूढार्थ किया है, जो कि सर्वथा असंगत है; क्योंकि मीमांसादर्शन में इन पदों के अर्थ का विचार किया गया है, वहाँ 'आज्य' शब्द की 'यत् आजिम् ईयुः तत् आज्यानाम् आज्यत्वम्' तथा 'पृष्ठ' शब्द की 'स्पर्शनात् पृष्ठानि' -- ऐसी व्युत्पत्ति करके दोनों को 'कर्मविशेष' के अर्थ में स्वीकार किया गया है । इससे सिद्ध होता है अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का बाध होने पर लिङ्ग के अनुसार यहाँ यौगिक अर्थ को ग्रहण किया गया है ।

वै विष्णुः" इति श्रुतेः । स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित् । अतएव परब्रह्मणः सकाशादत्यन्ताभेदेनैव प्रतिपत्तव्य इति कथिमिति व्याख्यातम् । स चात्रास्मिन्मनुष्यदेहे यज्ञरूपेण वर्तते बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तो विष्णुरूपत्वात् । एतेन स किमस्मिन्देहे ततो बहिर्वा, देहे चेत्कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वेति संदेहो निरस्तः । मनुष्यदेहे च यज्ञस्यावस्थानं यज्ञस्य मनुष्यदेहनिर्वर्त्यत्वात् । "पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते" इत्यादिश्रुतेः। हे देहभृतां वर सर्वप्राणिनां श्रेष्ठेति संबोधयन्प्रतिक्षणं मत्संभाषणात्कृतकृत्यस्त्वमेतद्बोधयोग्योऽसीति प्रोत्साहयत्यर्जुनं भगवान् । अर्जुनस्य सर्वप्राणिश्रेष्ठत्वं भगवदनुग्रहातिशयभाजनत्वात्प्रसिद्धमेव ॥ 4 ॥

14 **इदानीं प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसीति सप्तमस्य प्रश्नस्योत्तरमाह –**

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ 5 ॥

15 **मामेव भगवन्तं वासुदेवमधियज्ञं सगुणं निर्गुणं वा परममक्षरं ब्रह्म न त्वध्यात्मादिकं स्मरन्सदा चिन्तयंस्तत्संस्कारपाटवात्समस्तकरणग्रामवैयग्र्यवत्यन्तकालेऽपि स्मरन्कलेवरं मुक्त्वा शरीरेऽहं-**

नामक देवता अधियज्ञ = समस्त यज्ञों का अधिष्ठाता और समस्त यज्ञों का फलदायक है । वह अधियज्ञ विष्णु मैं वासुदेव ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई अन्य नहीं है । अतएव अधियज्ञ को परब्रह्म से सर्वथा अभेद-अभिन्न रूप ही समझना चाहिए -- इसप्रकार द्वितीय श्लोक के 'कथम्' पद की व्याख्या हुई । वह अधियज्ञ इस मनुष्यदेह में यज्ञरूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि वह यज्ञ बुद्धि आदि से व्यतिरिक्त विष्णुरूप है । इससे 'वह अधियज्ञ क्या इस देह में रहता है ? अथवा इस देह से बाहर रहता है ? यदि इस देह में रहता है तो वह कौन है ? बुद्धि आदि है ? अथवा बुद्धि आदि से व्यतिरिक्त -- भिन्न है ?' -- इस सन्देह का निराकरण हो जाता है । मनुष्यदेह में ही यज्ञ का अवस्थान है, क्योंकि यज्ञ मनुष्यदेह से ही निष्पन्न होनेवाला है । श्रुति भी कहती है -- 'पुरुषो वै यज्ञ : पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते' = 'पुरुष ही यज्ञ है, इसीसे यज्ञ पुरुष है, क्योंकि पुरुष ने ही यज्ञ का विस्तार किया है और वही इसका विस्तार करता है' -- इत्यादि । हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्थात् हे समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ -- इसप्रकार सम्बोधन करते हुए भगवान् अर्जुन को प्रोत्साहन देते हैं कि तुम प्रतिक्षण मेरे सम्भाषण से कृतकृत्य हो रहे हो और तुम ही इस ज्ञान के योग्य हो । भगवान् के अनुग्रह का अतिशय भाजन होने के कारण अर्जुन का समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ होना प्रसिद्ध ही है ॥ 4 ॥

14 अब 'प्रयाण-मृत्यु के समय आप किस प्रकार ज्ञेय हैं' -- इस सप्तम प्रश्न का उत्तर कहते हैं -- [अन्तकाल में जो पुरुष मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह मद्भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है -- इसमें कोई भी संशय नहीं है ॥ 5 ॥]

15 जो पुरुष अधियज्ञ, सगुण अथवा निर्गुण अक्षर परब्रह्म मुझ भगवान् वासुदेव का ही (एव[10]), अध्यात्म आदि का नहीं, स्मरण करता हुआ -- सदा चिन्तन करता हुआ और उस स्मरण-चिन्तन

10. यहाँ 'एव' शब्द अवधारणार्थ -- निश्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है । भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि अध्यात्म आदि गुण से विशिष्ट ब्रह्म को स्मरण न करते हुए मात्र मुझको ही अर्थात् अधियज्ञ = सगुण अथवा निर्गुण अक्षर परब्रह्म मुझ भगवान् वासुदेव को ही स्मरण करना चाहिए, अन्य किसी को नहीं । अध्यात्म आदि गुण से विशिष्ट ब्रह्म के स्मरण -- चिन्तन में चित्तविक्षेप की सम्भावना रहती है । परमगति प्राप्त करने के लिए परमात्मा के ध्यान का अभ्यास अत्यन्त दृढ़ और परिपक्व होना चाहिए । यही 'एव' शब्द का तात्पर्य है ।

ममाभिमानं त्यक्त्वा प्राणवियोगकाले यः प्रयाति, सगुणध्यानपक्षेऽग्निज्योतिरहः शुक्ल इत्यादिवक्ष्यमाणेन देवयानमार्गेण पितृयान(ण)मार्गात्प्रकर्षेण याति स उपासको मद्भावं मद्रूपतां निर्गुणब्रह्मभावं हिरण्यगर्भलोकभोगान्ते याति प्राप्नोति । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्षे तु कलेवरं त्यक्त्वा प्रयातीति लोकदृष्ट्यभिप्रायं "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते" इति श्रुतेस्तस्य प्राणोत्क्रमणाभावेन गत्यभावात् । स मद्भावं साक्षादेव याति "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० 4.4.6) इति श्रुतेः । नास्त्यत्र देहव्यतिरिक्त आत्मनि मद्भावप्राप्तौ वा संशयः, आत्मा देहाद्यतिरिक्तो न वा, देहव्यतिरेकेऽपि ईश्वराद्भिन्नो न वेति संदेहो न विद्यते "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मु० उ० 2.2.8) इति श्रुतेः । अत्र च कलेवरं मुक्त्वा प्रयातीति देहाद्भिन्नत्वं मद्भावं यातीति चेश्वरादभिन्नत्वं जीवस्योक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ 5 ॥

16 **अन्तकाले भगवन्तमनुध्यायतो भगवत्प्राप्तिर्नियतेति वदितुमन्यदपि यत्किंचित्तत्काले ध्यायतो देहं त्यजतस्तत्प्राप्तिरवश्यंभाविनीति दर्शयति —**

यं यं चापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ 6 ॥

के संस्कार के पाटव -- सामर्थ्यातिशय से समस्त इन्द्रियग्राम की वैयग्र्यावस्थारूप अन्तकाल -- मरणकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर अर्थात् प्राणवियोग के समय शरीर में अहंता -- ममता का अभिमान त्यागकर जाता है (प्रयाति) = सगुण-ध्यानपक्ष में 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' (गीता, 8.24) इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोक से पितृयानमार्ग से प्र-प्रकृष्ट-श्रेष्ठ देवयानमार्ग से जाता है, -- यहाँ 'प्रयाति' पद में 'प्र' उपसर्ग 'पितृयानमार्ग से देवयानमार्ग प्र-प्रकृष्ट-उत्कृष्ट है' -- एतत्सूचनार्थ है -- वह उपासक हिरण्यगर्भ लोक का भोग करने के अनन्तर मद्भाव = मद्रूपता अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्ष में तो 'शरीर त्यागकर जाता है' -- यह कथन लोकदृष्टि के अभिप्राय से है, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' = 'उस ब्रह्मविद् व्यक्ति के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है = लोकान्तर में गमन नहीं होता है, किन्तु यहाँ रहकर ही वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार उस निर्गुणब्रह्मज्ञानी का प्राणों का उत्क्रमण न होने से गत्यभाव सिद्ध है, अतः वह ब्रह्मविद् योगी 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.6) = 'ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है' -- इस श्रुति के अनुसार साक्षात् मद्भाव को ही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मभावापन्न हो जाता है । यहाँ देह से व्यतिरिक्त आत्मा के होने में अथवा उसके मद्भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होने में संशय नहीं है । 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.8) = 'उसके सब संशय क्षीण हो जाते हैं' -- इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मभावापन्नावस्था में 'आत्मा देह से भिन्न है या नहीं ? यदि आत्मा देह से भिन्न है भी, तो वह ईश्वर से भिन्न है या नहीं ?' -- इसप्रकार का सन्देह नहीं रहता है । यहाँ यह समझना चाहिए कि 'कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति' = 'शरीर त्यागकर जाता है' -- इस कथन से 'जीव देह से भिन्न है' -- यह प्रतिपन्न हुआ है, और 'मद्भावं याति' 'मद्भाव को प्राप्त होता है' -- इस कथन से 'जीव ईश्वर से अभिन्न है' -- यह कहा गया है ॥ 5 ॥

16 अन्तकाल में भगवान् का ध्यान करनेवाले को भगवान् की प्राप्ति होना निश्चित है -- यह बतलाने के लिए 'अन्त काल में जिस किसी अन्य देवताविशेष का भी ध्यान करते हुए देहत्याग करने वाले को उस देवताविशेष की प्राप्ति अवश्यंभाविनी है' -- यह दिखलाते हैं --

17 न केवलं मां स्मरन्मद्भावं यातीति नियमः किं तर्हि यं यं चापि भावं देवताविशेषं, चकारादन्यदपि यत्किंचिद्वा स्मरंश्चिन्तयन्नन्ते प्राणवियोगकाले कलेवरं त्यजति स तं तमेव स्मर्यमाणं भावमेव नान्यमेति प्राप्नोति। हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रत्वेन स्नेहातिशयं सूचयति। तेन चावश्यानुग्राह्यत्वं तेन च प्रतारणाशङ्काशून्यत्वमिति।

18 अन्तकाले स्मरणोद्यमासंभवेऽपि पूर्वाभ्यासजनिता वासनैव स्मृतिहेतुरित्याह -- सदा सर्वदा तस्मिन्देवताविशेषादौ भावो भावना वासना तद्भावः स भावितः संपादितो येन स तथा भावितत्तद्भाव इत्यर्थः। आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः। तद्भावेन तच्चिन्तनेन भावितो वासितचित्त इति वा ॥ 6 ॥

19 यस्मादेवं पूर्वस्मरणाभ्यासजनिताऽन्त्या भावनैव तदानीं परवशस्य देहान्तरप्राप्तौ कारणम् ---

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ 7 ॥

[हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अन्तकाल में उपासक जिस-जिस भाव को भी स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है सदा उसी भाव से भावित होकर उस-उस को ही प्राप्त होता है ॥ 6 ॥]

17 मुझको स्मरण करता हुआ मद्भाव अर्थात् मेरे साक्षात् स्वरूप को ही प्राप्त होता है -- केवल यही नियम नहीं है। तो फिर क्या है ? जिस-जिस भाव = देवताविशेष का भी, अथवा 'च'कार से अन्य भी जिस किसी का स्मरण करता हुआ = चिन्तन करता हुआ अन्त में = प्राणवियोग के समय जो देह का त्याग करता है वह उस-उस ही स्मर्यमाण भाव को ही प्राप्त होता है, अन्य किसी को प्राप्त नहीं होता है। हे कौन्तेय ! -- इस सम्बोधन से भगवान् पितृभगिनीपुत्र होने से अर्जुन के प्रति अपना अत्यन्त स्नेह सूचित करते हैं। इससे अर्जुन की अवश्य अनुग्रहपात्रता और अपने द्वारा प्रतारणा -- वञ्चना की शङ्का की शून्यता भी सूचित करते हैं।

18 अन्तकाल में स्मरण का उद्यम-उद्योग होना असम्भव होने पर भी पूर्वाभ्यास से जनित वासना ही स्मृति का हेतु होती है -- यह 'सदा तद्भावभावित:' से कहते हैं :-- सदा-सर्वदा उस देवताविशेष आदि में जो भाव = भावना-वासना है वह तद्भाव है, वह तद्भाव जिससे भावित-सम्पादित है वह तद्भावभावित है अर्थात् वह उस देवताविशेष के स्वरूप की भावना से भावित होता है। अथवा, 'आहिताग्नि' आदि पद आकृतिगण के अन्तर्गत हैं, अत: 'भावित' पद का परनिपात हुआ, और विग्रह हुआ 'तद्भावेन भावित:' इति। इसका तात्पर्य है कि सदा वह तद्भाव = उस देवताविशेष के भाव-चिन्तन से भावित -- वासित चित्त वाला होता है[11] ॥ 6 ॥

19 क्योंकि इसप्रकार पूर्वस्मरण के अभ्यास से जनित-उत्पन्न अन्तिम भावना ही उस समय = मृत्युकाल में परवश जीव की देहान्तर-प्राप्ति में कारण है --

[इसलिए सब समय तुम मेरा स्मरण करो और यदि अन्त:करण की अशुद्धि के कारण सतत मेरा स्मरण नहीं कर सकते हो तो अन्त:करणशुद्धि के लिए युद्ध करो। इसप्रकार मुझ वासुदेव में अर्पित मन, बुद्धि वाले तुम नि:सन्देह मुझको ही प्राप्त होगे ॥ 7 ॥]

---

11. अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्मर्यमाण वस्तु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। मृत्यु के समय अन्तःकरण की व्याकुलता के कारण स्मरण करने का उद्यम -- उद्योग न होने पर भी पूर्वाभ्यासजनित वासना ही इष्टवस्तु का स्मरण करा देती है। अत: उसके स्मरण के लिए मुमूर्षु व्यक्ति को कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। मृत्युकाल में जिस वस्तु का स्मरण कर देहत्याग किया जाता है उस वस्तु की ही स्वरूपता प्राप्त होती है -- यही शाश्वत नियम है।

20 **तस्मान्मद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेषु कालेषु पूर्वमेवाऽऽदरेण मां सगुणमीश्वरमनुस्मर चिन्तय । यद्यन्तःकरणाशुद्धिवशान्न शक्नोषि सततमनुस्मर्तुं ततोऽन्तःकरणशुद्धये युध्य च, अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं कुरु । युध्येति युध्यस्वेत्यर्थः । एवं च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयान्मयि भगवति वासुदेवेऽर्पिते संकल्पाध्यवसायलक्षणे मनोबुद्धी येन त्वया स त्वमीदृशः सर्वदा मच्चिन्तनपर : सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । असंशयो नात्र संशयो विद्यते । इदं च सगुणब्रह्मचिन्तनमुपासकानामुक्तं तेषामन्त्यभावनासापेक्षत्वात् । निर्गुणब्रह्मज्ञानिनां तु ज्ञानसमकालमेवाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः सिद्धत्वान्नास्त्यन्त्य-भावनापेक्षेति द्रष्टव्यम् ॥ 7 ॥**

21 **तदेवं सप्तानामपि प्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्रयाणकाले भगवदनुस्मरणस्य भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलं विवरीतुमारभते --**

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ 8 ॥

22 **अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो मयि विजातीयप्रत्ययानन्तरितः षष्ठे प्राग्व्याख्यातः । स एव**

20 इसलिए मद्-विषयक = परमात्मविषयक अन्तिम भावना की उत्पत्ति के लिए पहले से ही सब समय तुम आदरपूर्वक मुझ सगुण ईश्वर का अनुस्मरण -- चिन्तन करो । यदि अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण तुम सतत स्मरण नहीं कर सकते हो तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए युद्ध करो अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिए युद्धादि स्वधर्म का पालन करो[12] । यहाँ 'युध्य' -- यह आर्ष प्रयोग है, क्योंकि 'युध्' धातु परस्मैपदी नहीं है, आत्मनेपदी है, इसलिए 'युध्यस्व' -- यह पाणिनीय प्रयोग होगा । इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होने पर मुझ भगवान् वासुदेव में अर्पित किये हैं संकल्प और अध्यवसायरूप मन और बुद्धि जिसने-तुमने वह ऐसे तुम सर्वदा मेरे चिन्तन में तत्पर रहकर मुझको ही प्राप्त होगे । इसमें संशय नहीं है । यह सगुणब्रह्मचिन्तन उपासकों के लिए कहा गया है, क्योंकि उनको मेरी प्राप्ति के लिए अन्तिम भावना की अपेक्षा होती है । निर्गुणब्रह्मज्ञानियों को तो ज्ञानकाल में ही अज्ञाननिवृत्तिरूप मुक्ति सिद्ध होने से अन्तिम भावना की अपेक्षा नहीं है -- यह समझना चाहिए ॥ 7 ॥

21 इस प्रकार सातों प्रश्नों का उत्तर कहकर अब भगवान् 'मृत्यु के समय भगवदनुस्मरण = भगवच्चिन्तन का फल भगवत्प्राप्ति है' -- इसके विवरण के लिए कहना आरम्भ करते हैं --

[हे पार्थ ! भगवच्चिन्तन के अभ्यासरूप योग-समाधि से युक्त और किसी अन्य विषय में न जानेवाले चित्त से शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के अनुसार चिन्तन करता हुआ पुरुष परमप्रकाशरूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है ॥ 8 ॥]

22 मुझ भगवान् वासुदेव में विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से रहित सजातीय प्रत्यय का प्रवाह 'अभ्यास' कहा जाता है । इसकी व्याख्या पहले छठे अध्याय में की जा चुकी है । वह अभ्यास ही योग

12. यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृत श्लोक में क्या भगवान् भगवदनुस्मरण-कर्त्तव्य के साथ-साथ युद्धादि स्वधर्मानुष्ठान-कर्त्तव्य के उपदेश से ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश कर रहे हैं ? तो इसका समाधान यह है कि यहाँ भगवान् का ज्ञान-कर्म-समुच्चयोपदेश विवक्षित नहीं है, भगवान् तो अर्जुन को यह कह रहे है कि हे अर्जुन ! तुम 'मन और बुद्धि से गोचर क्रिया, कारक, कर्मफल सभी ब्रह्म ही हैं' -- ऐसी भावना करके युद्ध करो -- स्वधर्मपालन करो । क्रियादि समूह में ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी दूसरी वस्तु की भावना नहीं रहने से ही सब समय ब्रह्मस्वरूप भगवदनुस्मरण सम्भव है (द्रष्टव्य -- आनन्दगिरिटीका) ।

योगः समाधिस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतमात्माकारवृत्तीतरवृत्तिशून्यं यच्चेतस्तेन चेतसाऽभ्यासपाटवेन नान्यगामिना नान्यत्र विषयान्तरे निरोधप्रयत्नं विनाऽपि गन्तुं शीलमस्येति तेन परमं निरतिशयं पुरुषं पूर्णं दिव्य दिवि द्योतनात्मन्यादित्ये भवं "यश्चासावादित्ये" इति श्रुतेः । याति गच्छति हे पार्थ । अनुचिन्तयन्, शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन् ॥ 8 ॥

23 **पुनरपि तमेवानुचिन्तयितव्यं गन्तव्यं च पुरुषं विशिनष्टि –**

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ 9 ॥

24 **कविं क्रान्तदर्शिनं तेनातीतानागताद्यशेषवस्तुदर्शित्वेन सर्वज्ञं, पुराणं चिरंतनं सर्वकारणत्वादनादिमिति यावत् । अनुशासितारं सर्वस्य जगतो नियन्तारमणोरणीयांसं सूक्ष्मादप्याकाशादेः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वात् । सर्वस्य कर्मफलजातस्य धातारं विचित्रतया**

अर्थात् समाधि है, उस अभ्यासयोग से युक्त अर्थात् उसी में सदा व्यापृत-रत, आत्माकारवृत्ति से भिन्न विषयवृत्तियों से रहित है जो चित्त उस चित्त से और अभ्यास के पाटव से जो अन्य गामी नहीं है अर्थात् निरोध का प्रयत्न न करने पर भी जिसका अन्यत्र = अन्य विषय में जाने का स्वभाव नहीं है उस चित्त से[13] अनुचिन्तन करता हुआ अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार निरन्तर ध्यान करता हुआ पुरुष हे पार्थ ! दिव्य = दिव् में अर्थात् द्योतनात्मा-- प्रकाशात्मा आदित्य-सूर्यमण्डल में रहनेवाले, जैसा कि 'यश्चासावादित्ये' = 'जो यह आदित्यमण्डल में पुरुष है' -- इस श्रुति से सिद्ध होता है, परम = निरतिशय पूर्ण पुरुष को प्राप्त होता है[14] ॥ 8 ॥

23 फिर भी उस निरन्तर चिन्तनीय-ध्येय और गन्तव्य-प्राप्तव्य पुरुष के विशेषण कहते हैं --

[जो पुरुष कवि-सर्वज्ञ, पुराण -- अनादि, सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, समस्त कर्मफलों का विभाग करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के सदृश प्रकाशमय, अतएव अज्ञानरूप अन्धकार से परे परम पुरुष का सतत चिन्तन करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है ॥ 9 ॥]

24 कवि = क्रान्तदर्शी अतएव अतीत, अनागत आदि अर्थात् भूत, भावी तथा वर्तमान -- सभी वस्तुओं का दर्शी -- देखनेवाला होने से सर्वज्ञ; पुराण = चिरन्तन अर्थात् सबका कारण होने से अनादि; अनुशासिता = सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता; अणोरणीयान् = अणु से भी अणु -- आकाशादि सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिकसूक्ष्म, क्योंकि वह आकाशादि का भी उपादान कारण है; समस्त कर्मफलजात का धाता-विधाता = कर्म विचित्र है अतः उनके फल भी विचित्र हैं, उन कर्मों के विचित्र फलों

---

13. प्रकृत श्लोक में 'चेतसा' के दो विशेषण दिये गए हैं – 'अभ्यासयोगयुक्तेन' और 'नान्यगामिना' । 'अभ्यासयोगयुक्तेन' शब्द से अभ्यास तथा 'नान्यगामिना' शब्द से वैराग्य की ओर संकेत किया गया है । योगशास्त्र में भी कहा गया है – 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योगसूत्र, 1.12) = ' अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है' । अभ्यास और वैराग्य से प्रथमतः चित्त की विषयाकारा वृत्तियों का निरोध होता है, पुनः ब्रह्माकारावृत्तिप्रवाह से परमात्मा में स्थिति करने का अभ्यास चलता रहता है । उस अवस्था में ही सतत भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन होता रहता है, क्योंकि उस समय मन और बुद्धि परमात्मा में सम्पूर्णरूप से अर्पित रहते हैं ।

14. अभिप्राय यह है कि दिव्य परम पुरुष सभी जीवों में पूर्णरूप से प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मास्वरूप में परिणत कर देता है, जिस प्रकार समुद्र नदियों को अपने में विलीन कर उनको भी समुद्र बना देता है । श्रुति कहती है -- 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्डकोपनिषद्, 3.2.8) ।

विभक्तारं 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायात् । न चिन्तयितुं शक्यमपरिमितमहिमत्वेन रूपं यस्य तम् । आदित्यस्येव सकलजगदवभासको वर्णः प्रकाशो यस्य तं सर्वस्य जगतोऽवभासकमिति यावत् । अत एव तमसः परस्तात्तमसो मोहान्धकारादज्ञानलक्षणात्परस्तात्प्रकाशरूपत्वेन तमोविरोधिनमिति यावत् । अनुस्मरेच्चिन्तयेद्यः कश्चिदपि स तं यातीति पूर्वेणैव सम्बन्धः । स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति परेण वा सम्बन्धः ॥ 9 ॥

25 कदा तदनुस्मरणे प्रयत्नातिरेकोऽभ्यर्थ्यते तदाह –

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ 10 ॥

26 प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेनैकाग्रेण मनसा तं पुरुषं, योऽनुस्मरेदित्यनुवर्तते । कीदृशः, भक्त्या परमेश्वरविषयेण परमेण प्रेम्णा युक्तः । योगस्य समाधेर्बलेन तज्जनितसंस्कारसमूहेन व्युत्थानसंस्कारविरोधिना च युक्तः । एवं प्रथमं हृदयपुंडरीके वशीकृत्य तत ऊर्ध्वगामिन्या सुषुम्नया

का प्राणियों की योग्यतानुसार विभाग करनेवाला, जैसा कि ब्रह्मसूत्रन्याय है -- 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र, 3.2.28) = 'जीव को अपने कर्मों का फल सर्वाध्यक्ष ईश्वर से ही प्राप्त होता है, क्योंकि उपपत्ति -- युक्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है'; अचिन्त्य रूप = अपरिमित महिमाशील होने के कारण जिसके रूप का चिन्तन नहीं किया जा सकता है वह[15]; आदित्यवर्ण = आदित्य-सूर्य के समान सम्पूर्ण जगत् का अवभासक-प्रकाशक वर्ण -- प्रकाश है जिसका वह अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का अवभासक-प्रकाशक अतएव तमस = अज्ञानरूप मोहान्धकार से परस्तात् = परे है[16] अर्थात् प्रकाशरूप होने के कारण तम -- अन्धकार का विरोधी है जो उसका जो कोई भी पुरुष अनुस्मरण -- चिन्तन करता है 'वह उसको ही प्राप्त होता है' -- इसप्रकार इसका पूर्व श्लोक से ही सम्बन्ध है । अथवा, 'वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है' -- इसप्रकार इसका अगले श्लोक से सम्बन्ध है ॥ 9 ॥

25 किस समय उस परम पुरुष के अनुस्मरण -- चिन्तन के लिए अधिक प्रयत्न की अपेक्षा होती है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं --

[प्रयाण-मृत्यु के समय जो पुरुष भक्तियुक्त होकर योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को सम्यक् प्रकार से स्थापित कर अविचल -- निश्चल मन से भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥ 10 ॥]

26 प्रयाणकाल में = अन्तकाल में -- मरणकाल में अचल = एकाग्र मन से उस परम पुरुष का 'जो पुरुष अनुस्मरण -- चिन्तन करता है' -- इस अंश की पूर्व श्लोक से अनुवृत्ति है । वह पुरुष कैसा हो ? जो भक्ति से = परमेश्वरविषयक परम प्रेम से युक्त हो और योग = समाधि के बल से अर्थात् व्युत्थानसंस्कार के विरोधी समाधिजनित संस्कारसमूह[17] से युक्त हो । इसप्रकार पहले विषयों से चित्त को विमुखकर

---

15. श्रुति भी कहती है -- 'एतदप्रमेयं ध्रुवमिति यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' = 'वह अप्रमेय है, प्रत्यक्ष -- अनुमानादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है, वह ध्रुव है जिसको न पाकर मन और वाणी लौट आती हैं' -- इत्यादि ।

16. श्रुति कहती है -- 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' = 'अज्ञानान्धकार से अतीत आदित्य के समान सर्वप्रकाशक महान् पुरुष को मैं जानता हूँ' -- इत्यादि ।

17. योग का अर्थ है -- समाधि । समाधि का सतत अभ्यास करते रहने पर समाधिजनित संस्कार की वृद्धि होती रहती है और व्युत्थानसंस्कार क्षीण होता रहता है और समाधि के स्वाभाविक परिणामरूप से चित्त का स्थैर्य उत्पन्न होता है, इसको ही 'योग-समाधिबल' कहा जाता है । यही योगशास्त्र में 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है – 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' (योगसूत्र, 3.11) = 'जब चित्त के व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थता–सर्वविषयतारूप धर्म का क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होता है तो वह 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है ।'

नाड्या गुरूपदिष्टमार्गेण भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्य आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यगप्रमत्तो ब्रह्मरन्ध्रादुत्क्राम्य स एवमुपासकस्तं कविं पुराणमनुशासितारमित्यादिलक्षणं परं पुरुषं दिव्यं द्योतनात्मकमुपैति प्रतिपद्यते ॥ 10 ॥

27 **इदानीं येन केनचिदभिधानेन ध्यानकाले भगवदनुस्मरणे प्राप्ते –**

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥"

(कठ० 1.2.15)

इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितत्वेन प्रणवेनैवाभिधानेन तदनुस्मरणं कर्तव्यं नान्येन मन्त्रादिनेति नियन्तुमुपक्रमते –

हृदयपुण्डरीक-हृदयकमल = अनाहतचक्र में परम पुरुष का स्वरूप धारण कर चित्त को वशीकृत करके फिल ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाडी द्वारा गुरूपदिष्ट मार्ग से हृदिस्थित प्राणवायु को कण्ठ में = विशुद्धचक्र में लाकर अत: परभूमिजयक्रम से = परचक्रजयक्रम से भ्रुकुटियों के मध्य में = आज्ञाचक्र में स्थापित कर सम्यक् प्रकार से अर्थात् अप्रमत्त होकर ब्रह्मरन्ध्र = सहस्रारचक्र से उत्क्रान्त कर[18] वही उपासक उस कवि, पुराण, अनुशासिता -- इत्यादि लक्षणों से युक्त दिव्य = द्योतनात्मक परम पुरुष को प्राप्त होता है ।। 10 ।।

27 अब भगवान् जिस किसी अभिधान -- शब्द से ध्यानकाल में भगवदनुस्मरण -- भगवच्चिन्तन प्राप्त होने पर "समस्त वेदवाक्य जिस पद का निरूपण करते हैं, समस्त तप जिसकी प्राप्ति बतलाते हैं, और जिस पद की प्राप्ति की इच्छा करके जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, मैं तुमको संक्षेप में उप पद का वर्णन करता हूँ, वह है 'ओम्' " (कठोपनिषद्, 1.2.15) -- इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित

---

18. मनुष्य के शरीर में प्राण -- प्रवाहिनी नाडियाँ असंख्य है, इनमें से पन्द्रह मुख्य हैं – सुषुम्ना, इड़ा, पिङ्गला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, शङ्खिनी और चित्रा । इन पन्द्रह में से भी सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला -- ये तीन प्रधान हैं, जिनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इन तीनों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है । सुषुम्ना नाड़ी अतिसूक्ष्म नली के सदृश है, जो मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गई है । मेरुदण्ड से ही सुषुम्ना के वाम भाग से इड़ा और दक्षिण भाग से पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गई हैं । भ्रुकुटी के मध्य में ये तीनों नाड़ियाँ परस्पर मिल जाती हैं । जब प्राणवायु वाम नासिकारन्ध्र से वहती है तब इड़ा नाडी से वहती है, जब दक्षिण नासिकारन्ध्र से वहती है तब पिङ्गला नाडी से वहती है, और जब सुषुम्ना नाडी से वहती है तब वह स्थिर हो जाती है । अत: योगीजन सुषुम्ना नाडी में प्राणवायु का प्रवेश कराकर उसकी स्थिरता सम्पादन करने के लिए प्रयन्त करते हैं । सुषुम्ना मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत है । सुषुम्ना के भीतर वज्रणी, वज्रणी के भीतर चित्रणी, और चित्रणी के भीतर ब्रह्मनाड़ी है । ये सब नाडियाँ मकड़ी के जाले-जैसी अतिसूक्ष्म हैं, जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है । ये नाड़ियाँ सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तिवाली हैं । ये ही सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म प्राण के स्थान है, सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं । इन सूक्ष्मशक्तियों के केन्द्रों को पद्म या कमल और चक्र कहते हैं । ये पद्म – चक्र मुख्य सात हैं – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार । ये चक्र ब्रह्मनाड़ी में पद्म के रूप से ग्रथित हैं । इन चक्रों के शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थान हैं । अनाहतचक्र का स्थान हृदयकमल है, विशुद्धचक्र का कण्ठ, आज्ञाचक्र का दोनों भ्रुकुटियों के मध्य स्थान है, और सहस्रारचक्र का स्थान तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर है । योगी पहले विषयों से चित्त को विमुखकर क्रमश: प्रथम तीन चक्रों का भेदन कर हृदयकमल = अनाहतचक्र में परमपुरुष का स्वरूप धारण कर चित्त को वशीकृत करके फिर ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाड़ी द्वारा हृदय में स्थित प्राणवायु को क्रमश: कण्ठ = विशुद्धचक्र में लाकर, दोनों भ्रुकुटियों के मध्य = आज्ञाचक्र में स्थापित कर जब ब्रह्मरन्ध्र = सहस्रारचक्र से उत्क्रान्त करता है तब वह ब्रह्मलोक में ज्योतिरादि मार्ग से गमन कर वहाँ तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके मुक्त होता है अर्थात् दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है -- यही प्रकृत प्रसङ्ग है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ 11 ॥

28 **यदक्षरमविनाशि ओंकाराख्यं ब्रह्म वेदविदो वदन्ति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्' इत्यादिवचनैः सर्वविशेषनिवर्तनेन प्रतिपादयन्ति । न केवलं प्रमाणकुशलैरेव प्रतिपन्नं किं तु मुक्तोपसृप्यतया तैरप्यनुभूतमित्याह -- विशन्ति स्वरूपतया सम्यग्दर्शनेन यदक्षरं यतयो यत्नशीलाः संन्यासिनो वीतरागा निस्पृहाः । न केवलं सिद्धैरनुभूतं साधकानामपि सर्वोऽपि प्रयासस्तदर्थ इत्याह -- यदिच्छन्तो ज्ञातुं नैष्ठिका ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासादि तपश्चरन्ति यावज्जीवं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेणाहं प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण कथयिष्यामि यथा तव बोधो भवति तथा । अतस्तदक्षरं कथं मया ज्ञेयमित्याकुलो मा भूरित्यभिप्रायः ।**

29 **अत्र च परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत्प्रतीकरूपेण च 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छति' इत्यादिवचनैर्मन्दमध्यमबुद्धीनां क्रममुक्तिफलकमुपासनमुक्तं तदेवेहापि विवक्षितं भगवता । अतो योगधारणासहितमोंकारोपासनं तत्फलं स्वस्वरूपं ततोऽपुनरावृत्तिस्तन्मार्गश्चेत्यर्थजातमुच्यते यावदध्यायसमाप्ति ॥ 11 ॥**

होने के कारण प्रणव = ओम् अभिधान-नाम-शब्द द्वारा ही भगवान् का अनुस्मरण-- चिन्तन करना चाहिए, किसी अन्य मन्त्र आदि से नहीं -- यह नियम करने के लिए उपक्रम करते हैं --

[वेद को जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पद को ओंकार नाम से कहते हैं, जिसमें वीतराग यतिजन प्रवेश करते हैं, और जिसकी इच्छा करते हुए जन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस पद का मैं तुम्हारे प्रति संक्षेप में वर्णन करता हूँ ॥ 11 ॥]

28 जिस अक्षर = अविनाशी, ओंकारसंज्ञक ब्रह्म का वेदवेत्ता 'हे गार्गि ! यही वह अक्षर है जिसको ब्राह्मणजन अस्थूल, अनणु, अहस्व, अदीर्घ कहते हैं' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.8) -- इत्यादि वचनों से सम्पूर्ण विशेषधर्मों की निवृत्ति कर प्रतिपादन करते हैं । न केवल प्रमाणकुशलजन ही ने उसका प्रतिपादन किया है, किन्तु मुक्तजन उपसृप्य -- प्राप्य होने के कारण उन मुक्तजन ने भी उसका अनुभव किया है -- यह कहते हैं :-- अपना स्वरूपभूत होने के कारण जिस अक्षर ब्रह्म में सम्यक्दर्शन = सम्यक्ज्ञान द्वारा यति -- यत्नशील वीतराग -- निस्पृह संन्यासी प्रवेश करते हैं । न केवल सिद्ध पुरुषों ने ही उसका अनुभव किया है, अपितु साधकों का भी सम्पूर्ण प्रयास उसी के लिए है -- ऐसा कहते हैं :-- जिसको जानने की इच्छावाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास आदि तप का आचरण करते हैं उस अक्षरसंज्ञक पद = पदनीय -- गन्तव्य -- प्राप्तव्य को मैं तुमसे संक्षेप में प्रकर्षपूर्वक कहूँगा जिससे कि वह तुम्हारी समझ में आ जाय । अत: 'उस दुर्बोध अक्षर तत्त्व को मैं कैसे जानूँगा'? -- ऐसा सोचकर तुम व्याकुल मत होओ -- यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है ।

29 यहाँ 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छति' (प्रश्नोपनिषद्, 5.5) = 'जो पुरुष तीन मात्रावाले 'ओम्' -- इस अक्षर के द्वारा परम पुरुष का ध्यान करता है वह उसको प्राप्त होता है' -- इत्यादि वचनों के अनुसार मन्द और मध्यम बुद्धिवाले साधकों के लिए परब्रह्म के वाचकरूप से और प्रतिमा के समान प्रतीकरूप से क्रममुक्तिफलक ओंकार की उपासना कही गई है, वही यहाँ भगवान् को भी विवक्षित है । अत: इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त

30 तत्र प्रवक्ष्य इति प्रतिज्ञातमर्थं सोपकरणमाह द्वाभ्याम् –

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 12 ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ 13 ॥

31 सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य विषयदोषदर्शनाभ्यासात्तद्विमुखतामापादितैः श्रोत्रादिभिः शब्दादिविषयग्रहणमकुर्वन् । बाह्येन्द्रियनिरोधेऽपि मनसः प्रचारः स्यादित्यत आह -- मनो हृदि निरुध्य च, अभ्यासवैराग्याभ्यां षष्ठे व्याख्याताभ्यां हृदयदेशे मनो निरुध्य निर्वृत्तिकतामापाद्य च, अन्तरपि विषयचिन्तामकुर्वन्नित्यर्थः । एवं बहिरन्तरुपलब्धिद्वाराणि सर्वाणि संनिरुध्य क्रियाद्वारं प्राणमपि सर्वतो निगृह्य भूमिजयक्रमण मूर्ध्न्याधाय भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि च गुरूपदिष्टमार्गेणाऽऽवेश्याऽऽत्मनो योगधारणामात्मविषयसमाधिरूपां धारणामास्थितः । आत्मन इति देवतादिव्यावृत्त्यर्थम् ॥ 12 ॥

32 ओमित्येकमक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्प्रतिमावद्ब्रह्मप्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन् । ओमिति व्याहर-

---

योगधारणासहित ओंकार की उपासना, उसका फल, अपने स्वरूप का ज्ञान, उससे फिर अपुनरावृत्ति और उसका मार्ग -- इन सब अर्थों को कहा गया है ॥ 11 ॥

30 उसमें 'प्रवक्ष्ये' = 'प्रकर्षपूर्वक कहूँगा' -- इसप्रकार प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ को उसके साधनों सहित दो श्लोकों से कहते हैं --

[जो उपासक समस्त इन्द्रियद्वारों को रोककर, मन का हृदयदेश में निरोध कर, अपने प्राणों को मूर्धा अर्थात् भ्रुकुटियों के मध्य में स्थिर करके और योगधारणा में स्थित होकर 'ओम्' -- इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा सतत अनुस्मरण -- चिन्तन करता हुआ देह त्यागकर जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 12-13 ॥]

31 समस्त इन्द्रियद्वारों को रोककर = समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अर्थात् विषयों में दोषदर्शन के अभ्यास से उन-उन विषयों से विमुख की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियों से शब्दादि विषयों को ग्रहण न करते हुए; बाह्य इन्द्रियों का निरोध होने पर भी मन का प्रचार होगा, अत: कहते हैं -- मन को हृदयदेश में रोककर अर्थात् भीतर भी विषयों का चिन्तन न करते हुए, जैसा कि छठे अध्याय में व्याख्यात है कि अभ्यास और वैराग्य से मन को हृदयदेश में रोककर अर्थात् मन की विषयाकारावृत्तियों का निरोध कर -- इसप्रकार बाहर और भीतर की उपलब्धियों के समस्त द्वारों को रोककर; क्रिया के द्वारभूत प्राण को भी सब ओर से रोककर = भूमिकाजय के क्रम से उसको मूर्धा में स्थिर कर अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग से उसको दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में स्थापित कर और फिर उससे ऊपर मस्तिष्क में उसका आधान कर; आत्मविषयक योगधारणा = आत्मविषयिणी समाधिरूपा धारणा में स्थित हो -- यहाँ 'आत्मन:' -- यह पद देवता आदि की व्यावृत्ति के लिए है ॥ 12 ॥

32 'ओम्' -- इस एक अक्षर का जो ब्रह्म का वाचक होने से अथवा प्रतिमा के समान ब्रह्म का प्रतीक होने से ब्रह्म ही है[19], उच्चारण करते हुए, -- यहाँ'ओमिति व्याहरन्' = 'ओम् --इस प्रकार उच्चारण

---

19. वैयाकरण वाच्य और वाचक में अभेद स्वीकार करते हैं, लोक में भी शब्द और अर्थ को एक ही पद से कहते हैं – जैसे 'गौरिति शब्द: गौरित्यर्थ:' = 'गौ' शब्द है और 'गौ' अर्थ भी है', अत: ब्रह्म का वाचक 'ओम्' ब्रह्म है अथवा विष्णु की प्रतिमा को जैसे विष्णु कहते है वैसे ही प्रकृत ब्रह्म का प्रतीक 'ओम्' ब्रह्म ही है ।

न्नित्येतावतैव निर्वाह एकाक्षरमित्यनायासकथनेन स्तुत्यर्थम् । ओमिति व्याहरन्नेकाक्षरमेकमद्वितीयमक्षरमविनाशि सर्वव्यापकं ब्रह्म मामोमित्यस्यार्थं स्मरन्निति वा । तेन प्रणवं जपंस्तदभिधेयभूतं च मां चिन्तयन्मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यजन्यः प्रयाति स याति देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तद्भोगान्ते परमां प्रकृष्टां गतिं मद्रूपाम् ।

33 **अत्र पतञ्जलिना "तीव्रसंवेगानामासन्नः" समाधिलाभः, इत्युक्त्वा "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इत्युक्तम् । प्रणिधानं च व्याख्यातं "तस्य वाचकः प्रणवः", "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इति । "समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" इति च । इह तु साक्षादेव ततः परमगतिलाभ इत्युक्तम् । तस्मादविरोधायोमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्नात्मनो योगधारणामास्थित इति व्याख्येयम् । विचित्रफलत्वोपपत्तेर्वा न विरोधः ॥ 13 ॥**

34 **य एवं वायुनिरोधवैधुर्येण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यक्तुं स्वेच्छया न शक्नोति किं तु कर्मक्षयेणैव परवशो देहं त्यजति तस्य किं स्यादिति तदाह --**

करते हुए' -- इतना कहने से ही अर्थनिर्वाह हो सकता था, फिर भी 'एकाक्षरम्' -- यह अनायास कथन से 'ओम्' की स्तुति के लिए है[20] । अथवा, 'ओमिति व्याहरन्, एकाक्षरं ब्रह्म मामनुस्मरन्' -- इस प्रकार अन्वय करके भी अर्थ किया जा सकता है । 'ओम्' -- इस प्रकार उच्चारण करते हुए और इसके अर्थभूत एक अक्षर अर्थात् एक = अद्वितीय अक्षर = अविनाशी सर्वव्यापक ब्रह्मरूप मुझको स्मरण करते हुए, अतः प्रणव = 'ओम्' का जप करते हुए और उसके अभिधेयभूत मेरा चिन्तन करते हुए मूर्धन्य नाड़ी से देह को त्यागकर जो जाता है वह देवयान मर्गा से ब्रह्मलोक में जाकर उसका भोग समाप्त होने पर मुझ भगवद्-रूप परम-प्रकृष्ट गति को प्राप्त होता है ।

33 यहाँ पतञ्जलि ने 'तीव्रसंवेगानामासन्नः' (योगसूत्र, 1.21) = 'तीव्र संवेग = वैराग्य और अधिमात्र उपायवाले योगियों को समाधि-लाभ शीघ्रतम = निकटतम होता है' -- ऐसा कहकर ' ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योगसूत्र, 1.23) = 'अथवा, ईश्वरप्रणिधान से शीघ्रतम समाधिलाभ होता है' -- ऐसा कहा है । और प्रणिधान की व्याख्या इस प्रकार की है -- 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र, 1.27); 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र, 1.28) = 'उस ईश्वर का वाचक-बोधक शब्द-नाम प्रणव = 'ओम्' है, उस प्रणव = 'ओम्' का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का भावन-ध्यान करना = पुनः पुनः चिन्तन करना 'ईश्वरप्रणिधान' है' । तथा ऐसा भी कहा है -- 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योगसूत्र, 2.45) = 'समाधि की सिद्धि ईश्वरप्रणिधान से होती है' । यहाँ तो साक्षात् ही उस ईश्वरप्रणिधान से परमगतिलाभ को कहा गया है । अतः अविरोध के लिए 'ओम् -- इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मेरा अनुस्मरण -- चिन्तन करते हुए आत्मविषयिणी योगधारणा में स्थित हो' -- ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । अथवा, विचित्र फल की उपपत्ति होने के कारण इसका उससे विरोध नहीं है ॥ 13 ॥

34 जो पुरुष उक्त प्रकार से प्राणवायु का निरोध करने में असमर्थ होने के कारण दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में अथवा उससे ऊपर मस्तिष्क में प्राण को स्थिर कर मूर्धन्य = मूर्धा तक जानेवाली नाड़ी से अपनी इच्छा के अनुसार देहत्याग करने में समर्थ नहीं है, किन्तु कर्मों का क्षय होने से ही परवश-विवश होकर देहत्याग करता है उसका क्या होगा -- उसकी क्या गति होगी ? -- इसके

---

20. अभिप्राय यह है कि 'ओम्' -- यह एक अक्षर मात्र है, अनेक पदविशिष्ट क्या नहीं है, अतः मृत्यु के समय इसका उच्चारण अनायास किया जा सकता है अर्थात् मृत्यु के समय इन्द्रियों के विवश रहने के कारण अनेक पदात्मक वाक्य का उच्चारण करना निःसन्देह अतिकष्टसाध्य है, किन्तु 'ओम्' -- यह एक अक्षर मात्र होने के कारण इसका उच्चारण करने में कोई कष्ट नहीं होता है और यह परम पद को प्राप्त कराता है -- इस प्रकार ओंकार की स्तुति या प्रशंसा की गई है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ 14 ॥

35 **न विद्यते मदन्यविषये चेतो यस्य सोऽनन्यचेताः सततं निरन्तरं नित्यशो यावज्जीवं यो मां स्मरति तस्य स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजतोऽपि नित्ययुक्तस्य सततसमाहितचित्तस्य योगिनः सुलभः सुखेन लभ्योऽहं परमेश्वर इतरेषामतिदुर्लभोऽपि हे पार्थ, तवाहमतिसुलभो मा भैषीरित्यभिप्रायः ।**

36 **अत्र तस्येति षष्ठी शेषे सम्बन्धसामान्ये । कर्तरि न लोकेत्यादिना निषेधात् । अत्र चानन्यचेतस्त्वेन सत्कारोऽत्यादरः सततमिति नैरन्तर्यं नित्यश इति दीर्घकालत्वं स्मरणस्योक्तम् । तेन "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" इति पातञ्जलं मतमनुसृतं भवति । तत्र स इत्यभ्यास उक्तोऽपि स्मरणपर्यवसायी । तेन यावज्जीवं प्रतिक्षणं विक्षेपान्तरशून्यतया भगवदनुचिन्तनमेव परमगतिहेतुर्मूर्धन्यया नाड्या तु स्वेच्छया प्राणोत्क्रमणं भवतु न वेति नातीवाऽऽग्रहः ॥ 14 ॥**

उत्तर में भगवान् कहते हैं--

[हे पार्थ ! हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त से स्थित हुआ सतत-निरन्तर नित्यशः -- जीवनपर्यन्त मुझको स्मरण करता है उस सतत समाहितचित्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ॥ 14 ॥]

35 जिसका चित्त मेरे अतिरिक्त किसी अन्य विषय में नहीं रहता -- लगता वह पुरुष अनन्यचेता है । ऐसा जो सतत -- निरन्तर नित्यशः -- यावज्जीवन मुझको स्मरण करता है उस नित्ययुक्त = सतत समाहितचित्त योगी के लिए स्ववशता से अथवा परवशता से देहत्याग करने पर भी मैं परमेश्वर, इतर के लिए दुर्लभ होने पर भी, सुलभ = सुखपूर्वक-सहज ही लभ्य -- प्राप्य हूँ = प्राप्त होने योग्य हूँ । हे पार्थ ! तुमको तो मैं अतिसुलभ हूँ, तुम मत डरो -- यह भगवान् का अभिप्राय है ।

36 यहाँ 'तस्य' -- इस पद में षष्ठी विभक्ति 'षष्ठी शेषे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.50) = 'सम्बध -- सामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है' -- इस सूत्र के अनुसार सम्बन्धसामान्य में है, 'सुलभः' = 'सु+ लभ्+ खल्' -- कृदन्त पद का योग होने से कर्त्ता में नहीं है, क्योंकि 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनिसूत्र, 2.3.69) = 'ल = शतृ, शानच् आदि; उ, उक, अव्यय = क्त्वा आदि, निष्ठा = क्त, क्तवतु ; खल् प्रत्यय के अर्थवाले प्रत्यय तथा तृन् (प्रत्याहार) -- इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है' -- इस सूत्र के अनुसार कर्त्ता में षष्ठी का निषेध होता है । यहाँ अनन्यचेता होने से सत्कार और अति आदर, 'सतत' शब्द से नैरन्तर्य, तथा 'नित्यशः' शब्द से स्मरण की दीर्घकालता कही गई है । अतः इससे 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (योगसूत्र, 1.14) = 'वह अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त, नैरन्तर्य -- निरन्तर व्यवधानरहित और सत्कारपूर्वक सेवन किए जाने पर दृढ़भूमिवाला होता है' -- इस पातञ्जल मत का अनुसरण किया गया है । उक्त पातञ्जल योगसूत्र में 'सः' शब्द का अर्थ अभ्यास कहा जाने पर भी वह स्मरण में ही पर्यवसान प्राप्त करनेवाला होता है । अतः जीवनपर्यन्त प्रतिक्षण अन्य विक्षेप से शून्य मन से भगवान् का चिन्तन ही परम गति का हेतु है -- मूर्धन्य नाडी से स्वेच्छापूर्वक प्राणों का उत्क्रमण हो या न हो -- इसमें विशेष आग्रह नहीं है ॥ 14 ॥

37 भगवन्तं प्राप्ताः पुनरावर्तन्ते न वेति संदेहे नाऽऽवर्तन्त इत्याह –

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ 15 ॥

38 मामीश्वरं प्राप्य पुनर्जन्म मनुष्यादिदेहसंबन्धं, कीदृशं दुःखालयं गर्भवास-योनिद्वारनिर्गमनाद्यनेकदुःखस्थानम् । अशाश्वतमस्थिरं दृष्टनष्टप्रायं नाऽऽप्नुवन्ति पुनर्नाऽऽवर्तन्त इत्यर्थः । यतो महात्मानो रजस्तमोमलरहितान्तःकरणाः शुद्धसत्त्वाः समुत्पन्नसम्यग्दर्शना मल्लोकभोगान्ते परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मुक्तिं गतास्ते । अत्र मां प्राप्य सिद्धिं गता इति वदतोपासकानां क्रममुक्तिर्दर्शिता ॥ 15 ॥

39 भगवन्तमुपागतानां सम्यग्दर्शिनामपुनरावृत्तौ कथितायां ततो विमुखानामसम्यग्दर्शिनां पुनरावृत्तिरर्थसिद्धेत्याह –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 16 ॥

40 आब्रह्मभुवनात्, भवन्त्यत्र भूतानीति भुवनं लोकः । अभिविधावाकारः । ब्रह्मलोकेन सह सर्वेऽपि

37 भगवान् को प्राप्त हुए पुरुषों की पुनरावृत्ति -- पुनर्जन्म होता है या नहीं ? -- ऐसा सन्देह होने पर भगवान् कहते हैं कि मुझको प्राप्त हुए पुरुषों का पुनर्जन्म नहीं होता है --
[मुझको प्राप्त होकर परम -- सर्वोत्कृष्ट संसिद्धि -- मुक्ति पद को प्राप्त हुए महात्माजन पुनः दुःख के स्थानरूप अनित्य पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ 15 ॥]

38 मुझ ईश्वर को प्राप्त कर पुनः जन्म अर्थात् मनुष्यादि देह के सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं । किस प्रकार के देहसम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं ? जो दुःखालयं = गर्भवास, योनिद्वार से निकलना आदि दुःखों का स्थान है और अशाश्वत = अस्थिर -- प्रायः देखते-देखते नष्ट होनेवाला है उस देहसम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् पुनः आवर्तन = जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते हैं । क्योंकि महात्मा = रजोगुण -- तमोगुण से शून्य अन्तःकरणवाले -- शुद्धचित्त अतएव समुत्पन्नतत्त्वज्ञान अर्थात् जिनका तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे वे मेरे लोक का भोग समाप्त होने पर परम = सर्वोत्कृष्ट संसिद्धि = मुक्ति को प्राप्त होते है । यहाँ 'मां प्राप्य सिद्धिं गता' = 'मुझको प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त होते है' -- ऐसा कहते हुए भगवान् ने उपासकों की क्रममुक्ति दिखलाई है ॥ 15 ॥

39 भगवान् को प्राप्त हुए सम्यक्दर्शियों -- तत्त्वज्ञानियों की अपुनरावृत्ति कहने पर यह अर्थतः सिद्ध होता है कि भगवान् से विमुख जो असम्यक्दर्शी -- अतत्त्वज्ञानी हैं उनकी पुनरावृत्ति होती है -- यही भगवान् कहते हैं --
[हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति की प्राप्ति करानेवाले हैं, किन्तु हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ 16 ॥]

40 आब्रह्मभुवनात् = जिसमें भूत -- प्राणी उत्पन्न होते हैं वह भुवन -- लोक कहलाता है । यहाँ 'आ'-कार अर्थात् 'आङ्' (आ) उपसर्ग अभिविधि = व्याप्ति के अर्थ में है । अतः 'आब्रह्मभुवनात् लोकाः' का अर्थ है -- ब्रह्म[21] लोक के साथ सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं वे

21. यहाँ 'ब्रह्म' से चतुर्मुख ब्रह्मा को ही सूचित किया गया है, क्योंकि सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्मा के ही दिन और रात्रि का निर्णय श्रुति ने किया है ।

लोका मद्विमुखानामसम्यग्दर्शिनां भोगभूमयः पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनशीलाः । ब्रह्मभवमादिति पाठे भवनं वासस्थानमिति स एवार्थः । हेऽर्जुन स्वतःप्रसिद्धमहापौरुष ।

41 किं तद्वदेव त्वां प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्नेत्याह -- मामीश्वरमेकमुपेत्य तु । तुर्लोकान्तरवैलक्षण्यद्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । मामेव प्राप्य निर्वृतानां हे कौन्तेय मातृतोऽपि प्रसिद्धमहानुभाव पुनर्जन्म न विद्यते पुनरावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । अत्रार्जुन कौन्तेयेति संबोधनद्वयेन स्वरूपतः कारणतश्च शुद्धिर्ज्ञानसंपत्तये सूचिता ।

42 अत्रेयं व्यवस्था, ये क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनानां ब्रह्मणा सह मोक्षः । ये तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतत्क्रतवोऽपि तत्र गतास्तेषामवश्यंभावि पुनर्जन्म । अत एव क्रममुक्त्यभिप्रायेण "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते", "अनावृत्तिः शब्दात्" इति श्रुतिसूत्रयोरुपपत्तिः । इतरत्र "तेषामिह न पुनरावृत्तिः", "इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते" इतीहेममिति च विशेषणाद्गमनाधिकरणकल्पादन्यत्र पुनरावृत्तिः प्रतीयते ॥ 16 ॥

सभी लोक मुझसे विमुख असम्यक्दर्शियों के भोग के स्थान हैं और पुनरावर्ती = पुनरावर्तनस्वभाववाले हैं अर्थात् पुनर्जन्म को देनेवाले हैं । यदि 'आब्रह्मभवनात्' -- ऐसा पाठ है तो 'भवन' का 'वासस्थान' अर्थ है, अतः वही अर्थ है । हे अर्जुन ! स्वतःसिद्ध महान् पौरुषवाले ।

41 क्या ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोकों को प्राप्त हुए पुरुषों की जैसे पुनरावृत्ति होती है वैसे ही आपको प्राप्त हुए पुरुषों -- उपासकों की भी पुनरावृत्ति होती है ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं -- नहीं । मुझ एक ईश्वर को प्राप्त होकर तो आवृत्ति नहीं होती है -- यहाँ 'तु' शब्द अन्य लोकों से अपनी विलक्षणता दिखलाने के लिए है अथवा निश्चय के लिए है । द्वितीय अर्थ है -- मुझको ही प्राप्त कर निर्वृत -- कृतकृत्य हुए पुरुषों की हे कौन्तेय ! अर्थात् मातृपक्ष से भी सुप्रसिद्ध महान् प्रभाववाले ! पुनरावृत्ति नहीं होती है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है । यहाँ अर्जुन और कौन्तेय -- इन दोनों सम्बोधनों से ज्ञानरूप सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए स्वरूपतः और कारणतः शुद्धि आवश्यक है -- यह सूचित किया गया है[22] ।

42 यहाँ यह व्यवस्था है -- जो साधक क्रममुक्तिफलक उपासनाओं से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं वे ही ब्रह्मलोक में सम्यक्दर्शन -- तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होते हैं अतएव उन्ही का ब्रह्मा के साथ मोक्ष होता है । किन्तु जो ब्रह्मोपासक न होने पर भी पञ्चाग्निविद्या आदि के प्रभाव से ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं उनका तो पुनर्जन्म अवश्यंभावी होता है । अतएव क्रममुक्ति के अभिप्राय से 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते (छान्दोग्योपनिषद्, 8.15.1) = 'वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और फिर जन्म नहीं लेते हैं' और 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.12) = 'ब्रह्मलोक प्राप्त हुए पुरुषों की पुनरावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति वही कहती है' -- इन श्रुति और सूत्र की उपपत्ति होती है । इतरत्र 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' = 'उनकी इह = इस लोक में पुनरावृत्ति नहीं होती है'; 'इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' = 'वे इमम् = इस मानवलोक में नहीं आते हैं' -- इत्यादि में जो 'इह' और 'इमम्' विशेषण हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि गमनाधिकरणकल्प से अन्यत्र उनकी पुनरावृत्ति होती है अर्थात् जिस कल्प में उनका ब्रह्मलोक में गमन होता है उस कल्प से भिन्न कल्प में उनकी पुनरावृत्ति होती है ॥ 16 ॥

---

22. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ है -- शुद्ध, अतः अर्जुन स्वरूपतः शुद्ध है । अर्जुन स्वरूपतः ही शुद्ध नहीं है, अपितु वह कौन्तेय = कुन्ती का पुत्र है जो कुन्ती अत्यन्त शुद्धकुल में उत्पन्न हुई है, अतएव वह मातृपक्ष के कारण भी शुद्ध है इसप्रकार अर्जुन स्वरूपतः और कारणतः भी शुद्ध है । अतः अर्जुन को मैं अनायास ही सुलभ हूँ, क्योंकि स्वरूपतः और कारणतः -- दोनों प्रकार से शुद्धता ही ज्ञानरूप सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए हेतु है -- यही 'अर्जुन' और 'कौन्तेय' -- इन दो सम्बोधनों से भगवान् सूचित कर रहे हैं ।

43 **ब्रह्मलोकसहिताः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः, कस्मात् । कालपरिच्छिन्नत्वादित्याह --**

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ 17 ॥

44 **मनुष्यपरिमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि चतुर्युगानि(णि) पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् । "चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति हि पौराणिकं वचनम् । तादृशं ब्रह्मणः प्रजापतेरहर्दिनं यद्ये विदुः, तथा रात्रिं युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रपर्यन्तां, ये विदुरित्यनुवर्तते, तेऽहोरात्रविदस्त एवाहोरात्रविदो योगिनो जनाः । ये तु चन्द्रार्कगत्यैव विदुस्ते नाहोरात्रविदः स्वल्पदर्शित्वादित्यभिप्राय : ॥ 17 ॥**

45 **यथोक्तैरहोरात्रैः पक्षमासादिगणनया पूर्णं वर्षशतं प्रजापतेः परमायुरिति कालपरिच्छिन्नत्वेनानित्योऽसौ । तेन तल्लोकात्पुनरावृत्तिर्युक्तैव । ये तु ततोऽर्वाचीनास्तेषां तदहर्मात्रपरिच्छिन्नत्वात्तत्तल्लोकेभ्यः पुनरावृत्तिरिति किमु वक्तव्यमित्याह –**

43 ब्रह्मलोक सहित सब लोक पुनरावर्ती = पुनरावर्तनशील हैं, क्यों ? क्योंकि वे काल से परिच्छिन्न है । यही भगवान् कहते हैं --

[जो पुरुष ब्रह्मा के दिन को सहस्रयुगपर्यन्त और उसकी रात्रि को सहस्रयुग में समाप्त होनेवाली जानते हैं वे ही तत्त्वतः दिन और रात्रि के परिणाम को जाननेवाले हैं ॥ 17 ॥]

44 मनुष्य के परिमाण से सहस्रयुगपर्यन्त = सहस्रयुग अर्थात् सहस्र चतुर्युग -- सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि-चतुर्युग है पर्यन्त -- अवसान जिसका वह सहस्रचतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है । 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' = 'सहस्र चतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है' -- ऐसा पुराण का भी वचन है । तादृश जो ब्रह्मा -- प्रजापति का दिन है उसको जो जानते हैं, इसीप्रकार सहस्रयुग में समाप्त होनेवाली अर्थात् सहस्र चतुर्युग पर्यन्त रहनेवाली रात्रि को 'जो जानते हैं' -- यह अनुवृत्ति है, वे ही अहोरात्रविदः = दिन और रात्रि का रहस्य जाननेवाले योगी पुरुष हैं । जो मात्र सूर्य और चन्द्रमा की गति से ही दिन और रात्रि को जानते हैं वे अल्पदर्शी होने के कारण दिन और रात्रि को जाननेवाले नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 17 ॥

45 पूर्वोक्त दिन और रात्रि के क्रम से पक्ष, मास आदि की गणना करने से पूरे सौ वर्ष की प्रजापति की परम आयु है[23] -- इसप्रकार काल से परिच्छिन्न होने के कारण वह अनित्य है । अतः उसके लोक से पुनरावृत्ति होना युक्तियुक्त ही है । जो उससे अर्वाचीन हैं वे तो उसके एक दिन मात्र से ही परिच्छिन्न हैं, अतः उस-उस लोक से पुनरावृत्ति होती है -- इसमें तो कहना ही क्या है ? यही अब भगवान् कहते हैं--

23. ब्रह्मा की आयुगणना इसप्रकार की है । मनुष्य का एक वर्ष देवताओं का एक दिन और रात्रि है । इसप्रकार दिन और रात्रि के क्रम से पक्ष और मास की कल्पना कर बारह महीनों का एक वर्ष तथा बारह हजार दिव्य वर्ष का एक चतुर्युग होता है । ब्रह्मा का एक दिन एक हजार चतुर्युग होता है । इसी प्रकार ब्रह्मा की रात्रि एक हजार चतुर्युग होती है । इसप्रकार एक चतुर्युग = 12,000 दिव्यवर्ष; 1000 चतुर्युग = 12,000 x 1000 दिव्यवर्ष = 12,00,00,00 x 360 मनुष्यवर्ष = ब्रह्मा का एक दिन 432,00,00,000 मनुष्यवर्ष; इसी प्रकार ब्रह्मा की एक रात्रि = 432,00,00,000 मनुष्यवर्ष -- इसप्रकार ब्रह्मा का एक दिन और एक रात्रि = 864,00,00,000 मनुष्यवर्ष अर्थात् 864 करोड़ मनुष्यवर्ष है । इसप्रकार दिन, रात्रि, पक्ष, मास आदि के क्रम से सौ वर्ष तक ब्रह्मा की परम आयु है ।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ 18 ॥

46 **अत्र दैनंदिनसृष्टिप्रलययोरेव वक्तुमुपक्रान्तत्वात्तत्र चाऽऽकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देनाव्याकृतावस्था नोच्यते । किं तु प्रजापते: स्वापावस्थैव । स्वापावस्थ: प्रजापतिरिति यावत् । अहरागमे प्रजापते: प्रबोधसमयेऽव्यक्तात्तत्स्वापावस्थारूपाद् व्यक्तय: शरीरविषयादिरूपा भोगभूमय: प्रभवन्ति व्यवहारक्षमतयाऽभिव्यज्यन्ते । रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले पूर्वोक्ताः सर्वा अपि व्यक्तय: प्रलीयन्ते तिरो भवन्ति यत आविर्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके कारणे प्रागुक्ते स्वापावस्थे प्रजापतौ ॥ 18 ॥**

47 **एवमाशुविनाशित्वेऽपि संसारस्य न निवृत्ति: क्लेशकर्मादिभिरवशतया पुन: पुन: प्रादुर्भावात्प्रादुर्भूतस्य च पुन: क्लेशादिवशेनैव तिरोभावात् । संसारे विपरिवर्तमानानां सर्वेषामपि प्राणिनामस्वातन्त्र्यादवशानामेव जन्ममरणादिदु:खप्रबन्धसंबन्धादलमनेन संसारेणेतिवैराग्योत्पत्त्यर्थं समाननामरूपत्वेन च पुन: पुन: प्रादुर्भावात्कृतनाशाकृताभ्यागमपरिहारार्थं चाऽऽह –**

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ 19 ॥

[ब्रह्मा के प्रबोधकालरूप दिन के आने पर उसके स्वापावस्थारूप अव्यक्त से ही शरीर, विषय आदि समस्त भोगभूमियाँ अभिव्यक्त -- प्रकट होती हैं और उसकी स्वापकालरूप रात्रि के आने पर उसी अव्यक्तसंज्ञक -- स्वापावस्थ प्रजापति में पूर्वोक्त समस्त व्यक्त भोगभूमियाँ लीन हो जाती हैं ॥ 18 ॥]

46 यहाँ दैनंदिन -- प्रतिदिन ही सृष्टि और प्रलय को कहने का उपक्रम है, उसमें आकाश आदि रहते हैं, अत: यहाँ 'अव्यक्त' शब्द से अव्याकृत अवस्था प्रकृति नहीं कही गई है, अपितु प्रजापति की स्वापावस्था कही गई है अर्थात् प्रजापति स्वापावस्थ है -- यह कहा गया है । दिन आने पर = प्रजापति के प्रबोध के समय उसके स्वापावस्थारूप अव्यक्त से व्यक्तियाँ = शरीर, विषय आदिरूप भोगभूमियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् व्यवहारयोग्य होने से अभिव्यक्त होती हैं । और रात्रि के आने पर अर्थात् प्रजापति के स्वापकाल में पूर्वोक्त सभी व्यक्तियाँ जिससे आविर्भूत हुई थीं उसी अव्यक्तसंज्ञक कारण में अर्थात् प्रागुक्त स्वापावस्थ प्रजापति में लीन हो जाती हैं -- तिरोहित हो जाती हैं ॥ 18 ॥

47 इसप्रकार आशुविनाशी होने पर भी संसार की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अविद्यादि क्लेश और कर्मों से अवश -- विवश होने के कारण उसका पुन: पुन: प्रादुर्भाव होता रहता है और प्रादुर्भूत उस संसार का पुन: क्लेशादिवश ही तिरोभाव होता रहता है, तथा संसार में विपरिवर्तमान = चक्कर काटने वाले सभी प्राणियों का अस्वतंत्र होने से विवश का ही जन्म-मरणादिरूप दु:खप्रबन्ध से सम्बन्ध बना रहता है, अत: इस संसार से क्या है ? यह संसार व्यर्थ है-- इसप्रकार वैराग्य उत्पन्न करने के लिए अथवा समान नामरूप होने से पुन: पुन: प्रादुर्भाव होने के कारण कृतनाश और अकृताभ्यागम के परिहार के लिए भगवान् कहते हैं --

[हे पार्थ ! प्रजापति की रात्रि आने पर यह वही भूतसमुदाय अविद्या, वासना, कर्मादिवश उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाता है और उसका दिन आने पर पुन: उत्पन्न हो जाता है ॥ 19 ॥]

48 **भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन्कल्पे स्थितः स एवायमेतस्मिन्कल्पे जायमानोऽपि न तु प्रतिकल्पमन्योऽन्यश्च । असत्कार्यवादानभ्युपगमात् । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इति श्रुतेः ॥ "समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" इति न्यायाच्च । अवश इत्यविद्याकामकर्मादिपरतन्त्रः । हे पार्थ स्पष्टमितरत् ॥ 19 ॥**

49 **एवमवशानामुत्पत्तिविनाशप्रदर्शनेनाऽऽब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन इत्येतद्व्याख्यातमधुना मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यत इत्येतद्व्याचष्टे द्वाभ्याम् –**

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ 20 ॥

50 **तस्माच्चराचरस्थूलप्रपञ्चकारणभूताद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात्परो व्यतिरिक्तः श्रेष्ठो वा तस्यापि कारणभूतः । व्यतिरेकेऽपि सालक्षण्यं स्यादिति नेत्याह–अन्योऽत्यन्तविलक्षणः "न तस्य प्रतिमा अस्ति" इति श्रुतेः । अव्यक्तो रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरो भावः कल्पितेषु सर्वेषु कार्येषु सद्रूपेणानुगतः । अत एव सनातनो नित्यः । तुशब्दो हेयादनित्यादव्यक्तादुपादेयत्वं नित्यस्या-**

---

48 हे पार्थ ! जो भूतग्राम = स्थावर-जंगमरूप भूतसमुदाय पूर्वकल्प में स्थित -- विद्यमान था वही यह जायमान भी इस कल्प में उत्पन्न होता है, न कि प्रत्येक कल्प में अन्य-अन्य = नवीन-नवीन उत्पन्न होता है, क्योंकि असत्कार्यवाद स्वीकार नहीं है । श्रुति भी कहती है -- 'धाता -- विधाता ने यथापूर्व -- पूर्ववत् सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की रचना की' । इसप्रकार न्याय भी है -- 'समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च' (ब्रह्मसूत्र, 1.3.30) = 'प्रत्येक कल्प में समान नामरूप होने से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलयरूप आवृत्ति स्वीकार करने में भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा ही श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं' । 'अवशः' -- इससे यह कहा है कि संसार अविद्या, वासना, कर्म आदि के अधीन है । शेष सब स्पष्ट है ॥ 19 ॥

49 इसप्रकार अवश -- पराधीन पुरुषों की उत्पत्ति और विनाश के प्रदर्शन से 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' = 'ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं' -- इसकी व्याख्या की गई । अब दो श्लोकों से 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' = 'मुझको प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता है' -- इसकी व्याख्या कहते हैं --

[तस्मात् = उस हिरण्यगर्भ संज्ञक अव्यक्त से पर -- भिन्न जो अन्य अव्यक्त = चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर सनातन भाव है वह समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥ 20 ॥]

50 तस्मात् = उस चराचर स्थूल प्रपञ्च के कारणभूत हिरण्यगर्भ संज्ञक अव्यक्त से पर = भिन्न अथवा श्रेष्ठ -- उसका भी कारणभूत, -- व्यतिरेक होने पर भी वह सालक्षण्य = उसी के-से लक्षणोंवाला होगा ? तो कहते हैं, नहीं -- वह अन्य अर्थात् अत्यन्त विलक्षण है, श्रुति भी कहती है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.19) = 'उसकी कोई प्रतिमा -- प्रतिमूर्ति नहीं है' । अव्यक्त = रूपादिहीन होने के कारण चक्षुरादि से अगोचर = चक्षुरादि इन्द्रियों का अविषय और भाव = सब कल्पित कार्यों में सद्-रूप से अनुगत, अतएव सनातन -- नित्य है । 'तु' शब्द हेय, अनित्य अव्यक्त से नित्य अव्यक्त की उपादेयता और विलक्षणता सूचित करता है । इसप्रकार का जो भाव

व्यक्तस्य वैलक्षण्यं सूचयति । एतादृशो यो भावः स हिरण्यगर्भ इव सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति उत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यत इत्यर्थः । हिरण्यगर्भस्य तु कार्यस्य भूताभिमानित्वात्तदुत्पत्तिविनाशाभ्यां युक्तावेवोत्पत्तिविनाशौ न तु तदनभिमानिनोऽकार्यस्य परमेश्वरस्येति भावः ॥ 20 ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ 21 ॥

51 **यो भाव इहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोक्तोऽन्यत्रापि श्रुतिषु स्मृतिषु च तं भावमाहुः श्रुतयः स्मृतयश्च "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इत्याद्याः । परमामुत्पत्तिविनाशशून्य-स्वप्रकाशपरमानन्दरूपां गतिं पुरुषार्थविश्रान्तिम् । यं भावं प्राप्य न पुनर्निवर्तन्ते संसाराय तद्धाम स्वरूपं मम विष्णोः परमं सर्वोत्कृष्टम् । मम धामेति राहोः शिर इतिवद्भेदकल्पनया षष्ठी । अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थः ॥ 21 ॥**

52 **इदानीम् -- "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः" इति प्रागुक्तं भक्तियोगमेव तत्प्राप्त्युपायमाह --**

है वह हिरण्यगर्भ के समान समस्त भूतों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता है अर्थात् उनके उत्पन्न होने पर भी उत्पन्न नहीं होता है । कार्यभूत हिरण्यगर्भ तो भूताभिमानी है, अतः उनके उत्पत्ति और विनाश से उसके उत्पत्ति और विनाश उचित ही है; किन्तु अकार्यभूत परमेश्वर भूताभिमानी नहीं है, अत: उसके उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकते -- यह भाव है ॥ 20 ॥

[जिसको 'अव्यक्त' और 'अक्षर' -- इसप्रकार कहा गया है उसी को श्रुति और स्मृतियों ने परम गति कहा है । जिसको प्राप्त होकर मनुष्य पुन: संसार में नहीं लौटता है, वही मेरा परम धाम है ॥ 21 ॥]

51 जिस भाव को यहाँ तथा अन्यत्र -- श्रुति और स्मृतियों में भी 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा गया है, उसी भाव को 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति:' (कठोपनिषद्, 3.11) = 'उस पुरुष की अपेक्षा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, वही काष्ठा है और वही परमगति है' -- इत्यादि श्रुति और स्मृतियों ने परम = उत्पत्ति और विनाश से शून्य, स्वप्रकाश, परमानन्दरूप गति = पुरुषार्थ की विश्रान्ति कहा है । जिस भाव को प्राप्त कर पुन: संसार के लिए नहीं लौटते हैं, वही मुझ विष्णु का परम -- सर्वोत्कृष्ट धाम = स्वरूप है । यहाँ 'मम धाम' = 'मेरा धाम' -- इसमें 'राहो: शिर:' = 'राहु का शिर' -- इस प्रयोग के समान अभेद में भेद की कल्पना से षष्ठी की गई है । अत: तात्पर्य यह है कि मैं ही परम गति हूँ[24] ॥ 21 ॥

52 अब, "जो पुरुष अनन्यचित्त से सतत नित्यश: मुझको स्मरण करता है उसको मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ" -- इसप्रकार पूर्वोक्त भक्तियोग ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है, -- यह कहते हैं --

24. यहाँ 'मम धाम' का अर्थ है -- मेरा धाम-स्वरूप । मेरा स्वरूप मुझसे अभिन्न है, तथापि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से यहाँ भेद की कल्पना की गई है । क्यों ? इसका समाधान यह है कि पौराणिक मत में विष्णु के चक्र से छिन्न दैत्य के देहांश को केतु और शिर को राहु कहा जाता है । राहु स्वयं जबकि शिर ही है तब भी 'राहो: शिर:' = 'राहु का शिर'-- इसप्रकार के प्रयोग से जिस प्रकार औपचारिक भेद की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार 'मेरा धाम-स्वरूप' और 'मैं' -- अभिन्न है, फिर भी औपचारिक भेद की कल्पना करके यहाँ षष्ठी विभक्ति की गई है । अत: यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही परम धाम हूँ और मैं ही परम गति हूँ । मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है । यहाँ इसप्रकार सारूप्य मोक्ष विवक्षित है, सालोक्य नहीं ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ 22 ॥

53 **स परो निरतिशयः पुरुषः परमात्माऽहमेवानन्यया न विद्यतेऽन्यो विषयो यस्यां तया प्रेमलक्षणया भक्त्यैव लभ्यो नान्यथा । स क इत्यपेक्षायामाह—यस्य पुरुषस्यान्तःस्थान्यन्तर्वर्तीनि भूतानि सर्वाणि कार्याणि कारणान्तर्वर्तित्वात्कार्यस्य । अत एव येन पुरुषेण सर्वमिदं कार्यजातं ततं व्याप्तं –**
"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्"
"वृक्ष एव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"
"यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"
"स पर्यगाच्छुक्रम्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ 22 ॥

54 **सगुणब्रह्मोपासकास्तत्पदं प्राप्य न निवर्तन्ते किं तु क्रमेण मुच्यन्ते । तत्र तल्लोकभोगात्प्रागनु-**

[हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त करने योग्य है, जिसके भीतर समस्त भूत विद्यमान हैं और जिससे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च व्याप्त है ॥ 22 ॥]

53 'वह' पर = निरतिशय पुरुष परमात्मा 'मैं' ही अनन्य = नहीं है अन्य विषय जिसमें उस प्रेमलक्षणा भक्ति[25] से ही लभ्य हूँ, अन्यथा नहीं । 'वह' कौन है ? इस अपेक्षा में कहते हैं – जिस पुरुष के अन्तःस्थ अर्थात् भीतर रहनेवाले समस्त भूत -- कार्य हैं, क्योंकि कार्य कारण के भीतर ही रहता है । अतएव जिस पुरुष से सम्पूर्ण कार्यजात तत -- व्याप्त है । इसमें अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं, जैसे --

"जिससे पर और कोई नहीं है, जिससे अपर भी कोई नहीं है, जिससे सूक्ष्म या स्थूल कोई नहीं है, वह एक ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से अपनी द्योतनात्मक महिमा में स्थित है, उस पुरुष से ही सम्पूर्ण कार्यजात व्याप्त है" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.9) ।

"जो कुछ यह सम्पूर्ण जगत् दिखाई या सुनाई देता है, इस सबको भीतर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है ।"

"वह महापुरुष परम तेजोमय (शुक्र) को प्राप्त होता है" (ईशावास्योपनिषद्, 9) -- इत्यादि ॥ 22 ॥

54 सगुण ब्रह्म के उपासक उस पद को अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लौटते नहीं है, किन्तु क्रम से मुक्त हो जाते हैं । उसमें उस लोक के भोगों को भोगने से पूर्व सम्यक्ज्ञान उत्पन्न न होने से उनको वहाँ जाने के लिए मार्ग की अपेक्षा रहती है, सम्यक्ज्ञानियों के समान उपासकों को उसकी अनपेक्षा

25. शास्त्र में कहा गया है –

'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥"

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए जितने उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं उनमें से 'भक्ति' ही श्रेष्ठ है । स्व स्वरूपानुसन्धान अर्थात् अपने स्वरूप = आत्मा का अनुसन्धान ही भक्ति है अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमें अन्य किसी विषय का चिन्तन न कर केवल आत्मा का ही निरन्तर चिन्तन करने से जो प्रेम का प्रवाह प्रवाहित रहता है वही 'अनन्यभक्ति' है और उस अनन्यभक्ति से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है । यही ज्ञानलक्षणा – प्रेमलक्षणा भक्ति है ।

त्पन्नसम्यग्दर्शनानां तेषां मार्गापेक्षा विद्यते न तु सम्यग्दर्शिनामिव तदनपेक्षेत्युपासकानां तल्लोकप्राप्तये देवयानमार्ग उपदिश्यते। पितृयान(ण)मार्गोपन्यासस्तु तस्य स्तुतये –

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ 23 ॥

55 प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिनो ध्यायिनः कर्मिणश्चानावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति । देवयाने पथि प्रयाता ध्यायिनोऽनावृत्तिं यान्ति पितृयाने(णे) पथि प्रयाताश्च कर्मिण आवृत्तिं यान्ति । यद्यपि देवयानेऽपि पथि प्रयाताः पुनरावर्तन्त इत्युक्तम् 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्यत्र, तथाऽपि पितृयाणे पथि गता आवर्तन्त एव न केऽपि तत्र क्रममुक्तिभाजः । देवयाने पथि गतास्तु यद्यपि केचिदावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तडिल्लोकपर्यन्तं गता हिरण्यगर्भपर्यन्तममानवपुरुषनीता अपि पञ्चाग्निविद्याद्युपासका अतत्क्रतवो भोगान्ते निवर्तन्त एव तथाऽपि दहराद्युपासकाः क्रमेण मुच्यन्ते भोगान्त इति न सर्व एवाऽऽवर्तन्ते । अत एव पितृयानः(णः) पन्था नियमेनाऽवृत्तिफलत्वान्निकृष्टः । अयं तु देवयानः पन्था अनावृत्तिफलत्वादतिप्रशस्त इति स्तुतिरुपपद्यते केषांचिदावृत्तावप्यनावृत्तिफलत्वस्यानपायात् ।

56 तं देवयानं पितृयाणं च कालं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं वक्ष्यामि हे भरतर्षभ ! अत्र

नहीं होती, अतः उपासकों के लिए उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति के उद्देश्य से देवयान मार्ग का उपदेश किया जाता है । यहाँ पितृयान मार्ग का उल्लेख तो उस देवयान मार्ग की स्तुति के लिए है -- [हे भरतर्षभ ! जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में जानेवाले योगीजन अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं और जिसमें जानेवाले पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं उस-उस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग को मैं कहूँगा ॥ 23 ॥]

55 प्राणोत्क्रमण के पश्चात् यत्र = यस्मिन् = जिस काल में अर्थात् तत्कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में जानेवाले योगी -- ध्यानी और कर्मी पुरुष अनावृत्ति और आवृत्ति को प्राप्त होते हैं । इनमें देवयान मार्ग में जानेवाले ध्यानीजन अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं और पितृयान मार्ग में जानेवाले कर्मीजन आवृत्ति को प्राप्त होते हैं । यद्यपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' -- इस स्थान पर यह कहा है कि देवयान मार्ग में भी जानेवाले पुनः लौटते हैं, तथापि पितृयान मार्ग में जानेवाले तो लौटते ही हैं वहाँ क्रम से कोई भी मुक्त नहीं होता है । यद्यपि देवयान मार्ग में जानेवाले कोई प्रतीकोपासक तो विद्युल्लोकपर्यन्त जाकर लौटते हैं और कोई पञ्चाग्निविद्या आदि के उपासक, अतत्-क्रतु भी अर्थात् जो सगुण ब्रह्म के उपासक भी नहीं होते हैं, अमानव पुरुष द्वारा हिरण्यगर्भलोक पर्यन्त ले जाये जाने पर भी वहाँ का भोग समाप्त होने पर पुनः लौटते ही हैं; तथापि दहरादि के उपासक तो वहाँ का भोग समाप्त होने पर क्रम से मुक्त होते हैं -- इसप्रकार वहाँ से सभी नहीं लौटते हैं । अतएव पितृयान मार्ग नियमेन आवृत्तिफलक होने से निकृष्ट है, किन्तु यह देवयान मार्ग अनावृत्तिफलक होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है -- इसप्रकार इसकी स्तुति उचित ही है, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं की आवृत्ति होने पर भी अनावृत्तिफलकत्व देवयान मार्ग में है ही ।

56 हे भरतर्षभ ! उस देवयान और पितृयान काल = कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग को मैं कहूँगा । यहाँ 'काल' शब्द का यदि मुख्यार्थ 'समय' ग्रहण करते हैं तो परवर्ती श्लोकों में प्रयुक्त

कालशब्दस्य मुख्यार्थत्वेऽग्निर्ज्योतिर्धूमशब्दानामनुपपत्तिर्गतिसृतिशब्दयोश्चेति तदनुरोधेनैकस्मिन्कालपद एव लक्षणाऽऽश्रिता कालाभिमानिदेवतानां मार्गद्वयेऽपि बाहुल्यात् । अग्निधूमयोस्तदितरयोः सतोरपि अग्निहोत्रशब्दवदेकदेशेनाप्युपलक्षणं कालशब्देन । अन्यथा प्रातरग्निदेवताया अभावात् 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (मी० द० 1.4.4) इत्यनेन तस्य नामधेयता न स्यात् । आम्रवणमिति च लौकिको दृष्टान्तः ॥ 23 ॥

57 **तत्रोपासकानां देवयानं पन्थानमाह –**

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ 24 ॥

अग्नि, ज्योति और धूम शब्दों की कोई उपपत्ति नहीं होगी तथा गति और सृति शब्दों की भी कोई संगति नहीं होगी । अतः उनके अनुरोध से एक 'काल' पद में ही लक्षणा का आश्रय लिया गया है, क्योंकि दोनों ही मार्गों में कालाभिमानी देवताओं की बहुलता है । अग्नि और धूम -- ये शब्द यद्यपि 'काल' शब्द से भिन्न हैं, तथापि 'अग्निहोत्र' शब्द के समान एकदेश 'काल' शब्द को भी वहाँ उपलक्षण के रूप में ग्रहण करना होगा अर्थात् 'काल' कहने पर काल और काल से भिन्न जो कहा गया है उन सबको ही ग्रहण करना होगा । अन्यथा प्रातःकाल में अग्नि देवता के न रहने पर 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (मीमांसादर्शन, 1.4.4) = 'यद्यपि 'अग्निहोत्र' शब्द का यौगिक अर्थ 'अग्नि देवता के लिए आहुति देना' है, तथापि अन्य शास्त्र द्वारा विधान किया जाने से यहाँ 'अग्नि' शब्द प्रजापति आदि अन्य देवताओं का भी उपलक्षण है, अतः कर्ममात्र का वाचक है' -- इस न्याय से उसका ' अग्निहोत्र' -- यह नाम नहीं होगा[26] । इसमें 'आम्रवन' -- यह लौकिक दृष्टान्त है[27] ॥ 23 ॥

57 उसमें उपासको के देवयान मार्ग को कहते हैं --

[ब्रह्मवेत्ता अर्थात् सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले पुरुष उस देवयान मार्ग में जाते हुए क्रमशः अर्चिरभिमानी देवता, दिन के अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता और उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवता के लोकों में जाकर ब्रह्मलोक में जाते हैं ॥ 24 ॥]

---

26. अभिप्राय यह है कि 'अग्निहोत्र' नामक यज्ञ में सायंकाल और प्रातःकाल के होम की जो विधि है उसमें सायंकालीन होम 'अग्नि' देवता के उद्देश्य से किया जाता है और प्रातःकालीन होम अग्नि देवता के स्थान पर 'सूर्य' देवता के उद्देश्य से ही करने का विधान है, इसी प्रकार इस यज्ञ में सायं और प्रातः 'प्रजापति' को भी आहुति दी जाती है । इसप्रकार 'अग्निहोत्र' शब्द का एकदेश ' अग्नि' शब्द अग्नि और अग्नि से भिन्न सूर्य आदि देवता का भी उपलक्षण है । यदि यहाँ 'अग्नि' शब्द का यौगिक अर्थ 'अग्नि' ही ग्रहण करते हैं तो वहीं प्रातःकाल में अग्नि देवता के रहने पर उसका 'अग्निहोत्र' नाम ही नहीं होगा, क्योंकि वहाँ प्रातःकालीन हवि सूर्य देवता को देने का विधान है । अतः 'अग्निहोत्र' शब्द का एकदेश 'अग्नि' शब्द जिस प्रकार सूर्यादि देवता का भी उपलक्षण है उसी प्रकार प्रकृत में एकदेश 'काल' शब्द काल से भिन्न अग्नि, ज्योति, धूम आदि का भी उपलक्षण है ।

27. उक्त दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि जहाँ जिसकी संख्या अधिक होती है वहाँ उसके नाम से ही परिचय दिया जाता है । जिस प्रकार किसी एक वन में आम्र के वृक्ष के अतिरिक्त अन्य वृक्ष रहने पर भी वहाँ आम्र के वृक्षों की अधिक संख्या होने से वन को 'आम्रवन' ही कहा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में देवयान और पितृयान मार्ग के सम्बन्ध में श्रुति में कालवाचक शब्द की अर्थात् कालाभिमानी देवता शब्द की बहुलता रहने के कारण 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है तथापि अग्नि, धूम आदि का भी 'काल' शब्द से ही निर्देश किया गया है ।

58 अग्निर्ज्योतिरित्यर्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते, अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, षण्मासा उत्तरायणमिति उत्तरायणरूपषण्मासाभिमानिनी देवतैव लक्ष्यते 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० 4.3.4) इति न्यायात् । एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां देवतानामुपलक्षणार्थम् । तथा च श्रुतिः – 'तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति । अत्र श्रुत्यन्तरानुसारात्संवत्सरानन्तरं देवलोकदेवता ततो वायुदेवता तत आदित्य इत्याकरे निर्णीतम् । एवं विद्युतोऽनन्तरं वरुणेन्द्रप्रजापतयस्तावता मार्गपर्वपूर्तिः । तत्रार्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणदेवता इहोक्ताः । संवत्सरो देवलोको वायुरादित्य-श्चन्द्रमा विद्युद्वरुण इन्द्रः प्रजापतिश्चेत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र देवयानमार्गे प्रयाता गच्छन्ति

58 'अग्निः' और 'ज्योतिः' शब्दों से अर्चिरभिमानी देवता लक्षित होता है, 'अहः' शब्द से दिन का अभिमानी देवता लक्षित होता है। 'शुक्लपक्षः' से शुक्लपक्षाभिमानी देवता और 'षण्मासा उत्तरायणम्'-- इससे उत्तरायणरूप छः महीनों का अभिमानी देवता ही लक्षित होता है। जैसे कि सूत्रोक्त न्याय है-- 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.3.4) = 'अर्चिरादि शब्दों से अतिवाहिक चेतन देवता ग्रहण करने चाहिए, क्योंकि श्रुति में ऐसा प्रमाण है' । यह अन्य श्रुतियों में उक्त देवताओं का उपलक्षण कराने के लिए भी है। इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'वे अर्चिरभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन के अभिमानी देवता को, दिन से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, शुक्लपक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तरायण रहता है उनके अभिमानी देवता को, उन मासाभिमानी देवताओं से संवत्सराभिमानी देवता को, संवत्सर से आदित्यलोक के अभिमानी देवता को, आदित्य से चन्द्रलोक के अभिमानी देवता को और चन्द्रलोक से विद्युल्लोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । वहाँ से एक अमानव पुरुष इसको ब्रह्मलोक में ले जाता है -- यह देवयान मार्ग है' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.1-2), 'यह ब्रह्ममार्ग है, इस मार्ग से जानेवाले जीव इस मानवलोक में पुनः नहीं लौटते हैं-- नहीं लौटते हैं' (छान्दोग्योपनिषद्, 4.15.5) इत्यादि । यहाँ दूसरी श्रुतियों के अनुसार 'संवत्सर के अनन्तर देवलोक देवता, तदनन्तर वायु देवता, तदनन्तर आदित्य'- ऐसा आकरग्रन्थ अर्थात् भाष्य में निर्णय किया है। इसीप्रकार 'विद्युत् के अनन्तर वरुण, इन्द्र और प्रजापति हैं' -- इनसे ही यह मार्ग पूर्ण होता है। उनमें अर्चिः, अहः, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के देवता तो यहाँ कहे ही गये हैं। संवत्सर, देवलोक, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और प्रजापति नहीं कहे गये हैं, अतः उनको भी समझ लेना चाहिए। इनमें देवयान मार्ग से जानेवाले कार्योपाधिक ब्रह्म[28] को प्राप्त होते हैं, जैसा कि न्याय है --

28. यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'ब्रह्म' का मुख्यार्थ तो परब्रह्म है, अतः सम्यक्ज्ञानी ब्रह्मवित् तो देवयान मार्ग से परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, कार्योपाधिक ब्रह्म को नहीं, तो इसका समाधान यह है कि जो सम्यक्ज्ञानी ब्रह्मवित् अर्थात् तत्त्वज्ञान में निष्ठावाले हैं वे सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं, अतः उनकी कहीं भी गति नहीं होती है, क्योंकि श्रुति कहती है – 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.6) = 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं' । किन्तु जो पुरुष सगुणब्रह्मोपासक हैं वे ही उपासना के फलरूप से अग्नि आदि अतिवाहिक देवताओं के द्वारा अधिष्ठित देवयान मार्ग का आश्रय कर क्रम से निर्विशेष -- निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । वे पहले कार्योपाधिक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और उसके द्वारा ही निरुपाधिक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । प्रकृत श्लोक में सगुणब्रह्मोपासक ब्रह्मवित् का ही प्रसंग है, अतः उक्त शंका का निरस्त होती है ।

ब्रह्म कार्योपाधिकं 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इति न्यायात् । निरुपाधिकं तु ब्रह्म तद्द्वारैव क्रममुक्तिफलत्वात् । ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मोपासका जनाः । अत्र 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति श्रुताविममिति विशेषणात्कल्पान्तरे केचिदावर्तन्त इति प्रतीयते । अत एवात्र भगवतोदासितं श्रौतमार्गकथनेनैव व्याख्यानात् ॥ 24 ॥

59 देवयानमार्गस्तुत्यर्थं पितृयाणमार्गमाह --

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ 25 ॥

60 अत्रापि धूम इति धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिरिति रात्र्यभिमानिनी, कृष्ण इति कृष्णपक्षाभिमानिनी, षण्मासा दक्षिणायनमिति दक्षिणायनाभिमानिनी लक्ष्यते एतदप्यन्यासां श्रुत्युक्तानामुपलक्षणम् । तथाहि श्रुतिः -- 'ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सं-

---

'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्ते :' (ब्रह्मसूत्र , 4.3.7) = 'वह अमानव पुरुष इन उपासकों को सगुण अपर कार्य-ब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है, क्योंकि कार्यब्रह्म सम्बन्धी गति की उपपत्ति है -- ऐसा आचार्य बादरि का मत है' । निरुपाधिक ब्रह्मप्राप्ति तो उसके द्वारा ही होती है, क्योंकि वह क्रममुक्तिफलक है । ब्रह्मवित्-- सगुण ब्रह्म के उपासक पुरुष हैं । यहाँ 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽवर्तन्ते' -- इस पूर्वोक्त श्रुति में 'इमम्' -- इस विशेषण से यह प्रतीत होता है कि कोई-कोई कल्पान्तर में लौट आते हैं । अतएव यहाँ भगवान् उदासीन रहे हैं, क्योंकि श्रौतमार्ग कथन से ही व्याख्यान हुआ है ॥ 24 ॥

59 देवयान मार्ग की स्तुति के लिए पितृयान मार्ग को कहते हैं --
[कर्मयोगी धूमाभिमानी देवता, रात्रि के अभिमानी देवता, कृष्णपक्षाभिमानी देवता, दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवता से उपलक्षित पितृयान मार्ग में जाकर, वहाँ चान्द्रमस ज्योतिरूप फल को प्राप्त होकर पुनः इस संसार में लौट आते हैं ॥ 25 ॥

60 यहाँ भी पूर्व श्लोक के समान 'धूम' से धूमाभिमानी देवता, 'रात्रि' से रात्रि के अभिमानी देवता, 'कृष्ण' से कृष्णपक्षाभिमानी देवता, 'षण्मासा दक्षिणायनम्' से दक्षिणायन के छः महीनों के देवता लक्षित होते हैं । यह भी अन्य श्रुतियों में उक्त देवताओं का उपलक्षण है । इसीप्रकार श्रुति है -- 'वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ये मासाभिमानी देवताओं से संवत्सर के अभिमानी देवता को प्राप्त नहीं होते हैं । वे दक्षिणायन के छः मासों के अभिमानी देवताओं से पितृलोक को प्राप्त होते हैं, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं । यह सोम राजा है, वह देवताओं का अन्न है, उसका देवता भक्षण करते हैं । जब तक यहाँ से पतन न हो तबतक वहाँ रहकर वे पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.3;4,5) इत्यादि । उसमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के अभिमानी देवताओं को तो यहाँ कहा ही गया है । पितृलोक, आकाश और चन्द्रमा -- इनको नहीं कहा गया है, फिर भी इन-

पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति । तत्र धूमरात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनदेवता इहोक्ताः । पितृलोक आकाशश्चन्द्रमा इत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र तस्मिन्पथि प्रयाताश्चान्द्रमसं ज्योतिः फलं योगी कर्मयोगीष्टापूर्तदत्तकारी प्राप्य यावत्संपातमुषित्वा निवर्तते । संपतत्यनेनेति संपातः कर्म । तस्मादेतस्मादावृत्तिमार्गादनावृत्तिमार्गः श्रेयानित्यर्थः ॥ 25 ॥

61 उक्तौ मार्गावुपसंहरति –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ 26 ॥

62 शुक्लाऽर्चिरादिगतिर्ज्ञानप्रकाशमयत्वात् । कृष्णा धूमादिगतिर्ज्ञानहीनत्वेन तमोमयत्वात् । ते एते शुक्लकृष्णे गती मार्गौ हि प्रसिद्धे सगुणविद्याकर्माधिकारिणोः, जगतः सर्वस्यापि शास्त्रज्ञस्य शाश्वते अनादी मते संसारस्यानादित्वात् । तयोरेकया शुक्लया यात्यनावृत्तिं कश्चित्, अन्यया कृष्णया पुनरावर्तते सर्वोऽपि ॥ 26 ॥

63 गतेरुपास्यत्वाय तद्विज्ञानं स्तौति –

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ 27 ॥

को श्रुति के अनुसार समझ लेना चाहिए । तत्र = वहाँ अर्थात् उस पितृयान मार्ग में जानेवाले योगी = इष्ट, पूर्त्त और दान कर्म करनेवाले कर्मयोगी चान्द्रमस ज्योतिरूप फल प्राप्त कर उस कर्म का क्षय होने तक वहाँ रहकर पुन: लौट आते हैं । 'संपतति -- सम्यक् पतति अनेन इति संपातः कर्म' = जिससे सम्यक्रूपेण पतित होता है वह संपात अर्थात् कर्म है । अतः इस आवृत्तिमार्ग = पितृयानमार्ग से अनावृत्ति मार्ग -- देवयान मार्ग श्रेष्ठ है -- यह अभिप्राय है ॥ 25 ॥

61 उक्त दोनों मार्गों का उपसंहार करते हैं --
[जगत् के शुक्ल और कृष्ण -- ये दो मार्ग शाश्वत -- अनादि माने गये हैं । इनमें से एक -- शुक्ल से अनावृत्ति -- अपुनरावृत्ति को प्राप्त होता है और अन्य -- कृष्ण से पुनः आवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पुन: लौट आता है ॥ 26 ॥]

62 अर्चिरादि गति ज्ञान और प्रकाशमयी होने से 'शुक्ल' है । धूमादि गति ज्ञानहीन होने से तमोमयी है अतएव 'कृष्ण' है । सगुणविद्या -- सगुणोपासना करनेवालों के लिए शुक्ल गति-मार्ग है और कर्माधिकारियों के लिए कृष्ण गति-मार्ग है -- यह प्रसिद्ध है । यहाँ 'हि' शब्द 'प्रसिद्ध' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । शुक्ल और कृष्ण -- ये दोनों मार्ग जगत् के सभी शास्त्रज्ञों द्वारा शाश्वत -- अनादि माने गए हैं, क्योंकि संसार अनादि है । इन दोनों मार्गों में से एक अर्थात् शुक्लमार्ग से कोई-कोई पुरुष अनावृत्ति को प्राप्त होता है और अन्य अर्थात् कृष्णमार्ग से सभी पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुन: लौट आते हैं ॥ 26 ॥

63 गति-मार्ग की उपास्यता के लिए उन दोनों मार्गों के विज्ञान -- विशेष ज्ञान की स्तुति करते हैं --
[हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है, इसलिए हे अर्जुन ! तुम सब काल में समत्वबुद्धिरूप योग से युक्त होओ ॥ 27 ॥]

64 एते सृती मार्गौ हे पार्थ जनन्क्रममोक्षायैका पुनः संसारायापरेति निश्चिन्वन्योगी ध्याननिष्ठो न मुह्यति केवलं कर्म धूमादिमार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन न प्रत्येति कश्चन कश्चिदपि । तस्माद्योगस्यापुनरावृत्तिफलत्वात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः समाहितचित्तो भवापुनरावृत्तये हेऽर्जुन ॥ 27 ॥

65 पुनः श्रद्धावृद्ध्यर्थं योगं स्तौति –

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम् ॥ 28॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता-सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षरपरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

66 वेदेषु दर्भपवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वगुर्वधीनत्वादिभिः सम्यगधीतेषु, यज्ञेष्वङ्गोपाङ्गसाहित्येन श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु, तपःसु शास्त्रोक्तेषु मनोबुद्ध्याद्यैकाग्र्येण श्रद्धया सुतप्तेषु,दानेषु तुलापुरुषादिषु देशे काले पात्रे च श्रद्धया सम्यग्दत्तेषु यत्पुण्यफलं पुण्यस्य धर्मस्य फलं स्वर्गस्वाराज्यादि प्रदिष्टं

---

64 हे पार्थ ! इन दोनों सृतियों -- मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ = 'इनमें से एक -- शुक्लमार्ग क्रममोक्ष के लिए है और अपर -- कृष्णमार्ग पुन: संसार के लिए है' -- यह निश्चय करता हुआ कोई भी योगी = ध्याननिष्ठ पुरुष मोहित नहीं होता है अर्थात् धूमादि मार्ग की प्राप्ति करानेवाले केवल कर्म को अपने कर्त्तव्यरूप से स्वीकार नहीं करता है । इसलिए हे अर्जुन ! योग का फल अपुनरावृत्ति है, अत: तुम अपुनरावृत्ति के लिए सब काल में योगयुक्त = समाहितचित्त होओ ।। 27 ।।

65 पुन: श्रद्धावृद्धि के लिए योग की स्तुति करते हैं --
[योगी पुरुष इस उपासना क्रम को जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्यफल कहा गया है उस सबका अतिक्रमण करता है और सबके कारणरूप सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त होता है ।। 28 ।।]

66 वेदों में = हाथ में दर्भ के पवित्रक बाँधकर, पूर्व की ओर मुख कर, गुरु के अधीन रहकर इत्यादि नियमों का पालन कर सम्यक् प्रकार से अध्ययन किये हुए वेदों में; यज्ञों में = अंग और उपांगों सहित श्रद्धापूर्वक सम्यक् रीति से अनुष्ठित यज्ञों में; तपों में = मन, बुद्धि आदि की एकाग्रता तथा श्रद्धा से सु-अनुष्ठित शास्त्रोक्त तपों में; दानों में = देश, काल और पात्र के अनुसार श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रकार से दिये हुए तुलापुरुष[29] आदि दानों में शास्त्र ने जो पुण्यफल = पुण्य -- धर्म के फल -- स्वर्ग, स्वराज्य आदि कहे हैं उस सबका योगी = ध्याननिष्ठ पुरुष इस पूर्वोक्त सात[30] प्रश्नों

---

29. दस या सोलह 'महादान' हैं । इनमें स्वर्णदान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । इसके पश्चात् भूमि, आवास, ग्राम दान आदि का क्रमश: स्थान है । स्वर्णदान सबसे मूल्यवान् होने से उत्तम माना गया है । इसके अन्तर्गत 'तुलापुरुषदान' या 'तुलादान' है । इसमें सर्वाधिक दान देनेवाला पुरुष तुला के एक पलड़े में बैठकर दूसरे पलड़े में समान भार का स्वर्ण रख कर उसको ब्राह्मणों में दान करता है ।

30. श्रीधर स्वामी ने अष्टम अध्याय में आठ प्रश्नों का अर्थनिर्णय स्वीकार किया है । आनन्दगिरि का कहना है कि यद्यपि अष्टम अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में आठ प्रश्न किये गये हैं उनमें से 'किं तद्ब्रह्म ?' और 'अधियज्ञ: कथं कोऽत्र ?' -- कहने में ये दो पृथक् प्रश्न किए गए हैं – ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु उक्त दोनों प्रश्नों का प्रतिपाद्य एक ही है, अत: यथार्थरूप से प्रश्न सात ही है, आठ नहीं हैं । यही मधुसूदन सरस्वती स्वीकार करते हैं ।

शास्त्रेण, अत्येत्यतिक्रामति तत्सर्वमिदं पूर्वोक्तसप्तप्रश्ननिरूपणद्वारेणोक्तं विदित्वा सम्यगनुष्ठानपर्यन्तमवधार्यानुष्ठाय च योगी ध्याननिष्ठः । न केवलं तदतिक्रामति परं सर्वोत्कृष्टमैश्वरं स्थानमाद्यं सर्वकारणमुपैति च प्रतिपद्यते च सर्वकारणं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः । तदनेनाध्यायेन ध्येयत्वेन तत्पदार्थो व्याख्यातः ॥ 28 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेनाक्षरपरब्रह्मविवरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥

के निरूपण द्वारा उक्त विषय को जानकर = सम्यक् अनुष्ठान पर्यन्त समझकर और अनुष्ठान कर अतिक्रमण करता है[31] । वह योगी केवल उस सब फल का अतिक्रमण ही नहीं करता है, अपितु परम-- सर्वोत्कृष्ट आद्य -- सर्वकारण ईश्वरीय स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् सर्वकारण ब्रह्म को ही प्राप्त होता है । इसप्रकार इस अध्याय से ध्येयरूप 'तत्' पदार्थ की व्याख्या की गई है ।। 28 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का अक्षरपरब्रह्मयोग नामक अष्टम अध्याय समाप्त होता है ।

---

31. अभिप्राय यह है कि वेदाध्ययन, यज्ञादि कर्म, तप, दान आदि कर्मों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने पर पुण्यों का उदय होता है और उनके फलरूप से सुखकर स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, किन्तु उक्त कर्मों का फल नित्य और निरतिशय नहीं होता है, अत: उन कर्मों से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता, 9.21) अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में लौटना होता है, इसीलिए योगी सभी पुण्यफल का अतिक्रमण करते है अर्थात् पुण्य का फल जो अनित्य जागतिक या पारलौकिक स्वर्गादिसुख है उसको भोगने की इच्छा नहीं करते हैं, किन्तु ध्याननिष्ठ हो नित्य, शाश्वत, निरतिशय, परमानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं । यदि निर्गुण ब्रह्म में ध्याननिष्ठ होकर इसी जीवन में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं तो उसके फलस्वरूप सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं, और यदि सगुण ब्रह्म की उपासना में रत रहते हैं तो क्रममुक्ति लाभ करते हैं । सद्योमुक्ति प्राप्त हो या क्रममुक्ति प्राप्त हो जो योगी परमात्मा या ईश्वर में योग से उनके साथ सदा ही युक्त रहने के लिए प्रयत्न करते हैं, उनको पुन: संसार में लौटना नहीं होता है, यह निश्चित है ।

अथ नवमोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये मूर्धन्यनाडीद्वारकेण हृदयकण्ठभ्रूमध्यादिधारणासहितेन सर्वेन्द्रियद्वारसंयमगुणकेन योगेन स्वेच्छयोत्क्रान्तप्राणस्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रयातस्य तत्र सम्यग्ज्ञानोदयेन कल्पान्ते परब्रह्मप्राप्तिलक्षणा क्रममुक्तिर्व्याख्याता । तत्र चानेनैव प्रकारेण मुक्तिर्लभ्यते नान्यथेत्याशङ्क्य –**

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः'

इत्यादिना भगवत्तत्त्वविज्ञानात्साक्षान्मोक्षप्राप्तिरभिहिता । तत्र चानन्या भक्तिरसाधारणो हेतुरित्युक्तं 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इति । तत्र पूर्वोक्तयोगधारणापूर्वक-प्राणोत्क्रमणार्चिरादिमार्गगमनकालविलम्बादिक्लेशमन्तरेणैव साक्षान्मोक्षप्राप्तये भगवत्तत्वस्य तद्भक्तेश्च विस्तरेण ज्ञापनाय नवमोऽध्याय आरभ्यते । अष्टमे ध्येयब्रह्मनिरूपणेन तद्ध्याननिष्ठस्य गतिरुक्ता । नवमे तु ज्ञेयब्रह्मनिरूपणेन ज्ञाननिष्ठस्य गतिरुच्यत इति संक्षेपः । तत्र वक्ष्यमाणज्ञानस्तुत्यर्थांस्त्रीञ्श्लोकान् –

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 1 ॥

1 पूर्व अध्याय में मूर्धन्य -- मूर्धा में स्थित सुषुम्ना नाडी द्वारा हृदय, कण्ठ, दोनों भ्रुकुटियों के मध्य आदि में धारणा सहित समस्त इन्द्रियद्वारों के संयमरूप गुणवाले योग से स्वेच्छया उत्क्रान्त त्यक्त प्राणवाले अतएव अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक को गये हुए -- प्राप्त हुए योगी की वहाँ सम्यग्ज्ञान -- तत्त्वज्ञान का उदय होने से कल्पान्त में परब्रह्म की प्राप्तिरूप क्रममुक्ति की व्याख्या की गई है । उसमें 'इसी प्रकार से मुक्ति-लाभ होता है, अन्यथा नहीं' -- यह आशंका कर --

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः' (गीता, 8.14)

इत्यादि श्लोक से जो भगवान् का सतत जीवनपर्यन्त स्मरण करता है उसको भगवत्तत्वज्ञान से मोक्ष की साक्षात् प्राप्ति कही गई है । उसमें अनन्या भक्ति असाधारण हेतु है -- यह 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता, 8.22) = 'हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्या भक्ति से लभ्य है' -- इससे कहा है । इसमें पूर्वोक्त योगधारणापूर्वक प्राणोत्क्रमण, अर्चिरादिमार्गगमनरूप कालविलम्ब आदि क्लेश के बिना ही साक्षात् मोक्षप्राप्ति के लिए भगवान् के तत्त्व और उनकी भक्ति का विस्तार से ज्ञान कराने के लिए नवम अध्याय आरम्भ किया जाता है । अष्टम अध्याय में ध्येय ब्रह्म के निरूपण द्वारा उसके ध्याननिष्ठ पुरुष की गति कही गई है । नवम अध्याय में तो ज्ञेय ब्रह्म के निरूपण द्वारा उसके ज्ञाननिष्ठ पुरुष की गति कही जाती है -- यह संक्षेप में अर्थ है । इसमें वक्ष्यमाण ज्ञान की स्तुति के लिए भगवान् तीन श्लोकों को कहते हैं --

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मैं अनसूयु -- असूयारहित अर्थात् गुणों में दोषदृष्टि न करनेवाले तुमको यह ब्रह्मानुभवपर्यन्त अत्यन्त गुह्य -- गोपनीय ज्ञान कहूँगा, जिसको जानकर तुम संसाररूप अशुभ से मुक्त हो जाओगे ।। 1 ।।]

2 **इदं प्राग्बहुधोक्तमग्रे च वक्ष्यमाणमधुनोच्यमानं ज्ञानं शब्दप्रमाणकं ब्रह्मतत्त्वविषयकं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि । तुशब्दः पूर्वाध्यायोक्ताद्ध्यानाज्ज्ञानस्य वैलक्षण्यमाह । इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं न तु ध्यानं तस्याज्ञानानिवर्तकत्वात् । तत्त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारेदमेव ज्ञानं संपाद्य क्रमेण मोक्षं जनयतीत्युक्तम् ।**

3 **कीदृशं ज्ञानं गुह्यतमं गोपनीयतममतिरहस्यत्वात् । यतो विज्ञानसहितं ब्रह्मानुभवपर्यन्तम् । ईदृशमतिरहस्यमप्यहं शिष्यगुणाधिक्याद्वक्ष्यामि तुभ्यमनसूयवे । असूया गुणेषु दोषदृष्टिस्तदाविष्करणादिफला । सर्वदाऽयमात्मैश्वर्यख्यापनेनाऽऽत्मानं प्रशंसति मत्पुरस्तादित्येवंरूपा तद्रहिताय । अनेनाऽऽर्जवसंयमावपि शिष्यगुणौ व्याख्यातौ । पुनः कीदृशं ज्ञानं यज्ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्यसे सद्य एव संसारबन्धनादशुभात्सर्वदुःखहेतोः ॥ 1 ॥**

4 **पुनस्तदाभिमुख्याय तज्ज्ञानं स्तौति --**

---

2 यह पहले बहुधा कहा गया है और आगे भी कहेंगे, इस समय उच्यमान -- कथ्यमान शब्दप्रमाणक ब्रह्मतत्त्वविषयक ज्ञान मैं तुमको कहूँगा । 'तु' शब्द से पूर्व अध्याय में कहे गये ध्यान से ज्ञान की विलक्षणता कहते हैं । यह सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का साधन है, ध्यान नहीं, क्योंकि वह ध्यान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है[1] । वह ध्यान तो अन्तःकरणशुद्धि द्वारा इसी ज्ञान का सम्पादन कर क्रम से मोक्ष उत्पन्न करता है -- यह कहा गया है ।

3 भगवान् कैसा ज्ञान कहेंगे ? जो गुह्यतम -- अत्यन्त गोपनीय है, क्योंकि अत्यन्त रहस्यमय है और जिस कारण विज्ञानसहित है अर्थात् ब्रह्मानुभवपर्यन्त है । ऐसा अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान भी मैं शिष्य के गुणों की अधिकता से अनसूयु -- असूयारहित तुमको कहूँगा । गुणों में दोषदृष्टि करना 'असूया[2]' है, 'यह सर्वदा मेरे सामने अपने ऐश्वर्य के ख्यापन -- स्थापन से अपनी प्रशंसा करता है' -- इस प्रकार दोषाविष्करण -- दोषान्वेषण आदि जिसका फल है उस असूया से रहित तुमको यह ज्ञान मैं कहूँगा । इससे आर्जव और संयमरूप शिष्य के अन्य दो गुणों की भी व्याख्या हो जाती है[3] । फिर वह ज्ञान कैसा है ? जिसको जानकर -- प्राप्तकर तुम शीघ्र ही संसारबन्धनरूप अशुभ -- समस्त दुःखों के हेतु से मुक्त हो जाओगे -- ऐसा ज्ञान तुमको मैं कहूँगा ॥ 1 ॥

4 पुनः अर्जुन को अभिमुख -- आकर्षित करने के लिए उस ज्ञान की स्तुति करते हैं :--

---

1. यद्यपि ज्ञान और ध्यान में कोई विरोध नहीं है, तथापि ज्ञान की ध्यान से विलक्षणता है । सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का साधन है, ध्यान नहीं, क्योंकि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, किन्तु ध्यान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है । कारण कि ज्ञान वस्तुतन्त्र है, जो विषय होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं, किन्तु ध्यान पुरुषतन्त्र है, जो विषय का बाध होने पर भी पुरुष की इच्छावश होता है, अतः ज्ञान और ध्यान में विरोध न होने से निवर्त्य -- निवर्तनभाव नहीं होता है ।

2. 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' (अमरकोश, 1.7.24) = 'औद्धत्य से किसी के गुणविषयक कार्य में भी दोष निकालना 'असूया' है । यहाँ 'असूया' शब्द से काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि का उपलक्षण भी सूचित किया गया है ।

3. अभिप्राय यह है कि 'असूया' स्वभाव जिसमें रहता है उसमें आर्जव -- ऋजुता -- सरलता या धैर्य और संयम का अभाव रहता है, अतः असूयायुक्त पुरुष कभी भी शिष्य होकर गुरु से गोपनीय तत्त्व को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं होता है । किन्तु जिसमें 'असूया' स्वभाव नहीं रहता है उसमें आर्जव और संयम भी रहता है, अतः असूयाशून्य पुरुष ही शिष्य के गुणों से युक्त होने से गुरु द्वारा गोपनीय तत्त्व को ग्रहण करने का अधिकारी होता है । इसी से प्रकृत में कहा है कि अनसूयु -- असूयारहित होने से शिष्य के आर्जव और संयम -- इन अन्य दो गुणों की भी व्याख्या हो जाती है ।

**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ 2 ॥**

5 **राजविद्या सर्वासां विद्यानां राजा सर्वाविद्यानाशकत्वात्, विद्यान्तरस्याविद्यैकदेशविरोधित्वात् । तथा राजगुह्यं सर्वेषां गुह्यानां राजा, अनेकजन्मकृतसुकृतसाध्यत्वेन बहुभिरज्ञातत्वात् । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः । पवित्रमिदमुत्तमं, प्रायश्चित्तैर्हि किंचिदेकमेव पापं निवर्त्यते । निवृत्तं च तत्स्वकारणे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव । यतः पुनस्तत्पापमुपचिनोति पुरुषः । इदं तु अनेकजन्मसहस्रसंचितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्य चाज्ञानस्य सद्य एवोच्छेदकम् । अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । न चातीन्द्रिये धर्म इवात्र कस्यचित्संदेहः स्वरूपतः फलतश्च प्रत्यक्षत्वादित्याह -- प्रत्यक्षावगममवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानमवगम्यते प्राप्यत इत्यव-**

[यह ज्ञान राजविद्या = विद्याओं का राजा, राजगुह्य = गोपनीयों का भी राजा, अति पवित्र, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, अनेक जन्मों में सञ्चित हुए निष्काम धर्म का फल है, करने में अत्यन्त सुगम और अविनाशी फल प्रदान करनेवाला है ॥ 2 ॥]

5 यह ज्ञान राजविद्या = समस्त विद्याओं का राजा है, क्योंकि यह सब प्रकार की अविद्या का नाशक है, इससे भिन्न जो अन्य विद्याएँ हैं वे तो अविद्या के एकदेश अर्थात् एक-एक देश की ही विरोधी या निवर्तक होती हैं । तथा राजगुह्य = समस्त गोपनीयों का राजा है, क्योंकि यह अनेक जन्मों में किये हुए पुण्यों से साध्य-प्राप्य होने से बहुतों को अज्ञात है । 'राजदन्तादिषु परम्' (पाणिनिसूत्र, 2.2.31) = **'राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द की 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' (पाणिनिसूत्र,** 1.2.43) = 'समासशास्त्र में प्रथमा --प्रथमान्त पद से निर्दिष्ट पद उपसर्जनसंज्ञक होता है' -- इस सूत्र के अनुसार उपसर्जन संज्ञा होने से 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पाणिनिसूत्र, 2.2.30) -- 'उपसर्जनसंज्ञक पद का पूर्वनिपात होता है' -- इस सूत्र के अनुसार पूर्वनिपात प्राप्त हो, उस उपसर्जनसंज्ञक शब्द का परनिपात होता है' -- जैसे, -- राजदन्तः = दन्तानां राजा=इस विग्रह में 'षष्ठी' (पाणिनिसूत्र, 2.2.8) -- 'षष्ठ्यन्त पद का सुबन्त के साथ समास होता है और षष्ठी तत्पुरुष कहलाता है' -- इस सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष होता है । यहाँ 'दन्त' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात प्राप्त था, उक्त सूत्र के अनुसार 'दन्त' शब्द को पर-निपात हुआ है और 'राजदन्तः' पद सिद्ध हुआ है; उसी प्रकार 'राजविद्या' = 'विद्यानां राजा' और 'राजगुह्यम्' = 'गुह्यानां राजा' -- इन विग्रहों में 'षष्ठी' सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष समास है । यहाँ 'विद्या' और 'गुह्य' शब्दों की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्व-निपात प्राप्त है, किन्तु 'राजदन्तादिषु परम्' -- सूत्र से 'विद्या' और 'गुह्य' शब्दों को पर-निपात होकर 'राजविद्या' और 'राजगुह्यम्' -- पद सिद्ध हुए हैं । यह ज्ञान पवित्र, उत्तम है। प्रायश्चित्तों से तो किसी एक ही पाप की निवृत्ति होती है और वह निवृत्त अपने कारण में सूक्ष्मरूप से रहता ही है, क्योंकि पुरुष पुनः उस पाप को करता है । यह ज्ञान तो अनेक सहस्र जन्मों में सञ्चित स्थूल और सूक्ष्म अवस्थावाले सभी पापों और उनके कारण अज्ञान का शीघ्र ही उच्छेद करनेवाला है, अतः सर्वोत्तम, पावन-पवित्र यही है । इसमें अतीन्द्रिय = इन्द्रियों के अविषय धर्म के समान किसी को सन्देह नहीं है, क्योंकि यह स्वरूपतः और फलतः प्रत्यक्ष है, अतएव कहते हैं -- 'प्रत्यक्षावगमम्' । 'अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमः' = 'जिससे जाना जाता है वह 'अवगम' है' -- इस व्युत्पत्ति से अवगम का अर्थ 'मान = प्रमाण' है, तथा 'अवगम्यते प्राप्यत इत्यवगमः' = 'जो प्राप्त किया जाता है वह 'अवगम' है' -- इस व्युत्पत्ति से अवगम का अर्थ 'फल' है । 'प्रत्यक्षमवगमो

गमः फलं प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षत्वं, प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति फलतः साक्षिप्रत्यक्षत्वम् । मयेदं विदितमतो नष्टमिदानीमत्र ममाज्ञानमिति हि सार्वलौकिकः साक्ष्यनुभवः ।

6 **एवं लोकानुभवसिद्धत्वेऽपि तज्ज्ञानं धर्म्यं धर्मादनपेतमनेकजन्मसंचितनिष्कामधर्मफलम् । तर्हि दुःसंपादं स्यान्नेत्याह — सुसुखं कर्तुं गुरूपदर्शितविचारसहकृतेन वेदान्तवाक्येन सुखेन कर्तुं शक्यं न देशकालादिव्यवधानमपेक्षते प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य । एवमनायाससाध्यत्वे स्वल्पफलत्वं स्यादत्यायाससाध्यानामेव कर्मणां महाफलत्वदर्शनादिति नेत्याह — अव्ययम्, एवमनायाससाध्यस्याप्यस्य फलतो व्ययो नास्तीत्यव्ययमक्षयफलमित्यर्थः । कर्मणा त्वतिमहतामपि क्षयिफलत्वमेव 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति श्रुतेः । तस्मात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्छ्रद्धेयमेवाऽऽत्मज्ञानम् ॥ 2 ॥**

7 **एवमस्य सुकरत्वे सर्वोत्कृष्टत्वे च सर्वेऽपि कुतोऽत्र न प्रवर्तन्ते, तथा च न कोऽपि संसारी स्यादित्यत आह —**

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ 3 ॥

मानमस्मिन्निति' = 'इसमें प्रत्यक्ष अवगम अर्थात् मान -- प्रमाण है' -- इस विग्रह से इसकी स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षता है, तथा 'प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति' = 'इसका अवगम -- फल प्रत्यक्ष है' -- इस विग्रह से इसकी फलतः साक्षिप्रत्यक्षता है । 'मैंने इसको जाना, अतः इस समय इस विषय में मेरा अज्ञान नष्ट हुआ' -- यह सार्वलौकिक साक्षी का अनुभव है ।

6 इसप्रकार लोकानुभव सिद्ध होने पर भी वह ज्ञान धर्म्य[1] = धर्म से अनपेत अर्थात् अनेक जन्मों में संचित निष्काम धर्म का फल है । तब तो इसका सम्पादन करना अति कष्टकर होगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं -- नहीं, यह करने में सुसुख है अर्थात् यह गुरु के द्वारा उपदर्शित -- उपदिष्ट विचार के साथ वेदान्तवाक्य से सुखपूर्वक -- अनायास ही करने के योग्य है । इसको देश, काल आदि के व्यवधान की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञान प्रमाण-वस्तुपरतन्त्र होता है । इसप्रकार अनायास ही साध्य होने पर तो इसका स्वल्प-बहुत थोड़ा फल ही होगा, क्योंकि अत्यायास -- अधिक परिश्रमसाध्य कर्म ही महाफलक देखे जाते हैं ? इस पर भगवान् कहते हैं -- नहीं, यह अव्यय है अर्थात् इसप्रकार अनायाससाध्य भी इसका फलतः व्यय नहीं होता है, क्योंकि यह अव्यय = अक्षयफलक है । कर्म तो बड़े-बड़े भी नाशवान् फलवाले ही होते हैं, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर पुरुष को न जानकर इस लोक में अनेक सहस्र-वर्षपर्यन्त याग-यज्ञादि करता है और तप करता है उसका वह सब कर्म अन्तवान् -- नाशवान् ही होता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.8.1) । अतः सर्वोत्कृष्ट होने से आत्मज्ञान श्रद्धेय -- श्रद्धा के योग्य ही है ॥ 2 ॥

7 इसप्रकार इसकी सुकरता और सर्वोत्कृष्टता होने पर भी सभी इसमें प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं, ऐसा होने पर तो कोई भी संसारी नहीं होगा ? -- इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं --

[हे परंतप ! इस आत्मज्ञानरूप धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको प्राप्त न होकर मृत्युयुक्त संसारमार्ग में भ्रमण करते हैं ॥ 3 ॥]

1. 'वेदोक्तसर्वधर्मफलत्वात् धर्म्यम्' = यह ज्ञान वेदोक्त सर्वधर्म का फलरूप है, अतः इसको 'धर्म्य' कहते हैं' (श्रीधरी टीका) ।

8 अस्याऽऽत्मज्ञानाख्यस्य धर्मस्य स्वरूपे साधने फले च शास्त्रप्रतिपादितेऽपि अश्रद्दधाना वेदविरोधिकुहेतुदर्शनदूषितान्तःकरणतया प्रामाण्यममन्यमानाः पापकारिणोऽसुरसंपदमारूढाः स्वमतिकल्पितेनोपायेन कथंचिद्यतमाना अपि शास्त्रविहितोपायाभावादप्राप्य मां मत्प्राप्तिसाधनमप्यलब्ध्वा निवर्तन्ते निश्चयेन वर्तन्ते । क्व मृत्युयुक्ते संसारवर्त्मनि, सर्वदा जननमरणप्रबन्धेन नारकितिर्यगादियोनिष्वेव भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ 3 ॥

9 तदेवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य विधिमुखेनेतरनिषेधमुखेन च स्तुत्याऽभिमुखीकृतमर्जुनं प्रति तदेवाऽऽह द्वाभ्याम् –

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ 4 ॥

10 इदं जगत्सर्वं भूतभौतिकतत्कारणरूपं दृश्यजातं मदज्ञानकल्पितं मयाऽधिष्ठानेन परमार्थसता सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च ततं व्याप्तं रज्जुखण्डेनेव तदज्ञानकल्पितं सर्पधारादि । त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत्कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह -- अव्यक्ता सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदंसर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः । अत

---

8 शास्त्र द्वारा प्रतिपादित होने पर भी इस आत्मज्ञानसंज्ञक धर्म के स्वरूप, साधन और फल में श्रद्धा न रखनेवाले -- वेदविरोधी कुहेतुओं के दर्शन से दूषित अन्तःकरण होने के कारण वेदों के प्रामाण्य को न माननेवाले पापकारी पुरुष आसुरी सम्पत्ति से सम्पन्न होकर अपनी बुद्धि से कल्पित उपाय द्वारा किसी भी प्रकार यत्न करते हुए भी शास्त्रविहित उपाय के अभाव के कारण मुझको प्राप्त न कर अर्थात् मेरी प्राप्ति के साधन को भी प्राप्त न कर निश्चयपूर्वक आवर्तन करते हैं । कहाँ ? मृत्युयुक्त संसारमार्ग में आवर्तन करते हैं अर्थात् सर्वदा जन्म-मरण के प्रबन्ध से नारकी, तिर्यगादि योनियों में ही भ्रमण करते हैं ॥ 3 ॥

9 इसप्रकार वक्तव्यरूप से प्रतिज्ञात ज्ञान की विधिमुख से और इतर की निषेधमुख से स्तुति करके ज्ञान के अभिमुख किये हुए अर्जुन के प्रति भगवान् दो श्लोकों से वही ज्ञान कहते हैं :-
[हे अर्जुन ! यह सम्पूर्ण जगत् अव्यक्तरूप मुझसे व्याप्त है । सब भूत मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ ॥ 4 ॥]

10 जिसप्रकार रज्जुखण्ड के **अज्ञान से कल्पित सर्प,** जलधारा आदि रज्जुखण्ड से ही व्याप्त होते हैं उसी प्रकार मेरे अज्ञान से कल्पित यह भूत-भौतिक और उसका कारणरूप सम्पूर्ण दृश्यजात जगत् मुझ अधिष्ठान परमार्थसत् से सद्रूप और स्फुरणरूप से व्याप्त है[5] । परिच्छिन्न-परिमित वासुदेव आपसे अपरिमित यह सम्पूर्ण जगत् कैसे व्याप्त है, यह तो प्रत्यक्षविरुद्ध है ? इस पर भगवान् कहते हैं - नहीं, अव्यक्त=समस्त करण-इन्द्रियों की अगोचरीभूत-अविषयीभूत स्वप्रकाश, अद्वय, चैतन्य, सत्, आनन्दरूपा मूर्ति है जिसकी उस अव्यक्तमूर्ति मुझसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, न कि देहवाले मुझसे व्याप्त है - यह अर्थ है । अत एव 'सन्ति इव' = 'हैं - जैसे', 'स्फुरन्ति इव'='स्फुरण करते हैं - जैसे' अर्थात् सद्रूप और स्फुरणरूप से प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भूत

5. अभिप्राय यह है कि अधिष्ठानरूप से विद्यमान रज्जुखण्ड की सत्ता और स्फुरण से जिस प्रकार उसके अज्ञान से कल्पित सर्प, जलधारा आदि सद्रूप और स्फुरणरूप प्रतीत होते हैं उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप परमार्थसत् मुझ ब्रह्म की सत्ता और स्फुरण से मेरे अज्ञान से कल्पित यह सम्पूर्ण जगत् सद्रूप और स्फुरणरूप प्रतीत होता है । मेरे अतिरिक्त इस जगत् की कोई पृथक् सत्ता और स्फुरण नहीं है, यह परमार्थ सत् नहीं है, मैं ही परमार्थसत् अधिष्ठानस्वरूप हूँ, यह मुझमें कल्पित है, अतएव सम्पूर्ण जगत् मुझ से व्याप्त है ।

एव न च नैवाहं तेषु कल्पितेषु भूतेष्ववस्थितः कल्पिताकल्पितयोः संबन्धायोगात् । अत एवोक्तं यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाऽणुमात्रेणापि न स संबध्यत इति ॥ 4 ॥

11 अत एव –

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः ॥ 5 ॥

12 दिविष्ठ इवाऽऽदित्ये कल्पितानि जलचलनादीनि मयि कल्पितानि भूतानि परमार्थतो मयि न सन्ति । त्वमर्जुनः प्राकृतीं मनुष्यबुद्धिं हित्वा पश्य पर्यालोचय मे योगं प्रभावमैश्वरमघटनघटनाचातुर्यं मायाविन इव ममावलोकयेत्यर्थः । नाहं कस्यचिदाधेयो नापि कस्यचिदाधारस्तथाऽप्यहं सर्वेषु भूतेषु मयि च सर्वाणि भूतानीति महतीयं माया । यतो भूतानि सर्वाणि कार्याण्युपादानतया बिभर्ति

मुझमें स्थित हैं अर्थात् मद्रूप-- मेरे रूप से स्थित हैं । परमार्थतः तो मैं उन कल्पित भूतों में अवस्थित नहीं हूँ[6], क्योंकि कल्पित और अकल्पित वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं होता है । अत एव भाष्यकार ने कहा है -- 'जिसमें जो वस्तु अध्यस्त होती है उस अध्यस्त वस्तु के गुण अथवा दोष से अधिष्ठानभूत वस्तु का अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है' (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य - अध्यासभाष्य) ॥ 4 ॥

11 अत एव --

[वे सब कल्पित भूत वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है । तुम मेरा ऐश्वर-ईश्वरीय योग-प्रभाव देखो । उपादान कारणरूप से सम्पूर्ण भूतों का भरण-पोषण करने वाला और कर्तारूप से उनकी उत्पत्ति करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में उनसे सम्बद्ध नहीं है ॥ 5 ॥]

12 आकाशस्थ सूर्य में जलचलनादि जैसे कल्पित हैं वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें कल्पित हैं, परमार्थतः वे मुझमें नहीं हैं[7] । तुम अर्जुन अपनी प्राकृती मनुष्य-बुद्धि को छोड़कर मेरे ऐश्वर -- ईश्वरीय योग -- प्रभाव को देखो -- मेरे ईश्वरीय प्रभाव का पर्यालोचन करो अर्थात् मायावी के समान मेरे अघटनघटनाचातुर्य का अवलोकन करो । मैं न तो किसी का आधेय हूँ और न किसी का आधार हूँ, तथापि मैं सब भूतों में हूँ और सब भूत मुझमें है -- यह महती माया है[8] । क्योंकि उपादान रूप से मेरा आत्मा ही सब भूतों-कार्यों का भरण, धारण और पोषण करता है इसलिए वह 'भूतभृत्'

6. अभिप्राय यह है कि मैं सभी कारणों का कारण होने पर भी घटादि कार्य में मिट्टी जैसे विद्यमान रहती है वैसे मैं सभी भूतों में अवस्थान नहीं करता हूँ । मूर्त -- परिच्छिन्न मिट्टीरूप वस्तु से उत्पन्न हुई परिच्छिन्न घटादिरूप वस्तु के अणु-परमाणु में जैसे मिट्टी व्याप्त होकर स्थित रहती है वैसे मैं सभी भूतों में नहीं रहता हूँ, क्योंकि अपरिच्छिन्न -- अपरिमित आकाश सर्वव्यापी होकर भी किसी वस्तु से कभी संश्लिष्ट नहीं होता है वैसे ही मैं भी किसी वस्तु से संश्लिष्ट-संयुक्त नहीं होता हूँ, कारण कि मैं तो आकाश का भी अन्तरतम हूँ, अतएव श्रुति भी कहती है -- 'असंगोऽयमात्मा' अर्थात् यह आत्मा असंग है, इसका किसी के साथ संग नहीं होता है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है । आत्मा किसी वस्तु से संसर्ग न रहने के कारण कभी किसी का आधेय नहीं हो सकता है । यह सम्पूर्ण जगत् ही अज्ञान से अनन्त आत्मा में कल्पित होता है । अधिष्ठानरूप आत्मा से भिन्न उनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, वे तो भ्रान्ति से प्रतीत होने के कारण मिथ्या ही हैं । अतः आत्मा उनमें अवस्थान नहीं करता है ।

7. अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी पात्र में स्थित जल में जब सूर्य का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, तो वहाँ जल के चलन, कम्पन आदि से आकाशस्थ सूर्य में भी चलन, कम्पन आदि की कल्पना की जाती है, वस्तुतः आकाशस्थ सूर्य में चलन, कम्पनादि नहीं होते हैं, उसी प्रकार मुझमें सम्पूर्ण भूतों की स्थिति की कल्पना ही की जाती है, वह परमार्थतः मुझमें नहीं है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् कोई वस्तु नहीं है, वह मिथ्या ही है ।

८. प्रकृत प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ने पूर्वश्लोक में 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (गीता, 9.4) = 'सब भूत मुझमें स्थित हैं' -- यह कहकर पुनः उक्त श्लोक में 'न च मत्स्थानि भूतानि' (गीता, 9.5) = 'सब भूत

धारयति पोषयतीति च भूतभृत । भूतानि सर्वाणि कर्तृतयोत्पादयतीति भूतभावनः । एवमभिन्ननिमित्तोपादानभूतोऽपि ममाऽऽत्मा मम परमार्थस्वरूपभूतः सच्चिदानन्दघनोऽसङ्गाद्वितीयस्वरूपत्वान्न भूतस्थः परमार्थतो न भूतसंबन्धी स्वप्नदृगिव न परमार्थतः स्वकल्पितसंबन्धीत्यर्थः । ममाऽऽत्मेति राहोः शिर इतिवत्कल्पनया षष्ठी ॥ 5 ॥

13 **असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाऽऽह --**

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ 6 ॥

14 **यथैवासङ्गस्वभाव आकाशे स्थितो नित्यं सर्वदोत्पत्तिस्थितिसंहारकालेषु वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः । अत एव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान्परिमाणतः । एतादृशोऽपि न कदाऽप्याकाशेन सह संसृज्यते । तथैवासङ्गस्वभावे मयि संश्लेषमन्तरेणैव सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि च स्थितानीत्युपधारय विमृश्यावधारय ॥ 6 ॥**

15 **एवमुत्पत्तिकाले स्थितिकाले च कल्पितेन प्रपञ्चेनासङ्गस्याऽऽत्मनोऽसंश्लेषमुक्त्वा प्रलयेऽपि तमाह --**

है, तथा कर्तारूप से मेरा आत्मा ही सब भूतों को उत्पन्न करता है, इसलिए वह 'भूतभावन' है । इसप्रकार अभिन्ननिमित्तोपादनभूत भी मेरा परमार्थस्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन आत्मा असंग -- अद्वितीयस्वरूप होने से भूतस्थ -- भूतों में स्थित अर्थात् परमार्थतः भूतसम्बन्धी -- भूतों से सम्बद्ध नहीं है । भावार्थ यह है कि वह आत्मा स्वप्नद्रष्टा के समान परमार्थतः अपने में कल्पित पदार्थों से सम्बन्ध नही रखता है[9] । 'मम आत्मा' = 'मेरा आत्मा' -- इस प्रयोग में 'राहोः शिरः' = 'राहु का शिर ' -- इस प्रयोग के समान अभेद में भेद की कल्पना कर षष्ठी का प्रयोग है ॥ 5 ॥

13 असंश्लिष्ट -- असम्बद्ध वस्तुओं में भी आधार -- आधेय भाव दृष्टान्त से कहते हैं --
[जिसप्रकार नित्य -- सर्वदा चलनस्वभाव, सर्वत्रग -- सर्वत्र गमनशील, और महान् वायु आकाश में स्थित रहता है उसी प्रकार सब भूतों को तुम मुझमें स्थित समझो ॥ 6 ॥]

14 जिसप्रकार असङ्गस्वभाव आकाश में स्थित जो नित्य = सर्वदा-उत्पत्ति, स्थिति और संहार काल में वहता है ऐसा सर्वदा चलनस्वभाववाला, अतएव जो सर्वत्र जाता है ऐसा सर्वत्रगामी, और परिणामतः महान् वायु ऐसा होने पर भी आकाश के साथ कभी भी संसृष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार असङ्गस्वभाव मुझमें सम्बन्ध के बिना ही महान् और सर्वत्रगामी आकाशादि सम्पूर्ण भूत स्थित हैं -- ऐसा तुम समझो -- विचारकर निश्चय करो ॥ 6 ॥

15 इसप्रकार कल्पित प्रपञ्च के साथ असङ्ग आत्मा का उत्पत्तिकाल और स्थितिकाल में असंश्लेष -- सम्बन्धाभाव कहकर अब प्रलयकाल में भी उसका सम्बन्धाभाव कहते हैं :--

---

मुझमें स्थित नहीं हैं' यह कहा है, इसप्रकार उन्होंने विरुद्ध कथन क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और 'न च मत्स्थानि भूतानि' -- इसप्रकार का भगवान् का कथन कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'मैं न तो किसी का आधेय हूँ और न किसी का आधार हूँ, तथापि मैं सब भूतों में हूँ और सब भूत मुझमें हैं -- यह मेरी महती माया है' -- इसप्रकार यह सब उनकी माया का वैभव है । माया के वैभव से असम्भव भी सम्भव होता है । इसीलिए प्रकृत में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि 'पश्य मे योगमैश्वरम्' = 'हे अर्जुन ! अपनी मानुषी बुद्धि का त्याग कर मेरे ईश्वरीय योग को देख' ।

९. तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुतः अपने में कल्पित पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है अथवा आत्मा का अपने में कल्पित पदार्थों से वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला अपने में जो देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि स्वाप्निक पदार्थ कुछ होते ही नहीं है तब उनका सम्बन्ध वस्तुतः कैसे होगा ?

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

16 **सर्वाणि भूतानि कल्पक्षये प्रलयकाले मामिकां मच्छक्तित्वेन कल्पितां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां स्वकारणभूतां यान्ति तत्रैव सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । हे कौन्तेयेत्युक्तार्थम् । पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि प्रकृतावविभागापन्नानि विभागेन व्यनज्मि अहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः ॥ 7 ॥**

17 **किंनिमित्ता परमेश्वरस्येयं सृष्टिर्न तावत्स्वभोगार्था तस्य सर्वसाक्षिभूतचैतन्यमात्रस्य भोक्तृत्वाभावात्तथात्वे वा संसारित्वेनेश्वरत्वव्याघातात् । नाप्यन्यो भोक्ता यदर्थेयं सृष्टिः, चेतनान्तराभावात्, ईश्वरस्यैव सर्वत्र जीवरूपेण स्थितत्वात्, अचेतनस्य चाभोक्तृत्वात् । अत एव नापवर्गार्थाऽपि सृष्टिः, बन्धाभावादपवर्गाविरोधित्वाच्चेत्याद्यनुपपत्तिः सृष्टेर्मायामयत्वं साधयन्ती नास्माकं प्रतिकूलेति न परिहर्तव्येत्यभिप्रेत्य मायामयत्वान्मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य वक्तुमारभते त्रिभिः--**

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ 8 ॥

18 **प्रकृतिं मायाख्यामनिर्वचनीयां स्वां स्वस्मिन्कल्पितामवष्टभ्य स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां दृढीकृत्य तस्याः**

[हे कौन्तेय ! कल्प के क्षय -- अन्त में सब भूत मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के आदि -- आरम्भ में उनको मैं पुनः रचता हूँ ॥ 7 ॥]

16 कल्प के क्षय -- अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में समस्त भूत मेरी शक्तिरूप से कल्पित प्रकृति -- स्वकारणभूता त्रिगुणात्मिका माया को प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मरूप से उसी में लीन हो जाते हैं । 'हे कौन्तेय !' -- इस सम्बोधन का अर्थ कहा जा चुका है । कल्प के आदि -- आरम्भ में अर्थात् सर्गकाल में सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर मैं उनको पुनः रचता हूँ -- प्रकृति में अविभागरूप से स्थित उनको विभागरूप से व्यक्त करता हूँ ॥ 7 ॥

17 परमेश्वर की यह सृष्टि किस निमित्त से है ? यह उसके अपने भोग के लिए तो नहीं है, क्योंकि उसमें सर्वसाक्षिभूत चैतन्यमात्र होने से भोक्तृत्व का अभाव है, अथवा यदि उसमें भोक्तृत्व स्वीकार करेंगे तो संसारित्व होने से उसके ईश्वरत्व का व्याघात होगा । ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता भी नहीं है जिसके लिए यह सृष्टि हो, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई अन्य चेतन ही नहीं है, कारण कि ईश्वर ही सर्वत्र जीवरूप से स्थित है और अचेतन में भोक्तृत्व हो नहीं सकता है । अतएव यह सृष्टि उसके मोक्ष के लिए भी नहीं है, क्योंकि उसमें बन्धन का अभाव है और वह अपवर्ग का विरोधी नहीं है -- इत्यादि अनुपपत्ति, जो सृष्टि का मायामयत्व -- मिथ्यात्व सिद्ध करनेवाली है, हमारे लिए प्रतिकूल नहीं है, अतएव परिहार के योग्य नहीं है -- इस अभिप्राय से मायामय होने के कारण प्रपञ्च के मिथ्यात्व को तीन श्लोकों से कहना आरम्भ करते हैं --

[मैं अपने में कल्पित माया को अपनी सत्ता और स्फूर्ति से दृढकर उस माया के प्रभाव से ही अवश -- परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय की पुनः पुनः रचना करता हूँ ॥ 8 ॥]

18 अपने में कल्पित 'माया' नाम की अनिर्वचनीया प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर = अपनी सत्ता और स्फूर्ति से उसको दृढ़ कर उस प्रकृति -- माया के वश से अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष

प्रकृतेर्मायाया वशादविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशकारणावरणविक्षेपात्मकशक्तिप्रभावाज्जायमान-मिमं सर्वप्रमाणसंनिधापितं भूतग्राममाकाशादिभूतसमुदायमहं मायावीव पुनः पुनर्विसृजामि विविधं सृजामि कल्पनामात्रेण स्वप्नदृगिव च स्वप्नप्रपञ्चम् ॥ 8 ॥

19 **अतः –**

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ 9 ॥

20 **न च नैव सृष्टिस्थितिप्रलयाख्यानि तानि मायाविनेव स्वप्नदृशेव च मया क्रियमाणानि मां निबध्नन्ति अनुग्रहनिग्रहाभ्यां न सुकृतदुष्कृतभागिनं कुर्वन्ति मिथ्याभूतत्वात्, हे धनंजय युधिष्ठिरराजसूयार्थं सर्वान्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति महान्प्रभावः सूचितः प्रोत्साहनार्थम् ।**

और अभिनिवेश की कारणभूता आवरण और विक्षेपरूपा शक्ति के प्रभाव से जायमान इस सब प्रमाणों से निश्चित भूतग्राम को = आकाशादि भूतसमुदाय को मैं मायावी के समान पुनः पुनः रचता हूँ अर्थात् कल्पनामात्र से ही विविधरूप से रचता हूँ जैसे स्वप्नदृष्टा स्वप्नप्रपञ्च की कल्पना से सृष्टि करता है[10] ॥ 8 ॥

19 अतः --

[हे धनञ्जय ! उदासीन के समान स्थित और उन कर्मों में आसक्तिशून्य मुझको वे कर्म बाँधते नहीं हैं ॥ 9 ॥]

20 मायावी और स्वप्नद्रष्टा के समान मेरे द्वारा क्रियमाण वे सृष्टि-स्थिति-प्रलयसंज्ञक कर्म मुझको नहीं बाँधते हैं अर्थात् अनुग्रह और निग्रह से मुझको पुण्य और पाप का भागी नहीं करते हैं, क्योंकि वे स्वयं मिथ्याभूत हैं । हे धनञ्जय ! = 'तुम युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए सब राजाओं को जीतकर धन लाये थे' -- इसप्रकार अर्जुन को प्रोत्साहन देने के लिए[11] उक्त सम्बोधन से उसका महान् प्रभाव सूचित किया है ।

---

10. यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं परमेश्वर केवल कल्पना द्वारा ही सब भूतों की विविध प्रकार से सृष्टि करता हूँ । मेरी कल्पनाशक्ति को ही प्रकृति या माया कहा जाता है । मायावी – ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार केवल कल्पना शक्ति द्वारा ही विविध ऐन्द्रजालिक – मायावी वस्तुओं की सृष्टि कर जनसमूह को दिखाता है, अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार स्वप्नकाल में कल्पना के द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, मैं भी उसीप्रकार केवल अपनी कल्पना शक्ति अथवा माया शक्ति के द्वारा इस इन्द्रजालरूप विश्वप्रपञ्च की सृष्टि करता हूँ । ऐन्द्रजालिक अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार सब कुछ की सृष्टि करके भी वास्तव में कुछ की भी सृष्टि नहीं करता है और लेशमात्र भी अपने स्वरूप से विच्युत नहीं होता है, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण जगत् का सृष्टिकर्ता होकर भी सदा ही अकर्ता तथा अविनाशी स्वरूप में स्थिति रहता हूँ । ऐन्द्रजालिक के द्वारा कल्पित वस्तुएँ जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक की कल्पना के वशीभूत होकर अवश रहती हैं, अथवा स्वप्नद्रष्टा के द्वारा कल्पित स्वप्नप्रपञ्च जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के वशीभूत होने के कारण अस्वतन्त्र होता है, उसी प्रकार मेरी कल्पना शक्ति = माया शक्ति के द्वारा कल्पित वस्तुएँ उस प्रकृति से उत्पन्न स्वभाव के वशीभूत होने के कारण अवश होकर रहती हैं, इसलिए जागतिक सभी वस्तुएँ माया के द्वारा उत्पन्न होने के कारण मायामय हैं, अतः मिथ्या हैं ।

11. यहाँ अर्जुन को प्रोत्साहन प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि हे धनञ्जय !जिस प्रकार तुमने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए सब राजाओं को जीतकर धन का संग्रह किया था, उसी प्रकार तुम इस जीवनयज्ञ के लिए भी समस्त प्रतिबन्धों को जीतकर जीवन्मुक्तिरूप महाधन का सञ्चय करो और अनासक्त तथा उदासीन होकर स्वधर्म का पालन करो ।

21 तानि कर्माणि कुतो न बध्नन्ति तत्राऽऽह -- उदासीनवदासीनं, यथा कश्चिदुपेक्षको द्वयोर्विवदमानयोर्जयपराजयासंसर्गी तत्कृतहर्षविषादाभ्यामसंसृष्टो निर्विकार आस्ते तद्वन्निर्विकार-तयाऽऽसीनम् । द्वयोर्विवदमानयोरिहाभावादुपेक्षकत्वमात्रसाधर्म्येण वतिप्रत्ययः । अत एव निर्विकारत्वात्तेषु सृष्ट्यादिकर्मस्वसक्तमहं करोमीत्यभिमानलक्षणेन सङ्गेन रहितं मां न निबध्नन्ति कर्माणीति युक्तमेव । अन्यस्यापि हि कर्तृत्वाभावे फलसङ्गाभावे च कर्माणि न बन्धका-रणानीत्युक्तमनेन, तदुभयसत्त्वे तु कोशकार इव कर्मभिर्बध्यते मूढ इत्यभिप्रायः ॥ 9 ॥

22 भूतग्राममिमं विसृजाम्युदासीनवदासीनमिति च परस्परविरुद्धमितिशङ्कापरिहारार्थं पुनर्मायामयत्वमेव प्रकटयति --

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥10 ॥

23 मया सर्वतोदृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियेणाध्यक्षेण नियन्त्रा भासकेनावभासिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका सत्त्वासत्त्वादिभिरनिर्वाच्या माया सूयत उत्पादयति सचराचरं जगन्मायाविनाऽधिष्ठितेव माया कल्पितगजतुरगादिकम् । न त्वहं स्वकार्यमायाभासनमन्तरेण करोमि व्यापारान्तरम् । हेतुना

....

21 वे कर्म मुझको क्यों नहीं बाँधते है ? इसमें कारण कहते हैं -- 'उदासीनवदासीनम्' = 'मैं उदासीन के समान आसीन रहता हूँ' = जिस प्रकार कोई उपेक्षक पुरुष दो विवाद करनेवालों के जय और पराजय से सम्बन्ध नहीं रखता है और जय-पराजयकृत हर्ष और विषाद से असंश्लिष्ट-निर्विकार रहता है उसी प्रकार मैं निर्विकाररूप से आसीन-स्थित रहता हूँ । यहाँ यद्यपि दो विवाद करनेवालों का अभाव है, तथापि उपेक्षकत्वमात्र में साधर्म्य-साम्य होने से 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । अतएव निर्विकार होने से उन सृष्टि आदि कर्मों में असक्त-अनासक्त और 'मैं करता हूँ' - इस अभिमानरूप संग से रहित मुझको कर्म नहीं बाँधते हैं - यह उचित ही है । कर्तृत्व और फलसङ्ग का अभाव होने पर कर्म अन्य किसी पुरुष के भी बन्धन के कारण नहीं होते हैं -- यह इससे कहा गया है । अभिप्राय यह है कि कर्तृत्व और फतसङ्ग - इन दोनों के रहने पर तो मूढ पुरुष ही कोशकार - रेशम के कीड़े के समान कर्मों से बँधता है[12] ॥ 9 ॥

22 आठवें श्लोक में कहा है कि 'मैं इस भूतग्राम की रचना करता हूँ' और नवें श्लोक में कहा है कि 'मैं उदासीन के समान स्थित रहता हूँ' -- ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं -- ऐसी शङ्का हो सकती है, अत: उक्त शङ्का के परिहार के लिए भगवान् पुन: इस प्रपञ्च में मायामयत्व प्रकट करते हैं --
[हे कौन्तेय ! मुझ दृशिमात्र अध्यक्ष -- भासक से अवभासित प्रकृति इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । इसी कारण यह जगत् अनेक प्रकार से परिवर्तित होता रहता है ॥ 10 ॥]

23 मुझ सर्वत: दृशिमात्र -- चिन्मात्रस्वरूप अतएव अविक्रिय -- निर्विकार अध्यक्ष = नियन्ता-भासक -- प्रकाशक से अवभासित -- प्रकाशित प्रकृति = त्रिगुणात्मिका सत्त्व, असत्त्व आदि से अनिर्वचनीया माया चराचरसहित जगत् को उत्पन्न करती है, जैसे -- मायावी से अधिष्ठित माया कल्पित हाथी, घोडे आदि को उत्पन्न करती है । मैं तो स्वकार्य मायाभासन से अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं

12. जिस प्रकार कोशकार - रेशम का कीड़ा स्वकृत जाल में ही बँध जाता है और कभी मुक्त नहीं होता है उसी प्रकार मूढ़ पुरुष स्वकृत कर्मजाल में बँध जाता है और मुक्त नहीं होता है ।

निमित्तेनानेनाध्यक्षत्वेन हे कौन्तेय, जगत्सचराचरं विपरिवर्तते विविधं परिवर्तते जन्मादिविनाशान्तं विकारजातमनवरतमासादयतीत्यर्थः । अतो भासकत्वमात्रेण व्यापारेण विसृजामीत्युक्तं तावता चाऽऽदित्यादेरिव कर्तृत्वाभावादुदासीनवदासीनमित्युक्तमिति न विरोधः । तदुक्तम् –

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥' इति ।

श्रुतिस्मृतिवादाश्चात्रार्थे सहस्रश उदाहार्याः ॥10 ॥

24 **एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानमान्दघनमनन्तमपि सन्तम् –**

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥11 ॥

25 **अवजानन्ति मां साक्षादीश्वरोऽयमिति नाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा मूढा अविवेकिनो जनाः । तेषामवज्ञाहेतुं भ्रमं सूचयति मानुषीं तनुमाश्रितं, मनुष्यतया प्रतीयमानां मूर्तिमात्मेच्छया भक्तानुग्रहार्थं गृहीतवन्तं मनुष्यतया प्रतीयमानेन देहेन व्यवहरन्तमिति यावत् । ततश्च मनुष्योऽयमिति भ्रान्त्याऽऽच्छादितान्तःकरणा मम परं भावं प्रकृष्टं पारमार्थिकं तत्त्वं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरमजानन्तो यन्नाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा तदनुरूपमेव मूढत्वस्य ॥11 ॥**

करता हूँ । इस अध्यक्षत्वरूप -- प्रकाशकत्वरूप हेतु से ही हे कौन्तेय ! यह चराचर जगत् विविधरूप से परिवर्तित होता है अर्थात् जन्म से लेकर विनाशपर्यन्त विकारसमूह को प्राप्त होता रहता है । अत: मात्र भासकत्वरूप व्यापार से ही 'मैं रचता हूँ' -- 'मैं सृष्टि करता हूँ' -- यह कहा है । और इतने ही से सूर्यादि के समान कर्तृत्व का अभाव होने के कारण 'मैं उदासीन के समान स्थित हूँ' -- यह कहा है[13] । इसप्रकार 'मैं रचता हूँ' और 'मैं उदासीन के समान स्थित हूँ' -- इन दोनों उक्तियों में कोई विरोध नहीं है । कहा भी है --

''इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का जो उपादान कारण है वह अज्ञान है, उस अज्ञान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म कारण कहा जाता है''

इसप्रकार यहाँ इस अर्थ में सहस्रों श्रुति -- स्मृतियाँ उद्धृत की जा सकती है ॥ 10 ॥

24 इसप्रकार नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सब प्राणियों का आत्मा, आनन्दघन, अनन्त होने पर भी -- [सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परम भाव = पारमार्थिक तत्त्व को न जाननेवाले मूढ़ पुरुष मानुष शरीर को धारण करनेवाले मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं ॥ 11 ॥]

25 मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं = 'यह साक्षात् ईश्वर हैं' -- इसप्रकार आदर नहीं करते हैं प्रत्युत मेरी निन्दा करते हैं मूढ़ = अविवेकीजन । उनकी अवज्ञा के हेतुभूत भ्रम को सूचित करते हैं -- मानुषी तनु -- शरीर का आश्रय लेनेवाले = मनुष्यरूप से प्रतीयमान मूर्ति को भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अपनी इच्छा से ग्रहण करनेवाले अर्थात् मनुष्यरूप से प्रतीयमान देह से व्यवहार करनेवाले मुझको 'यह मनुष्य हैं' -- इस भ्रान्ति से आच्छादित -- अन्त:करण होकर मेरे परमभाव = प्रकृष्ट अर्थात् पारमार्थिक तत्त्व को अर्थात् सब भूतों के महान् ईश्वर मुझको न जानते हुए वे मेरा जो आदर नहीं करते हैं प्रत्युत निन्दा करते हैं वह उनकी मूढ़ता -- मूर्खता के अनुरूप ही है ॥ 11 ॥

---

13. जैसे सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, किन्तु वहाँ उसका कोई कर्तृत्व नहीं रहता है, क्योंकि सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना ही है और उसके फलस्वरूप ही जगत् स्वयं ही प्रकाशित होता है, उसीप्रकार प्रकाशस्वरूप मुझमें कल्पित होने के कारण मेरे ही प्रकाश से माया और उसके कार्य प्रकाशित होते हैं ।

26 ते च भगवदवज्ञाननिन्दनजनितमहादुरितप्रतिबद्धबुद्धयो निरन्तरं निरयनिवासार्हा एव –

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥12 ॥

27 ईश्वरमन्तरेण कर्माण्येव नः फलं दास्यन्तीत्येवंरूपा मोघा निष्फलैवाऽऽशा फलप्रार्थना येषां ते । अत एवेश्वरविमुखत्वान्मोघानि श्रममात्ररूपाण्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते । तथा मोघमीश्वराप्रतिपादककुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते । कुत एवं यतो विचेतसो भगवदवज्ञानजनितदुरितप्रतिबद्धविवेकविज्ञानाः । किं च ते भगवदवज्ञानवशाद्राक्षसीं तामसीमविहितहिंसाहेतुद्वेषप्रधानामासुरीं च राजसीं शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधानां च मोहिनीं शास्त्रीयज्ञानभ्रंशहेतुं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिता एव भवन्ति । ततश्च —

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः ॥'

इत्युक्तनरकद्वारभागितया नरकयातनामेव ते सततमनुभवन्तीत्यर्थः ॥12 ॥

---

26 वे मूढ़जन भगवान् की अवज्ञा और निन्दा से होनेवाले महापाप से प्रतिबद्ध बुद्धि होकर निरन्तर नरक में निवास करने के योग्य ही हैं --

[वे अविवेकीजन व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और दूषित ज्ञानवाले; विवेक और विज्ञान से रहित; तथा मोह में डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का ही आश्रय लिये होते हैं ॥ 12 ॥]

27 'ईश्वर के बिना कर्म ही हमको फल देंगे' -- इसप्रकार की जिनकी मोघ = निष्फल ही आशा = फलप्रार्थना है वे 'मोघाशा' हैं । अतएव ईश्वर से विमुख होने के कारण जिनके मोघ = श्रममात्ररूप अग्निहोत्रादि कर्म हैं वे 'मोघकर्मा' हैं । तथा जिनका मोघ = ईश्वर का प्रतिपादन न करनेवाले, कुतर्कयुक्त शास्त्रों से जनित -- उत्पन्न ज्ञान है वे 'मोघज्ञान' हैं । ऐसे वे क्यों है ? क्योंकि वे विचेता हैं अर्थात् भगवान् की अवज्ञा से जनित पाप से उनके विवेक और विज्ञान प्रतिबद्ध हो गए हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान् की अवज्ञा के कारण राक्षसी[14] = तापसी अर्थात् आशास्त्रीय हिंसा के हेतुभूत द्वेष की प्रधानतावाली तथा आसुरी[15] = राजसी अर्थात् शास्त्र से अननुमोदित -- असम्मत विषयभोग के हेतुभूत राग की प्रधानतावाली मोहिनी[16] = शास्त्रीय ज्ञान से भ्रष्ट करने की हेतुभूता प्रकृति = स्वभाव के आश्रित ही होते हैं । इसी से 'काम, क्रोध तथा लोभ -- ये आत्मा को नष्ट करनेवाले तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं' (गीता, 16.21) -- इसप्रकार उक्त नरक के द्वार के भागी होने से वे सतत -- निरन्तर नरक की यातनाओं का ही अनुभव करते हैं -- यह अभिप्राय है ॥ 12 ॥

---

14. सब प्रकार से प्राणीहिंसा में रत हुए स्वभाव को 'राक्षसी' प्रकृति करते हैं (प्राणिहिंसारूपो रक्षसां स्वभावः -- आनन्दगिरिटीका) ।

15. दूसरों के धन का अपहरण करना, किसी को भी कुछ नहीं देना, यज्ञादि कर्म नहीं करना तथा अपनी सुविधा के लिए दूसरों को अनेक दुःख देना आदि 'आसुरी' प्रकृति के लक्षण होते हैं (असुराणां स्वभावस्तु न देहि न जुहुधि परस्वमेवापहरेत्यादिरूपः -- आनन्दगिरिटीका) ।

16. 'मोहिनी' शब्द राक्षसी और आसुरी -- इन दोनों प्रकृतियों का ही विशेषण है, 'मोह' मिथ्याज्ञान को कहते है अर्थात् देहादि में आत्मबुद्धि करना ही 'मोह' है (देहादिषु आत्मबुद्धिः मोहः – श्रीधरीटीका); अतः देहादि में आत्मबुद्धिरूप मोह के वश होकर अविवेकीजन तोडो, फोडो, पीओ, खाओ, किसी को कुछ मत दो, दूसरों के धन को लूटो -- इत्यादि वचन बोलनेवाले और यज्ञादि कर्म न कर अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् राक्षसी और आसुरी प्रकृतिवाले हो जाते हैं ।

28 भगवद्विमुखानां फलकामनायास्तत्प्रयुक्तस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानस्य तत्प्रयुक्तस्य शास्त्रीयज्ञानस्य च वैयर्थ्यात्पारलौकिकफलतत्साधनशून्यास्ते । नाप्यैहलौकिकं किंचित्फलमस्ति तेषां विवेकविज्ञानशून्यतया विचेतसो हि ते । अतः सर्वपुरुषार्थबाह्याः शोच्या एव सर्वेषां ते वराका इत्युक्तम् । अधुना के सर्वपुरुषार्थभाजोऽशोच्या ये भगवदेकशरणा इत्युच्यते –

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ 13 ॥

29 महाननेकजन्मकृतसुकृतैः संस्कृतः क्षुद्रकामाद्यनभिभूत आत्माऽन्तःकरणं येषां तेऽत एव 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिवक्ष्यमाणां दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः । अत एवान्यस्मिन्मद्व्यतिरिक्ते नास्ति मनो येषां ते भूतादिं सर्वजगत्कारणमव्ययमविनाशिनं च मामीश्वरं ज्ञात्वा भजन्ति सेवन्ते ॥ 13 ॥

30 ते केन प्रकारेण भजन्तीत्युच्यते द्वाभ्याम् –

---

28 भगवान् से जो विमुख हैं उनकी फलकामना, उससे प्रयुक्त नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान तथा उससे प्रयुक्त -- फलित शास्त्रीय ज्ञान -- ये सब व्यर्थ होते हैं, अत: वे पारलौकिक फल और उसके साधनों से शून्य होते हैं । उनको कोई ऐहलौकिक फल भी नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि वे विवेक और विज्ञान से शून्य होने के कारण विचेता -- विचारहीन होते हैं । अत: वे बेचारे सब प्रकार के पुरुषार्थ से बाह्य और सबके शोच्य -- शोचनीय ही कहे गए हैं । अब प्रश्न है कि सर्वपुरुषार्थभागी और अशोच्य कौन हैं ? तो भगवान् कहते हैं कि जो एकमात्र भगवान् की ही शरण में हैं --

[हे पार्थ ! जिनका मन मेरे अतिरिक्त अन्य की ओर नहीं जाता है वे महात्माजन तो मुझको भूतादि का कारण और अव्यय -- अविनाशी जानकर दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर मुझको ही भजते हैं ।। 13 ।।]

29 महान् अर्थात् अनेक जन्मों में किए हुए पुण्यों से संस्कृत -- क्षुद्र कामादि से अनभिभूत आत्मा = अन्त:करण है जिनका वे महात्मा हैं, अतएव वे 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि' (गीता, 16.1-3) -- इत्यादि श्लोकों से वक्ष्यमाण दैवी = सात्त्विकी प्रकृति के आश्रित हैं, अतएव मेरे अतिरिक्त अन्य में मन नहीं है जिनका वे अनन्यमना हैं । ऐसे वे मुझ ईश्वर को ही भूतादि = सम्पूर्ण जगत् का कारण और अव्यय[17] = अविनाशी जानकर भजते हैं अर्थात् मेरा ही सेवन करते हैं ।। 13 ।।

30 वे किस प्रकार मुझको भजते हैं ? -- यह दो श्लोकों से कहते हैं --

---

17. प्रकृत प्रसंग में 'भूतादि' शब्द से ईश्वर -- ब्रह्म को सम्पूर्ण भूतों का आदि अर्थात् कारण कहा गया है, अतएव 'भूतादि' से कार्य के कारणरूप होने के कारण भूतों के पृथक् स्वरूप का अभाव और ब्रह्म का अद्वितीयत्व भी कहा गया है । किन्तु यहाँ शंका हो सकती है कि जैसे कदली आदि कार्य के नाश से कारण का भी नाश देखा जाता है, वैसे ही भूतों के नाश से ब्रह्म के नाश का भी प्रसंग उपस्थित होगा, तो इस शंका का निवारण 'अव्यय' शब्द से किया गया है वह ब्रह्म अव्यय -- अविनाशी है, उसका ज्ञान से, अज्ञान से, कारण के नाश से, कार्य के नाश से, अपने से या अन्य से -- किसी प्रकार से भी व्यय -- नाश नहीं होता है, वह अव्यय है अर्थात् नित्य, सर्वात्मक, अखण्ड, आनंदैकरस, परब्रह्म है ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ 14 ॥

31 **सततं सर्वदा ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण गुरूपसदनेतरकाले च प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिभिर्मां सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मस्वरूपं कीर्तयन्तो वेदान्तशास्त्राध्ययनरूपश्रवणव्यापारविषयीकुर्वन्त इति यावत् । तथा यतन्तश्च गुरुसंनिधावन्यत्र वा वेदान्ताविरोधितर्कानुसंधानेनाप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितगुरूपदिष्टमत्स्वरूपावधारणाय यतमानाः श्रवणनिर्धारितार्थबाधशङ्कापनोदकतर्कानुसंधानरूपमननपरायणा इति यावत् । तथा दृढव्रता दृढानि प्रतिपक्षैश्चालयितुमशक्यानि अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादीनि व्रतानि येषां ते शमदमादिसाधनसंपन्ना इति यावत् । तथा चोक्तं पतञ्जलिना 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' ते तु 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति । जात्या ब्राह्मणत्वादिकया देशेन तीर्थादिना कालेन चतुर्दश्यादिना समयेन यज्ञाद्यन्यत्वेनानवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमाः क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिष्वपि भाव्यमानाः कस्यामपि जातौ कस्मिन्नपिदेशे कस्मिन्नपि काले यज्ञादिप्रयोजनेऽपि हिंसां न करिष्यामीत्येवंरूपेण किंचिदप्यपर्युदस्य सामान्येन प्रवृत्ता एते महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः । तथा नमस्यन्तश्च मां कायवाङ्मनोभिर्नमस्कुर्वन्तश्च मां भगवन्तं वासुदेवं सकलकल्याणगुणनिधानमिष्टदेवतारूपेण गुरुरूपेण च स्थितम् । चकारात् –**

[नित्ययुक्त अर्थात् मुझमें सर्वदा परम प्रेम से युक्त वे महात्माजन सतत -- निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़व्रती होकर मेरे स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हुए और भक्तिपूर्वक मुझको नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ 14 ॥]

31 सतत = सर्वदा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के विचार से तथा गुरूपसदन मे भिन्न काल में प्रणवजप, उपनिषद्-पाठादि से सम्पूर्ण उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप मेरा कीर्तन करते हुए अर्थात् मुझको वेदान्तशास्त्र के अध्ययनरूप श्रवणव्यापार का विषय करते हुए; तथा यत्न करते हुए = गुरुसन्निधि में या अन्यत्र वेदान्ताविरोधी तर्कानुसंधान से अप्रामाण्य की शङ्का से अनास्कन्दित -अस्पृष्ट गुरूपदिष्ट मेरे स्वरूप का निश्चय करने के लिए यत्न करते हुए अर्थात् श्रवण द्वारा निर्धारित अर्थ के बाध की शङ्का के निवर्तक तर्कानुसन्धानरूप मनन में लगे हुए; तथा दृढवती होकर = दृढ़ - प्रतिपक्षियों द्वारा चलायमान न किये जा सकनेवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रत हैं जिनके वे शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर, -- इसी प्रकार पतञ्जलि ने कहा है - 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये यम हैं ' (योगसूत्र, 2.30), 'वे तो जब जातिरूप अवच्छेद से रहित, देशरूप अवच्छेद से रहित, कालरूप अवच्छेद से रहित तथा समयरूप अवच्छेद से रहित होते हैं, तब सब अवस्था में व्यभिचाररहित होने के कारण सार्वभौम 'महाव्रत' कहलाते हैं (योगसूत्र, 2.31) । जाति से -- ब्राह्मणत्वादि से, देश से -- तीर्थादि से, काल से -- चतुर्दशी आदि से और समय से -- यज्ञादि की अन्यता से अनवच्छिन्न अहिंसा आदि सार्वभौम = क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में भी होनेवाले अर्थात् किसी भी जाति में, किसी भी देश में, किसी भी काल में और यज्ञादि के प्रयोजन में भी मैं हिंसा नहीं करूँगा -- एवंरूप किसी भी निमित्त को अपवादरूप से न छोड़कर सामान्यरूप से प्रवृत हुए ये यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं-- यह तात्पर्य

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

इति वन्दनसहचरितं श्रवणाद्यपि बोद्धव्यम् ।अर्चनं पादसेवनमित्यपि गुरुरूपे तस्मिन्सुकरमेव ।

32 अत्र मामिति पुनर्वचनं सगुणरूपपरामर्शार्थम् । अन्यथा वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथा भक्त्या मद्विषयेण परेण प्रेम्णा नित्ययुक्ताः सर्वदा संयुक्ताः एतेन सर्वसाधनपौष्कल्यं प्रतिबन्धकाभावश्च दर्शितः ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

पतञ्जलिना चोक्तं 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति । तत ईश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य त्वंपदलक्ष्यस्याधिगमः साक्षात्कारो भवति, अन्तरायाणां विघ्नानां चाभावो भवतीति सूत्रस्यार्थः ।

33 तदेवं शमदमादिसाधनसंपन्ना वेदान्तश्रवणमननपरायणाः परमेश्वरे परमगुरौ प्रेम्णा नमस्कारादिना च विगतविघ्नाः परिपूर्णसर्वसाधनाः सन्तो मामुपासते विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननोत्तरभाविना सततं चिन्तयन्ति महात्मानः । अनेन निदिध्यासनं चरमसाधनं दर्शितम् । एतादृशसाधनपौष्कल्ये सति यद्वेदान्तवाक्यजमखण्डगोचरं साक्षात्काररूप-

---

है; तथा मुझको नमस्कार करते हुए = इष्टदेवतारूप से और गुरुरूप से स्थित मुझ सकलकल्याणगुणनिधान भगवान् वासुदेव को शरीर, वाणी और मन से नमस्कार करते हुए, -- चकार से 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' -- इसके अनुसार वन्दन के सहचरित श्रवणादि को भी समझना चाहिए । अर्चन और पादसेवन भी उस गुरुरूप भगवान् में सुकर ही है ।

32 यहाँ 'माम्' -- यह पुनः कथन भगवान् के सगुणरूप के परामर्श के लिए है, अन्यता इसकी व्यर्थता का प्रसंग होगा । तथा भक्ति से = मद्विषयक परम प्रेम से नित्ययुक्त = सर्वदा संयुक्त हैं जो वे महात्मा । इससे समस्त साधनों की पुष्कलता - पूर्णता और प्रतिबन्धकाभाव दिखलाया है । जैसा कि श्रुति कहती है :-
''जिसकी इष्टदेव में पराभक्ति है और जैसी इष्टदेव में है वैसी गुरु में भी है, उसी महात्मा को ये अध्यात्मशास्त्रोक्त अर्थ भासित-प्रकाशित होते हैं'' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.23) ।
पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'ईश्वरप्रणिधान से जैसे शीघ्र समाधिलाभ होता है, वैसे ही व्याधि आदि अन्तराय - विघ्न का अभाव और प्रत्यक्-चेतनरूप आत्मा का साक्षात्कार भी होता है' । ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्-चेतन = त्वंपद लक्ष्य का अधिगम =साक्षात्कार होता है और अन्तरायों - विघ्नों का अभाव भी होता है -- यह सूत्र का अर्थ है ।

33 इसप्रकार शमदमादि साधनों से सम्पन्न, वेदान्तश्रवणमननपरायण, परमगुरु परमेश्वर में प्रेम और नमस्कारादि से विघ्नशून्य और सर्वसाधनसम्पन्न होते हुए वे महात्मा मेरी उपासना करते हैं अर्थात् विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों के प्रवाहरूप श्रवण और मनन के अनन्तर होने वाली भक्ति से सतत - निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं । इससे निदिध्यासन चरम-अन्तिम साधन है - यह दिखलाया है । इसप्रकार की साधनपुष्कलता होने पर जो वेदान्तवाक्य से उत्पन्न अखण्डवृत्ति

महं ब्रह्मास्मीति ज्ञानं तत्सर्वशङ्काकलङ्कास्पृष्टं सर्वसाधनफलभूतं स्वोत्पत्तिमात्रेण दीप इव तमः सकलमज्ञानं तत्कार्यं च नाशयतीति निरपेक्षमेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न तु भूमिजयक्रमेण भ्रूमध्ये प्राणप्रवेशनं मूर्धन्यया नाड्या प्राणोत्क्रमणमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं तद्भोगान्तकालविलम्बं वा प्रतीक्षते । अतो यत्प्राक्प्रतिज्ञातम् 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानम्' इति तदेतदुक्तम् । फलं चास्याशुभान्मोक्षणं प्रागुक्तमेवेतीह पुनर्नोक्तम्। एवमत्रायं गम्भीरो भगवतोऽभिप्रायः । उत्तानार्थस्तु प्रकट एव ॥ 14 ॥

34 **इदानीं य एवमुक्तश्रवणमनननिदिध्यासनासमर्थास्तेऽपि त्रिविधा उत्तमा मध्यमा मन्दाश्चेति सर्वेऽपि स्वानुरूप्येण मामुपासत इत्याह –**

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥15 ॥

35 **अन्ये पूर्वोक्तसाधनानुष्ठानासमर्था ज्ञानयज्ञेन 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि'**

का विषय, साक्षात्काररूप 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- यह ज्ञान होता है वह सर्वशङ्कारूप कलङ्क से अस्पृष्ट, समस्त साधनों का फलभूत होता है, और वह अपनी उत्पत्तिमात्र से सकल अज्ञान और उसके कार्य का नाश कर देता है, जैसे -- दीपक अपनी उत्पत्तिमात्र से अन्धकार का नाश कर देता है । अत एंव उक्तज्ञान निरपेक्ष ही साक्षात् मोक्ष का हेतु है । न कि वह भूमिकाजय के क्रम से दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में प्राणों का प्रवेश करने की, मूर्धन्य - सुषुम्ना नाडी से प्राणोत्क्रमण की, अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाने की, अथवा ब्रह्मलोक के भोगपर्यन्त कालरूप विलम्ब की प्रतीक्षा करता है । अत: जैसी कि प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की थी कि 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानम्' (गीता, 9.1) = 'मैं अनसूयु तुमको यह अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहूँगा' -- वही यह ज्ञान कह दिया । इसका फल - "अशुभ से मोक्षण - मुक्त होना'- तो पहले ही कह दिया गया है, अत: यहाँ पुन: नहीं कहा गया है । इसप्रकार यहाँ भगवान् का यह गम्भीर अभिप्राय है और उत्तान[18]-स्पष्ट अर्थ तो प्रकट ही है ॥ 14 ॥

34 अब भगवान् यह कहते हैं कि जो इसप्रकार उक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन में असमर्थ हैं वे भी उत्तम, मध्यम और मन्द के भेद से तीन प्रकार के हैं और वे सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार मेरी उपासना करते हैं --

[अन्यजन अर्थात्, श्रवण, मनन और निदिध्यासन में असमर्थजन ज्ञानयज्ञ से भी यजन-पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं । उनमें कोई उत्तम अधिकारी तो एकत्वभाव से अर्थात् जो कुछ है सब वासुदेव ही हैं - इसप्रकार अभेदभाव से उपासना करते हैं, अन्य कोई मध्यम अधिकारी पृथक्त्वभाव से अर्थात् उपास्य और उपासक के भेदभाव से तथा अन्य कोई मन्द साधक बहुत प्रकार से विश्वरूप मेरी उपासना करते हैं ॥ 15 ॥]

35 अन्यजन = पूर्वोक्त साधनों के अनुष्ठान में असमर्थजन ज्ञानयज्ञ से = 'हे भगवो देवते ! तुमही मैं हूँ और मैं ही तुम हो' -- इत्यादि श्रुति से उक्त अहंग्रहोपासना ज्ञान है[19] और परमेश्वर का यजनरूप

18. 'निम्नं गंभीर गम्भीरम् उत्तानं तद्विपर्यये' (अमरकोश, 1.10.15) -- निम्न, गभीर और गम्भीर - ये गम्भीर-गहरे के नाम हैं, उस गम्भीर-गहरे से विपरीत स्पष्ट-उथले को 'उत्तान' कहते हैं ।

19. आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती ने जो ज्ञान का अर्थ 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि' -- इस श्रुति के अनुसार 'अहंग्रहोपासना' किया है वह चिन्त्य है, क्योंकि

इत्यादिश्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वाद्यज्ञस्तेन । चकार एवार्थे । अपिशब्दः साधनान्तरत्यागार्थः । केचित्साधनान्तरनिस्पृहाः सन्त उपास्योपासकाभेदचिन्तारूपेण ज्ञानयज्ञेनैकत्वेन भेदव्यावृत्त्या मामेवोपासते चिन्तयन्त्युत्तमाः । अन्ये तु केचिन्मध्यमाः पृथक्त्वेनोपास्योपासकयोर्भेदेन ' आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ' इत्यादिश्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनरूपेण ज्ञानयज्ञेन मामेवोपासते । अन्ये त्वहंग्रहोपासने प्रतीकोपासने वाऽसमर्थाः केचिन्मन्दाः कांचिदन्यां देवतां चोपासीनाः कानिचित्कर्माणि वा कुर्वाणा बहुधा तैस्तैर्बहुभिः प्रकारैर्विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते । तेन तेन ज्ञानयज्ञेनेति उत्तरोत्तराणां क्रमेण पूर्वपूर्वभूमिलाभः ॥ 15 ॥

36 यदि बहुधोपासते तर्हि कथं त्वामेवेत्याशङ्क्याऽऽत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः –

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ 16 ॥

37 सर्वस्वरूपोऽहमिति वक्तव्ये तत्तदेकदेशकथनमवयुत्यानुवादेन वैश्वानरे द्वादशकपालेऽष्टाकपालत्वादिकथनवत् । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः । यज्ञः स्मार्तो वैश्वदेवादिर्महायज्ञत्वेन श्रुति-

होने से वही यज्ञ है -- इसप्रकार उस ज्ञानयज्ञ से भी मेरी उपासना करते हैं । यहाँ चकार एवकार के अर्थ में है तथा 'अपि' शब्द अन्य साधनों का त्याग सूचित करने के लिए है । उनमें कोई उत्तम अधिकारी तो अन्य साधनों की स्पृहा न करते हुए उपास्य और उपासक के अभेदचिन्तनरूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा एकत्वभाव से अर्थात् भेद की व्यावृत्ति से मेरी ही उपासना करते हैं -- मेरा ही चिन्तन करते हैं । अन्य कोई मध्यम अधिकारी 'आदित्य ब्रह्म है -- ऐसा आदेश है' -- इत्यादि श्रुति से उक्त प्रतीकोपासनारूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा पृथक्त्वभाव से अर्थात् उपास्य और उपासक के भेदभाव से मेरी ही उपासना करते हैं । अन्य कोई मन्द अधिकारी अर्थात् जो अहंग्रहोपासना अथवा प्रतीकोपासना में भी असमर्थ हैं वे अतिमन्द अधिकारी तो किसी अन्य देवता की उपासना करते हुए या किन्हीं कर्मों को करते हुए - प्रायः उन-उन बहुत प्रकारों से विश्वरूप = सर्वात्मा मेरी ही उपासना करते हैं । उस-उस ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं -- इसका अभिप्राय यह है कि उत्तर-उत्तर की उपासना के क्रम से पूर्व-पूर्व भूमि का लाभ होता है ॥ 15 ॥

36 यदि वे अतिमन्द अधिकारी बहुत प्रकार से उपासना करते हैं तो वे आप ही की उपासना कैसे करते हैं -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशङ्का करके भगवान् चार श्लोकों से अपनी विश्वरूपता का प्रतिपादन करते हैं --

[मैं क्रतु अर्थात् श्रोतकर्म हूँ, मैं यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म हूँ, स्वधा मैं हूँ, मैं औषध हूँ, मन्त्र मैं हूँ, मैं ही आज्य-घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवनक्रिया भी हूँ ॥ 16 ॥]

37 'मैं सर्वस्वरूप हूँ' -- यह कहना अभीष्ट था, किन्तु ऐसा न कहकर अवयुत्यनुवाद[20] से उस-उस एक देश का कथन किया है, जैसे - वैश्वानर यज्ञ में द्वादशकपाल के प्रसंग में अवयुत्यनुवाद से

मुख्य और अमुख्य अर्थ में से मुख्य अर्थ ही ग्रहण करना उचित होता है, अमुख्य अर्थ को ग्रहण करना तो अनुचित ही है । अतः प्रकृत में ज्ञान का अर्थ 'एकमेव परं ब्रह्म' -- 'एक ही परब्रह्म है' -- यह परमार्थदर्शन है । यह मुख्यार्थ ही यहाँ स्वीकार्य है, अमुख्यार्थ नहीं ।

20. 'अनुवाद' अर्थवाद का प्रभेद है । एकदेश से समुदायानुवाद 'अवयुत्यनुवाद' है ।

स्मृतिप्रसिद्धः । स्वधाऽन्नं पितृभ्यो दीयमानम् । औषधमोषधिप्रभवमन्नं सर्वैः प्राणिभिर्भुज्यमानं भेषजं वा । मन्त्रो याज्यापुरोनुवाक्यादिर्येनोद्दिश्य हविर्दीयते देवेभ्यः । आज्यं घृतं, सर्वहविरूपलक्षणमिदम् । अग्निराहवनीयादिर्हविष्प्रक्षेपाधिकरणम् । हुतं हवनं हविष्प्रक्षेपः एतत्सर्वमहं परमेश्वर एव । एतदेकैकज्ञानमपि भगवदुपासनमिति कथयितुं प्रत्येकमहंशब्दः । क्रियाकारकफलजातं किमपि भगवदतिरिक्तं नास्तीति समुदायार्थः ॥16 ॥

38 **किं च –**

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥17 ॥

39 **अस्य जगतः सर्वस्य प्राणिजातस्य पिता जनयिता, माता जनयित्री, धाता पोषयिता तत्तत्कर्मफलविधाता वा । पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यं वस्तु, पूयतेऽनेनेति पवित्रं**

अष्टाकपालत्वादि का कथन किया गया[21] है । 'क्रतु' श्रौत अग्निष्टोमादि हैं । 'यज्ञ' स्मार्त वैश्वदेवादि हैं जो श्रुति और स्मृतियों में महायज्ञरूप से प्रसिद्ध हैं । 'स्वधा' पितरों के उद्देश्य से दीयमान अन्न है । 'औषध' ओषधियों से सम्पन्न अन्न है, अथवा समस्त प्राणियों द्वारा खायी जानेवाली भेषज-दवा ही 'औषध' है । 'मन्त्र' याज्या, पुरोनुवाक्यादि हैं, जिससे देवताओं के उद्देश्य से हवि दी जाती है । 'आज्य' घृत को कहते हैं, यह सब हवियों का उपलक्षण है । 'अग्नि' आहवनीयादि हैं, जो हवि डालने का अधिकरण-आधार है । 'हुत' हवन को कहते हैं, हवि डालने को कहते हैं । ये सब मैं परमेश्वर ही हूँ । इनमें एक-एक ज्ञान भी भगवान् की उपासना है -- यह कहने के लिए प्रत्येक के साथ 'अहम् = मैं' शब्द का उच्चारण है । क्रियाकारक -- फलजात कुछ भी भगवान् से अतिरिक्त नहीं है -- यह समुदायार्थ है ॥ 16 ॥

38 इसके अतिरिक्त --

[इस जगत् का पिता मैं हूँ, माता मैं हूँ, धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला भी मैं हूँ, पितामह मैं हूँ; वेद्य, पवित्र, ओंकार मैं ही हूँ तथा ऋक्, साम और यजु भी मैं हूँ ॥ 17 ॥

39 इस जगत् का अर्थात् सम्पूर्ण प्राणीसमूह का पिता-जनयिता, माता-जनयित्री, धाता= पोषयिता-पोषण करनेवाला अथवा उस-उस कर्मफल का विधाता-विधान करनेवाला मैं हूँ । पितामह = पिता का पिता भी मैं हूँ । वेद्य = वेदितव्य-जानने के योग्य वस्तु[22], पवित्र हो जिससे वह पवित्र-पावन अर्थात्

21. प्रकृत प्रसंग मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के बारहवें वैश्वानरेष्ट्याद्यर्थवादताधिकरण से उद्धृत है । वहाँ पहले कहा है – 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते' = 'पुत्र का जन्म होने पर वैश्वानर देवता के उद्देश्य से द्वादशकपाल अर्थात् बारह कपालों - मिट्टी के शकोरों में संस्कार किये हुए पुरोडाश से यज्ञ करें', तदुपरान्त 'यदष्टाकपालो भवति गायत्र्येवै ब्रह्मवर्चसेन पुनाति यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन्नित्यादि श्रूयते' -- इस श्रुति से भिन्न-भिन्न फलों का उल्लेख करते हुए अष्टाकपाल और नवकपाल से यज्ञ करने का विधान कहा गया है । यहाँ शंका यह है कि अष्टाकपालादि इष्टियाँ स्वतंत्र कर्म हैं या द्वादशकपाल इष्टि के अंगरूप अर्थवाद हैं । इस शंका के समाधान में आचार्य ने अष्टाकपालादि को द्वादशकपाल का अंगरूप अर्थवाद कहा है । अत एव मधुसूदन सरस्वती ने द्वादशकपाल के प्रसंग में अष्टाकपालत्वादि के कथन को अवयुत्यनुवाद कथन कहा है ।

22. मैं ही वेद्य-वेदितव्य वस्तु अर्थात् ज्ञातव्य सर्वात्मा परम ब्रह्म हूँ । मैं अर्थात् आत्मा को ही ज्ञातव्य इसलिए कहा गया है कि आत्मा को जानकर सब कुछ विदित हो जाता है । श्रुति में भी कहा गया है -- 'आत्मनि खल्वरे इष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.5.6) । अतएव श्रुति में अन्य सब कर्मों का त्याग कर एकमात्र आत्मा को जानने के लिए ही कहा गया है । जैसे :- 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.5) । 'अन्य सब वाक्य त्याग कर उस एक अद्वितीय आत्मा को ही जानो, क्योंकि वह आत्मविज्ञान ही मोक्ष का सेतु है' ।

पावनं शुद्धिहेतुर्गङ्गास्नानगायत्रीजपादि । वेदितव्ये ब्रह्मणि वेदनसाधनमोंकारः । नियताक्षरपादा, ऋक् । गीतिविशिष्टा सैव साम । सामपदं तु गीतिमात्रस्यैवाभिधायकमित्यन्यत् । गीतिरहितमनियताक्षरं यजुः । एतत्त्रिविधं मन्त्रजातं कर्मोपयोगि । चकारादथर्वाङ्गिरसोऽपि गृह्यन्ते । एवकारोऽहमेवेत्यवधारणार्थः ॥ 17 ॥

40 किं च –

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ 18 ॥

41 गम्यत इति गतिः कर्मफलं,

'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥' इत्येवं मन्वाद्युक्तम् ।

भर्ता पोष्टा सुखसाधनस्यैव दाता । प्रभुः स्वामी मदीयोऽयमिति स्वीकर्ता । साक्षी सर्वप्राणिनां शुभाशुभद्रष्टा । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो भोगस्थानम् । शीर्यते दुःखमस्मिन्निति शरणं प्रपन्नानामार्तिहृत् । सुहृत्प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी । प्रभव उत्पत्तिः । प्रलयो विनाशः ।

शुद्धि के हेतु गंगास्नान, गायत्रीजप आदि मैं ही हूँ । वेदितव्य ब्रह्म के वेदन-ज्ञान का साधन 'ओंकार' मैं हूँ[23] । जिसके पाद में अक्षर नियत होते हैं वह 'ऋक्', जो गीतिविशिष्ट है वही 'साम' -- अन्य के मत में 'सामपद' तो केवल गीतिमात्र का ही अभिधायक -बोधक है, जो गीतिरहित और अनियताक्षर है वह यजु मैं ही हूँ । यह तीन प्रकार का मन्त्रसमुदाय कर्मोपयोगी है । चकार से अथर्ववेद का भी ग्रहण है । एवकार 'अहमेव' = 'मैं ही हूँ' -- यह निश्चय करने के लिए है ॥ 17 ॥

40 और फिर --

[मैं ही गति-कर्मफल, भर्ता-पोष्टा-पोषण करनेवाला, प्रभु, साक्षी, निवास-भोगस्थान, शरण, सुहृत्; प्रभव-उत्पत्ति, प्रलय-विनाश, स्थान-स्थिति अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-स्थिति का स्थान; लयस्थान और अविनाशी बीज हूँ ॥ 18 ॥]

41 'गम्यते इति गतिः कर्मफलम्' = जो प्राप्त किया जाता है उसको 'गति' अर्थात् कर्मफल कहते हैं । 'विश्व की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा, धर्म, महान् और अव्यक्त - इनको मनीषीजन सात्त्विकी उत्तम 'गति' कहते हैं' (मनुस्मृति, 12.50) -- इसप्रकार मनु आदि ने भी कहा है । 'भर्ता' = पोष्टा-पोषण करनेवाला अर्थात् सुख के साधनों को ही देनेवाला है । 'प्रभु' = स्वामी अर्थात् 'यह मदीय-मेरा है' -- इसप्रकार स्वीकार करनेवाला है । 'साक्षी' समस्त प्राणियों के शुभ और अशुभ का द्रष्टा है ।' निवसन्त्यस्मिन्निति' = जिसमें निवास करते हैं वह 'निवास' अर्थात् भोगस्थान है । 'शीर्यते दुःखमस्मिन्निति' = जिसमें

23. जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है -- 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र, 1.27) = उस ईश्वर-परमेश्वर-ब्रह्म का वाचक प्रणव =ओंकार है । ओंकाररूप साधन से ही ब्रह्म ज्ञेय है, जैसा कि श्रुति कहती है – 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.6) = 'ओंकार से ही आत्मा का ध्यान करो । अविद्यान्धकार से शून्य स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिए यह ओंकाररूप साधन विघ्नशून्य हो' ।

स्थानं स्थितिः । यद्वा प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा । प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमाधारः । निधीयते निक्षिप्यते तत्कालभोगायोग्यतया कालान्तरोपभोग्यं वस्त्वस्मिन्निति निधानं सूक्ष्मरूपसर्ववस्त्वधिकरणं प्रलयस्थानमिति यावत् । शङ्खपद्मादिनिधिर्वा । बीजमुत्पत्तिकारणम् । अव्ययमविनाशि न तु व्रीह्यादिवद्विनश्वरम् । तेनानाद्यनन्तं यत्कारणं तदप्यहमेवेति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ 18 ॥

42 **किं च –**

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ 19 ॥

43 **तपाम्यहमादित्यः सन् । ततश्च तापवशादहं वर्षं पूर्ववृष्टिरूपं रसं पृथिव्या निगृह्णाम्याकर्षामि कैश्चिद्रश्मिभिरष्टसु मासेषु । पुनस्तमेव निगृहीतं रसं चतुर्षु मासेषु कैश्चिद्रश्मिभिरुत्सृजामि च वृष्टिरूपेण प्रक्षिपामि च भूमौ । अमृतं च देवानां सर्वप्राणिनां जीवनं वा । एवकारस्याहमित्यनेन संबन्धः । मृत्युश्च मर्त्यानां सर्वप्राणिनां विनाशो वा । सत्, यत्संबन्धितया यद्विद्यते तत्तत्र सत् ।**

दुःख शीर्ण होता है वह 'शरण' अर्थात् शरणागतों के दुःख को हरनेवाला है । 'सुहृत्' प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए उपकार करनेवाला है । 'प्रभव' उत्पत्ति है । 'प्रलय' विनाश है । 'स्थान' स्थिति है । अथवा, 'प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति' = जिससे प्रकर्ष से होते हैं वह 'प्रभव' अर्थात् स्रष्टा है । 'प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति'= जिससे प्रकर्षेण लय हो वह 'प्रलय'[24] अर्थात् संहर्ता है । 'तिष्ठन्त्यस्मिन्निति' = जिसमें स्थित रहते हैं वह स्थान अर्थात् आधार है । जिसमें तत्काल भोग के अयोग्य होने से कालान्तर में उपभोग के योग्य वस्तु निहित की जाती है -- डाली जाती है वह 'निधान' अर्थात् सूक्ष्मरूप सब वस्तुओं का अधिकरण-प्रलयस्थान है, अथवा शङ्ख, पद्म आदि 'निधि' हैं । 'बीज ' उत्पत्ति के कारण को कहते हैं । 'अव्यय' अविनाशी है, न कि व्रीहि आदि के समान विनश्वर है । इससे अनादि अनन्त जो कारण है वह भी मैं ही हूँ -- इस प्रकार इसका भी पूर्व श्लोकों से ही सम्बन्ध है ॥ 18 ॥

42 तथा --

[हे अर्जुन ! मैं ही सूर्यरूप से तपता हूँ, मैं ही वर्ष अर्थात् पूर्ववृष्टिरूप रस-जल को पृथिवी से ग्रहण करता हूँ और मैं ही उसको बरसाता हूँ । मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ । सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ ॥ 19 ॥]

43 आदित्य-सूर्य होकर मैं ही तपता हूँ । उस ताप के कारण ही मैं वर्ष = पूर्ववृष्टिरूप रस-जल को पृथिवी से ग्रहण करता हूँ अर्थात् खींचता हूँ -- अपनी कुछ रश्मियों -- किरणों के द्वारा आठ महीने तक खींचता हूँ । पुनः उस निगृहीत -- आकर्षित रस-जल को चार महीनों में अपनी कुछ रश्मियों-किरणों से बरसाता हूँ अर्थात् वृष्टि-वर्षारूप से भूमि पर छोड़ देता हूँ । 'अमृत' अर्थात् देवता और समस्त प्राणियों का जीवन मैं हूँ । यहाँ एवकार का 'अहम्' = 'मैं' के साथ सम्बन्ध है । 'मृत्यु' अर्थात् मर्त्य अथवा सब प्राणियों का विनाश है । 'सत्' = जिसके सम्बन्धीरूप से जो वस्तु विद्यमान है वह वहाँ 'सत्' कही जाती है । 'असत् = जिसके सम्बन्धीरूप से जो विद्यमान

24. 'प्रलीयते यस्मित् इति प्रलयः' = 'जिसमें सब लीन हो जाते हैं वह 'प्रलय' है (श्रीधरीटीका) ।

असच्च यत्संबन्धितया यन्न विद्यते तत्तत्रासत् । एतत्सर्वमहमेव हेऽर्जुन । तस्मात्सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण बहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम् ॥19 ॥

44 **एवमेकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा चेति त्रिविधा अपि निष्कामाः सन्तो भगवन्तमुपासीनाः सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण क्रमेण मुच्यन्ते । ये तु सकामाः सन्तो न केनापि प्रकारेण भगवन्तमुपासते किं तु स्वस्वकामसाधनानि काम्यान्येव कर्माण्यनुतिष्ठन्ति ते सत्त्वशोधकाभावेन ज्ञानसाधनमनधिरूढाः पुनः पुनर्जन्ममरणप्रबन्धेन सर्वदा संसारदुःखमेवानुभवन्तीत्याह द्वाभ्याम् –**

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ 20 ॥

45 **ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदलक्षणा हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रतिपत्तिहेतवस्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव स्वार्थिकतद्धितेन त्रैविद्यास्तिस्रो विद्या विदन्तीति वा वेदत्रयविदो याज्ञिका यज्ञैरग्निष्टोमादिभिः क्रमेण सवनत्रेय वसुरुद्रादित्यरूपिणं मामीश्वरमिष्ट्वा तद्रूपेण मामजानन्तोऽपि वस्तुवृत्तेन पूजयित्वाऽभिषुत्य हुत्वा च सोमं पिबन्तीति सोमपाः सन्तस्तेनैव सोमपानेन पूतपापा**

नहीं रहती है वह वहाँ 'असत्' कही जाती है । ये सब हे अर्जुन ! मैं ही हूँ । अतः मुझको सर्वात्मा जानकर वे अतिमन्द अधिकारी अपने-अपने अधिकार के अनुसार बहुत प्रकार से मेरी ही उपासना करते हैं -- यह उचित है ॥ 19 ॥

44 इसप्रकार एकत्वभाव से, पृथक्त्वभाव से और बहुत प्रकार से -- इसप्रकार तीनों प्रकार से निष्काम होकर भगवान् की उपासना करनेवाले पुरुष सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा क्रम से मुक्त होते हैं । जो तो सकाम होकर किसी भी प्रकार से भगवान् की उपासना नहीं करते हैं, किन्तु अपनी-अपनी कामनाओं के साधन काम्य-कर्म ही करते हैं, वे सत्त्व-अन्तःकरण के शोधक के अभाव से ज्ञान के साधन पर आरूढ़ न होकर पुनः--पुनः जन्म और मरण के प्रबन्ध से सर्वदा संसार के दुःखों का ही अनुभव करते हैं -- यह भगवान् दो श्लोकों से कहते हैं :--

[ऋक्, यजु और साम -- वेदत्रयी का अनुसरण करनेवाले, सोमपान करनेवाले, सोमपान के द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं वे याज्ञिकजन यज्ञों द्वारा यजन करके स्वर्गप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं । वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ 20 ॥]

45 हौत्र[25], आध्वर्यव[26] और औद्गात्र[27] कर्मों के ज्ञान की हेतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूपा तीन विद्याएँ हैं जिनकी वे 'त्रिविद्या' कहलाते हैं, त्रिविद्या ही स्वार्थ में 'अण्' तद्धित प्रत्यय होने से 'त्रैविद्य' बनकर बहुवचन में 'त्रैविद्याः[28]' कहे गये हैं । अथवा, जो उक्त तीन विद्याओं को जानते

25. हौत्र = होता नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, जो कि ऋग्वेद में उपदिष्ट हुआ है ।
26. आध्वर्यव = अध्वर्यु नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, जिसके सम्बन्ध में यजुर्वेद में उपदेश किया गया है ।
27. औद्गात्र = उद्गाता नामक ऋत्विक् का कर्त्तव्य कर्म है, इसका उपदेश सामवेद में किया गया है ।
28. त्रैविद्याः = त्रिविद्या एव (त्रिविद्या ही त्रैविद्य हैं) = त्रिविद्या + अण् = त्रैविद्यः अर्थात् त्रिविद्या प्रातिपदिक से 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पाणिनिसूत्र, 5.4.38) = 'प्रज्ञादि-गण-पठित प्रातिपदिकों से भी स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है' -- इस सूत्र के अनुसार स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'त्रैविद्यः' बनकर बहुवचन में 'त्रैविद्याः' निष्पन्न हुआ है ।

निरस्तस्वर्गभोगप्रतिबन्धकपापाः सकामतया स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते न तु सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्त्यादि । ते दिवि स्वर्गे लोके पुण्यं पुण्यफलं सर्वोत्कृष्टं सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानमासाद्य दिव्यान्मनुष्यैरलभ्यान्देवभोगान्देवदेहोपभो-ग्यान्कामानश्नन्ति भुञ्जते ॥ 20 ॥

46 **ततः किमनिष्टमिति तदाह –**

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं हि त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ 21 ॥

47 **ते सकामास्तं काम्येन पुण्येन प्राप्तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तद्भोगजनके पुण्ये क्षीणे सति तद्देहनाशात्पुनर्देहग्रहणाय मर्त्यलोकं विशन्ति पुनर्गर्भवासादियातना अनुभवन्तीत्यर्थः । पुनः पुनरेवमुक्तप्रकारेण । हिः प्रसिद्ध्यर्थः । त्रैधर्म्यं हौत्राध्वर्यवौद्गात्रधर्मत्रयार्हं ज्योतिष्टोमादिकं काम्यं कर्म । त्रयीधर्ममिति पाठेऽपि त्रय्या वेदत्रयेण प्रतिपादितं धर्ममिति स एवार्थः । अनुप्रपन्ना अनादौ संसारे पूर्वप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽनुशब्दः, पूर्वप्रतिपत्त्यनन्तरं मनुष्यलोकमागत्य पुनः प्रति-**

हैं वे वेदत्रयविद् याज्ञिक क्रम से सवनत्रय[29] में अग्निष्टोमादि यज्ञों द्वारा वसु, रुद्र और आदित्यरूपी मुझ ईश्वर का यज्ञ कर उस रूप में स्थित मुझको न जानते हुए भी वस्तुस्वभाव से पूजा कर, अभिषव कर अर्थात् सोम को कूटकर रस निकालकर और हवन कर; जो सोमपान करते हैं वे 'सोमपा' कहलाते है वैसे 'सोमपा' होते हुए, उस सोमपान से ही पूतपाप -- स्वर्ग के भोगों के प्रतिबन्धकरूप पाप निरस्त -- निवृत्त हो गये हैं जिनके ऐसे होकर सकाम होने के कारण स्वर्गप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, न कि सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति आदि के लिए प्रार्थना करते हैं । वे दिवि -- स्वर्गलोक में पुण्य -- पुण्य के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट सुरेन्द्रलोक = शतक्रतु -- इन्द्र के स्थान को प्राप्त होकर दिव्य = मनुष्यों के लिए अलभ्य देवभोग = देवताओं के देह से उपभोग्य -- उपभोग के योग्य भोगों -- विषयों को भोगते हैं ॥ 20 ॥

46 उससे क्या अनिष्ट होता है -- यह कहते हैं :--
[वे सकाम पुरुष उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर, पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक - मनुष्य लोक को प्राप्त होते हैं । इसप्रकार त्रयीधर्म की शरण लेनेवाले और दिव्य भोगों की कामना करनेवाले वे पुरुष बार -- बार गतागत = आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥ 29 ॥]

47 वे सकाम पुरुष हैं अतएव काम्य पुण्यकर्म से प्राप्त उस विशाल -- विस्तीर्ण स्वर्गलोक को भोगकर, उस स्वर्गभोग के जनक पुण्य के क्षीण होने पर उस स्वर्गीय देह का नाश होने से पुनः देहग्रहण करने के लिए मर्त्यलोक -- मनुष्यलोक में प्रवेश करते हैं अर्थात् वे पुनः गर्भवास आदि यातनाओं -- दुःखों का अनुभव करते हैं । पुनः पुनः एवम् = इसीप्रकार अर्थात् उक्त प्रकार से आते हैं और जाते हैं । 'हि' शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में है । त्रैधर्म्य = हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र -- इन तीनों धर्मों के योग्य ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म से, अथवा 'त्रयीधर्मम्' ऐसा पाठ होने पर भी त्रयी

29. सवनत्रय = 'सवन' यज्ञ को कहते हैं । इसमें सोम को कूटकर रस निकाल कर, उस सोमरस से हवन किया जाता है । यह दिन में तीन बार किया जाता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है – प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन । इन तीनों सवनों में यथाक्रम वसु, रुद्र तथा आदित्य की पूजा होती है ।

पन्नाः, कामकामा दिव्यान्भोगान्कामयमाना एवं गतागतं लभन्ते कर्म कृत्वा स्वर्गं यान्ति तत आगत्य पुनः कर्म कुर्वन्तीत्येवं गर्भवासादियातनाप्रवाहस्तेषामनिशमनुवर्तत इत्यभिप्रायः ॥ 21 ॥

48 निष्कामाः सम्यग्दर्शिनस्तु –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ 22 ॥

49 अन्यो भेददृष्टिविषयो न विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः सर्वभोगनिःस्पृहाः । अहमेव भगवान्वासुदेवः सर्वात्मा न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति ज्ञात्वा तमेव प्रत्यञ्चं सदा चिन्तयन्तो मां नारायणमात्मत्वेन ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिनः परि सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्ति ते मदनन्यतया कृतकृत्या एवेति शेषः ।

50 अद्वैतदर्शननिष्ठानामत्यन्तनिष्कामानां तेषां स्वयमप्रयतमानानां कथं योगक्षेमौ स्यातामित्यत आह– तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण ध्याने व्यापृतानां देहयात्रामात्रार्थमप्यप्रयतमानानां

-- वेदत्रयी से प्रतिपादित धर्म से -- इसप्रकार वही अर्थ है[30], अनुप्रपन्न = अनादि संसार में पूर्व प्रतिपत्ति -- प्राप्ति की अपेक्षा से 'अनु' शब्द है, अत: पूर्व प्राप्ति के अनन्तर मनुष्यलोक में आकर पुन: मनुष्य होते हैं । कामकामा: = दिव्य भोगों की कामना करते हुए इसप्रकार गतागत = आवागमन को प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार में आते -- जाते हैं । कर्म कर स्वर्ग जाते हैं, वहाँ से आकर पुन: कर्म करते हैं -- इसप्रकार उनका गर्भवासादि यातनाओं का प्रवाह अहर्निश चलता रहता है -- यह अभिप्राय है ।। 20 ।

48 किन्तु निष्काम सम्यग्दर्शी पुरुष --

[जो पुरुष अनन्यभाव से मुझ वासुदेव का सदा चिन्तन करते हुए सब ओर से मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य अभियुक्त = आदरपूर्वक मेरे ध्यान में व्यापृत पुरुषों के योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ ।। 22 ।।]

49 अन्य अर्थात् भेददृष्टि का विषय नहीं है जिनके लिए वे अनन्य, सबको अद्वैतरूप से देखनेवाले अतएव सब प्रकार के भोगों से निस्पृह होकर 'मैं ही भगवान् वासुदेव सर्वात्मा हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है' -- ऐसा जानकर उस प्रत्यगात्मा का ही सदा चिन्तन करते हुए जो साधन-चतुष्टयसंपन्न संन्यासीजन मुझ नारायण को आत्मस्वरूप से परि -- सर्वत: = सब ओर से अर्थात् सर्वत्र अनवच्छिन्नरूप से देखते हैं वे मेरे अनन्य = मेरे से अभिन्न होने के कारण कृतकृत्य ही हैं -- इतना यहाँ अध्याहार करना चाहिए ।

50 अद्वैतज्ञान- निष्ठ अतएव अत्यन्त निष्काम उन स्वयं प्रयत्न न करने वाले पुरुषों के योग और क्षेम का वहन कैसे होता है ? इस शङ्का से भगवान् कहते हैं -- उन नित्य अभियुक्त = नित्य -- निरन्तर आदरपूर्वक ध्यान में व्यापृत -- लगे हुए, देहयात्रामात्र के लिए भी प्रयत्न न करनेवाले तथा योगक्षेम

30. मधुसूदन सरस्वती को 'एवं हि त्रैधर्म्यम्' -- पाठ ही अभीष्ट है, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में तदनुसार ही व्याख्या की है और विकल्प में 'एवं त्रयीधर्मम्' -- पाठ का भी अर्थ किया है । भाष्यकार को भी 'एवं हि त्रैधर्म्यय्' -- यह पाठ ही अभीष्ट है । आचार्य धनपति ने तो यह कहा है कि 'एवं त्रयीधर्मम्' – यह पाठ यद्यपि श्रीधर, नीलकण्ठ आदि कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया है, तथापि भाष्यकार ने उक्त पाठ के अनुसार व्याख्या नहीं की है, अत: 'एवं त्रयीधर्मम्' -- इस पाठ का आदर नहीं करना चाहिए, 'एवं हि त्रैधर्म्यम्' – यह पाठ ही उचित है । वस्तुत: देखा जाय तो अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठ ही उचित है, क्योंकि मधुसूदन सरस्वती ने दोनों पाठों के अनुसार व्याख्या करके यही कहा है कि 'स एवार्थ:' = 'उभय पाठ में अर्थ वही है – एक ही है' ।

योगं च क्षेमं च, अलब्धस्य लाभं लब्धस्य परिरक्षणं च शरीरस्थित्यर्थं योगक्षेममकामयमानानामपि वहामि प्रापयाम्याहं सर्वेश्वरः।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

इति ह्युक्तम् । यद्यपि सर्वेषामपि योगक्षेमं वहति भगवांस्तथाऽप्यन्येषां प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा वहति ज्ञानिनां तु तदर्थं प्रयत्नमनुत्पाद्य वहतीति विशेषः ॥ 22 ॥

51 **नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव त्वद्व्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । तथा च देवतान्तरभक्ता अपि त्वामेव भजन्त इति न कोऽपि विशेषः स्यात्, तेन गतागतं कामकामा वसुरुद्रादित्यादिभक्ता लभन्ते । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां तु कृतकृत्या इति कथमुक्तं तत्राऽऽह –**

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ 23 ॥

52 **यथा मद्भक्ता मामेव यजन्ति तथा येऽन्यदेवतानां वस्वादीनां भक्ता यजन्ते ज्योतिष्टोमादिभिः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः, तेऽपि मद्भक्ता इव हे कौन्तेय तत्तद्देवतारूपेण स्थितं मामेव यजन्ति पूजयन्ति अविधिपूर्वकमविधिरज्ञानं तत्पूर्वकं सर्वात्मत्वेन मामज्ञात्वा मद्भिन्नत्वेन वस्वादीन्कल्पयित्वा यजन्तीत्यर्थः ॥ 23 ॥**

की भी कामना न करनेवाले पुरुषों के योग और क्षेम = शरीर की स्थिति के लिए अलब्ध की प्राप्ति 'योग' और लब्ध की रक्षा 'क्षेम' का वहन– प्राप्ति मैं सर्वेश्वर कराता हूँ । मैं पहले भी कह चुका हूँ- "ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझको प्रिय है । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी --- ये सब उदार -- उत्कृष्ट हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है -- यह मेरा मत है" (गीता, 7.17ब, 18अ) । यद्यपि भगवान् सभी के योगक्षेम का वहन करते हैं, तथापि अन्यपुरुषों के योग-क्षेम का वहन तो वे उनके लिए प्रयत्न उत्पन्न करके अर्थात् उस-उस पुरुष से व्यापार कराकर उसके द्वारा करते हैं, किन्तु ज्ञानियों के योग-क्षेम का वहन वे उनके लिए प्रयत्न उत्पन्न किये बिना अर्थात् ज्ञानियों से व्यापार न कराकर ही करते हैं -- यह भेद है ॥ 22 ॥

51 अन्य भी देवता आप ही हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं । इसप्रकार जो दूसरे देवताओं के भक्त हैं वे भी आपको ही भजते हैं, इसलिए उनकी अपेक्षा आपके भक्तों में कोई भी विशेष-भेद नहीं है । ऐसी स्थिति में आपने यह कैसे कहा कि भोगों की कामना करनेवाले, वसु-रुद्र और आदित्य आदि देवताओं के भक्त गतागत -- आवागमन को प्राप्त होते हैं औरअनन्यभाव से मेरा चिन्तन करनेवाले तो कृतकृत्य होते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं :--

[हे कौन्तेय ! जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, वे भी मेरा ही यजन करते हैं, किन्तु उनका वह यजन अविधिपूर्वक -- अज्ञानपूर्वक है ॥ 23 ॥]

52 जैसे मेरे भक्त मेरा ही यजन करते हैं वैसे ही जो वसु आदि अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा = आस्तिक्य बुद्धि से युक्त हो ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यजन करते हैं हे कौन्तेय ! वे भी मेरे भक्तों के समान उस-उस देवता के रूप में स्थित मेरा ही यजन करते हैं -- मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे अविधिपूर्वक = अविधि अज्ञान है अतएव अज्ञानपूर्वक मुझको सर्वात्मारूप से न जानकर वसु आदि को मुझसे भिन्नरूप समझकर यजन करते हैं -- यह अर्थ है ॥ 23 ॥

53 **अविधिपूर्वकत्वं विवृण्वन्फलप्रच्युतिममीषामाह –**

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ 24 ॥

54 **अहं भगवान्वासुदेव एव सर्वेषां यज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च तत्तद्देवतारूपेण भोक्ता च स्वेनान्तर्यामिरूपेणाधियज्ञत्वात्प्रभुश्च फलदाता चेति प्रसिद्धमेतत् । देवतान्तरयाजिनस्तु मामीदृशं तत्त्वेन भोक्तृत्वेन प्रभुत्वेन च भगवान्वासुदेव एव वस्वादिरूपेण यज्ञानां भोक्ता स्वेन रूपेण च फलदाता न तदन्योऽस्ति कश्चिदाराध्य इत्येवंरूपेण न जानन्ति । अतो मत्स्वरूपापरिज्ञानान्महताऽऽयासेनेष्ट्वाऽपि मय्यनर्पितकर्माणस्तत्तद्देवलोकं धूमादिमार्गेण गत्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति प्रच्यवन्ते तद्भोगजनककर्मक्षयात्तद्देहादिवियुक्ताः पुनर्देहग्रहणाय मनुष्यलोकं प्रत्यावर्तन्ते । ये तु तत्तद्देवतासु भगवन्तमेव सर्वान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ते ते भगवदर्पितकर्माणस्तद्विद्यासहितकर्मवशादर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनास्तद्भोगान्ते मुच्यन्त इति विवेकः ॥ 24॥**

---

53 अविधिपूर्वकत्व का विवरण करते हुए उन देवभक्तों की फलच्युति कहते हैं --
[मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ, किन्तु वे अन्यदेवभक्त मुझको = मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते हैं, अतएव वे च्युत होते हैं अर्थात् फलभोग के क्षीण होने पर उन दिव्यलोकों से च्युत होते हैं ॥ 24 ॥]

54 मैं भगवान् वासुदेव ही समस्त श्रौत और स्मार्त यज्ञों का उस-उस देवतारूप से भोक्ता हूँ और अधियज्ञ होने के कारण अपने अन्तर्यामीस्वरूप से प्रभु अर्थात् उन यज्ञों का फलदाता हूँ -- यह प्रसिद्ध ही है[31] । किन्तु वे अन्य देवताओं का यजन करनेवाले ऐसे मुझको तत्त्व से = भोक्तारूप और प्रभुरूप से अर्थात् 'भगवान् वासुदेव की वसु आदिरूप से यज्ञों के भोक्ता और अपने स्वरूप से फलदाता हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कोई आराध्यदेव नहीं है' -- इस रूप से नहीं जानते हैं[32] । अतः मेरे स्वरूप का ज्ञान न होने से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक यजन करके भी मुझमें कर्मों को अर्पित न करते हुएं धूमादि मार्ग से उस-उस देवलोक में जाकर उस-उस लोक के भोग का अन्त होने पर उस-उस लोक से च्युत-प्रच्युत होते हैं अर्थात् उस-उस लोक के भोगजनक कर्मों का क्षय होने से उस-उस लोक के देहादि से वियुक्त होकर पुनः देह ग्रहण करने के लिए मनुष्यलोक में लौट आते हैं । किन्तु जो उस-उस देवता में सर्वान्तर्यामी भगवान् को ही देखते हुए यजन करते हैं वे भगवान् में कर्मों को अर्पित करते हुए भगवत्स्वरूप के ज्ञानंसहित कर्म करने से अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ -- उस लोक में तत्त्वज्ञानोत्पत्ति होने से उस लोक के भोग का अन्त होने पर मुक्त हो जाते हैं -- यह विवेक -- भेद है ॥ 24 ॥

31. श्रुतियाँ कहती हैं – 'शुष्टास्त्रयो वैष्णवाः' = 'याजक यजन और यज्ञ – तीनों 'विष्णु हैं'; 'अग्नेर्घृतं विष्णोस्तण्डुलः' = 'अग्नि का घृत – विष्णु के तण्डुल'; 'यज्ञो वै विष्णुः' = 'यज्ञ ही विष्णु है' – इत्यादि । स्मृति भी कहती है -- 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (गीता, 5.29) = 'मैं ही अधियज्ञ हूँ' – इत्यादि ।

32. अर्थ यह है कि वे अन्यदेवभक्त मुझको तत्त्व से अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' = 'ब्रह्म ही अर्पण है और ब्रह्म ही हवि है', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' = 'यह सब ब्रह्म ही है' -- इत्यादि श्रुतियों में जैसा कि कहा गया है – यज्ञ का भोक्ता, यज्ञ का पुरोडाश, यजमान, याजक आदि – यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है -- इसप्रकार तत्त्व से नहीं जानते हैं ।

55 देवतान्तरयाजिनामनावृत्तिफलाभावेऽपि तत्तद्देवतायागानुरूपक्षुद्रफलावाप्तिर्ध्रुवेति वदन्भगवद्याजिनां तेभ्यो वैलक्षण्यमाह –

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ 25 ॥

56 अविधिपूर्वकयाजिनो हि त्रिविधा अन्तःकरणोपाधिगुणत्रयभेदात् । तत्र सात्त्विका देवव्रताः, देवा वसुरुद्रादित्यादयस्तत्संबन्धि व्रतं बल्युपहारप्रदक्षिणप्रह्वीभावादिरूपं पूजनं येषां ते तानेव देवान्यान्ति 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । राजसास्तु पितृव्रताः श्राद्धादिक्रियाभिरग्निष्वात्तादीनां पितॄणामाराधकास्तानेव पितॄन्यान्ति । तथा तामसा भूतेज्या यक्षरक्षोविनायकमातृगणादीनां भूतानां पूजकास्तान्येव भूतानि यान्ति । अत्र देवपितृभूतशब्दानां तत्संबन्धिलक्षणयोष्ट्रमुखन्यायेन समासः । मधयमपदलोपिसमासानङ्गीकारात्प्रकृतिविकृतिभावा-

---

55 अन्य देवताओं का यजन करनेवालों को अनावृत्तिरूप फल प्राप्त न होने पर भी उस-उस देवता के याग के अनुरूप क्षुद्र फल की प्राप्ति तो निश्चित होती है – यह कहते हुए भगवान् का यजन करनेवालों की उन देवतान्तरयाजियों से विलक्षणता कहते हैं :--

[देवव्रत अर्थात् देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृव्रत = पितरों के आराधक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतेज्य = भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरी आराधना करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 25 ॥]

56 अन्तःकरण के उपाधिभूत तीन गुणों के भेद से अविधिपूर्वक -- अज्ञानपूर्वक यजन करनेवाले तीन प्रकार के हैं । उनमें जो सात्त्विक हैं वे 'देवव्रत' हैं । जिनका व्रत अर्थात् बलि, उपहार, प्रदक्षिणा, प्रह्वीभाव = नमस्कार आदि रूप पूजन वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाला होता है वे देवव्रत उन देवताओं को ही प्राप्त होते हैं, जैसाकि श्रुति कहती है -- 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' = 'उपासक उसकी जैसी-जैसी उपासना करता है वह वही होता है' । राजस -- रजोगुण विशिष्ट 'पितृव्रत' कहलाते हैं वे पितृव्रत = श्राद्धादि क्रियाओं से अग्निष्वात्तादि पितरों के आराधक उन पितरों को ही प्राप्त होते हैं । तथा तामस -- तमोगुणविशिष्ट 'भूतेज्य' कहलाते हैं वे भूतेज्य = यक्ष, राक्षस, विनायक, मातृगणादि भूतों के पूजक उन भूतों को ही प्राप्त होते हैं । यहाँ देव, पितृ और भूत शब्दों का 'तत्सम्बन्धी' = 'उनसे सम्बन्ध रखनेवाली' लक्षणा होने से उष्ट्रमुख-न्याय[33] से समास हुआ है, क्योंकि यहाँ मध्यमपदलोपी समास स्वीकार नहीं है और प्रकृति-विकृतिभाव

33. 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' (वार्तिक) = 'सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाचक पूर्व पद का समास होता है और उत्तर पद का लोप भी होता है' – इस वार्तिक के अनुसार 'उष्ट्रमुखः' का समास विग्रह होता है -- 'उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः' = 'उष्ट्र के मुख के समान है मुख जिसका वह 'उष्ट्रमुख' है । यहाँ 'उष्ट्रस्य मुखमिव' – इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष है और इसमें 'इव' शब्द यह सूचित करने के लिए है कि 'मुख' शब्द 'मुख के समान' अर्थ में लाक्षणिक है । 'उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य' – इस विग्रह में 'बहुव्रीहि' समास है । इसमें 'उष्ट्रमुख' बहुव्रीहि समास का पूर्व पद है, और उत्तरपद 'मुख' शब्द का लोप वाचनिक है । इस प्रकार 'उष्ट्र' शब्द 'उष्ट्रमुख' में लाक्षणिक है । इसी प्रकार देवव्रतादि शब्दों में 'देवस्य व्रतमिव व्रतं येषां ते देवव्रताः' = देवव्रत के समान व्रत है जिनका वे देवव्रत हैं' । यहाँ भी 'देव' शब्द देवव्रत अर्थात् देवतासम्बन्धी व्रत में लाक्षणिक है, अतः देवव्रतादि शब्दों में उष्ट्रमुखन्याय से समास हुआ है ।

भावेन च तादर्थ्यचतुर्थीसमासायोगात् । अन्ते च पूजावाचीज्याशब्दप्रयोगात्पूर्वपर्यायद्वयेऽपि व्रतशब्दः पूजापर एव ।

57 एवं देवतान्तराराधनस्य तत्तद्देवतारूपत्वमन्तवत्फलमुक्त्वा भगवदाराधनस्य भगवद्रूपत्वमनन्तं फलमाह - मां भगवन्तं यष्टुं पूजयितुं शीलं येषां ते मद्याजिनः सर्वासु देवतासु भगवद्भावदर्शिनो भगवदाराधनपरायणा मां भगवन्तमेव यान्ति । समानेऽप्यायासे भगवन्तमन्तर्यामिणमनन्तफलदमनाराध्य देवतान्तरमाराध्यान्तवत्फलं यान्तीत्यहो दुर्दैववैभवमज्ञानामित्यभिप्रायः ॥ 25 ॥

58 तदेवं देवतान्तराणि परित्यज्यानन्तफलत्वाद्भगवत एवाऽऽराधनं कर्तव्यमतिसुकरत्वाच्चेत्याह –

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 26 ॥

59 पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्यद्वाऽनायासलभ्यं यत्किंचिद्वस्तु यः कश्चिदपि नरो मे मह्यमनन्तमहाविभूतिपतये परमेश्वराय भक्त्या 'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' इतिबुद्धिपूर्विकया प्रीत्या प्रयच्छतीश्वराय भृत्यवदुपकल्पयति मत्स्वत्वानास्पदद्रव्याभावात्सर्वस्यापि जगतो मयैवा-

---

न होने से तादर्थ्य-चतुर्थी समास भी नहीं है । अन्त में पूजावाची 'इज्या' शब्द के प्रयोग से पहले दो पर्यायों में भी 'व्रत' शब्द पूजापरक ही है ।

57 इसप्रकार अन्य देवताओं की आराधना का उस-उस देवतारूप की प्राप्तिरूप अन्तवान् -- विनाशवान् फल कहकर भगवान् की आराधना का भगवद्-रूप की प्राप्तिरूप अनन्त फल कहते हैं -- जिनका शील-स्वभाव मुझ-भगवान् का यजन -- पूजन करना है वे मद्याजी = मेरा यजन करनेवाले = समस्त देवताओं में भगवद्-भाव का दर्शन करनेवाले अतएव भगवद्-आराधनपरायण मुझ भगवान् को ही प्राप्त होते हैं । इसप्रकार आयास -- अभ्यास में समानता होने पर भी वे अन्यदेवताराधक अनन्त फलदाता अन्तर्यामी भगवान् की आराधना न करके अन्य देवताओं की आराधना कर अन्तवान् -- विनाशवान् -- अनित्य फल को प्राप्त होते हैं । अहो ! उन अज्ञानियों के दुर्दैव -- दुर्भाग्य का कैसा वैभव है -- यह अभिप्राय है ॥ 25 ॥

58 इसप्रकार अन्य देवताओं का परित्याग कर अनन्त फलप्राप्ति रूप होने से भगवान् की ही आराधना करनी चाहिए, क्योंकि वह अतिसुकर भी है -- ऐसा भगवान् कहते हैं --

[जो पुरुष मुझको भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि पुरुष के भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए उन पदार्थों को मैं स्वीकार करता हूँ ॥ 26 ॥]

59 पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा अनायास ही लभ्य अन्य जो कोई वस्तु जो कोई भी पुरुष मुझ अनन्त महाविभूतिपति परमेश्वर को भक्तिपूर्वक = 'वासुदेव से पर- श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है' -- इस प्रकार की बद्धिपूर्वक प्रीति से अर्पण करता है = ईश्वर-स्वामी को सेवक के समान भेंट करता है, क्योंकि मेरा स्वत्व जिसमें नहीं है ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, कारण कि सम्पूर्ण जगत् मेरे द्वारा ही अर्जित--उपार्जित है, अत: पुरुष सब कुछ मेरा ही मुझको अर्पण करता है । उस प्रीतिपूर्वक अर्पण करनेवाले प्रयात्मा अर्थात् शुद्धबुद्धि पुरुष के उन पत्र-पुष्पादि तुच्छ भी वस्तुओं को मैं सर्वेश्वर खाता हूँ अर्थात् भोजन के समान उन वस्तुओं को प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर तृप्त होता हूँ । यहाँ

र्जितत्वात् । अतो मदीयमेव सर्वं मह्यमर्पयति जनः । तस्य प्रीत्या प्रयच्छतः प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेस्तत्पत्रपुष्पादि तुच्छमपि वस्तु अहं सर्वेश्वरोऽश्नामि अशनवत्प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामि । अत्र वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारादशनलक्षितेन स्वीकारविशेषेण प्रीत्यतिशयहेतुत्वं व्यज्यते । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इति श्रुतेः । कस्मात्तुच्छमपि तदश्नासि यस्माद्भक्त्युपहृतं भक्त्या प्रीत्या समर्पितं, तेन प्रीत्या समर्पणं मत्स्वीकारनिमित्तमित्यर्थः ।

60 अत्र भक्त्या प्रयच्छतीत्युक्त्वा पुनर्भक्त्युपहृतमिति वदन्नभक्तस्य ब्राह्मणत्वतपस्वित्वादि मत्स्वीकारनिमित्तं न भवतीति परिसंख्यां सूचयति । श्रीदामब्राह्मणानीततण्डुलकणभक्षण-वत्प्रीतिविशेषप्रतिबद्धभक्ष्याभक्ष्यविज्ञानो बाल इव मात्राद्यर्पितं पत्रपुष्पादि भक्तार्पितं साक्षादेव

वाच्यार्थ -- 'भोजन' का अत्यन्ततिरस्कार[34] होने से 'अशन' -- 'भोजन' पद से लक्षित स्वीकारविशेष से उसकी अतिशय प्रीति में हेतुत्व व्यञ्जित होता है । जैसा कि श्रुति में भी कहा गया है -- 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' = 'देवता न तो खाते हैं न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर तृप्त होते हैं' । यदि पूछते हो कि आप तुच्छ भी उन पत्र -- पुष्पादि को क्यों खाते हो -- स्वीकार करते हो, तो इसका उत्तर यह है :-- क्योंकि वे भक्त्युपहृत = भक्ति अर्थात् प्रीति से समर्पित होते हैं । अत: तात्पर्य यह है कि प्रीति से समर्पण करना ही मेरे स्वीकार का निमित्त है ।

60 यहाँ 'भक्त्या प्रयच्छति' = 'भक्तिपूर्वक अर्पण करता है' -- यह कहकर पुन: 'भक्त्युपहृतम्' = 'भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए' -- यह कहते हुए 'अभक्त के ब्राह्मणत्व, तपस्वित्व आदि मेरे स्वीकार के निमित्त नहीं हैं' -- इस परिसंख्या-विधि[35] को सूचित करते हैं । अथवा, श्रीदाम -- सुदामा ब्राह्मण के समर्पण किये हुए तण्डुलकण के भक्षण के समान; प्रीतिविशेष से प्रतिबद्ध हो गया है भक्ष्याभक्ष्यविज्ञान -- भक्ष्याभक्ष्यविवेक जिसका उस बालक की तरह मैं माता आदि के अर्पण किये

---

34. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि में कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है, उसको 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' कहते हैं (अविवक्षितवाच्यध्वनौ वाच्यं क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् -- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास) । 'अत्यन्ततिरस्कृत' में णिजन्त 'तिरस्कृत' शब्द का प्रयोग किया गया है इसलिए उसका प्रयोजक कर्ता अपेक्षित है । 'तिरस्कृत' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि इस ध्वनि के व्यञ्जना व्यापार में जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तृविवक्षादि हैं उन्हीं के प्रभाव से वाच्यार्थ कहीं अत्यन्त तिरस्कृत होता है । इसमें मुख्यत: लक्षणा का प्रभाव है, इसीलिए अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलध्वनि भी कहते हैं । प्रश्न है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि में लक्षणा के प्रभाव से वाच्यार्थ अत्यन्ततिरस्कृत क्यों और कैसे हो जाता है । इसका उत्तर है कि लक्षणा के भेद 'लक्षणलक्षणा' में दूसरे की अन्वयसिद्धि के लिए एक शब्द अपने मुख्यार्थ का अत्यन्त परित्याग -- तिरस्कार करता है, इसीलिए -- 'लक्षणलक्षणा' में वाच्यार्थ के अत्यन्त तिरस्कार -- सर्वथा परित्याग के कारण ही उसको 'जहत्स्वार्था' लक्षणा भी कहते हैं । यही अविवक्षितवाच्यध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यभेद का मूल है । इसी के प्रभाव से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में वाच्यार्थ तिरस्कृत होता है । प्रकृत प्रसंग में 'भोजन' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है । भगवान् में 'भोजनत्व' अनुपपन्न होने से 'भोजन' शब्द अपने भोजनत्व अर्थ का सर्वथा तिरस्कार -- परित्याग कर 'स्वीकारविशेष' अर्थ को लक्षणलक्षणा से बोधित करता है और उसमें प्रीत्यतिशय व्यङ्ग्य होता है । इसी से यहाँ 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' है ।

35. जहाँ दो वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो तो दोनों में से एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को 'परिसंख्या-विधि' कहा जाता है । (उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः -- अर्थसंग्रह) ।

भक्षयामीति वा । तेन भक्तिरेव मत्परितोषनिमित्तं न तु देवतान्तरवद्बल्युपहारादि बहुवित्तव्ययायाससाध्यं किंचिदिति देवतान्तरमपहाय मामेव भजेतेत्यभिप्रायः ॥ 26 ॥

61 कीदृशं ते भजनं तदाह –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ 27 ॥

62 यत्करोषि शास्त्रादृतेऽपि रागात्प्राप्तं गमनादि यदश्नासि स्वयं तृप्त्यर्थं कर्मसिद्ध्यर्थं वा । तथा यज्जुहोषि शास्त्रबलान्नित्यमग्निहोत्रादिहोमं निर्वर्तयसि । श्रौतस्मार्तसर्वहोमोपलक्षणमेतत् । तथा यद्ददासि अतिथिब्राह्मणादिभ्योऽन्नहिरण्यादि । तथा यत्तपस्यसि प्रतिसंवत्सरमज्ञात-प्रामादिकपापनिवृत्तये चान्द्रायणादि चरसि उच्छृङ्खलप्रवृत्तिनिरासाय शरीरेन्द्रियसंघातं

हुए पदार्थों के समान भक्त के अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादि को साक्षात् ही खाता हूँ[36] । अत: भक्ति ही मेरे परितोष -- सन्तोष का निमित्त है, दूसरे देवताओं के समान बहुधनव्यय और अतिपरिश्रम से साध्य कोई वलि, उपहार आदि नहीं है । अतएव अभिप्राय यह है कि दूसरे देवताओं को छोड़कर मेरा ही भजन करो ॥ 26 ॥

61 आपका भजन कैसा है ? वह कहते हैं --

[हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो और जो कुछ तप करते हो वह सब मुझको अर्पण करो ॥ 27 ॥]

62 जो कुछ तुम करते हो अर्थात् शास्त्रविधान के बिना भी रागत: प्राप्त जो गमनादि कर्म भी तुम करते हो; जो कुछ खाते हो[37] अर्थात् स्वयं तृप्ति के लिए अथवा कर्मसिद्धि के लिए जो कुछ तुम खाते हो; जो कुछ हवन करते हो अर्थात् शास्त्रविधान के बल से नित्य अग्निहोत्रादि जो होम-यज्ञरूप हवन करते हो -- यह 'होम' श्रौत और स्मार्त -- सभी प्रकार के होमों का उपलक्षण है । तथा जो कुछ दान देते हो अर्थात् अतिथि, ब्राह्मण आदि को अन्न, स्वर्णादि जो कुछ देते हो; तथा जो कुछ तप करते हो अर्थात् प्रत्येक संवत्सर में अज्ञात -- बिना जाते हुए और प्रामादिक = प्रमाद -- असावधानी से किये हुए पापों की निवृत्ति के लिए जो कुछ चान्द्रायणादि तप करते हो, अथवा उच्छृङ्खल -- अविहित प्रवृत्ति को रोकने के लिए शरीर और इन्द्रिय के संघात -- समूह का संयम

36. प्रकृत श्लोक में 'भक्त्या' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है । इससे भगवान् यह दृढ़ निश्चय कर रहे हैं कि भक्तिरहित अति उत्तम पदार्थ को भी मैं ग्रहण नहीं करता हूँ -- भोजन करना तो दूर की बात है । मैं तो भावग्राही जनार्दन हूँ, प्रेमी भक्तों का ही दास हूँ, मुझ पूर्णकाम भगवान् को किस वस्तु का अभाव है जिसकी प्राप्ति से मुझको परितोष होगा । भक्ति ही मेरे स्वीकार और परितोष-सन्तोष का कारण है । इस भक्ति के प्रभाव से ही मैंने भक्त दरिद्र सुदामा के तण्डुलकण का भक्षण किया था । वस्तुत: माता के विशेष प्रेम से मुग्ध होकर बालक जिस प्रकार उसके द्वारा अर्पित हुए पदार्थ 'भोजन के योग्य हैं कि नहीं' – इस प्रकार विज्ञान – विवेक करने का सामर्थ्य खो देता है, उसी प्रकार मैं भी भक्त की जाति, वर्ण, दरिद्रता आदि का विवेक न कर उसके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित पत्र-पुष्पादि को साक्षात् ही खाता – स्वीकार करता हूँ । यहाँ 'भक्ति' शब्द से 'प्रेमाभक्ति', 'अनन्याभक्ति', या 'पराभक्ति' को भगवान् सूचित कर रहे हैं ।

37. आनन्दगिरि 'यदश्नासि' = 'जो कुछ खाते हो' का अर्थ 'यं कंचिद्भोगं भुङ्क्षे' = 'जो कुछ विषय का भोग करते हो' -- इस प्रकार करते हैं ।

संयमयसीति वा । एतच्च सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणामुपलक्षणम् । तेन यत्तव प्राणिस्वभाववशाद्विनाऽपि शास्त्रमवश्यंभावि गमनाशनादि, यच्च शास्त्रवशादवश्यंभावि होमदानादि हे कौन्तेय तत्सर्वं लौकिकं वैदिकं च कर्मान्येनैव निमित्तेन क्रियमाणं मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । आत्मनेपदेन समर्पकनिष्ठमेव समर्पणफलं न तु मयि किंचिदिति दर्शयति । अवश्यंभाविनां कर्मणां मयि परमगुरौ समर्पणमेव मद्भजनं न तु तदर्थं पृथग्व्यापारः कश्चित्कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ 27 ॥

63 एतादृशस्य भजनस्य फलमाह –

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ 28 ॥

64 एवमनायाससिद्धेऽपि सर्वकर्मसमर्पणरूपे मद्भजने सति शुभाशुभे इष्टानिष्टे फले येषां तैः कर्मबन्धनैर्बन्धरूपैः कर्मभिर्मोक्ष्यसे मयि समर्पितत्वात्तव तत्संबन्धानुपपत्तेः कर्मभिस्तत्फलैश्च न संस्रक्ष्यसे । ततश्च संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः सर्वकर्मणां भगवति समर्पणं स एव योग इव चित्तशोधकत्वाद्योगस्तेन युक्तः शोधित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स त्वं त्यक्तसर्वकर्मा वा कर्मबन्धनैर्जीवन्नेव विमुक्तः सन्सम्यग्दर्शनेनाज्ञानावरणनिवृत्त्या मामुपैष्यसि साक्षात्करिष्यस्यहं

करते हो -- यह 'तप' समस्त नित्य और नैमित्तिक कर्मों का उपलक्षण है । अत: प्राणिस्वभाववश शास्त्रविधान के बिना भी अवश्यंभावी जो तुम्हारे गमन, भोजन आदि व्यापार हैं और जो शास्त्रविधानवश अवश्यंभावी होम, दानादि हैं; हे कौन्तेय[38] ! हे अर्जुन ! वे सब लौकिक और वैदिक कर्म, दूसरे निमित्त से किये जाने पर भी, जिस प्रकार मदर्पण = मुझको अर्पण हों वैसा करो । 'कुरुष्व' -- इस आत्मनेपद के प्रयोग से यह दिखलाते हैं कि समर्पण का फल समर्पकनिष्ठ ही होता है अर्थात् समर्पण करनेवाले को ही प्राप्त होता है, मुझको कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । अभिप्राय यह है कि अवश्यंभावी कर्मों का मुझ परमगुरु को समर्पण करना ही मेरा भजन है, उसके लिए कोई पृथक् व्यापार करना आवश्यक नहीं है ।। 27 ।।

63 इसप्रकार के भजन का फल कहते हैं --

[इसप्रकार तुम शुभ और अशुभ फलरूप कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे तथा संन्यास = मुझको समस्त कर्मों का अर्पण करना रूप योग से युक्तात्मा = शुद्धचित्त हो जीवित रहते हुए ही मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे ।। 28 ।।]

64 इसप्रकार अनायाससिद्ध - स्वल्पपरिश्रमसाध्य भी सम्पूर्ण कर्मों के समर्पणरूप मेरे भजन के होने पर शुभ और अशुभ = इष्ट और अनिष्ट फल हैं जिनके उन कर्मबन्धनों से अर्थात् बन्धनरूप कर्मों से तुम मुक्त हो जाओगे । कारण कि वे कर्म मुझको समर्पित होने से तुम्हारा उन कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, अत: कर्म और उनके फलों से तुम्हारा संसर्ग नहीं होगा । उससे संन्यासयोगयुक्तात्मा = संन्यास अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का भगवान् को समर्पण करना, वही योग के समान चित्तशोधक होने से योग है उससे युक्त = शोधित आत्मा = अन्तःकरण है जिसका वह तुम; अथवा सम्पूर्ण

---

३८. हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम कुन्ती के पुत्र हो । कुन्ती ने अपना सर्वस्व मुझको ही अर्पण कर समस्त दुःखों से मोक्ष प्राप्त किया था । तुम भी समस्त कर्म मुझको ही अर्पण कर इस संसाररूप दुःखमहार्णव से मुक्त हो जाओगे--ऐसा उत्साह देने के लिए ही भगवान् ने यहाँ 'कौन्तेय' कहकर अर्जुन को सम्बोधन किया है ।

ब्रह्मास्मीति । ततः प्रारब्धकर्मक्षयात्पतितेऽस्मिञ्छरीरे विदेहकैवल्यरूपं मामुपैष्यसि, इदानीमपि मद्रूपः सन्सर्वोपाधिनिवृत्त्या मायिकभेदव्यवहारविषयो न भविष्यसीत्यर्थः ॥ 28 ॥

65 यदि भक्तानेवानुगृह्णासि नाभक्तान्, ततो रागद्वेषवत्त्वेन कथं परमेश्वरः स्या इति नेत्याह --

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ 29 ॥

66 सर्वेषु प्राणिषु समस्तुल्योऽहं सद्रूपेण स्फुरणरूपेणाऽऽनन्दरूपेण च स्वाभाविकेनौपाधिकेन चान्तर्यामित्वेन । अतो न मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदस्ति सावित्रस्येव गगनमण्डलव्यापिनः प्रकाशस्य । तर्हि कथं भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यं तत्राऽऽह -- ये भजन्ति तु ये तु भजन्ति सेवन्ते मां सर्वकर्मसमर्पणरूपया भक्त्या । अभक्तापेक्षया भक्तानां विशेषद्योतनार्थस्तुशब्दः । कोऽसौ, मयि ते ये मदर्पितैर्निष्कामैः कर्मभिः शोधितान्तःकरणास्ते निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य सत्त्वोद्रेकेणातिस्वच्छस्यान्तःकरणस्य सदा मदाकारां वृत्तिमुपनि-

---

कर्मों का त्याग कर दिया है जिसने वह तुम जीवित रहते हुए ही समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सम्यक् ज्ञान से अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति द्वारा मुझको प्राप्त होओगे अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' - 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसा साक्षात्कार करोगे । उससे प्रारब्धकर्म का क्षय होने से इस शरीर के पतित - नष्ट होने पर विदेहकैवल्यरूप मुझको प्राप्त होओगे[39] । इस समय भी मद्स्वरूप होकर समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाने से मायिक भेदव्यवहार के विषय नहीं होओगे[40] - यह अर्थ है ॥ 28 ॥

65 यदि आप भक्तों पर ही अनुग्रह करते हैं, अभक्तों पर नहीं करते हैं, तो आप राग-द्वेषयुक्त होने से किस प्रकार परमेश्वर होंगे ? इस पर भगवान् कहते हैं, नहीं = ऐसा नहीं है, --

[मैं तो समस्त प्राणियों के प्रति समान हूँ, मेरा न कोई द्वेष्य-द्वेषपात्र = अप्रिय है और न प्रिय है । जो तो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मेरे में हैं और मैं भी उनमें हूँ ॥ 29 ॥

66 मैं स्वाभाविक सद्रूप से, स्फुरणरूप से और आनन्दरूप से तथा औपाधिक अन्तर्यामीरूप से समस्त प्राणियों में तुल्य हूँ । अतः मेरे द्वेष का विषय कोई नहीं है और न कोई प्रीति का विषय है, जैसे आकाशमण्डलव्यापी सूर्य के प्रकाश का कोई भी पदार्थ रागद्वेष का विषय नहीं है, सभी पदार्थ समान प्रकाश हैं उसी प्रकार मैं भी समान हूँ । तो फिर भक्त और अभक्त के फल में वैषम्य क्यों रहता है ? इस पर भगवान् कहते हैं -- 'ये भजन्ति तु' = जो तो भजते हैं अर्थात् जो तो सर्वकर्मसमर्पणरूपा भक्ति से मेरा भजन-सेवन करते हैं, अभक्तों की अपेक्षा भक्तों का विशेष-भेद बतलाने के लिए यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग है । वह विशेष क्या है ? -- वे मेरे में है = जो मुझको अर्पित निष्काम कर्मों से शोधित अन्तःकरण वाले हैं वे समस्त रजोगुण और तमोगुणरूप मल से रहित और सत्त्वगुण के उद्रेक से अत्यन्त स्वच्छ हुए अन्तःकरण की सदा मदाकारा वृत्ति को उपनिषद्-प्रमाण से उत्पन्न करते हुए मुझमें ही रहते हैं । और मैं भी उनकी अत्यन्त स्वच्छ चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित

---

39. अभिप्राय यह है कि मुझको अर्थात् 'सर्वप्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमात्मानम्' = सर्वप्रपञ्चरहित शिवस्वरूप नित्य-शुद्ध-मुक्त शान्त अद्वय मुझको अर्थात् विदेहकैवल्यरूप मुझको प्राप्त होओगे ।

40. भाव यह है कि इस समय भी तुम मद्रूप हो अर्थात् मैं जिस प्रकार नित्यमुक्त हूँ उसी प्रकार तुम भी स्वरूप से नित्यमुक्त हो । अतः तुम समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाने से मायिक भेद्व्यवहार के विषय नहीं होओगे ।

षन्मानेनोत्पादयन्तो मयि वर्तन्ते । अहमप्यतिस्वच्छायां तदीयचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्तेषु वर्ते । चकारोऽवधारणार्थस्त एव मयि तेष्वेवाहमिति । स्वच्छस्य हि द्रव्यस्यायमेव स्वभावो येन सम्बध्यते तदाकारं गृह्णातीति । स्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति । तथाऽस्वच्छद्रव्यस्याप्येष एव स्वभावो यत्स्वसंबद्धस्याप्याकारं न गृह्णातीति । अस्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति । यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ । तावता न दर्पणे रज्यति न वा द्वेष्टि घटम् । एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचित्, न वा द्वेष्मि कंचित्, सामग्रीमर्यादया जायमानस्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात् । वह्निवत्कल्पतरुवच्चावैषम्यं व्याख्येयम् ॥ 29 ॥

67 किं च मद्भक्तेरेवायं महिमा यत्समेऽपि वैषम्यमापादयति, शृणु तन्महिमानम् –

होकर उनमें रहता हूँ । यहाँ 'च'कार अवधारणार्थ-निश्चयार्थ है अर्थात् वे भी मेरे में है और मैं भी उनमें हूँ । स्वच्छ द्रव्य का यही स्वभाव है -- जिससे उसका सम्बन्ध होता है वह उसके आकार को ग्रहण कर लेता है, और स्वच्छ द्रव्य से सम्बद्ध वस्तु का यही स्वभाव है -- जो वह उसमें प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित होती है । इसी प्रकार अस्वच्छ द्रव्य का भी यही स्वभाव है -- जो वह अपने से सम्बद्ध वस्तु के आकार को ग्रहण नहीं करता है, और अस्वच्छ द्रव्य से सम्बद्ध वस्तु का यही स्वभाव है -- जो वह उसमें प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित नहीं होती है । जैसे सर्वत्र विद्यमान होने पर भी सूर्य का प्रकाश स्वच्छ दर्पणादि में ही अभिव्यक्त होता है, अस्वच्छ घटादि में नहीं । इससे उसका दर्पण में राग अथवा घट में द्वेष नहीं होता । इसीप्रकार सर्वत्र समान होने पर भी भक्त के स्वच्छ चित्त में अभिव्यक्त होने से और अभक्त के अस्वच्छ चित्त में अभिव्यक्त न होने से मेरा कहीं राग नहीं होता और न किसी से द्वेष होता है, क्योंकि सामग्री की मर्यादा से जायमान = उत्पन्न होनेवाले कार्य के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता । अग्नि और कल्पवृक्ष के समान भगवान् में वैषम्य नहीं है[41] -- यह व्याख्या कर लेनी चाहिए ॥ 29 ॥

67 इसके अतिरिक्त मेरी भक्ति की ही यह महिमा है जो कि वह समरूप होने पर भी मुझमें वैषम्य का आपादन कर देती है अर्थात् समरूप भी मुझमें वैषम्य उत्पन्न कर देती है । उसकी महिमा को सुनो :--

41. अग्नि और कल्पवृक्ष के समान भगवान् में वैषम्य नहीं है । अग्नि से प्रकाश और दाह -- दोनों होते हैं, क्योंकि उसका उभयस्वभाव है, उसका किसी से राग-द्वेष नहीं है । अग्नि का उचित प्रयोग करने से सुख होता है और अनुचित प्रयोग करने से दु:ख होता है । जो अग्नि का सेवन करता है, अग्नि अपने सेवक के अन्धकार, शीत आदि का निवारण करता है, उसको सुख प्रदान करता है और जो अग्नि से दूर रहता है अग्नि उसके अन्धकार, शीत आदि का निवारण नहीं करता है । उसी प्रकार जो भगवान् की शरण में रहते हैं वे उनके अनुग्रह के पात्र होते हैं और जो उनसे दूर रहते हैं वे उनके अनुग्रह से वंचित रहते हैं । इसीप्रकार कल्पवृक्ष है । कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जो मनोरथ किया जाता है वही प्राप्त होता है, चाहे मनोरथ अच्छा है या बुरा है । कारण कि कल्पवृक्ष का स्वभाव ही है – मनोरथ सिद्ध करना । उसका किसी से राग-द्वेष नहीं होता है । फल तो उचितानुचित प्रयोग पर निर्भर करता है । जो कल्पवृक्ष का पादसेवन करता है वह मनोरथ प्राप्त करता है, जो उसका पादवेसन नहीं करता है वह मनोरथ प्राप्त नहीं करता है । ऐसे ही जो भगवान् का भजन-सेवन करता है वह उनकी कृपा प्राप्त करता है और जो उनका भजन-सेवन नहीं करता है वह उनकी कृपा से वंचित रहता है । अतः भगवान् में वैषम्य नहीं है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ 30 ॥

68 **यः कश्चित्सुदुराचारोऽपि चेदजामिलादिरिवानन्यभाक्सन्मां भजते कुतश्चिद्भाग्योदयात्सेवते स प्रागसाधुरपि साधुरेव मन्तव्यः । हि यस्मात्सम्यग्व्यवसितः साधुनिश्चयवान्सः ॥ 30 ॥**

69 **अस्मादेव सम्यग्व्यवसायात्स हित्वा दुराचारताम् –**

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ 31 ॥

70 **चिरकालमधर्मात्माऽपि मद्भजनमहिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति धर्मात्मा धर्मानुगतचित्तो दुराचारत्वं झटित्येव त्यक्त्वा सदाचारो भवतीत्यर्थः । किं च शश्वन्नित्यं शान्तिं विषयभोगस्पृहानिवृत्तिं निगच्छति नितरां प्राप्नोत्यतिनिर्वेदात् ।**

71 **कश्चित्त्वद्भक्तः प्रागभ्यस्तं दुराचारत्वमत्यजन्न भवेदपि धर्मात्मा, तथा च स नश्येदेवेति नेत्याह भक्तानुकम्पापरवशतया कुपित इव भगवान् – नैतदाश्चर्यं मन्वीथा हे कौन्तेय निश्चितमेवेदृशं मद्भक्तेर्माहात्म्यम् । अतो विप्रतिपन्नानां पुरस्तादपि त्वं प्रतिजानीहि सावज्ञं सगर्वं च प्रतिज्ञां कुरु**

[यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझको भजता है तो उसको साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह सम्यक्-यथार्थ निश्चयवाला है ॥ 30 ॥]

68 अपि चेत्[42] = यदि जो कोई अतिशय दुराचारी भी अजामिल आदि के समान अनन्य भावयुक्त -- शरणागत होकर मेरा भजन करता है अर्थात् किसी प्रकार भाग्योदय होने से मेरी सेवा करता है तो वह पहले असाधु होने पर भी साधु ही समझा जाने योग्य है, क्योंकि वह सम्यक्-व्यवसित = साधु -- शुभ निश्चयवाला है ॥ 30 ॥

69 इसी सम्यक् निश्चय के कारण वह दुराचारता को त्यागकर --
[शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शश्वत् = निरन्तर शान्ति को प्राप्त होता है । हे कौन्तेय ! तुम प्रतिज्ञा करो अर्थात् निश्चयपूर्वक सत्य जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है ॥ 31 ॥]

70 चिरकाल से अधर्मात्मा होने पर भी मेरे भजन की महिमा से क्षिप्र = शीघ्र ही धर्मात्मा = धर्मपरायणचित्तवाला हो जाता है अर्थात् दुराचारत्व को शीघ्र ही त्यागकर सदाचारी हो जाता है । इसके अतिरिक्त शश्वत् = नित्य शान्ति[43] = विषयभोगेच्छा की निवृत्ति को नितराम् -- एकदम प्राप्त होता है, क्योंकि उसमें अतिनिर्वेद = अतिवैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।

71 'यदि आपका कोई भक्त अपने पूर्व -- अभ्यस्त दुराचारत्व का त्याग न करता हुआ धर्मात्मा भी न हो, तो वह नष्ट ही होगा' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् भक्तों के प्रति अनुकम्पापरवश होने के कारण कुपितसे होकर कहते हैं -- नहीं, हे कौन्तेय ! इसमें तुम कोई आश्चर्य मत मानो, मेरी भक्ति का ऐसा महात्म्य निश्चित ही है । अतः विप्रतिपन्न = विवादशील

---

42. 'अपि चेत्' शब्द से यह सूचित किया है कि अतिशय दुराचारी व्यक्तियों को भगवान् में अनन्यभक्ति प्राप्त होना दुर्लभ है । पूर्वजन्म की अनेक सुकृतियों के फलस्वरूप ही ऐसा होना सम्भव है । इसमें अजामिल आदि दृष्टान्त हैं ।

43. आनन्दगिरि ने 'शश्वच्छान्तिम्' = 'नित्यशान्ति' का अर्थ किया है -- 'उपशमो दुराचारादुपरमः' अर्थात् 'दुराचार से उपराम' ।

न मे वासुदेवस्य भक्तोऽतिदुराचारोऽपि प्राणसंकटमापन्नोऽपि सुदुर्लभमयोग्यः सन्प्रार्थयमानोऽपि अतिमूढोऽशरणोऽपि न प्रणश्यति किं तु कृतार्थ एव भवतीति । दृष्टान्ताश्चाजामिलप्रह्लादध्रुवगजेन्द्रादयः प्रसिद्धा एव । शास्त्रं च – 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति ॥ 31 ॥

72 एवमागन्तुकदोषेण दुष्टानां भगवद्भक्तिप्रभावान्निस्तारमुक्त्वा स्वाभाविकदोषेण दुष्टानामपि तमाह-

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ 32 ॥

73 हि निश्चितं हे पार्थ मां व्यपाश्रित्य शरणमागत्य येऽपि स्युः पापयोनयोऽन्त्यजास्तिर्यञ्चो वा जातिदोषेण दुष्टाः । तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियो वैश्याः कृष्यादिमात्ररताः । तथा शूद्रा जातितोऽध्ययनाद्यभावेन च परमगत्ययोग्यास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । अपिशब्दात्प्रागुक्तदुराचारा अपि ॥ 32 ॥

74 एवं चेत् –

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ 33 ॥

पुरुषों के सामने तुम निश्चयपूर्वक सत्य जानो अर्थात् अवज्ञा और गर्व के साथ प्रतिज्ञा करो कि 'मुझ वासुदेव का भक्त अत्यन्त दुराचारी भी, प्राणसंकट प्राप्त भी, अत्यन्त अयोग्य भी सुदुर्लभ की प्रार्थना करता हुआ भी अतिमूढ़ और अशरण भी नष्ट नहीं होता है, किन्तु कृतार्थ ही होता है' । इसमें अजामिल, प्रह्लाद, ध्रुव, गजेन्द्र आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं । तथा 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्'='भगवान् वासुदेव के भक्तों का कहीं अशुभ नहीं होता है'-यह शास्त्र भी प्रमाण है ॥ 31 ॥

72 इसप्रकार आगन्तुक दोष से दूषित पुरुषों का भगवद्-भक्ति के प्रभाव से निस्तार कहकर स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुषों का भी निस्तार कहते हैं :--

[हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर जो पशु-पक्षी आदि पापयोनि हैं तथा जो स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परम-गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ 32 ॥]

73 हे पार्थ ! हे अर्जुन ! हि[44] = निश्चितम् = यह निश्चित है कि मेरा आश्रय लेकर = मेरी शरण में आकर जो भी पापयोनि हैं अर्थात् जातिदोष से दूषित अन्त्यज, तिर्यञ्च = पशु-पक्षी आदि हैं; तथा वेदाध्ययन आदि से शून्य होने के कारण निकृष्ट स्त्रियाँ, कृषि आदि में मात्र निरत -- रत वैश्य और जाति ही से अध्ययन आदि का अभाव रहने के कारण परमगति के अयोग्य शूद्र हैं, वे भी परमगति को प्राप्त होते हैं । 'अपि' शब्द से पूर्वोक्त दुराचारियों का भी संग्रह है ॥ 32 ॥

74 यदि ऐसा है तो --

[फिर पुण्यशील - सदाचारी और उत्तमयोनि में उत्पन्न हुए मेरे भक्त ब्राह्मण और राजर्षियों के विषय में तो कहना ही क्या है । अत: इस अनित्य और असुख लोक को पाकर मुझको ही भज अर्थात् मेरा ही भजन कर ॥ 33 ॥]

---

44. शाङ्करभाष्य में 'हि' शब्द 'क्योंकि' अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु यहाँ 'हि' शब्द का प्रसिद्धार्थ अथवा निश्चितार्थ में भी प्रयोग करके प्रकृत श्लोक की व्याख्या की जा सकती है । 'स्त्रियों में गोपी आदि, वैश्यों में तुलाधारादि, शूद्रों में विदुर आदि, तथा तिर्य्यग् जाति में जटायु आदि मेरे शरणागत होकर दिव्य गति को प्राप्त हुए थे -- यह शास्त्र में प्रसिद्ध है', यही सूचित करने के लिए 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ में प्रयुक्त हुआ है । अथवा 'हि' शब्द को निश्चितार्थ में ग्रहण करके कहा जा सकता है कि 'जो मुझको अनन्यभाव से भजते हैं वे क्रममुक्ति अथवा सद्योमुक्ति अवश्य प्राप्त करेंगे - यह निश्चित है' । मधुसूदन सरस्वती ने 'हि' शब्द को निश्चितार्थ में ग्रहण किया ही है ।

75 पुण्याः सदाचारा उत्तमयोनयश्च ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः सूक्ष्मवस्तुविवेकिनः क्षत्रिया मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वाच्यमत्र कस्यचिदपि संदेहाभावादित्यर्थः । यतो मद्भक्तेरीदृशो महिमाऽतो महता प्रयत्नेनेमं लोकं सर्वपुरुषार्थसाधनयोग्यमतिदुर्लभं च मनुष्यदेहमनित्यमाशुविनाशिनमसुखं गर्भवासाद्यनेकदुःखबहुलं लब्ध्वा यावदयं न नश्यति तावदतिशीघ्रमेव भजस्व मां शरणमाश्रयस्व, अनित्यत्वादसुखत्वाच्चास्य विलम्बं सुखार्थमुद्यमं च मा कार्षीस्त्वं च राजर्षिरतो मद्भजनेनाऽऽत्मानं सफलं कुरु । अन्यथा ह्येतादृशं जन्म निष्फलमेव ते स्यादित्यर्थः ॥ 33 ॥

76 भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ 34 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

77 राजभक्तस्यापि राजभृत्यस्य पुत्रादौ मनस्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्त इत्यत उक्तं 'मन्मना

---

75 पुण्यशील - सदाचारी और उत्तमयोनि में उत्पन्न हुए ब्राह्मण तथा राजर्षि = सूक्ष्मवस्तुविवेकी क्षत्रिय, जो मेरे भक्त हैं, परमगति को प्राप्त होते हैं -- इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं है, क्योंकि मेरी भक्ति की ऐसी ही महिमा है । अत: महान् प्रयत्न से इस लोक को अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनयोग्य और अत्यन्त दुर्लभ किन्तु अनित्य - आशुतरविनाशी और असुख - गर्भवासादि अनेक दु:खों की बहुलता से युक्त मनुष्यदेह को पाकर जब तक यह नष्ट नहीं होता तब तक अतिशीघ्र मेरा भजन करो -- मेरी शरण में आओ । यह देह अनित्य और असुख - सुखहीन है, अत: विलम्ब और सुख के लिए उद्योग मत करो । तुम राजर्षि हो, अत: मेरे भजन से अपने को सफल करो । अन्यथा तुम्हारा इसप्रकार का जन्म निष्फल ही होगा -- यह अभिप्राय है ॥ 33 ॥

76 भजन का प्रकार दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं :--
[तुम मेरे में मनवाले, मेरे भक्त और मेरा पूजन करने वाले होओ तथा मुझको ही नमस्कार करो । इस प्रकार मत्परायण होकर अर्थात् मेरी ही शरण में आकर और मेरे में ही चित्त लगाकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ॥ 34 ॥

77 राजभक्त भी राजभृत्य = राजा के सेवक का पुत्रादि में मन लगा रहता है, किन्तु वह पुत्र में मनवाला होने पर भी उसका भक्त नहीं होता -- इसी से कहा है कि 'मेरे में मनवाले और मेरे भक्त होओ'[45] । तथा मद्याजी[46] = मेरी ही पूजा करनेवाले होओ । मन, वाणी और शरीर से मुझ-

---

45. श्लोक में कहा है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो' अर्थात् 'मेरे में मनवाले और मेरे भक्त होओ' । यहाँ प्रश्न है कि 'मन्मना' होने से तो 'मद्भक्त' भी होगा, अत: श्लोक में 'मन्मना' और 'मद्भक्त' - इस शब्दों का प्रयोग करने से तो पुनरुक्ति - दोष है । उसका उत्तर है – नहीं, यहाँ पुनरुक्ति - दोष नहीं है, कारण कि राजा का सेवक राजभक्त होने पर भी उसके मन का ध्यान रखता है किन्तु उसके पुत्रादि में मनवाला होने पर भी पुत्रादि का भक्त नहीं होता है । अत: 'मन्मना' होने से 'मद्भक्त' होगा ही -- यह नहीं कहा जा सकता है । सभी बाह्य विषयों से मन को उपरत कर भगवान् में रखने से 'मन्मना' होता है और भगवान् को आत्मबुद्धि अर्थात् ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति से निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करने से 'मद्भक्त' होता है । अत: 'मन्मना' और 'मद्भक्त' होना पुनरुक्ति नहीं है ।

46. 'मद्याजी' शब्द का अर्थ यह है कि जब 'मन्मना' नहीं हो सको तो यज्ञादि क्रिया के द्वारा, अथवा बाह्य उपकरण -- धूप, दीप, नैवेद्यादि के द्वारा, अथवा वाक्य अर्थात् स्तुति के द्वारा, अथवा भावना के द्वारा सर्वात्मा

भव मद्भक्त' इति । तथा मद्याजी मत्पूजनशीलो मां नमस्कुरु मनोवाक्कायैः । एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणो मदेकशरणः सन्नात्मानमन्तःकरणं युक्त्वा मयि समाधाय मामेव परमानन्दघनं स्वप्रकाशं सर्वोपद्रवशून्यमभयमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥ 34 ॥

78 **श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः**
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः ॥
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम् ॥ 1 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ 9 ॥

को ही नमस्कार[47] करो । इसप्रकार मत्परायण = एकमात्र मेरी ही शरण होकर मेरे में ही आत्मा = अन्तःकरण-मन-चित्त को लगाकर = समाहित कर परमानन्दघन, स्वप्रकाश समस्त उपद्रवों से शून्य, अभय-मुझको ही प्राप्त होओगे[48] ।। 34 ।।

78 श्री गोविन्द के पदारविन्द - चरणारविन्द के मकरन्द-पराग-रस के आस्वाद से शुद्धाशय = शुद्धान्तःकरण जो हैं वे सहसा संसाररूपी सागर के पार उतरते हैं और पूर्णमहः = पूर्णज्योति अर्थात् पूर्णप्रकाश ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं । वे वेदान्तवाक्यों द्वारा परम श्रेय-कल्याण का निश्चय करते हैं और भ्रम का त्याग करते हैं तथा द्वैत को स्वप्न के समान जानते हैं और विमल-विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं ।। 1 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य -- विश्वेश्वरसरस्वती के श्रीपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त होता है ।

परमेश्वर मेरी ही पूजा करनेवाले होओ ।

47. 'नमस्कार' आत्मसमर्पण अथवा परिपूर्णदासत्वस्वीकार का लक्षण है । कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल भगवान् को समर्पण किये बिना यथार्थ नमस्कार नहीं होता है । जब 'मन्मना' नहीं हो सको, 'मद्याजी' भी नहीं हो सको तब 'वासुदेवः सर्वम्' -- ऐसी भावना के द्वारा भक्तिपूर्वक मन, वाणी, और शरीर से मुझको नमस्कार करो -- यह अर्थ है ।

48. इसप्रकार कभी ध्यान के द्वारा 'मन्मना' होकर, कभी भक्ति के द्वारा अर्थात् प्रेमपूर्वक मुझको स्मरण कर, कभी बाह्य उपकरण अथवा मानसिक भाव के द्वारा 'मद्याजी' होकर, अथवा कभी सर्वात्मा मुझको सर्वरूप में सर्वत्र नमस्कार कर मुझमें युक्त= चित्त को सदा समाहित कर और मत्परायण = एकमात्र मेरी ही शरण होकर प्रत्यगात्मस्वरूप = सर्वोपाधिशून्य शुद्धचैतन्यस्वरूप मुझको ही प्राप्त होओगे । घट भग्न होने से जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में मिलकर अभिन्नरूप से महाकाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार तुम जीवात्मा और परमात्मा का एकत्वानुभव कर ब्रह्माद्वैतभाव को प्राप्त होओगे । श्रुति भी कहती है -- " यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुण्डकोपनिषद्, 3.2.8) = "जैसे नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होकर अन्त में नामरूप का त्याग कर समुद्र में ही निमग्न हो जाती है अर्थात् समुद्र ही हो जाती है, उसी प्रकार विद्वान्= तत्त्वज्ञानी भी अविद्याकृत नाम और रूप से विमुक्त होकर परात्पर पुरुष को प्राप्त होता है अर्थात् परब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है ।

अथ दशमोऽध्यायः

1 **एवं सप्तमाष्टमनवमैस्तत्पदार्थस्य भगवतस्तत्त्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं च दर्शितम् । तस्य च विभूतयः सोपाधिकस्य ध्याने निरुपाधिकस्य ज्ञाने चोपायभूता रसोऽहमप्सु कौन्तेयेत्यादिना सप्तमे, अहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिना नवमे च संक्षेपेणोक्ताः । अथेदानीं तासां विस्तरो वक्तव्यो भगवतो ध्यानाय तत्त्वमपि दुर्विज्ञेयत्वात्पुनस्तस्य वक्तव्यं ज्ञानायेति दशमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथममर्जुनं प्रोत्साहयितुम् –**

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ 1 ॥

2 **भूय एव पुनरपि हे महाबाहो शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचः । यत्ते तुभ्यं प्रीयमाणाय मद्वचनादमृतपानादिव प्रीतिमनुभवते वक्ष्याम्यहं परमाप्तस्तव हितकाम्ययेष्टप्राप्तीच्छया ॥ 1 ॥**

---

1 इसप्रकार सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायों से 'तत्' – पदार्थ भगवान् के सोपाधिक और निरुपाधिक तत्त्व को दिखलाया है, तथा सोपाधिक के ध्यान में और निरुपाधिक के ज्ञान में उपायभूत उनकी विभूतियों को 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गीता, 7.8) इत्यादि से सप्तम अध्याय में और 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' (गीता, 9.16) इत्यादि से नवम अध्याय में संक्षेप से कहा गया है । अब भगवान् के ध्यान के लिए उन विभूतियों का विस्तार अवश्य वक्तव्य है, तत्त्व भी दुर्विज्ञेय होने से पुनः उसके ज्ञान के लिए अवश्य वक्तव्य है – इसलिए दशम अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें प्रथम अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान् कहते हैं :–

[श्रीभगवान् ने कहा – हे महाबाहो ! तुम पुनः भी मेरा यह परम – उत्कृष्ट वचन सुनो, जो कि मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुमसे हित की कामना से कहूँगा ॥ 1 ॥]

2 हे महाबाहो[1] ! हे अर्जुन ! भूय एव[2] = पुनरपि = पुनः भी मेरा यह परम[3] – उत्कृष्ट वचन सुनो[4],

---

1. महान्तौ युद्धादिस्वधर्मानुष्ठाने महत्परिचर्यायां वा कुशलौ बाहू यस्य हे महाबाहो' = युद्धादि स्वधर्मानुष्ठान में अथवा महापुरुषों की परिचर्या = सेवा करने में तुम्हारे दोनों बाहु = हाथ महान् अर्थात् कुशल हैं इसलिए तुम महाबाहु = महाशक्तिशाली हो – इसप्रकार अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए भगवान् ने 'हे महाबाहो !' – कहकर सम्बोधन किया है ।

2. यदि अर्जुन को ओर से यह शंका की जाती है कि भगवान् ने तो पहले ही तत्र-तत्र तत्त्वज्ञान का अनेक बार उपदेश किया ही है, पुनः वे उसी तत्त्वज्ञान को क्यों कह रहे हैं, तो इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यद्यपि तत्र-तत्र तत्त्वज्ञानोपदेश मैंने किया है तथापि वह तत्त्वज्ञान = ज्ञातव्य वस्तु परम सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय तथा सम्पूर्णरूप से व्यवहार का अविषय होने के कारण पुनः पुनः वक्तव्य है, अतएव मैं उसको भूय एव = पुनरपि अर्थात् पुनः भी तुमसे कह रहा हूँ ।

3. जिस वाक्य से निरतिशय वस्तु प्रकाशित हो उस वाक्य को परम = उत्कृष्ट – प्रकृष्ट अर्थात् प्रकृष्टवस्तु का प्रकाशरूप होने से परमात्मनिष्ठ वचन कहते हैं ।

4. यहाँ भगवान् अर्जुन को आत्मोक्त परम वचन के पुनः पुनः श्रवण और मनन के लिए उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि अर्जुन तत्त्वविद्या = ब्रह्मविद्या का अधिकारी है, कारण कि वह भगवद्वचन को सुनकर अमृतपान के समान आनन्द का अनुभव करता है, अर्जुन का भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम है, और फिर वह महाबाहु = महाशक्ति-

3 **प्राग्बहुधोक्तमेव किमर्थं पुनर्वक्ष्यसीत्यत आह –**

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ 2 ॥

4 **प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयं प्रभवनमुत्पत्तिमनेकविभूतिभिराविर्भावं वा सुरगणा इन्द्रादयो महर्षयश्च भृग्वादयः सर्वज्ञा अपि न मे विदुः । तेषां तदज्ञाने हेतुमाह – अहं हि यस्मात्सर्वेषां देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वेन च निमित्तत्वेनोपादानत्वेन चेति वाऽऽदिः कारणम् । अतो मद्विकारास्ते मत्प्रभावं न जानन्तीत्यर्थः ॥ 2 ॥**

5 **महाफलत्वाच्च कश्चिदेव भगवतः प्रभावं वेत्तीत्याह –**

जो कि परम आप्त – प्रामाणिक मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुमसे अर्थात् मेरे वचनों को सुनकर अमृतपान के समान प्रीति का अनुभव करनेवाले तुमसे तुम्हारे हित की कामना से = तुम्हारी इष्टप्राप्ति की इच्छा से कहूँगा ।। 1 ।।

3 पहले बहुत बार कहे हुए पदार्थों को ही पुन: क्यों कहेंगे ? इस शंका से कहते हैं :–
[हे अर्जुन ! मेरे प्रभव = प्रभाव को न देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सर्वश: = सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूँ ।। 2 ।।]

4 मेरे प्रभव[5] = प्रभाव अर्थात् प्रभुशक्ति के अतिशय को अथवा प्रभवन = उत्पत्ति अर्थात् अनेक विभूतियों से आविर्भाव को इन्द्रादि सुरगण = देवगण और भृगु आदि महर्षिगण सर्वज्ञ होने पर भी नहीं जानते हैं । उनके उस अज्ञान में हेतु = कारण कहते हैं – हि = यस्मात् = क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का सर्वश: = सब प्रकार से अर्थात् उत्पादकरूप से और बुद्धि आदि के प्रवर्तकरूप से अथवा निमित्तरूप से और उपादानरूप से आदि = कारण हूँ । अत: मेरे विकार = कार्य वे देवगण और महर्षिगण मेरे प्रभाव को नहीं जानते हैं[6] – यह अर्थ है ।। 2 ।।

5 महाफल[7] होने से कोई ही भगवान् के प्रभाव को जानता है – यह कहते हैं :–
[जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर = समस्त लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मर्त्यों अर्थात् मनुष्यों में संमोह से रहित हो सम्पूर्ण पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।। 3 ।।]

शाली है । जो गुरु के प्रति अतिशय श्रद्धा और प्रीति-प्रेम रखकर गुरु के परमात्मनिष्ठ वचनों का पुनः पुनः श्रवण-मनन कर अमृतपान के समान आनन्द का अनुभव करता है, और फिर शक्तिशाली होता है, बलहीन नहीं होता है – क्योंकि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' – इस श्रुतिवाक्य के अनुसार बलहीन तो आत्मज्ञान के लिए समर्थ ही नहीं होता, वह ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी होता है ।

5. प्रभव = प्र + भव = प्रकृष्ट भव अर्थात् प्रकृष्ट भव =ऐश्वर्य = वियदादि की सृष्टि के सामर्थ्य को 'प्रभव' कहते हैं; अथवा प्रकृष्ट भव अर्थात् अज = जन्मरहित के भी अनेक विभूतियों से आविर्भाव को 'प्रभव' कहते हैं ।

6. अभिप्राय यह है कि कार्य कारण को नहीं जान सकता है, इसलिए मेरे विकार = कार्य वे देवगण और महर्षिगण मेरे प्रभाव को नहीं जानते हैं । अनादि = सर्वकारण मैं ही उनको आत्मप्रभाव का ज्ञान करा सकता हूँ । जिसप्रकार पिता अपने जन्मादि के विषय में पुत्र को स्वयं नहीं बताता है तो पुत्र कभी भी पिता के जन्मादि के रहस्य को नहीं जान सकता है, उसीप्रकार मेरे अनुग्रह के बिना मुझको या मेरे प्रभाव को कोई भी नहीं जान सकता है । वेद में कहा है – 'को वा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आयातः, कुत इयं विसृष्टिरर्वागृदेवा:' = अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति किस कारण से हुई और किससे हुई – यह कौन जानता है और कौन इस विषय में पूर्णरूप से कहने में समर्थ है ? देवता भी समर्थ नहीं है, क्योंकि वे भी बाद में उत्पन्न हुए हैं ।

7. जिसकी प्राप्ति – अवगति के पश्चात् कुछ भी प्राप्य – ज्ञेय नहीं रहता वह 'महाफल' कहा जाता है ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ 3 ॥

6 **सर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिमनादित्वादजं जन्मशून्यं लोकानां महान्तमीश्वरं च मां यो वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येषु मध्येऽसंमूढः संमोहवर्जितः सर्वैः पापैर्मतिपूर्वकृतैरपि प्रमुच्यते प्रकर्षेण कारणोच्छेदात्तत्संस्काराभावरूपेण मुच्यते मुक्तो भवति ॥ 3 ॥**

7 **आत्मनो लोकमहेश्वरत्वं प्रपञ्चयति –**

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ 4 ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ 5 ॥

8 **बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थविवेकसामर्थ्यं, ज्ञानमात्मानात्मसर्वपदार्थावबोधः, असंमोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येषु कर्तव्येषु वाऽव्याकुलतया विवेकेन प्रवृत्तिः, क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा निर्विकारचित्तता, सत्यं प्रमाणेनावबुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणं, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो**

6 सर्वकारण होने से जिसका आदि = कारण विद्यमान नहीं है उस अनादि; अनादि होने से अज = जन्मशून्य और लोकों के महान् ईश्वर मुझको जो जानता है वह मर्त्यों = मनुष्यों में असंमूढ = संमोहवर्जित अर्थात् मोहशून्य हो बुद्धिपूर्वक किये हुए भी सभी पापों से प्रमुक्त हो जाता है अर्थात् प्र = प्रकर्ष से -- कारण के उच्छेद-नाश से तत्संस्काराभावरूप से अर्थात् पाप के संस्कारों के अभावरूप से मुक्त हो जाता है ॥ 3 ॥

7 अपने लोकमहेश्वरत्व का प्रपञ्च करते हैं :--
[बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दु:ख, भव = उत्पत्ति, भाव = सत्ता, अथवा अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, और अपयश – ये प्राणियों के पृथक्-पृथक् भाव मुझसे ही होते हैं ॥ 4-5 ॥]

8 अन्त:करण का सूक्ष्म वस्तुओं का विवेक – विवेचन करने का सामर्थ्य 'बुद्धि'[8] है । आत्म और अनात्म स्वरूप समस्त पदार्थों का बोध 'ज्ञान'[9] है । बोद्धव्य = जानने योग्य और कर्तव्य = करने योग्य विषयों के उपस्थित होने पर अव्याकुलता से विवेकपूर्वक प्रवृत्त होना 'असंमोह' है । आक्रुष्ट -- भर्त्सित -- निन्दित अथवा ताडित पुरुष की निर्विकारचित्तता 'क्षमा'[10] है । प्रमाण द्वारा जाने हुए विषय को उसीप्रकार कहना 'सत्य'[11] है । बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों से निवृत्त करना =

8. अन्तःकरण का सूक्ष्मादि अर्थात् सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थों का विवेचन करने का सामर्थ्य 'बुद्धि' है । ऐसे सामर्थ्यवान् पुरुष को ही बुद्धिमान् कहा जाता है ।

9. आत्मादि पदार्थों का अवबोध अर्थात् आत्म और अनात्म स्वरूप समस्त पदार्थों को जान लेना ' ज्ञान' है । ऐसे बोधवान् पुरुष को 'ज्ञानी' कहते हैं ।

10. अर्थात् किसी के द्वारा निन्दा किये जाने पर, अपशब्द का प्रयोग किये जाने पर अथवा पीटे जाने पर भी किसी पुरुष का निर्विकार चित्त रहना = उसके चित्त में विकार न होना 'क्षमा' है ।

11. किसी भी वस्तु को देखकर और सुनकर अपना जैसा अनुभव हुआ हो उसको उसीप्रकार दूसरे की बुद्धि में पहुँचाने के लिए जो वाक्य का उच्चारण किया जाता है वह 'सत्य' है ।

निवृत्तिः, शमोऽन्तःकरणस्य शमता, सुखं धर्मासाधारणकारणकमनुकूलवेदनीयं, दुःखमधर्मासाधारणकारणकं प्रतिकूलवेदनीयं, भव उत्पत्तिः, भावः सत्ताऽभावोऽसत्तेति वा । भयं च त्रासस्तद्विपरीतमभयम् । एव च, एकश्चकार उक्तसमुच्चयार्थः । अपरोऽनुक्ताबुद्ध्यज्ञानादिसमुच्चयार्थः । एवेत्येते सर्वलोकप्रसिद्धा एवेत्यर्थः । मत्त एव भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ 4 ॥

9 **अहिंसा प्राणिनां पीडाया निवृत्तिः । समता चित्तस्य रागद्वेषादिरहितावस्था । तुष्टिर्भोग्येष्वेतावताऽलमिति बुद्धिः । तपः शास्त्रीयमार्गेण कायेन्द्रियशोषणम् । दानं देशे काले श्रद्धया यथाशक्त्यर्थानां सत्पात्रे समर्पणम् । यशो धर्मनिमित्ता लोकश्लाघारूपा प्रसिद्धिः । अयशस्त्वधर्मनिमित्ता लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धिः । एते बुद्ध्यादयो भावाः कार्यविशेषाः सकारणकाः पृथग्विधा धर्माधर्मादिसाधनवैचित्र्येण नानाविधा भूतानां सर्वेषां प्राणिनां मत्तः परमेश्वरादेव भवन्ति नान्यस्मात्तस्मात्किं वाच्यं मम लोकमहेश्वरत्वमित्यर्थः ॥ 5 ॥**

हटाना 'दम' है । अन्त:करण की विषयों से शमता – शान्ति – निवृत्ति 'शम' है । धर्म जिसका असाधारण कारण है और जिसको सभी अपना अनुकूल समझते हैं वह 'सुख'[12] है । अधर्म जिसका असाधारण कारण है और जिसको सभी अपना प्रतिकूल समझते हैं वह 'दु:ख'[13] है । 'भव' = उत्पत्ति, 'भाव' = सत्ता, अथवा 'अभाव' = असत्ता है[14] । 'भय' त्रास को कहते हैं । भय से विपरीत 'अभय' है । श्लोक में 'भयं चाभयमेव च' -- इसप्रकार दो चकार और एक एवकार का प्रयोग हुआ है । उनमें एक चकार 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह: ----' इत्यादि से उक्त बुद्धि आदि समस्त भावों के समुच्चय के लिए है और दूसरा चकार श्लोक में अनुक्त अबुद्धि, अज्ञान आदि भावों के समुच्चय के लिए है तथा 'एव' शब्द 'ये समस्त भाव सर्वलोकप्रसिद्ध ही हैं' – इसप्रकार प्रसिद्धि अर्थ में व्यवहृत हुआ है । 'मत्त एव भवन्ति' -- इसप्रकार उत्तर श्लोक से अन्वय करने पर – ये उक्तानुक्त समस्त भाव मुझसे ही होते हैं ।। 4 ।।

9 प्राणियों की पीडा से निवृत्ति 'अहिंसा'[15] है । चित्त की राग-द्वेषादि से रहित अवस्था 'समता'[16] है । भोग्य पदार्थों में 'इतना बहुत है--इसप्रकार पर्याप्त बुद्धि रखना 'तुष्टि'[17] है । शास्त्रीय मार्ग से शरीर और इन्द्रियों को सुखाना 'तप' है । देश और काल के अनुसार श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति सत्पात्र को द्रव्य देना 'दान' है । धर्म के निमित्त से होनेवाली लोकश्लाघा = लोकप्रशंसारूप प्रसिद्धि 'यश'

---

12. अन्त:करण की अनुकूलवृत्तिविशेष से उत्पन्न आह्लाद 'सुख' है । सुख इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल-स्वभाव होता है । सुख में मुख और नेत्र खिल जाते हैं । वह विद्या, शान्ति, सन्तोष और धर्मविशेष से होता है ।

13. अन्त:करण की प्रतिकूलवृत्तिविशेष से उत्पन्न सन्ताप 'दु:ख' है । यह इष्ट के वियोग अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा प्रतिकूल-स्वभाव होता है । दु:ख में मुख मुरझा जाता है और दीनता आ जाती है । वह अधर्म-विशेष से होता है ।

14. प्रकृत श्लोक में मधुसूदन सरस्वती ने 'भवो भावो' और 'भवोऽभावो' -- इसप्रकार दो पाठों का विकल्प करके अर्थ किया है । ऐसा ही नीलकण्ठव्याख्या में किया गया है, जबकि भाष्यकार आदि ने 'भवोऽभावो' – मात्र एक पाठ स्वीकार किया है ।

15. शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीडा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है, इससे निवृत्ति – बचना या दूर रहना 'अहिंसा' है ।

16. मित्र, अमित्र आदि में समान व्यवहार करना 'समता' है ।

17. दैववश अथवा भाग्यवश प्राप्त वस्तुओं – विषयों में सन्तोष रखना 'तुष्टि है ।

10 इतश्चैतदेवम् –

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ 6 ॥

11 **महर्षयो वेदतदर्थद्रष्टारः सर्वज्ञा विद्यासंप्रदायप्रवर्तका भृग्वाद्याः सप्त पूर्वे सर्गाद्यकालाविर्भूताः । तथा च पुराणं –**

'भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ।
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥' इति ।

है । 'अयश'[18] = 'अपयश' तो अधर्म के निमित्त से होनेवाली लोकनिन्दारूप प्रसिद्धि है । ये बुद्धि आदि भाव = कार्यविशेष सकारणक हैं, अनेक प्रकार के हैं = धर्म, अधर्म आदि रूप साधनों की विचित्रता से नाना प्रकार के हैं । समस्त प्राणियों के ये पूर्वोक्त भाव मुझ परमेश्वर से ही होते हैं, अन्य से नहीं । अत: मेरे लोकमहेश्वरत्व के विषय में क्या कहना है[19] – यह अर्थ है ॥ 5 ॥

10 इस कारण से भी इसको ऐसा कहते हैं --
[जिनकी लोक में यह सम्पूर्ण प्रजा है वे पूर्ववर्ती सप्त महर्षि और चार मनु मेरा ही चिन्तन करनेवाले थे और मेरे ही संकल्प से उत्पन्न हुए थे ॥ 6 ॥]

11 वेद और वेदार्थ के द्रष्टा, सर्वज्ञ, विद्या-ज्ञानसम्प्रदाय के प्रवर्तक भृगु आदि सप्त महर्षि पूर्व में अर्थात् सर्ग के आदिकाल में आविर्भूत हुए हैं । जैसा कि पुराण का कथन है -- 'महातेजस्वी हिरण्यगर्भ भगवान् ने भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ – इन सात पुत्रों की मन से रचना की । ये सात ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं -- इसप्रकार पुराण में निश्चय किया गया है' (महाभारत, शान्तिपर्व, 208.5) ।
इसीप्रकार चार मनु 'सावर्ण'[20] नाम से प्रसिद्ध हैं । अथवा, भृगु आदि सप्त महर्षि और उनसे भी

18. यहाँ 'अयश' शब्द अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, अदम, अशम, हिंसा आदि विपरीत धर्मसमूह का उपलक्षण है ।

19. अभिप्राय यह है कि लोक में प्राणियों के अपने-अपने कर्मानुसार राजस, तामस और सात्त्विक भेद से अनेक प्रकार के भाव हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, असूया, अहंकार आदि राजस भाव है । अबुद्धि, अज्ञान, संमोह, अक्षमा, असत्य, हिंसा, अयश आदि तामस भाव हैं । बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, अहिंसा, यश आदि सात्त्विक भाव हैं । बन्धन के हेतुभूत राजस और तामस भाव मेरे भजन से शून्य प्राणियों के हैं तथा मोक्ष के साधनभूत सात्त्विक भाव मेरे भक्त मुमुक्षु प्राणियों के हैं । ये सभी भाव मुझसे ही होते हैं, अत: मैं ही सर्वलोकमहेश्वर हूँ, फलतः सभी प्राणी भोग अथवा मोक्ष के लिए मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं ।

20. 'सवर्णा' की सन्तति होने के कारण मनु की 'सावर्ण' संज्ञा है । विष्णुपुराण के अनुसार सावर्णसंज्ञक मनु चार हुए हैं – सावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि और रुद्रसावर्णि । ये क्रमशः अष्टम, नवम, एकादश और द्वादश मनु हैं ।

'सावर्णिस्तु मनुर्योऽसौ मैत्रेय भविता ततः ।
नवमो दक्षसावर्णिर्मैत्रेय भविता मनुः ॥
एकादशश्च भविता धर्मसावर्णिको मनुः ।
रुद्रपुत्रस्तु सावर्णो भविता द्वादशो मनुः ॥' (विष्णुपुराण)

किन्तु भागवतपुराण में अष्टम से लेकर चतुर्दश मनु तक – सात मनुओं की सावर्णसंज्ञा कही गई है ।

तथा चत्वारो मनवः सावर्णा इति प्रसिद्धाः । अथवा महर्षयः सप्त भृग्वाद्याः, तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकाद्याः महर्षयः । मनवस्तथा स्वायंभुवाद्याश्चतुर्दश मयि परमेश्वरे भावो भावना येषां ते मद्भावा मच्चिन्तनपरा मद्भावनावशादाविर्भूतमदीयज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः । मानसा मनसः संकल्पादेवोत्पन्ना न तु योनिजाः । अतो विशुद्धजन्मत्वेन सर्वप्राणिश्रेष्ठा मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनो जाताः सर्गाद्यकाले प्रादुर्भूताः । येषां महर्षीणां सप्तानां भृग्वादीनां चतुर्णां च सनकादीनां मनूनां च चतुर्दशानामस्मिँल्लोके जन्मना च विद्यया च संततिभूता इमा ब्राह्मणाद्याः सर्वाः प्रजाः ॥ 6 ॥

12 **एवं सोपाधिकस्य भगवतः प्रभावमुक्त्वा तज्ज्ञानफलमाह –**

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ 7 ॥

13 **एतां प्रागुक्तां बुद्ध्यादिमहर्ष्यादिरूपां विभूतिं विविधभावं तत्तद्रूपेणावस्थितिं योगं च तत्तदर्थनिर्मा-**

पूर्ववर्ती सनकादि[21] प्रथम चार महर्षि हैं । तथा स्वायंभुवादि[22] चौदह मनु हैं । इन सभी का मुझ परमेश्वर में भाव = भावना है, अत: ये मद्भाव अर्थात् मच्चिन्तनपर = मेरे चिन्तन में तत्पर रहनेवाले हैं । अर्थ यह है कि मेरी भावना के कारण इनमें मेरे ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का आविर्भाव हुआ है[23] । ये सभी हिरण्यगर्भ के मानस अर्थात् मन के संकल्प से ही उत्पन्न पुत्र हैं, न कि योनि से उत्पन्न हैं । अत: विशुद्ध जन्म होने से समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हैं, हिरण्यगर्भरूप मुझसे ही सर्ग के आदिकाल में उत्पन्न = प्रादुर्भूत हुए हैं । जिन भृगु आदि सात और सनकादि चार महर्षियों तथा चौदह मनुओं की इस लोक में जन्म और विद्या से यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा संततिभूत है ॥ 6 ।

12 इसप्रकार सोपाधिक भगवान् के प्रभाव को कहकर उसके ज्ञान का फल कहते हैं :--
[जो पुरुष मेरी इस विभूति को और योग को तत्त्व से जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है – इसमें सन्देह नहीं है ॥ 7 ॥]

13 इस प्रागुक्त बुद्धि आदि और महर्षि आदि रूप विभूति को अर्थात् तद्-तद् रूप से अवस्थित विविधभाव को तथा योग[24] को अर्थात् तद्-तद् अर्थनिर्माण के सामर्थ्यरूप मेरे परम ऐश्वर्य को जो तत्त्वत:[25] =

21. सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार -- ये प्रथम चार महर्षि हैं (द्रष्टव्य – भागवतपुराण, 3.12.4) ।

22. चौदह मनु हैं :-- स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि (भागवतपुराण – 8.13) ।

23. भक्त में भगवद्भाव = भगवद्भावना के कारण भगवदीय = वैष्णवी ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का आविर्भाव स्वाभाविक होता है, क्योंकि भक्त भगवद्भावना से भगवदीय होकर रहता है ।

24. 'योग' शब्द का अर्थ है – युक्ति = उपाय या अघटनघटनसामर्थ्य अर्थात् निष्क्रिय, निरवद्य, निर्गुण, असङ्ग, अद्वितीय होते हुए भी ब्रह्म जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है वह उसकी अघटनघटनपटीयसी अनिर्वचनीया मायाशक्ति के योग से ही सम्भव होता है, अत: ब्रह्म की माया ही 'योग' है, इसीलिए इसको 'योगमाया' भी कहते हैं । अथवा, योगैश्वर्यसामर्थ्य, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व इत्यादि जो योग से फल प्राप्त होते हैं उनको भी योगज होने के कारण 'योग' कहा जाता है । जिसके लेशमात्र सम्बन्ध से भृगु आदि महर्षि और मनु आदि प्रजापति प्रजा पर शासन करने में समर्थ होते हैं और सर्वज्ञ कहे जाते हैं ।

25. 'तत्त्वत:' शब्द का अर्थ है मायारूप उपाधि और उसके कार्य तथा मायारूप उपाधि से रहित परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानना ।

णसामर्थ्यं परमैश्वर्यमिति यावत् । मम यो वेत्ति तत्त्वतो यथावत्सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन योगेन सम्यग्ज्ञानस्थैर्यलक्षणेन समाधिना युज्यते नात्र संशयः प्रतिबन्धः कश्चित् ॥ 7 ॥

14 यादृशेन विभूतियोगयोर्ज्ञानेनाविकम्पयोगप्राप्तिस्तद्दर्शयति चतुर्भिः –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ 8 ॥

15 अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणमुपादानं निमित्तं च स्थितिनाशादि च सर्वं मत्त एव प्रवर्तते भवति । मयैवान्तर्यामिणा सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना प्रेर्यमाणं स्वस्वमर्यादामनतिक्रम्य सर्वं जगत्प्रवर्तते चेष्टत इति वा । इत्येवं मत्वा बुधा विवेकेनावगततत्त्वभावेन परामार्थतत्त्वग्रहणरूपेण प्रेम्णा समन्विताः सन्तो मां भजन्ते ॥ 8 ॥

16 प्रेमपूर्वकं भजनमेव विवृणोति –

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ 9 ॥

17 मयि भगवति चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । तथा मद्गता मां प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादयो येषां ते मद्गतप्राणा मद्भजननिमित्तचक्षुरादिव्यापारा मय्युपसंहृतसर्वकरणा वा । अथवा मद्गतप्राणा मद्भजनार्थजीवना मद्भजनातिरिक्तप्रयोजनशून्यजीवना इति यावत् । विद्वद्गोष्ठीषु परस्परमन्योन्यं

यथावत् जानता है वह अविकम्प = अप्रचलित -- निश्चल -- अचल योग से = सम्यक्-ज्ञान के स्थैर्यरूप समाधि से युक्त हो जाता है -- इसमें कोई संशय = प्रतिबन्ध नहीं है ॥ 7 ॥

14 जिसप्रकार के विभूति और योग के ज्ञान से अचल-योग की प्राप्ति होती है उसको चार श्लोकों से दिखलाते हैं :--

['मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही यह सब जगत् प्रवृत्त होता है' – ऐसा मानकर बुधजन भाव से युक्त हुए मुझ परमेश्वर को ही भजते हैं ॥ 8 ॥]

15 मैं वासुदेवसंज्ञक परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का प्रभव = उत्पत्तिकारण अर्थात् उपादान और निमित्त कारण हूँ । जगत् के स्थिति, नाश आदि -- सब मुझसे ही होते हैं । मुझ अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् से प्रेरित हुआ ही सारा जगत् अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करके प्रवृत्त होता है अर्थात् चेष्टा करता है । ऐसा मानकर ही बुधजन विवेक से अवगत तत्त्वभाव से परमार्थ तत्त्वग्रहणरूप प्रेम से समन्वित -- युक्त होते हुए मुझको भजते हैं ॥ 8 ॥

16 प्रेमपूर्वक भजन का ही विवरण करते हैं :--

[मुझमें चित्त-मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन विद्वद्गोष्ठियों में परस्पर मेरा ही बोधन कराते हुए तथा मेरा ही नित्य कथन करते हुए संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं ॥ 9 ॥]

17 मुझ भगवान् में चित्त है जिनका वे मच्चित्त = मुझमें चित्त लगानेवाले तथा मद्गत अर्थात् मुझको प्राप्त हैं प्राण अर्थात् चक्षु आदि जिनके वे मद्गतप्राण = मेरे भजन के निमित्त ही चक्षु आदि का

श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च मामेव बोधयन्तस्तत्त्वबुभुत्सुकथया ज्ञापयन्तः । तथा स्वशिष्येभ्यश्च मामेव कथयन्त उपदिशन्तश्च । मयि चित्तार्पणं तथा बाह्यकरणार्पणं तथा जीवनार्पणमेवं समानामन्योन्यं मद्बोधनं स्वन्यूनेभ्यश्च मदुपदेशनमित्येवंरूपं यन्मद्भजनं तेनैव तुष्यन्ति च, एतावतैव लब्धसर्वार्था वयमलमन्येन लब्धव्येनेत्येवंप्रत्ययरूपं संतोषं प्राप्नुवन्ति च । तेन संतोषेण रमन्ति च रमन्ते च प्रियसंगमेनेवोत्तमं सुखमनुभवन्ति च । तदुक्तं पतञ्जलिना - 'संतोषादनुत्तमः सुखलाभः' इति। उक्तं च पुराणे –

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ॥

तृष्णाक्षयः सन्तोषः ॥ 9 ॥

18 ये यथोक्तेन प्रकारेण भजन्ते माम् –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ 10 ॥

व्यापार करनेवाले, अथवा मुझमें ही समस्त करणों = इन्द्रियों का उपसंहार करनेवाले[26], अथवा मद्गतप्राण = मुझमें ही प्राणों को अर्पण करनेवाले अर्थात् मेरे भजन के लिए ही जीवन को अर्पण करनेवाले = मेरे भजन के अतिरिक्त जीवन को प्रयोजनशून्य समझनेवाले भक्तजन विद्वद्गोष्ठियों में परस्पर = अन्योन्य श्रुति और युक्तियों से मेरा ही बोधन कराते हुए अर्थात् तत्त्वबुभुत्सुओं की कथा से मेरा ही विज्ञापन करते हुए तथा अपने शिष्यों से मेरा ही कथन करते हुए अर्थात् मेरा ही उपदेश देते हुए – मुझमें चित्त का अर्पण, मुझमें ही बाह्य इन्द्रियों का अर्पण और मुझमें ही जीवन का अर्पण, इसीप्रकार समों में अन्योन्य – परस्पर मेरा ही बोधन तथा अपने से न्यून पुरुषों को मेरा ही उपदेश – एवंरूप जो मेरा भजन है उससे ही सन्तुष्ट होते हैं अर्थात् 'इतने से ही हमको सब पदार्थ प्राप्त हो गये, अब किसी अन्य प्राप्तव्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है' -- इसप्रकार के अनुभवरूप सन्तोष को प्राप्त करते हैं । तथा उस सन्तोष से रमण करते हैं अर्थात् प्रियसंगम के समान उत्तम सुख का अनुभव करते हैं । ऐसा ही पतञ्जलि ने कहा है -- 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः' (योगसूत्र, 2.42) = 'संतोष से अनुत्तम सुख[27] प्राप्त होता है' । पुराण में भी कहा है --

'लोक में जो कामसुख है और जो दिव्य महान् सुख है – वे तृष्णा के क्षय से प्राप्त होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है' । तृष्णा का क्षय ही 'संतोष' है ॥ 9 ॥

18 जो यथोक्त प्रकार से मुझको भजते हैं --

[उन सततयुक्त = सर्वदा मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझको भजनेवाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग = तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ 10 ॥]

---

26. अर्थात् जिनके चक्षु मेरे ही रूप को देखते हैं, श्रोत्र मेरी ही लीला का श्रवण करते हैं, जिह्वा मेरा ही गुणगान करती है, त्वचा मेरे ही चरणारविन्द का स्पर्श कर धन्य होती है और नासिका मुझको अर्पित चन्दनादि की ही गन्ध सूँघती है वे मद्गतप्राण = मद्गतेन्द्रिय हैं ।

27. अनुत्तम सुख = उत्तम से उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढ़कर कोई और सुख न हो । संतोष में जब पूरी स्थिरता हो जाती है, तब तृष्णा का नितान्त क्षय हो जाता है । तृष्णारहित होने पर जो प्रसन्नता और सुख का अनुभव होता है, उसके एक अंश के बराबर भी बाह्य सुख नहीं होता । अत: संतोष से प्राप्त अनुत्तम सुख होता है ।

19 सततं सर्वदा युक्तानां भगवत्येकाग्रबुद्धीनाम् । अत एव लाभपूजाख्यात्याद्यनभिसंधाय प्रीतिपूर्वकमेव भजतां सेवमानानां तेषामविकम्पेन योगेनेति यः प्रागुक्तस्तं बुद्धियोगं मत्तत्त्वविषयं सम्यग्दर्शनं ददामि उत्पादयामि । येन बुद्धियोगेन मामीश्वरमात्मत्वेनोपयान्ति ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते ते ॥ 10 ॥

20 दीयमानस्य बुद्धियोगस्याऽऽत्मप्राप्तौ फले मध्यवर्तिनं व्यापारमाह –

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ 11 ॥

21 तेषामेव कथं श्रेयः स्यादित्यनुग्रहार्थमात्मभावस्थ आत्माकारान्तःकरणवृत्तौ विषयत्वेन स्थितोऽहं स्वप्रकाशचैतन्यानन्दाद्वयलक्षण आत्मा तेनैव मद्विषयान्तःकरणपरिणामरूपेण ज्ञानदीपेन दीप-

---

19 उन सततयुक्त = सर्वदा भगवान् में एकाग्रबुद्धि रखनेवाले अतएव लाभ, पूजा, ख्याति, आदि की अपेक्षा न कर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन -- सेवन ही करनेवाले भक्तों को मैं जो 'अविकम्पेन योगेन' इत्यादि से अचलयोग कहा है उस बुद्धियोग[28] को देता हूँ अर्थात् मत्-तत्त्वविषयक = मेरे तत्त्वविषयक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता हूँ। जिस बुद्धियोग से, जो मुझको मच्चित्तत्व आदि प्रकार से भजते हैं वे मुझ ईश्वर को आत्मरूप से प्राप्त होते हैं ॥ 10 ॥

20 दिये जानेवाले बुद्धियोग का आत्मप्राप्तिरूप फल में मध्यवर्ती व्यापार कहते हैं :--
[उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं उस आत्मभाव में स्थित होकर अर्थात् उनके अन्त:करण की आत्माकार वृत्ति में स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपक से अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट करता हूँ ॥ 11 ॥]

21 उनका ही कैसे कल्याण होगा -- यह अनुग्रह करने के लिए आत्मभावस्थ[29] अर्थात् आत्माकार अन्त:करणवृत्ति में विषयरूप से स्थित मैं स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्द और अद्वयरूप आत्मा उससे ही अर्थात् चिदाभासयुक्त अप्रतिबद्ध भास्वत -- प्रकाशमय मद्विषयक अन्त:करणपरिणामरूप ज्ञानदीप[30]

---

28. बुद्धियोग = यहाँ 'बुद्धि' का अर्थ है – भगवान् का तत्त्व अर्थात् उनके स्वरूप के विषय में सम्यग्-दर्शन अर्थात् परमेश्वरविषयक यथार्थज्ञान = तत्त्वज्ञान; और 'योग' का अर्थ है – उस तत्त्वज्ञान के साथ योग = संयोग, इसप्रकार 'तं बुद्धियोगं ददामि' का अर्थ है – 'मैं उस तत्त्वज्ञान के साथ संयोग करा देता हूँ अर्थात् उस परमेश्वरविषयक यथार्थज्ञान को बुद्धि में प्रकाशित कर देता हूँ'।

29. आत्मभावस्थ = यहाँ 'आत्मा' का अर्थ है -- अन्त:करण और 'भाव' का अर्थ है – आशय = वृत्ति, अत: 'आत्मभाव' का अर्थ है – अन्त:करणवृत्ति अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से जनित ब्रह्माकार – आत्माकार अन्त:करणवृत्ति अर्थात् मुझ स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्द और अद्वयरूप आत्मा को विषय बना कर अन्त:करण की जो आत्माकार – ब्रह्माकार वृत्तिविशेष उत्पन्न होती है उसको 'आत्मभाव' कहा जाता है। अन्त:करणवृत्तिमात्र जड़ है अतएव उसमें कोई स्वतंत्र व्यापार सम्भव नहीं है फलत: वह अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती है। शुद्धचैतन्यमात्र भी अज्ञान का नाशक नहीं होता है, कारण कि वह सर्वव्यापक और सर्वसाधारण है, फलत: वह भी किसी का नाशक नहीं हो सकता है। अतएव 'आत्मभावस्थ' अर्थात् अन्त:करणवृत्ति और शुद्धचैतन्य के मध्य ब्रह्माकारान्त:करणवृत्तिविशेष में चिदाभास = चित्स्वरूप मेरे आभास -- प्रतिबिम्ब-अभिमान से स्थित होकर मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ।

30. भास्वत ज्ञानदीप = ब्रह्माकार – आत्माकार अन्त:करणवृत्ति में चिदाभासयुक्त अप्रतिबद्ध भास्वत – प्रकाशमय ज्ञान उदित होता है उस भास्वत ज्ञानदीप से मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ। यह ज्ञान विवेकप्रत्ययरूप होता है। जो अन्त:करणवृत्ति देहादि से अव्यक्त तक – सम्पूर्ण अनात्मवर्ग से अतिरिक्त नित्य, सत्य आत्मवस्तु को विषय बनाती है वह 'विवेकप्रत्यय' कहा जाता है। यह विवेकप्रत्यय ही ज्ञानदीप है। चिदाभास से युक्त उस विवेकप्रत्यय

सदृशेन ज्ञानेन भास्वता चिदाभासयुक्तेनाप्रतिबद्धेनाज्ञानजमज्ञानोपादानकं तमो मिथ्याप्रत्यय-लक्षणं स्वविषयावरणमन्धकारं तदुपादानाज्ञाननाशेन नाशयामि सर्वभ्रमोपादानस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वादुपादाननाशनिवर्त्यत्वाच्चोपादेयस्य ।

22 **यथा दीपेनान्धकारे निवर्तनीये दीपोत्पत्तिमन्तरेण न कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च वस्तुनोऽभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्य कस्यचिदुत्पत्तिस्तथा ज्ञानेनाज्ञाने निवर्तनीये न ज्ञानोत्पत्तिमन्तरेणान्यस्य कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च ब्रह्मभावस्य मोक्षस्याभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्योत्पत्तिर्येन क्षयित्वं कर्मादिसापेक्षत्वं वा भवेदिति रूपकालंकारेण सूचितोऽर्थः । भास्वतेत्यनेन तीव्रपवनादेरिवासंभावनादेः प्रतिबन्धकस्याभावः सूचितः । ज्ञानस्य च दीपसाधर्म्यं स्वविषयावरणनिवर्तकत्वं स्वव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं स्वोत्पत्त्यतिरिक्तसहकार्यनपेक्षत्वमित्यादि रूपकबीजं द्रष्टव्यम् ॥ 11 ॥**

से = दीपसदृश ज्ञान से अज्ञानज = अज्ञानजनित-- अज्ञानोपादानक = अज्ञान है उपादान जिसका ऐसे तम = मिथ्याज्ञानरूप स्वविषयावरण अन्धकार को उसके उपादान अज्ञान के नाश से नष्ट करता हूँ, क्योंकि समस्त भ्रमों का उपादान कारण अज्ञान ज्ञान से निवर्त्य होता है और उपादान के नाश से उपादेय भ्रम निवर्त्य होता है ।

22 जिसप्रकार दीप से अन्धकार निवर्तनीय होने पर दीपोत्पत्ति से अतिरिक्त कर्म अथवा अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती और उससे विद्यमान वस्तुओं की ही अभिव्यक्ति होती है किसी अनुत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञान से अज्ञान निवर्तनीय होने पर ज्ञानोत्पत्ति से अतिरिक्त अन्य कर्म अथवा अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती और उससे विद्यमान ब्रह्मभाव मोक्ष की ही अभिव्यक्ति होती है किसी अनुत्पन्न की उत्पत्ति नहीं होती जिससे क्षयित्व अथवा कर्मादिसापेक्षत्व की शंका हो -- यह अर्थ रूपकालंकार[31] से सूचित किया गया है । 'भास्वता' -- इस विशेषण से तीव्र पवनादि के समान असंभावनादि प्रतिबन्धक का अभाव सूचित किया गया है[32] । अपने विषय के आवरण

का प्रवाह जब एकाग्रता और ध्यान के अभ्यास से निरन्तर अनवच्छिन्नरूप से चलता रहता है तब 'अहं ब्रह्मास्मि' -- इसप्रकार सम्यग्दर्शन का उदय होता है, उस सम्यग्दर्शनरूप दीप्ति से वह ज्ञानदीप अति भास्वत -- प्रकाशमय होता है । उसी भास्वत ज्ञानदीप से मैं अज्ञान को नष्ट करता हूँ । यह भास्वत ज्ञानदीप अनायास ही प्रकाशित नहीं होता है, इसके लिए प्रारम्भिक अनेक साधनों की आवश्यकता होती है । यह ज्ञानदीप सर्वप्रथम भक्ति के प्रसादरूप स्नेह-तेल से अभिषिक्त होता है, तदुपरान्त भगवद्भावना के अभिनिवेशरूप वात से प्रज्वलित होता है, ब्रह्मचर्य आदि साधनों के संस्कारों से युक्त प्रज्ञा उस ज्ञानदीप की बत्ती है, विषयों से विरक्त अन्तःकरण उस ज्ञानदीप का आधार है, विषयों से व्यावृत्त और राग-द्वेष से अकलुषित चित्त ज्ञानदीप का निवात-वायुरहित अपवारक -- ढकना है, तथा नित्य चित्त के एकाग्र और ध्यान में रहने से उत्पन्न जो सम्यग्दर्शनरूप 'भा' = दीप्ति है उससे वह ज्ञानदीप उद्भासित होता है ।

31. 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' (काव्यादर्श, 2.66) = यदि अतिशय सादृश्य बतलाने के लिए उपमान और उपमेय के भेद को छिपाकर दोनों में अभेद-सा कहा जाय तो उस सादृश्य को 'रूपक' अलंकार कहा जाता है । 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति है -- 'रूपयति एकतां नयति = उपमानोपमेये सादृश्यातिशयद्योतनद्वारा एकतां नयति इति रूपकम्' = उपमान और उपमेय के भिन्नस्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में अत्यन्त सादृश्य के प्रदर्शन के लिए काल्पनिक अभेद को कहना ही 'रूपक' है ।

32. जिसप्रकार पवनादिरूप प्रतिबन्धक का अभाव होने पर दीपक स्थिर रूप से जलता है उसीप्रकार असम्भावना आदि विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ज्ञानरूप दीपक प्रज्वलित होता है । अतएव 'भास्वत' -- इस विशेषण से दीप -- ज्ञानदीप के प्रतिबन्धक के अभाव को सूचित किया गया है ।

23 एवं भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा परमोत्कण्ठितः--

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ 12 ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ 13 ॥

24 परं ब्रह्म परं धाम, आश्रयः प्रकाशो वा, परमं पवित्रं पावनं च भवानेव । यतः पुरुषं परमात्मानं शाश्वतं सर्वदैकरूपं दिवि परमे व्योम्नि स्वस्वरूपे भवं दिव्यं सर्वप्रपञ्चातीतमादिं च सर्वकारणं देवं च द्योतनात्मकं स्वप्रकाशमादिदेवमत एवाजं विभुं सर्वगतं त्वामाहुरिति संबन्धः ॥ 12 ॥

25 आहुः कथयन्ति त्वामनन्तमहिमानमृषयस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाः सर्वे भृगुवसिष्ठादयः । तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलश्च धौम्यस्य ज्येष्ठो भ्राता, व्यासश्च भगवान्कृष्णद्वैपायनः । एतेऽपि त्वां पूर्वोक्तविशेषणं मे मह्यमाहुः साक्षात्किमन्यैर्वक्तृभिः स्वयमेव त्वं च मह्यं ब्रवीषि । अत्र ऋषित्वेऽपि साक्षाद्वक्तॄणां नारदादीनामतिविशिष्टत्वात्पृथग्ग्रहणम् ॥ 13 ॥

का निवर्तक होना, अपने व्यवहार में किसी अन्य सजातीय की अपेक्षा न रखना, स्वोत्पत्ति से अतिरिक्त अन्य किसी सहकारी की अपेक्षा न रखना -- इत्यादि ज्ञान और दीप का साधर्म्य[33] रूपक का बीज समझना चाहिए ।। 11 ।।

23 इसप्रकार भगवान् की विभूति और योग को सुनकर परम उत्कण्ठित हो अर्जुन ने कहा :--
[अर्जुन ने कहा -- आप परब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं । समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको परमात्मा, शाश्वत = सर्वदा एकरूप, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और विभु कहते हैं तथा स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं ।। 12-13 ।।]

24 परब्रह्म, परम धाम[34] = आश्रय अथवा प्रकाश और परम पवित्र अर्थात् पावन आप ही हैं, क्योंकि सब आपको ही पुरुष = परमात्मा, शाश्वत = सर्वदा एकरूप, दिव्य = द्युलोक में अर्थात् परमव्योम में स्वस्वरूप में स्थित अर्थात् सर्वप्रपञ्चातीत, आदि = सर्वकारण, देव = द्योतनात्मक स्वप्रकाश आदिदेव अतएव अज और विभु = सर्वगत कहते हैं -- यहाँ अग्रिम श्लोक के 'त्वामाहुः' – पद से सम्बन्ध है ।। 12 ।।]

25 भृगु, वसिष्ठ आदि सब तत्त्वज्ञाननिष्ठ ऋषि अनन्त महिमाशाली आप ही को कहते हैं तथा देवर्षि नारद, असित, देवल -- धौम्य के बड़े भाई, और व्यास -- भगवान् कृष्णद्वैपायन-- ये सब भी पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त आपको मुझसे कहते हैं, अन्य वक्ताओं से क्या-साक्षात् आप स्वयं ही मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं । ऋषि होने पर भी साक्षात् वक्ता नारदादि को अतिविशिष्ट होने के कारण यहाँ पृथक् ग्रहण किया गया है ।। 13 ।।

---

33. 'साधर्म्यं साधारणधर्मवत्त्वम्' = 'साधर्म्य' शब्द का अर्थ है -- समानधर्मवत्व अर्थात् दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का समान धर्मवाला होना ।

34. प्रकृत स्थल पर मधुसूदन सरस्वती ने 'धाम' शब्द को दो प्रकार के अर्थ में ग्रहण किया है – मिथ्या जगत् की दृष्टि से भगवान् सर्वभूत के परम धाम = आश्रय हैं और स्वस्वरूप की दृष्टि से भगवान्परम धाम = प्रकाश-तेज अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं । भाष्यकार ने भगवान् के स्वरूपमात्र के दृष्टिकोण से 'धाम' शब्द को मात्र 'तेज' अर्थ में ग्रहण किया है ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ 14 ॥

26 **सर्वमेतदुक्तमृषिभिश्च त्वया च तदृतं सत्यमेवाहं मन्ये यन्मां प्रति वदसि केशव । नहि त्वद्वचसि मम कुत्राप्यप्रामाण्यशङ्का, तच्च सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासीति केशौ ब्रह्मरुद्रौ सर्वेशावप्यनुकम्प्यतया वात्यवगच्छतीति व्युत्पत्तिमाश्रित्य निरतिशयैश्वर्यप्रतिपादकेन केशवपदेन सूचितम् । अतो यदुक्तं 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' इत्यादि तत्तथैव । हि यस्मात्, हे भगवन्समग्रैश्वर्यादिसंपन्न ते तव व्यक्तिं प्रभावं ज्ञानातिशयशालिनोऽपि देवा न विदुर्नापि दानवा न महर्षय इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ 14 ॥**

27 **यतस्त्वं तेषां सर्वेषामादिरशक्यज्ञानश्चातः –**

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ 15 ॥

28 **स्वयमेवान्योपदेशादिकमन्तरेणैव त्वमेवाऽऽत्मना स्वरूपेणाऽऽत्मानं निरुपाधिकं सोपाधिकं च, निरुपाधिकं प्रत्यक्त्वेनाविषयतया सोपाधिकं च निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिशक्तिमत्त्वेन वेत्थ जानासि**

[हे केशव ! आप मुझसे जो कुछ भी कहते हैं उस समस्त को मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि भगवन् ! आपके प्रभाव को न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं ।। 14 ।।]

26 यह सब जैसा ऋषियों ने कहा और आपने भी कहा सब सत्य है । हे केशव ! आप मुझसे जो कुछ भी कहते हैं उसको मैं सत्य ही मानता हूँ, आपके वचन में कहीं भी मुझको अप्रामाण्य की शङ्का नहीं रहती है, 'यह आप सर्वज्ञ होने के कारण जानते ही हैं' – यह 'कश्च ईशश्च केशौ ब्रह्मरुद्रौ सर्वेशावप्यनुकम्प्यतया वात्यवगच्छति' = 'क -- ब्रह्मा और ईश -- रुद्र -- ये दोनों सर्वेश्वर भी अपने को आपके ही अनुकम्प्य समझते हैं' -- इस व्युत्पत्ति का आश्रय ग्रहण कर निरतिशय ऐश्वर्य के प्रतिपादक 'केशव' पद से सूचित किया गया है । अत: आपने जो कहा है कि 'न मे विदु: सुरगणा प्रभवं न महर्षय:' -- वह ठीक ही है, हि = यस्मात् = क्योंकि हे भगवन्[35] = हे समग्रऐश्वर्यादिसम्पन्न ! आपकी व्यक्ति = प्रभाव को ज्ञानातिशयशील देवता भी नहीं जानते हैं, दानव भी नहीं जानते हैं, न महर्षिजन ही जानते हैं -- यह भी समझना चाहिए ।। 14 ।।

27 क्योंकि आप उन सबके आदि कारण हैं अतएव अशक्य ज्ञान हैं, इसलिए --
[हे भूतभावन = समस्त भूतों को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतेश = सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर, हे देवों के देव, हे जगत् के स्वामी अतएव हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपने से अपने को जानते हैं ।। 15 ।।]

28 स्वयं ही अर्थात् दूसरों के उपदेशादि के बिना ही आप ही आत्मना = अपने से अर्थात् स्वरूप से अपने को अर्थात् निरुपाधिक और सोपाधिक स्वरूप को = निरुपाधिक को तो प्रत्यक् चैतन्य होने के कारण अविषयरूप से और सोपाधिक को निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य आदि शक्तिमान्‌रूप से जानते

---

35. 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय: ।
वैराग्यस्य च ज्ञानस्य षण्णां भग इतीङ्गना ।।'
'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान – ये छ: 'भाग' कहलाते हैं' – जो इनसे युक्त हो उसको 'भगवान्' कहते हैं ।

नान्यः कश्चित् । अन्यैर्ज्ञातुमशक्यमहं कथं जानीयामित्याशङ्कामपनुदन्प्रेमौत्कण्ठ्येन बहुधा संबोधयति हे पुरुषोत्तम त्वदपेक्षया सर्वेऽपि पुरुषा अपकृष्टा एव । अतस्तेषामशक्यं सर्वोत्तमस्य तव शक्यमेवेत्यभिप्रायः । पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति पुनश्चतुर्भिः संबोधनैः – भूतानि सर्वाणि भावयत्युत्पादयतीति हे भूतभावन सर्वभूतपितः । पिताऽपि कश्चिन्नेष्टस्तत्राऽऽह हे भूतेश सर्वभूतनियन्तः । नियन्ताऽपि कश्चिन्नाऽऽराध्यस्तत्राऽऽह हे देवदेव देवानां सर्वाराध्यानामप्याराध्यः । आराध्योऽपि कश्चिन्न पालयितृत्वेन पतिस्तत्राऽऽह हे जगत्पते हिताहितोपदेशकवेदप्रणेतृत्वेन सर्वस्य जगतः पालयितः । एतादृशसर्वविशेषणविशिष्टस्त्वं सर्वेषां पिता सर्वेषां गुरुः सर्वेषां राजाऽतः सर्वैः प्रकारैः सर्वेषामाराध्य इति किं वाच्यं पुरुषोत्तमत्वं तवेति भावः ॥ 15 ॥

29 यस्मादन्येषां सर्वेषां ज्ञातुमशक्या अवश्यं ज्ञातव्याश्च तव विभूतयस्तस्मात् –

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ 16 ॥

30 याभिर्विभूतिभिरिमान्सर्वान् लोकान्व्याप्य त्वं तिष्ठसि तास्तवासाधारणा विभूतयो दिव्या असर्वज्ञैर्ज्ञातुमशक्या हि यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञस्त्वमेव ता अशेषेण वक्तुमर्हसि ॥ 16 ॥

31 किं प्रयोजनं तत्कथनस्य तदाह द्वाभ्याम् –

हैं, अन्य कोई नहीं जानता है । जो दूसरों के द्वारा नहीं जाना जा सकता उसको मैं कैसे जानूँगा -- इस आशङ्का को दूर करने के लिए अर्जुन प्रेम और उत्कण्ठापूर्वक अनेक प्रकार से सम्बोधन करते हैं :-- हे पुरुषोत्तम = आपकी अपेक्षा सभी पुरुष अपकृष्ट ही हैं, अत: उनके लिए जो अशक्य है वह आप सर्वोत्तम के लिए शक्य ही है -- यह अभिप्राय है । पुन: चार सम्बोधनों से पुरुषोत्तमत्व का ही विवरण करते हैं -- समस्त भूतों का आप भावन = उत्पादन करते हैं अत: हे भूतभावन ! समस्त भूतों के पिता आप हैं, पिता भी कोई इष्ट नहीं होता इसमें कहते हैं -- हे भूतेश अर्थात् सब भूतों के नियन्ता आप हैं, नियन्ता भी कोई आराध्य-सेव्य नहीं होता अत: कहते हैं -- हे देवदेव अर्थात् सर्वाराध्य देवताओं के भी आराध्य आप हैं, आराध्य भी कोई पालयिता भाव से पति नहीं होता इसलिए कहते हैं-- हे जगत्पते अर्थात् हिताहित के उपदेशक वेदों के प्रणेता होने से सम्पूर्ण जगत् के पालयिता आप ही हैं । इस प्रकार के सभी विशेषणों से विशिष्ट आप ही सबके पिता हैं, सबके गुरु हैं और सबके राजा हैं, अतः सब प्रकार से सबके आराध्य हैं -- इसप्रकार आपके पुरुषोत्तमत्व के विषय में क्या कहना है -- यह भाव है ।। 15 ।।

29 क्योंकि आपकी विभूतियाँ अन्य सभी के लिए जानने में अशक्य हैं किन्तु अवश्य ज्ञातव्य हैं, इसलिए --

[जिन विभूतियों से आप इन लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं उस समस्त अपनी दिव्य विभूतियों को आप ही पूर्णतया कहने के लिए योग्य हैं ।। 16 ।।]

30 जिन विभूतियों से आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं वे आपकी दिव्य असाधारण विभूतियाँ, हि = यस्मात् = क्योंकि असर्वज्ञों के लिए जानने में अशक्य हैं, अत: आप ही सर्वज्ञ उन सब विभूतियों को पूर्णतया कह सकते हैं ।। 16 ।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ 17 ॥

32 योगो निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिः सोऽस्यातीति हे योगिन्निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिशालिन्नहमतिस्थूलमतिस्त्वां देवादिभिरपि ज्ञातुमशक्यं कथं विद्यां जानीयां सदा परिचिन्तयन्सर्वदा ध्यायन् । ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायञ्ज्ञास्यसि तत्राऽऽह – केषु केषु च भावेषु चेतनाचेतनात्मकेषु वस्तुषु त्वद्विभूतिभूतेषु मया चिन्त्योऽसि हे भगवन् ॥ 17 ॥

33 अतः –

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ 18 ॥

34 आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणमैश्वर्यातिशयं विभूतिं च ध्यानालम्बनं विस्तरेण संक्षेपेण सप्तमे नवमे चोक्तमपि भूयः कथय सर्वैर्जनैरभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनं याच्यस इति हे जनार्दन । अत ममापि याञ्चा त्वय्युचितैव ।

---

31 उन विभूतियों को कहने का क्या प्रयोजन है -- यह दो श्लोकों से कहते हैं --
[हे योगिन् ! हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार सदा चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्त्य = चिन्तन करने योग्य हैं ॥ 17 ॥]

32 'योग' निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति है वह जिसमें है वे योगी आप हैं अत: हे योगिन् ! हे निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिशालिन् ! मैं अतिस्थूल बुद्धि हूँ, आप देवादि के लिए भी जानने में अशक्य हैं, अतः मैं किस प्रकार सदा -- सर्वदा चिन्तन करता हुआ अर्थात् ध्यान करता हुआ आपको जानूँ । यदि कहते हो कि मेरी विभूतियों में मेरा ध्यान करते हुए मुझको जान लोगे तो इसपर कहते हैं -- हे भगवन् ! आपके विभूतिभूत किन-किन भावों में अर्थात् किन-किन चेतन और अचेतनरूप वस्तुओं में आप मेरे द्वारा चिन्त्य हैं अर्थात् ध्येय हैं ॥ 17 ॥

33 अतः------
[हे जनार्दन ! आप अपनी योगशक्ति और परमैश्वर्यरूप विभूति को पुनः विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ 18 ॥]

34 आप सप्तम और नवम अध्यायों में संक्षेप से कहे हुए अपने योग = सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्वादिरूप ऐश्वर्यातिशय को और विभूति = ध्यान के आलम्बन को पुनः विस्तार से कहिये । सब जन अभ्युदय और निःश्रेयसरूप प्रयोजन की याचना आपसे ही करते हैं अतएव हे जनार्दन[36] ! -- यह सम्बोधन हुआ है । इसीलिए आपसे मेरी भी याचना उचित ही है ।

---

36. जनार्दन = 'अर्द गतौ याचने च'– इस धातुसूत्र के अनुसार 'जनार्दन' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति होती है । यदि 'अर्द्' धातु का 'गति' अर्थ में प्रयोग करते है तो 'असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वाज्जनार्दनः' अर्थात् जो देवप्रतिपक्षभूत असुरजनों की नरकादि गति का हेतु होते हैं वे 'जनार्दन' कहलाते हैं । अथवा, 'अर्द्' धातु का 'याचना' = 'प्रार्थना' अर्थ करने पर 'अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वैर्जनैः अर्द्यते याच्यते इति जनार्दनः' = अर्थात् सब जन अभ्युदय और निःश्रेयस – पुरुषार्थरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिनसे याचना करते हैं वे 'जनार्दन' कहलाते हैं ! भाष्यकार ने उक्त दोनों व्युत्पत्तियों को कहा है, किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ मात्र याचनार्थक व्युत्पत्ति को ग्रहण किया है, जो प्रसङ्गसंगत है, तदनुसार वे कहते भी है -- 'अतो ममापि याञ्चा त्वय्युचितैव' ।

35 उक्तस्य पुनः कथनं कुतो याचसे तत्राऽऽह – तृप्तिरलंप्रत्ययेनेच्छाविच्छित्तिर्नास्ति हि यस्माच्छृण्वतः श्रवणेन पिबतस्त्वद्वाक्यममृतममृतवत्पदे पदे स्वादु स्वादु। अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपह्नुत्यतिशयोक्तिरूपकसंकरोऽयं माधुर्यातिशयानुभवेनोत्कण्ठातिशयं व्यनक्ति ॥ 18 ॥

36 अत्रोत्तरम् –

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ 19 ॥

37 हन्तेत्यनुमतौ, यत्त्वया प्रार्थितं तत्करिष्यामि मा व्याकुलो भूरित्यर्जुनं समाश्वास्य तदेव कर्तुमारभते। कथयिष्यामि प्राधान्यतस्ता विभूतीर्या दिव्या हि प्रसिद्धा आत्मनो ममासाधारणा

---

35 उक्त के लिए पुनः कथन की याचना क्यों है ? इसका उत्तर कहते हैं -- हि = यस्मात् = क्योंकि पद-पद में अमृत के समान स्वादुयुक्त आपके वाक्यामृत को सुनते हुए -- श्रवणों से पीते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है अर्थात् 'अलं' प्रत्यय से इच्छा की विच्छित्ति -- निवृत्ति नहीं होती है। यहाँ 'त्वद्वाक्यम्' = 'आपका वाक्य' -- यह नहीं कहा गया है, अत: यह अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक अलंकारों का संकर[37] अतिशय माधुर्य के अनुभव से अतिशय उत्कण्ठा को व्यक्त करता है ।। 18 ।।

36 इसप्रकार अर्जुन के पूछने पर -- प्रार्थना करने पर भगवान् उत्तर देते हैं :--
[श्रीभगवान् ने कहा -- अच्छा, कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुमसे अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है ।। 19 ।।]

37 'हन्त'[38] -- यह अव्यय यहाँ 'अनुमति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अत: 'तुमने जिसके लिए

---

37. 'क्षीरनीरन्यायेन तु संकर:' (अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र 86) = क्षीर-नीर जैसा अलंकारो का मिश्रण 'संकर' अलंकार कहलाता है। प्रकृत स्थल में अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक – इन तीन अलंकारों का क्षीर-नीर के समान मिश्रण होने से 'संकर' अलंकार है। यहाँ 'त्वद्वाक्यम्' = 'आपका वाक्य' – इस प्रकृत अर्थात् वर्णनीय = उपमेय का अपह्नव किया गया है, 'यह आपका वाक्य नहीं, अमृत है' – इसप्रकार कहा गया है, अत: 'अपह्नुति' अलंकार है। जहाँ यदि उपमा कुछ-कुछ अपह्नव – छिपाई जाए तो उसको 'अपह्नुति' अलंकार कहते हैं (अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा – भामहकृत काव्यालंकार, 3.21)। यहाँ 'भगवान् के वाक्य' विषय – उपमेय का 'अमृत' – विषयी – उपमान ने निगरण कर लिया है, अत: 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार भी है। जहाँ उपमान उपमेय का निगरण कर उसके साथ अध्यवसान – अभेद स्थापित करे वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार होता है ('रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः' – कुवलयानन्द, कारिका 36)। 'भगवान् के वाक्यों की मधुरता ही अमृत है, अन्यत्र विद्यमान अमृत अमृत नहीं है' -- इसप्रकार यहाँ 'सापह्नवा अतिशयोक्ति' भी है। यदि अतिशयोक्ति अपह्नुति अलंकार से युक्त हो तो 'सापह्नवा अतिशयोक्ति' होती है ('यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता' – कुवलयानन्द, कारिका 37)। यहाँ वाक्य और अमृत के अपने-अपने स्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में ताद्रूप्य होने से अभेद का आरोप किया गया है, अत: 'रूपक' अलंकार है। इसप्रकार यहाँ अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक – इन तीनों में परस्पर सापेक्षभाव रहने से दूध और पानी के समान मिश्रण है, अत: 'संकर' अलंकार है।

38. हन्त = 'हन्तेत्यनुमतिं व्यावर्त्य जिज्ञासावच्छिन्नं कालं दर्शयति' (आनन्दगिरिटीका) = 'हन्त' – यह अव्यय अनुमति का व्यावर्तन करके जिज्ञासावच्छिन्न काल को दिखाता है, अत: 'हन्त' का अर्थ 'इदानीम्' = 'अब' भी है। श्रीधरस्वामी के अनुसार 'हन्त' – अव्यय अर्जुन के प्रति अनुकम्पाभाव प्रकट करने के लिए सम्बोधनरूप से प्रयुक्त हुआ है।

विभूतयो हे कुरुश्रेष्ठ, विस्तरेण तु कथनमशक्यं, यतो नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे विभूतीनाम् । अतः प्रधानभूताः काश्चिदेव विभूतीर्वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ 19 ॥

38 **तत्र प्रथमं तावन्मुख्यं चिन्तनीयं शृणु –**

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ 20 ॥

39 **सर्वभूतानामाशये हृद्देशेऽन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगात्मरूपेण च स्थित आत्मा चैतन्यानन्दघनस्त्वयाऽहं वासुदेव एवेति ध्येयः, हे गुडाकेश जितनिद्रेति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति । एवं ध्यानासामर्थ्ये तु वक्ष्यमाणानि ध्यानानि कार्याणि । तत्राप्यादौ ध्येयमाह – अहमेवाऽऽदिश्चोत्पत्तिर्भूतानां प्राणिनां चेतनत्वेन लोके व्यवह्रियमाणानां मध्यं च स्थितिरन्तश्च नाशः सर्वचेतनवर्गाणामुत्पत्तिस्थितिनाशरूपेण तत्कारणरूपेण चाहमेव ध्येय इत्यर्थः॥ 20 ॥**

प्रार्थना की है, वह मैं करूँगा, व्याकुल मत होओ' -- इसप्रकार अर्जुन को आश्वासन देकर भगवान् वही करना आरम्भ करते हैं । मैं प्रधानरूप से उन विभूतियों को कहूँगा जो दिव्य प्रसिद्ध मेरी असाधारण विभूतियाँ हैं । हे कुरुश्रेष्ठ[39] ! विस्तार से कहना तो अशक्य-असम्भव है, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है । अत: प्रधानभूत कुछ ही विभूतियों को कहूँगा – यह अर्थ है ॥ 19 ॥

38 उनमें पहले मुख्य चिन्त्य -- ध्येय को सुनो --
[हे गुडाकेश ! मैं समस्त प्राणियों के आशय -- अन्त:करण में अन्तर्यामिरूप से स्थित सबका आत्मा हूँ, मैं ही सम्पूर्ण भूतों -- प्राणियों -- जीवों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ ॥ 20 ॥]

39 हे गुडाकेश[40] ! हे जितनिद्र ! हे निद्रा को जीतनेवाले !, -- इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन के ध्यानसामर्थ्य को सूचित करते हैं, समस्त प्राणियों के आशय[41] -- हृद्देश -- हृदय में अन्तर्यामिरूप से और प्रत्यगात्मा[42] -- जीवरूप से स्थित आत्मा[43] = चैतन्य -- आनन्दघन मैं वासुदेव ही तुम्हारा ध्येय -- चिन्त्य हूँ[44] । इसप्रकार ध्यान करने का यदि सामर्थ्य न हो तो वक्ष्यमाण ध्यान करना चाहिए । उनमें भी पहले ध्येय को कहते हैं -- मैं ही सम्पूर्ण भूतों का अर्थात् लोक में चेतनरूप से व्यवहार किये जानेवाले प्राणियों का आदि = उत्पत्ति, मध्य = स्थिति और अन्त = नाश हूँ । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण चेतनवर्ग के उत्पत्ति, स्थिति और नाशरूप से तथा उनके कारणरूप से

---

39. हे कुरुश्रेष्ठ ! हे कुरुवंश में श्रेष्ठ ! – यह सम्बोधन अर्जुन के अधिकारित्व को सूचित करता है ।

40. गुडाकेश = 'गुडाका निद्रा तस्या ईश: गुडाकेशः' अर्थात् गुडाका = निद्रा, उसका ईश = प्रभु है जो वह गुडाकेश = जितनिद्र है । अथवा, **गुडाकेश: = घनकेशः अर्थात् गुडा = घन केश हैं जिसके वह 'गुडाकेश' है ।**

41. आशय = 'आशेरतेऽस्मिन्विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा इत्याशय:' अर्थात् जिसमें विद्या और कर्म से जन्य पूर्वप्रज्ञा आहित – स्थित रहती है उसको आशय = हृदय कहा जाता है ।

42. प्रत्यगात्मा = 'प्रतीपं विरुद्धं सुखदु:खादिकं अञ्जति विजानातीति प्रत्यक् स चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा' अर्थात् जो प्रतीप प्रतिकूल वेदनीय अपने स्वरूप से विपरीत सुखदु:खादि का अनुभव करता है वह आत्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है । यहाँ मधुसूदन सरस्वती ने जीवात्मा के लिए प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया है ।

43. आत्मा = अततीत्यात्मा व्यापक: ।

44. यहाँ उत्तम अधिकारी के दृष्टिकोण से भगवान् के निरुपाधिक स्वरूप को ध्येय कहा गया है ।

40 **एतदशक्तेन बाह्यानि ध्यानानि कार्याणीत्याह यावदध्यायसमाप्ति –**

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ 21 ॥

41 **आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं वामनावतारो वा । ज्योतिषां प्रकाशकानां मध्येऽहं रविरंशुमान्विश्वव्यापी प्रकाशकः । मरुतां सप्तसप्तकानां मध्ये मरीचिनामाऽहं, नक्षत्राणामधिपतिरहं शशी चन्द्रमाः । निर्धारणे षष्ठी । अत्र प्रायेण निर्धारणे षष्ठी । क्वचित्संबन्धेऽपि । यथा भूतानामस्मि चेतनेत्यादौ । वामनरामादयश्चावताराः सर्वेश्वर्यशालिनोऽप्यनेन रूपेण ध्यानविवक्षया विभूतिषु पठ्यन्ते । वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीति तेन रूपेण ध्यानविवक्षया स्वस्यापि स्वविभूतिमध्ये पाठवत् । अतः परं च प्रायेणायमध्यायः स्पष्टार्थ इति क्वचित्किंचिद्व्याख्यास्यामः ॥ 21 ॥**

मैं ही ध्येय = ध्यान के योग्य हूँ[45] ॥ 20 ॥

40 इसप्रकार ध्यान करने में भी जो अशक्त हो उसको बाह्य ध्यान करने चाहिए -- यह भगवान् अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं :--

[हे अर्जुन ! मैं आदित्यों में = अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु नामक आदित्य हूँ, ज्योतियों में = प्रकाशकों में अंशुमान् विश्वव्यापी प्रकाशक सूर्य मैं हूँ, मरुतों में मरीचि नामक मरुत् मैं हूँ और नक्षत्रों का अधिपति शशी -- चन्द्रमा भी मैं हूँ ॥ 21 ॥]

41 बारह आदित्यों[46] में विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ अथवा वामन अवतार मैं हूँ । ज्योतियों = प्रकाशकों के मध्य में अंशुमान् = विश्वव्यापी प्रकाशक सूर्य मैं हूँ । सप्तसप्तक = सात बार सप्तक[47] अर्थात् उनचास मरुतों में मरीचि नामक मरुत् मैं हूँ और नक्षत्रों में उनका अधिपति शशी = चन्द्रमा भी मैं हूँ । निर्धारण में षष्ठी विभक्ति होती है = जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा की विशेषता के आधार पर किसी एक का अपने समुदाय से पृथक् करना 'निर्धारण' कहलाता है, जिसमें से निर्धारण किया जाता है उसमें षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं[48] । यहाँ 'आदित्यानाम्' आदि पदों में

45. यहाँ भगवान् के सोपाधिक स्वरूप को ध्येय कहा गया है तथा 'अहमेव' शब्द से भगवान् को ही सर्वकारण, सर्वज्ञ और सर्वेश्वररूप से परम पुरुष कहा गया है, अन्य को नहीं ।

46. अदिति और कश्यप से उत्पन्न देवों के एक वर्ग का नाम 'आदित्य' है । ये संख्या में बारह हैं – धातृ, मित्र, अर्यमन्, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वत्, पूषन्, सवितृ, त्वष्टृ और विष्णु (महाभारत, 1.65.14-16) ।

47. ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के छियानवें सूक्त के आठवें मंत्र में मरुतों की संख्या तीन बार साठ-साठ अर्थात् एक सौ अस्सी कही गई है, किन्तु परवर्ती साहित्य में कहीं इनकी संख्या मात्र सात कही गई है – आवह, प्रवह, विवह, परावह, उद्वह, संवह और परिवह; कहीं सप्तसप्तक = सात बार सात-सात अर्थात् उनचास कही गयी है । वामन पुराण के उनहत्तरवें अध्याय में मरुतों को दिति के पुत्र कहा गया है । वामन पुराण के अनुसार इन्द्र ने दिति के जठर में प्रवेश कर वहाँ कटिन्यस्तकर, ऊर्ध्वमुख महान् बालक को देखा और अपने वज्र से उस दितिज गर्भ के सात टुकडे कर दिये, वह रोने लगा, तब इन्द्र ने कहा 'मूढ ! मा रुदस्व'= 'मूर्ख ! मत रो', इससे उसका नाम 'मरुत्' हो गया। ये मरुत् सात बार अर्थात् सात मन्वन्तर = स्वायम्भुवान्तर, स्वारोचिषान्तर, औत्तमान्तर, तामसान्तर, रैवतान्तर, चाक्षुषान्तर और वैवस्वतान्तर में सात-सात अर्थात् उनचास उत्पन्न हुए । रैवतान्तर में मरीचि आदि सात ऋषियों से जो मरुत् उत्पन्न हुए वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, अतः यहाँ भगवान् ने अपने को मरुतों में मरीचि कहा है ।

48. यतश्च निर्धारणम् (पाणिनिसूत्र, 2.3.41) । जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् (सिद्धान्तकौमुदी) ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ 22 ॥

42 **चतुर्णां वेदानां मध्ये गानमाधुर्येणातिरमणीयः सामवेदोऽहमस्मि । वासव इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः । इन्द्रियाणामेकादशानां प्रवर्तकं मनः, भूतानां सर्वप्राणिसंबन्धिनां परिणामानां मध्ये चिदभिव्यञ्जिका बुद्धेर्वृत्तिश्चेतनाऽहमस्मि ॥ 22 ॥**

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ 23 ॥

43 **रूद्राणामेकादशानां मध्ये शंकरः । वित्तेशो धनाध्यक्षः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षानां राक्षसानां च । वसूनामष्टानां पावकोऽग्निः । मेरुः सुमेरुः शिखरिणां शिखरवतामत्युच्छ्रितानां पर्वतानाम् ॥ 23 ॥**

प्राय: निर्धारण में षष्ठी हुई है । कहीं-कहीं सम्बन्ध में भी षष्ठी[49] हुई है, जैसे – 'भूतानामस्मि चेतना' = 'भूतसम्बन्धी चेतना मैं हूँ' इत्यादि में है । वामन, राम आदि अवतार सर्व-ऐश्वर्यशाली होने पर भी इस रूप से अर्थात् वामनादि रूप से ध्यान के लिए विवक्षित हैं, इसलिए ये विभूतियों में पढ़े गये हैं अर्थात् गिनाये गये हैं । जैसे 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' = 'वृष्णिवंशियों में वासुदेव मैं हूँ' -- इसमें उस रूप से अर्थात् वासुदेवरूप से ध्यानविवक्षा होने के कारण भगवान् ने अपने को भी अपनी विभूतियों में कहा है । इससे आगे यह अध्याय प्राय: स्पष्टार्थ ही है, अत: कहीं कुछ व्याख्या करेंगे ॥ 21 ॥

[मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में वासव = इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और प्राणियों की चेतना मैं ही हूँ ॥ 22 ॥]

42 ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद -- चारों वेदों में गान के माधुर्य से अतिरमणीय सामवेद मैं हूँ । देवों में वासव[50] = इन्द्र अर्थात् देवाधिपति मैं हूँ । ग्यारह इन्द्रियों में प्रवर्त्तक मन मैं हूँ । भूतों की = सब प्राणियों से सम्बन्ध रखनेवाले परिणामों के मध्य में चिद् की अभिव्यञ्जिका बुद्धि की वृत्तिरूप चेतना -- ज्ञानशक्ति मैं ही हूँ ॥ 22 ॥

[मैं रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसों में वित्तेश -- कुबेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि भी मैं हूँ और मैं ही पर्वतों में सुमेरु हूँ ॥ 23 ॥]

43 मैं ग्यारह रुद्रों[51] में शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसों में वित्तेश -- धनाध्यक्ष कुबेर मैं हूँ, आठ वसुओं[52] में पावक-अग्नि मैं हूँ तथा शिखरवाले अर्थात् अत्यन्त ऊँचे पर्वतों में मेरु = सुमेरु मैं ही हूँ ॥ 23 ॥

---

49. षष्ठी शेषे (पाणिनिसूत्र, 2.3.50) = कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध 'शेष' हैं । उस शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है अर्थात् सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी विभक्ति होती है ।

50. वसवो देवा:, वसूनि रत्नान्यास्य वा सन्ति । ज्योत्स्नादित्वात् (वार्तिक, 5.2.103) अण् । वासव: = इन्द्र: ।

51. देवों के एक वर्ग का नाम 'रुद्र' है । ये संख्या में ग्यारह हैं – वीरभद्र, शंभु, गिरीश, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, भवानीश, कपाली, दिक्पति और स्थाणु । इन ग्यारह रुद्रों का जो शम् = कल्याण करता है वह शङ्कर है । शङ्कर अर्थात् शंभु = जिससे शम् = कल्याण होता है वह शंभु है (शं भवत्यस्मादिति शंभु:) । यह शंभु अर्थात् शंङ्कर ही ग्यारह रुद्रों में सर्वश्रेष्ठ है, अत: भगवान् ही रुद्रों में शङ्कर हैं ।

52. देवों के एक वर्ग का नाम 'वसु' है । ये संख्या में आठ हैं – ध्रुव, अध्वर, आप, सोम, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास । इन आठ वसुओं में अतितेजस्वी अनल–पावकअग्नि है, अत: भगवान् वसुओं में अग्नि हैं ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ 24 ॥

44 **इन्द्रस्य सर्वराजश्रेष्ठत्वात्तत्पुरोधसं बृहस्पतिं सर्वेषां पुरोधसां राजपुरोहितानां मध्ये मुख्यं श्रेष्ठं मामेव हे पार्थ विद्धि जानीहि । सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दो गुहोऽहमस्मि । सरसां देवखातजलाशयानां मध्ये सागरः सगरपुत्रैः खातो जलाशयोऽहमस्मि ॥ 24 ॥**

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ 25 ॥

45 **महर्षीणां सप्तब्रह्मणां मध्ये भृगुरतितेजस्वित्वादहम् । गिरां वाचां पदलक्षणानां मध्य एकमक्षरं पदमोंकारोऽहमस्मि । यज्ञानां मध्ये जपयज्ञो हिंसादिदोषशून्यत्वेनात्यन्तशोधकोऽहमस्मि । स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमालयोऽहम् । शिखरवतां मध्ये हि मेरुरहमित्युक्तमतः स्थावरत्वेन शिखरवत्त्वेन चार्थभेदाददोषः ॥ 25 ॥**

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ 26 ॥

[हे पार्थ ! तुम मुझको पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति जानो । मैं सेनानियों में स्कन्द हूँ और जलाशयों में सागर मैं ही हूँ ॥ 24 ॥]

44 हे पार्थ ! इन्द्र सब राजाओं में श्रेष्ठ है, अत: इन्द्र का पुरोहित बृहस्पति, जो सब पुरोहितों = राजपुरोहितों में मुख्य -- श्रेष्ठ है, तुम मुझको ही जानो । सेनानियों अर्थात् सेनापतियों में देवसेनापति स्कन्द = गुह -- स्वामी कार्तिकेय मैं हूँ । जलाशयों = देवताओं के खोदे हुए जलाशयों में सागर = सगर के पुत्रों द्वारा खोदा हुआ जलाशय मैं हूँ ॥ 24 ॥

[मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में एक अक्षर अर्थात् ओंकार मैं ही हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ भी मैं हूँ और स्थावरों में हिमालय मैं ही हूँ ॥ 25 ॥]

45 महर्षियों में अर्थात् सप्त ब्रह्मर्षियों में = भरद्वाज, भृगु, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ -- इन सात ब्रह्मर्षियों में अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण भृगु मैं ही हूँ । गिरा = पदलक्षण वाणी में एक अक्षर-पद अर्थात् ओंकार भी मैं हूँ । यज्ञों में = श्रौत और स्मार्त -- सभी यज्ञों में हिंसादि दोषों से शून्य होने के कारण अत्यन्त शोधक जपयज्ञ मैं ही हूँ । स्थावरों = स्थितिवालों में हिमालय भी मैं ही हूँ । पूर्व में 'शिखरवालों में सुमेरु मैं हूँ' -- यह कहा गया है, अत: स्थावरत्व और शिखरवत्त्वरूप से अर्थ में भेद होने के कारण यहाँ कोई दोष नहीं है[53] ॥ 25 ॥

53. प्रकृतप्रसङ्ग में यह शंका हो सकती है कि पहले 'मेरु: शिखरिणामहम्' = 'शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ' (गीता, 10.23) – यह कह दिया गया है, पुन: यहाँ 'स्थावराणां हिमालय:' = 'स्थिर रहनेवाले पर्वतों में हिमालय मैं हूँ' – यह कहा गया है – इससे तो यहाँ पुनरुक्ति-दोष होता है । इसका समाधान यह है कि यहाँ कोई पुनरुक्ति- दोष नहीं है, क्योंकि पहले शिखरवाले पर्वतों में श्रेष्ठता की दृष्टि से सुमेरु का कथन किया गया है, यहाँ स्थितिवाले पर्वतों में श्रेष्ठता की दृष्टि से हिमालय का उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि पूर्वापर प्रसङ्ग में प्रतिपाद्य विषय भिन्न होने के कारण यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं है ।

46 सर्वेषां वृक्षाणां वनस्पतीनामन्येषां च । देवा एव सन्तो ये मन्त्रदर्शित्वेन ऋषित्वं प्राप्तास्ते देवर्षयस्ते षां मध्ये नारदोऽहमस्मि । गन्धर्वाणां गानधर्मणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽहमस्मि । सिद्धानां जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानामधिगतपरमार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥ 26 ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ 27 ॥

47 अश्वानां मध्य उच्चैःश्रवसममृतमथनोद्भवमश्वं मां विद्धि । ऐरावतं गजममृतमथनोद्भवं गजेन्द्राणां मध्ये मां विद्धि । नराणां च मध्ये नराधिपं राजानं मां विद्धीत्यनुषज्यते ॥ 27 ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ 28 ॥

48 आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं दधीचेरस्थिसंभवमस्त्रमहमस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां मध्ये कामं दोग्धीति कामधुक्, समुद्रमथनोद्भवा वसिष्ठस्य कामधेनुरहमस्मि । कामानां मध्ये प्रजनः प्रजनयिता पुत्रो-

[मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ हूँ और देवर्षियों में नारद हूँ । गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि भी मैं हूँ ।। 26 ।।]

46 सब वृक्षों और अन्य वनस्पतियों में अवत्थ मैं हूँ । देवता होते हुए जो मन्त्रदर्शी होने से ऋषित्व को प्राप्त हुए हैं वे 'देवर्षि' कहलाते हैं, उन देवर्षियों में नारद मैं हूँ । गन्धर्वों अर्थात् गानधर्मवाले देवगायकों में चित्ररथ भी मैं हूँ । सिद्धों में अर्थात् जन्म से ही विना प्रयत्न के धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के अतिशय को प्राप्त करने वालों में = परमार्थतत्त्व को जानने वालों में कपिल मुनि मैं ही हूँ ।। 26 ।।

[हे अर्जुन ! तुम मुझको घोड़ों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा, गजेन्द्रों -- गजराजों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा जानो ।। 27 ।।]

47 तुम घोड़ों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ उच्चै:श्रवा नामक घोड़ा मुझको ही जानो । गजेन्द्रों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ ऐरावत नामक गज भी तुम मुझको समझो । तथा नरों -- मनुष्यों में नराधिप -- राजा भी तुम मुझको ही जानो ।। 27 ।।

[आयुधों में वज्र मैं ही हूँ, दूध देनेवाली धेनुओं में कामधेनु भी मैं हूँ, प्रजनयिता कामदेव मैं ही हूँ और सर्पों में वासुकि भी मैं ही हूँ ।। 28 ।।]

48 आयुधों में अर्थात् अस्त्रों में वज्र अर्थात् महर्षि दधीचि की अस्थियों -- हड्डियों से संभव-उत्पन्न अस्त्र मैं हूँ । धेनुओं में अर्थात् दूध देनेवाली गौओं में जो काम -- अभीष्ट वस्तु का दोहन करती है वह कामधुक् अर्थात् समुद्रमन्थन के समय उत्पन्न हुई वसिष्ठ की कामधेनु मैं ही हूँ । कामों के मध्य में प्रजन -- प्रजनयिता अर्थात् पुत्रोत्पत्तिरूप प्रयोजनवाला जो कन्दर्प अर्थात् कामदेव है वह भी मैं ही हूँ । यहाँ चकार 'तु' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है जो रतिमात्र ही जिसका हेतु -- प्रयोजन है उस काम की व्यावृत्ति करता है । सर्प और नाग जातिभेद से भिन्न-भिन्न हैं[54], अत: उनमें से सर्पों के मध्य में उनका राजा वासुकि भी मैं ही हूँ ।। 28 ।।

54. सर्प एक ही मस्तकवाले होते हैं किन्तु नाग बहुमस्तक होते हैं । सभी सर्प विषयुक्त होते हैं किन्तु नागों के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है । नाग प्राय: निर्विष होते हैं किन्तु कभी-कभी तक्षक नाग जैसे कुछ नाग अत्यन्त विषयुक्त होते हैं ।

त्यत्यर्थो यः कंदर्पः कामः सोऽहमस्मि । चकारस्त्वर्थो रतिमात्रहेतुकामव्यावृत्त्यर्थः । सर्पाश्च नागाश्च जातिभेदाद्भिद्यन्ते । तत्र सर्पाणां मध्ये तेषां राजा वासुकिरहमस्मि ॥ 28 ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ 29 ॥

49 **नागानां जातिभेदानां मध्ये तेषां राजाऽनन्तश्च शेषाख्योऽहमस्मि । यादसां जलचराणां मध्ये तेषां राजा वरुणोऽहमस्मि । पितृणां मध्येऽर्यमा नाम पितृराजश्चाहस्मि । संयमतां संयमं धर्माधर्मफलदानेनानुग्रहं निग्रहं च कुर्वतां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ 29 ॥**

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ 30 ॥

50 **दैत्यानां दितिवंश्यानां मध्ये प्रकर्षेण ह्लादयत्यानन्दयति परमसात्त्विकत्वेन सर्वानिति प्रह्लादश्चास्मि। कलयतां संख्यानं गणनं कुर्वतां मध्ये कालोऽहम् । मृगेन्द्रः सिंहो मृगाणां पशूनां मध्येऽहम् । वैनतेयश्च पक्षिणां विनतापुत्रो गरुडः ॥ 30 ।**

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ 31 ॥

51 **पवतां पावयितृणां वेगवतां वा मध्ये पवनो वायुरहमस्मि । शस्त्रभृतां शस्त्रधारिणां युद्धकुशलानां मध्ये रामो दाशरथिरखिलराक्षसकुलक्षयकरः परमवीरोऽहमस्मि । साक्षात्स्वरूपस्याप्यनेन रूपेण**

[मैं नागों में अनन्त हूँ और जलचरों में वरुण हूँ । पितरों में अर्यमा मैं ही हूँ और संयम करनेवालों में यम भी मैं हूँ ।। 29 ।।]

49 जातिभेद से भिन्न नागों के मध्य में उनका राजा अनन्त अर्थात् 'शेष' नामक नाग = शेषनाग मैं हूँ । यादस = जलचरों के मध्य में उनका राजा वरुण मैं हूँ । पितरों में अर्यमा नामक पितृराज भी मैं ही हूँ । संयम करनेवालों में अर्थात् धर्माधर्म के अनुसार फलदान से अनुग्रह और निग्रह करने वालों में यमराज मैं ही हूँ ।। 29 ।।

[मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ और गिनती करनेवालों में काल-समय हूँ । मैं मृगों में सिंह हूँ और पक्षियों में वैनतेय – गरुड हूँ ।। 30 ।।]

50 दैत्यों में अर्थात् दिति के वंशियों में प्रह्लाद अर्थात् जो परम सात्त्विक होने के कारण प्रकर्ष से सबको ह्लादित -- आनन्दित करता है वह प्रह्लाद मैं ही हूँ । कलना – संख्या अर्थात् गणना करनेवालों के मध्य में विद्यमान काल मैं हूँ । मृगों – पशुओं के मध्य में मृगेन्द्र -- मृगराज सिंह भी मैं ही हूँ । पक्षियों में वैनतेय -- विनता का पुत्र गरुड मैं हूँ ।। 30 ।।

[मैं पवित्र करनेवालों में पवन-वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, मछलियों में मकर भी मैं हूँ और नदियों में जाह्नवी मैं ही हूँ ।। 31 ।।]

51 पवताम् = पवित्र करनेवालों अथवा वेगवालों में पवन -- वायु मैं हूँ । शस्त्रभृतों में अर्थात् शस्त्रधारियों में = युद्ध में कुशल पुरुषों में राम = अखिल राक्षसकुल का क्षय करनेवाला परमवीर दाशरथि --

चिन्तनार्थं वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीतिवदत्र पाठ इति प्रागुक्तम् । झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो नाम तज्जातिविशेषः । स्रोतसां वेगेन चलज्जलानां नदीनां मध्ये सर्वनदीश्रेष्ठा जाह्नवी गङ्गाऽहमस्मि ॥ 31 ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ 32 ॥

52 **सर्गाणामचेतनसृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं चोत्पत्तिस्थितिलया अहमेव हे अर्जुन । भूतानां जीवाविष्टानां चेतनत्वेन प्रसिद्धानामेवाऽऽदिरन्तश्च मध्यं चेत्युक्तमुपक्रमे, इह त्वचेतनसर्गाणामिति न पौनरुक्त्यम् । विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या मोक्षहेतुरात्मतत्त्वविद्याऽहम् । प्रवदतां प्रवदत्संबन्धिनां कथाभेदानां वादजल्पवितण्डात्मकानां मध्ये वादोऽहम् । भूतानामस्मि चेतनेत्यत्र यथा भूतशब्देन तत्संबन्धिनः परिणामा लक्षितास्तथेह प्रवदच्छब्देन तत्संबन्धिनः कथाभेदा लक्ष्यन्ते । अतो निर्धारणोपपत्तिः । यथाश्रुते तूभयत्रापि संबन्धे षष्ठी । तत्र तत्त्वबुभुत्स्वोर्वीतरागयोः सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा सपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्तत्त्वनिर्णयपर्यन्तो वादः । तदुक्तं 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' इति । वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य दुर्दुरूढवादिनि-**

दशरथ का पुत्र राम मैं ही हूँ । राम भगवान् के साक्षात् स्वरूप ही हैं – इस रूप से चिन्तन करने के लिए भी 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' = 'वृष्णिवंशियों में वासुदेव मैं हूँ' (गीता, 10.37) के समान यहाँ पाठ है – यह पहले भी कहा है । झषों में अर्थात् मत्स्यों – मछलियों में उनकी जातिविशेष का मकर नाम का मत्स्य मैं हूँ । स्रोतों अर्थात् वेग से चलते हुए जलवाली नदियों के मध्य में सर्वनदीश्रेष्ठ जाह्नवी – गंगा मैं ही हूँ ॥ 31 ॥

[हे अर्जुन ! मैं सर्गों – सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ, विद्याओं में अध्यात्मविद्या – ब्रह्मविद्या-आत्मतत्त्वविद्या मैं ही हूँ और परस्पर विवाद करनेवालों में वाद भी मैं ही हूँ ॥ 32 ॥]

52 हे अर्जुन ! सर्गों अर्थात् अचेतन सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय मैं ही हूँ । चेतनरूप से प्रसिद्ध जीवाविष्ट – जीवयुक्त भूतों = प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ – यह तो उपक्रम – आरम्भ में कह दिया है । यहाँ तो मात्र अचेतन सर्गों – सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त कहा है, अतः यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं है । विद्याओं के मध्य में अध्यात्मविद्या = मोक्ष की हेतु आत्मतत्त्वविद्या मैं ही हूँ । प्रवदताम् = विवाद करनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाले वाद, जल्प और वितण्डारूप कथाभेदों[55] में वाद भी मैं हूँ । 'भूतानामस्मि चेतना' – यहाँ जैसे 'भूत' शब्द से भूतसम्बन्धी परिणाम लक्षित हुए हैं वैसे ही 'प्रवदतामहं वादः' – यहाँ

---

55. कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः (तर्कभाषा) = कथा वह वाक्य-समुदाय है जो अनेक वक्ताओं के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करता है । यह कथामात्रनियम नहीं है जिससे कि बृहत्कथा आदि में अकथात्व होगा, अपितु विचारवस्तुनियम है जो अनेक वक्ताओं के विचार में वसता है । अतः कथा विचारविषयक वाक्यसमुदाय है । कथा में वक्ता या तो तत्त्वजिज्ञासु होते हैं अथवा विजिगीषु होते हैं । वाद, जल्प और वितण्डा – ये तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं । 'वाद' तत्त्वजिज्ञासु जनों की कथा है । जल्प और वितण्डा विजिगीषु जनों की कथा है ।

राकरणेन संरक्षणार्थं विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे जयपराजयमात्रपर्यन्ते । तदुक्तं 'तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्' इति । छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यत इति जल्पे वितण्डायां च समानम् । तत्र वितण्डायामेकेन स्वपक्षः स्थाप्यत एव, अन्येन च स दूष्यत एव । जल्पे तूभाभ्यामपि स्वपक्षः स्थाप्यत उभाभ्यामपि परपक्षो दूष्यत इति विशेषः । तदुक्तं 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' इति । अतो वितण्डाद्वयशरीरत्वाज्जल्पो नाम नैका कथा, किं तु शक्त्यतिशयज्ञानार्थं समयबन्धमात्रेण प्रवर्तत इति खण्डनकाराः । तत्त्वाध्यवसायपर्यवसायित्वेन तु वादस्य श्रेष्ठत्वमुक्तमेव ॥ 32 ॥

भी 'प्रवदत्' शब्द से तत्सम्बन्धी = विवाद करनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाले कथाभेद लक्षित होते हैं । इसी से निर्धारण की उपपत्ति होती है । यथाश्रुत में तो दोनों जगह सम्बन्ध में षष्ठी है । वाद, जल्प और वितण्डा में 'वाद' इसप्रकार है – दो तत्त्वबुभुत्सु-तत्त्वजिज्ञासु वीतराग पुरुषों अथवा सतीर्थ्य ब्रह्मचारियों अथवा गुरु और शिष्य के बीच जो तत्त्वनिर्णयपर्यन्त प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन -- स्थापना और दूषण – उपालम्भ-प्रतिषेधपूर्वक पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण होता है उसको 'वाद' कहते हैं । ऐसा ही कहा भी है -- 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:' (न्यायसूत्र, 1.2.1) = 'प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन – स्थापना और उपालम्भ – प्रतिषेधपूर्वक सिद्धान्त के अविरुद्ध, प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय और निगमन -- पाँच अवयवों से उपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण 'वाद' कहलाता है' । 'वाद' के फल तत्त्वनिर्णय के संरक्षण के लिए दुर्दुरूढवादी = अत्यन्त दुराग्रही वादी के निराकरण द्वारा जो विजिगीषु की जय-पराजयमात्रफलक कथाएँ हैं वे 'जल्प' और 'वितण्डा' कहलाती हैं । ऐसा कहा भी है – तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्' (न्यायसूत्र, 4.2.50) = 'तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए जल्प और वितण्डा का उपयोग उसीप्रकार किया जाता है जैसे बीज से उत्पन्न हुए अङ्कुर के संरक्षण के लिए काँटे वाली शाखाओं के प्रावरण का उपयोग किया जाता है' । छल[56], जाति[57] और निग्रहस्थान[58] के द्वारा परपक्ष को दूषित सिद्ध

---

56. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् (न्यायसूत्र, 1.2.10) = भिन्न अर्थ का ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है, उसको 'छल' कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है – वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल ।

57. साधर्म्यवैधर्माभ्यां प्रत्यवस्थानं जाति: (न्यायसूत्र, 1.2.18) = जब किसी के पक्ष का केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के बल पर खण्डनात्मक उत्तर दिया जाता है तब उस उत्तर को 'जाति' कहा जाता है । यह जाति चौबीस प्रकार की होती है ।

58. न्यायसूत्रकार ने निग्रहस्थान का लक्षण किया है -- विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् (न्यायसूत्र, 1.2.19) = विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति होना 'निग्रहस्थान' है । भाष्यकार ने कहा है – निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्ति: = पराजयप्राप्ति 'निग्रहस्थान' है । भाष्यकार के अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही तर्कभाषाकार ने कहा है – पराजयहेतु: निग्रहस्थानम् = पराजय प्राप्त होने में जो हेतु – निमित्त होता है वह 'निग्रहस्थान' है । वृत्तिकार विश्वनाथ ने 'निग्रहस्थान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है – निग्रहस्य खलीकारस्य स्थानं ज्ञापनं निग्रहस्थानम् = पराजय का ज्ञापन ही 'निग्रहस्थान' है । फलत: निग्रहस्थान पराजय का ज्ञापक हेतु है । जब कोई वादी या प्रतिवादी ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसको पराजित समझा जाने लगे उसको 'निग्रहस्थान' कहा जाता है । निग्रहस्थान बारह प्रकार के होते हैं ।

**अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ 33 ॥**

53 **अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽकारोऽहमस्मि । 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेस्तस्य श्रेष्ठत्वं प्रसिद्धम् । द्वंद्वः समास उभयपदार्थप्रधानः सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्येऽहमस्मि । पूर्व-**

करना जल्प और वितण्डा में समान है । जल्प और वितण्डा में से वितण्डा में एक के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना की जाती है और अन्य के द्वारा उसको दूषित ही सिद्ध किया जाता है । 'जल्प' में तो वादी और प्रतिवादी -- दोनों ही अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और दोनों ही परपक्ष को दूषित सिद्ध करते हैं – यही जल्प और वितण्डा में भेद है । ऐसा कहा भी है – 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' (न्यायसूत्र, 1.2.2-3) = 'यथोक्तोपपन्न[59] अर्थात् प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भपूर्वक सिद्धान्त के अविरुद्ध पञ्चावयव से उपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहण; छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा साधन – स्थापना और उपालम्भ -- प्रतिषेध करना 'जल्प' है[60]; वह (जल्प) ही प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन होता हुआ 'वितण्डा' कहा जाता है' । अतः 'वितण्डाद्वय शरीर होने से 'जल्प' न मात्र एक कथा है, किन्तु वह शक्ति के अतिशय ज्ञान के लिए समयबन्धमात्र से प्रवृत्त होता है' -- यह खण्डनकार का मत है । तत्त्वज्ञान में पर्यवसायी – समाप्त होनेवाला होने से तो 'वाद' की श्रेष्ठता कही ही गई है[61] ॥ 32 ॥

[मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व समास मैं हूँ, मास-संवत्सरादि क्षयशील कालों में अक्षय काल मैं ही हूँ और कर्मफल देनेवालों में विश्वतोमुख -- सर्वतोमुख धाता भी मैं ही हूँ ॥ 33 ॥]

53 अक्षरों में अर्थात् सब वर्णों में अकार मैं हूँ, क्योंकि श्रुति में उस अकार का श्रेष्ठत्व प्रसिद्ध है -- 'अकारो वै सर्वा वाक्' = 'अकार ही सम्पूर्ण वाणी है'[62] । सामासिक = समाससमूह के मध्य में

59. यहाँ जल्प के लक्षण में 'यथोक्तोपपन्न' जो कहा है उससे प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भपूर्वक सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्ष और प्रतिपक्ष के परिग्रहण की योग्यता से परामर्श किया है, अन्यथा जल्प में वादविशेषत्व = वाद का भेद होने की आपत्ति होगी । प्रमाण और तर्क के द्वारा उस रूप से ज्ञात को कहा गया है न कि ज्ञान में अनाहार्यत्व कहा गया है, क्योंकि जल्प आरोपित प्रमाणाभास में भी निर्वाह करता है ।

60. यहाँ यद्यपि छलादि के द्वारा परपक्ष का प्रतिषेध ही कहा गया है, न कि स्वपक्ष की स्थापना, तथापि 'साधनोपालम्भः' का 'साधनस्य परकीयानुमानस्य उपालम्भो यत्र' अर्थात् साधन = परकीयानुमान का प्रतिषेध जहाँ किया जाता है वह 'जल्प' है' – ऐसा अर्थ करने पर लक्षण में कोई दोष नहीं रहता है । कारण कि परपक्ष का प्रतिषेध होने पर स्वपक्ष की सिद्धि होती है और स्थापना में उसका उपयोग हो जाता है ।

61. अभिप्राय यह है कि वाद, जल्प और वितण्डा – इस कथात्रय में जल्प और वितण्डा विजिगीषु जनों की कथाएँ हैं, जबकि वाद तत्त्वजिज्ञासु जनों की कथा है । परिणामतः जल्प और वितण्डा में विजिगीषुजन अपनी-अपनी विजय की इच्छा से अपने-अपने पक्ष की सिद्धि में तत्पर रहते हैं, इसीलिए वे यथासम्भव छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग करते हैं । जल्प की समाप्ति परपक्ष के खण्डनपूर्वक स्वपक्ष की स्थापना में होती है । वितण्डा में तो मात्र परपक्ष का खण्डन करना ही उद्देश्य रहता है, यहाँ स्वपक्ष की स्थापना की भी चिन्ता नहीं रहती है । जल्प और वितण्डा में तत्त्वनिर्णय की अभिलाषा नहीं रहती है । 'वाद' में तो तत्त्व के निर्णय के लिए ही प्रयत्न रहता है, इसीलिए तत्त्वजिज्ञासु इसमें सभी निग्रहस्थानों का प्रयोग भी नहीं करता है । वाद की समाप्ति तत्त्वनिर्णय में ही होती है । इसप्रकार उक्त कथात्रय में 'वाद' सर्वश्रेष्ठ है, अतः भगवान् ने विवाद करनेवालों में अपने को 'वाद' कहा है ।

62. ऐसा भी कहा है – 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्यादि ।

पदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरिति तेषामुभयपदार्थसाम्याभावेनापकृष्टत्वात् । क्षयिकालाभिमान्यक्षयः परमेश्वराख्यः कालः "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धोऽहमेव । कालः कलयतामहमित्यत्र तु क्षयी काल उक्त इति भेदः । कर्मफलविधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखो धाता सर्वकर्मफलदातेश्वरोऽहमित्यर्थः ॥ 33 ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ 34 ॥

54 **संहारकारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारकारी मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविकल्याणानां य उद्भव**

उभयपदार्थप्रधान द्वन्द्व समास मैं हूँ[63], कारण कि अव्ययीभाव समास मात्र पूर्वपदार्थप्रधान होता है, तत्पुरुष समास मात्र उत्तरपदार्थप्रधान होता है और बहुव्रीहि समास मात्र अन्यपदार्थप्रधान होता है -- इसप्रकार उनमें उभयपदार्थसाम्य न होने से वे अपकृष्ट ही होते हैं । क्षयिकालाभिमानी जो "ज्ञ: कालकालो गुणी सर्वविद्य:" इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध परमेश्वरसंज्ञक अक्षय काल है वह मैं ही हूँ । 'काल: कलयतामहम्' (गीता, 10.30) – यहाँ तो क्षयी काल को कहा गया है, अत: इससे उपर्युक्त काल का भेद है[64] । कर्मफल का विधान करनेवालों में विश्वतोमुख अर्थात् सर्वतोमुख धाता अर्थात् सब कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ 33 ॥

[मैं संहार करनेवालों में सर्वहर -- सबका संहार करनेवाला मृत्यु हूँ, भविष्य में होनेवालों – भावी कल्याणों में उद्भव -- उत्कर्ष मैं ही हूँ तथा नारियों -- स्त्रियों के मध्य में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैं ही हूँ ॥ 34 ॥]

54 संहारकारियों के मध्य में सर्वहर -- सर्वसंहारकारी मृत्यु[65] मैं हूँ । भविष्यताम् = भावी कल्याणों में

63. नीलकण्ठ ने 'सामासिकस्य द्वन्द्व:' की व्याख्या इसप्रकार की है -- 'समं एकत्रासनं समासो विदुषां वा गुरुशिष्याणां वा मन्त्रार्थं कथार्थं वा एकत्रावस्थानं तत्र विदिततमर्थजातं सामासिकम्' = ' समास = सम-एकत्र आसन अर्थात् मन्त्र के अर्थ के लिए अथवा कथा के अर्थ के लिए विद्वानों अथवा गुरु-शिष्यों का एकत्रावस्थान -- एक स्थान पर एकत्रित होना 'समास' है, वहाँ अर्थजात विदित होना 'सामासिक' है । 'समास' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय होकर समास + ठक् – इस दशा में 'ठस्येक:' (पाणिनिसूत्र, 7.3.50) – इस सूत्र से ठ् को इक् होकर समास + इक् – इस दशा में आदि स्वर अ को 'किति च' (पाणिनिसूत्र, 7.2.118) सूत्र से वृद्धि होकर तथा अन्त्य स्वर अ का 'यस्येति च' (पाणिनिसूत्र, 6.4.148)– सूत्र से लोप होकर 'सामासिक' पद निष्पन्न हुआ है । 'तस्य सामासिकस्य मध्ये द्वन्द्वो रहस्योऽर्थोऽहम्' = उस सामासिक के मध्य में द्वन्द्व = रहस्य अर्थ मैं हूँ । यहाँ 'द्वन्द्व' शब्द 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' (पाणिनिसूत्र, 8.1.15) – इस सूत्र से रहस्यवाची है । उक्त व्याख्या क्रे सन्दर्भ में आचार्य धनपति अपनी भाष्योत्कर्षदीपिका में शंका-समाधान करते हुए कहते हैं कि 'सामासिकस्य द्वन्द्व:' की उक्त व्याख्या जैसी व्याख्या भाष्यकार ने क्यों नहीं की ? कारण कि अव्ययीभावादि में 'समास' शब्द और द्वन्द्वसमास में 'द्वन्द्व' शब्द केवल योग की अपेक्षा योगरूढि से प्रबल होंने के कारण प्रकृत में 'द्वन्द्व' शब्द पुंस्त्वेन निर्दिष्ट हुआ है । अत: भाष्यकार सम्मत अर्थ तदनुसार प्रकृतार्थ ही उचित है ।

64. काल दो प्रकार का होता है – क्षयकाल और अक्षयकाल । जिससे पल, घड़ी, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि रूप में आयु की गणना की जाती है वह 'क्षयकाल' है, क्योंकि इसका आदि और अन्त होता है । 'अक्षयकाल' कालज्ञ परमेश्वरसंज्ञक महाकाल होता है । 'काल: कलयतामहम्' (गीता, 10.30) इत्यादि में 'क्षयकाल' सूचित है और प्रकृत श्लोक में तो 'अक्षयकाल ' ही कहा गया है ।

65. मृत्यु दो प्रकार की होती है -- धनादिहर = धनादि का हरण करनेवाली और प्राणहर = प्राणों का हरण करनेवाली । धनादिहर सर्वहर नहीं होती है, प्राणहर ही सर्वहर मृत्यु होती है, क्योंकि प्राणों के हरण से सब हरण

उत्कर्षः स चाहमेव। नारीणां मध्ये कीर्तिः श्रीवाक्स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति च सप्त धर्मपत्न्योऽहमेव। तत्र कीर्तिर्धार्मिकत्वनिमित्ता प्रशस्तत्वेन नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयतारूपा ख्यातिः। श्रीर्धर्मार्थकामसंपत्, शरीरशोभा वा कान्तिर्वा। वाक्सरस्वती सर्वस्यार्थस्य प्रकाशिका संस्कृता वाणी। चकारान्मूर्त्यादयोऽपि धर्मपत्न्यो गृह्यन्ते। स्मृतिश्चिरानुभूतार्थस्मरणशक्तिः। अनेकग्रन्थार्थधारणाशक्तिर्मेधा। धृतिरवसादेऽपि शरीरेन्द्रियसंघातोत्तम्भनशक्तिः, उच्छृङ्खलप्रवृत्तिकारणेन चापलप्राप्तौ तन्निवर्तनशक्तिर्वा। क्षमा हर्षविषादयोरविकृतचित्तता। यासामाभासमात्रसंबन्धेनापि जनः सर्वलोकादरणीयो भवति तासां सर्वस्त्रीषूत्तमत्वमतिप्रसिद्धमेव ॥ 34 ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ 35 ॥

55 **वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तं तत्रायमन्यो विशेषः साम्नामृगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणां मध्ये त्वामिद्धि हवामह इत्यस्यामृचि गीतिविशेषो बृहत्साम। तच्चातिरात्रे पृष्ठस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्यतः श्रेष्ठत्वादहम्। छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोविशिष्टानामृचां मध्ये द्वि-**

जो उद्भव अर्थात् उत्कर्ष है वह मैं ही हूँ[66]। नारियों के मध्य में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा – ये सात धर्मपत्नियाँ भी मैं ही हूँ। इनमें 'कीर्ति' धार्मिकत्वनिमित्ता, प्रशस्तत्वेन – श्रेष्ठत्वेन = श्रेष्ठरूप से नानादिग्देशीयलोकज्ञान-विषयता[67]रूपा ख्याति है। 'श्री' धर्म, अर्थ और कामरूप सम्पत्ति; शरीर की शोभा अथवा कान्ति है। 'वाक्' = वाणी-सरस्वती सब अर्थों की प्रकाशिका संस्कृता वाणी है। 'स्मृति' चिरकाल से अनुभूत अर्थों की स्मरणशक्ति है। 'मेधा' अनेक ग्रन्थों के अर्थों की धारणाशक्ति है। 'धृति' अवसाद में भी शरीर और इन्द्रियों के संघात को संभाले रखने की शक्ति है अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के कारण से चपलता प्राप्त होने पर उसको निवृत्त करने की शक्ति है। 'क्षमा' हर्ष और विषाद में चित्त का विकृत न होना है। श्लोकस्थ अन्तिम चकार से मूर्ति आदि भी धर्मपत्नियों को ग्रहण किया जाता है। जिन कीर्ति आदि धर्मपत्नियों के आभासमात्र के सम्बन्ध से भी मनुष्य सम्पूर्ण लोक में आदरणीय होता है उन सब स्त्रियों में उत्तमत्व प्रसिद्ध ही है ॥ 34 ॥

[मैं सामों में बृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री मैं हूँ, मासों – महीनों में मार्गशीर्ष मैं ही हूँ तथा ऋतुओं में कुसुमाकर – वसन्त भी मैं ही हूँ ॥ 35 ॥

55 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता, 10.22) = 'मैं वेदों में सामवेद हूँ' – यह पूर्व में जो कहा गया है उसमें यह दूसरा विशेष है कि सामों में अर्थात् ऋगक्षरों – ऋचाओं पर आरूढ़ गीतिविशेषों के मध्य में जो 'त्वामिद्धि हवामहे'– इस ऋचा में आरूढ़ गतिविशेष है वह बृहत्साम मैं हूँ। अतिरात्रयज्ञ

हो जाता है। अथवा, प्रलयकाल में सब हरण कर लेने के कारण परमेश्वररूप मृत्यु ही सर्वहर मृत्यु है।

66. तात्पर्य यह है कि भावी कल्याणों के उत्कर्षप्राप्ति के योग्यों में से उत्कर्षप्राप्ति या अभ्युदयप्राप्ति का हेतु मैं हूँ।

67. ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावना नामक संस्कार – ये आत्मा के पाँच गुण सविषयक होते हैं। जिसका ज्ञान होता है, जिसकी इच्छा होती है, जिससे द्वेष होता है, जिसके लिए प्रयत्न होता है और जिसकी भावना होती है, वह ज्ञानादि का विषय होता है, अतः उसी में 'विषयता' कही जाती है। प्रकृत स्थल पर नानादिग्देशीयलोकज्ञान में विषयता है।

जातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन प्रातःसवनादिसवनत्रयव्यापित्वेन त्रिष्टुब्जगतीभ्यां सोमाहरणार्थं गताभ्यां सोमो न लब्धोऽक्षराणि च हारितानि जगत्या त्रीणि त्रिष्टुभैकमिति चत्वारि तैरक्षरैः सह सोमस्याऽऽहरणेन च सर्वश्रेष्ठा गायत्र्यृगहम् । 'चतुरक्षराणि ह वा अग्रे छन्दांस्यासुस्ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वा जगाम ततस्त्रिष्टुप्सोममच्छापतत्सैकमक्षरं हित्वाऽपतत्ततो गायत्री सोममच्छापतत्सा तानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च तस्मादष्टाक्षरा गायत्री' इत्युपक्रम्य 'तदाहुर्गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृजमानैः' इति शतपथश्रुतेः, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इत्यादिछान्दोग्यश्रुतेश्च ।

56 **मासानां द्वादशानां मध्येऽभिनवशालिवास्तूकशाकादिशाली शीतातपशून्यत्वेन च सुखहेतुर्मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां षण्णां मध्ये कुसुमाकरः सर्वसुगन्धिकुसुमानामाकरोऽतिरमणीयो वसन्तः, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' 'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत' 'वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धोऽहमस्मि ॥ 35 ॥**

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ 36 ॥

में सर्वेश्वररूप से इन्द्र की स्तुतिरूप वह पृष्ठस्तोत्र दूसरों से श्रेष्ठ होने के कारण मैं हूँ । छन्दों में अर्थात् जिनके अक्षर और पाद नियत हैं ऐसी छन्दोविशिष्ट ऋचाओं के मध्य में गायत्री ऋचा मैं हूँ, जो गायत्री ऋचा द्विजातियों के द्वितीय जन्म का हेतु होने से, प्रात:सवन आदि तीन सवनों[68] में व्यापी होने से और सोम को लेने के लिए गई हुई त्रिष्टुप् और जगती को जब सोम नहीं प्राप्त हुआ तथा जगती के तीन और त्रिष्टुप् का एक – इसप्रकार उनके चार अक्षरों का हरण भी कर लिया गया तो उस समय उन चार अक्षरों के साथ सोम को ले आने से सर्वश्रेष्ठ है । ऐसा श्रुतियों में भी कहा है -- 'पहले सब छन्द चार अक्षरवाले थे, तब जगती सोम की ओर गयी और वह अपने तीन अक्षरों को खोकर चली आयी, तदुपरान्त त्रिष्टुप् सोम की ओर गयी और वह अपने एक अक्षर को खोकर चली आयी, तत्पश्चात् गायत्री सोम की ओर गयी और वह उन चार अक्षरों को तथा सोम को भी लेकर आयी, इसीलिए गायत्री आठ अक्षरवाली है' – इसप्रकार आरम्भ करके 'इसीसे कहा है कि सब सवन गायत्री सम्बन्धी हैं और हमने जो रचा है वह सब गायत्री ही है' -- यह शतपथ श्रुति ने कहा है तथा 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' = 'यह सब भूतवर्ग गायत्री ही है' -- यह छान्दोग्य श्रुति ने कहा है ।

56 बारह महीनों में से जिसमें नवीन धान, वास्तूक-वथुआ शाकादि होते हैं और जो शीत और आतप से शून्य होने के कारण सुख का हेतु है वह मार्गशीर्ष नामक मास मैं हूँ । छ: ऋतुओं में कुसुमाकर अर्थात् सब सुगन्धित कुसुमों -- पुष्पों का आकर-खानरूप अत्यन्त रमणीय वसन्त मैं हूँ, जो वसन्त 'वसन्त में ब्राह्मण का उपनयन करे'; 'वसन्त में ब्राह्मण अग्न्याधान करे'; 'प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष् नाम यज्ञ करे'; 'उसका वसन्त में ही आरम्भ करे'; 'वसन्त ही ब्राह्मण का ऋतु है' – इत्यादि शास्त्रवाक्यों में प्रसिद्ध है ।। 35 ।।

---

68. जिस यज्ञ में प्रधान अंग का सोमरस से हवन किया जाता है उस यज्ञ को 'सवन' कहा जाता है । यह तीन प्रकार का होता है – प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन ।

57 छलयतां छलस्य परवञ्चनस्य कर्तॄणां संबन्धि द्यूतमक्षदेवनादिलक्षणं सर्वस्वापहारकारणमहमस्मि। तेजस्विनामत्युग्रप्रभावानां संबन्धि तेजोऽप्रतिहताज्ञत्वमहमस्मि । जेतॄणां पराजितापेक्षयोत्कर्षलक्षणो जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायः फलाव्यभिचार्युद्यमोऽहमस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यलक्षणं सत्त्वकार्यमेवात्र सत्त्वमहम् ॥ 36 ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ 37 ॥

58 साक्षादीश्वरस्यापि विभूतिमध्ये पाठस्तेन रूपेण चिन्तनार्थ इति प्रागेवोक्तम् । वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रत्वेन प्रसिद्धस्त्वदुपदेष्टाऽयमहम् । तथा पाण्डवानां मध्ये धनंजयस्त्वमेवाहम् । मुनीनां मननशीलानामपि मध्ये वेदव्यासोऽहम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सूक्ष्मार्थविवेकिनां मध्य उशना कविरिति ख्यातः शुक्रोऽहम् ॥ 37 ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ 38 ॥

59 दमयतामदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतामुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुर्दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचंयमत्वमहमस्मि ।

[मैं छल करनेवालों का द्यूत हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ, जीतनेवालों का जय मैं ही हूँ, व्यवसायियों का व्यवसाय मैं हूँ तथा सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व भी मैं ही हूँ ॥ 36 ॥]

57 छलनेवालों का अर्थात् छल करनेवालों = दूसरों को ठगनेवालों से सम्बन्ध रखनेवाला द्यूत = सर्वस्व अपहरण का कारण पासों से जुआ खेलनारूप द्यूत मैं हूँ । तेजस्वियों का अर्थात् अत्यन्त उग्र प्रभाववालों से सम्बन्ध रखनेवाला तेज = अप्रतिहत आज्ञारूप तेज मैं हूँ । जीतनेवालों का पराजितों की अपेक्षा उत्कर्षरूप जय मैं हूँ । व्यवसायियों का व्यवसाय अर्थात् अवश्य फलदायी उद्यम – उद्योग मैं हूँ । सत्त्ववान् अर्थात् सात्त्विक पुरुषों का धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप जो सत्त्वकार्य है वही यहाँ सत्त्व है वह मैं हूँ ॥ 36 ॥

[मैं वृष्टिवंशियों में वासुदेव अर्थात् वसुदेवपुत्र हूँ, पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तुम भी मैं हूँ, मुनियों में भी व्यास मैं हूँ और कवियों में उशना कवि-शुक्राचार्य मैं ही हूँ ॥ 37 ॥]

58 साक्षात् ईश्वर का भी विभूतियों के मध्य में पाठ-उल्लेख उनका विभूतिरूप से चिन्तन-ध्यान करने के लिए है -- यह पूर्व में ही कहा जा चुका है । वृष्णियों के मध्य में वासुदेव अर्थात् वसुदेव के पुत्ररूप से प्रसिद्ध यह तुमको उपदेश करनेवाला मैं हूँ । तथा पाण्डवों के मध्य में धनञ्जय -- अर्जुन अर्थात् तुम ही मैं हूँ । मुनियों अर्थात् मननशील मुनियों के भी मध्य में वेदव्यास मैं ही हूँ । कवियों -- क्रान्तदर्शियों अर्थात् सूक्ष्मार्थविवेकीजनों के मध्य में उशना कवि नाम से विख्यात शुक्र मैं हूँ ॥ 37 ॥

[मैं दमन करनेवालों का दण्ड हूँ, जीतने की इच्छावालों की नीति मैं हूँ, गोपनीयों में मौन भी मैं हूँ तथा ज्ञानवानों का ज्ञान भी मैं ही हूँ ॥ 38 ॥]

59 दमन करनेवालों का अर्थात् अदान्त - अनियन्त्रित उत्पथ -- कुमार्गगामियों को सुमार्ग पर प्रवृत्त करनेवालों का उत्पथप्रवृत्ति = कुमार्गप्रवृत्ति के निग्रह का हेतुभूत दण्ड मैं हूँ । जिगीषुओं = जीतने की इच्छावालों की नीति -- न्याय अर्थात् जय के उपाय का प्रकाशक मैं हूँ । गुह्यों -- गुप्तों अर्थात्

· नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये ससंन्यासश्रवणमननपूर्वकमात्मनो निदिध्यासनलक्षणं मौनं वाऽहमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां यच्छ्रवणमनननिदिध्यास-नपरिपाकप्रभवमद्वितीयात्मसाक्षात्काररूपं सर्वाज्ञानविरोधि ज्ञानं तदहमस्मि ॥ 38 ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ 39 ॥

60 यदपि च सर्वभूतानां प्ररोहकारणं बीजं तन्मायोपाधिकं चैतन्यमहमेव हेऽर्जुन ! मया विना यत्स्याद्भवेच्चरमचरं वा भूतं वस्तु तन्नास्त्येव यतः सर्वं मत्कार्यमेवेत्यर्थः ॥ 39 ॥

61 प्रकरणार्थमुपसंहरन्विभूतिं संक्षिपति –

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेविस्तरो मया ॥ 40 ॥

62 हे परंतप परेषां शत्रूणां कामक्रोधलोभादीनां तापजनक मम दिव्यानां विभूतीनामन्त इयत्ता नास्ति । अतः सर्वज्ञेनापि सा न शक्यते ज्ञातुं वक्तुं वा सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञतायाः । एष तु त्वां प्रत्युद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया ॥ 40 ॥

गोप्यों -- गोपनीयों का गोपनहेतु मौन अर्थात् वाणी का संयमरूप मौन मैं हूँ, क्योंकि चुपचाप बैठे हुए पुरुष का अभिप्राय नहीं जाना जाता । अथवा, गुह्यों अर्थात् गोप्यों -- गोपनीयों के मध्य में संन्यास सहित श्रवण और मननपूर्वक आत्मा का निदिध्यासनरूप मौन मैं हूँ । ज्ञानवानों का अर्थात् ज्ञानियों का जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक से उत्पन्न सम्पूर्ण अज्ञान का विरोधी अद्वितीय, आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान है वह ज्ञान मैं ही हूँ ।। 38 ।।

[हे अर्जुन ! जो सब भूतों का बीज है वह भी मैं हूँ, ऐसा वह चर -- जंगम अथवा अचर-स्थावर कोई भी भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो ।। 39 ।।]

60 जो भी सब भूतों की उत्पत्ति का कारणभूत बीज है वह मायोपाधिक चैतन्य मैं ही हूँ, हे अर्जुन[69] ! मेरे बिना जो हो ऐसा कोई चर अथवा अचर भूत अर्थात् वस्तु वह है ही नहीं, क्योंकि सब मेरा ही कार्य है -- यह अर्थ है ।। 39 ।।

61 प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हुए विभूतियों का संक्षेप करते हैं :--
[हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार उद्देशतः अर्थात् एकदेश से कहा है ।। 40 ।।]

62 हे परन्तप[70] ! = हे पर अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को ताप उत्पन्न करने वाले ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त = इयत्ता अर्थात् सीमा नहीं है, अतः सर्वज्ञ मेरे द्वारा भी उसको जानना या कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञता का विषय सन्मात्र होता है अर्थात् जो विषय होता है उसी को सर्वज्ञ जान सकता है और कह भी सकता है, किन्तु जो विषय है ही नहीं उसका ज्ञान सर्वज्ञ को भी असंभव ही है । यह तो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार तुमसे उद्देशतः एकदेश से कहा है ।। 40 ।।

69. भगवान् की विभूतियों का ज्ञान अन्तःकरणशोधक है – यह सूचित करते हुए ही भगवान् ने यहाँ सम्बोधन किया है – हे अर्जुन ! अर्थात् हे शुद्ध बुद्धिवाले ! मेरा तत्त्व तुम्हारी बुद्धि से अगम्य नहीं है ।

70. भगवान् की उक्त विभूतियों के परिचिन्तन से पर अर्थात् राग-द्वेषादिरूप शत्रुओं को तप्त करो – इस अभिप्राय से भगवान् ने सम्बोधन किया है – हे परन्तप !

63 अनुक्ता अपि भगवतो विभूतीः संग्रहीतुमुपलक्षणमिदमुच्यते –

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ 41 ॥

64 यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं, तथा श्रीमत्, श्रीर्लक्ष्मीः संपत्, शोभा, कान्तिर्वा तया युक्तं, तथोर्जितं बलाद्यतिशयेन युक्तं तत्तदेव मम तेजसः शक्तेरंशेन संभूतं त्वमवगच्छ जानीहि ॥ 41 ॥

65 एवमवयवशो विभूतिमुक्त्वा साकल्येन तामाह –

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ 42 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥

66 अथवेति पक्षान्तरे । बहुनैतेन सावशेषेण ज्ञातेन किं तव स्याद्धेऽर्जुन ! इदं कृत्स्नं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य विधृत्य व्याप्य वाऽहमेव स्थितो न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्ति 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः । तस्मात्किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्यभिप्रायः ॥ 42 ॥

63 भगवान् की अनुक्त भी विभूतियों के संग्रह के लिए यह उपलक्षण[71] कहते हैं :--
[जो-जो प्राणी विभूतियुक्त -- ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा बलादि के अतिशय से युक्त हो उस-उस को तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न जानो ॥ 41 ॥]

64 जो-जो सत्त्व = प्राणी विभूतिमान् = ऐश्वर्ययुक्त तथा श्रीमान् = श्री-लक्ष्मी, सम्पति, शोभा अथवा कान्ति से युक्त तथा ऊर्जित = बलादि के अतिशय से युक्त हो उसी-उसी को तुम मेरे तेज = शक्ति के अंश से सम्भूत = समुत्पन्न जानो ॥ 41 ॥

65 इसप्रकार अवयवशः विभूतियों को कहकर उनको समष्टिरूप से कहते हैं --
[अथवा, हे अर्जुन ! इसप्रकार के बहुत ज्ञान से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण करके स्थित हूँ, इसलिए तुम मुझको ही तत्त्व से जानो ॥ 42 ॥]

66 अथवा अर्थात् पक्षान्तर में, इसप्रकार के बहुत अर्थात् सावशेष ज्ञान से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से -- एकदेशमात्र से धारण करके = व्याप्त करके मैं ही स्थित हूँ, मुझसे अतिरिक्त -- भिन्न कुछ भी नहीं है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (तैत्तिरीयारण्यक, 3.12) = 'समस्त भूत इस परमेश्वर का एक पाद है और इसके अमृतमय तीन पाद द्युलोक में हैं' -- इत्यादि । अत: इस परिच्छिन्न दर्शन से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? तुम तो सर्वत्र मेरी ही दृष्टि करो -- यह अभिप्राय है ॥ 42 ॥

71. किसी अतिरिक्त वस्तु की ओर या अन्य किसी समरूप पदार्थ की ओर संकेत जबकि केवल एक का ही उल्लेख किया गया हो, समस्त वस्तु के लिए उसके किसी एक भाग का कथन, सम्पूर्ण जाति को अभिव्यक्त करने के लिए व्यक्ति की ओर संकेत 'उपलक्षण' है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम्) ।

67 कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥

---

67 कोई कुशल विद्वान् तो कहीं-कहीं अनन्त में अपने अन्त:करण को स्थापित कर विषयान्तर की शान्ति ही करते हैं, हे मधुभिद् ! हे मधुसूदन ! मेरा मन आपके पादपद्म -- चरणकमल से टपकते हुए मकरन्द के बिन्दु का आस्वादन कर बार-बार प्रसन्न होता है ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य
श्री मधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
के हिन्दीभाषानुवाद का विभूतियोग नामक
दशम अध्याय समाप्त होता है ।

अथैकादशोऽध्यायः

1 **पूर्वोध्याये नानाविभूतीरुक्त्वा "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपं भगवताऽन्तेऽभिहितं श्रुत्वा परमोत्कण्ठितस्तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्पूर्वोक्तमभिनन्दन् –**

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ 1 ॥

2 **मदनुग्रहाय शोकनिवृत्त्युपकाराय परमं निरतिशयपुरुषार्थपर्यवसायि गुह्यं गोप्यं यस्मै कस्मैचिद्वक्तुमनर्हमपि अध्यात्मसंज्ञितमध्यात्ममितिशब्दितमात्मानात्मविवेकविषयमशोच्या-नन्वशोचस्त्वमित्यादिषष्ठाध्यायपर्यन्तं त्वंपदार्थप्रधानं यत्त्वया परमकारुणिकेन सर्वज्ञेनोक्तं वचो वाक्यं तेन वाक्येनाहमेषां हन्ता मयैते हन्यन्त इत्यादिविविधविपर्यासलक्षणो मोहोऽयम-नुभवसाक्षिको विगतो विनष्टो मम, तत्रासकृदात्मनः सर्वविक्रियाशून्यत्वोक्तः ॥ 1 ॥**

3 **तथा सप्तमादारभ्य दशमपर्यन्तं तत्पदार्थनिर्णयप्रधानमपि भगवतो वचनं मया श्रुतमित्याह –**

---

1 पूर्व अध्याय में अनेक विभूतियों को कहकर अन्त में 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' -- इस श्लोक से भगवान् ने विश्वात्मक -- सर्वात्मक पारमेश्वर रूप को कहा । उसको सुनकर परम उत्कण्ठित हो उसका साक्षात्कार करने की इच्छा करते हुए भगवान् के पूर्वोक्त वचनों का अभिनन्दन करते हुए अर्जुन ने कहा --
[अर्जुन ने कहा -- हे भगवन् ! मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने अध्यात्मसंज्ञक जो परमगुह्य -- परमगोपनीय वचन -- उपदेश कहा है उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है ॥ 1 ॥]

2 मुझ पर अनुग्रह करने के लिए अर्थात् शोकनिवृत्तिरूप उपकार करने के लिए जो परम = निरतिशय पुरुषार्थ में समाप्त होनेवाला गुह्य[1] -- गोप्य-गोपनीय = जिसकिसी से कहने के अयोग्य, अध्यात्मसंज्ञित[2] = 'अध्यात्म' शब्द से उक्त अर्थात् आत्मानात्मविवेकविषयक और 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता, 2.11) -- इत्यादि से लेकर छठे अध्याय तक 'त्वम्' पदार्थ प्रधान वचन-वाक्य परम कारुणिक, सर्वज्ञ आपने मुझसे कहा है उस वाक्य से मेरा यह = अनुभवसाक्षिक "मैं इनका हनन करने वाला हूँ और ये मुझसे हत होंगे" -- इत्यादि विविध विपर्यय -- भ्रमरूप मोह विगत = विनष्ट हो गया है, क्योंकि उस वाक्य में 'आत्मा सब विकारों से शून्य है' -- यह अनेक बार आपने कहा है ॥ 1 ॥

3 तथा सातवें अध्याय से लेकर दशवें अध्याय तक 'तत्' पदार्थनिर्णयप्रधान भी भगवान् का वचन मैंने सुना है -- यह कहते हैं --

---

1. 'गुह्य' शब्द का अर्थ है – गुप्त रखने योग्य अर्थात् अनधिकारी पुरुष से गुप्त रखने के योग्य । अध्यात्म-ज्ञान अनधिकारी पुरुष से गुप्त ही रखा जाता है, अतः प्रकृत में भगवद्वचन को 'गुह्य' कहा है । जिसप्रकार मलिन वस्त्र रंग नहीं पकड सकता है उसी प्रकार जो पुरुष विषयों में आसक्त और आत्मा से विमुख रहता है उसकी बुद्धि भी मलिन होने के कारण आत्मतत्त्व को धारण नहीं कर सकती है, इसीलिए विषयासक्त मलिनबुद्धि अनधिकारी पुरुष से अध्यात्मसंज्ञक ज्ञान गुप्त रखने के लिए शास्त्र का अनुशासन है । इसी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृत प्रसंग में 'गुह्य' शब्द का प्रयोग है ।

2. जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है उसको 'अध्यात्मसंज्ञित' कहते है ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यपि चाव्ययम् ॥ 2 ॥

4 **भूतानां भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ त्वत्त एव भवन्तौ त्वत्त एव विस्तरशो मया श्रुतौ न तु संक्षेपेणासकृदित्यर्थः । कमलस्य पत्रे इव दीर्घे रक्तान्ते परममनोरमे अक्षिणी यस्य तव स त्वं हे कमलपत्राक्ष ! अतिसौन्दर्यातिशयोल्लेखोऽयं प्रेमातिशयात् । न केवलं भवाप्ययौ त्वत्तः श्रुतौ महात्मनस्तव भावो माहात्म्यमनतिशयैश्वर्यं विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽप्यविकारित्वं शुभाशुभकर्म-कारयितृत्वेऽप्यवैषम्यं बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽप्यसङ्गौदासीन्यमन्यदपि सर्वात्मत्वादि सोपाधिकं निरूपाधिकमपि चाव्ययमक्षयं मया श्रुतमिति परिणतमनुवर्तते चकारात् ॥ 2 ॥**

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ 3 ॥

5 **हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन च निरतिशयैश्वर्येणाऽऽत्मानं त्वमात्थ कथयसि त्वमेवमेतन्नान्यथा । त्वद्वचसि कुत्रापि ममाविश्वासशङ्का नास्त्येवेत्यर्थः । यद्यप्येवं तथा-**

[हे कमलदललोचन ! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक भूतों -- प्राणियों या जीवों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपका अव्यय = अक्षय माहात्म्य भी सुना है ॥ 2 ॥]

4 भूतों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति (भव) और प्रलय (अप्यय) आपसे ही होती है -- यह मैंने आपसे ही विस्तार से सुना है, न कि संक्षेप से अर्थात् बार-बार सुना है । कमल के पत्र-दल के समान दीर्घ, रक्तान्त = रक्तोपान्त = रक्त-लाल कोरवाले और परम मनोरम अक्षि-नेत्र-लोचन हैं जिसके ऐसे आप हे कमलपत्राक्ष[3] ! हे कमलदललोचन ! -- यह भगवान् के अतिसौन्दर्य का अतिशय उल्लेख प्रेम के अतिशय के कारण है । मैंने आपसे न केवल प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय को ही सुना है, अपितु आप महात्मा का भाव अर्थात् आपका माहात्म्य[4] = निरतिशय ऐश्वर्य अर्थात् विश्व की सृष्टि आदि करनेवाले होने पर भी अविकारी रहना, शुभाशुभ कर्म करानेवाले होने पर भी विषमता न आना, बन्ध और मोक्ष आदि विचित्र फल देनेवाले होने पर भी असंग और उदासीन रहना तथा अन्य भी सर्वात्मत्वादिरूप सोपाधिक और निरुपाधिक अव्यय = अक्षय माहात्म्य भी मैंने सुना है । यहाँ चकार से 'श्रुतौ' पद के परिणत रूप 'श्रुतम्' पद की अनुवृत्ति हुई है[5] ॥ 2 ॥

[हे परमेश्वर ! आप अपने विषय में जैसा कहते हैं वह सब वैसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ऐश्वर = ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से युक्त रूप का दर्शन करना चाहता हूँ ॥ 3 ॥]

5 हे परमेश्वर ! जिस प्रकार सोपाधिक और निरुपाधिक निरतिशय ऐश्वर्यरूप से आप अपने को कह

---

3. जिस प्रकार कमलपत्र जल में रहकर भी जल से सिक्त नहीं होता है उसी प्रकार भगवान् की आँखें नित्य द्रष्टा होने पर भी किसी भी दृश्य वस्तु से सिक्त नहीं होती हैं अर्थात् भगवान् नित्य साक्षी-द्रष्टा और विज्ञाता होने पर भी नित्य स्थिर, सब विकारों से रहित तथा वृद्धि और हानि से शून्य रहते हैं । ऐसे कमलपत्राक्षरूप भगवान् से ही सब प्राणियों का पालन-पोषण होता है – यह सूचित करने के लिए अर्जुन ने 'कमलपत्राक्ष' शब्द से सम्बोधन किया है ।

4. महात्मनो भावः = महात्मन् + ष्यञ् = माहात्म्यम् ।

5. आगामी में पिछले की पुनरुक्ति और पूर्ति 'अनुवृत्ति' होती है । यहाँ चकार से श्लोकस्थ द्विवचनान्त पुंल्लिङ्ग 'श्रुतौ' पद के लिङ्ग – वचन से परिणतरूप एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग 'श्रुतम्' पद की अनुवृत्ति हुई है ।

ऽपि कृतार्थीबुभूषया द्रष्टुमिच्छामि ते तव रूपमैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्नमद्भुतं हे पुरुषोत्तम । संबोधनेन त्वद्वचस्यविश्वासो मम नास्ति दिदृक्षा च महती वर्तत इति सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासि सर्वान्तर्यामित्वाच्चेति सूचयति ॥ 3 ॥

6 **द्रष्टुमयोग्ये कुतस्ते दिदृक्षेत्याशङ्क्याऽऽह –**

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ 4 ॥

7 **प्रभवति सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशप्रशासनेष्विति प्रभुः, हे प्रभो सर्वस्वामिन् । तत्तवैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे जानासीच्छसि वा हे योगेश्वर सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगानां योगिनामीश्वर ततस्त्वदिच्छावशादेव मे मह्यमत्यर्थमर्थिने त्वं परमकारुणिको दर्शय चाक्षुषज्ञानविषयी कारयाऽऽत्मानमैश्वररूपविशिष्टमव्ययमक्षयम् ॥ 4 ॥**

रहे हैं आप वैसे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं अर्थात् आपके वचन में मुझको कहीं भी अविश्वास की शंका ही नहीं है । यद्यपि ऐसा है तथापि कृतार्थ होने की इच्छा से मैं आपके ऐश्वर = ईश्वरीय -- ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से सम्पन्न अद्भुतरूप का दर्शन करना चाहता हूँ हे पुरुषोत्तम ! इस सम्बोधन से यह सूचित करते हैं कि मुझको आपके वचन में अविश्वास नहीं है और आपके ऐश्वररूप के दर्शन की बड़ी इच्छा भी है -- यह आप सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होने से जानते ही हैं ।। 3 ।।

6 'जो रूप चर्मचक्षुओं से दर्शन के योग्य नहीं है उसका दर्शन करने की तुम्हारी इच्छा क्यों है ?' -- ऐसा भगवान् की ओर से आशंका करके अर्जुन कहते हैं :--
[हे प्रभो ! यदि आप यह मानते हैं कि आपका वह रूप मेरे द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है तो हे योगेश्वर ! आप अपने अव्यय = अविनाशी स्वरूप का मुझको दर्शन कराइये ।। 4 ।।]

7 जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में तथा उसमें प्रवेश और उसका प्रशासन करने में आप प्रभु = समर्थ हैं, अत: 'प्रभु' है, अतएव हे प्रभो[6] ! हे सर्वस्वामिन् = सबके स्वामी ! आपका वह ऐश्वर = ईश्वरीय रूप मुझ अर्जुन के द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है -- यह यदि आप मानते हैं = समझते हैं अथवा इच्छा करते हैं तो हे योगेश्वर[7] ! हे अणिमादि सब सिद्धिशाली योगों अर्थात् योगियों के ईश्वर ! ततः = उससे अर्थात् आपकी इच्छा के वश से ही मुझ अत्यन्त उत्सुक को परम कारुणिक आप अपने ऐश्वररूपविशिष्ट अव्यय = अक्षय स्वरूप का दर्शन कराइये = उसको मेरे चाक्षुषज्ञान का विषय बनाइये ।। 4 ।।

6. भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में, उसमें प्रवेश और उसका अनुशासन करने में समर्थ हैं – इस प्रकार भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं करने में समर्थ हैं, उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं है, उनका अनुग्रह होने पर तो अर्जुन ऐश्वररूप का दर्शन करने में असमर्थ होने पर भी दर्शन करने के योग्य हो सकता है – यह सूचित करने के लिए ही यहाँ अर्जुन ने भगवान् को 'हे प्रभो!' – यह सम्बोधन किया है ।

7. जब योगीजन अप्राकृत पदार्थों का दर्शन कराने में समर्थ हैं तब भगवान् तो उनके ईश्वर हैं उनके लिए उनके ही ऐश्वररूप का दर्शन कराना कठिन व्यापार नहीं हो सकता है -- यह सूचित करने के लिए अर्जुन ने 'हे योगेश्वर' – सम्बोधन किया है । अथवा, हे योगेश्वर ! आप तो आपके ऐश्वररूप का दर्शन करने में समर्थ योगियों के ईश्वर हैं, अतएव मुझको भी योगी बनाकर अपने ऐश्वररूप का दर्शन कराइये – यह उक्त सम्बोधन से ध्वनित होता है ।

8 एवमत्यन्तभक्तेनार्जुनेन प्रार्थितः सन् –

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ 5 ॥

9 अत्र क्रमेण श्लोकचतुष्टयेऽपि पश्येत्यावृत्त्याऽत्यद्भुतरूपाणि दर्शयिष्यामि त्वं सावधानो भवेत्यर्जुनमभिमुखी करोति भगवान् । शतशोऽथ सहस्रश इत्यपरिमितानि तानि च नानाविधान्यनेकप्रकाराणि दिव्यान्यत्यद्भुतानि नाना विलक्षणा वर्णा नीलपीतादिप्रकारास्तथाऽऽकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि च मे मम रूपाणि पश्य । अर्हे लोट् । द्रष्टुमर्हो भव हे पार्थ ॥ 5 ॥

10 दिव्यानि रूपाणि पश्येत्युक्त्वा तान्येव लेशतोऽनुक्रामति द्वाभ्याम् –

पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ 6 ॥

11 पश्याऽऽदित्यान्द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः सप्तसप्तकानेकोनपञ्चाशत् । तथाऽन्यानपि देवानित्यर्थः । बहून्यन्यान्यदृष्टपूर्वाणि पूर्वमदृष्टानि मनुष्यलोके त्वया त्वत्तोऽन्येन

---

8 इस प्रकार अत्यन्त भक्त अर्जुन के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर –
[श्रीभगवान् ने कहा -- हे पार्थ ! हे अर्जुन ! मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के, नाना वर्ण और आकृतिवाले दिव्य रूपों को देखों ॥ 5 ॥]

9 यहाँ क्रम से चार श्लोकों में 'पश्य' = 'देखो' – इस क्रियापद की आवृत्ति से भगवान् 'मैं तुमको अत्यन्त अद्भुत रूपों को दिखाऊँगा, तुम सावधान हो जाओ' – ऐसा भाव प्रकट करके अर्जुन को अपनी ओर अभिमुख करते हैं । सैंकड़ों-हजारों अर्थात् अपरिमित उन अनेक प्रकार के दिव्य = अत्यन्त अद्भुत और नानावर्णाकृति = नाना-विलक्षण वर्ण अर्थात् नीलपीतादि प्रकार तथा आकृतियाँ = अवयवसंस्थानवशेष हैं जिनके ऐसे उन नानावर्णाकृति मेरे रूपों को देखो । यहाँ 'अर्ह' = 'योग्यता' अर्थ में लोट्लकार है । अतएव हे पार्थ[8] ! हे अर्जुन ! मेरे रूपों का दर्शन करने के योग्य होओ ॥ 5 ॥

10 मेरे दिव्य रूपों को देखो -- यह कहकर भगवान् उन्हीं रूपों का दो श्लोकों से लेशत: = अंशत: अनुक्रमण करते हैं --
[हे भारत ! हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनी कुमारों और उनचास मरुतों को देखो । इनके अतिरिक्त और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्य = अद्भुत रूपों को देखो ॥ 6 ॥]

11 बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों, उनचास मरुतों तथा अन्य देवताओं

---

8. हे अर्जुन ! तुम पृथा के पुत्र हो अतएव मेरे प्रेमास्पद सखा हो और मेरे भक्त भी हो, अत: तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए मैं सदा ही प्रस्तुत हूँ – यह सूचित करने के लिए भक्तवत्सल भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' शब्द से सम्बोधित किया है ।

वा केनचित्पश्याऽऽश्चर्याण्यद्भुतानि हे भारत ! अत्र शतशोऽथ सहस्रशः नानाविधानीत्यस्य विवरणं बहूनीति आदित्यानित्यादि च । अदृष्टपूर्वाणीति दिव्यानीत्यस्य, आश्चर्याणीति नानावर्णाकृतीनीत्यस्येति द्रष्टव्यम् ॥ 6 ॥

12 **न केवलमेतावदेव, समस्तं जगदपि मद्देहस्थं द्रष्टुमर्हसीत्याह –**

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ 7 ॥

13 **इहास्मिन्मम देह एकस्थमेकस्मिन्नेवावयवरूपेण स्थितं जगत्कृत्स्नं समस्तं सचराचरं जङ्गमस्थावरसहितं तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिसहस्रेणापि द्रष्टुमशक्यमद्याधुनैव पश्य हे गुडाकेश ! यच्चान्यज्जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि तदपि संदेहोच्छेदाय पश्य ॥ 7 ॥**

14 **यत्तूक्तं 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' इति तत्र विशेषमाह –**

नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ 8 ॥

को भी मुझमें देखो – यह अर्थ है । हे भारत[9] ! मनुष्यलोक में तुमने या तुमसे अन्य किसी ने भी जिनको पहले कभी नहीं देखा है ऐसे बहुत से अन्य-अन्य आश्चर्य = अद्भुत रूपों को देखो । यहाँ 'बहूनि' और आदित्यान्' -- इत्यादि पद पूर्व श्लोक के 'शतशोऽथ सहस्रशः नानाविधानि'– इन पदों के विवरण हैं । इसी प्रकार 'अदृष्टपूर्वाणि' पद 'दिव्यानि' पद का और 'आश्चर्याणि' पद 'नानावर्णाकृतीनि' पद का विवरण है -- यह समझना चाहिए ॥ 6 ॥

12 न केवल इतना ही, अपितु समस्त जगत् को मेरे शरीर में स्थित देख सकते हो – यह कहते हैं :--
[हे गुडाकेश ! अब इस मेरे शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देखो तथा अन्य भी जो कुछ देखना चाहते हो वह भी देखो ॥ 7 ॥]

13 इह-अस्मिन् = इस मेरे देह में एकस्थ = एक ही में अवयवरूप से स्थित समस्त सचराचर = जङ्गमस्थावरसहित जगत् को, जिसको वहाँ-वहाँ घूमकर सहस्र-कोटि वर्षों में भी नहीं देखा जा सकता है, अब = इसी समय देखो हे गुडाकेश[10] ! इसके अतिरिक्त जो अन्य जय-पराजय आदिक तुम देखना चाहते हो वह भी अपने संदेह की निवृत्ति के लिए देखो ॥ 7 ॥

14 अर्जुन ने जो यह कहा कि 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' = 'यदि आप समझते हैं कि आपका वह ऐश्वररूप मेरे द्वारा दर्शन किये जाने योग्य है तो आप दर्शन कराइये' – उसमें भगवान् विशेष कहते हैं --

[किन्तु अर्जुन ! तुम मुझको अपने इन प्राकृत नेत्रों से ही नहीं देख सकते हो, अतएव मैं तुमको दिव्य अर्थात् अप्राकृत नेत्र देता हूँ उनसे तुम मेरा ऐश्वर योग देखो ॥ 8 ॥]

9. भरतवंश जैसे उत्तम वंश में उद्भव होने के कारण अर्जुन को भगवान् के ऐश्वररूप का दर्शन करने का अधिकार है – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने हे भारत ! सम्बोधन किया है । अथवा, जिस वंश में अर्जुन का जन्म हुआ है उस वंश में उत्पन्न किसी भी साधुजन ने ऐश्वररूप को नहीं देखा है, अतएव अर्जुन भरतवंश में श्रेष्ठ है -- यह सूचित करने के लिए 'भारत' शब्द से भगवान् ने सम्बोधन किया है ।

10. 'गुडाका' का अर्थ है निद्रा । निद्रा तमोगुण का लक्षण है, जो निद्रा के वशीभूत रहता है उसमें भगवान् के ऐश्वररूप के दर्शन की योग्यता नहीं होती है, किन्तु अर्जुन गुडाकेश अर्थात् जितनिद्र है अतएव अर्जुन में ऐश्वररूप के दर्शन की योग्यता है – यह सूचित करने के लिए ही 'गुडाकेश' सम्बोधन का प्रयोग है ।

15 अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा स्वभावसिद्धेन चक्षुषा मां दिव्यरूपं द्रष्टुं न तु शक्यसे न शक्नोषि तु एव । शक्ष्यस इति पाठे शक्तो न भविष्यसीत्यर्थः । सौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यंश्छान्दस इति वा । दिवादौ पाठो वेत्येव सांप्रदायिकम् ।

16 तर्हि त्वां द्रष्टुं कथं शक्नुयामत आह- दिव्यमप्राकृतं मम दिव्यरूपदर्शनक्षमं ददामि ते तुभ्यं चक्षुस्तेन दिव्येन चक्षुषा पश्य मे योगमघटनघटनासामर्थ्यातिशयमैश्वरमीश्वरस्य ममासाधारणम् ॥ 8 ॥

17 भगवानर्जुनाय दिव्यं रूपं दर्शितवान् । स च तद्दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो भगवन्तं विज्ञापितवानितीमं वृत्तान्तमेवमुक्त्वेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति –

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ 9 ॥

15 तुम अपने इन प्राकृत = प्रकृति से निर्मित अर्थात् स्वभावसिद्ध नेत्रों से ही दिव्यरूप मुझको नहीं देख सकते हो -- यह ठीक ही है । 'शक्ष्यसे' – यदि यह पाठ है तो 'देखने में शक्त = समर्थ नहीं होओगे' – यह अर्थ होगा । यहाँ 'शक्यसे' पाठ में सौवादिक = स्वादिगण में पठित 'शक्[11]' धातु से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व लगनेवाले 'श्नु' विकरण के स्थान पर दैवादिक = दिवादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व लगनेवाला 'श्यन्[12]' विकरण[13] हुआ है, अथवा यह छान्दस पाठ है । अथवा यह दिवादिगण में पठित 'शक्[15]' धातु से रचित पाठ है – यही साम्प्रदायिक मत है ।

16 'तो फिर मैं आपको कैसे देख सकता हूँ' – इस शंका से भगवान् कहते हैं -- मैं तुमको दिव्य = अप्राकृत-स्वभावसिद्ध से अतिरिक्त अर्थात् मेरे दिव्यरूप का दर्शन करने में समर्थ नेत्र देता हूँ, उन दिव्य नेत्रों से तुम मेरे ऐश्वर अर्थात् मुझ ईश्वर के असाधारण योग = अघटनघटनासामर्थ्य -- अघटित को घटित करने के सामर्थ्य के अतिशय को देखो ॥ 8 ॥

17 'भगवान् ने अर्जुन को दिव्यरूप दिखाया और अर्जुन ने उस रूपको देखकर आश्चर्ययुक्त हो भगवान् से प्रार्थना की' -- यही वृत्तान्त 'एवमुक्त्वा'-- इत्यादि छः श्लोकों से धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय ने कहा --

---

11. 'शक्लृ शक्तौ' (स्वादिगण, 16) = स्वादिगण में पठित परस्मैपदी 'शक्' धातु 'सकना, समर्थ होना, सहना, शक्तियुक्त होना' के अर्थ में होती है । 'स्वादिभ्यः श्नुः' (पाणिनिसूत्र, 3.1.73) = स्वादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व 'श्नु' (नु) विकरण लगता है । जैसे – शक् + श्नु (नु) + ति = 'शक्नोति' -- इत्यादि ।

12. 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पाणिनिसूत्र, 3.1.69) = दिवादिगण की धातुओं से तिङ् प्रत्ययों से पूर्व ' श्यन्' (य) विकरण लगता है । यहाँ विकल्प यह किया गया है कि 'शक्यसे' पाठ में स्वादिगण की 'शक्' धातु से लगनेवाले 'श्नु' विकरण के स्थान पर दिवादिगण की धातुओं से लगने वाला 'श्यन् ' विकरण हुआ है अर्थात् यहाँ पदविकरणव्यत्यय है ।

13. धातुरूपरचनापरक निविष्ट जोड = अनुषंगी को 'विकरण' कहते हैं । धातुरूपों की रचना के समय धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में जोडे जानेवाला गणद्योतक चिह्न 'विकरण' कहलाता है ।

14. 'छान्दस' वैदिक या आर्ष प्रयोग को कहते है ।

15. 'शक विभाषितो मर्षणे' (दिवादिगण, 76) = दिवादिगण में पठित विभाषित = उभयपदी 'शक्' धातु 'मर्षण = सहना, समर्थ होना' के अर्थ में होती है । दिवादिगण की धातुओं से 'श्यन्' विकरण लगता है । जैसे :-- शक् + श्यन् (य) + ति-ते = शक्यति -- शक्यते इत्यादि । प्रकृत में 'शक्यसे' पाठ दिवादिगण में पठित 'शक्' धातु से रचित पाठ ही है – ऐसा साम्प्रदायिक मत है ।

18 एवं नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेन चक्षुषाऽतो दिव्यं ददामि ते चक्षुरित्युक्त्वा ततो दिव्यचक्षुः-प्रदानादनन्तरं हे राजन्धृतराष्ट्र स्थिरो भव श्रवणाय । महान्सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महायोगेश्वरो हरिर्भक्तानां सर्वक्लेशापहारी भगवान्दर्शनायोग्यमपि दर्शयामास पार्थायैकान्त-भक्ताय परमं दिव्यं रूपमैश्वरम् ॥ 9 ॥

19 तदेव रूपं विशिनष्टि –

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ 10 ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ 11 ॥

20 अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे, अनेकानामद्भुतानां विस्मयहेतूनां दर्शनं यस्मिन्, अनेकानि दिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिन्, दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि अस्त्राणि यस्मिंस्तत्तथारूपम् ॥ 10 ॥

[सञ्जय ने कहा -- हे राजन् ! महायोगेश्वर हरि अर्थात् भक्तों के सर्वक्लेशापहारी भगवान् ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखाया ॥ 9 ॥]

18 'अर्जुन ! तुम मुझको अपने इन चर्मचक्षुओं से तो नहीं देख सकते हो, अत: मैं तुमको दिव्यचक्षु देता हूँ' -- इस प्रकार कहकर तदुपरान्त = दिव्यचक्षु प्रदान करने के अनन्तर – हे राजन्[16] ! हे धृतराष्ट्र ! सुनने के लिए स्थिर हो जाओ -- महायोगेश्वर[17] = जो महान् -- सर्वोत्कृष्ट हैं और योगेश्वर भी हैं उन महायोगेश्वर हरि[18] अर्थात् भक्तों के सब प्रकार के क्लेशों को हरनेवाले भगवान् ने अपने एकान्त--अनन्य भक्त अर्जुन को चर्मचक्षुओं से दर्शन के अयोग्य भी अपना परम दिव्य ऐश्वर रूप दिखाया ॥ 9 ॥

19 उसी रूप के विशेषण कहते हैं --
[जो अनेक मुख और नेत्रोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला, अनेक दिव्य आभूषणोंवाला, अनेक दिव्य आयुधों को उठाए हुए, दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, देव = द्योतनात्मक, अनन्त और विश्वतोमुख = सब ओर मुखवाला था -- उस रूप को भगवान् ने दिखाया अथवा अर्जुन ने देखा ॥ 10–11 ॥]

20 जिस रूप में अनेक मुख और नेत्र थे, जिसमें अनेक अद्भुत-विस्मय के हेतुओं का दर्शन था, जिसमें अनेक दिव्य आभूषण थे तथा जिसमें अनेक दिव्य आयुध – अस्त्र उठाये हुए थे उस ऐसे रूप को दिखाया -- देखा ॥ 10 ॥

---

16. महायोगेश्वर, हरि-कृष्ण से अनुगृहीत पाण्डवों के साथ आपने सन्धि नहीं की और न कर रहे हो, अत: आप राजनीति से हीन नाममात्र के राजा हो – यह 'हे राजन्' – सम्बोधन से ध्वनित किया गया है ।

17. भगवान् विश्वरूपप्रदर्शन आदि जिस किसी भी प्रकार से पाण्डवों के दु:खों को हरने में अतिसमर्थ हैं – यह 'महायोगेश्वर' शब्द से सूचित किया गया है ।

18. हरत्यविद्यां सकार्यामिति हरि: = जो भक्तों की अविद्या और उसके कार्यों को हरते हैं वे 'हरि' हैं । 'हरि' शब्द से यह कहा गया है कि भगवान् अपने भक्त पाण्डवों के दु:खों का हरण करने में उद्यत – तत्पर हैं ।

21 दिव्यानि माल्यानि पुष्पमयानि रत्नमयानि च तथा दिव्याम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येन तद्दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यो गन्धोऽस्येति दिव्यगन्धस्तदनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयमनेकाद्भुतप्रचुरं, देवं द्योतनात्मकम्, अनन्तमपरिच्छिन्नं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तद्रूपं दर्शयामासेति पूर्वेण संबन्धः । अर्जुनो ददर्शेत्यध्याहारो वा ॥ 11 ॥

22 देवमित्युक्तं विवृणोति –

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ 12 ॥

23 दिवि अन्तरिक्षे सूर्याणां सहस्रस्यापरिमितसूर्यसमूहस्य युगपदुदितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासो दीप्तेः सदृशी तुल्या यदि स्याद्यदि वा न स्यात्ततोऽपि नूनं विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्येतेत्यहं मन्ये, अन्या तूपमा नास्त्येवेत्यर्थः । अत्रा-

---

21 जिससे दिव्य पुष्पमय और रत्नमय मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे उस दिव्यमाल्याम्बरधर को; जिसका दिव्यगन्ध का अनुलेपन था उसको; जो सर्वाश्चर्यमय = अनेक अद्भुतप्राचुर्य से युक्त, देव = द्योतनात्मक, अनन्त = अपरिच्छिन्न था उसको, तथा जिसमें विश्वतः -- सर्वतः अर्थात् सब ओर मुख थे उस रूप को भगवान् ने दिखाया -- यह पूर्व के साथ सम्बन्ध है । अथवा, उस रूप को अर्जुन ने देखा -- यह अध्याहार करना चाहिए ॥ 11 ॥

22 भगवान् के उस रूप को जो 'देव' कहा है उसका विवरण करते हैं –
[आकाश में यदि हजार सूर्यों के एकसाथ उदित होने से उत्थित -- उत्पन्न जो प्रभा हो तो कदाचित् वह उस विश्वरूप महात्मा के भास-तेज के सदृश हो सकती है और नहीं भी हो सकती है ॥ 12 ॥]

23 दिवि = अन्तरिक्ष में यदि हजार सूर्यों अर्थात् अपरिमित सूर्यसमूह के एकसाथ उदित होने से एक साथ उत्थित -- प्रकट हुई जो भा-प्रभा हो तो कदाचित् वह उस विश्वरूप महात्मा के भास--दीप्ति के सदृश -- तुल्य हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, उस प्रभा से भी निश्चय ही विश्वरूप की ही भा-प्रभा-कान्ति अधिक होगी -- यह मैं मानता हूँ, वस्तुतः उस प्रभा की कोई दूसरी उपमा तो है ही नहीं -- यह अर्थ है । यहाँ अविद्यमान का अध्यवसाय होने से और तदभाव = उपमा के अभाव से उपमाभावपरक होने से अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति[19] उत्प्रेक्षा[20] की व्यञ्जना करती

---

19. 'अध्यवसाये अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः' (अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र 23) = अध्यवसाय में यदि अध्यवसित – विषयी की प्रधानता हो तो 'अतिशयोक्ति' अलंकार होता है । 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् = 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया' (काव्यप्रकाश, सूत्र 153) = 'यद्यर्थ' के अर्थात् 'यदि' शब्द से अथवा उसके समानार्थक 'चेत् ' शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थ की कल्पना है वह तीसरे प्रकार की 'अतिशयोक्ति' होती है । उसमें जब उपमा का ही अभाव होता है तो **'अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति' होती है । शोभाकरमित्र ने अपने 'अलङ्काररत्नाकर' ग्रन्थ में इस अतिशयोक्तिभेद को** 'क्रियातिपत्ति' नामक अलंकार माना है (यद्यर्थोक्तावसम्भाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः, अलङ्काररत्नाकर, 36) ।

20. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ (काव्यादर्श, 2.234)

'मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम् आदि शब्दों से उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है, और इव शब्द से भी उसकी प्रतीति होती है ।

विद्यमानाध्यवसायात्तदभावेनोपमाभावपरादभूतोपमारूपेयमतिशयोक्तिरुत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती सर्वथा निरुपमत्वमेव व्यनक्ति उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावित्यादिवत् ॥ 12 ॥

24 इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्' इति भगवदाज्ञप्तमप्यनुभूतवानर्जुन इत्याह –

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ 13 ॥

25 एकस्थमेकत्र स्थितं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा देवपितृमनुष्यादिनानाप्रकारैरपश्यद्देवदेवस्य भगवतः तत्र विश्वरूपे शरीरे पाण्डवोऽर्जुनस्तदा विश्वरूपाश्चर्यदर्शनदशायाम् ॥ 13 ॥

26 एवमद्भुतदर्शनेऽप्यर्जुनो न बिभयांचकार, नापि नेत्रे संचचार, नापि संभ्रमात्कर्तव्यं विसस्मार, नापि तस्माद्देशादपससार, किं त्वतिधीरत्वात्तत्कालोचितमेव व्यवजहार महति चित्तक्षोभेऽपीत्याह –

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ 14 ॥

हुई सर्वथा निरुपमत्व को ही व्यक्त करती है, जैसे माघ कवि द्वारा उक्त 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ[21]' -- इत्यादि श्लोक में निरुपमत्व व्यक्त किया गया है[22] ॥ 12 ॥

24 'अब इस मेरे शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् को देखो' – इस प्रकार भगवान् के द्वारा आज्ञप्त = उक्त का अर्जुन ने अनुभव किया – यह सञ्जय कहते हैं :– [तब अर्थात् विश्वरूप आश्चर्य के दर्शन की दशा में पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस देवों के देव भगवान् कृष्ण के विश्वरूप शरीर में एक ही स्थान पर स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देखा ॥ 13 ॥]

25 तदा = तब अर्थात् विश्वरूप आश्चर्य के दर्शन की दशा में पाण्डव[23] = पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव भगवान् के तत्र = विश्वरूप शरीर में एकस्थ = एकत्र – एक ही स्थान पर स्थित अनेकधा = अनेक प्रकार से अर्थात् देव, पितृ, मनुष्य आदि नाना प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देखा ॥ 13 ॥

26 ऐसा अद्भुत दर्शन करने पर भी अर्जुन न भयभीत हुए, न उनके नेत्रों में संचार हुआ, न संभ्रम से अपने कर्तव्य को भूले और न उस देश-स्थान से ही हटे, किन्तु उन्होंने अतिधीर = अत्यन्त

21. 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ॥
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ (शिशुपालवध, 3.8)
'आकाश में यदि आकाशगंगा के जल के दो पृथक् प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर बहने लगे तो कदाचित् वह मौक्तिक माला की दो लड़ियों से विभूषित भगवान् कृष्ण के तमालनील वक्ष के सदृश हो सकता है' ।

22. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार माघ ने भगवान् के वक्षःस्थल पर विभूषित मौक्तिक माला की दो लड़ियों की आकाश में असम्भावित दो गंगा प्रवाहों से उपमा देकर निरुपमत्व ही व्यक्त किया है उसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में विश्वरूप महात्मा के तेज की आकाश में असम्भावित हजार सूर्यों के एक साथ उदित होने से उत्थित प्रभा से उपमा देकर और उसके अभाव में अन्य कोई उपमान न कहकर अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति से उत्प्रेक्षा की व्यञ्जना करते हुए भगवद्दीप्ति का निरुपमत्व ही व्यक्त किया है ।

23. यहाँ 'पाण्डव' शब्द से यह ध्वनित किया गया है कि भगवान् के भक्त अर्जुन के पिता पाण्डु अत्यन्त भाग्यशाली थे और ईश्वर के विमुख रहनेवाले दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र अत्यन्त अभाग्यशाली थे ।

27 ततस्तद्दर्शनादनन्तरं विस्मयेनाद्भुतदर्शनप्रभावेनालौकिकचित्तचमत्कारविशेषेणाऽऽविष्टो व्याप्तः । अत एव हृष्टरोमा पुलकितः सन्स प्रख्यातमहादेवसङ्ग्रामादिप्रभावो धनंजयो युधिष्ठिरराजसूय उत्तरगोग्रहे च सर्वात्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति प्रथितमहापराक्रमोऽतिधीरः साक्षादग्निरिति वा महातेजस्वित्वात्, देवं तमेव विश्वरूपधरं नारायणं शिरसा भूमिलग्नेन प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धातिशयेन नत्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः संपुटीकृतहस्त युग्मः सन्नभाषतोक्तवान् । अत्र विस्मयाख्यस्थायिभावस्यार्जुनगतस्याऽऽलम्बनविभावेन भगवता विश्वरूपेणोद्दीपनविभावेनासकृ-

धैर्यवान् होने से चित्त में महान् क्षोभ होने पर भी तत्कालोचित ही व्यवहार किया -- यह सञ्जय कहते हैं --

[तब अर्थात् अद्भुत दर्शन करने के अनन्तर आश्चर्य से युक्त हुए अतएव रोमाञ्चित होकर अर्जुन ने देव = विश्वरूपधर भगवान् को शिर से प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा ।। 14 ।।]

27 ततः = तब अर्थात् अद्भुत दर्शन करने के अनन्तर विस्मय -- आश्चर्य से अर्थात् अद्भुतदर्शन-जनित चित्त के अलौकिक चमत्कारविशेष से आविष्ट = व्याप्त हुए अतएव हृष्टरोमा = पुलकित होकर प्रख्यात महादेवसंग्रामादि प्रभाववाले धनंजय ने = युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और विराटपुत्र उत्तर के गोग्रहण में सब राजाओं को जीतकर धन एकत्रित किया था -- इस प्रकार प्रथित -- विख्यात महापराक्रमी अतएव अतिधीर अथवा महातेजस्वी होने से साक्षात् अग्नि अर्जुन ने देव अर्थात् उस विश्वरूपधर नारायण देव को ही भूमिलग्न शिर से प्रणाम कर = प्रकर्ष से अर्थात् भक्ति और श्रद्धा के अतिशय से नमस्कार कर कृताञ्जलि हो अर्थात् दोनों हाथ संपुटितकर--जोड़कर कहा । यहाँ विश्वरूप भगवान् आलम्बन विभाव[24]; उनका असकृत् = बार-बार दर्शन-उद्दीपन विभाव [25]; सात्त्विक रोमाञ्च, अञ्जलिकरणरूप नमस्कार-अनुभाव[26] और अनुभाव से आक्षिप्त अथवा धृति, मति, हर्ष, वितर्क आदि -- व्यभिचारी भाव[27] से अर्जुनगत 'विस्मय[28]' संज्ञक स्थायीभाव[29] के परिपोषण के

24. 'अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः' (भावप्रकाशन) = जो पदार्थों का ज्ञान कराते हैं उन्हें 'विभाव' कहते हैं । वे दो प्रकार के होते हैं -- आलम्बनविभाव और उद्दीपन विभाव । जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसको 'आलम्बन विभाव' कहते हैं । जैसे -- प्रकृत में विश्वरूप भगवान् को देखकर अर्जुन के मन में 'विस्मय' की उत्पत्ति हुई है, अतएव विश्वरूप भगवान् आलम्बन विभाव हैं ।

25. जिससे रस का उद्दीपन होता है उसको 'उद्दीपन-विभाव' कहते हैं । यहाँ विश्वरूप भगवान् का बार-बार दर्शन करना उद्दीपन विभाव है ।

26. 'विभावितार्थानुभूतिरनुभावः' (भावप्रकाशन) = विभावित अर्थों की अनुभूति 'अनुभाव' कही जाती है । रत्यादि स्थायीभाव की सूचना करनेवाले विकार 'अनुभाव' कहलाते हैं (अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः--दशरूपक) । यहाँ विस्मयसूचक विकार रोमाञ्च होना और हाथ जोड़कर नमस्कार करना -- अनुभाव हैं ।

27. अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।। (भावप्रकाशन)

'जिनका स्वभावतः बार-बार अस्थायी जन्म होता है, जो स्थायीभाव के साथ रस-निष्पत्ति में विचरण करते हैं -- वे 'व्यभिचारी-भाव' कहे जाते हैं ।'

28. 'विविधः स्मयो हर्ष इति विस्मयः' = विभिन्न प्रकार का आश्चर्य और हर्ष 'विस्मय' कहलाता है । 'विस्मयते विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्विस्मापयतीति वा विस्मयः' = जो विस्मय करता है, जिससे विस्मय किया जाता है या कोई स्वयं विस्मय कराता है -- वह 'विस्मय' है (भावप्रकाशन) ।

29. अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाद्यानुबन्धिभिः ।
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।। (भावप्रकाशन)

तद्दर्शनेनानुभावेन सात्विकरोमहर्षेण नमस्कारेणाञ्जलिकरणेन च व्यभिचारिणा चानुभावाक्षिप्तेन वा धृतिमतिहर्षवितर्कादिना परिपोषात्सवासनानां श्रोतॄणां तादृशश्चित्तचमत्कारोऽपि तद्भेदानध्यवसायात्परिपोषं गतः परमानन्दास्वादरूपेणाद्भुतरसो भवतीति सूचितम् ॥ 14 ॥

28 **यद्भगवता दर्शितं विश्वरूपं तद्भगवद्दत्तेन दिव्येन चक्षुषा सर्वलोकादृश्यमपि पश्याम्यहो मम भाग्यप्रकर्ष इति स्वानुभवमाविष्कुर्वन् –**

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥15॥

29 **पश्यामि चाक्षुषज्ञानविषयी करोमि हे देव तव देहे विश्वरूपे देवान्वस्वादीन्सर्वान्, तथा भूतविशेषाणां स्थावराणां जङ्गमानां च नानासंस्थानानां संघान्समूहान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखमी-**

कारण वासनायुक्त श्रोताओं का तादृश चित्तचमत्कार[30] भी तद्भेदानवधारण से परिपुष्ट होकर परमानन्द-आस्वादरूप से अद्भुत-रस[31] होता है -- यह सूचित किया गया है ।। 14 ।।

28 'भगवान् ने जो विश्वरूप दिखाया है उस सर्वलोकादृश्य को भी मैं भगवान् के दिये हुए दिव्य चक्षुओं से देख रहा हूं । अहो ! मेरा कैसा भाग्योदय है' -- इस प्रकार अपने अनुभव का आविष्कार करते हुए अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे देव ! मैं आपके शरीर में समस्त देवों, भूतविशेष = स्थावर और जंगम के अनेक समुदायों, कमलासन पर बैठे हुए ईश ब्रह्मा, समस्त ऋषियों और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ।। 15 ।।]

29 हे देव[32] ! मैं आपके विश्वरूप शरीर में वसु आदि समस्त देवों[33] को, तथा भूतविशेषों अर्थात् स्थावरों और जंगमों के अनेक संस्थानों के संघों = समूहों को, तथा कमलासन पर बैठे हुए =

'जो चित्त में चिरकाल तक अवस्थित रहते हैं, जो रसानुबन्धों के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा जो रसरूप हैं वे विद्वानों द्वारा 'स्थायीभाव' कहे जाते हैं ।

30. 'चित्तचमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः' (साहित्यदर्पण) = विस्मय नामक चित्त का विस्तार 'चित्तचमत्कार' कहलाता है । 'चित्त का विस्तार' स्वाद का एक प्रकार है । काव्य के परिशीलन से सहृदय में विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना 'स्वाद' कहलाता है । चित्तविस्ताररूप स्वाद की स्थिति वीर तथा अद्भुत रस में होती है (द्रष्टव्य – दशरूपक, 4.43-44) ।

31. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।। (सादित्यदर्पण, 3.1)

'सहृदय-हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी – व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं, तब आस्वादरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं ।' 'विस्मय' स्थायीभाव स्वरूप 'अद्भुत-रस' कहलाता है । अलौकिक वस्तु या दिव्यजन इसका 'आलम्बन' और उसका बार-बार दर्शन या गुणानुवाद 'उद्दीपन' होता है । रोमाञ्च, गद्गदस्वर आदि इसके 'अनुभाव' होते हैं । वितर्क, हर्ष, धृति आदि इसके 'व्यभिचारीभाव' होते हैं (साहित्यदर्पण) ।

32. भगवान् स्वयंप्रकाश हैं, उनको प्रकाशित करनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है – यह स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'देव' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

33. यद्यपि देवों का भूतविशेषसंघ में अन्तर्भाव है, किन्तु देवों के उत्कर्ष के कारण उनका पृथक उल्लेख किया गया है ।

शमीशितारं सर्वेषां कमलासनस्थं पृथ्वीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं भगवन्नाभिकमलासनस्थमिति वा । तथा -- ऋषींश्च सर्वान्वशिष्ठादीन्ब्रह्मपुत्रान्, उरागांश्च दिव्यानप्राकृतान्वासुकिप्रभृतीन्पश्यामीति सर्वत्रान्वयः ॥ 15 ॥

30 यत्र भगवद्देहे सर्वमिदं दृष्टवान्, तमेव विशिनष्टि--

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥16॥

31 बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि चानेकानि यस्य तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा त्वां सर्वतः सर्वत्रानन्तानि रूपाणि यस्येति तम् । तव तु पुनर्नान्तमवसानं न मध्यं नाप्यादिं पश्यामि सर्वगतत्वात्, हे विश्वेश्वर हे विश्वरूप संबोधनद्वयमतिसंभ्रमात् ॥ 16 ॥

32 तमेव विश्वरूपं भगवन्तं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि --

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्षं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ 17 ॥

पृथ्वीरूप पद्म-कमल के मध्य में मेरुकर्णिका के आसन पर बैठे हुए अथवा भगवान् के नाभिकमलरूप आसन पर बैठे हुए सबके ईश = नियामक चतुर्मुख ब्रह्मा[34] को, तथा ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ आदि समस्त ऋषियों को और वासुकि आदि दिव्य अर्थात् अप्राकृत सर्पों को देख रहा हूँ = चाक्षुषज्ञान का विषय कर रहा हूँ । 'पश्यामि'- इस क्रिया पद का सर्वत्र = सबके साथ अन्वय है ॥ 15 ॥

30 भगवान् के जिस शरीर में यह सब अर्जुन ने देखा उसी शरीर का विशेषण कहते हैं :--
[हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंवाला तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । मैं आपके न अन्त को, न मध्य को और न आदि को ही देख रहा हूँ ॥ 16 ॥]

31 जिनके बाहु, उदर, मुख और नेत्र अनेक हैं उन अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंवाले आपको मैं सर्वतः = सर्वत्र अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । पुनः मैं आपके तो न अन्त को, न मध्य को और न आदि को ही देख रहा हूँ, क्योंकि आप सर्वगत हैं । हे विश्वेश्वर[35] ! हे विश्वरूप[36] ! -- ये दो सम्बोधन अत्यन्त संभ्रम के कारण कहे गये हैं ॥ 16 ॥

32 उन्हीं विश्वरूप भगवान् के प्रकारान्तर से विशेषण कहते हैं :--
[मैं आपको किरीट-मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त; सब ओर से दीप्तिमान् तेज का पुञ्ज; सब ओर से दीप्त अग्नि और सूर्य के समान द्युति-ज्योतियुक्त; दुर्निरीक्ष और अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥ 17 ॥]

---

34. यद्यपि ब्रह्मा का देवों में अन्तर्भाव है, किन्तु ब्रह्मा देवों के जनक होने के कारण सब देवों में श्रेष्ठ हैं, अतएव ब्रह्मा का पृथक् उल्लेख किया गया है ।

35. विश्व के आदि, मध्य और अन्तवाले होने पर भी भगवान् आदि, मध्य और अन्तवाले नहीं है, क्योंकि भगवान् विश्वरूप होने पर भी विश्वेश्वररूप हैं-- यह सूचित करने के लिए 'विश्वेश्वर' सम्बोधन का प्रयोग किया गया है ।

36. भगवान् के शरीर में विश्वदर्शन युक्तियुक्त ही है, कारण कि भगवान् विश्वरूप हैं, इसीलिए 'हे विश्वरूप !' सम्बोधन का प्रयोग है ।

33 किरीटगदाचक्रधारिणं च सर्वतोदीप्तिमन्तं तेजोराशिं च। अत एव दुर्निरीक्षं दिव्येन चक्षुषा विना निरीक्षितुमशक्यम्। सयकारपाठे दुःशब्दोऽपह्नववचनः। अनिरीक्ष्यमिति यावत्। दीप्तयोरनलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तमप्रमेयमित्थमयमिति परिच्छेत्तुमशक्यं त्वां समन्तात्सर्वतः पश्यामि दिव्येन चक्षुषा। अतोऽधिकारिभेदाद्दुर्निरीक्षं पश्यामीति न विरोधः ॥ 17 ॥

34 एवं तवातर्क्यनिरतिशयैश्वर्यदर्शनादनुमिनोमि –

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ 18 ॥

35 त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिना। त्वमेवास्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः। अत एव त्वमव्ययो नित्यः। शाश्वतस्य नित्यवेदप्रतिपाद्यतयाऽस्य धर्मस्य गोप्ता पालयिता। शाश्वतेति संबोधनं वा। तस्मिन्पक्षेऽऽव्ययो विनाशरहितः। अत एव सनातनश्चिरंतनः पुरुषो यः परमात्मा स एव त्वं मे मतो विदितोऽसि ॥ 18 ॥

36 किंच –

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ 19 ॥

---

33 मुकुट, गदा और चक्रधारी; सर्वतः = सब ओर से दीप्तिमान् तेज के पुञ्ज अतएव दुर्निरीक्ष = दिव्य चक्षुओं के बिना निरीक्ष -- दर्शन करने के अयोग्य = यकार सहित अर्थात् 'दुर्निरीक्ष्य' -- ऐसा पाठ होने पर 'दुः' शब्द अपह्नव – निषेधवाची है अतएव अनिरीक्ष्य अर्थात् दर्शन के अयोग्य; दीप्त-प्रज्वलित अग्नि और सूर्य की द्युति के समान द्युति -- कान्ति है जिसकी उस अप्रमेय = 'इत्थमयम्'- 'इस प्रकार के ये हैं' -- यह परिच्छेद -- निश्चय करने में अशक्य आपको मैं समन्तात् = सर्वतः = सब ओर से दिव्य चक्षुओं के द्वारा देख रहा हूँ। अतः अधिकारी-भेद के कारण यदि मैं आप दुर्निरीक्ष -- दुर्निरीक्ष्य को भी देख रहा हूँ तो इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ 17 ॥

34 इस प्रकार आपके अतर्क्य और निरतिशय ऐश्वर्य के दर्शन से मैं यह अनुमान करता हूँ कि :-- [आप ही वेदितव्य -- जानने के योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम निधान-आश्रय हैं, आप ही अव्यय -- अविनाशी हैं, शाश्वत धर्म के गोप्ता -- रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं -- यह मेरा मत है ॥ 18 ॥]

35 आप ही मुमुक्षुओं के द्वारा वेदान्त के श्रवण आदि से वेदितव्य -- ज्ञातव्य -- जानने के योग्य परम अक्षर = परब्रह्म हैं। आप ही इस विश्व के परम -- प्रकृष्ट निधान = जिसमें जगत् निहित है वह निधान अर्थात् आश्रय हैं अतएव आप अव्यय = नित्य हैं तथा शाश्वत = नित्य वेद का प्रतिपाद्य होने से शाश्वत इस धर्म के गोप्ता -- पालयिता -- रक्षक हैं। अथवा 'शाश्वत' -- यह सम्बोधन है। उस पक्ष में अव्यय का अर्थ विनाशरहित होगा। अतएव सनातन = चिरन्तन पुरुष जो परमात्मा है वही आप हैं -- यह मैं मानता अर्थात् जानता हूँ ॥ 18 ॥

36 इसके अतिरिक्त --
[मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित; अनन्तवीर्य = अनन्त प्रभाव से युक्त; अनन्तबाहु = अनन्त भुजाओंवाला; चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाला; दीप्त-प्रदीप्त हुताश-अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेज से इस विश्व को संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥ 19 ॥]

37 आदिरुत्पत्तिर्मध्यं स्थितिरन्तो विनाशस्तद्रहितमनादिमध्यान्तम् । अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम् । अनन्ता बाहवो यस्य तम् । उपलक्षणमेतन्मुखादीनामपि । शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम् । दीप्तो हुताशो वक्त्रं यस्य वक्त्रेषु यस्येति वा तम् । स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं संतापयन्तं त्वा त्वां पश्यामि ॥ 19 ॥

38 प्रकृतस्य भगवद्रूपस्य व्याप्तिमाह –

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ 20 ॥

39 द्यावापृथिव्योरिदमन्तरमन्तरिक्षं हि एव त्वयैवैकेन व्याप्तं दिशश्च सर्वा व्याप्ताः । दृष्ट्वाऽद्भुत-मत्यन्तविस्मयकरमिदमुग्रं दुरधिगमं महातेजस्वित्वात्तव रूपमुपलभ्य लोकत्रयं प्रव्यथितमत्यन्तभीतं जातं हे महात्मन्साधूनामभयदायक । इतः परमिदमुपसंहरेत्यभिप्रायः ॥ 20 ॥

40 अधुना भूभारसंहारकारित्वमात्मनः प्रकटयन्तं भगवन्तं पश्यन्नाह –

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

---

37 आदि -- उत्पत्ति, मध्य -- स्थिति और अन्त -- विनाश--इनसे रहित अनादिमध्यान्त; अनन्त वीर्य = प्रभाव है जिनका उन अनन्तप्रभाव; अनन्त भुजाएँ हैं जिनकी उन अनन्तबाहु -- यह मुखादि का भी उपलक्षण है; चन्द्र और सूर्य जिनके नेत्र हैं उन शशिसूर्यनेत्र; दीप्त-प्रदीप्त अग्नि मुख है जिनका अथवा प्रदीप्त अग्नि मुख में है जिनके उन दीप्तहुताशवक्त्र; तथा अपने तेज से इस विश्व को तप्त -- संतप्त करते हुए आपको मैं देख रहा हूँ ॥ 19 ॥

38 प्रकृत भगवद्-रूप की व्याप्ति कहते हैं :--
[हे महात्मन् ! यह द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य का सम्पूर्ण आकाश और सब दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं । आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक प्रव्यथित = अत्यन्त भीत हो रहे हैं ॥ 20 ॥]

39 द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य का यह अन्तर = अन्तरिक्ष एकमात्र आपसे ही व्याप्त है और सब दिशाएँ भी आपसे ही व्याप्त हैं । आपके इस अद्भुत = अत्यन्त विस्मयकर और उग्र = महातेजस्वी होने से दुरधिगम रूप को देखकर -- प्राप्त कर तीनों लोक प्रव्यथित = अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं । हे महात्मन्[37] ! हे साधुओं को अभयदान देनेवाले आप इससे आगे इस रूप का उपसंहार कीजिए -- यह अभिप्राय है ॥ 20 ॥

40 अब अपने भूभार के संहारकारित्व -- नाशकारित्व को प्रकट करते हुए भगवान् को देखते हुए अर्जुन कहते हैं --
[ये देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कोई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपकी स्तुति भी कर रहे हैं, तथा महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति' = 'कल्याण हो' -- यह कहकर पुष्कल = अर्थपूर्ण स्तुतिवाक्यों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ 21 ॥]

---

37. अक्षुद्र स्वभाव अतएव महात्मा आपका निर्दोषलोकपीडन उचित नहीं है– इस आशय से 'हे महात्मन् !' – यह सम्बोधन है ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ 21 ॥

41 **अमी हि सुरसंघा वस्वादिदेवगणा भूभारावतारार्थं मनुष्यरूपेणावतीर्णा युध्यमानाः सन्तस्त्वा त्वां विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते । एवमसुरसंघा इति पदच्छेदेन भूभारभूता दुर्योधनादयस्त्वां विशन्तीत्यपि वक्तव्यम् । एवमुभयोरपि सेनयोः केचिद्भीताः पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः प्राञ्जलयो गृणन्ति स्तुवन्ति त्वाम् । एवं प्रत्युपस्थिते युद्ध उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य स्वस्त्यस्तु सर्वस्य जगत इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा नारदप्रभृतयो युद्धदर्शनार्थमागता विश्वविनाशपरिहाराय स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिर्गुणोत्कर्षप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः पुष्कलाभिः परिपूर्णार्थाभिः ॥ 21 ॥**

42 **किं चान्यत् –**

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ 22 ॥

43 **रुद्राश्चाऽऽदित्याश्च वसवो ये च साध्या नाम देवगणा विश्वे तुल्यविभक्तिकविश्वदेव-शब्दाभ्यामुच्यमाना देवगणा अश्विनौ नासत्यदस्रौ मरुत एकोनपञ्चाशद्देवगणा ऊष्मपाश्च पितरो**

41 ये सुरसंघ = वसु आदि देवगण भूभार -- पृथ्वी के भार को उतारने के लिए मनुष्यरूप से अवतीर्ण होकर युद्ध करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- प्रवेश करते दिखाई दे रहे हैं । इसीप्रकार 'त्वासुरसंघा' -- इस पद का 'त्वा + असुरसंघा' -- ऐसा परच्छेद करने से 'पृथ्वी के भारभूत दुर्योधन आदि असुरसंघ आपमें प्रवेश कर रहे हैं' -- यह भी कहा जा सकता है । इस प्रकार दोनों सेनाओं में से कोई तो भयभीत होकर भागने में भी असमर्थ होते हुए हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं । इसीप्रकार प्रत्युपस्थित -- उपस्थित युद्ध में उत्पातादि निमित्तों को देखकर 'सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो' -- यह कहकर युद्ध देखने के लिए आये हुए नारद आदि महर्षि और सिद्धों के समूह विश्वविनाश के परिहार के लिए पुष्कल = परिपूर्ण अर्थवाली स्तुतियों = गुणों के उत्कर्ष का प्रतिपादन करनेवाली वाणियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ।। 21 ।।

42 इसके अतिरिक्त अन्य --

[जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, साध्य देवगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर-राक्षस और सिद्धगण हैं वे सब ही विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ।। 22।।]

43 जो एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और साध्य[38] नामक देवगण, विश्वे अर्थात् तुल्यविभक्तिक विश्व और देव -- शब्दों से उच्यमान विश्वेदेव[39] नामक देवगण तथा नासत्य और दस्र -- दो अश्विनीकुमार, मरुत् नामक उनचास देवगण, ऊष्मपा[40] = पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और

38. साध्य: = साध्यमस्त्यस्येति । अर्शआदित्वादच् । गणदेवताविशेष: = देवों के एक वर्ग का नाम 'साध्य' है । **ये विराट अण्ड से प्रकट हुए हैं । ये योगशक्ति द्वारा प्राणियों पर शासन करते हैं । ये संख्या में बारह हैं – मन,** मन्ता, प्राण, नर, अपान, वीर्यवान्, विनिर्मय, नय, दस, नारायण, वृष और प्रभु ।

39. विश्वेदेव: = विश्वे दीव्यतीति । दिव् + अच् । गणदेवताविशेष: = देवों के एक वर्ग का नाम 'विश्वेदेव' है । ये 'विश्वा' के पुत्र कहे जाते हैं । ये सदा पितरों के साथ गोचर होते हैं अतएव ये श्राद्धदेव कहलाते हैं । ये संख्या में दस हैं -- क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, ध्वनि, रोचक, पुरुरवा और आद्रव ।

40. ऊष्मपा: = ऊष्माणं पिबन्तीत्यूष्मपा: पितर: = जो ऊष्ण – गर्म अन्न को पीते या ग्रहण करते हैं वे ऊष्मपा

गन्धर्वाणां यक्षाणामसुराणां सिद्धानां च जातिभेदानां संघाः समूहा वीक्षन्ते पश्यन्ति त्वा त्वां तादृशाद्भुतदर्शनात्ते सर्व एव विस्मिताश्च विस्मयमलौकिकचमत्कारविशेषमापद्यन्ते च ॥ 22 ॥

44 लोकत्रयं प्रव्यथितमित्युक्तमुपसंहरति–

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ 23 ॥

45 हे महाबाहो ते तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वेऽपि प्राणिनः प्रव्यथितास्तथाऽहं प्रव्यथितो भयेन । कीदृशं ते रूपं महदतिप्रमाणं, बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तत्, बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिंस्तत्, बहून्युदराणि यस्मिंस्तत्, बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालमतिभयानकं दृष्ट्वैव मत्सहिताः सर्वे लोका भयेन पीडिता इत्यर्थः ॥ 23 ॥

46 भयानकत्वमेव प्रपञ्चयति–

सिद्ध जातिभेदों के संघ = समूह[41] हैं वे सब ही आपको देख रहे हैं और आपके तादृश अद्भुतदर्शन से विस्मित हैं अर्थात् विस्मय = अलौकिक चमत्कारविशेष में पड़े हुए हैं ।। 22 ।।

44 'लोकत्रयं प्रव्यथितम्' = 'तीनों लोक अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं' -- इस प्रकार उक्त कथन का उपसंहार करते हैं :--

[हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले; बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले; बहुत उदरोंवाले तथा बहुत सी विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ।। 23 ।।]

45 हे महाबाहो[42] ! आपके रूप को देखकर सब लोक अर्थात् सभी प्राणी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी भय से अत्यन्त व्यथित हूँ । कैसा आपका रूप है-- महान्[43] = अतिप्रमाणवाला, जिसमें बहुत मुख और नेत्र हैं, जिसमें बहुत भुजाएँ, जंघाएं और पैर हैं, जिसमें बहुत उदर हैं और जो बहुत दाढ़ों से कराल अर्थात् अत्यन्त भयानक है उस रूप को देखकर ही मेरे सहित सब लोक-प्राणी भय से पीडित हैं -- यह अर्थ है ।। 23 ।।

46 उक्त भगवद्-रूप की भयानकता का विस्तार करते हैं : --

अर्थात् पितर कहलाते हैं । पितरों की एक श्रेणी का नाम 'ऊष्मपा' है । श्रुतिवचन भी है – 'ऊष्मभागा हि पितरः' (कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1.3.10) = 'पितृगण ऊष्म – गर्म अन्न को ही अपने भाग के रूप में ग्रहण करते हैं अर्थात् पितर ऊष्मभागी होते हैं' । स्मृति भी कहती है –

'यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ।।'

'जब तक अन्न ऊष्म -- गर्म रहता है, जब तक भोजन करते हुए ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं और जबतक हविष्य के गुणों का वर्णन नहीं किया जाता है तब तक पितृगण उस अन्न का भोजन करते हैं ।'

41. अर्थात् हाहा – हूहू आदि गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि असुर और कपिल आदि सिद्ध जातिभेदों के जो समूह हैं ।

42. भगवान् के विश्वरूपदर्शन से अर्जुन के मन में भगवान् के प्रति श्रद्धा की उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि हो रही है, यही सूचित करने के लिए अर्जुन ने सम्बोधन किया है – 'हे महाबाहो !' = आपकी बाहु की शक्ति महान् – असीम है, अतः आप अनन्तशक्तिसम्पन्न हो ।

43. महान् अर्थात् आदि, मध्य और अन्त से शून्य है; अतिप्रमाणवाला है ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥24 ॥

47 **न केवलं प्रव्यथित एवाहं त्वां दृष्ट्वा किं तु प्रव्यथितोऽन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं धृतिं धैर्यं देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं शमं च मनःप्रसादं न विन्दामि न लभे हे विष्णो । त्वां कीदृशं नभःस्पृशमन्तरिक्षव्यापिनं दीप्तं प्रज्वलितमनेकवर्णं भयंकरनानासंस्थानयुक्तं व्यात्ताननं विवृतमुखं दीप्तविशालनेत्रं प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषं त्वां दृष्ट्वा हि एव प्रव्यथितान्तरात्माऽहं धृतिं शमं च न विन्दामीत्यन्वयः ॥ 24 ॥**

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 25 ॥

48 **दंष्ट्राभिः करालानि विकृतत्वेन भयंकराणि प्रलयकालानलसदृशानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव न तु तानि प्राप्य भयवशेन दिशः पूर्वापरादिविवेकेन न जाने । अतो न लभे च शर्म सुखं त्वद्रूपद-**

[हे विष्णो ! आकाश का स्पृश किये हुए, दीप्त -- प्रदीप्त अनेक वर्णों से युक्त, व्यात्त -- विवृत्त मुखवाले, और दीप्त -- प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले आपको देखकर ही प्रव्यथित -- व्यथित अन्तरात्मा = अन्तःकरवाला मैं धैर्य और शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा हूँ ।। 24 ।।]

47 हे विष्णो[44] ! आपको देखकर न केवल प्रव्यथित -- व्यथित ही मैं, किन्तु व्यथित अन्तरात्मा = मन है जिसका वह मैं अर्थात् पीडितमना मैं धृति = धैर्य अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि को धारण करने के सामर्थ्य और शम -- शान्ति = मनःप्रसाद को नहीं पा रहा हूँ । कैसे आपको देखकर -- आकाश का स्पर्श किये हुए = अन्तरिक्षव्यापी, दीप्त -- प्रज्वलित अनेक वर्णवाले अर्थात् भयंकर नाना प्रकार के संस्थानों से युक्त, व्यात्तानन अर्थात् विवृत -- खुले हुए मुखवाले और दीप्त विशालनेत्रोंवाले अर्थात् प्रज्वलित विस्तीर्ण चक्षुओंवाले आपको देखकर ही व्यथित -- अन्तरात्मा मैं धैर्य और शम -- शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा हूँ -- यह अन्वय है ।। 24 ।।

[आपके दाढ़ों से विकराल -- भयंकर और कालाग्निसदृश मुखों को देखकर ही मैं न तो दिशाओं को जान पा रहा हूँ और न शर्म -- सुख ही पा रहा हूँ, इसलिए हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ।। 25 ।।]

48 आपके दाढ़ों से कराल-विकराल अर्थात् विकृतरूप होने से भयंकर और प्रलयकाल की अग्नि के सदृश मुखों को देखकर ही, न कि उनको प्राप्त कर, भयवश मैं दिशाओं के पूर्व--पश्चिमादि भेद को नहीं जान पा रहा हूँ, अतः आपके रूप-स्वरूपदर्शन में भी सुख नहीं पा रहा हूँ । अतः हे देवेश ! हे जगन्निवास[45] ! आप मेरे प्रति प्रसन्न होइये, जिससे कि भय का अभाव होने से मैं आपके

---

44. आपकी व्यापनशीलता मैंने देख ली, अब और अधिक देखने का सामर्थ्य नहीं है -- यह सूचित करते हुए अर्जुन ने 'हे विष्णो !' सम्बोधन किया है । अथवा, व्यापनशील आप तो मनोगत विचार को भी जानते हो -- इस आशय से उक्त सम्बोधन है । हे विष्णो ! आप व्यापक हैं (बृहत्वात् विष्णुरुच्यते-- महाभारत, 5.70.3), आप सब भूतों में रहते हैं और सब भूत आपमें ही प्रवेश करते हैं (विशति सर्वभूतानि विशन्ति सर्वभूतानि अत्रेति वा) अतएव आपसे आक्रान्त देश को त्यागकर अन्यत्र जाना भी सम्भव नहीं है-- इस भाव से उक्त सम्बोधन है ।

45. जो स्वयंप्रकाश हैं वे देव हैं और जो अपनी सन्निधि से सबके ऊपर शासन करते हैं वे ईश हैं, अतः जो

र्शनेऽपि । अतो हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्रसन्नो भव मां प्रति । यथा भयाभावेन त्वद्दर्शनजं सुखं प्राप्नुयामिति शेषः ॥ 25 ॥

49 अस्माकं जयं परेषां पराजयं च सर्वदा द्रष्टुमिष्टं पश्य मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसीति भगवदादिष्टमधुना पश्यामीत्याह पञ्चभिः –

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ 26 ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ 27 ॥

50 अमी च धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः शतं सोदरा युयुत्सुं विना सर्वे त्वां त्वरमाणा विशन्तीत्यग्रेतनेनान्वयः । अतिभयसूचकत्वेन क्रियापदन्यूनत्वमत्र गुण एव । सहैवावनिपालानां शल्यादीनां राज्ञां संघैस्त्वां विशन्ति । न केवलं दुर्योधनादय एव विशन्ति किं तु अजेयत्वेन सर्वैः संभावितोऽपि भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णस्तथाऽसौ सर्वदा मम विद्वेष्टा सहास्मदीयैरपि परकीयैरिव धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिर्योधमुख्यैस्त्वां विशन्तीति संबन्धः ॥ 26 ॥

51 अमी धृतराष्ट्रपुत्रप्रभृतयः सर्वेऽपि ते तव दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विश-

---

दर्शन से होनेवाले सुख को प्राप्त करूँ -- यह अध्याहार करना चाहिए ॥ 25 ॥

49 अपनी जय और शत्रुओं की पराजय जो तुमको सर्वदा देखने में इष्ट - अभीष्ट है, हे गुडाकेश ! मेरे शरीर में देखो और जो कुछ देखना चाहते हो -- यह भगवान् से आदिष्ट इस समय देख रहा हूँ – यह पाँच श्लोकों से कहते हैं :--

[राजाओं के समूहों सहित ही ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र आपमें प्रवेश कर रहे हैं । हमारे भी प्रधान योद्धाओं सहित भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा यह सूतपुत्र-कर्ण आपके दाढ़ों से कराल-विकराल भयानक मुखों में शीघ्रता करते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कोई तो अपने चूर्ण हुए मस्तकों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखायी दे रहे हैं ॥ 26-27 ॥

50 ये धृतराष्ट्र के पुत्र = दुर्योधनादि सौ सोदर-सहोदर भाई युयुत्सु को छोड़कर सब शीघ्रता करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- 'विशन्ति' -- क्रिया आगे के श्लोक से अन्वित है । अत्यन्त भय की सूचक होने से क्रियापद की न्यूनता यहाँ गुण ही है । अवनिपाल अर्थात् शल्यादि राजाओं के समूहों सहित ही ये सब आपमें प्रवेश कर रहे हैं । न केवल दुर्योधन आदि ही प्रवेश कर रहे हैं, अपितु अजेय होने से सबके द्वारा संभावित -- सम्मानित भी भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य और यह सूतपुत्र -- कर्ण, जो मेरा सर्वदा विद्वेषी है, शत्रुवीरों के समान हमारे भी धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओं सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं -- यह अन्वय है ॥ 26 ॥

51 ये धृतराष्ट्रपुत्र आदि सभी आपके दाढ़ों से कराल -- भयानक मुखों में शीघ्रता करते हुए प्रवेश कर

देवस्वरूप ईश हैं वे 'देवेश' हैं । जो जगत् के आधार हैं, सभी प्राणी जिनको आश्रय कर जीवित रहते हैं वे 'जगन्निवास' हैं । उक्त प्रकार से मैंने आपके देवेशत्व और जगन्निवासत्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है जिसके लिए मेरी प्रार्थना थी – यह सूचित करने के लिए सम्बोधनद्वय हैं ।

न्ति । तत्र च केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिर्विशिष्टा दशनान्तरेषु विलग्ना विशेषेण संलग्ना दृश्यन्ते मया सम्यगसंदेहेन ॥27॥

52 राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशने निदर्शनमाह–

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥28॥

53 यथा नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवोऽम्बूनां जलानां वेगा वेगवन्तः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति विशन्ति तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितः सर्वतो ज्वलन्ति । अभिविज्वलन्तीति वा पाठः ॥28 ॥

54 अबुद्धिपूर्वकप्रवेशे नदीवेगं दृष्टान्तमुक्त्वा बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह–

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥29॥

55 यथा पतङ्गा शलभाः समृद्धवेगाः सन्तो बुद्धिपूर्वं प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति नाशाय मरणायैव

रहे हैं । उनमें से कोई तो मुझको सम्यक्रूपेण निस्सन्देह चूर्ण हुए शिरों से विशिष्ट-युक्त आपके दाँतों के बीच में विलग्न -- विशेषरूप से लगे हुए दिखाई दे रहे हैं[46] ॥ 27 ॥

52 राजाओं के भगवान् के मुख में प्रवेश करने में दृष्टान्त कहते हैं :--
[जैसे नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र की ओर ही अभिमुख होकर बहते हैं अर्थात् समुद्र में ही प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये नरलोक -- मनुष्यलोक के वीर पुरुष आपके चारों ओर से ज्वलित--प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥ 28 ॥]

53 जिस प्रकार अनेक मार्गों में प्रवृत्त -- प्रवाहित -- बहती हुई नदियों के बहुत से जलों के वेग = वेगवान् प्रवाह समुद्र की ओर अभिमुख होकर समुद्र में ही द्रवित होते हैं-- मिलते हैं अर्थात् प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये नरलोक के वीरपुरुष आपके अभितः -- सर्वतः = सब ओर से जलते हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं । अथवा, 'अभितो ज्वलन्ति' के स्थान पर 'अभिविज्वलन्ति' – यह पाठ होने पर भी उक्त अर्थ ही है ॥ 28 ॥

54 अबुद्धिपूर्वक प्रवेश में नदीवेग का दृष्टान्त कहकर बुद्धिपूर्वक प्रवेश में दृष्टान्त कहते हैं :--
[जैसे पतङ्गा अपने नाश के लिए प्रदीप्त -- प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये दुर्योधन आदि लोक -- प्राणी भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेग से युक्त हुए प्रवेश कर रहे हैं ॥ 29 ॥]

55 जिसप्रकार पतङ्गा -- शलभ अतिवेगवान् होकर बुद्धिपूर्वक = जान-बूझकर स्वनाश के लिए अर्थात्

---

46. नीलकण्ठी व्याख्या के अनुसार अन्वय यह है –'अवनिपालसंघैः सहैव अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः त्वां (विशन्ति)। अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः सह भीष्मो द्रोणः तथाऽसौ सूतपुत्रः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विशन्ति ।केचित् चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते ।' अतएव भाव यह है – ये पापिष्ठ धृतराष्ट्र के पुत्र आप – भगवान्– त्रैलोक्यशरीर में ही प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् ये पापानुरूप भगवद् – शरीर के पायुस्थान में स्थित नरकों को ही जा रहे हैं । भीष्मादि भक्त तो जिससे अग्नि, ब्राह्मण और वेद उत्पन्न हुए हैं एवंरूप आप – भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहे हैं – इस प्रकार की वैषम्यगति को सूचित करते के लिए 'धृतराष्ट्रस्य पुत्राः त्वां विशन्ति' और 'भीष्मादयस्ते वक्त्राणि विशन्ति' – यह विभागदर्शन युक्त ही है ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका एते दुर्योधनप्रभृतयः सर्वेऽपि तव वक्त्राणि समृद्धवेगा बुद्धिपूर्वमनायत्या ॥29॥

56 योद्धुकामानां राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशप्रकारमुक्त्वा तदा भगवतस्तद्भासां च प्रवृत्तिप्रकारमाह--

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥30 ॥

57 एवं वेगेन प्रविशतो लोकान्दुर्योधनादीन्समग्रान्सर्वान्ग्रसमानोऽन्तः प्रवेशयज्ज्वलद्भिर्वदनैः समन्तात्सर्वतस्त्वं लेलिह्यस आस्वादयसि तेजोभिर्भाभिरापूर्य जगत्समग्रं यस्मात्त्वं भाभिर्जगदापूरयसि तस्मात्तवोग्रास्तीव्रा भासो दीप्तयः प्रज्वलतो ज्वलनस्येव प्रतपन्ति संन्तापं जनयन्ति हे विष्णो व्यापनशील ॥30॥

58 यस्मादेवं तस्मात्--

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हिं प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥31॥

59 एवमुग्ररूपः क्रूराकारः को भवानित्याख्याहि कथय मे मह्यमत्यन्तानुग्राह्याय । अत एव नमो-

---

मरण के लिए ही प्रदीप्त -- प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसीप्रकार ही ये दुर्योधन आदि सभी लोक -- प्राणी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेगवान् होकर अनायत्या = अवश-विवश होने के कारण बुद्धिपूर्वक -- जानबूझकर प्रवेश कर रहे हैं ।। 29 ।।

56 युद्ध की कामना -- इच्छा करनेवाले राजाओं का भगवान् के मुख में प्रवेश के प्रकार को कहकर उस समय भगवान् और उनके भास--तेज की प्रवृत्ति के प्रकार को कहते हैं :--
[आप अपने प्रज्वलित मुखों से समग्र -- सब लोकों को सब ओर से ग्रसते हुए = निगलते हुए चाट रहे हैं । हे विष्णो ! आपका उग्र -- प्रचण्ड भास -- तेज अपने प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को आपूरित -- व्याप्त करके संतप्त कर रहा है ।। 30 ।।]

57 इस प्रकार वेग से प्रवेश करते हुए दुर्योधन आदि समग्र -- सब लोकों -- प्राणियों को ग्रसते हुए -- निगलते हुए अर्थात् अपने अन्दर प्रवेश कराते हुए अपने प्रज्वलित मुखों से समन्तात् -- सर्वतः = सब ओर से आप चाट रहे हैं -- चबा रहे हैं अर्थात् उनका आस्वादन कर रहे हैं । हे विष्णो ! = हे व्यापनशील ! क्योंकि आप अपने तेज अर्थात् भा -- प्रभा से सम्पूर्ण जगत् को आपूरित = व्याप्त कर रहे हैं, इसलिए आपकी उग्र -- तीव्र प्रभाएँ = दीप्तियाँ प्रज्वलित अग्नि के समान समस्त जगत् को प्रतप्त कर रही हैं -- जगत् में संताप उत्पन्न कर रही हैं ।। 30 ।।

58 क्योंकि ऐसा है, इसलिए : --
[मुझको कहिये -- बताइये कि उग्ररूप आप कौन हैं ? आपको नमस्कार हो । हे देववर ! आप प्रसन्न होइये । मैं आदिस्वरूप आपको विशेषरूप से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूँ ।। 31 ।।]

59 इस प्रकार के उग्ररूप = क्रूर आकारवाले आप कौन है[47] ? यह मुझ अत्यन्त अनुग्राह्य -- कृपापात्र

47. मैंने तो पहले आपको शुद्ध सत्त्वप्रधान, सौम्यस्वभावयुक्त, व्यापनशील विष्णुरूप से जाना है, इस समय तमोगुणप्रधान उग्रस्वभाववान् आप कौन है ? -- यह भाव है ।

ऽस्तु ते तुभ्यं सर्वगुरवे हे देववर प्रसीद प्रसादं क्रौर्यत्यागं कुरु । विज्ञातुं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं सर्वकारणं, न हि यस्मात्तव सखाऽपि सन्प्रजानामि तव प्रवृत्तिं चेष्टाम् ॥31॥

60 **एवमर्जुनेन प्रार्थितो यः स्वयं यदर्था च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं त्रिभिः श्लोकैः--**

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥32॥

61 **कालः क्रियाशक्त्युपहितः सर्वस्य संहर्ता परमेश्वरोऽस्मि भवामीदानीं प्रवृद्धो वृद्धिं गतः । यदर्थं प्रवृत्तस्तच्छृणु-- लोकान्दुर्योधनादीन्समाहर्तुं भक्षयितुं प्रवृत्तोऽहमिहास्मिन्काले । मत्प्रवृत्तिं विना कथमेवं स्यादिति चेन्नेत्याह-- ऋतेऽपि त्वा त्वामर्जुनं योद्धारं विनाऽपि त्वद्व्यापारं विनाऽपि मद्व्यापारेणैव न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति सर्वे भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयो योद्धुमनर्हत्वेन संभाविता अन्येऽपि येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु योधा योद्धारः सर्वेऽपि मया हतत्वादेव न भविष्यन्ति । तत्र तव व्यापारोऽकिंचित्कर इत्यर्थः ॥32॥**

को कहिये -- बताइये । अतएव सर्वगुरु -- सबके गुरु आपको नमस्कार है[48] । हे देववर[49] ! हे देवश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये, क्रूरता का त्याग कीजिये । मैं आद्य[50] -- सर्वकारण = सबके कारण आपको विशेषरूप से जानना चाहता हूँ, हि -- यस्मात् = क्योंकि आपका सखा होकर भी मैं आपकी प्रवृत्ति - चेष्टा को नहीं जानता हूँ ॥ 31 ॥

60 इस प्रकार अर्जुन के प्रार्थना करने पर 'वे स्वयं जो थे और जिसके लिए अपनी प्रवृत्ति थी' -- वह सब तीन श्लोकों से भगवान् कहते हैं :--

[श्रीभगवान् ने कहा -- मैं लोकों का क्षय -- विनाश करनेवाला प्रवृद्ध -- बढ़ा हुआ काल हूँ । मैं यहाँ लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । जो प्रतिपक्षियों के सेना में अवस्थित-स्थित हुए योद्धा हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी इन सबका विनाश होगा ॥ 32 ॥]

61 मैं क्रियाशक्ति से उपहित काल हूँ, सबका संहर्ता -- संहार करनेवाला परमेश्वर हूँ, इस समय प्रवृद्ध -- वृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् बढ़ा हुआ हूँ । जिसके लिए प्रवृत्त हुआ हूँ वह सुनो -- इह = अस्मिन्काले[51] = इस समय मैं दुर्योधन आदि सब लोकों -- प्राणियों का समाहार -- सम्यक् आहार

48. मैं आपको आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, अपितु विनम्रतापूर्वक आपसे पूछ रहा हूँ कि उग्ररूप आप कौन है ? -- इस प्रकार के आशय से अर्जुन ने नमस्कार किया है ।

49. देववर -- देवश्रेष्ठ आपकी ही प्रसन्नता मुझको अपेक्षित है, न कि देवताओं की प्रसन्नता अपेक्षित है -- इस आशय से 'देववर !' सम्बोधन है ।

50. आद्यः = आदौ भवः = जो सबके आदि हैं अर्थात् जो सब कारणों के कारण हैं वे 'आद्य' हैं । अथवा, आद्यः = आ -- समन्तात् अत्तुं प्रवृत्तः = जो सब ओर से सबको खाने के लिए प्रवृत्त हैं अर्थात् जो सर्व -- संहारकर्ता हैं वे 'आद्य' हैं ।

51. यदि यहाँ शङ्का हो कि 'इह' का 'अस्मिन्लोके' या 'अस्मिन् संग्रामे' -- यह अर्थ आचार्यों ने क्यों नहीं किया है, तो इसका उत्तर है कि यहाँ प्रसंगत: 'काल' ही प्रकृत है, और वही यहाँ प्रधान है तथा नियम है कि सर्वनाम प्रधान का ही परामर्श करता है, इसीलिए कहा गया है कि 'इस समय मैं कालरूप लोकों के संहार के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ' ।

62 **यस्मादेवम्–**

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥33॥

63 **तस्मात्त्वद्व्यापारमन्तरेणापि यस्मादेते विनङ्क्ष्यन्त्येव तस्मात्त्वमुत्तिष्ठोद्युक्तो भव युद्धाय देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽतिरथा झटित्येवार्जुनेन निर्जिता इत्येवंभूतं यशो लभस्व । महद्भिः पुण्यैरेव हि यशो लभ्यते । अयत्नतश्च जित्वा शत्रून्दुर्योधनादीन्भुङ्क्ष्व स्वोपसर्जनत्वेन भोग्यतां प्रापय समृद्धं राज्यमकण्टकम् । एते च तव शत्रवो मयैव कालात्मना निहताः संहृतायुषस्त्वदीययुद्धात्पूर्वमेव केवलं तव यशोलाभाय रथान्न पातिताः । अतस्त्वं निमित्तमात्रमर्जुनेनैते**

अर्थात् भक्षण करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । यदि अर्जुन कहे कि मेरी प्रवृत्ति के बिना ऐसा कैसे होगा ? तो भगवान् कहते हैं :-- तुम्हारे बिना भी -- तुम योद्धा अर्जुन के बिना भी अर्थात् तुम्हारे युद्ध व्यापार के बिना भी मेरे व्यापार से ही ये नहीं रहेंगे अर्थात् विनष्ट हो जायेंगे । भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सब योद्धा जो कि युद्ध करने के योग्य न होने से सम्माननीय हैं तथा अन्य भी योद्धा जो प्रत्यनीक – प्रतिपक्षियों की सेना में अवस्थित -- स्थिर हैं वे सब भी मेरे द्वारा हत -- मारे गये होने से नहीं रहेंगे – नहीं बचेंगे । इसमें तुम्हारा व्यापार अकिञ्चित्कर -- अर्थहीन है – यह अर्थ है ॥ 32 ॥

62 क्योंकि ऐसा है :–

[इसलिए हे सव्यसाचिन् ! हे अर्जुन ! तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो तथा समृद्धिशाली राज्य का भोग करो । ये सब शूरवीर पहले से ही मेरे द्वारा ही मारे हुए हैं, अत: तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ ॥ 33 ॥]

63 इसलिए अर्थात् तुम्हारे व्यापार के बिना भी क्योंकि ये नष्ट होंगे ही, बचेंगे नहीं, इसलिए तुम खड़े हो जाओ अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । 'देवताओं से भी दुर्जय – अजेय भीष्म, द्रोण आदि अतिरथों [52] को अर्जुन ने तुरन्त ही जीत लिया' – इस प्रकार का यश प्राप्त करो[53] । यश तो महान् पुण्यों से ही प्राप्त होता है । बिना यत्न के ही दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतकर समृद्ध = अकण्टक राज्य का भोग करो अर्थात् स्वाधीनतापूर्वक उसको अपना भोग्य बनाओ । ये तुम्हारे शत्रु तुम्हारे युद्ध करने से पहले ही मुझ कालात्मा के द्वारा ही मारे हुए हैं -- क्षीणायु किये हुए हैं, केवल तुम्हारे यशलाभ के लिए ही रथ से नहीं गिराये गए हैं । अत: तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ[54] अर्थात् 'अर्जुन के द्वारा ये जीते गये हैं' – इस प्रकार की सार्वलौकिक उक्ति के पात्र बन जाओ । हे सव्यसाचिन् ! सव्य = बायें हाथ से भी बाणों को सचित– सन्धान करने का स्वभाव

52. अतिरथ = एक अद्वितीय योद्धा जो अपने रथ में बैठा हुआ ही युद्ध करता है (अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु स:) ।

53. अर्जुन की ओर से यदि शंका हो कि मेरे बिना भी ये शत्रु नहीं रहेंगे तो फिर भगवान् मुझको युद्ध करने के लिए क्यों कह रहे हैं, तो भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे यशोलाभ के लिए मैं तुमको युद्ध में प्रवृत्त कर रहा हूँ– इसी आशय से यहाँ भगवान् ने कहा है – यश प्राप्त करो ।

54. अर्जुन की यदि शङ्का हो कि ये शत्रु यदि भगवान् के द्वारा मारे हुए ही हैं तो युद्धक्षेत्र में ये कैसे स्थित हैं, तो भगवान् कहते हैं कि तुमको निमित्त बनाने के लिए ही स्थित हैं– इसी आशय से यहाँ भगवान् ने कहा है – तुम तो केवल निमित्तमात्र हो जाओ ।

निर्जिता इति सार्वलौकिकव्यपदेशास्पदं भव हे सव्यसाचिन्सव्येन वामेन हस्तेनापि शरान्सचितुं संधातुं शीलं यस्य तादृशस्य तव भीष्मद्रोणादिजयो नासंभावितस्तस्मात्त्वद्व्यापारानन्तरं मया रथात्पात्यमानेष्वेतेषु तवैव कर्तृत्वं लोकाः कल्पयिष्यन्तीत्यभिप्रायः ॥33॥

64 **ननु द्रोणो ब्राह्मणोत्तमो धनुर्वेदाचार्यो मम गुरुर्विशेषेण च दिव्यास्त्रसंपन्नस्तथा भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसंपन्नश्च परशुरामेण द्वंद्वयुद्धमुपगम्यापि न पराजितस्तथा यस्य पिता वृद्धक्षत्रस्तपश्चरति मम पुत्रस्य शिरो यो भूमौ पातयिष्यति तस्यापि शिरस्तत्कालं भूमौ पतिष्यतीति स जयद्रथोऽपि जेतुमशक्यः स्वयमपि महादेवाराधनपरो दिव्यास्त्रसंपन्नश्च तथा कर्णोऽपि स्वयं सूर्यसमस्तदाराधनेन दिव्यास्त्रसंपन्नश्च वासवदत्तया चैकपुरुषघातिन्या मोघीकर्तुमशक्यया शक्त्या विशिष्टस्तथा कृपाश्वत्थामभूरिश्रवःप्रभृतयो महानुभावाः सर्वथा दुर्जया एवैतेषु सत्सु कथं जित्वा शत्रूनाज्यं भोक्ष्ये कथं वा यशो लप्स्य इत्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह तदाशङ्काविषयान्नामभिः कथयन् –**

है जिसका ऐसे हे सव्यसाचिन्[55] ! तुम्हारे लिए भीष्म, द्रोण आदि पर विजय प्राप्त करना असंभव नहीं है । इसलिए तुम्हारे व्यापार के बाद मेरे द्वारा रथ से इनके गिराये जाने पर लोकजन इस विजय में तुम्हारे ही कर्तृत्व की कल्पना करेंगे – यह अभिप्राय है ॥ 33 ॥

64 ब्राह्मणों में उत्तम, धनुर्वेदाचार्य, मेरे गुरु और विशेषरूप से दिव्य अस्त्रों से सम्पन्न द्रोणाचार्य; तथा स्वच्छन्दमृत्यु[56], दिव्यास्त्रों से सम्पन्न और परशुराम के साथ भी द्वन्द्वयुद्ध करने पर अपराजित भीष्म-पितामह; तथा जिसके पिता वृद्धक्षत्र[57] इस उद्देश्य से तपस्या कर रहे हैं कि 'जो मेरे पुत्र का शिर भूमि पर गिरायेगा उसका भी शिर तत्काल भूमि पर गिर जायेगा'; – वह जयद्रथ भी जीतने के योग्य नहीं है, स्वंय भी वह महादेव की आराधना में तत्पर और दिव्यास्त्रों से सम्पन्न है अतएव एवंभूत अजेय जयद्रथ; तथा वासव = इन्द्र की दत्त – दी हुई, एक पुरुष का घात करनेवाली और मोघ -- निष्फल करने में अशक्य -- असंभव शक्ति से विशिष्ट, सूर्य की आराधना से दिव्यास्त्रों से सम्पन्न और स्वयं सूर्यसम कर्ण[58] भी; तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा आदि महानुभाव सर्वथा दुर्जय -- अजेय ही हैं । इन सबके रहते हुए मैं किस प्रकार शत्रुओं को जीतकर

---

55. उक्त सम्बोधन यह सूचित करता है कि 'हे अर्जुन ! तुम तो निमित्तमात्र होकर अपने सव्यसाचित्व को सार्थक करो' ।

56. स्वच्छन्दमृत्यु = स्वेच्छामृत्यु अर्थात् इच्छा के अनुसार मृत्यु को पाना – यह भीष्मपितामह का विशेषण है ।

57. वृद्धक्षत्र = सिन्धुराज जयद्रथ के पिता का नाम है । वृद्धक्षत्र ने दीर्घकाल के बाद जयद्रथ को पुत्ररूप में प्राप्त किया था । जयद्रथ के जन्म के समय एक आकाशवाणी ने यह घोषणा की कि जयद्रथ अपने कुल और शील आदि गुणों के अनुरूप होगा किन्तु अन्त समय संग्रामभूमि में युद्ध करते समय कोई क्षत्रियशिरोमणि शूरवीर उसका शत्रु होकर उसका शिर काट डालेगा । इस आकाशवाणी को सुनकर वृद्धक्षत्र ने यह कहा कि जो कोई उनके पुत्र का शिर काटकर भूमि पर गिरायेगा उसका भी शिर भूमि पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा – ऐसा कहकर वृद्धक्षत्र जयद्रथ को राज्यसिंहासन पर स्थापित कर स्वयं वन में जाकर तपस्या करने लगे (महाभारत, 7.116) ।

58. कर्ण कन्या कुन्ती के द्वारा दुर्वासा ऋषि को अपनी सेवा से प्रसन्न किये जाने पर फलस्वरूप महर्षि से प्राप्त मन्त्र के द्वारा आहूत सूर्य से उत्पन्न है अतएव वह 'कानीन' अर्थात् कन्याजात और 'सूर्यपुत्र' है । पितासम तेजस्वी होने से स्वयं सूर्यसम है । दोपहर के समय जब कर्ण भगवान् सूर्य की स्तुति करता था तो उस समय बहुत से ब्राह्मण धनयाचना के लिए उसके पास आते थे । उस समय उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जो ब्राह्मणों को अदेय हो । एकबार ब्राह्मण का वेश बनाकर इन्द्र ने कर्ण के पास आकर उससे उसका कवच और कुण्डल माँग लिया और बदले में उसको एक अमोघशक्ति प्रदान की थी (महाभारत, 3.310) ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णंतथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥34 ॥

65 **द्रोणादींस्त्वदाशङ्काविषयीभूतान्सर्वानेव योधवीरान्कालात्मना मया हतानेव त्वं जहि । हतानां हनने को वा परिश्रमः । अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेवं शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गा भयं त्यक्त्वा युध्यस्व, जेतासि जेष्यस्यचिरेणैव रणे सङ्ग्रामे सपत्नान्सर्वानपि शत्रून् ।**

66 **अत्र द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं चेति चकारत्रयेण पूर्वोक्ताजेयत्वशङ्काऽनूद्यते । तथाशब्देन कर्णेऽपि । अन्यानपि योधवीरानित्यत्रापिशब्देन । तस्मात्कुतोऽपि स्वस्य पराजयं वधनिमित्तं पापं च मा शङ्किष्ठा इत्यभिप्रायः ।**

'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ ॥'

इत्यत्रेवात्रापि समुदायान्वयानन्तरं प्रत्येकान्वयो द्रष्टव्यः ॥ 34 ॥

67 **द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णेषु जयाशाविषयेषु हतेषु निराश्रयो दुर्योधनो हत एवेत्यनुसंधाय जयाशां परित्यज्य यदि धृतराष्ट्रः संधिं कुर्यात्तदा शान्तिरुभयेषां भवेदित्यभिप्रायवांस्ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम् –**

राज्य का भोग करूँगा अथवा किस प्रकार यश को पाऊँगा – ऐसी अर्जुन की आशङ्का को निवृत्त करने के लिए उस आशङ्का को विषयगत नामों का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं :--

[तुम मेरे द्वारा मारे हुए द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी शूरवीर योद्धाओं को मारो, भय से व्यथित मत होओ, युद्ध करो, तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे ॥ 34 ॥]

65 कालात्मा -- कालस्वरूप मेरे द्वारा मारे हुए ही, तुम्हारी आशङ्का के विषयीभूत द्रोण आदि सभी शूरवीर योद्धाओं को तुम मारो । हत-मृत-मारे हुओं को मारने में क्या परिश्रम है । अत: व्यथित मत होओ = 'मैं ऐसा कैसे कर सकूँगा' -- इस प्रकार की व्यथा = भयनिमित्तक पीड़ा को मत प्राप्त होओ, भय का त्याग कर युद्ध करो । तुम शीघ्र ही रण-संग्राम में सभी शत्रुओं को जीतोगे ।

66 यहाँ 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च' -- तीन चकारों से पूर्वोक्त अजेयत्व की शङ्का का अनुवाद किया गया है ।'तथा' शब्द से कर्ण के भी अजेयत्व का अनुवाद किया गया है । 'अऽन्यानपि योधवीरान्' इसके 'अपि' शब्द से अन्य वीरों के अजेयत्व का अनुवाद है । इस कारण किसी से भी अपनी पराजय और वधनिमित्तक पाप की शङ्का मत करो -- यह अभिप्राय है । 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभि: प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ . . . ।।' (गीता, 2.4) – इस श्लोक के समान यहाँ भी समुदाय का अन्वय करने के पश्चात् प्रत्येक का अन्वय समझना चाहिए ।। 34 ।।

67 'जयाशा के विषय द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण के हत होने पर – मारे जाने पर निराश्रय दुर्योधन हत ही है' -- ऐसा समझकर और जयाशा का परित्याग कर यदि धृतराष्ट्र सन्धि कर लें तो दोनों-- कौरव और पाण्डवों में शान्ति हो जाय -- ऐसे अभिप्राय से 'तब क्या हुआ' ? -- इसकी अपेक्षा में सञ्जय ने कहा :--

[संजय ने कहा -- केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर किरीटी = मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोडे हुए और काँपते हुए भगवान् को नमस्कार कर फिर भी अत्यन्त भयभीत हुए प्रणाम कर गद्‌गद वाणी से भगवान् कृष्ण से कहा ।। 35 ।।]

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ 35 ॥

68 **एतत्पूर्वोक्तं केशवस्य वचनं श्रुत्वा कृताञ्जलिः किरीटीन्द्रदत्तकिरीटः परमवीरत्वेन प्रसिद्धो वेपमानः परमाश्चर्यदर्शनजनितेन संभ्रमेण कम्पमानोऽर्जुनः कृष्णं भक्ताघकर्षणं भगवन्तं नमस्कृत्वा नमस्कृत्य भूयः पुनरप्याहोक्तवान्सगद्गदं भयेन हर्षेण चाश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति कफरुद्धकण्ठतया वाचो मन्दत्वसकम्पत्वादिर्विकारः सगद्गदस्तद्युक्तं यथा स्यात्, भीतभीतोऽतिशयेन भीतः सन्पूर्वं नमस्कृत्य पुनरपि प्रणम्यात्यन्तनम्रो भूत्वाऽऽहेति संबन्धः ॥ 35 ॥**

69 **एकादशभिः –**

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ 36 ॥

---

68 केशव[59] = कृष्ण भगवान् के इस = पूर्वोक्त वचन को सुनकर हाथ जोड़े हुए[60] किरीटी[61] = इन्द्र द्वारा प्रदत्त किरीटधारी परमवीररूप से प्रसिद्ध काँपते हुए = परम आश्चर्यदर्शन से उत्पन्न सम्भ्रम से काँपते हुए अर्जुन ने भक्तों के पापों को नष्ट करनेवाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार कर फिर भी कहा । गद्‌गदयुक्त होकर = भय और हर्ष से अश्रुपूर्ण नेत्र होने पर कफ के कारण कण्ठ रुक जाने से जो मन्दत्व, सकम्पत्वादि वाणी को विकार होता है उसको 'गद्‌गद' कहते हैं, उससे जिस प्रकार युक्त हो उस प्रकार गद्‌गदयुक्त होकर भीतभीत = अत्यन्त भयभीत होकर पहले नमस्कार कर फिर भी प्रणाम कर = अत्यन्त नम्र होकर आह[62] = कहा -- इस प्रकार सम्बन्ध है ।। 35 ।।

69 ग्यारह श्लोकों से अर्जुन ने कहा :--
[अर्जुन ने कहा -- हे हृषीकेश ! यह युक्त ही है कि आपकी श्रेष्ठ कीर्ति से सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है । राक्षसजन भयभीत हुए दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्धसमुदाय नमस्कार कर रहे हैं ।। 36 ।।]

---

59. केशव = क – ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), ईश -- महेश्वर (संहारकर्ता), व -- विष्णु (पालनकर्ता), अत: 'केशव' शब्द से सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता को सूचित किया गया है ।

60. कृताञ्जलित्वादि चिह्न से तो यह सूचित होता है कि किरीटी–अर्जुन भगवान् के वचन का उल्लंघन नहीं करेगा ।

61. पूर्वकाल में अर्जुन ने जब दानवों से युद्ध किया था तथा इन्द्र ने अर्जुन के शिर पर सूर्य के समान उज्ज्वल किरीट रख दिया था, अत: तब से ही अर्जुन को 'किरीटी' कहा जाता है ।

62. नीलकण्ठीव्याख्या के अनुसार यहाँ यदि 'आह' – यह पदच्छेद करने पर पुन: 'अर्जुन उवाच' – यह प्रयोग करेंगे तो पुनरुक्तिदोष होगा । अत: 'प्रणम्य अर्जुन उवाच' – यही सम्बन्ध है, न कि 'प्रणम्य आह' । यदि 'आह' क्रिया नहीं है, अपितु प्रसिद्ध अर्थ में अव्यय है तो दोष नहीं होगा । इस प्रसंग में धनपति का कथन कि 'नीलकण्ठ के अनुसार प्रकृत में पुनरुक्तिदोष का आपादान और उसका समाधान अर्थहीन है' – युक्तिपूर्ण है, क्योंकि यहाँ 'तत: स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय: । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत । अर्जुन उवाच' – के समान ही प्रयोग है, यह कविशैली है ।

70 स्थान इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे । हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियप्रवर्तक यतस्त्वमेवमत्यन्ताद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च ततस्तव प्रकीर्त्या प्रकृष्टया कीर्त्या निरतिशयप्राशस्त्यस्य कीर्तनेन श्रवणेन च न केवलमहमेव प्रहृष्यामि किं तु सर्वमेव जगच्चेतनमात्रं रक्षोविरोधि प्रहृष्यति प्रकृष्टं हर्षमाप्नोतीति यत्तत्स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः। तथा सर्वं जगदनुरज्यते च तद्विषयमनुरागमुपैतीति च यत्तदपि युक्तमेव। तथा रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि सन्ति दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति सर्वासु दिक्षु पलायन्त इति यत्तदपि युक्तमेव । तथा सर्वे सिद्धानां कपिलादीनां संघा नमस्यन्ति चेति यत्तदपि युक्तमेव । सर्वत्र तव प्रकीर्त्येत्यस्यान्वयः स्थान इत्यस्य च । अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः । स च नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनास्त्रमन्त्राभ्यां संपुटितो ज्ञेय इति रहस्यम् ॥ 36 ॥

71 भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुमाह –

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ 37 ॥

72 कस्माच्च हतोस्ते तुभ्यं न नमेरन्न नमस्कुर्युः सिद्धसंघाः सर्वेऽपि हे महात्मन्परमोदारचित्त हेऽनन्त

70 'स्थाने' -- यह सप्तम्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है, यह युक्त = उचित-योग्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतएव – यह युक्त – उचित ही है, हे हृषीकेश[63] ! हे सर्वेन्द्रियप्रवर्तक – समस्त इन्द्रियों के प्रवर्तक ! क्योंकि आप अत्यन्त अद्भुत प्रभाववाले हैं और भक्तवत्सल हैं उसी से= आपकी प्रकीर्ति -- प्रकृष्ट कीर्ति से अर्थात् आपके निरतिशय प्राशस्त्य के कीर्तन और श्रवण से न केवल मैं ही हर्षित हो रहा हूँ, अपितु राक्षसों का विरोधी चेतनमात्र सम्पूर्ण ही जगत् प्रहर्षित हो रहा है अर्थात् प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त हो रहा है, जो वह स्थाने[64] = युक्त ही है । तथा सम्पूर्ण जगत् आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है अर्थात् भगवद्विषयक अनुराग को प्राप्त हो रहा है, जो वह भी युक्त– उचित ही है । तथा राक्षसजन भयभीत हुए – भय से आविष्ट -- ग्रस्त हुए दिशाओं में द्रवित हो रहे हैं अर्थात् सब दिशाओं में पलायन कर रहे हैं – भाग रहे हैं, जो वह भी युक्त–उचित ही है । तथा कपिलादि सब सिद्धों के समूह आपको जो नमस्कार कर रहें हैं वह भी उचित ही है । 'तव प्रकीर्त्या' और 'स्थाने' – इन पदों का अन्वय सभी के साथ है । यह श्लोक 'रक्षोघ्न[65]मन्त्ररूप से मन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध है तथा इसको नारायणाष्टाक्षर और सुदर्शनास्त्र मन्त्रों से संपुटित समझना चाहिए – यह रहस्य है ॥ 36 ॥

71 भगवान् के हर्षादि और नमस्कार का विषय होने में हेतु कहते हैं :–

[हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप ब्रह्मा से भी गुरुतर और उसके भी आदिकर्ता हैं; इसके अतिरिक्त जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं, फिर वे आपको नमस्कार क्यों नहीं करें ? ॥ 37 ॥]

72 हे महात्मन् = परम उदारचित्त ! हे अनन्त = सब परिच्छेदों से शून्य ! हे देवेश = हिरण्यगर्भादि

63. हे हृषीकेश = हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः = हे इन्द्रियों के ईश्वर ! सर्वेन्द्रियनियन्ता–सर्वान्तर्यामी - सर्वसुहृद् – एतदर्थ ही सम्बोधन है ।

64. अथवा, 'स्थाने' 'प्रहृष्यति' का विशेषण = क्रियाविशेषण न होकर, हर्षादि के विषय भगवान् का ही विशेषण = विषयविशेषण है, अतएव अर्थ होगा – भगवान् सम्पूर्ण जगत् के हर्षादि के विषय हैं और सम्पूर्ण जगत् उनके प्रति अनुरक्त है – यह स्थाने = युक्त ही है, क्योंकि वे ईश्वर, सर्वात्मा और सर्वभूतसुहृद् हैं ।

65. रक्षोघ्नः = रक्षो राक्षसं हन्तीति । हन् + टक् = रक्षोघ्नमन्त्रः । यथा सुश्रुते – वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेद्रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत (1.5) ।

सर्वपरिच्छेदशून्य हे देवेश हिरण्यगर्भादीनामपि देवानां नियन्तः, हे जगन्निवास सर्वाश्रय । तुभ्यं कीदृशाय ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतरायाऽऽदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽपि जनकाय । नियन्तृत्वमुपदेष्टृत्वं जनकत्वमित्यादिरेकैकोऽपि हेतुर्नमस्कार्यताप्रयोजकः किं पुनर्महात्मत्वानन्तत्वजगन्निवासत्वादिनानाकल्याणगुणसमुच्चित इत्यनाश्चर्यतासूचनार्थं नमस्कारस्य कस्माच्चेति वाशब्दार्थश्चकारः । किं च सत्, विधिमुखेन प्रतीयमानमस्तीति, असन्निषेधमुखेन प्रतीयमानं नास्तीति, अथवा सद्व्यक्तमसदव्यक्तं त्वमेव । तथा तत्परं ताभ्यां सदसद्भ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तदपि त्वमेव त्वद्भिन्नं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्परं यदित्यत्र यच्छब्दात्प्राक्चकारमपि केचित्पठन्ति । एतैर्हेतुभिस्त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न किमपि चित्रमित्यर्थः ॥ 37 ॥

73 भक्त्युद्रेकात्पुनरपि स्तौति –

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ 38 ॥

74 त्वमादिदेवो जगतः सर्गहेतुत्वात्, पुरुषः पूरयिता, पुराणोऽनादिः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं

देवों के भी नियन्ता ! हे जगन्निवास = सबके आश्रय ! सभी सिद्धसमुदाय आपको नमस्कार क्यों नहीं करें ? आप भी कैसे हैं ? आप ब्रह्मा से भी गरीयस् – गुरुतर और ब्रह्मा के भी आदिकर्ता – जनक हैं[66] । नियन्तृत्व, उपदेष्टृत्व, जनकत्व इत्यादि एक-एक हेतु भी नमस्कार्यता का प्रयोजक है, फिर आप महात्मत्व, अनन्तत्व, जगन्निवासत्व आदि कल्याणमय गुणों से युक्त हैं, तो कहना ही क्या है ? – इस प्रकार यह कथन नमस्कार की आश्चर्यशून्यता सूचित करने के लिए है । 'कस्माच्च' -- इसमें चकार 'वा' शब्द के अर्थ में है । इसके अतिरिक्त सत् = विधिमुख से प्रतीयमान 'अस्ति' रूप और असत् = निषेधमुख से प्रतीयमान 'नास्ति'रूप, अथवा सत् – व्यक्तरूप और असत् = अव्यक्तरूप आप ही हैं । तथा उनसे = उन सत् और असत् से परे = उनका मूलकारण जो अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं अर्थात् आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है । कोई 'तत्परं यत्' -- यहाँ पर 'यत्' शब्द से पहले चकार भी पढ़ते हैं । इन हेतुओं[67] से सब आपको नमस्कार कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं है -- यह अर्थ है ॥ 37 ॥

73 भक्ति के उद्रेक से फिर भी स्तुति करते हैं :–

[हे अनन्तरूप ! आप आदिदेव हैं, पुरुष हैं, पुराण हैं, आप इस विश्व-जगत् के परम निधान–आश्रय हैं, ज्ञाता हैं, ज्ञेय हैं और परमधाम हैं, यह सम्पूर्ण विश्व आपसे ही व्याप्त है ॥ 38 ॥]

74 जगत् की सृष्टि के कारण होने से आप आदिदेव हैं, पुरुष-पूरयिता-पूरित करनेवाले हैं और पुराण

66. अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा भी गुरु हैं, आप भी गुरु हैं, तथापि आप अतिशय से गुरु हैं अतएव आप ब्रह्मा से गुरुतर हैं । यदि कहें कि सत्यसंकल्पत्वादि गुण मुझमें और ब्रह्मा में समान हैं तो फिर मेरा उनसे अतिशय कैसे है ? तो उत्तर है कि आपका अतिशय इसलिए है कि आपने पञ्चमहाभूत की सृष्टि द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि की है अतएव आप ब्रह्मा के आदिकर्ता – आदिकारण- अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं । 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित्वाच्च' (ब्रह्मसूत्र, 4.4.17) के अनुसार नित्यसिद्ध ईश्वर आपकी आज्ञा से ही ब्रह्मा आदि सब देवता ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, न कि वे आपके समान होते हैं । अतएव आप ब्रह्मा से भी गुरुतर और ब्रह्मा के भी आदिकर्ता हैं ।

67. आप महात्मा हो, अनन्त हो, देवेश हो, जगन्निवास हो, ब्रह्मा से गुरुतर हो, ब्रह्मा के भी जनक हो, सत् हो, असत् हो और सदसत् से परे उनके मूलकारण अक्षर ब्रह्म हो – इन नौ हेतुओं से सब आपको नमस्कार कर रहे हैं अथवा करते हैं – इसमें कोई आश्चर्य नहीं है – यह अर्थ है ।

लयस्थानत्वान्निधीयते सर्वमस्मिन्निति। एवं सृष्टिप्रलयस्थानत्वेनोपादानत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वेन प्रधानं व्यावर्तयन्निमित्ततामाह वेत्ता वेदिता सर्वस्यासि। द्वैतापत्तिं वारयति -- यच्च वेद्यं तदपि त्वमेवासि वेदनरूपे वेदितरि परमार्थसंबन्धाभावेन सर्वस्य वेद्यस्य कल्पितत्वात्। अत एव परं च धाम यत्सच्चिदानन्दघनमविद्यातत्कार्यनिर्मुक्तं विष्णोः परमं पदं तदपि त्वमेवासि। त्वया सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च कारणेन ततं व्याप्तमिदं स्वतःसत्तास्फूर्तिशून्यं विश्वं कार्यं मायिकसंबन्धेनैव स्थितिकाल हेऽनन्तरूपापरिच्छिन्नस्वरूप ॥ 38 ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ 39 ॥

75 **वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः सूर्यादीनामप्युपलक्षणमेतत्। प्रजापतिर्विराड्हिरण्यगर्भश्च, प्रपिता-**

अर्थात् अनादि हैं। लयस्थान होने से आप इस विश्व के परम निधान हैं -- जिसमें सब निहित -- स्थित होता है वह निधान हैं। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय के स्थान होने से भगवान् के उपादानत्व -- उपादानकारणत्व को कहकर सर्वज्ञत्व से प्रधान -- प्रकृति की व्यावृत्ति करते हुए उनकी निमित्तता -- निमित्तकारणता को कहते हैं -- आप सबके वेत्ता = वेदिता -- ज्ञाता हैं। इससे द्वैत की आपत्ति हो सकती है अतएव द्वैतापत्ति का वारण करते हैं -- जो कुछ वेद्य -- ज्ञेय है वह भी आप ही हैं, क्योंकि वेदन -- ज्ञान रूप वेदिता -- ज्ञाता में परमार्थ -- यथार्थ सम्बन्ध के अभाव के कारण सब वेद्य -- ज्ञेय कल्पित होता है[68]। अतएव जो परमधाम = विष्णु का अविद्या और उसके कार्य से शून्य सच्चिदानन्दघन परमपद है वह भी आप ही हैं[69]। हे अनन्तरूप! हे अपरिच्छिन्नस्वरूप[70]! स्थितिकाल में यह स्वतःसत्ता-स्फूर्तिशून्य विश्व अर्थात् कार्य मायिकसम्बन्ध से ही सद्रूप और स्फुरणरूप कारण आप ही से व्याप्त है ॥ 38 ॥

[आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति -- ब्रह्मा और प्रपितामह -- ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार, नमस्कार हो। आपको फिर भी बार-बार नमस्कार, नमस्कार हो ॥ 39 ॥]

75 आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चद्रमा-यह सूर्य आदि का भी उपलक्षण[71] है, प्रजापति= विराट्

---

68. प्रकृत प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित होने पर कि भगवान् यदि ज्ञाता और ज्ञेय अर्थात् दृष्टा और दृश्य -- दोनों ही हैं तो द्वैतापत्ति होगी, यह कहा गया है कि ज्ञेय -- दृश्य वस्तु की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं होती है, कारण कि सब दृश्य -- ज्ञेय वस्तु कल्पित अर्थात् मिथ्या होती हैं। अखण्ड अद्वैत परमात्मा ही भ्रान्तिवश ज्ञेय -- दृश्य वस्तुरूप से प्रतीत होता है। अतएव ज्ञानस्वरूप ज्ञाता -- परमात्मा ही एकमात्र पारमार्थिक सत्यवस्तु है, और सब भ्रान्ति द्वारा कल्पित है। इसलिए कल्पित दृश्य वस्तु का अकल्पित पारमार्थिक सद्वस्तुओं के साथ जो सम्बन्ध है वह भी कल्पित -- मिथ्या ही है, अकल्पित या परमार्थ-यथार्थ सम्बन्ध नहीं है। अतएव यहाँ अद्वैतहानि की भी सम्भावना नहीं है।

69. उक्त प्रसंग में प्रश्न हो सकता है कि मुक्ति के लिए जो ब्रह्मावलम्बन का उपदेश श्रुति में किया गया है वह ब्रह्म क्या उक्त ज्ञाता -- वेत्ता भगवान् से पृथक् है? इसका उत्तर है कि नहीं, क्योंकि भगवान् ही मोक्षकारण और परमधाम = मोक्षधाम हैं अर्थात् अविद्या और अविद्या के कार्यों से शून्य सच्चिदानन्दघन परमपद = मोक्ष भगवान् ही हैं।

70. भगवान् देश, काल या वस्तु से परिच्छिन्न -- सीमित नहीं होते हैं अतएव वे अनन्त अर्थात् अपरिच्छिनस्वरूप हैं।

71. 'थोड़े शब्दों से समष्टि का ज्ञान कराने के लिए जो संकेत होता है उसको उपलक्षण' कहा जाता है।

महश्च पितामहस्य हिरण्यगर्भस्यापि पिता च त्वम् । यस्मादेवं सर्वदेवात्मकत्वात्त्वमेव सर्वैर्नमस्कार्योऽसि तस्मान्ममापि वराकस्य नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि पुनरपि नमो नमस्ते । भक्तिश्रद्धातिशयेन नमस्कारेष्वलंप्रत्ययाभावोऽनया नमस्कारावृत्त्या सूच्यते ॥ 39 ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ 40 ॥

76 **तुभ्यं पुरस्तादग्रभागे नमोऽस्तु तुभ्यं पुरो नमः स्तादिति वा । अथशब्दः समुच्चये । पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः स्तात् । नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वत एव सर्वासु दिक्षु स्थिताय हे सर्व । वीर्यं शारीरबलं विक्रमः शिक्षा शस्त्रप्रयोगकौशलम् । 'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्' इत्युक्तेर्भीमदुर्योधनयोरन्येषु चैकैकं व्यवस्थितम् । त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रमश्चेति समस्तमेकं पदम् । अनन्तवीर्येति संबोधनं वा । सर्वं समस्तं जगत्समाप्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि ततस्तस्मात्सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ 40 ॥**

और हिरण्यगर्भ, तथा प्रपितामह = पितामह – हिरण्यगर्भ के भी पिता हैं । क्योंकि इस प्रकार सर्वदेवात्मक होने से आप ही सबके नमस्कार्य हैं इसलिए मुझ वराक-दीन का भी आपको हजारों बार[72] नमस्कार, नमस्कार हो, फिर भी बार-बार नमस्कार, नमस्कार हो । इस नमस्कार की आवृत्ति से भक्ति और श्रद्धा के अतिशय के कारण नमस्कारों में अलंप्रत्यय -- अलंबुद्धि -- पर्याप्त सन्तोष का अभाव सूचित होता है ॥ 39 ॥

[आपको आगे से और पीछे से नमस्कार हो । हे सर्वात्मन् -- सर्वरूप ! आपको सब ओर से ही नमस्कार हो । आप अनन्तवीर्य और अमितविक्रम = असीम पराक्रमवाले हैं । आप सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए आप ही सर्वरूप हैं ॥ 40 ॥]

76 आपको पुरस्तात् -- आगे से -- आगे के भाग में नमस्कार है अर्थात् पूर्वभाग -- पूर्वदिशा में तद्रूप से स्थित आपको नमस्कार है । अथवा, 'पुरो नमः स्तात्' -- इस प्रकार अन्वय करके 'आपको पहले नमस्कार हो' । 'अथ'शब्द समुच्चय अर्थ में है । पीछे से भी आपको नमस्कार है । हे सर्वात्मन् ! सब ओर से ही सब दिशाओं में स्थित आपको नमस्कार है[73] । 'वीर्य' शारीरिक बल है और 'विक्रम' शिक्षा -- शस्त्रप्रयोग का कौशल है । 'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्' (श्रीमद्भागवत पुराण, 10.79.26) = 'मैं एक को = भीम को बल में अधिक मानता हूँ और एक

72. सहस्रकृत्वः = 'सहस्र' शब्द के साथ 'कृत्वसुच्' तद्धित प्रत्यय होकर 'सहस्रकृत्वः' शब्द निष्पन्न हुआ है, बार-बार नमस्काररूप अनुष्ठान की आवृत्ति को सूचित करने के लिए यहाँ ' कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, नियम है -- 'क्रिया की बार-बार आवृत्ति (गिनना अर्थ) होने में वर्तमान संख्यावाची प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कृत्वसुच्= 'कृत्वस्' प्रत्यय होता है' (सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (पाणिनिसूत्र, 5.4.17) । कृत्वोऽर्थक होने से 'सहस्रकृत्वः' अव्यय है ।

73. **नीलकण्ठ ने श्लोकस्थ प्रथम दो पादों का अर्थ किया है–** 'पुरस्तात् = कर्मणामादौ-कर्मानुष्ठान के आदि में, पृष्ठतः = तेषां समाप्तौ -- कर्मानुष्ठान की समाप्ति में और सर्वतः = मध्येऽपि – कर्मानुष्ठान के मध्य में भी आपको नमस्कार है' । किन्तु यहाँ धनपति के अनुसार 'कर्मणाम्' – इस पद का अध्याहार करने के कारण अध्याहारदोष है और 'सर्वतः' इत्यादि के संकोच में कोई प्रमाण भी नहीं है । अतएव भाष्यसम्मत अर्थ ही उपयुक्त है ।

77 यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानादपराधानजस्रमकार्षं ततः परमकारुणिकं त्वां प्रणम्यापराधक्षमां कारयामीत्याह द्वाभ्याम् –

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ 41 ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ 42 ॥

78 त्वं मम सखा समानवया इति मत्वा प्रसभं स्वोत्कर्षख्यापनरूपेणाभिभवेन यदुक्तं मया तवेदं विश्वरूपं तथा महिमानमैश्वर्यातिशयमजानता । पुंल्लिङ्गपाठ इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता । प्रमादाच्चित्तविक्षेपात्प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि किमुक्तमित्याह हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥ 41 ॥

को = दुर्योधन को शिक्षा में अधिक समझता हूँ' -- इस बलराम की उक्ति के अनुसार भीम और दुर्योधन में तथा अन्यों में एक-एक गुण व्यवस्थित रहता है, किन्तु आप तो अनन्तवीर्य और अपरिमित विक्रमवाले हैं । यहाँ 'अनन्तवीर्यामितविक्रमः' -- यह समासयुक्त एक ही पद है, अथवा इसमें 'अनन्तवीर्य' सम्बोधन है । आप सर्व = समस्त जगत् को समाप्नोषि = सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽप्नोषि = एक सद्रूप से सम्यक् व्याप्त किये हुए हैं अर्थात् सर्वात्मभाव से व्याप्त किये हुए है[74], इसलिए आप सर्व हैं अर्थात् आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ 40 ॥

77 क्योंकि मैंने आपका माहात्म्य न जानने के कारण आपके प्रति निरन्तर = बार-बार अपराध किये हैं, इसलिए परमकारुणिक आपको मैं प्रणाम कर अपने अपराधों को क्षमा कराता हूँ – यह दो श्लोकों से कहते हैं :--
['अपने सखा हो' -- ऐसा मानकर, आपकी इस महिमा को न जानते हुए मैंने प्रमाद या प्रणय -- प्रेम से भी 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' -- इस प्रकार जो कुछ आपसे प्रसभपूर्वक -- हठपूर्वक कहा है तथा अवहास – परिहास के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजन में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी जो आपका असत्कार -- तिरस्कार किया है, हे अच्युत ! वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ ॥ 41-42 ॥]

78 'आप मेरे सखा हो, समवयस्क हो' -- ऐसा मानकर, आपके इस विश्वरूप तथा महिमा-ऐश्वर्यातिशय को न जानते हुए -- यहाँ पुंल्लिङ्ग पाठ होने पर 'इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता [75]' = आपके इस विश्वरूपात्मक माहात्म्य को न जानते हुए मैंने प्रसभपूर्वक -- बलात् = अपने उत्कर्ष के ज्ञापनरूप अभिभव --तिरस्कार से प्रमाद के कारण = चित्त के विक्षेप के कारण अथवा प्रणय – स्नेह के कारण भी जो कहा है सो क्या कहा है -- यह कहते हैं -- 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे[76]' – इस प्रकार जो कहा है ॥ 41 ॥

---

74. जिस प्रकार स्वर्ण अपने कार्य – कुण्डल, हार आदि को बाहर – भीतर से व्याप्तकर स्थित रहता है उसीप्रकार आप भी सर्वभूतात्मा होने के कारण समस्त जगत् को बाहर-भीतर से व्याप्तकर स्थित हैं – यह अभिप्राय है ।
75. भाष्यकार का उल्लेख है कि श्लोकस्थ 'इदं महिमानम्' पाठ में 'इदम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग में है और 'महिमानम्' शब्द पुंल्लिङ्ग में है, इस प्रकार दोनों पदों में समान लिङ्ग न होने के कारण यहाँ वैयधिकरण्य सम्बन्ध है, अतएव यहाँ 'महिमानं तवेमम्' – यह पाठ शुद्ध होगा, कारण कि इसमें 'महिमानम्' और 'इमम्' – दोनों पदों में समान लिङ्ग हो जाने से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है । भाष्यकार का ही मधुसूदन सरस्वती, धनपति आदि ने अनुकरण किया है ।
76. श्लोकस्थ 'हे सखेति' -- पद में जो गुणसन्धि है वह आर्ष है ।

79 यद्यावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु विहारः क्रीडा व्यायामो वा । शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः । आसनं सिंहासनादि भोजनं बहूनां पङ्क्त्यावशनं तेषु विषयभूतेषु असत्कृतोऽसि मया परिभूतोऽसि एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितो वा त्वम् । अथवा तत्समक्षं तेषां सखीनां परिहसतां समक्षं वा, हेऽच्युत सर्वदा निर्विकार, तत्सर्वं वचनरूपमसत्करणरूपं चापराधजातं क्षामये क्षामयामि त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावेन निर्विकारेण च परमकारुणिकेन भगवता त्वन्माहात्म्यानभिज्ञस्य ममापराधाः क्षन्तव्या इत्यर्थः ॥ 42 ॥

80 अचिन्त्यप्रभावतामेव प्रपञ्चयति–

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ 43 ॥

81 अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि सर्वेश्वरत्वात् । गुरुश्चासि शास्त्रोपदेष्टा । अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान्गुरुतरोऽसि । अत एव न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽपि हेऽप्रतिमप्रभाव । यस्य समोऽपि नास्ति द्वितीयस्य परमेश्वरस्याभावात्तस्याधिकोऽन्यः कुतः स्यात्सर्वथा न संभाव्यत एवेत्यर्थः ॥ 43 ॥

---

79 तथा अवहास -- परिहास के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजन में = विहार -- क्रीडा अथवा व्यायाम, शय्या -- तूलिका – रूई आदि के बने गद्दे आदि से युक्त पलंग विशेष, आसन-सिंहासनादि और भोजन -- बहुतों की पंक्ति में बैठकर भोजन करना – इन विषयभूत प्रसंगों में मैंने आपका अकेले में अर्थात् मित्रों को छोड़कर एकान्त में रहने पर, अथवा उनके समक्ष अर्थात् उन परिहास करते हुए मित्रों के सामने जो असत्कार -- परिभव = तिरस्कार किया है । हे अच्युत[77] ! हे सर्वदा निर्विकार ! उन सब वचनरूप और असत्काररूप अपराधों को मैं अप्रमेयस्वरूप[78] आपसे क्षमा कराता हूँ अर्थात् अचिन्त्यप्रभाव, निर्विकार और परमकारुणिक भगवान् आप आपके माहात्म्य को न जाननेवाले मेरे ये अपराध क्षमा करें ।। 42 ।।

80 भगवान् की अचिन्त्य प्रभावता को ही विस्तृत करते हैं :--
[हे अप्रतिमप्रभाव ! हे अचिन्त्यप्रभाव ! आप इस चराचर लोक -- जगत् के पिता, पूज्य, गुरु और गरीयान् -- गुरुतर हैं । तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो और कोई कहाँ से हो सकता है ? ।। 43 ।।]

81 हे अप्रतिमप्रभाव ! आप इस चराचर लोक – जगत् के पिता -- जनक हैं, सर्वेश्वर होने से पूज्य हैं और गुरु हैं -- शास्त्रों का उपदेश करनेवाले हैं अत: सब प्रकार से गरीयान् -- गुरुतर हैं । अतएव तीनों लोकों में भी आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कोई दूसरा कहाँ

---

77. आप तो सर्वदा निर्विकार हो, अतएव अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते हो, अतएव जाने - अनजाने में मेरे द्वारा किये हुए आपके प्रति असत्कार से आपमें किसी प्रकार की विकृति होना संभव नहीं है, अतएव आप अनायास ही मेरे अपराध को क्षमा करोगे–यह मेरा विश्वास है – इस प्रकार के भाव को सूचित करने के लिये ही अर्जुन ने यहाँ भगवान् को 'अच्युत' कहकर सम्बोधन किया है ।

78. पहले अपना सखा और अपना मातुलेय जानकर मैंने आपका असत्कार किया, अब आपको अप्रमेय अर्थात् प्रमाणातीत परमेश्वर समझकर अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना कर रहा हूँ – इस आशय से अर्जुन ने यहाँ भगवान् को अप्रमेयस्वरूप कहा है ।

82 **यस्मादेवम्--**

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम् ॥ 44 ॥

83 **तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य त्वां प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा कायं दण्डवद्भूमौ पतित्वेति यावत् । प्रसादये त्वामीशमीड्यं सर्वस्तुत्यमहमपराधी । अतो हे देव पितेव पुत्रस्यापराधं सखेव सख्युरपराधं प्रियः पतिरिव प्रियायाः पतिव्रताया अपराधं ममापराधं त्वं सोढुं क्षन्तुमर्हसि अनन्यशरणत्वान्मम । प्रियायाऽर्हसीत्यत्रेवशब्दलोपः संधिश्च च्छान्दसः ॥ 44 ॥**

84 **एवमपराधक्षमां प्रार्थ्य पुनः प्राग्रूपदर्शनं विश्वरूपोपसंहारेण प्रार्थयते द्वाभ्याम् --**

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ 45 ॥

85 **कदाऽप्यदृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टोऽस्मि । तद्विकृतरूपदर्शनजेन भयेन च प्रव्यथितं व्याकुलीकृतं मनो मे । अतस्तदेव प्राचीनमेव मम प्राणापेक्षयाऽपि प्रियं रूपं मे दर्शय हे देव हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्राग्रूपदर्शनरूपं प्रसादं मे कुरु ॥45॥**

से हो सकता है ? दूसरा परमेश्वर न होने के कारण जिसके समान भी कोई नहीं है उससे अधिक तो कोई दूसरा कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् सर्वथा असम्भाव्य ही है ॥ 43 ॥

82 क्योंकि ऐसा है --

[इसलिएं मैं अपने शरीर को दण्ड के समान पृथ्वी पर गिराकर प्रणाम करके सर्वस्तुत्य आप ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ । हे देव ! जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता, सखा के अपराध को सखा और प्रिया के अपराध को प्रिय सह लेता है उसी प्रकार आप भी मेरे अपराध को सहन करने के लिए योग्य हैं ॥ 44 ॥]

83 इसलिए अपना शरीर प्रणिधाय -- अत्यन्त नीचा रखकर अर्थात् दण्ड के समान भूमि पर गिरकर आपको प्रणाम- नमस्कार करके मैं अपराधी ईड्य = सर्वस्तुत्य आप ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ । अत: हे देव ! पुत्र के अपराध को पिता के समान, सखा के अपराध को सखा के समान, और पतिव्रता प्रिया के अपराध को प्रिय पति के समान आप मेरे अपराध को सहन करने-- क्षमा करने के योग्य हैं, क्योंकि मेरा दूसरा शरण -- आश्रय नहीं है अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे आश्रय हैं । 'प्रियायाऽर्हसि' -- यहाँ पर 'इव' शब्द का लोप है और सन्धि छान्दस है ॥ 44 ॥

84 इस प्रकार अपराध के लिए क्षमा की प्रार्थना कर पुनः विश्वरूप के उपसंहारपूर्वक पूर्वरूप का दर्शन कराने के लिए दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं :--

[अदृष्टपूर्व अर्थात् जिसको पहले कभी नहीं देखा ऐसे आपके इस विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अत्यन्त व्यथित -- व्याकुल भी हो रहा है । हे देव ! आप मुझको अपना वह पूर्वरूप ही दिखाईये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ 45 ॥]

85 अदृष्टपूर्व अर्थात् जिसको पहले कभी नहीं देखा ऐसे आपके इस विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हुआ हूँ और उस विकृत-विकट रूप के दर्शन से उत्पन्न भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित -- व्याकुल

86 तदेव रूपं विवृणोति –

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ 46 ॥

87 कीरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छाम्यहं तथैव पूर्ववदेव । अतस्तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन वसुदेवात्मजत्वेन भव हे इदानीं सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते । उपसंहृत्य विश्वरूपं पूर्वरूपेणैव प्रकटो भवेत्यर्थः । एतेन सर्वदा चतुर्भुजादिरूपमर्जुनेन भगवतो दृश्यत इत्युक्तम् ॥ 46 ॥

88 एवमर्जुनेन प्रसादितो भयबाधितमर्जुनमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपमुचितेन वचनेन तमाश्वासयंस्त्रिभिः –

श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ 47 ॥

भी है । अत: आप वही प्राचीन ही मेरे प्राणों की अपेक्षा से भी प्रिय रूप मुझको दिखाइये । हे देव[79] ! हे देवेश ! हे जगन्निवास[80] ! आप प्रसन्न होइये अर्थात् आप मुझ पर अपने प्राचीनरूप का दर्शनरूप प्रसाद कीजिये ॥ 45 ॥

86 उसी पूर्वरूप का विवरण करते हैं --
[मैं आपको उसीप्रकार ही मुकुट धारण किये हुए, गदाधारी और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ । हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूप से युक्त होइये ॥ 46 ॥]

87 मैं आपको उसी प्रकार ही = पूर्ववत् ही किरीटवान् -- मुकुटधारी, गदावान् -- गदाधारी और चक्र हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ । अत: आप उस चतुर्भुजरूप से ही अर्थात् वसुदेव के पुत्ररूप से ही युक्त होइये । इस समय आप सहस्रबाहु हैं अतएव हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! आप अपने इस विश्वरूप का उपसंहार कर पूर्वरूप से ही प्रकट होइये -- यह अर्थ है । इससे यह कहा गया है कि अर्जुन सर्वदा भगवान् का चतुर्भुजादि रूप ही देखते हैं ॥ 46 ॥

88 इस प्रकार अर्जुन के द्वारा प्रसन्न किये हुए भय से पीडित अर्जुन को देख विश्वरूप का उपसंहार कर उचित वचन से उसको आश्वासन देते हुए-- ढाढस बँधाते हुए तीन श्लोकों से भगवान् ने कहा :--
[श्रीभगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगशक्ति के प्रभाव से तुमको अपना यह परम तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त और आद्य रूप दिखाया है, जिसको तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी ने पहले नहीं देखा है ॥ 47 ॥]

79. जिस रूप में आपने विश्वरूप दिखाया है वही मुख्यरूप है, अतएव हे भगवन् ! विश्वरूप के अधिष्ठान होने से अधिष्ठानस्वरूप मुख्यरूप का ही प्रद्योतनमात्र आपका कर्तव्य है, न कि विश्वरूपात्मक उत्पाद्यरूप का प्रदर्शन आपका कर्तव्य है । – यह 'हे देव !' सम्बोधन की गूढाभिसन्धि है । अथवा, श्लोक में प्रयुक्त 'देवरूपम्' – एक पद है, जिसका अर्थ है – द्योतनात्मक रूप ।

80. आप देवेश – देवेश्वर हैं और आप जगन्निवास – जगत् के आश्रय हैं – इस प्रकार आपके स्वरूप का मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, अत: आपके स्वरूप के ज्ञान के लिए मेरी जिज्ञासा समाप्त हो गई है, अतएव अब मेरे लिए ही इस विश्वरूप का तिरोधान करना उचित ही है – यह सूचित करने के लिए ही 'हे देवेश ! हे जगन्निवास !' – ये दो सम्बोधन हैं । अर्जुन ने 'हे देव ! हे देवेश ! हे जगन्निवास !' – इस प्रकार एक साथ भगवान् को तीन सम्बोधन जो किये हैं, इससे अर्जुन के मन की अतिशय व्याकुलता ही सूचित हो रही है ।

89 हेऽर्जुन मा भैषीः । यतो मया प्रसन्नेन त्वद्विषयकृपातिशयवतेदं विश्वरूपात्मकं परं श्रेष्ठं रूपं तव दर्शितमात्मयोगादसाधारणान्निजसामर्थ्यात् । परत्वं विवृणोति तेजोमयं तेजःप्रचुरं विश्वं समस्तमनन्तमाद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं पूर्वं न दृष्टम् ॥ 47 ॥

90 एतद्रूपदर्शनात्मकमतिदुर्लभं मत्प्रसादं लब्ध्वा कृतार्थ एवासि त्वमित्याह –

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ 48 ॥

91 वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैरक्षरग्रहणरूपैः, तथा मीमांसाकल्पसूत्रादिद्वारा यज्ञानां वेदबोधितकर्मणामध्ययनैरर्थविचाररूपैर्वेदयज्ञाध्ययनैः, दानैस्तुलापुरुषादिभिः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरुग्रैः कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैरेवंरूपोऽहं न शक्यो नृलोके मनुष्यलोके द्रष्टुं त्वदन्येन मदनुग्रहहीनेन हे कुरुप्रवीर । शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । प्रत्येकं नकाराभ्यासो निषेधदार्ढ्याय । न च क्रियाभिरित्यत्र चकारादनुक्तसाधनान्तरसमुच्चयः ॥ 48 ॥

---

89 हे अर्जुन[81] ! मत डरो, क्योंकि मैंने प्रसन्न होकर = तुम्हारे ऊपर अत्यन्त कृपा कर आत्मयोग से – अपनी योगशक्ति के प्रभाव से = अपने असाधारण सामर्थ्य से तुमको यह विश्वरूपात्मक परम श्रेष्ठ रूप दिखाया है । उस रूप के परत्व – श्रेष्ठत्व का विवरण करते हैं – यह रूप तेजोमय = तेज की प्रचुरता -- अधिकता से युक्त, विश्व अर्थात् समस्त, अनन्त और आद्य है अतएव परम श्रेष्ठ है, जिसको अर्थात् मेरे इस रूप को तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी ने भी पहले नहीं देखा है ॥ 47 ॥

90 मेरा एतद्-रूपदर्शनात्मक अतिदुर्लभ प्रसाद पाकर तुम कृतार्थ ही हो – यह कहते हैं :--
[हे कुरुप्रवीर ! हे कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यलोक में तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा एवंरूप = विश्वरूपात्मक मैं न वेद और यज्ञों के अध्ययनों से देखा जा सकता हूँ, न दानों से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही देखा जा सकता हूँ ॥ 48 ॥]

91 हे कुरुप्रवीर[82] ! मनुष्यलोक में तुम्हारे अतिरिक्त मेरे अनुग्रह से हीन-शून्य अन्य कोई भी पुरुष एवंरूप = विश्वरूप मुझको वेद और यज्ञों के अध्ययनों से = चारों वेदों के अक्षरग्रहणरूप अध्ययनों से तथा मीमांसा, कल्पसूत्र आदि द्वारा यज्ञों = वेदबोधित – वेदप्रतिपादित कर्मों के अर्थविचाररूप अध्ययनों से, तुलापुरुष आदि दानों से, क्रियाओं = अग्निहोत्रादि श्रौत कर्मों से और उग्र = शरीर और इन्द्रियों के शोषक होने से दुष्कर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपों से भी नहीं देख सकता है । 'शक्योऽहम्' -- ऐसा कहना उचित है, किन्तु यहाँ विसर्ग का लोप छान्दस है । प्रत्येक में नकार का अभ्यास = पुनः-पुनः कथन निषेध की दृढ़ता के लिए है । 'न च क्रियाभिः' -- यहाँ चकार से अनुक्त दूसरे साधनों का भी समुच्चय है ॥ 48 ॥

---

81. शुद्ध अन्तःकरण न होने से कोई भी भगवान् के इस विश्वरूप का दर्शन करने में समर्थ नहीं होता है, यह विश्वरूपदर्शन भगवत्कृपा अर्थात् ईश्वरप्रसाद से होता है और भगवदनुग्रह शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्त पर ही होता है । अर्जुन ने ही सर्वप्रथम भगवान् के इस विश्वरूप का भगवत्कृपा से ही दर्शन किया है, अतएव अर्जुन फलाभिसन्धिरहित होने के कारण शुद्धबुद्धि और भगवान् के भक्त हैं – यह सूचित करने के लिए यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन है ।

82. अन्य कुरु हैं और कोई कुरुवीर हैं, किन्तु तुम मेरे विश्वरूप का दर्शन करने से प्रकर्ष – उत्कर्ष को भी प्राप्त हुए हो, अतएव 'कुरुप्रवीर' हो -- यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

92 एवं त्वदनुग्रहार्थमाविर्भूतेन रूपेणानेन चेत्तवोद्वेगस्तर्हि –

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ 49 ॥

93 इदं घोरमीदृगनेकबाह्वादियुक्तत्वेन भयंकरं रूपं दृष्ट्वा स्थितस्य ते तव या व्यथा भयनिमित्ता पीडा सा मा भूत् । तथा मद्रूपदर्शनेऽपि यो विमूढभावो व्याकुलचित्तत्वमपरितोषः सोऽपि मा भूत्किं तु व्यपेतभीरपगतभयः प्रीतमनाश्च सन्पुनस्त्वं तदेव चतुर्भुजं वासुदेवत्वादिविशिष्टं त्वया सदा पूर्वदृष्टं रूपमिदं विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणं प्रपश्य प्रकर्षेण भयराहित्येन संतोषेण च पश्य ॥ 49 ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ 50 ॥

94 वासुदेवोऽर्जुनमिति प्रागुक्तमुक्त्वा यथा पूर्वमासीत्तथा स्वकं रूपं किरीटमकरकुण्डलगदाचक्रादियुक्तं चतुर्भुजं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालापीताम्बरादिशोभितं दर्शयामास भूयः पुनराश्वासयामास च भीतमेनमर्जुनं भूत्वा पुनः पूर्ववत्सौम्यवपुरनुग्रशरीरो महात्मा परमकारुणिकः सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादिकल्याणगुणाकरः ॥ 50 ॥

---

92 इस प्रकार तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए आविर्भूत– आविष्कृत इस रूप से यदि तुमको उद्वेग हो रहा है तो –

[मेरे इस प्रकार के इस घोर -- भयानक रूप को देखकर तुमको व्यथा न हो और विमूढभाव भी न हो । तुम निर्भय होकर प्रसन्न मन से पुनः मेरा यह वही रूप देखो ॥ 49 ॥]

93 मेरे इस प्रकार के इस घोर अर्थात् अनेक बाहुओं आदि से युक्त होने से भयंकर रूप को देखकर स्थित हुए तुमको जो व्यथा = भयजनित पीड़ा हो रही है वह न हो । तथा मेरा रूप देखने पर भी जो विमूढ़भाव = व्याकुलचित्तत्व अर्थात् अपरितोष – असन्तोष हो रहा है वह भी न हो, किन्तु व्यपेतभीः -- अपगतभय अर्थात् भयरहित और प्रसन्नचित्त होकर तुम पुनः वही तुम्हारे द्वारा पहले सदा देखा हुआ, विश्वरूप के उपसंहारद्वारा प्रकट किया हुआ यह[83] वासुदेवत्वादि से विशिष्ट चतुर्भुज रूप प्रपश्य = प्रकर्ष से अर्थात् भयराहित्य और सन्तोष से देखो ॥ 49 ॥

[संजय ने कहा --वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूप को दिखाया और फिर महात्मा ने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुन को आश्वासन दिया ॥50॥]

94 वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार = पूर्वोक्त कहकर जैसा पहले था वैसा ही अपना किरीट, मकराकृति कुण्डल, गदा, चक्र आदि से युक्त चतुर्भुज और श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, पीताम्बर आदि से शोभित रूप दिखाया और फिर महात्मा = परमकारुणिक, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ इत्यादि कल्याणमय गुणों

---

83. भगवान् जो वासुदेवत्वादि से विशिष्ट चतुर्भुजरूप को विश्वरूप के उपसंहार द्वारा प्रकट कर रहे हैं वह अब अर्जुन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने योग्य है – यह सूचित करने के लिए 'इदम् = यह' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

95 ततो निर्भयः सन् –

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ 51 ॥

96 इदानीं सचेता भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि तथा प्रकृतिं भयकृत-व्यथाराहित्येन स्वास्थ्यं गतोऽस्मि । स्पष्टमन्यत् ॥ 51 ॥

97 स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयंश्चतुर्भिः–

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ 52 ॥

98 मम यद्रूपमिदानीं त्वं दृष्टवानसि, इदं विश्वरूपं सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यम् । यतो देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकाङ्क्षिणो न तु त्वमिव पूर्वं दृष्टवन्तो न वाऽग्रे द्रक्ष्यन्तीत्यभिप्रायः । दर्शनाकाङ्क्षाया नित्यत्वोक्तेः ॥ 52 ॥

99 कस्माद्देवा एतद्रूपं न दृष्टवन्तो न वा द्रक्ष्यन्ति मद्भक्तिशून्यत्वादित्याह –

के आकर भगवान् ने पुन: = पूर्ववत् सौम्यवपु = अनुग्र शरीर होकर इस भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया ।। 50 ।।

95 उसके उपरान्त निर्भय होकर --
[अर्जुन ने कहा – हे जनार्दन [84] ! आपका यह सौम्य मानुष रूप देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ हूँ और अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ ।। 51 ।।]

96 अब मैं सचेता = भयकृत व्यामोह का अभाव होने से अव्याकुल -- शान्त चित्त हुआ हूँ तथा प्रकृति = भयकृत व्यथारहित होने से स्वास्थ्य को प्राप्त हो गया हूँ । शेष स्पष्ट है ।। 51 ।।

97 स्वकृत अनुग्रह के अति दुर्लभत्व को दिखलाते हुए चार श्लोकों से श्रीभगवान् ने कहा --
[हे अर्जुन ! मेरा यह रूप देखना अत्यन्त दुर्लभ है जिसको तुमने देखा है, देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छावाले रहते हैं ।। 52 ।।]

98 मेरा जो रूप इस समय तुमने देखा है यह विश्वरूप सुदुर्दर्श = देखने के लिये अत्यन्त अशक्य है, क्योंकि देवता भी नित्य-- सर्वदा इस रूप के दर्शन की इच्छावाले रहते हैं । अभिप्राय यह है कि इन्होंने इसको तुम्हारे समान न तो पहले देखा है और न ये आगे ही देखेंगे, कारण कि उनकी दर्शन की आकांक्षा की नित्यता कही गई है ।। 52 ।।

99 देवताओं ने इस रूप को क्यों नहीं देखा है और ये क्यों नहीं देखेंगे ? मेरी भक्ति से शून्य होने के कारण इन्होंने इसको नहीं देखा है और न ये देखेंगे -- यह कहते हैं :--

84. भक्तों के दु:खों का जो अर्दन - नाश करते है वे 'जनार्दन' हैं । भगवान् ने अपने सौम्यरूप के दर्शन से भयभीत अर्जुन का भय और मोह दूर कर अर्जुन को आश्वासन – धीरज दिया इसलिए अर्जुन ने उनको 'जनार्दन' कहकर सम्बोधन किया है ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ 53 ॥

100 न वेदयज्ञाध्ययनैरित्यादिना गतार्थः श्लोकः परमदुर्लभत्वख्यापनायाभ्यस्तः ॥ 53 ॥

101 यदि वेदतपोदानेज्याभिर्द्रष्टुमशक्यस्त्वं तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्योऽसीत्यत आह –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ 54 ॥

102 साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः । भक्त्यैवानन्यया मदेकनिष्ठया निरतिशयप्रीत्यैवंविधो दिव्यरूपधरोऽहं ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतो हेऽर्जुन । शक्य अहमिति च्छान्दसो विसर्गलोपः पूर्ववत् । न केवलं शास्त्रतो ज्ञातुं शक्योऽनन्यया भक्त्या किं तु तत्त्वेन द्रष्टुं च स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं च शक्यो वेदान्तवाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकेण । ततश्च स्वरूपसाक्षात्कारादविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ तत्त्वेन प्रवेष्टुं च मद्रूपतयैवाऽऽप्तुं चाहं शक्यो हे परंतप, अज्ञानशत्रुदमनेति प्रवेशयोग्यतां सूचयति ॥ 54 ॥

[तुमने मुझको जैसा देखा है उस प्रकार मैं न तो वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ ॥ 53 ॥]

100 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' – इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक से यह श्लोक गतार्थ है । विश्वरूपदर्शन की परम दुर्लभता कहने के लिए इसकी पुनः आवृत्ति कर दी है ॥ 53 ॥

101 यदि आप वेद, तप, दान और यज्ञ से नहीं देखे जा सकते हैं तो फिर किस उपाय से देखे जा सकते हैं ? इस पर कहते हैं –

[हे अर्जुन ! हे परन्तप[85] ! इस प्रकार का मैं तो अनन्य भक्ति से ही जाना, देखा और तत्त्वतः प्राप्त किया जा सकता हूँ ॥ 54 ॥]

102 यहाँ 'तु' शब्द अन्य साधन की व्यावृत्ति के लिए है । हे अर्जुन ! इस प्रकार का दिव्यरूपधारी मैं अनन्य भक्ति[86] = मदेकनिष्ठ – मुझ एक में ही निष्ठ निरतिशय प्रीति से ही शास्त्रद्वारा जाना जा सकता हूँ । 'शक्य अहम्' – यहाँ विसर्ग का लोप पूर्ववत् छान्दस है । अनन्य भक्ति से मैं न केवल शास्त्र द्वारा जाना ही जा सकता हूँ, अपितु तत्वतः देखा भी जा सकता हूँ अर्थात् वेदान्त के वाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक द्वारा मेरा स्वरूप से साक्षात्कार भी किया जा सकता है । तत्पश्चात् स्वरूप का साक्षात्कार होने से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने पर तत्त्वतः मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है अर्थात् मेरे रूप से ही मुझको प्राप्त भी किया

---

85. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुद्धबुद्धि है । जीव शुद्धबुद्धि सम्पन्न होने से ही अज्ञानरूप शत्रु का तपन – नाश करने में समर्थ होता है, इसलिए अर्जुन 'परन्तप' है । अज्ञान और उसके कार्य से अपने को मुक्त कर भगवान् को यथार्थरूप से जानने और देखने तथा उनमें प्रवेश करने की सामर्थ्य अर्जुन की है – यह सूचित करने के लिए ही सम्बोधनद्वय है ।

86. जो भक्ति भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र किसी पृथक् वस्तु में कभी भी नहीं होती है वह अनन्यभक्ति है अर्थात् जिस भक्ति के कारण भक्त को समस्त इन्द्रियों द्वारा एक वासुदेव भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है उसको 'अनन्य भक्ति' कहते हैं ।

103 अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थिनामनुष्ठानाय पुञ्जीकृत्योच्यते --

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ 55 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ 11 ॥

104 मदर्थं कर्म वेदविहितं करोतीति मत्कर्मकृत् । स्वर्गादिकामनायां सत्यां कथमेवमिति नेत्याह मत्परमः, अहमेव परमः प्राप्तव्यत्वेन निश्चितो न तु स्वर्गादिर्यस्य सः । अत एव मत्प्राप्त्याशया मद्भक्तः सर्वैः प्रकारैर्मम भजनपरः । पुत्रादिषु स्नेहे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-सङ्गवर्जितः, बाह्यवस्तुस्पृहाशून्यः । शत्रुषु द्वेषे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-निर्वैरः सर्वभूतेषु अपकारिष्वपि द्वेषशून्यो यः स मामेत्यभेदेन हे पाण्डव । अयमर्थस्त्वया ज्ञातुमिष्टो मयोपदिष्टो नातः परं किंचित्कर्तव्यमस्तीत्यर्थः ॥ 55 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां विश्वरूपदर्शननिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ 11 ॥

जा सकता है हे परन्तप ! हे अज्ञानरूप शत्रु का दमन करनेवाले ! -- इसप्रकार सम्बोधन से भगवान् अर्जुन की अपने में प्रवेश करने की योग्यता को सूचित करते हैं ॥ 54 ॥

103 अब मोक्षार्थियों के अनुष्ठान के लिए सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सारभूत अर्थ एकत्रित करके कहा जाता है :--

[हे पाण्डव ! जो मेरे लिए ही कर्म करनेवाला, मुझको ही परम अर्थात् प्राप्तव्य समझनेवाला, मेरा भक्त, सङ्गरहित और समस्त प्राणियों में वैरभाव से रहित होता है वह मुझको ही प्राप्त होता है ॥ 55 ॥]

104 जो मेरे लिए ही वेदविहित कर्म करता है वह 'मत्कर्मकृत' है । स्वर्गादि की कामना रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं-- नहीं, जो 'मत्परम' है अर्थात् जिसका मैं ही परम = प्राप्तव्यरूप से निश्चित हूँ, न कि स्वर्गादि वह 'मत्परम' है, अतएव मेरी प्राप्ति की आशा से जो 'मेरा भक्त' है अर्थात् सब प्रकार से मेरे भजन में ही लीन रहता है । पुत्रादि में स्नेह रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं -- नहीं, जो 'सङ्गवर्जित' है अर्थात् बाह्य वस्तुओं के प्रति स्पृहा -- स्नेहशून्य है । शत्रुओं के प्रति द्वेष रहने पर यह कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं -- नहीं, जो 'निर्वैर' है अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति वैरशून्य है, अपना अपकार करनेवालों के प्रति भी द्वेषशून्य है वह मुझको अभेदभाव से प्राप्त होता है, हे पाण्डव ! यह अर्थ तुमको जानना इष्ट था, सो मैंने इसका उपदेश कर दिया, इससे बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं है -- यह तात्पर्य है ॥ 55 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का विश्वरूपदर्शन नाम एकादश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

1 पूर्वाध्यायान्ते---

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥'

इत्युक्तम् । तत्र मच्छब्दार्थे संदेहः किं निराकारमेव सर्वस्वरूपं वस्तु मच्छब्देनोक्तं भगवता किं वा साकारमिति । उभयत्रापि प्रयोगदर्शनात् ।

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

इत्यादौ निराकारं वस्तु व्यपदिष्टं, विश्वरूपदर्शनानन्तरं च---

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥'

इति साकारं वस्तु । उभयोश्च भगवदुपदेशयोरधिकारिभेदेनैव व्यवस्थया भवितव्यमन्यथा विरोधात् । तत्रैवं सति मया मुमुक्षुणा किं निराकारमेव वस्तु चिन्तनीयं किं वा साकारमिति स्वाधिकारनिश्चयाय सगुणनिर्गुणविद्ययोर्विशेषबुभुत्सया---

अर्जुन उवाच

**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ 1 ॥**

---

1 पूर्व अध्याय के अन्त में 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव' -- यह श्लोक कहा है । उसमें 'मत्'शब्द के अर्थ में सन्देह है कि क्या भगवान् ने 'मत्' शब्द से निराकार ही सर्वस्वरूप वस्तु को कहा है अथवा साकार को भी कहा है ? क्योंकि निराकार और साकार -- दोनों ही अर्थो में 'मत्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे:-- 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। (गीता, 7.19)- इत्यादि में निराकार वस्तु को 'मत्' शब्द से कहा गया है और विश्वरूपदर्शन के पश्चात् 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा' (गीता, 11.53) -- इस प्रकार उक्त श्लोक में साकार वस्तु को 'मत्' शब्द से कहा गया है । भगवान् के इन दोनों उपदेशों में अधिकारी के भेद से ही व्यवस्था होनी चाहिए, अन्यथा परस्पर विरोध होगा । ऐसी परिस्थिति में मुमुक्षु मुझको निराकार ही वस्तु का चिन्तन करना चाहिए अथवा साकार वस्तु का चिन्तन करना चाहिए -- इस प्रकार अपने अधिकार का निश्चय करने के लिए सगुण और निर्गुण -- दोनों विद्याओं में विशेष -- भेद जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा --

[अर्जुन ने कहा -- हे भगवन् । इस प्रकार जो भक्त निरन्तर योगयुक्त होकर सगुण -- साकाररूप आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर -- अविनाशी, अव्यक्त -- निराकार ब्रह्म की ही उपासना करते हैं -- उन दोनों प्रकार के उपासकों में से कौन अति उत्तम योगवेत्ता हैं ? ।। 1 ।।]

2 एवं मत्कर्मकृदित्याद्यनन्तरोक्तप्रकारेण सततयुक्ता नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ सावधानतया प्रवृत्ता भक्ताः साकारवस्त्वेकशरणाः सन्तस्त्वामेवंविधं साकारं ये पर्युपासते सततं चिन्तयन्ति । ये चापि सर्वतो विरक्तास्त्यक्तसर्वकर्माणोऽक्षरं न क्षरत्यश्नुते वेत्यक्षरम् 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धसर्वोपाधि निर्गुणं ब्रह्म । अत एवाव्यक्तं सर्वकरणागोचरं निराकारं त्वां पर्युपासते तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमा अतिशयेन योगविदः, योगं समाधिं विन्दन्ति विदन्तीति वा योगविद उभयेऽपि । तेषां मध्ये के श्रेष्ठा योगिनः केषां ज्ञानं मयाऽनुसरणीयमित्यर्थः ॥ 1 ॥

3 तत्र सर्वज्ञो भगवानर्जुनस्य सगुणविद्यायामेवाधिकारं पश्यंस्तं प्रति तां विधास्यति यथाधिकारं तारतम्योपेतानि च साधनानि । अतः प्रथमं साकारब्रह्मविद्यां प्ररोचयितुं स्तुवन्प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरम्--

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ 2 ॥

4 मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्यानन्यशरणतया निरतिशयप्रियतया च प्रवेश्य हिङ्गुलरङ्ग इव जतु तन्मयं कृत्वा ये मां सर्वयोगेश्वराणामीश्वरं सर्वज्ञं समस्तकल्याण-

---

2 इसप्रकार अर्थात् 'मत्कर्मकृत्' -- इत्यादि में उक्त प्रकार से सततयुक्त= निरन्तर भगवत्कर्म आदि में सावधान होकर प्रवृत्त जो भक्त साकार वस्तु की एकशरण होकर एवंविध साकार आपकी सब प्रकार उपासना करते हैं = साकाररूप आपका निरन्तर चिन्तन करते हैं और जो सब ओर से विरक्त अतएव सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर अक्षर = जो क्षर -- नश्वर नहीं होता है अथवा जो व्याप्त होता है -- ऐसे अक्षर अर्थात् 'गार्गि । इस उस अक्षर को ही ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं' -- इत्यादि श्रुति से समस्त उपाधियों रहित निर्गुण ब्रह्म अतएव अव्यक्त = समस्त इन्द्रियों से अगोचर निराकार आपकी सब प्रकार उपासना करते हैं, उनमें से = दोनों प्रकार के उपासकों में से कौन योगवित्तम = अतिशय से योगविद हैं । यद्यपि दोनों योगविद हैं = योग -- समाधि को विन्दन्ति -- पाते हैं अथवा विदन्ति -- जानते हैं, तथापि उनमें से कौन श्रेष्ठ योगी हैं अर्थात् किनके ज्ञान का मुझको अनुसरण करना चाहिए ॥ 1 ॥

3 उन सगुण और निर्गुण -- दोनों विद्याओं में से सर्वज्ञ भगवान् अर्जुन का सगुणविद्या में ही अधिकार देखते हुए अर्जुन के प्रति सगुणविद्या का विधान करेंगे और अधिकार के अनुसार तारतम्यसहित उसके साधनों का भी निरूपण करेंगे । अतः पहले साकार ब्रह्मविद्या की प्ररोचना -- व्याख्या करने के लिए उसकी स्तुति -- प्रशंसा करते हुए 'उक्त दोनों प्रकार के योगविदों में से प्रथम ही श्रेष्ठ हैं' -- यह उत्तर भगवान् ने कहा --

[श्री भगवान् ने कहा -- हे अर्जुन ! मुझमें ही मन को एकाग्र करके निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं उनको मैं सर्वोत्तम -- सबसे श्रेष्ठ योगवेत्ता मानता हूँ ॥ 2 ॥]

4 मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर सगुण ब्रह्म में ही मन लगाकर = अनन्यशरणता -- एकनिष्ठता और निरतिशयप्रियता -- अतिशय प्रीति से मन का प्रवेशकर अर्थात् हिङ्गुल -- सिंदूर के रंग में जतु--

गुणनिलयं साकारं नित्ययुक्ताः सततोद्युक्ताः श्रद्धया परया प्रकृष्टया सात्त्विक्योपेताः सन्त उपासते सदा चिन्तयन्ति ते युक्ततमा मे मम मता अभिप्रेताः । ते हि सदा मदासक्तचित्ततया मामेव विषयान्तरविमुखाश्चिन्तयन्तोऽहोरात्राण्यतिवाहयन्ति । अतस्त एव युक्ततमा मता अभिमताः ॥2 ॥

5 **निर्गुणब्रह्मविद्पेक्षया सगुणब्रह्मविदां कोऽतिशयो येन त एव युक्ततमास्तवाभिमता इत्यपेक्षायां तमतिशयं वक्तुं तन्निरूपकान्निर्गुणब्रह्मविदः प्रस्तौति द्वाभ्याम् –**

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ 3 ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ 4 ॥

6 **येऽक्षरं मामुपासते तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्तीति द्वितीयगतेनान्वयः । पूर्वेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनाय तुशब्दः । अक्षरं निर्विशेषं ब्रह्म वाचक्नवीब्राह्मणे प्रसिद्धं तस्य समर्पणाय सप्त विशेषणानि । अनिर्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यं यतोऽव्यक्तंशब्दप्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियासम्बन्धै रहितम् । जातिं गुणं क्रियां सम्बन्धं वा द्वारीकृत्य शब्दप्रवृत्तेर्निर्विशेषे प्रवृत्त्ययोगात् । कुतो जात्यादिराहि-**

लाख के समान मन को तन्मय कर जो नित्ययुक्त = सतत – निरन्तर प्रयत्नशील होकर परा = प्रकृष्ट अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होकर सब योगेश्वरों के ईश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कल्याणमय गुणों के आकर, साकार मेरी उपासना करते हैं – मेरा सदा चिन्तन करते हैं वे ही युक्ततम मुझको अभिमत – अभिप्रेत हैं अर्थात् उनको ही मैं युक्ततम मानता हूँ । क्योंकि वे सदा मुझमें ही आसक्तचित्त रहने के कारण अन्य विषयों से विमुख होकर मेरा ही चिन्तन करते हुए दिन – रात्रि बिताते हैं, इसलिए उनको ही मैं युक्ततम मानता हूँ ॥ 2 ॥

5 निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं की अपेक्षा सगुण ब्रह्मवेत्ताओं में ऐसा क्या अतिशय -- विशेष है जिससे वे ही आपको युक्ततम अभिमत हैं ? -- इस अपेक्षा में उस अतिशय -- विशेष को बतलाने के लिए उसके निरूपक निर्गुण ब्रह्मवेत्ताओं का दो श्लोकों से प्रस्ताव करते हैं :–

[जो जन तो इन्द्रियों के समूह को भलीभाँति नियन्त्रित कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर और समस्त प्राणियों के हित में रत-- तत्पर होकर शब्द से कथन करने के अयोग्य, अव्यक्त, सर्वत्रग -- सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ = अज्ञान और उसके कार्य के अधिष्ठानभूत अतएव निर्विकार, नित्य, अविनाशी निर्गुण -- निर्विशेष ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं ॥ 3-4 ॥]

6 जो पुरुष अक्षरब्रह्मरूप मेरी उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं -- इस प्रकार द्वितीय श्लोक के साथ अन्वय है । पूर्व अर्थात् सगुण ब्रह्मवेत्ताओं से वैलक्षण्य -- विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग है । अक्षर = निर्विशेष ब्रह्म, जो बृहदारण्यकोपनिषद् के वाचक्नवी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है उसको समर्पित करने के लिए सात विशेषण दिये हैं ।'अनिर्देश्य'= शब्द से कथन करने के लिए अशक्य -- अयोग्य है, क्योंकि 'अव्यक्त' है = शब्दप्रवृत्ति के निमित्त जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध से रहित है, कारण कि जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध को द्वार बनाकार

त्यमत आह सर्वत्रगं सर्वव्यापि सर्वकारणम् । अतो जात्यादिशून्यं परिच्छिन्नस्य कार्यस्यैव जात्यादियोगदर्शनात्, आकाशादीनामपि कार्यत्वाभ्युपगमाच्च । अत एवाचिन्त्यं शब्दवृत्तेरिव मनोवृत्तेरपि न विषयः, तस्या अपि परिच्छिन्नविषयत्वात् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः ।

7 **तर्हि कथं'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति च श्रुतिः । 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रं च । उच्यते, अविद्याकल्पितसंबन्धेन शब्दजन्यायां बुद्धिवृत्तौ चरमायां परमानन्दबोधरूपे शुद्धे वस्तुनि प्रतिबिम्बितेऽविद्यातत्कार्ययोः कल्पितयोर्निवृत्त्युपपत्तेरुपचारेण**

शब्दप्रवृत्ति होती है[1] और निर्विशेष ब्रह्म में उक्त निमित्तों के न रहने से शब्दप्रवृत्ति नहीं होती है । वह जाति आदि से रहित क्यों है ? इसपर कहते हैं – 'सर्वत्रग'सर्वव्यापी अर्थात् सबका कारण है, अतः जाति आदि से शून्य -- रहित है, क्योंकि परिच्छिन्न कार्य का ही जाति आदि के साथ योग देखा जाता है और आकाशादि भी कार्यरूप स्वीकार किये गए हैं । अतएव 'अचिन्त्य' है = शब्दवृत्ति के समान मनोवृत्ति का भी विषय नहीं है, क्योंकि मनोवृत्ति भी परिच्छिन्नविषयक ही होती है, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' = 'जिससे मन के सहित वाणी उसको न पाकर लौट आती है' ।

7 यदि निर्गुण – निर्विशेष ब्रह्म मनोवृत्ति का विषय नहीं है तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' = 'उस औपनिषद पुरुष को पूँछता हूँ', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' = 'जो अग्र – श्रेष्ठ बुद्धि से देखा जाता है' -- ये श्रुतियाँ और 'शास्त्रयोनित्वात्'(ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) = 'जो शास्त्रप्रमाणक है' -- यह सूत्र कैसे संगत होंगे ? इसका समाधान है – अविद्याकल्पित सम्बन्ध से शब्दजन्य चरम-अन्तिम बुद्धिवृत्ति

---

1. जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध – ये चार शब्दप्रवृत्ति के निमित होते हैं । पदार्थ का प्राणप्रद या जीवना-धायक धर्म 'जाति' होता है (पदार्थस्य प्राणप्रदो धर्मो जातिः – काव्यप्रकाश) । जैसा कि भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में कहा है कि "न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः ' = ' गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अ-गौ । 'गोत्व' जाति के सम्बन्ध से ही 'गौ' कहलाती है' । 'जाति' का ही दूसरा नाम सामान्य है । अनुगत – एकाकार प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहलाता है (अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्) । यह सामान्य नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है (नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्) । वस्तु का विशेषाधानहेतु 'गुण' कहलाता है (विशेषाधानहेतुर्गुणः – काव्यप्रकाश), क्योंकि शुक्ल आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से विशेष भिन्नता को प्राप्त होती है । जैसे – गौ के साथ गुणवाचक शुक्ल विशेषण अन्य गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता या भिन्नता को सूचित करता है । साध्यरूप वस्तुधर्म दाल आदि के पकाने में चूल्हा जलाकर बटलोई रखने से लेकर उसके उतारने तक आगे – पीछे किया जानेवाला पूर्वापरीभूत सारा व्यापारकलाप क्रियारूप अर्थात् 'क्रिया' शब्द से वाच्य होता है (साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः–काव्यप्रकाश) । साक्षात् और परम्परा भेद से 'सम्बन्ध' दो प्रकार का होता हैं । ईश्वर की इच्छा, अथवा वाच्यवाचकभाव के मूल तादात्म्य – सम्बन्ध = साक्षात् – सम्बन्ध का नाम 'शक्ति' है । जिस अर्थ में शब्द की शक्ति होती है वह अर्थ उस शब्द का 'शक्य' कहलाता है । शक्यार्थ – सम्बन्ध को 'लक्षणा' कहते हैं । जैसे – 'गंगायां ग्रामः ' – यहाँ 'गंगा' शब्द की शक्ति प्रवाह में है, इसलिए प्रवाह 'गंगा' शब्द का शक्य है और उस प्रवाह से तीर का संयोग – सम्बन्ध है । इस प्रकार शब्द का अर्थ से जो परम्परा सम्बन्ध है वह 'लक्षणा' कही जाती है । उक्त दोनों सम्बन्धों में से परस्पर साक्षात् – सम्बन्ध तो किसी – किसी का ही होता है, सबका नहीं होता और परस्पर परम्परा – सम्बन्ध तो सभी पदार्थों का सम्भव होता है, जैसे – गोत्व और अश्वत्व का भी परस्पर 'व्यधिकरणता – सम्बन्ध' है । घटाभाव और घट का यद्यपि परस्पर विरोध है तथापि घट में घटाभाव का 'प्रतियोगिता – सम्बन्ध' है और घट का अपने अभाव में 'स्ववृत्ति – प्रतियोगितानिरूपकता – सम्बन्ध' है । इस प्रकार सभी पदार्थो का परस्पर परम्परा – सम्वन्ध सम्भव होता है । इसलिए साक्षात -- सम्बन्ध और परम्परा – सम्बन्ध के भेद से शब्द – वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं -- शक्ति और लक्षणा ।

विषयत्वाभिधानात् । अतस्तत्र कल्पितमविद्यासंबन्धं प्रतिपादयितुमाह—कूटस्थं, यन्मिथ्याभूतं सत्यतया प्रतीयते तत्कूटमिति लोकैरुच्यते । यथा कूटकार्षापणः कूटसाक्षित्वमित्यादौ । अज्ञानमपि मायाख्यं सह कार्यप्रपञ्चेन मिथ्याभूतमपि लौकिकैः सत्यतया प्रतीयमानं कूटं तस्मिन्नाध्यासिकेन संबन्धेनाधिष्ठानतया तिष्ठतीति कूटस्थमज्ञानतत्कार्याधिष्ठानमित्यर्थः । एतेन सर्वानुपपत्तिपरिहारः कृतः । अत एव सर्वविकाराणामविद्याकल्पितत्वात्तदधिष्ठानं साक्षिचैतन्यं निर्विकारमित्याह--अचलं, चलनं विकारः । अचलत्वादेव ध्रुवमपरिणामि नित्यम् । एतादृशं शुद्धं ब्रह्म मां पर्युपासते श्रवणेन प्रमाणगतामसंभावनामपोह्य मननेन च प्रमेयगतामनन्तरं विपरीतभावनानिवृत्तये ध्यायन्ति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नसमानप्रत्ययप्रवाहेण निदिध्यासनसंज्ञेकेन ध्यानेन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ 3 ॥

8 **कथं पुनर्विषयेन्द्रियसंयोगे सति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारोऽत आह--संनियम्य स्वविषयेभ्य उपसंहृत्येन्द्रियग्रामं करणसमुदायम् । एतेन शमदमादिसंपत्तिरुक्ता । विषयभोगवासनायां सत्यां कुत इन्द्रियाणां ततो निवृत्तिस्तत्राऽऽह -- सर्वत्र विषये समा तुल्या हर्षविषादाभ्यां रागद्वेषाभ्यां च रहिता मतिर्येषां सम्यग्ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्यापनीतत्वाद्विषयेषु दोषदर्शनाभ्यासेन स्पृहाया**

में परमानन्दबोधरूप शुद्ध वस्तु के प्रतिबिम्बित होने पर कल्पित अविद्या और उसके कार्यो की निवृत्ति होती है, अतः उपचार से ब्रह्म को शास्त्र या बुद्धि का विषय कहा गया है । इसीलिए उसमें कल्पित अविद्यासम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं -- वह 'कूटस्थ' है = जो मिथ्याभूत पदार्थ सत्यरूप से प्रतीत होता है वह लोक में 'कूट' कहा जाता है, जैसे -- कूटकार्षापण, कूटसाक्षी इत्यादि शब्द प्रसिद्ध हैं-- कार्यप्रपञ्च सहित मायासंज्ञक अज्ञान भी मिथ्याभूत होते हुए भी लौकिक पुरुषों को सत्यरूप से प्रतीत होता है, अत: 'कूट' है, उसमें आध्यासिक सम्बन्ध से अधिष्ठानरूप से स्थित है जो वह 'कूटस्थ' है अर्थात् वह अज्ञान और उसके कार्य का अधिष्ठान है । इससे सब अनुपपत्तियों का परिहार किया गया है । अतएव सब विकारों के अविद्याकल्पित होने से उनका अधिष्ठान साक्षी -- चैतन्य निर्विकार है -- यह कहते है:-- वह अचल है = चलन विकार है उससे रहित वह अचल -- निर्विकार है । अचल होने से ही ध्रुव = अपरिणामी अर्थात् नित्य है । ऐसे शुद्ध ब्रह्म मेरी जो उपासना[2] करते हैं = श्रवण से प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति कर और मनन से प्रमेयगत असम्भावना की निवृत्ति कर विपरीतभावना की निवृत्ति के लिए शुद्ध ब्रह्म मेरा जो ध्यान करते हैं अर्थात् विजातीय प्रत्यय के तिरस्कारपूर्वक तैलधारा के समान अविच्छिन्न समान प्रत्यय के प्रवाहरूप निदिध्यासनसंज्ञक ध्यान से शुद्ध ब्रह्म मुझको जो विषय करते हैं ॥ 3 ॥

8 विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग रहने पर विजातीय प्रत्यय-- ज्ञान का तिरस्कार कैसे होता है ? इस शङ्का से कहते हैं -- इन्द्रियग्राम = इन्द्रियों के समूह अर्थात् करणों के समुदाय -- समूह को अपने-- अपने विषयों से संनियम्य = भलीभाँति नियन्त्रित कर = उपसंहृत कर अर्थात हटाकर (विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार होता है) । इससे शम -- दम आदि षट्कसम्पत्ति को कहा गया है । विषयभोग की वासना रहने पर इन्द्रियों की उन विषयों से निवृत्ति कैसे होगी ? उसमें कहते

2. 'उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते' = उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप आसन लगाने को अर्थात् तैलधारावत् समान प्रत्ययों–वृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहने को 'उपासना' कहते हैं ।

निरसनाच्च ते सर्वत्र समबुद्धयः । एतेन वशीकारसंज्ञा वैराग्यमुक्तम् । अत एव सर्वत्राऽऽत्मदृष्ट्या हिंसाकारणद्वेषरहितत्वात्सर्वभूतहिते रताः 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इति मन्त्रेण दत्तसर्वभूताभयदक्षिणाः कृतसंन्यासा इति यावत् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्' इति स्मृतेः । एवंविधाः सर्वसाधनसंपन्नाः सन्तः स्वयं ब्रह्मभूता निर्विचिकित्सेन साक्षात्कारेण सर्वसाधनफलभूतेन मामक्षरं ब्रह्मैव ते प्राप्नुवन्ति, पूर्वमपि मद्रूपा एव सन्तोऽविद्यानिवृत्त्या मद्रूपा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमि'त्युक्तम् ॥ 4 ॥

9 इदानीमेतेभ्यः पूर्वेषामतिशयं दर्शयन्नाह –

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ 5 ॥

10 पूर्वेषामपि विषयेभ्य आहृत्य सगुणे ब्रह्मणि मनआवेशे सततं तत्कर्मपरायणत्वे च परश्रद्धोपेतत्वे च क्लेशोऽधिको भवत्येव । किं तु अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणब्रह्मचिन्तनपराणां तेषां पूर्वोक्त-

---

हैं – जिनकी सर्वत्र-सब विषयों में समान = तुल्य अर्थात् हर्ष–विषाद और राग--द्वेष से रहित मति – बुद्धि रहती है वे सम्यक्--ज्ञान से उस विषमता के कारणभूत अज्ञान का अपनयन – निवारण होने से और विषयों में दोषदर्शन के अभ्यास से स्पृहा – इच्छा का निरसन – उन्मूलन होने से सर्वत्र समबुद्धि होते हैं । इससे वशीकारसंज्ञक वैराग्य कहा गया है । अतएव सर्वत्र आत्मदृष्टि होने से हिंसा के कारणभूत द्वेष से रहित होने के कारण समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हैं = 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' – इस मन्त्र से समस्त प्राणियों को अभयदक्षिणा देकर 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्'– 'समस्त प्राणियों को अभयदान देकर संन्यास ग्रहण करे' -- इस स्मृति के अनुसार कृतसंन्यास अर्थात् संन्यास लिए रहते हैं । इसप्रकार के वे निर्गुणोपासक सब साधनों से सम्पन्न होते हुए स्वयं ब्रह्मभूत होकर सब साधनों के फलभूत निर्विचिकित्स – निःसन्दिग्ध साक्षात्कार से मुझ अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् पूर्व में भी मद्रूप ही होते हुए अविद्या की निवृत्ति द्वारा मद्रूप ही रहते हैं, जैसा कि 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' = 'ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है'; 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' = 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' – इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है और यहाँ भी = गीता में भी 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता, 7.18) = 'ज्ञानी तो आत्मरूप ही रहते हैं -- ऐसा मेरा मत है'-- इस प्रकार कहा ही गया है ॥ 4 ॥

9 अब इन निर्गुणोपासकों से पूर्व--सगुणोपासकों का अतिशय -- विशेष दिखलाते हुए कहते है':–

[उन अव्यक्त = निर्गुण ब्रह्म में आसक्त हुए चित्तवाले उपासकों के साधन में अत्यधिक क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष होता है, क्योंकि देहाभिमानी जीवों से अव्यक्त – निर्गुणब्रह्मविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ॥ 5॥]

10 पूर्व--सगुणोपासकों को भी मन को विषयों से हटाकर सगुणब्रह्म में लगाने, निरन्तर तत्कर्मपरायण होने और परा – प्रकृष्ट अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होने में क्लेश तो अधिक होता ही है, किन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्तवाले अर्थात् निर्गुण – ब्रह्मचिन्तनपरायण पूर्वोक्त साधनोंवाले उपासकों को क्लेश -- आयास – परिश्रम अधिकतर = अत्यधिक होता है । इसमें भगवान् स्वयं ही हेतु कहते हैं -- 'अव्यक्ता हि गतिः' = हि = यस्मात् = क्योंकि अव्यक्तविषयक गति = अक्षरा-

साधनवतां क्लेश आयासोऽधिकतरोऽतिशयेनाधिकः । अत्र स्वयमेव हेतुमाह भगवान् -- अव्यक्ता हि गतिः, हि यस्मादक्षरात्मकं गन्तव्यं फलभूतं ब्रह्म दुःखं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रेण देहवद्भिर्देहमानिभिरवाप्यते । सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यानां तेन तेन विचारेण तत्तद्भ्रमनिराकरणे महान्प्रयासः प्रत्यक्षसिद्धस्ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्युक्तम् । यद्यप्येकमेव फलं तथाऽपि ये दुष्करेणोपायेन प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया सुकरेणोपायेन प्राप्नुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठा इत्यभिप्रायः ॥ 5 ॥

11 **ननु फलैक्ये क्लेशाल्पत्वाधिक्याभ्यामुत्कर्षनिकर्षौ स्यातां, तदेव तु नास्ति निर्गुणब्रह्मविदां हि फलमविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या निर्विशेषपरमानन्दबोधब्रह्मरूपता, सगुणब्रह्मविदां त्वधिष्ठानप्रमाया अभावेनाविद्यानिवृत्त्यभावादैश्वर्यविशेषः कार्यब्रह्मलोकगतानां फलम् । अतः फलाधिक्यार्थमायासाधिक्यं न न्यूनतामापादयतीति चेत् । न, सगुणोपासनया निरस्तसर्वप्रतिबन्धानां विना गुरूपदेशं विना च श्रवणमनननिदिध्यासनाद्यावृत्तिक्लेशं स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तवाक्येनेश्वरप्रसादसहकृतेन तत्त्वज्ञानोदयादविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मलोक एवैश्वर्यभोगान्ते निर्गुणब्रह्मविद्याफलपरमकैवल्योपपत्तेः । 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति श्रुतेः स प्राप्तहिरण्यगर्भैश्वर्यो भोगान्त एतस्माज्जीवघनात्सर्वजीवसमष्टिरूपात्पराच्छ्रेष्ठाद्धिरण्यगर्भात्परं विलक्षणं श्रेष्ठं च पुरिशयं स्वहृदयगुहानिविष्टं पुरुषं पूर्णं प्रत्यगभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तप्रमाणेन साक्षात्करोति, तावता च मुक्तो भवतीत्यर्थः । तथा च विनाऽपि प्रागुक्तक्लेशेन सगुणब्रह्मविदामीश्वरप्रसादेन निर्गुणब्रह्मविद्याफलप्राप्तिरितीममर्थमाह द्वाभ्याम् --**

त्मक गन्तव्य -- प्राप्तव्य फलभूत ब्रह्म देहवानों -- देहाभिमानियों के द्वारा दुःख से =जैसे हो वैसे बडे कष्ट के साथ प्राप्त किया जाता है । सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास -- त्याग करके गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के उस -- उस विचार से उस -- उस भ्रम का निराकरण करने में महान् प्रयास प्रत्यक्षसिद्ध है -- इसी से 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' = 'उन निर्गुणोपासकों को अत्यधिक क्लेश होता है' -- कहा गया है । यद्यपि सगुणोपासक और निर्गुणोपासक -- दोनों का प्राप्य फल एक ही है, तथापि जो उस फल को दुष्कर उपाय से प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा उसका सुकर उपाय से प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ होते हैं -- यह अभिप्राय है ॥ 5 ॥

11 शङ्का -- फल एक होने पर क्लेश के अल्पत्व और आधिक्य से उत्कर्ष और निकर्ष हो--यह तो ठीक है किन्तु यहाँ वही तो नहीं है, क्योंकि निर्गुणब्रह्मोपासकों का फल अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति द्वारा निर्विशेष--परमानन्द--बोधब्रह्मरूपता है, जबकि सगुणब्रह्मोपासकों का अधिष्ठान का ज्ञान न होने से अविद्या की निवृत्ति न होने के कारण कार्य--ब्रह्मलोकगत ऐश्वर्यविशेष फल है ; अतः फलाधिक्य के लिए आयासाधिक्य न्यूनता का आपादक नहीं है । उत्तर -- ऐसा नहीं है, क्योंकि सगुणोपासना से जिनके सब प्रतिबन्ध निरस्त हो गये हैं उनको गुरूपदेश के बिना और श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि की आवृत्ति से जन्य क्लेश के बिना ईश्वरप्रसादसहकृत स्वयं -- आविर्भूत वेदान्तवाक्य के द्वारा तत्वज्ञान का उदय हो जाने से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति होकर ब्रह्मलोक में ऐश्वर्य भोगने के बाद निर्गुणब्रह्मविद्या का फल परम कैवल्य प्राप्त होता है । 'स

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ 6 ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ 7 ॥

12 **तुशब्द उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः । ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य सगुणे वासुदेवे समर्प्य मत्परा अहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रकृष्टः प्रीतिविषयो येषां ते तथा सन्तोऽनन्येनैव योगेन न विद्यते मां भगवन्तं मुक्त्वाऽन्यदालम्बनं यस्य तादृशेनैव योगेन समाधिनैकान्तभक्तियोगापरनाम्ना मां भगवन्तं वासुदेवं सकलसौन्दर्यसारनिधानमानन्दघनविग्रहं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समस्तजनमनोमोहिनीं मुरलीमतिमनोहरैः सप्तभिः स्वैरापूरयन्तं वा दरकमलकौमोदकीरथाङ्गसङ्गिपाणिपल्लवं वा नरसिंहराघवादिरूपं वा यथादर्शितविश्वरूपं वा ध्यायन्तश्चिन्तयन्त उपासते समानाकारमविच्छिन्नं चित्तवृत्तिप्रवाहं संतन्वते समीपवर्तितयाऽऽसते तिष्ठन्ति वा तेषां मय्यावेशितचेतसां मयि यथोक्त आवेशितमेकाग्रतया प्रवेशितं चेतो यैस्तेषामहं सततोपासितो भगवान्मृत्युसंसारसागरान्मृत्युयुक्तो यः संसारो मिथ्याज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चः स एव**

एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'-- इस श्रुति के अनुसार वह सगुणब्रह्मोपासक हिरण्यगर्भ के ऐश्वर्य को प्राप्तकर उसका भोग करने के पश्चात् इस जीवघन अर्थात् सर्वजीवसमष्टिरूप पर -- श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ से पर = विलक्षण और श्रेष्ठ पुरिशय = स्वहृदयगुहा में निविष्ट -- स्थित पुरुष अर्थात् पूर्ण प्रत्यगभिन्न अद्वितीय परमात्मा को देखता है = स्वयं -- आविर्भूत वेदान्तप्रमाण से उसका साक्षात्कार करता है अर्थात् उसी से ही मुक्त हो जाता है । इस प्रकार पहले कहे हुए क्लेश के विना भी सगुणब्रह्मवेत्ताओं को ईश्वरप्रसाद से निर्गुणब्रह्मविद्या के फल की प्राप्ति होती है -- यही अर्थ दो श्लोकों से कहते हैं:--

[जो भक्तजन तो सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुए अनन्यभावरूप योग से ही मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें ही चित्त लगानेवाले भक्तों का मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ 6-7 ॥]

12 'तु'शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिए है । जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझ सगुण वासुदेव में संन्यास कर = समर्पण कर मत्पर = जिनका मैं भगवान् वासुदेव ही पर -- प्रकृष्ट प्रीति का विषय हूँ वे मत्पर होते हुए अनन्य ही योग से अर्थात् मुझ भगवान् को छोड़कर जिसका अन्य कोई आलम्बन नहीं है वैसे ही योग से -- समाधि से = अपरनामोक्त एकान्तभक्तियोग से सकल-- सौन्दर्यसारनिधान, आनन्दघनविग्रह, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, समस्त जनों के मन को मोहित करनेवाली मुरली को अतिमनोहर सप्तस्वरों से पूरित करते हुए, अथवा करपल्लवों में शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और चक्र लिये हुए, अथवा नृसिंह -- राघव आदि स्वरूप, अथवा यथादर्शित विश्वस्वरूप मुझ भगवान् वासुदेव का ध्यान = चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं अर्थात् समानाकार अविच्छिन्न चित्तवृत्ति के प्रवाह को चलाते हैं अथवा मेरे समीपवर्ती होकर आसते -- तिष्ठन्ति = बैठते हैं, उन मय्यावेशितचेताओं का = यथोक्त मुझमें जिन्होंने अपने चित्त को आवेशित -- आविष्ट -- एकाग्रता

सागर इव दुरुत्तरस्तस्मात्समुद्धर्ता सम्यगनायासेनोदूर्ध्वे सर्वबाधावधिभूते शुद्धे ब्रह्मणि धर्ता धारयिता ज्ञानावष्टम्भदानेन भवामि नचिरात्क्षिप्रमेव तस्मिन्नेव जन्मनि, हे पार्थेति संवोधनमाश्वासार्थम् ॥ 6-7 ॥

13 **तदेवमियता प्रबन्धेन सगुणोपासनं स्तुत्वेदानीं विधत्ते –**

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ 8 ॥

14 **मय्येव सगुणे ब्रह्मणि मनः संकल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय सर्वा मनोवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु। एवकारानुषङ्गेण मय्येव बुद्धिमध्यवसायलक्षणां निवेशय, सर्वा बुद्धिवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु, विषयान्तरपरित्यागेन सर्वदा मां चिन्तयेत्यर्थः । ततः किं स्यादित्यत आह – निवसिष्यसि निवत्स्यसि लब्धज्ञानः सन्मदात्मना मय्येव शुद्धे ब्रह्मण्येवात ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते न संशयो नात्र प्रतिबन्धशङ्का कर्तव्येत्यर्थः। एव अत ऊर्ध्वमित्यत्र संध्यभावः श्लोकपूरणार्थः ॥ 8 ॥**

से प्रवेशित -- प्रविष्ट किया है उनका उनसे निरन्तर उपासित मैं भगवान् मृत्युयुक्त संसारसागर[3] से = मृत्युयुक्त जो संसार अर्थात् मिथ्याज्ञान और उसका कार्यभूत प्रपञ्च है वह ही सागर के समान दुस्तर है उससे नचिरात् = शीघ्र ही अर्थात् उसी जन्म में ज्ञान का आश्रय देकर समुद्धर्ता = सम्यक् -- अनायास ही उत् -- ऊर्ध्व अर्थात् सब बाधाओं के अवधिभूत शुद्ध ब्रह्म में धर्ता -- धारयिता -- धारणा करानेवाला होता हूँ । हे पार्थ[4] ! -- यह सम्बोधन आश्वासन के लिए है ।। 6-7 ।।

13 इस प्रकार इतने प्रबन्ध से सगुणोपासना की स्तुति कर अब उसके अतिरिक्त साधन का विधान करते हैं:--

[तुम मुझमें ही मन को स्थिर करो, मुझ ही में बुद्धि को लगाओ, इससे तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है ।। 8 ।।]

14 तुम मुझ सगुणब्रह्म में ही अपने संकल्पविकल्पात्मक मन को लगाओ अर्थात् स्थिर करो = तुम अपनी समस्त मनोवृत्तियों को मद्विषयक -- मुझको विषय करनेवाली ही बनाओ । एवकार का आगे भी सम्बन्ध कर 'मय्येव बुद्धिं निवेशय' = मुझमें ही अध्यवसायस्वरूप बुद्धि को लगाओ = समस्त बुद्धिवृत्तियों को मद्विषयक ही करो अर्थात् विषयान्तर का परित्याग कर सर्वदा मद्विषयक -- मेरा ही चिन्तन करो[5] । उससे क्या होगा ? इस पर कहते हैं -- तुम ज्ञान प्राप्त करके 'अत

3. आनन्दगिरि के अनुसार 'मृत्यु' का अर्थ है अज्ञान और 'संसार' का अर्थ है अज्ञान का कार्य – इसप्रकार 'मृत्युसंसार'– पद का अर्थ है -- अज्ञान और उसका कार्यप्रपञ्च । मृत्यु = अज्ञान के साथ संसार सर्वदा ही युक्त रहता है, अत: मृत्यु= अज्ञानयुक्त संसार = विश्वप्रपञ्च को 'मृत्युसंसार ' कहते हैं ।

4. 'हे पार्थ! ' – इस सम्बोधन से यह ध्वनित होता है कि जैसे पहले पृथा के पुत्रों की भक्ति से वशीभूत हो भगवान् ने उन पृथापुत्रों को उन – उन संकटों से निकाला था वैसे ही अब भी पृथापुत्र अर्जुन का भगवान् उद्धार करेंगे – यह सम्बोधन अर्जुन के आश्वासनार्थ है ।

5. सगुणब्रह्म के किसी रूप में मन और बुद्धि – दोनों को समाहित करने पर निर्विकल्पक समाधि ही प्राप्त होती है । मन में किसी भी प्रकार का विकल्प न रहने से कल्पनात्मक सगुणब्रह्मस्वरूप का भी अन्तर्ध्यान हो जाता है अर्थात् उस समय दृश्यरूप से किसी भी पदार्थ का वहाँ रहना असम्भव हो जाता है, अत: द्रष्टा अथवा साक्षी आत्मा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप अद्वितीयब्रह्म है वही प्रकट रहता है और जीव भी उसके साथ एक होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है । फलत: सगुणब्रह्मवेत्ताओं को भी ईश्वरप्रसाद से निर्गुणब्रह्मविद्या के फल की ही प्राप्ति होती है – यही यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है ।

15 इदानीं सगुणब्रह्मध्यानाशक्तानामशक्तितारतम्येन प्रथमं प्रतिमादौ बाह्ये भगवद्ध्यानाभ्यासस्तदशक्तौ भागवतधर्मानुष्ठानं तदशक्तौ सर्वकर्मफलत्याग इति त्रीणि साधनानि त्रिभिः श्लोकैर्विधत्ते--

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥ 9 ॥

16 अथ पक्षान्तरे स्थिरं यथा स्यात्तथा चित्तं समाधातुं स्थापयितुं मयि न शक्नोषि चेत्तत एकस्मिन्प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य चेतसः पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधिस्तेनाभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ यतस्व हे धनञ्जय बहूञ्शत्रूञ्जित्वा धनमाहृतवानसि राजसूयाद्यर्थमेकं मनःशत्रुं जित्वा तत्त्वज्ञानधनमाहरिष्यसीति न तवाऽऽश्चर्यमिति संबोधनार्थः ॥ 9 ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ 10 ॥

ऊर्ध्वम् = एतद्देहान्ते' = इस देह का अन्त होने पर मदात्मा = मेरे स्वरूप होकर मुझ शुद्ध ब्रह्म मे ही निवास करोगे[6] – इसमें कोई संशय नहीं है अर्थात् इसमें किसी प्रकार के प्रतिबन्ध – विघ्न की शङ्का नहीं करनी चाहिए। 'एव अत ऊर्ध्वम्' – यहाँ सन्धि का अभाव श्लोकपूर्ति के लिए किया है ॥ 8 ॥

15 अब सगुणब्रह्म का ध्यान करने में अशक्त– असमर्थ पुरुषों की अशक्ति -- असमर्थता के तारतम्य से पहले प्रतिमा आदि बाह्य आलम्बनों में भगवान् के ध्यान का अभ्यास करना, उसमें अशक्त – असमर्थ होने पर भागवत धर्मों का अनुष्ठान करना, उसमें भी असमर्थ होने पर समस्त कर्मफलों का त्याग करना -- इन तीन साधनों का तीन श्लोकों से विधान करते हैं:—

[हे धनञ्जय ! यदि तुम अपने चित्त को मुझमें स्थिरतापूर्वक नहीं लगा सकते हो तो अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त करने के लिए इच्छा करो – यत्न करो ॥ 9 ॥]

16 'अथ'शब्द पक्षान्तर में है, अतएव – यदि तुम अपने चित्त को जैसे हो वैसे स्थिरतापूर्वक मुझमें समाहित -- स्थापित नहीं कर सकते हो तो अभ्यासरूप योग के द्वारा = चित्त को सब ओर से हटाकर प्रतिमा आदि किसी एक आलम्बन में पुनः पुनः स्थापित -- स्थिर करना 'अभ्यास' है, तत्पूर्वक = अभ्यासपूर्वक जो योग -- समाधि है उस अभ्यासयोगके द्वारा मुझको प्राप्त करनेके लिए इच्छा करो – यत्न करो। हे धनञ्जय[7] ! तुम राजसूयादि कि लिए बहुत से शत्रुओं को जीतकर धन लाये थे, अब मात्र एक -- अकेले मनःशत्रु को जीतकर तत्त्वज्ञानरूप धन ले आओगे -- यह तुम्हारे लिए कोई आश्चर्य नहीं है -- यह उक्त सम्बोधन का अर्थ है ॥9॥

[यदि तुम उक्त अभ्यास करने में असमर्थ हो तो मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों में तत्पर हो जाओ। मेरे लिए कर्मों को करते हुए भी तुम मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगे ॥ 10 ॥]

---

6. श्रुतिवचन भी है –'देहान्ते देवस्तारकं परब्रह्म व्याचष्टे' = 'देह का अन्त होने पर भगवान् महादेव तारक परब्रह्म के मन्त्र का विशेषरूप से उपदेश करते हैं।'

7. जिस प्रकार अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के अभ्यासबल से राजाओं से धन और भीष्मादि से गोधन लाये थे उसी प्रकार वे अपने अभ्यासयोग के द्वारा मुझ भगवान् वासुदेव को भी ग्रहण करने के योग्य हैं – यही उक्त सम्बोधन से सूचित किया है।

17 **मत्प्रीणनार्थं कर्म मत्कर्म श्रवणकीर्तनादिभागवतधर्मस्तत्परमस्तदेकनिष्ठो भव। अभ्यासासामर्थ्ये मदर्थं भागवतधर्मसंज्ञकानि कर्माण्यपि कुर्वन्सिद्धिं ब्रह्मभावलक्षणां सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेणावाप्स्यसि ॥ 10 ॥**

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ 11 ॥

18 **अथ बहिर्विषयाकृष्टचेतस्त्वादेतन्मत्कर्मपरत्वमपि कर्तुं न शक्नोषि ततो मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितो मयि सर्वकर्मसमर्पणं मद्योगस्तं वाऽऽश्रितः सन्यतात्मवान्यतः संयतसर्वेन्द्रिय आत्मवान्विवेकी च सन्सर्वकर्मफलत्यागं कुरु फलाभिसंधिं त्यजेत्यर्थः॥ 11 ॥**

19 **इदानीमत्रैव साधनविधानपर्यवसानादिमं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति –**

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12 ॥

20 **श्रेयः प्रशस्यतरं हि एव ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयोऽभ्यासाज्ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासात्, ज्ञाना-**

17 मत्कर्म[8] = मेरी प्रसन्नता के लिए जो कर्म हैं अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि जो भागवत धर्म हैं वे मत्कर्म हैं उन्हीं में परम = एकनिष्ठ हो जाओ। अभ्यास करने का सामर्थ्य न होने पर मेरे लिए भागवतधर्म संज्ञक कर्मों को भी करते हुए तुम सत्त्वशुद्धि – अन्त:करणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति द्वारा ब्रह्मभावरूप सिद्धि को ही प्राप्त होओगे ।। 10 ।।

[यदि तुम इसको भी करने में असमर्थ हो तो मुझमें सर्वकर्मसमर्पणरूप योग का आश्रय ले इन्द्रियों को अपने वश में करते हुए विवेकसम्पन्न हो समस्त कर्मफलों का त्याग करो ।।11।।]

18 यदि बाह्य विषयों में आकृष्टचित्त होने के कारण तुम यह मत्कर्मपरत्व भी करने में समर्थ नहीं हो तो मद्योग = एकमात्र मेरी शरणता का ही आश्रय ले, अथवा – मुझमें सर्वकर्मसमर्पणरूप जो मद्योग है उसका आश्रय ले यतात्मवान् = यत अर्थात् समस्त इन्द्रियों को संयत करनेवाला और आत्मवान् = विवेकी होकर समस्त कर्मफलों का त्याग करो अर्थात् फल की अभिलाषा को त्याग दो[9] ।। 11।।

19 अब यहीं सम्पूर्ण साधनों के विधान के पर्यवसान से इस सर्वकर्मफलत्याग की स्तुति करते हैं:–

[अभ्यास से तो ज्ञान ही श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है। कर्मफलों के त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है ।। 12 ।।]

20 अभ्यास अर्थात् ज्ञान के लिए किये जानेवाले श्रवण के अभ्यास[10] से ज्ञान = शब्द और युक्तियों

8. प्रकृत में 'मत्कर्म' से तात्पर्य है – विष्णु के नाम का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी पादसेवा, अर्चना, वन्दना, उनके प्रति दास्य– सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन -- यह नवविध भजनात्मक भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया गया कर्म। मत्कर्म के अन्तर्गत भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये गये एकादशीव्रत, उपवास आदि भी अनुष्ठान सम्मिलित हैं।

9. मुझको ईश्वर की आज्ञानुसार यथाशक्ति अपने कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, पुन: उन कर्मों का दृष्ट अथवा अदृष्ट फल परमेश्वर के आधीन है – इस प्रकार मुझ भगवान् पर अपना भार आरोपित कर फलासक्ति का परित्याग कर भगवान् की शरण होने से ईश्वरप्रसाद से तुम कृतार्थ होगे – यह अभिप्राय है।

10. आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए वेदान्त के महावाक्यादि का श्रवण करने के पश्चात् उनकी बार – बार आवृत्ति

च्छ्रवणमननपरिनिष्पन्नादपि ध्यानं निदिध्यासनसंज्ञं विशिष्यतेऽतिशयितं भवति साक्षात्काराव्यवहितहेतुत्वात्। तदेवं सर्वसाधनश्रेष्ठं ध्यानं ततोऽप्यतिशयितत्वेनाज्ञकृतः कर्मफलत्यागः स्तूयते।

21 **ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यत इत्यनुषज्यते । त्यागान्नियतचित्तेन पुंसा कृतात्सर्वकर्मफलत्यागाच्छान्तिरुपशमः सहेतुकस्य संसारस्यानन्तरमव्यवधानेन न तु कालान्तरमपेक्षते । अत्र --**

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥'

इत्यादिश्रुतिषु 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वानि'नित्यादिस्थितप्रज्ञलक्षणेषु च सर्वकामत्यागस्यामृतत्वसाधनत्वमवगतं, कर्मफलानि च कामास्तत्त्यागोऽपि कामत्यागत्वसामान्यात्सर्वकामत्यागफलेन स्तूयते । यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति, यथा वा जामदग्न्येन ब्राह्मणेन निःक्षत्रा पृथिवी कृतेति ब्राह्मणत्वसामान्यादिदानींतना अपि ब्राह्मणा अपरिमेयपराक्रमत्वेन स्तूयन्ते तद्वत् ॥ 12 ॥

से किया गया आत्मनिश्चय ही श्रेयस्कर -- प्रशस्यतर -- श्रेष्ठ है । श्रवण और मनन से परिनिष्पन्न ज्ञान से भी निदिध्यासनसंज्ञक ध्यान विशिष्ट होता है -- उत्कृष्ट होता है, क्योंकि वह आत्मसाक्षात्कार का अव्यवहित हेतु होता है । इस प्रकार सब साधनों में श्रेष्ठ ध्यान है, उससे भी अतिशय श्रेष्ठ अज्ञकृत कर्मफलत्याग है अतएव उसकी स्तुति की जाती है ।

21 'ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यते-- 'ध्यान से कर्मफलत्याग विशिष्ट है'--इस प्रकार इसका सम्बन्ध है । त्याग से अर्थात् संयतचित्त पुरुष के द्वारा किये गये सर्वकर्मफल के त्याग से अनन्तर = अव्यवधानपूर्वक हेतुसहित संसार की शान्ति हो जाती है[11], तब उसको कालान्तर की अपेक्षा नहीं होती । यहाँ 'जब इसके हृदय में स्थित सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं तो वह मर्त्य अमृत हो जाता है और यहीं उसको ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है' -- इत्यादि श्रुतियों में और 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्' (गीता, 2.55) = 'जब वह समस्त कामनाओं को त्याग देता है' -- इत्यादि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में सर्वकर्मत्याग की अमृतत्वसाधनता ज्ञात होती है । कर्मफल काम ही हैं, उनके त्याग की भी कामत्यागत्वसामान्य से सर्वकर्मत्यागफलरूप से स्तुति की जाती है, जैसे अगस्त्य ब्राह्मण ने समुद्र पी लिया था, अथवा जैसे जामदन्य -- परशुराम ब्राह्मण ने पृथ्वी को क्षत्रियविहीन कर दिया था -- इस प्रकार के ब्राह्मणत्वसामान्य से आजकल के ब्राह्मणों की भी अपरिमित पराक्रमता से स्तुति की जाती है ॥ 12 ॥

को 'अभ्यास' कहते हैं, जब तक वह अभ्यास 'अहं ब्रह्मास्मि'-- इसप्रकार के अनुभवज्ञान से रहित होता है तबतक आत्मानात्मविवेक न होने के कारण वह अभ्यास अविवेकपूर्वक ही किया जाता है, अतः इस प्रकार के अविवेकपूर्वक **अर्थात् सम्यक् -- ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान निःसन्देह श्रेष्ठ ही है ।**

11. यहा यह शङ्का हो सकती है -- यदि कर्मफलत्याग से ही परम शान्ति हो सकती है अथवा मोक्षप्राप्ति हो सकती है तो 'तरति शोकमात्मवित्', तमेव विदित्वातिमृत्युमेति', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं', 'ऋते ज्ञानान्न मोक्षः', 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते', 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' -- इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों में प्रसिद्ध सिद्धान्त ' ज्ञान से ही मुक्ति होती है, परम शान्ति प्राप्त होती है' -- से विरोध होगा । उत्तर है कि इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' -- यह वाक्य कर्मफलत्याग की केवल स्तुति करता है और स्तुति प्रवृत्ति में केवल रुचि उत्पन्न करने के लिए होती है । यहाँ अत्यन्त मन्दबुद्धि मुमुक्षु के लिए चित्तशुद्धि के साधनरूप से ही कर्मफलत्याग का विधान किया गया है । यदि यही मुख्य साधन होता तो भगवान् उसका सर्वप्रथम ही निर्देश करते । ऐसी परिस्थिति में 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' -- इत्यादि से जो पाँच साधन कहे हैं वे व्यर्थ होते । इसलिए यहाँ कर्मफलत्याग की केवल स्तुति की गई है । सभी कर्म ब्रह्म में समर्पित होने पर पुनः उन कर्मों और उनके फलों में संकल्प और काम की सम्भावना नहीं रहती है । काम और संकल्परहित

22 तदेवं मन्दमधिकारिणं प्रत्यतिदुष्करत्वेनाक्षरोपासननिन्दया सुकरं सगुणोपासनं विधायाशक्तितारतम्यानुवादेनान्यान्यपि साधनानि विदधौ भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम सर्वप्रतिबन्धरहितः सन्नुत्तमाधिकारितया फलभूतायामक्षरविद्यायामवतरेदित्यभिप्रायेण साधनविधानस्य फलार्थत्वात् । तदुक्तम् –

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'इति ।

23 भगवता पतञ्जलिना चोक्तं – 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति च । तत इतीश्वरप्रणिधानादित्यर्थः । तदेवमक्षरोपासननिन्दा सगुणोपासनस्तुतये न तु हेयतया, उदितहोमविधावनुदितहोमनिन्दावत् 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात् । तस्मादक्षरोपासका एव परमार्थतो योगवित्तमाः ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

---

22 इस प्रकार मन्द अधिकारी के प्रति अत्यन्त दुष्कर होने से अक्षरोपासना की निन्दा द्वारा सुगम सगुणोपासना का विधान कर अशक्ति -- असामर्थ्य के तारतम्य के अनुवाद से अन्य -- अन्य भी साधनों का भगवान् वासुदेव ने विधान किया, क्योंकि 'कैसे भी वह मन्द अधिकारी सब प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित हो उत्तम अधिकारी होकर सब साधनों की फलभूता अक्षरविद्या में उतरे' -- इस अभिप्राय से साधनों का विधान फल के लिए ही होता है । ऐसा ही कहा भी है --
'जो मन्द अधिकारी निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे सविशेष ब्रह्म के निरूपण से अनुगृहीत होते हैं । सगुणब्रह्म के सतत अनुशीलन से जब इनका मन अपने वश में हो जाता है तो वही उपाधि की कल्पना से रहित ब्रह्म साक्षात् आविर्भूत होता है ।'

23 भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है -- 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योगसूत्र, 2.45) = 'समाधि की सिद्धि ईश्वरप्रणिधान से होती है' तथा 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योगसूत्र, 1.29) = 'उस ईश्वरप्रणिधान से प्रत्यक्चेतना का ज्ञान भी होता है और अन्तरायों = विघ्नों का अभाव होता है' । उक्त सूत्रस्थ 'ततः 'शब्द का अर्थ 'ईश्वरप्रणिधानात्'है । इसप्रकार यहाँ अक्षरोपासना की निन्दा सगुणोपासना की स्तुति के लिए है, न कि उसकी हेयता सिद्ध करने के लिए है, ठीक वैसे ही जैसे उदित होमविधि में अनुदित होम की निन्दा होती है इसमें 'निन्दा निन्द्य की निन्दा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होती है अपितु विधेय की स्तुति के लिए होती है' --

---

होने को ही चित्तशुद्धि कहते है और चित्तशुद्धि होने पर ईश्वरप्रसाद से एक बार के उपदेशद्वारा ही ज्ञान उदित हो जाता है, फलतः ज्ञान से मोक्षसिद्धि हो जाती है, अव्यवधानपूर्वक सहेतुक संसार की शान्ति हो जाती है । मोक्षसिद्धि = संसारशान्ति के लिए इसप्रकार का उपाय होने के कारण मन्दबुद्धि अधिकारी पुरुष को जो कर्मों से मोक्षसिद्धि हो सकती है उन कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए ही कर्मफलत्याग की यहाँ स्तुति की गई है । अतः यहाँ श्रुति – स्मृतिप्रतिपादित आत्मज्ञान के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है ।

इत्यादिना पुनः पुनः प्रशस्ततमतयोक्तास्तेषामेव ज्ञानं धर्मजातं चानुसरणीयमधिकारमासाद्य त्वयेत्यर्जुनं बुबोधयिषुः परमहितैषी भगवानभेददर्शिनः कृतकृत्यानक्षरोपासकान्प्रस्तौति सप्तभिः--

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ 13 ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 14 ॥

24 सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन पश्यन्नात्मनो दुःखहेतावपि प्रतिकूलबुद्ध्यभावान्न द्वेष्टा सर्वभूतानां किं तु मैत्रो मैत्री स्निग्धता तद्वान् । यतः करुणः करुणा दुःखितेषु दया तद्वान्सर्वभूताभयदाता परमहंसपरिव्राजक इत्यर्थः । निर्ममो देहेऽपि ममेतिप्रत्ययरहितः । निरहंकारो वृत्तस्वाध्यायादिकृताहंकारान्निष्क्रान्तः । द्वेषरागयोरप्रवर्तकत्वेन समे दुःखसुखे यस्य सः । अत एव क्षमी, आक्रोशनताडनादिनाऽपि न विक्रियामापद्यते ॥ 13 ॥

24 तस्यैव विशेषणान्तराणि-- (संतुष्ट इति)
सततं शरीरस्थितिकारणस्य लाभेऽलाभे च संतुष्ट उत्पन्नालंप्रत्ययः । तथा गुणवल्लाभे विपर्यये

यह न्याय प्रमाण है । इसलिए अक्षरोपासक ही परमार्थतः -- यथार्थत: योगवित्तम हैं । 'ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है । आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी – ये सभी उदार हैं, किन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है – ऐसा मेरा मत है' (गीता, 7.17-18)– इत्यादि से पुनः पुनः उस ज्ञानी को ही श्रेष्ठतमरूप से कहा गया है । उन ज्ञानियों का ही ज्ञान और धर्मसमूह अधिकार प्राप्त करके तुम्हारे द्वारा अनुसरणीय है – यह अर्जुन को समझाने की इच्छा से परम हितैषी भगवान् अभेददर्शी कृतकृत्य अक्षरोपासकों की सात श्लोकों से प्रस्तुति – स्तुति करते हैं:–

[जो पुरुष सभी प्राणियों से द्वेष न करनेवाला, उनसे मैत्री रखनेवाला, उनके प्रति करुणा से युक्त, ममता से रहित, अंहकारशून्य, सुख--दु:ख में समान, क्षमावान्, निरन्तर सन्तुष्ट, समाहितचित्त, शरीर और इन्द्रियों को वश में किये हुए, दृढ़ निश्चयवाला और मुझमें मन -- बुद्धि को समर्पित किये हुए है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।। 13 ।।]

24 समस्त प्राणियों को आत्मभाव से देखते हुए जो अपने दु:ख का हेतु होने पर भी प्रतिकूलबुद्धि न होने के कारण सभी प्राणियों से द्वेष नहीं करता है, किन्तु मैत्र – मैत्री अर्थात् स्निग्धता से युक्त होता है, क्योंकि करुण होता है -- करुणा से युक्त होता है -- दुःखियों के प्रति दया से युक्त होता है अर्थात् समस्त प्राणियों को अभय देनेवाला परमहंस परिव्राजक होता है । जो निर्मम -- ममता रहित अर्थात् देह में भी 'यह मेरा है' -- इस ज्ञान से रहित है, निरहंकार -- अहंकारशून्य अर्थात् वृत्त -- आचरण, स्वाध्याय आदि से जनित अहंकार से निष्क्रान्त -- रहित है, राग और द्वेष – दोनों का अप्रवर्त्तक होने से जिसके लिए सुख और दु:ख समान हैं, अतएव जो क्षमी है अर्थात् आक्रोशन -- डाटने, ताडन -- मारने आदि से भी जो विकार को प्राप्त नहीं होता है ।।13।।

25 उसी के दूसरे विशेषण कहते हैं -- जो सतत --निरन्तर शरीर की स्थिति के कारण की प्राप्ति और

च । सततमिति सर्वत्र संबध्यते । योगी समाहितचित्तः । यतात्मा संयतशरीरेन्द्रियादिसंघातः । दृढः कुतार्किकैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयोऽहमस्म्यकर्त्रभोक्तृसच्चिदानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेत्यध्यवसायो यस्य स दृढनिश्चयः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । मयि भगवति वासुदेवे शुद्धे ब्रह्मणि अर्पितमनोबुद्धिः समर्पितान्तःकरणः । ईदृशो यो मद्भक्तः शुद्धाक्षरब्रह्मवित्स मे प्रियः मदात्मत्वात् ॥ 14 ॥

26 पुनस्तस्यैव विशेषणानि –

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ 15 ॥

27 यस्मात्सर्वभूताभयदायिनः संन्यासिनो हेतोर्नोद्विजते न संतप्यते लोको यः कश्चिदपि जनः । तथा लोकान्निरपराधोद्वेजनैकव्रतात्खलजनान्नोद्विजते च यः, अद्वैतदर्शित्वात्परमकारुणिकत्वेन क्षमाशीलत्वाच्च । किंच हर्षः स्वस्य प्रियलाभे रोमाञ्चाश्रुपातादिहेतुरानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तवृत्तिविशेषः, अमर्षः परोत्कर्षासहनरूपश्चित्तवृत्तिविशेषः, भयं व्याघ्रादिदर्शनाधीनश्चि-

---

अप्राप्ति में सन्तुष्ट है अर्थात् जिसको अलंप्रत्यय = 'यह बहुत है, अब नहीं चाहिए' – ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो गया है, इसी प्रकार गुणयुक्त भिक्षादि वस्तु की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति होने पर भी जिसकी अलंबुद्धि रहती है । 'सततम्' -- इसका सभी के साथ सम्बन्ध है । जो योगी = समाहितचित्त, यतात्मा = शरीर और इन्द्रियादि के समूह का संयम करनेवाला है । जिसका दृढ़ = कुतार्किकों से अभिभूत – पराभूत न हो सकने के कारण स्थिर निश्चय अर्थात् 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, सच्चिदानन्द, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' – ऐसा अध्यवसाय है वह जो दृढ़निश्चय अर्थात् स्थितप्रज्ञ है तथा मुझ भगवान् वासुदेव में -- शुद्ध ब्रह्म में जिसने अपने मन -- बुद्धि को अर्पित कर दिया है वह जो मुझमें अन्तःकरण को समर्पित करनेवाला मेरा भक्त अर्थात् शुद्ध अक्षरब्रह्म का वेत्ता – उपासक है वह मुझको मेरा आत्मस्वरूप होने के कारण प्रिय है ॥ 14 ॥

26 पुनः उसी के विशेषण कहते हैं:--

[जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता है और जो लोक से उद्विग्न नहीं होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से रहित है वह मुझको प्रिय है ॥ 15 ॥]

27 जिससे अर्थात् समस्त प्राणियों को अभय देनेवाले संन्यासीरूप हेतु से लोक = जो कोई भी जन -- मनुष्य उद्विग्न नहीं होता है -- संतप्त नहीं होता है तथा लोक से =जिनका निरपराधी पुरुषों को उद्विग्न करना ही एकमात्र व्रत है ऐसे दुष्टजनों से जो अद्वैतदर्शी, परम कारुणिक और क्षमाशील होने के कारण उद्विग्न नहीं होता है । इसके अतिरिक्त, जो हर्ष = अपना प्रियलाभ होने पर रोमाञ्च, अश्रुपातादि हेतुओं से आनन्द की अभिव्यक्ति करनेवाली चित्तवृत्तिविशेष, अमर्ष =दूसरे के उत्कर्ष को न सहनारूप चित्तवृत्तिविशेष, भय = व्याघ्रादि के दर्शन से होनेवाला त्रासरूप चित्तवृत्तिविशेष, और उद्वेग = 'मैं विजन -- निर्जन वन में सब प्रकार के परिग्रह से शून्य अकेला कैसे जीवित रहूँगा' -- इस प्रकार की व्याकुलतारूप चित्तवृत्तिविशेष अर्थात् इन हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है = अद्वैतदर्शी होने से उनके योग्य न होने के कारण उन्होंने ही स्वयं जिसको त्याग दिया है, न कि उनको त्यागने के लिए जिसने स्वयं कोई व्यापार किया है[12] । चकार से 'मद्भक्तः'--इस

---

12. वह निरहंकार = अहंकारशून्य उपासक दो प्रकार का होता है – समाधिस्थ और व्युत्थित । प्रकृत श्लोक में समाधिस्थ निरहंकार उपासक का लक्षण किया गया है (नीलकण्ठीव्याख्या) ।

त्तवृत्तिविशेषस्त्रासः;, उद्वेग एकाकी कथं विजने सर्वपरिग्रहशून्यो जीविष्यामीत्येवंविधो व्याकुलतारूपश्चित्तवृत्तिविशेषस्तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः, अद्वैतदर्शितया तदयोग्यत्वेन तैरेव स्वयं परित्यक्तो न तु तेषां त्यागाय स्वयं व्यापृत इति यावत् । चेन मद्भक्त इत्यनुकृष्यते । ईदृशो मद्भक्तो यः स मे प्रिय इति पूर्ववत् ॥ 15 ॥

28 किं च –

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 16 ॥

29 निरपेक्षः सर्वेषु भोगोपकरणेषु यदृच्छोपनीतेष्वपि निःस्पृहः । शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचसंपन्नः । दक्ष उपस्थितेषु ज्ञातव्येषु कर्तव्येषु च सद्य एव ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः । उदासीनो न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः । गतव्यथः परैस्ताड्यमानस्यापि गता नोत्पन्ना व्यथा पीडा यस्य सः । उत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वं, व्यथाकारणेषु सत्स्वप्यनुत्पन्नव्यथत्वं गतव्यथत्वमिति भेदः । ऐहिकामुष्मिकफलानि सर्वाणि कर्माणि सर्वारम्भास्तान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 16 ॥

30 किं च–

पूर्वश्लोकस्थ पद की अनुवृत्ति होती है, अतएव -- इसप्रकार का जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है – यह पूर्ववत् है ॥ 15 ॥

28 इसके अतिरिक्त,
[जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित, पवित्र, दक्ष – चतुर, उदासीन, व्यथाशून्य, सब आरम्भों का त्यागी अर्थात् समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ 16 ॥]

29 जो अनपेक्ष -- निरपेक्ष अर्थात् यदृच्छया -- संयोगवश उपनीत -- उपलब्ध भी सब भोगों के उपकरणों -- साधनों में निःस्पृह है, शुचि = बाह्य और आभ्यन्तर शौच से सम्पन्न है[13], दक्ष = ज्ञातव्य और कर्तव्य विषयों के उपस्थित होने पर शीघ्र ही उनको जानने और करने में समर्थ है, उदासीन[14] है अर्थात् जो किसी मित्रादि का भी पक्ष नहीं लेता है । जो गतव्यथ है अर्थात् दूसरों के द्वारा ताडित किये जाने पर भी जिसको व्यथा --पीड़ा गत – उत्पन्न नहीं होती है वह जो गतव्यथ है । उत्पन्न व्यथा – पीड़ा में भी अपकारियों के प्रति अपकार न करना 'क्षमित्व'होता है और व्यथा-पीडा के कारण रहने पर भी व्यथा-पीडा उत्पन्न न होना 'गतव्यथ' होता है-- यह इन दोनों में भेद है । ऐहिक -- लौकिक और आमुष्मिक -- अलौकिक फलवाले सब कर्म 'सर्वारम्भ' हैं उन सर्वारम्भों का परित्याग करनेका जिसका स्वभाव है वह सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है[15] ॥ 16 ॥

30 इसके अतिरिक्त,

---

13. जो शुचि है अर्थात् मिट्टी, जल आदि निमित्त बाह्य और दया, मार्दव आदि आभ्यन्तर शौच से सम्पन्न है । नीलकण्ठ के अनुसार 'जो पुण्यापुण्य से अलिप्त है'– यह अर्थ है, किन्तु इसमें प्रकरणविरोध है । पुण्यापुण्य नहीं करता है, अतः उनसे अलिप्त है – यह अर्थ होने पर 'शुभाशुभपरित्यागी' – इस उत्तरवर्ती श्लोकस्थ पद की पुनरुक्ति होगी । अतः भाष्योक्त अर्थ ही उचित है ।

14. नीलकण्ठ के अनुसार मान और अपमान में समवृत्ति रखनेवाला 'उदासीन' है । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि 'मानापमानयोः'– इत्यादि से पौनरुक्त्यापत्ति होगी ।

15. प्रकृत श्लोक में व्युत्थित निरहंकार उपासक का लक्षण किया गया है ।

योो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 17 ॥

31 **समदुःखसुख इत्येतद्विवृणोति– यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्राप्तेष्टवियोगे, न काङ्क्षति अप्राप्तेष्टसंयोगे । सर्वारम्भपरित्यागीत्येतद्विवृणोति– शुभाशुभे सुखसाधनदुःखसाधने कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 17 ॥**

32 **किं च–**

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ 18 ॥

33 **पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । सङ्गविवर्जितश्चेतनाचेतनसर्वविषयशोभनाध्यासरहितः । सर्वदा हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । स्पष्टम् ॥ 18 ॥**

[जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है तथा जो शुभ और अशुभ -- दोनों का परित्यागी है वह भक्तिमान् मुझको प्रिय है ।। 17 ।।]

31 'समदुःखसुखः' –इसका विवरण करते हैं: -- जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर हर्षित नहीं होता है, अनिष्ट की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं करता है[16], प्राप्त इष्ट का वियोग होने पर शोक नहीं करता है और अप्राप्त इष्ट का संयोग होने पर इच्छा नहीं करता है । 'सर्वारम्भपरित्यागी' – इसका विवरण करते हैं: -- सुख के साधनभूत शुभ और दुःख के साधनभूत अशुभ कर्मों का परित्याग करने का जिसका स्वभाव है वह शुभाशुभपरित्यागी[17] जो भक्तिमान् है वह मुझको प्रिय है ।।17।।

32 इसके अतिरिक्त,

[जो शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में समान है, शीत और उष्ण में एवं सुख और दुःख में समान है[18] तथा सङ्ग – आसक्ति से रहित है ।। 18 ।।]

33 यह पूर्व का ही प्रपञ्च है । जो सङ्गविवर्जित =चेतन और अचेतन – सभी विषयों में रमणीयता के अध्यास से रहित है अर्थात् सर्वदा हर्ष और विषाद से शून्य है[19] । शेष स्पष्ट है ।। 18 ।।

---

16. यहाँ शंका हो सकती है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि पूर्वश्लोक में जब उपासक को 'अद्वेष्टा = द्वेष न करनेवाला' कह दिया गया है तो पुनः ' न द्वेष्टि – ऐसा कहकर पुनरुक्ति क्यों की गई है ? इसका उत्तर है कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' – इत्यादि में समस्त प्राणियों के प्रति सामान्य द्वेषाभाव स्वाभाविकरूप से कहा गया है, किन्तु प्रकृत में 'अनिष्ट की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं करता है' – यह विशेषद्वेषाभाव कहा गया है, अतः पुनरुक्ति नहीं है ।

17. यद्यपि पूर्वश्लोकस्थ 'सर्वारम्भपरित्यागी' – इस पद से वेदोक्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों के अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्यागी है – यह कह दिया गया है, तथापि 'सर्व' पद का संकोच न [illegible] परित्यागी' कहा है ।

18. यहाँ शंका हो सकती है कि पूर्वश्लोक में 'समदुःखसुखः' जब कह दिया गया है तो [illegible] समः' क्यों कहा है ? इस प्रकार तो पुनरुक्ति होगी । उत्तर है कि 'समदुःखसुखः'- [illegible] दुःख का कथन किया गया है, किन्तु यहाँ शीतोष्णनिमित्त सुख– दुःख को कहा गया [illegible]

19. 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'– इत्यादि श्लोकों से उपासक में द्वेषादिविशेष का अभाव [illegible] श्लोक से उपासक की सर्वत्र अर्थात् स्त्री आदि चेतन और चन्दन आदि अचेतन – स[illegible] कही गई है ।

34 किं च –

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ 19 ॥

35 निन्दा दोषकथनम् । स्तुतिर्गुणकथनम् । ते दुःखसुखाजनकतया तुल्ये यस्य स तथा । मौनी संयतवाक् । ननु शरीरयात्रानिर्वाहाय वाग्व्यापारोऽपेक्षित एव नेत्याह – संतुष्टो येन केनचित् । स्वप्रयत्नमन्तरेणैव बलवत्प्रारब्धकर्मोपनीतेन शरीरस्थितिहेतुमात्रेणाशनादिना संतुष्टो निवृत्तस्पृहः किं च – अनिकेतो नियतनिवासरहितः । स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमतिः । ईदृशो यो भक्तिमान्स से प्रियो नरः । अत्र पुनः पुनर्भक्तेरुपादानं भक्तिरेवापवर्गस्य पुष्कलं कारणमिति द्रढयितुम् ॥ 19 ॥

36 अद्वेष्टेत्यादिनाऽक्षरोपासकादीनां जीवन्मुक्तानां संन्यासिनां लक्षणभूतं स्वभावसिद्धं धर्मजातमुक्तम् । यथोक्तं वार्तिके –

---

34 इसके अतिरिक्त,
[जो निन्दा और स्तुति में तुल्य -- समान है, जो मौनी, जिस-किसी वस्तु से सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिरमति है वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।। 19 ।।]

35 दोषकथन 'निन्दा' है और गुणकथन 'स्तुति' है । निन्दा और स्तुति -- ये दोनों दुःख और सुख के जनक न होने के कारण जिसके लिए तुल्य -- समान हैं वह जो निन्दास्तुति में समान है तथा मौनी = संयतवाक् है । यदि शङ्का हो कि वह संयत -- नियन्त्रितवाक् कैसे होगा ? क्योंकि शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए वाग्व्यापार तो अपेक्षित ही होता है, तो उत्तर हैं -- ऐसा नहीं है, वह जो जिस-किसी वस्तु से सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने प्रयत्न के बिना ही बलवान् प्रारब्ध कर्म से प्राप्त शरीर की स्थिति में हेतुमात्र भोजनादि से सन्तुष्ट रहता है = उससे अतिरिक्त में स्पृहाशून्य रहता है[20] । इसके अतिरिक्त,जो अनिकेत = नियत निवासस्थान से रहित है[21] तथा जिसकी परमार्थवस्तुविषयक मति स्थिर है वह जो स्थिरमति है -- ऐसा जो भक्तिमान् पुरुष है वह मुझको प्रिय है । यहाँ पुनः-पुनः 'भक्ति'शब्द का ग्रहण यह दृढ़ करने के लिए है कि भक्ति ही अपवर्ग -- मोक्ष का पुष्कल -- पूर्ण कारण है ।। 19 ।।

36 'अद्वेष्टा' -- इत्यादि से अक्षरोपासकादि जीवन्मुक्त संन्यासियों का लक्षणभूत स्वभावसिद्ध धर्मसमुदायफल कहा गया है, जैसा कि वार्तिक में कहा है --

---

20. जैसाकि स्मृति कहती है –
'येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः ।
यत्रक्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।'
'जो जिस किसी से शरीर ढ़क लेता है, जिस – किसी से पेट भर लेता है, जहाँ – कहीं सो जाता है उसको देव ब्राह्मण कहते हैं' ।

21. जैसा कि स्मृति कहती है: –
'न कुंड्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे ।
नागारे नासने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः ।।'
'जिसकी कुण्डी = कमण्डलु, जल, वस्त्र, त्रिपुष्कर तीर्थ, आगार – निवास स्थान, आसन अथवा अन्न में आसक्ति नहीं होती है वह मोक्षविद् होता है'

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः ॥' इति ।

एतदेव च पुरा स्थितप्रज्ञलक्षणरूपेणाभिहितम् । तदिदं धर्मजातं प्रयत्नेन संपाद्यमानं मुमुक्षोर्मोक्षसाधनं भवतीति प्रतिपादयन्नुपसंहरति –

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 20 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥12॥

37 ये तु संन्यासिनो मुमुक्षवो धर्मामृतं धर्मरूपममृतत्वसाधनत्वादमृतवदास्वाद्यत्वाद्वेदं यथोक्तमद्वेष्टा सर्वभूतानामित्यादिना प्रतिपादितं पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्ति प्रयत्नेन श्रद्दधानाः सन्तो मत्परमा अहं भगवानक्षरात्मा वासुदेव एव परमः प्राप्तव्यो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा भक्ता मां निरुपाधिकं ब्रह्म भजमानास्तेऽतीव मे प्रियाः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति पूर्वसूचितस्यायमुपसंहारः ।

38 यस्माद्धर्मामृतमिदं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्यातीव प्रियो भवति तस्मादिदं ज्ञानवतः स्वभावसिद्धतया लक्षणमपि मुमुक्षुणाऽऽत्मतत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मज्ञानोपायत्वेन यत्नादनुष्ठेयं विष्णोः परमं पदं जिगमिषुणेति वाक्यार्थः । तदेवं सोपाधिकब्रह्माभिध्यानपरि-

---

'आत्मज्ञान होने पर अद्वेष्टृत्वादि गुण बिना प्रयत्न के ही = स्वयं ही होते हैं, न कि वे आत्मवेत्ता के लिए साधनरूपी 'होते हैं' ।

यही पहले स्थितप्रज्ञलक्षणरूप से कहा है । यह धर्मसमुदाय प्रयत्न से सम्पाद्यमान मुमुक्षु के मोक्ष का साधन होता है-- यह प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं :--

[जो मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मुझको ही परम गति समझनेवाले भक्तजन इस यथोक्त -- उपर्युक्त धर्मरूप अमृत का सब प्रकार से सेवन करते हैं वे मुझको अत्यन्त प्रिय हैं ।। 20 ।।]

37 जो मुमुक्षु संन्यासी श्रद्धावान् होकर और मत्परम = मैं अक्षरात्मा भगवान् वासुदेव ही जिनका परम प्राप्तव्य -- निरतिशय गति हूँ ऐसे मत्परम होकर इस यथोक्त = 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' – इत्यादि से प्रतिपादित धर्मामृत =धर्मरूप अमृत का, अमृतत्व का साधन होने से अथवा अमृत के समान आस्वाद्य होने से, पर्युपासन अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करते हैं वे मत्परायण भक्तजन = मुझ निरुपाधिक ब्रह्म का भजन करनेवाले मुझको अत्यन्त प्रिय हैं । यह 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता, 7.17) =' ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको प्रिय है' – इस पूर्वसूचित का उपसंहार है ।

38 क्योंकि यह धर्मामृत श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान किया जाता हुआ परमेश्वर भगवान् विष्णु को अत्यन्त प्रिय है, इसलिए यह ज्ञानवान् = ज्ञानी का स्वभावसिद्ध लक्षण होने पर भी मुमुक्षु =आत्मतत्त्व-जिज्ञासु अर्थात् विष्णु के परम पद के जिगमिषु पुरुष के द्वारा आत्मज्ञान के उपायरूप से प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठेय है -- यह वाक्यार्थ है । इस प्रकार सोपाधिक -- ब्रह्मध्यान के परिपाक से निरुपाधिक --

पाकान्निरुपाधिकं ब्रह्मानुसंदधानस्याद्वेष्टृत्वादिधर्मविशिष्टस्य मुख्यस्याधिकारिणः श्रवणमनननिदिध्यासनान्यावर्तयतो वेदान्तवाक्यार्थतत्त्वसाक्षात्कारसंभवात्ततो मुक्त्युपपत्तेर्मुक्ति-हेतुवेदान्तमहावाक्यार्थान्वययोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसंधेय इति मध्यमेन षट्केन सिद्धम् ॥20 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥12॥

ब्रह्म का अनुसन्धान करनेवाले, अद्वेष्टृत्वादि धर्मों से विशिष्ट, श्रवण – मनन – निदिध्यासन का अभ्यास करनवाले मुख्य अधिकारी को वेदान्तवाक्यों के अर्थस्वरूप तत्त्व का साक्षात्कार होना सम्भव है, अतः उससे उसकी मुक्ति उपपन्न होती है, अतएव मुक्ति के हेतुभूत वेदान्त के महावाक्यों के अर्थ में उसका अन्वय हो सकता है, इसीलिए 'तत्' पदार्थ अनुसंधेय – चिन्तनीय है -- यह बीच के छः अध्यायों से सिद्ध होता है ।। 20 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य -- श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपीका के हिन्दीभाषानुवाद का भक्तियोग नामक द्वादश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

1 ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

2 प्रथममध्यमषट्कयोस्तत्त्वंपदार्थावुक्तावुत्तरस्तु षट्को वाक्यार्थनिष्ठः सम्यग्धीप्रधानोऽधुनाऽऽरभ्यते । तत्र –

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि ॥'

इति प्रागुक्तम् । नचानात्मज्ञानलक्षणान्मृत्योरात्मज्ञानं विनोद्धरणं संभवति । अतो यादृशेनाऽऽत्मज्ञानेन मृत्युसंसारनिवृत्तिर्येन च तत्त्वज्ञानेन युक्ता अद्वेष्टृत्वादिगुणशालिनः संन्यासिनः प्राग्व्याख्यातास्तदात्मतत्त्वज्ञानं वक्तव्यम् । तच्चाद्वितीयेन परमात्मना सह जीवस्याभेदमेव विषयीकरोति । तद्भेदभ्रमहेतुकत्वात्सर्वानर्थस्य ।

3 तत्र जीवानां संसारिणां प्रतिक्षेत्रं भिन्नानामसंसारिणैकेन परमात्मना कथमभेदः स्यादित्याशङ्कायां संसारस्य भिन्नत्वस्य चाविद्याकल्पितानात्मधर्मत्वान्न जीवस्य संसारित्वं भिन्नत्वं चेति वचनीयम् ।

---

1 यदि योगिजन ध्यानाभ्यास[1] के द्वारा वश में किये हुए मन से उस निर्गुण – गुणातीत, निष्क्रिय – क्रियारहित, स्वयंप्रकाश चैतन्यात्मा किसी ज्योति को परम – सर्वोत्कृष्टरूप से देखते हैं तो वे देखें, हमारे तो नेत्रों के चमत्कार के लिए चिरकाल तक वही रहे जो कोई वह नीलतेज – श्यामतेज कालिन्दी – यमुना के बालुकामय तट पर दौड़ता रहता है[2] ।

2 प्रथम और मध्यम षट्कों = छः – छः अध्यायों में क्रमशः 'त्वम्' और 'तत्' = 'जीव' और 'ब्रह्म'-- दो पदार्थों को कहा गया है । उत्तर षट्क = अन्तिम छः अध्याय तो 'तत्त्वमसि' – वाक्यार्थनिष्ठ सम्यग्ज्ञानप्रधान है जिसको अब आरम्भ किया जाता है । उसमें – 'मैं उनका इस मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ' -- यह पहले कहा गया है और अनात्मज्ञानस्वरूप मृत्यु से उद्धार आत्मज्ञान के बिना सम्भव नहीं है, अतः जिस प्रकार के आत्मज्ञान से मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति होती है और जिस तत्त्वज्ञान से युक्त अद्वेष्टृत्वादि गुणशाली संन्यासियों की पहले व्याख्या की गई है वह आत्मतत्त्वज्ञान वक्तव्य है । और वह ज्ञान अद्वितीय परमात्मा के साथ जीव के अभेद को ही विषय करता है, क्योंकि सब अनर्थ जीव और ब्रह्म के भेदभ्रम के कारण ही होता है ।

3 उसमें -- प्रत्येक क्षेत्र – शरीर में भिन्न संसारी जीवों का असंसारी और एक परमात्मा के साथ अभेद कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का होने पर 'संसार और भिन्नत्व अविद्याकल्पित अनात्मधर्म होने

---

1. 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगसूत्र, 3.2) = 'तत्र – उस प्रदेश अर्थात् ध्येय विषय में प्रत्यय – वृत्ति – ध्येय की आलोचना करनेवाली वृत्ति की एकतानता 'ध्यान' है' । 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ' (योगसूत्र, 1.13) = 'तत्र= अभ्यास और वैराग्य में से स्थिति – चित्त की स्थिति – चित्त के वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाह में बहने की स्थिति में पूर्ण सामर्थ्य और उत्साहपूर्वक यत्न करना 'अभ्यास' है' ।

2. यहाँ यद्यपि निर्गुण ज्योति और नील महः = श्याम तेज – दोनों का ऐक्य ध्वनित है, तथापि श्याम तेज= भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में भक्ति – प्रेमातिशय प्रदर्शित किया गया है ।

तदर्थं देहेन्द्रियान्तःकरणेभ्यः क्षेत्रेभ्यो विवेकेन क्षेत्रज्ञः पुरुषो जीवः प्रतिक्षेत्रमेक एव निर्विकार इति प्रतिपादनाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः क्रियतेऽस्मिन्नध्याये । तत्र ये द्वे प्रकृती भूम्यादिक्षेत्ररूपतया जीवरूपक्षेत्रज्ञतया चापरपरशब्दवाच्ये सप्तमाध्याये सूचिते तद्विवेकेन तत्त्वं निरूपयिष्यन् --

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ 1 ॥

4 **इदमिन्द्रियान्तःकरणसहितं भोगायतनं शरीरं हे कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते सस्यस्येवास्मिन्नसकृत्कर्मणः फलस्य निर्वृत्तेः । एतद्यो वेत्ति अहं ममेत्यभिमन्यते तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात् । तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविदः । अत्र चाभिधीयत इति कर्मणि प्रयोगेण क्षेत्रस्य जडत्वात्कर्मत्वं क्षेत्रज्ञशब्दे च द्वितीयां विनैवेतिशब्दमाहरन्स्वप्रकाशत्वात्कर्मत्वाभावमभिप्रैति । तत्रापि क्षेत्रं यैः कैश्चिदप्यभिधीयते न तत्र कर्तृगतविशेषापेक्षा । क्षेत्रज्ञं**

से जीव का संसारित्व और भिन्नत्व नहीं है' -- यह वंचनीय है । इसके लिए देह, इन्द्रिय और अन्तःकारणरूप क्षेत्रों से विवेक करके प्रत्येक क्षेत्र -- शरीर में क्षेत्रज्ञ पुरुष -- जीव एक ही और निर्विकार है -- यह प्रतिपादन करने के लिए इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक किया जाता है । उसमें -- जो दो परा और अपरा शब्द से वाच्य भूमि आदि क्षेत्ररूप से और जीवरूप क्षेत्रज्ञरूप से प्रकृतियाँ सप्तम अध्याय में सूचित की गई हैं उनके विवेकद्वारा तत्त्व का निरूपण करने की इच्छा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा --

[हे कौन्तेय ! यह शरीर 'क्षेत्र' है -- ऐसा कहा जाता है । इसको जो जानता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' -- ऐसा उनको जाननेवाले पुरुष कहते हैं ॥1॥]

4 हे कौन्तेय[3] ! यह इन्द्रिय और अन्तःकरणसहित भोगायतन = भोग का आयतन -- स्थानरूप शरीर[4] 'क्षेत्र'[5] है -- ऐसा कहा जाता है, क्योंकि इसमें सस्य = अनाज की खेती के समान बार-बार, कर्म के फल की निर्वृत्ति -- प्राप्ति होती रहती है । इसको जो जानता है = इसमें जो 'मैं'-- 'मेरा'

3. जिसप्रकार कुन्ती तुम्हारे प्रादुर्भाव का स्थान होने के कारण क्षेत्ररूप हैं उसीप्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण इदम् = यह शरीर क्षेत्र है -- यह कहने के लिए यहाँ ' कौन्तेय' शब्द से भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित किया है ।

4. शरीर = त्रिगुणात्मिका प्रकृति समस्त प्रकार के कार्य -- कारण और विषयरूप में परिणत होती है और पुरुष के भोग और अपवर्ग -- मोक्ष की सिद्धि के लिए ही देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि के आकार में संहत होती है वह देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण का संघातरूप ही 'शरीर' है ।

5. क्षेत्र = 'क्षतात् -- त्राणात् क्षेत्रम्' = शरीर की तपस्या द्वारा शमदमादि सम्पत्ति से युक्त पुरुष को संसाररूप क्षत -- अनर्थ से त्राण प्राप्त होता है, इसलिए शरीर को 'क्षेत्र' कहते हैं । अथवा, 'क्षरणात् क्षेत्रम्' = दीपशिखा के समान शरीर का प्रतिक्षण क्षरण -- क्षय होने से शरीर को 'क्षेत्र' कहा जाता है । अथवा, 'क्षिणोत्यात्मानमविद्यया त्रायते च विद्यया क्षेत्रम्' = जो अपने को अविद्या से क्षीण करता है और विद्या से त्राण को प्राप्त होता है वह 'क्षेत्र' है अथवा, 'क्षीयते नश्यति क्षरति अपक्षीयतेऽतोपि क्षेत्रमित्यभिधीयते' = शरीर का क्षय -- नाश -- क्षरण -- अपक्षय होता है, इसलिए भी उसको 'क्षेत्र' कहा जाता है । अथवा, 'क्षेत्रवदस्मिन्कर्मफलं निष्पद्यतेऽतोपि क्षेत्रशब्देनोच्यते' = इस शरीर में क्षेत्र -- खेत के समान अर्थात् खेत में बीज वपन करने पर तदनुसार फल प्राप्त होने के समान कर्मानुसार फल का निष्पादन होता है, इसलिए भी उसको 'क्षेत्र' कहा जाता है ।

तु कर्मत्वमन्तरेणैव विवेकिन एवाऽऽहुः स्थूलदृशामगोचरत्वादिति कथयितुं विलक्षणवचनव्यक्त्यैकत्र कर्तृपदोपादानेन च निर्दिशति भगवान् ॥ 1 ॥

5 **एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वप्रकाशं क्षेत्रज्ञमभिधाय तस्य पारमार्थिकं तत्त्वमसंसारिपरमात्मनैक्यमाह –**

क्षेत्रज्ञं चापि[6] मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ 2 ॥

6 **सर्वक्षेत्रेषु य एकः क्षेत्रज्ञः स्वप्रकाशचैतन्यरूपो नित्यो विभुश्च तमविद्याध्यारोपितकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारधर्मं क्षेत्रज्ञमाविद्यकरूपपरित्यागेन मामीश्वरमसंसारिणमद्वितीयब्रह्मानन्दरूपं विद्धि जानीहि हे भारत । एवं च क्षेत्रं मायाकल्पितं मिथ्या । क्षेत्रज्ञश्च परमार्थसत्यस्तद्भ्रमाधिष्ठानमिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं तदेव मोक्षसाधनत्वाज्ज्ञानमविद्याविरोधिप्रकाशरूपं मम मतमन्यत्त्वज्ञानमेव तद्विरोधित्वादित्यभिप्रायः ।**

– ऐसा अभिमान करता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' -- ऐसा तद्विद = क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक-भेद जानने वाले कहते हैं, क्योंकि कृषीवल -- किसान के समान वह इसके फल का भोक्ता होता है ! यहाँ 'अभिधीयते' --इस कर्मवाच्य के प्रयोग से यह सूचित होता है कि क्षेत्र में जडत्व है अतएव कर्मत्व है तथा 'क्षेत्रज्ञ' शब्द में द्वितीया विभक्ति के बिना 'इति' शब्द के समभिव्याहार से यह अभिप्रेत है कि क्षेत्रज्ञ में स्वप्रकाशत्व है अतएव कर्मत्वाभाव है । उसमें भी 'क्षेत्र' जिन किन्हीं भी पुरुषों द्वारा कहा जा सकता है, वहाँ किसी कर्तृगत विशेषता की अपेक्षा नहीं है । क्षेत्रज्ञ को तो कर्मत्व के बिना ही विवेकीजन ही कहते हैं, क्योंकि स्थूलदृष्टि पुरुषों का वह विषय नहीं है -- यह कहने के लिए विलक्षण वचनाभिव्यक्ति से एक स्थान पर कर्तृपद को ग्रहण करते हुए भगवान् इनका निर्देश करते हैं ॥ 1 ॥

5 इसप्रकार देह और इन्द्रिय आदि से विलक्षण स्वप्रकाश क्षेत्रज्ञ को कहकर उसके पारमार्थिक तत्त्वस्वरूप असंसारी परमात्मा के साथ ऐक्य को कहते हैं --

[हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तुम मुझको जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह ज्ञान है -- ऐसा मेरा मत है ॥2॥]

6 हे भारत[7] ! सब क्षेत्रों में जो एक स्वप्रकाश, चैतन्यरूप, नित्य और विभु क्षेत्रज्ञ है उस अविद्या से अध्यारोपित -- आरोपित कर्तृत्व -- भोक्तृत्वादि सांसारिक धर्मों से विशिष्ट क्षेत्रज्ञ को अविद्यकरूप

6. श्लोकस्थ 'चापि' = 'च' और 'अपि' – ये दो निपात जीव के अक्षरत्वज्ञान का शरीर से अन्यत्वज्ञान के साथ भिन्नक्रम में समुच्चय करने के लिए हैं । 'न सांख्यवद्दृश्यादन्यमेव क्षेत्रज्ञं विद्धि जानीहि किन्तु मां मदभिन्नं चापि क्षेत्रज्ञं विद्धि' = तुम मुझको सांख्य के समान दृश्य से अन्य को ही क्षेत्रज्ञ नहीं समझो, किन्तु मुझको और मुझसे अभिन्न को भी क्षेत्रज्ञ समझो– यह सम्बन्ध है । अथवा, 'चकार' क्षेत्रज्ञज्ञान का समुच्चय करता है और 'अपि' 'एव' अर्थ में है । 'सर्वक्षेत्रेषु दृष्टारं क्षेत्रज्ञमन्यं विद्धि तं च मामसंसारिणं परमेश्वरमेव विद्धि' = सब क्षेत्रों में दृष्टा क्षेत्रज्ञ अन्य को जानो उसको और मुझको असंसारी परमेश्वर ही समझो ।

7. जिस प्रकार भरतवंश में उद्भव होने के कारण तुम भारत हो उसी प्रकार मुझमें कल्पित क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ – यह ध्वनित करने के लिए ही उक्त सम्बोधन है । अथवा, उत्तम भरतवंश में उद्भव होने के कारण तुम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञज्ञान को ग्रहण करने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए 'भारत' सम्बोधन है ।

7 अत्र जीवेश्वरयोराविद्यको भेदः पारमार्थिकस्त्वभेद इत्यत्र युक्तयो भाष्यकृद्भिर्वर्णिताः । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयात्प्रागेव बहुधोक्तत्वाच्च नोपन्यस्ताः ॥ 2 ॥

8 संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरीतुमारभते –

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ 3 ॥

9 तदिदं शरीरमिति प्रागुक्तं जडवर्गरूपं क्षेत्रं यच्च स्वरूपेण जडदृश्यपरिच्छिन्नादिस्वभावं यादृक्चेच्छादिधर्मकं यद्विकारि यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तम् । यतश्च कारणाद्यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः । अथ वा यतः प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति । यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः । अत्रानियमेन चकारप्रयोगात्सर्वसमुच्चयो द्रष्टव्यः। स च क्षेत्रज्ञो यः स्वरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यानन्दस्वभावः । यत्प्रभावश्च ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं सर्वविशेषणविशिष्टं समासेन संक्षेपेण मे मम वचनाच्छृणु श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥ 3 ॥

10 कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायां श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थं स्तुवन्नाह –

के परित्यागद्वारा तुम मुझको = असंसारी, अद्वितीय, ब्रह्मानन्दरूप मुझ ईश्वर को जानो । इसप्रकार क्षेत्र मायाकल्पित है अतएव मिथ्या है और क्षेत्रज्ञ परमार्थ सत्य है, उस क्षेत्रभ्रम का अधिष्ठान है -- इसप्रकार का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है वही मोक्ष का साधन होने से अविद्याविरोधी प्रकाशरूप ज्ञान है – ऐसा मेरा मत है । इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो उसका विरोधी होने के कारण अज्ञान ही है -- यह अभिप्राय है ।

7 यहाँ जीव और ईश्वर का भेद अविद्यक है, पारमार्थिक तो अभेद है -- इसमें अनेक युक्तियाँ भाष्यकार ने दी हैं । हमने तो ग्रन्थ के विस्तार के भय से और पहले ही बहुत प्रकार से कह चुकने के कारण यहाँ उनका पुन: उल्लेख नहीं किया है ॥ 2 ॥

8 संक्षेप से उक्त अर्थ का विवरण करने के लिए आरम्भ करते हैं –
[वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जो विकारी-विकारवाला है और जिससे जो होता है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है -- वह सब संक्षेप में मुझसे सुनो ॥ 3 ॥]

9 तत् = वह = 'इदं शरीरम्' = 'यह शरीर' -- यह जो पहले कहा है वह जडवर्गरूप क्षेत्र यत् = जो है = स्वरूप से जड़, दृश्य, परिच्छिन्नादि स्वभाववाला है और यादृक् = जैसा = इच्छादि धर्मोंवाला है तथा यद्विकारी = जिन इन्द्रियादि विकारों से युक्त है और जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है -- 'उत्पद्यते' श्लोक में नहीं है, इसलिए 'शेषः' कहा है । अथवा, यतः = जिससे = प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है । यत् = जो अर्थात् जिन स्थावर- जंगमादि भेदों से भिन्न है[8] । यहाँ बिना नियम के चकारों का प्रयोग होने से इन सबका समुच्चय समझना चाहिए । वह क्षेत्रज्ञ जो स्वरूपत: स्वप्रकाश, चैतन्य, आनन्दस्वभाव है और जिस प्रभाववाला है अर्थात् जिसकी उपाधिकृत शक्तियाँ जो प्रभाव हैं । वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – दोनों का सब विशेषणों से विशिष्ट यथार्थ स्वरूप समास – संक्षेप में मुझसे -- मेरे वचन से सुनो अर्थात् सुनकर निश्चय करो ॥ 3 ॥

10 किनके द्वारा विस्तार से उक्त वचन का यह संक्षेप है – ऐसी अपेक्षा होने पर श्रोता की बुद्धि में प्ररोचना-रुचि उत्पन्न करने के लिए स्तुति करते हुए कहते हैं :--

---

8. उक्त अर्थ 'यच्च' – इस पूर्वोक्त शब्द के अर्थ में उक्त और अन्तर्निहित है, इसलिए 'यत्' शब्द का प्रस्तुत अर्थ करने पर 'यत्' शब्द की व्यर्थता सिद्ध होगी, अतएव आचार्यों ने प्रकृत अर्थ 'यत्' का नहीं किया है ।–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 4 ॥

11 **ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु धारणाध्यानविषयत्वेन बहुधा गीतं निरूपितम् । एतेन योगशास्त्रप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । विविधैर्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मादिविषयैश्छन्दोभिर्ऋगादिमन्त्रै – र्ब्राह्मणैश्च पृथग्विवेकतो गीतम् । एतेन कर्मकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्म सूत्र्यते सूच्यते किंचिद्व्यवधानेन प्रतिपाद्यत एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराण्युपनिषद्वाक्यानि तथा पद्यते ब्रह्म साक्षात्प्रतिपाद्यत एभिरिति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादीनि तैर्ब्रह्मसूत्रैः पदैश्च हेतुमद्भिः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत' इति नास्तिकमत- मुपन्यस्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' इत्यादियुक्तीः प्रतिपाद-**

[यह संक्षेप अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञज्ञान ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और विविध छन्दों = वेदमन्त्रों से पृथक्-विवेकपूर्वक कहा गया है तथा विनिश्चित और युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों के द्वारा भी वैसे ही कहा गया है ॥4॥]

11 वसिष्ठादि ऋषियों ने योगशास्त्रों में धारणा और ध्यान के विषयरूप से इसका बहुत प्रकार से गान – निरूपण किया है । इससे इसकी योगशास्त्रप्रतिपाद्यता कही गई है । विविध अर्थात् नित्य – नैमित्तिक, काम्य-कर्मादिविषयक छन्दों = ऋगादि मन्त्रों और ब्राह्मणों द्वारा इसका पृथक् – विवेकपूर्वक गान किया गया है । इससे इसकी कर्मकाण्डप्रतिपाद्यता कही गई है । ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा = जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित -- सूचित-कुछ व्यवधानपूर्वक प्रतिपादित हो वे 'ब्रह्मसूत्र' हैं – ब्रह्म के तटस्थलक्षण[9]परक 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.1) -- 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसमें जाते हुए लीन हो जाते हैं' – इत्यादि उपनिषद्-वाक्य ब्रह्मसूत्र विवक्षित हैं तथा जिनके द्वारा ब्रह्म पद्यते -- साक्षात्प्रतिपाद्यते -- साक्षात् प्रतिपादित हो वे पद हैं -- ब्रह्म के स्वरूपलक्षण[10]-- परक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1) -- 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त है' – इत्यादि उपनिषद्--वाक्य ब्रह्मपद विवक्षित हैं उन ब्रह्मसूत्र और पदों[11] द्वारा हेतुमत् = 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्योपनिषद् 6.2.1) -- 'हे सोम्य ! यह पूर्व में एक, अद्वितीय सत् ही था'-- इसप्रकार उपक्रम कर 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जा-

फलतः 'यतो यस्माच्च यत्कार्यमुत्पद्यत इति शेषः' – यही अर्थ किया है । यही अर्थ पूर्वस्थिति में मधुसूदन सरस्वती को भी स्वीकार ही है ।

9. 'स्वरूपान्तराभूतत्वे सति इतरव्यावर्त्तकं तटस्थलक्षणम्' = जो स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करनेवाला हो उसको 'तटस्थलक्षण' कहते हैं । जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रति ब्रह्म की निमित्तकारणता उसका तटस्थलक्षण है ।

10. 'स्वरूपान्तरभूतत्वे सति अन्यव्यावर्त्तकं स्वरूपलक्षणम्' = जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करनेवाला हो उसको 'स्वरूपलक्षण' कहते हैं – जैसे – ' सच्चिदानन्दं ब्रह्म' ।

11. 'ब्रह्मसूत्राणि च पदानि च' -- 'ब्रह्मसूत्र और पद' - इसप्रकार 'ब्रह्मसूत्रपद' में द्वन्द्व समास करने पर धनपति कहते हैं कि यहाँ द्वन्द्व समास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें फल का अभाव रहता है ।

यद्भिर्विनिश्चितैरुपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया संदेहशून्यार्थप्रतिपादकैर्बहुधा गीतं च । एतेन ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । एवमेतैरतिविस्तरेणोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं संक्षेपेण तुभ्यं कथयिष्यामि तच्छृण्वित्यर्थः । अथ वा ब्रह्मसूत्राणि तानि पदानि चेति कर्मधारयः । तत्र विद्यासूत्राणि 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादीनि अविद्यासूत्राणि 'न स वेद यथा पशुः' इत्यादीनि तैर्गीतमिति ॥ 4 ॥

12 **एवं प्ररोचितायार्जुनाय क्षेत्रस्वरूपं तावदाह द्वाभ्याम् –**

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ 5 ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ 6 ॥

13 **महान्ति भूतानि भूम्यादीनि पञ्च । अहंकारस्तत्कारणभूतोऽभिमानलक्षणः । बुद्धिरहं – कारकारणं महत्तत्त्वमध्यवसायलक्षणम् । अव्यक्तं तत्कारणं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानं सर्व- कारणं न कस्यापि कार्यम् । एवकारः प्रकृत्यवधारणार्थः । एतावत्येवाष्टधा प्रकृतिः । चशब्दो**

येत' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.2.1) -- 'कोई उसी के विषय में यह कहते हैं कि यह पूर्व में एक अद्वितीय असत् ही था, उस असत् से सत् उत्पन्न होता है' -- इस प्रकार नास्तिक मत का उपन्यास कर 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेत' -- 'हे सोम्य ! ऐसा तो हो ही कैसे सकता है ? असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा ? -- यह कहा' -- इत्यादि युक्तियों का प्रतिपादन करनेवाले तथा विनिश्चित = उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता से सन्देहरहित अर्थ के प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यों द्वारा इसका बहुत प्रकार से गान किया गया है । इससे इसकी ज्ञानकाण्डप्रतिपाद्यता कही गई है । इसप्रकार इन ऋषियों, वेदमन्त्रों और ब्रह्मसूत्रपदों के द्वारा अतिविस्तारपूर्वक उक्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप को मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा, उसको तुम सुनो-- यह अर्थ है । अथवा, 'ब्रह्मसूत्राणि च तानि पदानि' = 'जो ब्रह्मसूत्र हैं वे ही पद हैं' -- इसप्रकार यह कर्मधारय समास है । उसमें 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.7) = 'मैं आत्मा हूँ' -- इसप्रकार उपासना करे' इत्यादि विद्यासूत्र हैं और 'न स वेद यथा पशुः' -- 'जो नहीं जानता वह पशु के समान है' -- इत्यादि अविद्यासूत्र हैं उनसे इसका गान किया गया है ॥ 4 ॥]

12 इसप्रकार प्ररोचित - प्रोत्साहित अर्जुन को दो श्लोकों से क्षेत्र का स्वरूप कहते हैं :--
[महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुः ख, संघात, चेतना और धृति -- यह संक्षेप में जन्मादि विकारों सहित क्षेत्र कहा गया है ॥ 5-6 ॥]

13 पृथिवी आदि पाँच महाभूत[12], उनका कारणभूत अभिमानस्वरूप अहङ्कार, बुद्धि = अहंकार का कारणभूत अध्यवसायस्वरूप महत्तत्त्व, अव्यक्त = महत्तत्त्व का कारण सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक प्रधान -- जो सबका कारण है किसी का कार्य नहीं है । 'एव' शब्द प्रकृति का निश्चय कराने के लिए

12. यहाँ 'महाभूत' शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- इन पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण किया गया है । ये सब विकारों में व्यापक होने के कारण महान् हैं तथा भूत भी हैं इसलिए ये 'महाभूत' कहे जाते हैं (महान्ति च तानि सर्वविकारव्यापकत्वाद्भूतानि च सूक्ष्माणि) । स्थूल पंचमहाभूत तो 'इन्द्रियगोचर' शब्द से विवक्षित हैं ।

भेदसमुच्चयार्थः। तदेवं सांख्यमतेन व्याख्यातम्। औपनिषदानां तु अव्यक्तमव्याकृतमनिर्वचनीयं मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिः। मम माया दुरत्ययेत्युक्तम्। बुद्धिः सर्गादौ तद्विषयमीक्षणम्। अहंकार ईक्षणानन्तरमहं बहु स्यामिति संकल्पः। तत आकाशादिक्रमेण पञ्चभूतोत्पत्तिरिति। न ह्यव्यक्तमहदहंकाराः सांख्यसिद्धा औपनिषदैरुपगम्यन्तेऽशब्दत्वादिहेतुभिरिति स्थितम्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इतिश्रुतिप्रतिपादितमव्यक्तम्। 'तदैक्षत' इतीक्षणरूपा बुद्धिः। 'बहु स्यां प्रजायेय' इतिबहुभवनसंकल्परूपोऽहंकारः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।' इति पञ्च भूतानि श्रौतानि। अयमेव पक्षः साधीयान्।

14 इन्द्रियाणि दशैकं च श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति तानि एकं च मनः संकल्पविकल्पात्मकं, पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्ते बुद्धीन्द्रियाणां ज्ञाप्यत्वेन विषयाः कर्मेन्द्रियाणां तु कार्यत्वेन। तान्येतानि सांख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ 5 ॥

है अर्थात् इतनी ही आठ प्रकार की प्रकृति[13] है। 'च' शब्द भेद का समुच्चय करने के लिए है[14]। इसप्रकार सांख्यमत से व्याख्या की गई है। औपनिषदों -- वेदान्तियों के मत में तो 'अव्यक्त' अव्याकृत अनिर्वचनीय 'माया' नाम की परमेश्वर की शक्ति है जिसको पहले 'मम माया दुरत्यया' (गीता, 7.14) -- इसप्रकार कहा गया है। 'बुद्धि' सर्ग के आदि -- आरम्भ में सृष्टिविषयक ईक्षण है। 'अहंकार' ईक्षण के पश्चात् 'अहं बहु स्याम्' = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- ऐसा संकल्प है। उससे आकाशादि क्रम से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। सांख्यप्रसिद्ध अव्यक्त, महत्तत्त्व और अहंकार औपनिषदों -- वेदान्तियों को स्वीकार नहीं हैं, क्योंकि सांख्यमत अशब्दत्वादि हेतुओं से निराकृत है -- ऐसा निश्चित है। 'माया को तो प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर जानो' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.10); 'उन्होंने ध्यानयोग से युक्त होकर अपने गुणों से गूढ़ देवात्मशक्ति को देखा' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.2)' -- इसप्रकार श्रुतिद्वारा प्रतिपादित 'अव्यक्त' है और 'तदैक्षत' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.2.3) = 'उसने इच्छा की' -- इसप्रकार श्रुतिप्रतिपादित ईक्षणरूप 'बुद्धि' है। 'बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दोग्योपनिषद् 6.2.3) = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- इस श्रुति के अनुसार बहुत होने का संकल्परूप 'अहंकार' है तथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1) = 'उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई' -- इसप्रकार श्रुति से प्रतिपादित पाँच भूत हैं। यही पक्ष ठीक है।

14 इन्द्रियाँ दस और एक = ग्यारह हैं = श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राणसंज्ञक पाँच बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियाँ है; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, और एक संकल्पविकल्पात्मक मन है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध -- ये पाँच इन्द्रियगोचर हैं = ज्ञाप्य होने के कारण

13. 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सांख्यकारिका, 3) -- इस सांख्यकारिका के अनुसार प्रकृति, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ -- आठ प्रकार की प्रकृति है। इसमें मूलप्रकृति अविकृति ही है, किन्तु अन्य सात प्रकृति हैं तथा विकृति भी हैं।

14. 'च' शब्द भेद का समुच्चय करने के लिए है अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति में जो भेद है उसके समुच्चय का निर्देश करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग है।

15 **इच्छा सुखे तत्साधने चेदं मे भूयादिति स्पृहात्मा चित्तवृत्तिः काम इति राग इति चोच्यते । द्वेषो दुःखे तत्साधने चेदं मे मा भूदिति स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिः क्रोध इतीर्ष्येति चोच्यते । सुखं निरुपाधीच्छाविषयीभूता धर्मासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिः परमात्मसुखव्यञ्जिका । दुःखं निरुपाधिद्वेषविषयीभूता चित्तवृत्तिरधर्मासाधारणकारणिका । संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामः सेन्द्रियं शरीरम् । चेतना स्वरूपज्ञानव्यञ्जिका प्रमाणासाधारणकारणिका चित्तवृत्तिर्ज्ञानाख्या । धृतिरवसन्नानां देहेन्द्रियाणामवष्टम्भहेतुः प्रयत्नः । उपलक्षणमेतदिच्छादिग्रहणं सर्वान्तःकरण-**

ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और कार्य होने के कारण कर्मेन्द्रियों के विषय हैं । इन्हीं को सांख्यवादी चौबीस तत्त्व कहते है[15] ।। 5 ।।

15 'इच्छा' सुख और उसके साधन में 'यह मुझको प्राप्त हो' -- ऐसी स्पृहारूपा चित्तवृत्तिविशेष है, इसी को काम और राग भी कहा जाता है । 'द्वेष' दु:ख और उसके साधन में 'यह मुझको प्राप्त न हो' -- ऐसी स्पृहाविरोधिनी चित्तवृत्तिविशेष है, इसी को क्रोध और ईर्ष्या भी कहा जाता है । सुख निरुपाधिकी इच्छा[16] की विषयीभूता, धर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है वह परमात्मसुख को अभिव्यक्त -- प्रकाशित करनेवाली है । 'दु:ख' निरुपाधिक द्वेष की विषयीभूता, अधर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसी चित्तवृत्तिविशेष है[17] । 'संघात' पञ्चमहाभूतों का परिणाम इन्द्रियों सहित शरीर है[18] । 'चेतना' स्वरूपज्ञान को अभिव्यक्त करनेवाली, प्रमाण जिसका असाधारण कारण है ऐसी, ज्ञान नाम की चित्तवृत्तिविशेष है[19] । 'धृति' अवसन्न- क्षीण हुए देह और इन्द्रियों को धारण करने का हेतुभूत प्रयत्न है । यह इच्छा आदि का ग्रहण अन्त:करण के सभी धर्मों का

---

15. (अ) उक्त महाभूत से लेकर पंचेन्द्रियगोचरपर्यन्त पदार्थ सांख्य के अनुसार चौबीस तत्त्व कहे जाते हैं, जैसा कि सांख्यकारिका से स्पष्ट है–'मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारः' (सांख्यकारिका, 3) । (ब) यह श्लोक तृतीय श्लोक में प्रयुक्त 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' -- पदों की व्याख्या है ।

16. इच्छा दो प्रकार की होती है – सोपाधिकी और निरुपाधिकी । 'सोपाधिकी' अन्य-दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा है । जो पुरुष सुख चाहता है वह सुख के साधन द्रव्यादि को चाहता है, क्योंकि इनके बिना वैषयिक सुख नहीं हो सकता है, अतः द्रव्यादि की इच्छा सुख की इच्छा के आधीन है । जो पुरुष वैषयिक सुख नहीं चाहता है, वह वैषयिक सुख के साधन द्रव्यादि को भी नहीं चाहता है जैसे – वीतराग पुरुष या मुमुक्षु । अतः द्रव्यादि की इच्छा सुख की इच्छा के आधीन होने से 'सोपाधिकी' इच्छा कही जाती है । 'निरुपाधिकी' दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा नहीं है । जैसे - सुख की इच्छा निरुपाधिकी इच्छा है, क्योंकि सुख स्वयं पुरुषार्थी पुरुषों से अर्थ्यमान हैं, अतः सुख दूसरे की इच्छा के आधीन इच्छा का विषय नहीं है । धर्म से ही सुख होता है, क्योंकि धर्म इसका असाधारण कारण है । सुख ब्रह्मस्वरूप है । यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब ब्रह्मसुख जन्य ही नहीं है तो फिर धर्म उसका असाधारण कारण कैसे होगा ? इसका उत्तर है कि जिसका धर्म असाधारण कारण है ऐसी तद्-तद्-विषयक चित्तवृत्ति से वैषयिक सुख की अवस्था में परमानन्दमात्रा के लेश की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् ऐसी चित्तवृत्ति परमात्मसुखव्यञ्जिका होती है, साधारणजन उसको विषयगत समझकर विषयजन्य सुख मानते हैं ।

17. दु:ख वृत्तिरूप होने से जन्य ही है, अतः यहाँ चित्तवृत्ति को अभिव्यञ्जिका नहीं कहा है ।

18. यद्यपि लोकायतिक शरीर को चातुर्भौतिक ही मानते हैं तथापि अन्य दार्शनिक उसको पञ्चभौतिक मानते हैं । अतएव यहाँ पंचमहाभूतों के परिणाम सेन्द्रिय शरीर को ही 'संघात' कहा है ।

19. बुद्धि – अन्त:करणवृत्ति सत्त्वमय होने से शुद्ध और स्वच्छ दर्पण के समान चित्प्रतिबिम्बग्राहिणी होती है, वह अग्नि से तप्त लौहपिण्ड में वह्नित्व – अग्नित्व के समान स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतनत्व को प्राप्त होती है जिससे स्थूलपिण्ड भी चेतन सदृश प्रतीत होता है, वह चिदाभासयुक्त अन्त:करणवृत्ति 'चेतना' कही जाती है । चित् के अन्त:करण में प्रतिबिम्बित होने पर जब जीव 'अन्त:करणवृत्ति भी मैं ही हूँ' – इसप्रकार का अभिमान करता है और वह चिदाभासयुक्त अन्त:करणवृत्ति जब देहादि संघात को भी चेतना से युक्त कर देती है तब उसको 'चेतना' कहा जाता है (नीलकण्ठीव्याख्या) ।

धर्माणाम् । तथाच श्रुतिः – 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव' इति मृद्घट इतिवदुपादानाभेदेन कार्याणां कामादीनां मनोधर्मत्वमाह । एतत्परिदृश्यमानं सर्वं महाभूतादिधृत्यन्तं जडं क्षेत्रज्ञेन साक्षिणाऽवभास्यमानत्वात्तदनात्मकं क्षेत्रं भास्यमचेतनं समासेनोदाहृदमुक्तम् ।

16 ननु शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञ इति लोकायतिकाः । चेतना क्षणिकं ज्ञानमेवाऽऽत्मेति सुगताः । इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति नैयायिकाः । तत्कथं क्षेत्रमे – वैतत्सर्वमिति ? तत्राऽऽह – सविकारमिति । विकारो जन्मादिर्नाशान्तः परिणामो नैरुक्तैः पठितः । तत्सहितं सविकारमिदं महाभूतादिधृत्यन्तमतो न विकारसाक्षि स्वोत्पत्तिविनाशयोः स्वेन द्रष्टुमशक्यत्वात् । अन्येषामपि स्वधर्माणां स्वदर्शनमन्तरेण दर्शनानुपपत्तेः स्वनैव स्वदर्शने च कर्तृकर्मविरोधान्निर्विकार एव सर्वविकारसाक्षी । तदुक्तम् –

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ इति ।

तेन विकारित्वमेव क्षेत्रचिह्नं नतु परिगणनमित्यर्थः ॥ 6 ॥

उपलक्षण है । श्रुति भी कहती है -- 'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री-लज्जा, धी-बुद्धि, और भी-भय -- ये सब मन ही हैं' -- यहाँ 'मृद्घटः'-- के समान उपादान -- कारणरूप अभेद से कामादि कार्यों का मनोधर्मत्व कहा गया है[20] । यह महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त परिदृश्यमान -- अनुभूयमान सम्पूर्ण जड़वर्ग क्षेत्रज्ञ साक्षी के द्वारा प्रकाशमान – प्रकाशित होने के कारण संक्षेप में वह अनात्मभूत क्षेत्र अर्थात् अचेतन भाष्य-प्रकाश्य कहा गया है ।

16 यहाँ शङ्का है -- शरीर और इन्द्रियों का संघात ही चेतन क्षेत्रज्ञ है -- यह लोकायतिक कहते हैं; बौद्ध कहते हैं कि चेतनारूप क्षणिक ज्ञान-विज्ञान ही आत्मा है तथा नैयायिकों का मत है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान -- ये आत्मा के लिङ्ग है (न्यायसूत्र, 1.1.10) -- तो फिर यह सब क्षेत्र ही कैसे है ? इस पर कहते हैं -- सविकारमिति । 'विकार' जन्म से लेकर नाशपर्यन्त परिणाम है[21] -- यह निरुक्तकार ने कहा है । यह महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त पदार्थ विकारसहित होने से 'सविकार' है, अत: यह विकारों का साक्षी नहीं है, क्योंकि यह स्वयं अपनी उत्पत्ति और विनाश को नहीं देख सकता है । यह अपना दर्शन हुए बिना अपने अन्य धर्मों का भी दर्शन नहीं कर सकता है, क्योंकि अपने ही द्वारा अपना दर्शन होने में एक ही में कर्ता और कर्म होने का विरोध उपस्थित होगा, अत: निर्विकार ही सब विकारों का साक्षी होता है । कहा भी है –
''विकारों के बिना कोई दु:खी नहीं होता और उक्तन्याय से विकारी में साक्षिता क्या है ? मैं बुद्धि के सहस्रों विकारों का साक्षी हूँ, अत: निर्विकार हूँ'' ।
इसलिए विकारित्व ही क्षेत्र का चिह्न है[22], न कि महाभूत से लेकर धृतिपर्यन्त परिगणना है -- यह तात्पर्य है ॥ 6 ॥

---

20. 'मृद्घटः' – इस पद में मिट्टी और घट को कहा गया है, यहाँ मिट्टी कारण है और घट कार्य है, कारण और कार्य में उपादान-कारणरूप से अभेद मानकर श्रुति में अभेद का व्यवहार किया गया है अर्थात् कामादि को मन ही कहा गया है, किन्तु लोक में 'मृद्धर्म घट है' -- यह जैसे भेदविवक्षा से व्यवहार होता है वैसे ही 'कामादि मनोधर्म हैं' – यह यहाँ व्यवहार किया गया है ।

21. 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति' (निरुक्त, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद) = विकार के छ: रूप हैं – जन्म लेना, होना, बदलना, बढ़ना, घटना और नाश होना ।

17 **एवं क्षेत्रं प्रतिपाद्य तत्साक्षिणं क्षेत्रज्ञं क्षेत्राद्विवेकेन विस्तरात्प्रतिपादयितुं तज्ज्ञानयोग्य – त्वायामानित्वादिसाधनान्याह ज्ञेयं यत्तदित्यतः प्राक्तनैः पञ्चभिः–**

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ 7 ॥

18 **विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघनं मानित्वं, लाभपूजाख्यात्यर्थं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, कायवाङ्मनोभिः प्राणिनां पीडनं हिंसा, तेषां वर्जनममानित्वमदम्भित्वमहिंसेत्युक्तम्। परापराधे चित्तविकारहेतौ प्राप्तेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधसहनं क्षान्तिः, आर्जवमकौटिल्यं यथाहृदयं व्यवहरणं परप्रतारणाराहित्यमिति यावत् । आचार्यो मोक्षसाधनस्योपदेष्टाऽत्र विवक्षितो न तु मनूक्त उपनीयाध्यापकः । तस्य शुश्रूषानमस्कारादिप्रयोगेण सेवनमाचार्योपासनम् । शौचं बाह्यं कायमलानां मृज्जलाभ्यां क्षालनमाभ्यन्तरं च मनोमलानां च रागादीनां विषयदोषदर्शन-रूपप्रतिपक्षभावनयाऽपनयनम् । स्थैर्यं मोक्षसाधने प्रवृत्तस्यानेकविधविघ्नप्राप्तावपि तदपरित्यागेन पुनः पुनर्यत्नाधिक्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वभावप्राप्तां मोक्षप्रतिकूले प्रवृत्तिं निरुध्य मोक्षसाधन एव व्यवस्थापनम् ॥ 7 ॥**

---

17 इसप्रकार क्षेत्र का प्रतिपादन कर उसके साक्षी क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र से विवेक-भेद के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने के लिए 'ज्ञेयं यत्तत्' -- इत्यादि से पूर्व पठित पाँच श्लोकों से उस क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की योग्यता के लिए अमानित्वादि साधनों को कहते हैं –

[अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति-क्षमा, आर्जव, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह ॥ 17 ॥]

18 अपने में विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों से अपनी श्लाघा-प्रशंसा करना 'मानित्व' है; लाभ, पूजा अथवा ख्याति के लिए अपने धर्मों को प्रकट करना 'दम्भित्व' है; शरीर, वाणी और मन से प्राणियों को पीडित करना 'हिंसा' है, उनका वर्जन – छोड़ना अमानित्व, अदम्भित्व और अहिंसा कहे गये हैं । दूसरे के अपराध करने पर चित्त के विकार का हेतु प्राप्त होता है फिर भी निर्विकार चित्त से उसके अपराध को सहना 'क्षान्ति' -- क्षमा है । 'आर्जव' अकुटिलता -- हृदय के अनुसार व्यवहार करना अर्थात् दूसरे को धोखा न देना है । 'आचार्य' यहाँ मोक्ष के साधनों का उपदेष्टा -- उपदेशक विवक्षित है, न कि मनु के द्वारा उक्त उपनीय अध्यापक विवक्षित है[23] । उस विवक्षित आचार्य की शुश्रूषा, नमस्कार आदि के प्रयोग द्वारा सेवा करना 'आचार्योपासन' है । 'शौच' शरीर के मलों को मिट्टी और जल से धोना 'बाह्य' है और मन के रागादि मलों को विषयदोषदर्शनरूप प्रतिपक्षभावना से दूर करना 'आभ्यन्तर' है[24] । 'स्थैर्य' मोक्ष के साधन में प्रवृत्त हुए पुरुष का अनेक प्रकार के विघ्न प्राप्त होने पर भी उसको न त्याग कर पुनः पुनः उसी में अधिक प्रयत्न करना है । 'आत्म-

---

22. यह श्लोक तृतीय श्लोक में निर्दिष्ट 'यद्विकारी' -- पद की व्याख्या है ।

23. 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनुस्मृति, 2.140)

'जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कर उसको कल्प – यज्ञविद्या और रहस्य-उपनिषद् -- विद्या के साथ वेद पढ़ाता है वह 'आचार्य' कहलाता है ।'

24. स्मृति भी कहती है –

19 किं च –

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8 ॥

20 **इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टेष्वानुश्रविकेषु वा भोगेषु रागविरोधिन्यस्पृहात्मिका चित्तवृत्तिर्वैराग्यम् । आत्मश्लाघनाभावेऽपि मनसि प्रादुर्भूतोऽहं सर्वोत्कृष्ट इति गर्वोऽहंकारस्तदभावोऽनहंकारः । अयोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः । समुच्चयार्थश्चकारः । तेनामानित्वादीनां विंशतिसंख्याकानां समुच्चितो योग एव ज्ञानमिति प्रोक्तं न त्वेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । जन्मनो गर्भवासयोनिद्वारनिस्सरणरूपस्य मृत्योः सर्वमर्मच्छेदनरूपस्य जरायाः प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधपरपरिभवादिरूपाया व्याधीनां ज्वरातिसारादिरूपाणां दुःखानामिष्टवियोगानिष्टसंयोगजानामध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तानां दोषस्य वातपित्तश्लेष्ममलमूत्रादिपरिपूर्णत्वेन कायजुगुप्सितत्वस्य चानुदर्शनं पुनः पुनरालोचनं जन्मादिदुःखान्तेषु दोषस्यानुदर्शनं जन्मादिव्याध्यन्तेषु दुःखरूपदोषस्यानुदर्शनमिति वा । इदं च विषयवैराग्यहेतुत्वेनाऽऽत्मदर्शनस्योपकरोति ॥ 8॥**

विनिग्रह' आत्मा = देह और इन्द्रियों के संघात की स्वभाव से प्राप्त मोक्ष के प्रतिकूल विषय में प्रवृत्ति को रोककर उसको मोक्ष के साधन में ही व्यवस्थित करना है ॥ 7 ॥

19 इसके अतिरिक्त,
[इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार का सर्वथा अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दु:खरूप दोषों को देखना ॥ 8 ॥]

20 इन्द्रियों के विषयों में = दृष्ट = अदिव्य -- ऐहलौकिक अथवा आनुश्रविक = दिव्य -- पारलौकिक शब्दादि भोगों में रागविरोधिनी अस्पृहात्मिका चित्तवृत्ति 'वैराग्य' है । आत्मश्लाघा का अभाव होने पर भी मन में प्रादुर्भूत 'मैं सर्वोत्कृष्ट हूँ- यह गर्व 'अहंकार' है, उसका अभाव 'अनहंकार' है । 'एव ' शब्द अयोग -- असम्बन्ध का व्यवच्छेद करने के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय के लिए है । इससे अमानित्वादि बीस गुणों का समुच्चित योग ही ज्ञान है – यह कहा गया है, यह नहीं कि उनमें एक का भी अभाव होगा -- यह अर्थ है । 'जन्म' गर्भवास और योनिद्वार से निस्सरणरूप है; 'मृत्यु' सम्पूर्ण मर्मस्थानों का छेदनरूप है; 'जरा' प्रज्ञा-बुद्धि, शक्ति और तेज का निरोध होना और दूसरों से पराभवादि होना रूप है; 'व्याधि' ज्वर, अतिसार आदिरूप है; 'दु:ख' इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग से उत्पन्न अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव निमित्तक है – इन सभी के दोष = वात, पित्त, कफ, मल-मूत्रादि से परिपूर्ण होने के कारण शरीर में जुगुप्सितता-घृणास्पदता का अनु-दर्शन = पुन: पुन: आलोचन-विचार करना अथवा जन्म से लेकर दु:खपर्यन्त पदार्थों में दोष का दर्शन-विचार करना या जन्म से लेकर व्याधि-पर्यन्त पदार्थों में दु:खरूप दोष का अनुदर्शन -- अनुसन्धान करना[25] । यह विषयों में वैराय का हेतु होने से आत्मदर्शन का उपकार करता है ॥ 8 ॥

'शौचं हि द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥' (अग्निपुराण, 372.17-18)'

'बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का 'शौच' कहा गया है । मिट्टी और जल से प्रक्षालन -- शुद्धि 'बाह्य' है और भावशुद्धि 'आभ्यन्तर' कहा गया है ।

25. अभिप्राय यह है कि दु:ख ही दोष है, उस दु:खरूप दोष का जन्मादि में देखना अर्थात् जन्म दु:ख है, मृत्यु

21 किं च –

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9 ॥

22 सक्तिर्ममेदमित्येतावन्मात्रेण प्रीतिः । अभिष्वङ्गस्त्वहमेवायमित्यनन्यत्वभावनया प्रीत्यतिशयोऽन्यस्मिन्सुखिनि दुःखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी चेति । तद्राहित्यमसक्तिरनभिष्वङ्ग इति चोक्तम् । कुत्र सक्त्यभिष्वङ्गौ वर्जनीयावत आह – पुत्रदारगृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु, आदिग्रहणादन्येष्वपि भृत्यादिषु सर्वेषु स्नेहविषयेष्वित्यर्थः ।

23 नित्यं च सर्वदा च समचित्तत्वं हर्षविषादशून्यमनस्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । उपपत्तिः प्राप्तिः । इष्टोपपत्तिषु हर्षाभावोऽनिष्टोपपत्तिषु विषादाभाव इत्यर्थः । चः समुच्चये ॥ 9 ॥

24 किं च–

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ 10 ॥

---

21 इसके अतिरिक्त,
[पुत्र, स्त्री, गृह आदि में असक्ति = सक्ति – प्रीति का अभाव, उनमें ही अनभिष्वङ्ग = अभिष्वङ्ग-प्रीत्यतिशय– अभिनिवेश न होना तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सर्वदा समचित्त रहना ॥ 9 ॥]

22 'सक्ति' 'यह मेरा है' – इतने मात्र से ही प्रीति होना है । 'अभिष्वङ्ग' तो 'मैं ही यह हूँ' – इस प्रकार की अनन्यत्वभावना से प्रीति का अतिशय होना है अर्थात् किसी अन्य के सुखी अथवा दु:खी होने पर मैं ही सुखी और दु:खी हूँ -- ऐसी भावना 'अभिष्वङ्ग' है । सक्ति और अभिष्वङ्ग का अभाव 'असक्ति' और 'अनभिष्वङ्ग' है– ऐसा कहा गया है । ये सक्ति और अभिष्वङ्ग कहाँ वर्जनीय हैं ? इसपर कहते हैं -- 'पुत्रदारगृहादिषु' = पुत्रों में, स्त्रियों में और गृहों में वर्जनीय हैं, 'आदि' शब्द के ग्रहण से अन्य भृत्यादि में भी अर्थात् स्नेह के सब विषयों में भी वर्जनीय हैं ।

23 इष्ट और अनिष्ट की उपपत्ति -- प्राप्ति में नित्य -- सर्वदा समचित्तत्व = हर्ष और विषाद से शून्य चित्तवाला होना । उपपत्ति प्राप्ति है । अर्थ यह है कि इष्ट की प्राप्ति होने पर हर्ष का अभाव होना और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर विषाद का अभाव होना । 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है ॥ 9 ॥

24 इसके अतिरिक्त,

दु:ख है, जरा दु:ख है और सब व्याधियाँ दु:ख हैं – इसप्रकार देखने को जन्मादि में दु:खरूप दोष का अनुदर्शन – अनुसंधान करना कहा जाता है (दु:खान्येव दोषो दु:खदोषस्तस्य तस्य जन्मादिषु पूर्ववदनुदर्शनम् – दु:खं जन्म, दु:खं मृत्यु:, दु:खं जरा, दु:खं व्याधय:-- शाङ्करभाष्य) । यहाँ ध्यातव्य है कि ये जन्मादि दु:ख के कारण होने से ही दु:ख हैं, स्वरूप से ही दु:ख नहीं है अर्थात् देह में आत्मबुद्धि जब तक रहती है तब तक ही जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि दु:ख के कारण होते हैं । आत्मा देह से पृथक् है – इसप्रकार तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् जन्मादि पुन: दु:ख देने में समर्थ नहीं होते हैं । अत: वे स्वरूप से दु:ख नहीं हैं, क्योंकि जिसका जो स्वरूप है उसका किसी अवस्था में भी अभाव नहीं हो सकता है । यदि इनका स्वरूप दु:ख होता तो जीवन्मुक्त पुरुष भी इनसे मुक्त नहीं हो सकते थे । इसप्रकार जन्मादि में दु:खरूप दोष के अनुदर्शन से देह, इन्द्रिय और विषय-भोगों में वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे आत्मा-परमात्मा के दर्शन के लिए प्रत्यगात्मा में मनसहित सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, अत: जन्मादि में दु:खरूप दोषानुदर्शन तत्त्वज्ञान का हेतु होने से 'ज्ञान' कहा जाता है ।

25 मयि च भगवति वासुदेवे परमेश्वरे भक्तिः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्विका प्रीतिः । अनन्ययोगेन नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः सः एव नो गतिरित्येवंनिश्चयेनाव्यभिचारिणी केनापि प्रतिकूलेन हेतुना निवारयितुमशक्या । साऽपि ज्ञानहेतुः 'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्' इत्युक्तेः ।

26 विविक्तः स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धोऽशुचिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च रहितः सुरधुनी – पुलिनादिश्चित्तप्रसादकरो देशस्तत्सेवनशीलत्वं विवक्तदेशसेवित्वम् । तथा च श्रुतिः –

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥' इति ।

27 जनानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटतोपदेशकानां संसदि समवाये तत्त्वज्ञानप्रतिकूलायामरतिररमणं साधूनां तु संसदि तत्त्वज्ञानानुकूलायां रतिरुचितैव । तथा चोक्तम्–

'सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतः सङ्गो हि भेषजम्' इति ॥ 10 ॥

[मुझमें अनन्य-योग से अव्यभिचारिणी भक्ति होना, विविक्त – शुद्ध देश का सेवन करना और जनसंसद = जनसमुदाय में रति-प्रेम का न होना ॥ 10 ॥]

25 मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर में अनन्ययोग से = 'भगवान् वासुदेव से पर-श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है, अत: वही हमारी गति हैं' – इसप्रकार के निश्चय से अव्यभिचारिणी = किसी भी प्रतिकूल हेतु से निवारण न की जा सकनेवाली भक्ति = सर्वोत्कृष्टत्वरूपज्ञानपूर्वक प्रीति[26] होना । वह प्रीति भी ज्ञान का हेतु है, क्योंकि 'जब तक मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती तब तक जीव देह के सम्बन्ध से मुक्त नहीं होता है[27]' – ऐसा कहा है ।

26 विविक्त = स्वभावत: अथवा संस्कारत: शुद्ध, सर्प – व्याघ्र आदि अपवित्र जीवों से रहित सुरधुनी – गंगा का पुलिन – तीर आदि चित्त को प्रसन्न करनेवाला देश, उसका सेवन करने का स्वभाव होना 'विविक्तदेशसेवित्व' है । ऐसा श्रुति भी कहती है –

"जो समतल, पवित्र, शर्करा – कङ्कड, अग्नि और बालुका से तथा शब्द और जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल और नेत्रों को पीडित न करनेवाला हो उस गुहा या वायुशून्य स्थान में चित्त को समाहित करे" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2.10) ।

27 जनों = आत्मज्ञानविमुख और विषयभोग की लम्पटता के उपदेशक जनों की संसद में अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रतिकूल सभा में अरति = रमण न करना, किन्तु साधुजनों की तत्त्वज्ञान के अनुकूल संसद – सभा में रति - रमण करना उचित ही है । कहा भी है –

---

26. भगवान् सर्वोत्कृष्ट – सबसे उत्कृष्ट अर्थात् सबसे बडे प्रभावशाली हैं – ऐसी ज्ञानपूर्वक प्रीति 'भक्ति' है । अपकृष्ट में प्रीत्यतिशय अनुराग होता है – जैसे लोक में कहा जाता है कि वह स्त्री में, पुत्र में अनुरक्त है । लोक में उत्कृष्टपद सापेक्ष होता है, कहीं-कहीं इसका प्रयोग देखा जाता है, जैसे वह मातृभक्त, पितृभक्त है, किन्तु ईश्वर में उत्कृष्टपद निरपेक्ष होता है, अतः कहा जाता है कि ईश्वर-परमात्मा सबसे उत्कृष्ट है, उससे पर दूसरा कोई नहीं है अतएव ईश्वर में सर्वदैव भक्ति ही होती है और कहा जाता है कि वह ईश्वरभक्त है ।

27. तात्पर्य यह है कि भगवान् में प्रीति होने पर जीव देह से वियुक्त – मुक्त हो जाता है । वस्तुतः देह का संयोग मिथ्याज्ञाननिमित्तक होता है और देह से वियोग तत्त्वज्ञाननिमित्तक होता है, तत्त्वज्ञान भगवान् में भक्ति से प्राप्त होता है तथा शरीर रहने पर भी तत्त्वज्ञानी निवृत्तशरीराध्यास अशरीरी कहलाता है ।

28 किं च –

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति[28] प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ 11 ॥

29 अध्यात्मज्ञानमात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमात्मानात्मविवेकज्ञानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठावत्त्वम् । विवेकनिष्ठो हि वाक्यार्थज्ञानसमर्थो भवति । तत्त्वज्ञानस्याहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारस्य वेदान्तवाक्यकरणकस्यामानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलस्यार्थः प्रयोजनमविद्यातत्कार्यात्मकनिखिलदुःखनिवृत्तिरूपः परमानन्दात्मावाप्तिरूपश्च मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधने प्रवृत्तिः स्यात् । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसंख्याकं ज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानार्थत्वात् । अतोऽन्यथाऽस्माद्विपरीतं मानित्वादि यत्तदज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानविरोधित्वात् । तस्मादज्ञानपरित्यागेन ज्ञानमेवोपादेयमिति भावः ॥ 11 ॥

30 एभिः साधनैर्ज्ञानशब्दितैः किं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह ज्ञेयं यत्तदित्यादिषड्भिः–

'सङ्ग सर्वात्मना हेय है, यदि उसको न त्यागा जा सके तो सत्पुरुषों का साथ ही करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का सङ्ग भवरोग का औषध है' ॥ 10 ॥

28 इसके अतिरिक्त,
[अध्यात्मज्ञान में नित्यता- नित्य स्थिति या निष्ठा होना और तत्त्वज्ञान के अर्थ-प्रयोजनरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना – यह सब ज्ञान है, इससे विपरीत जो है वह अज्ञान है -- ऐसा कहा है ॥ 11 ॥]

29 अध्यात्मज्ञान = आत्मा को अधिकृत करके प्रवृत्त होनेवाला आत्मा और अनात्मा का विवेकरूप ज्ञान 'अध्यात्मज्ञान' है, उसमें नित्यत्व = वहीं निष्ठा होना, क्योंकि विवेकनिष्ठ ही वेदान्तवाक्यों के अर्थ को जानने में समर्थ होता है । तत्त्वज्ञान[29] = वेदान्तवाक्यकरणक – वेदान्तवाक्य ही जिसके कारण हैं और अमानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलक = अमानित्वादि सब साधनों के परिपाक का जो फल है उस 'अहं ब्रह्मास्मि'= 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार के साक्षात्कार का जो अर्थ = प्रयोजन अर्थात् अविद्या और उसके कार्यभूत सम्पूर्ण दु:ख की निवृत्तिरूप तथा परमानन्दब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष है उसका दर्शन – आलोचन, क्योंकि तत्त्वज्ञान के फल का आलोचन -- विचार करने से ही उसके साधन में प्रवृत्ति होगी । यह अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त' बीस संख्यायुक्त पदार्थ 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि इसका प्रयोजन ज्ञान है । इससे अन्यथा = विपरीत जो मानित्वादि हैं वे 'अज्ञान' कहे गये हैं, क्योंकि वे ज्ञान के विरोधी हैं । अतः अज्ञान का परित्याग कर ज्ञान ही उपादेय है = ज्ञान का ही ग्रहण करना चाहिए -- यह भाव है ॥ 11 ॥

---

28. श्लोकस्य 'इति' शब्द से यह सूचित कर रहे हैं कि इन पाँच श्लोकों में ज्ञान के जिन साधनों का उल्लेख है वे समाप्त हुए ।

29. (अ) 'तत्' सर्वनाम है और सर्व = सब ब्रह्म है उसका नाम 'तत्' है; उस ब्रह्म का भाव याथात्म्य है उसका ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है (तदिति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तदिति तस्य ब्रह्मणो भावो याथात्म्यं तस्य ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्) । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' – इसप्रकार श्रुति द्वारा उक्त ब्रह्म और जगत् के याथात्म्य का ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है ।

(ब) अमानित्वादि सब साधनों का परिपाक होने पर चित्तशुद्धि होती है, तत्पश्चात् गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्यों के श्रवण के फलरूप से 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार का जो आत्मसाक्षात्कार होता है उसको ही 'तत्त्वज्ञान' कहते हैं ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ 12 ॥

31 यज्ज्ञेयं मुमुक्षुणा तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्पष्टतया वक्ष्यामि । श्रोतुरभिमुखीकरणाय फलेन स्तुवन्नाह -- यद्वक्ष्यमाणं ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतममृतत्वमश्नुते संसारान्मुच्यत इत्यर्थः । किं तत्, अनादिमत्, आदिमन्न भवतीत्यनादिमत् । परं निरतिशयं ब्रह्म सर्वतोऽनवच्छिन्नं परमात्मवस्तु । अत्रानादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणाऽर्थलाभेऽप्यतिशायने नित्ययोगे वा मतुपः प्रयोगः । अनादीति च मत्परमिति च पदं केचिदिच्छन्ति । मत्सगुणाद्ब्रह्मणः परं निर्विशेषरूपं ब्रह्मेत्यर्थः । अहं

---

30 'ज्ञान' शब्दित इन साधनों से क्या ज्ञेय है ? – इस अपेक्षा से 'ज्ञेयं यत्तत्' – इत्यादि छः श्लोकों द्वारा कहते हैं[30] :–

[जो ज्ञेय है उसको मैं स्पष्टरूप से कहूँगा, जिसको जानकर जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है । वह अनादिमत् परब्रह्म है । वह न सत् है, न असत् है और न किसी शब्द से कहा जाता है ॥ 12 ॥]

31 मुमुक्षुजन के द्वारा जो ज्ञेय है उसको मैं प्रकर्ष से = स्पष्टरूप से कहूँगा । श्रोता को अभिमुख करने के लिए फल से स्तुति करते हुए कहते हैं – जिस वक्ष्यमाण ज्ञेय को जानकर जीव अमृत – अमृतत्व को प्राप्त होता है अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है । वह क्या है ? वह अनादिमत्[31] = जो आदिमत् नहीं है वह अनादिमत्, पर– निरतिशय ब्रह्म = सबसे अनवच्छिन्न परमात्मवस्तु है । यहाँ 'अनादि = न आदिर्यस्य तत्' – इतने बहुव्रीहि समास से ही अर्थलाभ होने पर भी अतिशय अथवा नित्ययोग में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है[32] । कोई 'अनादिमत्परम्' इस पद को 'अनादि' और 'मत्परम्' – इसप्रकार पृथक्-पृथक् कहना चाहते हैं और अर्थ करते हैं – मत् = मुझ सगुण ब्रह्म से परम् = पर निर्विशेषरूप ब्रह्म है[33] । मत्परम् = मैं वासुदेव नाम की परा शक्ति हूँ जिसकी

---

30. शंका हो सकती है कि अमानित्वादि गुण तो यम और नियम हैं, उनसे ज्ञेय नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि अमानित्वादि किसी भी वस्तु के परिच्छेदक = ज्ञापक नहीं देखे गये हैं और सर्वत्र ही जो ज्ञान जिस वस्तु को विषय करनेवाला होता है वही उसका परिच्छेदक = ज्ञापक होता है, अन्यविषयक ज्ञान से अन्य वस्तु नहीं जानी जाती है जैसे घटविषयक ज्ञान से अग्नि नहीं जानी जाती है । उत्तर है – यह दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञान के साधन होने से और उसके सहकारी कारण होने से अमानित्वादि को 'ज्ञान' कहा गया है । अतएव 'ज्ञान' शब्दित अमानित्वादि साधनों से कौन सी यथार्थ वस्तु जानी जाती है अर्थात् क्या ज्ञेय है ? वह यहाँ कहा जा रहा है ।

31. अनादिमत् = आदिरस्यास्तीत्यादिमत् नादिमदनादिमत् = कर्मधारय तत्पुरुष समास है ।

32. प्रकृत में 'अनादि = न आदिर्यस्य तत्' – यह बहुव्रीहि समास नहीं है, किन्तु 'आदिरस्ति अस्य इति आदिमत् न आदिमत् अनादिमत्' – यह कर्मधारय तत्पुरुष समास है । यहाँ कहा जा सकता है – यद्यपि दोनों में अर्थभेद नहीं है तथापि मतुप्ग्रहण दोनों वृत्तियों को मानना व्यर्थ है, क्योंकि बहुव्रीहि समास से ही मतुपर्थ का लाभ हो रहा है और फिर इसमें लाघव भी है, जबकि कर्मधारय समास करने में मतुप्ग्रहण कर्मधारय समास और तद्धित – इसप्रकार दो वृत्तियाँ माननी पड़ती है जिससे गौरव होता है । उत्तर – यह ठीक है कि बहुव्रीहि से लाघव प्राप्त है किन्तु प्रकृत में मत्वर्थीयान्त से अधिक अर्थविशेष की प्रतीति होती है जो बहुव्रीहि से नहीं हो सकती है । अतएव यहाँ मत्वर्थीयान्त पद ही उचित है, जिसमें अतिशय और नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय हुआ है ।

33. (अ) श्रीधर स्वामी ने 'अनादिमत्परम्' पद के विकल्प अर्थ में 'अनादि' और 'मत्परम्' -- ये दो पद स्वीकार कर 'मत्परम्' का अर्थ किया है – 'मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्म, मत्तः सगुणात् ब्रह्मणः परमिति वा' – जो उचित नहीं है, क्योंकि 'परम्' -- विशेषण से ही 'सगुण से पर निर्विशेष ब्रह्म' – की अभिव्यक्ति हो जाने से 'मत्' पद व्यर्थ हो जाता है, और फिर 'मत्तः परतरं नान्यत्' (गीता, 7.7) – इस भगवद्वाक्य से विरोध भी होता है जिसमें यह स्पष्ट विवक्षित है कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं उनसे अतिरिक्त पर कोई है ही नहीं है ।

वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्येति त्वपव्याख्यानं, निर्विशेषस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वेन तत्र शक्तिमत्त्वस्यावक्तव्यत्वात् ।

32 निर्विशेषत्वमेवाऽऽह – न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते । निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयस्त्वसच्छब्देन । इदं तु तदुभयविलक्षणं निर्विशेषत्वात्स्व – प्रकाशचैतन्यरूपत्वाच्च 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' इत्यादिश्रुतेः । यस्मात्तद्ब्रह्म न सद्भावत्वाश्रयः, नासदभावत्वाश्रयः, अतो नोच्यते केनापि शब्देन मुख्यया वृत्त्या शब्दप्रवृत्ति-हेतूनां तत्रासंभवात् । तद्यथा-गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः कृष्ण इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा संबन्धतोऽर्थं प्रत्याययति शब्दः । अत्र क्रियागुणसंबन्धेभ्यो विलक्षणः सर्वोऽपि धर्मो जातिरूप उपाधिरूपो वा जातिपदेन संगृहीतः । यदृच्छाशब्दोऽपि डित्थडपित्थादिर्यं कंचिद्धर्मं स्वात्मानं वा प्रवृत्तिं निमित्तीकृत्य प्रवर्तत इति सोऽपि जातिशब्दः । एवमाकाशशब्दोऽपि तार्किकाणां शब्दाश्रयत्वादिरूपं यं कंचिद्धर्मं पुरस्कृत्य प्रवर्तते । स्वमते तु पृथिव्यादिवदाकाशव्यक्तीनां जन्यानामनेकत्वादाकाशत्वमपि जातिरेवेति सोऽपि जातिशब्दः । आकाशातिरिक्ता च दिङ्नास्त्येव । कालश्च नेश्वरादतिरिच्यते । अतिरेके वा दिक्कालशब्दा-वप्युपाधिविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकाविति जातिशब्दादेव । तस्मात्प्रवृत्तिनिमित्तचातुर्विध्याच्चतुर्विध एव

'मत्परम्' है -- यह तो अपकृष्ट व्याख्यान है, क्योंकि प्रकृत में निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपाद्य होने से वहाँ शक्तिमत्त्व अवक्तव्य है ।

32 निर्विशेषत्व को ही कहते हैं -- न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुख से प्रमाण का विषय 'सत्' शब्द से कहा जाता है[34] । निषेधमुख से प्रमाण का विषय तो 'असत्' शब्द से कहा जाता है[35] । यह तो उन सत् और असत् – दोनों से विलक्षण है, क्योंकि निर्विशेष, स्वप्रकाश और चैतन्यरूप है तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' = 'जहाँ से मनसहित वाणी उसको न पाकर लौट आती है'-- इत्यादि श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण है । क्योंकि वह ब्रह्म न सत् = भावत्व का आश्रय है और न असत् = अभावत्व का आश्रय है, अत: वह किसी शब्द से मुख्य वृत्तिद्वारा नहीं कहा जाता है, कारण कि शब्दप्रवृत्ति के हेतु जात्यादि उसमें सम्भव नहीं हैं । जैसे-- 'गौः, अश्वः'-- ये शब्द 'जाति' से; 'पचति, पठति' -- ये शब्द 'क्रिया' से; 'शुक्लः, कृष्णः' – ये शब्द 'गुण' से तथा 'धनी, गोमान्' – ये शब्द सम्बन्ध से अर्थ का ज्ञान कराते हैं । यहाँ क्रिया, गुण और सम्बन्ध से विलक्षण सभी धर्म जातिरूप अथवा उपाधिरूप[36] जाति पद से संगृहीत हैं । डित्थ, डपित्थ आदि

(ब) नीलकण्ठीव्याख्या में 'अनादिमत्परम्' को एक पद मानकर इसका अर्थ किया गया है – 'आदिमत् च ततः परं च आदिमत्परे -- कार्यकारणे ताभ्यामन्यदनादिमत्परम्' = 'आदिमत् और पर = आदिमत्पर = कार्य और कारण उनसे अन्य अनादिमत्पर' – जो उचित नहीं है, क्योंकि इसमें 'पर' पद का पूर्वनिपात हुआ है और कार्यकारणान्यत्व का 'न सत्' – इत्यादि विशेषण में अन्तर्भाव है ।

(स) कोई अन्य भी 'अनादिमत्परम्' को एक पद मानकर इसका अर्थ करते हैं – 'अनादिर्माया तद्वतो मायावच्छिन्नादनाद्यज्ञानवतो जीवात्परं निर्मायमज्ञानकृतजीवत्वोपाधिरहितम्' – जो उचित नहीं है, क्योंकि 'परम्' – इस विशेषण से ही उक्तार्थ का लाभ हो जाने से 'अनादिमत्' पद व्यर्थ हो जाता है ।

34. जैसे घट को प्रत्यक्ष से देखकर कहते हैं – 'यह घट है' ।

35. जैसे प्रत्यक्ष या अनुपलब्धि से घटाभाव को देखकर व्यवहार होता है – 'यहाँ घट नहीं है' ।

36. उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीत्युपाधिः । प्रयोजकश्चोपाधिः ।

शब्दः । तत्र 'न सत्तन्नासत्' इति जातिनिषेधः क्रियागुणसंबन्धानामपि निषेधोपलक्षणार्थः । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति जातिनिषेधस्तस्या अनेकव्यक्तिवृत्तेरेकस्मिन्नसंभवात् । 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' इति गुणक्रियासंबन्धानां क्रमेण निषेधः । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः, इति च । 'अथात आदेशो नेति नेति' इति च सर्वनिषेधः । तस्माद्ब्रह्म न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तम् । तर्हि कथं प्रवक्ष्यामीत्युक्तं कथं वा ' शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रम् । यथाकथंचिल्लक्षणया शब्देन प्रतिपादनादिति गृहाण । प्रतिपादनप्रकारश्च 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यत्र व्याख्यातः । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ 12 ॥

33 एवं निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां नासदित्यनेनापास्तायामपि

यदृच्छा शब्द भी जिस किसी धर्म को अथवा स्वस्वरूप की प्रवृत्ति को निमित्त बनाकर प्रवृत्त होते हैं, अत: वे भी जातिपरक शब्द हैं । इसीप्रकार 'आकाश' शब्द भी तार्किकों के मत में शब्दाश्रयत्वादिरूप जिस किसी धर्म को पुरस्कृत करके प्रवृत्त होता है । अपने वेदान्तमत में तो पृथिवी आदि के समान आकाशरूप व्यक्ति भी जन्य और अनेक है अतएव 'आकाशत्व' भी जाति ही है[37], इसलिए वह भी जातिपरक शब्द है । आकाश से अतिरिक्त दिक् है ही नहीं, काल भी ईश्वर से अतिरिक्त नहीं है । अथवा, ये अतिरिक्त हैं तो 'दिक्' और 'काल' – दोनों शब्द भी उपाधिविशेष के प्रवृत्तिनिमित्तक हैं, अत: वे दोनों जातिपरक शब्द ही हैं । इसलिए शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकार के होने से शब्द भी चार प्रकार के ही है[38] । उसमें 'न सत् है, न असत् है' – यह जातिनिषेध क्रिया, गुण और सम्बन्ध के भी निषेध के उपलक्षणार्थ है । 'एकमेवाद्वितीयम्' – इससे ब्रह्म में जाति का निषेध किया गया है, क्योंकि अनेक व्यक्तियों में रहनेवाली जाति एक में सम्भव नहीं हो सकती है । 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' -- इससे क्रमश: ब्रह्म में गुण, क्रिया और सम्बन्ध का निषेध किया गया है । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' और 'अथात आदेशो नेति नेति' -- इन श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म में सबका निषेध किया गया है । इसलिए 'ब्रह्म किसी शब्द से नहीं कहा जाता है' -- यह उचित ही कहा है । तब फिर 'प्रवक्ष्यामि' = 'स्पष्टरूप से कहूँगा' – यह भगवान् ने कैसे कहा है ? अथवा 'शास्त्रयोनित्वात्[39]' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) – यह वेदान्तसूत्र कैसे संगत होगा ? जिस-किसी प्रकार लक्षणाद्वारा शब्द से प्रतिपादन करके यह ग्रहण करो – समझो । प्रतिपादन का प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता, 2.29) – इत्यादि में कहा है । विस्तार तो भाष्य में द्रष्टव्य है ।। 12 ।।

33 इसप्रकार 'सत्' शब्द से ज्ञान का विषय न होने के कारण निरुपाधिक ब्रह्म के असत्त्व की आशङ्का

37. 'आत्मन आकाश: सम्भूत:' – इस श्रुति के अनुसार आकाश उत्पन्न होता है । आकाश अनेक है, अतएव 'आकाशत्व' भी जाति है, जबकि न्याय में 'आकाशत्व' जाति नहीं है, क्योंकि 'व्यक्तेरभेद:' = 'व्यक्ति का अभेद' अर्थात् व्यक्ति का एक- होनारूप दोष बाधक है, 'व्यक्त्यभेद' का लक्षण है -- 'स्वाश्रयनिष्ठ-स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदाभाव:' – यहाँ दोनों 'स्व' शब्दों से 'आकाशत्व' का ग्रहण है । आकाश अनेक नहीं है, किन्तु एक है, इसलिये आकाश में आकाश का भेद नहीं रहता । यदि यह अनेक होता तो इसमें भेद रहता, किन्तु उसमें अनेकत्व का अभाव है, इसलिए 'आकाशत्व' धर्म में स्वाश्रयनिष्ठ स्वाश्रयप्रतियोगिक भेद' का अभाव ही है ।

38. शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के हैं -- जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध, अतएव शब्द भी चार प्रकार के ही हैं – जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और सम्बन्धशब्द ।

39. 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.3) -- ब्रह्म की जगत्कारणता की सिद्धि के लिए शास्त्र योनि = प्रमाण अथवा कारण है अर्थात् शास्त्रों में ब्रह्म को ही जगत् के जन्मादि का कारण कहा गया है, अन्य प्रधानादि को कारण नहीं कहा गया है ।

विस्तरेण तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण चेतनक्षेत्रज्ञरूपतया तदस्तित्वं प्रतिपादयन्नाह –

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ 13 ॥

34 सर्वतः सर्वेषु देहेषु पाणयः पादाश्चाचेतनाः स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तनीया यस्य चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य तत्सर्वतःपाणिपादं ज्ञेयं ब्रह्म। सर्वाचेतनप्रवृत्तीनां चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वात्तस्मिन्क्षेत्रज्ञे चेतने ब्रह्मणि ज्ञेये सर्वाचेतनवर्गप्रवृत्तिहेतौ नास्ति नास्तिताशङ्केत्यर्थः । एवं सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य प्रवर्तनीयानि सन्ति तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । एवं सर्वतः श्रुतयः श्रवणेन्द्रियाणि यस्य प्रवर्तनीयत्वेन सन्ति तत्सर्वतःश्रुतिमत् । लोके सर्वप्राणिनिकाये । एकमेव नित्यं विभु च सर्वमचेतनवर्गमावृत्य स्वसत्तया स्फूर्त्या चाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन व्याप्य तिष्ठति निर्विकारमेव स्थितिं लभते, न तु स्वाध्यस्तस्य जडप्रपञ्चस्य दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि संबध्यत इत्यर्थः । यथा च सर्वेषु देहेष्वेकमेव चेतनं नित्यं विभु च न प्रतिदेहं भिन्नं तथा प्रपञ्चितं प्राक् ॥ 13 ॥

होने पर 'नासत्' = 'वह असत् नहीं है' – इस वाक्य से उसका निराकरण कर देने पर भी विस्तारपूर्वक उस आशङ्का की निवृत्ति के लिए सब प्राणियों में करणरूप उपाधि के द्वारा चेतनक्षेत्रज्ञरूप से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :--

[वह सर्वत: हाथ-पैरों को प्रेरित करनेवाला, सर्वत: नेत्र, शिर और मुख को प्रवृत्त करनेवाला तथा सर्वत: श्रोत्रों को प्रवृत्त करनेवाला ब्रह्म लोक में सम्पूर्ण अचेतनवर्ग को व्याप्त करके स्थित है ॥ 13 ॥

34 सर्वत: = सब देहों में अचेतन हाथ और पैरों को जो चेतन क्षेत्रज्ञ अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वतःपाणिपाद[40]' ज्ञेय ब्रह्म है, क्योंकि अचेतन की सब प्रवृत्तियाँ चेतन-अधिष्ठानपूर्वक होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण अचेतनवर्ग की प्रवृत्ति के हेतुभूत उस चेतन क्षेत्रज्ञ ज्ञेय ब्रह्म में नास्तिता = असत्ता की शंका नहीं होती है । इसीप्रकार सर्वतः – सब देहों में अचेतन नेत्र, शिर और मुखों को जो चेतन प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वतोक्षिशिरोमुख[41]' ज्ञेय ब्रह्म है । इसी प्रकार सर्वतः श्रोत्रों = श्रवणेन्द्रियों को जो प्रवृत्त करनेवाला है वह 'सर्वःश्रुतिमत्' है । लोक = सर्वप्राणिसमूह में वह एक, नित्य और विभु ब्रह्म ही सम्पूर्ण अचेतनवर्ग को आवृत करके = अपनी सत्तास्फूर्ति से आध्यासिक सम्बन्ध द्वारा व्याप्त करके स्थित है – निर्विकाररूप से स्थिति प्राप्त किये हुए है, न कि अपने में अध्यस्त जडप्रपञ्च के अणुमात्र भी दोष अथवा गुण से सम्बन्धित है -- यह भाव है[42] । जिस प्रकार सब देहों में एक ही नित्य और विभु चेतन विद्यमान है, प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न नहीं है, उस प्रकार को पूर्व में विस्तारपूर्वक कहा है ॥ 13 ॥

40. यहाँ 'पाणिपाद' शब्द सभी कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है ।

41. यहाँ 'अक्षि' शब्द से ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उपलक्षित हो रही है ।'शिर' शब्द अनेक देहों को सूचित करने के लिए है ।

42. जिस प्रकार अयस्कान्तमणि = चुम्बक के सान्निध्य में आकर लोहकणसमूह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार नित्य, अविकारी, उदासीन एक चैतन्य की सत्ता के सान्निध्य में आकर सभी प्राणियों के अचेतन देह और इन्द्रियादि चेतनयुक्त होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं । समस्त देह में एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही विद्यमान है । अत: वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा समस्त इन्द्रियादि का प्रवर्त्तक होने के कारण उपचार से सर्वतः उसके ही हाथ, पैर, नेत्र, शिर, मुख, श्रोत्र आदि हैं – ऐसा कहा गया है ।

35 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायमनुसृत्य सर्वप्रपञ्चाध्यारोपेणानादिमत्परं ब्रह्मेति व्याख्यातमधुना तदपवादेन न सत्तन्नासदुच्यत इति व्याख्यातुमारभते निरुपाधिस्वरूपज्ञानाय

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ 14 ॥

36 परमार्थतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं तन्मायया सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषां बहिष्करणानां श्रोत्रादीनामन्तः-करणयोश्च बुद्धिमनसोर्गुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिस्तत्तद्विषयरूपतयाऽवभासत इव सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयं ब्रह्म 'ध्यायतीव लेलायतीव' इतिश्रुतेः । अत्र ध्यानं बुद्धीन्द्रियव्यापारोपलक्षणम् । लेलायनं चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणार्थम् ।

37 तथा परमार्थतोऽसक्तं सर्वसंबन्धशून्यमेव, मायया सर्वभृच्च सदात्मना सर्वं कल्पितं धारयति पोषयतीति च सर्वभृत्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणं सत्त्वरजस्त-मोगुणरहितमेव, गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारा सुखदुःखमोहाकारेण परिणतानां भोक्तृ उपलब्धृ च तज्ज्ञेयं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ 14 ॥

---

35 'अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपञ्च परब्रह्म का प्रपञ्च-विस्तार किया जाता है' – इस न्याय का अनुसरण कर सम्पूर्ण प्रपञ्च के अध्यारोप द्वारा 'अनादिमत्परं ब्रह्म'– इसकी व्याख्या की गई है। अब उसके अपवाद द्वारा निरुपाधिक स्वरूप के ज्ञान के लिए 'न सत्तन्नसदुच्यते'– इसकी व्याख्या करना आरम्भ करते हैं :–

[वह समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रियव्यापारों के विषयरूप से भासता है तथा सर्वसम्बन्धशून्य, सबका भरण करनेवाला, निर्गुण और गुणों का भोक्ता है ॥ 14 ॥]

36 वह ब्रह्म परमार्थत: सब इन्द्रियों से रहित होने पर भी उसकी माया से सर्वेन्द्रियगुणाभास है = श्रोत्रादि बाह्येन्द्रिय तथा बुद्धि और मन अन्तरिन्द्रियों के अध्यवसाय, संकल्प, श्रवण, वचन आदि गुणों द्वारा उस-उस विषयरूप से भासित सा होता है अर्थात् वह ज्ञेय ब्रह्म सब इन्द्रियव्यापारों से व्यापारयुक्त सा है[43], जैसा कि श्रुति कहती है – 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.7) = 'वह ध्यान करता हुआ-सा है, चेष्टा करता हुआ-सा है' । यहाँ 'ध्यान' शब्द ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण है[44] और 'लेलायन = चलन' शब्द कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण कराने के लिए है[45] ।

37 इसीप्रकार वह परमार्थत: असक्त = सब सम्बन्धों से शून्य ही है, किन्तु माया से सर्वभृत् है = जो सदात्मना = सद्रूप से सब कल्पित पदार्थों को धारण करता है और उनका पोषण करता है वह

---

43. यह जो श्रुति है – अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण:' (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.19) = 'वह ईश्वर बिना पैर और हाथ के चलता और ग्रहण करता है, बिना चक्षु के देखता है और बिना कानों के सुनता है' – वह 'सब इन्द्रियरूप उपाधियों के गुणों की अनुरूपता प्राप्त करने में समर्थ ज्ञेय ब्रह्म है' – यह दिखाने के लिए है, न कि 'वह साक्षात् गमनादि क्रिया से युक्त है' -- यह कहने के लिए है । इस मन्त्र का अर्थ तो 'अन्धो मणिमविन्दत्' = 'अन्धे ने मणि प्राप्त की' – इत्यादि मन्त्र के समान अर्थवाद है ।

44. अर्थात् दर्शन, श्रवण, चिन्तन, ध्यान इत्यादि जो कुछ व्यापार ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय से सम्पादित हो रहा है वह सब आत्मा ही कर रहा है – ऐसा प्रतीत होता है ।

45. अर्थात् कर्मेन्द्रियों से जो कुछ व्यापार किया जाता है उसको भी आत्मा ही कर रहा है – ऐसा प्रतीत होता है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ 15 ॥

38 भूतानां भवनधर्मणां सर्वेषां कार्याणां कल्पितानामकल्पितमधिष्ठानमेकमेव बहिरन्तश्च रज्जुरिव स्वकल्पितानां सर्पधारादीनां सर्वात्मना व्यापकमित्यर्थः । अत एवाचरं स्थावरं चरं च जङ्गमं भूतजातं तदेवाधिष्ठानात्मकत्वात् । कल्पितानां न ततः किंचिद्व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । एवं सर्वात्मकत्वेऽपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयमिदमेवमिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एवाऽऽत्मज्ञानसाधनशून्यानां वर्षसहस्रकोट्याऽप्यप्राप्यत्वाद् दूरस्थं च योजनलक्षकोट्यन्तरितमिव तत् । ज्ञानसाधनसंपन्नानां तु अन्तिके च तदत्यव्यवहितमेवाऽऽत्मत्वात् । 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ 15 ॥

सर्वभृत् है, क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम नहीं होता है[46] । इसीप्रकार वह परमार्थतः निर्गुण = सत्त्व, रज और तमोगुण से रहित ही है तथा गुणों का भोक्ता भी है अर्थात् सुख, दुःख और मोहरूप में परिणत सत्त्व, रज और तमोगुणों के शब्दादि द्वारा भोक्ता-भोग करनेवाला और उपलब्ध करनेवाला ज्ञेय ब्रह्म है ॥ 14 ॥

[वह सब भूतों के बाहर और भीतर है अतएव वही अचर-- स्थावर और चर-जङ्गम भूत भी है । वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है तथा दूर में और समीप में भी वही स्थित है ॥ 15 ॥]

38 सब भूतों = उत्पत्तिधर्मवाले कल्पित कार्यों का अकल्पित -- परमार्थसत् अधिष्ठान एक ब्रह्म ही है अतएव वही उनके बाहर और भीतर[47] है अर्थात् उनका सर्वात्मना – सब प्रकार से व्यापक है जैसे रज्जु अपने में कल्पित सर्प, धारा आदि की सर्वात्मना = सर्वात्मभाव से व्यापक होती है । अतएव अचर = स्थावर और चर = जङ्गम भूतसमूह वही है, क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठानात्मक होता है अर्थात् कल्पित पदार्थों का उस अधिष्ठान से अतिरिक्त अपना कुछ नहीं होता है । इसप्रकार सर्वात्मक होने पर भी सूक्ष्मरूप होने के कारण = रूपादिहीन होने के कारण वह अविज्ञेय है अर्थात् 'यही है' – इसप्रकार के स्पष्ट ज्ञान के योग्य नहीं है, अतएव आत्मज्ञान के साधनों से रहित पुरुषों को हजार-करोड़ वर्षों में भी अप्राप्य होने से वह दूरस्थ है = लाख-करोड़ योजन से अन्तरित – व्यवहित-सा है । ज्ञान के साधनों से सम्पन्न पुरुषों के तो वह समीप ही है = आत्मस्वरूप होने के

46. अभिप्राय यह है कि जगत् में सब पदार्थ एक सत्-पदार्थ अर्थात् ब्रह्म की सत्ता का आश्रय कर प्रतीत होते हैं, क्योंकि सभी पदार्थ-ज्ञान के साथ सद्बुद्धि = 'यह है, यह है'–इसप्रकार की बुद्धि सर्वदा अनुगत रहती है । मृगतृष्णिका आदि कल्पित = अध्यस्त-मिथ्या होने पर भी आश्रयशून्य नहीं हैं अर्थात् किसी न किसी आश्रय या अधिष्ठान-सत्ता का अवलम्बन करके ही स्थित हैं, अधिष्ठान = सत्ता से अतिरिक्त कल्पित – अध्यस्त की सत्ता नहीं है, अतएव भ्रम कभी अधिष्ठान के बिना नहीं होता है । अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, अतः समस्त मिथ्या प्रपञ्चरूप भ्रम भी सद्ब्रह्म में कल्पित है । जगत् – प्रपञ्चरूप भ्रम उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्ता से ही सत्तावान् और प्रकाश से प्रकाशित होता है, इसीलिए ज्ञेय ब्रह्म को 'सर्वभृत्' कहा है ।

47. (अ) त्वक्पर्यन्त देह अविद्या द्वारा आत्मरूप से कल्पित होता है उस देह की अपेक्षा से उसको ही अवधि – सीमा मानकर ज्ञेय को उसके 'बहिः – बाहर' कहते हैं । इसीप्रकार प्रत्यगात्मा – अन्तरात्मा की अपेक्षा से देह को ही अवधि – सीमा मानकर ज्ञेय को उसके 'अन्तः -- भीतर' व्याप्त कहा जाता है (शाङ्करभाष्य) ।

(ब) भूतों = प्राणियों की ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत – केवल विकाररूप होने से व्यवहित होने के कारण 'बहिः' कहे जाते हैं । महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ -- ये व्यक्त प्रकृतिरूप होने से संनिहित होने के कारण 'अन्तः' कहलाते हैं (नीलकण्ठीव्याख्या) ।

39 **यदुक्तमेकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठतीति तद्विवृणोति प्रतिदेहमात्मभेदवादिनां निरासाय –**

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ 16 ॥

40 **भूतेषु सर्वप्राणिषु अविभक्तमभिन्नमेकमेव तत्, न तु प्रतिदेहं भिन्नं व्योमवत्सर्वव्यापकत्वात् । तथाऽपि देहतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्प्रतिदेहं विभक्तमिव च स्थितम् । औपाधिकत्वेनापारमार्थिको व्योम्नीव तत्र भेदावभास इत्यर्थः । ननु भवतु क्षेत्रज्ञः सर्वव्यापक एकः, ब्रह्म तु जगत्कारणं ततो भिन्नमेवेति नेत्याह भूतभर्तृ च भूतानि सर्वाणि स्थितिकाले बिभर्तीति तथा प्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलमुत्पत्तिकाले प्रभविष्णु च प्रभवनशीलं सर्वस्य । यथा रज्ज्वादिः सर्पादिर्मायाकल्पितस्य । तस्माद्यज्जगतः स्थितिलयोत्पत्तिकारणं ब्रह्म तदेव क्षेत्रज्ञं प्रतिदेहमेकं ज्ञेयं न ततोऽन्यदित्यर्थः ॥16 ॥**

कारण अव्यवहित ही है । जैसा कि 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' = 'वह दूर से भी दूर है और समीप भी है, क्योंकि ज्ञानियों के लिए तो वह यहाँ हृदय-गुहा में ही छिपा हुआ है' – इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है ॥ 15 ॥

39 जो कहा कि 'एकमेव सर्वमावृत्य तिष्ठति' = 'वह एक ही सबको आवृत-व्याप्त करके स्थित है' उसका प्रत्येक देह में आत्माओं को भिन्न माननेवाले प्रतिदेहात्मभेदवादियों के मत का निराकरण करने के लिए विवरण करते हैं :--

[वह सब प्राणियों में अविभक्त होने पर भी विभक्त-सा स्थित है । उसको सब भूतों का भर्ता – भरण करनेवाला, ग्रास-संहार करनेवाला और उत्पत्ति करनेवाला जानना चाहिए ॥ 16 ॥]

40 सब भूतों में = सब प्राणियों में वह अविभक्त = अभिन्न अर्थात् एक ही है, न कि प्रत्येक देह में भिन्न है, क्योंकि वह आकाश के समान सर्वव्यापक है[48] । तथापि देह के तादात्म्य[49] से प्रतीयमान होने के कारण प्रत्येक देह में वह विभक्त-सा स्थित है अर्थात् उसमें भेदावभास -- भेदभान औपाधिक होने के कारण अपारमार्थिक -- मिथ्या है जैसे आकाश में प्रतीयमान घटाकाश -- मठाकाशरूप आकाशभेद का भान औपाधिक होने के कारण मिथ्या है । अच्छा, क्षेत्रज्ञ सर्वव्यापक, एक है; ब्रह्म तो जगत् का कारण है अतएव उससे भिन्न ही है, तो कहते हैं -- नहीं, वह भूतभर्तृ है = वह स्थितिकाल में सब भूतों का भरण करता है तथा प्रलयकाल में सबका ग्रसिष्णु = ग्रसनशील है और उत्पत्तिकाल में सबका प्रभविष्णु = प्रभवनशील है, जैसे मायाकल्पित सर्पादि की उत्पत्ति आदि के कारण रज्जु आदि हैं । इसलिए जो ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है वही क्षेत्रज्ञ है, वह एक ही ज्ञेय प्रत्येक देह में स्थित है अर्थात् वह उससे अन्य-भिन्न नहीं है ॥ 16 ॥

---

48. वह ज्ञेय ब्रह्म अविभक्त है, प्रत्येक देह में अविभक्त = विभागशून्य है, आकाश के समान एक है । उसका भेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है और उसको भिन्नरूप मानने पर तो उसमें घट के समान अनात्मत्व होगा । श्रुति भी कहती है – 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' – इत्यादि । अतः 'आत्मा प्रत्येक देह में भिन्न है' – यह सांख्यमत श्रुति – स्मृतिविरुद्ध है और आदर्तव्य नहीं है ।

49. 'अहं गौरः, कृशः, स्थूलः' – इत्यादि प्रतीतियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं । गौरत्वादि देह के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं, तथापि देह के तादात्म्य से आत्मा में व्यपदिष्ट होते हैं । धर्मी के तादात्म्याध्यास के विना धर्म विनिमय नहीं होता है, अतः देहतादात्म्याध्यासनिबन्धन गौरत्वादि के समान उस ब्रह्म में भेद का भान होता है – यह अभिप्राय है ।

41 ननु सर्वत्र विद्यमानमपि तन्नोपलभ्यते चेत्तर्हि जडमेव स्यात्, न स्यात्स्वयंज्योतिषोऽपि तस्य रूपादिहीनत्वेनेन्द्रियाद्यग्राह्यत्वोपपत्तेरित्याह –

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ 17 ॥

42 तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिषामवभासकानामादित्यादीनां बुद्ध्यादीनां च बाह्यानामान्तराणामपि ज्योतिरवभासकं चैतन्यज्योतिषो जडज्योतिरवभासकत्वोपपत्तेः। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। वक्ष्यति च – 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि।

43 स्वयंजडत्वाभावेऽपि जडसंसृष्टं स्यादिति नेत्याह - तमसो जडवर्गात्परमविद्यातत्कार्याभ्यामपारमार्थिकाभ्यामसंस्पृष्टं पारमार्थिकं तद्ब्रह्म सदसतोः संबन्धायोगात् । उच्यते 'अक्षरात्परतः परः' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तदुक्तम् -

'निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥'

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेश्च । आदित्यवर्णमिति स्वभाने प्रकाशान्तरानपेक्षं

---

41 यदि यह शंका हो कि सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो वह जड़ ही होगा, तो इसका उत्तर है कि वह जड़ नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश होने पर भी रूपादिहीन होने के कारण उसका इन्द्रियादि से ग्रहण नहीं होता है जो उचित ही है -- यह कहते हैं:--

[वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है और तम = जडवर्ग से परे कहा जाता है । वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय और ज्ञान के साधनों द्वारा गम्य-प्राप्य तथा सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है ।। 17 ।।]

42 वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों = आदित्य आदि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर अवभासकों-प्रकाशकों का भी ज्योति = अवभासक – प्रकाशक है, क्योंकि चैतन्यज्योति का जडज्योतियों का अवभासक – प्रकाशक होना उचित ही है । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.12-9) = 'जिससे तेज से प्रदीप्त सूर्य तपता है', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.14) = 'उसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है'-- इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त, भगवान् स्वयं आगे यही 'यदादित्यगतं तेजः' (गीता, 15.12) -- इत्यादि से कहेंगे ।

43 वह स्वयं जड़ न होने पर भी जड़ से संसृष्ट-संयुक्त होगा -- इस पर कहते हैं-- नहीं, वह तम = जडवर्ग से परे है = वह पारमार्थिक – सत्य ब्रह्म अपारमार्थिक -- मिथ्या अविद्या और उसके कार्यों से असंस्पृष्ट -- असंयुक्त है, क्योंकि सत् -- वर्तमान और असत्- अवर्तमान का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । 'अक्षरात्परतः परः' = 'वह अक्षर प्रकृति से परे है और अक्षरसंज्ञक जीव से भी परे है ' -- इत्यादि श्रुतियों और ब्रह्मवादियों के द्वारा भी यही कहा गया है । कहा भी है --

''निसङ्ग और कूटस्थ आत्मा का सङ्गयुक्त और विकारी अनात्मा के साथ योग = सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है'' ।

''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' = 'वह परब्रह्म आदित्य-सूर्य के समान प्रकाशवाला और अज्ञान से परे है' -- यह श्रुति भी यही कहती है । यहाँ 'आदित्यवर्णम्' का अर्थ है -- जो अपने भान-प्रकाशन में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है अर्थात् सबका प्रकाशक है वह आदित्य-सूर्य है, सूर्य के समान वह ब्रह्म है अर्थात् वह ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश और सर्वप्रकाशक है ।

सर्वस्य प्रकाशकमित्यर्थः ।

44 यस्मात्तत्स्वयंज्योतिर्जडासंस्पृष्टमत एव तज्ज्ञानं प्रमाणजन्यचेतोवृत्त्यभिव्यक्तसंविद्रूपम् । अत एव तदेव ज्ञेयं ज्ञातुमर्हमज्ञातत्वाज्जडस्याज्ञातत्वाभावेन ज्ञातुमनर्हत्वात् । कथं तर्हि सर्वैर्न ज्ञायते तत्राऽऽह--ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादिना तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तेन साधनकलापेन ज्ञानहेतुतया ज्ञानशब्दितेन गम्यं प्राप्यं न तु तद्विनेत्यर्थः । ननु साधनेन गम्यं चेत्तत्किं देशान्तरव्यवहितं नेत्याह--हृदि सर्वस्य विष्ठितं सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि बुद्धौ विष्ठितं सर्वत्र सामान्येन स्थितमपि विशेषरूपेण तत्र स्थितमभिव्यक्तं जीवरूपेणान्तर्यामिरूपेण च, सौरं तेज इवाऽऽदर्शसूर्यकान्तादौ । अव्यवहितमेव वस्तुतो भ्रान्त्या व्यवहितमिव सर्वभ्रमकारणाज्ञाननिवृत्त्या प्राप्यत इवेत्यर्थः ॥ 17 ॥

45 उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिणं फलं च वदन्नुपसंहरति --

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ 18 ॥

46 इति अनेन पूर्वोक्तेन प्रकारेण क्षेत्रं महाभूतादिधृत्यन्तं तथा ज्ञानममानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं ज्ञेयं चानादिमत्परं ब्रह्म विष्ठितमित्यन्तं श्रुतिभ्यः स्मृतिभ्यश्चाऽऽकृष्य त्रयमपि मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय

44 क्योंकि वह ब्रह्म स्वयंज्योति = स्वयंप्रकाश और जडवर्ग से असंस्पृष्ट = असम्बद्ध है, इसलिए वह ज्ञान = प्रमाणजन्य चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त संवित्स्वरूप है । अतएव वही ज्ञेय है = जानने के योग्य है, क्योंकि वह अज्ञात है; जड़ जानने के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें अज्ञातत्व का अभाव है । यदि ब्रह्म ज्ञेय है तो वह सबको ज्ञात क्यों नहीं होता है ? इस पर कहते हैं-- वह ज्ञानगम्य है = पूर्वोक्त ज्ञान के हेतु होने के कारण 'ज्ञान'-- शब्दित अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त साधनकलाप से गम्य- प्राप्य है, न कि उनके बिना गम्य है-- यह अर्थ है । यदि वह ब्रह्म साधन से गम्य-प्राप्य है तो क्या वह देशान्तर से व्यवहित है ? इस पर कहते है-- नहीं, वह सबके हृदय में विशेषरूप से स्थित है = समस्त प्राणिसमूह के हृदय में- बुद्धि में विष्ठित[50] है-- सर्वत्र सामान्यरूप से स्थित होने पर भी वहाँ विशेषरूप से स्थित है-- जीवरूप से और अन्तर्यामीरूप से अभिव्यक्त है, जैसे सूर्य का तेज सर्वव्यापक होने पर भी दर्पण, सूर्यकान्तामणि आदि में विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है । वस्तुतः अव्यवहित ही वह भ्रान्ति से व्यवहित-सा प्रतीत होता है, सब भ्रमों के कारण अज्ञान की निवृत्ति से वह प्राप्त-सा हो जाता है-- यह अर्थ है ॥ 17 ॥

45 क्षेत्रादि को कह दिया, अब अधिकारी और फल को कहते हुए उपसंहार करते हैं :--
[इसप्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप में कहा गया, मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भावरूप मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है ॥ 18 ॥]

46 इति - इसप्रकार = इस पूर्वोक्त प्रकार से महाभूतों से लेकर धृतिपर्यन्त 'क्षेत्र', अमानित्व से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त 'ज्ञान' और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्[51]' पर्यन्त 'ज्ञेय' -- इन

50. नीलकण्ठीव्याख्या और श्रीधरीव्याख्या में 'विष्ठितम्' के स्थान पर 'धिष्ठितम्' -- पाठ भी प्राप्त होता है, वह भाष्यकार आदि के द्वारा स्वीकार नहीं किये जाने के कारण अपपाठ ही है ।

51. श्रीधरस्वामी और मधुसूदनसरस्वती ने 'ज्ञेय सम्बन्धी ग्रन्थ को 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्' पर्यन्त ग्रहण किया है, जबकि भाष्यकार ने 'ज्ञेयं यत्तद्' से लेकर 'तमसः परमुच्यते' पर्यन्त ग्रहण किया है, अतएव भाष्योत्कर्षदीपिकाकार धनपति ने कहा है कि आदि के ग्रन्थ में अनापत्ति होते हुए भी अन्तिम ग्रन्थ 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'-- में आपत्ति है अतएव आदर्तव्य नहीं है, कारण कि ज्ञानादि से ज्ञेयप्रवचनपरता होने पर विरसता होगी ।

मया संक्षेपेणोक्तम् । एतावानेव हि सर्वो वेदार्थो गीतार्थश्च । अस्मिंश्च पूर्वाध्यायोक्तलक्षणो मद्भक्त एवाधिकारीत्याह—मद्भक्तो मयि भगवति वासुदेवे परमगुरौ समर्पितसर्वात्मभावो मदेकशरणः स एतद्यथोक्तं क्षेत्रं ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञाय विवेकेन विदित्वा मद्भावाय सर्वानर्थशून्यपरमानन्दभावाय मोक्षायोपपद्यते मोक्षं प्राप्तुं योग्यो भवति ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

तस्मात्सर्वदा मदेकशरणः सन्नात्मज्ञानसाधनान्येव परमपुरुषार्थलिप्सुरनुवर्तेत तुच्छविषयभोगस्पृहां हित्वेत्यभिप्रायः ॥ 18 ॥

47 **तदनेन ग्रन्थेन तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेत्येतद्व्याख्यातमिदानीं 'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च' इत्येतावद्व्याख्यातव्यम् । तत्र प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन यद्विकारि यतश्च यदिति प्रकृतिमित्यादिद्वाभ्यां प्रपञ्च्यते । स च यो यत्प्रभावश्चेति तु पुरुष इत्यादिद्वाभ्यामिति विवेकः । तत्र सप्तम ईश्वरस्य द्वे प्रकृती परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे उपन्यस्यैतद्योनीनि भूतानीत्युक्तम्, तत्रापरा प्रकृतिः क्षेत्रलक्षणा परा तु जीवलक्षणेति तयोरनादित्वमुक्त्वा तदुभययोनित्वं भूतानामुच्यते –**

तीनों को मैंने मन्दबुद्धि पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए श्रुतियों और स्मृतियों से ग्रहण करके संक्षेप में कहा है । इतना ही सम्पूर्ण वेदार्थ और गीतार्थ है । इसमें पूर्वअध्यायोक्त लक्षणवाला मेरा भक्त ही अधिकारी है – यह कहते हैं :– मेरा भक्त = मुझ परम गुरु भगवान् वासुदेव में जिसने अपने सर्वात्मभाव को समर्पित कर दिया है अर्थात् जो एकमात्र मेरी ही शरण है वह मेरा भक्त इस यथोक्त-पूर्वोक्त क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को विज्ञाय – जानकर = विवेकपूर्वक जानकर मद्भाव – मेरे भाव = सब अनर्थों-दु:खों से रहित परमानन्दभाव अर्थात् मोक्ष के लिए उपपन्न होता है = मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होता है । जैसा कि श्रुति कहती है –
"जिसकी देव में परा – उत्कृष्ट भक्ति है और जैसी भक्ति देव में है वैसी ही भक्ति गुरु में है उस महात्मा को ही ये कथित अर्थ प्रकाशित होते हैं" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.23) ।
इसलिए सर्वदा मदेकशरण होकर परमपुरुषार्थ -- मोक्षलाभ की इच्छावाले पुरुष को तुच्छ विषयभोगों की इच्छा छोड़कर आत्मज्ञान के साधनों का ही अनुवर्तन करना चाहिए -- यह अभिप्राय है ॥ 18 ॥

47 इसप्रकार इस ग्रन्थ से 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' = 'वह क्षेत्र जो है और जैसा है' – इसकी व्याख्या की गयी है, अब 'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च' = 'जो विकारी है और जिससे जो होता है तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है' -- इसकी व्याख्या करनी है । उसमें 'प्रकृति और पुरुष – ये दोनों संसार के हेतु हैं' -- इस कथन द्वारा 'यद्विकारि यतश्च यत्' -- यह 'प्रकृतिम्' - इत्यादि दो श्लोकों से विस्तारपूर्वक कहते हैं । 'स च यो यत्प्रभावश्च' – यह तो 'पुरुष:' इत्यादि दो श्लोकों से कहेंगे -- यह विवेक है । उसमें भी सप्तम अध्याय में ईश्वर की परा और अपरा भेद से दो प्रकृतियाँ हैं जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप हैं उनका उपन्यास कर 'एतद्योनीनि भूतानि' (गीता, 7.6) = 'ये ही समस्त भूतों की योनि हैं' -- यह कहा गया है; उनमें 'अपरा प्रकृति क्षेत्ररूपा और परा प्रकृति जीव-क्षेत्रज्ञरूपा है' -- इस प्रकार उन दोनों के अनादित्व को कहकर भूतों की ये दोनों योनियाँ है -- यह कहते हैं :--

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ 19 ॥

48 **प्रकृतिर्मायाख्या त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः क्षेत्रलक्षणा या प्रागपरा प्रकृतिरित्युक्ता । या तु परा प्रकृतिर्जीवाख्या प्रागुक्ता स इह पुरुष इत्युक्त इति न पूर्वापरविरोधः । प्रकृतिं पुरुषं चोभावपि अनादी एव विद्धि, न विद्यत आदिः कारणं ययोस्तौ । तथा प्रकृतेरनादित्वं सर्वजगत्कारणत्वात् । तस्या अपि कारणसापेक्षत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । पुरुषस्यानादित्वं तद्धर्माधर्मप्रयुक्तत्वात्कृत्स्नस्य जगतः, जातस्य हर्षशोकभयसंप्रतिपत्तेः । अन्यथा कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । यतः प्रकृतिरनादिरतस्तस्या भूतयोनित्वमुक्तं प्रागुपपद्यत इत्याह--विकारांश्च षोडश पञ्च महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि च गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्सुखदुःखमोहान्प्रकृतिसंभवानेव प्रकृतिकारणकानेव विद्धि जानीहि ॥ 19 ॥**

49 **विकाराणां प्रकृतिसंभवत्वं विवेचयन्पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति--**

[प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को ही तुम अनादि जानो तथा विकारों और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो ॥ 19 ॥]

48 प्रकृति माया नाम की परमेश्वर की त्रिगुणात्मिका शक्ति है, यह क्षेत्ररूपा है जो पहले अपरा प्रकृति कही गई है । जो तो जीव नाम की परा प्रकृति है जिसको पहले कहा गया है वह यहाँ 'पुरुष' कही गई है -- इस प्रकार पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है । प्रकृति और पुरुष -- इन दोनों को भी[52] तुम अनादि ही जानो, नहीं है आदि – कारण जिन दोनों का वे दोनों अनादि हैं[53] । सम्पूर्ण जगत् का कारण होने से प्रकृति का अनादित्व है, क्योंकि उसको भी कारणसापेक्ष मानने पर तो अनवस्था का प्रसंग होगा । पुरुष का अनादित्व उसके धर्म और अधर्म से ही सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति होने के कारण है, क्योंकि इन्हीं से उत्पन्न होनेवाले जीव को हर्ष, शोक और भय की प्राप्ति होती है, अन्यथा कृतहानि और अकृताभ्यागम का प्रसंग उपस्थित होगा । क्योंकि प्रकृति अनादि है, अतः उसको जो पहले भूतों की योनि -- कारण कहा गया है वह उचित ही है -- यह कहते हैं :-- विकारों = पञ्च महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ -- इन सोलह विकारों को और गुणों = सत्त्व, रज और तमोरूप सुख, दुःख और मोह को प्रकृतिसंभव = प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो अर्थात् प्रकृति ही इनका कारण है -- यह जानो ॥ 19 ॥

49 'विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं' -- इसका विवेचन करते हुए पुरुष के संसारहेतुत्व = संसारकारणत्व को दिखलाते हैं :--

---

52. श्लोकस्थ 'उभावपि' – शब्द यह दृढ़तापूर्वक कहने के लिए है कि प्रकृति और पुरुष – दोनों में ही अनादित्व है, किसी प्रक में भी सादित्व नहीं है ।

53. कोई अन्य श्लोकस्थ 'अनादी' पद का 'न आदी' = 'कारण नहीं है' – इसप्रकार तत्पुरुष समास करते हैं, क्योंकि उससे ईश्वर का जगत्कारणत्व सिद्ध होता है । उनके अनुसार यदि प्रकृति और पुरुष को नित्य माना जाय तो जगत् उन्हीं के द्वारा स्रष्ट माना जायेगा और जगत्सृष्टि व्यापार में ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा । इसप्रकार उक्त व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार प्रकृति और पुरुष के अनादि = न आदि = कारण नहीं होने पर वह ईश्वर कार्य होगा और प्रकृति और पुरुष की उत्पत्ति से पूर्व ईशितव्य का अभाव होने के कारण ईश्वर के अनीश्वरत्व का प्रसंग होगा, संसार बिना निमित्त के उत्पन्न होने पर उसके अन्त के अभाव का प्रसंग होगा, शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग होगा और बन्ध-मोक्ष के अभाव का प्रसंग होगा । अतः 'अनादी' शब्द में नञ् तत्पुरुष समास न करके बहुव्रीहि समास करना ही युक्तियुक्त है ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ 20 ॥

50 **कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि तत्स्थानि त्रयोदश देहारम्भकाणि भूतानि विषयाश्चेह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते । गुणाश्च सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते । तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे हेतुः कारणं प्रकृतिरुच्यते महर्षिभिः । कार्यकारणेति दीर्घपाठेऽपि स एवार्थः । एवं प्रकृतेः संसारकारणत्वं व्याख्याय पुरुषस्यापि यादृशं तत्तदाह—पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा प्रकृतिरिति प्राग्व्याख्यातः । स सुखदुःखानां सुखदुःखमोहानां भोग्यानां सर्वेषामपि भोक्तृत्वे वृत्त्युपरक्तोपलम्भे हेतुरुच्यते ॥ 20 ॥**

51 **यत्पुरुषस्य सुखदुःखभोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य किं निमित्तमित्युच्यते –**

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ 21 ॥

52 **प्रकृतिर्माया तां मिथ्यैव तादात्म्येनोपगतः प्रकृतिस्थो हि एव पुरुषो भुङ्क्ते उपलभते प्रकृतिजान्गुणान् । अतः प्रकृतिजगुणोपलम्भहेतुषु सदसद्योनिजन्मसु सद्योनयो देवाद्यास्तेषु हि सात्त्विकमिष्टं**

[कार्य और करणों के कर्तृत्व में हेतु – कारण 'प्रकृति' कही जाती है तथा सुख और दु:खों के भोक्तृत्व में हेतु 'पुरुष' कहा जाता है ॥ 20 ॥]

50 'कार्य' शरीर है और 'करण' उस शरीर में स्थित तेरह इन्द्रियाँ हैं । देह के आरम्भक भूत और विषयों का ग्रहण यहाँ 'कार्य' के ग्रहण से होता है तथा सुख, दु:ख और मोहरूप गुण करणों के आश्रित होने के कारण 'करण' के ग्रहण से ग्रहण किये जाते हैं । उन कार्य और करणों के कर्तृत्व = तदाकार परिणाम में हेतु = कारण महर्षियों ने 'प्रकृति' को कहा है । यहाँ 'कार्यकारण[54]' – इसप्रकार दीर्घ पाठ होने पर भी वही अर्थ होगा । इसप्रकार प्रकृति के संसारकारणत्व की व्याख्या कर जिसप्रकार पुरुष का भी संसारकारणत्व है उसको कहते हैं :-- पुरुष क्षेत्रज्ञ है, परा प्रकृति है-- यह पहले कह चुके हैं । वह सुख और दु:खों के = सुख, दु:ख और मोह -- इन सभी भोग्यों के भोक्तृत्व में अर्थात् वृत्त्युपरक्तोपलम्भ[55] में हेतु कहा जाता है ॥ 20 ॥

51 जो पुरुष का सुखदु:खभोक्तृत्व और संसारित्व कहा गया है उसका क्या निमित्त-कारण है -- यह कहते हैं :--

[पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है । यह गुणों का सङ्ग ही इसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है ॥ 21 ॥]

52 प्रकृति माया है उसको मिथ्या ही तादात्म्य=तादात्म्याध्यास से प्राप्त हुआ प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति में

54. सांख्य-मत के अनुसार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन (अन्त:करण) और पृथिवी, जलादि पाँच स्थूल भूत -- ये सोलह विकार को 'कार्य' कहा जाता है तथा पाँच तन्मात्राएँ, अहंकार और बुद्धि (महत्) – ये सात प्रकृति और विकृति 'कारण' हैं । इसप्रकार ये तेईस तत्त्व 'कार्य-कारण' कहे जाते हैं – इन कार्य-कारणों के कर्तृत्व में हेतु-कारण 'प्रकृति' कही जाती है ।

55. पुरुष = आत्मा – क्षेत्रज्ञ यद्यपि भोक्ता नहीं है, तथापि 'अहं भोक्ता' – इत्याकारक जो मनोवृत्ति होती है उससे उपरक्त – रूपित उपलम्भ -- प्रत्यक्ष में हेतु-कारण 'पुरुष' को कहा गया है ।

फलं भुज्यते । असद्योनयः पश्वाद्यास्तेषु हि तामसमनिष्टं फलं भुज्यते । सदसद्योनयो धर्माधर्ममिश्रत्वाद् ब्राह्मणाद्या मनुष्यास्तेषु हि राजसं मिश्रं फलं भुज्यते । अतस्तत्रास्य पुरुषस्य गुणसङ्गः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रकृतितादात्म्याभिमान एव कारणम् । न त्वसङ्गस्य तस्य स्वतः संसार इत्यर्थः । अथवा गुणसङ्गो गुणेषु शब्दादिषु सुखदुःखमोहात्मकेषु सङ्गोऽभिलाषः काम इति यावत् । स एवास्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति श्रुतेः । अस्मिन्नपि पक्षे मूलकारणत्वेन प्रकृतितादात्म्याभिमानो द्रष्टव्यः ॥ 21 ॥

53 **तदेवं प्रकृतिमिथ्यातादात्म्यात्पुरुषस्य संसारो न स्वरूपेणेत्युक्तं, कीदृशं पुनस्तस्य स्वरूपं यत्र न संभवति संसार इत्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपं साक्षान्निर्दिशन्नाह –**

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ 22 ॥

स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है – उनको प्राप्त करता है[56] । अत: प्रकृतिजनित गुणों की उपलब्धि का हेतु सदसत् योनियों में जन्म लेना है । देवादि सद्योनियाँ हैं, उनमें वह सात्त्विक – सत्त्वगुणोत्पन्न इष्ट फल का भोग करता है । पशु आदि असद्योनियाँ हैं, उनमें वह तामस = तमोगुणोत्पन्न अनिष्ट फल का भोग करता है । तथा धर्माधर्म से मिश्रित होने के कारण ब्राह्मणादि मनुष्य सदसद् योनियाँ है, उसमें वह राजस -- रजोगुणोत्पन्न मिश्र फल को भोगता है । अत: उसमें = संसारप्राप्ति में अस्य[57] = इस पुरुष का गुणसङ्ग[58] = सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृति से तादात्म्याभिमान ही कारण है, न कि असङ्ग उस पुरुष को स्वत: संसार की प्राप्ति होती है -- यह अर्थ है । अथवा, गुणसङ्ग = गुणों में अर्थात् सुख-दु:ख-मोहात्मक शब्दादि विषयों में जो सङ्ग = अभिलाषा अर्थात् काम है वह इस पुरुष के सद्-असद् योनियों में जन्म लेने का कारण है । जैसा कि श्रुति कहती है -- 'वह जैसी कामनावाला होता है वैसी देवाराधना करता है, जैसी देवताराधना करता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.5)' । इस पक्ष में भी मूलकारण प्रकृतितादात्म्याभिमान ही समझना चाहिए ॥ 21 ॥

53 इस प्रकार 'प्रकृति के मिथ्या तादात्म्य से ही पुरुष को संसार प्राप्त होता है, स्वरूप से नहीं'-- यह कहा । पुन: उसका स्वरूप कैसा है जिसमें संसार का होना संभव नहीं है ? -- ऐसी आकांक्षा होने पर उसके स्वरूप का साक्षात् निर्देश करते हुए कहते हैं :--

[इस देह में रहनेवाला पुरुष पर = प्रकृति के गुणों से असंसृष्ट ही है; वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा -- इन शब्दों से कहा जाता है ॥ 22 ॥]

56. प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख, दु:ख और मोहरूप से अभिव्यक्त गुणों का 'मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, मूढ़ हूँ, पण्डित हूँ' – इसप्रकार मानता हुआ भोग करता है ।

57. अथवा, 'अस्य' शब्द का अर्थ 'संसारस्य' भी हो सकता है अर्थात् यहाँ 'संसार' पद का अध्याहार करके यह अर्थ करना चाहिए – सदसत् योनियों में जन्म लेकर जो संसार की प्राप्ति होती है उस संसार का कारण गुणसङ्ग है ।

58. अविद्यैक्याध्यास के कारण सुख-दु:ख-मोहात्मक गुणों को भोगते हुए उनमें जो आत्मभावरूप सङ्ग अर्थात् 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' -- इसप्रकार आसक्ति होती है वह 'गुणसङ्ग' है ।

54 अस्मिन्प्रकृतिपरिणामे देहे जीवरूपेण वर्तमानोऽपि पुरुषः परः प्रकृतिगुणासंसृष्टः परमार्थतोऽसंसारी स्वेन रूपेणेत्यर्थः। यत उपद्रष्टा यथर्त्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृतो यज्ञविद्याकुशलत्वादृत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता तद्वत्कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो द्रष्टा न तु कर्ता पुरुषः 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः।

55 अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मसु द्रष्टृषु मध्ये बाह्यान्देहादीनपेक्ष्यात्यव्यवहितो द्रष्टाऽऽत्मा पुरुष उपद्रष्टा। उपशब्दस्य सामीप्यार्थत्वात्तस्य चाव्यवधानरूपस्य प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानात्। अनुमन्ता च कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव संनिधिमात्रेण तदनुकूलत्वादनुमन्ता। अथवा स्वव्यापारेषु प्रवृत्तान्देहेन्द्रियादीन्न निवारयति कदाचिदपि तत्साक्षिभूतः पुरुष इत्यनुमन्ता, 'साक्षी चेता' इति श्रुतेः। भर्ता देहन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्याभासविशिष्टानां स्वसत्तया स्फुरणेन

---

54 इस = प्रकृति के परिणामस्वरूप देह में जीवस्वरूप से वर्तमान भी पुरुष पर अर्थात् प्रकृति के गुणों से असंसृष्ट - असंस्पृष्ट - असम्बद्ध है = वस्तुतः अपने स्वरूप से असंसारी है, क्योंकि वह उपद्रष्टा है। जैसे ऋत्विज्[59] और यजमान[60] के यज्ञकर्मों में व्यापृत -- संलग्न रहते समय उनके समीप में स्थिति एक अन्य याजक[61]- ब्रह्मा स्वयं यागव्यापारशून्य भी यज्ञविद्या में कुशल होने के कारण ऋत्विज् और यजमान के व्यापार के गुण-दोषों का साक्षी रहता है वैसे ही कार्य = शरीर और करण= इन्द्रियों के व्यापारों में स्वयं व्यापाररहित भी उनसे विलक्षण पुरुष उनके समीप रहकर उन शरीर और इन्द्रियों के व्यापारों का दृष्टा – साक्षी रहता है, न कि उनका कर्ता होता है। ऐसा श्रुति भी कहती है - 'वह वहाँ जो कुछ देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' – इत्यादि।

55 अथवा, देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा - जीवरूप दृष्टाओं के मध्य में बाह्य देहादि की अपेक्षा अत्यन्त अव्यवहित – व्यवधानशून्य द्रष्टात्मा पुरुष उपद्रष्टा है[62]। 'उप' शब्द का 'सामीप्य' अर्थ है, अतः अव्यवधानरूप उस सामीप्य का प्रत्यगात्मा में ही पर्यवसान होता है। वह अनुमन्ता [63] है अर्थात् कार्य - शरीर और करण - इन्द्रियों की प्रवृत्तियों में स्वयं अप्रवृत्त भी सन्निधिमात्र से प्रवृत्त के समान उनके अनुकूल होने के कारण अनुमन्ता है। अथवा, अपने व्यापारों में प्रवृत्त हुए देह, इन्द्रियादि को उनका साक्षिभूत पुरुष कदापि - कभी रोकता नहीं है - इस प्रकार अनुमन्ता है, श्रुति भी कहती है - 'साक्षी चेता' (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.11) = वह साक्षी और चेता है'। भर्ता है =

---

59. जो ऋतुकालयाजी होता है अर्थात् ऋतु में यज्ञ करता है वह याज्ञिक – पुरोहित 'ऋत्विक्' कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा है :–

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ (मनुस्मृति 2.143)

'जो ब्राह्मण जिसकी ओर से वरण लेकर अग्न्याधान = अग्नि की स्थापना, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है वह उसका 'ऋत्विक्' कहा जाता है'

60. कोई भी व्यक्ति, जो स्वयं यज्ञ करता है, यज्ञ का व्ययभार वहन करता है अथवा ऋत्विक् या पुरोहित की दक्षिणा चुकाता है, 'यजमान' कहलाता है।

61. याजक ऋत्विक् का पर्याय है। ऋग्वेद के अनुसार इसको 'ब्रह्मा' कहा गया है।

62. जिससे पर अन्य कोई अन्तरतम दृष्ट नहीं हो सकता है वह अतिशय समीप रहकर द्रष्टा-देखनेवाला होने के कारण 'उपद्रष्ट' है। अथवा, यज्ञ के उपद्रष्ट के समान सबका अनुभव करनेवाला होने से आत्मा 'उपद्रष्ट' है।

63. अन्तःकरण और इन्द्रियादि का परितोष के साथ अनुमोदन – अनुमनन करनेवाला 'अनुमन्ता' है।

च धारयिता पोषयिता च । भोक्ता बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकान्प्रत्ययान्स्वरूपचैतन्येन प्रकाशयतीति निर्विकार एवोपलब्धा । महेश्वरः सर्वात्मत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च महानीश्वरश्चेति महेश्वरः । परमात्मा देहादिबुद्‌ध्यान्तानामविद्ययाऽऽत्मत्वेन कल्पितानां परमः प्रकृष्ट उपद्रष्टृत्वादिपूर्वोक्तविशेषण-विशिष्ट आत्मा परमात्मा इति अनेन शब्देनापि उक्तः कथितः श्रुतौ । चकारादुपद्रष्टेत्यादिशब्दैरपि स एव पुरुषः परः । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इत्यग्रेऽपि वक्ष्यते ॥ 22 ॥

56 **तदेवं स च यो यत्प्रभावश्चेति व्याख्यातमिदानीं यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत इत्युक्तमुपसंहरति –**

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ 23 ॥

57 **य एवमुक्तेन प्रकारेण वेत्ति पुरुषमयमहमस्मीति साक्षात्करोति प्रकृतिं चाविद्यां गुणैः स्वविकारैः सह मिथ्याभूतामात्मविद्यया बाधितां वेत्ति निवृत्ते ममाज्ञानतत्कार्ये इति, स सर्वथा प्रारब्धकर्मवशादिन्द्रवद्विधिमतिक्रम्य वर्तमानोऽपि भूयो न जायते पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे पुनर्देहग्रहणं न करोति । अविद्यायां विद्यया नाशितायां तत्कार्यासंभवस्य बहुधोक्तत्वात् 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति न्यायात् । अपिशब्दाद्विधिमनतिक्रम्य वर्तमानः स्ववृत्तस्थो भूयो न जायत इति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 23 ॥**

चैतन्याभासविशिष्ट चैतन्यप्रतिविशिष्ट चित्तप्रतिफलितचैतन्यविशिष्ट और संहत देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपनी सत्ता और स्फूर्ति से धारणकरनेवाला और पोषण करनेवाला है । भोक्ता है = बुद्धि के सुख-दुःख--मोहात्मक प्रत्ययों - ज्ञानों को अपने स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित करता है - इस प्रकार निर्विकार ही उनको उपलब्ध करनेवाला है । महेश्वर है = सर्वात्मा और स्वतन्त्र होने के कारण महान् है और ईश्वर है - इस प्रकार महेश्वर है । परमात्मा है = अविद्या के कारण आत्मरूप से कल्पित देह से लेकर बुद्धिपर्यन्त सबका परम - प्रकृष्ट = उपद्रष्टृत्वादि पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट आत्मा है, इसलिए 'परमात्मा' - इस शब्द से भी श्रुति में भी कहा गया है । 'चकार' से उपद्रष्टा इत्यादि शब्दों से भी वही पुरुष पर कहा गया है । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता, 15.17) - इत्यादि से आगे भी यही कहेंगे ॥ 22 ॥

56 इस प्रकार 'स च यो यत्प्रभावश्च' = 'वह क्षेत्रज्ञ जो है और जिस प्रभाववाला है' – इसकी व्याख्या हो गई । इस समय 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' = 'जिसको जानकर पुरुष अमृतत्व को प्राप्त होता है' – यह जो कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं :–

[जो मनुष्य इसप्रकार गुणों सहित पुरुष और प्रकृति को जानता है वह सर्वथा – सब प्रकार से वर्तमान – वर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता है ॥ 23 ॥]

57 जो इसप्रकार = उक्त प्रकार से पुरुष को जानता है = 'यह मैं हूँ' -- इसप्रकार उसका साक्षात्कार करता है तथा प्रकृति अर्थात् अविद्या को; जो गुणों = अपने विकारों सहित मिथ्याभूत है, 'मेरा अज्ञान और उसका कार्य -- ये दोनों निवृत्त हो गये' -- इसप्रकार की आत्मविद्या से बाधित है; जानता है वह सर्वथा -- सब प्रकार अर्थात् प्रारब्धकर्मवश इन्द्र के समान विधि का अतिक्रमण --

58 अत्राऽऽत्मदर्शने साधनविकल्पा इमे कथ्यन्ते -

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन(ण) चापरे ॥ 24 ॥

59 इह हि चतुर्विधा जनाः केचिदुत्तमाः केचिन्मध्यमाः केचिन्मन्दाः केचिन्मन्दतरा इति । तत्रोत्तमानामात्मज्ञानसाधनमाह - ध्यानेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननफलभूतेनाऽऽत्मचिन्तनेन निदिध्यासनशब्दोदितेनाऽऽत्मनि बुद्धौ पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति आत्मानं प्रत्यक्चेतनमात्मना ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन केचिदुत्तमा योगिनः । मध्यमानामात्मज्ञानसाधनमाह - अन्ये मध्यमाः सांख्येन योगेन निदिध्यासनपूर्वभाविना श्रवणमननरूपेण नित्यानित्यविवेकादिपूर्वकेणेमे गुणत्रयपरिणामा अनात्मानः सर्वे मिथ्याभूतास्तत्साक्षिभूतो नित्यो विभुर्निर्विकारः सत्यः समस्तजडसंबन्धशून्य आत्माऽहमित्येवं वेदान्तवाक्यविचारजन्येन चिन्तनेन, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते । ध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ।

उल्लंघन करके वर्तमान रहते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता है = इस विद्वद्शरीर का पतन होने पर पुनः देहग्रहण नहीं करता है, क्योंकि विद्या – ज्ञान से अविद्या को नष्ट कर दिये जाने पर उसके कार्य का असम्भव हो जाना बहुत प्रकार से कहा गया है । इसमें 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'उस ब्रह्म का अधिगम – अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है, क्योंकि उसके व्यपदेश-कथन से यह समझा जाता है' – यह ब्रह्मसूत्र न्याय भी है । 'अपि' शब्द से यह अभिप्राय है कि विधि का उल्लंघन न करके वर्तमान अपने वृत्त – आचरण में स्थित फिर जन्म नहीं लेता है – इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ 23 ॥

58 यहाँ आत्मदर्शन में ये साधनों के विकल्प कहे जाते हैं :–
[कोई जन ध्यान द्वारा अन्तःकरण से अपनी बुद्धि में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, अन्य कोई सांख्यरूप योग से और कोई अन्य कर्मयोग से उसका साक्षात्कार करते हैं ॥ 24 ॥]

59 इस लोक में चार प्रकार के मनुष्य हैं – कोई उत्तम हैं, कोई मध्यम हैं, कोई मन्द हैं और कोई मन्दतर हैं । उनमें उत्तमों के आत्मज्ञान के साधन को कहते हैं – कोई उत्तम योगी ध्यान[64] से = विजातीय प्रत्यय से रहित सजातीय प्रत्यय के प्रवाह से अर्थात् श्रवण और मनन के फलभूत 'निदिध्यासन' शब्द से उदित - कथित आत्मचिन्तन द्वारा आत्मा से = ध्यान-संस्कृत अन्तःकरण से आत्मा में[65] = बुद्धि में आत्मा को = प्रत्यक्चेतन को देखते हैं – उसका साक्षात्कार करते हैं । मध्यमों के आत्मज्ञान के साधन को कहते हैं – अन्य मध्यम सांख्यरूप योग से = नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपूर्वक निदिध्यासन से पूर्वभावी-पूर्ववर्ती श्रवण और मननरूप 'ये तीनों गुणों

---

64. शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों का मन में उपसंहार करके और मन का प्रत्यक्- चेतनस्वरूप आत्मा में निरोध करके जो एकाग्रभाव से चिन्तन होता रहता है उसको 'ध्यान' कहते हैं । तथा 'ध्यायतीव बको ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वताः' (छान्दोग्योपनिषद् 7.6.1) = 'जैसे बक – बगुला ध्यान करता है, जैसे पृथिवी ध्यान करती है, जैसे पर्वत ध्यान करते हैं' – इस श्रुति में दी गयी उपमाओं के ग्रहण से किसी विषय का अवलम्बन कर तैलधारा के समान अविच्छिन्न भाव से प्रवाहित प्रत्यय-ज्ञान का प्रवाह 'ध्यान' विवक्षित होता है ।

65. श्रीधरस्वामी ने 'आत्मनि = देहे' – अर्थ किया है जो कि प्रकृत प्रसंगानुकूल अर्थ की अपेक्षा से सामञ्जस्य के लिए चिन्त्य है ।

60 मन्दानां ज्ञानसाधनमाह--कर्मयोगेनेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणेन फलाभिसंधिरहितेन तत्तद्वर्णाश्रमोचितेन वेदविहितेन कर्मकलापेन चापरे मन्दाः, पश्यन्त्यात्मानमात्मनीति वर्तते । सत्त्वशुद्ध्या श्रवणमननध्यानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥24॥

61 मन्दतराणां ज्ञानसाधनमाह –

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चा[66]तितरन्त्येव[67] मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ 25॥

62 अन्ये तु मन्दतराः, तुशब्दः पूर्वश्लोकोक्तत्रिविधाधिकारिवैलक्षण्यद्योतनार्थः । एषूपायेष्वन्यतरेणाप्येवं यथोक्तमात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यः कारुणिकेभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वेदमेवं चिन्तयतेत्युक्ता उपासते श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं संसारं श्रुतिपरायणाः स्वयं विचारासमर्था अपि श्रद्दधानतया गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायणाः । तेऽपीत्यपिशब्दाद्ये स्वयं विचारसमर्थास्ते मृत्युमतितरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 25 ॥

के परिणामभूत आत्मा से भिन्न सब अनात्म पदार्थ मिथ्याभूत हैं, इनका साक्षिभूत नित्य, विभु निर्विकार, सत्य, समस्त जड़वर्ग के सम्बन्ध से शून्य आत्मा 'मैं' हूँ-- इसप्रकार वेदान्तवाक्यविचारजन्य चिन्तन से अर्थात् ध्यानोत्पत्ति द्वारा आत्मा में=बुद्धि में आत्मा= प्रत्यक्चेतन को देखते हैं – उसका साक्षात्कार करते हैं । यहाँ 'पश्यन्त्यात्मानमात्मनि'– इन पदों की अनुवृत्ति है ।

60 मन्दों के ज्ञान के साधन को कहते हैं :-- कोई मन्द कर्मयोग से = ईश्वरार्पणबुद्धि से क्रियमाण फलाभिसन्धि-फलाशारहित उस-उस वर्णाश्रमोचित वेदविहित कर्मकलाप से अर्थात् सत्त्वशुद्धि-चित्तशुद्धि से श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उत्पत्तिद्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं -- उसका साक्षात्कार करते हैं । यहाँ भी 'पश्यन्त्यात्मानमात्मनि' -- इन पदों की अनुवृत्ति है ॥ 24 ॥

61 मन्दतरों के ज्ञान के साधन को कहते हैं :--
[अन्य जन तो इसप्रकार आत्मा को न जानते हुए दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं । वे श्रवणपरायण जन भी मृत्युरूप संसार को पार कर ही लेते हैं ॥ 25 ॥]

62 अन्य -- मन्दतर तो, यहाँ 'तु' शब्द पूर्वश्लोक में उक्त त्रिविध अधिकारियों से विलक्षणता सूचित करने के लिए है, इन उपायों में से किसी भी उपाय से एवम् -- इसप्रकार = यथोक्त आत्मा को न जानते हुए अन्यों -- दूसरों से = करुणामय आचार्यों से सुनकर = उनके 'इसका इसप्रकार चिन्तन करो' -- ऐसा कहने पर श्रद्धा रखकर उपासना -- चिन्तन करते हैं । श्रुतिपरायण[68] अर्थात् स्वयं विचार करने में असमर्थ भी श्रद्धायुक्त होने के कारण मात्र गुरु के उपदेशश्रवण में परायण -- तत्पर रहनेवाले वे जन भी मृत्यु अर्थात् संसार को पार कर ही लेते हैं । यहाँ 'तेऽपि' – में से 'अपि' शब्द से अभिप्राय यह है कि जो स्वयं विचार करने में समर्थ होते हैं वे मृत्युरूप संसार को पार कर लेते हैं -- इसमें तो कहना ही क्या है ॥ 25 ॥

66. श्लोकस्थ चकार पूर्वोक्त के समुच्चय के लिए है ।

67. 'एव' शब्द से यह दृढ़ होता है कि वे मन्दतरजन यद्यपि मुक्तिक्रम से शून्य हैं तथापि उनके भी मोक्ष में कोई संशय नहीं है ।

68. श्रुतिपरायणाः श्रुतिः श्रवणं परमयनं गमनं मोक्षमार्गप्रवृतौ परं साधनं येषां ते श्रुतिपरायणाः = जिनके मत में श्रवण करना ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के लिए परम अयन-गमन-साधन है वे "श्रुतिपरायण" कहे जाते हैं । अभिप्राय यह है कि वे स्वयं विवेकरहित होते हुए भी केवल गुरु के उपदेश को ही प्रमाण मानते हैं अतएव गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायण होते हैं ।

63 संसारस्याऽऽविद्यकत्वाद्विद्यया मोक्ष उपपद्यत इत्येतस्यार्थस्यावधारणाय संसारतन्निवर्तकज्ञानयोः प्रपञ्चः क्रियते यावदध्यायसमाप्ति । तत्र कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वित्येतत्प्रागुक्तं विवृणोति–

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ 26 ॥

64 यावत्किमपि सत्त्वं वस्तु संजायते स्थावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, अविद्यातत्कार्यात्मकं जडमनिर्वचनीयं सदसत्त्वं दृश्यजातं क्षेत्रं तद्विलक्षणं तद्भासकं स्वप्रकाशपरमार्थसच्चैतन्यमसङ्गोदासीनं निर्धर्मकमद्वितीयं क्षेत्रज्ञं तयोः संयोगो मायावशादितरेतराविवेकनिमित्तो मिथ्यातादात्म्याध्यासः सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकः, तस्मादेव संजायते तत्सर्वं कार्यजातमिति विद्धि हे भरतर्षभ । अतः स्वरूपाज्ञाननिबन्धनः संसारः स्वरूपज्ञानाद्विनष्टुमर्हति स्वप्नादिवदित्यभिप्रायः ॥ 26 ॥

---

63 संसार अविद्यक – अविद्याकल्पित है, अत: विद्या – आत्मज्ञानरूपविद्या से मोक्ष प्राप्त होता है – इस अर्थ का अवधारण-निर्धारण-निश्चय करने के लिए इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त संसार और उसके निवर्तक ज्ञान का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाता है । उसमें 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इस पूर्वोक्त का विशेषरूप से विवरण करते हैं :–
[हे भरतर्षभ ! हे भरतवंशश्रेष्ठ ! हे अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उसको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई समझो ॥ 26 ॥]

64 हे भरतर्षभ – हे भरतकुलश्रेष्ठ । यावत् – किमपि = जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम सत्त्व = वस्तु उत्पन्न होती है उस सबको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई जानो = अविद्या और उसका कार्यरूप जो जड, अनिर्वचनीय[69] और सत्-असतरूप दृश्यसमूह है वह 'क्षेत्र' है; उससे विलक्षण उसका भासक स्वप्रकाश परमार्थस्वरूप जो सत्, चैतन्य, असङ्ग, उदासीन, निर्धर्मक और अद्वितीय है वह 'क्षेत्रज्ञ' है; उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग[70] = मायावश एक-दूसरे के अविवेक से होनेवाला सत्यानृतमिथुनीकरणात्मक = सत्य–चैतन्यस्वरूप आत्मा और अनृत – अनित्य शरीरादि – दोनों का मिश्रीकरणरूप जो मिथ्या तादात्म्याध्यास है उसी से वह सब कार्यसमूह उत्पन्न हुआ है – यह तुम जानो । अत: स्वरूप के अज्ञान से होनेवाला संसार स्वरूप के ज्ञान से = स्वरूपसाक्षात्कार से विनाश के योग्य है, जैसे स्वप्न में उत्पन्न हुआ पदार्थसमूह जाग्रदावस्था में विनाश के योग्य होता है – यह अभिप्राय है ॥ 26 ॥

---

69. यदि सत् स्यात् न बाध्येत, यदि असत्स्यात् प्रत्यक्षतया न भासेत, किन्तु बाध्यते प्रत्यक्षतया भासते च तस्मान्न सत् नासत् किन्तु उभयविलक्षणमनिर्वचनीयम् = यदि सत् होता तो बाधित नहीं होता, यदि असत् होता तो प्रत्यक्षरूप से भासित नहीं होता, किन्तु बाधित होता है और प्रत्यक्षरूप से भासित भी होता है, इसलिए जो न सत् है और न असत् है, किन्तु सत् और असत् – दोनों से विलक्षण है वह 'अनिर्वचनीय' है ।

70. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच रज्जु और घट के समान दो सावयव द्रव्यों के बीच होने वाला 'संयोग' सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि क्षेत्र सावयव है और क्षेत्रज्ञ आकाशवत् स्वरूपत: निरवयव है । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में पट और तन्तु के समान दो अयुतसिद्ध पदार्थों में होनेवाला 'समवाय' सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि दोनों में अयुतसिद्धता का अभाव है और दोनों में इतरेतरकार्यकारणभाव स्वीकार नहीं है । तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है । रज्जु, शुक्ति आदि का उनमें अध्यारोपित सर्प, रजत आदि के साथ उनके विवेकज्ञान के अभाव के कारण होनेवाले संयोग के समान तम और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले युष्मत् और अस्मत् – प्रत्ययों से गोचर विषय और विषयीरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप-विवेकज्ञान के अभाव के कारण होनेवाला परस्परधर्माध्यासस्वरूप संयोग संभव है ।

65 एवं संसारमविद्यात्मकमुक्त्वा तन्निवर्तकविद्याकथनाय य एवं वेत्ति पुरुषमिति प्रागुक्तं विवृणोति–

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। 27 ।।

66 सर्वेषु भूतेषु भवनधर्मकेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु प्राणिषु अनेकविधजन्मादिपरिणामशीलतया गुणप्रधानभावापत्त्या च विषमेषु अत एव चञ्चलेषु प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा नापरिणम्य क्षणमपि स्थातुमीशते । अत एव परस्परबाध्यबाधकभावापन्नेषु एवमपि विनश्यत्सु दृष्टनष्टस्वभावेषु मायागन्धर्वनगरादिप्रायेषु समं सर्वत्रैकरूपं प्रतिदेहमेकं जन्मादिपरिणामशून्यतया च तिष्ठन्तमपरिणममानं परमेश्वरं सर्वजडवर्गसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन बाध्यबाधकभावशून्यं सर्वदोषानास्कन्दितमविनश्यन्त दृष्टनष्टप्रायसर्वद्वैतबाधेऽप्यबाधितम् । एवं सर्वप्रकारेण जडप्रपञ्चविलक्षणमात्मानं विवेकेन यः शास्त्रचक्षुषा पश्यति स एव पश्यत्यात्मानं जाग्रद्बोधेन स्वप्नभ्रमं बाधमान इव । अज्ञस्तु स्वप्नदर्शीव भ्रान्त्या विपरीतं पश्यन्न पश्यत्येव, अदर्शनात्मकत्वाद्भ्रमस्य । न हि रज्जुं सर्पतया पश्यन्पश्यतीति व्यपदिश्यते, रज्ज्वदर्शनात्मकत्वा-

65 इसप्रकार अविद्यात्मक – अज्ञानात्मक संसार को कहकर उसकी निवर्तक विद्या-ज्ञान के कथन के लिए 'य एवं वेत्ति पुरुषम्' – इस पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करते हैं :–

[जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित, समभाव से स्थित परमेश्वर को देखता है वही वस्तुतः देखता है ।। 27 ।।]

66 सब भूतों में = उत्पत्तिधर्मवाले स्थावर--जंगमरूप सब प्राणियों में; जो अनेक प्रकार के जन्मादि[71] परिणामवाले होने से और गुण-प्रधानभाव[72] की आपत्ति-प्राप्ति होने से विषम हैं अतएव चञ्चल हैं, क्योंकि पदार्थ प्रत्येक क्षण में परिणामवाले होते हैं, वे बिना परिणाम के क्षण भर भी नहीं रह सकते हैं, अतएव जो परस्पर बाध्य-बाधकभाव को प्राप्त हैं, इसप्रकार के भी जो विनाशशील हैं = दृष्टनष्टस्वभाव[73] हैं अर्थात् मायागन्धर्वनगरादि के समान हैं; उनमें सम = सर्वत्र एकरूप -- प्रत्येक देह में एक जन्मादि परिणाम से रहित अतएव स्थितपरिणामातीत परमेश्वर को = सम्पूर्ण जड़वर्ग को सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला होने से बाध्य-बाधकभाव से शून्य, सब दोषों से अस्पृष्ट, विनष्ट न होनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण दृष्टनष्टप्राय द्वैत का बाध होने पर भी अबाधित-बाधित न होनेवाले एवं सबप्रकार जडप्रपञ्च से विलक्षण आत्मा को जो पुरुष शास्त्रदृष्टि से विवेकपूर्वक देखता है, जाग्रत्-ज्ञान से स्वप्न-ज्ञान का बाध करनेवाले पुरुष के समान वही आत्मा को देखता है । अज्ञानी पुरुष तो स्वप्न देखनेवाले के समान भ्रान्तिवश विपरीत देखते हुए 'नहीं ही देखता है', क्योंकि भ्रम अदर्शनात्मक होता है । लोक में यह व्यवहार नहीं होता कि रज्जु को सर्परूप से देखते हुए 'देखता है', क्योंकि

71. जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और विनाश ।

72. सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के परिणाम होते हैं । सात्त्विक-परिणाम में सत्त्वगुण प्रधान होता है तथा रजोगुण और तमोगुण गुणभूत रहते हैं । राजसपरिणाम में रजोगुण प्रधान होता है तथा सत्त्व और तमोगुण गुणभूत रहते हैं । इसीप्रकार तामसपरिणाम में तमोगुण प्रधान होता है तथा सत्त्व और रजोगुण गुणभूत रहते हैं – इसप्रकार 'गुण-प्रधानभाव' कहलाता है ।

73. दृष्टनष्टस्वभाव दृष्टकालिक स्वभाव है, दृष्टस्वरूप का कालान्तर में नाश हो जाता है । जैसे ऐन्द्रजालिक मायागन्धर्वनगर आकाश में दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है ।

त्सर्पदर्शनस्य । एवंभूतान्यानुपरक्तशुद्धात्मदर्शनात्तददर्शनात्मिकाया अविद्याया निवृत्तिस्ततस्तत्कार्यसंसारनिवृत्तिरित्यभिप्रायः । अत्राऽऽत्मानमितिविशेष्यलाभो विशेषणमर्यादया । परमेश्वरमित्येव वा विशेष्यपदम् । विषमत्वचञ्चलत्वबाध्यबाधकरूपत्वलक्षणं जडगतं वैधर्म्यं समत्वतिष्ठत्त्वपरमेश्वरत्वरूपात्मविशेषणवशादर्थात्प्राप्तमन्यत्कण्ठोक्तमिति विवेकः ॥ 27 ॥

67 तदेतदात्मदर्शनं फलेन स्तौति रुच्युत्पत्तये -

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ 28 ॥

68 समवस्थितं जन्मादिविनाशान्तभावविकारशून्यतया सम्यक्तयाऽवस्थितमित्यविनाशित्वलाभः । अन्यत्प्राग्व्याख्यातम् । एवं पूर्वोक्तविशेषणमात्मानं पश्यन्नयमहमस्मीति शास्त्रदृष्ट्या साक्षात्कुर्वन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानम् । सर्वो ह्यज्ञः परमार्थसन्तमेकमकर्त्रभोक्तृपरमानन्दरूपमात्मानमविद्यया सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीतिप्रतीतिजननसमर्थया स्वयमेव तिरस्कुर्वन्नसन्तमिव करोतीति हिनस्त्येव तम् । तथाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतं देहेन्द्रियसंघातमात्मानं पुरातनं हत्वा नवमादत्ते कर्मवशादिति हिनस्त्येव तम् । अत उभयथाऽप्यात्महैव सर्वोऽप्यज्ञः, यमधिकृत्येयं शकुन्तलावचनरूपा स्मृतिः -

'किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा ।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ॥' इति ।

रज्जु में सर्प को देखना तो रज्जु को न देखना ही है ।एवंभूत अन्यसंसर्गशून्य शुद्ध आत्मा के दर्शन से उसकी अदर्शनात्मिका अविद्या की निवृत्ति होती है और इससे उसके कार्य संसार की निवृत्ति होती है -- यह अभिप्राय है । यहाँ 'आत्मानम्' – इस विशेष्य पद की प्राप्ति विशेषणों की मर्यादा से हो जाती है । अथवा, 'परमेश्वरम्' -- यह पद ही विशेष्य है । समत्व, तिष्ठत्त्व-स्थितत्व और परमेश्वरत्वरूप आत्मा के विशेषणों से जड़वर्गगत विषमत्व, चञ्चलत्व और बाध्य-बाधकत्वरूप वैधर्म्यों की अर्थत: प्राप्ति हो जाती है, अन्य सब कण्ठ से कह दिया है -- यह विवेक है ॥ 27 ॥

67 अब रुचि उत्पन्न करने के लिए इस आत्मदर्शन की फलप्रदर्शन से स्तुति करते हैं :--
[वह पुरुष सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 28 ॥]

68 समवस्थित = जन्म से लेकर विनाशपर्यन्त – षड्भावविकारों से शून्य होने के कारण सम्यक्-रूप से अवस्थित – इसप्रकार आत्मा का अविनाशित्व प्राप्त होता है । अन्य विशेषणों की व्याख्या पहले हो चुकी है । इसप्रकार पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट आत्मा को देखता हुआ = 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार शास्त्रदृष्टि से साक्षात्कार करता हुआ वह पुरुष आत्मना = अपने द्वारा आत्मानम् = अपने को नष्ट नहीं करता है । सब अज्ञानी पुरुष परमार्थसत्, एक, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्दरूप आत्मा का सत्ता और भाव से युक्त वस्तु में भी 'नहीं है, नहीं भासता है' -- इसप्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ अविद्या द्वारा स्वयं ही तिरस्कार करते हुए उसको असत्-सा कर देते हैं -- उसका हनन ही करते हैं । इसीप्रकार अविद्यावश आत्मरूप से ग्रहण किये हुए देहेन्द्रियसंघातरूप पुरातन आत्मा का हनन कर कर्मवश नवीन आत्मा को ग्रहण करते हैं – इसप्रकार

श्रुतिश्च -

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥' इति ।

असुर्या असुरस्य स्वभूता आसुर्या संपदा भोग्या इत्यर्थः । आत्महन इत्यनात्मन्यात्माभिमानिन इत्यर्थः । अतो य आत्मज्ञः सोऽनात्मन्यात्माभिमानं शुद्धात्मदर्शनेन बाधते । अतः स्वरूपलाभान्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् । तत आत्महननाभावादविद्यातत्कार्यनिवृत्तिलक्षणां मुक्तिमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ 28 ॥

69 **ननु शुभाशुभकर्मकर्तारः प्रतिदेहं भिन्ना आत्मानो विषमाश्च तत्तद्विचित्रफलभोक्तृत्वेनेति कथं सर्वभूतस्थमेकमात्मानं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानमित्युक्तमत आह -**

प्रकृत्यैव[74] च[75] कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ 29 ॥

70 **कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि सर्वशः सर्वैः प्रकारैः प्रकृत्यैव देहेन्द्रियसंघाताकारपरिणतया सर्वविकारकारणभूतया त्रिगुणात्मिकया भगवन्माययैव क्रियमाणानि न तु पुरुषेण सर्वविकार-**

उसका हनन ही करते हैं । अत: सभी अज्ञानी दोनों प्रकार से भी आत्महा -- आत्महन्ता ही हैं, जिनको लक्ष्य करके यह शकुन्तला के वचनरूप स्मृति है :--

"जो अन्य प्रकार के आत्मा को अन्य स्वरूपवाला समझता है उस आत्मापहारी चोर ने क्या पाप नहीं किया ?" (महाभारत)

श्रुति भी कहती है --

"जो कोई भी आत्महन्ता जन हैं वे मरकर उन लोकों में जाते हैं जो 'असुर्या' नामवाले और घोर अन्धकार से आवृत हैं" (ईशावास्योपनिषद् 3) ।

असुर्या = असुरों की निज संपत्ति -- आसुर्या सम्पत्ति से भोग के योग्य लोक 'असुर्या' लोक है । 'आत्महन:' का अर्थ-अनात्म पदार्थों में आत्मा का अभिमान रखनेवाले जन हैं । अत: जो आत्मज्ञानी है वह शुद्ध आत्मा के दर्शन से अनात्मा में आत्माभिमान का बाध कर देता है । अत: स्वरूपलाभ होने के कारण वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है, इससे परमगति को प्राप्त होता है अर्थात् उस आत्महनन के अभाव से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्तिस्वरूप मुक्ति को प्राप्त होता है ।। 28 ।।

69 शुभ और अशुभ कर्म करनेवाले पुरुष प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न आत्मावाले और उस-उस विचित्र फल के भोक्ता होने से विषम स्वभाववाले हैं, तो फिर यह कैसे कहा कि सब भूतों में स्थित एक ही आत्मा को समानरूप से देखता हुआ आत्मज्ञ पुरुष अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है ? -- इसपर कहते हैं :--

[जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार प्रकृति द्वारा ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है वह वस्तुत: देखता है ।। 29 ।।]

70 जो विवेकी पुरुष वाणी, मन और शरीर से होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों को सर्वश: = सब प्रकार प्रकृति

74. 'एव' शब्द निश्चय के अर्थ में है ।

75. 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है अर्थात् कार्य और कारणरूप में जो कुछ दिखाई देते हैं वे सभी 'प्रकृति-परिणाम' हैं-- इसप्रकार प्रकृति के सब कार्यों को एकत्रित करके दिखाने के लिए ही चकार का प्रयोग हुआ है ।

शून्येन यो विवेकी पश्यति, एवं क्षेत्रेण क्रियमाणेष्वपि कर्मसु आत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्तारं सर्वोपाधिविवर्जितमसङ्गमेकं सर्वत्र समं यः पश्यति, तथाशब्दः पश्यतीतिक्रियाकर्षणार्थः, स पश्यति स परमार्थदर्शीति पूर्ववत् । सविकारस्य क्षेत्रस्य तत्तद्विचित्रकर्मकर्तृत्वेन प्रतिदेहं भेदेऽपि वैषम्येऽपि न (च) निर्विशेषस्याकर्तुराकाशस्येव न भेदे प्रमाणं किंचिदात्मन इत्युपपादितं प्राक् ॥ 29 ॥

71 **तदेवमापाततः क्षेत्रभेददर्शनमभ्यनुज्ञाय क्षेत्रज्ञभेददर्शनमपाकृतमिदानीं तु क्षेत्रभेदर्शनमपि मायिकत्वेनापाकरोति -**

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ 30 ॥

72 **यदा यस्मिन्काले भूतानां स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामपि जडवर्गाणां पृथग्भावं पृथक्त्वं परस्परभिन्नत्वमेकस्थमेकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि सद्रूपे स्थितं कल्पितं कल्पितस्याधिष्ठानादनतिरेकात्सद्रूपात्मस्वरूपादनतिरिक्तमनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशमनु स्वयमालोचयति आत्मैवेदं सर्वमिति । एवमपि मायावशात्तत एकस्मादात्मन एव विस्तारं भूतानां पृथग्भावं च स्वप्नमायावदनुपश्यति, ब्रह्म संपद्यते तदा सजातीयविजातीयभेददर्शनाभावाद्ब्रह्मैव सर्वानर्थशून्यं भवति तस्मिन्काले ।**

द्वारा ही = देह और इन्द्रियों के संघात के आकार में परिणत, सब विकारों की कारणभूत, त्रिगुणात्मिका भगवान् की माया से ही किये हुए, न कि सब विकारों से शून्य पुरुष द्वारा किये हुए, देखता है; इसी प्रकार क्षेत्र के द्वारा क्रियमाण कर्मों में भी आत्मा को = क्षेत्रज्ञ को अकर्ता = समस्त उपाधियों से रहित, असङ्ग, एक, सर्वत्र समानरूप से देखता है । यहाँ 'तथा' शब्द 'पश्यति' -- इस क्रिया के आकर्षण के लिए है । वही देखता है = वही परमार्थदर्शी है-पूर्ववत् ही है । सविकार क्षेत्र का उन-उन विचित्र कर्मों के कर्तृत्व से प्रत्येक देह में भेद और वैषम्य होने पर भी आकाश के समान निर्विशेष और अकर्ता आत्मा के भेद में कोई प्रमाण नहीं है -- यह पहले कहा जा चुका है ।। 29 ।।

71 इसप्रकार आपाततः क्षेत्रभेददर्शन का अनुमोदन कर क्षेत्रज्ञ-आत्मा के भेददर्शन का निराकरण किया । अब क्षेत्रभेददर्शन भी मायिक है अतएव क्षेत्रभेदज्ञान का निराकरण करते हैं :--

[यह पुरुष जिस समय स्थावर और जङ्गम भूतों के पृथग्भाव को एक आत्मा में ही स्थित देखता है और उसी से ही उन सबके विस्तार को देखता है उस समय वह ब्रह्म हो जाता है ।। 30 ।।]

72 यह पुरुष यदा -- यस्मिन्काले = जिस समय स्थावर -- जङ्गम सभी भूतों के = जड़वर्ग के पृथग्भाव = पृथक्त्व अर्थात् परस्पर भिन्नत्व को एकस्थ = एक ही सद्रूप आत्मा में स्थित -- कल्पित देखता है, क्योंकि कल्पित पदार्थ अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता है, अतः सद्रूप आत्मस्वरूप से अभिन्न-भेदरहित देखता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार 'यह सब आत्मा ही है' -- इसप्रकार स्वयं आलोचना करता है । ऐसा होने पर भी मायावश उस एक आत्मा से ही भूतों का विस्तार[76] = पृथग्भाव स्वाप्निक -- मायिक पदार्थों के विस्तार के समान देखता है, तदा -- तस्मिन्काले = उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त होता है = सजातीय विजातीय और स्वगत भेददर्शन -- भेदज्ञान न रहने से सब अनर्थों -- दुःखों से रहित ब्रह्म ही हो जाता है[77] । श्रुति भी कहती है :--

76. सर्वप्रपञ्चविस्तारपरक श्रुति है -- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत' -- इति ।

77. 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः ।

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति श्रुतेः ।

प्रकृत्यैव चेत्यत्राऽऽत्मभेदो निराकृतः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र त्वनात्मभेदोऽपीति विशेषः ॥30॥

73 आत्मनः स्वतोऽकर्तृत्वेऽपि शरीरसंबन्धोपाधिकं कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्कामपनुदन्यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यतीत्येतद्विवृणोति –

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ 31 ॥

74 अयमपरोक्षः परमात्मा परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्माऽव्ययो न व्येतीत्यव्ययः सर्वविकारशून्य इत्यर्थः। तत्र व्ययो द्वेधा धर्मिस्वरूपस्यैवोत्पत्तिमत्तया वा धर्मिस्वरूपस्यानुत्पाद्यत्वेऽपि धर्माणामेवोत्पत्त्यादिमत्तया वा । तत्राऽऽद्यमपाकरोति - अनादित्वादिति । आदिः प्रागसत्त्वावस्था । सा च नास्ति सर्वदा सत आत्मनः। अतस्तस्य कारणाभावाज्जन्माभावः । न ह्यनादेर्जन्म संभवति । तदभावे च तदुत्तरभाविनो भावविकारा न संभवन्त्येव । अतो न स्वरूपेण व्येतीत्यर्थः ।

75 द्वितीयं निराकरोति–निर्गुणत्वादिति । निर्धर्मकत्वादित्यर्थः । न हि धर्मिणमविकृत्य कश्चिद्धर्म उपैत्यपैति वा धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यादयं तु निर्धर्मकोऽतो न धर्मद्वाराऽपि व्येतीत्यर्थः ।'अविनाशी

"जिस समय ज्ञानी के लिए सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं उस समय उस एकत्व देखनेवाले को क्या मोह और क्या शोक रहता है ?' (ईशावास्योपनिषद्, 7) ।

'प्रकृत्यैव च' – इत्यादि में आत्मभेद का निराकरण किया है । 'यदा भूतपृथग्भावम्' -- इत्यादि में तो अनात्मजडवर्ग के भेद का भी निराकरण किया है -- यह विशेष-भेद है ।। 30 ।।

73 यद्यपि आत्मा में स्वत: कर्तृत्व नहीं है तथापि शरीर के सम्बन्ध से औपाधिक कर्तृत्व तो उसमें हो ही सकता है -- इस आशङ्का की निवृत्ति करते हुए 'य: पश्यति तथाऽत्मानमकर्तारं स पश्यति' -- इसका विवरण करते हैं :--

[हे कौन्तेय ! अनादि होने से और निर्गुण -- गुणातीत होने से यह अव्यय -- अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी न तो कर्म करता है और न उसके फल से ही लिप्त होता है ।। 31 ।।]

74 यह = अपरोक्ष परमात्मा = परमेश्वर से अभिन्न प्रत्यगात्मा 'अव्यय' है । जिसका व्यय -- अपचय नहीं होता है उसको 'अव्यय' कहते हैं अर्थात् सब विकारों से शून्य 'अव्यय' है । उसमें धर्मिस्वरूप की ही उत्पत्तिमत्ता से, अथवा, धर्मिस्वरूप के अनुत्पाद्य होने पर भी धर्मों की ही उत्पत्त्यादिमत्ता से 'व्यय[78]' दो प्रकार का होता है । उनमें प्रथम का निराकरण करते हैं -- 'अनादित्वात्' = 'आदि' प्रागसत्त्वास्था है और वह प्रागसत्त्वावस्था सर्वदा सत्स्वरूप आत्मा में नहीं हैं, अत: कारणाभाव से उसके जन्म का अभाव है, क्योंकि अनादि का जन्म सम्भव नहीं है; तथा जन्म का अभाव होने से उत्तरवर्ती भावविकार भी उसमें सम्भव ही नहीं है, अतः वह परमात्मा स्वरूप से व्ययी-विकारी नहीं है ।

---

78. 'व्यय' तीन प्रकार का होता है – स्वभावत:, अवयवद्वारक तथा गुणद्वारक । 'स्वभावत: = स्वत:' व्यय तो परब्रह्म में सम्भव ही नहीं है – यह कहने के लिए ही वह 'परमात्मा' है – यह कहा गया है । 'अवयवद्वारक' व्यय भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि वह 'अनादि' है । घटादि आदिमान् होते हैं, क्योंकि वे सावयव हैं, अत: उनमें 'अवयवद्वारक' व्यय देखा जाता है, आत्मा तो अनादिमान् होने से निरवयव ही है, अत: उसमें उक्त व्यय संभव नहीं है । 'गुणद्वारक' व्यय भी ब्रह्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि सगुण गुणद्वारक व्यय से व्ययी होता है, यह तो निर्गुण है, अतएव इसमें उक्त व्यय सम्भव नहीं है ।

वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इति श्रुतेः । यस्मादेष जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवं षड्भावविकारशून्य आध्यासिकेन संबन्धेन शरीरस्थोऽपि तस्मिन्कुर्वत्ययमात्मा न करोति, यथाऽऽध्यासिकेन संबन्धेन जलस्थः सविता तस्मिंश्चलत्यपि न चलत्येव तद्वत् । यतो न करोति किंचिदपि कर्म, अतः केनापि कर्मफलेन न लिप्यते । यो हि यत्कर्म करोति स तत्फलेन लिप्यते न त्वयमकर्तृत्वादित्यर्थः । इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्यादीनां क्षेत्रधर्मत्वकथनात्, प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानीति मायाकार्यत्वव्यपदेशाच्च । अत एव परमार्थदर्शिनां सर्वकर्माधिकार-निवृत्तिरिति प्राग्व्याख्यातम् । एतेनाऽऽत्मनो निर्धर्मकत्वकथनात्स्वगतभेदोऽपि निरस्तः । प्रकृत्यैव च कर्माणीत्यत्र सजातीयभेदो निवारितः, यदा भूतपृथग्भावमित्यत्र विजातीयभेदः, अनादित्वान्निर्गुणत्वादित्यत्र स्वगतो भेद इत्यद्वितीयं ब्रह्मैवाऽऽत्मेति सिद्धम् ॥ 31 ॥

76 शरीरस्थोऽपि तत्कर्मणा न लिप्यते स्वयमसङ्गत्वादित्यत्र दृष्टान्तमाह--

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ 32 ॥

---

75 द्वितीय का निराकरण करते हैं :-- 'निर्गुणत्वात्' = 'निर्धर्मकत्वात्' । कोई धर्म धर्मी को बिना विकृत किये न आता है और न जाता है, क्योंकि धर्म और धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध है । यह आत्मा तो निर्धर्मक है, अत: धर्मद्वारा भी व्यय-क्षीण – विनष्ट नहीं होता है -- यह अर्थ है । श्रुति भी कहती है -- 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृहदारण्यक 5.14) = 'अरे ! यह आत्मा अविनाशी है, क्योंकि इसका कोई भी धर्म उच्छिन्न होनेवाला नहीं हैं । क्योंकि यह जायते = जन्म, अस्ति = अस्तित्व, वर्धते = वृद्धि, विपरिणमते = परिणाम, अपक्षीयते = अपक्षय, तथा विनश्यति = विनाश -- इन छः भावविकारों से शून्य है, इसलिए आध्यासिक सम्बन्ध से शरीर में स्थित हुआ भी उस शरीर के कर्म करने पर भी यह आत्मा उसीप्रकार कर्म नहीं करता है जैसे आध्यासिक सम्बन्ध से जल में स्थित हुआ भी सूर्य उस जल के हिलने-डुलने पर भी हिलता-डुलता ही नहीं है । क्योंकि यह कोई भी कर्म नहीं करता है, इसलिए यह आत्मा किसी कर्मफल से भी लिप्त नहीं होता है, कारण कि जो पुरुष जिस कर्म को करता है वह उस कर्म के फल से लिप्त भी होता है, किन्तु यह आत्मा अकर्त्ता होने से लिप्त नहीं होता है -- यह अर्थ है । पुनः कारण है कि इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख -- इत्यादि को भी क्षेत्र का ही धर्म कहा है तथा 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि' -- इसप्रकार कर्मों को माया का कार्य बताया है । अतएव परमार्थदर्शियों के लिए सब कर्मों के अधिकार से निवृत्ति हो जाती है -- यह पहले कहा जा चुका है । इससे आत्मा के निर्धर्मक होने के कारण उसके स्वगतभेद का भी निराकरण हो जाता है । 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' -- यहाँ सजातीयभेद का निराकरण किया है, 'यदा भूतपृथग्भावम्' -- यहाँ विजातीयभेद का निरास किया है तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' -- स्वगतभेद की निवृत्ति की है -- इसप्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है -- यह सिद्ध होता है ॥ 31 ॥

76 शरीर में स्थित हुआ भी यह आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होता है कारण वह स्वयं असङ्ग = सङ्गरहित है -- इसमें दृष्टान्त देते हैं :--

[जिसप्रकार सर्वगत = सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता है उसीप्रकार देह में सर्वत्र अवस्थित हुआ भी आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होता है ॥ 32 ॥]

77 सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वादाकाशं सर्वगतमपि नोपलिप्यते पङ्कादिभिर्यथेति दृष्टान्तार्थः । स्पष्टमितरत् ॥ 32 ॥

78 न केवलमसङ्गस्वभावत्वादात्मा नोपलिप्यते प्रकाशकत्वादपि प्रकाश्यधर्मैर्न लिप्यते इति सदृष्टान्तमाह -

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ 33 ॥

79 यथा रविरेक एव कृत्स्नं सर्वमिमं लोकं देहेन्द्रियसंघातं रूपवद्वस्तुमात्रमिति यावत् प्रकाशयति न च प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यते, तथा क्षेत्री क्षेत्रज्ञ एक एव कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति हे भारत । अत एव न प्रकाश्यधर्मैर्लिप्यते न वा प्रकाश्यभेदाद्भिद्यत इत्यर्थः ॥

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥'

इति श्रुतेः ॥ 33 ॥

80 इदानीमध्यायार्थं सफलमुपसंहरति–

---

77 सूक्ष्म[79] होने के कारण अर्थात् असङ्ग स्वभाववाला होने के कारण जिसप्रकार सर्वगत भी आकाश पङ्कादि से लिप्त नहीं होता है -- यह दृष्टान्त का अर्थ है । शेष स्पष्ट है ॥ 32 ॥

78 न केवल असङ्गस्वभाववाला होने से ही आत्मा लिप्त नहीं होता है, अपितु प्रकाशक होने से भी वह प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है -- यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :--

[जिसप्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसीप्रकार हे भारत ! एक ही क्षेत्री -- क्षेत्रज्ञ पुरुष सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ॥ 33 ॥]

79 जिसप्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को = देह और इन्द्रियों के संघात को अर्थात् रूपवान् वस्तुमात्र को प्रकाशित करता है, किन्तु प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य के भेदों से भिन्न नहीं होता है, उसीप्रकार हे भारत[80] ! क्षेत्री =क्षेत्रज्ञ एक ही सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है, अतएव वह प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य के भेदों से भिन्न होता है -- यह अर्थ है । श्रुति भी कहती है :--

"जिसप्रकार सम्पूर्ण लोक का नेत्र सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोक के दु:ख से लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह उससे बाहर है" ।

80 अब फलसहित अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं :--

---

79. जिसप्रकार एक ही 'भरत' अपने नाम से आप अर्जुनादि भरतवंशियों को प्रकाशित करते हैं उसीप्रकार वह एक अद्वितीय ब्रह्म सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है--यह सूचित करते हुए ही भगवान् ने अर्जुन को हे भारत ! – सम्बोधन से सम्बोधित किया है । अथवा, तुम अर्जुन = शुद्धबुद्धि हो, अतः तुम्हारा चित्त सर्वदा ही 'भा' में = स्वप्रकाश और सर्वप्रकाशक आत्मा में 'रत' है । अत: आत्मा का जो स्वरूपदृष्टान्त उक्त है उसको तुम अनायास ही समझ जाओगे – यह आश्वासन देने के लिए भगवान् ने अर्जुन को यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया है ।

80. यहाँ 'सूक्ष्म' शब्द का अर्थ 'अप्रतिहत स्वभाव' है अर्थात् वह आत्मा स्वभाव से ही किसी से बद्ध नहीं होता है (आनन्दगिरिटीका) ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ 34 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13 ॥

81 **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्राग्व्याख्यातयोरेवमुक्तेन प्रकारेणान्तरं परस्परवैलक्षण्यं जाड्यचैतन्य-विकारित्वनिर्विकारित्वादिरूपं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्योपदेशजनितात्मज्ञानरूपेण चक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं च भूतानां सर्वेषां प्रकृतिरविद्या मायाख्या तस्याः परमार्थात्मविद्यया मोक्षमभावगमनं च ये विदुर्जानन्ति यान्ति ते परं परमार्थात्मवस्तुस्वरूपं कैवल्यं, न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः । तदेवममानित्वादिसाधननिष्ठस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकविज्ञानवतः सर्वानर्थनिवृत्त्या परम्पुरुषार्थसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ 34 ॥**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेको नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13 ॥

[जो जन इसप्रकार ज्ञानचक्षुओं द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर तथा सब भूतों की कारणभूता माया की निवृत्ति के विषय में जानते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ 34 ॥]

81 इसप्रकार = उक्त प्रकार से पूर्वव्याख्यात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर = जाड्य-चैतन्य, विकारित्व – निर्विकारित्वरूप परस्पर वैलक्षण्य – भेद को ज्ञानचक्षुओं से =शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुए आत्मज्ञानरूप चक्षुओं से जो जानते हैं तथा भूतप्रकृतिमोक्ष को = सम्पूर्ण भूतों की प्रकृतिभूता – कारणभूता जो माया नाम की अविद्या है उसके परमार्थभूता आत्मविद्या से मोक्ष = अभावगमन को जो जानते हैं वे पर अर्थात् परमार्थ आत्मवस्तुस्वरूप कैवल्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः वे देह ग्रहण नहीं करते हैं । इसप्रकार उस अमानित्वादि-तत्त्वज्ञानसाधनों में निष्ठ, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेकज्ञान से युक्त पुरुष को सब अनर्थों-दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि - प्राप्ति होती है – यह सिद्ध हुआ ॥ 34 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये –**

'यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि ॥'

इत्युक्तं तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं वक्तव्यम् । एवं 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्युक्तं तत्र कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीति वक्तव्यम् । तथा 'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' इत्युक्तं तत्र भूतप्रकृतिशब्दितेभ्यो गुणेभ्यः कथं मोक्षणं स्यान्मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यं, तदेतत्सर्वं विस्तरेण वक्तुं चतुर्दशोऽध्याय आरभ्यते । तत्र वक्ष्यमाणमर्थं द्वाभ्यां स्तुवञ्श्रोतॄणां रुच्युत्पत्तये -

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ 1 ॥

2 **ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परमात्मज्ञानसाधनं परं श्रेष्ठं परवस्तुविषयत्वात् । कीदृशं तत्, ज्ञानानां ज्ञानसाधनानां बहिरङ्गाणां यज्ञादीनां मध्य उत्तममुत्तमफलत्वात्, न त्वमानित्वादीनां तेषामन्त-**

1 पूर्व अध्याय में 'जो कुछ भी स्थावर अथवा जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उसको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई समझो' -- यह कहा, वहाँ निरीश्वर सांख्यमत[1] के निराकरण से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वर के अधीन है -- यह वक्तव्य है । इसीप्रकार 'गुणों का सङ्ग ही इस पुरुष अथवा इस संसार के सत् और असत् योनियों में जन्म लेने का कारण है' -- यह कहा, वहाँ किस गुण में कैसे सङ्ग होता है, अथवा गुण कौन-कौन से हैं, अथवा वे गुण कैसे बाँधते हैं -- यह वक्तव्य है । इसी प्रकार 'जो भूतप्रकृतिमोक्ष को जानते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं' -- यह कहा, वहाँ भूतप्रकृतिशब्दित गुणों से कैसे मोक्षण होगा और उनसे मुक्त हुए पुरुष का क्या लक्षण है -- यह वक्तव्य है -- इसप्रकार यह सब विस्तारपूर्वक कहने के लिए चौहदवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । उसमें श्रोताओं की रुचि उत्पन्न करने के लिए वक्ष्यमाण अर्थ की दो श्लोकों से स्तुति करते हुए भगवान् कहते हैं :--

[श्रीभगवान् बोले:-- मैं पुन: ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को तुमसे कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजनों ने इस देहबन्धन से मोक्षसंज्ञक परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ 1 ॥]

2 जिससे जाना जाता है वह 'ज्ञान[2]' अर्थात् परमात्मज्ञान का साधन[3] पर – श्रेष्ठ है, क्योंकि वह

---

1. निरीश्वर सांख्य के मतानुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ = प्रकृति और पुरुष का संयोग स्वतन्त्ररूप से होकर सृष्टि का कारण होता है ।

2. 'ज्ञानम्' – इस पद में 'ल्युट्' प्रत्यय है, 'ल्युट्' प्रत्यय करण और भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतएव 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' = 'जिससे जाना जाता है वह 'ज्ञान' है' – यह करणव्युत्पत्ति होती है और 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' = 'ज्ञप्ति-बोध ज्ञान है' – यह भावव्युत्पत्ति होती है । प्रकृत में भावव्युत्पत्ति इष्ट नहीं है, किन्तु करणव्युत्पत्ति इष्ट है, क्योंकि भावव्युत्पत्ति करने पर मात्र 'बोधस्वभाव' ज्ञान ही ग्रहण होगा 'अबोधस्वभाव' को ज्ञान नहीं कह सकेंगे, अत: 'बोधस्वभाव' और 'अबोधस्वभाव' – दोनों को ज्ञान कह सकें, एतदर्थ करणव्युत्पत्ति को ही यहाँ स्वीकार करना उचित है, फलत: इससे ज्ञान = साधन का सुख से लाभ होता है ।

3. परमात्मज्ञानसाधन दो प्रकार के हैं – बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग । 'बहिरङ्ग' साधन परम्परा सम्बन्ध से साधन कहलाते

रङ्गत्वेनोत्तमफलत्वात् । परमित्यनेनोत्कृष्टविषयत्वमुक्तम् । उत्तममित्यनेन तूत्कृष्टफलत्वमिति भेदः। ईदृशं ज्ञानमहं प्रवक्ष्यामि भूयः पुनः पूर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि यज्ज्ञानं ज्ञात्वाऽनुष्ठाय मुनयो मननशीलाः संन्यासिनः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्यामितो देहबन्धनाद्गताः प्राप्ताः ॥ 1 ॥

3 **तस्याः सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति–**

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ 2 ॥

4 **इदं यथोक्तं ज्ञानं ज्ञानसाधनमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मद्रूपतामत्यन्ताभेदेनाऽऽगताः प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि हिरण्यगर्भादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोपजायन्ते । प्रलये ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले न व्यथन्ति च न व्यथन्ते न च लीयन्त इत्यर्थः ॥ 2 ॥**

परवस्तुविषयक -- परब्रह्मविषयक है । वह कैसा है ? ज्ञानों = यज्ञादि बहिरङ्ग ज्ञानसाधनों में उत्तम है, क्योंकि उसका फल उत्तम है; न कि अमानित्वादि ज्ञानों में उत्तम है, क्योंकि वे अमानित्वादि तो अन्तरङ्गरूप होने से उत्तम-फलवाले[4] हैं । 'परम्[5]' -- इस शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टविषयता कही गई है । 'उत्तमम्[6]' -- इस शब्द से तो ज्ञानसाधन की उत्कृष्टफलता कही गई है-- यह भेद है । इसप्रकार के ज्ञान को मैं पुन: कहूँगा, यद्यपि पूर्व के अध्यायों में इसको बार-बार कहा गया है । जिस ज्ञान को जानकर अर्थात् जिस ज्ञान का अनुष्ठान कर सब मुनिजन = मननशील संन्यासीजन इत: -- यहाँ से अर्थात् देहबन्धन से मोक्षसंज्ञक परम सिद्धि को प्राप्त हुये थे ॥ 1 ॥

3 उस मोक्षसंज्ञक सिद्धि की ऐकान्तिकता दिखलाते हैं :--

[इस ज्ञान को आश्रय करके = धारण करके मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष सर्ग होने पर भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकाल में भी व्यथित -- लीन नहीं होते हैं ॥ 2 ॥]

4 इस -- यथोक्त ज्ञान = ज्ञानसाधन का आश्रय ग्रहण कर = अनुष्ठान कर मुझ परमेश्वर के साधर्म्य[7] = अत्यन्त अभेद से मद्रूपता को प्राप्त हुए पुरुष सर्ग होने पर भी = हिरण्यगर्भादि के उत्पन्न होने

हैं और 'अन्तरङ्ग' साधन तो साक्षात्सम्बन्ध से साधन होते हैं । पूर्वमीमांसा में ये क्रमश: सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक कहे जाते हैं । 'बहिरङ्ग' साधन यज्ञादि कर्म हैं, कारण कि शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है, तदुपरान्त विविदिषा – जिज्ञासा – ब्रह्मजिज्ञासा होती है, तत्पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से जिज्ञासु को ज्ञान प्राप्त होकर मोक्षलाभ होता है । यज्ञादि कर्म साक्षात् भाव से ज्ञानोत्पत्ति में समर्थ नहीं है, किन्तु परम्परा सम्बन्ध से विविदिषा द्वारा तत्त्वज्ञानलाभ में सहायक होते हैं, अत: ये ज्ञान के बहिरङ्गसाधन हैं । 'अन्तरङ्ग' – साधन तो अमानित्वादि ही हैं, क्योंकि ये साक्षात्भाव से तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करते हैं ।

4. प्रकृत में यज्ञादि बहिरङ्ग ज्ञानसाधनों में जो उत्तम ज्ञान है वही कहना इष्ट है, न कि अमानित्वादि अन्तरङ्गसाधनों में परमात्मसाक्षात्कारसाधनरूप ज्ञान, जो कि पूर्व के अध्यायों में बार-बार कहा जा चुका भी है, इष्ट है, क्योंकि वह ब्रह्म का सूक्ष्मरूप होने से दुर्बोध्य है ।

5. उक्त ज्ञान का विषय परमात्मा उत्कृष्ट होने के कारण इसको 'परमज्ञान' कहा है अर्थात् 'परम्' शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टविषयता को कहा है ।

6. उक्त ज्ञान का फल मोक्ष उत्कृष्ट होने के कारण इसको 'उत्तम-ज्ञान' कहा है अर्थात् 'उत्तम' शब्द से ज्ञानसाधन की उत्कृष्टफलता को कहा है ।

7. यहाँ 'साधर्म्य' का अर्थ समानधर्मता नहीं है, क्योंकि गीताशास्त्र में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है, और फिर प्रस्तुत ज्ञानफल को छोड़कर अप्रस्तुत ध्यानफल को स्वीकार करने का प्रसंग होगा ।

5 **तदेवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं न तु सांख्यसिद्धान्तवत्स्वतन्त्रयोरितीमं विवक्षितमर्थमाह द्वाभ्याम् -**

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ 3 ॥

6 **सर्वकार्यापेक्षयाऽधिकत्वात्कारणं महत्, सर्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वरूपाद् बृंहणत्वाद्ब्रह्म, अव्याकृतं प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया महद्ब्रह्म । तच्च ममेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानं तस्मिन्महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं सर्वभूतजन्मकारणमहं 'बहु स्यां प्रजायेय' इतीक्षणरूपं संकल्पं दधामि धारयामि तत्संकल्पविषयीकरोमीत्यर्थः । यथा हि कश्चित्पिता पुत्रमनुशयिनं व्रीह्याद्याहाररूपेण स्वस्मिँल्लीनं शरीरेण योजयितुं योनौ रेतःसेकपूर्वकं गर्भमाधत्ते । तस्माच्च गर्भाधानात्स पुत्रः शरीरेण युज्यते । तदर्थं च मध्ये कललाद्यवस्था भवन्ति । तथा प्रलये मयि लीनमविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण कार्यकरणसंघातेन योजयितुं चिदाभासाख्यरेतःसेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमहमादधामि । तदर्थं च मध्य आकाशवायुतेजोजलपृथिव्याद्युत्पत्त्यवस्थाः । ततो गर्भाधानात्संभव उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भादीनां भवति हे भारत न त्वीश्वरकृतगर्भाधानं विनेत्यर्थः ॥ 3 ॥**

पर भी उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय = ब्रह्मा का विनाशकाल आने पर भी व्यथित नहीं होते हैं अर्थात् लीन नहीं होते हैं ॥ 2 ॥

5 इसप्रकार की प्रशंसा से श्रोता को श्रवणोन्मुख कर 'परमेश्वर के ही अधीन प्रकृति और पुरुष की सब भूतों की उत्पत्ति के प्रति हेतुता -- कारणता है, न कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार स्वतंत्र प्रकृति और पुरुष सर्वभूतोत्पत्ति के कारण हैं' -- यह विवक्षित अर्थ दो श्लोकों से कहते हैं :--

[हे भारत ! महद्ब्रह्म ही मेरी योनि है, उसमें ही मैं गर्भ स्थापित करता हूँ और उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ 3 ॥]

6 सब कार्यों की अपेक्षा अधिक होने से कारण 'महत्[8]' है, सब कार्यों की वृद्धिहेतुत्वरूप बृंहण होने से 'ब्रह्म' है, अत: अव्याकृत, प्रकृति = त्रिगुणात्मिका माया 'महद्ब्रह्म' है । वही मुझ ईश्वर की योनि = गर्भाधान का स्थान है । उस महद्ब्रह्मरूप योनि में गर्भ = सब भूतों के जन्म का कारण मैं 'बहु स्यां प्रजायेय' = 'मैं बहुत हो जाऊँ' -- इस ईक्षणगुण संकल्प को धारण करता हूँ अर्थात् उसको संकल्प का विषय करता हूँ । जैसे कोई पिता व्रीहि-धान आदि आहार के रूप से अपने में लीन अनुशयी[9] पुत्र को शरीर से युक्त करने के लिए योनि में वीर्यसेचनपूर्वक गर्भ का आधान करता है और उस गर्भाधान से वह पुत्र शरीर से युक्त हो जाता है और शरीरार्थ ही मध्य में कललादि अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही प्रलय के समय मुझमें लीन अविद्या, काम, कर्म और अनुशय से युक्त क्षेत्रज्ञ सृष्टि के समय भोग्यरूप क्षेत्र = कार्यकरणसंघात -- देह और इन्द्रियों के संघात से

8. श्रीधरस्वामी के अनुसार देश और काल से परिच्छिन्न न होने के कारण प्रकृति 'महत्' है ।

9. स्वल्पपुण्य जो स्वर्ग में भोगने के योग्य नहीं है उसको 'अनुशय' कहते हैं, इसके साथ पूर्वजन्मकृत कर्मराशि 'अनुशय' है, 'अनुशया: अस्य सन्ति = अनुशय + इनि = अनुशयिन्' = अनुशयोंवाला 'अनुशयी' कहलाता है । 'अनुशयी' वह कहा जाता है जो शुभ कर्मों से चन्द्रलोक जाकर, स्वर्गसुख का उपभोग कर पुण्यों के क्षीग होने पर पुनः कर्मफल भोगने के लिए पुरुष, स्त्री आदि रूप से मृत्युलोक में आता है । वह अनुशयी अन्न में रहता है, अन्न को पुरुष खाता है, अत: वह आहाररूप से पुरुष में लीन रहता है ।

7 **ननु कथं सर्वभूतानां ततः संभवो देवादिदेहविशेषाणां कारणान्तरसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह –**

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ 4 ॥

8 **देवपितृमनुष्यपशुमृगादिसर्वयोनिषु या मूर्तयो जरायुजाण्डजोद्भिज्ञादिभेदेन विलक्षणविविध-संस्थानास्तनवः संभवन्ति हे कौन्तेय तासां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नं महद्ब्रह्मैव योनिर्मातृस्थानीया, अहं परमेश्वरो बीजप्रदो गर्भाधानस्य कर्ता पिता । तेन महतो ब्रह्मण एवावस्थाविशेषाः कारणान्तराणीति युक्तमुक्तं संभवः सर्वभूतानां ततो भवतीति ॥ 4 ॥**

9 **तदेवं निरीश्वरसांख्यनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वमुक्तम् । इदानीं कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्युच्यते सत्त्वमित्यादिनान्यमित्यतः प्राक्चतुर्दशभिः--**

संयुक्त करने के लिए चिदाभाससंज्ञक वीर्यसेचनपूर्वक मायावृत्तिरूप गर्भ का मैं आधान करता हूँ और उसके लिए मध्य में आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि की उत्पत्ति की अवस्थाएँ होती हैं और उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि सब भूतों की उत्पत्ति होती है । हे भारत[10] ! तात्पर्य यह है कि ईश्वरकृत गर्भाधान के बिना उक्त उत्पत्ति नहीं होती है ॥ 3 ॥

7 सब भूतों की उत्पत्ति उससे ही कैसे होती है, क्योंकि देवादि देहविशेषों की उत्पत्ति तो किसी अन्य कारण से भी हो सकती है – ऐसी आशङ्का करके कहते हैं :--

[हे कौन्तेय ! सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ सम्भव होती हैं उन सबकी योनि महद्ब्रह्म ही है और मैं बीज को स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ 4 ॥]

8 देवता, पितर, मनुष्य, पशु, मृगादि सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ = जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ञादि भेद से विलक्षण विविध संस्थान अर्थात् शरीर सम्भव होते हैं, हे कौन्तेय ! उन मूर्तियों की योनि = मातृस्थानीया -- माता उस-उस कारणभाव को प्राप्त महद्ब्रह्म ही है और मैं परमेश्वर बीज को स्थापन करनेवाला = गर्भाधान का कर्ता पिता हूँ । इसप्रकार महद्ब्रह्म की अवस्थाविशेष ही अन्य कारण हैं, अत: यह ठीक ही कहा है कि सब भूतों की उत्पत्ति उससे ही होती है ॥ 4 ॥

9 इसप्रकार निरीश्वर सांख्यमत के निराकरण द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग की ईश्वराधीनता को कहा, अब किस गुण में कैसे सङ्ग होता है, अथवा गुण कौन-कौन से हैं, अथवा वे गुण पुरुष को कैसे बाँधते है – यह 'सत्त्वम्' – इत्यादि से लेकर 'नान्यम्' -- इससे पूर्वतक चौदह श्लोकों से कहा जाता है :--

[हे महाबाहो[11] ! सत्त्व, रज और तम -- ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले हैं । ये ही इस अव्यय – अविनाशी – निर्विकार देही को देह में बाँधते हैं ॥ 5 ॥]

10. जिसप्रकार पिता आदि से उत्पन्न हुए भी अर्जुनादि भरत से उद्भव होने के कारण 'भारत' कहलाते हैं उसीप्रकार उस-उस कारण से उत्पन्न हुए भी देवादि ईश्वरकृत गर्भाधान से सम्भव होते हैं – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

11. 'महान्तौ समर्थौ वा जानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुस्तस्य संबोधनं हे महाबाहो' ! = महान् अथवा समर्थ आजानु बाहुएँ हैं जिसकी वह महाबाहु है, उसका सम्बोधन है – हे महाबाहो ! 'अहमव्ययः' = 'मैं अव्यय हूँ' – यह ज्ञान ही गुणकृत बन्धन से मुक्ति का साधन है, न कि 'महाबाहुरहम्' -- 'मैं महाबाहु हूँ' – यह अभिमान ज्ञान है, क्योंकि यहाँ बाहुओं की सामर्थ्य अनुपयोगी है प्रत्युत देहाभिमान बन्धन का साधन है – यह बतलाने के लिए भगवान् का उक्त सम्बोधन है ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ 5 ॥

10 सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानो गुणा नित्यपरतन्त्राः पुरुषं प्रति सर्वेषामचेतनानां चेतनार्थत्वात्, न तु वैशेषिकाणां रूपादिवद्द्रव्याश्रिताः । न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितं गुणत्रयात्मकत्वात्प्रकृतेः । तर्हि कथं प्रकृतिसंभवा इति, उच्यते - त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात्परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्येण परिणताः प्रकृतिसंभवा इत्युच्यन्ते । ते च देहे प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते देहिनं देहतादात्म्याध्यासापन्नं जीवं परमार्थतः सर्वविकारशून्यत्वेनाव्ययं निबध्नन्ति निर्विकारमेव सन्तं स्वविकारवत्तयोपदर्शयन्तीव भ्रान्त्या जलपात्राणीव दिवि स्थितमादित्यं प्रतिबिम्बाध्यासेन स्वकम्पादिमत्तया । यथा च पारमार्थिको बन्धो नास्ति तथा व्याख्यातं प्राक् - 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इति ॥ 5 ॥

11 तत्र को गुणः केन सङ्गेन बध्नातीत्युच्यते -

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ 6 ॥

12 तत्र तेषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं चैतन्यस्य तमोगुणकृतावरणतिरोधायकं निर्मलत्वात्स्वच्छ-

10 सत्त्व, रज और तम -- इसप्रकार के नामवाले गुण पुरुष के प्रति नित्य परतन्त्र हैं, क्योंकि सब अचेतन पदार्थ चेतन के लिए होते हैं, न कि वैशेषिकों के रूपादि के समान द्रव्य के आश्रित हैं[12], और न यहाँ गुण और गुणी का अन्यत्व- भेद भी विवक्षित है, क्योंकि प्रकृति गुणत्रयात्मक है[13] । तो फिर ये गुण 'प्रकृतिसम्भवा:' = 'प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले' कैसे कहे जाते हैं ? तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, वही भगवान् की माया है, उसके सकाश से परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से विषमरूप से परिणत हुए ये गुण प्रकृतिसम्भव -- प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले कहे जाते हैं । वे गुण देह = प्रकृति के कार्य देहेन्द्रियसंघात में देही = देह के तादात्म्याध्यास से युक्त जीव को -- परमार्थतः सब विकारों से शून्य होने से अव्यय देही को बाँधते हैं = निर्विकार ही उसको भ्रान्तिवश अपनी विकारवत्ता से युक्त दिखलाते-से हैं, जैसे जल के पात्र आकाश में स्थित सूर्य को प्रतिबिम्ब के अध्यास द्वारा अपनी कम्पादिमत्ता से युक्त दिखलाते-से हैं । जीव का यह बन्धन जिसप्रकार पारमार्थिक नहीं है उसप्रकार उसकी व्याख्या पहले 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता, 13.31) -- इस श्लोक में की जा चुकी है ।। 5 ।।

11 उनमें कौन गुण किस सङ्ग से जीव को बाँधते हैं -- यह कहा जाता है :-
[उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और अनामय = सुख का व्यञ्जक होता है । हे अनघ ! हे निष्पाप ! वह इस जीव को सुखसङ्ग और ज्ञानसङ्ग से बाँधता है ।। 6 ।।]

12 तत्र = उनमें अर्थात् उन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल = स्वच्छ होने के कारण चैतन्य का प्रकाशक =

12. सत्त्वादि तीनों गुण वैशेषिकाभिमत रूपादि गुणों के समान द्रव्याश्रित नहीं हैं, उनसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि सत्त्वादि में संयोग और विभाग नामक धर्म हैं, संयोगादि धर्मों को धारण करना द्रव्य के लिए सम्भव है, गुणों के लिए नहीं है । अत: सत्त्वादि द्रव्य ही हैं, द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं । (सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणा: संयोगविभागवत्त्वात् – सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.61) ।

13. यहाँ गुण और गुणी का भेद भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, त्रिगुणवती नहीं है ।

त्वाच्चिद्विम्बग्रहणयोग्यत्वादिति यावत् । न केवलं चैतन्याभिव्यञ्जकं किंतु अनामयम् । आमयो दुःखं तद्विरोधि सुखस्यापि व्यञ्जकमित्यर्थः । तद्बध्नाति सुखसङ्गेन च देहिनं हेऽनघाव्यसन । सर्वत्र संबोधनानामभिप्रायः प्रागुक्तः स्मर्तव्यः । अत्र सुखज्ञानशब्दाभ्यामन्तःकरणपरिणामौ तद्व्यञ्जकावुच्येते । 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः' इति सुखचेतनयोरपीच्छादिवत्क्षेत्रधर्मत्वेन पाठात् । तत्रान्तःकरणधर्मस्य सुखस्य ज्ञानस्य चाऽऽत्मन्यध्यासः सङ्गोऽहं सुख्यहं जान इति च । न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति । तस्मादविद्यामात्रमेतदिति शतश उक्तं प्राक् ॥ 6 ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ 7 ॥

13 **रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः कामो गर्धः स एवाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यात्तद्रागात्मकं रजो विद्धि । अत एवाप्राप्ताभिलाषस्तृष्णा, प्राप्तस्योपस्थितेऽपि विनाशे**

तमोगुणकृत चैतन्य के आवरण का तिरोधायक -- तिरोधान करनेवाला है, क्योंकि वह चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ है । सत्त्वगुण न केवल चेतन का अभिव्यञ्जक ही है, किन्तु अनामय = आमय दु:ख है उसका विरोधी अनामय भी है अर्थात् सुख का भी व्यञ्जक है[14] । हे अनघ[15] ! हे अव्यसन । हे निष्पाप ! वह सत्त्वगुण सुखसङ्ग से देही को बाँधता है । सर्वत्र प्रागुक्त सम्बोधनों का अभिप्राय स्मरण रखना चाहिए । यहाँ 'सुख और ज्ञान' -- शब्दों से उनके व्यञ्जक अन्त:करण के परिणाम कहे गये हैं, क्योंकि 'इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति:' (गीता, 13.6) -- इसमें इच्छादि के समान सुख और चेतना को भी क्षेत्र के धर्मरूप से ही कहा गया है । उसमें अन्त:करण के धर्म सुख और ज्ञान का 'अहं सुखी, अहं जाने'='मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ'-- इसप्रकार आत्मा में अध्यास 'सङ्ग' है, क्योंकि विषय का धर्म विषयी का धर्म नहीं होता है[16] । इसलिए यह अविद्यामात्र है -- यह पहले सैकड़ों बार कह चुके हैं ॥ 6 ॥

[हे कौन्तेय ! तृष्णा और सङ्ग के उत्पत्तिस्थानरूप रजोगुण को तुम रागात्मक जानो । वह देही को कर्मसङ्ग से बाँधता है ॥ 7 ॥]

13 जिससे पुरुष विषयों में रञ्जित होता है उसको राग -- काम अर्थात् गर्ध[17] कहते हैं वही है आत्मा

14. 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' (सांख्यकारिका, 13) = सत्त्वगुण लघु-हल्का है अतएव प्रकाशक – प्रकाश करनेवाला है, वह प्रीत्यात्मक – सुखात्मक-सुखरूप है ।

15. हे अनघ ! यह सम्बोधन 'सुखादिव्यवसनाभाव सम्पत्ति से सत्त्वप्रयुक्त बन्धन सम्भव नहीं है' – यह सूचित करता है ।

16. यहाँ शङ्का हो सकती है कि 'अहं सुखी', 'अहं जाने' – इसप्रकार की प्रतीतियों से तो सुख और ज्ञान आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं– ऐसा नैयायिक कहते हैं, तो यही मत क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ? इसका उत्तर है कि सुख और ज्ञान अन्त:करण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं, आत्मा में तो वे अध्यस्त होते हैं, क्योंकि विषय के धर्म विषयी के धर्म नहीं होते हैं, विषय जडवर्ग है और विषयी आत्मा-चेतन है, अत: जड़ के धर्म चेतन के धर्म नहीं हो सकते हैं, अन्यथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – दोनों में वैलक्षण्य-भङ्ग होगा ।

17. यहाँ 'राग' शब्द कामपरक है, किन्तु 'काम' कन्दर्पबोधक भी है, अतएव उसकी व्यावृत्ति के लिए पुन: 'गर्ध' कहा है जो कि 'गृधु अभिकांक्षायाम्' (दिवादिगण, 132) = 'गृध्' धातु से 'घञ्' अथवा 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । यह स्पृहात्मक – इच्छात्मक है ।

संरक्षणाभिलाष आसङ्गस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः संभवो यस्मात्तद्रजो निबध्नाति हे कौन्तेय कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थेषु अहमिदं करोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव कर्तृत्वाभिमानिनं रजसः प्रवृत्तिहेतुत्वात् ॥ 7 ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ 8 ॥

14 **तुशब्दः सत्त्वरजोपेक्षया विशेषद्योतनार्थः । अज्ञानादावरणशक्तिरूपादुद्भूतमज्ञानजं तमो विद्धि । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनमविवेकरूपत्वेन भ्रान्तिजनकम् । प्रमादेनाऽऽलस्येन निद्रया च तत्तमो निबध्नाति, देहिनमित्यनुषज्यते, हे भारत । प्रमादो वस्तुविवेकासामर्थ्यं सत्त्वकार्यप्रकाशविरोधी । आलस्यं प्रवृत्त्यसामर्थ्यं रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि । उभयविरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्निद्रेति विवेकः ॥ 8 ॥**

= स्वरूप जिसका उस रजोगुण को तुम धर्म और धर्मी के तादात्म्य के कारण रागात्मक समझो । अतएव अप्राप्त की अभिलाषा-इच्छारूप 'तृष्णा' है और प्राप्त का विनाश उपस्थित होने पर भी उसको बचाने की अभिलाषा-इच्छारूप 'आसङ्ग' है, उन तृष्णा और आसङ्ग का सम्भव-उद्भव-जन्म होता है जिससे वह तृष्णासङ्गसमुद्भव रजोगुण हे कौन्तेय ! देही को = वस्तुतः अकर्ता ही कर्तृत्वाभिमानी को कर्मसङ्ग से = दृष्ट और अदृष्ट कर्मों में 'अहमिदं करोमि' = 'मैं यह कर्म करता हूँ', 'एतत्फलं भोक्ष्ये' = 'मैं यह फल भोगूँगा' -- इसप्रकार के अभिनिवेश-विशेष से बाँधता है, क्योंकि रजोगुण ही प्रवृत्ति का हेतु है ॥ 7 ॥

[हे भारत ! तमोगुण को तो तुम अज्ञान से उत्पन्न हुआ और सब देहधारियों को मोहनेवाला जानो । वह प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है ॥ 8 ॥]

14 यहाँ 'तु' शब्द 'सत्त्व और रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण विशेष-भिन्न है' – यह द्योतित करने के लिए है । तमोगुण को तुम अज्ञानज = आवरणशक्तिरूप[18] अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो । इसी से वह सब देहधारियों को मोहनेवाला[19] -- मोहक अर्थात् अविवेकरूप, होने से भ्रान्तिजनक है । हे भारत ! वह तमोगुण देही को प्रमाद -- अनवधानता, आलस्य और निद्रा से बाँधता है । यहाँ 'देहिनम्' -- अनुषक्त-सम्बद्ध है । 'प्रमाद[20]' वस्तु के विवेक की असमर्थता को कहते हैं, यह सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश का विरोधी है । 'आलस्य[21]' प्रवृत्ति की असमर्थता को कहते हैं, यह रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति का विरोधी है । तमोगुण का आलम्बन करनेवाली वृत्ति 'निद्रा[22]' है, यह सत्त्व के प्रकाश और रजोगुण की प्रवृत्ति -- दोनों की ही विरोधिनी है -- यह विवेक है ॥ 18 ॥

18. जो स्वयं परिच्छिन्न होते हुए भी अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप को उसीप्रकार आच्छादित कर देती है जिसप्रकार एक छोटा-सा मेघ का टुकडा अनेक योजन सूर्य को भी ढक लेता है वह अज्ञान की 'आवरणशक्ति है ।

19. 'मोहनं हिताहितादिविवेकप्रतिबन्धकम्' = हिताहितादि के विवेक का प्रतिबन्धक 'मोहन' है ।

20. कार्यान्तर में आसक्ति रहने के कारण चिकीर्षित कर्त्तव्य न करना 'प्रमाद' है । वस्तुविवेकासामर्थ्यस्वरूप प्रमाद तो उपेक्षणीय है, क्योंकि उक्त अर्थ 'मोहन' के लक्षण में अन्तर्निहित है ।

21. 'निरीहतयोत्साहप्रतिबन्धस्त्वालस्यम्' = निरीहता के कारण कर्म करने के उत्साह के अभाव को 'आलस्य' कहते हैं ।

22. चित्त का अवसादरूप लय 'निद्रा' है (निद्रा चित्तस्यावसादो लयः – श्रीधरीटीका) ।

15 उक्तानां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्ष इति तत्राऽऽह -

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ 9 ॥

16 सत्त्वमुत्कृष्टं सत्सुखे सञ्जयति दुःखकारणमभिभूय सुखे संश्लेषयति । सर्वत्र देहिनमित्यनुषज्यते । एवं रज उत्कृष्टं सत्सुखकारणमभिभूय कर्मणि, सञ्जयतीत्यनुषज्यते । तमस्तु प्रमादबलेनोत्पद्य-मानमपि सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य प्रमादे प्राप्तज्ञायमानताकस्याप्यज्ञाने सञ्जयति उतापि प्राप्तकर्तव्यताकस्याप्यकरण आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयतीत्यर्थः ॥ 9 ॥

17 उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणा इत्युच्यते--

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैवं तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ 10 ॥

18 रजस्तमश्च युगपदुभावपि गुणावभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोतीति शेषः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति यदा

---

15 उक्त गुणों के मध्य में किस कार्य में किस गुण का उत्कर्ष है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं :-- [हे भारत[23] ! सत्त्वगुण जीव को सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में लगाता है और तमोगुण तो ज्ञान को आवृत करके उसको प्रमाद में भी लगाता है ॥ 9 ॥]

16 सत्त्वगुण उत्कृष्ट होकर देही – जीव को सुख में लगाता है अर्थात् दु:ख के कारण को अभिभूत कर – दबाकर सुख में संलग्न करता है । यहाँ सर्वत्र 'देहिनम्' – अनुषिक्त संबद्ध है । इसीप्रकार रजोगुण उत्कृष्ट होकर सुख के कारण को दबाकर कर्म में लगाता है – यहाँ 'सञ्जयति' -- संबद्ध है । तमोगुण तो उत्पद्यमान भी सत्त्वगुण के कार्य ज्ञान को प्रमाद के बल से आवृत -- आच्छादित करके प्रमाद में = जिसका ज्ञान अवश्य प्राप्त है उसके अज्ञान में लगाता है, यहाँ 'उत' शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त है अतएव आलस्यादि भी गृहीत है, वह तमोगुण जिसकी कर्तव्यता अवश्य प्राप्त है उसके अकरणरूप आलस्य में और तामसी निद्रा में भी लगाता है -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

17 उक्त कार्य को गुण कब करते हैं -- यह कहते हैं :-- [हे भारत[24] ! रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर -- दबाकर सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है । इसीप्रकार सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है तो वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है ॥ 10 ॥]

18 रजोगुण और तमोगुण – दोनों ही गुणों को एकसाथ अभिभूत कर – दबाकर सत्त्वगुण जब होता है अर्थात् उसका उद्भव होता है = वह बढ़ता है तब वह असाधारणतापूर्वक प्रागुक्त सुखादि अपने कार्य को करता है । यहाँ 'यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तमसाधारण्येन करोति'-- इसका अध्याहार है ।

---

23. भरत वंश में उत्पन्न हुए तुम अपने कर्म और कर्मफल में आसक्त नहीं हो यह आश्चर्य है – यह ध्वनित करने के लिए अर्जुन को भगवान् का उक्त सम्बोधन है ।

24. 'हे भारत !' यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि अर्जुन ने भा = आभा – प्रकाश = ब्रह्मविद्या में रत होकर रजोगुण और तमोगुण की तिरोधायिका सत्त्वगुण की वृद्धि का सम्पादन किया है ।

तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोति । तथा तद्वदेव तमोऽपि सत्त्वं रजश्चेत्युभावपि गुणावभिभूयोद्भवति यदा तदा स्वकार्यं प्रागुक्तं करोतीत्यर्थः ॥ 10 ॥

19 **इदानीमुद्भूतानां तेषां लिङ्गान्याह त्रिभिः--**

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ 11 ॥

20 **अस्मिन्नात्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषूपलब्धिसाधनेषु श्रोत्रादिकरणेषु यदा प्रकाशो बुद्धिपरिणामविशेषो विषयाकारः स्वविषयावरणविरोधी दीपवत्, तदेव ज्ञानं शब्दादिविषय उपजायते तदाऽनेन शब्दादिविषयज्ञानाख्यप्रकाशेन लिङ्गेन प्रकाशात्मकं सत्त्वं विवृद्धमुद्भूतमिति विद्याज्जानीयात् । उतापि सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्यर्थः ॥ 11 ॥**

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ 12 ॥

21 **महति धनागमे जायमानेऽप्यनुक्षणं वर्धमानस्तदभिलाषो लोभः स्वविषयप्राप्त्यनिवर्त्य इच्छाविशेष इति यावत् । प्रवृत्तिर्निरन्तरं प्रयतमानता । आरम्भः कर्मणां बहुवित्तव्ययायासकराणां काम्यनिषि-**

इसीप्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण और तमोगुण -- दोनों गुणों को अभिभूत कर जब होता है --बढ़ता है तब वह प्रागुक्त कर्मादि अपने कार्य को करता है । इसीप्रकार जब तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण -- दोनों गुणों को अभिभूत कर होता है -- बढ़ता है तब वह प्रागुक्त ज्ञानावरणादि अपने कार्य को करता है[25] -- यह अभिप्राय है ।। 10 ।।

19 अब उन उद्भूत -- प्रवृद्ध गुणों के चिह्नों को तीन श्लोकों से कहते हैं :--

[जिस समय इस देह में तथा सब द्वारों = अन्त:करण और इन्द्रियों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है -- ऐसा जानो ।। 11 ।।]

20 इस अपने भोगायतन देह में तथा सब द्वारों में = उपलब्धि के साधन श्रोत्रादि करणों -- इन्द्रियों में जब प्रकाश = दीपक के समान अपने विषय के आवरण का विरोधी विषयाकार बुद्धिपरिणामविशेष, वही ज्ञान = शब्दादि विषयक प्रकाश उत्पन्न होता है[26]; तब इस शब्दादिविषयक ज्ञानसंज्ञक प्रकाशरूप लिङ्ग -- चिह्न से यह जानो कि प्रकाशात्मक सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है । 'उत' का प्रयोग 'अपि' अर्थ में हुआ है अतएव 'सुखादि लिङ्ग-चिह्न से भी यह जानो कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है' -- यह अर्थ है ।। 11 ।।

[हे भरतर्षभ ! हे भरतकुलश्रेष्ठ ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा -- ये चिह्न उत्पन्न होते हैं ।। 12 ।।]

21 महान् धनागम होने पर भी धन के लिए प्रतिक्षण बढ़ती हुई अभिलाषा 'लोभ' है । अपने विषय की प्राप्ति से भी निवृत्त न होनेवाली इच्छाविशेष 'लोभ' है । 'प्रवृत्ति' निरन्तर प्रयत्न करते रहना

25. 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च' (सांख्यकारिका, 12) = ये सत्त्वादि गुण एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बननेवाले, उत्पादक -- परिणाम सहकारी और सहचारी हैं ।

26. भाव यह है कि घट और चक्षु का संयोग होने पर चक्षु द्वारा बुद्धि घटदेश में जाकर घटाकार में परिणत होती है वह बुद्धिपरिणामविशेष ज्ञान है और वही विषय-प्रकाश है उसी में विषय प्रकाशित होता है ।

द्वलौकिकमहागृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः । अशम इदं कृत्वेदं करिष्यामीतिसंकल्पप्रवाहानुपरमः । स्पृहोच्चावचेषु परधनेषु दृष्टमात्रेषु येन केनाप्युपायेनोपादित्सा । रजसि रागात्मके विवृद्ध एतानि रागात्मकानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ । एतैर्लिङ्गैर्विवृद्धं रजो जानीयादित्यर्थः ॥ 12 ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ 13 ॥

22 **अप्रकाशः सत्यप्युपदेशादौ बोधकारणे सर्वथा बोधायोग्यत्वम् । अप्रवृत्तिश्च सत्यप्यग्निहोत्रं जुहुयादित्यादौ प्रवृत्तिकारणे जनितबोधेऽपि शास्त्रे सर्वथा तत्प्रवृत्त्ययोग्यत्वम् । प्रमादस्तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसंधानाभावः । मोह एव च मोहो निद्रा विपर्ययो वा । चौ समुच्चये । एवकारो व्यभिचारवारणार्थः । तमस्येव विवृद्ध एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे कुरुनन्दन ! अत एतैर्लिङ्गैरव्यभिचारिभिर्विवृद्धं तमो जानीयादित्यर्थः ॥ 13 ॥**

23 **इदानीं मरणसमये विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह द्वाभ्याम् –**

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ 14 ॥

है । 'आरम्भ' अधिक धनव्यय और प्रयत्नसाध्य-परिश्रमसाध्य काम्य, निषिद्ध, लौकिक महागृहादि विषयक व्यापाररूप कर्मों में उद्यम – उद्योग करना है । 'इदं कृत्वेदं करिष्यामि' = 'यह करकर यह करूँगा' – इसप्रकार के संकल्पप्रवाह का न रुकना 'अशम' है । दूसरों के अधिक या कम धन को देखते ही जिस-किसी उपाय से उसको प्राप्त करने की इच्छा 'स्पृहा' है । हे भरतर्षभ[27] ! हे भरतवंशश्रेष्ठ ! ये रागात्मक लिङ्ग-चिह्न रागात्मक रजोगुण की वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं अर्थात् इन लिङ्गों-चिह्नों से प्रवृद्ध रजोगुण समझो ।। 12 ।।

[हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की ही वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह – ये चिह्न उत्पन्न होते हैं ।। 13 ।।]

22 'अप्रकाश' बोध-ज्ञान के कारणभूत उपदेशादि के रहने पर भी सर्वथा बोध-ज्ञान की अयोग्यता बनी रहना है । 'अप्रवृत्ति' प्रवृत्ति के कारणभूत 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' -- इत्यादि वाक्य से जनित शास्त्रबोध के रहने पर भी उसमें सर्वथा प्रवृत्ति की अयोग्यता रहना है । तत्काल कर्त्तव्यरूप से प्राप्त अर्थ-पदार्थ का अनुसन्धान न होना 'प्रमाद' है । 'मोह' निद्रा अथवा विपर्यय है । यहाँ दो चकार समुच्चय के लिए हैं । 'एव' शब्द व्यभिचार का निवारण करने के लिए है अर्थात् ये चिह्न सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर नहीं होते हैं, किन्तु 'तमस्येव प्रवृद्धे' = तमोगुण की ही वृद्धि होने पर उत्पन्न होते हैं, अतः हे कुरुनन्दन[28] ! इन अव्यभिचारी लिङ्गों से बढ़े हुए तमोगुण को जानो ।। 13 ।।

23 अब मरने के समय बढ़े हुए सत्त्वादि का फलविशेष दो श्लोकों से कहते हैं :--
[जब देहधारी जीव सत्त्वगुण की प्रवृद्धि में प्रलय-मृत्यु को प्राप्त होता है तब तो वह हिरण्यगर्भादि की उपासना करनेवालों के अमल-निर्मल = मलरहित अर्थात् दिव्य लोकों को प्राप्त होता है ।। 14 ।।]

---

27. सभी भरतवंशियों में श्रेष्ठ तुम रजोगुण के चिह्नों का आश्रय लेने के योग्य नहीं हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

28. तुम तो उत्तम सात्त्विक वंश में उत्पन्न हुए हो अतएव तमोगुण के चिह्नों का आश्रय ग्रहण करने के योग्य नहीं हो – यह सूचित करने के लिए 'हे कुरुनन्दन !' सम्बोधन है ।

24 सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा प्रलयं मृत्युं याति प्राप्नोति देहभृद्देहाभिमानी जीवः, तदोत्तमा ये हिरण्यगर्भादयस्तद्विदां तदुपासकानां लोकान्देवसुखोपभोगस्थानविशेषानमलान्रजस्तमोमलरहितान्प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥ 14 ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ 15 ॥

25 रजसि प्रवृद्धे सति प्रलयं मृत्युं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धकर्मफलाधिकारिषु मनुष्येषु जायते। तथा तद्वदेव तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ॥ 15 ॥

26 इदानीं स्वानुरूपकर्मद्वारा सत्त्वादीनां विचित्रफलतां संक्षिप्याऽऽह–

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ 16 ॥

27 सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो धर्मस्य सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं निर्मलं रजस्तमोमलामिश्रितं सुखं फलमाहुः परमर्षयः । रजसो राजसस्य तु कर्मणः पापमिश्रस्य पुण्यस्य फलं राजसं दुःखं दुःखबहुलमल्पं सुखं कारणानुरूप्यात्कार्यस्य । अज्ञानमविवेकप्रायं दुःखं तामसं तमसस्तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य फलम् । आहुरित्यनुषज्यते । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च नियतं सङ्गरहितमित्यादिनाऽष्टादशे वक्ष्यति । अत्र रजस्तमःशब्दौ तत्कार्ये कर्मणि प्रयुक्तौ कार्यकारणयोरभे-

---

24 जब देहधारी = देहाभिमानी जीव सत्त्वगुण के प्रवृद्ध होने पर प्रलय = मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह उत्तम जो हिरण्यगर्भादि हैं उनके वेत्ताओं के = उनके उपासकों के अमल = रजोगुण और तमोगुणरूप मल से रहित लोकों को = देवताओं के सुखोपभोग के योग्य स्थानविशेषों को प्राप्त होता है ॥ 14 ॥
[रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त कर वह देहधारी जीव कर्मासक्त जीवों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण की प्रवृद्धि में प्रलीन-मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥ 15 ॥]

25 रजोगुण की प्रवृद्धि होने पर प्रलय = मृत्यु को प्राप्त होकर वह देहधारी जीव कर्मसङ्गी = श्रुति और स्मृति द्वारा विहित एवं निषिद्ध कर्मफल के अधिकारी मनुष्यों में जन्म लेता है तथा उसीप्रकार तमोगुण की वृद्धि होने पर प्रलीन -- मृत जीव पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥ 15 ॥

26 अब अपने अनुरूप कर्म द्वारा सत्त्वादि गुणों की विचित्रफलता को संक्षेप में कहते हैं :--
[महर्षियों ने सुकृत -- सात्त्विक कर्म का सात्त्विक और निर्मल फल कहा है तथा राजस कर्म का तो फल दु:ख और तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है ॥ 16 ॥]

27 सुकृत = सात्त्विक कर्म अर्थात् धर्म का फल महर्षियों ने सात्त्विक = सत्त्वगुण से निर्वृत्त – निष्पन्न और निर्मल = रजोगुण और तमोगुणरूप मल से अमिश्रित -- न मिला हुआ अर्थात् सुख कहा है । रजसः = राजस = पापमिश्रित पुण्य कर्म का फल राजस = दु:ख अर्थात् दु:ख की बहुलता से युक्त अल्पसुख कहा है, क्योंकि कार्य कारण के ही अनुरूप हुआ करता है । तमस: = तामस कर्म अर्थात् अधर्म का फल अज्ञान = अविवेकप्राय तामस दु:ख कहा है । यहाँ 'आहु:'-- यह क्रियापद अनुषिक्त-सम्बद्ध है । सात्त्विकादि कर्मो के लक्षण 'नियतं सङ्गरहितम्' -- इत्यादि से अठारहवें अध्याय में कहेंगे । यहाँ 'रज:' और 'तम:'-- ये दोनों शब्द उनके कार्यभूत कर्मों में प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि कार्य और कारण में अभेद का उपचार होता है । 'गोभि: श्रीणीत मत्सरम्' = 'गो-दुग्ध से मत्सर

दोपचारात् 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इत्यत्र यथा गोशब्दस्तत्प्रभवे पयसि, यथा वा 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इत्यत्र धान्यशब्दस्तत्प्रभवे तण्डुले । तत्र पयस्तण्डुलयोरिवात्रापि कर्मणः प्रकृतत्वात् ॥ 16 ॥

28 एतादृशफलवैचित्र्ये पूर्वोक्तमेव हेतुमाह –

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ 17 ॥

29 सर्वकरणद्वारकं प्रकाशरूपं ज्ञानं सत्त्वात्संजायते । अतस्तदनुरूपं सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति । रजसो लोभो विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषो जायते । तस्य च निरन्तरमुपचीयमानस्य पूरयितुमशक्यस्य सर्वदा दुःखहेतुत्वात्तत्पूर्वकस्य राजसस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति । एवं प्रमादमोहौ तमसः सकाशाद्भवतो जायेते । अज्ञानमेव च भवति । एवकारः प्रकाशप्रवृत्तिव्यावृत्त्यर्थः । अतस्तामसस्य कर्मणस्तामसमज्ञानादिप्रायमेव फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः । अत्र चाज्ञानमप्रकाशः । प्रमादो मोहश्चाप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चेत्यत्र व्याख्यातौ ॥ 17 ॥

30 इदानीं सत्त्वादिवृत्तस्थानां प्रागुक्तमेव फलमूर्ध्वमध्याधोभावेनाऽऽह–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ 18 ॥

पकाओ-- इत्यादि में जैसे – 'गो' शब्द उसके कार्य अर्थात् उससे प्राप्त होने वाले 'दुग्ध' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' = 'तुम धान्य – चावल हो, देवताओं को तृप्त करो' – इत्यादि में जैसे -- 'धान्य' शब्द उससे उत्पन्न होनेवाले 'चावल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । कारण कि वहाँ जैसे दुग्ध और चावल प्रकरण प्राप्त हैं वैसे ही यहाँ कर्म भी प्रकृत -- प्रकरण प्राप्त है ।। 16 ।।

28 इसप्रकार की फलविचित्रता में पूर्वोक्त हेतु ही कहते हैं :–
[सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान ही होता है ।। 17 ।।]

29 समस्त इन्द्रियोंरूप द्वारवाला प्रकाशरूप ज्ञान सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है । अत: उसके अनुरूप सात्त्विक कर्म का फल प्रकाशबहुल सुख होता है । रजोगुण से लोभ = करोड़ों विषयों की प्राप्ति से भी निवृत्ति करने में अशक्य -- असंभव अभिलाषा-इच्छा-विशेष का जन्म होता है और उसके निरन्तर बढ़ते रहने से उसकी पूर्ति करना संभव न होने से, सर्वदा दु:ख का हेतु होने के कारण लोभपूर्वक होनेवाले राजस कर्म का फल दु:ख होता है । इसीप्रकार प्रमाद और मोह तमोगुण से होते हैं तथा इससे अज्ञान ही होता है । यहाँ 'एव' शब्द सात्त्विक प्रकाश और राजसी प्रवृत्ति की व्यावृत्ति के लिए है, अत. तामस कर्म का तामस अज्ञानादिप्राय ही फल होता है अर्थात् यह उचित ही है । यहाँ अज्ञान अप्रकाश है । प्रमाद और मोह -- इन दोनों की व्याख्या 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' -- इत्यादि में की जा चुकी है ।। 17 ।।

30 अब सत्त्वादि -- सात्त्विकादि आचरणों में स्थित पुरुषों का पूर्वोक्त ही फल ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाव से कहते हैं :--

31 अत्र तृतीये गुणे वृत्तशब्दप्रयोगादाद्ययोरपि वृत्तमेव विवक्षितम् । तेन सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्ते शास्त्रीये ज्ञाने कर्मणि च निरता ऊर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तं देवलोकं गच्छन्ति ते देवेषूत्पद्यन्ते ज्ञानकर्मतारतम्येन। तथा मध्ये मनुष्यलोके पुण्यपापमिश्रे तिष्ठन्ति न तूर्ध्वं गच्छन्त्यधो वा मनुष्येषूत्पद्यन्ते राजसा रजोगुणवृत्ते लोभादिपूर्वके राजसे कर्मणि निरताः । जघन्यगुणवृत्तस्था जघन्यस्य गुणद्वयापेक्षया पश्चाद्भाविनो निकृष्टस्य तमसो गुणस्य वृत्ते निद्रालस्यादौ स्थिता अधो गच्छन्ति पश्वादिषूत्पद्यन्ते । कदाचिज्जघन्यगुणवृत्तस्थाः सात्त्विका राजसाश्च भवन्त्यत आह - तामसाः सर्वदा तमःप्रधानाः । इतरेषां कदाचित्तद्वृत्तस्थत्वेऽपि न तत्प्रधानतेति भावः ॥ 18 ॥

32 अस्मिन्नध्याये वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतमर्थत्रयम् । तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वं के वा गुणाः कथं वा ते बध्नन्तीत्यर्थद्वयमुक्तम् । अधुना तु गुणेभ्यः कथं मोक्षणं मुक्तस्य च किं लक्षणमिति वक्तव्यमवशिष्यते । तत्र मिथ्याज्ञानात्मकत्वाद् गुणानां सम्यग्ज्ञानात्तेभ्यो मोक्षणमित्याह –

[सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊर्ध्व लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य के लोकों में रहते हैं और जघन्य अर्थात् पश्चाद्भावी निकृष्ट तमोगुण के आचरण में स्थित तामस पुरुष अधोलोकों को जाते हैं ॥ 18 ॥]

31 यहाँ तृतीय गुण के साथ 'वृत्त' शब्द का प्रयोग होने से प्रथम दो गुणों अर्थात् सत्त्वगुण और रजोगुण के साथ भी 'वृत्त' शब्द विवक्षित ही है । अत: सत्त्वस्थ = सत्त्ववृत्त – सात्त्विक आचरण अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान और कर्म में स्थित – निरत-रत पुरुष ऊर्ध्व लोक अर्थात् सत्यलोकपर्यन्त देवलोक को जाते हैं, वे ज्ञान और कर्म के तारतम्य से देवताओं में उत्पन्न होते हैं । तथा राजस = रजोगुण के वृत्त-आचरण अर्थात् लोभादिपूर्वक राजस कर्म में स्थित -- निरत -- तत्पर पुरुष मध्य के लोक अर्थात पुण्य और पाप से मिश्रित मनुष्यलोक में रहते हैं, न कि ऊर्ध्व लोक को जाते हैं, अथवा अधोलोक को जाते हैं, अपितु मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं । तथा जघन्यगुणवृत्तस्थ = जघन्य अर्थात् सत्त्वगुण और रजोगुण की अपेक्षा पश्चाद्भावी निकृष्ट तमोगुण के वृत्त – आचरण निद्रा, आलस्यादि में स्थित पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं -- अधोलोक को जाते हैं = पशु आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं । सात्त्विक और राजस पुरुष कदाचित् जघन्यगुणवृत्तस्थ होते हैं तो इसपर कहते हैं -- 'तामसा:[29]' अर्थात् जो सर्वदा तमःप्रधान हैं वे अधोगति को प्राप्त होते हैं । भाव यह है कि अन्य सात्त्विक और राजस पुरुषों की कदाचित् तामस आचरण में स्थिति होने पर भी उनमें तम:प्रधानता नहीं होती है ॥ 18 ॥

32 इस अध्याय में वक्तव्यरूप से तीन अर्थ प्रस्तुत हुए हैं । उनमें से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग की ईश्वराधीनता तथा गुण कौन-कौन से हैं और वे गुण पुरुष को कैसे बाँधते हैं – ये दो अर्थ कहे जा चुके हैं । अब तो 'गुणों से कैसे मोक्ष होगा और उनसे मुक्त हुए पुरुष का क्या लक्षण है' -- यह वक्तव्य ही अवशिष्ट है । उसमें 'गुण मिथ्याज्ञानस्वरूप है, अत: सम्यग्ज्ञान द्वारा उनसे मोक्ष हो सकता है' – यह कहते हैं :–

29. श्लोकस्थ 'तामसा:' – यह विशेषण सात्त्विक और राजस पुरुषों की व्यावृत्ति करने के लिए है । सात्त्विक और राजस पुरुष भी कदाचित् जघन्यगुणवृत्तस्थ हो जाते हैं तो वे अधोगति को प्राप्त नहीं होते हैं, केवल 'तामसा:' अर्थात् जो सर्वदा तम:प्रधान हैं वे ही अधोगति को प्राप्त होते हैं, कारण कि सात्त्विक और राजस पुरुषों की कदाचित् जघन्यगुणवृत्त में स्थिति होने पर भी उनमें तम:प्रधानता नहीं होती हैं ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ 19 ॥

33 **गुणेभ्यः कार्यकरणविषयाकारपरिणतेभ्योऽन्यं कर्तारं यदा द्रष्टा विचारकुशलः सन्नानुपश्यति विचारमनु न पश्यति गुणा एवान्तःकरणबहिष्करणशरीरविषयभावापन्नाः सर्वकर्मणां कर्तार इति पश्यति । गुणेभ्यश्च तत्तदवस्थाविशेषेण परिणतेभ्यः परं गुणतत्कार्यासंस्पृष्टं तद्भासकमादित्यमिव जलतत्कम्पाद्यसंस्पृष्टं निर्विकारं सर्वसाक्षिणं सर्वत्र समं क्षेत्रज्ञमेकं वेत्ति । मद्भावं मद्रूपतां स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥ 19 ॥**

34 **कथमधिगच्छतीत्युच्यते -**

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ 20 ॥

35 **गुणानेतान्मायात्मकास्त्रीन्सत्त्वरजस्तमोनाम्नो देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिबीजभूतानतीत्य जीवन्नेव तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्जन्मना मृत्युना जरया दुःखैश्चाऽऽध्यात्मिकादिभिर्मायामयैर्विमुक्तो जीवन्नेव तत्संबन्धशून्यः सन्विद्वानमृतं मोक्षं मद्भावमश्नुते प्राप्नोति ॥ 20 ॥**

[जब द्रष्टा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण -- इन तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से परे क्षेत्रज्ञ को जानता है तब वह मद्भाव = मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ 19 ॥]

33 जब पुरुष द्रष्टा = विचारकुशल होकर देह, इन्द्रिय और विषय के आकार में परिणत गुणों से भिन्न अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है -- विचारपूर्वक नहीं देखता है, किन्तु 'अन्तःकरण, बहिष्करण -- इन्द्रिय, शरीर, और विषय के स्वरूप को प्राप्त कर गुण ही सब कर्मों के कर्ता हैं' -- ऐसा देखता है । उस-उस अवस्थाविशेष में परिणत गुणों से परे = जल और उसके कम्पादि से असंस्पृष्ट किन्तु उनके प्रकाशक सूर्य के समान गुण और उनके कार्यों से असंस्पृष्ट किन्तु उनके भासक -- प्रकाशक निर्विकार, सर्वसाक्षी, सर्वत्र समान, एक-अद्वितीय क्षेत्रज्ञ को जानता है । तब वह द्रष्टा -- विचारकुशल मद्भावं = मद्रूपता -- मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है[30] ॥ 11 ॥

34 कैसे प्राप्त होता है -- यह कहते हैं :--
[देही जीव देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन सत्त्वादि तीन गुणों को पार करके जन्म, मृत्यु और जरारूप दुःखों से विमुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ 20 ॥]

35 विद्वान् देही जीव देहसमुद्भव = देहोत्पत्ति के बीजभूत इन सत्त्व, रज और तमः संज्ञक तीन मायात्मक गुणों को पार करके = जीवित रहते हुए ही तत्त्वज्ञान से बाधित करके जन्म, मृत्यु और जरारूप दुःखों से जन्म, मृत्यु और जरावस्था से होनेवाले आध्यात्मिकादि मायामय दुःखों से विमुक्त होकर = जीवित रहते हुए ही उनके सम्बन्ध से शून्य होकर अमृत = मोक्ष अर्थात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है[31] ॥ 20 ॥

---

30. वह द्रष्टा पुरुष ब्रह्म रूपता को प्राप्त कर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होता है ।

31. विद्वान् द्रष्टा पुरुष आयु तक जीवन्मुक्त का आनन्द प्राप्त करता है तथा देहपात के पश्चात् परमानन्दस्वरूप कैवल्य -- मोक्ष को प्राप्त होता है ।

36 **गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुत इत्येतच्छ्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणं चाऽऽचारं च गुणातीतत्वोपायं च सम्यग्बुभुत्समानः -**

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ 21 ॥

37 **एतान्गुणानतीतो यः स कैर्लिङ्गैर्विशिष्टो भवति। यैर्लिङ्गैः स ज्ञातुं शक्यस्तानि मे ब्रूहीत्येकः प्रश्नः। प्रभुत्वाद् भृत्यदुःखं भगवतैव निवारणीयमिति सूचयन्संबोधयति - प्रभो इति। क आचारोऽस्येति किमाचारः। किं यथेष्टचेष्टः किं वा नियन्त्रित इति द्वितीयः प्रश्नः। कथं च केन च प्रकारेणैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्ततेऽतिक्रामतीति गुणातीतत्वोपायः क इति तृतीयः प्रश्नः॥21॥**

38 **स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्यादिना पृष्टमपि प्रजहाति यदा कामानित्यादिना दत्तोत्तरमपि पुनः प्रकारान्तरेण बुभुत्समानः पृच्छतीत्यवधाय प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं पञ्चभिः श्लोकैः –**

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ 22 ॥

---

36 'गुणानेतानतीत्य जीवन्नेवामृतमश्नुते' = 'विद्वान् देही इन सत्त्वादि तीन गुणों को पार करके जीवित रहते हुए ही अमृतत्व -- मोक्ष को प्राप्त होता है' -- यह सुनकर गुणातीत का लक्षण, उसका आचरण और गुणातीत होने का उपाय -- इनको सम्यक् प्रकार से जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे प्रभो ! इन सत्त्वादि तीन गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लिङ्गों -- लक्षणों से युक्त होता है ? उसका क्या आचरण होता है ? और वह किस प्रकार अर्थात् किस उपाय से इन तीन गुणों से अतीत होता है ? ॥ 21 ॥]

37 जो पुरुष इन सत्त्वादि तीन गुणों से अतीत हुआ होता है वह किन लिङ्गों[32] -- लक्षणों से विशिष्ट होता है ? अर्थात् जिन लक्षणों से वह जाना जा सकता है उन लक्षणों को मुझसे कहिए -- यह एक प्रश्न है। प्रभु-समर्थ-ईश्वर होने के कारण भृत्य -- सेवक का दु:ख भगवान् के द्वारा ही निवारणीय है = भगवान् को ही दूर करना चाहिए -- यह सूचित करते हुए अर्जुन 'हे प्रभो !' – यह सम्बोधन करते हैं। 'क आचारोऽस्येति किमाचार:' = उसका क्या आचरण होता है ? क्या वह यथेष्ट चेष्टा करनेवाला होता है ? अथवा, क्या वह नियत चेष्टावान् होता है ? -- यह द्वितीय प्रश्न है। वह कैसे और किसप्रकार से इन तीन गुणों से अतीत होता है ? अर्थात् गुणातीत होने का उपाय क्या है ? -- यह तृतीय प्रश्न है ॥ 21 ॥

38 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (गीता, 2.54) इत्यादि से पृष्ट भी और 'प्रजहाति यदा कामान्' (गीता, 2.55) इत्यादि से दत्तउत्तर -- कृतसमाधान भी पुन: प्रकारान्तर से जिज्ञासु अर्जुन पूछ रहा है -- यह जानकर प्रकारान्तर से भगवान् उस गुणातीत के लक्षणादि को पाँच श्लोकों से कहते हैं :--

---

32. 'लीनमज्ञातविषयं गमयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्' = जिससे अज्ञात विषय ज्ञात होता है वह 'लिङ्ग' या 'लक्षण' या 'चिह्न' कहलाता है।

39 यस्तावत्कैर्लिङ्गैर्युक्तो गुणातीतो भवतीति प्रश्नस्तस्योत्तरं शृणु - प्रकाशं च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिं च रजःकार्यं मोहं च तमःकार्यम् । उपलक्षणमेतत् । सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वसामग्रीवशादुद्भूतानि सन्ति दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि । तथा विनाशसामग्रीवशान्निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति न कामयते स्वप्नवन्मिथ्यात्वनिश्चयात् । एतादृशद्वेषरागशून्यो यः स गुणातीत उच्यत इति चतुर्थश्लोकगतेनान्वयः । इदं च स्वात्मप्रत्यक्षं लक्षणं स्वार्थमेव न परार्थम् । न हि स्वाश्रितौ द्वेषतदभावौ रागतदभावौ च परः प्रत्येतुमर्हति ॥ 22 ॥

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे पाण्डव ! जो पुरुष प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह में दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है और निवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह में सुखबुद्धि द्वारा उनकी आकांक्षा नहीं करता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ॥ 22 ॥]

39 'गुणातीत किन लिङ्गों -- लक्षणों से युक्त होता है' ? तुम्हारा यह जो प्रथम प्रश्न है उसका उत्तर सुनोः-- प्रकाश सत्त्वगुण का कार्य है, प्रवृत्ति रजोगुण का कार्य है और मोह तमोगुण का कार्य है । प्रकाशादि शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र हैं । सभी गुणकार्य जैसे-जैसे प्रवृत्त होते हैं स्वसामग्रीवश उद्भूत -- अभिव्याप्त होते हैं अतएव दु:खरूप भी होते हैं, फिर भी जो दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है । तथा विनाशसामग्रीवश ये निवृत्त होते हैं अतएव सुखरूप होते हैं, उन निवृत्त हुए सुखरूप गुणकार्यों की जो सुखबुद्धि से आकांक्षा -- कामना नहीं करता है, क्योंकि उसने उनको स्वप्न के समान मिथ्या मान रखा है[33] । इसप्रकार के द्वेष और राग से जो शून्य होता है वह 'गुणातीत' कहा जाता है -- इसप्रकार इसका चतुर्थ श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के 'गुणातीतः स उच्यते' -- इस वाक्य के साथ अन्वय है । यह गुणातीत का लक्षण[34] स्वात्मप्रत्यक्ष -- अपने आप को प्रत्यक्ष होनेवाला अर्थात् गुणातीत को प्रत्यक्ष होनेवाला लक्षण है अतएव स्वार्थ -- अपने लिए अर्थात् गुणातीत के लिए ही है, परार्थ -- किसी दूसरे के लिए नहीं है, क्योंकि स्वाश्रित -- अपने में रहनेवाले द्वेष और उसके अभाव तथा राग और उसके अभाव को कोई दूसरा नहीं जान सकता है ॥ 22 ॥

33. अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों के कार्य जैसे-जैसे प्रवृत्त होते हैं – स्वभाववश अपने आप प्राप्त होते हैं, स्वसामग्रीवश विषयरूप से उद्भूत – अभिव्याप्त होते हैं अतएव दु:खरूप होते हैं । 'मुझमें तामसभाव उत्पन्न हो गया है, उससे मैं मोहित हूँ' तथा 'दु:खात्मिका राजसी प्रवृत्ति मुझमें उत्पन्न हो गई है, अत: मैं राजसभाव से कर्म में प्रवृत्त हूँ तथा स्वरूप से विचलित हूँ, इसप्रकार अपनी स्वरूपस्थिति से विचलित होने के कारण मुझको बडा कष्ट है', तथा 'प्रकाशात्मा सात्त्विक गुण मुझको विवेकित्व प्रदान करके और सुख में नियुक्त करके बाँधता है' – इसप्रकार साधारण मनुष्य अतत्त्वदर्शी होने के कारण उन गुणकार्यों को उद्भूत देखकर उनसे द्वेष करता है अर्थात् दु:खबुद्धि से उन सबका परिहार करने के लिए इच्छा करता है, किन्तु गुणातीत पुरुष उनके प्रवृत्त होने पर दु:खबुद्धि द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता है । जब ये गुणकार्य उद्भूत होकर निवृत्त – अदर्शनप्राप्त हो जाते हैं तब अज्ञानी पुरुष सुखबुद्धि से उनको 'ये पुन: उद्भूत हों' – ऐसा चाहता है, किन्तु गुणातीत पुरुष उनके निवृत्त होने पर भी उनकी सुखबुद्धि से आकांक्षा-इच्छा नहीं करता है, क्योंकि उसने उनको स्वप्न के समान मिथ्या मान रखा है ।

34. लक्षण दो प्रकार के होते हैं – स्वार्थ और परार्थ । जो मात्र अपने अनुभव से गम्य होता है वह 'स्वार्थ' लक्षण होता है, जैसे -- भूख-प्यास लगने पर खाना-पीना हितकर है । यह अपने में अपने ही से ज्ञात होता है, दूसरे के द्वारा अनुभव इसका नहीं किया जाता है । जो लक्षण दूसरों के लिए होता है वह 'परार्थ' होता है । जैसे – 'गन्धवती पृथिवी' – यह लक्षण सभी के लिए होता है । गन्ध पदार्थ का प्रत्यक्ष सबको होता है । प्रकृत

40 एवं लक्षणमुक्त्वा गुणातीतः किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह त्रिभिः -

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ 23 ॥

41 यथोदासीनो द्वयोर्विवदमानयोः कस्यचित्पक्षमभजमानो न रज्यति न वा द्वेष्टि तथाऽयमात्मविद्रागद्वेषशून्यतया स्वस्वरूप एवाऽऽसीनो गुणैः सुखदुःखाद्याकारपरिणतैर्यो न विचाल्यते न प्रच्याव्यते स्वरूपावस्थानात्, किं तु गुणा एवैते देहेन्द्रियविषयाकारपरिणताः परस्परस्मिन्वर्तन्ते । मम त्वादित्यस्येवैतत्सर्वभासकस्य न केनापि भास्यधर्मेण संबन्धः । स्वप्नवन्मायामात्रश्चायं भास्यप्रपञ्चो जडः स्वयंज्योतिःस्वभावस्त्वहं परमार्थसत्यो निर्विकारो द्वैतशून्यश्चेत्येवं निश्चित्य यः स्वरूपेऽवतिष्ठत्यवतिष्ठते । यो न तिष्ठतीति वा पाठस्तत्र नुः पृथक्कार्यः । नेङ्गते न तु व्याप्रियते कुत्रचित् ।गुणातीतः स उच्यत इति तृतीयगतेनान्वयः ॥ 23 ॥

40 इसप्रकार गुणातीत का लक्षण कहकर 'गुणातीत कैसे आचरणवाला होता है' – इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर तीन श्लोकों से कहते हैं :--

[जो पुरुष उदासीन के समान अपने स्वरूप में आसीन-स्थित रहकर गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता है तथा 'गुण ही गुणों में वर्तते हैं' -- ऐसा समझकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है – किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है वह 'गुणातीत' कहा जाता है ॥ 23 ॥]

41 जैसे कोई उदासीन पुरुष = किन्हीं दो विवाद करनेवाले पुरुषों में से किसी का भी पक्ष न लेनेवाला पुरुष न राग करता है और न द्वेष करता है, वैसे ही यह आत्मवित् राग और द्वेष से शून्य होने के कारण अपने स्वरूप में ही उदासीन -- स्थित रहकर सुख-दु:खादि के आकार में परिणत गुणों से जो विचलित नहीं किया जाता है -- स्वरूपावस्थान होने से प्रच्युत नहीं किया जाता है; किन्तु 'ये गुण ही देह, शरीर और विषय के आकार में परिणत होकर परस्पर -- एक दूसरे में वर्तते हैं, मेरा तो इन सबके भासक-प्रकाशक सूर्य के समान किसी भी भास्य-प्रकाश्य वस्तु के धर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है, स्वप्न के समान मायामात्र यह भास्य-प्रकाश्य प्रपञ्च जड है, स्वयंज्योति:स्वभाव -- स्वयंप्रकाशस्वरूप मैं तो परमार्थसत्य, निर्विकार और द्वैतशून्य हूँ' -- ऐसा निश्चय कर जो स्वरूप में अवस्थित रहता है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' -- पाठ भी है, वहाँ 'नु' को पृथक् कर 'यो नु तिष्ठति' -- पाठ समझना चाहिए[35] । जो किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है = कहीं भी व्यापारयुक्त नहीं होता है, वह 'गुणातीत' कहा जाता है -- इसप्रकार इसका तृतीय श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 23 ॥

में राग-द्वेष आत्मगत हैं, अतः वे मानसप्रत्यक्ष के विषय हैं, राग-द्वेषाभाव भी मानसप्रत्यक्षगम्य हैं । अन्यदीय मानसप्रत्यक्षगम्य राग-द्वेष और उसके अभाव को अन्य नहीं जान सकता है । इसीलिए कहा है – गुणातीत का लक्षण स्वात्मप्रत्यक्ष होने से स्वार्थ ही है ।

35. 'समवप्रविभ्य: स्थ:' (पाणिनिसूत्र, 1.3.22) = 'सम्, अव, प्र और वि उपसर्ग पहले होने पर 'स्था' धातु आत्मनेपदी होती है' – इस सूत्र के अनुसार 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'स्था' धातु का रूप 'अवतिष्ठते' होगा, अत: प्रकृत में 'अवतिष्ठते' – यह पाठ ही शुद्ध होगा, किन्तु श्लोक में छन्दोभंग के भय से 'योऽवतिष्ठते' – इस आत्मनेपद के स्थान पर 'योऽवतिष्ठति' – इस परस्मैपद का प्रयोग किया गया है । अथवा, 'योऽवतिष्ठति' – यह परस्मैपद का प्रयोग आर्ष है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' – यह पाठान्तर भी है । वहाँ 'नु' पृथक् कर 'यो नु तिष्ठति' पाठ समझना चाहिए, क्योंकि प्रकृत में 'तिष्ठति' के साथ स्वयं का ही सम्बन्ध ईप्सित है, 'नु' का वही सम्बन्ध है, 'नु' का सम्बन्ध हटने पर अनुष्ठान की प्रतीति होती है वह शरीरादि साध्य है । इसके अतिरिक्त 'नेङ्गते'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ 24 ॥

42 **समे दुःखसुखे द्वेषरागशून्यतयाऽनात्मधर्मतयाऽनृततया च यस्य स समदुःखसुखः । कस्मादेवं यस्मात्स्वस्थः स्वस्मिन्नात्मन्येव स्थितो द्वैतदर्शनशून्यत्वात् । अत एव समानि हेयोपादेय-भावरहितानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथा । लोष्टः पांसुपिण्डः । अत एव तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने यस्य हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वाभावेनोपेक्षणीयत्वात् । धीरो धीमान्धृतिमान्वा । अत एव तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती दोषकीर्तनगुणकीर्तने यस्य स गुणातीत उच्यत इति द्वितीयगतेनान्वयः ॥ 24 ॥**

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ 25 ॥

43 **मानः सत्कार आदरापरपर्यायः । अपमानस्तिरस्कारोऽनादरापरपर्यायः । तयोस्तुल्यो हर्षविषादशून्यः । निन्दास्तुती शब्दरूपे मानापमानौ तु शब्दमन्तरेणापि कायमनोव्यापार-विशेषाविति भेदः । अत्र पकारवकारयोः पाठविकल्पेऽप्यर्थः स एव । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः,**

[जो पुरुष दु:ख और सुख में समान, स्वस्थ = अपने में – अपने स्वरूप में स्थित; लोष्ट -- मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण में समान दृष्टिवाला, प्रिय और अप्रिय के प्रति समान, धैर्यवान् तथा अपनी स्तुति और निन्दा में समान है वह 'गुणतीत' कहा जाता है ॥ 24 ॥]

42 द्वेष और राग से शून्य होने के कारण, अनात्म धर्म होने से -- आत्मधर्म न होने से और अनृत -- असत्य -- मिथ्या होने से समान हैं दु:ख और सुख जिसके लिए वह 'समदु:खसुख' है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि 'स्वस्थ' है = द्वैतदर्शनशून्य होने से -- द्वैत दर्शन न होने से स्वस्मिन् -- आत्मनि = अपने आत्मा में ही स्थित है । अतएव लोष्ट -- ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान = हेयोपादेयभावरहित हैं जिसके लिए वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' है । लोष्ट मिट्टी के पिण्ड को कहते हैं । अतएव प्रिय और अप्रिय = सुख और दु:ख के साधन समान हैं जिसके लिए वह हितसाधनत्व, अहितसाधनत्व और बुद्धिविषयत्व के अभाव से उपेक्षणीय होने के कारण धीर = धीमान्-बुद्धिमान् अथवा धैर्यवान् है । अतएव निन्दा और आत्मस्तुति अर्थात् दोषकीर्तन और गुणकीर्तन भी समान हैं जिसके लिए वह 'गुणातीत' कहा जाता है-- इसप्रकार इसका द्वितीय श्लोक = पच्चीसवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 24 ॥

[जो पुरुष मान और अपमान में समान, मित्र और शत्रु -- दोनों ही पक्षों में समान और सम्पूर्ण आरम्भों का परित्यागी होता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ॥ 25 ॥]

43 'मान' सत्कार है, इसका दूसरा पर्याय 'आदर' है । 'अपमान' तिरस्कार है, इसका दूसरा पर्याय 'अनादर' है । उन मान और अपमान -- दोनों में जो तुल्य है अर्थात् हर्षविषादशून्य है[36] । निन्दा

से यहाँ अनुष्ठान-चेष्टा-व्यापार का प्रतिषेध किया गया है, अत: उक्त पाठान्तर में 'नु' को पृथक् करना ही उचित है । अथवा, 'योऽनुतिष्ठति' पाठ ग्रहण करने पर अर्थ होगा – जो सब गुणकार्यों के मिथ्यात्व का निरूपण करने के अनु = अनन्तर – पश्चात् बाधितानुवृत्ति से अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है' ।

36. जो मान-सत्कार-आदर प्राप्त होने पर हर्ष नहीं करता है और अपमान-तिरस्कार-अनादर प्राप्त होने पर विषाद नहीं करता है अर्थात् दोनों अवस्थाओं में समभाव से रहता है अथवा निर्विकार ही रहता है वह 'गुणातीत' कहलाता है ।

मित्रपक्षस्येवारिपक्षस्यापि द्वेषाविषयः स्वयं तयोरनुग्रहनिग्रहशून्य इति वा । सर्वारम्भपरित्यागी, आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कर्माणि तान्सर्वान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स तथा, देहयात्रामात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः । उदासीनवदासीन इत्याद्युक्तप्रकाराचारो गुणातीतः स उच्यते । यदुक्तमुपेक्षकत्वादि तद्विद्योदयात्पूर्वं यत्नसाध्यं विद्याधिकारिणा साधनत्वेनानुष्ठेयमुत्पन्नायां तु विद्यायां जीवन्मुक्तस्य गुणातीतस्योक्तं धर्मजातमयत्नसिद्धं लक्षणत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ 25 ॥

44 **अधुना कथमेतान्गुणानतिवर्तत इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनमाह –**

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ 26 ॥

45 **चस्त्वर्थः । मामेवेश्वरं नारायणं सर्वभूतान्तर्यामिणं मायया क्षेत्रज्ञतामागतं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेण परमप्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते सदा चिन्तयति**

और स्तुति – ये दोनों शब्दरूप हैं, किन्तु मान और अपमान – ये दोनों शब्द के बिना भी शरीर और मन के व्यापार विशेष है – यह भेद है[37] । यहाँ पकार और वकार अर्थात् अपमान और अवमान का पाठ विकल्प होने पर भी अर्थ वही है । जो मित्र और शत्रु -- दोनों पक्षों में समान है अर्थात् मित्रपक्ष के समान शत्रुपक्ष के भी द्वेष का विषय नहीं है, अथवा स्वयं ही दोनों पक्षों के प्रति अनुग्रह और निग्रह से शून्य है । जो सर्वारम्भपरित्यागी है = जिनका आरम्भ किया जाता है वे 'आरम्भ' हैं अर्थात् कर्म हैं उन सब कर्मों का प्ररित्याग करने का स्वभाव जिसका है वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' है अर्थात् देहयात्रामात्र के अतिरिक्त सब कर्मों का परित्यागी है । 'उदासीनवदासीनः' – इत्यादि से उक्त प्रकार के आचरणोंवाला जो पुरुष है वह 'गुणातीत' कहलाता है । यहाँ जो उपेक्षकत्वादि लक्षण उक्त हैं वे ज्ञानोदय से पूर्व यत्नसाध्य हैं, अतः ज्ञानाधिकारी को साधनरूप से उनका अनुष्ठान करना चाहिए, ज्ञान उत्पन्न होने पर तो गुणातीत जीवन्मुक्त के उक्त धर्मसमूह अयत्नसिद्ध = प्रयत्न के बिना सिद्ध -- स्वतः सिद्ध लक्षण रूप से रहते हैं – यह अर्थ है ॥ 25 ॥

44 अब 'वह गुणातीत कैसे और किसप्रकार से इन गुणों का अतिक्रमण – लंघन करता है' – इस तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं :--

[जो पुरुष तो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण – उल्लंघन कर ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य होता है ॥ 26 ॥]

45 यहाँ चकार 'तु' शब्द के अर्थ में है[38] । जो तो ईश्वर, नारायण, सर्वभूतान्तर्यामी, माया से क्षेत्रज्ञता

---

37. यहाँ शङ्का हो सकती है कि पूर्व श्लोक में 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' कहकर पुनः यहाँ 'मानापमानयोः तुल्यः' कहने से पुनरुक्तिदोष है, क्योंकि इन दोनों पदों का अर्थ तो एक ही प्रतीत होता है । इसका समाधान है कि नहीं, दोनों पदों का अर्थ एक न होने से यहाँ कोई पुनरुक्तिदोष नहीं है । निन्दा और स्तुति – ये दोनों शब्दरूप हैं, जबकि मान और अपमान – ये दोनों शब्द के बिना भी शरीर और मन के व्यापारविशेष हैं । यदि वाग्व्यापार से मान और अपमान किया जाता है तो वह निन्दा और स्तुति में ही अन्तर्भूत होगा, इसीलिए मान और अपमान को वाणी का व्यापार न कहकर शरीर और मन का व्यापारविशेष कहा है । इसप्रकार शब्दात्मक और क्रियात्मक भेद से दोनों भिन्न हैं ।

38. यहाँ 'च' शब्द 'तु' = 'किन्तु' के अर्थ में है अर्थात् जो ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर साधन करते हैं वे बहु प्रयत्न से गुणातीत होकर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरा अव्यभिचारी – अनन्य भक्त मेरे अनुग्रह से ही उसी अवस्था को प्राप्त होता है – यह सूचित करने के लिए 'च' शब्द का 'तु' अर्थ में प्रयोग है ।

स मद्भक्त एतान्प्रागुक्तान्गुणान्समतीत्य सम्यगतिक्रम्याद्वैतदर्शनेन बाधित्वा ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति । सर्वदा भगवच्चिन्तनमेव गुणातीतत्वोपाय इत्यर्थः ॥ 26 ॥

46 **अत्र हेतुमाह –**

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ 27 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

47 **ब्रह्मणस्तत्पदवाच्यस्य सोपाधिकस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतोः प्रतिष्ठा पारमार्थिकं निर्विकल्पकं सच्चिदानन्दात्मकं निरुपाधिकं तत्पदलक्ष्यमहं निर्विकल्पको वासुदेवः प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा कल्पितरूपरहितमकल्पितं रूपम् । अतो यो मामनुपाधिकं ब्रह्म सेवते स ब्रह्मभूयाय कल्पत इति युक्तमेव ।**

48 **कीदृशस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽहमित्याकाङ्क्षायां विशेषणानि– अमृतस्य विनाशरहितस्य, अव्ययस्य विपरिणामरहितस्य च, शाश्वतस्यापक्षयरहितस्य च, धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य, सुखस्य**

को प्राप्त, परमानन्दघन, भगवान् वासुदेव मेरा अव्यभिचार = परमप्रेमस्वरूप भक्तियोग[39] से, जो बारहवें अध्याय में कहा गया है, सेवन करता है = सदा चिन्तन करता है वह मेरा भक्त इन प्रागुक्त सभी गुणों का सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण कर = अद्वैतदर्शन से इनका बाध कर ब्रह्मभूय = ब्रह्मभवन-ब्रह्मभाव[40] अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य = समर्थ होता है । तात्पर्य यह है कि सर्वदा भगवान् का चिन्तन करना ही गुणातीत होने का उपाय है ॥ 26 ॥

46 इसमें हेतु कहते हैं :–
[क्योंकि मैं अव्यय– अविनाशी, अमृत – अविकारी, शाश्वत – नित्य, धर्मस्वरूप, सुखस्वरूप और ऐकान्तिक – अव्यभिचारी ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ ॥ 27 ॥]

47 मैं जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के हेतुभूत, तत्पदवाच्य सोपाधिक ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् पारमार्थिक, निर्विकल्पक, सच्चिदानन्दात्मक निरुपाधिकरूप हूँ अतएव तत्पदलक्ष्यार्थ निर्विकल्पक वासुदेव प्रतिष्ठा = जिसमें वह प्रतिष्ठित है ऐसा कल्पितरूपरहित अकल्पितरूप हूँ । अत: जो निरुपाधिक ब्रह्मरूप मेरा सेवन करता है वह ब्रह्मभूय -- ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए योग्य होता है -- यह उचित ही है ।

48 मैं कीदृश– किस प्रकार से ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ – यह आकाङ्क्षा होने पर उसके ये विशेषण हैं–

---

39. भक्ति का अर्थ है परमप्रेम, उस परमप्रेम से ही भगवान् के साथ योग होता है अर्थात् जीव और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव होता है, अतएव यह 'भक्तियोग' कहलाता है । अथवा, भक्ति ही कैवल्यप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट योग अर्थात् उपाय है, इसलिए भी 'भक्तियोग' कहा जाता है ।

40. 'भाव: स्याद्भवनं भूतिरथ भावयतीति वा' (भावप्रकाशन, प्रथम अधिकार) = 'भाव' भावन = भावित होना अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकतानता है । भूति = भवन = जो होता है अर्थात् जिसकी स्थिति – सत्ता है वह 'भाव' है । अथवा, 'भावयति' = जो भावित करता है – व्याप्त करता है वह 'भाव' है । इसीप्रकार 'भूयम्' = होने की स्थिति भी 'भाव' है । अतएव ब्रह्मभूय – ब्रह्मभवन – ब्रह्मभाव समानार्थक ही हैं ।

परमानन्दरूपस्य । सुखस्य विषयेन्द्रियसंयोगजत्वं वारयति– ऐकान्तिकस्याव्यभिचारिणः सर्वस्मिन्देशे काले च विद्यमानस्यैकान्तिकसुखरूपस्येत्यर्थः । एतादृशस्य ब्रह्मणो यस्मादहं वास्तवं स्वरूपं तस्मान्मद्भक्तः संसारान्मुच्यत इति भावः । तथा चोक्तं ब्रह्मणा भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति–

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥' इति।

अत्र सर्वोपाधिशून्य आत्मा ब्रह्म त्वमित्यर्थः । शुकेनापि स्तुतिमन्तरेणैवोक्तम् –

'सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' इति ।

सर्वेषामेव कार्यवस्तूनां भावार्थः सत्तारूपः परमार्थो भवति कार्याकारेण जायमाने सोपाधिके ब्रह्मणि स्थितः कारणसत्तातिरिक्तायाः कार्यसत्ताया अनभ्युपगमात् । तस्यापि भवतः कारणस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मणो भावार्थः सत्तारूपोऽर्थो भगवान्कृष्णः सोपाधिकस्य निरुपाधिके कल्पितत्वात्, कल्पितस्य चाधिष्ठानानतिरेकात्, भगवतः कृष्णस्य च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन परमार्थसत्यनिरुपाधिब्रह्मरूपत्वात् । अतः किमतद्वस्तु तस्माच्छ्रीकृष्णादन्यद्वस्तु पारमार्थिकं किं निरूप्यतां तदेवैकं पारमार्थिकं नान्यत्किमपीत्यर्थः । तदेतदिहाप्युक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति ।

अमृत = विनाशरहित, अव्यय = विपरिणामरहित, शाश्वत = अपक्षयरहित, धर्म[41] = ज्ञाननिष्ठारूप धर्म से प्राप्य, सुख = परमानन्दरूप; विषय और इन्द्रिय के संयोग से जन्य सुख की व्यावृत्ति के लिए – ऐकान्तिक = अव्यभिचारी अर्थात् सब देश और काल में विद्यमान ऐकान्तिकसुखरूप – एवंरूप-एतादृश -- इसप्रकार के ब्रह्म का जिस कारण मैं वास्तविक स्वरूप हूँ उस कारण से मेरा भक्त संसार से मुक्त होता है -- यह भाव है । इसीप्रकार ब्रह्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा है :--

"आप पुराण पुरुष, सत्य, स्वयंज्योति -- स्वयंप्रकाश, अनन्त, सबके आदि-आद्य, नित्य, अक्षर, नित्यसुखस्वरूप, निरञ्जन, पूर्ण, अद्वय, उपाधियों से मुक्त = निरुपाधि, अमृत -- अविनाशी, एकमात्र आत्मा ही हैं ।"

यहाँ तात्पर्य यह है कि आप सब उपाधियों से शून्य आत्मा अर्थात् ब्रह्म हैं । शुकदेव ने स्तुतिमन्तरेण[42] = स्तुति के बिना ही कहा है :--

"सब वस्तुओं के ही भावार्थ = सत्तारूप पारमार्थिक तत्त्व आप सोपाधिक ब्रह्म में स्थित हैं और उसका भी पारमार्थिक तत्त्व भगवान् कृष्ण हैं, अतः उनसे भिन्न कौन सी वस्तु है – बताओ ।"

तात्पर्य यह है कि सब कार्यवस्तुओं के ही भावार्थ = सत्तारूप परमार्थ आप में = कार्यरूप में उत्पन्न हुए सोपाधिक ब्रह्म में स्थित है, क्योंकि कारणसत्ता से अतिरिक्त कार्यसत्ता स्वीकार नहीं की गई है । उस आप कारणभूत सोपाधिक ब्रह्म का भी भावार्थ = सत्तारूप अर्थ भगवान् कृष्ण हैं, क्योंकि सोपाधिक निरुपाधिक में कल्पित होता है और कल्पित वस्तु अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होता है तथा भगवान् कृष्ण सब कल्पनाओं के अधिष्ठान होने से परमार्थ सत्य निरुपाधिक ब्रह्मरूप ही हैं ।

---

41. यहाँ 'धर्म' शब्द ज्ञाननिष्ठास्वरूप धर्म से प्राप्यपरक है, मीमांसा में उक्त धर्मपरक नहीं है, अन्यथा स्वर्गादि के समान मोक्ष भी कर्मफल होने से अनित्य होगा ।

42. स्तावक वाक्य का स्वार्थ प्रमाण नहीं होता है, अतः प्रकृत में 'स्तुतिमन्तरेण' वास्तविकार्थ का निरूपणपरक है ।

49 अथवा त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं नु ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–ब्रह्मणो हीति । ब्रह्मणः परमात्मनः प्रतिष्ठा पर्याप्तिरहमेव नतु मद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । तथाऽमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य चाव्ययस्य सर्वथाऽनुच्छेद्यस्य च प्रतिष्ठाऽहमेव । मय्येव मोक्षः पर्यवसितो मत्प्राप्तिरेव मोक्ष इत्यर्थः । तथा शाश्वतस्य नित्यमोक्षफलस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य च पर्याप्तिरहमेव । ज्ञाननिष्ठालक्षणो धर्मो मय्येव पर्यवसितो न तेन मद्भिन्नं किंचित्प्राप्यमित्यर्थः । तथैकान्तिकस्य सुखस्य च पर्याप्तिरहमेव परमानन्दरूपत्वान्न मद्भिन्नं किंचित्सुखं प्राप्यमस्तीत्यर्थः । तस्माद्युक्तमेवोक्तं मद्भक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ 27 ॥

50 पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रकृतिगुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥

अतः कौन सी वस्तु है जो वह नहीं है अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न पारमार्थिक वस्तु कौन सी है -- कहो, वही एक पारमार्थिक वस्तु है, उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है । तब यह यहाँ भी कहा गया है -- 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' ।

49 अथवा, 'आपका भक्त त्वद्भाव = आपके भाव को भले ही प्राप्त करे, वह ब्रह्मभाव = मोक्ष के लिए कैसे योग्य-समर्थ होता है, क्योंकि आप तो ब्रह्म से भिन्न ही हैं' -- ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका होने पर भगवान् कहते हैं – 'ब्रह्मणो हि' -- इत्यादि । ब्रह्म = परमात्मा की प्रतिष्ठा = पर्याप्ति – पर्यवसान मैं ही हूँ, न कि मुझसे भिन्न ब्रह्म है -- यह अर्थ है। इसीप्रकार अमृत = अमृतत्व – मोक्ष और अव्यय = सर्वथा अनुच्छेद्य की प्रतिष्ठा मैं ही हूँ । मुझमें ही मोक्ष पर्यवसित होता है अर्थात् मेरी प्राप्ति ही मोक्ष है । इसीप्रकार शाश्वत = नित्यमोक्षरूप फल और ज्ञाननिष्ठारूप धर्म की पर्याप्ति मैं ही हूँ अर्थात् ज्ञाननिष्ठारूप धर्म मुझमें ही पर्यवसित होता है, अतः मुझसे भिन्न कोई अन्य प्राप्तव्य वस्तु नहीं है – यह अर्थ है । इसीप्रकार ऐकान्तिक सुख की पर्याप्ति भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं परमानन्दरूप हूँ । भाव यह है कि मुझसे भिन्न कोई अन्य सुख प्राप्तव्य नहीं है । अतः उचित ही कहा है कि मेरा भक्त ब्रह्मभूय – ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए योग्य-- समर्थ होता है ॥ 27 ॥

50 जिसने नमन् = झुके हुए – शिथिल हुए कल्पित बन्ध = संसारबन्ध को निवृत्त कर दिया है उस नराकृति परब्रह्म, सौन्दर्य के सारसर्वस्व नन्दनन्दनरूप तेज- श्यामतेज की मैं वन्दना करता हूँ ।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का गुणत्रयविभागयोग नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त होता है ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये भगवता संसारबन्धहेतून्गुणान्व्याख्याय तेषामत्ययेन ब्रह्मभावो मोक्षो मद्भजनेन लभ्यत इत्युक्तम् -**

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते । इति ॥"

तत्र मनुष्यस्य तव भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इत्याशङ्कायां स्वस्य ब्रह्मरूपताज्ञापनाय सूत्रभूतोऽयं श्लोको भगवतोक्तः -

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च । इति ॥'

अस्य सूत्रस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशोऽध्याय आरभ्यते, भगवतः श्रीकृष्णस्य हि तत्त्वं ज्ञात्वा तत्प्रेमभजनेन गुणातीतः सन्ब्रह्मभावं कथमाप्नुयाल्लोक इति ।

2 **तत्र ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादिभगवद्वचनमाकर्ण्य मम तुल्यो मनुष्योऽयं कथमेवं वदतीति विस्मयाविष्टमतिभयाल्लज्जया च किंचिदपि प्रष्टुमशक्नुवन्तमर्जुनमालक्ष्य कृपया स्वस्वरूपं विवक्षुः--**

---

1 पूर्व अध्याय में भगवान् ने संसार के बन्धन के हेतु सत्त्वादि तीन गुणों की व्याख्या कर उनके अतीत से मेरे भजन द्वारा ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त होता है – यह कहा :--

"जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन सत्त्वादि तीन गुणों का सम्यक् – प्रकार से अतिक्रमण – उल्लंघन कर ब्रह्मभूय = ब्रह्मभाव-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए योग्य -- समर्थ होता है" ।

वहाँ 'मनुष्य आपके भक्तियोग से ब्रह्मभाव को कैसे प्राप्त होता है' – ऐसी आकांक्षा होने पर अपनी ब्रह्मरूपता ज्ञापित करने के लिए भगवान् ने सूत्र[1]भूत यह श्लोक कहा –

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता, 14.27)

मैं अव्यय - अविनाशी, अमृत - अविकारी, शाश्वत - नित्य, धर्मस्वरूप, सुखस्वरूप और अव्यभिचारी ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' ।

अब इस सूत्र का वृत्ति[2]स्थानीय यह पन्द्रहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है, इसलिए कि लोक भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर उनके प्रेमभजन से गुणातीत होकर ब्रह्मभाव को किसी प्रकार प्राप्त करे ।

2 उसमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' – इत्यादि भगवान् के वचन सुनकर 'यह तो मेरे समान मनुष्य ही हैं, ऐसा कैसे कहते हैं' – इस विस्मय-आश्चर्य से आविष्ट-आकुल होकर अत्यन्त भय और लज्जा के कारण कुछ भी न पूछ सकते हुए अर्जुन को समझकर कृपापूर्वक उसको अपना स्वरूप बतलाने की इच्छा से भगवान् ने कहा :--

---

1. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

2. सूत्रस्यार्थविवरणं वृत्तिः ।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ 1 ॥

3 **तत्र विरक्तस्यैव संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारो नान्यथेति पूर्वाध्यायोक्तं परमेश्वराधीनप्रकृतिपुरुषसंयोगकार्यं संसारं वृक्षरूपकल्पनया वर्णयति वैराग्याय प्रस्तुतगुणातीतत्वोपायत्वात्तस्य -**

4 **ऊर्ध्वमुत्कृष्टं मूलं कारणं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वेन नित्यत्वेन च ब्रह्म । अथवोर्ध्वं सर्वसंसारबाधेऽप्यबाधितं सर्वसंसारभ्रमाधिष्ठानं ब्रह्म तदेव मायया मूलमस्येत्यूर्ध्वमूलम् । अध इत्यर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते । ते नानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा इव शाखा अस्येत्यधःशाखम् । आशुविनाशित्वेन च श्वोऽपि स्थातेति विश्वासानर्हमश्वत्थं मायामयं संसारवृक्षमव्ययमनाद्यनन्तदेहादिसंतानाश्रयमात्मज्ञानमन्तरेणानुच्छेद्यमनन्तमव्ययमाहुः श्रुतयः स्मृतयश्च । श्रुतयस्तावत् - 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्याद्याः कठवल्लीषु पठिताः । अर्वाञ्चो निकृष्टाः कार्योपाधयो महदहंकारतन्मात्रादयो वा शाखा अस्येत्यर्वाक्शाख इत्यधःशाखपदसमानार्थं, सनातन इत्यव्ययपदसमानार्थम् ।**

[श्रीभगवान् ने कहा :-- जिसका ऊर्ध्व – ऊपर की ओर मूल है और अध: – नीचे की ओर शाखाएँ हैं तथा छन्द जिसके पत्ते हैं उस संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष को श्रुति और स्मृतियाँ अव्यय-अविनाशी कहती हैं । जो उसको जानता है वह वेदवित् है ॥ 1 ॥]

3 वहाँ संसार से विरक्त पुरुष का ही भगवान् के तत्त्वज्ञान में अधिकार है, अन्यथा नहीं -- इस पूर्व अध्याय में उक्त ईश्वराधीन प्रकृति और पुरुष के संयोग के कार्य संसार का वृक्षरूप की कल्पना से वैराग्योत्पत्ति के लिए वर्णन करते हैं, क्योंकि वह प्रस्तुत गुणातीतत्व का उपाय है ।

4 ऊर्ध्व = उत्कृष्ट मूल कारण = स्वप्रकाशपरमानन्दरूप होने से और नित्य होने से ब्रह्म है । अथवा, ऊर्ध्व = सम्पूर्ण संसार का बाध होने पर भी अबाधित, सम्पूर्ण संसाररूप भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म है वही माया द्वारा इस जगत् का मूल है अतएव 'ऊर्ध्वमूल' है । 'अध:' – इससे अर्वाचीन हिरण्यगर्भादि कार्योपाधियाँ ग्रहण की जाती हैं । वे अनेक दिशाओं में फैली हुई हैं, अत: शाखाओं के समान इसकी शाखाएँ हैं अतएव यह 'अध:शाख' है । आशुविनाशी – शीघ्र विनाशी होने से यह श्व: = कल-सुबह भी स्थित रहनेवाला नहीं है, अत: यह विश्वास के अयोग्य -- अविश्वसनीय अश्वत्थ[3] मायामय संसारवृक्ष अव्यय = अनादि और अनन्त देहादिसंतान का आश्रय, आत्मज्ञान के बिना अनुच्छेद्य – उच्छिन्न न होनेवाला – अनन्त अर्थात् अव्यय-अविनाशी है -- ऐसा श्रुति और स्मृतियाँ कहती हैं । श्रुतियाँ हैं – 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख: एषोऽश्वत्थ: सनातन:' = 'ऊर्ध्व मूलवाला और अर्वाक् शाखाओंवाला यह अश्वत्थ सनातन है' -- इत्यादि कठवल्ली में पठित है । इसकी महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ आदि कार्योपाधियाँ अर्वाक् -- निकृष्ट शाखाएँ हैं अतएव यह 'अर्वाक्शाख' है -- यह प्रकृत में उक्त 'अध:शाखम्' पद के समान अर्थवाला है और यहाँ 'सनातन' पद प्रकृत में उक्त 'अव्यय' पद के समान अर्थवाला है ।

---

3. न श्वस्तिष्ठति – इति अश्वत्थम् ।

5 स्मृतयश्च -

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एतद्ब्रह्मवनं चास्य ब्रह्माऽऽचरति साक्षिवत् ।
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
ततश्चाऽऽत्मगतिं प्राप्य तस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । इत्यादयः'

6 अव्यक्तमव्याकृतं मायोपाधिकं ब्रह्म तदेव मूलं कारणं तस्मात्प्रभवो यस्य स तथा । तस्यैव मूलस्याव्यक्तस्यानुग्रहादतिदृढत्वादुत्थितः संवर्धितः । वृक्षस्य हि शाखाः स्कन्धादुद्भवन्ति । संसारस्य च बुद्धेः सकाशान्नानाविधाः परिणामा भवन्ति । तेन साधर्म्येण बुद्धिरेव स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम् । इन्द्रियाणामन्तराणि छिद्राण्येव कोटराणि यस्य स तथा । महान्ति

---

5 इसीप्रकार स्मृतियाँ हैं –

"इस संसारवृक्ष का मूल अव्यक्त है, अव्यक्तरूप ब्रह्म से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, उसी के अनुग्रह से उत्थित – वर्धित हुआ है । बुद्धि इस संसारवृक्ष की शाखा – प्रधान शाखा – स्कन्धमय है, इन्द्रियाँ इसके अन्दर के कोटर हैं, पंचमहाभूत इसकी विशाखाएँ – विविध शाखाएँ हैं, शब्दादि पंचविषय इसके पत्ते हैं, धर्म और अधर्म इसके सुन्दर पुष्प हैं, सुख और दु:ख इसके फल हैं । यह ब्रह्मवृक्ष सनातन है, सब भूतों का आजीव्य – जीविकानिर्वाह का आश्रय है । यह ब्रह्मवन है अर्थात् जीवरूपी ब्रह्म का वन है, किन्तु ब्रह्म सदा ही साक्षीवत् इसमें अवस्थित रहता है । इस संसारवृक्ष का ज्ञानरूपी श्रेष्ठ खड्ग द्वारा छेदन – भेदन करके अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसे अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानखड्ग से उसको समूल काटकर आत्मा में गति – रतिलाभ करके उस आत्मस्वरूप मोक्षपद से पुन: संसार में आवृत्ति नहीं होती" – इत्यादि ।

6 अव्यक्त = अव्याकृत अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म है, वही जिसका मूल -- कारण है, उसी से जिसका प्रभव -- जन्म होता है वह 'अव्यक्तमूलप्रभव' है । उस मूल अव्यक्त के ही अनुग्रह से अत्यन्त दृढ़ होने के कारण यह उत्थित – संवर्धित हुआ है । क्योंकि वृक्ष की शाखाएँ स्कन्ध[4] से ही उत्पन्न होती है और संसार के अनेक प्रकार के परिणाम बुद्धि से ही होते हैं, इसलिए इस साधर्म्य से बुद्धि ही स्कन्धमय है । 'स्कन्ध' शब्द से 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) – इस सूत्र के अनुसार प्राचुर्य अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर 'स्कन्धमय' शब्द निष्पन्न हुआ है, अत: 'स्कन्धमय: = स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयम्' = 'स्कन्धमय' का अर्थ स्कन्धप्रचुर है । इन्द्रियों के अन्तर -- छिद्र ही जिसके कोटर[5] हैं वह ऐसा है । आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त महाभूत जिसकी विविध शाखाएँ

---

4. 'अस्त्री प्रकाण्ड: स्कन्ध: स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरो:' (अमरकोश, 2.4.10) = 'प्रकाण्ड और स्कन्ध वृक्ष की शाखाओं के मूल-जड़ के नाम हैं' – इस कोश के अनुसार वृक्ष में जहाँ से शाखाएँ निकलती हैं – उत्पन्न होती हैं उसको 'स्कन्ध' कहते हैं ।

5. 'निष्कुह: कोटरं वा ना' (अमरकोश, 2.4.13) – द्वे वृक्षादिरन्ध्रस्य (रामाश्रमी) = 'निष्कुह और कोटर वृक्ष के रन्ध्र-छिद्र के नाम हैं' -- इस कोश के अनुसार वृक्ष में जो छिद्र होते हैं वे 'कोटर' कहलाते हैं ।

भूतान्याकाशादीनि पृथिव्यन्तानि विविधाः शाखा यस्य विशाखः स्तम्भो यस्येति वा । आजीव्य उपजीव्यः । ब्रह्मणा परमात्मनाऽधिष्ठितो वृक्षो ब्रह्मवृक्षः । आत्मज्ञानं विना छेत्तुमशक्यतया सनातनः । एतद्ब्रह्मवनमस्य ब्रह्मणो जीवरूपस्य भोग्यं वननीयं संभजनीयमिति वनं ब्रह्म साक्षिवदाचरति न त्वेतत्कृतेन लिप्यत इत्यर्थः । एतद्ब्रह्मवनं संसारवृक्षात्मकं छित्त्वा च भित्त्वा चाहं ब्रह्मास्मीत्यतिदृढज्ञानखड्गेन समूलं निकृत्येत्यर्थः आत्मरूपां गतिं प्राप्य तस्मादात्मरूपान्मोक्षान्नाऽऽवर्तत इत्यर्थः । स्पष्टमितरत् ।

7 **अत्र च गङ्गातरङ्गनुद्यमानोत्तुङ्गतत्तीरतिर्यङ्निपतितमर्धोन्मूलितं मारुतेन महान्तमश्वत्थमुपमानीकृत्य जीवन्तमियं रूपककल्पनेति द्रष्टव्यम् । तेन नोर्ध्वमूलत्वाधःशाखत्वाद्यनुपपत्तिः । यस्य मायामयस्याश्वत्थस्य च्छन्दांसि च्छादनात्तत्त्ववस्तुप्रावरणात्संसारवृक्षरक्षणाद्वा कर्मकाण्डानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि पर्णानीव पर्णानि, यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि भवन्ति तथा संसारवृक्षस्य परिरक्षणार्थानि कर्मकाण्डानि धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्तेषाम् । यस्तं यथाव्याख्यातं समूलं संसारवृक्षं मायामयमश्वत्थं वेद जानाति स वेदवित्कर्मब्रह्माख्यवेदार्थवित्स एवेत्यर्थः । संसारवृक्षस्य हि मूलं ब्रह्म हिरण्यगर्भादयश्च जीवाः शाखास्थानीयाः । स च संसारवृक्षः स्वरूपेण विनश्वरः प्रवाहरूपेण चानन्तः । स च वेदोक्तैः कर्मभिः सिच्यते ब्रह्मज्ञानेन**

हैं, अथवा जिसके विशाख-शाखाहीन स्तम्भ - स्कन्ध है वह 'महाभूतविशाख' है । यह ब्रह्मवृक्ष है = ब्रह्म-परमात्मा से अधिष्ठित वृक्ष है जो सब भूतों का आजीव्य - उपजीव्य है । यह आत्मज्ञान के बिना छेदन के योग्य न हो सकने से सनातन है । यह ब्रह्मवन[6] है -- इस जीवरूप ब्रह्म का भोग्य = वननीय – संभजनीय[7] है – इसप्रकार वन में ब्रह्म साक्षी के समान आचरण करता है, न कि इसके द्वारा किये हुए व्यापारों से लिप्त होता है । इस संसारवृक्षात्मक ब्रह्मवन का छेदन-भेदन कर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' – ऐसे अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञानखड्ग से समूल काटकर आत्मस्वरूपा गति को प्राप्त करके उस आत्मस्वरूप मोक्षपद से फिर नहीं लौटता – यह अर्थ है । शेष सब स्पष्ट है ।

7 यहाँ यह समझना चाहिए कि गंगा की तरंगों से नुद्यमान -- ताडित ऊँचे तीर से तिर्यक्– तिरछे निपतित -- पतित – गिरे हुए, वायु के वेग से अर्धोन्मूलित – आधे उखाड़े हुए हरे-भरे महान् विशाल अश्वत्थ-वृक्ष को उपमान बनाकर यह रूपक[8] की कल्पना की है, अतः इसके ऊर्ध्वमूल और अधःशाख होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । इस मायामय अश्वत्थ के छन्द[9] = छादन अर्थात् तत्त्ववस्तु का आवरण करने से अथवा संसारवृक्ष का संरक्षण करने से ऋग्यजुःसामरूप कर्मकाण्ड पत्तों के समान पत्ते हैं । जिसप्रकार वृक्ष के परिरक्षण – संरक्षण के लिए पत्ते होते हैं उसीप्रकार संसारवृक्ष के परिरक्षण -- संरक्षण के लिए कर्मकाण्ड हैं, क्योंकि वे धर्माधर्म और उनके हेतु तथा

6. वनम् = 'वन संभक्तौ' (भ्वादिगण, 313) -- 'वन्' धातु से 'पचाद्यच्' (पाणिनिसूत्र, 3.1.134) -- 'अच्' प्रत्यय होकर 'वनम्' शब्द निष्पन्न हुआ है ।

7. 'वन' शब्द 'वन संभक्तौ' से निष्पन्न हुआ है, इसलिए यहाँ 'वननीय' का पर्याय 'संभजनीय' प्रयुक्त है ।

8. जहाँ उपमान और उपमेय का, जिनका कि भेद प्रसिद्ध है, अत्यन्त सादृश्य के कारण जो अभेदवर्णन किया जाता है वह 'रूपक' कहा जाता है (तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः – काव्यप्रकाश, दशम उल्लास) ।

9. यहाँ 'छन्दस्'- 'छन्दः' शब्द को सम्भवतः 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' (अमरकोश, 2.4.14)-- इस कोश के अनुसार 'पर्णम्' के पर्याय 'छदः' शब्द के साम्य से 'पर्ण' के अर्थ में ग्रहण किया प्रतीत होता है । किन्तु 'पर्ण' का वाचक शब्द 'छदः' तो अकारान्त और पुँल्लिङ्ग है, जबकि 'छन्दस्' शब्द 'गायत्रीप्रमुखं छन्दः'

च छिद्यत इत्येतावानेव हि वेदार्थः । यश्च वेदार्थवित्स एव सर्वविदिति समूलवृक्षज्ञानं स्तौति स वेदविदिति ॥ 1 ॥

8 **तस्यैव संसारवृक्षस्यावयवसंबन्धिन्यपरा कल्पनोच्यते -**

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ 2 ॥

9 **पूर्वं हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेनोक्ता इदानीं तु तद्गतो विशेष उच्यते । तेषु ये कपूयचरणा दुष्कृतिनस्तेऽधः पश्वादियोनिषु प्रसृता विस्तारं गताः । ये तु रमणीयचरणाः सुकृतिनस्त ऊर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृता अतोऽधश्च मनुष्यत्वादारभ्य विरिञ्चिपर्यन्तमूर्ध्वं च तस्मादेवाऽऽरभ्य सत्यलोकपर्यन्तं प्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः । कीदृश्यस्ता गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्देहेन्द्रियविषयाकारपरिणतैर्जलसेचनैरिव प्रवृद्धाः स्थूलीभूताः । किं च विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवाइव यासां संसारवृक्षशाखानां तास्तथा शाखाग्रस्थानीयाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः**

फल के प्रकाशन के लिए होते हैं । जो इसप्रकार व्याख्यात उस मूलसहित संसारवृक्ष को अर्थात् मायामय अश्वत्थ को जानता है वह वेदविद् होता है अर्थात् कर्मब्रह्मसंज्ञक वेद के अर्थ को जाननेवाला वही होता है, क्योंकि संसारवृक्ष का मूल ब्रह्म है और हिरण्यगर्भादि जीव उसके शाखास्थानीय हैं । वह संसारवृक्ष स्वरूप से विनश्वर है और प्रवाहरूप से अनन्त हैं । वह वेदोक्त कर्मों से सींचा जाता है और ब्रह्मज्ञान से उसका छेदन – विनाश किया जाता है – इतना ही वेद का अर्थ है । जो वेदार्थवित् है वही सर्ववित्-सर्वज्ञ है – इसप्रकार 'स वेदवित्' = 'वह वेदवित् है' -- इससे मूलसहित संसारवृक्ष के ज्ञान की भगवान् स्तुति – प्रंशसा करते हैं ।। 1 ।।

8 उसी संसारवृक्ष के अवयवों से सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी कल्पना करते हैं :–

[उस संसारवृक्ष की गुणों से प्रवृद्ध - बढ़ी हुई और विषयरूप प्रवालों – कोपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक -- मनुष्यदेह में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैल रही हैं ।। 2 ।।]

9 पूर्व की कल्पना में हिरण्यगर्भादि कार्योपाधिक जीव शाखास्थानीयरूप से कहे गये हैं – अब तद्गत विशेष -- भेद कहा जाता है । उनमें जो कपूयचरण = दुष्कर्म करनेवाले हैं वे पशु आदि अध: -- निम्न योनियों में प्रसृत -- विस्तार को प्राप्त हुए हैं । जो तो रमणीयचरण = शुभ कर्म करनेवाले हैं वे देवादि ऊर्ध्व -- उच्च योनियों में प्रसृत – विस्तार को प्राप्त हुए हैं । अत: उस संसारवृक्ष की शाखाएँ अध: = नीचे की ओर = मनुष्यलोक से लेकर विरिञ्चि – ब्रह्मलोकपर्यन्त और ऊर्ध्व = ऊपर की ओर = उस मनुष्यलोक से ही लेकर सत्यलोकपर्यन्त प्रसृत -- विस्तार को प्राप्त हुई हैं -- फैली हुई हैं । वे शाखाएँ कैसी हैं ? देह, इन्द्रिय और विषय के आकार में परिणत सत्त्व, रज और तम -- इन गुणों से जल से सींची हुई के समान प्रवृद्ध – बढ़ गई हैं – स्थूल हो गई हैं । इसके अतिरिक्त, जिन संसारवृक्ष की शाखाओं के शब्दादि विषय प्रवाल = पल्लवों के समान हैं वे

(अमरकोश, 2.7.2)-- इस कोश के अनुसार सान्त और नपुंसकलिङ्ग है– इसप्रकार 'छन्दस्' शब्द 'छदः' शब्द से भिन्न है, तो फिर प्रकृत में 'छन्दस्' शब्द से 'पर्ण' अर्थ कैसे किया है ? इसका समाधान यह है कि प्रकृत में 'छन्दस्' शब्द यौगिकार्थपरक है, रूढ्यर्थपरक नहीं है, अतएव 'छन्दांसि च्छादनात् पर्णानि = छन्द छादन अर्थात् तत्त्ववस्तु का आवरण करने से छद अर्थात् पर्ण है-- यह अर्थ किया है ।

संबन्धाद्रागाधिष्ठानत्वाच्च । किं च अधश्च चशब्दादूर्ध्वं च मूलान्यवान्तराणि तत्तद्भोगजनितराग-द्वेषादिवासनालक्षणानि मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारकाणि तस्य संसारवृक्षस्यानुसंततानि अनुस्यूतानि । मुख्यं तु मूलं ब्रह्मैवेति न दोषः । कीदृशान्यवान्तरमूलानि कर्म धर्माधर्मलक्षणमनुबन्धुं पश्चाज्जनयितुं शीलं येषां तानि कर्मानुबन्धीनि । कुत्र मनुष्यलोके मनुष्यश्चासौ लोकश्चेत्यधिकृतो ब्राह्मण्यादिविशिष्टो देहो मनुष्यलोकस्तस्मिन्बाहुल्येन कर्मानुबन्धीनि । मनुष्याणां हि कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥ 2 ॥

10 यस्त्वयं संसारवृक्षो वर्णितः -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ 3 ॥

11 इह संसारे स्थितैः प्राणिभिरस्य संसारवृक्षस्य यथा वर्णितमूर्ध्वमूलत्वादि तथा तेन प्रकारेण रूपं नोपलभ्यते स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरवन्मृषात्वेन दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्तस्य । अत एव तस्यान्तोऽवसानं नोपलभ्यते । एतावता कालेन समाप्तिं गमिष्यतीति अपर्यन्तत्वात् । न चा-स्याऽऽदिरुपलभ्यते । इत आरभ्य प्रवृत्त इति अनादित्वात् । न च संप्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यमस्यो-पलभ्यते । आद्यन्तप्रतियोगिकत्वात्तस्य । यस्मादेवंभूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेदः सर्वानर्थकरश्च

'विषयप्रवाल[10]' हैं, क्योंकि इनका शाखाग्रस्थानीय इन्द्रियों की वृत्तियों के सम्बन्ध है और ये ही राग के अधिष्ठान हैं । इनके अतिरिक्त, श्लोक के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'अधश्च' पद के 'च' शब्द से 'ऊर्ध्व' भी ग्रहण होता है, अतएव उस संसारवृक्ष की धर्माधर्म की प्रवृत्तिकारक उस-उस भोग से जनित राग-द्वेषादि वासनारूप अवान्तर जड़ें जड़ों के समान फैली हुई हैं । मुख्यमूल तो ब्रह्म ही है, अत: अवान्तर मूलों -- जड़ों के रहने में कोई दोष नहीं है । ये अवान्तर मूलें -- जड़ें कैसी हैं ? जिनका धर्माधर्मरूप कर्म को पीछे उत्पन्न करने का स्वभाव है वे मूलें -- जड़ें 'कर्मानुबन्धिनी' हैं । ये कहाँ हैं ? मनुष्यलोक में = जो मनुष्य है और लोक है ऐसा ब्राह्मणत्वादि-विशिष्ट देह मनुष्यलोक है उसमें बहुलता से ये कर्मानुबन्धिनी मूलें -- जड़ें फैली हुई हैं, क्योंकि मनुष्यों का कर्माधिकार प्रसिद्ध है ॥ 2 ॥

10 जो यह संसारवृक्ष का वर्णन किया गया है --

[संसार में इसका ऐसा रूप दिखाई नहीं देता है तथा न तो इसका अन्त है, न आदि है और न संप्रतिष्ठा ही है । जिसकी जड़ें अत्यन्त जम गई हैं ऐसे इस अश्वस्थ वृक्ष को सुदृढ़ असङ्गशस्त्र से काट कर (उस पद की खोज करनी चाहिए) ॥ 3 ॥]

11 इह = संसार में स्थित प्राणियों को इस संसारवृक्ष का जैसा ऊर्ध्वमूलत्वादिरूप से वर्णन किया है वैसा रूप दिखाई नहीं देता है, क्योंकि उसका स्वरूप स्वप्न, मरीच्युदक -- मरुभूमि में सूर्य की मरीचियों--किरणों से प्रतीयमान जल--मरुमरीचिका -- मृगमरीचिका -- मृगतृष्णा, मायागन्धर्वनगर के समान मिथ्या होने से देखने के बाद ही नष्ट हो जाता है अर्थात् वह प्रातिभासिकस्वरूप है । अतएव उसका अन्त-अवसान दिखाई नहीं देता है, क्योंकि 'इतने समय में यह समाप्त हो जायेगा' --इसप्रकार

10. यहाँ विषयों को प्रवाल कहा है, इसलिए कि शाखाग्र--प्रवाल-- कोपल-- नई पत्ती रक्त-लाल होती है और विषयों के प्रति रागात्मक इन्द्रियवृत्तियाँ रजोगुणप्राधान्य से रक्त--लाल होती हैं अतएव विषय राग के अधिष्ठान हैं ।

तस्मादनाद्यज्ञानेन सुविरूढमूलमत्यन्तबद्धमूलं प्रागुक्तमश्वत्थमेनमसङ्गशस्त्रेण सङ्गः स्पृहाऽसङ्गः सङ्गविरोधि वैराग्यं पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपं तदेव शस्त्रं रागद्वेषमयसंसारविरोधित्वात्, तेनासङ्गशस्त्रेण दृढेन परमात्मज्ञानौत्सुक्यदृढीकृतेन पुनःपुनर्विवेकाभ्यासनिशितेन छित्त्वा समूलमुद्धृत्य वैराग्यशमदमादिसंपत्त्या सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वेत्येतत् ॥ 3 ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ 4 ॥

12 **ततो गुरुमुपसृत्य ततोऽश्वत्थादूर्ध्वं व्यवस्थितं तद्वैष्णवं पदं वेदान्तवाक्यविचारेण परिमार्गितव्यं मार्गयितव्यमन्वेष्टव्यं 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इति श्रुतेः । तत्पदं श्रवणादिना ज्ञातव्यमित्यर्थः । किं तत्पदं यस्मिन्पदे गताः प्रविष्टा ज्ञानेन न निवर्तन्ति नाऽऽवर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय । कथं तत्परिमार्गयितव्यमित्याह - यः पदशब्देनोक्तस्तमेव चाऽऽद्यमादौ भवं पुरुषं येनेदं सर्वं पूर्णं तं पुरिषु पूर्षु वा शयानं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मीत्येवं तदेकशरणतया तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः । तं कं पुरुषं यतो यस्मात्पुरुषात्प्रवृत्तिर्मायामयसंसारवृक्षप्रवृत्तिः पुराणी चिरंतन्यनादिरेषा प्रसृता निःसृतैन्द्रजालिकादिव मायाहस्त्यादि तं पुरुषं प्रपद्य इत्यन्वयः ॥ 4 ॥**

इसकी कोई सीमा नहीं है अर्थात् वह अनन्त है । इसका आदि भी दिखाई नहीं देता है, क्योंकि 'यहाँ से आरम्भ करके प्रवृत्त हुआ है' -- इसप्रकार इसका आदि नहीं है अर्थात् वह अनादि है । इसकी संप्रतिष्ठा अर्थात् मध्य की स्थिति भी नहीं दिखाई देती है, क्योंकि वह आदिप्रतियोगिक और अन्तप्रतियोगिक है । क्योंकि एवंभूत यह संसारवृक्ष दुरुच्छेद -- दुःख से भी उच्छेद -- नाश करने के अयोग्य है और सब प्रकार के अनर्थों को करनेवाला -- सब प्रकार के दुःखों को देनेवाला है, इसलिए अनादि अज्ञान से सुविरुढमूल = अत्यन्त बद्ध मूल इस प्रागुक्त अश्वत्थवृक्ष को असङ्गशस्त्र = सङ्ग -- स्पृहा है, सङ्ग का विरोधी असङ्ग -- पुत्र, वित्त और लोकसम्बन्धी तीनों एषणाओं का त्यागरूप वैराग्य है वही राग-द्वेषमय संसार का विरोधी होने से शस्त्र है, उस दृढ = परमात्मज्ञान के औत्सुक्य से दृढ़ीकृत, पुनः-पुनः विवेक के अभ्यास से निशित -- पैनाये हुए असङ्गशस्त्र से काटकर = मूलसहित उखाड़कर अर्थात् वैराग्य और शम-दमादि षट्सम्पत्ति द्वारा सब कर्मों का संन्यास-त्याग करके (उस पद की खोज करनी चाहिए) ॥ 3 ॥

[तदनन्तर उस पद की खोज करनी चाहिए, जहाँ गये हुए पुरुष पुनः लौटकर नहीं आते हैं । मैं उस ही आद्य पुरुष की शरण जाता हूँ जिससे इस पुरातन संसारवृक्ष की अनादि प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है ॥ 4 ॥]

12 ततः = तदनन्तर -- गुरु के समीप जाकर उस अश्वत्थवृक्ष से ऊपर व्यवस्थित उस वैष्णव पद की वेदान्तवाक्यों के विचार द्वारा खोज करनी चाहिए -- उसका अन्वेषण करना चाहिए, जैसा कि श्रुति कहती है -- 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' = 'वह अन्वेषण के योग्य है, वह जिज्ञासा करने के योग्य है' -- इस श्रुति के अनुसार वह पद श्रवणादि के द्वारा ज्ञातव्य है -- यह इसका तात्पर्य है । वह पद क्या है ? जिस पद पर ज्ञान द्वारा पहुँचकर अर्थात् जिसमें प्रवेशकर पुनः संसार को नहीं लौटते हैं । उस पद की किस प्रकार खोज करनी चाहिए ? वह कहते हैं -- जो 'पद' शब्द से कहा गया है उसी आद्य = आदि में होनेवाले पुरुष की = जिसने कि इस सबको पूरित किया हुआ है ऐसे उस 'पुरिषु पूर्षु वा शयानम्' -- पुरियों अथवा शरीरों में शयन करनेवाले पुरुष की मैं शरण जाता हूँ -- इसप्रकार एकमात्र उस पुरुष की ही शरण होकर उस पद का अन्वेषण करना

13 परिमार्गणपूर्वकं वैष्णवं पदं गच्छतामङ्गान्तराण्याह –

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ 5 ॥

14 मानोऽहंकारो गर्वः, मोहस्त्वविवेको विपर्ययो वा, ताभ्यां निष्क्रान्ता निर्मानमोहाः, तौ निर्गतौ येभ्यस्ते वा । तथाऽहंकाराविवेकाभ्यां रहिता इति यावत् । जितसङ्गदोषाः प्रियाप्रियसंनिधावपि रागद्वेषवर्जिता इति यावत् । अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचनतत्पराः, विनिवृत्तकामा विशेषतो निरवशेषेण निवृत्ताः कामा विषयभोगा येषां ते विवेकवैराग्यद्वारा त्यक्तसर्वकर्माण इत्यर्थः । द्वंद्वैः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिभिः सुखदुःखसंज्ञैः सुखदुःखहेतुत्वात्सुखदुःखनामकैः सुखदुःखसङ्गैरिति पाठान्तरे सुखदुःखाभ्यां सङ्गः संबन्धो येषां तैः सुखदुःखसङ्गैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः परित्यक्ताः, अमूढा वेदान्तप्रमाणसंजातसम्यग्ज्ञाननिवारितात्माज्ञानास्तदव्ययं यथोक्तं पदं गच्छन्ति ॥ 5 ॥

15 तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि–

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ 6 ॥

चाहिए – यह अर्थ है । उस किस पुरुष की शरण होकर खोज करनी चाहिए ? जिस पुरुष से यह पुराणी-चिरंतनी-सनातन-अनादि प्रवृत्ति=मायामय संसारवृक्ष की प्रवृत्ति प्रसृत-- विस्तार को प्राप्त हुई है-- निकली है, जैसे ऐन्द्रजालिक से मायामय हाथी आदि निकलते हैं, उस पुरुष की मैं शरण जाता हूँ – यह इसका अन्वय है ॥ 4 ॥

13 अन्वेषणपूर्वक वैष्णव पद को प्राप्त करनेवालों के अन्य अङ्ग भी कहते हैं –
[जो मान और मोह से रहित, सङ्गजनित दोष को जीते हुए, निरन्तर अध्यात्मविचार में तत्पर, विषयभोगों से निवृत्त और सुख-दु:खसंज्ञक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं वे विद्वान् पुरुष उस अव्यय -- अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ 5 ॥]

14 'मान' अहंकार अथवा गर्व है, 'मोह' तो अविवेक या विपर्यय है– उन मान और मोह से जो निष्क्रान्त– निकले हुए हैं अथवा जिनसे ये मान और मोह-- दोनों निकले हुऐ हैं वे 'निर्मानमोह' हैं । इसप्रकार जो अहंकार और अविवेक से रहित हैं । जितसङ्गदोष अर्थात् प्रिय और अप्रिय की सन्निधि में भी राग और द्वेष से रहित हैं । अध्यात्मनित्य = परमात्मा के स्वरूप की आलोचना करने में तत्पर है । विनिवृत्तकाम = विशेषत:, निरवशेषरूप से जिनके काम-- विषयभोग निवृत्त हो गये हैं वे --अर्थात् जो विवेक – वैराग्य द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करनेवाले हैं । जो सुख-दु:खसंज्ञक = सुख-दु:ख के हेतु होने से सुख-दु:ख नामक शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों से विमुक्त हैं । यदि सुख-दु:खसङ्गैः'-- यह पाठान्तर है, तो जिनका सुख और दु:ख से सङ्ग-- सम्बन्ध है उन सुखदु:खसङ्ग द्वन्द्वों से जो विमुक्त -- परित्यक्त हैं । इसप्रकार जो अमूढ़ हैं अर्थात् वेदान्त -- प्रमाण से समुत्पन्न सम्यग्ज्ञान से जिनका आत्माज्ञान दूर हो गया है वे विद्वान् उस अव्यय – अविनाशी यथोक्त पद को प्राप्त होते हैं ॥ 5 ॥

15 उस ही गन्तव्य पद को विशेषरूप से कहते हैं :--
[जिस पद को प्राप्त होकर योगिजन पुन: संसार में नहीं लौटते हैं उस पद को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि ही प्रकाशित करता है वही मेरा परम धाम - स्वयंप्रकाश पद है ॥ 6 ॥]

16 यद्वैष्णवं पदं गत्वा योगिनो न निवर्तन्ते तत्पदं सर्वावभासनशक्तिमानपि सूर्यो न भासयते । सूर्यास्तमयेऽपि चन्द्रो भासको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह - न शशाङ्कः । सूर्याचन्द्रमसोरुभयोरप्यस्तमयेऽग्निः प्रकाशको दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह - न पावकः । भासयत इत्युभयत्राप्यनुषज्यते । कुतः सूर्यादीनां तत्र प्रकाशनासामर्थ्यमित्यत आह - तद्धाम ज्योतिः स्वयंप्रकाशमादित्यादि-सकलजडज्योतिरवभासकं परमं प्रकृष्टं मम विष्णोः स्वरूपात्मकं पदम् । न हि यो यद्भास्यः स स्वभासकं तं भासयितुमीष्टे । तथा च श्रुतिः -

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । इति ॥

17 एतेन तत्पदं वेद्यं न वा, आद्ये वेद्यभिन्नवेदितृसापेक्षत्वेन द्वैतापत्तिर्द्वितीये त्वपुरुषार्थ-त्वापत्तिरित्यपास्तम् । अवेद्यत्वे सत्यपि स्वयमपरोक्षत्वात् । तत्रावेद्यत्वं सूर्याद्यभास्यत्वेनात्रोक्तं, सर्वभासकत्वेन तु स्वयमपरोक्षत्वं यदादित्यगतं तेज इत्यत्र वक्ष्यति । एवमुभाभ्यां श्लोकाभ्यां श्रुतेर्दलद्वयं व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥ 6 ॥

16 जिस वैष्णव पद को प्राप्त होकर योगिजन पुनः संसार में नहीं लौटते हैं उस पद को सबको प्रकाशित करने की शक्तिवाला भी सूर्य प्रकाशित नहीं करता है । सूर्य के अस्त होने पर भी चन्द्रमा प्रकाशक देखा गया है -- यह आशंका करके कहते हैं -- उसको चन्द्रमा भी प्रकाशित नहीं करता है । सूर्य और चन्द्रमा -- दोनों के अस्त होने पर भी अग्नि प्रकाशक देखा गया है -- यह आशंका करके कहते हैं -- उसको अग्नि भी प्रकाशित नहीं करता है । 'भासयते' -- यह क्रिया-पद 'शशाङ्कः' और 'पावकः' -- इन दोनों पदों के साथ अनुषिक्त -- सम्बद्ध है । उस पद के प्रकाशन में सूर्यादि का असामर्थ्य क्यों है ? इस पर कहते हैं -- वह धाम = ज्योति -- स्वयंप्रकाश अर्थात् सूर्यादि सब जड़ ज्योतियों का प्रकाशक है अतएव परम -- प्रकृष्ट मुझ विष्णु का स्वरूपभूत पद है । निश्चय ही जो जिसका भास्य -- प्रकाश्य होता है वह अपने उस भासक -- प्रकाशक को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हो सकता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है :--

"वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कहाँ सकता है ? उस ही के प्रकाशित होने से ये सब प्रकाशित होते हैं और उसके ही प्रकाश से यह सब प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.14) ।

17 इससे 'वह पद वेद्य है अथवा नहीं है ? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तो वेद्य से भिन्न उसके वेत्ता की अपेक्षा होने से द्वैतापत्ति होगी । यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं तो वह पद -- मोक्ष अपुरुषार्थरूप हो जायेगा' -- इन दोनों शंकाओं का निराकरण हो जाता है, क्योंकि अवेद्यरूप होने पर भी वह स्वयं अपरोक्षरूप है । उसमें अवेद्यत्व यहाँ सूर्यादि के द्वारा अभास्य -- अप्रकाश्य होने से कहा गया है, सर्वभासक -- सर्वप्रकाशक होने से तो वह स्वयं अपरोक्षरूप है -- यह 'यदादित्यगतं तेजः' (गीता, 15.12) इत्यादि में कहेंगे । इसप्रकार इन दो श्लोकों से श्रुति के दो दलों की व्याख्या की गई है -- यह समझना चाहिए ।। 6 ।।

18 **ननु यद्गत्वा न निवर्त्तन्त इत्युक्तं यदि गच्छन्ति तर्ह्यावर्तन्त एव स्वर्गवत् । अथ नाऽऽवर्तन्ते तर्हि न गच्छन्ति । तेन गत्वेति न निवर्तन्त इति च परस्परविरुद्धम् ।**

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥"

इति हि शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम् । अनात्मप्राप्तिः पुनरावृत्तिपर्यवसाना न त्वात्मप्राप्तिरिति चेत्, न, सुषुप्तौ 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इतिश्रुतिप्रतिपादितायां अप्यात्मप्राप्तेः पुनरावृत्तिपर्यन्तत्वदर्शनात् । अन्यथा सुषुप्तस्य मुक्तत्वेन पुनरुत्थानं न स्यात् । तस्मादात्मप्राप्तौ गत्वेति नोपपद्यते । तस्यौपचारिकत्वेऽप्यनिवृत्तिर्नोपपद्यत इति ।

19 **एवं प्राप्ते ब्रूमः । गन्तुर्जीवस्य गन्तव्यब्रह्माभिन्नत्वाद्गत्वेत्यौपचारिकम् । अज्ञानमात्रव्यवहितस्य तस्य ज्ञानमात्रेणैव प्राप्तिव्यपदेशात् । यदि ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो जीवस्तदा यथा जलप्रतिबिम्बितसूर्यस्य जलापाये बिम्बभूतसूर्यगमनं ततोऽनावृत्तिश्च, यदि च बुद्ध्यवच्छिन्नो ब्रह्मभागो जीवस्तदा यथा घटाकाशस्य घटापाये महाकाशं प्रति गमनं ततोऽनावृत्तिश्च, तथा जीवस्याप्युपाध्यपाये निरुपाधिस्वरूपगमनं ततोऽनावृत्तिश्चेत्युपचारादुच्यते । एकस्वरूपत्वाद्भेदभ्रमस्य चोपाधिनिवृत्त्या**

---

18 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' = 'जहाँ जाकर पुन: लौटते नहीं हैं' – यह जो कहा है, उसमें शंका यह है कि यदि जाते हैं तो लौटते ही हैं – जैसे स्वर्ग जाकर लौटते ही हैं; और यदि नहीं लौटते हैं तो जाते नहीं हैं, इसलिए 'गत्वा' -- 'जाकर' और 'न निवर्तन्ते' -- 'नहीं लौटते हैं' – ये दोनों कथन तो परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि शास्त्र और लोक में यह प्रसिद्ध है :--

''समस्त संग्रहों का अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है'' (बाल्मीकि - रामायण, अयोध्याकाण्ड, 105.16)'' ।

यदि यह कहें कि अनात्मप्राप्ति का ही परिणाम पुनरावृत्ति है, आत्मप्राप्ति का नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'हे सोम्य ! उस समय वह सत् से संपन्न होता है' -- इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित सुषुप्ति में होनेवाली आत्मप्राप्ति का भी पुनरावृत्ति में परिणाम होना देखा जाता है, अन्यथा सुषुप्त पुरुष भी मुक्त हो जाने से पुन: प्रबुद्धावस्था में न आवे । अत: आत्मप्राप्ति में 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह कहना सर्वथा उपपन्न -- उचित नहीं है । यदि 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह औपचारिक-लाक्षणिक है, तो भी 'अनिवृत्ति' -- 'नहीं लौटना' कहना उचित नहीं है ।

19 इसप्रकार शंका होने पर हम यह कहते हैं :-- गन्ता जीव गन्तव्य ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण 'गत्वा' - 'जाकर' -- यह कहना औपचारिक है, क्योंकि अज्ञानमात्र से व्यवहित वह ब्रह्म ज्ञानमात्र से ही प्राप्त होता है -- ऐसा कहा जाता है[11] । यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का जल न रहने पर बिम्बभूतसूर्य को जाना -- प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति -- न लौटना है; यदि जीव बुद्धि से अवच्छिन्न ब्रह्म का भाग -- अंश है तो जैसे घटाकाश का घट न रहने पर = घट का नाश होने पर महाकाश के प्रति गमन-जाना-प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति

11. जैसे गले में पहना हुआ हार अज्ञात दशा में अप्राप्त अर्थात् न पहना हुआ सा प्रतीत होता है, ज्ञात दशा में प्राप्त-- पहने हुए के समान मानकर 'हार पा गया ' – इसप्रकार औपचारिक प्राप्ति का व्यवहार होता है, जबकि अज्ञात दशा में भी तो हार प्राप्त ही था अप्राप्त नहीं था, वैसे ही अज्ञान से व्यवहित – आवृत ब्रह्म अप्राप्त सा प्रतीत होता है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर प्राप्त के समान प्रतीत होता है, अत: प्राप्ति औपचारिक है ।

निवृत्तेः । सुषुप्तौ तु अज्ञाने स्वकारणे भावनाकर्मपूर्वप्रज्ञासहितस्यान्तःकरणस्य जीवोपाधेः सूक्ष्मरूपेणावस्थानात्तत एवाज्ञानात्पुनरुद्भवः संभवति । ज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ तु कारणाभावात्कुतः कार्योदयः स्यादज्ञानप्रभवत्वादन्तःकरणाद्युपाधीनाम् । तस्माज्जीवस्याहं ब्रह्मास्मीतिवेदान्तवाक्यजन्यसाक्षात्कारादहं न ब्रह्मेत्यज्ञाननिवृत्तिर्गत्वेत्युच्यते । निवृत्तस्य चानाद्यज्ञानस्य पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यसंसाराभावो न निवर्तन्त इत्युच्यत इति न कोऽपि विरोधः ।

20 **जीवस्य तु पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवेत्यसकृदावेदितम् । तदेतत्सर्वं प्रतिपाद्यत उत्तरेण ग्रन्थेन । तत्र जीवस्य ब्रह्मरूपत्वादज्ञाननिवृत्त्या तत्स्वरूपं प्राप्तस्य ततो न प्रच्युतिरिति प्रतिपाद्यते ममैवांश इति श्लोकार्धेन । सुषुप्तौ तु सर्वकार्यसंस्कारसहिताज्ञानसत्त्वात्ततः पुनः संसारो जीवस्येति मनःषष्ठानीति श्लोकार्धेन प्रतिपाद्यते । ततस्तस्य वस्तुतोऽसंसारिणोऽपि मायया संसारं प्राप्तस्य मन्दमतिभिर्देहतादात्म्यं प्रापितस्य देहाद्व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते शरीरमित्यादिना श्लोकार्धेन । श्रोत्रं चक्षुरित्यादिना तु यथायथं स्वविषयेष्विन्द्रियाणां प्रवर्तकस्य तस्य तेभ्यो व्यतिरेकः प्रतिपाद्यते । एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणमुत्क्रान्त्यादिसमये स्वात्मरूपत्वात्किमिति सर्वे न पश्यन्तीत्याशङ्कायां विषयविक्षिप्तचित्ता दर्शनयोग्यमपि तं न पश्यन्तीत्युत्तरमुच्यते - उत्क्रामन्तमित्यादिना श्लोकेन । तं ज्ञानचक्षुषः पश्यन्तीति विवृतं यतन्तो योगिन इति श्लोकार्धेन । विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवृतं यतन्तोऽपीति श्लोकार्धेनेति पञ्चानां श्लोकानां संगतिः । इदानीमक्षराणि व्याख्यास्यामः -**

-- न लौटना है, वैसे ही जीव का उपाधि की निवृत्ति होने पर = उपाधि न रहने पर निरुपाधिक स्वरूप में गमन-जाना अर्थात् उसको प्राप्त होना और वहाँ से अनावृत्ति -- न लौटना है -- ये सब उपचार से कहे जाते हैं, क्योंकि जीव और ब्रह्म -- दोनों के एकस्वरूप होने के कारण उनमें भेद का भ्रम उपाधि की निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है । सुषुप्ति में तो जीव का उपाधिभूत भावना, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा सहित अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में सूक्ष्मरूप से रहने के कारण उस ही अज्ञान से पुनः उत्पन्न-प्रकट हो सकता है, किन्तु ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर कारण का अभाव होने से कार्य का उदय कहाँ से हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरण आदि उपाधियों का उदय तो अज्ञान से ही होता है । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इस वेदान्तवाक्यजन्य साक्षात्कार से 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' -- इत्याकारक जीव के अज्ञान की निवृत्ति ही 'गत्वा' - 'जाकर' -- इस पद से कही जाती है और निवृत्त हुए अनादि अज्ञान का पुनः उत्थान न होने के कारण उसके कार्यभूत संसार का अभाव 'न निवर्तन्ते' -- 'नहीं लौटते' - इस पद से कहा जाता है । इसप्रकार 'गत्वा न निवर्तन्ते' -- 'जाकर नहीं लौटते' -- इन पदों में कोई विरोध नहीं है ।

20 जीव का पारमार्थिक स्वरूप तो ब्रह्म ही है -- यह बार-बार कह चुकें हैं । यह सब उत्तर ग्रन्थ से प्रतिपादित करते हैं । उसमें, ब्रह्मस्वरूप होने के कारण अज्ञान की निवृत्ति से उस स्वरूप को प्राप्त हुए जीव का उससे पतन नहीं होता है -- यह 'ममैवांशः' -- इस श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । सुषुप्ति में तो सर्वकार्यसंस्कारसहित अज्ञान के रहने के कारण उससे जीव को पुनः संसार होता है -- यह 'मनःषष्ठानि' -- इस श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । तदुपरान्त, वस्तुतः वह असंसारी जीव भी माया से संसार को प्राप्त हुआ और मन्दमति पुरुषों द्वारा देह के तादात्म्य को प्राप्त कराया हुआ देह से सर्वथा भिन्न है -- यह 'शरीरम्' इत्यादि श्लोकार्ध से प्रतिपादित करते हैं । 'श्रोत्रं चक्षुः' -- इत्यादि से तो 'यथायोग्य अपने-अपने विषयों में इन्द्रियों का प्रवर्तक वह जीव उन इन्द्रियों से भिन्न है' --

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ 7 ॥

21 ममैव परमात्मनोंऽशो निरंशस्यापि मायया कल्पितः सूर्यस्येव जले नभस इव च घटे मृषाभेदवानंश इवांशो जीवलोके संसारे, स च प्राणधारणोपाधिना जीवभूतः कर्ता भोक्ता संसारीति मृषैव प्रसिद्धिमुपागतः सनातनो नित्य उपाधिपरिच्छेदेऽपि वस्तुतः परमात्मस्वरूपत्वात् । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या स्वस्वरूपं ब्रह्म प्राप्य ततो न निवर्तन्त इति युक्तम् ।

22 एवंभूतोऽपि सुषुप्तात्कथमावर्तत इत्याह - मनः षष्ठं येषां तानि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्चेन्द्रियाणीन्द्रस्याऽऽत्मनो विषयोपलब्धिकरणतया लिङ्गानि जाग्रत्स्वप्नभोगजनककर्मक्षये प्रकृतिस्थानि प्रकृतावज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि पुनर्जाग्रद्भोगजनककर्मोदये भोगार्थं कर्षति कूर्मोऽङ्गानीव प्रकृतेरज्ञानादाकर्षति विषयग्रहणयोग्यतयाऽऽविर्भावयतीत्यर्थः । अतो ज्ञानादनावृत्तावप्यज्ञानादावृत्तिर्नानुपपन्नेति भावः ॥ 7 ॥

इसका प्रतिपादन करते हैं । इसीप्रकार, देह – इन्द्रिय आदि से विलक्षण उस जीव को उत्क्रान्ति आदि समय में स्वात्मरूप होने से सब क्यों नहीं देखते हैं ? -- ऐसी आशंका होने पर 'विषयों के चिन्तन से विक्षिप्त चित्तवाले पुरुष दर्शन के योग्य भी उस जीव को नहीं देखते हैं' – यह उत्तर 'उत्क्रामन्तं स्थितम्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं । उस जीव को ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं -- यह 'यतन्तो योगिनः' -- इस श्लोकार्ध से कहा है । मूढ़जन उसको नहीं देख पाते हैं -- इसका विवरण 'यतन्तोऽपि' – इस श्लोकार्ध से करते हैं – इसप्रकार पाँच श्लोकों की संगति है । अब अक्षरों की व्याख्या करेंगे :--

[जीवलोक में मेरा ही अंश सनातन जीवभूत -- जीवरूप है, जो प्रकृति -- अज्ञान में स्थित मनः-- षष्ठ सहित पाँचों इन्द्रियों को खींचता है ॥ 7 ॥]

21 जिसप्रकार सूर्य का जल में और आकाश का घट में मिथ्या भेदवान् अंश रहता है उसीप्रकार मुझ निरंश[12] भी परमात्मा का जीवलोक में -- संसार में माया से कल्पित मिथ्या भेदवान् अंश है और वही प्राणधारणरूप उपाधि से जीवभूत[13] -- जीव स्वरूप है, 'कर्ता, भोक्ता, संसारी' – इसप्रकार की मिथ्या ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है, उपाधि का परिच्छेद रहने पर भी वस्तुतः परमात्मस्वरूप होने के कारण सनातन-नित्य है । अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूपभूत ब्रह्म को प्राप्त कर उससे निवृत्त नहीं होता है -- लौटता नहीं है – यह युक्तियुक्त है ।

22 एवंभूत भी वह सुषुप्ति अवस्था से कैसे लौट आता है -- इस पर कहते हैं :-- यह जीव मन जिनमें छठा है उन श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राणसंज्ञक पाँच इन्द्रियों को; जो इन्द्र अर्थात् आत्मा की विषयोपलब्धि का करण-साधन होने से उसकी लिङ्ग -- चिह्न हैं तथा जाग्रत् और स्वप्न के भोगजनक कर्मों का क्षय होने पर प्रकृतिस्थ = प्रकृति अर्थात् अज्ञान में सूक्ष्मरूप से स्थित रहती हैं; जाग्रत्-भोगजनक कर्म का उदय होने पर पुनः भोग के लिए खींचता है, जैसे कछुआ अपने में

---

12. परमात्मा निरंश -- निरवयव है, अन्यथा सावयव होने से वह अनित्य हो जायेगा और द्वैतापत्ति होने से अद्वैतश्रुतिविरोध भी होगा ।

13. 'जीव प्राणधारणे' (भ्वादिगण, 379) – इसके अनुसार 'जीव्' धातु से भी प्राणधारण जीव की उपाधि प्रतीत होती है ।

23 कस्मिन्काले कर्षतीत्युच्यते -

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥ 8 ॥

24 यद्यदोत्क्रामति बहिर्निर्गच्छतीश्वरो देहेन्द्रियसंघातस्य स्वामी जीवस्तदा यतो देहादुत्क्रामति ततो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षतीति द्वितीयपादस्य प्रथममन्वय उत्क्रमणोत्तरभावित्वाद्गमनस्य । न केवलं कर्षत्येव किं तु यद्यदा च पूर्वस्माच्छरीरान्तरमवाप्नोति तदैतानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयात्यपि सम्यक्पुनरागमनराहित्येन गच्छत्यपि । शरीरे सत्येवेन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः - आशयात्कुसुमादेः स्थानाद्गन्धान्गन्धात्मकान्सूक्ष्मानंशान्गृहीत्वा यथा वायुर्याति तद्वत् ॥ 8 ॥

25 तान्येवेन्द्रियाणि दर्शयन्यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ 9 ॥

संकोचित अंगों को अपने शरीर से बाहर निकालता है वैसे ही अज्ञानरूप प्रकृति -- उपादान कारण से उक्त इन्द्रियों को जीव खींचता है अर्थात् विषयग्रहणयोग्य बनाकर उनको वह प्रादुर्भूत -- प्रकट करता है । अतः ज्ञान से अनावृत्ति होने पर भी अज्ञान से पुनरावृत्ति होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है – यह भाव है ॥ 7 ॥

23 किस समय खींचता है – यह कहते हैं :--

[जिस समय देह और इन्द्रियों का ईश्वर -- स्वामी जीव एक शरीर से उत्क्रमण करता है उस समय वह इन्द्रियों को खींचता है – इतना ही नहीं, अपितु जिस देह को ग्रहण करता है उसमें वायु जैसे आशय से गन्ध को लेकर जाता है वैसे ही इन्द्रियों को लेकर जाता भी है ॥ 8 ॥]

24 जिस समय ईश्वर[14] = देह और इन्द्रियों के संघात का स्वामी जीव उत्क्रमण करता है – शरीर से बाहर निकलता है उस समय वह जिस देह से उत्क्रमण करता है – निकलता है उस देह से मन है छठवाँ जिनमें उन मन सहित पाँचों इन्द्रियों को खींचता है -- इसप्रकार पूर्व श्लोक के द्वितीय पाद के साथ अन्वय है – क्योंकि गमन तो उत्क्रमण के बाद ही होगा । वह केवल खींचता ही नहीं है, अपितु जिस समय वह पूर्व शरीर से भिन्न दूसरा शरीर ग्रहण करता है उस समय वह उसमें मन जिनमें छठवाँ है उन मन सहित पाँचों इन्द्रियों को लेकर सम् = सम्यक् अर्थात् पुनरागमन के अभावपूर्वक याति -- गच्छति = जाता भी है । शरीर रहते ही इन्द्रियग्रहण में दृष्टान्त है -- जैसे आशय = पुष्पादि के स्थान से वायु गन्ध[15] को = गन्धात्मक सूक्ष्म अंशों को लेकर जाता है वैसे ही जीव भी जाता है ॥ 8 ॥

25 उन इन्द्रियों को ही दिखलाते हुए जिस लिए उनको लेकर वह जीव जाता है वह कहते हैं :–

---

14. 'स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' (अमरकोश, 3.1.10-11) – इस कोश के अनुसार यहाँ 'ईश्वर' शब्द स्वामीपरक है ।

15. वायु पुष्पादि से गन्ध को कैसे ले जा सकता है ? कारण कि नैयायिकों के अनुसार गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है, समवाय सम्बन्ध नित्य होता है अतएव 'पुष्पादि' गुणी से 'गन्ध' गुण पृथक् नहीं हो सकता है, इसीप्रकार वेदान्तमत में भी गुण-गुणी में तादात्म्य सम्बन्ध होता है अतएव पुष्पादि से गन्ध को पृथक् नहीं किया जा सकता है । इस आशंका से ही प्रकृत में कहा है – वायु पुष्पादि से गन्ध को अर्थात् गन्धात्मक सूक्ष्म अंशो को लेकर जाता है ।

26 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च, चकारात्कर्मेन्द्रियाणि प्राणं च मनश्च षष्ठमधिष्ठायैवाऽऽश्रित्यैव विषयाञ्शब्दादीनयं जीव उपसेवते भुङ्क्ते ॥ 9 ॥

27 एवं देहगतं दर्शनयोग्यमपि देहात् -

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ 10 ॥

28 उत्क्रामन्तं देहान्तरं गच्छन्तं पूर्वस्मात्, स्थितं वाऽपि तस्मिन्नेव देहे, भुञ्जानं वा शब्दादीन्विषयान्, गुणान्वितं सुखदुःखमोहात्मकैर्गुणैरन्वितम् । एवं सर्वास्ववस्थासु दर्शनयोग्यमप्येनं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयाऽऽत्मानात्मविवेकायोग्या नानुपश्यन्ति । अहो कष्टं वर्तत इत्यज्ञाननुक्रोशति भगवान् । ये तु प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषो विवेकिनस्त एव पश्यन्ति ॥ 10 ॥

29 पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष इत्येतद्विवृणोति -

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ 11 ॥

[यह जीव श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना, घ्राण, समस्त कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन – इनका ही आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है ॥ 9 ॥]

26 श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण तथा चकार से समस्त कर्मेन्द्रिय और प्राण तथा षष्ठ मन – इन सबका अधिष्ठान-- आश्रय लेकर ही यह जीव शब्दादि विषयों का सेवन -- भोग करता है ॥ 9 ॥

27 इसप्रकार देहगत – देह में स्थित, दर्शन के योग्य भी देह से –
[देहान्तर में जाते हुए अथवा पूर्व ही शरीर में रहते हुए अथवा भोग करते हुए इस गुणान्वित जीव को मूढजन नहीं देखते हैं, ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं ॥ 10 ॥]

28 उत्क्रमण करते हुए = पूर्व देह से देहान्तर में जाते हुए, अथवा पूर्व ही शरीर में रहते हुए भी, अथवा शब्दादि विषयों का भोग करते हुए इस गुणान्वित = सुख-दु:ख-मोहात्मक गुणों से युक्त और इसप्रकार सभी अवस्थाओं में दर्शन के योग्य भी जीव को विमूढ़ = दृष्ट और अदृष्ट विषयभोगों की वासनाओं से आकृष्टचित्त होने के कारण आत्मा और अनात्मा का विवेक करने में अयोग्य -- असमर्थ जन नहीं देखते हैं, अहो ! यह कैसा कष्ट है[16] – इसप्रकार भगवान् अज्ञों पर अनुकम्पा करते हैं । जो तो प्रमाणजनित ज्ञानरूप चक्षुवाले विवेकीजन हैं वे ही उक्त जीव को देखते हैं ॥ 10 ॥

29 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' = 'ज्ञानचक्षुवाले पुरुष ही देखते हैं' -- इसका विवरण करते हैं :--
[ध्यानादि से यत्न करनेवाले योगिजन इस जीव को आत्मा -- अन्तःकरण में अवस्थित देखते हैं, किन्तु अकृतात्मा – अशुद्ध चित्तवाले अचेता -- विवेकशून्य पुरुष यत्न करते हुए भी इसको नहीं देखते हैं ॥ 11 ॥]

---

16. यहाँ भगवान् 'अहो' शब्द से आश्चर्य प्रकट करते हैं और 'कष्ट' शब्द से दु:ख सूचित करते हैं अथवा 'कष्ट' शब्द से दु:खद आश्चर्य प्रकट करते हैं । प्रकृत में भगवान् दु:खद आश्चर्य ही प्रकट करते हैं, आश्चर्य और दु:ख प्रकट नहीं करते हैं । अतएव अज्ञों पर अनुकम्पा करते हैं ।

30 आत्मनि स्वबुद्धाववस्थितं प्रतिफलितमेनमात्मानं यतन्तो ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिन एव पश्यन्ति। चोऽवधारणे। यतमाना अप्यकृतात्मानो यज्ञादिभिरशोधितान्तःकरणा अत एवाचेतसो विवेकशून्या नैनं पश्यन्तीति विमूढा नानुपश्यन्तीत्येतद्विवरणम् ॥ 11 ॥

31 इदानीं यत्पदं सर्वावभासनक्षमा अप्यादित्यादयो भासयितुं न क्षमन्ते यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः पुनः संसाराय नाऽऽवर्तन्ते यस्य च पदस्योपाधिभेदमनु विधीयमाना जीवा घटाकाशादय इवाऽऽकाशस्य कल्पितांशा मृषैव संसारमनुभवन्ति तस्य पदस्य सर्वात्मत्वसर्वव्यवहारास्पदत्वप्रदर्शनेन ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमिति प्रागुक्तं विवरीतुं चतुर्भिः श्लोकैरात्मनो विभूतिसंक्षेपमाह भगवान् –

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ 12 ॥

32 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इति श्रुत्यर्धं प्राग्व्याख्यातं न तद्भासयते सूर्य इत्यादिना। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इतिश्रुत्यर्धमनेन व्याख्यायते। यदादित्यगतं तेजश्चैतन्यात्मकं ज्योतिर्यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ स्थितं तेजो जगदखिलमवभासयते तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि। यद्यपि स्थावरजङ्गमेषु समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिस्तथाऽपि सत्त्वोत्कर्षेणाऽऽदित्यादीनामुत्कर्षात्तत्रैवाऽऽविस्तरां चैतन्यज्योतिरिति तैर्विशेष्यते-- यदादित्यगतमित्यादि। यथा तुल्येऽपि मुखसंनिधाने काष्ठकुड्यादौ न मुखमाविर्भवति।

---

30 आत्मा = अपनी बुद्धि में अवस्थित = प्रतिफलित -- प्रतिबिम्बित इस आत्मा-जीव को यतन्तः = ध्यानादि से प्रयतमान – प्रयत्न करनेवाले योगिजन ही देखते हैं। यहाँ 'च' अवधारण -- निश्चय अर्थ में है। यतमान = प्रयत्नपरायण भी अकृतात्मा = यज्ञादि से अशोधित -- अशुद्ध अन्तःकरणवाले अतएव अचेता = विवेकशून्य पुरुष इसको नहीं देखते हैं – यह 'विमूढा नानुपश्यन्ति' – इसका विवरण है ॥ 11 ॥

31 अब, जिस पद को सर्वप्रकाशनसमर्थ भी सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, जिसको प्राप्त हुए मुमुक्षुजन पुनः संसार को नहीं लौटते हैं, तथा जिस पद के उपाधिभेदों का अनुसरण करनेवाले जीव = आकाश के कल्पितांश घटाकाशादि के समान ब्रह्म के कल्पितांश जीव मिथ्या ही संसार का अनुभव करते हैं उस पद के सर्वात्मत्व और सर्वव्यवहारास्पदत्व के प्रदर्शनपूर्वक 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' -- इस पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करने के लिए भगवान् चार श्लोकों से आत्मविभूतियों के संक्षेप को कहते हैं :--

[जो तेज सूर्यगत -- सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में भी है उसको तुम मेरा ही तेज समझो ॥ 12 ॥]

32 पूर्व में भगवान् ने 'न तद्भासयते सूर्यः' = 'उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता है' – इत्यादि श्लोक से 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इस आधी श्रुति की व्याख्या की है, अब 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' – इस आधी श्रुति की व्याख्या इस श्लोक से करते हैं। जो सूर्यगत = सूर्य में स्थित तेज = चैतन्यात्मक ज्योति और जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है उस तेज को तुम मेरा ही जानो। यद्यपि स्थावर और जंगमों में चैतन्यस्वरूप ज्योति समान है, तथापि सत्त्वगुण के उत्कर्ष -- आधिक्य

आदर्शादौ च स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येनाऽऽविर्भवति तद्वत् यदादित्यगतं तेज इत्युक्त्वा पुनस्तत्तेजो विद्धि मामकमिति तेजोग्रहणाद्यदादित्यादिगतं तेजः प्रकाशः परप्रकाशसमर्थं सितभास्वरं रूपं जगदखिलं रूपवद्वस्तु अवभासयते, एवं यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ जगदवभासकं तेजस्तन्मामकं विद्धीति विभूतिकथनाय द्वितीयोऽप्यर्थो द्रष्टव्यः । अन्यथा तन्मामकं विद्धीत्येतावद्ब्रूयात्तेजोग्रहणमन्तरेणैवेति भावः ॥ 12 ॥

33 **किं च –**

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ 13 ॥

34 **गां पृथिवीं पृथिवीदेवतारूपेणाऽऽविश्यौजसा निजेन बलेन पृथिवीं धूलिमुष्टितुल्यां दृढीकृत्य भूतानि पृथिव्याधेयानि वस्तून्यहमेव धारयामि । अन्यथा पृथिवी सिकतामुष्टिवद्विशीर्येताधो निमज्जेद्वा, 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' इति मन्त्रवर्णात् । 'स दाधार पृथिवीम्' इति च हिरण्यगर्भभावापन्नं भगवन्तमेवाऽऽह ।**

35 **किं च रसात्मकः सर्वरसस्वभावः सोमो भूत्वौषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पृथिव्यां जाता अहमेव**

से सूर्यादि उत्कृष्ट है अत: उनके उत्कर्ष से उन्हीं में आविर्भूत चैतन्यज्योति है – इसप्रकार उन्हीं से विशेषित करते हैं -- यदादित्यगतमित्यादि । जैसे – समान मुखसंनिधान में भी काष्ठ, भित्ति आदि में मुख का अविर्भाव नहीं होता, किन्तु दर्पण आदि स्वच्छ और स्वच्छतर पदार्थों में उनके तारतम्य से अविर्भाव होता है वैसे ही 'यदादित्यगतं तेज:' – ऐसा कहकर पुन: 'तत्तेजो विद्धि मामकम्' – इसप्रकार कहा है -- यहाँ 'तेज' के ग्रहण से जो सूर्यगत तेज -- प्रकाश -- परप्रकाशसमर्थ अर्थात् शुक्लभास्वररूप सम्पूर्ण जगत् – रूपवान् वस्तुओं को प्रकाशित करता है और जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित जगत् का प्रकाशक तेज है उस तेज को मेरा ही समझो -- इसप्रकार विभूति के कथन के लिए द्वितीय अर्थ भी समझना चाहिए, अन्यथा पुन: 'तेज' न कहकर 'तन्मामकं विद्धि' -- 'उसको मेरा जानो' -- इतना ही कहते, अत: द्वितीय 'तेज' का ग्रहण द्वितीय अर्थ के लिये है – यह भाव है ॥ 12 ॥

33 इसके अतिरिक्त :–
[मैं ही पृथिवी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक -- रसस्वरूप सोम-चन्द्रमा होकर सब ओषधियों का पोषण करता हूँ ॥ 13 ॥]

34 मैं ही पृथ्वी देवतारूप से पृथ्वी में प्रवेश करके ओज अर्थात् अपने बल से मुट्ठीभर धूलि के समान पृथ्वी को दृढ़कर सब भूतों = पृथ्वी के आश्रित वस्तुओं को धारण करता हूँ, अन्यथा पृथ्वी धूलि की मुट्ठी के समान छिन्न-भिन्न हो जाती अथवा नीचे डूब जाती, इसमें यह श्रुति प्रमाण है -- 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (तैत्तिरीय संहिता, 4.1.8) = 'जिससे आकाश उग्र है और पृथ्वी दृढ़ है', तथा 'स दाधार पृथिवीम्' (तैत्तिरीय संहिता, 4.1.8) -- 'उसने पृथ्वी को धारण किया' -- यह श्रुति भी हिरण्यगर्भभाव को प्राप्त हुए भगवान् को ही कहती है ।

35 इसके अतिरिक्त, रसात्मक[17] = सर्वरसस्वभाव -- सर्वरसस्वरूप सोम-चन्द्रमा होकर मैं ही पृथ्वी में

---

17. 'रसो जलं रसो हर्ष:'–इस कोश के अनुसार रस जल ही है अतएव प्रकृत में रसात्मक अर्थात् जलात्मक है ।

पुष्णामि पुष्टिमती रसस्वादुमतीश्च करोमि ॥ 13 ॥

36 **किं च –**

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ 14 ॥

37 **अहमीश्वर एव वैश्वानरो जाठरोऽग्निर्भूत्वा 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितः सन्प्राणिनां सर्वेषां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां संयुक्तः संधुक्षितः सन्पचामि पक्तिं नयामि प्राणिभिर्भुक्तमन्नं चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति । तत्र यद्दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य भक्ष्यतेऽपूपादि तद्भक्ष्यं चर्व्यमिति चोच्यते । यत्तु केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्यते सूपौदनादि तद्भोज्यम् । यत्तु जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन निगीर्यते किंचिद्द्रवीभूतगुडरसालाशिखरिण्यादि तल्लेह्यम् । यत्तु दन्तैर्निष्पीड्य रसांशं निगीर्यावशिष्टं त्यज्यते यथेक्षुदण्डादि तच्चोष्यमिति भेदः । भोक्ता यः सोऽग्निर्वैश्वानरो यद्भोज्यमन्नं स सोमस्तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति ध्यायतोऽन्नदोषलेपो न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ 14 ॥**

38 **किं च–**

उत्पन्न हुई व्रीहि-यव आदि सब ओषधियों[18] का पोषण करता हूँ अर्थात् उन ओषधियों को पुष्टिमती और रसस्वादुमती -- स्वादयुक्त करता हूँ ।। 13 ।।

36 इसके अतिरिक्त --
[मैं वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के देह में स्थित हुआ, प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ।। 14 ।।]

37 मैं ईश्वर ही वैश्वानर = 'यह वैश्वानर अग्नि है जो इस पुरुष के भीतर है और जिससे यह अन्न पचाया जाता है' (बृहदारण्यकोपनिषद् 5.9.1) -- इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित जाठराग्नि होकर सब प्राणियों के देह में आश्रित = अन्त:प्रविष्ट हुआ, उसको उद्दीप्त करनेवाले प्राण और अपान से संयुक्त हुआ -- प्रज्वलित हुआ प्राणियों में भुक्त भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य– चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ । उन चतुर्विध अन्नो में -- जो अन्न दाँतों से काट-काट कर खाया जाता है वह 'भक्ष्य' है -- जैसे पूआ -- मालपूआ आदि, और वही 'चर्व्य' भी कहा जाता है । जो केवल जीभ से विलोकर निगल लिया जाता है वह 'भोज्य' कहलाता है -- जैसे -- सूप, ओदन आदि । जो जीभ पर रखकर रसस्वादपूर्वक निगला जाता है वह 'लेह्य' कहा जाता है -- जैसे - कुछ द्रवीभूत -- पिघला हुआ गुड़, रसाला, शिखरन आदि । जो दाँतों से दबाकर रसांश -- रसभाग को निगलते हुए शेष अंश को त्याग दिया जाता है वह 'चोष्य' कहलाता है -- जैसे -- ईख आदि । 'जो भोक्ता है वह वैश्वानर अग्नि है और जो भोज्य अन्न है वह सोम है-- इसप्रकार ये दोनों अग्नि और सोम ही सब है' -- इसप्रकार ध्यान करनेवालों को अन्नदोष का लेप-संपर्क नहीं होता है -- ऐसा भी समझना चाहिए ।। 14 ।।

38 इसके अतिरिक्त,

---

18. 'ओषधि: फलपाकान्ता' (अमरकोश, 2.4.6) = 'फलकर पकने के बाद नष्ट होनेवाले उद्भित् का नाम 'ओषधि' है, जैसे -- व्रीहि-धान, यव-जो, चना, गेहूँ आदि ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ 15 ॥

39 **सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन्हृदि बुद्धौ संनिविष्टः 'स एष इह प्रविष्टः' इति श्रुतेः । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति च । अतो मत्त आत्मन एव हेतोः प्राणिजातस्य यथानुरूपं स्मृतिरेतज्जन्मनि पूर्वानुभूतार्थविषया वृत्तिर्योगिनां च जन्मान्तरानुभूतार्थविषयाऽपि । तथा मत्त एव ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजं भवति । योगिनां च देशकालविप्रकृष्टविषयमपि । एवं कामक्रोधशोकादिव्याकुलचेतसामपोहनं च स्मृतिज्ञानयोरपायश्च मत्त एव भवति ।**

40 **एवं स्वस्य जीवरूपतामुक्त्वा ब्रह्मरूपतामाह--वेदैश्च सर्वैरिन्द्रादिदेवताप्रकाशकैरपि अहमेव वेद्यः सर्वात्मत्वात् ।**

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

इति मन्त्रवर्णात् । 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति च श्रुतेः । वेदान्तकृद्वेदान्तार्थसंप्रदायप्रवर्तको वेदव्यासादिरूपेण । न केवलमेतावदेव वेदविदेव चाहं कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकमन्त्र-ब्राह्मणरूपसर्ववेदार्थविच्चाहमेव । अतः साधूक्तं ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहमित्यादि ॥ 15 ॥

41 **एवं सोपाधिकमात्मानमुक्त्वा क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिद्वयवियोगेन निरुपाधिकं शुद्ध-**

[मैं ही सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, मैं ही सब वेदों द्वारा वेद्य -- जानने के योग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला हूँ ॥ 15 ॥]

39 मैं सब अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणिसमूह के हृदय -- बुद्धि में आत्मा होकर संनिविष्ट -- स्थित हूँ, श्रुति भी कहती है -- 'वह यह जीव इसमें प्रविष्ट हुआ है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.6); 'इस जीवरूप से प्रविष्ट होकर मैं नाम और रूपों का विभाग करता हूँ' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.3.2) -- इत्यादि । अत: मुझ आत्मारूप हेतु से ही प्राणिसमूह की यथायोग्य स्मृति = इस जन्म में पूर्वजन्मानुभूत-विषयक वृत्ति और योगियों की जन्मान्तरानुभूत-विषयक भी वृत्ति होती है । इसीप्रकार मुझसे ही विषय और इन्द्रिय के संयोग से होनेवाला ज्ञान होता है और योगियों का देश और काल से व्यवहित विषयसम्बन्धी ज्ञान होता है । इसीप्रकार काम, क्रोध, शोकादि से व्याकुल चित्तवालों का अपोहन = स्मृति और ज्ञान का अपाय -- लोप भी मुझसे ही होता है ।

40 इसप्रकार अपनी जीवरूपता कहकर ब्रह्मरूपता कहते हैं :-- इन्द्रादि देवताओं के प्रकाशक सब वेदों द्वारा भी मैं ही वेद्य -- जानने योग्य हूँ, क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ, जैसा कि इस मन्त्रवर्ण से भी सिद्ध होता है --

"आत्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, वही सुन्दर पंखोवाला दिव्य गरुड है, उसको ही अग्नि, यम और मातरिश्वा-पवन भी कहते हैं -- इसप्रकार एक होने पर भी उसको विप्रजन अनेक प्रकार से कहते हैं" ।

श्रुति भी कहती है -- 'यही समस्त देवतारूप है' -- इत्यादि । मैं ही वेदान्तकृत् = वेदव्यासादिरूप

मात्मानं प्रतिपादयति कृपया भगवानर्जुनाय त्रिभिः श्लोकैः –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ 16 ॥

42 द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ पुरुषौ पुरुषोपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ लोके संसारे । कौ तावित्याह– क्षरश्चाक्षर एव च क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः । न क्षरतीत्यक्षरो विनाशरहितः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं भगवतो मायाशक्तिर्द्वितीयः पुरुषः । तौ पुरुषौ व्याचष्टे स्वयमेव भगवान्क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं कार्यजातमित्यर्थः । कूटस्थः कूटो यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशनं वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरम् । तेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितः कूटस्थो भगवान्मायाशक्तिरूपः कारणोपाधिः संसारबीजत्वेनाऽऽनन्त्यादक्षर उच्यते ।

43 केचित्तु क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा कूटस्थोऽक्षर उच्यत इत्यनेन जीवमाहुः । तन्न सम्यक् ।

से वेदान्तार्थ के सम्प्रदाय का प्रवर्तक हूँ। न केवल इतना ही, मैं ही वेदविद्– वेदवेत्ता भी हूँ अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमय मन्त्र और ब्राह्मणरूप सब वेदार्थ को जाननेवाला मैं ही हूँ। अतः 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्'= 'मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ'– यह ठीक ही कहा है ॥ 15 ॥

41 इसप्रकार सोपाधिक आत्मा को कहकर क्षर और अक्षर शब्दों से वाच्य कार्य और कारणरूप दोनों उपाधियों के निषेध द्वारा भगवान् अर्जुन पर कृपा करके तीन श्लोकों से निरुपाधिक शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करते हैं :–

[इस संसार में क्षर – नाशवान् और अक्षर – अविनाशी भी -- ये दो पुरुष हैं, उनमें सब भूत = समस्त कार्यसमूह क्षर है और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है ॥ 16 ॥]

42 इस लोक = संसार में पुरुष की उपाधिवाले होने से 'पुरुष' शब्द द्वारा कहे जानेवाले पृथक्-पृथक् राशि -- समुदायरूप में किये हुए ये दो पुरुष हैं। वे दो पुरुष कौन है ? यह कहते हैं :– वे दो पुरुष क्षर और अक्षर भी हैं = जो क्षरित होता है वह क्षर अर्थात् विनाशी कार्यराशि – कार्यसमूह एक पुरुष है और जो क्षरित नहीं होता है वह अक्षर अर्थात् विनाशरहित – अविनाशी 'क्षर' नामक पुरुष की उत्पत्ति का बीज -- कारण भगवान् की मायाशक्तिरूप द्वितीय पुरुष है। उन दोनों पुरुषों की व्याख्या भगवान् स्वयं ही करते है -- 'क्षर' सम्पूर्ण भूत अर्थात् समस्त कार्यसमूह है और कूटस्थ[19] = 'कूट' यथार्थ वस्तु के आच्छादन से अयथार्थ वस्तु का प्रकाशन है – इसके वञ्चन, माया -- ये सब अनर्थान्तर -- पर्याय हैं, उस आवरण और विक्षेप शक्तिद्वयरूप से स्थित कूटस्थ -- भगवान् की मायाशक्तिरूप कारण-उपाधि संसार की बीज-कारणरूप होने से अनन्त है, अतः 'अक्षर' कहा जाता है।

43 कोई तो 'क्षर' शब्द से अचेतन वर्ग को कहकर 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' = 'कूटस्थ अक्षर कहा

19. श्रीधरस्वामी ने 'कूटस्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है – "कूटः शिलाराशि पर्वत इव देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति कूटस्थश्चेतनो भोक्ता, स तु अक्षरः पुरुष इत्युच्यते विवेकिभिः" = 'कूट = शिलाराशि है, जो पर्वत के समान देहों का नाश होने पर भी निर्विकाररूप से स्थित रहता है वह कूटस्थ चेतन भोक्ता है, वह 'अक्षर' पुरुष है – ऐसा विवेकीजन कहते हैं', यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृत में क्षेत्रज्ञ ही पुरुषोत्तमरूप से प्रतिपाद्य – इष्ट है, अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गीता, 13.2) -- इससे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता, 15.17) – इसका विरोध होगा।

क्षेत्रज्ञस्यैवेह पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । तस्मात्क्षराक्षरशब्दाभ्यां कार्यकारणोपाधी उभावपि जडावेवोच्येते इत्येव युक्तम् ॥ 16 ॥

44 आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 17 ॥

45 उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽन्य एवात्यन्तविलक्षण आभ्यां क्षराक्षराभ्यां जडराशिभ्यामुभयभासकस्तृतीयश्चेतनराशिरित्यर्थः । परमात्मेत्युदाहृतोऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्योऽविद्याकल्पितात्मभ्यः परमः प्रकृष्टोऽकल्पितो ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युक्त आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु । यः परमात्मा लोकत्रयं भूर्भुवःस्वराख्यं सर्वं जगदिति यावत् । आविश्य स्वकीयया मायाशक्त्याऽधिष्ठाय बिभर्ति सत्तास्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति च । कीदृशः, अव्ययः सर्वविकारशून्य ईश्वरः सर्वस्य नियन्ता नारायणः स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्युदाहृत इत्यन्वयः । स उत्तमः पुरुष इति श्रुतेः॥ 17 ॥

जाता है' – इससे जीव को कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ ही यहाँ पुरुषोत्तमरूप से प्रतिपाद्य - इष्ट है, अन्यथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गीता, 13.2) – इससे 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता, 15.17) -- इसका विरोध होगा । अतः क्षर और अक्षर – शब्दों से कार्योपाधि और कारणोपाधि – इन दो जड़ों को ही कहा जाता है – यही युक्तियुक्त है ॥ 16 ॥

44 इन क्षर और अक्षर -- दोनों से विलक्षण, क्षर और अक्षर -- दोनों उपाधियों के दोष से अस्पृष्ट – असम्बद्ध नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव --

[उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण, पोषण करता है, जो अव्यय -- अविकारी और ईश्वर-- सबका नियन्ता है और जो 'परमात्मा' कहा गया है ॥ 17 ॥]

45 उत्तम[20] = उत्कृष्टतम -- अति उत्तम पुरुष तो अन्य ही है = इस क्षर और अक्षर -- दोनों जड़राशियों से अत्यन्त विलक्षण है अर्थात् दोनों का प्रकाशक तृतीय चेतनराशि है । वह 'परमात्मा' कहा गया है = अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय -- इन पाँच अविद्याकल्पित आत्माओं से परम -- प्रकृष्ट अकल्पित 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' -- श्रुति से उक्त आत्मा है और सब भूतों का प्रत्यक्चेतन है, अतः वेदान्तों में 'परमात्मा' कहा गया है । जो परमात्मा भूः, भुवः और स्वः संज्ञक तीनों लोकों में अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश करके = अपनी मायाशक्ति से उसको अधिष्ठित करके सबकों धारण करता है सत्ता और स्फूर्ति प्रदान से सबका धारण – पोषण करता है । वह कैसा है ? अव्यय[21] = सर्वविकारशून्य ईश्वर[22] = सबका नियन्ता नारायण वह उत्तम पुरुष 'परमात्मा'

---

20. उत्तमः = उत् + तमः = 'उत्' – उद्गत– तिरोहित हुआ है 'तमः' = अविद्यारूप अन्धकार जिससे, अथवा तम आदि तीनों गुण उद्गत–तिरोहित हुए हैं जिससे वह उत्तमः–गुणातीत अर्थात् उत्कृष्टतम है । इसको पुरुष कहा जाता है, क्योंकि यह सबके पहले ही विद्यमान है और सबके हृदयरूपी पुरी में पूर्णरूप से सदा ही स्थित है ।

21. न विद्यते व्ययो यस्य सोऽव्ययः । अथवा, अव्ययः सर्वज्ञत्वेन ईश्वरधर्मेण अल्पज्ञत्वेन जीवधर्मेण वा न व्येति वर्धते क्षीयते वेत्यर्थः ।

22. 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.8) = 'ईश संयुक्त क्षर और अक्षर तथा व्यक्त और अव्यक्त – सबका पालन-पोषण करता है' – इस श्रुति के अर्थ को ग्रहण कर प्रकृत में 'ईश्वर' कहा गया है ।

46 इदानीं यथाव्याख्यातेश्वरस्य क्षराक्षरविलक्षणस्य पुरुषोत्तम इत्येतत्प्रसिद्धनामनिर्वचनेनेदृशः परमेश्वरोऽहमेवेत्यात्मानं दर्शयति भगवान्ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं तद्धाम परमं ममेत्यादिप्रागुक्त-निजमहिमनिर्धारणाय –

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ 18 ॥

47 यस्मात्क्षरं कार्यत्वेन विनाशिनं मायामयं संसारवृक्षमश्वत्थाख्यमतीतोऽतिक्रान्तोऽहं परमेश्वरोऽक्षरादपि मायाख्यादव्याकृतादक्षरात्परतः पर इति पञ्चम्यन्ताक्षरपदेन श्रुत्वा प्रतिपादितात्संसारवृक्षबीजभूतात्सर्वकारणादपि चोत्तम उत्कृष्टतमः, अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यामध्यासेन पुरुषपदव्यपदेश्याभ्यामुत्तमत्वादस्मि भवामि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः पुरुषोत्तम इति स उत्तमः पुरुष इति वेद उदाहृत एव लोके च कविकाव्यादौ 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि प्रसिद्धम् ।

कारुण्यतो नरवदाचरतः परार्थान्पार्थाय बोधितवतो निजमीश्वरत्वम् ।
सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा न हि मानमेति ॥

कहा गया है – यह अन्वय है, इसमें श्रुति प्रमाण है – 'स उत्तमः पुरुषः' = 'वह उत्तम पुरुष है ॥ 17 ॥

46 अब, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं, तद्धाम परमं मम' -- इत्यादि से पूर्व में उक्त अपनी महिमा का निर्धारण – निश्चय करने के लिए भगवान् यथाव्याख्यात क्षर और अक्षर से विलक्षण ईश्वर के 'पुरुषोत्तम' -- इस प्रसिद्ध नाम के निर्वचन से 'ऐसा परमेश्वर मैं ही हूँ' - इसप्रकार आत्मस्वरूप को प्रदर्शित करते हैं :--

[क्योंकि मैं क्षर -- नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर = माया संज्ञक अव्याकृत से भी उत्तम हूँ, अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ 18 ॥]

47 क्योंकि मैं परमेश्वर क्षर = कार्यरूप होने से विनाशी, अश्वत्थ संज्ञक मायामय संसारवृक्ष से अतीत -- अतिक्रान्त हूँ और अक्षर = 'अक्षरात्परतः परः' -- इसप्रकार पञ्चम्यन्त 'अक्षर' पद के द्वारा श्रुति से प्रतिपादित, संसारवृक्ष के बीजभूत सबके कारण मायासंज्ञक अव्याकृत से भी उत्तम = उत्कृष्टमय -- अतिउत्तम हूँ, अतः अध्यासवश 'पुरुष' पद से व्यपदेश्य -- व्यवहार्य क्षर और अक्षर -- दो पुरुषों की उपाधियों से उत्तम होने के कारण मैं लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रथित -- प्रसिद्ध = प्रख्यात हूँ, 'स उत्तमः पुरुषः' -- ऐसा वेद-श्रुति में कहा ही है । लोक में भी जैसे -- कवि कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य में 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' (तृतीयसर्ग, 49) = 'जिसप्रकार विष्णु ही केवल पुरुषोत्तम कहे जाते हैं' -- इत्यादि प्रसिद्ध है ।

''करुणावश मनुष्य के समान दूसरों के हित का आचरण करते हुए जिन्होंने पार्थ -- अर्जुन को अपने ईश्वरत्व का बोध कराया उन सच्चिदानन्दविग्रह पुरुषोत्तम नारायण की महिमा का कोई परिमाण नहीं है । कोई विशुद्ध चित्त और निर्मल बुद्धिवाले योगपरायण पुरुष इन्द्रियों का निग्रह कर, भोगों का त्याग कर, योग में स्थित होकर मुक्ति के लिए यत्न करते हैं, किन्तु मैं तो अमृत -- अमृतत्व

केचिन्निगृह्य करणानि विसृज्य भोगमास्थाय योगममलात्मधियो यतन्ते ।
नारायणस्य महिमानमनन्तपारमास्वादयन्नमृतसारमहं तु मुक्तः ॥ 18 ॥

48 एवं नामनिर्वचनज्ञाने फलमाह –

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ 19 ॥

49 यो मामीश्वरमेवं यथोक्तनामनिर्वचनेनासंमूढो मनुष्य एवायं कश्चित्कृष्ण इतिसंमोहवर्जितो जानात्ययमीश्वर एवेति पुरुषोत्तमं प्राग्व्याख्यातं स मां भजति सेवते सर्वमिन्मां सर्वात्मानं वेत्तीति स एव सर्वज्ञः सर्वभावेन प्रेमलक्षणेन भक्तियोगेन हे भारत । अतो यदुक्तम् –

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥'

इति तदुपपन्नम् । यच्चोक्तं 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति तदप्युपपन्नतरम् ।

चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिरां
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो
महो वारंवारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥ 19 ॥

इदानीमध्यायार्थं स्तुवन्नुपसंहरति–

की सारभूत भगवान् नारायण की अनन्त, अपार महिमा का आस्वादन करते हुए ही मुक्त हो गया हूँ"।। 18 ।।

48 इसप्रकार नाम के निर्वचन का ज्ञान होने में फल कहते हैं:--
[हे भारत ! जो संमोहहीन पुरुष मुझको इसप्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सर्ववित् ही मुझको सर्वभाव से भजता है ।। 19 ।।]

49 जो असंमूढ = 'यह कृष्ण कोई मनुष्य ही है' -- इसप्रकार के संमोह से रहित पुरुष मुझ ईश्वर को यथोक्त नाम के निर्वचन द्वारा 'यह ईश्वर ही है' -- इसप्रकार पूर्वव्याख्यात पुरुषोत्तम जानता है, हे भारत ! वह सर्ववित् = 'मुझ सर्वात्मा को जानता है' -- इसप्रकार वह ही सर्वज्ञ सर्वभाव = प्रेमस्वरूप भक्तियोग से मुझको भजता है -- मेरा सेवन करता है । अतः यह जो कहा है --
"जो पुरुष तो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है वह इन सत्त्वादि तीन गुणों का सम्यक्प्रकार से अतिक्रमण -- उल्लंघन कर ब्रह्मभाव -- मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग्य होता है " (गीता, 14.26) ।
वह ठीक ही है । तथा यह जो कहा है कि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' = 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' -- वह तो और भी युक्तियुक्त है ।
"हे शुभकार्यकृतिजनों ! जो चिदानन्दस्वरूप, जलदरुचि-- श्यामकान्ति-- मेघश्याम, वेदवाणी का सारभूत, व्रजगोपाङ्गनाओं के हृदय का हार, ज्ञानीजनों के लिए भवसागर का पार और भूभार को नष्ट करने के लिए बार-बार अवतार ग्रहण करनेवाला है अहो ! उस तेज का बार-बार भजन करो ।। 19 ।।

50 अब अध्याय के अर्थ-भावार्थ की स्तुति करते हुए उपसंहार करते हैं --

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ 20 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

51 इति अनेन प्रकारेण गुह्यतमं रहस्यतमं संपूर्णं शास्त्रमेव संक्षेपेणेदमस्मिन्नध्याये मयोक्तं हेऽनघाव्यसन । एतद्बुद्ध्वाऽन्योऽपि यः कश्चिद्बुद्धिमानात्मज्ञानवान्स्यात्कृतं सर्वं कृत्यं येन न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति स कृतकृत्यश्च स्यात् । विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेत्, न त्वन्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः । हे भारत त्वं तु महाकुलप्रसूतः स्वयं च व्यसनरहित इति कुलगुणेन स्वगुणेन चैतद्बुद्ध्वा कृतकृत्यो भविष्यसीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ 20 ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ 1 ॥
सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभवमपाकरोति ।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम् ॥ 2 ॥
शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः ॥ 3 ॥

[हे अनघ ! हे निष्पाप ! इसप्रकार मैंने तुमको यह अतिरहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र कहा है । हे भारत ! इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य बुद्धिमान् -- ज्ञानवान् और कृतकृत्य-कृतार्थ हो जाता है ।। 20 ।।]

51 इसप्रकार हे अनघ[23] ! हे अव्यसन ! इस अध्याय में संक्षेप से मैंने तुमको सम्पूर्ण गुह्यतम = रहस्यतम = अतिरहस्ययुक्त शास्त्र[24] ही कह दिया है । इसको जानकर जो कोई अन्य भी बुद्धिमान् = आत्मज्ञानवान् हो जायेगा और कृतकृत्य = जिसने सब कृत्य कर लिये हैं, जिसका कोई अन्य कृत्य करने को शेष नहीं रहा है ऐसा कृतकृत्य हो जायेगा ! विशिष्ट कुल में उत्पन्न ब्राह्मण का जो कुछ कर्तव्य है वह सब भगवत्तत्त्व का ज्ञान होने पर सम्पादित हो जाता है, अन्यथा बिना भगवत्तत्त्व का ज्ञान हुए किसी का कर्तव्य समाप्त नहीं होता है[25] -- यह अभिप्राय है । हे भारत ! तुम तो महाकुल में उत्पन्न हुए हो और स्वयं भी व्यसनरहित -- दोषरहित हो -- इसप्रकार कुलगुण से और स्वगुण से इसको जानकर कृतकृत्य होओगे -- इसमें तो कहना ही क्या है -- यह अभिप्राय है ।। 20 ।।

"वंशी से विभूषित हाथवाले, नवीन नीरद -- श्याममेघ की-सी कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, लाल बिम्बफल के समान अधरोष्ठवाले, पूर्ण चन्द्र के समान मुखवाले और कमल के समान नेत्रवाले श्रीकृष्ण से पर -- श्रेष्ठ किसी भी तत्त्व को मैं नहीं जानता हूँ ।। 1 ।।

सदा सदानन्द पद में निमग्न हुआ मन मनोभाव को दूर करता है, गतागत के श्रम को दूरकर शीघ्र ही पर और अपर से अतीत तत्त्व को प्राप्त करता है ।। 2 ।।

शैव, सौर -- सूर्योपासक, गाणेश -- गणेशोपासक, वैष्णव और शक्तिपूजक -- ये सब जिस तत्त्व में निमग्न रहते हैं वह परम शिव मैं ही हूँ ।। 3 ।।

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥ 4 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ 15 ॥

जो मूढजन प्रमाण से भी निर्णीत अद्भुत श्रीकृष्ण के माहात्म्य को सहन नहीं कर सकते हैं वे नरकगामी होते हैं ।। 4 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का पुरुषोत्तमयोग नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त होता है ।

---

23. 'हे अर्जुन ! तुम्हारा जैसा अनघ – अव्यसन – निष्पाप उक्त शास्त्र का अधिकारी है' – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

24. यद्यपि सम्पूर्ण 'गीता' को ही शास्त्र कहा जाता है, तथापि यहाँ स्तुति के लिए प्रकरण होने से यह पन्द्रहवाँ अध्याय ही 'शास्त्र' कहा गया है, क्योंकि इस अध्याय में केवल गीताशास्त्र का अर्थ ही संक्षेप में नहीं कहा गया है, किन्तु इसमें समस्त वेदों का अर्थ भी समाप्त होता है, ऐसा इस अध्याय के पूर्व में ही कहा भी गया है – 'यस्तं वेद स वेदविद्' (गीता, 15.1); 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता, 15.15) = 'जो उसको जानता है वह वेदवित् है', 'समस्त वेदों से मैं ही वेद्य – जानने योग्य हूँ' ।

25. भगवान् ने स्वयं गीता में भी कहा है– 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता, 4.33) = 'हे पार्थ ! सब कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं' । इसीप्रकार मनु का भी वचन है :–

''एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ।। (मनुस्मृति, 12.93)

''द्विजोत्तम आत्मज्ञान, इन्द्रियनिग्रह और वेदाभ्यास में यत्नवान् रहें । विशेषकर ब्राह्मण के जन्म की सफलता इसी में है । इस मोक्ष को पाकर ही द्विज कृतकृत्य होता है, अन्यथा नहीं' ।

अथ षोडशोऽध्यायः

1 **अनन्तराध्याये 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इत्यत्र मनुष्यदेहे प्राग्भवीयकर्मानुसारेण व्यज्यमाना वासनाः संसारस्यावान्तरमूलत्वेनोक्तास्ताश्च दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमेऽध्याये सूचिताः। तत्र वेदबोधितकर्मात्मज्ञानोपायानुष्ठानप्रवृत्तिहेतुः सात्त्विकी शुभवासना दैवी प्रकृतिरित्युच्यते। एवं वैदिकनिषेधातिक्रमेण स्वभावसिद्धरागद्वेषानुसारिसर्वानर्थहेतुप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासनाऽऽसुरी राक्षसी च प्रकृतिरुच्यते। तत्र च विषयभोगप्राधान्येन रागप्राबल्यादासुरीत्वं हिंसाप्राधान्येन द्वेषप्राबल्याद्राक्षसीत्वमिति विवेकः। संप्रति तु शास्त्रानुसारेण तद्विहितप्रवृत्तिहेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना दैवी संपत्, शास्त्रातिक्रमेण तन्निषिद्धविषयप्रवृत्तिहेतुभूता राजसी तामसी चाशुभवासना राक्षस्यासुर्योरेकीकरणेनाऽऽसुरी संपदिति द्वैराश्येन शुभाशुभवासनाभेदं 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं शुभानामादानायाशुभानां हानाय च प्रतिपादयितुं षोडशोऽध्याय आरभ्यते। तत्राऽऽदौ श्लोकत्रयेणाऽऽदेयां दैवीं संपदम् –**

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ 1 ॥

---

1 पूर्व अध्याय में 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' = 'मनुष्यलोक – मनुष्यदेह में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैल रही हैं' – इस श्लोक में मनुष्यदेह में पूर्वजन्मों के कर्मानुसार अभिव्यक्त होनेवाली वासनाएँ संसार की अवान्तर मूलरूप से कही गई हैं और वे दैवी, आसुरी और राक्षसी -- प्राणियों की प्रकृतियाँ नवम अध्याय में सूचित की गई हैं। उनमें, वेदविदित -- वेदविहित कर्म और आत्मज्ञान के उपायों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति कराने की हेतु सात्त्विकी शुभवासना 'दैवी-प्रकृति' कही जाती है। इसीप्रकार वैदिक निषेध के अतिक्रमण -- उल्लंघन से स्वभावसिद्ध राग और द्वेष के अनुरूप सब अनर्थों के हेतु में प्रवृत्ति कराने की हेतुभूता राजसी और तामसी अशुभवासनाएँ 'आसुरी और राक्षसी' प्रकृति कही जाती हैं। इनमें, विषयभोग की प्रधानता से राग की प्रबलता होने के कारण 'आसुरी' होती है और हिंसा की प्रधानता से द्वेष की प्रबलता होने के कारण 'राक्षसी' होती है -- इसप्रकार इन दोनों में विवेक-भेद है। इस समय तो शास्त्र के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृति की हेतुभूता सात्त्विकी शुभवासना 'दैवीसंपत्' है और शास्त्र के अतिक्रमण -- उल्लंघनपूर्वक शास्त्रनिषिद्ध विषयों में प्रवृत्ति की हेतुभूता राजसी और तामसी अशुभवासनाएँ राक्षसी और आसुरी प्रकृतियों के एकीकरण से 'आसुरीसंपत्' हैं-- इसप्रकार दो राशियों में विभक्त शुभ और अशुभ वासनाओं के भेद का, जो कि 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' = 'देव और असुर -- ये दो प्रजापति के पुत्र थे' -- इस श्रुति में भी प्रसिद्ध है, शुभ वासनाओं के ग्रहणार्थ और अशुभ वासनाओं के हान-त्यागार्थ प्रतिपादन करने के लिए सोलहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है। उनमें सर्वप्रथम आदेय-ग्राह्य -- ग्रहण करने योग्य 'दैवी-सम्पत्' को भगवान् तीन श्लोकों से कहते हैं :--

[श्रीभगवान् ने कहा -- हे भारत ! दैवी-सम्पत् को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में अभय, सत्त्वसंशुद्धि --

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ 2 ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ 3 ॥

2 **शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे संदेहं विनाऽनुष्ठाननिष्ठत्वमेकाकी सर्वपरिग्रहशून्यः कथं जीविष्यामीति भयराहित्यं वाऽभयं, सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्निर्मलता तस्याः सम्यक्ता भगवत्तत्त्वस्फूर्तियोग्यता सत्त्वसंशुद्धिः परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं वा । परस्य व्याजेन वशीकरणं परवञ्चनं, हृदयेऽन्यथा कृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणं माया, अयथादृष्टकथनमनृतमित्यादि । ज्ञानं शास्त्रादात्मतत्त्वस्यावगमः, चित्तैकाग्रतया तस्य स्वानुभवारूढत्वं योगः, तयोर्व्यवस्थितिः सर्वदा तन्निष्ठता ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । यदा तु अभयं सर्वभूताभयदानसंकल्पपालनम् । एतच्चान्येषामपि परमहंसधर्माणामुपलक्षणम् । सत्त्वसंशुद्धिः श्रवणादिपरिपाकेणान्तःकरणस्यासंभावनाविपरीतभावनादिमलराहित्यम् । ज्ञानमात्मसाक्षात्कारः । योगो मनोनाशवासनाक्षयानुकूलः पुरुषप्रयत्नस्ताभ्यां विशिष्टा संसारिविलक्षणाऽवस्थितिर्जीवन्मुक्तिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिरित्येवं व्याख्यायते तदा फलभूतैव दैवी संपदियं द्रष्टव्या । भगवद्भक्तिं विनाऽन्तःकरणसंशुद्धेरयोगात्तया साऽपि कथिता ।**

अन्तःकरणसंशुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, मार्दव, ह्री-लज्जा, अचापल -- अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अधिक मान न होना -- ये धर्म होते हैं ॥ 1-3 ॥]

2 शास्त्रद्वारा उपदिष्ट अर्थ में सन्देह के बिना अनुष्ठान करना, अथवा-- 'सब प्रकार के संग्रह को छोड़कर मैं अकेला कैसे जीवित रहूँगा' -- इसप्रकार के भय से रहित होना 'अभय' है[1] । सत्त्व -- अन्तःकरण की शुद्धि -- निर्मलता उसकी जो सम्यक्ता अर्थात् भगवत्तत्त्वस्फूर्ति की योग्यता है वह 'सत्त्वसंशुद्धि', अथवा-- परवञ्चना, माया, अनृत आदि का परिवर्जन--परित्याग 'सत्त्वसंशुद्धि[2]' है । दूसरे को किसी व्याज-बहाने से वश में करना 'परवञ्चन-परवञ्चना' है । हृदय में अन्य भाव रखकर बाहर दूसरे प्रकार से व्यवहार करना 'माया' है । जैसा देखा नहीं हो वैसा कहना 'अनृत' -- मिथ्या है । 'ज्ञान' शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्व का अवगम-बोध है और चित्त की एकाग्रता द्वारा

---

1. प्रकृत में अधिकारी के भेद से 'अभय' के दो लक्षण किये हैं । प्रथम लक्षण कर्मी पुरुष के लिए हैं और द्वितीय लक्षण संन्यासी के लिए है ।

2. (अ) यहाँ 'सत्त्वसंशुद्धि' अधिकारीभेद से उक्त है । प्रथम लक्षण में कहा है – अन्तःकरण की निर्मलता की सम्यक्ता 'सत्त्वसंशुद्धि' है, यहाँ संशुद्धि = सम् + शुद्धि – इस पद के 'सम्' उपसर्ग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है – सम्यक्ता अर्थात् भगवत्तत्त्वस्फूर्ति की योग्यता शुद्धि में अपेक्षित है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुणोपचित अन्तःकरण में भगवत्तत्त्व की स्फूर्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है । यह लक्षण संन्यासी के लिए है, क्योंकि उसमें परवञ्चनादि तो स्वयं निवृत्त रहते हैं । द्वितीय लक्षण कर्मी के लिए है ।

(ब) 'सत्त्वानां = दुष्टप्राणिनां व्याघ्रादीनां संशुद्धि = स्वभावपरित्यागो यस्मादितीदृशः प्रभावविशेषः सत्त्वसंशुद्धिः' = 'सत्त्वों = व्याघ्रादि दुष्ट प्राणियों की संशुद्धि = स्वभाव का परित्याग जिससे हो ऐसा प्रभावविशेष सत्त्वसंशुद्धि है, क्योंकि अन्तःकरणशुद्धि से शान्ति होती है' – यह लक्षण उचित नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणशुद्धि की अपेक्षा से व्याघ्रादि का शान्त होना परस्पर भिन्न है अतएव उक्त कल्पना अनुचित है ।

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥'

इति नवमे दैव्यां संपदि भगवद्भक्तेरुक्तत्वाच्च । भगवद्भक्तेरतिश्रेष्ठत्वादभयादिभिः सह पाठो न कृत इति द्रष्टव्यम् ।

3 **महाभाग्यानां परमहंसानां फलभूतां दैवीं संपदमुक्त्वा ततो न्यूनानां गृहस्थादीनां साधनभूतामाह—दानं स्वस्वत्वास्पदानामन्नादीनां यथाशक्ति शास्त्रोक्तः संविभागः । दमो बाह्येन्द्रियसंयम ऋतुकालाद्यतिरिक्तकाले मैथुनाद्यभावः । चकारोऽनुक्तानां निवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । यज्ञश्च श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिः, स्मार्तो देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति**

उसको अपने अनुभव में आरूढ -- स्थिर करना 'योग' है – इन दोनों की व्यस्थिति= सर्वदा उन्हीं में निष्ठता – निष्ठा होना 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है । जिस समय 'अभय' सब भूतों -- प्राणियों को अभयदान के संकल्प का पालन करना होता है[3] उस समय यह परमहंस के अन्य धर्मों का भी उपलक्षण हो जाता है । 'सत्त्वसंशुद्धि' श्रवणादि के परिपाक से अन्तःकरण का असंभावना[4], विपरीतभावना[5] आदि मलों से रहित होना है । 'ज्ञान' आत्मसाक्षात्कार है और 'योग' मनोनाश और वासनाक्षय के अनुकूल पुरुष का प्रयत्न है -- उन दोनों से विशिष्ट जो संसारियों से विलक्षण अवस्थिति -- जीवन्मुक्ति है वह 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है -- इसप्रकार जब इसकी व्याख्या की जाती है तब यह फलभूता ही 'दैवी-सम्पत्' है – यह समझना चाहिए । भगवद्-भक्ति के बिना अन्तःकरणसंशुद्धि होना सम्भव नहीं है, अतः इसके द्वारा उस भगवद्भक्ति का भी उल्लेख हो जाता है, क्योंकि नवम अध्याय में -- 'हे पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और अविनाशी अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं' (गीता, 9.13) -- इस स्थान पर दैवी -- सम्पत् में भगवद्भक्ति भी कही गई है । भगवद्भक्ति अतिश्रेष्ठ है, इसलिए इसका अभयादि के साथ पाठ नहीं किया है -- यह समझना चाहिए ।

3 महाभाग्यशाली परमहंसों की फलभूता दैवीसंम्पत् को कहकर उनसे न्यून गृहस्थादि की साधनभूत दैवी --सम्पत् कहते हैं-- 'दान' अपने स्वत्वास्पद[6] अन्नादि का यथाशक्ति शास्त्रोक्त संविभाग करना है । 'दम' बाह्य इन्द्रियों का संयम है, ऋतुकालादि के अतिरिक्त काल में मैथुनादि का अभाव है[7] । यहाँ चकार अनुक्त निवृतिलक्षण धर्मों के समुच्चय के लिए है । 'यज्ञ' अग्निहोत्र -- दर्शपौर्णमासादि श्रौत यज्ञ हैं तथा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ -- ये चार प्रकार के स्मार्त यज्ञ हैं, 'ब्रह्मयज्ञ'

---

3. संन्यास ग्रहण करते समय 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' – इसप्रकार सब प्राणियों को अभय देने के संकल्प का पालन करना ही 'अभय' है । इसमें प्रमाण है – 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा संन्यासमाचरेत्' -- इत्यादि ।

4. 'तत्त्वमसि' = 'तुम वही हो' अर्थात् तुम ब्रह्म हो – यह सुनकर इसप्रकार कहना कि यह असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता है, तो वह 'असंभावना' है ।

5. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' = 'ब्रह्म एक अद्वितीय है' अर्थात् ब्रह्म अद्वितीय है – इस वाक्य का अर्थ सजातीय – द्वितीयरहित में समझकर ब्रह्म के बराबर दूसरा नहीं है, यह समझना 'विपरीतभावना' है ।

6. अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन में अपना स्वत्व होता है अतएव 'स्वत्वास्पद' उक्त है ।

7. 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' – इस वचन के अनुसार ऋतुकाल में स्त्रीप्रसङ्ग का विधान है, न करने से प्रत्यवाय होगा, अतः प्रकृति में ऋतुकालादि के अतिरिक्त काल का निर्देश है ।

8. 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (मनुस्मृति, 3.70)

'वेद का पठन-पाठन 'ब्रह्मयज्ञ', पितरों का तर्पण करना 'पितृयज्ञ', होम करना 'देवयज्ञ', जीवों को अन्न की बलि देना 'भूतयज्ञ' और अतिथि का आदर-सत्कार करना 'मनुष्ययज्ञ' है ।'

चतुर्विधः । ब्रह्मयज्ञस्य स्वाध्यायपदेन पृथगुक्तेः । चकारोऽनुक्तानां प्रवृत्तिलक्षणधर्माणां समुच्चयार्थः । एतत्त्रयं गृहस्थस्य । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञोऽदृष्टार्थमृग्वेदाद्यध्ययनरूपः । यज्ञशब्देन पञ्चविधमहायज्ञोक्तिसंभवेऽप्यसाधारण्येन ब्रह्मचारिधर्मत्वकथनार्थं पृथगुक्तिः । तपस्त्रिविधं शारीरादि सप्तदशे वक्ष्यमाणं वानप्रस्थस्यासाधारणो धर्मः । एवं चतुर्णामाश्रमाणामसाधारणान्धर्मानुक्त्वा चतुर्णां वर्णानामसाधारणधर्मानाह--आर्जवमवक्रत्वं श्रद्दधानेषु श्रोतृषु स्वज्ञातार्थासंगोपनम् ॥ 1 ॥

4 **प्राणिवृत्तिच्छेदो हिंसा तदहेतुत्वमहिंसा । सत्यमनर्थाननुबन्धि यथाभूतार्थवचनम् । परैराक्रोशे ताडने वा कृते सति प्राप्तो यः क्रोधस्तस्य तत्कालमुपशमनमक्रोधः । दानस्य प्रागुक्तेस्त्यागः संन्यासः । दमस्य प्रागुक्तेः शान्तिरन्तःकरणस्योपशमः । परस्मै परोक्षे परदोषप्रकाशनं पैशुनं तदभावोऽपैशुनम् । दया भूतेषु दुःखितेष्वनुकम्पा । अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां विषयसंनिधानेऽप्यविक्रियत्वम् । मार्दवमक्रूरत्वं वृथापूर्वपक्षादिकारिष्वपि शिष्यादिष्वप्रियभाषणादिव्यतिरे-**

'स्वाध्याय' पद से पृथक् कहा गया है[8] । यहाँ द्वितीय चकार अनुक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्मों के समुच्चय के लिए है । दान, दम और यज्ञ -- ये तीन धर्म गृहस्थ के हैं । 'स्वाध्याय' अदृष्ट प्रयोजन से ऋग्वेदादि का अध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ है[9] । 'यज्ञ' शब्द से पाँच प्रकार के महायज्ञों का कथन संभव होने पर भी स्वाध्याय को असाधारणरूप से ब्रह्मचारी का धर्म बतलाने के लिए पृथक् कहा है । 'तप' तीन प्रकार का है, जिसको शारीरादि भेद से सत्रहवें अध्याय में कहेंगे, यह वानप्रस्थ का असाधारण धर्म है । इसप्रकार चारों आश्रमों के असाधारण धर्मों को कहकर चार वर्णों के असाधारण धर्मों को कहते हैं -- 'आर्जव' अवक्रता -- अकुटिलता है अर्थात् श्रद्धायुक्त श्रोताओं के प्रति स्वज्ञात -- अपने जाने हुए अर्थ को नहीं छिपाना है ॥ 1 ॥

4 प्राणियों की वृत्ति -- जीविका का छेद -- नाश करना हिंसा है, उसका हेतु न बनना 'अहिंसा' है[10] । 'सत्य' जिसके परिणाम में अनर्थ न हो ऐसा यथार्थवचन -- जैसा हुआ हो वैसा कहना है[11] । दूसरों के आक्रोश[12] करने अथवा पीटने पर जो क्रोध होता है उसको तत्काल शान्त करना 'अक्रोध' है । दानरूप त्याग को पूर्व में कहा जा चुका है, अतः यहाँ 'त्याग' संन्यासपरक है । दम का कथन पहले हो चुका है, अतः यहाँ 'शान्ति' अन्तःकरण का शमन है । परोक्ष में दूसरे के प्रति दूसरे के दोषों को प्रकाशित करना पैशुन है, उसका अभाव 'अपैशुन' है । 'दया' दुःखित प्राणियों पर अनुकम्पा करना है । 'अलोलुपता' विषयों के संनिधान में भी-- विषयों के प्राप्त होने पर भी इन्द्रियों में विकार न होना है । 'मार्दव' अक्रूरता है अर्थात् शिष्यादि के वृथा ही पूर्वपक्षादि करने पर भी अप्रियभाषणादि के

इस मनुस्मृतिवचन के अनुसार स्मार्त यज्ञ पाँच हैं, यहाँ इनमें से 'ब्रह्मयज्ञ' को छोड़कर अन्य चार यज्ञों को ही स्मार्तयज्ञ इसलिए कहा है कि 'स्वाध्याय' पद से 'ब्रह्मयज्ञ' को पृथक् कहा गया है । इससे पुनरुक्तिदोष का परिहार भी हो गया है ।

9. यद्यपि स्वाध्यायरूप से ब्रह्मयज्ञ को पूर्व में पंचविध यज्ञ कहने से कहा जा सकता था, तथापि इसको यहाँ इसलिए पृथक् कहा गया है कि यह ब्रह्मचारी का भी धर्म है, केवल गृहस्थ ही का नहीं है ।

10. प्रकृत में हिंसा का हेतु न बनने को 'अहिंसा' कहा है, कारण कि साक्षात् हिंसाभाव तो दया से ही हो जाता है ।

11. जैसा कि मानववचन है – 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।' (मनुस्मृति, 4.138) – तथा च 'वर्णिनां हि वधे यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्' -- इत्यादि ।

12. 'तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति' (अमरकोश, 6.15) -- इस कोश के अनुसार परपुरुषगमन या परस्त्रीगमन विषयक दोष लगाना 'आक्रोश' है ।

केण बोधयितृत्वम् । ह्रीरकार्यप्रवृत्त्यारम्भे तत्प्रतिबन्धिका लोकलज्जा । अचापलं प्रयोजनं विनाऽपि वाक्पाण्यादिव्यापारयितृत्वं चापलं तदभावः । आर्जवादयोऽचापलान्ता ब्राह्मणस्यासाधारणा धर्माः ॥ 2 ॥

5 **तेजः प्रागल्भ्यं स्त्रीबालकादिभिर्मूढैरनभिभाव्यत्वम् । क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः । धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेष्वपि तदुत्तम्भकः प्रयत्नविशेषः । येनोत्तम्भितानि करणानि शरीरं न नावसीदन्ति । एतत्त्रयं क्षत्रियस्यासाधारणम् । शौचमाभ्यन्तरमर्थप्रयोगादौ मायानृतादिराहित्यं न तु मृज्जलादिजनितं बाह्यमत्र ग्राह्यं तस्य शरीरशुद्धिरूपतया बाह्यत्वेनान्तःकरणवासनात्वाभावात् । तद्वासनानामेव सात्त्विकादिभेदभिन्नानां दैव्यासुर्यादिसंपद्रूपत्वेनात्र प्रतिपिपादयिषितत्वात् । स्वाध्यायादिवत्केनचिद्रूपेण वासनारूपत्वे तदप्यादेयमेव । द्रोहः परजिघांसया शस्त्रग्रहणादि तदभावोऽद्रोहः । एतद्द्वयं वैश्यस्यासाधारणम् । अत्यर्थं मानिताऽऽत्मनि पूज्यत्वातिशयभावनाऽतिमानिता, तदभावो नातिमानिता पूज्येषु नम्रता । अयं शूद्रस्यासाधारणो धर्मः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादिश्रुत्या विवदिषौपयिकतया विनियुक्ता असाधारणाः साधारणाश्च वर्णाश्रमधर्मा इहोपलक्ष्यन्ते । एते धर्मा भवन्ति निष्पद्यन्ते दैवीं शुद्धसत्त्वमयीं संपदं वासनासंततिं शरीरारम्भ-**

विना ही उनको समझाना है । 'ह्री' अकार्यप्रवृत्ति के आरम्भ में उसको रोकनेवाली लोकलज्जा है । प्रयोजन के बिना भी वाणी, हाथ आदि को चलाते रहना चापल है, उसका अभाव 'अचापल' है[13] । 'आर्जव' से लेकर 'अचापल' पर्यन्त ब्राह्मण के असाधारण धर्म हैं ॥ 2॥

5 'तेज' प्रागल्भ्य -- प्रगल्भता है अर्थात् स्त्री, बालक आदि मूढ़ों से अभिभूत न होना है । 'क्षमा' सामर्थ्य होने पर भी अपने परिभव-तिरस्कार के हेतु-कारण के प्रति क्रोध उत्पन्न न होना है । 'धृति' देह और इन्द्रियादि के थक जाने पर भी उनको उठानेवाला प्रयत्नविशेष है, जिससे उठाये हुए इन्द्रिय और शरीर थकते नहीं हैं । तेज, क्षमा और धृति – ये तीन क्षत्रिय के असाधारण धर्म है । 'शौच' धन का व्यवहारादि करने में कपट, झूठ आदि से दूर रहना आभ्यन्तर-शौच है, यहाँ मिट्टी, जलादि से होनेवाला बाह्य शौच ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह शरीरशुद्धिस्वरूप होने से बाह्य है अतएव अन्तःकरण की वासनाओं का शोधक नहीं है तथा सात्त्विकादि भेद से भिन्न-भिन्न उसकी वासनाओं का ही यहाँ दैवी, आसुरी आदि संपद्-रूप से प्रतिपादन करना अभीष्ट है । स्वाध्यायादि के समान यदि किसी रूप से बाह्य शौच को वासनारूप मान लिया जाए तो वह यहाँ ग्राह्य ही है[14] । दूसरे की हिंसा करने के लिए शस्त्रग्रहणादि करना द्रोह है, उसका अभाव 'अद्रोह' है । शौच और अद्रोह -- यह दो वैश्य के असाधारण धर्म हैं । अत्यन्त मानिता अर्थात् अपने में पूज्यत्व की अतिशय भावना अतिमानिता है, उसका अभाव 'नातिमानिता' है अर्थात् पूज्यों के प्रति नम्रता है । यह शूद्र का असाधारण धर्म है । यहाँ 'उस इस आत्मा को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास द्वारा जानना चाहते हैं' – इत्यादि श्रुति से विविदिषा--जिज्ञासा में उपयोगी होने से विनियुक्त असाधारण और साधारण वर्णाश्रम-धर्मों को उपलक्षित किया गया है । शरीरारम्भ के समय पुण्य कर्मों द्वारा अभिव्यक्त शुद्धसत्त्वमयी दैवी-सम्पत् अर्थात् वासनासन्तति को लक्षित करके उत्पन्न हुए पुरुष में ये धर्म स्वभावतः होते हैं, 'उसमें विद्याकर्म और पूर्वप्रज्ञा प्रकट हो जाती है', 'पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है'

---

13. 'न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्' (मनुस्मृति, 4.63) – इस मनुवचन से भी चापल का निषेध किया गया है ।
14. यहाँ बाह्य शौच का प्रतिषेध भाष्यविरुद्ध है, अतएव उक्त कथन है ।

काले पुण्यकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य पुरुषस्य 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'। 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादिश्रुतिभ्यः। हे भारतेति संबोधयञ्शुद्ध-वंशोद्भवत्वेन पूतत्वात्त्वमेतादृशधर्मयोग्योऽसीति सूचयति ॥ 3 ॥

6 **आदेयत्वेन दैवीं संपदमुक्त्वेदानीं हेयत्वेनाऽऽसुरीं संपदमेकेन श्लोकेन संक्षिप्याऽऽह–**

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ 4 ॥

7 **दम्भो धार्मिकतयाऽऽत्मनः ख्यापनं तदेव धर्मध्वजित्वम्। दर्पो धनस्वजनादिनिमित्तो महदवधीरणाहेतुर्गर्वविशेषः। अतिमान आत्मन्यत्यन्तपूज्यत्वातिशयाध्यारोपः 'देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवाऽऽस्येषु जुह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य ह्येतन्मुखं यदतिमानः' इतिशतपथश्रुत्युक्तः। क्रोधः स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुरभिज्वलनात्मकोऽन्तः-करणवृत्तिविशेषः। पारुष्यं प्रत्यक्षरूक्षवदनशीलत्वम्। चकारोऽनुक्तानां भावभूतानां चापलादिदोषाणां समुच्चयार्थः। अज्ञानं कर्तव्याकर्तव्यादिविषयविवेकाभावः। च शब्दोऽनुक्ता-नामभावभूतानामधृत्यादिदोषाणां समुच्चयार्थः। आसुरीमसुररमणहेतुभूतां रजस्तमोमयीं संपदम-**

– इत्यादि श्रुतियों से यही अर्थ अभिव्यक्त होता है। 'हे भारत'! – इस सम्बोधन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि 'शुद्धवंश में उत्पन्न होने के कारण पवित्र होने से तुम ऐसे धर्म के योग्य हो' ॥ 3 ॥

6 ग्राह्यरूप से दैवी – संपत् को कहकर अब हेय-त्याज्यरूप से आसुरी-संपत् को एक श्लोक से संक्षेप में कहते हैं :--

[हे पार्थ ! आसुरी-संपत् को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष में दम्भ, दर्प, अतिमान-अभिमान, क्रोध, पारुष्य -- कठोर वचन और अज्ञान -- ये धर्म रहते हैं ॥ 4 ॥]

7 'दम्भ' अपने को धार्मिकरूप से ख्यापित -- प्रकाशित करना है, वही 'धर्मध्वजित्व' है। 'दर्प' धन या स्वजनादि के कारण दूसरे की अवहेलना का हेतु गर्वविशेष है। 'अतिमान' अपने में अत्यन्त पूज्यत्वातिशय का अध्यारोप – आरोप करना है; 'देवता और असुर -- ये दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे, वे आपस में स्पर्धा करने लगे, तब असुरों ने अतिमान से ही विचार किया कि हम किसमें हवन करें ? अतः उन्होंने अपने मुखों में ही हवन किया। वे अतिमान के कारण पराभव को प्राप्त हुए, इसलिए कभी अतिमान न करे, क्योंकि यह जो अतिमान है वह पराभव का ही कारण है' – यह शतपथ श्रुति ने कहा है। 'क्रोध' अपने और पराये का अपकार करने की प्रवृत्ति की हेतुभूता अन्तःकरण की ज्वलनात्मिका वृत्तिविशेष है। 'पारुष्य' सामने ही रूखा बोलने का स्वभाव है। यहाँ चकार अनुक्त भावभूत चापलादि दोषों के समुच्चय के लिए है। 'अज्ञान' कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य आदि विषयों के विवेक का अभाव है। यहाँ द्वितीय चकार अनुक्त अभावभूत अधृति आदि दोषों के समुच्चय के लिए है। शरीरारम्भ के समय पाप कर्मों के कारण अभिव्यक्त हुई आसुरी – असुरों के रमण की हेतुभूता रजोगुण -- तमोगुणमयी संपत् अर्थात् अशुभवासनासन्तति को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए कुपुरुष -- असत्पुरुष में 'दम्भ' से लेकर अज्ञान पर्यन्त दोष ही होते

शुभवासनासंततिं शरीरारम्भकाले पापकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य कुपुरुषस्य दम्भाद्या अज्ञानान्ता दोषा एव भवन्ति न त्वभयाद्या गुणा इत्यर्थः । हे पार्थेति संबोधयन्विशुद्धमातृकत्वेन तदयोग्यत्वं सूचयति ॥ 4 ॥

8 **अनयोः संपदोः फलविभागोऽभिधीयते –**

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ 5 ॥

9 **यस्य वर्णस्य यस्याऽऽश्रमस्य च या विहिता सात्त्विकी फलाभिसंधिरहिता क्रिया सा तस्य दैवी संपत्सा सत्त्वशुद्धिभगवद्भक्तिज्ञानयोगस्थितिपर्यन्ता सती संसारबन्धनाद्विमोक्षाय कैवल्याय भवति । अतः सैवोपादेया श्रेयोर्थिभिः । या तु यस्य शास्त्रनिषिद्धा फलाभिसंधिपूर्वा साहंकारा च राजसी तामसी क्रिया तस्य सा सर्वाऽप्यासुरी संपत् । अतो राक्षस्यपि तदन्तर्भूतैव । सा निबन्धाय नियताय संसारबन्धाय मता संमता शास्त्राणां तदनुसारिणां च । अतः सा हेयैव श्रेयोर्थिभिरित्यर्थः । तत्रैवं सत्यहं कया संपदा युक्त इति संदिहानमर्जुनमाश्वासयति भगवान्--मा**

हैं अर्थात् असत्पुरुष में अभयादि गुण नहीं होते हैं । हे पार्थ[15] !' – इस सम्बोधन से 'तुम विशुद्ध -- पवित्र 'पृथा' माता से उत्पन्न हो, अतः तुम उक्त दोषों के योग्य नहीं हो' -- यह सूचित करते हैं ॥ 4 ॥

8 इन दोनों सम्पदों के फलविभाग को कहते हैं :--

[हे पाण्डव ! हे अर्जुन ! दैवी संपत् मोक्ष के लिए होती है और आसुरी संपत् बन्धन के लिए मानी गई है । तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी संपत् को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए हो ॥ 5 ॥]

9 जिस वर्ण और जिस आश्रम की जो फलाभिसंधि -- फलकामना से रहित सात्त्विकी क्रिया विहित है वह उसकी 'दैवी - संपत्' है । वही सत्त्वशुद्धि, भगवद्भक्ति अथवा ज्ञानयोगस्थिति पर्यन्त रहती हुई विमोक्ष = संसारबन्धन से मोक्ष -- कैवल्य के लिए होती है[16], अत: वही कल्याणार्थियों के लिए उपादेय -- ग्राह्य है । जिस वर्ण या आश्रम की जो तो शास्त्रनिषिद्ध, फलाशापूर्वक अंहकार सहित राजसी -- तामसी क्रिया है वह सभी उसकी 'आसुरी - संपत्' है, अत: राक्षसी -- प्रकृति भी उस आसुरी -- संपत् के अन्तर्गत ही है । शास्त्र और शास्त्रानुयायियों के मत -- सम्मत में वह निबन्ध = नियत संसारबन्धन के लिए है, अत: वह कल्यार्थियों के लिए हेय -- त्याज्य ही है । ऐसी परिस्थिति होने पर 'मैं किस संपत् से युक्त हूँ' -- इसप्रकार सन्देह करते हुए अर्जुन को भगवान् आश्वासन देते हैं -- तुम शोक मत करो = 'मैं आसुरीसंपत् से युक्त हूँ' -- ऐसी शंका से शोक -- अनुताप मत करो, क्योंकि तुम दैवी -- संपत् को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए हो = तुम पूर्वजन्मार्जितकल्याण और भाविकल्याण हो अर्थात् तुमने पूर्वजन्म में कल्याण का अर्जन किया है

15. 'आसुरीसंपत् के अन्तर्गत कहे हुए स्त्रीस्वभावभूत शोक और मोह मोक्षार्थी तुम्हारे द्वारा अवश्य ही परित्याज्य हैं' – यह ध्वनित करते हुए भगवान् ने 'पार्थ' कहा है ।

16. दैवीसंपत् का विकास होने पर सत्त्वशुद्धि होती है और भगवद्भक्ति से आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है तथा उस आत्मतत्त्वज्ञान से योग में स्थिति अर्थात् ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है । इसप्रकार की स्थिति से ज्ञाननिष्ठा द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है अतएव अज्ञानजनित संसारबन्धनादि की निवृत्ति और विमोक्ष-कैवल्य की प्राप्ति होती है, फलत: दैवी – संपत् संसार-बन्धन से मोक्ष -- कैवल्य के लिए होती है, अत: यह मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य है ।

शुचः, अहमासुर्या संपदा युक्त इति शङ्कया शोकमनुतापं मा कार्षीः, दैवीं संपदमभिलक्ष्य जातोऽसि प्रागर्जितकल्याणो भाविकल्याणश्च त्वमसि हे पाण्डव पाण्डुपुत्रेष्वन्येष्वपि दैवी संपत्प्रसिद्धा किं पुनस्त्वयीति भावः ॥ 5 ॥

10 ननु भवतु राक्षसी प्रकृतिरासुर्यामन्तर्भूता शास्त्रनिषिद्धक्रियोन्मुखत्वेन सामान्यात्कामोपभोग-प्राधान्यप्राणिहिंसाप्राधान्याभ्यां क्वचिद्भेदेन व्यपदेशोपपत्तेः, मानुषी तु प्रकृतिस्तृतीया पृथगस्ति 'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः' इति श्रुतेः । अतः साऽपि हेयकोटावुपादेयकोटौ वा वक्तव्येत्यत आह–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ 6 ॥

11 अस्मिँल्लोके सर्वस्मिन्नपि संसारमार्गे द्वौ द्विप्रकारावेव भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ भवतः । कौ तौ दैव आसुरश्च, न तु राक्षसो मानुषो वाऽधिकः सर्गोऽस्तीत्यर्थः । यो यदा मनुष्यः शास्त्रसंस्कार-प्राबल्येन स्वभावसिद्धौ रागद्वेषावभिभूय धर्मपरायणो भवति स तदा देवः । यदा तु स्वभावसिद्ध-रागद्वेषप्राबल्येन शास्त्रसंस्कारमभिभूयाधर्मपरायणो भवति स तदाऽसुर इति द्वैविध्योपपत्तेः । न हि धर्माधर्माभ्यां तृतीया कोटिरस्ति । तथा च श्रूयते -- 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च

अतएव तुम भविष्य में भी कल्याण को ही प्राप्त होगे । हे पाण्डव[17] ! – इस सम्बोधन से यह भाव सूचित होता है कि जब अन्य पाण्डुपुत्रों में भी दैवीसंपत् प्रसिद्ध है तो फिर तुममें तो कहना ही क्या है ? ॥ 5 ॥

10 अच्छा, राक्षसी प्रकृति आसुरीसंपत् में अन्तर्भूत हो, कारण कि उन दोनों में शास्त्रनिषिद्ध क्रियाओं में उन्मुखत्व धर्म समान है, तथापि आसुरीप्रकृति में कामोपभोग की प्रधानता और राक्षसी -- प्रकृति में प्राणिहिंसा की प्रधानता रहने से दोनों में कहीं भेदव्यवहार उपपन्न है; किन्तु मानुषी – प्रकृति तो इनसे पृथक् तीसरी ही है -- इसमें श्रुति प्रमाण है -- 'प्रजापति के तीन पुत्र -- देवता, मनुष्य और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करने हुए निवास किया' -- अतः वह भी हेय – त्याज्यकोटि में है अथवा उपादेय -- ग्राह्यकोटि में है -- यह कहना चाहिए -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं :--

[हे पार्थ ! इस लोक में दैव और आसुर -- ये दो ही भूतसर्ग हैं । दैवसर्ग को तो विस्तारपूर्वक कह दिया है, अब तुम मुझसे आसुरसर्ग को सुनो ॥ 6 ॥]

11 इस लोक में = सम्पूर्ण संसारमार्ग में दो अर्थात् दो प्रकार के ही भूतसर्ग[18] = मनुष्यसर्ग हैं । वे कौन दो मनुष्यसर्ग हैं ? दैव और आसुर हैं, न कि राक्षस अथवा मानुष कोई तीसरा अधिक सर्ग है – यह अर्थ है । जिससमय जो मनुष्य शास्त्र के संस्कारों की प्रबलता से स्वभावसिद्ध राग और

---

17. हे पाण्डव ! पाण्डुपुत्र अर्जुन ! – तुम अतिशूर, दैवीसम्पत् से युक्त अतएव शोकादि से विनिर्मुक्त पाण्डु के पुत्र हो, तुममें दैवीसंपत् आभिजात्य है अतएव तुम आसुरीसंपत् में अन्तर्भूत शोक और मोह को अङ्गीकार करने के योग्य नहीं हो – यह उक्त सम्बोधन से सूचित होता है ।

18. सृज्यते इति सर्गो भूतान्येव सृज्यमानानि दैव्या संपदा युक्तानि दैवो भूतसर्ग इत्युच्यते, तान्येवासुर्या संपदा युक्तानि आसुरो भूतसर्ग इति ।

ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः' इति। दमदानदयाविधिपरे तु वाक्ये त्रयाः प्राजापत्या इत्यादौ दमदानदयारहिता मनुष्या असुरा एव सन्तः केनचित्साधर्म्येण देवा मनुष्या असुरा इत्युपचर्यन्त इति नाऽऽधिक्यावकाशः। एकेनैव द इत्यक्षरेण प्रजापतिना दमरहितान्मनुष्यान्प्रति दमोपदेशः कृतः, दानरहितान्प्रति दानोपदेशः, दयारहितान्प्रति दयोपदेशः, न तु विजातीया एव देवासुरमनुष्या इह विवक्षिता मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य। तथा चान्त उपसंहरति– 'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति। तस्माद्राक्षसी मानुषी च प्रकृतिरासुर्यमेवान्तर्भवतीति युक्तमुक्तं द्वौ भूतसर्गाविति।

12 **तत्र दैवो भूतसर्गो मया त्वां प्रति विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः स्थितप्रज्ञलक्षणे द्वितीये भक्तलक्षणे द्वादशे ज्ञानलक्षणे त्रयोदशे गुणातीतलक्षणे चतुर्दश इह चाभयमित्यादिना। इदानीमासुरं भूतसर्गं मे मद्वचनैर्विस्तरशः प्रतिपाद्यमानं त्वं शृणु हानार्थमवधारय सम्यक्तया ज्ञातस्य हि परिवर्जनं शक्यते कर्तुमिति। हे पार्थेति संबन्धसूचनेनानुपेक्षणीयतां दर्शयति॥ 6॥**

13 **वर्जनीयामासुरीं संपदं प्राणिविशेषणतया तानहमित्यतः प्राक्तनैर्द्वादशभिः श्लोकैर्विवृणोति--**

द्वेष को दबाकर धर्मपरायण होता है उससमय वह 'देवता' है और जिससमय वह स्वभावसिद्ध राग और द्वेष की प्रबलता से शास्त्र के संस्कारों को दबाकर अधर्मपरायण होता है उससमय वह 'असुर' है – इसप्रकार उसकी द्विविधता ही प्राप्त है, क्योंकि धर्म और अधर्म से पृथक् कोई तीसरी कोटि नहीं है, इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'प्रजापति के दो पुत्र थे – देव और असुर; उनमें देव छोटे थे और असुर बड़े थे' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.3.1)। दम-दान-दयाविधिपरक 'त्रयाः प्राजापत्या' – इत्यादि वाक्य में तो दम-दान-दयारहित मनुष्य असुर ही होते हुए किसी साधर्म्य से 'देवा मनुष्या असुराः' -- इसप्रकार उपचार – गौणीवृत्ति से कहे जाते हैं, आधिक्य का अवकाश नहीं है। प्रजापति ने 'द' -- इस एक अक्षर से ही दमरहित मनुष्यों के प्रति दम का उपदेश किया है, दानरहित मनुष्यों के प्रति दान का उपदेश किया है और दयारहित मनुष्यों के प्रति दया का उपदेश किया है, न कि यहाँ विजातीय – विलक्षण ही देव, असुर और मनुष्य विवक्षित हैं, कारण कि शास्त्र में तो मनुष्य का ही अधिकार है। इसीप्रकार अन्त में श्रुति उपसंहार करती है – 'मेघ की द द द -- ऐसी गर्जन इस दैवी वाणी का ही अनुवाद करती है अर्थात् कहती है कि 'दाम्यत' – दम करो, 'दत्त' -- दान दो, 'दयध्वम्' -- दया करो -- इसप्रकार दम, दान और दया – इन तीनों की शिक्षा ग्रहण करें'। अत: राक्षसी और मानुषी -- ये दोनों प्रकृतियाँ आसुरी -- संपत् में ही अन्तर्भूत होती है – इसप्रकार यह ठीक ही कहा है कि दो भूतसर्ग -- मनुष्यसर्ग हैं।

12 उनमें दैवभूतसर्ग को तो मैंने तुमसे द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में, बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों में, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के लक्षणों में, चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षणों में और यहाँ 'अभयम्' -- इत्यादि श्लोकों में विस्तारपूर्वक कह दिया है। अब तुम मेरे वचनों से विस्तारपूर्वक प्रतिपाद्यमान आसुर--भूतसर्ग को सुनो – उसका त्याग करने के लिए ध्यानपूर्वक सुनो -- समझो, क्योंकि जिसको सम्यक् प्रकार से समझ लिया जाता है उसका ही त्याग किया जा सकता है। 'हे पार्थ !' -- इस सम्बोधन से अपने सम्बन्धसूचक शब्द द्वारा 'तुम उपेक्षणीय नहीं हो, अपितु अपेक्षणीय हो' -- यह दिखलाते हैं॥ 6॥

13 वर्जनीय -- त्याज्य आसुरी--संपत् का प्राणियों में विशेषण द्वारा 'तानहम्' -- इससे पूर्व के बारह श्लोकों से विवरण करते हैं :--

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ 7 ॥

14 **प्रवृत्तिं प्रवृत्तिविषयं धर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं विधिवाक्यं च । एवं निवृत्तिं निवृत्तिविषयमधर्मं, चकारात्तत्प्रतिपादकं निषेधवाक्यं चासुरस्वभावा जना न जानन्ति । अतस्तेषु न शौचं द्विविधं नाप्याचारो मन्वादिभिरुक्तः । न सत्यं च प्रियहितयथार्थभाषणं विद्यते । शौचसत्ययोराचारान्तर्भावेऽपि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथगुपादानम् । अशौचा अनाचारा अनृतवादिनो ह्यसुरा मायाविनः प्रसिद्धाः ॥ 7 ॥**

15 **ननु धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषययोः प्रतिपादकं वेदाख्यं प्रमाणमस्ति निर्दोषं भगवदाज्ञारूपं सर्वलोकप्रसिद्धं तदुपजीवीनि च स्मृतिपुराणेतिहासादीनि सन्ति, तत्कथं प्रवृत्तिनिवृत्तितत्प्रमाणाद्यज्ञानं, ज्ञाने वाऽऽज्ञोल्लङ्घिनां शासितरि भगवति सति कथं तदननुष्ठानेन शौचाचारादिरहितत्वं दुष्टानां शासितुर्भगवतोऽपि लोकवेदप्रसिद्धत्वादत आह –**

[आसुरीसंपत्वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते हैं । उनमें न तो शौच होता है, न आचार भी होता है और न सत्य ही रहता है ॥ 7 ॥]

14 प्रवृत्ति -- प्रवृत्तिविषयक धर्म है, चकार से धर्मप्रतिपादक विधिवाक्य विवक्षित हैं । इसीप्रकार निवृत्ति -- निवृत्तिविषयक अधर्म है, चकार से अधर्मप्रतिपादक निषेधवाक्य विवक्षित हैं – इसप्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति को आसुरीस्वभाववाले जन नहीं जानते हैं । अत: उनमें न तो बाह्य और आभ्यन्तर -- दोनों प्रकार का शौच होता है, न मनु आदि के द्वारा उपदिष्ट आचार भी होता है और न सत्य अर्थात् प्रिय और हितकर यथार्थभाषण ही होता है[19] । यद्यपि सत्य और शौच का आचार में ही अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से इनको पृथक्-पृथक् ग्रहण किया गया है[20], कारण कि असुर अशौच, अनाचार -- आचारशून्य, अनृतवादी -- मिथ्यावादी और मायावी प्रसिद्ध ही हैं ॥ 7 ॥

15 प्रवृत्तिविषय धर्म और निवृत्तिविषय अधर्म -- इन दोनों का प्रतिपादक भगवदाज्ञारूप निर्दोष वेदसंज्ञक प्रमाण सर्वजनप्रसिद्ध है और उसके उपजीवी -- उपकारी अर्थात् वेदमूलक स्मृति -- पुराण -- इतिहास आदि भी हैं, तो फिर आसुरी स्वभाववाले मनुष्यों में प्रवृत्ति -- निवृत्ति और उनके प्रमाणादि का अज्ञान कैसे रहता है ? अथवा, उनका ज्ञान होने पर आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों के शासिता भगवान् के रहते हुए भी प्रवृत्त्यादि का अनुष्ठान न कर शौचाचारादि की शून्यता उनमें कैसे होती है ? क्योंकि दुष्टों के शासिता भगवान् भी लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं -- इस शंका से कहते हैं :--

19. जैसा कि मनुस्मृति में कहा है :--

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ (मनुस्मृति, 4.138)

"सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, ऐसा प्रिय भी न बोले जो असत्य हो – यह सनातन धर्म है ।"

20. जिसप्रकार 'यह ब्राह्मण परिव्राजक है' – ऐसा कहने पर ब्राह्मण ही संन्यासी होते हैं, अत: संन्यासी कहने से ही ब्राह्मण का लाभ सिद्ध है, पुन: 'ब्राह्मण' शब्द का कथन उस संन्यासी के आदर के लिए किया जाता है; उसीप्रकार प्रकृत में सत्य और शौच का आचार में ही अन्तर्भाव हैं, अत: आचार से ही सत्य और शौच का ज्ञान भी सिद्ध है, पुन: सत्य और शौच का पृथक्-पृथक् कथन उनके महत्त्व के लिए किया गया है ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ 8 ॥

16 **सत्यमबाधिततात्पर्यविषयं तत्त्वावेदकं वेदाख्यं प्रमाणं तदुपजीवि पुराणादि च नास्ति यत्र तदसत्यं वेदस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि तत्प्रामाण्यानभ्युपगमाद्विशिष्टाभावः । अत एव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्थाहेतुर्यस्य तदप्रतिष्ठम् । तथा नास्ति शुभाशुभयोः कर्मणोः फलदातेश्वरो नियन्ता यस्य तदनीश्वरं त आसुरा जगदाहुः, बलवत्पापप्रतिबन्धाद्वेदस्य प्रामाण्यं ते न मन्यन्ते । ततश्च तद्बोधितयोर्धर्माधर्मयोरीश्वरस्य चानङ्गीकाराद्यथेष्टाचरणेन ते पुरुषार्थभ्रष्टा इत्यर्थः ।**

17 **शास्त्रैकसमधिगम्यधर्माधर्मसहायेन प्रकृत्यधिष्ठात्रा परमेश्वरेण रहितं जगदिष्यते चेत्कारणाभावात्कथं तदुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह--अपरस्परसंभूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसंयोगात्संभूतं जगत्कामहैतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकं कामातिरिक्तकारणशून्यम् । ननु धर्माद्यप्यस्ति कारणं नेत्याह--किमन्यत्, अन्यददृष्टं कारणं किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः । अदृष्टाङ्गी-**

[वे आसुरीसंपत्‌वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् अप्रतिष्ठ -- आश्रयरहित है, सर्वथा असत्य और ईश्वरहीन है, एक -- दूसरे के संयोग से उत्पन्न हुआ है और कामहैतुक -- कामजनित है, इसके अतिरिक्त और क्या है ? ॥ 8 ॥]

16 सत्य = अबाधिततात्पर्यविषयक[21] और तत्त्वावेदक[22] वेदसंज्ञक प्रमाण तथा उसके उपजीवी पुराणादि नहीं है जिसमें वह 'असत्य' है । अतएव नहीं है धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा = व्यवस्था का हेतु जिसका वह 'अप्रतिष्ठ' है, इसीप्रकार नहीं है शुभ और अशुभ कर्मों के फल का दाता -- नियामक ईश्वर जिसमें वह अनीश्वर है -- एवंभूत जगत् -- संसार है -- ऐसा आसुरजन कहते हैं । बलवान् पाप के प्रतिबन्ध से वे वेद में प्रामाण्य नहीं मानते हैं । इसी से वेदप्रतिपादित धर्माधर्म और ईश्वर नहीं मानते हैं, अतएव यथेष्ट आचरण -- स्वेच्छाचार से वे पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं -- यह अभिप्राय है ।

17 यदि वे जगत् -- संसार को एकमात्र शास्त्र से ही जानने के योग्य धर्माधर्म सहित प्रकृति के अधिष्ठाता परमेश्वर से रहित मानते हैं, तो कारण का अभाव रहने से जगत्‌रूप कार्य की उत्पत्ति ही कैसे होगी ? क्योंकि कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति नहीं होती है -- यह सर्वसम्मत मार्ग है -- इस शंका से कहते हैं :-- वे आसुर जगत् को अपरस्पर[23]सम्भूत = कामप्रयुक्त स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ अर्थात् कामहैतुक = काम ही जिसका हेतु है -- ऐसा मानते हैं । कामहेतुकमेव कामहैतुकम् = कामहेतुक ही कामहैतुक है अर्थात् यह कामहेतुक जगत् है, काम ही जगत् का कारण है-- ईश्वर नहीं है, काम से अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है -- ऐसा वे मानते हैं । यदि कहो कि धर्मादि भी तो जगत् की उत्पत्ति के कारण हैं, तो वे कहते हैं -- नहीं, अन्यथा जगद्वैलक्षण्य का भंग हो जायेगा -- इससे कहते हैं-- किमन्यत् = इसके अतिरिक्त और क्या है ?

21. अबाधिततात्पर्यविषयक = जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ बाधित न हो वह वाक्य प्रमाण है -- वेदवाक्य ऐसे ही हैं, अतः वेदवाक्य प्रमाण हैं । अथवा, यह लक्षण न्यायमतानुसार है ।

22. तत्त्वावेदक = वेद में अखण्ड वाक्यार्थ के संग्रह के लिए तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य माना जाता है । अथवा, मीमांसामतानुसार उक्त प्रयोग है ।

23. पर और अपर -- ये दोनों शब्द अन्यार्थक हैं, अतः यहाँ 'अपरस्पर' का अर्थ 'परस्पर' ही है ।

कारेऽपि क्वचिद्गत्वा स्वभावे पर्यवसानात्स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु दृष्टे संभवत्यदृष्ट-कल्पनानवकाशात् । अतः काम एव प्राणिनां कारणं नान्यददृष्टेश्वरादीत्याहुरिति लोकायतिकदृष्टिरियम् ॥ 8 ॥

18 इयं दृष्टिः शास्त्रीयदृष्टिवदिष्टैवेत्याशङ्क्याऽऽह–

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ 9 ॥

19 एतां प्रागुक्तां लोकायतिकदृष्टिमवष्टभ्याऽऽलम्ब्य नष्टात्मानो भ्रष्टपरलोकसाधना अल्पबुद्धयो दृष्टमात्रोद्देशप्रवृत्तमतय उग्रकर्माणो हिंस्रा अहिताः शत्रवो जगतः प्राणिजातस्य क्षयाय व्याघ्रसर्पादिरूपेण प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते । तस्मादियं दृष्टिरत्यन्ताधोगतिहेतुतया सर्वात्मना श्रेयोर्थिभिरवहेयैवेत्यर्थः ॥ 9 ॥

20 ते च यदा केनचित्कर्मणा मनुष्ययोनिमापद्यन्ते तदा –

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ 10 ॥

21 कामं तत्तद्दृष्टविषयाभिलाषं दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं दम्भेनाधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वख्यापनेन मानेनापूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वख्यापनेन मदेनोत्कर्षरहितत्वेऽप्युत्कर्षविशेषाध्यारोपेण महदवधीरणा-

---

क्या अदृष्ट कारण है ? नहीं, कुछ नहीं है । अदृष्ट को अङ्गीकार करने पर भी उसका पर्यवसान कहीं स्वभाव में ही होता है, अत: यह जगत् का वैचित्र्य -- वैलक्षण्य स्वाभाविक ही होना चाहिए, क्योंकि दृष्ट कारण के रहते हुए अदृष्ट कारण की कल्पना के लिए अवकाश भी नहीं होता है । अतः काम ही प्राणियों का कारण है, अन्य अदृष्ट, ईश्वरादि कारण नहीं हैं– यह लोकायतिक दृष्टि दर्शन है ॥8 ॥

18 यह दृष्टि-दर्शन भी शास्त्रीय दृष्टि-दर्शन के समान इष्ट ही है – इस आशंका से कहते हैं :–
[इस दृष्टि का आश्रय लेकर नष्टात्मा = परलोक के साधनों से भ्रष्ट, अल्पबुद्धि, उग्रकर्म करनेवाले और सबका अपकार करनेवाले मनुष्य जगत् का नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं ॥ 9 ॥]

19 इस पूर्वोक्त लोकयतिक दृष्टि का अवष्टम्भ -- अवलम्बन – आश्रयण कर नष्टात्मा = परलोक के साधनों से भ्रष्ट, अल्पबुद्धि = केवल दृष्टमात्र में लगी हुई बुद्धिवाले, उग्रकर्मा = हिंसक अतएव अहित अर्थात् शत्रु -- अपकार करनेवाले मनुष्य जगत् = प्राणिसमूह के क्षय के लिए व्याघ्र -- सर्पादिरूप से उत्पन्न होते हैं । अतः यह दृष्टि-दर्शन अत्यन्त अधोगति का कारण होने से कल्याणार्थियों के द्वारा सर्वात्मना -- सर्वथा हेय -- त्याज्य ही है -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

20 जिससमय वे किसी कर्म से मनुष्ययोनि को प्राप्त होते हैं उस समय --
[वे दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर मोहवश अशुभ निश्चयों को ग्रहण करके अपवित्र व्रतों से युक्त हुए संसार में प्रवृत्त होते हैं ॥ 10 ॥]

21 दुष्पूर = जिसका पूरा होना अशक्य -- असंभव है ऐसे काम = उस-उस दृष्ट विषय की अभिलाषा का आश्रय लेकर दम्भ से = अधार्मिक होने पर भी अपनी धार्मिकता प्रकट करने से, मान से =

हेतुनाऽन्विता असद्ग्राहानशुभनिश्चयाननेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य कामिनीनामाकर्षणं करिष्यामः, अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य महानिधीन्साधयिष्याम इत्यादिदुराग्रहरूपान्मोहादविवेकाद्गृहीत्वा न तु शास्त्रात्, अशुचिव्रता अशुचीनि श्मशानादिदेशोच्छिष्टत्वाद्यवस्थाद्यशौचसापेक्षाणि वामागमाद्युपदिष्टानि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते यत्र कुत्राप्यवैदिके दृष्टफले क्षुद्रदेवताराधनादाविति शेषः । एतादृशाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ 10 ॥

22 **तानेव पुनर्विशिनष्टि –**

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ 11 ॥

23 **चिन्तामात्मीययोगक्षेमोपायालोचनात्मिकामपरिमेयामपरिमेयविषयत्वात्परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्तां प्रलयान्तां यावज्जीवमनुवर्तमानामिति यावत् । न केवलमशुचिव्रताः प्रवर्तन्ते किं त्वेतादृशीं चिन्तां चोपाश्रिता इति समुच्चयार्थश्चकारः ।**

24 **सदाऽनन्तचिन्तापरा अपि न कदाचित्पारलौकिकचिन्तायुताः किं तु कामोपभोगपरमाः काम्यन्त**

पूज्य न होने पर भी अपनी पूज्यता प्रकट करने से और मद[24] से = उत्कर्षरहित होने पर भी अपने में बड़ों के तिरस्कार के हेतुभूत उत्कर्षविशेष का आरोप करने से युक्त हुए असद्ग्राहों को = अशुभ निश्चयों को अर्थात् 'इस मन्त्र से इस देवता की आराधना करके कामिनियों का आकर्षण करूँगा, इस मन्त्र से इस देवता की आराधना करके महानिधि – बड़े खजाने को प्राप्त करूँगा' – इत्यादि दुराग्रहरूप निश्चयों को मोहवश अर्थात् अविवेक से, शास्त्र से नहीं, ग्रहण करके अशुचिव्रत = जिनके वाममार्गीय आगमों द्वारा उपदिष्ट श्मशानादि दूषित देश और उच्छिष्टादि अवस्थाजनित अशौचसापेक्ष व्रत हैं ऐसे वे अपवित्र व्रतों से युक्त हुए पुरुष संसार में प्रवृत्त होते हैं = जहाँ कहीं भी अवैदिक दृष्टफलवाले क्षुद्र[25] देवताओं की आराधना आदि में प्रवृत्त होते हैं । यहाँ 'क्षुद्रदेवताराधनादौ' -- इसका अध्याहार है । ऐसे मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं -- इसप्रकार इसका अग्रिम श्लोक = सोलहवें श्लोक के साथ अन्वय है ।। 10 ।।

22 उन्हीं जनों को पुनः विशेषरूप से कहते हैं :--

[वे प्रलयान्त = मरणपर्यन्त रहनेवाली अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय लिये रहते हैं, काम = दृष्ट विषय के भोगों को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं तथा 'यह दृष्ट सुख ही सब कुछ है' -- ऐसे निश्चयवाले होते हैं ।। 11 ।।]

23 वे अपने योग-क्षेम[26] के उपायों की आलोचनात्मिका अपरिमेय = अपरिमेय -- असंख्य विषय होने से परिमाण -- इयत्तावधारण के अयोग्य प्रलयान्त = प्रलय – मरण ही है अन्त जिनका ऐसी अर्थात् यावज्जीवन रहनेवाली चिन्ताओं का आश्रय लिए रहते हैं । 'न केवल अशुचिव्रत ही प्रवृत्त होते हैं, किन्तु इसप्रकार की चिन्ताओं का आश्रय लिए हुए भी प्रवृत्त होते हैं' -- इसप्रकार समुच्चय के लिए चकार है ।

24 इसप्रकार सदा अनन्त चिन्ताओं में निमग्न रहने पर भी वे कभी पारलौकिक चिन्ता से युक्त नहीं

24. 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयो' – इस कोश के अनुसार यहाँ 'मद' शब्द गर्वपरक है ।
25. 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयो' – इस कोश के अनुसार यहाँ 'क्षुद्र' शब्द निकृष्टपरक है ।
26. अलब्ध का लाभ 'योग' है और लब्ध का परिपालन 'क्षेम' है ।

इति कामा दृष्टाः शब्दादयो विषयास्तदुपभोग एव परमः पुरुषार्थो न धर्मादिर्येषां ते तथा । पारलौकिकमुत्तमं सुखं कुतो न कामयन्ते तत्राऽऽह–एतावद्दृष्टमेव सुखं नान्यदेतच्छरीरवियोगे भोग्यं सुखमस्ति एतत्कायातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादिति निश्चिता एवंनिश्चयवन्तः । तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रं 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' 'काम एवैकः पुरुषार्थः', इति च ॥ 11 ॥

25 त ईदृशा असुराः–

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ 12 ॥

26 अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात्पाशास्तेषां शतैः समूहैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्ततत आकृष्य नीयमानाः कामक्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः स्त्रीव्यतिकराभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां

होते हैं, किन्तु कामोपभोगपरम ही होते हैं = जिनकी कामना की जाती है वे काम = दृष्ट शब्दादि विषय काम[27] हैं, उनका उपभोग ही जिनके लिए परम पुरुषार्थ है, धर्मादि नहीं, वे ऐसे होते हैं । वे पारलौकिक उत्तम सुख की कामना क्यों नहीं करते हैं ? इस जिज्ञासा से कहते हैं – 'एतावत् = इतना ही – यह दृष्टमात्र ही सुख है, शरीर का वियोग होने पर अन्य कोई भोग्य सुख नहीं है, क्योंकि इस शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य भोक्ता नहीं है' -- इसप्रकार निश्चित किए हुए हैं अर्थात् वे ऐसे निश्चयवाले हैं । इसीप्रकार बार्हस्पत्य = बृहस्पतिप्रोक्त सूत्र हैं – 'चैतन्यविशिष्ट: काय: पुरुष:[28]' = 'चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष है' – तथा 'काम एवैक: पुरुषार्थ:[29]' = 'काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है' ॥ 11 ॥

25 वे ऐसे असुर --
[सैकड़ों आशापाशों से बंधे हुए, कामक्रोधपरायण कामनाओं के भोग के लिए अन्याय से धनादिक बहुत से पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं ॥ 12 ॥]

26 अशक्योपायार्थविषया[30] अथवा अनवगतोपायार्थविषया[31] प्रार्थना 'आशा' है, बन्धन की हेतु होने से

---

27. यद्यपि 'काम' शब्द कामना, इच्छा, अभिलाषा – अर्थ में रूढ़ है, किन्तु प्रकृत में 'कामोपभोगपरमा:' के साथ तदर्थक 'काम' शब्द का अन्वय करना उचित नहीं है, अत: 'काम्यन्त इति कामा: दृष्टा: शब्दादयो विषया:' – इसप्रकार व्युत्पत्ति से 'काम' शब्द का यौगिक अर्थ शब्दादि उपभोगयोग्य विषय किया है ।

28. चार्वाक-मत है -- चैतन्यविशिष्ट शरीर ही पुरुष – आत्मा है, चैतन्य ज्ञानगुण है, जो शरीर और इन्द्रियों के समुदाय से उत्पन्न होता है । जिसप्रकार किण्वादि मादक द्रव्यों से मादकशक्ति उत्पन्न होती है और द्रव्यों के नाश के साथ नष्ट हो जाती है, उसीप्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु -- इन चार तत्त्वों से शरीर के रूप में चैतन्य उत्पन्न होता है । वेदान्तसम्मत चैतन्यब्रह्म पुरुष-आत्मा नहीं है, क्योंकि उक्त ब्रह्म प्रमाणसिद्ध नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष – ज्ञान ही प्रमाण है -- इसके अतिरिक्त प्रमाण नहीं है – प्रमाणाभास हैं और ब्रह्म प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है ।

29. चार्वाकमतानुसार कामसुख ही एकमात्र पुरुषार्थ है, मोक्षादि नहीं है, अतएव कहा है –

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वां घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥

30. जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए कोई भी उपाय नहीं हो सके वह 'अशक्योपायार्थविषय' है, जैसे – चन्द्रमा को हाथ से पकडना – यह किसी भी लौकिक उपाय से साध्य नहीं है ।

31. जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए उपाय ज्ञात नहीं हो वह 'अनवगतोपायार्थविषय' है जैसे – लोहे को सोना बनाना – इसके लिए उपाय ज्ञात नहीं है ।

सदा परिगृहीता इति यावत् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थं न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वहरणादिनाऽर्थसंचयान्धनराशीन् । संचयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृष्णानुवृत्ते-र्विषयप्राप्तिवर्धमानतृष्णत्वरूपो लोभो दर्शितः ॥ 12 ॥

27 तेषामीदृशीं धनतृष्णानुवृत्तिं मनोराज्यकथनेन विवृणोति–

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ 13 ॥

28 इदं धनमद्येदानीमनेनोपायेन मया लब्धमिदं तदन्यन्मनोरथं मनस्तुष्टिकरं शीघ्रमेव प्राप्स्ये, इदं पुरैव संचितं मम गृहेऽस्ति, इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम् । एवं धनतृष्णाकुलाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ 13 ॥

29 एवं लोभं प्रपञ्च्यतदभिप्रायकथनेनैव तेषां क्रोधं प्रपञ्चयति –

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ 14 ॥

30 असौ देवदत्तनामा मया हतः शत्रुरतिदुर्जयः । अत इदानीमनायासेन हनिष्ये च हनिष्यामि

वह आशा ही पाश के समान है अतएव 'आशापाश' है । इसप्रकार के सैकड़ों आशापाशों से = आशापाशों के समूहों से बँधे हुए के समान श्रेय -- कल्याण से प्रच्युत करके इधर-उधर खींचकर लिये जाते हुए काम और क्रोध ही जिनके परम अयन – आश्रय हैं ऐसे वे कामक्रोधपरायण अर्थात् स्त्रीप्रसङ्ग की अभिलाषा और दूसरों के अनिष्ट की अभिलाषा से सदा परिगृहीत -- युक्त हुए कामभोग के लिए ही, धर्म के लिए नहीं, अन्याय से = दूसरों की सम्पत्ति हरणादि द्वारा अर्थसञ्चय = धनराशि का सञ्चय करने का प्रयत्न करते हैं । 'सञ्चयान्' – इस द्वितीया -- बहुवचनान्त शब्द से धन की प्राप्ति होने पर भी धनतृष्णा की अनुवृत्ति से विषयप्राप्ति की बढ़ती हुई तृष्णारूप लोभ[32] दिखलाया है ॥ 12 ॥

27 उनकी ऐसी धनतृष्णा की अनुवृत्ति का मनोराज्य के कथन द्वारा विवरण करते हैं :--
[मैंने आज यह तो प्राप्त कर लिया है, इस मनोरथ को भी प्राप्त होऊँगा, यह तो मेरे पास है पुनः यह धन भी मेरे पास होवेगा ॥ 13 ॥]

28 मैंने आज = इस समय इस उपाय से यह धन तो प्राप्त कर लिया है, इस दूसरे मनोरथ = मन को सन्तुष्ट करनेवाले भोग को भी शीघ्र ही प्राप्त होऊँगा, यह तो पहले से ही मेरे घर में सञ्चित है, यह भी धन पुनः – आगामी वर्ष में बहुतर हो जायेगा । इसप्रकार धनतृष्णा से आकुल – व्याकुल हुए वे पुरुष अशुचि नरक में गिरते हैं -- इसप्रकार इसका अग्रिम सोलहवें श्लोक के साथ अन्वय है ॥ 13 ॥

29 इसप्रकार लोभ का विस्तार कर उनके अभिप्राय के कथन से उनके क्रोध का विस्तार करते हैं :--
[मैंने इस शत्रु को तो मार दिया है, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ ॥ 14 ॥]

---

32. विषयप्राप्ति से अनिवर्त्य तृष्णा ही 'लोभ' है ।

अपरान्सर्वानपि शत्रून्, न कोऽपि मत्सकाशाज्जीविष्यतीत्यपेरर्थः । चकारात्र केवलं हनिष्यामि तान्किं तु तेषां दारधनादिकमपि ग्रहीष्यामीत्यभिप्रायः। कुतस्तवैतादृशं सामर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां वा शत्रूणां संभवादित्यत आह – ईश्वरोऽहं न केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा कश्चित्स्यात् । किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदित्यनेनाभिप्रायेणेश्वरत्वं विवृणोति–यस्मादहं भोगी सर्वैर्भोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्रभृत्यादिभिः सहायैः संपन्नः स्वतोऽपि बलवानत्योजस्वी सुखी सर्वथा नीरोगः ॥ 14 ॥

31 **ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्त्वत्तुल्यः स्यादित्यत आह–**

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ 15 ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ 16 ॥

32 **आढ्यो धनी, अभिजनवान्कुलीनोऽप्यहमेवास्मि । अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्तुल्यः स्यादित्यत आह–यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोदं हर्षं लप्स्ये नर्तक्यादिभिः सहेत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता विविधं मोहं भ्रमपरम्परां प्रापिताः ॥ 15 ॥**

---

30 मैंने इस देवदत्त नामक अतिदुर्जय शत्रु को तो मार दिया है, अत: अब दूसरे सब शत्रुओं को भी अनायास ही मारूँगा । मेरे समक्ष कोई भी शत्रु जीवित नहीं रहेगा -- यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । 'च' शब्द का अभिप्राय यह है कि न केवल उन शत्रुओं को मारूँगा, अपितु उनकी स्त्री, धन आदि को भी ग्रहण कर लूँगा' । तुम्हारा ऐसा सामर्थ्य कहाँ है ? क्योंकि तुम्हारे समान अथवा तुमसे अधिक सामर्थ्यवान् शत्रुओं का होना संभव है -- इस शंका से कहते हैं -- मैं ईश्वर हूँ, केवल मनुष्य नहीं हूँ जिससे मेरे समान अथवा मुझसे अधिक सामर्थ्यवान् कोई होगा । ये बेचारे क्या करेंगे ? सर्वथा -- सब प्रकार से मेरे समान कोई नहीं है, अधिक की तो क्या सम्भावना की जाय -- इस अभिप्राय से उसके ईश्वरत्व का विवरण करते हैं -- जिससे मैं भोगी हूँ = सब भोगसाधनसामग्री से युक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ = पुत्र-सेवक आदि सहायकों से सम्पन्न हूँ, स्वत: भी बलवान् हूँ = ओजस्वी हूँ और सुखी हूँ = सर्वथा नीरोग हूँ ॥ 14 ॥

31 धन से अथवा कुल से तो कोई तुम्हारे समान होगा ? इस शंका से कहते हैं :--
[मैं धनवान् और कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और हर्ष को प्राप्त होऊँगा -- इसप्रकार अज्ञान से विमोहित, चित्त के अनेक दुष्ट संकल्पों से विभ्रान्त, मोहजाल से घिरे हुए तथा काम और भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए वे आसुर मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥ 15-16 ॥]

32 मैं आढ्य = धनी और अभिजनवान् = कुलीन भी हूँ, अतः मेरे समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है । याग अथवा दान में कोई समान होगा ? इसपर कहते हैं -- मैं यज्ञ करूँगा अर्थात् याग से भी दूसरों को दबा दूँगा, स्तुति करनेवाले नट-विट आदि को धन दूँगा, इससे मैं

33 उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्दुष्टसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृता मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिता मत्स्या इव सूत्रमयेव जालेन परवशीकृता इत्यर्थः। अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मषाः पतन्ति नरके वैतरण्यादावशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे ॥ 16 ॥

34 ननु तेषामपि केषांचिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनादयुक्तं नरके पतनमिति नेत्याह –

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ 17 ॥

35 सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैव संभाविताः पूज्यतां प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित् । स्तब्धा अनम्राः । यतो धनमानमदान्विता धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासस्तन्निमि-

---

मुदित होऊँगा -- नर्तकी आदि के साथ मोद -- हर्ष को प्राप्त होऊँगा -- इसप्रकार के अज्ञान -- अविवेक से विमोहित = विविध प्रकार के मोह अर्थात् भ्रमपरम्परा को प्राप्त हुए ।। 15 ।।

33 उक्त प्रकार के अनेक चित्तों अर्थात् उन-उन दुष्ट संकल्पों से विविधरूप से भ्रान्त हुए, क्योंकि मोहजाल से समावृत = मोह अर्थात् हिताहितरूप वस्तु के विवेक की असमर्थता वही है आवरणात्मक और बन्ध का हेतु होने से जाल, उससे सम्यक् -- सर्वत: आवृत -- वेष्टित अर्थात् मछली के समान सूत्रमय जाल से परवशीकृत हैं अतएव अपने अनिष्ट के साधन काम और भोगों में प्रसक्त = सर्वदा उन्हीं में एकपर -- तत्पर रहने से प्रतिक्षण बढ़ते हुए पापों से युक्त वे आसुर मनुष्य विष्ठा, मूत्र, कफादि से परिपूर्ण वैतरणी आदि अपवित्र नरक में गिरते हैं ।। 16 ।।

34 उनमें भी किन्हीं-किन्हीं की यज्ञ -- दान आदि वैदिक कर्म में प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए 'उनका नरक में पतन होता है' -- यह कहना ठीक नहीं है -- ऐसी शंका होने पर कहते हैं -- नहीं,
[वे अपने-आपको ही पूज्य माननेवाले, नम्रतारहित, धन और मान के मद से युक्त हुए, शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भपूर्वक यजन करते हैं ।। 17 ।।]

35 हम सर्वगुणसम्पन्न हैं -- इसप्रकार अपने-आप ही, किन्हीं साधुपुरुषों द्वारा नहीं, सम्भावित = पूज्यता को प्राप्त हुए, अतएव स्तब्ध = अनम्र -- नम्रतारहित, क्योंकि धनमानमदान्वित = धन के कारण हुआ जो मान -- अपने में पूज्यत्वातिशय का अध्यास उससे उत्पन्न हुआ जो मद -- दूसरे गुरु आदि में भी अपूज्यत्व का अभिमान -- उन दोनों से अन्वित वे जन नामयज्ञों[33] द्वारा = नाममात्र के यज्ञों द्वारा, तात्त्विक यज्ञों से नहीं, अथवा -- 'ये उसमें दीक्षित हैं, ये सोमयाजी हैं' -- इसप्रकार नाममात्र के संपादक यज्ञों से अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रविहित अङ्ग[34], इतिकर्तव्यता[35] आदि से

---

33. यह दर्शपौर्णमास यज्ञ है, यह सोमयज्ञ है -- इसप्रकार केवल नाममात्र से ही किये गये यज्ञ ' नामयज्ञ' है । वास्तव में यज्ञ नहीं, नाम लेने मात्र के यज्ञ 'नामयज्ञ' हैं ।

34. 'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपमङ्गत्वम्' (अर्थसंग्रह) = पर -- श्रेष्ठ अर्थात् स्वर्गादि फल के साधनभूत 'दर्श' आदि याग करने में प्रवृत्त व्यक्ति की कृति-क्रिया के द्वारा साध्य अर्थात् सम्पाद्य प्रयाज, अनुयाज, अवघात, प्रोक्षण आति कर्म 'अंग' हैं ।

त्तश्च यो मदः परस्मिन्गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्न तात्त्विकैर्दीक्षिताः सोमयाजीत्यादिनाममात्रसंपादकैर्वा यज्ञैरविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैर्दम्भेन धर्मध्वजितया न तु श्रद्धया यजन्ते । अतस्तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ 17 ॥

36 यक्ष्ये दास्यामीत्यादिसंकल्पेन दम्भाहंकारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां बहिरङ्गसाधनमपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवेत्याह-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ 18 ॥

37 अहमभिमानरूपो योऽहंकारः स सर्वसाधारणः । एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वाभिमानमहंकारं तथा बलं परपरिभवनिमित्तं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दर्पं परावधीरणारूपं गुरुनृपाद्यतिक्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मात्सर्यम् । एवमन्यांश्च महतो दोषान्संश्रिताः ।

38 एतादृशा अपि पतितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न पतिष्यन्तीति चेन्नेत्याह-- मामीश्वरं भगवन्तमात्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्रभार्यादीनां देहेषु प्रेमास्पदेषु तत्तद्-

---

शून्य यज्ञों द्वारा दम्भ से = धर्मध्वजितापूर्वक, श्रद्धापूर्वक नहीं, यजन करते हैं, अत: वे उनके फल के भागी भी नहीं होते हैं[36] -- यह अर्थ है ॥ 17 ॥

36 'यक्ष्ये दास्यामि' = 'मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा' -- इत्यादि दम्भ, अहंकारादि प्रधान संकल्प से प्रवृत्त हुए असुरों का बहिरङ्गसाधन भी यज्ञदानादिक कर्म सिद्ध नहीं होता है, उनका अन्तरङ्गसाधन ज्ञान-वैराग्य-भगवद्भजनादि तो दूर ही से निवृत्त रहता हैं -- यह कहते हैं :--
[वे अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का ही आश्रय लिये रहते हैं, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझसे अत्यन्त द्वेष करते हैं तथा वैदिक-मार्ग में स्थित गुरु आदि के गुणों में दोषों का आरोप करते हैं ॥ 18 ॥]

37 'मैं हूँ' -- ऐसा अभिमानरूप जो अहंकार है वह तो सर्वसाधारण है -- सभी में समानरूप से रहता है, किन्तु उक्त इन आरोपित गुणों से अपने महत्त्व का जो अभिमान है उस अहंकार, बल = दूसरों के परिभव -- तिरस्कार करने का हेतुभूत शरीरगत सामर्थ्यविशेष, दर्प = दूसरों का अवज्ञानरूप गुरु-नृप आदि के अतिक्रमण करने का कारणभूत चित्तदोषविशेष, काम = इष्ट विषय की अभिलाषा और क्रोध = अनिष्टविषयक द्वेष तथा चकार से दूसरों के गुणों का असहिष्णुत्वरूप मात्सर्य, इसीप्रकार अन्य महान् दोषों का वे आश्रय लिए रहते हैं ।

---

35. 'भावना' में तीन अंशों की अपेक्षा रहती है -- साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता । 'कथं भावयेत्' = 'कैसे किया जाय' -- इससे भावना के भाव्य -- साध्य के निष्पन्न होने में प्रकारता की जिज्ञासा होती है कि भावना का साध्य किस प्रकार निष्पन्न होता है ? यही 'इतिकर्तव्यता' है ।

36. 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' -- इत्यादि वचन के अनुसार यदि श्रद्धाहीन व्यक्ति विधिपूर्वक भी यज्ञकर्मानुष्ठान करता है, तो वह उस यज्ञ के फल का भागी नहीं होता है, क्योंकि श्रद्धाशून्य कृत-कर्म अकृत-कर्म ही कहा जाता है । इसप्रकार जब श्रद्धाभाव मात्र से ही विधिपूर्वक किया हुआ कर्मानुष्ठान भी फल से रहित होता है तो फिर श्रद्धाभाव के साथ अविधिपूर्वक भी किये हुए यज्ञानुष्ठान के फलाभाव के विषय में तो कहना ही क्या है ?

बुद्धिकर्मसाक्षितया सन्तमतिप्रेमास्पदमपि दुर्दैवपरिपाकात्प्रद्विषन्त ईश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः । नृपाद्याज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके ।

39 **ननु गुर्वादयः कथं तान्नानुशासति तत्राऽऽह--अभ्यसूयका गुर्वादीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रतारणादिदोषारोपकाः । अतस्ते सर्वसाधनशून्या नरक एव पतन्तीत्यर्थः ।**

40 **मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा व्याख्या--स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावाद्दीक्षादिनाऽऽत्मनो वृथैव पीडा भवति । तथा पश्वादीनामप्यविधिना हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति ।**

41 **अपरा व्याख्या--आत्मदेहे जीवानाविष्टे भगवल्लीलाविग्रहे वासुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विषन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्वदाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विषन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे --**

---

38 ऐसे भी पतित वे आपकी भक्ति से पूत – पवित्र होकर नरक में नहीं गिरेंगे -- इसप्रकार यदि अर्जुन कहे तो कहते हैं -- अपने = उन असुरों के और दूसरों के = उनके प्रेमास्पद पुत्र-भार्यादि के देहों में उन-उनके बुद्धि-ज्ञान और कर्मों के साक्षीरूप से विद्यमान अतिप्रेमास्पद भी मुझ ईश्वर – भगवान् से वे दुदैव के परिपाक के कारण अत्यन्त द्वेष करते हैं अर्थात् मुझ ईश्वर के श्रुतिस्मृतिरूप शासन में उक्त अर्थ के अनुष्ठान से पराङ्मुख होने के कारण उस शासन का अतिवर्तन -- उल्लंघन करना ही जो मेरा प्रद्वेष है उस द्वेष को करते हैं, क्योंकि नृप आदि की आज्ञा का उल्लंघन करना ही उनके प्रति प्रद्वेष होता है -- यह लोक में प्रसिद्ध है ।

39 गुरु आदि उनका अनुशासन क्यों नहीं करते हैं ? इस शंका पर कहते हैं :-- वे अभ्यसूयक होते हैं = वैदिकमार्ग में स्थित गुरु आदि के करुणा आदि गुणों में प्रतारणा आदि दोषों के आरोपक होते हैं -- दोषों का आरोप करनेवाले होते हैं । अतः वे सब साधनों से शून्य नरक में ही गिरते हैं -- यह अर्थ है ।

40 'मामात्मपरदेहेषु' - इसकी दूसरी व्याख्या इसप्रकार है -- अपने देहों और दूसरों के देहों में 'चित्' अंश से स्थित मुझसे द्वेष करते हुए वे यजन करते हैं, क्योंकि दम्भयज्ञों -- दम्भपूर्वक किये गए यज्ञों में श्रद्धा का अभाव रहने से दीक्षादि के द्वारा आत्मा को वृथा ही पीड़ा होती है तथा बिना विधि के पशु आदि की हिंसा करने से भी चैतन्य से द्रोहमात्र करना ही शेष रह जाता है[37] ।

41 इसकी एक और व्याख्या इसप्रकार है -- आत्मदेह अर्थात् जीव से अनाविष्ट-- जीव के आवेश से रहित वासुदेवादि नामक भगवान् के लीलाविग्रह में मनुष्यत्वादि के भ्रम के कारण मुझसे द्वेष करते हैं तथा परदेहों अर्थात् प्रह्लादादि नामक भक्तों के शरीर में सर्वदा आविर्भूत हुए मुझसे द्वेष करते हैं -- इसप्रकार योजना करनी चाहिए । नवम अध्याय में कहा भी है --

"सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परमभाव = पारमार्थिक तत्त्व को न जानने वाले मूढ़ पुरुष

---

37. मनुवचन है–

'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥' (मनुस्मृति, 5.39)

"स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए और सब यज्ञों की समृद्धि के लिए पशुओं का निर्माण किया है, इसलिए यज्ञ में पशु का वध अवध हैं' – इसके अनुसार यज्ञ के लिए सविधि पशुहिंसा में दोष नहीं है, किन्तु अविधि हिंसा में 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुत्यतिक्रमप्रयुक्तदोष अवश्य है । अतएव उक्त कथन समीचीन है ।

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥' इति

'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' इति चान्यत्र । तथा च भजनीये द्वेषान्न भक्त्या पूतता तेषां संभवतीत्यर्थः ॥ 18 ॥

42 तेषां त्वत्कृपया कदाचिन्निस्तारः स्यादिति नेत्याह –

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ 19 ॥

43 तान्सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान्द्विषतः साधून्मां च क्रूरान्हिंसापरानतो नराधमानतिनिन्दितानजस्रं संततमशुभानशुभकर्मकारिणोऽहं सर्वकर्मफलदातेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि । नरकगताश्चाऽऽसुरीष्वेवातिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुषज्यते । एतादृशेषु द्रोहिषु नास्ति ममेश्वरस्य कृपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'अथ [य इह] कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' इति । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणोऽभ्याशो ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सितां योनिमापद्यन्त इति श्रुतेरर्थः । अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वान्नेश्वरस्य वैषम्यं नैर्घृण्यं वा । तथा च पारमर्षं सूत्रं 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयतिः' इति । एवं च पापकर्माण्येव

मानुष शरीर को धारण करनेवाले मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं । वे अविवेकीजन व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और दूषित ज्ञानवाले; विवेक और विज्ञान से रहित तथा मोह में डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का ही आश्रय लिये होते हैं" (गीता, 9.11-12) ।

इसप्रकार सप्तम अध्याय में भी कहा है -- "बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्व को प्राप्त हुआ समझते हैं' (गीता, 7.24) । इसप्रकार भाव यह है कि भजनीय भगवान् में ही द्वेष रहने के कारण भक्ति द्वारा उनकी पवित्रता होना सम्भव नहीं है ॥ 18 ॥

42 आपकी कृपा से कदाचित् उन का निस्तार -- उद्धार होगा -- इसपर कहते हैं :-- नहीं,

[मुझसे और साधुजनों से द्वेष करनेवाले उन क्रूर और निरन्तर अशुभ कर्मी नराधमों को मैं संसार में आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ ॥ 19 ॥]

43 उन सन्मार्ग के प्रतिपक्ष-शत्रुरूप, साधुजनों से और मुझसे द्वेष करनेवाले, क्रूर = हिंसापरायण अतएव नराधम-- मनुष्यों में अधम = अत्यन्तनिन्दित अजस्र = निरन्तर अशुभ कर्म करनेवालों को मैं सब कर्मों का फलदाता ईश्वर संसारों = नरक जानेवाले मार्गों में ही फेंकता हूँ – गिराता हूँ । नरक में गये हुए उनको उन--उनकी कर्मवासनाओं के अनुसार आसुरी अर्थात् अत्यन्त क्रूर व्याघ्र-- सर्पादि योनियों में फेंकता हूँ -- गिराता हूँ । यहाँ 'क्षिपामि' अनुषिक्त -- सम्बद्ध है । ऐसे द्रोहियों में मुझ ईश्वर की कृपा नहीं है-- ऐसे द्रोहियों पर मुझ ईश्वर की कृपा नहीं होती है -- यह अर्थ है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है-- "जो कपूय -- दूषित आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही कुत्सित योनियों में अर्थात् कुत्ते की योनि में, शूकर की योनि में, अथवा चाण्डाल की योनि में जाते हैं"।

तेषां कारयति भगवांस्तेषु तद्बीजसत्त्वात् । कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात्पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात् । न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान्करोति । ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात् यदि संकल्पयेत् । न तु संकल्पयति आज्ञालङ्घिषु स्वभक्तद्रोहिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात् । अत एव श्रूयते 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति । येषु प्रसादकारणमस्त्याज्ञापालनादि तेषु प्रसीदति । येषु तु तद्वैपरीत्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं कारणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैषम्यम् । ' परात्तु तच्छ्रुतेः' इति न्यायाच्च । अन्ततो गत्वा किंचिद्वैषम्यापादने महामायत्वाददोषः ॥ 19 ॥

कपूयचरण[38] = कुत्सित कर्म करनेवाले अभ्याशो ह = शीघ्र ही कपूय = कुत्सित योनि में जाते हैं – यह श्रुति का अर्थ है । अतएव पूर्व-पूर्व कर्मों का अनुसरण करनेवाला होने से ईश्वर में विषमता अथवा क्रूरता का दोष नहीं आता है । इसीप्रकार महर्षि का सूत्र भी है – "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति" ब्रह्मसूत्र, 2.1.34) = " ईश्वर में विषमता और निर्घृणता – क्रूरता – निर्दयता दोष नहीं है, क्योंकि ईश्वर की सापेक्षता होती है अर्थात् सृष्टि की रचना में वह जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा रखता है, ऐसा ही 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13) = 'पुण्यकर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है' – यह श्रुति दिखाती है, स्मृति भी इस अर्थ को दिखाती है – 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता, 4.11) = 'जो मुझको जिसप्रकार प्राप्त होते हैं– भजते हैं, मैं भी उनको उसीप्रकार भजता हूँ अर्थात् उनके भजनानुसार उन पर अनुग्रहादि करता हूँ' – इत्यादि" । इसप्रकार भगवान् उनमें पाप का बीज रहने के कारण उनसे पापकर्म ही कराता है, कारुणिक होने पर भी उनमें पापनाशक पुण्यों का सञ्चय न होने के कारण वह उनके पापों का नाश नहीं करता है तथा उनमें पुण्यकर्म करने की योग्यता न होने के कारण उनसे पुण्यों का सञ्चय भी नहीं कराता है, क्योंकि ईश्वर पत्थरों में यवाङ्कुर उत्पन्न नहीं करता है । यदि कहो कि ईश्वर होने के कारण वह अयोग्य में भी तो योग्यता का संपादन कर सकता है[39], तो इसका समाधान यह है कि सत्यसंकल्प होने के कारण वह ऐसा कर तो सकता है, किन्तु तभी जबकि वह ऐसा संकल्प करे, किन्तु वह संकल्प करता नहीं है, कारण कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले और अपने भक्तों के द्रोही उन दुरात्माओं से वह अप्रसन्न रहता है । अतएव श्रुति कहती है -- 'जिसको यह ऊपर ले जाना चाहता है उससे यही साधु – शुभ कर्म कराता है और जिसको यह नीचे की ओर ले जाना चाहता है उससे यही असाधु – अशुभ कर्म कराता है' । जिन पुरुषों में भगवान् की प्रसन्नता का कारण उसकी आज्ञापालनादि रहता है उन्हीं पर वह प्रसन्न होता है, किन्तु जिनमें इससे विपरीतता रहती है उन पर वह प्रसन्न नहीं होता है, कारण रहने पर कार्य होता है और कारण न रहने पर कार्य नहीं होता है – इसप्रकार इसमें क्या विषमता है ? "परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्रह्मसूत्र, 2.3.41) = "जीव परमात्मा के वशंगत होकर ही कर्म करता है, 'अंतःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' (तैत्तिरीय, 3.11.10) = 'परमात्मा जीवों के अन्तःकरण में स्थिर होकर शासन करता है' – इस श्रुतिवाक्य ये यही सिद्ध होता है" – इस न्याय से अन्ततोगत्वा यदि ईश्वर में किंचित् विषमता का ही आरोपण किया जाय तो वह महामाया का कारण होने से दोष नहीं है ।। 19 ।।

38. 'कपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' (अमरकोश, 3.1.54) – इस कोश के अनुसार 'कपूय' कुत्सितवाची है और 'चरण' शब्द आचरणपरक है ।

39. जैसा कि कहा है -- मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।

अश्रेयश्चाऽऽचरति येन निरयपातः स्यात् । अधुना तत्प्रतिबन्धरहितः सन्नश्रेयो नाऽऽचरति श्रेयश्चाऽऽचरति तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम् ॥ 22 ॥

50 यस्मादश्रेयोनाचरणस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात्तस्मात् –

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ 23 ॥

51 शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणादि च, तत्संबन्धी विधिर्लिङादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधि-निषेधाख्यस्तः शास्त्रविधिं, विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधि-

विरहित हुआ नर[42] = पुरुष अपने श्रेय – कल्याण का अर्थात् वेदविहित जो हित है उसका आचरण करता है, क्योंकि पूर्व में कामादि से प्रतिबद्ध वह श्रेय – कल्याण का आचरण नहीं करता है जिससे पुरुषार्थ सिद्ध हो, अश्रेय का ही आचरण करता है जिससे नरक में पतित हो । इससमय उस कामादि के प्रतिबन्ध से रहित होकर वह अश्रेय का आचरण नहीं करता है, श्रेय का ही आचरण करता है और उससे वह ऐहिक – लौकिक सुख का अनुभव कर सम्यग्ज्ञान द्वारा परागति = मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ 22 ॥

50 क्योंकि अश्रेय के अनाचरण और श्रेय के आचरण का शास्त्र ही निमित्त है, कारण कि शास्त्र से ही उनका ज्ञान होता है, इसलिए –

[जो पुरुष शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छानुसार आचरण करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख पाता है और न परमगति को प्राप्त होता है ॥ 23 ॥]

51 शासन किया जाता है – अनुशासन किया जाता है अर्थात् अपूर्व[43] अर्थ का बोध कराया जाता है इसके द्वारा इसलिए शास्त्र[44] अर्थात् वेद है, वेद के उपजीवी स्मृति-पुराणादि हैं, वेद से सम्बन्ध रखनेवाली विधि[45] = लिङादि[46] शब्द अर्थात् 'कुर्यात्' 'न कुर्यात्'– इसप्रकार प्रवर्तनात्मक और

42. जो कामादि से विमुक्त होता है वही 'नर' है और सार्थकनरजन्मा है, इससे भिन्न दूसरे तो पशु हैं और निरर्थकनरजन्मा हैं – यह सूचित करने के लिए यहाँ 'नर' शब्द का प्रयोग है ।

43. यहाँ 'अपूर्व' का कथन अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रामाण्य की रक्षा के लिए है और स्मृति आदि की व्यावृत्ति के लिए है ।

44. 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करनेवाला होने से 'शास्त्र' कहा जाता है । शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है । वेदादि मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त होने और असत्कार्यों से निवृत्त होने का आदेश देते हैं, इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं । मुख्यरूप से शासन करनेवाले अर्थात् प्रवृत्ति – निवृत्ति करनेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र ' कहलाते हैं । 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् केवल शासन करनेवाले विधि – प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही शास्त्र नहीं कहलाते है, अपितु 'शंसनात् शास्त्रम्' = किसी गूढ़ तत्त्व का 'शंसन्' – प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' कहलाते हैं अर्थात् 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त आदि भी 'शास्त्र' कहलाते हैं । प्रकृत में प्रथम व्युत्पत्तिपरक अर्थ में ही 'शास्त्र' शब्द को ग्रहण किया गया है ।

45. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' (अर्थसंग्रह) = वेद का जो भाग अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराता है उसको 'विधि' कहा जाता है । वेद विधि से ही प्रमाण कहा जाता है अर्थात् वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद – ये जो पाँच भेद है वे सब साक्षात् धर्मादि में प्रमाण नहीं होते हैं, विधि ही साक्षात् धर्मादि में प्रमाण होती है, अतएव प्रकृत में शास्त्रप्रमाण के अर्थ में 'शास्त्र' को वेदपरक कहकर उसमें 'विधि' को प्रमाण कहा है, इसीलिए 'शास्त्रविधि' शब्द का प्रयोग है ।

शब्दः । उत्सृज्याश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाऽऽचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाऽऽप्नोति, न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ 23 ॥

52 **यस्मादेवम् –**

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ 24 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ 16 ॥

53 **यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाधीनप्रवृत्तिरैहिकपारत्रिकसर्वपुरुषार्थायोग्यस्तस्मात्ते तव श्रेयोर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमिति विषये शास्त्रं वेदतदुपजीविस्मृतिपुराणादिकमेव**

निवर्तनात्मक तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य ज्ञान के हेतुभूत विधि -- निषेध[47] संज्ञक वाक्य शास्त्रविधि है, विधिनिषेधात्मक शास्त्र के अतिरिक्त भी ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र है -- यह सूचित करने के लिए श्लोक में 'विधि' शब्द है -- इसप्रकार शास्त्रविधि को छोड़कर = अश्रद्धा से उसका परित्याग कर जो कामकारत: = स्वेच्छामात्र से वर्तता है अर्थात् विहित का भी आचरण नहीं करता है और निषिद्ध का भी आचरण नहीं करता है वह कर्म करते हुए भी सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थप्राप्तियोग्य अन्त:करणशुद्धि को प्राप्त नहीं होता है, ऐहिक -- लौकिक सुख भी नहीं पाता है और परा – प्रकृष्ट गति = स्वर्ग अथवा मोक्ष को भी प्राप्त नहीं होता है ॥ 23 ॥

52 क्योंकि ऐसा है –

[इसलिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म की व्यवस्था करने में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है, तुमको शास्त्रविधि से उक्त-नियत किये हुए कर्म को जानकर इस लोक में आचरण करना चाहिए ॥ 24 ।

46. 'यजेत स्वर्गकाम:' एक विधि है । 'यजेत' पद 'यज्' धातु में 'त' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । 'त' प्रत्यय 'तिङ्' होने के कारण सामान्यरूप से आख्यात कहा जाता है और विधिलिङ् होने के कारण विशेषरूप से 'लिङ्' कहा जाता है । श्रुति में उक्त लिङ्, लोट्, तव्य-प्रत्यय स्वरूप 'विधि' है अतएव प्रकृत में लिङादि शब्द को 'विधि' कहा है । स्मृति में भी कहा है –

श्रुत्युक्त-लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययलक्षण-लक्षिता
चोदना सैव नान्या सा पुराणश्रुतिचोदिता ॥ (आङ्गिरस-स्मृति, 1.4)

47. 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' – यह विधिवाक्य है, क्योंकि यह वाक्य स्वर्ग प्राप्त करानेवाले 'अग्निहोत्र' नामक याग के अनुष्ठान का विधान करता है । 'विधिवाक्य' किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जबकि 'निषेधवाक्य' पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् जो वाक्य पुरुष को अनर्थकारणभूत क्रियाओं को करने से रोकता है वह 'निषेध' वाक्य कहलाता है, जैसे – 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेध: – अर्थसंग्रह) । भाव यह है कि विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है और निषेधवाक्य निवर्तना उत्पन्न करता है अतएव वे कर्तव्याकर्तव्यज्ञान के हेतु हैं । यहाँ यह शंका हो सकती है कि विधि और निषेध – दोनों परस्पर विरोधी हैं, तो फिर विधि का अर्थ निषेध भी कैसे हो सकता है ? इसके समाधान में श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि प्रवृत्तिस्थल में या निवृत्तिस्थल में उसके पूर्व होने वाली शब्दश्रवणजन्य बुद्धि ही 'चोदना' अर्थात् 'विधि' है (प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धी: सा चोदना – श्लोकवार्तिक) । इसप्रकार निषेध भी विधि प्रतिपाद्य के अन्तर्गत आता है ।

प्रमाणं बोधकं नान्यत्स्वोत्प्रेक्षाबुद्धवाक्यादीत्यभिप्रायः। एवं चेह कर्माधिकारभूमौ शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादित्येवंप्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन्विहितं क्षत्रियस्य युद्धादिकर्म त्वं कर्तुमर्हसि सत्त्वशुद्धिपर्यन्तमित्यर्थः। तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान्सर्वाश्रेयःप्रापकान्सर्वश्रेयः- प्रतिबन्धकान्महादोषान्कामक्रोधलोभानपहाय श्रेयोऽर्थिना श्रद्दधानतया शास्त्रप्रवणेन तदुपदिष्टा- र्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति संपद्द्वयविभागप्रदर्शनमुखेन निर्धारितम् ॥ 24 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ 16 ॥

---

53 क्योंकि शास्त्रविमुख होने से कामाधीन -- स्वेच्छाधीन प्रवृत्ति ऐहिक -- ऐहलौकिक और पारत्रिक -- पारलौकिक -- सभी पुरुषार्थों के अयोग्य है इसलिए कल्याण की इच्छावाले तुम्हारे लिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में = 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए' -- इस विषय में शास्त्र = वेद और उसके उपजीवी स्मृति -- पुराणादि ही प्रमाण = बोधक हैं, अपनी कल्पना से जाने हुए वाक्यादि नहीं है -- यह अभिप्राय है। इसप्रकार यहाँ -- कर्माधिकारभूमि में शास्त्रविधान से 'यह करो; यह न करो' -- इसप्रकार प्रवर्तन और निवर्तनरूप वैदिकलिङादि पद से उक्त विहित और प्रतिषिद्ध कर्म को जानकर निषिद्ध का त्याग करते हुए क्षत्रिय के लिए विहित युद्धादि कर्म करने के लिए तुम योग्य हो अर्थात् सत्त्वशुद्धि-अन्त:करणशुद्धिपर्यन्त स्वधर्म करने के योग्य हो। इसप्रकार इस अध्याय में दैवीसंपत् और आसुरीसंपत् -- दोनों सम्पदों का विभाग दिखला कर यह निश्चित किया कि सम्पूर्ण आसुरीसंपत् के मूलभूत, सब अश्रेयों -- अकल्याणों -- अनर्थों को प्राप्त करानेवाले, सम्पूर्ण श्रेय के प्रतिबन्धक काम, क्रोध और लोभरूप महान् दोषों को त्यागकर कल्याणार्थी को श्रद्धापूर्वक शास्त्रानुरक्त होकर शास्त्रद्वारा उपदिष्ट अर्थ का अनुष्ठान करने में तत्पर होना चाहिए ॥ 24 ॥

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का दैवासुरसंपद्विभाग- योग नामक षोडश अध्याय समाप्त होता है।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

1 त्रिविधाः कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकारमात्रेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थायोग्यत्वादसुराः । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्दधानतया तदनुसारेणैव निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम् । ये तु शास्त्रीयं विधिमालस्यादिवशादुपेक्ष्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति । ते शास्त्रीयविध्युपेक्षालक्षणेनासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठान-लक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्ति किं वा देवेष्वित्युभयधर्मदर्शनादेककोटिनि-श्चायकादर्शनाच्च संदिहानः –

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ 1 ॥

2 ये पूर्वाध्याये न निर्णीता न देववच्छास्त्रानुसारिणः किंतु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिचोदनामुत्सृज्या-ऽऽलस्यादिवशादनादृत्य नासुरवदश्रद्दधानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण श्रद्धयाऽन्विता यजन्ते

---

1 कर्मानुष्ठान करनेवाले तीन प्रकार के होते हैं:-- कोई शास्त्रविधि को जानकर भी अश्रद्धा से उसका त्याग कर स्वेच्छानुसार जो कुछ करते हैं, वे सब पुरुषार्थों के अयोग्य होने के कारण 'असुर' हैं । कोई तो शास्त्रविधि को जानकर श्रद्धायुक्त होकर उस शास्त्रविधि के अनुसार ही निषिद्ध कर्म का त्याग करते हुए विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे सब पुरुषार्थों के योग्य होने के कारण 'देव' हैं – यह पूर्व अध्याय के अन्त में सिद्ध हो चुका है । जो तो आलस्यादि के कारण शास्त्रविधि की उपेक्षा कर श्रद्धावान् होकर ही वृद्धों के व्यवहारमात्र से निषिद्ध कर्म का त्याग करते हुए विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे शास्त्रविधि की उपेक्षारूप आसुरधर्म की समानता से और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठानरूप देवधर्म की समानता से युक्त होने के कारण क्या असुरों के अन्तर्गत आते हैं अथवा देवताओं के अन्तर्गत आते हैं ? -- इसप्रकार उनमें दोनों के धर्म देखे जाने से और एक कोटि का निश्चायक न देखे जाने से सन्देह करते हुए अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा :-- हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधि का त्याग कर श्रद्धा से युक्त हुए यजन करते हैं उनकी तो निष्ठा कौन-सी होती है ? सात्त्विकी अथवा राजसी – तामसी ? ॥ 1 ॥]

2 पूर्व अध्याय में निर्णीत नहीं हुए जो मनुष्य देव के समान शास्त्रानुसारी नहीं हैं, किन्तु शास्त्रविधि = श्रुति-स्मृतिचोदना[2] – श्रुतिस्मृतिविधि का त्याग कर = आलस्यादि के कारण अनादर कर असुरों

---

1. 'पुरुषैः अर्थ्यन्ते इति पुरुषार्थाः' – सुखाभिलाषी मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जिन सुखों और उनकी प्राप्ति के साधनों को प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, उनको 'पुरुषार्थ' कहते हैं । वे चार हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । 'धर्म' सर्वदा अर्थ का मूल – कारण है, 'अर्थ' का फल काम कहा जाता है, 'काम' त्रिवर्ग का मूल है और इन तीनों से निवृति 'मोक्ष' है, जैसा कि महाभारत में कहा है –

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥

2. 'क्रियायाः प्रवर्तकं निवर्तकं वा यद्वाक्यं, सा चोदना' (शाबरभाष्य) = जो वाक्य क्रिया का प्रवर्तक अथवा निवर्तक होता है उसको 'चोदना' कहते हैं । चोदना, उपदेश और विधि– ये शब्द एकार्थवाची है (चोदना चोपदेशश्च

देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षाश्रद्धाभ्यां पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविध्यनपेक्षा श्रद्धापूर्विका च सा यजनादिक्रियाव्यस्थितिर्हे कृष्ण भक्ताघकर्षण, किं सत्त्वं सात्त्विकी । तथा सति सात्त्विकत्वात्ते देवाः । आहो इति पक्षान्तरे । किं रजस्तमो राजसी तामसी च । तथा सति राजसतामसत्वादसुरास्ते सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तम इत्यपरा कोटिरितिविभागज्ञापनायाऽऽहोशब्दः ॥ 1 ॥

के समान अश्रद्धायुक्त न होकर, किन्तु श्रद्धा[3]युक्त होकर वृद्धों के व्यवहार के अनुसार यजन = देवपूजादि[4] करते हैं[5], उनकी = शास्त्रविधि की उपेक्षा और श्रद्धा के कारण पूर्वनिश्चित देव और असुरों से विलक्षणों की तो[6] निष्ठा[7] कौन-सी है ? = उनकी वह शास्त्रविधि की अपेक्षा से रहित और श्रद्धापूर्विका यजनादिक्रिया की व्यवस्था किस प्रकार की है ? हे कृष्ण[8] ! हे भक्ताघकर्षण – भक्तों के पापों को दूर करनेवाले ! क्या वह निष्ठा -- व्यवस्था सात्त्विकी है ? यदि ऐसी है तो वे सात्त्विक होने से देव हैं । 'आहो' – यह अव्यय पक्षान्तर में हैं । अथवा, वह राजसी और तामसी है ? यदि ऐसी है तो वे राजस – तामस होने से असुर हैं । 'सत्त्व' – एक कोटि है और रज-तम – यह दूसरी कोटि है-- इसप्रकार विभाग को बतलाने के लिए 'आहो' शब्द है ।। 1 ।।

विधिश्चैकार्थवाचिनः – श्लोकवार्तिक), अतएव प्रकृत में 'विधि' शब्द के लिए 'चोदना' शब्द का प्रयोग हुआ है । जो अर्थ – अभीष्ट – श्रेयःसाधन अर्थात् सत्कर्म वेदोक्त विधिवाक्यों द्वारा कर्तव्यरूप से बोधित होता है, उसको 'धर्म' कहते हैं (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः – मीमांसासूत्र, 1.2.3) । धर्म में चार साक्षात् प्रमाण होते हैं – वेद, वेदमूलक स्मृति, शास्त्रमूलक सदाचार और इन तीनों प्रमाणों के अविरुद्ध आत्मतुष्टि । मनुस्मृति में कहा है –

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।। (मनुस्मृति, 2.12)

उक्त चारों प्रमाणों में वेद और स्मृति शब्दमय प्रमाण हैं तथा सदाचार और आत्मतुष्टि आन्तर धर्म होने से अनुभवमय प्रमाण हैं, प्रकृत में चोदनालक्षण धर्म में वेद-श्रुति और स्मृति शब्दमय प्रमाण को ग्रहण करके ही 'श्रुतिस्मृतिचोदना' कहा है । ये वेद और स्मृति 'शास्त्र' कहे जाते हैं अतएव मूल में 'शास्त्रविधि' कहा है ।

3. 'आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा' – आस्तिक्य बुद्धि को 'श्रद्धा' कहते हैं ।

4. यहाँ देवपूजादि से तात्पर्य है – देवपूजा, यज्ञ और दान ।

5. यहाँ 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः' – इस कथन से उन मनुष्यों को ग्रहण किया गया है जो श्रुति या स्मृतिरूप किसी भी शास्त्र के विधान को आलस्यादि के कारण न देखते हुए वृद्धव्यवहार के दर्शन से ही श्रद्धापूर्वक देवादि का पूजन करते हैं । जो मनुष्य शास्त्रविधि को जानते हुए भी उसका परित्याग कर देवादि का पूजन करते हैं उनका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि प्रकृत में 'श्रद्धयान्विताः'– यह विशेषण दिया गया है । देवादि के पूजाविधिपरक किसी भी शास्त्र को जानते हुए अश्रद्धापूर्वक उसको जो त्याग देते हैं वे स्वेच्छाचारी होने के कारण आसुरी कोटि में आते हैं । अतः जो शास्त्रविधि को नहीं जानते हैं किन्तु वृद्धव्यवहारादि के अनुसार श्रद्धापूर्वक देवादि का पूजन करते हैं वे ही उक्त कथन से ग्रहण किये गये हैं (शाङ्करभाष्य) ।

6. श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व की व्यावृत्ति के अर्थ में है अर्थात् जो शास्त्रविधि को जानकर भी उसका त्याग कर स्वेच्छा से कर्म करते हैं उनसे शास्त्र में अनभिज्ञ किन्तु श्रद्धायुक्त उपासकों की विलक्षणता सूचित करने के लिए 'तु' शब्द है ।

7. यहाँ 'निष्ठा' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसप्रकार की है – शंकर – अवस्था – अवस्थान, मधुसूदनसरस्वती – व्यवस्थिति – व्यवस्था, श्रीधर-स्थिति या आश्रय, शंकरानन्द – वृत्ति इत्यादि ।

8. 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।'

इस निरुक्ति को अभिप्रेत करके सर्वत्र सत्ता, स्फूर्ति आदि से स्थित परमात्मा आपको कुछ भी अविदित नहीं है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

3 **ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया यजन्ते ते श्रद्धाभेदाद्भिद्यन्ते। तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयाऽऽन्वितास्ते देवाः शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलेन च युज्यन्ते। ये तु राजस्या तामस्या श्रद्धयाऽन्विता-स्तेऽसुरा न शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलेन युज्यन्त इति विवेकेनार्जुनस्य संदेहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदम् –**

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ 2 ॥

4 **यया श्रद्धयाऽन्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः। स त्रिविधः सात्त्विको राजस-स्तामसश्चेति। तेन जनिता श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी तामसी च, कारणानुरूपत्वा-त्कार्यस्य। या त्वारब्धे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रजा विदुषां सा कारणैकरूपत्वादेकरूपा सात्त्विक्येव, न राजसी तामसी चेति प्रथमचकारार्थः। शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमात्रसाधारणी स्वभावजा। सैव स्वभावत्रैविध्यात्त्रिविधेत्येवकारार्थः। उक्तविधात्रयसमुच्चयार्थश्चरमश्चकारः। यतः प्राग्भवीयवासनाख्यस्वभावस्याभिभावकं शास्त्रीयं विवेकविज्ञानमनादृतशास्त्राणां देहिनां नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशात्त्रिधा भवन्तीं तां श्रद्धां शृणु। श्रुत्वा च देवासुरभावं स्वयमेवा-वधारयेत्यर्थः ॥ 2 ॥**

---

3 जो शास्त्रविधि का त्यागकर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं वे श्रद्धाभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उनमें जो सात्त्विकी श्रद्धा से युक्त होते हैं वे 'देव' हैं, उनका शास्त्रोक्त साधन में अधिकार होता है और वे उसी के फल से युक्त होते हैं। जो तो राजसी और तामसी श्रद्धा से युक्त होते हैं वे 'असुर' है, उनका शास्त्रीय साधन में अधिकार नहीं होता है और न वे उसके फल से युक्त होते हैं – इस विवेक के द्वारा अर्जुन के सन्देह को दूर करने की इच्छा से भगवान् ने श्रद्धा के भेदों को कहा --
[श्रीभगवान् ने कहा – देहधारियों की स्वभाव से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है -- सात्त्विकी, राजसी और तामसी; उनको तुम सुनो ॥ 2 ॥]

4 मनुष्य जिस श्रद्धा से युक्त हुए शास्त्रविधि का त्याग कर यजन करते हैं वह देहधारियों की स्वभाव से उत्पन्न हुई 'स्वाभाविकी' श्रद्धा है। जन्मान्तर में किये हुए धर्म-अधर्मादि का जो शुभाशुभ संस्कार इदानींतन -- वर्तमान जन्म का आरम्भक -- आरम्भ करनेवाला है उसको 'स्वभाव' कहते हैं। वह स्वभाव तीन प्रकार का होता है-- सात्त्विक, राजस और तामस। उससे उत्पन्न श्रद्धा तीन प्रकार की होती है – सात्त्विकी, राजसी और तामसी, क्योंकि कार्य कारण के अनुरूप होता है। जो तो आरब्ध – वर्तमान जन्म में शास्त्र के संस्कारमात्र से विद्वानों की श्रद्धा उत्पन्न होती है वह शास्त्रसंस्काररूप कारण के एकरूप होने से एकरूपा 'सात्त्विकी' ही होती है, राजसी और तामसी नहीं होती है – यह प्रथम चकार का अर्थ है। शास्त्रनिरपेक्षा -- शास्त्र की अपेक्षा से रहित तो प्राणीमात्र की साधारणी -- प्राणीमात्र में समानरूप से रहनेवाली स्वभाव से उत्पन्न हुई 'स्वाभाविकी' श्रद्धा होती है। वही तीन प्रकार का स्वभाव होने से तीन प्रकार की है -- यह 'एव' शब्द का अर्थ है। उक्त तीन प्रकारों के समुच्चय के लिए अन्तिम चकार है। क्योंकि शास्त्र का आदर नहीं करनेवाले देहधारियों में पूर्वजन्म के

5 **प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तद्वैचित्र्यमाह –**

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ 3 ॥

6 **सत्त्वं प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानत्रिगुणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतारब्धमन्तःकरणम् । तच्च क्वचिदुद्रिक्तसत्त्वमेव यथा देवानाम् । क्वचिद्रजसाऽभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनाम् । क्वचित्तमसाऽभिभूतसत्त्वं यथा प्रेतभूतादीनाम् । मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तच्च शास्त्रीयविवेकज्ञानेनोद्भूतसत्त्वं**

वासनासंज्ञक स्वभाव का अभिभावक – दबानेवाला विवेक – विज्ञान नहीं होता है, इसलिए उनके स्वभाव के कारण तीन प्रकार की होती हुई उस श्रद्धा को सुनो और उसको सुनकर स्वयं ही उनके देवभाव और असुरभाव का निश्चय करो -- यह अर्थ है ।।2।।

5 पूर्वजन्म की अन्तःकरणगत-वासनारूप निमित्त-कारण की विचित्रता से श्रद्धा की विचित्रता कहकर उसके उपादानकारण अन्तःकरण की विचित्रता से भी श्रद्धा की विचित्रता कहते हैं :--
[हे भारत ! सबकी श्रद्धा उनके सत्त्व -- अन्तःकरण के अनुरूप होती है । यह कर्माधिकारी पुरुष श्रद्धामय है, अतः जिसकी जो श्रद्धा है वह स्वयं भी वही है ।। 3 ।।]

6 'सत्त्व' प्रकाशशील होने के कारण सत्त्वप्रधान[9], त्रिगुण – त्रिगुणात्मक और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों[10] से आरब्ध – उत्पन्न अन्तःकरण है । वह कहीं उद्रिक्त -- उपचित -- बढे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- देवताओं का अन्तःकरण उपचित-सत्त्वगुणक होता है । कहीं रजोगुण से अभिभूत – दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- यक्षों का अन्तःकरण होता है । कहीं तमोगुण से अभिभूत -- दबे हुए सत्त्वगुणवाला होता है, जैसे -- प्रेत, भूतादि का होता है । मनुष्यों का अन्तःकरण तो प्रायः तीनों गुणों का मिश्रणरूप ही होता है । उसमें शास्त्रीय विवेकज्ञान से रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर-- दबाकर उपचित -- बढ़े हुए सत्त्वगुणवाला कर दिया जाता है । शास्त्रीय विवेकज्ञान से रहित सब प्राणिजात की सत्त्वानुरूपा -- अन्तःकरण के अनुरूप श्रद्धा होती है और वह अन्तःकरण की विचित्रता से विचित्र = तरह -- तरह की होती है । वह सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण में सात्त्विकी, रजोगुणप्रधान अन्तःकरण में राजसी और तमोगुणप्रधान अन्तःकरण में तामसी होती है । हे भारत[11] ! = हे महाकुलोत्पन्न, अथवा – 'भा' -- ज्ञान उसमें ' रत' -- निरत

---

9. 'सत्त्व' मात्र सत्त्वगुण का वाचक है, अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है -- मात्र सत्त्वात्मक नहीं है, तो फिर 'सत्त्व' से अन्तःकरण का बोधन कैसे होगा ? – इस जिज्ञासा से प्रकृत में कहा गया है – 'प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानम्' = यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है तथापि सत्त्वगुणप्रधान – परिणाम अन्तःकरण है, क्योंकि उसमें रजोगुण और तमोगुण स्वल्पमात्रा में रहते हैं, कारण कि वह प्रकाशशील होता है और 'प्रकाश' सत्त्वगुण का स्वरूप है, जैसा कि कहा है – ''सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' (सांख्यकारिका, 13) । अतः सत्त्वगुणप्रधान होने से 'सत्त्व' से अन्तःकरण का व्यवहार युक्त ही है ।

10. अन्तःकरण को पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न इसलिए कहा है कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उपभोग के योग्य नहीं होते हैं ।

11. तुम भरतवंश में उत्पन्न होने के कारण 'भारत' हो अर्थात् महाकुलोत्पन्न हो अतएव तुम वक्ष्यमाण विषय को अपनी निर्मलबुद्धि द्वारा अनायास ही समझ सकोगे, अथवा, तुम भा – तत्त्वज्ञान में रत – निरत हो अतएव तुम अपनी शुद्धिबुद्धि द्वारा उक्त विषय का अनायास ही अवधारण कर सकोगे – इसप्रकार उक्त सम्बोधन से अर्जुन की शुद्धसात्त्विकता अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणशीलता को सूचित किया है ।

रजस्तमसी अभिभूय क्रियते । शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन्राजसी, तमः प्रधाने तु तस्मिंस्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरतेति वा शुद्धसात्त्विकत्वं द्योतयति । यत्त्वया पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोत्तरं शृणु -- अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषस्त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिञ्श्रद्धा प्रकृतेति तत्प्रस्तु(क)तवचने मयट्, अन्नमयो यज्ञ इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धो सा सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राजसस्तामसो वा । श्रद्धयैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ 3 ॥

7 **श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति, केनोपायेन सा ज्ञायतामित्यपेक्षिते देवपूजादिकार्यलिङ्गेनानुमेयेत्याह--**

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4 ॥

8 **जनाः शास्त्रीयविवेकहीना ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान्वसुरुद्रादीन्सात्त्विकान्यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः । ये च यक्षान्कुबेरादीन्रक्षांसि च राक्षसान्निऋतिप्रभृतीन्राजसान्यजन्ते तेऽन्ये**

= ज्ञान में निरत-रत ! – यह सम्बोधन अर्जुन की शुद्धसात्त्विकता को सूचित करता है । तुमने जो पूछा कि उनकी निष्ठा क्या है -- उसका उत्तर सुनो :-- यह शास्त्रीय ज्ञान से शून्य और कर्म के अधिकारवाला पुरुष त्रिगुणमय अन्तःकरण से संपिण्डित -- संयुक्त श्रद्धामय होता है, क्योंकि इसमें श्रद्धा प्रचुरता से प्रस्तुत – विद्यमान रहती है, कारण कि 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) = 'प्रथमान्त शब्द से प्रचुरताबोधन में 'मयट्' प्रत्यय होता है' – इस सूत्र के अनुसार 'श्रद्धा' शब्द के साथ प्रचुरता अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर 'श्रद्धामय' शब्द निष्पन्न हुआ है, जैसे -- 'अन्नमयो यज्ञः' -- यहाँ 'अन्नप्रचुर यज्ञ होता है' -- यह अर्थ है । अतः जो जैसी श्रद्धावाला है अर्थात् जिसकी सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी जैसी श्रद्धा है वह वही है अर्थात् वह श्रद्धा के अनुसार ही सात्त्विक, राजस अथवा तामस होता है । इसप्रकार श्रद्धा से ही निष्ठा की व्याख्या हुई -- यह अभिप्राय है ॥ 3 ॥

7 श्रद्धा ज्ञात होने पर निष्ठा का ज्ञान करायेगी, तो वह श्रद्धा किस उपाय से जानी जाय ? -- इसकी अपेक्षा में 'देवपूजादिरूप कार्य -- लिङ्ग[12] से वह अनुमेय है' -- यह कहते हैं :--

[अन्य कोई सात्त्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, दूसरे राजस पुरुष यज्ञ और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य तामसजन प्रेत और भूतों की पूजा करते हैं ॥ 4 ॥]

8 जो शास्त्रीय विवेक से शून्य जन स्वाभाविकी श्रद्धा से सात्त्विक वसुरुद्रादि देवताओं का पूजन करते हैं वे दूसरे 'सात्त्विक' हैं -- यह समझना चाहिए । जो कुबेरादि यक्ष और निऋति आदि राक्षसों

12. 'लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' = जो लीन – अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध कराता है वह 'लिङ्ग' कहलाता है । व्याप्तिबल से जो अर्थ का बोधक होता है उसको 'लिङ्ग' कहते हैं (व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्) । लिङ्ग से अनुमिति हो उसको 'अनुमान' कहते हैं (लिङ्गेन अनुमीयते तदनुमानम्) । जैसे – धूम - लिङ्ग से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही प्रकृत में उक्त श्रद्धा – लिङ्ग से निष्ठा का अनुमान होता है और देवपूजादि – लिङ्ग से श्रद्धा का अनुमान होता है अतएव श्रद्धा – निष्ठा अनुमेय हैं ।

राजसा ज्ञेयाः । ये च प्रेतान्विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्ना उल्कामुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान्पिशाचविशेषान्वा, भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान्यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः । अन्य इति पदं त्रिष्वपि वैलक्षण्यद्योतनाय संबध्यते ॥ 4 ॥

9 **एवमनादृतशास्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्णीता । तत्र केचिद्राजसतामसा अपि प्राग्भवीयपुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते । ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरिपाकप्राप्तदुर्जनसङ्गादिदोषेण च राजसतामसतां न मुञ्चन्ति ते शास्त्रीयमार्गाद्भ्रष्टा असन्मार्गानुसरणेनेह लोके परत्र च दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम् –**

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ 5 ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ 6 ॥

10 **अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितमशास्त्रेण बुद्धाद्यागमेन बोधितं वा**

का यजन करते हैं वे दूसरे 'राजस' समझने चाहिए । जो प्रेतों = 'ब्राह्मणादि अपने धर्म में च्युत होकर देहपात के पश्चात् वायवीय देह धारण कर उल्का मुख-कटपूतनादि नामवाले प्रेत होते है[13]' -- इसप्रकार मनु द्वारा उक्त प्रेतों को अथवा पिशाच विशेषों को तथा भूतगण अर्थात् सप्तमातृकादि तामसी योनियों को पूजते हैं उनको दूसरे 'तामस' समझना चाहिए । यहाँ 'अन्य' – यह पद तीनों में विलक्षणता सूचित करने के लिए तीनों ही के साथ संम्बन्धित है ॥ 4 ॥

9 इसप्रकार शास्त्र का अनादर करनेवाले पुरुषों की सत्त्वादि निष्ठा कार्यों से निश्चित हुई । उनमें कोई राजस-- तामस भी अपने पूर्वजन्म के पुण्य का परिपाक होने से सात्त्विक होकर शास्त्रीय साधन -- कर्म के अधिकारी होते हैं । जो तो दुराग्रह से अथवा दुर्दैव के परिपाकवश प्राप्त हुए दुर्जनसङ्गादि दोष से राजसी-- तामसी भाव को नहीं छोड़ते हैं वे शास्त्रीयमार्ग से भ्रष्ट होकर असन्मार्ग का अनुसरण करने से इस लोक और परलोक में दु:ख के भागी ही होते हैं -- यह दो श्लोकों से कहते हैं :--

[जो मनुष्य शास्त्र द्वारा अविहित घोर तप तपते हैं, दम्भ और अहंकार से संयुक्त होते हैं तथा काम, राग और बल से अन्वित होते हैं । जो अविवेकीजन अपने शरीर में स्थित भूतग्राम और अन्तःशरीर में स्थित मुझको कृश करनेवाले हैं उनको तुम आसुरी निश्चयवाले जानो ॥ 5-6 ॥]

10 जो मनुष्य अशास्त्रविहित = शास्त्र अर्थात् वेदद्वारा प्रत्यक्ष या अनुमान से विधान न किये हुए[14],

---

13. "वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाकी च क्षत्रियः कटपूतनः॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः" ॥ (मनुस्मृति, 12.71-72)

"ब्राह्मण अपने कर्म से भ्रष्ट होने पर वमन खानेवाला 'उल्कामुख' नाम का प्रेत होता है और क्षत्रिय अपने धर्म-कर्म को छोड़ दे तो वह विष्ठा, मूर्दा खानेवाला 'कटपूटन' नामक प्रेत होता है । वैश्य अपना कर्म न करे तो वह जन्मान्तर में पीव खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिक' नामक प्रेत होता है और शूद्र अपने कर्म से भ्रष्ट हो तो वह चिल्लड़ खानेवाला 'चैलाशक' नामक प्रेत होता है ।"

घोरं परस्याऽऽत्मनः पीडाकरं तपस्तप्तशिलारोहणादि तप्यन्ते कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्वख्यापनमहंकारोऽहमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानस्ताभ्यां सम्यग्युक्ताः, योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन वियोगजननासामर्थ्यं कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिलाषः, रागः सदातदभिनिविष्टत्वरूपोऽभिष्वङ्गः, बलमवश्यमिदं साधयिष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा। अत एव बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तमानाः, कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तो वृथोपवासादिना शरीरस्थं भूतग्रामं देहेन्द्रियसंघाताकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायमचेतसो विवेकशून्याः, मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन कृशीकुर्वन्त एव, मामन्तर्यामित्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिभूतमीश्वरमाज्ञालङ्घनेन कर्शयन्त इति वा। तानैहिकसर्वभोगविमुखान्परत्र चाधमगतिभागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानासुरनिश्चयानासुरो विपर्यासरूपो वेदार्थविरोधी निश्चयो येषां तान्मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान्विद्धि जानीहि परिहरणाय। निश्चयस्याऽऽसुरत्वात्तत्पूर्विकाणां सर्वासामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम्। असुरत्वजातिरहितानां च मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानसुरान्विद्धीति साक्षान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् ॥ 5-6 ॥

अथवा -- अशास्त्र अर्थात् बुद्धादि के आगम द्वारा बोधित -- बताये हुए[15] घोर = दूसरों को और अपने को पीड़ा पहुँचानेवाले तप्तशिलारोहणादि तप तपते -- करते हैं। जो दम्भ = अपनी धार्मिकता को प्रकट करना और अहंकार = 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ' -- इसप्रकार का दुरभिमान – इन दोनों से संयुक्त = सम्यक् प्रकार से युक्त हैं। युक्त होने की सम्यक्ता अनायास वियोग उत्पन्न करने की असमर्थता है। काम = काम्यमान विषय में जो राग है उसके कारण जो बल = अत्यन्त उग्र दु:ख सहन करने का सामर्थ्य है उससे जो युक्त हैं। अथवा, काम = विषय में अभिलाषा, राग = सदा अभिलषित विषय में अभिनिवेश रखनारूप अभिष्वङ्ग – आसक्ति, तथा बल = 'मैं इसको अवश्य सिद्ध करूँगा' – ऐसा आग्रह – इनसे जो अन्वित = युक्त हैं। अतएव प्रबल दु:ख देखने पर भी पीछे न हटनेवाले शरीरस्थ भूतग्राम = देह और इन्द्रियों के संघातरूप में परिणत पृथ्वी आदि भूतसमुदाय को वृथा ही उपवासादि के द्वारा कृश करनेवाले हैं और अन्तःशरीरस्थ = अन्तःशरीर में भोक्तारूप से स्थित मुझको भोग्यरूप शरीर को कृश करने से कृश करनेवाले, अथवा – अन्तर्यामीरूप से शरीर के भीतर स्थित बुद्धि और उसकी वृत्तियों के साक्षीभूत मुझ ईश्वर को मेरी आज्ञा के उल्लंघन के द्वारा कृश करनेवाले हैं -- ऐसे ही जो अचेता = विवेकशून्य पुरुष हैं उनको = सब ऐहिक भोगों से विमुख और परलोक में अधमगति के भागी सब पुरुषार्थों से भ्रष्ट-- पतित

---

14. 'अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितम्' – यह अर्थ 'नञ्' – प्रसज्यप्रतिषेधार्थ है। प्रसज्यप्रतिषेध में प्रतिषेध की प्रधानता होती है और क्रिया के साथ 'नञ्' का सम्बन्ध होता है –

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥'

15. अशास्त्रविहितम् = शास्त्रं न भवतीत्यशास्त्रं तेन बुद्धाद्यागमेन बोधितम्' – यह अर्थ 'नञ्' पर्युदासार्थ है। पर्युदास में प्रतिषेध की प्रधानता नहीं रहती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर उत्तरपद के साथ होता है –

'प्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

11 ये सात्त्विकास्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ते विपर्यस्तत्वादसुरा इति स्थिते सात्त्विकाना-मादानाय राजसतामसानां हानाय चाऽऽहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह –

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।। 7 ।।

12 न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थ्या विधाया असंभवात् । यथा दृष्टार्थ आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञतपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि । तत्र ' यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्यागः' इति कल्पकारैर्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः । स च यजतिना जुहोतिना च चोदितत्वेन यागो होमश्चेति द्विविध उत्तिष्ठद्धोमा

हुए उन पुरुषों को आसुरी निश्चयवाले जानो = जिनका आसुर अर्थात् विपरीतभावनारूप वेदार्थविरोधी निश्चय है ऐसे उन पुरुषों को त्याग करने के लिए मनुष्यरूप से प्रतीयमान भी असुरों का सा कार्य करनेवाले होने से तुम असुर जानो । निश्चय के आसुरी होने से निश्चयपूर्विका सब अन्त:करण की वृत्तियाँ भी आसुरी होती हैं । अतएव असुरत्व जातिरहित मनुष्यों को कर्म से ही असुर होने के कारण असुर जानो, 'उनको तुम असुर जानो' -- इसप्रकार उनको साक्षात् रूप से असुर नहीं कहा गया है -- यह समझना चाहिए ।। 5-6]

11 जो सात्त्विक हैं वे देव हैं, जो तो राजस और तामस हैं वे विपरीतभावनावाले होने से असुर हैं -- इस स्थिति में सात्त्विकों के ग्रहण के लिए तथा राजस और तामस के त्याग के लिए आहार, यज्ञ, तप और दान -- इनकी त्रिविधता को कहते हैं :--

[सबका प्रिय आहार भी तीन प्रकार का होता है तथा यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं, उनके इस भेद को तुम सुनो ।। 7 ।।

12 न केवल श्रद्धा ही तीन प्रकार की होती है, अपितु सबका प्रिय आहार भी तीन प्रकार का ही होता है, क्योंकि सब त्रिगुणात्मक होने से चौथा प्रकार होना सम्भव नहीं है । जैसे क्षुधानिवृत्ति आदि दृष्ट प्रयोजनवाला आहार तीन प्रकार का होता है वैसे ही अदृष्ट प्रयोजनवाले यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं । उनमें 'यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यदेवतात्याग:' -- इसप्रकार कल्पसूत्रकारों ने देवता को उद्देश करके द्रव्यत्याग 'यज्ञ' है -- ऐसा कहा है । वह 'यजति' और 'जुहोति' से चोदित -- विहित होने के कारण याग और होम -- भेद से दो प्रकार का है । जिनमें खड़े होकर होम किया जाता है और अन्त में वष्ट्कार[16] का प्रयोग होता है तथा याज्यापुरोनुवाक्या [17] मन्त्रविशेष होते हैं वे 'याग' है तथा जिनमें बैठकर होम किया जाता है, अन्त में स्वाहाकार[18] का प्रयोग किया जाता है और याज्यापुरोनुवाक्या मन्त्रविशेष नहीं होते हैं वे 'होम' हैं -- इसप्रकार कल्पसूत्रकारों ने जिनकी व्याख्या की है वे यहाँ 'यज्ञ' शब्द से कहे गये हैं । 'तप' शरीर और इन्द्रियों को

16. 'स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषड्वौषड् वषट् स्वधा' (अमरकोश, 3.4.8) = 'स्वाहा, श्रौषट्, वौषट् वषट् और स्वधा – ये पाँच 'देवताओं को हविष्य देने में प्रयुक्त होते हैं' । जैसे – 'इदमिन्द्राय वषट्' -- इत्यादि ।

17. 'याज्या' संज्ञक मन्त्रों का उच्चारण यागानुष्ठान काल में किया जाता है । 'अनुवाक्या' संज्ञक मन्त्रों से देवता का आह्वान किया जाता है । 'सोमेन यजेत' इत्यादि वाक्य से विहित 'याग' है ।

18. 'स्वाहा' शब्द देवोद्देश्य से हविष्य देने में प्रयुक्त होता है, जैसे – 'अग्नये स्वाहा' । 'अग्निहोत्रं जुहोति' – इत्यादि वाक्य से विहित 'होम' है ।

वषट्कारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतय उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यारहिता जुहोतय इति कल्पकारैर्व्याख्यातो यज्ञशब्देनोक्तः । तपः कायेन्द्रिय-शोषणं कृच्छ्रचान्द्रायणादि । दानं परस्वत्वापत्तिफलकः स्वस्वत्वत्यागः । तेषामाहारयज्ञतपो-दानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्यायमानमिमं शृणु ॥ 7 ॥

13 **आहारयज्ञतपोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते । तत्राऽऽहारभेदस्त्रिभिः—**

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 8 ॥

14 **आयुश्चिरंजीवनं, सत्त्व चित्तधैर्यं बलवति दुःखेऽपि निर्विकारत्वापादकं, बलं शरीरसामर्थ्यं स्वोचिते कार्ये श्रमाभावप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादस्तृप्तिः, प्रीतिर्भोजन-कालेऽनभिरुचिराहित्यमिच्छौत्कट्यं तेषां विवर्धना विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्या आस्वाद्या**

सुखानेवाले कृच्छ्रचान्द्रायणादि हैं । 'दान' परकीय स्वत्वोत्पत्तिजनक स्वकीय स्वत्वत्याग है[19] । उन आहार, यज्ञ, तप और दान के सात्त्विक, राजस और तामस -- इन भेदों की मैं व्याख्या कर रहा हूँ, उसको सुनो ॥ 7 ॥

13 आहार, यज्ञ, तप और दान-- इनके भेद की व्याख्या की जाती है । उनमें आहार के भेद को तीन श्लोकों से कहते हैं:--

[जो आयु, सत्त्व-चित्तधैर्य, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने, शरीर में ठहरनेवाले और हृदयग्राही आहार हैं वे सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ 8 ॥]

14 आयु = चिरकाल तक जीवन रहना, सत्त्व = प्रबल दु:ख में भी निर्विकार रखनेवाला चित्त का धैर्य, बल = स्वोचित कार्य में श्रमाभाव का प्रयोजक शरीर का सामर्थ्य, आरोग्य = व्याधि का अभाव, सुख = भोजन के बाद आह्लाद -- प्रसन्नता और तृप्ति होना तथा प्रीति = भोजन के समय अरुचि का अभाव और भोजन करने की इच्छा की उत्कटता रहना है -- इन सबको विवर्धित करनेवाले = विशेषरूप से इन सबकी वृद्धि के हेतु; रस्य = आस्वाद्य अर्थात् मधुररसप्रधान, स्निग्ध = सहज -- स्वाभाविक अथवा आगन्तुक स्नेह[20] -- चिकनेपन से युक्त, स्थिर = रसादि अंशरूप से शरीर में चिरकाल तक ठहरनेवाले, हृद्य = हृदयंगम अर्थात् दुर्गन्ध, अशुचित्व -- अपवित्रता आदि दृष्ट और अदृष्ट दोषों से रहित[21] -- ऐसे चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं । इन लिङ्गों -- चिह्नों से आहार को सात्त्विक समझना चाहिए । सात्त्विकता चाहनेवाले पुरुषों को ये उक्त सात्त्विक आहार ही ग्राह्य हैं -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

---

19. जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त हो जाता है और दूसरे का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है वह 'दान' है – जैसे ब्राह्मण को गौ दान देना, इससे 'गौ' में दाता का स्वत्व निवृत्त होता है और ब्राह्मण का स्वत्व उत्पन्न होता है । जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त नहीं होता है और दूसरे का स्वत्व उत्पन्न होता है उसको 'उत्सर्ग' कहते हैं – जैसे – तडागोत्सर्गादि । जिस त्याग से अपना स्वत्व निवृत्त होता है और किसी का स्वत्व उत्पन्न नहीं होता है वह 'प्रक्षेप' कहा जाता है – जैसे – अरण्य में त्याग इत्यादि ।

20. 'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुण: स्नेह:' (तर्कसंग्रह) = 'जिसको पीसे हुए यव आदि चूर्ण में मिलाकर गोली बनाई जाय उसी गुण का नाम 'स्नेह' – चिकनाहट है । स्नेह केवल जल में ही स्वभाव से रहता है, अन्य में तो आगन्तुकरूप से रहता है ।

21. दुर्गन्ध दृष्टदोष है और अशुचित्व – अपवित्रता अदृष्टदोष है ।

मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनाऽऽगन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः, स्थिरा रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः, हृद्या हृदयंगमा दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोषशून्याः, आहाराश्चर्व्यचोष्य-लेह्यपेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः, एतैर्लिङ्गैः सात्त्विका ज्ञेयाः सात्त्विकत्वमभिलषद्भिश्चैत आदेया इत्यर्थः ॥ 8 ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ 9 ॥

15 **अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः कटुस्तिक्तः कटुरसस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात् । तत्रातिकटुर्निम्बादिः । अत्यम्लातिलवणात्युष्णाः प्रसिद्धाः । अतितीक्ष्णो मरीचादिः । अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रवादिः । अतिविदाही संतापको राजिकादिः । दुःखं तात्कालिकीं पीडां, शोकं पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयं रोगं च धातुवैषम्यद्वारा प्रददतीति तथाविधा आहारा राजसस्येष्टाः । एतैर्लिङ्गै राजसा ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैत उपेक्षणीया इत्यर्थः ॥ 9 ॥**

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ 10 ॥

16 **यातयाममर्धपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसपदेनोक्तत्वादिति भाष्यम् । गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कम् ।**

[अत्यन्त कटु – कड़वे, बहुत खट्टे, अतिलवणयुक्त, बहुत गर्म, अतितीक्ष्ण – अत्यन्त तीखे, बहुत सुखे और बहुत दाह पैदा करनेवाले तथा दु:ख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ 9 ॥]

15 'अति' शब्द कटु आदि सातों विशेषणों के साथ जोड़ना चाहिए । 'कटु' तिक्त -- तीखा है, क्योंकि कटुरस को 'तीक्ष्ण' शब्द से कह चुके हैं । उनमें अतिकटु निम्बादि हैं । अत्यन्त अम्ल -- खट्टे, अतिलवणयुक्त और अत्यन्त उष्ण पदार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं । अतितीक्ष्ण मिर्चादि, अत्यन्त रूक्ष – रूखे स्नेहरहित – चिकनाईरहित कङ्गु– ककुनी -- टांगुन, कोदो आदि, अत्यन्त विदाही -- संतापक – जलन पैदा करनेवाले राई आदि तथा जो तत्काल ही अर्थात् भोजन के समय में ही दु:ख--पीड़ा-प्रद हैं, जो भोजन के बाद शोक -- दौर्मनस्य -- चित्त को अप्रसन्नता दें और जो आमय अर्थात् वात, पित्त और कफ -- इन धातुओं की विषमता द्वारा रोग देते हैं -- ऐसे आहार – भोजन के पदार्थ राजस पुरुषों को इष्ट -- प्रिय होते हैं । इन लिङ्गों – चिह्नों से राजस आहार को समझना चाहिए । ये आहार सात्त्विक पुरुषों द्वारा उपेक्षणीय हैं -- यह अर्थ है ॥ 9 ॥

[जो यातयाम -- आधा पका हुआ, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित -- वासी, उच्छिष्ट -- जूठा और अमेध्य – अपवित्र हो वह भोजन तामस पुरुषों को प्रिय होता है ॥ 10 ॥]

16 यातयाम = अर्धपक्व -- आधा पका हुआ, क्योंकि निर्वीर्य पदार्थ 'गतरस' शब्द से कहा गया है -- यह भाष्य है । गतरस = विरसता को प्राप्त अर्थात् सूखा हुआ । यातयाम[22] = पकाने के बाद

---

22. 'यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेः तद्यातयाममिति' – इसप्रकार श्रीधरस्वामी ने 'यातयाम' का जो अर्थ किया है वह तो पाकानन्तर – पकने के बाद कुछ समय के अतिक्रमण से निर्वीर्यता को प्राप्त अन्न को दृष्टि में रखकर कहा है, न कि याममात्र के अतिक्रमण से ऐसा कहा है, अतएव उसमें 'अयातयामत्व' प्राप्त होता है जो कि वेदों का भी विशेषण कहा जाता है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने उक्त अर्थ नहीं किया है, फलतः यह अर्थ अग्राह्य है ।

यातयामं पक्कं सत्प्रहरादिव्यवहितमोदनादि शैत्यं प्राप्तं, गतरसमुद्धृतसारं मथितदुग्धादीत्यन्ये । पूति दुर्गन्धम् । पर्युषितं पक्कं सद्रात्र्यन्तरितम् । चेन तत्कालोन्मादकरं धत्तूरादि समुच्चीयते । यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेनोच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् । अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि । अपि चेति वैद्यकशास्त्रोक्तमपथ्यं समुच्चीयते । एतादृशं यद्भोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरतिदूरादुपेक्षणीयमित्यर्थः । एतादृशभोजनस्य दुःखशोकामयप्रदत्वमतिप्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम् ।

17 अत्र च क्रमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः, कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारवर्गत्रयम् । तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये द्रष्टव्यम् । तथा ह्यतिकटुत्वादिकं रस्यत्वविरोधि तादृशस्यानास्वाद्यत्वात् । रूक्षत्वं स्निग्धत्वविरोधि । तीक्ष्णत्वविदाहित्वे धातुपोषणविरोधित्वात्स्थिरत्वविरोधिनी । अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि । आमयप्रदत्वमायुःसत्त्वबलारोग्यविरोधि । दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधी । एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम् । तथा तामसवर्गेऽपि गतरसत्वयातयामत्वपर्युषितत्वानि यथासंभवं रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वविरोधीनि । पूतित्वोच्छिष्टत्वामेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि । आयुःसत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव । राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं तामसवर्गे तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः ॥ 10 ॥

एक प्रहर = दिन का आठवाँ भाग अर्थात् तीन घण्टे का समय बीतने पर ठंडा हुआ भात आदि, गतरस = सार निकला हुआ, जैसे – मथित दूध आदि –ऐसा अन्य कहते हैं । पूति[23] =दुर्गन्धयुक्त, पयुर्षित = पकाने के बाद एक रात बीता हुआ अर्थात् वासी । 'च' शब्द से तत्काल उन्माद पैदा करनेवाले धतूरादि पदार्थों का समुच्चय किया गया है । जो दूषित होने से अत्यन्त प्रसिद्ध है उच्छिष्ट = खाने पर बचा हुआ अन्न अर्थात् जूठा, अमेध्य = यज्ञ के अयोग्य अपवित्र मांसादि । 'अपि च' -- इन पदों से वैद्यक शास्त्रोक्त अपथ्य पदार्थों को सम्मिलित किया गया है । ऐसा जो भोजन = भोज्य पदार्थ है वह तामस पुरुषों को प्रिय होता है । सात्त्विकों के द्वारा यह अत्यन्त दूर ही से उपेक्षणीय है -- यह अर्थ है । ऐसे भोजन का दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करना तो अत्यन्त प्रसिद्ध है – अत: कण्ठ – मुख से नहीं कहा गया है ।

17 यहाँ क्रम से रस्यादि वर्ग सात्त्विक है, कटु आदि वर्ग राजस है और यातयामादि वर्ग तामस है – इसप्रकार आहार के तीनों वर्गों को कहा गया है । इसमें सात्त्विकवर्ग-विरोधित्व अन्य दो – राजस और तामस -- वर्गों में समझना चाहिए । जैसे -- अतिकटुत्वादि रस्यत्व के विरोधी हैं, क्योंकि वैसे पदार्थ आस्वाद्य -- आस्वादयोग्य नहीं होते हैं । रूक्षत्व स्निग्धत्व का विरोधी है। तीक्ष्णत्व और विदाहित्व धातुपोषण के विरोधी होने से स्थिरत्व के विरोधी हैं । अतिउष्णत्वादि हृद्यत्व के विरोधी हैं । आमयप्रदत्व आयु, सत्त्व, बल, और आरोग्य का विरोधी है । दुःख और शोकप्रदत्व क्रमशः सुख और प्रीति के विरोधी हैं । इसप्रकार सात्त्विकवर्गविरोधित्व राजसवर्ग में स्पष्ट है । इसीप्रकार तामसवर्ग में भी गतरसत्व, यातयामत्व और पर्युषितत्व -- ये यथासम्भव रस्यत्व, स्निग्धत्व और स्थिरत्व के विरोधी हैं । पूतित्व, उच्छिष्टत्व और अमेध्यत्व हृद्यत्व के विरोधी हैं । इनका आयुसत्त्वादिविरोधित्व तो स्पष्ट ही है । राजसवर्ग में दृष्टविरोधमात्र है, तामसवर्ग में तो दृष्ट और अदृष्ट -- दोनों प्रकार का विरोध है -- यही दोनों में अतिशय – विशेष -- भेद है ॥ 10 ॥

---

23. 'पूतिगन्धिस्तु दुर्गन्धः' (अमरकोश, 1.5.12) -- इस कोश के अनुसार 'पूति' शब्द पवित्रवाची नहीं है, दुर्गन्धवाची है । पुनश्च, 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च' (भ्वादिगण, 325), पूय्यते, पूतिः =पूतिर्दुष्टो गन्धोऽस्य' – इसप्रकार निरुक्ति करने पर धात्वर्थानुसार भी 'पूति' शब्द दुर्गन्धवाची है ।

18 इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह त्रिभिः-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ 11 ॥

19 अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुबन्धज्योतिष्टोमादिर्यज्ञो द्विविधः काम्यो नित्यश्च । फलसंयोगेन चोदितः काम्यः सर्वाङ्गोपसंहारेणैव मुख्यकल्पेनानुष्ठेयः । फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे प्रतिनिध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्टव्यमेव प्रत्यवायपरिहाराया-ऽऽवश्यकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय निश्चित्याफलाकाङ्क्षिभिरन्तःकरणशुद्ध्यर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यते-ऽनुष्ठीयते स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विको ज्ञेयः ॥ 11 ॥

---

18 अब क्रम से प्राप्त तीन प्रकार के यज्ञ को तीन श्लोकों से कहते हैं :-
['यज्ञ करना ही चाहिए' – इसप्रकार मन में निश्चय करके फलाकांक्षाशून्य पुरुषों द्वारा शास्त्रविधि के अनुसार निश्चित जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है ॥ 11 ॥]

19 अग्निहोत्र[24], दर्शपूर्णमास[25], चातुर्मास्य[26], पशुबन्ध[27], ज्योतिष्टोम[28] आदि यज्ञ दो प्रकार के हैं – काम्य और नित्य । जिसका फल के संयोग के साथ विधान किया जाता है उसको 'काम्य' कहते हैं, यह सब अंगों के उपसंहारपूर्वक मुख्य कल्प-विधि से अनुष्ठेय – अनुष्ठान के योग्य होता है[29] । जिसका फल के संयोग के बिना जीवनादिनिमित्तसंयोग से विधान किया जाता है उसको 'नित्य' कहते हैं[30], यह सब अङ्गों का उपसंहार संभव न होने पर प्रतिनिधि आदि को लेकर अमुख्य – गौण कल्प से भी

---

24. 'अग्निहोत्र' दैनिक यज्ञ है । यह दो प्रकार का होता है – एक महीने की अवधि तक करने योग्य और दूसरा जीवनपर्यन्त साध्य ।

25. अग्न्याधान के पश्चात् प्रथम अमावस्या को 'दर्श' और पूर्णिमा को 'पौर्णमास' यज्ञ का विधान होता है । 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ भी जीवनपर्यन्त साध्य होता है ।

26. 'चातुर्मास्य' यज्ञ प्रत्येक ग्रीष्म, वर्षा और शरदृतु में होता है । इन प्रत्येक का समय चार-चार मास का होता हैं, अतएव ये यज्ञ चार महीनों के अन्तर पर किये जाते हैं, इसीलिए इनको 'चातुर्मास्य' यज्ञ कहते हैं । प्रथम 'वैश्वदेव' फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय 'वरुण-प्रघास' आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तृतीय 'शाकमेध' कार्तिकी पूर्णिमा को किया जाता है ।

27. 'पशुबन्ध' एक स्वतंत्र यज्ञ है । इसका सम्पादन सोमयज्ञों में होता है अतएव यह उनका एक अभिन्न अंग कहा जाता है । स्वतंत्र पशुयज्ञ को 'निरूढपशुबन्ध' भी कहा जाता है तथा अन्य गौण पशुयज्ञों को 'सौमिक' कहा जाता है ।

28. स्वर्ग की कामना से 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ का विधान है । 'अग्निष्टोम' ज्योतिष्टोम यज्ञ का विस्तार है । 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ में बहुधा पाँच दिन लगते हैं । प्रकृत में यज्ञों का क्रम जैमिनिमतानुसार है । जैमिनि के अनुसार अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध यज्ञ सम्पादित करने के उपरान्त ही 'ज्योतिष्टोम' सोमयज्ञ करने का विधान है (द्रष्टव्य – मीमांसादर्शन, 4.3.37) ।

29. स्वर्गादि फल की कामना से किया गया यज्ञ 'काम्य' होता है अतएव फलवद्वाक्य से विहित 'काम्य' यज्ञ होता है, जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:', 'उद्भिदा यजेत पशुकाम:' इत्यादि । यह सब अङ्गों के साथ मुख्य कल्प से अनुष्ठेय है, अन्यथा किसी अङ्ग के वैगुण्य से यज्ञ ही विगुण हो जायेगा और उसके करने से भी कोई फल प्राप्त नहीं होगा, अत: यह यथाविधि अनुष्ठेय है ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ 12 ॥

20 **फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसंधायोद्दिश्य न त्वन्तःकरणशुद्धिं, तुर्नित्यप्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थः । दम्भो लोके धार्मिकत्वख्यापनं तदर्थम् । अपि चैवेति विकल्पसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्यसूचनार्थम् । पारलौकिकं फलमभिसंधायैवादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलानभिसंधानेऽपि दम्भार्थमेवेति विकल्पेन द्वौ पक्षौ । पारलौकिकफलार्थमप्यैहलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनैकः पक्षः । एवं दृष्टादृष्टफलाभिसंधिनाऽन्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य यदिज्यते यथाशास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि हानाय, हे भरतश्रेष्ठेति योग्यत्वसूचनम् ॥ 12 ॥**

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ 13 ॥

अनुष्ठेय -- अनुष्ठान के योग्य होता है । इसमें सब अंगों का उपसंहार सम्भव न होने पर भी प्रतिनिधि को लेकर अवश्य याग करना ही चाहिए, क्योंकि यह प्रत्यवाय के परिहार के लिए आवश्यक जीवनादिनिमित्त से विहित होता है – इसप्रकार मन में समाधान = निश्चय करके फलाकांक्षा से रहित – अन्तःकरणशुद्धि की इच्छा से काम्यप्रयोग से विमुख पुरुषों द्वारा विधिदृष्ट -- शास्त्रविधि के अनुसार निश्चित जो यज्ञ किया जाता है – जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है वह शास्त्रानुसार अन्तःकरणशुद्धि के लिए अनुष्ठीयमान--क्रियमाण नित्य प्रयोग सात्त्विक है – यह समझना चाहिए ।। 11 ।।

[हे भरतश्रेष्ठ ! जो यज्ञ फल को उद्देश्य करके और दम्भ के लिए भी किया जाता है उस यज्ञ को तुम राजस समझो ।। 12 ।।]

20 स्वर्गादि काम्य फल को अभिसंधाय = उद्देश्य बनाकर, अन्तःकरणशुद्धि को नहीं, यहाँ 'तु' शब्द नित्य यज्ञ के प्रयोग से विलक्षणता सूचित करने के लिए है, और दम्भ = लोक में धार्मिकताख्यापन के लिए भी, यहाँ 'अपि चैव' -- ये पद विकल्प और समुच्चय के द्वारा त्रिविधता सूचित करने के लिए है -- दम्भ के लिए न होने पर भी पारलौकिक फल को लक्ष्य करके ही तथा पारलौकिक फल को लक्ष्य न करके भी दम्भ के लिए ही -- इसप्रकार विकल्प से दो पक्ष हैं ; पारलौकिक फल के लिए भी और ऐहलौकिक दम्भ के लिए भी -- इसप्रकार समुच्चय से एक पक्ष है । इसप्रकार दृष्ट और अदृष्ट फल की इच्छा से, अन्तःकरणशुद्धि को उद्देश्य न कर जो यजन किया जाता है अर्थात् शास्त्रानुसार जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है उस यज्ञ को तुम त्याग के लिए राजस समझो । हे भरतश्रेष्ठ[31] !-- इस सम्बोधन से अर्जुन में ज्ञानयोग्यता सूचित की गई है ।। 12 ।।

[जो यज्ञ विधिहीन, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाशून्य और श्रद्धारहित होता है उसको शिष्टजन तामस कहते हैं ।। 13 ।।]

---

30. 'नित्य' यज्ञ में फल की कामना नहीं रहती है अतएव इससे सम्बद्ध विधिवाक्य में फल का निर्देश नहीं होता है, किन्तु जीवनादिनिमित्तसंयोग रहता है, जैसे – 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्', 'यावज्जीवमधीयीत' इत्यादि ।

31. हे भरतश्रेष्ठ ! यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि अर्जुन ! तुम्हारी राजसयज्ञ में योग्यता नहीं है ।

21 **यथाशास्त्रबोधितविपरीतमन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं यथोक्तदक्षिणाहीनमृत्विग्द्वेषादिना श्रद्धारहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः । विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविध इति षट् । द्वित्रिचतुर्विशेषणसमुच्चयेन च बहवो भेदास्तामसयज्ञस्य ज्ञेयाः । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्ध्यभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमनुष्ठानात् । तामसे त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न किमप्यपूर्वमस्तीत्यतिशयः ॥ 13 ॥**

22 **क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं कथयितुं शारीरवाचिकमानसभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः--**

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ 14 ॥

23 **देवा ब्रह्माविष्णुशिवसूर्याग्निदुर्गादयः, द्विजा द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः, गुरवः पितृमात्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिता विदितवेदतदुपकरणार्थाः, तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि यथाशास्त्रं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमकौटिल्यं भावसंशुद्धिशब्देन मानसे तपसि वक्ष्यति । शारीरं त्वार्जवं**

---

21 शास्त्र से जैसे विहित है उससे विपरीत, अन्नदानहीन, स्वर और वर्ण द्वारा मन्त्रहीन, शास्त्र से जैसी दक्षिणा विहित है उस शास्त्रोक्त दक्षिणा से हीन, ऋत्विगों से द्वेषादि होने के कारण श्रद्धारहित यज्ञ को शिष्टजन तामस यज्ञ कहते हैं । विधिहीनत्वादि एक-एक विशेषण से तामस यज्ञ पाँच प्रकार का है और सब विशेषणों के समुच्चय से एक प्रकार का है – इसप्रकार तामस यज्ञ छः प्रकार का है । तथा दो, तीन या चार विशेषणों के समुच्चय से तामस यज्ञ के बहुत भेद समझने चाहिए । राजस यज्ञ में अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर भी उसका फलोत्पादक अपूर्व -- अदृष्ट होता है, क्योंकि उसका शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है । तामस यज्ञ में तो शास्त्रविधि के विपरीत अनुष्ठान होने से कुछ भी अपूर्व – अदृष्ट नहीं रहता है – यही दोनों में भेद है ॥ 13 ॥

22 क्रमप्राप्त तप के सात्त्विकादि भेद कहने के लिए शारीर, वाचिक और मानसिक भेद से उसकी त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैं:--

[देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ -- विद्वान् का पूजन, शौच -- पवित्रता, आर्जव -- सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा – यह 'शारीर' तप कहा जाता है ॥ 14 ॥]

23 देवता = ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, दुर्गा आदि; द्विज[32] = द्विजों में उत्तम ब्राह्मण; गुरु = पिता, माता, आचार्य आदि; प्राज्ञ = पण्डित[33] अर्थात् वेद और उसके उपकरणभूत स्मृति आदि के अर्थ को जाननेवाले -- इन सबका पूजन अर्थात् शास्त्रानुसार प्रणाम, शुश्रूषादि; शौच = मिट्टी और जल से शरीरशोधन, आर्जव = अकुटिलता -- सरलता -- इसको 'भावसंशुद्धि' शब्द से मानस तप में कहा जायेगा; शारीर आर्जव तो विधि और निषेध में एकरूप -- समानरूप से प्रवृत्ति और निवृत्तियुक्त होना है; ब्रह्मचर्य = निषिद्ध मैथुन -- स्त्रीप्रसङ्ग से निवृत्ति -- दूर रहना; अहिंसा =अशास्त्रीय

---

32. द्विजः = द्विर्जायते इति । जन् + डः (अन्येष्वपि – पाणिनिसूत्र, 3.2.101) । 'द्विजः स्याद् ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु...' -- इस मेदिनी कोश के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – द्विज हैं, इन द्विजों में उत्तम द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ।

33. पण्डितः = पण्डा = वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः, सा संजाता अस्य । पण्डा + इतच् (तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् – पाणिनिसूत्र, 5.2.36) ।

विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिशालित्वं, ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः। अहिंसाऽशास्त्रीयप्राणिपीडनाभावः। चकारादस्तेयापरिग्रहावपि। शारीरं शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं न तु केवलेन शरीरेण। पञ्चैते तस्य हेतव इति हि वक्ष्यति। इत्थं शारीरं तप उच्यते॥ 14॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ 15॥

24 **अनुद्वेगकरं न कस्यचिद्दुःखकरं, सत्यं प्रमाणमूलमबाधितार्थं, प्रियं श्रोतुस्तत्कालश्रुतिसुखं हितं परिणामे सुखकरम्। चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः। अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं न त्वेकेनापि विशेषणेन न्यूनं, यद्वाक्यं यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यतीत्यादि तद्वाङ्मयं वाचिकं तपः शारीरवत्, स्वाध्यायाभ्यसनं च यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं तप उच्यते। एवकारः प्राग्विशेषणसमुच्चयावधारणे व्याख्यातव्यः॥ 15॥**

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ 16॥

– शास्त्रविहित हिंसा से अतिरिक्त प्राणीपीडन – प्राणीहिंसा का अभाव, चकार से अस्तेय और अपरिग्रह – इन दोंनो का भी ग्रहण है। शारीर = शरीरप्रधान कर्ता आदि से साध्य, केवल शरीर से नहीं, जो है वह 'शारीर' यहाँ विवक्षित है। यह 'पञ्चैते तस्य हेतवः' (गीता, 18.14-15) इन श्लोकों से कहेंगे। इसप्रकार 'शारीर' तप कहा जाता है॥ 14॥

[जो उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य है और जो स्वाध्याय का अभ्यास करना है वह 'वाङ्मय' तप कहा जाता है॥ 15॥]

24 अनुद्वेगकर = किसी को भी दुःख न देनेवाला, सत्य = प्रमाणमूलक – प्रामाणिक अर्थात् अबाधित = जिसका अर्थ प्रमाणों से बाधित न हो, प्रिय = श्रोता को तत्काल श्रुतिसुख = श्रवणसुख = सुनने में सुख देनेवाला और हित = हितकारी – परिणाम में सुखकारी – सुख देनेवाला, यहाँ चकार विशेषणों के समुच्चय के लिए है। इन अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणों से विशिष्ट, न कि एक भी विशेषण से न्यून, जो वाक्य है, जैसे – 'वत्स! शान्त रहो, स्वाध्याय और योग का अनुष्ठान करो, इसप्रकार तुम्हारा श्रेय -- कल्याण होगा' – इत्यादि जो वाक्य है वह 'वाङ्मय' = वाचिक तप शारीर तप के समान है। तथा जो स्वाध्याय का अभ्यास अर्थात् यथाविधि[34] – विधिपूर्वक वेदों का अभ्यास है वह 'वाङ्मय[35]' तप कहा जाता है। एवकार[36] की पूर्व में विशेषणों के समुच्यय का निश्चय करने में व्याख्या की गई है[37]॥ 15॥

34. 'यथाविधि' पद के 'यथा' अव्यय का 'पदार्थानतिक्रम' अर्थ करके 'यथाविधि' का अर्थ है :-- प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानमनतिक्रम्य = प्राङ्मुख पवित्रपाणित्वादि विधान का अतिक्रमण न करके अर्थात् विधि के अनुसार = जैसी विधि है उसके अनुसार – विधिपूर्वक (भाष्य – आनन्दगिरिव्याख्या – भाष्योत्कर्षदीपिका)।

35. 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पाणिनिसूत्र, 5.4.21) – इस सूत्र के अनुसार 'वाङ्मयम् = वाक्प्राचुर्येण प्रस्तुतास्मिन्निति वाङ्मयम्' = जिसमें वाणी की प्रचुरता प्रस्तुत – विद्यमान हो वह 'वाङ्मय' है अर्थात् वाक्प्रधान 'वाङ्मय' है।

36. यहाँ श्लोकस्थ 'चैव' अर्थात् 'च' शब्द के साथ 'एव' शब्द निश्चय करने के अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् अनुद्वेगकरत्वादि चारों विशेषणों से युक्त वाक्य और स्वाध्यायाभ्यास = यथाविधि वेदाभ्यास भी 'वाङ्मय' तप है (भाष्य–आनन्दगिरिव्याख्या – भाष्योत्कर्षदीपिका)।

25 मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यं, सौम्यत्वं सौमनस्यं सर्वलोकहितैषित्वं प्रतिषिद्धाचिन्तनं च, मौनं मुनिभाव एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यं, वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरोधसमाधिरसंप्रज्ञातः । भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः । परैः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेति भाष्यम् । इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ 16 ॥

26 शारीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति त्रिभिः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ 17 ॥

27 तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शारीरं वाचिकं मानसं च तपः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टयाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यया फलाभिसंधिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैर्नैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥ 17 ॥

[मन की स्वच्छता, सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह -- मनोनिग्रह और भावसंशुद्धि -- हृदयशुद्धि – इसप्रकार यह तप 'मानस' कहा जाता है ॥ 16 ॥]

25 मन:प्रसाद = मन का प्रसाद – स्वच्छता अर्थात् विषयचिन्ता की व्याकुलता से रहित होना; सौम्यत्व -- सौम्यता = सौमनस्य – सुन्दर मनवाला होना = सब लोकों -- प्राणियों का हितैषी होना और प्रतिषिद्ध विषयों का चिन्तन न करना; मौन = मुनिभाव -- एकाग्रतापूर्वक निदिध्यासनस्वरूप आत्मचिन्तन करना = वाक्संयम का हेतुभूत मन का संयम 'मौन[38]' है -- यह भाष्य है; आत्मविनिग्रह[39] = आत्मा -- मन की विशेषरूप से सब वृत्तियों का निग्रह -- निरोध अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि; भावसंशुद्धि = भाव -- हृदय की शुद्धि -- काम, क्रोध, लोभादि मलों की निवृत्ति पुनः अशुद्धि की उत्पत्ति से रहित होने के कारण सम्यक्ता से विशिष्ट होती है वह 'भावसंशुद्धि' है अतएव भाष्यकार ने कहा है -- दूसरों के साथ व्यवहार करते समय कपटरहित होना 'भावसंशुद्धि' है -- यह भाष्य है – इसप्रकार यह तप 'मानस' कहा जाता है ॥ 16 ॥

26 अब शारीर, वाचिक और मानस भेद से तीन प्रकार के उक्त तप की सात्त्विकादि भेद से त्रिविधता तीन श्लोकों से दिखाते हैं:--

[फल की आकांक्षा से रहित योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से तपे हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को 'सात्त्विक' कहते हैं ॥ 17 ॥]

27 उस पूर्वोक्त शारीर, वाचिक और मानस -- तीन प्रकार के तप को परम = प्रकृष्ट अर्थात् अप्रामाण्यरूप शंका के कलङ्क से शून्य श्रद्धा = आस्तिक्य बुद्धि से फलाभिसन्धिशून्य युक्त = समाहित अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहनेवाले अधिकारी पुरुषों द्वारा तप्त -- अनुष्ठित होने पर शिष्टजन 'सात्त्विक' कहते हैं ॥ 17 ॥

37. यहाँ 'व्याख्यात:' पाठ उचित है ।

38. आनन्दगिरि के अनुसार 'मौन' का अर्थ मनन है ।

39. विशेषभाव से वाक्विषयक मन का संयम 'मौन' है और सामान्यभाव से सर्वत: मनोनिरोध 'आत्मविनिग्रह' है – यह दोनों के अर्थ में भेद है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ 18 ॥

28 सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः, पूजा पादप्रक्षालनार्चनधनदानादिः, तदर्थं दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्वेनैव च न त्वास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते तद्राजसं प्रोक्तं शिष्टैः; इहास्मिन्नेवलोके फलदं न पारलौकिकं, चलमत्यल्पकालस्थायिफलम्, अध्रुवं फलजनकतानियमशून्यम् ॥ 18 ॥

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 19 ॥

29 मूढग्राहेणाविवेकातिशयकृतेन दुराग्रहेणाऽऽत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वाऽन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं वा तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ 19 ॥

30 इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ 20 ॥

31 दातव्यमेव शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन न तु फलाभिसंधिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयते-

[जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया जाता है वह 'राजस' कहा जाता है । वह ऐहिक, चल और अध्रुव होता है ॥ 18 ॥]

28 सत्कार = 'यह तपस्वी ब्राह्मण साधु है' – इसप्रकार अविवेकियों द्वारा की जानेवाली स्तुति; मान = प्रत्युत्थान – देखकर खड़ा होना, अभिवादन -- प्रणाम करना आदि; पूजा = पादप्रक्षालन – चरण धोना, अर्चन– पूजन करना, धनदान आदि – इनके लिए और दम्भ से ही = केवल धर्मध्वजित्व से ही, आस्तिक्य बुद्धि से नहीं, जो तप किया जाता है वह शिष्टजनों द्वारा 'राजस' कहा जाता है । वह इह -- इस लोक में ही फल देनेवाला होता है, पारलौकिक नहीं, तथा चल = अत्यन्त अल्पकालस्थायी फलवाला होता है और अध्रुव = फलजनकता के नियम से शून्य होता है ॥ 18 ॥

[जो तप मूढ़तापूर्वक दुराग्रह से देह और इन्द्रियों के संघात को पीडित करने के लिए अथवा दूसरों का नाश करने के लिए किया जाता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 19 ॥]

29 मूढग्राह[40] से = अविवेकातिशयप्रयुक्त दुराग्रह से आत्मा = देह और इन्द्रियों के संघात की पीडा के लिए जो तप किया जाता है, अथवा – जो दूसरों के उत्सादन = विनाश के लिए अभिचार[41]रूप तप किया जाता है वह शिष्टपुरुषों द्वारा 'तामस' कहा गया है ॥ 19 ॥

30 अब क्रमप्राप्त दान की त्रिविधता को तीन श्लोकों से दिखलाते हैं :--

['देना चाहिए'-- इस भाव से जो दान उचित देश और काल में प्रत्युपकार न करनेवाले पात्र को दिया जाता वह दान 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 20 ॥]

40. अत्यन्त अविवेकी पुरुष 'मूढ़' होता है ।
41. मारण, उचाटन, वशीकरण आदि 'अभिचार' हैं ।

ऽनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ काले च पुण्ये सूर्योपरागादौ। पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय। पात्रे रक्षकायेति वा। विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात्। तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ 20 ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ 21 ॥

32 प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविलक्षणं दीयते परिक्लिष्टं न कथमेतावद्व्ययितमितिपश्चात्तापयुक्तं यथा भवत्येवं च यद्दीयते तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ 21 ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥

---

31 'शास्त्रविधि के कारण देना ही चाहिए' – इसप्रकार के निश्चय से, फलाभिसन्धि से नहीं, जो तुलापुरुषादि दान अनुपकारी = प्रत्युपकार न करनेवाले पात्र को कुरुक्षेत्रादि पुण्य – पवित्र देश में और सूर्यग्रहणादि पुण्य – पवित्र काल में दिया जाता है। यहाँ 'पात्रे च' –इसमें सप्तमी चतुर्थी के अर्थ में है। कैसे अनुपकारी को दान दिया जाता है – पात्र को अर्थात् विद्यायुक्त – विद्वान् तपोयुक्त – तपस्वी = विद्वान् तपस्वी को अर्थात् अनुपकारी और विद्वान् तपस्वी को दान दिया जाता है, अथवा -- 'पाति रक्षति इति पाता तस्मै पात्रे[42]' = पात्र = रक्षक को दिया जाता है, क्योंकि 'विद्या और तप से अपनी और दाता की रक्षा करने में समर्थ ही प्रतिग्रह दान ले' – इसप्रकार शास्त्र की विधि है। वह एवंभूत दान 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 20 ॥

[जो दान क्लेशपूर्वक प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल के उद्देश्य से दिया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 21 ॥]

32 प्रत्युपकार के प्रयोजन से = 'कालान्तर में यह मेरा उपकार करेगा'– इसप्रकार दृष्ट प्रयोजन से अथवा अदृष्ट स्वर्गादि फल के उद्देश्य से जो पुन: सात्त्विक से विलक्षण दान परिक्लिष्टता से = 'इतना व्यय क्यों किया' – इसप्रकार के पश्चात्ताप से दिया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 21 ॥

[जो दान अपवित्र देश और काल में अपात्रों को दिया जाता है तथा जो असत्कार और पात्र के प्रति तिरस्कारयुक्त होता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥]

---

42. 'पा रक्षणे' (अदादिगण 49) – इसके अनुसार 'पा' धातु से 'तृच्' प्रत्यय होकर 'पातृ' शब्द निष्पन्न होने पर 'पात्रे' शब्दरूप चतुर्थी का ही है। किन्तु धनपति के अनुसार उक्त कल्पना व्यर्थ ही है, कारण कि श्लोकस्थ प्रथम 'दानम्' शब्द रूप कर्मकारक द्वितीया विभक्ति का है अतएव वह देयवस्तुपरक है, 'पात्रे च' – इनमें चकार भावव्युत्पत्ति से समर्पणपरक है, इसलिए जो देयद्रव्यवाची द्वितीयान्त 'दान' शब्द है उसके संयोग से संप्रदान में चतुर्थी की अपेक्षा है, किन्तु श्लोकस्थ द्वितीय 'दानम्' शब्दरूप प्रथमान्त है और त्यागवाची है, इसलिए वहाँ पात्रभूत पुरुष में चतुर्थी की अपेक्षा नहीं है; 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.32) = 'दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसको उद्देश्य बनाता है उसकी 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है' -- यह 'संप्रदान' संज्ञा यहाँ कर्मविभक्ति के अभाव से प्रवृत्त नहीं हो रही है, अत: इससे 'पात्रे च' -- इसमें सप्तमी चतुर्थी के अर्थ में है।

33 **अदेशे स्वतो दुर्जनसंसर्गाद्वा पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रसिद्धे यस्मिन्कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च विद्यातपोरहितेभ्यो नटविटादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥**

34 **तदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम् । तत्राऽऽहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन फलाभावशङ्का । यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यादपूर्वानुत्पत्तौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि तेषामानर्थक्यं प्राप्तं प्रमादबहुलत्वादनुष्ठातृणामतस्तद्वैगुण्यपरिहारायोंतत्सदितिभगवन्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रायश्चित्तं परमकारुणिकतयोपदिशति भगवान् –**

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ 23 ॥

35 **ॐतत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दो नामेति यावत् । त्रिविधस्तिस्रो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतो वेदान्तविद्भिः । एकवचनात्त्र्यवयवमेकं नाम प्रणववत् । यस्मात्पूर्वैर्महर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानींतनैरपि**

---

33 अदेश में = स्वतः – स्वभावतः अथवा दुर्जनों के संसर्ग से पाप के हेतुभूत अपवित्र स्थान में और अकाल में = पुण्य के हेतुरूप से अप्रसिद्ध जिस - किसी काल में अथवा अपवित्र काल में अपात्रों को = विद्या और तप से रहित नट-विटादि को जो दान दिया जाता है तथा देश, काल और पात्र की प्राप्ति होने पर भी जो असत्कृत = प्रियभाषण, पादप्रक्षालन, पूजादि सत्कार से शून्य और अवज्ञात = पात्र के प्रति तिरस्कार से युक्त होता है वह 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥

34 इसप्रकार आहार, यज्ञ, तप और दान की त्रिविधता के कथन से यह कहा है कि ये सात्त्विक ग्राह्य हैं और राजस-तामस तो त्याज्य हैं । इसमें आहार का प्रयोजन दृष्ट – प्रत्यक्ष है, अतः इसमें अङ्गों के वैगुण्य से फलाभाव की शंका नहीं है; किन्तु यज्ञ, तप और दान का प्रयोजन अदृष्ट है, अतः इनके अङ्गों के वैगुण्य से अपूर्व की उत्पत्ति न होने पर फलाभाव होगा -- इसप्रकार उन सात्त्विकों की भी अनर्थकता प्राप्त होती है, क्योंकि अनुष्ठान करनेवालों में प्रमादबहुलता होना अनिवार्य है, अतः उस वैगुण्य के परिहार के लिए परम करुणा से भगवान् 'ॐ तत्सत्' – इस भगवन्नामोच्चारणरूप सामान्य प्रायश्चित्त का उपदेश करते हैं :--

['ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम कहा गया है । पूर्वकाल में प्रजापति ने इस नाम से ब्राह्मण, वेद और यज्ञों की रचना की थी ॥ 23 ॥]

35 'ॐ तत् सत्[44]' – इसप्रकार का रूप ब्रह्म = परमात्मा का निर्देश है -- 'निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः' – जिससे निर्देश किया जाता है वह निर्देश -- प्रतिपादक शब्द अर्थात् नाम है । यह निर्देश -- नाम तीन प्रकार का है = इसको वेदान्तवेत्ताओं ने 'जिसके तीन विध -- अवयव हैं वह त्रिविध

---

43. श्लोकस्थ 'तु' शब्द पूर्वश्लोकोक्त सात्त्विकदान से राजसदान की विलक्षणता सूचित करने के लिए है ।

44. 'ओम इति ब्रह्म' = 'ओम् – यह ब्रह्म है'; 'तत्त्वमसि' = 'वह तुम हो'; और 'सदेव सोम्य' = 'हे सोम्य ! सत् ही ब्रह्म है' -- इस श्रुतियों से 'ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का निर्देश-नाम है ।

स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते । वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इत्यादिष्विव वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायात् । यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तदवैगुण्यमेव फलं नष्टाश्वदग्धरथवत्परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते ।

'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥'

इति स्मृतेस्तथैव शिष्टाचाराच्च । ब्रह्मणो निर्देशः स्तूयते कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यकथनाय ।

अर्थात् तीन प्रकार के अवयवोंवाला है' – ऐसा कहा है । एकवचन होने के कारण यह प्रणव[45] के समान तीन अवयवोंवाला एक नाम है । क्योंकि पूर्व महर्षियों ने इसको ब्रह्म का निर्देश-नाम कहा है, इसलिए आधुनिक विद्वान् भी यहाँ 'यह स्मर्तव्य है' – इस विधि की कल्पना करते हैं[46], जैसे – 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः[47]' (आपस्तंब श्रौतसूत्र, 12.24.6) = 'वषट्कर्ता प्रथम भक्षण करे' -- इत्यादि में विधि की श्रुति नहीं है, फिर भी विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है, क्योंकि इसमें मीमांसासूत्र प्रमाण है – 'वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः' (मीमांसासूत्र, 3.4.21) = 'श्रुतिवचन वचनान्तर प्राप्त न होने से विधायक होते हैं, क्योंकि वे अपूर्व अर्थ के बोधक होते हैं और वचनान्तर प्राप्त न होने के कारण जैसा उपदेश है उसको ग्रहण करना चाहिए[48]' । इसीप्रकार यज्ञ, दान और तपःक्रिया के साथ इस ब्रह्मनिर्देश का संयोग होने से नष्टाश्व – दग्धरथ[49] के समान परस्पर आकांक्षा होने के कारण उन यज्ञादि में अवैगुण्य = वैगुण्यनिराश फल की ही कल्पना की जाती है । "कर्मकरनेवालों के प्रमाद से यज्ञों में जो च्युति -- त्रुटि रह जाय तो वह विष्णु के स्मरण से पूर्ण हो जाती है – यह श्रुति है" -- यह स्मृति है और ऐसा ही शिष्टाचार भी है, अतः कर्मवैगुण्य के परिहार का सामर्थ्य बतलाने के लिए इस ब्रह्म के निर्देश – नाम की स्तुति की जाती है ।

---

45. जैसे – 'ओम्' – यह त्र्यक्षरमय अर्थात् अ, उ और म् – तीन अक्षरवाला प्रणव एकवचन है अतएव ईश्वर का एक वाचक = बोधक शब्द-नाम है, वैसे ही 'ॐ तत् सत्' – यह तीन अवयवोंवाला रूप एकवचन है अतएव ब्रह्म = परमात्मा का एक निर्देश-नाम है ।

46. क्योंकि पूर्व महर्षियों ने 'ॐ तत् सत्' – यह ब्रह्म का निर्देश-नाम है – ऐसा स्मरण किया है, इसलिए आधुनिक विद्वानों को भी 'ॐ तत् सत्' – इस नाम से भगवान् का स्मरण करना चाहिए अर्थात् 'ॐ तत्सदिति' – इत्यादि श्लोक में यद्यपि 'स्मर्तव्य' = 'ॐ तत् सत् – इस नाम से भगवान् का स्मरण करना चाहिए' – यह विधि श्रुत नहीं है, तथापि आधुनिक विद्वान् उक्त विधि की कल्पना करते हैं ।

47. 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' – इस श्रुतिवचन में विधि की श्रुति नहीं है, फिर भी इसमें विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है । 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' – इस वाक्य से भक्षण का विधान सिद्ध है, उक्त वाक्य विधायक नहीं हो सकता है, विधि प्राप्तपदार्थ का विधान नहीं करती है, विधि अप्राप्त = अज्ञात अर्थ की ही विधायिका होती है । 'वषट्कर्तुर्यो भक्षः स प्रथमः' – इसप्रकार भक्षण को उद्देश्य करके 'प्राथम्य' का विधान इस वाक्य में यदि मानना है तो यह संभव नहीं है, क्योंकि 'प्रथमभक्षः'- यह समस्त पद है । समस्त पद एक अर्थ का प्रतिपादक होता है, किन्तु 'प्रथमभक्षः' पद में विधेय और उद्देश्य– दो भिन्न अर्थ हैं । विधेय और उद्देश्य परस्पर सापेक्ष भी हैं । व्यपेक्षालक्षण सामर्थ्य के न रहने पर समास नहीं होगा । यदि प्राप्त भक्षण को उद्देश्य करके 'प्राथम्य' का विधान होता है तो एकप्रसरता = विशिष्ट एक अर्थ की प्रतिपादनता का भंग होगा, विधेयत्व और उद्देश्यत्व का वैशिष्ट्य = विशेष्यविशेषणभाव नहीं होगा । विशेष्यविशेषणभाव तब हो सकता है जब भक्षण को भी विधेय मानेंगे । अतः एकप्रसरताभङ्ग के भय से प्राप्त होते हुए प्राथम्य से विशिष्ट भक्षण का ही विधान किया जाता है। अतएव उक्त वाक्य में विधि श्रुत न होते हुए भी विधि का अध्याहार कर प्राथम्यविशिष्ट भक्षण का विधान किया गया है ।

36 ब्राह्मणा इति त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । ब्राह्मणाद्याः कर्तारो वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना । तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ 23 ॥

37 इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन तत्समुदायोंकारव्याख्यानवदोंकारतच्छब्दसच्छब्दव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमारभते चतुर्भिः । तत्र प्रथममोंकारं व्याचष्टे –

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ 24 ॥

38 यस्मात् 'ओमिति ब्रह्म' इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मादोमित्युदाहृत्योंकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिशास्त्रबोधिता ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ 24 ॥

36 'ब्राह्मणाः' – यह पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – तीनों वर्णों के पुरुषों का उपलक्षण है, क्योंकि तीनों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है । ब्राह्मणादि कर्ता हैं, वेद करण है और यज्ञ कर्म हैं – इन तीनों को पूर्वकाल में प्रजापति ने इस करणभूत – कारणभूत ब्रह्मनिर्देश = ब्रह्म के निर्देश-नाम से रचा था । इसलिए यज्ञादि की सृष्टि का हेतु होने से यह महान् प्रभाववाला ब्रह्म का निर्देश-नाम यज्ञादि के वैगुण्य का परिहार करने में समर्थ है – यह अभिप्राय है ॥ 23 ॥

37 अब अकार, उकार और मकार की व्याख्या द्वारा उनके समुदाय ओंकार की व्याख्या के समान ओंकार, 'तत्' शब्द और 'सत्' शब्द की व्याख्या द्वारा उनके समुदायरूप = 'ॐ तत् सत्' – एवंरूप ब्रह्म के निर्देश-नाम की विशेष स्तुति के लिए चार श्लोकों से व्याख्या आरम्भ की जाती है । उसमें प्रथम ओंकार की व्याख्या करते हैं :--
[इसलिए 'ओम्' – यह उच्चारण करके ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान और तपरूप विधानोक्त = वेदोक्त क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त होती हैं ॥ 24 ॥]

38 क्योंकि 'ओमिति ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद्) = 'ओम्' – यह ब्रह्म है' – इत्यादि श्रुतियों में 'ओम्' – यह ब्रह्म का नाम प्रसिद्ध है, इसलिए 'ओम्' – यह उच्चारण करने के अनन्तर ब्रह्मवादियों – वेदवादियों की विधानोक्त = विधिशास्त्र द्वारा बोधित--विहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ निरन्तर प्रवृत्त = प्रकृष्टतया अर्थात् वैगुण्य से रहित होती हैं । जिस ब्रह्मनिर्देश के एक अवयव के उच्चारण से भी अवैगुण्य = वैगुण्याभाव होता है फिर उस सबके उच्चारण से अवैगुण्य में तो कहना ही क्या है ? यह विशेष स्तुति है ॥ 24 ॥

48. 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' – इत्यादि श्रुतिवचन वचनान्तर प्राप्त न होने से प्राथम्यविशिष्ट भक्षण के विधायक हैं, क्योंकि वे अपूर्व अर्थ के बोधक हैं, तथा वचनान्तर प्राप्त न होने के कारण ही जैसा उपदेश है उसको ग्रहण कर यह सिद्ध होता है कि उक्त वचन प्राथम्यविशिष्ट भक्षण के विधायक हैं ।

49. जिसप्रकार दो मनुष्यों में से यदि एक का घोड़ा मर जाय और दूसरे का रथ जल जाय तो उन दोनों को परस्पर एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है, इस अपेक्षा से दोनों मिलकर रथ से अपने इष्ट स्थान को चले जाते हैं; उसीप्रकार प्रकृत में ब्रह्मनिर्देश को फल की अपेक्षा है और यज्ञादि को वैगुण्यनिराश की अपेक्षा है, इससे दोनों का संयोग होने पर वैगुण्यनिराश फल की प्राप्ति हो जाती है ।

39 द्वितीयं तच्छब्दं व्याचष्टे –

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ 25 ॥

40 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तदिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्य फलमनभिसंधायान्तःकरणशुद्ध्यर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥ 25 ॥

41 तृतीयं सच्छब्दं व्याचष्टे द्वाभ्याम् –

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ 26 ॥

42 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतद्ब्रह्मणो नाम सद्भावेऽविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे साधुभावे चासाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः । तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्तेऽप्रतिबन्धेनाऽऽशुसुखजनके माङ्गलिके कर्मणि विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ युज्यते प्रयुज्यते । तस्मादप्रतिबन्धेनाऽऽशुफलजनकत्वं वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः समर्थमेतन्नामेति प्रशस्ततरमेतदित्यर्थः ॥ 26 ॥

---

39 द्वितीय 'तत्' शब्द की व्याख्या करते हैं :--
['तत्' – इस शब्द का उच्चारण करके मुमुक्षुओं द्वारा फल का अनुसंधान न करते हुए विविध – अनेक प्रकार की यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानक्रियाएँ की जाती हैं ॥ 25 ॥]

40 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद्, 6.8.7) = 'वह तुम हो' – इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध 'तत्' – इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके मुमुक्षुओं द्वारा फल का अनुसन्धान न करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए विविधप्रकार की यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ तथा दानक्रियाएँ की जाती हैं, इसलिए यह अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ 25 ॥

41 तृतीय 'सत्' शब्द की व्याख्या करते हैं :--
[हे पार्थ ! 'सत्' -- यह शब्द सद्भाव = विद्यमानता – वर्तमानता और साधुभाव -- साधुता में प्रयुक्त किया जाता है तथा माङ्गलिक कर्मों में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है ॥ 26 ॥]

42 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्योनिषद्, 6.2.1) = 'हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह 'सत्' ब्रह्म ही था'-- इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध 'सत्' -- यह ब्रह्म का नाम शिष्टपुरुषों द्वारा सद्भाव = अविद्यमानता की शंका होने पर विद्यमानता के अर्थ में तथा साधुभाव = असाधुता की शंका होने पर साधुता के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है । इसलिए यह वैगुण्य के परिहार द्वारा यज्ञादि की साधुता और उसके फल की विद्यमानता करने में समर्थ है -- यह तात्पर्य है । तथा हे पार्थ ! सद्भाव और साधुभाव के समान प्रशस्त = प्रतिबन्ध के बिना शीघ्र सुखजनक विवाहादि माङ्गलिक कर्म में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है । इसलिए यह नाम यज्ञादि के वैगुण्यपरिहार द्वारा प्रतिबन्ध के बिना शीघ्र ही उसका फल उत्पन्न करने में समर्थ है अर्थात् यह अत्यन्त ही श्रेष्ठ है ॥ 26 ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ 27 ॥

43 **यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्परतयाऽवस्थितिर्निष्ठा साऽपि सदित्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञदानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य ब्रह्मणो नामेदं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तत्तदर्थं शुद्धब्रह्मज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं, भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म वा तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सदिति नाम कर्मवैगुण्यापनोदनसमर्थं प्रशस्ततरम् । यस्यैकैकोऽवयवोऽप्येतादृशः किं वक्तव्यं तत्समुदायस्योंतत्सदिति निर्देशस्य माहात्म्यमिति संपिण्डितार्थः ॥ 27 ॥**

44 **यद्यालस्यादिना शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य श्रद्दधानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण यज्ञतपोदानादि कुर्वतां प्रमादाद्वैगुण्ये प्राप्त ओंतत्सदिति ब्रह्मनिर्देशेन तत्परिहारस्तर्ह्यश्रद्दधानतया शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य कामकारेण यत्किंचिद्यज्ञादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया सात्त्विकत्वहेतुभूतयेत्यत आह –**

[यज्ञ, तप और दान में स्थित होना 'सत्' ही कहा जाता है तथा उन यज्ञादि के अनुकूल कर्म भी 'सत्' ही कहा जाता है ॥ 27 ॥]

43 यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति = तत्परता से अवस्थिति – निष्ठा है वह भी विद्वानों द्वारा 'सत्' ही कही जाती है । तथा तदर्थीय = उन यज्ञ, दान और तपरूप अर्थों में उत्पन्न होनेवाला अर्थात् उनके अनुकूल कर्म, अथवा – जिस ब्रह्म का यह नाम प्रस्तुत है वही जिसका अर्थ या विषय है वह शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही तदर्थ है उसके अनुकूल = तदर्थीय कर्म, अथवा -- भगवदर्पणबुद्धि से क्रियमाण कर्म तदर्थीय कर्म भी 'सत्' ही कहा जाता है । इसलिए यह नाम कर्म के वैगुण्य को दूर करने में समर्थ है अतएव श्रेष्ठतर है । जिसका एक-एक अवयव भी ऐसा है तो फिर उसके समुदाय का तो कहना ही क्या है ? 'ओम् तत् सत्' -- इस ब्रह्मनिर्देश का यह माहात्म्य है – यह समुदायार्थ है[50] ॥ 27 ॥

44 यदि आलस्यादि के कारण शास्त्रीय विधि का त्याग कर श्रद्धावान् होकर ही वृद्धों के व्यवहार -मात्र से यज्ञ, तप, दानादि करनेवालों के प्रमाद से यज्ञादि में वैगुण्य प्राप्त होने पर 'ॐ तत् सत् ' -- इसप्रकार के ब्रह्मनिर्देश से उस वैगुण्य का परिहार होता है, तो अश्रद्धा से शास्त्रीयविधि का त्याग कर स्वेच्छा से जिस किसी यज्ञादि कर्म को करनेवाले असुरों को भी प्राप्त वैगुण्य का उस ब्रह्मनिर्देश से ही परिहार हो जायेगा -- इसप्रकार सात्त्विकता की हेतुभूता श्रद्धा की क्या आवश्यकता है अर्थात् श्रद्धा की कोई आवश्यकता नहीं हैं, वह व्यर्थ ही है – इस जिज्ञासा से कहते हैं :--

50. श्रीधरस्वामी के मत में यहाँ विधि के बिना अर्थवाद की अनुपपत्ति होने से 'कीर्तयेत्' = 'ॐ तत् सत्' – इस ब्रह्मनिर्देश का सब कर्मों के सादगुण्यार्थ कीर्तन करना चाहिए' – इस विधि की कल्पना की जाती है, क्योंकि 'विधेयं स्तूयते वस्तु' = 'विधिप्राप्त वस्तु की स्तुति की जाती है' – यह न्याय है । अन्य टीकाकारों ने 'प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः', 'क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः' -- इत्यादि में ' समिधो यजति' – इत्यादि वाक्यों के समान वर्तमानकालिक जो क्रिया का उपदेश किया गया है उसको विधिरूप में परिणत करना चाहिए -- ऐसा कहा है, किन्तु उक्त कथन 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यादि वाक्यों में प्राप्त होने के कारण संगत नहीं है, अतः पूर्वोक्त क्रम से विधि की कल्पना ही श्रेष्ठ है (द्रष्टव्य -- श्रीधरीटीका) ।

44 ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति नेत्याह –

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ 20 ॥

45 ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म मूढास्तमोबहुलत्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काऽप्यस्ति, अतो मदुपदिष्टं वेदमार्गमप्राप्येत्यर्थः । एवकारस्तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितो निकृष्टतमामधमां योनिमुत्तरोत्तरं गच्छन्तीत्यर्थः । हे कौन्तेयेति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तीर्ण इति सूचयति । यस्मादेकदाऽऽसुरीं योनिमापन्नानामुत्तरोत्तरं निकृष्टतरनिकृष्टतमयोनिलाभो न तु तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्यावन्मनुष्यदेहलाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनाऽऽसुर्याः संपदः परमकष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति दैवी संपदनुष्ठेया श्रेयोर्थिभिरन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदाऽपि निस्तारोऽस्तीति महत्संकटमापद्येतेति समुदायार्थः । तदुक्तम् –

'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
मत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥' इति ॥ 20 ॥

44 उनका भी क्रम से बहुत जन्मों के पश्चात् कल्याण होगा – ऐसा कहने पर कहते हैं :--नहीं, [हे कौन्तेय ! वे मूढ़ -- मूर्ख जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही प्राप्त हुए मुझको न प्राप्त हुए फिर अधम गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ 20 ॥]

45 जो कभी आसुरी योनि को प्राप्त हो गये हैं वे जन्म-जन्म में मूढ = तमोगुण की बहुलता होने के कारण अविवेकी – विवेकशून्य रहकर ततः = तस्मादपि = उससे भी अधम = निकृष्टतम गति को प्राप्त होते हैं । 'मामप्राप्य' -- 'मुझको न प्राप्त हुए' = मेरी प्राप्ति में तो कोई आशंका भी नहीं है, अतः मेरे द्वारा उपदिष्ट वेदमार्ग को न प्राप्त हुए -- यह अर्थ है । यहाँ 'एव'कार तिर्यक्, स्थावर आदि योनियों में वेदमार्गप्राप्ति की स्वरूपत: अयोग्यता प्रदर्शित करता है । इसलिए अत्यन्त तमोगुण की बहुलता होने के कारण वे वेदमार्गप्राप्ति के लिए स्वरूपतः योग्य न होकर पूर्व-पूर्व निकृष्ट योनि से निकृष्टतम = अधम योनि को उत्तरोत्तर प्राप्त होते हैं – यह अर्थ है । हे कौन्तेय[40] ! -- इस सम्बोधन से अपने सम्बन्ध के कथन द्वारा सूचित करते हैं कि तुम इससे निष्तीर्ण -- पार हो । क्योंकि एक बार आसुरी योनि को प्राप्त हुआ पुरुष उत्तरोत्तर निकृष्टतर -- निकृष्टतम योनियों को प्राप्त होता रहता है, न कि उसको उनके प्रतीकार का सामर्थ्य प्राप्त होता है, कारण कि उसमें अत्यन्त तमोगुण की बहुलता रहती है; इसलिए जब तक मनुष्यदेह प्राप्त है तभी तक कल्याण-कामियों को महान् प्रयत्न से भी अत्यन्त कष्टतमा आसुरी संपत् के परिहार के लिए शीघ्र ही यथाशंक्ति दैवीसंपत् का अनुष्ठान करना चाहिए, अन्यथा तिर्यगादि देह प्राप्त होने पर साधनों के अनुष्ठान की योग्यता न रहने से कदापि उद्धार नहीं होगा – इसप्रकार महान् संकट उपस्थित हो जायेगा -- यह समुदाय का अर्थ है । कहा भी है --

40. तुम तो मेरी बुआ कुन्ती के पुत्र होने से मुझको प्राप्त हो अतएव आसुरी योनियों को प्राप्त करने के योग्य नहीं हो, फलत: तुम शोक मत करो, तुम तो आसुरी योनियों से निस्तीर्ण – पार हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

46 नन्वासुरी संपदनन्तभेदवती कथं पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्येतेत्याशङ्क्य तां संक्षिप्याऽऽह –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ 21 ॥

47 इदं त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं साधनं सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्ताधमयोनिप्रापकम् । किं तदित्यत आह--कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । प्राग्व्याख्यातम् । यस्मादेतत्त्रयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । एतत्त्रयत्यागेनैव सर्वाऽप्यासुरी संपत्त्यक्ता भवति । एतत्त्रयत्यागश्चोत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः । ततः परं चानुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ 21 ॥

48 एतत्त्रयं त्यजतः किं स्वादिति तत्राऽऽह –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ 22 ॥

49 एतैः कामक्रोधलोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्धितं वेदबोधितं हे कौन्तेय, पूर्वं हि कामादिप्रतिबद्धः श्रेयो नाऽऽचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत् ।

"जो पुरुष यहीं पर नरकरूप व्याधि -- रोग की चिकित्सा नहीं करता है वह रोगसहित औषधहीन स्थान को जाकर क्या करेगा ? ॥ 20 ॥

46 आसुरी -- संपत् तो अनन्त भेदोंवाली है उसका एक पुरुष की आयु में भी कैसे परिहार किया जा सकता है ? – इसप्रकार आशंका करके उसको संक्षेप में कहते हैं :--

[काम, क्रोध, और लोभ -- यह तीन प्रकार का नरक का द्वार आत्मा का नाश करनेवाला है, इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए ॥ 21 ॥]

47 यह त्रिविध -- तीन प्रकार का नरक की प्राप्ति का द्वार = साधन समस्त आसुरी-संपत् का मूलभूत और आत्मा का नाश करनेवाला अर्थात् सब प्रकार के पुरुषार्थ की अयोग्यता के सम्पादन द्वारा अत्यन्त अधम योनि की प्राप्ति करानेवाला है । वे त्रिविध द्वार कौन-से है ? कहते हैं -- काम, क्रोध और लोभ -- ये तीन प्रकार के द्वार हैं -- इनकी व्याख्या पूर्व में हो चुकी है । क्योंकि ये तीनों ही सब अनर्थों की मूल-जड़ हैं, इसलिए इन तीनों का ही त्याग करना चाहिए । इन तीनों के त्याग से ही सम्पूर्ण आसुरीसंपत् का भी त्याग सिद्ध है । उत्पन्न हुए काम, क्रोध और लोभ के कार्य को विवेक से रोक देना ही इन तीनों का त्याग है, इसके बाद इनकी उत्पत्ति ही नहीं होगी -- यह समझना चाहिए ॥ 21 ॥

48 इन तीनों के त्यागी को क्या होगा ? -- इसपर कहते हैं :--

[हे कौन्तेय ! नरक के द्वारभूत इन तीनों से मुक्त हुआ नर = पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है और उससे वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ 22 ॥]

49 हे कौन्तेय[41] ! काम, क्रोध और लोभ -- इन तीन तमोद्वारों = नरक के द्वारों -- साधनों से विमुक्त--

41. तुम तो कामादि से विनिर्मुक्त कुन्ती के पुत्र होने से ही कामादि से विमुक्त हुए लौकिक सुख को भोगकर परागति -- मोक्ष को प्राप्त करने के लिए योग्य हो – यह सूचित करते हुए भगवान् ने अर्जुन को 'हे कौन्तेय !' कहकर सम्बोधित किया है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं य यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ 28 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

45 **अश्रद्धया यद्धुतं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यद्ब्राह्मणेभ्यो यत्तपस्तप्तं यच्चान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्कारादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसदसाध्वित्युच्यते । अत ओंतत्सदितिनिर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्छिलाया इवाङ्कुरः ।**

46 **तत्कस्मादसदित्युच्यते शृणु हे पार्थ । चो हेतौ । यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अतः ऐहिकामुष्मिकफलविकलत्वादश्रद्धाकृतस्य सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये । तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्दैवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मणो नामनिर्देशेन साद्गुण्यं संपादनीयमिति परमार्थः । श्रद्धापूर्वकमसात्त्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणो नामनिर्देशेन सात्त्विकं सगुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम् ।**

47 **तदेवमस्मिन्नध्याय आलस्यादिनाऽनादृतशास्त्राणां श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च देवसाधर्म्येण किमसुरा अमी देवा वेत्यर्जुन-**

[हे पार्थ ! अश्रद्धा से जो हवन किया जाता है, जो दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है और जो कोई दूसरा कर्म किया जाता है वह सब 'असत्' कहा जाता है । वह न मरने पर और न इस लोक में ही कोई फल देनेवाला होता है ॥ 28 ॥]

45 अश्रद्धा से जो हुत अर्थात् अग्नि में हवन किया जाता है, जो ब्राह्मणों को दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है, इनके अतिरिक्त अन्य जो कोई दूसरा स्तुतिनमस्कारादि कर्म किया जाता है वह सब अश्रद्धा से किया हुआ 'असत्' अर्थात् असाधु कहा जाता है । अतः 'ॐ तत् सत्' -- इस ब्रह्मनिर्देश से उसकी साधुता नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह सर्वथा साधु होने के अयोग्य उसीप्रकार होता है जिसप्रकार पत्थर अंकुर उत्पन्न करने के सर्वथा अयोग्य होता है ।

46 वह 'असत्' क्यों कहा जाता है ? हे पार्थ ! सुनो, चकार हेतु अर्थ में है, क्योंकि वह अश्रद्धा से किया हुआ होता है, इसलिए वैगुण्य के कारण अपूर्व का जनक न होने से वह मरने पर परलोक में फल नहीं देता है और साधुपुरुषों से निन्दित होने के कारण इस लोक में भी यश नहीं देता है; अतः अश्रद्धापूर्वक किये हुए कर्म को ऐहिक -- लौकिक और आमुष्मिक -- पारलौकिक फल से विकल -- रहित होने के कारण असत् -- अकृत ही समझना चाहिए । इसीलिए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए यज्ञादि सात्त्विक कर्मों को सात्त्विकी श्रद्धा से ही करना चाहिए । ऐसे श्रद्धापूर्वक किये हुए सात्त्विक यज्ञादि की ही, दैवयोग से वैगुण्य की शंका होने पर, ब्रह्म के नामनिर्देश द्वारा सद्गुणता -- सर्वाङ्गपूरणता का सम्पादन करना चाहिए -- यह परमार्थ है । श्रद्धापूर्वक किया हुआ असात्त्विक और विगुण यज्ञादि भी ब्रह्म के नामनिर्देश द्वारा सात्त्विक और सगुण हो जाता है -- यह भाष्य है ।

संशयविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिकारिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानधिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्रीयज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यप्रदर्शनमुखेनाऽऽहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत इति सिद्धम् ॥ 28 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां श्रद्धात्रयविभागयोगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ 17 ॥

---

47 इसप्रकार इस अध्याय में -- आलस्यादि के कारण अनादृत -- उपेक्षित शास्त्रवालों और श्रद्धापूर्वक वृद्धव्यवहारमात्र से कर्म में प्रवृत्त होनेवालों में शास्त्र के अनादर से असुरसाधर्म्य है और श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से देवसाधर्म्य है -- इसप्रकार 'ये असुर हैं या देव हैं' ? -- ऐसे अर्जुन के संशय के विषय राजस -- तामस श्रद्धापूर्वक राजस- तामस यज्ञादि करनेवाले असुर हैं, वे शास्त्रीय ज्ञान के साधनों के अधिकारी नहीं है' और सात्त्विक श्रद्धापूर्वक सात्त्विक यज्ञादि करनेवाले तो देव हैं, वे शास्त्रीय ज्ञान के साधनों के अधिकारी हैं -- इनका श्रद्धा की त्रिविधता के प्रदर्शन द्वारा आहारादि की त्रिविधता के प्रदर्शन से भगवान् ने निर्णय किया है -- यह इससे सिद्ध होता है ।। 28 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दीभाषानुवाद का श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सप्तदश अध्याय समाप्त होता है ।

3 **किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयार्थौ किं वा ब्राह्मणपरिव्राजकशब्दाविवैकजातीयार्थौ । यद्याद्यस्तर्हि त्यागस्य तत्त्वं संन्यासात्पृथग्वेदितुमिच्छामि । यदि द्वितीयस्तर्ह्यवान्तरोपाधिभेदमात्रं वक्तव्यम् । एकव्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति ।**

4 **महाबाहो केशिनिषूदनेति संबोधनाभ्यां बाह्योपद्रवनिवारणस्वरूपयोग्यताफलोपधाने प्रदर्शिते । हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः । अत्यनुरागात्संबोधनत्रयम् । अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रश्नौ । कर्माधिकारिकर्तृकत्वेन पूर्वोक्तयज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्दप्रतिपाद्यत्वेन च गुणातीत-**

पृथक्-रूप से = सात्त्विक, राजस और तामस भेद से जानना चाहता हूँ । इसीप्रकार त्याग का तत्त्व-स्वरूप भी मैं पृथक्-पृथक्रूप से जानना चाहता हूँ ।

3 क्या संन्यास और त्याग – ये दो शब्द घट और पट – इन दो शब्दों के समान भिन्नजातीय अर्थों के बोधक हैं अथवा ब्राह्मण और परिव्राजक -- इन दो शब्दों के समान एकजातीय अर्थों के बोधक हैं ? यदि प्रथम पक्ष है तो मैं संन्यास से पृथक् त्याग का तत्त्व-स्वरूप जानना चाहता हूँ । यदि द्वितीय पक्ष है तो अवान्तर उपाधिभेदमात्र वक्तव्य है । इसप्रकार एक के व्याख्यान से ही दोनों की व्याख्या हो जायेगी ।

4 'महाबाहो[1]' और केशिनिषूदन[2] -- इन दो सम्बोधनों से बाह्य उपद्रवों के निवारण की स्वरूपयोग्यता[3] और फलोपधायकता[4] प्रदर्शित की है तथा 'हृषीकेश[5]' -- इस सम्बोधन से आन्तर उपद्रवों के निवारण का सामर्थ्य प्रकट किया है --यह इनमें भेद है । अत्यन्त अनुराग के कारण ये तीन सम्बोधन दिये गये हैं । यहाँ अर्जुन के दो प्रश्न हैं । इनमें प्रथम प्रश्न का बीज यह संशय है कि कर्माधिकारियों द्वारा किये जाने के कारण पूर्वोक्त यज्ञादि के साधर्म्य से त्रैगुण्य सम्भव है, किन्तु 'संन्यास' शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण गुणातीत और संन्यास – इन दोनों के साधर्म्य से त्रैगुण्य सम्भव नहीं

---

1. 'बाहू राजन्यः कृतः' (ऋग्वेद, 10.90.12) – इन मन्त्र के अनुसार आपकी बाहुओं से उत्पन्न क्षत्रिय महाबाहुओं के द्वारा किये हुए और उनसे भिन्न बाहु आदि से साध्य कर्म में अधिकारी अज्ञानियों के द्वारा किये हुए संन्यास और त्याग के तत्त्व-स्वरूप को मैं जानना चाहता हूँ – अर्जुन उक्त सम्बोधन से यही सूचित करते हैं ।

2. (अ) केशिनिषूदन = केशी नामक दैत्य का वध करनेवाले = भगवान् का यह नाम इसलिए हुआ कि हय – अश्व की आकृतिवाला केशी नामक महान् दैत्य जब युद्ध में अपना मुख फैलाकर कृष्ण का भक्षण करने के लिए आया था तब उसके फैले हुए मुख में कृष्ण ने अपनी बायीं बाहु डालकर उसी बढ़ी हुई बाहु से ही तत्क्षण उसको कर्कटिका – ककड़ी के फल के समान चीरकर मार डाला था । इस दृष्टि से ही उनके लिए 'हे महाबाहो !' – यह सम्बोधन है (श्रीधरीटीका) ।

(ब) स्वजनों के सुख के लिए केशी आदि दुष्टों का वध करनेवाले आपके अपने भक्त मेरे भी अज्ञानरूप दैत्य का निषूदन – विनाश करना युक्त ही है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है (भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

3. कारणता दो प्रकार की होती है – स्वरूपयोग्यतारूपकारणता और फलोपधायकतारूपकारणता । इनमें 'स्वरूपयोग्यतारूपकारणता' वह है जिसमें कार्य के स्वरूप की योग्यता हो अर्थात् कार्य की जनकता हो (स्वरूपयोग्यत्वम् – जनकादित्वम् – तदवच्छेदकधर्मवत्त्वम्) । प्रकृत में 'महाबाहो' सम्बोधन से भगवान् में बाह्य उपद्रवों के निवारणरूप कार्य की स्वरूपयोग्यता – जनकता कही गई है ।

4. 'फलोपधायकतारूपकारणता' वह है जिससे फल-कार्य निष्पन्न – उत्पन्न हो अर्थात् कार्योत्पत्ति हो (फलोपधायकत्वम् -- फलोपहितत्वम् – फलनिष्पादकत्वम्) । प्रकृत में 'केशिनिषूदन' सम्बोधन से भगवान् में बाह्य उपद्रवों के निवारणरूप कार्य की निष्पन्नता = फलोपधायकता कही गई है ।

5. हे हृषीकेश ! हे समस्त हृषीक = इन्द्रियों के ईश-ईश्वर-नियामक = अन्तर्यामी–सर्वज्ञ ! आपके लिए मेरे अभिप्राय के अनुसार संन्यास और त्याग के तत्त्व – स्वरूप को पृथक्-पृथक् कहना अत्यन्त सरल है – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

संन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवासंभवाभ्यां संशयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम् । द्वितीयस्य तु संन्यासत्यागशब्दयोः पर्यायत्वात्कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संशयो बीजम् ॥ 1 ॥

5 **तत्रान्तिमस्य सूचिकटाहन्यायेन निराकरणायोत्तरम्–**

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ 2 ॥

6 **काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तःकरणशुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टिपशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित् । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य यज्ञदानशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य गृहस्थधर्मस्य तपोनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्येन हि पापक्षयेण द्वारेणाऽऽत्मज्ञानार्थत्वं बोध्यते । न च विनियोग-**

है । द्वितीय प्रश्न का बीज तो यह संशय है कि 'संन्यास' और 'त्याग' – ये दोनों शब्द पर्यायवाची होने से उनकी कर्मफलत्यागरूप से विलक्षणता कही गई है ॥ 1 ॥

5 उनमें से अन्तिम अर्थात् द्वितीय प्रश्न का सूचीकटाहन्याय[6] से निराकरण करने के लिए भगवान् उत्तर देते हैं :–

[श्रीभगवान् ने कहा – कविजन काम्यकर्मों के न्यास – त्याग को 'संन्यास' जानते हैं और विचक्षण – विद्वज्जन सब कर्मों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥ 2 ॥]

6 कविजन = कोई सूक्ष्मदर्शी जन काम्य = फल की कामना से चोदित-विहित और अन्तःकरण की शुद्धि में अनुपयुक्त इष्टि[7], पशु और सोम[8] आदि कर्मों के न्यास = त्याग को 'संन्यास' जानते हैं । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.22) = 'ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तपोऽनाशक से उस आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' – इस श्रुतिवाक्य द्वारा 'वेदानुवचन' शब्द से उपलक्षित ब्रह्मचारी के धर्म की; 'यज्ञ और दान' – इन दो शब्दों से उपलक्षित गृहस्थ के धर्म की और 'तपोऽनाशक' शब्द से उपलक्षित वानप्रस्थ के धर्म की नित्यकर्म के द्वारा अर्थात् नित्यकर्म करने से पापक्षय के द्वारा आत्मज्ञानार्थता बोधित की गई है । ज्ञान

6. सूचीकटाहन्याय = सूई और कड़ाही का न्याय = यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब दो कार्य करने को हों – उनमें एक कठिन हो और दूसरा अपेक्षाकृत सरल हो, तो उससमय सरल कार्य को पहले किया जाता है, जैसे कि किसी व्यक्ति को जब सूई और कड़ाही – दो वस्तुएँ बनानी हैं, तो वह पहले सूई बनायेगा, क्योंकि कड़ाही की अपेक्षा सूई का बनाना सरल अर्थात् अल्पश्रमसाध्य – अल्पसमयसाध्य है । इसी न्याय के अनुसार प्रकृत में भी भगवान् को अर्जुन के दो प्रश्नों के उत्तर देने हैं, उनमें से प्रथम प्रश्न का समाधान न देकर भगवान् द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं, क्योंकि वह प्रथम से अपेक्षाकृत सुकर है ।

7. 'इष्टि' शब्द का अर्थ है ऐसा यज्ञ जो यजमान = याज्ञिक और उसकी पत्नी द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पादित होता है ।

8. 'सोमयज्ञ' के सात प्रकार है – अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम । अग्निष्टोम को सोमयज्ञों का आदर्शरूप मान लिया गया है । ये सोमयज्ञ कई प्रकार के हैं – जैसे 'एकाह' – एक दिनवाला, 'अहीन' – एक दिन से लेकर बारह दिनों तक चलनेवाला और 'सत्र' – जो बारह दिन से अधिक दिन चलता है ।

अथाष्टादशोऽध्यायः

1 **पूर्वाध्याये श्रद्धात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मिणां त्रैविध्यमुक्तं सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां च हानाय। इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं वक्तव्यम्। तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्यातत्वान्न सात्त्विकराजसतामसभेदमर्हति । योऽपि तत्त्वबोधात्प्राक्तदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वबुभुत्सया वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादिना निर्गुणत्वेन व्याख्यातः । यस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामनुत्पन्नतत्त्वबुभुत्सानां च कर्मसंन्यासः 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादिना गौणो व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं बुभुत्सुः--**

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ 1 ॥

2 **अविदुषामनुपजातविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किंचित्कर्मपरिग्रहेण किंचित्कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणयोगात्संन्यासशब्देनोच्यते। एतादृशस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमविद्वत्कर्माधिकारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक्सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ।**

---

1 पूर्व अध्याय में सात्त्विकों के ग्रहण और राजस-तामसों के त्याग के लिए श्रद्धा की त्रिविधता तथा आहार, यज्ञ, तप और दान – इनकी त्रिविधता के द्वारा कर्मियों की त्रिविधता को कहा । अब तो संन्यास की त्रिविधता के कथन से संन्यासियों की भी त्रिविधता वक्तव्य है । उसमें तत्त्वज्ञान के अनन्तर जो फलभूत सब कर्मों का संन्यास-त्याग हैं उसकी चौहदवें अध्याय में गुणातीतरूप से व्याख्या की गई है, अत: वह सात्त्विक, राजस और तामस भेद के योग्य नहीं है । जो भी तत्त्वज्ञान से पूर्व तत्त्वज्ञान के लिए सब कर्मों का संन्यास – त्याग है वह तत्त्वज्ञान की इच्छा से वेदान्तवाक्य के विचार के लिए होता है उसकी भी 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) = 'हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्यविषयक हैं, तुम निस्त्रैगुण्य होओ' -- इत्यादि द्वारा निर्गुणरूप से व्याख्या की गई है । जो तो जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और न तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन पुरुषों का कर्मसंन्यास है उसकी 'स संन्यासी च योगी च' -- इत्यादि द्वारा गौणरूप से व्याख्या की गई है अतएव उसकी त्रिविधता संभव है, इसलिए उस विशेष को जानने की इच्छा से अर्जुन ने कहा :--

[अर्जुन ने कहा -- हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ 1 ॥]

2 जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और न विविदिषा -- जिज्ञासा -- तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियों का ही जो किसी कर्म के ग्रहणपूर्वक किसी कर्म का परित्याग है वह त्यागांशरूप गुण के योग से 'संन्यास' शब्द से कहा जाता है । अन्त:करणशुद्धि के लिए अविद्वान् कर्माधिकारियों द्वारा किये हुए इसप्रकार के संन्यास का = किसी रूप से कर्मत्याग का तत्त्व = स्वरूप मैं पृथक्-

वैयर्थ्यं 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यं, विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद्वा न वा स्यात्, सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात् । तस्मान्नित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषायां वा विनियोगात्सत्त्वशुद्धि-विविदिषोत्पत्तिपूर्वकवेदनार्थिना नित्यान्येव कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि । काम्यानि तु सर्वाणि सफलानि परित्याज्यानीत्येकं मतम् ।

7 **अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः, सर्वेषां काम्यानां नित्यानां च प्रतिपदोक्त-फलत्यागं सत्त्वशुद्ध्यर्थितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं प्राहुः । 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' इत्यत्र यथैकस्य खादिरत्वस्य क्रतुप्रकरणपाठात्फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च प्रमाणभेदात्तथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि शतपथपठितानां स्वोत्पत्तिविधिसिद्धानां तत्तत्फलसंयोगः प्रत्येकवाक्येन विविदिषा-संयोगश्च यज्ञादिवाक्येन क्रियत इत्युपपन्नमेकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति न्यायात् । तदुक्तं संक्षेपशारीरके–**

के लिए नित्यकर्मों का विनियोग करना व्यर्थ है, क्योंकि 'पाप-कर्मों' का क्षय होने से पुरुषों का ज्ञान उत्पन्न होता है' – इससे ही उक्तार्थ प्राप्त होता है – यह नहीं कहना चाहिए, कारण कि विनियोग न करने पर नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने पर भी ज्ञान होगा अथवा नहीं होगा – ऐसा संशय बना रहेगा, किन्तु विनियोग करने पर तो ज्ञान अवश्य ही होगा, क्योंकि इस नियम के लिए ही नित्यकर्मों का विनियोग है; अत: ज्ञान अथवा विविदिषा – जिज्ञासा में नित्यकर्मों का ही विनियोग विहित होने के कारण सत्त्वशुद्धि – अन्त:करणशुद्धि और विविदिषा – जिज्ञासा की उत्पत्तिपूर्वक वेदनार्थी -- ज्ञानार्थी को भगवदर्पणबुद्धि से नित्यकर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए । काम्य कर्मों का तो उनके फलसहित परित्याग करना चाहिए – यह एक मत है ।

7 दूसरा मत है – 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा:' = विचक्षण = विचारकुशल पुरुष समस्त काम्य और नित्य कर्मों के पृथक्-पृथक् कहे हुए फलों के त्याग को -- अन्त:करणशुद्धिरूप प्रयोजनवाले होकर विविदिषा -- जिज्ञासा के संयोग से उनका अनुष्ठान करने को 'त्याग' कहते हैं । 'खादिरो यूपो भवति' = 'खादिर यूप होता है', 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' = 'वीर्यकामी के लिए खादिर यूप बनाता है' – इत्यादि में जैसे एक ही खादिरत्व का यज्ञ के प्रकरण में पाठ होने से और फल का संयोग होने से प्रमाणभेद के कारण यज्ञार्थत्व और पुरुषार्थत्व -- दोनों सिद्ध होते हैं, वैसे ही शतपथ श्रुति में पठित और अपनी उत्पत्तिविधि[9] से सिद्ध अग्निहोत्र, इष्टि, पशु और सोम-- सभी का प्रत्येक वाक्य के द्वारा उस-उस फल से संयोग कर दिया जाता है और 'यज्ञेन दानेन' -- इत्यादि वाक्य द्वारा विविदिषा से संयोग कर दिया जाता है -- वह उचित ही है, क्योंकि इसमें मीमांसासूत्र प्रमाण है – 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्[10]' (मीमांसादर्शन, 4.3.5) = 'जहाँ एक

9. 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि:' (अर्थसंग्रह) = जो विधि केवल कर्म के स्वरूप का बोध कराती है वह 'उत्पत्तिविधि' कही जाती है । जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- यह वाक्य उत्पत्तिविधि हैं । इस विधि में कर्म का करणरूप में अन्वय होता है । इसप्रकार इसका बोधगम्य मीमांसासम्मत अर्थ होता है – अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' = 'अग्निहोत्र नामक होम के द्वारा इष्ट का सम्पादन करे ।

10. 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (मीमांसादर्शन, 4.3.5) = एक ही द्रव्यादि के उभयार्थत्व में अधिकारवाक्यों का पृथक्-पृथक् होना ही नियामक है । जैसे – 'दध्ना जुहोति' – इस वाक्य से 'दधि' में क्रत्वर्थता – यज्ञार्थता और 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' – इस वाक्य से 'दधि' में पुरुषार्थत्व का विधान होता है । वैसे ही प्रकृत में

'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याम्नातसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ॥' इति ।

तस्मात्काम्यान्यपि फलाभिसंधिमकृत्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानि । न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषोऽस्ति । पुरुषाभिप्रायभेदकृतस्तु विशेषः फलाभिसंधित्यागे कुतस्त्यः । नित्यकर्मणां च प्रातिस्विकफलसद्भावम् 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' इत्यत्र वक्ष्यति ।

8 नित्यानामेव विविदषासंयोगेन काम्यानां कर्मणां फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्धस्यार्थः । काम्यानां नित्यानां च संयोगपृथक्त्वेन विविदिषासंयोगात्तदर्थं स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्रातिस्विक - फलाभिसंधिमात्रपरित्याग इत्युत्तरार्धस्यार्थः । तदेतदाहुर्वार्तिककृतः--

'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ।
तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति ।

पदार्थ के दो प्रयोजन होते हैं वहाँ उन प्रयोजनों के साथ उसके पृथक्-पृथक् संयोग मानने चाहिए', इसीप्रकार संक्षेपशारीरक में भी कहा है --

''यज्ञेन दानेन'--इत्यादि वाक्य शतपथश्रुति में विहित और अपनी उत्पत्तिविधि से सिद्ध एकाहादि कर्म-समूह को ग्रहण कर पुरुष को विविदिषारूप साध्य में नियुक्त करता है[11]'' (संक्षेपशारीरक, 1.64) । अत: काम्यकर्मों को भी फल की कामना से न करते हुए अन्त:करण की शुद्धि के लिए करना चाहिए । अग्निहोत्रादि कर्मों में स्वत: काम्यत्व और नित्यत्वरूप भेद नहीं है, किन्तु पुरुष के अभिप्राय के भेद से हुआ भेद है, फलाभिसन्धि का त्याग करने पर दोनों में भेद कहाँ रह सकता है ? नित्यकर्मों के प्रातिस्विक = अपने-अपने फल की सत्ता का निरूपण 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्' (गीता, 18.12) -- इत्यादि में कहेंगे ।

8 इसप्रकार नित्यकर्मों का ही विविदिषा से संयोग होने के कारण काम्य कर्मों का फल के साथ स्वरूप से भी परित्याग विवक्षित है -- यह पूर्वार्ध का अर्थ है । काम्य और नित्यकर्मों का संयोग-पृथक्त्व-न्याय से विविदिषा के साथ संयोग होने से उस-उस प्रयोजन के लिए उनका स्वरूपत: अनुष्ठान करने पर भी उनके अपने-अपने फल की इच्छामात्र का परित्याग विविक्षित है – यह उत्तरार्ध का अर्थ है । यही वार्तिककार ने कहा है --

---

'यजेत स्वर्गकाम:' आदि वाक्यों से यागादि में स्वर्गार्थत्व और 'यज्ञेन दानेन...? इत्यादि से अन्त:करणशुद्ध्यर्थत्व का प्रतिपादन होता है ।

11. प्रकृत में प्रश्न है– 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' – इत्यादि श्रुति सब कर्मों का उपयोग विविदिषा – जिज्ञासा = ब्रह्मजिज्ञासा – आत्मजिज्ञासा में बतलाती है, किन्तु स्वर्गादि के उद्देश्य से विहित कर्मों का उपयोग विविदिषा में कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है – प्रत्येक कर्म का उत्पत्तिबाक्य केवल कर्म के स्वरूप का बोधक होता है और अधिकार-वाक्य फल का सम्बन्ध बतलाता है । उत्पत्तिवाक्य से बोधित एक ही कर्म का विनियोग भिन्न-भिन्न अधिकारवाक्य के संयोग से भिन्न-भिन्न फलों के उद्देश्य से कर सकते हैं -- इसको ही 'संयोगपृथक्त्व' न्याय कहते हैं । प्रकृत में उत्पत्तिवाक्य से अवगत यज्ञादि का ही विनियोग 'यज्ञेन' यह श्रुति अन्त:करणशुद्धि में करती है, स्वर्गादि में विनियुक्त कर्मों का नहीं करती है जिससे कि विनियुक्त विनियोगादि दोष की सम्भावना हो -- यह भाव है ।

तदेवं सफलकाम्यकर्मत्यागः संन्यासशब्दार्थः । सर्वेषामपि कर्मणां फलाभिसंधित्यागस्त्याग-शब्दार्थ इति न घटपटशब्दयोरिव संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नजातीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थ-कर्मानुष्ठाने फलाभिसंधित्याग इत्येक एवार्थ उभयोरिति निर्णीत एकः प्रश्नोऽर्जुनस्य ॥ 2 ॥

9 **अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र विप्रतिपत्तिमाह–**

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ 3 ॥

10 **सर्वं कर्म बन्धहेतुत्वाद्दोषवद्दुष्टमतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवद्दोष इव, यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्नबोधैरनुत्पन्नविविदिषैः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । अत्र द्वितीयः पक्षः कर्माधिकारिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदि-षोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ 3 ॥**

"तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन' – इत्यादि वाक्य द्वारा वेदानुवचनादि नित्य कर्मों की ऐकात्म्यज्ञान की उत्पत्ति में विधि कही गई है । अथवा, तमेतम्' -- इत्यादि वाक्य द्वारा संयोग-पृथक्त्व-न्याय से काम्य और नित्य – सभी कर्मों को विविदिषा के लिए कहा गया है" ।

इसप्रकार 'संन्यास' शब्द का अर्थ फलसहित काम्य कर्मों का त्याग है और 'त्याग' शब्द का अर्थ सभी प्रकार के कर्मों की फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा का त्याग है । अतः 'संन्यास' और 'त्याग'-- ये दो शब्द 'घट' और 'पट' – इन दो शब्दों के समान भिन्न-जातीयार्थक नहीं है, किन्तु अन्तः-करणशुद्धि के लिए कर्मानुष्ठान में फलाभिसन्धि -- फलाकांक्षा का त्याग -- यह एक ही अर्थ दोनों का है – इसप्रकार अर्जुन के एक प्रश्न का निर्णय हुआ ॥ 2 ॥

9 अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिए संन्यास और त्याग – इन दोनों शब्दों के अर्थ की त्रिविधता का निरूपण करने के लिए उसमें विप्रतिपत्ति कहते हैं :–

[कोई मनीषी -- विद्वान् यह कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव सबका त्याग ही करना चाहिए । कोई दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए ॥ 3 ॥]

10 सब कर्म बन्धन के हेतु होने से दोषयुक्त = दुष्ट हैं अतः कर्माधिकारियों को भी सब कर्मों का त्याग ही करना चाहिए – इसप्रकार कोई मनीषी--विद्वान् कहते हैं[12] । अथवा, दोषवत् = दोष के समान अर्थात् जैसे रागादि दोषों का त्याग किया जाता है, वैसे ही जिनको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और न विविदिषा-- जिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियों को भी कर्मों का त्याग करना चाहिए-- यह एक पक्ष है । यहाँ दूसरा पक्ष है-- कर्माधिकारियों को अन्तःकरणशुद्धि द्वारा विविदिषा

---

12. कोई मनीषी – विद्वान् = सांख्यमतावलम्बी पुरुष कहते हैं कि सब कर्म हिंसादि दोषों से युक्त होने के कारण बन्धक है अतएव त्याज्य हैं । भाव यह है – 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' = 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करे'- यह निषेध वाक्य कहता है कि हिंसा मनुष्य के लिए अनर्थ का हेतु है, किन्तु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' – इत्यादि प्राकरणिक विधिवाक्य हिंसा को यज्ञ के लिए उपकारक कहते हैं, अतः भिन्नविषयक वाक्य होने से 'सामान्य वचन की अपेक्षा विशेष वचन बलवान् होता है'– इस न्याय का विषय न होने के कारण इनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं है और द्रव्यसाध्य सब कर्मों में हिंसादि दोष संभव होने से सभी कर्म त्याज्य ही हैं । कहा भी है– 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' (सांख्यकारिका, 2) = 'आनुश्रविक– वैदिक कर्मकलापरूप उपाय

11 एवं विप्रतिपत्तौ–

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ 4 ॥

12 तत्र त्वया पृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वचनान्निश्चयं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे भरतसत्तम । किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत आह– हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ हि यस्मात्त्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागस्त्रिविधिस्त्रिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः । अथवा विशिष्टाभावरूपस्त्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः । तथाहि- फलाभिसंधिपूर्वक - कर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः, सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्द्वितीयः, फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः । द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः,

---

– जिज्ञासा की उत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान और तप -- इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए – इसप्रकार कोई दूसरे मनीषी–विद्वान् कहते हैं[13] ॥ 3 ॥

11 इसप्रकार विप्रतिपत्ति होने पर --

[हे भरतसत्तम ! हे भरतश्रेष्ठ ! उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो । हे पुरुषव्याघ्र ! हे पुरुषसिंह ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ 4 ॥]

12 हे भरतसत्तम[14] ! हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तत्र = तुम्हारे द्वारा पूछे हुए कर्माधिकारियों द्वारा किये जानेवाले तथा संन्यास और त्याग – इन दो शब्दों द्वारा प्रतिपादित त्याग = फलाभिसन्धि - फलाकांक्षापूर्वक कर्मत्याग के विषय में पूर्वाचार्यों द्वारा किये हुए निश्चय को तुम मेरे वचन से सुनो । क्या उसमें दुर्ज्ञेय -- गूढ़वेद्य है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं – हे पुरुषव्याघ्र[15] ! हे पुरुषश्रेष्ठ[16] ! हि = यस्मात्

भी दृष्ट–लौकिक उपायों के सदृश ही दुःखत्रय की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति करने में असमर्थ है, क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय-विनाश और अतिशय – न्यूनाधिक्य – तारतम्य दोष से युक्त-व्याप्त-विद्ध है' (श्रीधरीटीका) ।

13. कोई दूसरे मनीषी – विद्वान् = मीमांसक कहते हैं कि यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं है । भाव यह है – यज्ञार्थक होने पर भी यह हिंसा पुरुष के ही द्वारा की जाती है और वह हिंसा अन्य के उद्देश्य से भी की जाने पर पुरुष के लिए प्रत्यवाय की हेतु है ही; जिसप्रकार पुरुष के उद्देश्य से ही विधिविहित कर्म का अनुष्ठान होता है, क्योंकि सब अङ्गभूत कर्म पुरुष की अभीष्टसिद्धि के लिए ही किये जाते हैं । इसीप्रकार निषेध यह अपेक्षा नहीं करता कि निषेध कर्म पुरुष के लिए ही हो, क्योंकि वह प्राप्तिमात्र की अपेक्षा करता है । अन्यथा अज्ञान और प्रमाद से किये हुए कर्म में दोष के अभाव का प्रसंग होगा । इसप्रकार विधि और निषेध समानविषयक होने पर भी विशेष शास्त्र से सामान्यशास्त्र का बाध हो जाता है, अतः यज्ञादि कर्म दोषयुक्त नहीं है अतएव नित्य यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं – इसप्रकार इससे सामान्यविशेषन्याय का उपपादन करने के लिए विधि और निषेध की समानबलता का निषेध किया जाता है ।

14. हे भरतसत्तम ! हे भरतवंशीय क्षत्रियश्रेष्ठों में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन ! तुम क्षत्रियश्रेष्ठों द्वारा कर्तव्य त्याग और संन्यास के विषय में मेरा कहा हुआ निश्चय सुनो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

15. न केवल क्षत्रियश्रेष्ठों द्वारा ही कर्तव्य त्याग और संन्यास – इन दो शब्दों के अर्थ के विषय में मैं अपना निश्चय कह रहा हूँ अपितु दूसरे भी पुरुषश्रेष्ठों द्वारा अर्थात् कर्माधिकारी अज्ञ पुरुषों द्वारा कर्तव्य त्याग और संन्यास के विषय में भी मेरा निश्चय सुनो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

16. 'व्याघ्रः स्यात् पुंसि शार्दूले रक्तैरण्डकरण्डयोः ।
श्रेष्ठे नरादुत्तरस्थः कण्टकाचार्ययोषिति ॥

इस मेदिनी कोष के अनुसार नरादि शब्दों के साथ उत्तर में प्रयुक्त 'व्याघ्र' शब्द ' श्रेष्ठ' का वाचक होता है । तदनुसार 'पुरुषश्रेष्ठ' – यह सम्बोधन है ।

दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः, विपर्यासेन कृतस्तामसः । एतावान्कर्माधिकारिकर्तृकस्त्यागोऽर्जुनस्य प्रश्नविषयः । तृतीयस्तु कर्मानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यरूपो नार्जुनप्रश्नविषयः । सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः । तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वककर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नविविदिषस्याऽऽत्मज्ञानसाधनश्रवणाख्यवेदान्तविचाराय फलाभिसंधिरहित-स्यान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ये जात इवावहननस्य परित्यागः । स एकः साधनभूतो विविदिषासंन्यास उच्यते । तमग्रे नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामिति वक्ष्यति । द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृतसाधनाभ्यासपरिपाकादस्मिञ्जन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतकृत्यस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च परित्यागः फलभूतः । स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते । स तु यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिश्लोकाभ्यां प्राग्व्याख्यातः । स्थितप्रज्ञलक्षणादिभिश्च बहुधा प्रपञ्चितः । यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं त्वया चोक्तं तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वचनाद्वि-द्धीत्यभिप्रायः । संबोधनद्वयेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषनिमित्तोत्कर्षश्च योग्यतातिशय-सूचनायोक्तः ॥ 4 ॥

= क्योंकि कर्माधिकारियों द्वारा किया हुआ फलाभिसन्धिपूर्वक त्याग = कर्मत्याग त्रिविध = सात्त्विक, राजस और तामस – भेद से तीन प्रकार का कहा गया है । अथवा, विशिष्टाभावरूप त्याग विशेषणाभाव, विशेष्याभाव और विशेषण-विशेष्याभाव – भेद से तीन प्रकार का कहा गया है, जैसे – फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मत्याग ही कर्म के रहते हुए भी फलाभिसन्धि के त्याग से एक प्रकार का है; फलाभिसन्धि के रहते हुए भी कर्मत्याग करने से दूसरे प्रकार का है तथा फलाभिसन्धि और कर्म – इन दोनों का त्याग करने से तीसरे प्रकार का है । इनमें प्रथम सात्त्विक त्याग तो उपादेय – ग्राह्य है; किन्तु द्वितीय हेय -- त्याज्य है, वह दो प्रकार का है – दु:खबुद्धि से किया हुआ त्याग 'राजस' है और विपर्यास -- विपर्यय – भ्रम से किया हुआ त्याग 'तामस' है । इतना कर्माधिकारियों द्वारा किया जानेवाला त्याग ही अर्जुन के प्रश्न का दिषय है; तृतीय जो कर्म के अनधिकारियों द्वारा किया जानेवाला नैर्गुण्य -- निर्गुणतारूप त्याग है वह अर्जुन के प्रश्न का विषय नहीं है, वह भी साधन और फल के भेद से दो प्रकार का है । उसमें फलाभिसन्धित्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानरूप सात्त्विक त्याग से जिसका अन्त:करण शुद्ध हो गया है और जिसको आत्मज्ञान के साधन श्रवणसंज्ञक वेदान्त विचार के लिए विविदिषा उत्पन्न हो गई है उस फलाभिसन्धिरहित पुरुष के अन्त:करण की शुद्धि हो जाने पर तुष -- भूसी हटने पर जैसे धान के अवहनन -- धान के कूटने की क्रिया निवृत्त हो जाती है वैसे ही अन्त:करणशुद्धि से लेकर विविदिषोत्पत्तिपर्यन्त के साधन कर्म का जो परित्याग – त्याग होता है वह एक साधनभूत 'विविदिषासंन्यास' कहा जाता है । इसको आगे 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम्' (गीता, 18.49) -- इत्यादि से कहेंगे । किन्तु जिसको पूर्व जन्मों में किये हुए साधनों के अभ्यास के परिपाक से इस जन्म के आरम्भ में ही आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है अतएव जो कृतकृत्य है उसका स्वत: ही फलाभिसन्धि और कर्म का फलभूत जो परित्याग -- त्याग होता है वह द्वितीय 'विद्वत्संन्यास' कहा जाता है । इसकी तो 'यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्...' (गीता, 3.17-18) -- इत्यादि दो श्लोकों से पूर्व में व्याख्या की गई हैं और स्थितप्रज्ञ के लक्षणादि से भी इसका बहुत प्रकार से विवेचन किया गया है । क्योंकि इसप्रकार त्याग का तत्त्व -- स्वरूप दुर्ज्ञेय -- गूढ़वेद्य है और तुमने कहा है कि मैं उस तत्त्व -- स्वरूप को जानना चाहता हूँ, इसलिए मुझ सर्वज्ञ के वचन से उसको

13 कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपत्तिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीयः पक्ष इत्याह द्वाभ्याम्–

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ 5 ॥

14 चो हेतौ । यस्माद्यज्ञदानतपांसि मनीषिणामकृतफलाभिसंधीनां पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकपापमलक्षालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि । अकृतफलाभिसंधीनामेव यज्ञदानतपांस्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिशुद्ध्यैवोपहितशुद्धिरत्राभिप्रेता । तस्मादन्तःकरणशुद्ध्यर्थिभिः कर्माधिकृतैर्यज्ञो दानं तप इति यत्फलाभिसंधिरहितं कर्म तन्न त्याज्यं किं तु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यं कर्तव्यतया विहितं तस्मान्न त्याज्यमेवेति वा ॥ 5 ॥

जानो – यह अभिप्राय है । हे भरतसत्तम[17] ! और हे पुरुषव्याघ्र[18] ! – इन दो सम्बोधनों से क्रमशः कुलनिमित्तक उत्कर्ष और पुरुषार्थनिमित्तक उत्कर्ष को अर्जुन की योग्यता के अतिशय – उत्कर्ष की सूचना के लिए कहा गया है ॥ 4 ॥

13 विप्रतिपत्तिकोटिभूत दोनों पक्षों में से आपका निश्चय क्या है ? द्वितीय पक्ष ही मेरा निश्चय है – यह दो श्लोकों से कहते हैं :--

[यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं, उनको करना ही चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही मनीषी – बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं ॥ 5 ॥]

14 यहाँ 'च' शब्द हेतु अर्थ में है । च = यस्मात् = क्योंकि यज्ञ, दान और तप -- ये तीनों ही मनीषियों = फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा न करनेवालों को पवित्र करनेवाले = ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के प्रक्षालन से और ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूप पुण्यगुणों के आधान से शुद्ध करनेवाले है[19] । जो फलाभिसन्धि -- फलाकांक्षा नहीं करते हैं उनके ही यज्ञ, दान और तप ही शोधक ही होते है[20] । उपाधि की शुद्धि से ही उपहित की शुद्धि यहाँ अभिप्रेत है[21] । अतः अन्तःकरणशुद्धि के इच्छुक कर्माधिकारियों को यज्ञ, दान और तप -- ये जो फलाभिसन्धिरहित कर्म हैं उनका त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु उनको करना चाहिए । 'त्याग नहीं करना चाहिए' -- इतना कहने से ही 'करना चाहिए' -- यज्ञादि की कार्यता प्राप्त

---

17. हे भरतवंश में श्रेष्ठतम ! उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण तुमको कुलनिमित्तक उत्कर्ष प्राप्त है अतएव तुममें तत्त्ववचन का श्रवण और उसका अवधारण करने की योग्यता है-- यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

18. 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पाणिनिसूत्र, 2.1.55) = 'उपमेय का व्याघ्रादि शब्दों के साथ 'कर्मधारय' समास होता है, सामान्य गुण या धर्मबोधक शब्द का उल्लेख नहीं होना चाहिए' – इस सूत्र के अनुसार 'पुरुषो व्याघ्र इव = पुरुषव्याघ्रः' = 'व्याघ्र के समान वीर पुरुष' -- यह समासविग्रह करने पर 'पुरुषव्याघ्र' सम्बोधन से अर्जुन के पुरुषार्थनिमित्तक उत्कर्ष को कहा गया है, अतएव उसमें भगवद्वचन के श्रवण की योग्यता भी सूचित की गई है ।

19. शुद्धि दो प्रकार की होती है – बाह्य और आन्तर । 'बाह्य' शुद्धि देह के मलादि के प्रक्षालन से होती है – जिसके लिए स्नानादि साधन होते हैं । 'आन्तर' शुद्धि ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल के प्रक्षालन से होती है – जिसके लिए स्नानोत्तर नित्य कर्म साधन होते हैं, जैसे – सन्ध्यावन्दनादि । इसप्रकार नित्यकर्म पापरूप मल के प्रक्षालन से शोधक होते हैं, उसके फलभूत पुण्यगुणों के उद्भव से शोधक होते हैं ।

20. जो पुरुष फलाभिसन्धिरहित होते हैं उनके ही, फलाभिसन्धियुक्त के नहीं, यज्ञादि ही, इनके अतिरिक्त नहीं, शोधक ही, अशोधक नहीं, होते हैं -- इसप्रकार एवकार से अन्य की व्यावृत्ति द्वारा अर्थ का निश्चय किया गया है ।

21. उपाधि अर्थात् विद्वान् की शुद्धि से ही उपहित अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि यहाँ अभिप्रेत है ।

15 यदि यज्ञदानतपसामन्तःकरणशोधने सामर्थ्यमस्ति तर्हि फलाभिसंधिना कृतान्यपि तानि तच्छोधकानि भविष्यन्ति कृतं फलाभिसंधित्यागेनेत्यत आह–

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ 6 ॥

16 तुशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । यद्यपि काम्यान्यपि शुद्धिमादधति धर्मस्वाभाव्यात्तथाऽपि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः–

'काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ।
विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥' इति ।

ज्ञानोपयोगिनीं तु शुद्धिमादधति यानि यज्ञादीनि कर्माणि एतानि फलाभिसंधिपूर्वकत्वेन बन्धनहेतुभूतान्यपि मुमुक्षुभिः सङ्गमहमेवं करोमीति कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि चाभिसंधीयमानानि त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानीति मे मम निश्चितम् । अत एव हे पार्थ कर्माधिकृतैः कर्माणि त्याज्यानि न त्याज्यानि वेति द्वयोर्मतयोर्न त्याज्यानीति मम निश्चितं मतमुत्तमं श्रेष्ठम् । यदुक्तं निश्चयं शृणु मे तत्रेति सोऽयं निश्चय उपसंहृतः ।

हो ही जाती है, फिर भी उनके अत्यन्त आदर के लिए कहा है कि 'कार्यमेव' = 'उनको करना ही चाहिए' । अथवा, – क्योंकि यज्ञादि कार्य कर्त्तव्य होने के कारण विहित है, उनका त्याग नहीं ही करना चाहिए – यह भी अर्थ है ॥ 5 ॥

15 यदि यज्ञ, दान और तप में अन्तःकरण को शुद्ध करने का सामर्थ्य है तो फलाभिसन्धि – फलाशापूर्वक किये हुए भी वे अन्तःकरण के शोधक होंगे, अतः फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा का त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? फलाभिसन्धित्याग व्यर्थ ही है – इस शंका से कहते हैं :--

[हे पार्थ ! इन कर्मों को तो सङ्ग और फलों का त्याग करके ही करना चाहिए – यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है ॥ 6 ॥]

16 यहाँ 'तु' शब्द शंका का निराकरण करने के लिए है । यद्यपि काम्य कर्म भी धर्मरूप होने के कारण शुद्धि करते हैं, तथापि वह अन्तःकरणशुद्धि उन काम्य कर्मों के फल के भोग के लिए ही उपयोगी होती है, ज्ञान में उपयोगी नहीं होती है । वार्तिककार ने ऐसा कहा भी है –

"काम्य कर्मों में भी शुद्धि होती ही है, किन्तु वह शुद्धि भोग की सिद्धि के लिए ही होती है, क्योंकि इन्द्ररूप से भोगे जानेवाला फल विड्--वराहादि देह से नहीं भोगा जाता है ।"

फलाभिसन्धिपूर्वक किये हुए होने से बन्धन के हेतुभूत भी जो ये यज्ञादि कर्म मुमुक्षुओं द्वारा सङ्ग = 'मैं ऐसा करता हूँ' -- इसप्रकार के कर्तृत्वाभिनिवेश और अभिसंधीयमान – कामयमान फलों को त्याग कर 'मुझको अन्तःकरणशुद्धि के लिए करने चाहिए' – इस विचार से किये जाते हैं वे ज्ञानोपयोगी शुद्धि करते हैं -- यह मेरा निश्चित मत है । अतएव हे पार्थ[22] ! कर्माधिकारी पुरुषों को कर्मों का त्याग करना चाहिए अथवा त्याग नहीं करना चाहिए -- इन दो मतों में से मेरा निश्चित और उत्तम-श्रेष्ठ मत यह है कि कर्माधिकारियों को कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए । यह जो

---

22. हे अर्जुन ! तुमको तो पृथा के सम्बन्ध से मेरे सम्बन्धी होने के कारण मेरा ही निश्चित मत उपादेय – ग्राह्य है – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'हे पार्थ !' – यह सम्बोधन किया है ।

भगवत्पूज्यपादानामभिप्रायोऽयमीरितः ।
अनिष्णाततया भाष्ये दुरापो मन्दबुद्धिभिः ॥ 6 ॥

17 तदेवं 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे' इति स्वपक्षः स्थापितः । इदानीं 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' इति परपक्षस्य पूर्वोक्तत्यागत्रैविध्यव्याख्यानेन निराकरणमारभते –

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ 7 ॥

18 काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्त्वाद्बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव । नियतस्य तु नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य संन्यासस्त्यागो मुमुक्षूणामन्तःकरणशुद्ध्यर्थिनां नोपपद्यते शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमवश्यानुष्ठेयत्वात् । तथाचोक्तं प्राक्– 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इति ।

19 ननु दोषवत्त्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपश्वादिहिंसामिश्रितत्वेन सांख्यैरभिहितम् । न च 'व्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' इत्यादिविशेषविधिगोचरत्वात्क्रत्वङ्गहिंसाया 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यनिषेधस्य तदितरपरत्वमिति सांप्रतं

पूर्व में मैंने कहा था कि 'निश्चयं शृणु मे तत्र' = 'उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो' -- उस निश्चय का यह उपसंहार हो गया । यह भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य का अभिप्राय कहा गया है । उक्त अभिप्राय को भाष्य में प्राप्त करना मन्दबुद्धि-जिज्ञासुओं के लिए उनके निष्णात न होने के कारण कठिन है ॥ 6 ॥

17 इसप्रकार 'यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए -- ऐसा कोई दूसरे मनीषी -- विद्वान् कहते हैं' -- इस वाक्य से अपने पक्ष को स्थापित किया । अब 'सभी कर्म दोषयुक्त हैं अतएव सबका त्याग करना चाहिए -- ऐसा कोई मनीषी -- विद्वान् कहते हैं' -- इस परपक्ष का पूर्वोक्त त्याग की त्रिविधता की व्याख्या द्वारा निराकरण करना आरम्भ करते हैं :--
[नियत कर्म का संन्यास -- त्याग तो उचित नहीं है । मोह के कारण उसका परित्याग करना 'तामस' त्याग कहा गया है ॥ 7 ॥]

18 काम्य कर्म अन्तःकरणशुद्धि के हेतु न होने से और बन्धन के हेतु होने से दोषवत् = दोषयुक्त हैं, अतः बन्धन से निवृत्ति के हेतु को जानने के इच्छुक पुरुषों द्वारा क्रियमाण -- किये जानेवाले काम्य कर्मों का त्याग उचित ही है, किन्तु शुद्धि का हेतु होने से जो अदोष = दोषरहित हैं उन नियत = नित्य कर्मों का संन्यास = त्याग अन्तःकरणशुद्धि के अभ्यर्थी मुमुक्षुजनों के लिए उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र और युक्तियों द्वारा अन्तःकरणशुद्धि के लिए उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए । इसप्रकार पूर्व में भी कहा है -- 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते (गीता, 6.3) = 'अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ होने के इच्छुक मुनि-योगी के लिए भगवदर्पणबुद्धि से किया हुआ शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्य कर्म कारण-साधनरूप से अनुष्ठेय है -- ऐसा कहा जाता है' ।

19 पूर्वपक्ष के रूप में सांख्य-विद्वानों का कथन है -- काम्य कर्मों के समान दर्श, पूर्णमास, ज्योतिष्टोमादि नित्यकर्म भी व्रीहि -- धान, पशु आदि की हिंसा से मिश्रित होने के कारण दोषवत् = दोषयुक्त हैं । यह कथन उचित नहीं है कि 'व्रीहीनवहन्ति' = 'धान कूटता है'; 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' = 'अग्नि और सोम जिसके देवता हैं ऐसे पशु की हिंसा करे' -- इत्यादि विशेषविधि का विषय यज्ञ की अङ्गभूत

भिन्नविषयत्वेन विधिनिषेधयोरबाधेनैव समावेशसंभवात् । निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थहेतु-हिंसेत्यभिहितं न त्वक्रत्वर्था सेति, विधिना च क्रत्वर्था सेत्यभिहितं न त्वनर्थहेतुर्नेति । तथा च क्रतूपकारकत्वपुरुषानर्थहेतुत्वयोरेकत्र संभवात्क्रत्वर्थाऽपि हिंसा निषिद्धैवेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि सर्वं दुष्टमेव । विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं श्येनादिवदुपपन्नमेव । यथा हि 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इत्याद्यभिचारविधिना विहितोऽपि श्येनादिर्न हिंस्यात्सर्वा भूतानीतिनिषेधविषयत्वादनर्थहेतुरेव तद्दोषसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवशीकृतस्य तत्राधिकार एवं ज्योतिष्टोमादावपि । तथा चोक्तं महाभारते—

'जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते ।
अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते ॥' इति ।

मनुनाऽपि—

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥'

हिंसा है, अतः 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' = 'सभी प्राणियों की हिंसा न करे ' – इस सामान्यनिषेध का विषय यज्ञाङ्गहिंसा से भिन्न हिंसा है; क्योंकि ये विधिवाक्य और निषेधवाक्य भिन्न-भिन्न विषयक हैं अतएव इन दोनों में एक-दूसरे का बाध न करने से ही समावेश सम्भव है । निषेधवाक्य से यह कहा गया है कि हिंसा मनुष्य के लिए अनर्थ का हेतु है, न कि यह कहा गया है कि वह हिंसा यज्ञ के लिए है और विधिवाक्य से यह कहा गया है कि वह हिंसा यज्ञ के लिए है, न कि यह कहा गया है कि वह अनर्थ की हेतु नहीं है । इसप्रकार यज्ञ के लिए उपकारक होना और पुरुष के लिए अनर्थ का हेतु होना – ये दोनों धर्म एक वस्तु अर्थात् हिंसा में रह सकते हैं, अतः यज्ञार्थ हिंसा भी निषिद्ध ही है -- इसप्रकार हिंसायुक्त दर्श, पूर्णमास, ज्योतिष्टोमादि सब कर्म दुष्ट ही हैं । विहित का भी निषिद्ध होना और निषिद्ध का भी विहित होना श्येनयागादि[23] के समान उचित ही है । जिसप्रकार कि 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' = 'श्येनयाग द्वारा अभिचार–मारण करता हुआ यजन करे' -- इत्यादि अभिचार- मारणविधि से विहित भी श्येनयागादि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' = 'सभी प्राणियों की हिंसा न करे' -- इस निषेधवाक्य का विषय होने के कारण अनर्थ का हेतु ही है और उस दोष के सहिष्णु रागद्वेषादि से वशीकृत पुरुष का ही उसमें अधिकार है – उसीप्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में भी समझना चाहिए । ऐसा ही महाभारत में भी कहा है --

"जप तो सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है, क्योंकि जपयज्ञ जीवों की अहिंसा से प्रवृत्त होता है" ।

मनु ने भी–

"ब्राह्मण जप करने से ही सब सिद्धियों को प्राप्त होता है – इसमें सन्देह नहीं है । वह अन्य यज्ञादि कर्म करे या न करे, ब्राह्मण उतने से ही 'मैत्र' कहलाता है" (मनुस्मृति, 2.87) ।

---

23. 'श्येन' शब्द को याग का नामधेय मानने का कारण यह है कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'– इस विधि वाक्य में 'श्येन' शब्द का व्यपदेश है, यह नहीं है कि इसमें 'श्येन' – 'बाज' नामक पक्षी का विधान किया गया है, कारण कि जो अर्थ विधेय होता है उसकी अर्थवाद से स्तुति की जाती है,, प्रकृत स्थल में 'श्येन' पक्षी की स्तुति नहीं है, किन्तु 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' – इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा 'श्येन' पक्षी के उपमान के द्वारा 'श्येन' पक्षी से इतर अर्थ की ही स्तुति की गई है, कारण कि 'श्येन' की उपमा देकर श्येन की ही स्तुति नहीं हो सकती है, क्योंकि दो भिन्न-भिन्न पदार्थ ही उपमान और उपमेय हो सकते है । 'श्येनयाग' ऐसी क्रिया है जिसके अनुष्ठान से शत्रु की मृत्यु हो जाती है अतएव इस याग का फल अभिचाररूप है, तदनुसार ही विधिवाक्य है ।

इति वदता मैत्रीमहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम् । अन्तःकरणशुद्धिश्चेदृशेन गायत्रीजपादिना सुतरामुपपत्स्यत इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना श्येनादिकमिव कर्माधिकारिणाऽपि त्याज्यम् ।

20 **इति प्राप्ते ब्रूमः— न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात् । तथाहि— विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते । तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः । येन विरोधो न स्यात्किंतु प्रवर्तनैव । प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती कचित्क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थभावमापन्नं विषयी करोतीत्यन्यत् । पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति न वाऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति । किंतु यथाप्राप्तमेवावलम्बते बलवदिच्छाविषये स्वत एव प्रवृत्तेः स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात् । अत एव विहितश्येनफलस्यापि शत्रुवधरूपस्याभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात् । विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्बते । सा चानर्थहेतुं न विषयी करोतीति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थलौकिकहिंसाविषयम् । तेन श्येना-**

इसप्रकार कहकर मैत्री और अहिंसा की प्रशंसा करते हुए हिंसा की दुष्टता ही प्रतिपादित की है । अन्तःकरणशुद्धि इसप्रकार के गायत्रीजपादि से अच्छी प्रकार हो सकती है, अतः जो दोष को सहन नहीं कर सकता है उस कर्माधिकारी को भी श्येनयागादि के समान हिंसादि दोषों से दुष्ट-दूषित ज्योतिष्टोमादि नित्य कर्मों का त्याग करना चाहिए ।

20 ऐसा प्राप्त होने पर हम सिद्धान्त कहते हैं :-- यज्ञार्थ हिंसा अनर्थ की हेतु नहीं है, क्योंकि विधि का स्पृश होने पर निषेध के लिए अवकाश नहीं होता है । इसी कारण, बलवती इच्छा के विषय की साधनता की ज्ञानरूपा प्रवर्तना को करती हुई विधि से अनर्थ के साधन में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से अपने विषय अर्थात् प्रवर्तना के विषय में अनर्थसाधनता का अभाव भी अर्थतः आक्षिप्त -- प्राप्त हो जाता है ।[24] इसलिए विधि के विषय में अनर्थ की हेतुता नहीं हो सकती है, क्योंकि यज्ञार्थता साक्षात् विधि का विषय नहीं है, जिससे विरोध न हो, किन्तु प्रवर्तना ही साक्षात् विधिविषय है । प्रवर्तनाकर्मभूत पुरुष की प्रवृत्ति तो पुरुषार्थ को ही विषय करती हुई कहीं पुरुषार्थभाव को प्राप्त हुए यज्ञ के भी पुरुषार्थ के साधनरूप से विषय करती है -- यह अन्य बात है । बलवती इच्छा की प्राप्ति की दशा में उत्पन्न होनेवाली पुरुष की प्रवृत्ति न तो भाव्य अर्थ की हेतुता का आक्षेप करती है और न अनर्थ की हेतुता का प्रतिक्षेप-निराकरण करती है; किन्तु यथाप्राप्त का ही अवलम्बन करती है, क्योंकि बलवती इच्छा के विषय में स्वतः ही प्रवृत्ति होने से स्वर्गादि में विधि की अपेक्षा नहीं होती, अतएव विहित श्येनयाग के फल शत्रुवधरूप अभिचार में अनर्थ की हेतुता उपपन्न-उचित ही है, कारण कि फल में विधिजन्य प्रवृत्ति की विषयता नहीं होती है । विधिजन्य

---

24. अभिप्राय यह है कि जीव की बलवती इच्छा के विषय स्वर्गादि हैं, उनकी प्राप्ति का साधन यागादि क्रिया है, उस साधन का ज्ञान विधिवाक्यों से होता है और इस ज्ञान का नाम ही प्रवर्तना है – इसप्रकार जिस विधिवाक्य से इन यज्ञादि की इष्टसाधनता का ज्ञान होता है उससे ही अनिष्ट के साधन में प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती है, अतः प्रवर्तना के विषयभूत जो यज्ञादि हैं उनमें अनर्थसाधनता का अभाव है – यह अर्थतः प्राप्त होता है ।

ग्नीषोमीययोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः । विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे षोडशिग्रहणस्यात्यनर्थहेतुत्वापत्तिर्नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधात् । तस्मान्न किंचिदेतदिति भाट्टं दर्शनम् । प्राभाकरं तु दर्शनं फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वं, तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते । अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्तकः । स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति प्रधानभूता हिंसाऽनर्थं जनयति न क्रत्वर्थेति न हिंसामिश्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव । एतावन्मात्रे तु विशेषः, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्रार्थपदव्यावर्त्यत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः प्राभाकरमते । भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाभिचारस्यानर्थहेतुत्वादधर्मत्वं, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव । अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन तु शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहारः । तदुक्तं--

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' इति ।

प्रवृत्ति के विषय धात्वर्थरूप करण को तो प्रवर्तना विषय करती है, वह अनर्थ के हेतु को विषय नहीं करती है -- इसप्रकार विशेषविधि से बाधित सामान्यनिषेधवाक्य रागद्वेषादिमूलक और यज्ञ के लिए न होनेवाली हिंसा का विषय होता है । इससे श्येनयाग और अग्निषोमीय याग में विषमता होने के कारण ज्योतिष्टोमादि का अदुष्टत्व = दोषरहित होना उचित ही है । यदि विधि से स्पृष्ट कर्म भी निषेध का विषय होता है तो षोडशीग्रहण में भी अनर्थ की हेतुता की आपत्ति -- प्राप्ति होगी, क्योंकि 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' = 'अतिरात्र यज्ञ में षोडशी का ग्रहण नहीं करता है -- इसप्रकार इसका निषेध भी किया है । इसलिए यह कुछ नहीं है अर्थात् सांख्यसम्मत पूर्वपक्ष कुछ नहीं है -- यह भाट्ट दर्शन-मत है । प्राभाकर दर्शन-मत तो कहता है कि फल के साधन में राग से ही प्रवृत्ति सिद्ध है, अत: नियोग प्रवर्तक नहीं होता है, इसलिए श्येनयाग रागजन्य प्रवृत्ति का विषय होने से उसमें विधि की उदासीनता के कारण उसमें अनर्थ की हेतुता विधि से प्रतिक्षिप्त -- निराकृत नहीं होती है । यज्ञ की अङ्गभूता जो अग्निषोमीय हिंसा है उसमें तो फलसाधनता न होने से राग का अभाव होने के कारण विधि ही प्रवर्तक है और वह विधि अपने विषय की अनर्थहेतुता का प्रतिक्षेप-निराकरण करती है; इसप्रकार प्रधानभूता हिंसा अनर्थ उत्पन्न करती है, वह यज्ञ के लिए नहीं होती है, अत: हिंसा से मिश्रित होने से ज्योतिष्टोमादि यज्ञ दुष्ट-दुषित-दोषयुक्त नहीं है -- यह तो दोनों मतों में समान ही है । भाट्ट और प्राभाकर मतों में विशेष-भेद तो इतना है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जैमिनिसूत्र, 1.1.2) = 'चोदना -- प्रवर्तनास्वरूप अर्थ धर्म है' इस लक्षण में 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य प्राभाकरमत में श्येनादि याग है, क्योंकि वह अधर्म है; किन्तु भाट्टमत में श्येनयाग का फल अभिचार ही अनर्थ का हेतु होने से अधर्म है, श्येनयाग तो शास्त्रविहित और समीहित -- अभीष्ट अर्थ का साधन होने से धर्म ही है तथा 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य तो निषिद्ध कलञ्जभक्षण[25] आदि ही है । फलत: =फल की दृष्टि से अनर्थ का हेतु होने से ही शिष्टजनों में श्येनयागादि का धर्मरूप से व्यवहार नहीं होता है । ऐसा कहा भी है :--

---

25. 'कलञ्ज' विषाक्तवाण से मारे हुए पशु-पक्षी के मांस को कहते हैं ।

21 **तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वमनर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विध्यर्थः । तत्र क्रत्वर्थहिंसायां साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्यत्वार्थहेतुत्ववदनर्थाहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम् । श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वावगमात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं श्येनाग्नीषोमीययोर्वैलक्षण्यम् ।**

22 **औपनिषदैस्तु भाट्टमेव दर्शनं व्यवहारे प्रायेणावलम्बितम् । तथा च भगवद्बादरायणप्रणीतं सूत्रम्– 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति । ज्योतिष्टोमादिकर्माग्नीषोमीयहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति चेत्, न, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिविधिशब्दादित्यक्षरार्थः । जपप्रशंसापरं तु वाक्यं न क्रत्वर्थ-**

"जो कर्म फल की दृष्टि से भी अनर्थ से नहीं बाँधता है वही केवल प्रीति का हेतु होने से 'धर्म' कहा जाता है" ।

21 तार्किकों का दर्शन तो यह है कि कृतिसाध्यता, अर्थहेतुता और अनर्थाहेतुता = अनर्थ की अहेतुता -- अनर्थहेतुता का अभाव -- ये तीन विधि[26] के अर्थ -- प्रयोजन हैं । उसमें, यज्ञार्थ हिंसा में साक्षात् निषेध का अभाव होने से और प्रायश्चित्त का उपदेश न होने से कृतिसाध्यता और अर्थहेतुता के समान अनर्थहेतुता का अभाव भी विधि से बोधित होता है, अत: उस यज्ञार्थहिंसा में अनर्थ की हेतुता नहीं है अर्थात् यज्ञार्थहिंसा अनर्थ की हेतु नहीं है । श्येनयागादि में तो अभिचार का साक्षात् ही निषेध किया गया है और उसके प्रायश्चित्त का भी उपदेश है, इसलिए उसमें ही अनर्थहेतुता का ज्ञान होने से विधि से उसकी अनर्थहेतुता बोधित नहीं होती है । इसप्रकार श्येनयाग और अग्निषोमीय याग में विलक्षणता उपपन्न -- उचित ही है ।

22 औपनिषद = वेदान्ती तो भाट्टदर्शन का ही प्रायः व्यवहार में अवलम्बन करते हैं । इसप्रकार भगवान् बादरायणप्रणीत वेदान्तसूत्र है -- 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.25) = 'व्रीहि आदि में यदि अनुशयी जीव रहता है तो उसको काटने आदि के समय कष्ट होता होगा, इससे हिंसाजन्य अन्न अशुद्ध है -- यदि ऐसी शंका होती है तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द से उसमें अभिमानरहित अनुशयी की प्राप्ति होती है । भोग के लिए उसमें पापी की प्राप्ति होती है, निरभिमानी अनुशयी उसमें आकाश के समान असंग रहता है, इससे सुख-दु:खादि का भागी नहीं होता है और न उसकी हिंसा द्वारा अन्न अशुद्ध होता है -- इत्यादि' -- अर्थात् ज्योतिष्टोमादि कर्म अग्निषोमीय हिंसादि से मिश्रित होने के कारण दुष्ट = अशुद्ध है -- यदि ऐसी शंका होती है तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' = 'अग्निषोमीय पशु को प्राप्त करे'-- इत्यादि विधिपरक शब्द प्रमाण है -- यह अक्षरार्थ है । जप की प्रशंसा करनेवाला वाक्य तो यज्ञार्थ हिंसा के अधर्मत्व का बोधक नहीं है, क्योंकि उसमें उसका तात्पर्य ही नहीं है[27] । इसप्रकार सांख्यविद्वानों का जो विहित में निषिद्धत्वज्ञान, अनर्थहेतुता -- अनर्थ की हेतुता के अभाव में अनर्थहेतुता का ज्ञान, धर्म में अधर्मत्व-

---

26. 'विधिर्विधायक:' (न्यायसूत्र, 2.1.62) = यद्वाक्यं विधायकं चोदकं, स विधि: । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथा – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि (न्यायभाष्य) = 'इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधि:' (न्यायसूत्रवृत्ति) = 'इदं मदिष्टसाधनम्' -- 'यह कार्य मेरा इष्टसाधन है' – इसप्रकार की इष्टसाधनता के बोधक ज्ञान से समभिव्याहृत वाक्य ' विधि' कहलाता है, जैसे – 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इत्यादि । कृतिसाध्यता, अर्थहेतुता और अनर्थाहेतुता – ये तीन विधि के अर्थ – प्रयोजन हैं । 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' = 'यह कार्य मेरे प्रयत्न से साध्य है' – यह 'कृतिसाध्यता' है । विधिविहित कार्यकर्ता के अर्थ -- प्रयोजन अर्थात् अभीष्ट स्वर्गादि फल का हेतु – कारण या उपाय है – यह 'अर्थहेतुता' है तथा वह हेतु परिणाम में अनर्थ का हेतु – कारण नहीं है – यह 'अनर्थाहेतुता' है ।

27. यह पूर्वपक्षी द्वारा उद्धृत महाभारत और मनुस्मृति के वाक्यों के विषय में उत्तर है ।

हिंसाया अधर्मत्वबोधकं तस्य तत्रातात्पर्यात् । तथाच सांख्यानां विहिते निषिद्धत्वज्ञानमनर्थहितावनर्थहेतुत्वज्ञानं धर्मे चाधर्मत्वज्ञानमनुष्ठेये चाननुष्ठेयत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहस्तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः। मोहो हि तमः ॥ 7 ॥

23 **पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि–**

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ 8 ॥

24 **अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्त्वा कायक्लेशभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत्स त्यागो राजसः । दुःखं हि रजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सात्त्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभेल्लभते ॥ 8 ॥**

25 **कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः । कीदृशः पुनरुपादेयः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते–**

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ 9 ॥

26 **विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्वा नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं**

ज्ञान और अनुष्ठेय में अनुष्ठेय की अयोग्यता का ज्ञान है वह उनका विपर्ययरूप[28] मोह[29] है, उस मोह के कारण जो नित्य कर्म का परित्याग है वह 'तामस' त्याग कहा गया है, क्योंकि मोह ही तम[30] है ॥ 7 ॥

23 पूर्वोक्त मोह के न होने पर भी --
[जो पुरुष 'दु:खम्' = 'यह दु:खरूप ही है' -- यह मानकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥ 8 ॥]

24 अन्त:करणशुद्धि न होने के कारण कर्माधिकारी भी 'यह सब दु:खरूप ही है'-- ऐसा मानकर शारीरिक क्लेश के भय से जो नित्य कर्मों का त्याग करता है वह 'राजस' त्याग कहलाता है, क्योंकि दु:ख ही रजोगुण[31] है; अत: मोह से रहित होने पर भी वह राजस पुरुष तादृश राजस त्याग को करके भी त्यागफल = सात्त्विक त्याग के ज्ञाननिष्ठास्वरूप फल को प्राप्त ही नहीं होता है ॥ 8 ॥

25 तामस और राजस कर्मत्याग हेय -- त्याज्य है -- यह दिखलाया, तो फिर प्रश्न है कि कैसा त्याग उपादेय -- ग्राह्य है ? सात्त्विक त्याग ग्राह्य है -- यह कहते हैं :--
[हे अर्जुन ! 'कार्यम्' = 'करना चाहिए' -- ऐसा समझकर ही सङ्ग और फल का त्याग करके जो नियत – नित्य कर्म का अनुष्ठान किया जाता है वह ही त्याग 'सात्त्विक' माना गया है ॥ 9 ॥]

26 विधिवाक्य में उद्दिष्ट फल का श्रवण न होने पर भी 'कार्यम् = कर्तव्यम्' = 'कर्म करना ही चाहिए'

---

28. 'यदविद्यया विपर्ययेणाऽवधार्यते वस्तु' -- अविद्या के कारण जो वस्तु 'विपरीत' अर्थात् अवस्तु रूप से जानी जाती है वह 'विपर्यय' है ।
29. 'मोह' अज्ञान का कार्य होने से विपर्यय के स्वभाववाला है ।
30. 'तम' विषयाभेद के कारण विपर्यय से अभिन्न है अतएव 'मोह' ही है ।
31. 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका:' (सांख्यकारिका, 12) = 'अप्रीति: दु:खम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुण;' (तत्त्वकौमुदी) = 'अप्रीति' का अर्थ दु:ख है, अप्रीत्यात्मक – दु:खात्मक अर्थात् दु:खस्वरूप ' रजोगुण' होता है ।

फलं च त्यक्त्वैव यत्क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मत आदेयत्वेन संमतः शिष्टानाम् ।

27 ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् । उच्यते— अस्मादेव भगवद्वचनान्नित्यानां फलमस्तीति गम्यते निष्फलस्यानुष्ठानासंभवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः— 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इत्यानुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्यवायस्मृतिश्च नित्यानां प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति । 'धर्मेण पापमपनुदति । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' । 'येन केन च यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति । तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गꣳ सꣳस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' इत्यादिश्रुतयश्च ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयलक्षणं ज्ञानयोग्यतारूपपुण्योत्पत्तिलक्षणं चाऽऽत्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणां फलं दर्शयन्ति । तदभिसंधिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानीत्यर्थः ।

---

26 -- ऐसा समझकर जो नियत = नित्य कर्म सङ्ग = कर्तृत्वाभिनिवेश -- कर्तृत्वाभिमान और फल को त्याग कर ही अन्तःकरणशुद्धिपर्यन्त किया जाता है वह त्याग 'सात्त्विक' = सत्त्वगुण से निर्वृत्त – समुत्पन्न माना गया है – वही शिष्यजनों को ग्राह्यरूप से अभिमत है ।

27 प्रश्न है -- नित्य कर्मों का तो फल ही नहीं होता है, फिर 'फलं त्यक्त्वा' -- 'फल को त्याग कर' – ऐसा कैसे कहा है ? उत्तर कहते हैं – भगवान् के इस वाक्य से ही यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मों का भी फल होता है, कारण कि निष्फल – फलरहित कर्म का तो अनुष्ठान ही नहीं हो सकता है । इसीप्रकार आपस्तम्ब भी कहते हैं – 'जैसे फल के लिए लगाये हुए आमवृक्ष के साथ छाया और गन्ध भी पैदा हो जाते हैं वैसे ही धर्म का आचरण करने के साथ ही अर्थ भी उत्पन्न हो जाते हैं' -- इसप्रकार वे नित्य कर्मों का आनुषङ्गिक फल दिखलाते हैं[32] । नित्य कर्मों को न करने पर प्रत्यवाय[33] बतलानेवाली स्मृति[34] भी नित्य कर्मों के सम्पादन से प्रत्यवायपरिहाररूप फल को दिखलाती है, यथा -- 'धर्म से पाप दूर होता है, इसलिए धर्म को श्रेष्ठ कहते हैं' । 'जिस किसी वस्तु से भी यजन करे, दर्वी – स्रुवा द्वारा होम करने से पुरुष उपघातशून्य मनवाला ही होता है'; 'कोई कहता है कि देवयाजी श्रेष्ठ है अथवा आत्मयाजी कहता है -- 'आत्मयाजी श्रेष्ठ है' और आत्मयाजी वही हैं जो यह जानता है कि इस कर्म से मेरे अङ्ग का संस्कार होता है, इस कर्म से मेरे अङ्ग का उपधान होता है'- इत्यादि श्रुतियाँ भी ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबन्धक पापक्षयस्वरूप और ज्ञानोत्पत्ति के लिए योग्यतारूप पुण्योत्पत्तिस्वरूप आत्मसंस्कार को नित्य कर्मों का फल दिखलाती है[35] । अतएव फल की आकांक्षा का त्याग कर नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए -- यह अर्थ है ।

---

32. 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.5.16) = 'कर्म से पितृलोक और विद्या – ज्ञान से देवलोक की प्राप्ति होती है'- इस श्रुति के अनुसार भी पितृलोक की प्राप्ति नित्यकर्म का आनुषङ्गिक फल सिद्ध है ।

33. 'नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि' (वेदान्तसार-सदानन्द) -- नित्य कर्मों को न करने से प्रत्यवाय होता है ।

34. 'तपसा किल्विषं हन्ति' (मनुस्मृति, 12.104) = 'तप से पाप का नाश होता है' – यह स्मृतिवाक्य नित्य कर्म के प्रत्यवायपरिहाररूप फल को प्रदर्शित करता है ।

35. सुरेश्वराचार्य तत्त्वज्ञान को नित्य कर्मों का फल कहते हैं । उनके अनुसार नित्यकर्मों से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पाप का नाश होता है, पापनाश से चित्त की शुद्धि होती है, चित्तशुद्धि से संसार का तत्त्वबोध होता है, संसार-तत्त्वबोध से वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य से मोक्ष में इच्छा होती है, मोक्षेच्छा से मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा होती है इसका परिणाम सब कर्मों का त्याग होता है । तदुपरान्त योगाभ्यास आरम्भ होता है जिसके फलस्वरूप

28 यदुक्तं त्यागसंन्यासशब्दौ घटपटशब्दाविव न भिन्नजातीयार्थौ किंतु फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्याग एव तयोरर्थ इति तन्न विस्मर्तव्यम् । तत्र सत्यपि फलाभिसंधौ मोहाद्वा कायक्लेशभयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्तामसत्वेन राजसत्वेन च निन्दितः । यस्तु सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागः स विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः सात्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृते विशेषणाभावकृते च विशिष्टाभावत्वस्य समानत्वान्न पूर्वापरविरोधः । उभयाभाव कृतस्तु निर्गुणत्वान्न त्रिविधमध्ये गणनीय इति चावोचाम । एतेन 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रतिज्ञाननुरूपां कर्मानुष्ठानलक्षणां तृतीयां विधां दर्शयतो भगवतः प्रकटमकौशलमापतितम् न हि भवति त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्या द्वौ कठकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्विदिति परास्तम् । तिसृणामपि विधानां विशिष्टाभावरूपेण त्यागसामान्येनैकजातीयतया प्राग्व्याख्यातत्वात् । तस्माद्भगवदकौशलोद्भावनमेव महदकौशलमिति द्रष्टव्यम् ॥ 9 ॥

29 सात्त्विकस्य त्यागस्याऽऽदानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठां फलमाह—

---

28 पूर्व में यह जो कहा है कि 'त्याग' और 'संन्यास' -- ये दो शब्द 'घट' और 'पट' – इन दो शब्दों के समान भिन्नजातीय अर्थ के बोधक नहीं है, किन्तु फलाभिसन्धि – फलाकांक्षापूर्वक कर्म का त्याग ही उन दोनों का अर्थ है – उसको भूलना नहीं चाहिए । उसमें फलाकांक्षा के रहने पर भी मोह अथवा शरीरक्लेश के भय से जो कर्मत्याग है वह विशेष्य -- कर्म के अभाव द्वारा किया हुआ विशिष्ट का अभाव = फलाकांक्षाविशिष्ट कर्म का अभाव – विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है वह तामस और राजस होने से निन्दित है । कर्म के रहने पर भी जो तो फलाकांक्षात्याग है वह विशेषण – फलकांक्षा के अभाव द्वारा किया हुआ विशिष्ट का अभाव – कर्मविशिष्ट फलाकांक्षा का अभाव – विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है वह सात्त्विक है अतएव उसकी स्तुति – प्रशंसा की जाती है । इसप्रकार विशेष्याभावकृत और विशेषणाभावकृत विशिष्टाभावों में विशिष्टाभावत्व समान है अतएव पूर्वापर में विरोध नहीं है । विशेषण -- फलाकांक्षा के अभाव और विशेष्य – कर्म के अभाव अर्थात् विशेषण और विशेष्य -- दोनों के अभाव से किया हुआ विशिष्टाभाव तो निर्गुण है अतएव इसकी त्रिविध में गणना नहीं है – यह हम कह चुके हैं । इससे 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: संप्रकीर्तित:' = 'हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग सात्त्विक, राजस और तामस -- भेद से तीन प्रकार का कहा गया है' – इसप्रकार प्रतिज्ञा कर दो प्रकार के कर्मत्याग के स्वरूप को दिखलाकर प्रतिज्ञा के अननुरूप-विरुद्ध कर्मानुष्ठानस्वरूप तृतीय विधा को दिखलाते हुए भगवान् में प्रकट अकौशल -- अनैपुण्य की हुई आपत्ति का निरास उसीप्रकार हो जाता है जिसप्रकार कोई कहता है कि तीन ब्राह्मणों को भोजन कराना है -- दो तो कठ और कौण्डिन्य हैं तथा तीसरा क्षत्रिय है -- इस वाक्य में कोई अकौशलरूप आपत्ति नहीं होती है, कारण कि तीनों विधियों -- प्रकारों में विशिष्टाभावरूप से त्यागसामान्य द्वारा एकजातीयता है – यह पूर्व में भी व्याख्यात है । इसलिए भगवान् में अकौशल की उद्भावना करना ही महान् अकौशल है -- यह समझना चाहिए ।। 9 ।।

चित्तवृत्ति आत्मनिष्ठ होती है । चित्तवृत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है जिसके फलस्वरूप अज्ञान नष्ट होता है । अज्ञान नष्ट होने पर मुमुक्षु साधक मोक्ष को प्राप्त होता है – इसप्रकार नित्य कर्मों के सम्पादन से परम्परया तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त होता है (नैषकर्म्यसिद्धि, 1.52) ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ 10 ॥

30 यस्त्यागी सात्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहितकर्मानुष्ठायी स यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनाऽऽत्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना चित्तगतेनातिशयेन सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलराहित्येनाऽऽसमन्तात्फलाव्यभिचारेणाऽऽविष्टो व्याप्तो भवति भगवदर्पितनित्यकर्मानुष्ठानात्पापमलापकर्षकलक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्तःकरणं यदा भवतीत्यर्थः । तदा मेधावी शमदमसर्वकर्मोपरमगुरूपसदनादिसामवायिकाङ्गयुक्तेन मननिदिध्यासनाख्यफलोपकार्यङ्गयुक्तेन न श्रवणाख्यदेदान्तवाक्यविचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणकं निरस्तसम-

---

29 सात्त्विक त्याग को ग्रहण करने के लिए उसके सत्त्वशुद्धि – अन्त:करणशुद्धि द्वारा ज्ञाननिष्ठारूप फल को कहते हैं :–

[सात्त्विक-त्यागी पुरुष जब सत्त्व से समाविष्ट -- व्याप्त हुआ मेधावी -- मेधा से युक्त और संशय-विपर्यय से शून्य हो जाता है तब वह अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता है और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता है ॥ 10 ॥]

30 जो त्यागी = सात्त्विक -- त्याग से युक्त अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से कर्तृत्वाभिनिवेश – कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा को त्यागकर अन्त:करणशुद्धि के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला है वह जब सत्त्वसमाविष्ट = सत्त्व से – आत्मानात्मविवेकज्ञान के हेतुभूत चित्तगत अतिशय से समाविष्ट – सम्-सम्यक् ज्ञान के प्रतिबन्धक रजोगुण – तमोगुणरूप मल के राहित्य से आ -- समन्तात् -- सब प्रकार – फल के अव्यभिचार से आविष्ट = व्याप्त होता है अर्थात् भगवदर्पित नित्य कर्मों के अनुष्ठान से जब पापरूप मल के अपकर्षकस्वरूप और ज्ञानोत्पत्ति में योग्यतारूप पुण्यगुणों के आधानस्वरूप संस्कार से संस्कृत अन्तःकरणवाला होता है; तब वह मेधावी = शम, दम, सर्वकर्मोपरम – सब कर्मों से उपरम-उपरति, गुरूपसदन -- गुरूपसत्ति[36] इत्यादि सामवायिक[37] अङ्गों से युक्त और मनन – निदिध्यासनसंज्ञक फलोपकारी[38] अङ्गों से युक्त श्रवणसंज्ञक वेदान्तवाक्यों के विचार से परिनिष्पन्न-- समुत्पन्न, वेदान्तमहावाक्यकरणक, समस्त अप्रामाण्य की आशंका से रहित, 'चित्' के अतिरिक्त अन्य किसी को विषय न करनेवाला 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10) = 'मैं ब्रह्म हूँ'-- इत्याकारक ब्रह्मात्मैकज्ञान = ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान ही मेधा है, उससे नित्य युक्त मेधावी[39] अर्थात् स्थितप्रज्ञ होता है । तब वह छिन्नसंशय = 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस विद्या –

---

36. श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से मन का निग्रह करना 'शम' है । श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों को हटा लेना 'दम' है । 'विहितानां कर्मणां विधिना परित्याग:' = विहित अर्थात् नित्य, नैमित्तिक कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग 'सर्वकर्मोपरम' = सब कर्मों से 'उपरति' है । 'गुरुसमीपे गमनम्' = गुरु के समीप जाना अर्थात् गुरु की शरण ग्रहण करना 'गुरूपसदन' = ' गुरूपसत्ति' है ।

37. शम, दम, उपरति, गुरूपसत्ति आदि श्रवण के सामवायिक = समवाये प्रसृत: = समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले = नित्य सम्बन्धवाले अर्थात् अभिन्न सम्बन्धवाले अङ्ग हैं ।

38. मनन और निदिध्यासन श्रवण के फलोपकारी = फलोपलब्धि में उपकारी – सहकारी अङ्ग हैं ।

39. 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय: ॥' (वार्तिक, 3183)

स्ताप्रामाण्याशङ्कं चिदन्याविषयकमहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव मेधा तया नित्यं युक्तो मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति । तदा छिन्नसंशयोऽहं ब्रह्मास्मीतिविद्यारूपया मेधया तदविद्योच्छेदे तत्कार्यसंशयविपर्ययशून्यो भवति । तदा च क्षीणकर्मत्वान्न द्वेष्ट्यकुशलं कर्माशोभनं काम्यं निषिद्धं वा कर्म न प्रतिकूलतया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्यभिमानरहितत्वेन कृतकृत्यत्वात् । तथा च श्रुतिः--

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥' इति ।

यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महताऽपि प्रयत्नेन स एवोपादेय इत्यर्थः ॥ 10 ॥

31 **तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संभाव्यते कर्मप्रवृत्तिहेत्त्वो रागद्वेषयोरभावादित्युक्तं, संप्रत्यज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुरुच्यते --**

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ 11 ॥

32 **मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनाबाधितेन देहं कर्माधिकारहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृभोक्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातं बिभर्ति अनाद्यविद्यावासनावशाद्व्यवहारयोग्य-**

ज्ञानरूपी मेधा से उसकी अविद्या - अज्ञान का उच्छेद-नाश होने पर उस अविद्या के कार्य संशय -- विपर्यय से शून्य होता है । तब क्षीणकर्म होने से वह अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता है अर्थात् अशुभ काम्य अथवा निषिद्ध कर्मों को प्रतिकूल नहीं मानता है और कुशल -- शुभ अर्थात् नित्य कर्मों में आसक्त नहीं होता है -- प्रीति नहीं करता है, क्योंकि कर्तृत्वादि के अभिमान से रहित हो जाने से वह कृतकृत्य होता है । इसप्रकार श्रुति भी कहती है --
"उस परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सब संशयों का उच्छेद हो जाता है और सब कर्मों का क्षय हो जाता" (मुण्डकोपनिषद्, 2.2.8) ।"
क्योंकि सात्त्विक त्याग का फल ऐसा है, इसलिए महान् प्रयत्न से भी वह ही उपादेय-ग्राह्य है -- यह अर्थ है ॥ 10 ॥

31 इसप्रकार आत्मज्ञानवान् में सर्वकर्मत्याग की संभावना है, क्योंकि उसमें ही कर्मप्रवृत्ति के हेतुभूत राग और द्वेष का अभाव रहता है -- यह कहा है, अब अज्ञानी में कर्मत्याग की संभावना नहीं है -- इसमें हेतु कहते हैं :--
[क्योंकि देहाभिमानी पुरुष के द्वारा अशेषत:-- सम्पूर्णतया सब कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता है, इसलिए जो कर्मों के फल का त्यागी है वही 'त्यागी' है -- ऐसा कहा जाता है ॥ 11 ॥]

32 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' -- इत्यादि अबाधित अभिमान से जो देह को = कर्माधिकार के हेतुभूत वर्णाश्रमादिरूप, कर्तृत्व -- भोक्तृत्वादि के आश्रय स्थूल -- सूक्ष्म शरीर और

इस वार्तिक के अनुसार 'मेधावी' शब्द में नित्य योग में मतुब्अर्थीय प्रत्यय है । मेधावी = मेधाऽस्यास्ति (जिसके मेधा है = मेधावाला) = 'मेधा' = 'धीर्धारणावती मेधा (अमरकोश, 1.5.2) -- धारणशक्तिवाली धी-बुद्धि 'मेधा' है = 'मेधा' शब्द से 'अस्मायामेधास्रजो विनि:' (पाणिनिसूत्र, 5.2.121) -- इस सूत्र के अनुसार मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय है = मेधा + विनि -- विन् = 'मेधावी' -- इसप्रकार निष्पन्न होता है ।

त्वेन कल्पितमसत्यमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वाभिन्नतया पश्यन्धारयति पोषयति चेति देहभृदबाधितकर्माधिकारहेतुदेहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रवृत्तिहेतुरागद्वेष-पौष्कल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतो निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्मान्न शक्यं न शक्यानि सत्यां कारणसामग्र्यां कार्यत्यागस्याशक्यत्वात् । तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । तुशब्दस्तस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यपि सन् । अशेषकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शिनैव देहभृता शक्यते कर्तुमिति स एव मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ 11 ॥

33 **ननु देहभृतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलाभिसंधित्यागित्वेन गौणसंन्यासिनः परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासिनश्च कः फले विशेषो यदलाभेन गौणत्वमेकस्य यल्लाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः । उच्यते –**

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥ 12 ॥

इन्द्रियों के संघात को धारण करता है अर्थात् अनादि अविद्या की वासनाओं के कारण व्यवहार के योग्य होने से कल्पित देह को -- असत्य को भी सत्यरूप से, स्वभिन्न -- अपने से भिन्न को भी स्वाभिन्न – अपने से अभिन्नरूप से देखता हुआ धारण – पोषण करता है वह देहभृत् – देह धारण करनेवाला = अबाधित कर्माधिकार का हेतु देहाभिमानी है उस विवेकज्ञान से शून्य देहधारी – देहाभिमानी पुरुष के द्वारा = कर्मप्रवृत्ति के हेतुभूत राग-द्वेष की पुष्कलता के कारण सतत – निरन्तर कर्मों में ही प्रवर्तमान – प्रवृत्त हुए पुरुष के द्वारा-हि = यस्मात् - जिस कारण कर्मों का अशेषत: = निःशेषरूप से त्याग नहीं किया जा सकता है, कारण कि कारणसामग्री के रहते हुए कार्य का त्याग नहीं किया जा सकता है; उस कारण जो तो अज्ञानी अधिकारी सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि के लिए कर्मों को करता हुआ भी भगवान् की अनुकम्पा से उन कर्मों के फल का त्यागी है वह त्यागी न होते हुए भी गौणी-वृत्ति[40] से स्तुति के लिए 'त्यागी' कहा जाता है । यहाँ 'तु' शब्द उसकी दुर्लभता को सूचित करने के लिए है[41] । सब कर्मों का संन्यास-त्याग तो परमार्थदर्शी देही ही कर सकता है, अतः वह ही मुख्यवृत्ति से त्यागी है – यह अभिप्राय है ॥ 11 ॥

33 शंका है – देहधारी परमात्मज्ञानशून्य कर्मी भी कर्मों की फलाकांक्षा का त्यागी होने से गौण – संन्यासी है और परमात्मज्ञानवान् देहाभिमानरहित सर्वकर्मत्यागी मुख्यसंन्यासी है – इन दोनों के फल में क्या विशेष -- भेद है ? जिसके अलाभ से एक में गौणता होती है और जिसके लाभ से दूसरे में मुख्यता होती है, कर्मफलत्यागित्व-कर्मफलत्यागी होना तो दोनों में समान ही है, अतः दूसरा ही कोई विशेष-भेद कहना चाहिए । इसके समाधान में कहते हैं :--

---

40. 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' (तन्त्रवार्तिक, 1.4.22) = लक्ष्यमाणगुणों के योग से वृत्ति की गौणता हो जाती है अर्थात् 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' = गुणों के सम्बन्ध से 'गौणीवृत्ति' कहलाती है ।

41. यहाँ 'तु' शब्द उक्त प्रकार के त्यागी की दुर्लभता सूचित करने के लिए है अर्थात् दूसरे साधारण अज्ञानी पुरुषों से इसप्रकार से फल की आकांक्षा का त्याग करनेवाला सत्त्वशुद्धि के लिए कर्मों को करता हुआ पुरुष दुर्लभ ही है, विलक्षण ही है – यह सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग है ।

34 अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्तसत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति मायामयं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति निरुक्तेः । कर्मण इति जात्यभिप्रायमेकवचनमेकस्य त्रिविधफलत्वानुपपत्तेः । तच्च फलं कर्मत्रिविधत्वात्त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिकूलवेदनीयं नारकतिर्यगादिलक्षणं, पुण्यस्येष्टमनुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणं, मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो हेयत्वार्थः ।

35 एवं गौणसंन्यासिनां शरीरपातादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यकमित्युक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ विदेहकैवल्यमेवेत्याह—न तु संन्यासिनां क्वचित्परमात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च क्वचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यवधारणार्थस्तुशब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे तत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात् । तथा च श्रुतिः—

[अत्यागियों -- गौणसंन्यासियों को मरने के पश्चात् भी अनिष्ट, इष्ट और मिश्र -- तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है, किन्तु संन्यासियों को कभी ऐसा फल प्राप्त नहीं होता है ।। 12 ।।]

34 अत्यागियों = कर्मफलत्यागी होने पर भी कर्मानुष्ठायी अज्ञानी गौणसंन्यासियों को मरने पर = विविदिषापर्यन्त अन्तःकरणशुद्धि होने से पूर्व ही मरने पर पूर्वकृत कर्म का फलरूप मायामय शरीरग्रहण करना होता है, क्योंकि 'जो फल्गु – तुच्छ – असार होने से लय -- अदर्शन को प्राप्त होता है वह 'फल'[42] है – इसप्रकार 'फल' की निरुक्ति -- व्युत्पत्ति है । यहाँ 'कर्मणः[43]' -- यह एकवचन जाति के अभिप्राय से है, क्योंकि एक ही कर्म तीन प्रकार के फलवाला नहीं हो सकता है । कर्म तीन प्रकार का है, इसलिए वह फल भी तीन प्रकार का है । पापकर्म का फल 'अनिष्ट' अर्थात् प्रतिकूलवेदनीय नारक -- तिर्यगादि स्वरूप है, पुण्यकर्म का फल 'इष्ट' अर्थात् अनुकूलवेदनीय देवादिस्वरूप है और पाप-पुण्ययुगलमिश्र का फल इष्टानिष्टसंयुक्त – मिश्र मानुष्यस्वरूप है – इसप्रकार 'त्रिविधम्' = 'त्रिविध फल है' – यह अनुवाद हेयार्थ -- त्यागार्थ है ।

35 इसप्रकार गौणसंन्यासियों को शरीरपात – देहपात के पश्चात् शरीरान्तर -- देहान्तर ग्रहण करना आवश्यक है – यह कहकर मुख्यसंन्यासियों को परमात्मसाक्षात्कार से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर विदेहकैवल्य ही होता है – यह 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस वाक्य से कहते हैं:– परमात्मज्ञानवान् मुख्यसंन्यासी परमहंसपरिव्राजकों को मरने पर किसी भी देश में या किसी भी काल में कर्म का फल इष्ट, अनिष्ट और मिश्ररूप शरीरग्रहण नहीं ही करना होता है – यहाँ 'तु' शब्द अवधारण-निश्चय अर्थ में है –, क्योंकि ज्ञान से अज्ञान का उच्छेद -- नाश होने पर अज्ञान के कार्यभूत कर्मों का भी उच्छेद – विनाश हो जाता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है :--

---

42. फलम् = फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति फलम् = 'असारं फल्गु' (अमरकोश, 3.1.56), 'फल्गुः निरर्थकेऽपि च' (हैमकोश), 'फल्वसारेऽभिधेयवत्' (विश्वकोश) – इसप्रकार कोशत्रय के अनुसार 'फल्गु' का अर्थ है – असार, निरर्थक, निःसार अतएव असार – निःसार होने से जो लय को प्राप्त होता है अर्थात् दिखाई नहीं देता है वह 'फल' कहलाता है । फलरूप मायामय शरीर है अर्थात् जिसप्रकार फल में असारत्व है उसीप्रकार मायामय होने से शरीर में भी असारत्व स्पष्ट ही है । ऐसा मायामय शरीर ही अत्यागियों को मरने के पश्चात् ग्रहण करना होता है ।

43. 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पाणिनिसूत्र, 1.2.58) -- 'जाति का कथन होने पर एकता अर्थ में बहुवचन विकल्प से होता है' – इस सूत्र के अनुसार 'जाति' = अनेकानुगत धर्म का बोध एकत्व – एकवचन से होता है । अतएव प्रकृत में 'कर्मणः' – यह एकवचन जाति के अभिप्राय से है ।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ इति ।'

पारमर्षं च सूत्रम्-- 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मक्षयं दर्शयति । तेन गौणसंन्यासिनां पुनः संसारो मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः ।

36 अत्र कश्चिदाह--

'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च ॥'

इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात्कर्मिण एवात्र फलत्यागसाम्यात्संन्यासिशब्देन गृह्यन्ते । तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्माननुष्ठानेन च पापासंभवान्नानिष्टं फलं संभवति नापीष्टं काम्याननुष्ठानात्, ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च । अत एव मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवः । अत एवोक्तम्--

'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ॥' इति ।

37 स वक्तव्यः शब्दस्यार्थस्य च मर्यादा न निरधारि भवतेति । तथाहि--'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति शब्दमर्यादा । यथा 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इत्यत्रा-

---

"उस कार्य--कारणरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सब संशयों का उच्छेद--नाश हो जाता है और सब कर्मों का क्षय हो जाता है" (मुण्डकोपनिषद्, 2.2-8)। महर्षि वेदव्यास का सूत्र है -- 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र, 4.1.13) = 'ब्रह्म का अधिगम -- अनुभव होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है, क्योंकि श्रुति इसप्रकार व्यपदेश -- कथन करती है' -- यह सूत्र भी परमात्मज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को प्रदर्शित करता है । अत: 'गौणसंन्यासियों को पुन: संसार की प्राप्ति होती है और मुख्यसंन्यासियों को तो मोक्षलाभ ही होता है' -- यह दोनों के फल में विशेष-भेद कहा है ।

36 यहाँ कोई कहते हैं[44] --

'अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: । स संन्यासी च ।।' (गीता, 6.1) = 'जो पुरुष कर्मफल की अपेक्षा न कर अपने कार्य-कर्तव्य कर्मों को करता है वह संन्यासी है' -- इत्यादि में कर्मफल-त्यागी के लिए 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग किया गया है, अत: कर्मी ही यहाँ फलत्यागसादृश्य से 'संन्यासी' शब्द से ग्रहण होता है । उन सात्त्विकों के लिए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान करने से और निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान न करने से पाप संभव न होने के कारण अनिष्ट फल संभव नहीं होता है तथा काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करने से और ईश्वरार्पण से फल का त्याग कर देने से इष्टफल भी संभव नहीं होता है, अतएव मिश्रफल भी संभव नहीं होता है -- इसप्रकार त्रिविध कर्मफल संभव नहीं होता है । अतएव कहा है :--

"मोक्षार्थी पुरुष काम्य और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त न हो तथा प्रत्यवायनिवृत्ति की इच्छा से नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करे" (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, 110) ।

37 उनसे यह कहना है कि आपने शब्द और अर्थ की मर्यादा का निर्धारण नहीं किया है । यह कहा

---

44. यहाँ 'कोई' नीलकण्ठ और श्रीधरस्वामी है । प्रकृतांश उन्हीं के मत का संकेत हैं ।

मावास्याशब्दः काले मुख्यः । तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' इत्यादौ । तत्रामावास्यायामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वान्न फलं कल्पनीयमिति विधेर्लाघवमिति पूर्वपक्षितं कात्यायनेन– 'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' इति । गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधादमावास्याशब्देन काल एव गृह्यते फलकल्पनागौरवं तूत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वादङ्गीकार्यमिति सिद्धान्तितं जैमिनिना– 'पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्' इति । एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात्कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणमिति शब्दमर्यादया सिद्धम् । सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा । तथाहि– ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितैः कर्मभिस्त्रिविधं शरीरग्रहणं केन वार्यते 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः । अन्ततः सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि तस्याऽऽवश्यकमेव । अत एव विविदिषासंन्यासिनः श्रवणादिकं कुर्वतोऽन्तकाले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादिना ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्ति-

गया है कि गौण और मुख्य – दोनों से यदि कार्य की प्राप्ति हो तो मुख्य से ही कार्य का ज्ञान करना चाहिए – यह शब्द की मर्यादा है । जैसे :-- 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' = 'अमावास्या के दिन अपराह्ण – दोपहर के पश्चात् पिण्डपितृयज्ञ करते हैं' -- इस वाक्य में 'अमावास्या' शब्द काल के अर्थ में मुख्य है, किन्तु 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' = 'इसप्रकार का जो विद्वान् अमावास्या – कर्म में यजन करता है' – इत्यादि में उस काल में होनेवाले कर्म के अर्थ में गौण है । उसमें 'अमावास्यायाम्' – इस प्रथम वाक्य में 'अमावास्या' शब्द से यदि कर्म का ग्रहण होता है तो पितृयज्ञ उस कर्म का अङ्ग होगा अतएव पितृयज्ञ के किसी पृथक् फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए – इसप्रकार विधि में लाघव है – यह कात्यायन ने पूर्वपक्ष किया है – 'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' = 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' – इस वाक्य में संशय है कि क्या पिण्डपितृयज्ञ अमावास्य – कर्म का अङ्ग है अथवा अङ्ग नहीं है ? तो पूर्वपक्ष है – वह अङ्ग है, क्योंकि फल के साथ उसका कथन किया गया है' । किन्तु गौणार्थ की उपस्थिति मुख्यार्थ की उपस्थितिपूर्वक होती है, कारण कि मुख्यार्थोपस्थिति में मुख्यार्थबाध = अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होने पर रूढ़ि – प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन की सूचना करने के लिए मुख्यार्थ से सम्बन्धित किन्तु मुख्यार्थ से भिन्न अर्थात् गौणार्थ का ग्रहण किया जाता है[45]; यहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं है, अतः 'अमावास्या' शब्द से काल ही का ग्रहण होता है; फल की कल्पना तो गौरव है और फिर उत्तर कालीन है, वह भी प्रमाणसिद्ध होने से अङ्गीकार्य – स्वीकार्य ही है – इसप्रकार जैमिनि ने सिद्धान्त किया है -- 'पितृयज्ञ: स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्' (मीमांसादर्शन, 4.4.19) = पितृयज्ञ का 'स्व' शब्द से अभिहित काल से सम्बन्ध है, अत: वह अमावास्या – कर्म का अङ्ग नहीं है' (शाबरभाष्य, 4.4.19) । ऐसी स्थिति में– 'संन्यासी' शब्द 'सर्वकर्मत्यागी' के अर्थ में मुख्य है और 'कर्मी' के अर्थ में फलत्यागसाम्य से गौण है अतएव यहाँ

45. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ (साहित्यदर्पण, 2.5) ।

रवश्यंभाविनीति निर्णीतं षष्ठे यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यज्ञस्य शरीरग्रहणमावश्यकं तत्र किं वक्तव्यमज्ञस्य कर्मिण इति । तस्मादज्ञस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमर्यादया सिद्धं पराक्रान्तं चैकभविकपक्षनिराकरणे सूरिभिः । तस्माद्यथोक्तं भगवत्पूज्यपादभाष्यकृतं व्याख्यानमेव ज्यायः ।

38 तदयमत्र निष्कर्षः— अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयसत्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन विचारनिश्चितप्रामाण्येन सर्वप्रकाराप्रामाण्यशङ्काशून्येन ब्रह्मात्मज्ञानेनाऽऽत्माज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमानरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः

मुख्यार्थ का बाध नहीं है अतएव 'संन्यासी' शब्द से 'सर्वकर्मत्यागी' – मुख्यार्थ का ही ग्रहण होता है -- यह शब्दमर्यादा से सिद्ध होता है । कारण-सामग्री रहने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है – यह अर्थ की मर्यादा है । यह कहा गया है कि जो ईश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों के फल का त्याग किये हुए भी सत्त्वशुद्धि = अन्तःकरणशुद्धि के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए यदि बीच ही में = अन्तःकरणशुद्धि होने से पूर्व ही मर जाता है तो उसको उसके पूर्वार्जित कर्मों द्वारा तीन प्रकार के शरीर को ग्रहण-धारण करने से कौन रोक सकता है ? श्रुति भी कहती है – 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर को न जानकर ही इस लोक से चला जाता है वह कृपण- दीन है'। अन्त में अन्तःकरणशुद्धि के फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति के लिए उसको ज्ञानाधिकारी शरीर भी ग्रहण करना आवश्यक ही होता है । अतएव छठे अध्याय में 'योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र और श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है' (गीता, 6.41) -- इत्यादि से यह निर्णय किया गया है कि विविदिषा संन्यासी श्रवणादि करता हुआ बीच ही में मर जाता है तो वह 'योगभ्रष्ट' कहा जाता है, उसको ज्ञानाधिकारी शरीर की प्राप्ति अवश्य ही होती है । जहाँ सब कर्मों के त्यागी भी अज्ञानी को शरीरग्रहण करना आवश्यक है वहाँ कर्मी अज्ञानी के विषय में तो कहना ही क्या है ?. अतः अर्थमर्यादा से यह सिद्ध होता है कि अज्ञानी को शरीर ग्रहण करना आवश्यक है । एकभविकपक्ष[46] का निराकरण करने में विद्वानों ने अतिश्रम किया है । इसलिए यथोक्त भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य प्रणीत भाष्यकृत व्याख्यान ही श्रेष्ठ है ।

38 यहाँ यह निष्कर्ष है – वेदान्तवाक्यजन्य, विचारजन्य प्रमाण से निश्चित, सब प्रकार के अप्रामाण्य की शङ्का से शून्य, निर्विकल्पक अकर्ता-अभोक्ता-परमानन्द-अद्वितीय-सत्य-स्वयंप्रकाश-ब्रह्मरूप से आत्मसाक्षात्कारस्वरूप ब्रह्मात्मज्ञान से आत्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होने पर अज्ञान के कार्यभूत

---

46. 'एकभविक' पक्ष यह है कि एक ही जन्म के कर्म का एक जन्म में भोग होता है, जन्मान्तर के कर्मों का जन्मान्तर में भोग नहीं होता है । 'एकभविक' मत के निराकरण के लिए ही महर्षि बादरायण का सूत्र है – 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.8) = 'स्वर्गादि के लिए किये हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से अत्यय – विनष्ट होने पर भी कर्मान्तरजन्य संचित अदृष्ट – कर्मरूप अनुशय – कर्माशय-वासना सहित ही जीव इस लोक में आते हैं, यह श्रुति और स्मृति से सिद्ध होता है । श्रुति है – 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्' (छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.7) = 'आनेवाले जीवों में जो इस लोक में रमणीय – सुन्दर आचरणवाले – अवशिष्ट पुण्यकर्मवाले होते हैं वे अवश्य ही रमणीय योनिरूप ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते हैं' – इत्यादि । इसीप्रकार गौतम-स्मृति कहती है – 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (द्वितीय प्रकरण) = 'अपने कर्मों के आचरण में वर्तमान वर्ण और आश्रमवाले मरकर स्वर्गादि में जाकर कर्मफल का अनुभव – उपभोग करके फिर अवशिष्ट कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख और मेधावाले होते हुए जन्म ग्रहण करते हैं' । उक्त ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने 'एकभविक' मत का विस्तारपूर्वक निराकरण-खण्डन किया है ।

सन्नाविद्याकर्मादिनिमित्तं पुनः शरीरग्रहणमनुभवति सर्वभ्रमाणां कारणोच्छेदेनोच्छेदात् । यस्त्वविद्यावान्कर्तृत्वाद्यभिमानी देहभृत्स त्रिविधो रागादिदोषप्राबल्यात्काम्यनिषिद्धादियथेष्टकर्मानुष्ठायी मोक्षशास्त्रानधिकार्येकः । अपरस्तु यः प्राक्तनसुकृतवशात्किंचित्प्रक्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्निषिद्धानि काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि फलाभिसंधित्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन्गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्राधिकारी द्वितीयः सः । ततो नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्ध्या समुपजातविविदिषः श्रवणादिना वेदनं मोक्षसाधनं संपिपादयिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसर्पति विविदिषासंन्यासिसमाख्यस्तृतीयः । तत्राऽऽद्यस्य संसारित्वं सर्वप्रसिद्धं, द्वितीयस्य त्वनिष्टमित्यादिना व्याख्यातं, तृतीयस्य तु अयतिः श्रद्धयोपेत इति प्रश्नमुत्थाप्य निर्णीतं षष्ठे । अज्ञस्य संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात् । तत्तु कस्यचिज्ज्ञानाननुगुणं कस्यचिज्ज्ञानानुगुणमिति विशेषः । विज्ञस्य तु संसारकारणाभावात्स्वत एव कैवल्यमिति द्वौ पदार्थौ सूत्रितावस्मिञ्श्लोके ॥ 12 ॥

39 **तत्राऽऽत्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इति । तत्राज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे को हेतुः कर्महेतावधिष्ठानादिपञ्चके तादा-**

कर्तृत्वादि के अभिमान से रहित जो परमार्थ संन्यासी है वह सब कर्मों का उच्छेद-विनाश हो जाने से शुद्ध, केवल हो जाने के कारण अविद्या, कर्मादि से होनेवाले पुनः शरीरग्रहण का अनुभव नहीं करता है, क्योंकि अज्ञानरूप कारण का उच्छेद-विनाश हो जाने से उसके कार्यभूत सब भ्रमों का उच्छेद-विनाश हो जाता है । किन्तु जो अविद्यावान्, कर्तृत्वादि का अभिमानी देहधारी पुरुष है वह तीन प्रकार का है – जो रागादि दोषों की प्रबलता के कारण काम्य, निषिद्धादि यथेष्ट कर्मों का आचरण करनेवाला, मोक्षशास्त्र के ज्ञान का अनधिकारी है वह एक प्रकार का है । इसके अतिरिक्त अन्य जो पूर्वकृत सुकृत – शुभ कर्मों के कारण रागादि दोषों के कुछ क्षीण हो जाने से, सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ न होने पर भी, निषिद्ध और काम्य कर्मों का त्याग कर अन्तःकरणशुद्धि के लिए फलाभिसन्धि – फलाकांक्षा के त्यागपूर्वक नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ गौण-संन्यासी, मोक्षशास्त्र के ज्ञान का अधिकारी है वह दूसरे प्रकार का है । इसके अतिरिक्त जो नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरणशुद्धि से विविदिषा उत्पन्न होने पर श्रवणादि द्वारा मोक्ष के साधनभूत वेदन-ज्ञान का सम्पादन करने की इच्छा से युक्त हो सब कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाता है वह 'विविदिषा-संन्यासी'– नाम का तीसरे प्रकार का है । इसमें प्रथम का संसारित्व -- संसारी होना सर्वजनप्रसिद्ध है, द्वितीय की व्याख्या तो 'अनिष्टमिष्टम्'– इत्यादि से की गई है तथा तृतीय का निर्णय छठे अध्याय में 'अयतिः श्रद्धयोपेतो' (गीता, 6.37)-- इसप्रकार प्रश्न उठाकर किया गया है । अज्ञानी का संसारी होना निश्चित है, क्योंकि अज्ञानरूप कारण सामग्री विद्यमान रहती है । भेद इतना ही है कि उनमें से किसी का संसारी होना ज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल नहीं होता है और किसी का ज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल होता है । किन्तु जो विज्ञ-ज्ञानी है उसके तो संसार का कारण न रहने से स्वतः ही कैवल्य हो जाता है – इसप्रकार संसारित्व और कैवल्य -- ये दो पदार्थ इस श्लोक में सूत्ररूप से कहे गए है ।। 12 ।।

39 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' (गीता, 18.11) = 'क्योंकि देहाभिमानी पुरुष के द्वारा सम्पूर्णतया सब कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता है' -- इत्यादि से आत्मज्ञानरहित पुरुष के संसारित्व में कर्मत्याग का असंभव होना हेतु कहा गया है । अज्ञानी के कर्मत्याग के असंभव होने

त्म्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाधिष्ठानादीनि पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानि हेयत्वार्थमवश्यं ज्ञातव्यानीत्याह–

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ 13 ॥

40 इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि हे महाबाहो मे मम परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य च वचनान्निबोध बोद्धुं सावधानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानान्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेतःसमाधानविधानेन तानि स्तौति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्तो ज्ञातुमिति सूचयति स्तुत्यर्थमेव ।

41 किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाज्ज्ञेयानि नेत्याह– सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं च ज्ञातव्यानि जीवो ब्रह्म तयोरैक्यं तद्बोधोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्नात्मवस्तुमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकसिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं कृतान्त इति । कृतमिति कर्मोच्यते तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या

में क्या हेतु है ? कर्म के हेतुभूत अधिष्ठानादि पाँच पदार्थों में तादात्म्याभिमान ही कर्मत्यागासंभव में हेतु है – इस अर्थ को चार श्लोकों से विस्तारपूर्वक कहते हैं । उनमें, प्रथम श्लोक अर्थात् तेरहवें श्लोक से 'वेदान्तप्रमाणमूलक अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ हेयत्वार्थ अवश्य ज्ञातव्य हैं' -- यह कहते हैं :--

[हे महाबाहो ! तुम मेरे वचन से कृतान्त = जिसमें कर्म का अन्त होता है उस सांख्य = वेदान्तशास्त्र में कहे गये इन पाँच पदार्थों को सब कर्मों की सिद्धि के लिए कारण समझो ॥ 13 ॥]

40 हे महाबाहो ! तुम मुझ परम आप्त और सर्वज्ञ के वचन से इन वक्ष्यमाण पाँच पदार्थों को सब कर्मों की सिद्धि के लिए = निष्पत्ति के लिए कारण = निर्वर्तक – निष्पन्न करनेवाले समझो अर्थात् समझने के लिए सावधान होओ । क्योंकि ये पाँचों पदार्थ अत्यन्त दुर्ज्ञान-दुर्बोध – समझने में कठिन हैं, इसलिए इनको अनवहित -- असमाहित -- असावधान चित्त से नहीं जाना – समझा जा सकता है – इसप्रकार चित्तसमाधान = चित्तसमाधि के विधान से उन पाँच पदार्थों की स्तुति करते हैं । महाबाहो[47] ! -- सम्बोधन से भी उक्त पाँच पदार्थों की स्तुति के लिए ही यह सूचित करते हैं कि सत्पुरुष ही इन पाँच पदार्थों को जान सकता है ।

41 क्या ये पाँच पदार्थ अप्रमाणिक ही हैं ? जो कि आपके वचन से ही जाने जा सकते हैं -- इस पर कहते हैं -- नहीं, 'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि' = 'सांख्य कृतान्त-शास्त्र में कहे गये हैं' = निरतिशय पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए और सब अनर्थों की निवृत्ति के लिए ये अवश्य ज्ञातव्य हैं । जीव, ब्रह्म, जीव और ब्रह्म की एकता तथा उस बोध-ज्ञान के उपयोगी श्रवणादि पदार्थों की संख्या[48] --

---

47. तुम मेरे वचन से पँचविध कर्मकारणों को जानकर महाबाहु = सत्पुरुष द्वारा साध्य कायिक युद्धरूप कर्म में कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

48. संख्या = सम्यग्विवेकेन आत्मतत्त्वकथनम् = सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं पदार्थकथनम् यस्यां सा संख्या = कर्मपूर्वा विचारणा = व्युत्पत्तिः संख्या ।

यत्र तस्मिन्कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येव लोकेऽनात्मभूतान्येवाऽऽत्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मतत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि । यदा ह्यन्यधर्म एव कर्माऽऽत्मन्यविद्यया-ऽध्यारोपितमित्युच्यते तदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्‌बाधात्कर्मणोऽन्तः कृतो भवति । अत आत्मनः कर्मासंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदिता-नीति नाद्वैतात्ममात्रतात्पर्यहानिस्तेषां तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात् । इहापि च सर्वकर्मान्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितं 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति । तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मान्तत्वमुपपन्नम् ॥ 13 ॥

42 **प्रमाणमूलानि कर्मकारणानि पञ्चाऽऽत्मनोऽकर्तृत्वसिद्‌ध्यर्थं हेयत्वेन ज्ञातव्यानीत्युक्ते कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह द्वितीयेन–**

व्युत्पत्ति जिसमें की जाती है वह सांख्य[49] अर्थात् वेदान्तशास्त्र है; उस आत्मवस्तुमात्र के प्रतिपादक सांख्य = वेदान्तशास्त्र में अनात्मभूत, अवस्तुस्वरूप और लोकसिद्ध पाँच कर्म के कारणों का प्रतिपादन क्यों – किसलिए किया है ? इस जिज्ञासा से शास्त्र का विशेषण है – 'कृतान्ते' = कृतम् – किया जाता है अतएव 'कर्म' कहा जाता है, उस कर्म का अन्त अर्थात् परिसमाप्ति तत्त्वज्ञानोत्पत्ति से जिसमें होती है वह 'कृतान्त[50]' है; उस कृतान्त – शास्त्र में उक्त पाँच पदार्थ कहे गये हैं = लोक में प्रसिद्ध ही अनात्मभूत ये पाँच पदार्थ आत्मभाव से मिथ्याज्ञान के आरोप द्वारा गृहीत हैं अतएव आत्मतत्त्वज्ञान से बाध की सिद्धि के लिए हेयरूप से कहे गये हैं । जब 'अन्य धर्म ही कर्म आत्मा में अविद्या से अध्यारोपित[51] है' – ऐसा कहा जाता है, तब शुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा उस अविद्या का बाध होने से कर्म का अन्त किया हुआ ही होता है । अत: आत्मा का कर्म के साथ असम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए अनात्मभूत ही पाँच कर्मकारण वेदान्तशास्त्र में माया से कल्पित हैं, उनका ही यहाँ अनुवाद किया है । अत: इससे अद्वैत आत्ममात्र में तात्पर्य की हानि नहीं होती है, क्योंकि उनका उस तात्पर्य के अङ्गरूप से अन्यत्र प्रतिपादन किया गया है । यहाँ भी ज्ञान में सब कर्मों के अन्तत्व = समाप्ति को प्रतिपादित किया है, जैसा कि पूर्व में भगवान् ने कहा है – 'सब श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं' (गीता, 4.33) । अत: ज्ञानशास्त्र में कर्मान्तत्व युक्तियुक्त है ॥ 13 ॥

42 प्रमाणमूलक पाँच कर्मकारण आत्मा में अकर्तृत्व की सिद्धि के लिए हेयरूप से ज्ञातव्य हैं – ऐसा कहने पर 'वे कर्मकारण कौन-से हैं' - इस अपेक्षा -- जिज्ञासा से उनके स्वरूप को द्वितीय श्लोक अर्थात् चौदहवें श्लोक से कहते हैं :--

49. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते (विष्णुसहस्रनामशाङ्करभाष्य; व्याससमृति) । सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम् (श्रीधरीटीका) ।

50. कृतं कर्म तस्यान्त: समाप्तिरस्मिन्निति कृतान्त: – वेदान्तसिद्धान्त: (श्रीधरीटीका) । श्रीधरस्वामी ने विकल्प में अन्य व्युत्पत्ति इसप्रकार की है – संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निति सांख्यं, कृत: अन्तो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं सांख्यशास्त्रमेव – जो ग्राह्य नहीं है, क्योंकि सांख्यशास्त्र में अधिष्ठानादि को कारणरूप से नहीं कहा गया है और सांख्यशास्त्र अनेक, भिन्न, भोक्ता आत्मा-पुरुष का प्रतिपादक है जबकि स्वसिद्धान्त – वेदान्तसिद्धान्त कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य एक ही आत्मा का प्रतिपादक है – इसप्रकार स्वसिद्धान्त के विरुद्ध सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन करना स्ववदतोव्याघात होगा (भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

51. वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप: (वेदान्तसार) = वस्तु में अवस्तु के आरोप को 'अध्यारोप' कहते हैं; जैसे – असर्प-रूप अर्थात् सर्प के आस्तित्व से रहित रज्जु में सर्प का आरोप होता है, वैसे ही सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वयब्रह्म – वस्तु में अज्ञानादि सकल जड़समूह – अवस्तु आरोपित होती है ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ 14 ॥

43 **इच्छाद्वेषसुखदुःखचेतनाद्यभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरम् । तथा कर्ता यथाऽधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत्तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवाञ्ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहंकारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यस्तादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिधर्माध्यारोपहेतुरनात्मा भौतिको मायाकल्पितश्चेति तथाशब्दार्थः । स्थूलशरीरस्य लोकायतिकैरात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षकैरनात्मत्वेन निश्चयात्तद्दृष्टान्तेन तार्किकादिभिरात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकर इत्यर्थः । करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धिसाधनम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथग्विधं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम् । करणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषौ वृत्तिमांस्त्वहंकारः कर्तैव । चिदाभासस्तु सर्वत्रैवाविशिष्टः । विविधा नानाप्रकाराः**

[अधिष्ठान, कर्ता, पृथक्-पृथक् करण और विविध प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ – चार कर्मकारण तो ये हैं तथा पाँचवा दैव है ॥ 14 ॥]

43 इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना आदि की अभिव्यक्ति का आश्रय 'अधिष्ठान' है वह शरीर है । तथा कर्ता = जिसप्रकार अधिष्ठान – शरीर अनात्मा, भौतिक, मायाकल्पित, स्वप्न में निर्मित गृह, रथादि के समान है उसीप्रकार 'कर्ता' = 'मैं करता हूँ' -- ऐसा अभिमानवान्, ज्ञानशक्तिप्रधान, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य 'अहंकार[52]' है, जो अन्तःकरण, बुद्धि, विज्ञानादि पर्याय शब्दों से वाच्य है, तादात्म्याध्यास से आत्मा में कर्तृत्वादि धर्मों के अध्यारोप का हेतु – कारण है; अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित है -- यह 'तथा' शब्द का अर्थ है । लोकायतिकों[53] द्वारा आत्मरूप से ग्रहण किये हुए शरीर का अन्य परीक्षक विद्वानों ने अनात्मरूप से निश्चय किया है अतएव उस दृष्टान्त से तार्किकों[54] द्वारा आत्मरूप से ग्रहण किये हुए कर्ता का भी अनात्मरूप से निश्चय करना सुकर -- सुगम ही है -- यह अर्थ है । और 'करण[55]' श्रोत्रादि हैं जो शब्दादि विषयों की उपलब्धि के साधन हैं । 'च[56]' शब्द 'तथा' -- इस अव्यय के अनुकर्षण के लिए है । ये श्रोत्रादि करण

---

52. 'अभिमानोऽहङ्कारः' = अभिमान 'अहंकार' है । 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमें मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही इनको करने में समर्थ हूँ, ये मेरे लिए ही हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इनमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही कर्ता हूँ' – इसप्रकार का यह अभिमान ही 'अहंकार' है ।

53. 'चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा, देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्' (सर्वदर्शनसंग्रह) = लोकायतिक कहते हैं कि चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा है, शरीर के अतिरिक्त आत्मा नाम का दूसरा कोई भी पदार्थ है – इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है ।

54. 'आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका, 47) = 'आत्मा इन्द्रिय और शरीर का अधिष्ठाता है, क्योंकि चक्षुआदि जो ज्ञान के करण हैं उनको अपने फल अर्थात् ज्ञान के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा होती है और वह 'कर्त्ता' आत्मा है ।

55. साधकतमं करणम् (पाणिनिसूत्र, 1.4.42) = साधकतम = अतिशयित साधक अर्थात् प्रकृष्ट कारण को 'करण' कहा जाता है । 'करण' वह कारण है जिसके रहने पर फल की अनुपलब्धि – अप्राप्ति नहीं रहती है (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् – पदार्थचन्द्रिका) ।

56. यहाँ 'च' शब्द 'तथा' शब्द का अनुकर्षण अर्थात् पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि जिसप्रकार अधिष्ठान -- शरीर अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं उसीप्रकार ये बारह प्रकार के करण भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं ।

पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथगसंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रियाशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमाना । नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव । अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित् । क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः । 'स ईक्षां चक्रे कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम् । तथा सुधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम् ।

पृथग्विध = नानाप्रकार के हैं = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – इसप्रकार संख्या में बारह हैं । उक्त करणवर्ग में मन[57] और बुद्धि[58] वृत्तिविशेष हैं = संकल्पात्मकवृत्ति 'मन' है और अध्यवसायात्मकवृत्ति 'बुद्धि' है -- इन दोनों का आश्रय -- वृत्तिमान् अहंकार तो 'कर्त्ता' ही है । चिदाभास तो सर्वत्र – सब में ही समानरूप से रहता है । विविध = नाना प्रकार की -- पाँच प्रकार[59] अथवा दस प्रकार[60] से प्रसिद्ध -- यहाँ 'च'[61] शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है – पृथक् = असंकीर्ण -- अमिश्रित – न मिली हुई चेष्टाएँ = क्रियारूप, क्रियाशक्तिप्रधान, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों के कार्य, क्रिया की प्रधानता से वायवीयरूप से कहे जानेवाले प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान -- ये पाँच प्राण हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय[62]संज्ञक प्राण उन प्राणादि में ही अन्तर्भूत हैं । यहाँ सुषुप्ति में अन्त:करणरूप कर्ता का लय होने पर भी प्राण का व्यापार देखा जाता है और अन्तःकरण से उसका भेद भी कहा जाता है अतएव प्राण अन्त:करण से अत्यन्त भिन्न ही है -- यह कोई कहते हैं । क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिविशिष्ट एक ही जीवत्व का उपाधिभूत, अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य क्रियाशक्ति की प्रधानता से 'प्राण' और ज्ञानशक्ति की प्रधानता से 'अन्तःकरण' कहा जाता है – यह सुविज्ञजन कहते हैं । 'उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होऊँगा' (प्रश्नोपनिषद्, 6.3) -- इसप्रकार श्रुति में प्राण की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है; तथा 'सुधी स्वानुरूप होकर इस लोक – स्थूल शरीर से अतिक्रमण करता है,

57. 'मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्त:करणवृत्ति:' (वेदान्तसार) = अन्त:करण की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को 'मन' कहते हैं । अन्त:करण में जब 'मैं चिद्रूप हूँ, मैं देह हूँ' -- इसप्रकार की संकल्पात्मक वृत्ति अथवा 'मैं यह करूँ या न करूँ' – इसप्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसको 'मन' कहते हैं ।

58. 'बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः' (वेदान्तसार) =अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं ।

59. सुप्रसिद्ध पाँच प्राण हैं – प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ।

60. कोई प्राणादि पाँच प्राणों सहित नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय – इन पाँच अतिरिक्त प्राणों को स्वीकार करके दस प्रकार से प्राण स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदान्तशास्त्र में नागादि का प्राणादि पाँच प्राणों में ही अन्तर्भाव है (नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादय: पञ्चैवेति – वेदान्तसार) ।

61. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि ये नाना प्रकार की क्रियारूप प्राणादि चेष्टाएँ भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं ।

62. 'नाग' उद्गिरण अर्थात् डकार और वमन उत्पन्न करनेवाला है । 'कूर्म' नेत्रों का उन्मीलन और निमीलन करनेवाला है । 'कृकल' क्षुधा को उत्पन्न करनेवाला है । 'देवदत्त' जम्भाई लानेवाला है । 'धनञ्जय' पोषण करनेवाला है ।

स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः । तस्माद्बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात् । सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात्, दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च । तस्मादुभयथाऽपि व्यपदेशभेद उपपन्नः ।

44 **दैवं चानुग्राहकदेवताजातम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः । अत्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम् । एवशब्दस्तथाशब्देन संबध्यमानोऽनात्मत्वभौतिकत्वकल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्' इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोश्विनः वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः । मनोबुद्ध्योश्चन्द्रबृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये दैवमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ 14 ॥**

उससमय वह मृत्यु के रूपों का ध्यान करता-सा और चेष्टा करता-सा जान पड़ता है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.7) -- इत्यादि श्रुति में बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि उपाधिता को कहा गया है । यदि इस उपाधिभेद को स्वतंत्र मानते हैं तो जीवभेद का प्रसंग होगा, इसलिए बुद्धि और प्राण की एकता से ही उनकी उत्क्रान्ति आदि उपाधिता ठीक है । इनके भेद का कथन तो शक्तिभेद के कारण होता है । सुषुप्ति में ज्ञानशक्तिरूप भाग का लय होने पर भी क्रियाशक्तिरूप भाग का दर्शन होना बुद्धि और प्राण की एकता होने पर भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है[63] । दृष्टिसृष्टिमत में सबका लय होने पर भी प्राण के व्यापार से युक्त शरीर के लिए 'यह सुषुप्त -- सोया हुआ है' -- ऐसी कल्पना दूसरे करते हैं । अतः दोनों प्रकार से ही व्यपदेशभेद उपयुक्त है ।

44 'दैव[64]' अनुग्राहक देवतासमूह है । यहाँ भी 'च[65]' शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्षण के लिए है । यहाँ कारणवर्ग में 'पञ्चम' शब्द पाँच संख्या की पूर्ति के लिए है । 'एव' शब्द 'तथा' शब्द के साथ सम्बद्ध होकर उक्त पाँचों कारणों के अनात्मत्व, भौतिकत्व, कल्पितत्वादि के निश्चय के लिए है । उनमें कर्ता, करण और क्रिया के अधिष्ठानभूत शरीर का देवता पृथिवी है, क्योंकि 'जहाँ इस मृत पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाता है, चक्षु सूर्य में लीन हो जाते हैं, तथा श्रोत्र दिशाओं में, मन चन्द्रमा में और शरीर पृथिवी में लीन हो जाते हैं' --

---

63. जो अनुभवसिद्ध होता है, जो प्रत्यक्ष देखने में आता है, उसमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती है । यदि अनुपपत्ति होती तो बुद्धि और प्राण की एकता देखने में नहीं आती । उचित ही कहा है -- न हि प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति (शाबरभाष्य, 1.3.3) ।

64. शाङ्करभाष्य में 'दैव' शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों के जो अनुग्राहक – अधिष्ठाता आदित्यादि देव हैं उनका ग्रहण किया गया है, किन्तु श्रीधरस्वामी ने 'दैव' शब्द से विकल्प में सबके प्रेरक, अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण किया है जो कि उचित नहीं है, कारण कि आत्मा–परमात्मा के कर्तृत्व की व्यावृत्ति के लिए ही 'दैव' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

65. यहाँ भी 'च' शब्द 'तथा' शब्द को पुनः ग्रहण करने के लिए है अर्थात् यह सूचित करने के लिए है कि जिसप्रकार अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टाएँ अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित हैं उसीप्रकार 'दैव' भी अनात्मा, भौतिक और मायाकल्पित है ।

45 स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्महेतुत्वमाह तृतीयेन–

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ 15 ॥

46 शारीरं वाचिकं मानसिकं च विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । अक्षपादेन चोक्तं– 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति । बुद्धिर्मनः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति नरो मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं कर्म

इस श्रुति में वाणी आदि के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवताओं के साथ शरीर के अधिष्ठातारूप पृथिवी देवता का पाठ है । कर्ता अर्थात् अहंकार का अधिष्ठाता देवता रुद्र है – जैसा कि पुराणादि में प्रसिद्ध है । करणों – इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तो सुप्रसिद्ध हैं -- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण के देवता क्रमश: दिक्, वायु, सूर्य, प्रचेता और अश्विनी हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ के देवता क्रमश: अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति हैं; तथा मन और बुद्धि के देवता क्रमश: चन्द्रमा और बृहस्पति हैं । क्रियारूप प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान – इन पाँच प्राणों के देवता क्रमश: सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं – ये पुराणों में प्रसिद्ध हैं । भाष्य में कहा है कि 'दैव' चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक आदित्यादि हैं -- ये अधिष्ठान आदि के देवताओं के भी उपलक्षण हैं[66] ॥ 14 ॥

45 उन अधिष्ठानादि पाँच कर्मकारणों का स्वरूप कहकर उनके कर्महेतुत्व को तृतीय श्लोक अर्थात् पन्द्रहवें श्लोक से कहते हैं :--

[मनुष्य शरीर, वाणी और मन से न्याय्य -- शास्त्रीय अथवा उससे विपरीत अशास्त्रीय जिस कर्म को भी प्रारम्भ करता है उसके ये पाँच हेतु होते हैं ॥ 15 ॥]

46 शारीर, वाचिक और मानसिक -- ये विधिस्वरूप अथवा प्रतिषेधस्वरूप तीन प्रकार के कर्म धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं । अक्षपाद गौतम ने कहा है -- 'वाणी, बुद्धि और शरीर से होनेवाला आरम्भ ही 'प्रवृत्ति' है (न्यायसूत्र, 1.1.17) । बुध्यतेऽनेनेति बुद्धि: = जिससे बोध – ज्ञान होता है वह 'बुद्धि' है, बुद्धि से यहाँ 'मन' विवक्षित है (न्यायभाष्य, 1.1.17) । अत: प्राधान्य के अभिप्राय से कहा जाता है[67] कि शरीर, वाणी अथवा मन से जिस कर्म को भी मनुष्य प्रारम्भ करता है अर्थात् जिस कर्म का भी मनुष्य आचरण करता है, क्योंकि शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है; किस प्रकार के कर्म को करता है ? न्याय्य = शास्त्रीय अर्थात् धर्मस्वरूप अथवा उससे विपरीत = अशास्त्रीय अर्थात् अधर्मस्वरूप अथवा इनके अतिरिक्त जो विहित और प्रतिषिद्ध कर्मों के समान जीवन की

---

66. इसप्रकार 'दैव' शब्द अधिष्ठान-शरीर; कर्ता-अहंकार; करण – पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन और बुद्धि अर्थात् बारह करण; तथा क्रियारूप प्राणादि चेष्टाओं के अनुग्राहकत्व अर्थात् अधिष्ठित देवता होने को सूचित कर रहा है ।

67. अत: = इससे = 'अधिष्ठानं तथा कर्ता' – इत्यादि से पूर्व में सब कर्मों के कारण पाँच कहे हैं, प्रकृत श्लोक में शरीरादि भेद से तीन ही कारण कहे हैं, इसप्रकार पूर्वापर में विरोध होता है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं कि यद्यपि प्रकृत श्लोक में सब कर्मों के कारण तीन ही कहें है, उनमें ही सब कर्मों का अन्तर्भाव किया गया है तथापि उसका तात्पर्य प्राधान्य में है अर्थात् जिस कर्म में शरीर प्रधान कारण है वह 'शारीर' है, जिस कर्म में वाक् प्रधान कारण है वह 'वाचिक' है, और जिसमें मन प्रधान कारण है वह 'मानसिक' है, किन्तु उक्त तीनों के अधिष्ठानादि पाँच कारण अवश्य हैं अतएव पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है ।

न्याय्यं वा शास्त्रीयं धर्मं विपरीतं वाऽशास्त्रीयमधर्मं यच्च निमिषितचेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रतिषिद्धसमं तत्सर्वं पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भूतम् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि ॥ 15 ॥

47 इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादात्मनो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह--

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ 16 ॥

48 तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन्, एवं सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमान आत्मानं सर्वजडप्रपञ्चस्य भासकं सत्तास्फूर्तिरूपं स्वप्रकाशपरमानन्दमबाध्यं केवलमसङ्गोदासीनमकर्ता-रमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः । अविद्यया त्वधिष्ठानादौ प्रतिबिम्बितमादित्यमिव तोये तद्भासकमनन्यत्वेन परिकल्प्य तोयचलनेनाऽऽदित्यश्चलतीतिवदधिष्ठानादिकर्मणोऽहमेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यविद्यया कल्पयति रज्जुमिव भुजंगं स एवं पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्त्वेन स्वरूपाज्ञानकृतत्वादध्यासस्य । स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथातत्त्वमित्यत्र को हेतुरत आह-- अकृतबुद्धित्वात् । शास्त्राचार्योपदेशन्यायैरनुपजनितविवेक -

---

हेतुभूत निमिषित – पलक मारना आदि चेष्टादि हैं वे सब पूर्व कृत धर्म और अधर्म की कार्य हैं – इसप्रकार वे भी न्याय्य--शास्त्रीय और उससे विपरीत अशास्त्रीय कर्मों में ही अन्तर्भूत हैं अतएव शास्त्रीय-धर्मस्वरूप अथवा अशास्त्रीय-अधर्मस्वरूप जिस कर्म को भी मनुष्य प्रारम्भ करता है उन सब ही कर्मों के ये पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ हेतु अर्थात् कारण हैं ॥ 15 ॥

47 अब, 'ये ही सब कर्मों के कर्ता हैं अतएव आत्मा में कर्तृत्व नहीं है' – इसप्रकार अधिष्ठानादि के निरूपण का फल कहते हैं :–

[उन कर्मों के विषय में ऐसा होने पर भी जो दुर्मति पुरुष केवल शुद्धस्वरूप आत्मा को ही कर्ता देखता है-- समझता है वह विवेक-बुद्धि उत्पन्न न होने कारण यथार्थ नहीं देखता -- समझता है ॥ 16 ॥]

48 तत्र = उनमें अर्थात् उन पूर्वोक्त सब कर्मों के विषय में एवं सति = ऐसा होने पर अर्थात् अधिष्ठानादि पाँच हेतु होने पर भी = अधिष्ठानादि के द्वारा ही सब कर्मों को निष्पन्न किये जाने पर भी जो पुरुष आत्मा को = समस्त जड प्रपञ्च के भासक – प्रकाशक, सत्ता और स्फूर्तिरूप, स्वप्रकाश, परमानन्द, अबाध्य केवल = असंग, उदासीन, अकर्ता, अविक्रिय, अद्वितीय आत्मा को ही परमार्थतः अविद्या के कारण तो अधिष्ठानादि में प्रतिबिम्बित उसको जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान भासक -- प्रकाशक और अनन्य – अभिन्नरूप से कल्पित कर, जल के हिलने-डुलने से सूर्य के चलने-घूमने की कल्पना के समान अधिष्ठानादि के कर्मों का मैं ही कर्ता हूँ -- इसप्रकार साक्षी होने पर भी उसको कर्ता अर्थात् क्रिया का आश्रय देखता है = अविद्यावश रज्जु में सर्प की भाँति उसकी कर्तारूप से कल्पना करता है वह इसप्रकार देखता हुआ भी आत्मा को तत्त्वरूप से नहीं देखता है, क्योंकि अध्यास स्वरूप के अज्ञान से ही किया हुआ होता है । वह पुरुष भ्रान्ति से विपरीत ही देखता है, यथार्थ नहीं देखता है -- इसमें क्या कारण है ? इस जिज्ञासा से कहते हैं कि वह अकृतबुद्धि होता है अर्थात् उसमें शास्त्र, आचार्य के उपदेश और न्याय से विवेक-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । रज्जुतत्त्व के साक्षात्कार के बिना कोई भी सर्पभ्रम का बाध नहीं कर सकता

बुद्धित्वात् । नहि रज्जुतत्त्वसाक्षात्काराभावे भुजंगभ्रमं कश्चन बाधते । एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः परिनिष्ठितेऽहमस्मि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्त्रभोक्तृ परमानन्दमनवस्थमद्वयं ब्रह्मेति साक्षात्कारेऽनुपजनिते कुतो मिथ्याज्ञानतत्कार्यबाधः ।

49 **एतादृशं साक्षात्कारमेव गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण कुतो न जनयतीत्यत आह– दुर्मतिः, दुष्टा विवेकप्रतिबन्धकपापेन मलिना मतिर्यस्य सः । अतोऽशुद्धबुद्धित्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिशून्यत्वेन तत्त्वज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्यकेवलमात्मानमविद्यया कल्पयन्संसारी कर्माधिकारी देहभृदकृतबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्मत्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रबन्धेनानिष्टमिष्टं मिश्रं च कर्मफलमनुभवति । एतेन यस्तार्किको देहादिव्यतिरिक्तमात्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः ।**

50 **अन्यस्त्वाह– आत्मा केवलो न कर्ता किं त्वधिष्ठानादिभिः संहतः सन्परमार्थतः कर्तैव, कर्तारमात्मानं केवलं पश्यन्दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति । तन्न, परमार्थतः सर्वक्रियाशून्यस्यासङ्गस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः , जलसूर्यकादिवत्त्वाविद्यकेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि तादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्याविद्यकत्वाच्च । केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसङ्गाद्वितीयरूपत्वमनुवदति कर्तृत्वदर्शिनो दुर्मतित्वहेतुत्वेनेत्यदोषः ॥ 16 ॥**

है, इसीप्रकार शास्त्र-आचार्य के उपदेश और न्याय से परिनिष्ठित – सुनिश्चित हुए 'मैं सत्य, ज्ञान, अनन्त, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, अनवस्थ – अवस्थातीत, अद्वय – अद्वितीय ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार साक्षात्कार के उत्पन्न न होने पर मिथ्या अज्ञान और उसके कार्य का बाध कैसे हो सकता है ?

49 इसप्रकार का साक्षात्कार ही गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों के विचार से क्यों उत्पन्न नहीं होता है ? इस आकांक्षा से कहते हैं – वह पुरुष 'दुर्मति' होता है = जिसकी दुष्ट अर्थात् विवेक के प्रतिबन्धक पाप से मलिन मति है वह 'दुर्मति' होता है, अत: अशुद्धबुद्धि होने से, नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से शून्य होने से तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के लिए अयोग्य होने के कारण अविद्यावश आत्मा को अकर्ता होने पर भी कर्ता, केवल होने पर भी अकेवल कल्पित करता हुआ संसारी कर्माधिकारी देहाभिमानी पुरुष अकृतबुद्धि होता है, वह कर्म करनेवालों में तादात्म्याभिमान के कारण कर्मत्याग में असमर्थ तथा सर्वदा जन्म-मरण की परम्परा से अनिष्ट, इष्ट और मिश्र कर्मफल का अनुभव करता है । इससे जो तार्किक देहादि से अतिरिक्त आत्मा को ही केवल कर्ता समझते हैं वे भी अकृतबुद्धि ही हैं -- यह व्याख्या करनी चाहिए ।

50 अन्य जो यह कहते हैं कि 'आत्मा केवल कर्ता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानादि के साथ होकर वह परमार्थत: – वस्तुत: कर्ता ही है, अतएव जो केवल आत्मा को ही कर्ता समझता है वही दुर्मति है, इसी से 'केवल' शब्द का उक्त वाक्य में प्रयोग है', वह ठीक नहीं है, क्योंकि परमार्थतः सब क्रियाओं से शून्य, असंग आत्मा का अधिष्ठानादि के साथ संयोग हो ही नहीं सकता है; जल में प्रतिबिम्बित सूर्यादि के समान अविद्या से उनको परस्पर संहत स्वीकार करें तो उसका कर्तृत्व भी वैसा ही -- अविद्यक ही होगा, पारमार्थिक नहीं होगा, क्योंकि अधिष्ठानादि भी अविद्यक ही हैं । 'केवल' शब्द तो स्वभावसिद्ध आत्मा के असंग, अद्वितीय-रूपत्व का अनुवाद करता है, उस आत्मा में जो कर्तृत्व समझते हैं वे दुर्मति = विवेक के प्रतिबन्ध पाप से मलिन -- दुष्ट मति होने से ऐसा समझते हैं अतएव उनका दोष नहीं है ।। 16 ।।

51 तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः–

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य'
इति चरणत्रयं व्याख्यातमिदानीं 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे–

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ 17 ॥

52 यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधिपापेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयं प्राप्तवतः शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनिताकर्त्रभोक्तृस्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याज्ञाने सकार्ये बाधिते न भवत्यहं कर्तेत्येवंरूपो भावः प्रत्ययः । यस्य भावः सद्भावोऽहंकृतोऽहमितिव्यपदेशार्हो न, अहंकारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषादिति वा । अहंकृतोऽहंकारस्य भावस्तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वा । बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाधिष्ठानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो मया स्वप्रकाशचैतन्येनासङ्गेन कल्पितसंबन्धेन प्रकाश्यमाना अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृतद्व्यापाराणां साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्वकार्यकारणासंबद्धः कूटस्थनित्यो निर्द्वयः सर्वविकारशून्यः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो

51 इसप्रकार चार श्लोकों से 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' (गीता, 18.12) = 'अत्यागियों – गौणसंन्यासियों को मरने के पश्चात् भी अनिष्ट, इष्ट और मिश्र – तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है' – इन तीन चरणों की व्याख्या हुई, अब 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' = 'किन्तु संन्यासियों को कभी ऐसा फल प्राप्त नहीं होता है' – इस चतुर्थ चरण की एक श्लोक से व्याख्या करते हैं :–

[जिसको 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा भाव नहीं होता है और जिसकी बुद्धि 'मैंने यह कर्म किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' – ऐसे भाव से लिप्त नहीं होती है वह इन समस्त लोकों -- प्राणियों को मारकर भी नहीं मारता है और न कर्मबन्धन से बँधता ही है ॥ 17 ॥]

52 जिसको = पूर्वोक्त दुर्मति से विपरीत सुमति को = पुण्य कर्मों से आत्मानात्मविवेक के विरोधी पापों का क्षय हो जाने पर नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधनचतुष्टय[68] को प्राप्त करनेवाले तथा शास्त्र, आचार्य के उपदेश और न्याय से समुत्पन्न अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, अद्वितीय ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष को सकार्य – कार्यसहित अज्ञान के बाधित होने पर 'अहं कर्ता' = 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा भाव – प्रत्यय-ज्ञान नहीं होता है । अथवा, जिसका भाव = सद्भाव -- सत्ता अहंकृत = 'अहम्' -- 'मैं' – इसप्रकार व्यपदेश-व्यवहार के योग्य नहीं होता है, क्योंकि अहंकार का बाध होने पर शुद्धस्वरूपमात्र ही अवशिष्ट रह जाता है । अथवा, अहंकृत = अहंकार का भाव अर्थात् आत्मा में अहंकार का तादात्म्य जिसको नहीं है, क्योंकि विवेक से उसका तादात्म्याध्यास बाधित होता है । बाधितानुवृत्ति होने पर भी ये अधिष्ठानादि ही माया से मुझ सर्वात्मा में कल्पित ही सब कर्मों के कर्ता हैं और मुझ स्वयंप्रकाश, चैतन्य, असङ्ग द्वारा कल्पित सम्बन्ध से प्रकाशित हैं; मैं तो कर्ता नहीं हूँ, किन्तु कर्ता और उसके व्यापारों का साक्षीभूत हूँ अतएव क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति--दोनों उपाधियों

68. नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शम-दमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व– ये चार साधन हैं ।

अक्षरात्परतः परः', 'अज आत्मा महान्ध्रुवः सकल एको द्रष्टाऽद्वैतः', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः', 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'अविकार्योऽयमुच्यते ।'

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥'
'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' ॥'
'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

53 **तस्मान्नाहं कर्तेत्येवंपरमार्थदृष्टेर्बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानुशयिनी भवति, इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुशयः । स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः । पापे पश्चात्तापरूपः । ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात् । तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः-- 'एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । तदेतदृचाऽभ्युक्तम्--**

से सर्वथा मुक्त, शुद्ध, समस्त कार्य और कारणों से असम्बद्ध, कूटस्थनित्य, निर्द्वय – अद्वय -- अद्वितीय, सब विकारों से शून्य हूँ, जैसा कि 'यह पुरुष असंग ही है' (बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.3.16), 'आत्मा साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण है', 'आत्मा प्राण और मन से रहित शुद्ध और अक्षर से परे जो पुरुष है उससे भी परे है', 'आत्मा अज, महान् और नित्य है', 'जल में एक ही अद्वैत द्रष्टा है', 'यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत, पुरातन है', 'यह कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, निरवद्य-निर्मल, निरञ्जन – निर्लेप है' – इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध है; इसीप्रकार 'यह अविकार्य कहा जाता है', 'कर्म सर्वशः प्रकृति-माया के गुणों से किये जा रहे हैं, किन्तु अहंकारविमूढात्मा 'मैं कर्ता हूँ' – ऐसा मानता है' (गीता, 3.27), 'हे महाबाहो ! जो गुण-कर्म और आत्मा -- इनके तत्त्व को जाननेवाला है वह 'इन्द्रियाँ अपने विषयों में वर्तती रहती हैं' – ऐसा मानकर कर्तृत्व का अभिनिवेश नहीं करता है' (गीता, 3.28); 'हे कौन्तेय ! शरीर में स्थित हुआ भी यह न तो कर्म करता है और न उसके फल से ही लिप्त होता है' (गीता, 3.31) -- इत्यादि स्मृतिवचन भी उक्तार्थ के साधक हैं ।

53 अतः 'मैं कर्ता नहीं हूँ' -- इसप्रकार की परमार्थ – वास्तविक दृष्टि के कारण जिसकी बुद्धि = अन्तःकरण लिप्त नहीं होता है अर्थात् अनुशयी -- अनुशयवान् नहीं होता है । 'यह कर्म मैंने किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' -- इसप्रकार का अनुसन्धान = कर्तृत्ववासनाजनित लेप 'अनुशय' कहा जाता है और वह 'अनुशय' पुण्य कर्म करने पर हर्षरूप होता है तथा पाप कर्म करने पर पश्चात्तापरूप होता है – ऐसे दोनों ही प्रकार के लेप से जिसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान का बाध होने के कारण युक्त -- लिप्त नहीं होती है । इसीप्रकार ज्ञानी के प्रकरण में श्रुति भी है -- 'इसप्रकार मैंने पाप किया और इसप्रकार मैंने पुण्य किया -- ये दोनों ही बातें इसको कोई प्रतिबन्ध नहीं करती हैं, क्योंकि यह इन दोनों से पार हो जाता है, इसको कृत अथवा अकृत कर्म ताप नहीं पहुँचाते हैं' । इसीप्रकार ऋचा द्वारा भी कहा गया है ।-- 'ब्राह्मण की यह नित्य महिमा है कि वह कर्म से न तो बढ़ता है और न घटता है । उसको ही यह ब्रह्मपदरूप धन प्राप्त होता है । इसको

'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥' इति ।

पापकेनेति पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोषपरितापाभिप्रायम् । एव यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते स पूर्वोक्तदुर्मतिविलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलं, स कर्तृत्वाभिमानाभावादनिष्टादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येतावति शास्त्रार्थेऽहंकाराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह– हत्वा हिंसित्वाऽपि स इमाँल्लोकान्सर्वान् प्राणिनो न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्कारात् । न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते ।

54 अत्र नाहंकृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति । बुद्धिर्न लिप्यत इत्यस्य फलं न निबध्यत इति । अनेन च कर्मालेपप्रदर्शनेऽतिशयमात्रमुक्तं न तु सर्वप्राणिहननं संभवति । हत्वाऽपीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्ट्या लौकिक्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः शास्त्रीयया परमार्थदृष्ट्येति न विरोधः । शास्त्रादौ नायं हन्ति न हन्यत इति सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमात्मनः प्रतिज्ञाय न जायत इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा वेदाविनाशिनमित्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः संक्षेपेणोक्ता । मध्ये च

जानकर वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता हैं' – यहाँ 'पापकेन' शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है अतएव 'वह पाप-पुण्य कर्म से लिप्त नहीं होता है' – यह अर्थ है । 'वर्धते' और 'कनीयान्' – ये दोनों शब्द क्रमशः पुण्यद्वारा परितोष और पापद्वारा परिताप – पश्चात्ताप के अभिप्राय से हैं अतएव 'वह ब्राह्मण पुण्य कर्म से न तो बढ़ता है और पापकर्म से न घटता है' – यह अर्थ है । इसप्रकार जिसको अहंकार का भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह पूर्वोक्त दुर्मति से विलक्षण सुमति परमार्थदर्शी पुरुष आत्मा को केवल अद्वितीय, अकर्ता देखता है; वह कर्तृत्वाभिमान के अभाव से अनिष्टादि तीन प्रकार के कर्मफल का भागी नहीं होता है – इतना ही शास्त्र का अर्थ होने पर अहंकाराभाव और बुद्धिलेपाभाव – दोनों की स्तुति के लिए कहते हैं :-- वह सुमति इन समस्त लोकों = प्राणियों को मारकर = इनकी हिंसा करके भी नहीं मारता है अर्थात् 'हनन'-- 'मारण' क्रिया का कर्ता नहीं होता है, क्योंकि आत्मा अकर्तास्वरूप है-- यह उसको प्रत्यक्ष है । वह कर्म से बँधता भी नहीं है अर्थात् उसका कार्य अधर्मरूप फल से सम्बद्ध भी नहीं होता है ।

54 यहाँ 'नाहंकृतो भावः' -- इसका फल 'न हन्ति' है और 'बुद्धिर्न लिप्यते' -- इसका फल 'न निबध्यते' – है । इससे कर्मालेप – कर्मलेप का अभाव दिखलाने में अतिशयमात्र कहा है, उसके द्वारा प्राणियों का हनन तो संभव ही नहीं है । 'हत्वाऽपि' – यह कर्तृत्वविधि लौकिकी बाधित कर्तृत्वदृष्टि से है तथा 'न हन्ति' -- यह कर्तृत्वनिषेध शास्त्रीय पारमार्थिक–वास्तविकदृष्टि से है – इसप्रकार इनमें कोई विरोध नहीं है । गीताशास्त्र के आरम्भ में अर्थात् द्वितीय अध्याय में 'नायं हन्ति न हन्यते' (गीता, 2.19) = 'यह न तो मारता है और न मारा जाता है' -- इसप्रकार आत्मा के सब कर्मों से असंस्पर्शित्व – असंबद्धत्व की प्रतिज्ञा करके 'न जायते' (गीता, 2.20) – इत्यादि हेतुयुक्त वचनों से आत्मा के अविक्रियत्व को सिद्ध कर -- कहकर 'वेदाविनाशिनम्' (गीता, 2.21) -- इत्यादि से विद्वान् -- तत्त्वज्ञानी की सब कर्मों में अधिकार की निवृत्ति संक्षेप में कही है । मध्य में उस-उस प्रसङ्ग से उक्त निवृत्ति को प्रसारित -- विस्तृत किया है और यहाँ 'शास्त्र का अर्थ –

तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारितेह शास्त्रार्थैतावत्त्वप्रदर्शनायोपसंहृता न हन्ति न निबध्यत इति । एवं चाविद्याकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविद्यया समुच्छेदोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम् । परमार्थसंन्यासश्चा-कर्त्रात्मसाक्षात्कार एव । जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलवत्प्रारब्धकर्मवशाद्बाधिता-नुवृत्त्या परपरिकल्पनया वा कर्मदर्शनं न विरुद्धं परमहंसानामीदृशानां भिक्षाटनादिवत् । अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते । साधनभूतस्तु विविदिषासंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाले ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥ 17 ॥

55 **पूर्वमधिष्ठानादिपञ्चकस्य क्रियाहेतुत्वेनाऽऽत्मनः सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमुक्तं संप्रति तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिप्रक्रियारचनया त्रैगुण्यभेदव्याख्यया च विवरीतुमुपक्रमते--**

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ 18 ॥

56 **ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया, ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याऽऽश्रयो भोक्ताऽन्तःकरणो-पाधिपरिकल्पितः, एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भः स्यादत एतत्त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकं तदेतदाह-- त्रिविधा कर्मचोदनेति । चोदनेति प्रवर्तकमुच्यते । चोदनेति**

तात्पर्यार्थ इतना ही है' – यह दिखलाने के लिए 'न हन्ति न निबध्यते' -- इससे उक्त निवृत्ति का उपसंहार किया है । इसप्रकार अविद्याकल्पित, अनात्मस्वरूप उक्त अधिष्ठानादि के द्वारा किये हुए सभी कर्मों का आत्मज्ञान से उच्छेद--विनाश संभव होने से परमार्थ संन्यासियों को अनिष्टादि तीन प्रकार के कर्मफल प्राप्त नहीं होते हैं – यह उपपन्न – उचित ही है । परमार्थ संन्यास तो अकर्ता आत्मा का साक्षात्कार ही है । जनकादि में इसप्रकार का संन्यासित्व रहने पर भी बलवान् प्रारब्धकर्म के प्रभाव से, बाधित भी कर्तृत्वादि की अनुवृत्ति से अथवा दूसरे की परिकल्पना – कल्पना से कर्म देखना विरुद्ध नहीं है, जैसे इसप्रकार के परमहंसों में भिक्षाटनादि कर्म देखे जाते हैं । अतएव तत्त्वज्ञान का फलस्वरूप 'विद्वत्संन्यास' कहा जाता है । साधनस्वरूप तो विविदिषा-संन्यास पहले ऐसा न होने पर भी बाद में ज्ञानोत्पत्ति होने पर ऐसा ही हो जाता है – यह आगे कहा जायेगा ॥ 17 ॥

55 पूर्व में अधिष्ठानादि पाँच पदार्थ ही क्रिया के हेतु होने से आत्मा का सब कर्मों से असंस्पर्शित्व – असंबद्धत्व कहा है, अब उसी अर्थ का ज्ञान – ज्ञेयादि प्रक्रिया की रचना और त्रैगुण्यभेद की व्याख्या से भी विवरण करने के लिए आरम्भ करते हैं :--

[ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता – ये तीन कर्मचोदना के भेद हैं तथा करण, कर्म और कर्ता – ये तीन कर्मसंग्रह के प्रकार हैं ॥ 18 ॥]

56 'ज्ञान[69]' विषय को प्रकाशित करनेवाली क्रिया है, 'ज्ञेय[70]' उक्त ज्ञान-क्रिया का कर्म है, और

---

69. ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽविशेषेण सर्वविषयं ज्ञानमात्रमुच्यते = 'ज्ञा' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर 'ज्ञान' शब्द निष्पन्न होता है अतएव जिससे कोई पदार्थ जाना जाता है वह ' ज्ञान' है । इसप्रकार करणव्युत्पत्ति से सामान्यभाव सर्वपदार्थविषयक 'ज्ञान' कहा जाता है ।

70. ज्ञेयमपि समान्येनैव ज्ञातव्यं सर्वमुच्यते = जो कुछ ज्ञातव्य — जानने के योग्य पदार्थ है वह 'ज्ञेय है, यह भी सामान्यभाव से ही सर्वपदार्थविषयक होता है ।

क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शाबरे । 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः', इति भाट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथाऽपि वचनत्वं विहाय प्रवर्तकमात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात् । एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नाऽऽत्मन इत्यभिप्रायः । तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्राद्यन्तःस्थं बुद्ध्यादि । कर्मकर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानमुत्पाद्यमाप्यं विकार्यं संस्कार्यं च । कर्ता च, इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियाया निर्वर्तकश्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संगृह्यते समवैत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः । चकारार्थादितिशब्दात्संप्रदानमपा-

---

'परिज्ञाता[71]' उक्त ज्ञान और ज्ञेय का आश्रय अर्थात् अन्त:करणरूप उपाधि से परिकल्पित भोक्ता है – इन तीनों का संनिपात – सम्मिश्रण होने पर ही हान – त्याग, उपादान-ग्रहण-आदिरूप सब कर्मों का आरम्भ होता है, अत: ये तीनों ही सब कर्मों के प्रवर्तक हैं, अतएव कहते हैं – 'त्रिविधा कर्मचोदना' = 'तीन प्रकार की 'कर्मचोदना' है । 'चोदना[72]' प्रवर्तक को कहते हैं । 'चोदना' क्रिया के प्रवर्तक वचन को कहते हैं' (शाबरभाष्य, 1.1.2) -- इस शबरस्वामी के वाक्य में और 'चोदना, उपदेश और विधि – ये एक अर्थ के वाचक हैं' (श्लोकवार्तिक, 1.1.5.11, 1.1.5-शब्दपरिच्छेद, 12) – इस कुमारिलभट्ट के वचन में भी यद्यपि 'चोदना' पद की शक्यता से 'क्रिया के प्रवर्तक वचनत्व' – शक्यार्थ की प्रतीति होती है, तथापि यहाँ वचनत्व को छोड़कर प्रवर्तकमात्र में 'चोदना' पद की लक्षणा की जाती है, क्योंकि ज्ञानादि में वचनत्व का अभाव होता है । इसप्रकार प्रेरणीयत्व और प्रेरकत्व – ये अनात्मा के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं है – यह अभिप्राय है । 'करण[73]' साधकतम = क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक -- सहायक कारक है, यह श्रोत्रादि 'बाह्य' और बुद्धि आदि 'अन्त:स्थ' – भेद से दो प्रकार का है । 'कर्म' = कर्ता को अपनी क्रिया से जो ईप्सिततम हो -- कर्ता अपनी क्रिया से जिस पदार्थ को प्राप्त करने की सबसे अधिक इच्छा रखता हो अर्थात् कर्ता की क्रिया से जो व्याप्यमान – व्याप्त होनेवाला है वह 'कर्म' है, यह चार प्रकार का है -- उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य और संस्कार्य । तथा, 'कर्ता[74]' इतर कारकों से -- स्वभिन्न कर्मादि कारकों से अप्रयोज्य होते हुए सब कारकों का प्रयोजक[75] अर्थात् क्रिया का निर्वर्तक –क्रिया को निष्पन्न करनेवाला चिदचिद्ग्रन्थिरूप[76] है -- इसप्रकार तीन प्रकार का 'कर्मसंग्रह' है । जिसमें कर्म संगृहीत -- समवेत होता है वह 'कर्मसंग्रह' अर्थात् कर्म का आश्रय होता है । यहाँ 'इति' शब्द चकार के अर्थ में है अतएव 'इति[77]' शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन अनुक्त कारक भी उक्त तीन कारकों में ही अन्तर्भूत कहे गये हैं । इसप्रकार छहों कारक

---

71. 'परिज्ञाता' उपाधियुक्त अविद्याकल्पित भोक्ता है, परिज्ञाता को अविद्याकल्पित कहने से यह निर्देश किया गया है कि यह अवस्तु – मिथ्या है ।

72. चोद्यते प्रवर्त्यते येनेति चोदना – जिससे चोदित – प्रवृत्त किया जाता है उसको चोदना– प्रवर्त्तक कहते हैं ।

73. क्रियतेऽनेनेति करणम् = जिससे कार्य किया जाता है वह करण है, यह श्रोत्रादि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर भेद से दो प्रकार का है ।

74. स्वतन्त्र: कर्ता (पाणिनिसूत्र, 1.4.54) = क्रियासम्पादन में जो स्वतन्त्र अर्थात् प्रधानभाव से विवक्षित होता है = जो अन्य किसी कारक के अधीन न होकर स्वयं क्रिया-निष्पादन करता है उसको 'कर्ता' कहते हैं ।

75. क्रियोपयोगि क्रियान्वयि कारकम् = क्रिया के साथ जिसका अन्वय अर्थात् सम्बन्ध रहता है उसको कारक कहते हैं । कारक छ: हैं :-- कर्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण । क्रिया का आश्रय कर्ता है, कर्ता के बिना क्रिया नहीं होती है अतएव क्रिया द्वारा कर्ता सब कारकों का प्रयोजक होता है और स्वयं कारकान्तर से अप्रयोज्य होता है ।

दानमधिकरणं च राशित्रयान्तर्भूतम् । एवं कारकषट्कमेव त्रिविधं क्रियाया आश्रयो नतु कूटस्थ आत्मेत्यर्थः । कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपत्वात्त्रैगुण्यात्मकत्वाच्चाकारकस्वभावो गुणातीतश्चाऽऽत्मा सर्वकर्मासंस्पर्शीत्यभिप्रायः ।

57 अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङादिशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन लिङादिशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याऽऽश्रयः प्रेरणीयः, इत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना कर्म क्रिया पुरुषव्यापार-रूपाऽऽर्थी भावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावनेत्यर्थः । तथा करणं सेतिकर्तव्यताकं साधनं धात्वर्थः, कर्म भाव्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान्पुरुषः क्रियाया

ही तीन प्रकार के कारक हैं, ये तीन प्रकार के कारक क्रिया के आश्रय हैं, कूटस्थ आत्मा के आश्रय नहीं हैं – यह अभिप्राय है । कर्मप्रेरक और कर्माश्रय कारकरूप हैं और त्रैगुण्यात्मक हैं अतएव अकारक-स्वभाव और गुणातीत आत्मा सब कर्मों से असंस्पर्श -- असम्बद्ध होता है -- यह अभिप्राय है ।

57 अथवा, 'ज्ञान' लिङादिशब्दजन्य प्रेरणारूप[78] है, 'ज्ञेय' उस ज्ञान का विषय होने से लिङादिशब्दस्वरूप प्रेरक है, और 'परिज्ञाता' उस ज्ञान का आश्रय प्रेरणीय है -- इसप्रकार तीन प्रकार की 'कर्मचोदना' है = 'कर्म' क्रिया अर्थात् पुरुषव्यापाररूपा आर्थी-भावना[79] है, उसकी विषय 'चोदना' – प्रेरणा अर्थात् विधिरूपा शाब्दी-भावना है – यह अर्थ है । तथा 'करण' इतिकर्तव्यता[80] सहित साधन[81] अर्थात् धात्वर्थ है, 'कर्म' भाव्य-- करण से होनेवाला स्वर्गादि फल है, और 'कर्ता' फल की कामना

76. क्रिया का निर्वर्तक 'कर्ता' चिदचिद्ग्रन्थिरूप है, अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य है = अन्तःकरण अचित् है, चैतन्य चित् है – दोनों की अनादिमाया से वैशिष्ट्यरूप ग्रन्थि हुई है अतएव वह चिदचिद्ग्रन्थिरूप है, यही प्राणधारण क्रिया से 'जीव' कहलाता है ।

77. प्रकृत में 'इति' शब्द चकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतएव 'इति' शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन अनुक्त कारक ग्रहण किये गये हैं । 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.32) = दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसको उद्देश्य बनाता है वह 'सम्प्रदान' कहलाता है । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.24) = किसी वस्तु या व्यक्ति के अपाय = अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि – सीमारूप है वह 'अपादान' कहलाता है । 'अधारोऽधिकरणम्' (पाणिनिसूत्र, 1.4.45) = कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार 'अधिकरण' कारक कहलाता है । इसके अतिरिक्त 'इति' शब्द से ही ये उक्त तीन कारक कर्ता, कर्म और करण – इन तीन कारकों में ही अन्तर्भूत कहे गये हैं, कारण कि कर्ता, कर्म और करण – ये तीन कारक क्रिया के साक्षात् आश्रय हैं, किन्तु सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये तीन कारक तो केवल परम्परा से क्रिया के निर्वर्तक है, साक्षात् क्रिया के आश्रय नहीं हैं ।

78. लिङ्त्व लोट्त्व, लेट्त्व, तव्यत्व का उपलक्षक है अतएव लिङ्, लोट्, लेट्, तव्य प्रत्यय से जन्य प्रेरणा – प्रवर्तना 'ज्ञान' है ।

79. 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना' (अर्थसंग्रह) = स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके यागादि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार – कर्म उत्पन्न होता है उसको 'आर्थीभावना' कहते हैं ।

80. इतिकर्तव्यता = 'इति' का अर्थ प्रकार है, सामान्यरूप से प्राप्त पदार्थ का विशेषरूप देना 'प्रकार' है । 'कर्तव्य' शब्द सामान्य क्रिया का अभिधायक है । अतएव सामान्यक्रियाभिहित 'कर्तव्य' को ही विशेषरूप करना 'इतिकर्तव्यता' शब्द का अर्थ है । 'यजेत' पद में 'त' प्रत्यय प्रवर्तना बोधक होकर पुरुष को अपने इष्ट साधन में प्रवर्तित करता है । लिङादि ज्ञान सम्पन्न भी पुरुष 'यजेत' पद को सुनकर तटस्थ रहता हो तो विधि तटस्थ पुरुष को प्रवर्तित कराने में आकांक्षा रखती है, इसी को 'इतिकर्तव्यता' आकांक्षा कहते हैं ।

81. यद्यपि भावना अपने साध्य को उत्पन्न करती है तथापि भावना और साध्य के बीच एक साधन का अस्तित्व पाया जाता है जो साध्य के निष्पन्न होने में करण का स्थान ग्रहण करता है । साधन धात्वर्थ होता है । 'यजेत' पद में दो अंश है– 'यज्' धातु और 'त' प्रत्यय । यज् धातु याग के सामान्यरूप का बोधक है और 'त' प्रत्यय का बोधक है । 'त' प्रत्यय के दो अंश है-- आख्यातत्व और लिङ्गत्व । लिङादिज्ञान करण है । धात्वर्थ करण है । इसप्रकार यागानुष्ठान साधन है, करण है ।

निर्वर्तक इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुंव्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः । तदेवमर्थभावनारूपपुंप्रयत्नस्य विधेयस्याभावाच्छब्दभावनारूपो विधिर्न शुद्धमात्मानं गोचरयति कारकाश्रयत्वाद्विधिविधेययोः । तदुक्तं– 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति । कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्वमनन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः ।

58 **अत्र प्रसङ्गाद्विधिश्चिन्त्यते, प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा । राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितो ब्राह्मणेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो भवन्ति । सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा । तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तनाऽऽज्ञा प्रेषणेति चोच्यते । निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना याञ्चाऽध्येषणेति चोच्यते । समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन प्रवर्तनाऽनुज्ञाऽनुमतिरिति चोच्यते । ते चाऽऽज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः । वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्तारो भवन्ति । तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनधर्मेणाऽऽज्ञादिना प्रेरकता संभवति । अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात् । स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरुपदेशः शब्दभावनेति चोच्यते ।**

करनेवाला पुरुष अर्थात् क्रिया का निर्वर्तक -- क्रिया को निष्पन्न करनेवाला पुरुष है -- इसप्रकार तीन प्रकार का 'कर्मसंग्रह' है = कर्म अर्थात् पुंव्यापाररूपा आर्थीभावना का संग्रह-संक्षेप है । इसप्रकार आर्थीभावनारूप पुंप्रयत्नरूप विधेय का अभाव होने के कारण शाब्दीभावनारूप विधि शुद्ध आत्मा को गोचर-विषय नहीं करती है, क्योंकि विधि और विधेय कारक के आश्रय होते हैं । यही भगवान् ने कहा है :–

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता, 2.45) = 'हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य को विषय करनेवाले हैं, तुम निस्त्रैगुण्य होओ' । कारकों की त्रैगुण्यरूपता की व्याख्या आगे की जायेगी – यह अभिप्राय है ।

58 यहाँ प्रसङ्ग[82]सङ्गति से 'विधि' के विषय में विचार किया जाता है, प्रवृत्ति की हेतु होने से प्रेरणा-प्रवर्तना तो सब प्राणियों के अनुभव से ही सिद्ध है, क्योंकि 'मैं राजा से प्रेरित हूँ', 'मैं बालक से प्रेरित हूँ', 'मैं ब्राह्मण से प्रेरित हूँ' -- इसप्रकार प्रवृत्त होनेवाले वक्ता होते हैं और वह प्रवर्तना प्रवर्तक-राजादिनिष्ठ होती है । उसमें, उत्कृष्ट पुरुष की निकृष्ट पुरुष के प्रति होनेवाली प्रवर्तना आज्ञा अर्थात् प्रेषणा कही जाती है । निकृष्ट पुरुष की उत्कृष्ट पुरुष के प्रति होनेवाली प्रवर्तना याञ्चा अर्थात् अध्येषणा कही जाती है । समान पुरुष की समान पुरुष के प्रति उत्कर्ष और निकर्ष की उदासीनतापूर्वक होनेवाली प्रवर्तना अनुज्ञा अर्थात् अनुमति कही जाती है । वे आज्ञादि ज्ञानविशेष अथवा इच्छाविशेष चेतन के ही धर्मरूप से लोक में प्रसिद्ध हैं । वेद में तो पुरुष 'मैं विधि से प्रेरित हुआ कर्म करता हूँ' -- इसप्रकार का व्यवहार करनेवाले होते हैं । उसमें, स्वयं अचेतन होने से और अपौरुषेय होने से वैदिक विधि में चेतन के धर्मरूप आज्ञादि से प्रेरकता संभव नहीं है, अतः उसको अपने शब्दात्मक धर्म से ही प्रेरक स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि कोई अन्य गति सम्भव नहीं है; और वह धर्म ही चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश और शाब्दीभावना कहा जाता है ।

82. स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्प्रसङ्गः = स्मृत हुए की उपेक्षा न करने को प्रसङ्ग कहते हैं ।

59 तत्र केचिदलौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति । अन्ये तु क्लृप्तेनैवोपपत्तौ नालौकिककल्पनां सहन्ते । प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुर्व्यापारः । विधिशब्दस्य चाऽऽख्याततत्वेन दशलकारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत् । सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य तद्धेतुत्वं परम्परया भवत्येव । तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानम् । स एव च तस्य प्रवृत्ति-

59 इस विषय में कोई विद्वान्[83] अलौकिक ही शब्दव्यापार की कल्पना करते हैं, किन्तु अन्यजन[84] कहते हैं कि यदि क्लृप्तनिश्चित कारण से ही लौकिक कर्म के समान वैदिक कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है तो अलौकिक व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ?– इसप्रकार वे अलौकिक-कल्पना को सहन नहीं करते हैं। कारण कि प्रवर्तना प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है और 'विधि' शब्द का दश लकारों के साधारणधर्म आख्याततत्वरूप उपाधि से पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के प्रति वाचकत्व है अर्थात् आर्थीभावना के ज्ञान का हेतुत्व है । उस आर्थीभावना का ज्ञान होने पर ही अनुष्ठान किया जा सकता है, अत: उसके ज्ञान के हेतुभूत शब्द का उसके प्रति भी परम्परा से हेतुत्व होता ही है । उसमें, पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के ज्ञान में हेतुरूप 'विधि' शब्द का व्यापार पुरुषप्रवृत्ति का वाचक है और उसकी वाचकशक्तिमत्ता होने से ही 'विधि' शब्द का ज्ञान होता है और वही उसकी प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है अतएव वही 'प्रवर्तना' नाम प्राप्त करता है, क्योंकि ज्ञानद्वारा ही शब्द प्रवृत्ति का जनक होता है, कारण कि ज्ञानजनक व्यापार से अतिरिक्त उसके किसी अन्य व्यापार की कल्पना करने में प्रमाण नहीं है[85] । इसप्रकार विधि का स्वज्ञान = लिङादिज्ञान, उसकी शक्ति

83. कोई विद्वान् = भट्टसोमेश्वर और खण्डदेव कहते हैं कि शब्दनिष्ठ प्रेरणा-प्रवर्तना का अपरपर्याय कोई अलौकिक शब्दव्यापार शाब्दीभावना शब्द से शब्दित है । उक्त मत में अरुचि प्रकट करने के लिए 'केचित्' शब्द का प्रयोग है, कारण कि उक्त मत में तीन दोष प्रसक्त होते हैं । प्रथम दोष यह है कि अलौकिक शब्दव्यापार में व्यवहारादि से शब्दशक्तिग्रहण नहीं हो सकता है अतएव अगृहीतशक्तिक पद का प्रयोग अबोधक होने से व्यर्थ ही होगा, फलत: अबोधक पद से पुरुषप्रवृत्ति भी नहीं होगी । द्वितीय दोष यह है कि पुरुष राजादि की प्रेरणा से कर्म में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि वह स्वतंत्र फल देता है और अचेतन लिङादि में यह सामर्थ्य नहीं है अतएव इनकी प्रेरणा से पुरुषप्रवृत्ति नहीं होगी । तृतीय दोष यह है कि पुरुषप्रवृत्ति में प्रधान कारण लिङादि हैं अथवा प्रेरणा है ? यदि लिङादि कारण हैं तो किसी भी फल की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे स्वयं पुरुषार्थ नहीं हैं । यदि प्रेरणा कारण है तो प्रेरणामात्र के ज्ञान से विद्वान् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अपितु उचित और अनुचित – दोनों प्रकार की प्रवृत्ति हो सकती है ।

84. अन्यजन = पार्थसारथिमिश्रादि की मान्यता है कि क्लृप्त – निश्चित कारण से ही लौकिक कर्म के समान वैदिक कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है अतएव अलौकिक व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है ।

85. भाव यह है कि प्रवर्तना प्रवृत्ति का हेतुभूत व्यापार है और पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना सब आख्यातों का अर्थ है अतएव लिङादि शब्द का भी वह अर्थ है, क्योंकि लिङादि शब्द भी आख्यात ही हैं तथा लिङादि शब्द ही पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना का ज्ञान कराते हैं । 'यजेत' आदि शब्दों में 'लिङ्' शब्द के श्रवण से श्रोता को यह ज्ञान होता है कि ये लिङादि शब्द मुझको यागादि में प्रवृत्त कराते हैं कि 'याग करो' – इसप्रकार यागादि में मेरी प्रवृत्ति का प्रयोजक व्यापार लिङादि शब्दों में है – यह सर्वलोकप्रसिद्ध अनुभव है । 'यजेत' – इस विधि शब्द में दो अंश है – आख्यातत्व और लिङ्त्व । आख्यातत्व या तिङ्त्व धर्म दसों लकारों में रहता है अतएव यह उसका साधारण धर्म है, किन्तु लिङ्त्व धर्म केवल लिङ् लकार में ही रहता है अतएव यह उसका असाधारण धर्म है । पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना आख्यातार्थ है जो सब आख्यातों से प्रतीत होता है । प्रवृत्ति करानेवाली प्रेरणा शाब्दीभावना है जो कि लिङादि शब्दों में ही रहती है । लोक में राजादि प्रवर्त्तक पुरुषों में आज्ञादिरूप धर्म से रहते हैं किन्तु वेद अपौरुषेय हैं, अचेतन हैं अतएव उनमें लिङादिरूप शब्दात्मक धर्म को ही प्रेरणा मानकर शाब्दीभावना कहा जाता है । आर्थीभावना का ज्ञान लिङादि विधि शब्दों से होता है इसलिए लिङादि शब्द आर्थीभावना

हेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयतां लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्राऽऽद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः ।

60 **एवं स्थिते निष्कर्षः, विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव-शब्दभावना । तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यतयाऽन्वेति । करणतया च प्रवृति-वाचकशक्तिमद्विधिज्ञानमेव । भावनासाध्यस्यापि फलावच्छिन्नां भावनां प्रति करणत्वं फलकरण-**

का ज्ञान और शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान -- ये उसके ज्ञानजनक व्यापार हैं[86] । उनमें प्रथम दो में से कोई भी एक अर्थात् प्रथम अथवा द्वितीय शाब्दीभावनारूप है और तृर्ताय तो भावनाकरण[87] है -- यह विवेक -- अन्तर है ।

60 ऐसी स्थिति में निष्कर्ष यह है कि विधि -- विधिवाक्य से विधि का स्वज्ञान = लिङादिज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रवर्तनारूप से कहा भी जाता है अतएव विधिज्ञान ही शाब्दीभावना है । उसमें पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना ही भाव्य-साध्यरूप से अन्वित होती है तथा करण[88]रूप से प्रवृत्तिवाचक

के वाचक हैं । लिङादिशब्द से प्रवृत्ति को जब तक पुरुष नहीं जानता है तब तक पुरुष यागादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता है अतः प्रवृत्तज्ञान द्वारा लिङादि शब्द प्रवृत्ति के वाचक हैं । यह श्रोताओं का ज्ञान ही लिङादि शब्दों का वह व्यापार है जो कि पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है ।

86. विधि -- लिङादि शब्दों का ज्ञानजनक व्यापार तीन प्रकार होता है -- प्रथम = विधि का स्वज्ञान -- लिङादिज्ञान अर्थात् लिङादि शब्दों का श्रावण प्रत्यक्ष, द्वितीय = उसकी शक्ति का ज्ञान -- प्रवृत्ति कराने की शक्ति का ज्ञान अर्थात् उस शक्ति का ज्ञान जिससे लिङादि शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष के उपरान्त प्रवृत्ति का ज्ञान श्रोताओं को होता है और तृतीय = शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान अर्थात् प्रवृत्तिज्ञान कराने की शक्ति विधि-लिङादि शब्दों में है एतादृश शक्तिज्ञानविशिष्टस्वज्ञान है । विधि -- लिङादि का श्रावण प्रत्यक्ष द्वितीय ज्ञान का स्मारक है, कारण कि सामान्यज्ञानपूर्वक ही विशेषज्ञान होता है अतएव द्वितीय ज्ञान अपेक्षित है । सामान्यज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है, क्योंकि वह शक्ति का ज्ञान है, द्वितीय ज्ञान से यह प्रतीत नहीं होता है कि वह शक्ति कहाँ है अतएव तृतीय ज्ञान अपेक्षित है । तृतीय ज्ञान से यह स्पष्ट हो जाता है वह शक्ति विधि -- लिङादि शब्दों में है अतएव लिङादि शब्दों के श्रवण से यागादि में पुरुष की प्रवृत्ति होती है ।

87. 'करण' दो प्रकार का होता है -- कारक और ज्ञापक । 'कारक' का अर्थ है उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला और 'ज्ञापक' का अर्थ है ज्ञान कराने वाला । शक्तिविशिष्टस्वज्ञान -- लिङादिज्ञान भावना का उत्पादकरूप करण नहीं है, जैसा कि चक्षुःसन्निकर्ष रूपादि के ज्ञान का उत्पादक है, सन्निकर्ष न होने पर रूपादि का ज्ञान नहीं होता है और चक्षुःसन्निकर्ष हो जाने पर रूपादि का ज्ञान होता है । इसप्रकार शाब्दीभावना के साथ लिङादि ज्ञान का जन्य -- जनकभाव सम्बन्ध नहीं है । यदि जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होगा तो लिङादिज्ञान न होने से उसका अभाव मानना पड़ेगा और यह संभव नहीं है, क्योंकि भावना 'यजेत स्वर्गकामः' -- इस वैदिक शब्दसमूह में पूर्व से ही विद्यमान रहती है, वेद के अनादि होने से शाब्दीभावना भी अनादि है अतएव उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता है । लिङादिज्ञानरूप करण से शाब्दीभावना का ज्ञान अवश्य होता है । 'लिङादि' के श्रवण से श्रोता अथवा वक्ता वेदवाक्य में पूर्व से ही विद्यमान शाब्दीभावना का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेता है । इसप्रकार लिङादिज्ञान ज्ञापकरूप में शाब्दीभावना का करण है, उत्पादकरूप में करण नहीं है, किन्तु लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का ज्ञापक करण होने के साथ-साथ आर्थीभावना का कारक-उत्पादक करण भी है, कारण कि लिङादि का ज्ञान होने पर ही श्रोता में आर्थीभावना- प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसप्रकार शक्तिविशिष्टस्वज्ञान भावनाकरण है ।

88. प्रकृत में 'करण' स्वभाव्यनिर्वर्तकत्वरूप है । 'स्व' शब्द शाब्दीभावना परक है अतएव शाब्दीभावना का भाव्य -- साध्य -- आर्थीभावना जो पुरुषप्रवृत्तिरूपा है उस प्रवृत्ति की निर्वर्तकता -- संपादकता लिङादिज्ञान में है, क्योंकि उसमें प्रवृत्ति कराने की शक्ति रहती है अतएव प्रवृत्तिवाचक शक्तिविशिष्टविधिज्ञान शाब्दीभावना का करण है ।

त्वादेव यागस्येव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते। तया च पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत्। केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देनेति करणांशपूरणम्। कथमित्याकाङ्क्षाया-मर्थवादैः स्तुत्वेतीतिकर्तव्यतांशपूरणम्। इयं गौः क्रय्येति लौकिके विधौ बहुक्षीरा जीववत्सा ह्यपत्या समांसमीनेत्यादिलौकिकार्थवादवत्।

61 **नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयाऽन्वेतु। करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति। उच्यते-- विधिशब्दस्तावच्छ्रवणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता। तदुभयवैशिष्ट्यं तन्निष्ठा ज्ञातता च मनसेति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव। अनेन यच्छ्नुयात्तद्भावयेदिति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्द-**

शक्तिविशिष्टविधिज्ञान ही अन्वित होता है। शाब्दीभावना का साध्य-आर्थीभावना जो पुरुषप्रवृत्तिरूपा फलस्वरूपा है उस पुरुषप्रवृत्तिरूप फल से अवच्छिन्न-विशिष्ट शाब्दीभावना के प्रति भी शक्तिविशिष्टविधिज्ञान करण है, क्योंकि वह फल का करण है; जैसे याग यद्यपि आर्थीभावना का करण है तथापि स्वर्गादि फल का करण होने से स्वर्गादि फल से युक्त आर्थीभावना का भी करण है – इसप्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है। विधि से पुरुष अपनी प्रवृत्ति करे – इससे शाब्दी भावना कही गई है, इसमें तीन अंशों की अपेक्षा रहती है -- साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता। उक्त अपेक्षात्रय का स्वरूप क्रमशः इसप्रकार है – किं भावयेत्' = 'क्या करे', 'केन भावयेत्' = 'किससे करे' और 'कथं भावयेत्' = 'कैसे करे'। इनमें प्रथम साध्य की अपेक्षा 'पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत्' = 'पुरुष अपनी प्रवृत्ति करे' – इससे निवृत्त हो गई, इसके पश्चात् 'केन भावयेत्' = 'किससे करे' -- इसप्रकार साधन की अपेक्षा-आकांक्षा होने पर 'पुरुषप्रवृत्ति की वाचकशक्तिमत्ता से ज्ञात 'विधि' शब्द से करे' – इसप्रकार करण-साधन अंश की पूर्ति होती है, इसके पश्चात् 'कथं भावयेत्' = 'कैसे करे' – इसप्रकार इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर अर्थवादों[89] से स्तुति कर इतिकर्तव्यता अंश की पूर्ति होती है = जिसप्रकार 'गौ: क्रय्या' -- 'गौ क्रय के योग्य है' – इस लौकिक विधि में 'यह गौ बहुत दूध देती है, इसके बच्चे जीवित रहते हैं, यह वत्सा – बछड़ीवाली है, प्रतिवर्ष प्रसव करती है' – इत्यादि लौकिक अर्थवादवाक्यों से क्रेता की गौ-क्रय में प्रवृत्ति होती है, उसीप्रकार 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' – 'ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक पुरुष वायु देवता के लिए श्वेत पशु का आलभन करे' -- इस विधि में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' -- 'वायु शीघ्रगामी देवता है' -- अतएव शीघ्र फलप्रद है -- इस 'अर्थवाद-वाक्य से पुरुष की याग में प्रवृत्ति होती है -- इसप्रकार इतिकर्तव्यता अंश का पूरक अर्थवाद होता है।

61 शंका है – आख्यातत्व धर्म से युक्त 'विधि' शब्द से उपस्थित पुरुषप्रवृत्ति भाव्य -- साध्यरूप से

89. प्राशस्त्यपरक अथवा निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं (प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः–अर्थसंग्रह)। अर्थवाद वाक्य का अपने मुख्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रहता है अतएव अर्थवाद वाक्य लक्षणा द्वारा विधेय पदार्थ के प्राशस्त्य और निषेध्य पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। यदि अर्थवादवाक्य का अभिप्राय उसके अपने मुख्यार्थ में स्वीकार किया जायेगा तो अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, क्योंकि सम्पूर्ण वेद क्रियापरक हैं, किन्तु अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने की आपत्ति को इष्टापत्ति नहीं माना जा सकता है, कारण कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'– यह अध्ययनविधि सूचित करती है कि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, सम्पूर्ण वेद का अभिप्राय प्रयोजनवान् अर्थ– धर्म में ही होता है और अर्थवाद भी वेदगत होने के कारण क्रियापरकरूप में स्वीकृत होता है अतएव अर्थवादवाक्य व्यर्थ नहीं होता है। अर्थवाद के दो भेद हैं– विधिशेष और निषेधशेष।

बोधे भासत एव । यथा ज्योतिष्टोमादिनामधेयं यथा वा लिङ्गविनियोज्यो मन्त्रः । तदुक्तमाचार्यैरुद्भिदधिकरणे– 'अनुपस्थितविशेषणा विशिष्टबुद्धिर्न भवति न त्वनभिहितविशेषणा' इति । एवमर्थवादानामुपस्थितिः श्रोत्रेण प्राशस्त्यस्य तु तैरेव लक्षणया तदुभयनिष्ठज्ञाततायास्तु मनसेत्यर्थवादैः प्रशस्तत्वेन ज्ञात्वेतीतिकर्तव्यतांशान्वयोऽप्युपपन्न एव ।

62 **ननु किं प्राशस्त्यं, न तावत्फलसाधनत्वं, तस्य यागेन भावयेत्स्वर्गमित्यर्थभावनान्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात् । नान्यत्, प्रवृत्तावनुपयोगात् । उच्यते– बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं प्राशस्त्यम् । तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात् । विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम् । अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते । अत एवोक्तम्–**

अन्वित होती है तो हो, किन्तु करण जो विधिशब्द से उपस्थित नहीं है वह पुरुषप्रवृत्ति में कैसे अन्वित हो सकता है[90] ? समाधान है -- विधिशब्द -- लिङादि तो श्रवणेन्द्रिय से उपस्थित रहता है अर्थात् उसका श्रावणप्रत्यक्ष होता है अतएव वह प्रत्यक्ष से उपस्थित रहता है, उसकी पुरुषप्रवृत्तिरूपा वाचकशक्ति भी स्मरण से उपस्थित रहती है, तथा विधिशब्द और उसकी शक्ति – दोनों का वैशिष्ट्य और उसमें निष्ठ -- रहनेवाली ज्ञातता मन से उपस्थित रहती है -- इसप्रकार वाचकशक्तिमत्ता से ज्ञात विधिशब्द उपस्थित ही रहता है । 'इससे जो कर सके वह करे' -- इसप्रकार प्रत्येक शब्द में स्वाध्यायविधि का तात्पर्य रहने से शब्दातिरिक्त स्मरण से उपस्थित हुआ शक्तिज्ञान भी शाब्दबोध में भासित होता ही है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' -- 'स्वर्गलाभ के लिए ज्योतिष्टोम नामक याग करे' – यहाँ ज्योतिष्टोम नामक याग की उपस्थिति शब्दातिरिक्त श्रवणेन्द्रिय से हुई है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की शक्ति तदर्थ याग में है, अथवा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' -- इत्यादि में 'दामि' -- इस लिङ्ग से कुशच्छेदन में इस मन्त्र का विनियोग है । मीमांसक आचार्यों ने उद्भिद् अधिकरण में कहा भी है -- 'जो विशेषण उपस्थित ही नहीं है उसके सम्बन्ध का बोध न होने से उस विशेषण से विशिष्ट में उस विशेषण से विशिष्ट बुद्धि नहीं होती है -- यह नियम है, न कि जो विशेषणमात्र शब्द से उपस्थित नहीं है उस विशेषण से विशिष्ट बुद्धि नहीं होती है-- यह नियम है' । इसीप्रकार अर्थवादों की उपस्थिति श्रोत्र से होती है, प्राशस्त्य अर्थ तो उन अर्थवादों से ही लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित होता है और उन दोनों में निष्ठ -- रहनेवाली ज्ञातता की प्राप्ति मन से होती है -- इसप्रकार अर्थवादों द्वारा विधि को प्रशस्तरूप से जानकर तत्तद्विहित कर्म को तत्तत्फलप्राप्ति के लिए करे -- इसप्रकार इतिकर्तव्यता अंश का अन्वय भी उपपन्न ही है ।

62 प्रश्न है -- प्राशस्त्य क्या है ? फलसाधनत्व तो प्राशस्त्य हो नहीं सकता है, क्योंकि 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'-- 'याग से स्वर्ग की भावना करे' – इस आर्थीभावना के अन्वयवश से फल तो विधिवाक्य द्वारा ही प्राप्त हो जाता है, पुनः एतदर्थ अर्थवादों की क्या आवश्यकता है ? इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राशस्त्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका प्रवृत्ति में उपयोग ही नहीं है । उत्तर है --

---

90. भाव यह है कि एक-एक पद से जो अर्थ उपस्थित होते हैं उन्हीं में परस्पर सम्बन्ध का बोध पदसमूहरूप वाक्य से होता है, प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थों में सम्बन्ध का बोध नहीं होता है, अतएव 'शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' = शब्दसम्बन्धिनी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती है' -- यह न्याय संगत है । प्रकृत में आख्यातत्व धर्म से युक्त 'विधि' शब्द से उपस्थित पुरुषप्रवृत्ति साध्यरूप से अन्वित होती है तो वह ठीक है, किन्तु 'करण' जो विधिशब्द से उपस्थित नहीं है वह पुरुषप्रवृत्ति में कैसे अन्वित हो सकता है ?

'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' इति ।

अतः स्वतः फलतो वाऽनर्थाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति । क उत्तम्भः, स्वतः फलतो वाऽनर्थानुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमः । इदमेव च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः क्रियत इति विधिरर्थवादसाकाङ्क्षः । एवमर्थवादा अप्यभिधया गौण्या वा वृत्त्या भूतमर्थं वदन्तोऽपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाकाङ्क्षाः । सोऽयं नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगः । यथैकस्य दग्धस्य रथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय तथाऽर्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पूर्यते, विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादैरिति । तदिदमुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयं, यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते, 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्याद्यर्थवादे विध्यंशः । तथा च सूत्रं 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां

बलवान् अनिष्ट से सम्बन्ध न होना ही 'प्राशस्त्य' है । उसकी प्राप्ति 'विहित साधन इष्ट का हेतु है' -- इस ज्ञान से नहीं होती है, क्योंकि इष्ट का हेतु होने पर भी कलञ्जभक्षण आदि में अनिष्टहेतुत्व देखा जाता है तथा विहित श्येनयाग के फलभूत शत्रुवध में अनिष्टानुबन्धित्व देखा जाता है । अतः जबतक साधन और फल में अनिष्ट का अहेतुत्व नहीं कहा जाता है तब तक इष्ट के हेतुरूप से ज्ञात होने पर भी उनमें पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है । अतएव कहा भी है --

"जो कर्म फल के द्वारा भी अनर्थ से अनुबद्ध नहीं होता है वही केवल प्रीति का हेतु होने से 'धर्म' कहा जाता है" (श्लोकवार्तिक, 1.1.2.268) ।

अतः स्वतः -- स्वरूपतः अथवा फलतः अनर्थ से अननुबन्धित्वरूप प्राशस्त्य का बोध कराने से अर्थवाद विधिशक्ति को उत्तम्भित -- उत्तेजित करते हैं । उत्तेजकत्वस्वरूप उत्तम्भ क्या है ? स्वतः -- स्वरूपतः अथवा फलतः अनर्थानुबन्धित्व की शङ्का, जो पुरुषप्रवृत्ति की प्रतिबन्धक है, का निवारण होना ही 'उत्तम्भ' है । प्रवृत्ति उत्पन्न करने में अर्थवादों द्वारा विधि की यही सहायता की जाती है -- इसप्रकार विधि को अर्थवाद की अपेक्षा रहती है । इसीप्रकार अर्थवाद भी अभिधा अथवा गौणी वृत्ति से यथार्थ अर्थ को कहते हुए भी स्वाध्यायविधि द्वारा आपादित -- प्राप्त प्रयोजनवत्ता की प्राप्ति के लिए विधि की आकांक्षा -- अपेक्षा रखते हैं । यह संप्रयोग नष्टाश्वदग्धरथ के समान है । जैसे -- जिसका रथ जल गया है और घोड़े जीवित हैं ऐसे एक पुरुष का दूसरे पुरुष के साथ, जिसका रथ विद्यमान है किन्तु घोड़े अविद्यमान हैं अर्थात मर गये हैं, परस्पर अर्थसिद्धि -- प्रयोजनसिद्धि के लिए संप्रयोग -- मेल हो जाता है, वैसे ही अर्थवादों के प्रयोजनरूप अंश की पूर्ति विधि से होती है तथा शाब्दीभावनारूपा विधि के इतिकर्तव्यतारूप अंश की पूर्ति अर्थवादों से होती है । अतः यह ध्यातव्य है कि यदि प्रयोजन और इतिकर्तव्यता -- दोनों का श्रवण होता है तो पूर्ण ही वाक्य है और यदि दोनों में से एक का श्रवण होता है तो उसको दूसरे की कल्पना से पूर्ण करना चाहिए । जैसे 'वसन्त के लिए कपिञ्जल का आलभन करे' -- इस विधि में अर्थवादांश का श्रवण नहीं है अतएव अर्थवाद की कल्पना करके यहाँ वाक्य को पूर्ण किया जाता है तथा 'जो ये रात्रियाग करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं'-- इस अर्थवाद में विध्यंश श्रुत नहीं है अतएव विधिवाक्य की कल्पना करके यहाँ वाक्य को पूर्ण किया जाता है । इसीप्रकार सूत्र भी है-- 'विधिना

स्युः' इति । विधिना स्तुतिसाकाङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकाङ्क्षेण लाक्षणिकेनार्थेन वाऽऽनर्थक्याभावादर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युरिति तस्यार्थः ।

63 ननु या एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामीषामर्था इति न्यायाद्विधिशब्दस्य लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भवितव्यम् । लोके च प्रेषणादौ पुरुषधर्मवाचित्वं क्लृप्तमिति वेदे शब्दभावनावाचित्वं कथमुपपद्यन्ते । उच्यते—लोकवेदयोरैकरूप्यमेव । तथा हि— लोके प्रेषणादिकं न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यमननुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात्तद्वदेव भावनावाचित्वोपपत्तेश्च । किं तु प्रेषणाध्येषणानुज्ञा स्वस्तिप्रवर्तनात्वमेकं, तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम् । तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव । तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात् । प्रवर्तकव्यापार एव हि प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम् ।

64 ननु वेदेऽपि प्रवर्तनावानीश्वरः कल्प्यतां लोके राजादिवत् । तदुक्तं विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानमिति । न, वेदस्यापौरुषेयत्वात् । न हि वेदस्य कर्ता पुरुषो लोके वेदे वा

त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (मीमांसादर्शन, 1.2.7) -- इस सूत्र का अर्थ है कि स्तुति की अपेक्षावाली विधि के साथ प्रयोजन की अपेक्षावाले अर्थवादों की एकवाक्यता होने के कारण विधियों अर्थात् विधेय वस्तुओं की स्तुत्यर्थ से = स्तुतिप्रयोजन से – स्तुतिरूप प्रयोजन से आकांक्षावाले होने से अथवा लाक्षणिक अर्थ से आनर्थक्य न होने के कारण अर्थवाद धर्म में प्रमाण होते है[91] ।

63 शंका है-- जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं और वे ही उनके अर्थ हैं-- इस न्याय से विधिशब्द की लोक में जिस अर्थ में शक्ति ग्रहण की गई है वेद में भी उसको उसी अर्थवाला होना चाहिए । लोक में प्रेषणादि को पुरुषधर्मवाची माना गया है, तो फिर वेद में वे शाब्दीभावनावाची कैसे हो सकते हैं ? उत्तर है -- लोक और वेद की एकरूपता ही है । यह कहा गया है कि लोक में प्रेषणादिक उस-उस रूप से विधिपद वाच्य नहीं है, क्योंकि वे सर्वत्र अनुगत नहीं है, कारण कि उनके अननुगत होने से विधिशब्द नानार्थक हो जायेगा और इसी प्रकार ही उनका शाब्दीभावनावाची होना भी उपपन्न हो जायेगा; किन्तु प्रेषणा, अध्येषणा, अनुज्ञा आदि में प्रवर्तनात्व एक धर्म है और वह शब्दव्यापार में भी समानरूप से रहता है अतएव वही लिङादि पद का वाच्य है । वह लौकिकशब्द में तो है ही नहीं, क्योंकि उसमें राजादि ही प्रवर्तक होते हैं । प्रवर्तक का व्यापार ही प्रवर्तना है और प्रवर्तकत्व राजादि के समान वेद का भी अनुभव से सिद्ध है ।

64 शंका-- जैसे लोक में राजादि प्रवर्तक हैं वैसे ही वेद में भी प्रवर्तनावान् ईश्वर की कल्पना करो । कहा भी है-- जैसे कुमारी का गर्भ ही अदृष्ट कुमारी-पुंयोग में प्रमाण है वैसे ही श्रुतिकुमारी-- पुरुष के संयोग में विधि ही प्रमाण है । इसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं, कारण कि वेद का कर्ता पुरुष न तो लोक में प्रसिद्ध है और न वेद में ही प्रसिद्ध है, फिर भी उसकी कल्पना

---

91. तात्पर्य यह है कि विधिवाक्य अर्थवादवाक्यों को ग्रहण करके ही पूर्ण वाक्य कहलाते हैं और वे अर्थवादवाक्य विधि से पृथक् कोई वस्तु नहीं है किन्तु विधि के अङ्ग ही हैं । यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि कर्मों में पुरुष को प्रवृत्त कराते हैं, तथापि यज्ञों में परिश्रम और धनव्यय अधिक होने के कारण जब पुरुषों का मन यज्ञों से उपराम होने लगता है तब अर्थवादवाक्य ही यज्ञों प्राशस्त्य द्वारा पुरुषों को यज्ञों से उपराम होने से रोक देते हैं । इसी सहायता के कारण अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के अङ्ग होकर धर्म में प्रमाण होते हैं । यह कोई अपूर्व कल्पना नहीं है, अपितु लोकप्रसिद्ध ही विषय है ।

प्रसिद्धः । तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदप्रामाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतः प्रामाण्यं भग्नं स्यात् । बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । ईश्वरवचनत्वे समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः । महाजनानामुभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः । ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात् । ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत् । हन्त सा तिष्ठतु न वा किंत्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यागतं मार्गे । ईश्वरप्रेरणायाः साधारणाया असाधारणप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्तकत्वात् । किंचेश्वरप्रेरणायां सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु कश्चिदपि लङ्घयेत्, निषिद्धेऽपि चेश्वरप्रेरणाऽस्त्येव । अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्तेतेति तदपि विहितं स्यात् । तथा चोक्तम् –

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' इति ।

करने पर उस पुरुषविशेष ईश्वर के ज्ञान के प्रामाण्य की अपेक्षा से वेद के प्रामाण्य में निरपेक्षरूप से स्थित स्वतःप्रामाण्य भग्न हो जायेगा और बुद्ध के वाक्य में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ईश्वरवचनत्व तो वेदवाक्य और बुद्धवाक्य -- दोनों में समान होने पर भी बुद्धवाक्य प्रमाण नहीं है और वेदवाक्य प्रमाण है-- ऐसा कहने से सुभगाभिक्षुकन्याय[92] का प्रसंग होगा, क्योंकि उभय = बौद्ध और वैदिक-- इन दोनों में सिद्ध -- सम्मत कोई महाजन -- महापुरुष हो नहीं सकता है अतएव उसके ग्रहण करने या न करने में कोई विशेषता नहीं आ सकती है । ईश्वर-प्रेरणा लोक और वेद में साधारण-समान होने पर भी राजादि का प्रेरकत्व तो लोक में भी सिद्ध नहीं होगा । यदि कहो कि ईश्वरप्रेरणा के रहते हुए ही राजादि भी असाधारणरूप से प्रेरक हैं तो हन्त[93] = बड़ी प्रसन्नता की बात है, ईश्वरप्रेरणा हो अथवा न हो किन्तु यहाँ --वैदिक कर्मों में भी असाधारण प्रेरक वेद ही हैं जैसे लोक में राजादि असाधारण प्रेरक माने जाते हैं-- इस प्रकार ठीक रास्ते पर आ गए, क्योंकि साधारण ईश्वरप्रेरणा असाधारण प्रेरणा की सहायता से ही प्रवर्तक-प्रेरक हो सकती है । इसके अतिरिक्त, यदि ईश्वरप्रेरणा ही प्रेरक होती है तो फिर सबको विहित कर्म ही करना चाहिए, किसी को भी उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए; निषिद्ध कर्म में भी ईश्वरप्रेरणा रहती ही है, अन्यथा उसमें कोई भी प्रवृत्त न हो-- इसप्रकार निषिद्ध कर्म भी विहित हो जायेगा । पूर्वाचार्यों ने ऐसा ही कहा हैं :--

92. सुभगाभिक्षुकन्याय = किसी गृहस्थ पुरुष की दो पत्नियाँ थीं – सुभगा और दुर्भगा । उसके यहाँ एक दिन एक भिक्षुक भिक्षा माँगने आया । उस भिक्षुक को पहले दुर्भगा ने देखा और उसने उस भिक्षुक से कह दिया कि भिक्षा नहीं मिलेगी, यह वाक्य सुनकर भिक्षुक चला गया, किन्तु जब सुभगा को यह ज्ञात हुआ कि भिक्षुक भिक्षा के लिए मना करने से चला गया है तो उसके उसने उस भिक्षुक को पुनः बुलाया । भिक्षुक ने कहा कि 'मैं तो द्वार पर उपस्थित अन्य स्त्री के मना करने से चला गया था' । उस समय यदि सुभगा यह कहे कि उस स्त्री को मना करने का अधिकार नहीं था, इस घर में तो मेरा ही अधिकार है तो भिक्षुक सुभगा की बात पर विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि घर में अधिकार तो दोनों का ही समान है । यही सुभगाभिक्षुकन्याय है । इसी न्याय से वेदवाक्य और बुद्धवाक्य – दोनों ही ईश्वरवचन होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है बुद्धवाक्य प्रमाण नहीं है और वेदवाक्य प्रमाण हैं ।

93. 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' (अमरकोश, 3.3.244) = 'हन्त के हर्ष, दया, वाक्यारम्भ और विषाद अर्थ हैं' । प्रकृत में 'हन्त' शब्द वादी के पक्ष में हर्षादि का द्योतक है अथवा प्रतिवादी के पक्ष में विषाद का सूचक है ।

तस्माद्राजादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुखेन प्रवर्तयतीति सिद्धं लोकवेदयोरैकरूप्यम् । पूर्वमीमांसकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमांसकानां तु ब्रह्मविवर्तस्तत्परतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषस्तथाऽपि श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषामपि समानम् ।

65 अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वं प्रवर्तनात्वं सखण्डोऽखण्डो वोपाधिस्तस्मिन्विधिपदशक्येऽपि तदाश्रयविशेषोपस्थितिर्गवादितुल्यैव । अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्यंशस्त्वाख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव । दण्डीत्यत्र संबन्धिनि मतुबर्थे प्रकृत्यर्थदण्डांशवत् । फलसाधनताबोध एव प्रेरणा तामेव कुर्वन्प्रेरको विधिरतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशक्येति मण्डनाचार्याः । फलसाधनता चार्थभावनान्वयलभ्येत्युक्तं प्राक् । इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रभृतयः पण्डिताः

"यह अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःख के विषय में परतन्त्र है, यह ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग अथवा नरक में जाता है ।"

इससे यह सिद्ध हो गया कि राजादि के समान वेद भी अपनी प्रवर्तना को ज्ञापित-सूचित करते हुए पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर कर्मों में उनको प्रवृत्त करता है -- इसप्रकार लोक और वेद की एकरूपता सिद्ध है । पूर्वमीमांसकों के मत में वेद स्वतंत्र हैं, किन्तु ब्रह्ममीमांसकों के मत में वेद ब्रह्म का विवर्त्त हैं अतएव ब्रह्म के अधीन हैं -- इसप्रकार यद्यपि इन दोनों मतों में विशेष-भेद है, तथापि परमात्मा के श्वास के तुल्य होने से वेद की अपौरुषेयता तो दोनों ही मतों में समान है[94] ।

65 यहाँ प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापारत्व प्रवर्तनात्व है = जिस व्यापार से तत्तत्कार्यों में पुरुष की प्रवृत्ति होती है तादृश व्यापारवती 'प्रवर्तना' कहलाती है, वह सखण्ड–उपाधिस्वरूप हो अथवा अखण्ड -- उपाधि[95]स्वरूप हो उसमें विधिपद की शक्यता होने पर भी उसके आश्रयविशेष की उपस्थिति तो गौ आदि के समान ही है[96] । अथवा, अनुकूलव्यापारत्व ही विधिपद का शक्यार्थ है, उसमें विशेषण-स्वरूप प्रवृत्त्यंश विधिप्रत्ययगत आख्यातत्व से शक्त्यन्तर ही लब्ध होता है अतएव 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः'-- यह न्याय[97] सङ्गत होता है; जैसे 'दण्डी' पद है = 'दण्डोऽस्ति अस्य' इति 'दण्डी'-- यहाँ 'अत इनिठनौ' (पाणिनिसूत्र, 5.2.115) -- इस सूत्र से विहित मतुबर्थीय 'इनि' प्रत्यय केवल

94. 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं यदयमृग्वेदः' = 'यह जो ऋग्वेद है वह परम ब्रह्म के निश्वास के तुल्य स्वाभाविक है' – इत्यादि वाक्य के अनुसार वेद की अपौरुषेयता पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा – दोनों दर्शनों में समान है ।

95. अनुगत प्रतीति को जाति अथवा उपाधि कहते हैं । जहाँ जातिबाधकदोष विद्यमान रहता है वहाँ उसको 'उपाधि' कहा जाता है । व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, सङ्कर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध-ये छः जातिबाधकदोष हैं । जैसे– आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व– ये आकाशादि व्यक्ति के अभेद से जाति नहीं है अपितु 'उपाधि' हैं । इसीप्रकार तुल्यत्व के कारण घटत्व और कलशत्व जाति नहीं हैं, उपाधि हैं । सङ्कर-दोष के कारण भूतत्व और मूर्तत्व – ये दोनों भी जाति नहीं है, उपाधि हैं । अनवस्थादोष के कारण 'सामान्यत्व' उपाधि है, जाति नहीं है । रूपहानि के कारण 'विशेषत्व' उपाधि है । असम्बन्ध के कारण 'समवायत्व' और 'अभावत्व' भी उपाधि हैं । यह उपाधि दो प्रकार की होती है – सखण्ड और अखण्ड । निरवच्छिन्न उपाधि 'अखण्ड' कहलाती है और सावच्छिन्न उपाधि 'सखण्ड' होती है । अतएव 'प्रवर्तनात्व' अखण्ड उपाधि है और 'प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्व' सखण्ड उपाधि है, कारण कि यह प्रवृत्ति, अनुकूल और व्यापार -- इन तीनों खण्डों से अवच्छिन्न – परिच्छिन्न है ।

96. अर्थ यह है – जैसे– 'गौ' पद की शक्ति गोत्वादि में है, इसलिए 'गो' पद के श्रवण से शक्ति के आश्रय गोत्वादि की उपस्थिति होती है; वैसे ही 'विधि' पद की शक्ति उक्त प्रवर्तना – प्रेरणा में है, अतएव लिङादि विधिपद के श्रवण से शक्ति की आश्रय प्रवर्तना – प्रेरणा की उपस्थिति होती है ।

97. 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' – इस न्याय का अभिप्राय यह है कि शब्द का अर्थ वही माना जाता है जो प्रकारान्तर से लब्ध न होता हो ।

प्रतिपन्नाः । औपनिषदानामपि केषांचिदिष्टसाधनतावादोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः । इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङादिपदशक्यं न प्रेरणात्वेनेति तार्किकाः, तन्न, गौरवादन्यलभ्यत्वादन्वयायोग्यत्वाच्च । इच्छाविषयसाधनत्वापेक्षया प्रवर्तनात्वमतिलघु इच्छातद्विषययोरप्रवेशात् । इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत्प्रवृत्तिहेतुत्वापातात्, वस्तुगत्या य इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात्प्रवर्तनात्व एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधात् । प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्यायर्थेन करणेन सहैवैकत्वस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्यक्त्या क्रत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्दुबलीयस्त्वमिति ।

सम्बन्धी अर्थ में है, क्योंकि 'दण्ड' जो 'इनि' प्रत्यय की प्रकृति है उस प्रकृत्यंश विशेषण की प्राप्ति 'दण्ड' शब्द की शक्ति से होती है । फलसाधनताबोध ही प्रेरणा है, उसी को करता हुआ विधि प्रेरक होता है, अतः फलसाधनता ही प्रेरणात्वरूप से विधिपद की शक्य है -- यह आचार्य मण्डनमिश्र का मत है[98] । फलसाधनता आर्थीभावना के अन्वय से लभ्य है -- यह पूर्व में कहा जा चुका है । इसी पक्ष को पार्थसारथिमिश्र आदि पण्डितों ने भी स्वीकार किया है । किन्हीं-किन्हीं वेदान्तियों[99] का इष्टसाधनतावाद भी इसी मत से उपपादनीय – ग्रहणीय है । नैयायिकों का मत है कि इष्टसाधनता स्वरूप से ही लिङादि पद की शक्य है[100], प्रेरणात्वरूप से शक्य नहीं है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें तीन दोष हैं-- कल्पनागौरव, अन्यलभ्यत्व और अन्वयायोग्यत्व । इष्टसाधनता को स्वरूप से ही लिङादि पद का शक्यार्थ मानने पर इच्छा, इच्छा का विषय और उसका साधन-- ये तीन पदार्थ मानने होंगे अतएव इन तीन पदार्थों को मानने की अपेक्षा प्रवर्तनात्व को ही शक्यार्थ मानने में अतिलाघव है, क्योंकि प्रवर्तना में इच्छा और इच्छा के विषय स्वर्गादि का प्रवेश--समावेश नहीं है । इन दोनों का समावेश करने पर दूसरा दोष यह भी है कि जैसे प्रवृत्तिज्ञान प्रवृत्ति में हेतु होता है वैसे ही इच्छाज्ञान को भी प्रवृत्तिहेतुता प्राप्त होगी । यदि कहें कि इच्छा और इच्छा का विषय तो अज्ञात रहते हैं केवल साधन मात्र ही लिङ्पद का शक्यार्थ है अतएव ऐसा मानने में भी गौरव नहीं जाता है, तो वस्तुतः 'जो इच्छा का विषय है वह उसका साधन है'-- यह शब्द से प्रतिपादित नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्दार्थ वही होता है जो ज्ञात हो, अज्ञात अर्थ शक्य नहीं होता है । यदि इष्टसाधनत्व को लिङ्पद का शक्यार्थ न कहकर यह कहें कि केवल साधनत्वमात्र लिङ्पद का शक्यार्थ है, तो ऐसा मानने पर भी उस लिङादि प्रत्यय के द्वारा उपस्थापित पुरुषवृत्ति के साथ एक विभक्ति-श्रुति के बल से उसका

98. आचार्य मण्डनमिश्र का कथन है –

'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ।। (विधिविवेक)

'इष्टाभ्युपाय – इष्टसाधनत्व के अतिरिक्त याग-दानादि क्रियाओं में पुरुषों का प्रवर्तक अन्य कोई नहीं है । जो प्रवृत्ति के प्रति हेतु है उसी को 'प्रवर्तना' कहते हैं ।' भाव यह है कि प्रवृत्तिहेतु धर्म का इष्टसाधनत्व है, इष्टसाधन को छोड़कर इसका प्रवर्तक नहीं हो सकता है तो प्रवर्तना के रूप से इष्टसाधनत्व ही विध्यर्थ होता है ।

99. सुरेश्वराचार्य और चित्सुखाचार्य इष्टसाधनत्व को लिङर्थ स्वीकार करते हैं ।

100. 'विधिर्विधायकः' (न्यायसूत्र, 2.1.62) = यद्वाक्यं विधायकं चोदकं, स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा; यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" (मैत्री० उप० 6.26) इत्यादि (न्यायभाष्य) = इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधिः (न्यायसूत्रवृत्ति) ।

66 **वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः । तथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना किं केन कथमित्यंशत्रयवती विधिनाऽऽलम्बत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक् । अपुरुषार्थकर्मिकायां च तस्यां प्रवर्तनानुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कमिपदसंबन्धेन साध्यतान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं सा भाव्यतयाऽऽलम्बते । इच्छाविषयस्यैव कृतिविषयत्वनियमात् । स्वर्गं कामयते स्वर्गकाम इति कर्मणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात्, यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च । अत एव यत्र कमिपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते । यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि । एवं च लब्धभाव्यायां तस्यां समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयाऽन्वेति भाव्यांशस्य कमिविषयेणाविरुद्धत्वात्सुब्विभक्तियोग्ये धात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात् । यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन**

अन्वय सम्भव होने पर केवल वाक्य के बल से पदान्तर द्वारा उपस्थापित स्वर्ग के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता है अतएव इष्टसाधनत्व का पर्यवसान प्रवर्तनात्व में ही होता है, कारण कि श्रुति से वाक्य का बाध हो जाता है । प्रत्ययश्रुति पदश्रुति से भी बलवती होती है अतएव 'पशुना यजेत'-- इस वाक्य में प्रकृत्यर्थ पशु को छोड़कर प्रत्ययार्थ करण के साथ ही एकत्व का अन्वय होने से 'एक करण पशु है' -- इस वचनव्यक्ति से एकत्व यागाङ्ग है-- यह सिद्धान्त पूर्वमीमांसा में स्थित है । जब प्रत्ययश्रुति पदश्रुति से भी बलवती होती है तब वह पदान्तरसमभिव्याहाररूप वाक्य से प्रबल हो-- इसमें तो कहना ही क्या है ?

66 वाक्यार्थ के अन्वय से लभ्य होने के कारण इष्टसाधनत्व विधिपद का अर्थ नहीं है । इसीलिए शाब्दीभावना -- प्रवर्तना की कर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना जो 'किं भावयेत्' -- 'क्या करे', 'केन भावयेत्' -- 'किससे करे' और 'कथं भावयेत्' -- 'कैसे करे' -- इसप्रकार अंशत्रयवती है विधिद्वारा आलम्बनरूप से प्रतिपादित की जाती है -- यह पूर्व में कहा जा चुका है । यदि पुरुषार्थ उस आर्थीभावना का कर्म न हो तो उसमें प्रवर्तना की उपपत्ति नहीं होगी अतएव 'यजेत' -- इस एक पद द्वारा उपस्थापित -- प्रस्तुत अपुरुषार्थरूप धात्वर्थ को छोड़कर भिन्नपद 'स्वर्ग' से उपात्त-प्राप्त और अन्य का विशेषण होने पर भी 'कम्' धातु से निष्पन्न 'कमि' पद के सम्बन्धद्वारा साध्यता में अन्वय के योग्य स्वर्गरूप पुरुषार्थ को ही वह विधि भाव्यता-साध्यतारूप से आलम्बन करती है, क्योंकि यह नियम है कि जो इच्छा का विषय होता है उसी में कृति की भी विषयता होती है[101]। स्वर्गं कामयते स्वर्गकामः = जो स्वर्ग की कामना करता है वह 'स्वर्गकाम[102]' है -- इसप्रकार कर्म में द्वितीया विभक्ति का अन्तर्भाव है[103] और 'यज्' धातु अकर्मक है अतएव 'स्वर्गम्' -- ऐसा

101. सुप्रसिद्ध उक्ति है कि --

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्यं फलं भवेत् ।।'

102. 'स्वर्गकाम' पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है -- प्रथम = 'स्वर्गं कामयते यः स स्वर्गकामः' = जो स्वर्ग की कामना करता है वह 'स्वर्गकाम' है, द्वितीय = 'काम्यते इति कामः -- स्वर्गः कामः यस्य स स्वर्गकामः' = कामना की जाती है अतएव 'काम' है, स्वर्ग ही काम -- कामना है जिसकी वह 'स्वर्गकाम' है । प्रकृत में प्रथम व्युत्पत्ति को ग्रहण किया गया है ।

103. अभिप्राय यह है कि 'कर्मण्यण्' (पाणिनिसूत्र, 3.2.1) -- 'कर्म उपपद होने पर धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है' । प्रकृत 'स्वर्गकामः' पद में कर्मसंज्ञक उपपद 'स्वर्ग' पद है, तत्पूर्वक 'कमु कान्तौ' (भ्वादिगण, 302) = 'कम्' धातु से 'अण्' प्रत्यय होने से उपधा में वृद्धि करके 'स्वर्गकामः' -- यह कृदन्त एक पद है । 'स्वर्ग' पद में जो द्वितीया विभक्ति श्रुत है उसका अन्तर्भाव कृदन्त में हो जाता है, क्योंकि द्वितीयान्त उपपद के रहने पर ही 'अण्' प्रत्यय होता है, अन्यथा नहीं होता है ।

तृतीयाकल्पनात् । तदुक्तं महाभाष्यकारैरग्निहोत्रं जुहोतीति तृतीयार्थे द्वितीयेति । अत एव तैः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थभावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम् । आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भिर्निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम् । भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम् । तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करण-

कहने से इसके साथ 'यज्' धातु की अन्वय-योग्यता भी नहीं है, अतएव जहाँ 'कमि' पद = 'कम्' धातु से 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' (वार्तिक, 2226) -- उक्त वार्तिकानुसार 'इक्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'कमि ' पद श्रुत नहीं होता है वहाँ भी उसकी कल्पना की जाती है; जैसे -- 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' = 'जो रात्रिसत्र करते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं'-- इत्यादि वाक्य में विधिवाक्य ही श्रुत नहीं है यहाँ भी 'प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयु:' = 'प्रतिष्ठाकामी रात्रिसत्र करे' -- इत्यादि विधिवाक्य की कल्पना की जाती है । इसप्रकार 'स्वर्ग' -- भाव्य -- साध्य के प्राप्त होने पर उस आर्थीभावना में 'यजेत' -- समानपद[104] से उपस्थापित -- प्रस्तुत धात्वर्थ 'याग' ही करणरूप से अन्वित होता है, क्योंकि 'कमि' पद के विषयरूप से भाव्य -- साध्य 'स्वर्ग' का 'याग' से विरोध नहीं है अपितु वह करण -- साधन होने से अनुकूल ही है और फिर सुब्विभक्ति के योग्य धात्वर्थ-नामधेय[105] ज्योतिष्टोमादि में तृतीया विभक्ति का श्रवण हैं -- जैसे -- 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत', इसके अतिरिक्त जहाँ भी नामधेय में द्वितीया विभक्ति श्रुत है -- जैसे -- 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- वहाँ भी 'व्यत्ययो बहुलम्' -- (पाणिनिसूत्र, 3.1.85) -- इस सूत्र से तृतीया विभक्ति की कल्पना की जाती है -- जैसे -- 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है – 'अग्निहोत्रं जुहोति' -- यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है । अतएव उन्होंने कहा है कि प्रकृति और प्रत्यय मिलकर प्रत्यय का अर्थ बताते हैं, उनमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है और प्रकृत्यर्थ गौण होता है[106] -- इस न्याय से प्रत्ययार्थ आर्थीभावना के प्रति धात्वर्थ यागादि का गुणरूप से करणत्व है । 'आख्यात क्रियाप्रधान होता है' – इसप्रकार कहनेवाले निरुक्तकार ने भी यही कहा है । मीमांसादर्शन के भावार्थाधिकरण[107] में भी यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्वत्र प्रत्ययार्थ के प्रति धात्वर्थ -- प्रकृत्यर्थ का करणरूप से अन्वय होने का ही नियम है । अतएव गुणविशिष्ट धात्वर्थविधि[108] में धात्वर्थ के अनुवाद से

104. 'यजेत' पद में दो अंश है – 'यज्' धातु और 'त' प्रत्यय । 'यज्' धातु से 'याग' के सामान्य रूप का बोध होता है और 'त' प्रत्यय के आख्यातत्व अंश से आर्थीभावना उपस्थित होती है – इसप्रकार 'याग' और 'आर्थीभावना' -- ये दोनों समानपद 'यजेत' से उपस्थित हैं अतएव धात्वर्थ 'याग' प्रत्ययार्थ आर्थीभावना में करणरूप से अन्वित होता है ।

105. मीमांसादर्शन में 'नामधेय' का संक्षिप्त रूप नाम -- संज्ञा है अर्थात् 'नामधेय' कर्म की संज्ञा है = किसी याग के नाम को 'नामधेय' कहते हैं । विधेय अर्थ का परिच्छेद करना नामधेय का प्रयोजन है । विधेय अर्थ कोई क्रिया होती है उस क्रिया को सजातीय और विजातीय अर्थों से भिन्नरूप में समझाना विधेय अर्थ का परिच्छेद है । इसप्रकार विधेय = विधि के द्वारा विहित अर्थ = याग या होम के परिच्छेद = व्यावृत्ति -- वैलक्षण्य का बोधन करना 'नामधेय' का प्रयोजन है । नामधेय विधि के द्वारा विहित कर्म के वैलक्षण्य का प्रतिपादक है, जैसे – 'ज्योतिष्टोम' नाम 'दर्शपूर्णमास' से विलक्षण कर्म का प्रतिपादन करता है, इसीप्रकार 'दर्शपूर्णमास' नाम ज्योतिष्टोम से भेद का प्रतिपादक है (नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् – अर्थसंग्रह) ।

106. महाभाष्य ।

107. 'धात्वर्थ: केवल: शुद्धो भाव इत्यभिधीयते' – इस प्रमाण से भावार्थ को धात्वर्थ कहते हैं । भावार्थ भावना में करण बनता है – यह निश्चय जिस अधिकरण में किया गया है वह 'भावार्थाधिकरण' है ।

त्वेनैवान्वयनियमः । अत एव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टविषयत्वं च । यथा सोमेन यजेतेति विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति दध्ना जुहोतीति गुणविधौ दधिमता होमेनेति ।

67 नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न मत्वर्थलक्षणा न वा विधिविप्रकर्षः । तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राऽऽख्यातार्थो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कमिविषयं स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च । तथा च स्थितं षष्ठाद्ये । ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात्करणत्वेनैवान्वय-

केवल गुणविधि[109] में मत्वर्थलक्षणा[110] होती है और विधि की विप्रकृष्टविषयता होती है, जैसे – 'सोमेन यजेत' – इस विशिष्ट विधि में 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' – यह 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर अर्थ होता है और 'दध्ना जुहोति' – इस गुणविधि में 'दधिमता होमेनेष्टं भावयेत्' -- यह 'दधि' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर अर्थ होता है ।

67 नामधेय का अन्वय होने पर तो सामानाधिकरण्य से अन्वय उपपन्न होने के कारण और धात्वर्थमात्र का विधान होने के कारण न तो मत्वर्थलक्षणा ही होती है और न विधि की विप्रकृष्टविषयता ही होती है । इसप्रकार से 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' - यहाँ 'भावयेत्' -- यह आख्यातार्थ है; 'किं भावयेत्' -- 'क्या करे' -- ऐसी आकांक्षा होने पर 'कमिविषयं स्वर्गं भावयेत्' -- 'कमिपद के विषय स्वर्ग की भावना करे' -- यह साध्य होगा, क्योंकि विधिश्रुति बलवती होती है और आकांक्षा उत्कट होती है । इसीप्रकार मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय के प्रथम अधिकरण में स्थित है[111]। तदनन्तर 'केन भावयेत्' -- 'किससे करे' -- इसप्रकार करण की आकांक्षा होने पर 'यागेन भावयेत्' -- 'याग से भावना करे' -- यह करण होगा, क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन' इस तृतीयान्त पद के साथ इसका सामानाधिकरण्य है और धात्वर्थ – प्रकृत्यर्थ का करणरूप से अन्वय होने का नियम है । 'किं नाम्ना यागेन भावयेत्' -- 'किस नाम के याग से भावना करे'--ऐसी अपेक्षा होने पर 'ज्योति-

108. इस विधि को 'गुणविशिष्ट विधि' और 'गुणविशिष्टकर्मविधि' भी कहा जाता है । इस विधिस्थल में गुण और क्रिया-कर्म – दोनों का एक ही विधान विशेषणविशेष्यभावापन्नरूप में किया जाता है । जहाँ गुण और कर्म – दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं वहाँ विधि गुणविशिष्ट कर्म का विधान करती है । जैसे – 'सोमेन यजेत' – इस विधिस्थल में 'सोम' – गुण और 'याग' – कर्म – दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं अतएव सोमविशिष्ट याग का विधान किया जाता है । 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' = 'सोमयुक्त याग से स्वर्ग की भावना करे' -- यह अर्थ होता है ।

109. जहाँ कर्म का विधान अन्य प्रमाण से हुआ रहता है वहाँ विधि कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान करती है अर्थात् अङ्गभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है (यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते – अर्थसंग्रह) । जैसे -- 'दध्ना जुहोति' – इस विधिस्थल में होम का विधान 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' -- इस वाक्य से होने के कारण 'होम' को उद्देश्य करके दधिमात्र का विधान किया जाता है, अतएव 'दध्ना जुहोति' का मीमांसक अर्थ होता है -- 'दध्ना होमं भावयेत्' – 'दधि के द्वारा होम की भावना करे' ।

110. लक्षणा से प्राप्त 'मतुप् – मत्' – प्रत्यय का अर्थ 'मत्वर्थलक्षणा' है ।

111. मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय के प्रथम अधिकरण का विषय वाक्य 'यजेत स्वर्गकामः' है । इस वाक्य में सन्देह है कि 'यजेत' -- पद के 'त' प्रत्यय से अभिहित आर्थीभावना में साध्य की आकांक्षा होने पर क्या धात्वर्थ 'याग' का अन्वय है ? अथवा स्वर्ग का अन्वय है ? पूर्वपक्षी धात्वर्थ 'याग' का ही साध्य के रूप में अन्वय चाहता है, क्योंकि धात्वर्थ 'याग' ही 'यजेत' – समान पद से उपस्थित है, स्वर्ग तो भिन्न पद से बोधित है । स्वर्ग की अपेक्षा सन्निहित धात्वर्थ है अतएव धात्वर्थ ही साध्य है । स्वर्ग -- सुखसाधन स्रकचन्दन आदि द्रव्य का लक्षक है, इसलिए 'स्वर्गेण यागं भावयेत्'– 'स्वर्ग – सुखसाधन स्रक्चन्दन आदि द्रव्य से याग की भावना करे'– यह अर्थबोध

नियमाच्च । किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः । शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शाब्दे बोधे श्रवणेन्द्रोपस्थापितस्तात्पर्यवशात् । नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नञिवाद्यर्थान्वय इव । तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्दवतेत्यन्वयलाभः । तथा च कविप्रयोगः–'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति । हिमालयनामवानित्यर्थः । एवमिह 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावगृहीतसंगतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवन्नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसंगतिकत्वात् । अत एव मधुकरशब्दवाच्य इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य । स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्गनिर्वाहायेति । तदयं वाक्यार्थः– ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति । कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारादुपकारकाङ्क्षामपूर्व्येति विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन नित्ये यथाशक्तीत्युपबन्धेन मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम् । एवं च यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादि-

ष्टोमेन = ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' -- 'ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग की भावना करे' – यह अर्थ होगा[112] । शब्दशक्ति से अनुपस्थित भी 'ज्योतिष्टोम' शब्द तात्पर्यवश श्रवणेन्द्रिय से उपस्थापित – प्रस्तुत होकर शाब्दबोध में भासित होता ही है और नामधेय का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार भी नहीं माना जाता है, जैसे – नञ्, इव आदि अव्यय पदों के अर्थ का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार नहीं होता है[113]; इसलिए 'ज्योतिष्टोमशब्दवता यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' – इसप्रकार मत्वर्थलक्षणा के बिना ही प्रत्यक्षोपस्थित 'ज्योतिष्टोम' का अभेद सम्बन्ध से याग में अन्वय भलीभाँति हो जाता है । इसीप्रकार कविजन भी प्रयोग करते हैं – 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' (मेघदूत, 1) – यहाँ भी लक्षणा के बिना ही 'हिमालयनामवान्'– यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है । इसीप्रकार 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'– इत्यादि परस्पर सङ्गतिग्रहण न करने वाले एक-एक पद से युक्त वाक्य में मधुकरादि पद स्वरूप से ही भासित होते हैं और पूर्व में सङ्गतिग्रहण न होने के कारण नामधेय के समान अर्थ को उपस्थित नहीं करते हैं । अतएव 'मधुकरशब्दवाच्यः'– इसप्रकार

होता है, किन्तु सिद्धान्ती का कथन है कि 'याग' यद्यपि समानपद से बोधित होने के कारण सन्निहित है, तथापि वह अपुरुषार्थ – पुरुष के द्वारा अभिलषणीय न होने से 'याग' का साध्य के रूप से अन्वय करना उचित नहीं है, पुरुषों द्वारा अभिलषित 'स्वर्ग' का ही साध्यत्व है, 'याग' उसका साधन है ।

112. अतएव वार्तिककार कुमारिलभट्ट ने कहा है –

'विधाने वानुवादे वा यागः करणमिष्यते ।
तत्समीपे तृतीयान्तस्तद्वाचित्वं न मुञ्चति ।।' (तन्त्रवार्तिक, 1.4.2)

'चाहे याग – धात्वर्थ का विधान – विधिविषय हो, चाहे उसका अनुवाद हो, याग – धात्वर्थ भावना का करण होगा । धात्वर्थ के समीप जो तृतीयाविभक्ति युक्त पद है वह अपने करणवाचित्व को नहीं छोड़ता है ।'

113. प्रकृत प्रसङ्ग में प्रश्न है – पद से उपस्थित पदार्थ का शाब्दबोध में भान होता है, प्रकारान्तर से उपस्थित अर्थ का शाब्दबोध में भान नहीं होता है; अतएव प्रकृत में ज्योतिष्टोमादि नामधेय की शक्ति यागादि में है, स्वस्वरूप में नहीं है, इसी से उपस्थित यागादि अर्थ का ही शाब्दबोध में भान होता है, नामधेय स्वानुपूर्वी का भान शाब्दबोध में कैसे होगा ? इसका उत्तर है– शब्दशक्ति से अनुपस्थित भी ज्योतिष्टोमादि शब्द तात्पर्यवश श्रवणेन्द्रिय से प्रस्तुत होकर शाब्दबोध में भासित होता ही है और नामधेय का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार भी नहीं माना जाता है, उदाहरण के लिए नञ्, इव आदि अव्यय-पदों के अर्थ का अन्वय होने पर विभक्त्यर्थ द्वार नहीं होता है, जैसे – 'घटो नास्ति' इत्यादि वाक्य से नञ् का अन्वय अस्तित्वादि के साथ है, इसीप्रकार 'चन्द्र एव मुखम्'– इत्यादि में इवादि = सादृश्य का स्वरूपादि सम्बन्ध से मुख में अन्वय होता है, इवादि के आगे कोई विभक्ति नहीं है ।

पदवाच्यमप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात् , अनन्वयाच्चेष्टसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं स्वर्गकाम इतिसमासान्तरगुणभूतेन स्वर्गपदेन कथमन्वियादिष्टस्वर्गसाधनमिति । नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात् । करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन्पक्षे द्रष्टव्याः । एतेनेष्टसाधनत्वमनिष्टासाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ इत्यपास्तम् । अतिगौरवादर्थवादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च । अत एव कृतिसाध्यत्वमात्रं विध्यर्थ इत्यपि न भावनाकरणत्वेनार्थलभ्य-

लक्षणा के द्वारा भी अन्वय नहीं होता है, क्योंकि लक्ष्य का ज्ञान शक्य के ज्ञानपूर्वक होता है । स्वरूपतः तो शब्द का भान होने पर ही संसर्ग का निर्वाह करने के लिए बाद में वाच्य-वाचक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है । इसप्रकार 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' – इसका वाक्यार्थ यह है -- 'ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेत्' -- 'ज्योतिष्टोम नाम के याग द्वारा स्वर्गरूप इष्टकर्म की भावना करे' । 'कथं भावयेत्' -- ' कैसे करे'– यह अपेक्षा होने पर 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या[114] द्वारा सामवायिकोपकारक--सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक

114.(i) श्रुति = अपने अर्थ के बोधन और प्रामाण्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करनेवाला शब्दप्रमाण 'श्रुति' कहलाता है (निरपेक्षो रवः श्रुतिः) । यह तीन प्रकार की है – विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्री । इनमें से लिङादि विधायक-प्रयत्यय -- विधात्री श्रुति है, 'व्रीहिभिर्यजेत्' आदि अभिधात्री श्रुति है, और जिसके श्रवणमात्र से सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है उसको 'विनियोक्त्री श्रुति' कहा जाता है । विनियोक्त्री श्रुति भी तीन प्रकार की है – विभक्तिरूपा, समानाभिधानरूपा और एकपदरूपा । इनमें से 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में द्वितीया विभक्ति से, 'व्रीहिभिर्यजेत्' में तृतीया विभक्ति से, 'आहवनीये जुहोति' में सप्तमी विभक्ति से व्रीहि और आहवनीय अग्नि की याग के प्रति अङ्गता बोधित होती है – ये सभी विभक्तिश्रुति के उदाहरण हैं । जितनी विभक्तियाँ हैं वे सभी श्रुति हैं । 'पशुना यजेत्' में 'आङो नाऽस्त्रियाम् (पाणिनिसूत्र, 7.3.120) -- इस सूत्र से तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'टा' के स्थान पर अस्त्रीलिङ्ग अर्थात् पुंल्लिङ्ग में 'ना' होकर 'पशुना' – यह रूप बना है, अतएव इस 'ना' से एकवचन तथा पुंस्त्व – दोनों सूचित होते हैं और उसी से करण कारक का बोध होता है – इसप्रकार तीनों की उपस्थिति एक ही प्रत्ययरूप अंश से होती है । इसलिए पुंस्त्व और एकत्व की कारकाङ्गता का निर्णय समानाभिधानश्रुति से होता है । इसीप्रकार 'यजेत' में दो अंश है– प्रकृतिरूप 'यज्' धातु और 'त ' प्रत्ययांश । प्रत्ययांश के भी दो भाग हैं – आख्यातत्वरूप साधारण भाग और लिङ्त्वरूप विशेष भाग । इनमें से लिङंश से शाब्दीभावना या प्रवर्तना बोधित होती है और आख्यातांश से संख्यादि का बोध होता है । उस संख्या का प्रकृतिभाग 'यज्' धातु से बोधित याग के साथ अङ्गरूप से अन्वय होता है । इसमें यागरूप एक अंश प्रकृति से और संख्यारूप दूसरा अंश प्रत्यय से बोधित होता है । प्रकृति और प्रत्यय मिलकर पद बन जाते हैं, इसलिए यह अन्वय एकपदरूपा श्रुति होता है ।

(ii) लिङ्ग = शब्द की अभिधाशक्ति को 'लिङ्ग' कहते हैं अतएव तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने कहा है – 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' = 'सभी शब्दों में होनेवाले सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहा जाता है' । सामार्थ्य का अर्थ 'रूढि' है और समाख्या का अर्थ 'यौगिक' -- शब्द है, अतएव रूढिरूप 'लिङ्ग' प्रमाण यौगिक – शब्दरूप 'समाख्या' प्रमाण से भिन्न है ।

(iii) वाक्य = समभिव्याहार अर्थात् सम्बद्ध उच्चारण को 'वाक्य' कहते हैं (समभिव्याहारो वाक्यम् –अर्थसंग्रह) । अभिप्राय यह है कि अङ्गत्व का ख्यापन करनेवाली द्वितीया आदि विभक्तियों के अभाव में अङ्ग और अङ्गी का बोध करानेवाले पदों के सहोच्चारण को 'वाक्य' कहा जाता है, जैसे – 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' – एक विधि है । यहाँ पर्णता और जुहू – इन दोनों में 'पर्णता' 'जुहू' का अङ्ग है, क्योंकि 'पर्णमयी' और 'जूहू' – इन दोनों का सहोच्चारणरूप वाक्य प्रमाण प्राप्त होता है ।

(iv) प्रकरण = दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं (उभयाकांक्षा प्रकरणम् -- अर्थसंग्रह) । प्रकरण दो प्रकार होता है – महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण ।

(v) स्थान = देश की समानता का नाम 'स्थान' है (देशसामान्यं स्थानम् – अर्थसंग्रह) । यह दो प्रकार का होता है – पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य ।

त्वादित्युक्तेः । अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिः । तस्मादनन्यलभ्या लघुभूता च प्रेरणैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम् । प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाक्यार्थमर्यादालभ्यमन्यदेव सर्वेषामपि वादिनाम् । आख्यातार्थ एव च विशेष्यतया भासते न

अङ्गों की पूर्ति से' भावना करे; विकृति सौर्यादि याग में 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' – 'प्रकृति के समान विकृतियाग का अनुष्ठान करना चाहिए' – इस अतिदेश वाक्य से प्रकृति के समान आकांक्षा की पूर्ति करे; नित्य कर्म सन्ध्यावन्दनादि में जैसा सामर्थ्य हो वैसा ही उतना करे; मुख्य का लाभ न होने पर प्रतिनिधि के द्वारा उपयोग करे; मुख्यलाभ से कर्म का त्याग न करे जितना न्याय से मिल सके उतने ही से आकांक्षा की पूर्ति करे । इसप्रकार 'याग' स्वर्गावच्छिन्न भावना का करण होने से स्वर्ग का करण है और करणत्व से साक्षात् कर्तृव्यापार की विषयतारूप कृतिसाध्यता श्रुति और अर्थ से प्राप्त होती है, अतएव इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व -- ये दोनों लिङादि पद के वाच्य नहीं है[115], क्योंकि 'अप्राप्त अर्थ का विधान करने में शास्त्र अर्थवान् होता है' -- यह न्याय है और इष्टसाधनत्व का अन्वय भी असम्भव है, कारण कि 'इष्टसाधनम्' -- इस समस्त पद में गुणभूत विशेषण 'इष्ट' पद का 'स्वर्गकामः' -- इस दूसरे समस्त पद में गुणभूत 'स्वर्ग' पद के साथ अन्वय कैसे होगा ? जिससे 'इष्टस्वर्गसाधनम्' – यह अर्थ हो । 'राजपुत्र' और 'वीरपुत्र' -- इन दो समस्त पदों के 'राज' पद और 'वीर' पद का अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि पदार्थ का पदार्थ के साथ अन्वय होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ अन्वय नहीं होता है -- यह न्यायप्रसिद्ध है । इस पक्ष में करणविभक्त्यन्त ज्योतिष्टोमादि नामधेयों के अनन्वयप्रसंङ्गादि दोष भी द्रष्टव्य हैं । इससे 'इष्टसाधनत्व, अनिष्टासाधनत्व और कृतिसाध्यत्व – ये तीन विध्यर्थ हैं'[116] -- यह मत भी खण्डित होता है, क्योंकि इसमें अतिगौरव है और अर्थवादों की सर्वथा व्यर्थता प्राप्त होती है । अतएव 'कृतिसाध्यत्वमात्र विध्यर्थ है[117]' — यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि भावना के करणत्व से ही कृतिसाध्यता श्रुति और अर्थ से प्राप्त हो जाती है – यह कहा जा चुका है । अलौकिक नियोग[118] तो अलौकिक होने कारण ही अर्थात् लोक में प्रसिद्ध न होने के कारण ही विध्यर्थ नहीं है । इस विषय में विद्वानों ने बड़ा परिश्रम किया है[119] । अतः अनन्यलभ्य – अन्य से अलभ्य -- अन्य से

(vi) समाख्या = समाख्या 'यौगिक' शब्द को कहते हैं (समाख्या यौगिकः शब्दः – अर्थसंग्रह) । यह 'समाख्या' वैदिकी और लौकिकी भेद से दो प्रकार की होती है । 'होतृचमस' -- इस वैदिकी समाख्या से 'होता' नामक ऋत्विक् चमसभक्षणरूप क्रिया का अङ्ग समझा जाता है । 'आध्वर्यवम्' – इस लौकिकी समाख्या से 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् तद्-तद् क्रियाओं का अङ्ग समझा जाता है ।

115. वाचस्पति मिश्र के मत में इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व-दोनों लिङर्थ हैं ।

116. इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व और कृतिसाध्यत्व – इन तीनों को लिङर्थ मानकर विशेष्य-विशेषण-भाव मानते हुए प्राचीन नैयायिक एक ही शक्ति स्वीकार करते हैं ।

117. रत्नाकोशकार का मत है कि कृतिसाध्यत्वमात्र विध्यर्थ है ।

118. प्राभाकर अपूर्व – कार्य – नियोग को लिङर्थ कहते हैं ।

119. विध्यर्थ के विषय में विद्वानों का मतभेद इसप्रकार भी है :--

(i) पाणिनि के मत में विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सप्रंश्न और प्रार्थना – ये छः लिङर्थ है (विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्-पाणिनिसूत्र, 3.3.16 ।

(ii) वाक्यपदीयकार के मत में विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधीष्ट – इन चारों में प्रवर्तनात्व तथा संप्रश्न और प्रार्थना – ये लिङर्थ हैं ।

(iii) नवीन वैयाकरण इष्टसाधनत्व को लिङर्थ कहते हैं ।

(iv) नैयायिक उदयनाचार्य का मत है -- प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में वक्ता का अभिप्रायविशेष लिङर्थ है (विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः – न्यायकुसुमाञ्जलि, 5.14) ।

धात्वर्थो न नामार्थः स्वर्गकामो वेति चोक्तप्रायमेव । तेन च यागानुकूलकृतिमान्स्वर्गकाम इति तार्किकमतं पुरुषविशेष्यकवाक्यार्थज्ञानमपास्तम् ।

68 **संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादितम् ।**
यद्वक्तव्यमिहान्यत्तदनुसंधेयमाकरात् ॥ 18 ॥

69 **इदानीं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च त्रिकद्वयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वक्तव्यमिति तदुभयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते–**

ज्ञानं कर्म च कर्ता न त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ 19 ॥

70 **ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम् । ज्ञेयमप्यत्रैवान्तर्भूतं ज्ञानोपाधिकत्वाज्ज्ञेयत्वस्य । कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता । चकारात्करणकर्मकारकयोरत्रैवान्तर्भावः क्रियोपाधिकत्वात्कारकत्वस्य । कर्ता क्रियाया निर्वर्तकः । चकाराज्ज्ञाता च कर्तुः क्रियोपाधिकत्वे पृथक्त्रैगुण्यकथनं कुतार्किकभ्रमकल्पितात्मत्वनिवारणार्थम् । ते हि कर्तैवाऽऽत्मेति मन्तन्ते । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि**

अप्राप्त और लघुभूत प्रेरणा – प्रवर्तना ही लिङादि विधिपदों की वाच्या है – यह सिद्ध होता है । वाक्यार्थ की मर्यादा से लभ्य प्रवर्तक ज्ञान तो अन्य ही है -- यह सब वादियों के मतों में समान है । आख्यातार्थ ही शाब्दबोध में विशेष्यरूप से भासित होता है, धात्वर्थ भासित नहीं होता है, न नामार्थ अथवा स्वर्गकाम ही भासित होता है-- यह प्रायः कहा गया है । इससे 'यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकामः' = 'याग के अनुकूल कृतिमान् स्वर्गकामी पुरुष' -- यह पुरुषविशेष्यक वाक्यार्थज्ञानस्वरूप नैयायिकों का मत भी खण्डित होता है ।

68 यहाँ संक्षेप में कुमारिलभट्ट के मत का ही उपपादन किया है । इसके विषय में जो और कुछ वक्तव्य है उसको आकरग्रन्थों से जानना चाहिए ।। 18 ।।

69 अब ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृरूप तथा करण, कर्म और कर्तृरूप -- त्रिकद्वय = तीन-तीन पदार्थों के दो समूहों की त्रिगुणात्मकता वक्तव्य है अतएव उन दोनों को संक्षिप्त कर = त्रिकद्वय का वक्ष्यमाण ज्ञान, कर्म और कर्ता – इस एक त्रिक में अन्तर्भाव कर उनकी त्रिगुणात्मकता की प्रतिज्ञा करते है :--
[ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र में तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तुम शास्त्रानुसार सुनो ।। 19 ।।]

70 'ज्ञान' पूर्व में व्याख्यात है, 'ज्ञेय' भी इसी में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि ज्ञेयत्व ज्ञानोपाधिक है । 'कर्म' क्रिया है – यह 'त्रिविधः कर्मसंग्रहः' (गीता, 18.18) -- इत्यादि में कहा है । श्लोकस्थ प्रथम चकार से यह सूचित होता है कि करण और कर्म कारकों का भी इस क्रिया में ही अन्तर्भाव है, क्योंकि कारकत्व क्रियोपाधिक है । 'कर्ता' क्रिया का निर्वर्तक -- निष्पादक-उत्पादक है । श्लोकस्थ द्वितीय चकार से 'ज्ञाता' का भी ग्रहण है । यद्यपि कर्ता क्रियोपाधिक है, तथापि उसकी त्रिगुणता का पृथक्-कथन कुतार्किकों के भ्रम से कल्पित उस कर्ता में आत्मत्व के निवारण के लिए है, क्योंकि वे कुतार्किक यह मानते हैं कि 'कर्ता ही आत्मा है' । 'गुणाः = सत्त्वरजस्तमांसि सम्यक् = कार्यभेदेन

(v) कतिपय भाट्टसम्प्रदायवाले धात्वर्थगत कार्यत्व को लिङर्थ कहते हैं ।

(vi) कतिपय भाट्टविद्वान् लिङादि शब्दों में अर्थप्रकाशनसमर्थ अभिधाव्यापार को लिङर्थ स्वीकार करते हैं ।

सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलं तस्मिन्, ज्ञानं क्रिया च कर्ता च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते। एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः। यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणं तथाऽप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत इत्युक्तम्। तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः। यथावद्यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तानि ज्ञानादीनि। अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि। अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्।

71 **चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां बन्धहेतुत्वप्रकारो निरूपितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय। सप्तदशे पुनर्यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम्। इह तु स्वभावतो गुणातीतस्याऽऽत्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनाऽऽत्मसंबन्धिता स्यादित्युच्यत इति विशेषः ॥ 19 ॥**

72 **एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—**

ख्यायन्ते -- प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं = कापिलम्' = सत्त्व, रज और तम -- इन तीनों गुणों का जिसमें सम्यक्-- कार्यभेद से ख्यान -- प्रतिपादन किया जाता है वह 'गुणसंख्यान' अर्थात् कापिलदर्शन है, उस कापिलदर्शन – सांख्यशास्त्र में ज्ञान, क्रिया और कर्ता गुणभेद से अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। एवकार [120] इन तीन-तीन भेदों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की निवृत्ति के लिए है। यद्यपि कापिलशास्त्र – सांख्यशास्त्र परमार्थ ब्रह्म के एकत्व के विषय में प्रमाण नहीं है, तथापि अपरमार्थभूत गुण और गौण अर्थात् गुणों के कार्यों के भेद का निरूपण करने में उसकी व्यावहारिक प्रामाणिकता है ही -- अतएव वक्ष्यमाण गुणार्थ की स्तुति के लिए 'गुणसंख्याने प्रोच्यते' -- यह कहा गया है। यह गुणभेद से ज्ञानादि का भेदनिरूपण अन्य शास्त्रों = सांख्यादि शास्त्रों में भी प्रसिद्ध है, न कि केवल इसी गीता-शास्त्र में प्रसिद्ध है -- यह इसकी स्तुति है। तुम यथावत्-यथाशास्त्र -- शास्त्रानुसार उन ज्ञानादि को और 'अपि' शब्द से गृहीत गुणभेद से किये हुए उनके भेदों को भी सुनो अर्थात् सुनने के लिए सावधान होओ। इसप्रकार यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है -- यह समझना चाहिए।

71 चौदहवें अध्याय में गुणातीत की जीवन्मुक्तता का निरूपण करने के लिए 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' (गीता, 14.6) -- इत्यादि श्लोक से गुणों के बन्ध में हेतु होने के प्रकार का निरूपण किया गया है। पुनः सत्रहवें अध्याय में 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' (गीता, 17.4) -- इत्यादि श्लोकों से गुणकृत तीन प्रकार के स्वभाव का निरूपण करके राजस और तामसरूप आसुर स्वभाव का परित्याग कर सात्त्विक आहारादि के सेवन से सात्त्विक दैव स्वभाव सम्पादनीय है -- यह कहा गया है। यहाँ तो 'स्वभावतः गुणातीत आत्मा का क्रिया, कारक और फल से सम्बन्ध नहीं है' -- यह दिखलाने के लिए वे सब क्रिया-कारकादि त्रिगुणात्मक ही हैं, रूपान्तर नहीं हैं, जिससे कि उनका आत्मा से सम्बन्ध हो -- यह कहते हैं -- यह विशेष है ॥ 19 ॥

---

120. एवकार गुणत्रय की उपाधि से व्यतिरिक्त आत्मा में स्वतःकर्तृत्वादि के प्रतिषेध के लिए है (श्रीधरीटीका)।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ 20 ॥

73 सर्वेषु भूतेषु अव्याकृतहिरण्यगर्भविराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समष्टिव्यष्ट्यात्मकेषु, सर्वेष्वित्यनेनैव निर्वाहे भूतेष्वित्यनेन भवनधर्मकत्वमुच्यते । तेनोत्पत्तिविनाशशीलेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्यावृत्तेषु नानारसेषु अव्ययमुत्पत्तिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमविभक्तम-व्यावृत्तं सर्वत्रानुस्यूतमधिष्ठानतया बाधावधितया चैकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्तारूपं स्वप्रकाशा-नन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नेनेक्षते साक्षात्करोति तन्मिथ्याप्रपञ्चबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि । द्वैतदर्शनं तु राजसं तामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्यभिप्रायः ॥20 ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ 21 ॥

---

72 इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्ता – प्रत्येक को तीन प्रकार से जानना चाहिए -- यह प्रतिज्ञा करने पर पहले ज्ञान की त्रिविधता का तीन श्लोकों से निरूपण करते हैं । उसमें अद्वैतवादियों के सात्त्विक ज्ञान को कहते है :–

[जिससे ज्ञानी पुरुष परस्पर विभक्त सब भूतों में एक, अव्यय-अविनाशी, अविभक्त -- विभागरहित भाव को देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझो ॥ 20 ॥]

73 सब भूतों में[121] = अव्याकृत, हिरण्यगर्भ[122] और विराट्[123] संज्ञक बीज सूक्ष्म और स्थूलरूप समष्टि -- व्यष्टिभूत सब प्राणियों में, -- यहाँ 'सर्वेषु' -- इससे ही निर्वाह होने पर भी 'भूतेषु' -- इससे भवनधर्मकत्व -- उत्पत्तिधर्मकत्व कहते हैं, अतएव उत्पत्ति-विनाशशील, विभक्त = परस्पर व्यावृत्त अर्थात् नानारस दृश्य वर्गों में जो अव्यय = उत्पत्तिविनाशादि सब विकारों से शून्य, अदृश्य, अविभक्त= अव्यावृत्त, अधिष्ठानरूप से और बाध की अवधि होने से सर्वत्र अनुस्यूत एक = अद्वितीय भाव[124] = परमार्थसत्तारूप स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप आत्मा को वेदान्तवाक्यों के विचार से परिनिष्पन्न जिस अन्तःकरण के परिणामभेद के द्वारा देखता है अर्थात् उसका साक्षात्कार करता है, उस मिथ्याप्रपञ्च के बाधक अद्वैत-आत्मदर्शन को तुम सात्त्विक = सम्पूर्ण संसार के उच्छेद का कारणरूप ज्ञान समझो । द्वैतदर्शन तो राजस और तामस = संसार का कारण है अतएव सात्त्विक = संसार के उच्छेद का कारण नहीं है -- यह अभिप्राय है ॥ 20 ॥

[जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा तो पुरुष पृथक्रूप से स्थित सब भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को जानता है उस ज्ञान को तुम 'राजस' जानो ॥ 21 ॥]

---

121. सर्वभूतेषु = 'अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु भूतेषु' -- 'अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सब भूतों में' (शाङ्करभाष्य); 'ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु' -- 'ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सब भूतों में' (श्रीधरीटीका)

122. माया से प्रथम जो विकार उत्पन्न हुआ है उसको महत्तत्त्व या 'हिरण्यगर्भ' अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि की समष्टि – अवस्था कहा जाता है, वही व्यष्टिरूप से प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धिरूप से विद्यमान है ।

123. स्थूल देह की समष्टि-अवस्था को 'विराट्' कहा जाता है, वही व्यष्टिरूप से सूक्ष्म भूत के साथ प्रत्येक भूत में स्थूल-शरीररूप से परिणत होता है ।

124. 'भाव' शब्द वस्तुवाचक है अतएव 'भाव' का अर्थ आत्मवस्तु है (शाङ्करभाष्य) ।

74 तुशब्दः प्रागुक्तसात्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः । पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहादिषु नानाभावान्प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान्सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान्, येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारादेधांसि पचन्तीतिवत्कर्तुरहंकारस्य तद्वृत्त्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परामृशति । तेनाऽऽत्मनां परस्परं भेदस्तेषामीश्वराद्भेदस्तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ 21 ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 22 ॥

75 तुशब्दो राजसाद्भिनत्ति । बहुषु भूतकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन्कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वाऽहेतुकं हेतुरुपपत्तिस्तद्रहितमन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य तादृशस्याऽऽत्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा नातः परमस्तीत्यभिनिवेशेन लग्नं यथा दिगम्बराणां सावयवो देहपरिमाण आत्मेति यथा वा चार्वाकाणां देह एवाऽऽत्मेति एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवन्नतत्त्वा-

---

74 यहाँ 'तु' शब्द पूर्वोक्त सात्त्विक ज्ञान से व्यतिरेक -- भेद या अन्तर दिखलाने के लिए है । पृथक्त्व -- पृथक्ता अर्थात् भेद से स्थित सब भूतों में = देहादि में पृथक्विध = सुखित्वदु:खित्वादिरूप से परस्पर विलक्षण नाना भावों[125] को अर्थात् प्रत्येक देह में अन्य-अन्य आत्मा को जिस ज्ञान से जो जानता है, -- यहाँ 'येन ज्ञानेन वेत्ति' -- यह वक्तव्य था, किन्तु 'यज्ज्ञानं वेत्ति' -- यह कहा है -- यह कथन 'एधांसि पचन्ति' = 'ईंधन पकाता है अर्थात् ईंधन से पकाता है' -- इस वाक्य के समान करण में कर्तृत्वोपचार से है, अथवा -- कर्ता अहंकार का उसकी वृत्ति के साथ अभेद करके यह प्रयोग है, -- उस ज्ञान को तुम 'राजस' जानो -- यहाँ पुन: 'ज्ञान' पद का प्रयोग आत्मभेदज्ञान और अनात्मभेदज्ञान का परामर्श करता है । अत: आत्माओं का परस्पर भेद, उनका ईश्वर से भेद, अचेतन वर्ग का आत्माओं से भेद, अचेतन वर्ग का ईश्वर से भेद और अचेतन वर्ग का एक दूसरे से भेद -- इसप्रकार का जो यह कुतार्किकों का पाँच प्रकार का अनौपाधिक -- उपाधिहीन भेदज्ञान[126] है वह 'राजस' ही है -- यह अभिप्राय है ॥ 21 ॥

[जो ज्ञान तो एक कार्यरूप देह में ही परिपूर्ण की भाँति आसक्त है तथा अहेतुक -- बिना युक्तिवाला, तत्त्व अर्थ से रहित और अल्प -- तुच्छ है, वह ज्ञान 'तामस' कहा गया है ॥ 22 ॥]

75 'तु' शब्द उक्त ज्ञान को 'राजस' ज्ञान से पृथक् करता है । बहुत भूतकार्यों के विद्यमान रहते हुए एक कार्य = भूतविकार देह अथवा प्रतिमादि में अहेतुक = हेतु -- उपपत्ति से रहित अर्थात् 'अन्य भूतकार्यों में आत्मत्व का अभाव रहने पर तादृश एक भूतकार्य में आत्मत्व कैसे रह सकता है ?' -- इसप्रकार के अनुसन्धान से शून्य जो कृत्स्नवत् = परिपूर्ण के समान सक्त है = 'यह इतना ही आत्मा अथवा ईश्वर है, इससे परे नहीं है' -- इसप्रकार के अभिनिवेश से लग्न है = 'जैसे दिगम्बरों के मत में सावयव और देह के परिमाणवाला आत्मा है, अथवा -- चार्वाकों के मत में देह ही आत्मा है, इसीप्रकार पाषाण, दारु-काष्ठ आदिमात्र ईश्वर है' -- इसप्रकार एक कार्य में सक्त --

---

125. 'नानाभावान्' -- यहाँ बहुवचन का प्रयोग अत्यन्तभेद दिखलाने के लिए है ।

126. उक्त भेदपञ्चकज्ञान माध्व -- वेदान्ताभिमत है जिसका प्रकृत में खण्डन भी विवक्षित है ।

र्थालम्बनम्, अल्पं च नित्यत्वविभुत्वाग्रहात् । ईदृशं नित्यविभुदेहादिव्यतिरिक्तात्मतद्व्यतिरिक्तेश्वरग्राहितार्किकज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसानां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानदर्शिभिः ॥ 22 ॥

76 **तदेवमौपनिषदानामद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकमुपादेयं मुमुक्षुभिर्द्वैतदर्शिनां तु नित्यविभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसमनित्यपरिच्छिन्नात्मदर्शनं च तामसं हेयमुक्तं, संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते--**

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ 23 ॥

77 **नियतं यावदङ्गोपसंहारासमर्थानामपि फलावश्यंभावव्याप्तं नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्याद्यभिमानरूपोऽहंकारापरपर्यायो राजसो गर्वविशेषस्तेन शून्यं सङ्गरहितं, यावदज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तनोऽहंकारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु तत्त्वविदो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसन्मानादिकमनेन लप्स्य इत्यभिप्रायः, द्वेषः शत्रुमनेन पराजेष्य इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना फलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म यागदानहोमादि तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ 23 ॥**

संलग्न है, अहेतुक होने से अतत्त्वार्थवत् = तत्त्वार्थरूप आलम्बन से शून्य है और नित्यत्व -- विभुत्व का ग्रहण न करने से अल्प है -- ऐसा जो नित्य, विभु, देहादि से व्यतिरिक्त आत्मा; उस आत्मा से व्यतिरिक्त ईश्वर को ग्रहण करनेवाले तार्किक ज्ञान से विलक्षण अनित्य, परिच्छिन्न, देहादि में ही आत्माभिमानरूप चार्वाकादि का ज्ञान है वह 'तामस' कहा गया है, कारण कि तामस प्राकृत जनों में ऐसा ही ज्ञान देखा जाता है ॥ 22 ॥

76 इसप्रकार औपनिषदों -- वेदान्तियों का अद्वैत -- आत्मदर्शन सात्त्विक है अतएव मुमुक्षुओं द्वारा उपादेय -- ग्राह्य है, किन्तु द्वैतदर्शियों का नित्य, विभु और परस्पर विभिन्न आत्मदर्शन 'राजस' है और अनित्य, परिच्छिन्न आत्मदर्शन 'तामस' है अतएव हेय कहा गया है । अब तीन प्रकार का कर्म कहा जाता है --

[फलेच्छाशून्य पुरुष द्वारा जो नियत = शास्त्रविधि से नियत, सङ्गरहित, बिना राग और द्वेष से किया हुआ कर्म है वह 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 23 ॥]

77 नियत = सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार में असमर्थ पुरुषों को भी फल अवश्यंभाव व्याप्त अर्थात् नित्य है, 'सङ्ग' = 'मैं ही महायाज्ञिक हूँ' -- इत्यादि अभिमानरूप, अहंकार का अपर पर्याय राजस गर्वविशेष है उससे शून्य अर्थात् सङ्गरहित है । अज्ञान रहने तक तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रवर्तना, अहंकार सात्त्विक को भी अनुवृत्त होता ही है, किन्तु उससे रहित तत्त्ववेत्ता को कर्म का अधिकार नहीं रहता है -- यह अनेकबार कहा जा चुका है । 'राग' = 'इससे मैं राजसन्मानादि प्राप्त करूँगा' -- ऐसा अभिप्रायविशेष है, 'द्वेष' = 'इससे मैं शत्रु को पराजित करूँगा' -- ऐसा अभिप्रायविशेष है -- इन दोनों के द्वारा न किया हुआ 'अरागद्वेषकृत' है । इसप्रकार अफलप्रेप्सु अर्थात् फलाभिलाषारहित कर्ता के द्वारा जो याग, दान, होमादि कर्म किया जाता है वह 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 23 ॥

[कामेप्सु = फल को चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुष के द्वारा जो तो बहुलायास = बहुश्रमसाध्य कर्म किया जाता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 24 ॥]

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ 24 ॥

78 **तुः सात्त्विकाद्भिनत्ति । कामेप्सुना फलकामेन कर्त्रा साहंकारेण प्रागुक्तसङ्गात्मकगर्वयुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं यावत्कामनं काम्यावृत्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोपसंहारेण क्लेशावहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वैर्विशेषणैः सात्त्विक-सर्वविशेषणव्यतिरेको दर्शितः ॥ 24 ॥**

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ 25 ॥

79 **अनुबन्धं पश्चाद्भाव्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च नाशं हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं चानपेक्ष्यापर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवाऽऽरभ्यते यत्कर्म यथा दुर्योधनेन युद्धं तत्तामसमुच्यते ॥ 25 ॥**

80 **इदानीं त्रिविधः कर्तोच्यते–**

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ 26 ॥

---

78 'तु' शब्द उक्त कर्म को सात्त्विक कर्म से पृथक् करता है । कामेप्सु = फलकामी-- फलाभिलाषी और साहंकार = पूर्वोक्त सङ्गात्मक गर्व से युक्त कर्त्ता द्वारा, -- यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में है और 'पुनः' -- यह अनियत अर्थ में है, क्योंकि जब तक कामना रहती है तब तक काम्य कर्मों की आवृत्ति होती है, -- बहुलायास = बहुश्रमसाध्य समस्त अङ्गों का उपसंहार करने से क्लेशावह -- क्लेशप्रद जो काम्य कर्म किया जाता है वह 'राजस' कहा गया है । यहाँ सभी विशेषणों से सात्त्विक कर्म के समस्त विशेषणों का व्यतिरेक -- भेद दिखलाया गया है ॥ 24 ॥

[जो कर्म अनुबन्ध = पश्चाद्भावी अशुभपरिणाम, क्षय, हिंसा और अपने सामार्थ्य को न देखकर केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है वह 'तामस' कहा जाता है ॥ 25 ॥]

79 अनुबन्ध[127] = पश्चाद्भावी अशुभ-परिणाम, क्षय = शरीर के सामर्थ्य, धन और सेना के नाश, हिंसा = प्राणियों की पीड़ा और पौरुष = आत्मसामर्थ्य -- अपने साभर्थ्य को न देखकर = इनका विचार न करके मोह से = केवल अविवेक से ही जो कर्म आरम्भ किया जाता है, जैसे दुर्योधन ने युद्ध आरम्भ किया था, वह 'तामस' कहा जाता है ॥ 25 ॥

80 अब तीन प्रकार का कर्ता कहा जाता है --

[जो कर्ता आसक्ति से रहित, 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसे अहंकार के वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य सिद्ध होने और सिद्ध न होने में निर्विकार = हर्ष-शोकादि विकारों से रहित होता है वह 'सात्त्विक' कर्ता कहा जाता है ॥ 26 ॥]

---

127. 'अनुवध्यत इत्यनुबन्धः' = जो अनुवद्ध होता है – पीछे बँधा रहता है उसको 'अनुबन्ध' कहते हैं । अतएव भविष्य में होनेवाले शुभ और अशुभ कर्मफल का नाम 'अनुबन्ध' है । अथवा, अनु = पश्चात् – कर्म करने के पश्चात् जो अन्त में होनेवाला बन्ध = संसारबन्धन का कारणरूप परिणाम या फल उत्पन्न होता है उसको 'अनुबन्ध' कहते हैं । अथवा, 'अनुवध्यतेऽनेनेत्यनुबन्धः फलम्' = 'जिससे बन्धन होता है वह अनुबन्ध अर्थात् फल है ।

81 **मुक्तसङ्गस्त्यक्तफलाभिसंधिः, अनहंवादी कर्ताऽहमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणश्लाघाविहीनो वा । धृतिर्विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुरन्तःकरणवृत्तिविशेषो धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेतिनिश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः । कर्मणः क्रियमाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादिस्तेन रहितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण । अत एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ 26 ॥**

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ 27 ॥

82 **रागी कामाद्याकुलचित्तः । अत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी । लुब्धः परद्रव्याभिलाषी धर्मार्थं स्वद्रव्यत्यागासमर्थश्च । स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदनं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः । स्वाभिप्रायाप्रकटने तु नैष्कृतिक इति भेदः । अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः । सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ 27 ॥**

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥

---

81 मुक्तसङ्ग = जिसने फलाभिसन्धि -- फलेच्छा को त्याग दिया है, अनहंवादी = 'मैं कर्ता हूँ' -- ऐसा बोलने का जिसका स्वभाव नहीं होता है अथवा जो अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता है, 'धृति' = विघ्नादि के उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये हुए कर्म का परित्याग न करने में हेतुभूत अन्त:करण की वृत्तिविशेष अर्थात् धैर्य है और 'उत्साह' = 'मैं इसको करूँगा ही'-- ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि है जो धृति की हेतुभूता हैं -- उन दोनों से जो संयुक्त अर्थात् धृत्युत्साहसमन्वित है तथा क्रियमाण कर्म के फल की सिद्धि और असिद्धि में जो हर्ष और शोक हेतुओं से होनेवाला मुखविकास -- मुख का खिलना और मलिन होना रूप विकार है उससे जो रहित अर्थात् 'सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार' है अर्थात् केवल शास्त्रप्रमाण से ही कर्म में प्रवृत्त होनेवाला है, फल के राग से नहीं -- ऐसा कर्ता 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥ 26 ॥

[जो रागी, कर्मफल को चाहनेवाला, लोभी, हिंसा के स्वभाववाला, अशुचि -- अशुद्धाचारी, हर्ष -- शोक से युक्त कर्ता है वह 'राजस' कहा गया है ॥ 27 ॥]

82 रागी = कामादि से आकुल -- व्याकुलचित्त अतएव कर्मफलप्रेप्सु[128] = कर्मफलार्थी -- कर्मफलप्रार्थी अर्थात् कर्मफल को चाहनेवाला, लुब्ध = लोभी -- दूसरे के धन की इच्छा करनेवाला और धर्म के लिए अपने धन का त्याग करने में असमर्थ, अपने अभिप्राय को प्रकट करके दूसरे की वृत्ति का छेदन करना 'हिंसा' है तदात्मक = तत्स्वभाव अर्थात् हिंसा के स्वभाववाला, -- जो अपने अभिप्राय को प्रकट किये बिना ही दूसरे की वृत्ति का छेदन करता है वह तो 'नैष्कृतिक' होता है -- यह दोनों में भेद है, -- अशुचि = शास्त्रोक्त शौच-शुद्धि से हीन तथा कर्मफल की सिद्धि और असिद्धि में हर्ष और शोक से व्याप्त होनेवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है ॥ 27 ॥

---

128. कर्मफलप्रेप्सु = कर्म में जिसका राग अर्थात् आसक्ति है और कर्मफल में भी जिसका राग अर्थात् कामना है वह 'कर्मफलप्रेप्सु' है, इसी अभिप्राय से दोनों को पृथक् करके यह कहा गया है (आनन्दगिरिटीका) ।

83 **अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः । प्राकृतः शास्त्रासंस्कृतबुद्धिर्बालसमः । स्तब्धो गुरुदेवतादिष्वप्यनम्रः । शठः परवञ्चनार्थमन्यथा जानन्नप्यन्यथावादी । नैष्कृतिकः स्वस्मिन्नुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः । अलसोऽवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः । विषादी सततमसंतुष्टस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः । दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिर्यदद्यकर्तव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ 28 ॥**

84 **तदेवं ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत इति व्याख्यातं संप्रति धृत्युत्साहसमन्वित इत्यत्र सूचितयोर्बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं प्रतिजानीते–**

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ 29 ॥

85 **बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्तया धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं मया त्वां प्रति त्यक्तालस्येन परमाप्तेन प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव । हे धनंजयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सूचयन्प्रोत्साहयति ।**

[जो अयुक्त = अनवहितचित्त अर्थात् विक्षेपयुक्त चित्तवाला, प्राकृत = शास्त्र से असंस्कृत बुद्धिवाला, स्तब्ध = अनम्र – घमण्डी, शठ, नैष्कृतिक, आलसी, विषादी-शोक करने के स्वभाववाला और दीर्घसूत्री होता है वह कर्ता 'तामस कहा जाता है ॥ 28 ॥]

83 अयुक्त = सर्वदा विषयों द्वारा अपहृत चित्त होने से जो कर्तव्यों में अनवहित -- असावधान है, प्राकृत = बालक के समान शास्त्रों से असंस्कृतबुद्धि है, स्तब्ध = गुरु, देवता आदि में भी अनम्र = नम्र न रहनेवाला है, शठ = दूसरों को ठगने के लिए अन्यथा जानते हुए भी अन्यथा बोलनेवाला है, नैष्कृतिक = अपने में उपकारी -- परोपकारी होने का भ्रम उत्पन्न करके दूसरे की वृत्ति -- आजीविका का छेदन -- विनाश कर स्वार्थ में तत्पर रहनेवाला है, अलस = आलसी अर्थात् अवश्य करने योग्य कार्य में भी अप्रवृत्तिशील है, विषादी = सतत -- निरन्तर असंतुष्टस्वभाव होने से अनुशोचनशील -- पश्चात्ताप करते रहनेवाला है और दीर्घसूत्री[129] = निरन्तर सहस्रों शंकाओं से कवलित -- ग्रस्तचित्त होने से अतिमन्थर -- अत्यन्त मन्द प्रवृत्तिवाला है, जो आज कर्तव्य है उसको महीने भर में भी करता है अथवा नहीं करता है -- ऐसे स्वभाववाला कर्ता 'तामस' कहा जाता है ॥ 28 ॥

84 इसप्रकार 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः'-- इसकी व्याख्या हो गई, अब 'धृत्युत्साहसमन्वितः' -- इत्यादि में सूचित बुद्धि और धृति की त्रिविधता की प्रतिज्ञा करते हैं :--

[हे धनञ्जय ! अब सत्त्वादि गुणों की दृष्टि से मेरे द्वारा संपूर्णतया और पृथक्रूप से अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से कहे जाते हुए बुद्धि और धृति के तीन-तीन प्रकार के भेदों को तुम सुनो ॥ 29 ॥]

85 अध्यवसायादि वृत्तियोंवाली 'बुद्धि' है और उस बुद्धि की वृत्ति ही 'धृति' है -- इनका सत्त्वादि गुणों की दृष्टि से तीन-तीन प्रकार का भेद त्यक्त-आलस्य, परम-आप्त मेरे द्वारा तुम्हारे प्रति अशेषेण

---

129. दीर्घसूत्री = दीर्घं सूत्रयितुं शीलमस्य इति दीर्घसूत्री अर्थात् कर्तव्य कर्म को प्रसारित करने का स्वभाव जिसका है वह 'दीर्घसूत्री' है अर्थात् आज या कल कर लेने के योग्य कार्य को महीने भर में भी जो समाप्त नहीं कर पाता है वह 'दीर्घसूत्री' है ।

86 अत्रेदं चिन्त्यते– किमत्र बुद्धिशब्देन वृत्तिमात्रमभिप्रेतं किं वा वृत्तिमदन्तःकरणं, प्रथमे ज्ञानं पृथङ्न वक्तव्यं, द्वितीये कर्ता पृथङ्न वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात् । ज्ञानधृत्योः पृथक्कथनवैयर्थ्यं च । न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत्, वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात् । उच्यते– अन्तःकरणोपहितश्चिदाभासः कर्ता । इह तूपहितान्निष्कृष्योपाधिमात्रं करणत्वेन विवक्षितं सर्वत्र करणोपहितस्य कर्तृत्वात् । यद्यपि च 'कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुत्यनूदितानां सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं विवक्षितं तथाऽपि धीधृत्योस्त्रैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम् ॥ 29 ॥

87 तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 30 ॥

88 प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, निवृत्तिं संन्यासमार्गं, कार्यं प्रवृत्तिमार्गे कर्मणा करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भवासादिदुःखम्, अभयं निवृत्तिमार्गे तदभावं, बन्धं प्रवृत्तिमार्गे

– निरवशेषेण अर्थात् संपूर्णतया और पृथक्रूप से अर्थात् हेयोपादेय के विवेक से कहा जाता है उसको सुनो = उसको सुनने के लिए सावधान होओ, हे धनञ्जय[130] ! – इस सम्बोधन से भगवान् अर्जुन की दिग्विजय में प्रसिद्ध महिमा को सूचित करते हुए उसको प्रोत्साहित करते हैं ।

86 यहाँ यह विचार किया जाता है -- क्या यहाँ 'बुद्धि' शब्द से वृत्तिमात्र अभिप्रेत है ? अथवा वृत्तियुक्त अन्तःकरण अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष में ज्ञान को बुद्धि से पृथक् नहीं कहना चाहिए और द्वितीय पक्ष में कर्ता को बुद्धि से पृथक् नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वृत्ति से उक्त अन्तःकरण ही कर्ता होता है तथा ज्ञान और धृति का भी उससे पृथक् कथन करना व्यर्थ ही है । ज्ञान और धृति का पृथक्-कथन इच्छादि की परिसंख्या – व्यावृत्ति के लिए भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वृत्तियुक्त अन्तःकरण की त्रिविधता का कथन करने से ही उसकी समस्त वृत्तियों की त्रिविधता विवक्षित होती है । उच्यते – समाधान कहते हैं :-- अन्तःकरणोपहित चिदाभास कर्ता है । यहाँ तो उपहित चिदाभास से पृथक् कर उपाधिमात्र अन्तःकरण करणत्वेन विवक्षित है, क्योंकि सर्वत्र करणोपहित ही कर्ता होता है । यद्यपि 'काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री-लज्जा, धी-बुद्धि, भी-भय-- ये सब मन ही हैं'– इस श्रुति द्वारा अनूदित सभी वृत्तियों में त्रिविधता विवक्षित है, तथापि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के उपलक्षण के लिए, अन्य वृत्तियों की परिसंख्या– व्यावृत्ति के लिए नहीं, बुद्धि और धृति की त्रिविधता को पृथक् कहा गया है-- यह इसका रहस्य है ॥ 29 ॥

87 इसमें बुद्धि की त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैंः--

[हे पार्थ ! जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष -- इनको जानती है वह बुद्धि 'सात्त्विकी' है ॥ 30 ॥]

130. दिग्विजय में मानुष और दैव प्रभूत धन जिस बुद्धि और धृति से तुमने जीता था – प्राप्त किया था वह बुद्धि और धृति तुम्हारे और दूसरों के द्वारा धनादि समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए विजय की हेतुभूता होने से उपादेय -- ग्राह्य है – यह बोधित करने के लिए मेरे द्वारा कहे हुए बुद्धि और धृति के त्रिविधभेद को सुनो इसप्रकार सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृतमज्ञानतत्कार्याभावं च या वेत्ति करणे कर्तृत्वोपचाराद्यया वेत्ति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे पार्थ सात्त्विकी । बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ 30 ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ 31 ॥

89 **धर्मं शास्त्रविहितमधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धमदृष्टार्थमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थमुभयमयथावदेव प्रजानाति यथावन्न जानाति किंस्विदिदमिदमित्थं न वेति चानध्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र तृतीयानिर्देशादन्यत्रापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ 31 ॥**

---

88 प्रवृत्ति = कर्ममार्ग, निवृत्ति = संन्यासमार्ग, कार्य = प्रवृत्तिमार्ग में कर्मों का करना, अकार्य = निवृत्तिमार्ग में कर्मों का न करना, भय = प्रवृत्तिमार्ग में गर्भवासादि दुःख, अभय = निवृत्तिमार्ग में उस गर्भवासादि दुःख का अभाव, बन्ध = प्रवृत्तिमार्ग में मिथ्याज्ञानकृत कर्तृत्वादि का अभिमान और मोक्ष = निवृत्तिमार्ग में तत्त्वज्ञानकृत अज्ञान और उसके कार्य का अभाव -- इन सबको जो जानती है, अथवा – करण में कर्तृत्वोपचार से 'यया वेत्ति कर्ता' अर्थात् जिससे कर्ता जानता है वह प्रमाणजनित[131] निश्चयवती बुद्धि हे पार्थ[132] ! 'सात्त्विकी' है[133] । बन्ध और मोक्ष का अन्त में कथन होने से ही उनसे सम्बद्ध प्रवृत्ति आदि की व्याख्या की गई है ॥ 30 ॥

[हे पार्थ[134] ! जिससे पुरुष धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को यथावत् -- यथार्थरूप से नहीं जानता है वह बुद्धि 'राजसी है ॥ 31 ॥]

89 धर्म = शास्त्रविहित है और अधर्म = शास्त्रप्रतिषिद्ध है – ये दोनों ही अदृष्टार्थ = अदृष्ट प्रयोजनवाले हैं तथा कार्य और अकार्य -- दोनों दृष्टार्थ = दृष्ट प्रयोजनवाले हैं -- इन दोनों को जिस बुद्धि से पुरुष अयथावत् जानता है– यथावत् नहीं जानता है अर्थात् क्या यह ऐसा है ? अथवा नहीं है ? – इसप्रकार अनध्यवसाय-अनिश्चय अथवा संशय करता है, वह बुद्धि 'राजसी' है । यहाँ तृतीया का निर्देश होने से अन्यत्र भी करणरूप से ही बुद्धि की व्याख्या करनी चाहिए ॥ 31 ॥

[हे पार्थ[135] ! तमोगुण से आवृत जो बुद्धि अधर्म को धर्म – ऐसा मानती है तथा अन्य सब विषयों को विपरीत ही समझती है वह 'तामसी' है ॥ 32 ॥]

---

131. जो बुद्धि सब प्रमाणों = प्रत्यय, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों के द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ होती है वह बुद्धि 'सात्त्विकी' है ।

132. ईदृशी सात्त्विकी बुद्धि से युक्त पृथा के पुत्र पार्थ ! तुम भी अपनी माता के समान सात्त्विकी बुद्धि से युक्त होने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए उक्त सम्बोधन है ।

133. शंका है – प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य आदि को जान लेने पर ही अर्थात् उनसे सम्बन्धित ज्ञान के रहने पर ही यदि बुद्धि सात्त्विकी होती है तो क्या ज्ञान और बुद्धि – दोनों एक ही वस्तु हैं ? यदि दोनों एक हैं तो ज्ञान के त्रिविध भेद को पूर्व में कह ही दिया गया है, पुनः बुद्धि के त्रिविध भेद कहने की क्या आवश्यकता है? समाधान है– ज्ञान और बुद्धि– दोनों एक वस्तु नहीं है । पूर्व में जो 'ज्ञान' कहा गया है वह बुद्धि की वृत्तिविशेष है और 'बुद्धि' स्वयं वृत्तिवाली है अर्थात् ज्ञानरूप वृत्ति बुद्धि का धर्म है । उसीप्रकार 'धृति' भी बुद्धि की वृत्तिविशेष ही है

134. हे पृथापुत्र– पार्थ ! तुम्हारे लिए राजसी बुद्धि युक्त नहीं है– यह सूचित करने के लिए उक्त सम्वोधन है ॥

135. हे पार्थ ! तुम्हारे लिए तामसी बुद्धि तो सर्वथा उचित नहीं है – यह सम्बोधन का आशय है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ 32 ॥

90 तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणाऽऽवृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यतेऽदृष्टार्थे सर्वत्र विपर्यस्यति । तथा सर्वार्थान्सर्वान्दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान्विपरीतानेव मन्यते सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी ॥ 32 ।

91 इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ 33 ॥

92 योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिव्याप्तया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टा धारयत उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मनआदिक्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥33 ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ 34 ॥

93 तुः सात्त्विक्या भिनत्ति । प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन्यया धृत्या धर्मं काममर्थं च

---

90 तमोगुण से = विशेषदर्शन के विरोधी दोष से आवृत हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म – ऐसा मानती है अर्थात् अदृष्ट अर्थों में सर्वत्र विपरीत ग्रहण करती है तथा सब अर्थों को = सब दृष्ट प्रयोजनों को अर्थात् ज्ञेय पदार्थों को भी विपरीत ही समझती है वह विपर्ययवती बुद्धि 'तामसी' है ॥ 32 ॥

91 अब धृति की त्रिविधता को तीन श्लोकों से कहते हैं :--
[हे पार्थ ! जिस समाधि से व्याप्त धृति के द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धृति 'सात्त्विकी' है ॥ 33 ॥]

92 योग अर्थात् समाधि के द्वारा अव्यभिचारिणी[136] = अविनाभूता अर्थात् समाधि से व्याप्त जिस धृति से प्रयत्नपूर्वक मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं – चेष्टाओं को मनुष्य धारण करता है अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोकता है, जिसके होने पर अवश्य समाधि होती है और जिसके द्वारा धार्यमाण – धारण की हुई मन आदि की क्रियाएँ शास्त्र का अतिक्रमण कर अर्थान्तर में प्रवेश नहीं करती हैं, वह धृति हे पार्थ ! 'सात्त्विकी' है ॥ 33 ॥
[हे अर्जुन[137] ! जिस धृति से तो फलाकाङ्क्षी मनुष्य प्रसङ्गपूर्वक धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है वह धृति हे पार्थ ! 'राजसी' है ॥ 34 ॥]

---

136. समाधि द्वारा ब्रह्म के साथ जीव की एकात्मता के अनुभव से सतत – निरन्तर – नित्य व्याप्त रहने के कारण जो धृति– धारणाशक्ति अन्य किसी विषय को धारण नहीं करती है उसको 'अव्यभिचारिणी' धृति कहा जाता है ।

137. 'अर्जुन' शब्द का अर्थ शुद्धबुद्धि – संस्कृतबुद्धि है अतएव हे अर्जुन ! तुम्हारी बुद्धि भी शुभ कर्मों के अनुष्ठान से और शुभ भावना के उद्रेक से संस्कृत हुई है, फलतः जन्म-मृत्यु के हेतुभूत कर्मों के फल के लिए तुम्हारी आकांक्षा होना सम्भव नहीं है, इसीलिए तुम्हारी धृति राजसी नहीं हो सकती है और फिर तुम मेरी परम भक्ता पृथा के पुत्र भी तो हो अतएव निश्चिन्त रहो – ऐसा आश्वासन देने के लिए भगवान् ने अर्जुन और पार्थ कह कर दो बार सम्बोधन किया है ।

धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ 34 ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ 35 ॥

94 **स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं विषादमिन्द्रियावसादं मदमशास्त्रीय-विषयसेवोन्मुखत्वं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधा विवेकासमर्थो धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ 35 ॥**

95 **एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन--**

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

96 **मे मम वचनाच्छृणु हेयादेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तरनिवारणेन मनः स्थिरीकुरु, हे भरतर्षभेति योग्यता दर्शिता ।**

---

93 'तु' शब्द उक्त धृति को सात्त्विकी धृति से पृथक् करता है । प्रसङ्ग[138]पूर्वक = कर्तृत्वादि के अभिनिवेशपूर्वक फलाकांक्षी = फल की इच्छावाला होकर जिस धृति से मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है अर्थात् नित्य कर्तव्यरूप से अवधारण करता है, कदाचित् भी मोक्ष को धारण -- अवधारण नहीं करता है वह धृति हे पार्थ ! 'राजसी' है ॥ 34 ॥

[हे पार्थ ! जिससे दुर्मेधा = दुष्ट बुद्धिवाला -- सदसद्विवेक में असमर्थ मनुष्य स्वप्न-निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को भी नहीं छोड़ता है वह धृति 'तामसी' है ॥ 35 ॥]

94 दुर्मेधा[139] = सदसद्विवेक में असमर्थ मनुष्य जिससे स्वप्न-निद्रा, भय-त्रास, शोक-इष्टवियोगनिमित्त संताप, विषाद = इन्द्रियों में अवसाद--शैथिल्य और मद = अशास्त्रीय विषयसेवन में उन्मुखता-- तत्परता -- इनको नहीं छोड़ता है, किन्तु सदैव कर्तव्य ही मानता है वह धृति हे पार्थ ! 'तामसी' है ॥ 35 ॥

95 इसप्रकार क्रियाओं और कारकों की सत्त्वादि गुणों के भेद से त्रिविधता कहकर अब उसके फल सुख की त्रिविधता के विषय में आधे श्लोक से प्रतिज्ञा करते हैं :--

[हे भरतर्षभ ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार के सुख को तो[140] सुनो ॥ 36 अ ॥]

96 मुझसे = मेरे वचन से सुनो अर्थात् हेय और उपादेय का विवेक करने के लिए व्यासङ्गान्तर = अन्य प्रवृत्तियों का निवारण कर मन को स्थिर करो, हे भरतर्षभ[141] ! -- इस सम्बोधन से अर्जुन की योग्यता प्रदर्शित की है ॥ 36 अ ॥

---

138. प्रकर्षेण सङ्गःकर्तृत्वाभिनिवेशः प्रसङ्गः = प्रकृष्ट सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व का अभिनिवेश 'प्रसङ्ग' है – ऐसा मधुसूदन सरस्वती कहते हैं; तथा 'प्रसङ्गः धर्मादिः सम्बन्धः' -- 'धर्मादि का सम्बन्ध 'प्रसङ्ग' है' -- यह नीलकण्ठ कहते हैं, किन्तु भाष्यकार ने प्रसङ्ग का प्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण किया है, प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग करने पर विनिगमकविरह नामक तर्कदोष की कल्पना कर भाष्यकार ने पूर्वोक्त अर्थों की भाँति 'प्रसङ्ग' शब्द की व्याख्या नहीं की है (द्रष्टव्य – भाष्योत्कर्षदीपिका) ।

139. दुर्मेधाः = दुष्टा कुत्सिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्बुद्धिः; दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य स दुर्मेधाः पुरुषः; विवेकासमर्था दुर्मेधाः -- इत्यादि ।

140. 'तु' शब्द क्रिया और कारकों से उनके फलस्वरूप सुख के पृथक्त्व का निर्देश करने के लिए है ।

141. हे भरतर्षभ ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम सुख की त्रिविधता को मेरे वचनों से सुनकर सात्त्विक सुख का अनुभव करने के योग्य हो ।

97 सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन–

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ 36 ॥

98 यत्र समाधिसुखेऽभ्यासादतिपरिचयाद्रमते परितृप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य एव । यस्मिन्रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं नितरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते महद् दुःखम् ॥ 36 ॥

99 तदेव विवृणोति–

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ 37 ॥

100 यदग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासनिर्वाह्यत्वाद्विषमिव द्वेषविशेषावहं भवति । परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमं प्रीत्यतिशयास्पदं भवति । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धि-प्रसादजं नतु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं न वा तामसमिव निद्रालस्यादिजम् । ईदृशं यदनात्मबुद्धिनिवृत्त्याऽऽत्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ।

---

97 सात्त्विक सुख को डेढ़ श्लोक से कहते हैं :–
[जिस समाधिसुख में मनुष्य अभ्यास = अतिपरिचय से रमण करता है और दु:खों के अन्त को प्राप्त होता है ॥ 36 ब ॥]

98 जहाँ = जिस समाधिसुख में मनुष्य अभ्यास = अतिपरिचय होने से रमण करता है – परितृप्त होता है, विषयसुख के समान तुरन्त ही तृप्त नहीं होता है, तथा जिसमें रमण करता हुआ वह सम्पूर्ण दु:ख के अन्त – अवसान को नितराम् प्राप्त होता है, विषयसुख के समान अन्त में महान् दु:ख को प्राप्त नहीं होता है ॥ 36 ब ॥

99 इसी का विवरण करते हैं –
[जो वह सुख पहले = साधन के आरम्भकाल में यद्यपि विष के सदृश प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में अमृत के समान अनुभूत होता है, वह सुख आत्मविषया बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने के कारण योगियों द्वारा 'सात्त्विक' कहा गया है ॥ 37 ॥]

100 जो सुख पहले = ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के आरम्भ में अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निर्वाह्य – साध्य होने से यद्यपि विष के सदृश प्रतीत होता है अर्थात् द्वेषविशेष को उत्पन्न करनेवाला होता है, किन्तु परिणाम में = ज्ञान, वैराग्यादि का परिपाक होने पर अमृतोपम[142] = अमृत के समान अत्यन्त प्रीति का विषय होता है तथा आत्मबुद्धिप्रसादज होता है = आत्मबुद्धि[143] – आत्मविषया जो बुद्धि है उसका प्रसाद अर्थात् निद्रा, आलस्यादि से रहित होने से जो स्वच्छरूप से अवस्थान – स्थिति है उससे उत्पन्न हुआ होता है; राजस सुख के समान विषय और इन्द्रियों के संयोग से

---

142. जैसे कालकूट को दूर करने से प्राप्त हुआ अमृत देवताओं की जरा और मृत्यु का निवर्तक होता है वैसे ही अन्त:करण के दोषों को दूर करने से प्राप्त हुआ ब्रह्मसुख भी योगियों के लिए जन्ममरणरूप दु:खप्रवाह का नाशक होने से अमृत के समान परमानन्दकर होता है ।
143. आत्मविषया आत्मालम्बना बुद्धिर्वा आत्मबुद्धिः ।

101 अपर आह– अभ्यासादावृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखं, तच्च त्रिविधं गुणभेदेन शृण्विति तत्पदाध्याहारेण पूर्वस्य श्लोकस्यान्वयः । यत्तदग्र इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ 37 ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ 38 ॥

102 विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं न त्वात्मबुद्धिप्रसादाद्यत्तदतिप्रसिद्धं स्रक्चन्दनवनितासङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमं परिणामे त्वैहिकपारत्रिकदुःखावहत्वाद्विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ 38 ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ 39 ॥

103 अग्रो प्रथमारम्भे चानुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरं, निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः

उत्पन्न होनेवाला नहीं होता है और न तामस सुख के समान निद्रा, आलस्यादि से ही उत्पन्न हुआ होता है । ऐसा जो अनात्मबुद्धि की निवृत्ति द्वारा आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ समाधिसुख है उसको योगियों ने 'सात्त्विक' कहा है ।

101 अन्य व्याख्याकार कहते हैं -- अभ्यास = आवृत्ति से जिसमें रमण करता है – प्रसन्न होता है और जिसमें दुःख के अवसान -- अन्त को प्राप्त करता है वह 'सुख' है और वह गुणभेद से तीन प्रकार का है, उसको सुनो -- इसप्रकार 'तत्' पद के अध्याहार से पूर्वश्लोक का अन्वय है । 'यत्तदग्रे' – इत्यादि श्लोक से तो 'सात्त्विक' सुख का लक्षण कहा गया है । भाष्यकार का अभिप्राय भी ऐसा ही है ॥ 37 ॥

[जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, वह यद्यपि भोगारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष के सदृश होता है, अतएव वह सुख 'राजस' कहा गया है ॥ 38 ॥]

102 विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ, न कि आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ, जो वह अतिप्रसिद्ध स्रक्, चन्दन, वनिता-स्त्री आदि के सङ्ग से होनेवाला सुख अग्रे – पहले अर्थात् भोग के प्रथम आरम्भ में मनःसंयमादि क्लेश के अभाव के कारण यद्यपि अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में ऐहिक – लौकिक और पारत्रिक -- पारलौकिक दुःखों की प्राप्ति करानेवाला होने से विष के सदृश ही होता है[144] अतएव वह सुख 'राजस' कहा गया है ॥ 38 ॥

[जो सुख भोगारम्भ में और अनुबन्ध-परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला होता है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख 'तामस' कहा गया है ॥ 39 ॥]

103 अग्रे = पहले अर्थात् भोग के प्रथम आरम्भ में और अनुबन्ध – परिणाम में भी जो सुख आत्मा

---

144. अभिप्राय यह है कि बल = शारीरिक सामर्थ्य, वीर्य = पराक्रम द्वारा प्राप्त हुआ यश, रूप = शरीरसौन्दर्य, प्रज्ञा = वेदादि शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण करने की सामर्थ्य, मेधा = शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण करने के पश्चात् उसको स्मृति में धारण करने की शक्ति, धन = गोहिरण्यादि और उत्साह = कार्य करने के लिए उपक्रमादि – इन सबकी वैषयिक सुख से हानि होने के कारण इहलोक में विष के समान दुःख भोगना पड़ता है और यह वैषयिक सुख प्रायः अधर्ममूलक होने के कारण नरकादि का भी हेतु होने से इहलोक के भोग की समाप्ति के पश्चात् परलोक में भी विष के सदृश ही अत्यन्त दुःखदायक होता है (शाङ्करभाष्य और आनन्दगिरिटीका) ।

कर्तव्यार्थविधानमन्तरेण मनोराज्यमात्रं, तेभ्य एवोत्तिष्ठति नतु सात्त्विकमिव बुद्धिप्रसादजं न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ 39 ॥

104 इदानीमनुक्तमपि संगृह्णन्प्रकरणार्थमुपसंहरति भगवान्—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ 40 ॥

105 सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिस्ततो जातैर्वैषम्यावस्थां प्राप्तैः प्रकृतिजैर्नतु साक्षाद् गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तद्रूपत्वात् । तस्माद्वैषम्यावस्थैव तदुत्पत्तिरुपचारात् । अथवा प्रकृतिर्माया तत्प्रभवैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्बन्धनहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजात-

को मोह उत्पन्न करनेवाला होता है, इसके अतिरिक्त निद्रा और आलस्य तो प्रसिद्ध ही हैं तथा 'प्रमाद' कर्तव्य अर्थ का निश्चय किये बिना मनोराज्यमात्र है – उनसे ही उत्थित – उत्पन्न होता है, न कि सात्त्विक सुख के समान बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है और न राजस सुख के समान ही विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही उत्पन्न होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख 'तामस' कहा गया है ॥ 39 ॥

104 अब अनुक्त विषयों का भी संग्रह करते हुए भगवान् प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हैं : – [पृथिवी पर अथवा स्वर्ग में अथवा देवताओं में भी ऐसा वह कोई भी प्राणी अथवा अप्राणी नहीं है जो कि इन प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्वादि तीन गुणों से मुक्त – रहित हो ॥ 40 ॥]

105 सत्त्व, रज और तम – इन तीन गुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति[145]' है, उससे उत्पन्न हुए = विषमावस्था को प्राप्त हुए प्रकृतिज; गुणों का साक्षात् प्रकृतिजत्व नहीं है, क्योंकि वे प्रकृतिरूप ही हैं, अतः उनकी विषमावस्था ही उपचार से उनकी उत्पत्ति है; अथवा – 'प्रकृति' माया है उससे प्रभूत-- कल्पित प्रकृतिज-प्रकृतिजनित बन्धन के हेतुभूत इन सत्त्वादि तीन गुणों से मुक्त अर्थात् हीन सत्त्व = प्राणी अथवा अप्राणी जो हो वह पृथिवी पर मनुष्यादि में वा दिवि[146] = अथवा स्वर्ग

145. प्रकरोतीति प्रकृतिः = जो कार्यों को उत्पन्न करती है वह 'प्रकृति' है; सत्त्व, रज और तम – इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः – सांख्यसूत्र, 1.61; गौडपादभाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी) । साम्यावस्था का अर्थ अन्यूनतया अनधिकावस्था है अर्थात् तीनों गुणों का अन्यूनाधिक भाव से रहना ही सन्तुलित-साम्यावस्था है । साम्यावस्था में तीनों सत्त्वादि गुणों की अकार्यावस्था रहती है, कार्यावस्था तो उन सत्त्वादि गुणों की विषमावस्था होने पर ही होती है । यदि कार्यावस्था में गुणों की विषमावस्था होती है, तो उस समय गुणों की साम्यावस्था नष्ट होने से 'प्रकृति' ही नष्ट होनी चाहिए, क्योंकि गुणों की साम्यावस्था को ही 'प्रकृति' कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि प्रकृति गुणों की एक अवस्थामात्र नहीं है, अपितु वह स्वयं गुणत्रय ही है (सत्त्वादीनामतद्धर्मत्त्वं तद्रूपत्वात् – सांख्यसूत्र 6.39) अर्थात् अकार्यावस्थास्वरूप साम्यावस्था से उपलक्षित सत्त्वादि तीनों गुण ही 'प्रकृति' हैं (अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः – सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसूत्र – 1.61); इसीप्रकार कार्यावस्थास्वरूप विषमावस्था से भी उपलक्षित सत्त्वादि तीनों गुण ही 'प्रकृति' है (वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धय उपलक्षितमित्युक्तम् – सांख्यप्रवचनभाष्य, वही) । अतएव सत्त्वादि गुणों का साक्षात् प्रकृतिजत्व नहीं है, उन गुणों की प्रकृति से उत्पत्ति उपचार से ही उन सत्त्वादि गुणों की विषमावस्था है ।

146. श्लोकस्थ 'वा दिवि' - इन दो पदों में सन्धि कर 'अदिवि' – पद का अर्थ अन्य व्याख्याकार ने इसप्रकार किया है – दिव्-स्वर्ग = परलोक के सदृश होने के कारण 'अदिवि' पद स्वर्ग के साथ पातालादिपर भी है, जैसे 'अब्राह्मण' पद है; किन्तु आचार्यों ने इसप्रकार की व्याख्या नहीं की है, कारण कि श्लोक में तृतीय 'वा' शब्द नहीं है, पृथिवी के विवरात्मक होने से पातालादि भी 'पृथिवी' शब्द से ही ग्रहण हो सकते हैं और प्रयोजनशून्य क्लिष्ट कल्पना करना अयुक्त है ।

मग्राणि वा यत्स्यात्तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति क्वापि गुणत्रय-रहितमनात्मवस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ 40 ॥

106 तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफललक्षणः सर्वः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पितोऽनर्थश्चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पञ्चदशे च वृक्षरूपककल्पनया तमुक्त्वा–

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥'

इत्यसङ्गशस्त्रेण विषयवैराग्येण तस्य च्छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् ! तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्मकस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गशस्त्रस्यैवानुपपत्तेरित्याशङ्कायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परितोष्यमाणात्परमेश्वरादसङ्गशस्त्रलाभ इति वदितुमेतावानेव सर्ववेदार्थः परमपुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य इत्येवमर्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । तत्रेदं सूत्रम्–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ 41 ॥

107 त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यधर्मत्वकथनार्थम् । शूद्राणामिति पृथक्करणमेक-

---

में, अथवा देवताओं में भी नहीं है अर्थात् तीनों गुणों से रहित कोई भी अनात्मवस्तु कहीं भी नहीं है[147] ॥ 40 ॥

106 इसप्रकार चौदहवें अध्याय में उक्त 'सत्त्व, रज और तम – गुणत्रयात्मक, क्रियाओं और कारकों का फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार मिथ्याज्ञान से कल्पित और अनर्थ ही है' – इसका उपसंहार हुआ । पन्द्रहवें अध्याय में उसको वृक्षरूपक कल्पना से कहकर –
"जिसकी जड़ें अत्यन्त रूढ हो गई हैं ऐसे इस अश्वत्थ वृक्ष को असङ्गशस्त्र से दृढ़तापूर्वक काटकर पुनः उस पद का अन्वेषण करना चाहिए, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर नहीं आते हैं" (गीता, 15.3 ब – 4 अ) ।
उक्त श्लोक के अनुसार असङ्गशस्त्र अर्थात् विषयों के वैराग्य द्वारा उसका छेदन कर परमात्मा का अन्वेषण करना चाहिए– यह कहा है । उसमें 'यदि सब कुछ त्रिगुणात्मक है, तो त्रिगुणात्मक संसारवृक्ष का असङ्गशस्त्र से ही अनुपपत्ति होने के कारण किसप्रकार छेद-उच्छेद हो सकता है' ? – ऐसी आशंका होने पर 'अपने-अपने अधिकार के अनुसार विहित वर्णाश्रमधर्मों के द्वारा परितुष्ट किये हुए परमेश्वर से ही असङ्गशस्त्र का लाभ हो सकता है' – यह कहने के लिए 'परम पुरुषार्थ की इच्छावालों को सब वेदों के इतने ही अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिए' और 'गीताशास्त्र के अर्थ का उपसंहार करना चाहिए'– इसी के लिए उत्तर प्रकरण आरम्भ किया जाता है । उसमें यह सूत्रभूत श्लोक है–
[हे परन्तप । स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म पृथक्-प्रथक् विभक्त हुए हैं ॥ 41 ॥]

---

147. भाव यह है कि क्रियाओं और कारकों का फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार भी सत्त्व, रज और तम – गुणत्रयात्मक है, अविद्या से परिकल्पित है, समूल अनर्थ है अतएव आत्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति द्वारा संसार का निवारण करना चाहिए ।

जातित्वेन वेदानधिकारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः– 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषाम्–

'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥' इति ।

तथा प्रतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च ।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'

इत्यपि निगमो भवति । गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायत इति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिरिति च गौतमः ।

108 **हे परंतप शत्रुतापन तेषां चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानीतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः ब्राह्मण्यादिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वादिभिः । तथाहि– ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रज ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रज ईहास्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमो मूढस्वभावत्वात् ।**

---

107 प्रकृत में 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' – यह जो तीन पदों का समास किया गया है वह द्विज होने से उनकी वेदाध्ययन आदि तुल्यधर्मता का कथन करने के लिए है । 'शूद्राणाम्' – इस पद का पृथक् प्रयोग एकजाति होने से उनका वेद में अनधिकार सूचित करने के लिए है । इसीप्रकार वसिष्ठ ने भी कहा है – "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र – ये चार वर्ण हैं, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, क्योंकि उनका 'प्रथम जन्म माता से होता है और द्वितीय जन्म मौञ्जीबन्धन होने पर होता है, इस समय उनकी माता सावित्री होती है और पिता 'आचार्य' कहा जाता है' । तथा स्थानविशेष के कारण चारों वर्णों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं, – ऐसा वेद में कहा है –

"ब्राह्मण इस ब्रह्मा का मुख था, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ थी, जो वैश्य है वह इसकी जघाएँ हैं तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ है" ।

'गायत्री से ब्राह्मण को रचा, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय, जगती से वैश्य को उत्पन्न किया, किन्तु शूद्र को किसी भी छन्द से उत्पन्न नहीं किया अतएव उसको संस्कारहीन जाना जाता है' और 'शूद्र चतुर्थ वर्ण है और एकजाति है' – ऐसा गौतम का भी कथन है ।

108 हे परन्तप[148] ! हे शत्रुतापन ! उन चारों ही वर्णों के कर्म प्रविभक्त = प्र – प्रकर्ष से विभक्त = एक-दूसरे के विभाग से व्यवस्थित हैं । किनसे विभक्त हैं ? स्वभाव से उत्पन्न गुणों से प्रविभक्त – व्यवस्थित हैं अर्थात् ब्राह्मणादि स्वभाव के प्रभव – हेतुभूत सत्त्वादि गुणों से विभक्त हैं, जैसे – ब्राह्मणस्वभाव का प्रभव – हेतु सत्त्वगुण ही है, क्योंकि दोनों ही प्रशान्त – अत्यन्त शान्त हैं; क्षत्रियस्वभाव का प्रभव सत्त्वोपसर्जन -- सत्त्व की गौणतापूर्वक रजोगुण है, क्योंकि वह ईश्वर--शक्तिसम्पन्नस्वभाव है; वैश्यस्वभाव का प्रभव तमोगुण की गौणतापूर्वक रजोगुण है, क्योंकि वह ईहा -- चेष्टाशील होता है; तथा शूद्रस्वभाव का हेतु रजोगुण की गौणतापूर्वक तमोगुण है, क्योंकि वह मूढस्वभाव होता है ।

---

148. क्षत्रियस्वभाव से उत्पन्न शत्रुतापनरूप कर्म का त्याग करना संभव नहीं है, तुम उसको अङ्गीकार करने के योग्य हो – यह सूचित करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को हे परन्तप ! – यह सम्बोधन किया है ।

109 अथवा मायाख्या प्रकृतिः स्वभावस्तत उपादानात्प्रभवो येषां तैः। प्रागभवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन प्रभवो येषामिति वा। शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते। आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणीति न्यायात्। तथा हि गौतमः – 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं, ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु। राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचमाचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारवृत्तिः परिचर्योत्तरेषाम्' इति।

110 अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः। पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमोऽवश्यकर्तव्यत्वं नतु प्रवचनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः। वणिग्वाणिज्यं, कुसीदं वृद्ध्यै धनप्रयोगः। उत्तरेषामिति श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः। वसिष्ठोऽपि– 'षट्कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत्। एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च। तेषां परिचर्या

109 अथवा, – 'माया' संज्ञावाली प्रकृति ही स्वभाव है, उस उपादान से ही प्रभव – उत्पत्ति हुई है जिनकी उन गुणों से; अथवा -- पूर्वजन्म का संस्कार वर्तमान जन्म में अपने फल की अभिमुखतापूर्वक अभिव्यक्त होने पर स्वभाव होता है, वह निमित्तरूप से प्रभव-- उत्पत्तिस्थान है जिनका उन गुणों से; शास्त्र भी पुरुषस्वभाव सापेक्ष होने से शास्त्र से प्रविभक्त हुए भी कर्म प्रविभक्त कहे जाते हैं, इसमें 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणी' = 'अधिकारी की शक्ति अर्थ का बोधन करनेवाले आख्यातों की सहकारिणी होती है'– यह न्याय प्रमाण है। ऐसा ही गौतम ने कहा है -- 'अध्ययन, इज्या, और दान – ये द्विजातियों के धर्म हैं; प्रवचन, याजन-यज्ञ कराना और प्रतिग्रह – दानग्रहण करना-- ये ब्राह्मण के अधिक धर्म हैं। पूर्व धर्मों में तो नियम-विधि है। सब प्राणियों की रक्षा करना और न्यायानुसार दण्ड देना – ये क्षत्रिय के अधिक धर्म हैं। कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद-व्याज लेना-- ये वैश्य के अधिक धर्म हैं। शूद्र चतुर्थ वर्ण है और एकजाति है, उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच और आचमन के लिए हाथ-पैर धोना -- ये धर्म हैं; किन्हीं का कथन है कि श्राद्धकर्म, भृत्यभरण, स्वदारवृत्ति औ उत्तर वर्णों की परिचर्या -- सेवा करना– ये शूद्र के धर्म हैं।'

110 यहाँ साधारण और असाधारण धर्म कहे गये हैं। पूर्व में उक्त अध्ययन, इज्या और दानरूप जो कर्म हैं उनमें नियम अर्थात् अवश्यकर्तव्यता है, किन्तु प्रवचन, याजन और प्रतिग्रह में नियम नहीं है, क्योंकि ये कर्म वृत्ति -- आजीविका के लिए ही होते हैं -- यह अर्थ है। 'वणिज्' वाणिज्य – व्यापार को कहते हैं, 'कुसीद' वृद्धि के लिए धन का प्रयोग करना है। 'उत्तरेषाम्' – इसका अर्थ है 'श्रेष्ठानां द्विजातीनाम्' = 'श्रेष्ठ द्विजातियों की' परिचर्या करना शूद्रधर्म है। वसिष्ठ ने भी कहा है -- 'ब्रह्मण के छः कर्म हैं -- अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान और प्रतिग्रह। क्षत्रिय के तीन कर्म हैं – अध्ययन, यज्ञ और दान; शस्त्र से प्रजा का पालन करना – यह क्षत्रिय का स्वधर्म है, इससे ही क्षत्रिय को अपनी जीविका का निर्वाह करना चाहिए। अध्ययन, यज्ञ और दान -- ये ही तीन वैश्य के भी धर्म हैं, इनके अतिरिक्त कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद-- ये वैश्य के स्वधर्म हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य -- इन सबकी परिचर्या-सेवा करना शूद्र का धर्म

शूद्रस्य' इति । आपस्तम्बोऽपि– 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् । स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छाद्यन्यच्चा–परिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाय युद्धदण्डाधिकानि । क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्याधिकम् । परिचर्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्' इति ।

111 मनुरपि–

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥' इति

एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन कर्माणि प्रविभक्तानि ॥ 41 ॥

112 तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ 42 ॥

है' । आपस्तम्ब ने भी कहा है – 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-- ये चार वर्ण हैं, इनमें पूर्व-पूर्व जन्म से श्रेष्ठ है । ब्राह्मण के स्वकर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान, प्रतिग्रहण, दायाद्य – पैतृक सम्पत्ति को स्वीकार करना, शिलोञ्छवृत्ति से निर्वाह करना और अपरिग्रहपूर्वक अन्य कर्म करना हैं । क्षत्रिय के भी अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह – इन धर्मों को छोड़कर ये ही उक्त धर्म हैं, इनके अतिरिक्त क्षत्रिय के युद्ध और दण्ड – ये स्वधर्म हैं । वैश्य के भी दण्ड और युद्ध – इन कर्मों को छोड़कर क्षत्रिय के समान ही धर्म हैं, इनके अतिरिक्त उसके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य – ये स्वधर्म हैं । अन्य वर्णों की परिचर्या – सेवन करना – यह शूद्र का धर्म है' ।

111 मनु ने भी कहा है –

"अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह --- ये छः कर्म ब्राह्मणों के लिए नियत किये गये हैं । प्रजा की रक्षा करना, दान, इज्या, अध्ययन, विषयों में आसक्ति न होना – संक्षेप में ये कर्म क्षत्रिय के हैं । पशुओं का पालन, दान, इज्या, अध्ययन, वाणिज्य – व्यवसाय, कुसीद और कृषि – ये कर्म वैश्य के हैं । ईश्वर ने शूद्र के लिए एक ही कर्म का आदेश किया है कि वह इन उत्तर तीन वर्णों की ईर्ष्यारहित होकर सेवा शुश्रूषा करे" (मनुस्मृति, 1.88-89) ।

इसप्रकार चारों ही वर्णों के गुणभेद से कर्म विभक्त किये गये हैं ।। 41 ।।

112 उनमें ब्राह्मण के स्वाभाविक गुणों द्वारा होनेवाले कर्मों को कहते हैं :--

[शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति-क्षमा, आर्जव-सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता – ये ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं ।। 42 ।।]

113 शमोऽन्तःकरणोपरमः । दमो बाह्यकरणोपरमः प्रागुक्तः । तपः शारीरादि देवद्विजगुरु-प्राज्ञेत्यादावुक्तम् । शौचमपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रागुक्तम् । क्षान्तिः क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकारराहित्यं प्राग्व्याख्यातम् । आर्जवमकौटिल्यं प्रागुक्तम् । ज्ञानं साङ्गवेदतदर्थविषयम् । विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशल्यं ब्रह्मकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यानुभवः । आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा प्रागुक्ता । एतच्छमादिनवकं स्वभावजं सत्त्वगुणस्वभावकृतं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म । यद्यपि चतुर्णामपि वर्णानां सात्त्विकावस्थायामेते धर्माः संभवन्ति तथाऽपि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति सत्त्वस्वभावत्वात्तस्य । सत्त्वोद्रेकवशेन त्वन्यत्रापि कदाचिद्भवन्तीति शास्त्रान्तरे साधारणधर्मतयोक्ताः । तथा च विष्णुः–

> 'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।
> अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥
> आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
> अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥' इति ।

सामान्यश्चतुर्णामपि वर्णानां तथा प्रायेण चतुर्णामप्याश्रमाणामित्यर्थः ।

114 तथा बृहस्पतिः–

> 'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।
> अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥

---

113 'शम' अन्तःकरण की उपरति है, 'दम' बाह्य इन्द्रियों की उपरति है जिसको पूर्व में कहा जा चुका है, 'तप' शारीरादि हैं जिनको 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' (गीता, 17.14-16) – इत्यादि में कहा गया है, 'शौच' बाह्य और आभ्यन्तर भेद से पूर्व में कहा गया है, 'क्षान्ति' क्षमा है -- आक्रुष्ट अथवा ताडित हुए पुरुष का मन में विकाररहित होना है जिसकी पूर्व में व्याख्या की जा चुकी है, 'आर्जव' अकुटिलता है जिसको पूर्व में कहा जा चुका है, 'ज्ञान' अङ्गों सहित वेद और उसके अर्थ को विषय करनेवाला है, 'विज्ञान' कर्मकाण्ड में उक्त यज्ञादि कर्मों में कुशलता और ब्रह्मकाण्ड – ज्ञानकाण्ड में उपदिष्ट ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव है, 'आस्तिक्य' पूर्वोक्त सात्त्विकी श्रद्धा है । ये शमादि नौ स्वभावज = स्वाभाविक – सत्त्वगुण स्वभाव से होनेवाले 'ब्रह्मकर्म' = ब्राह्मण जाति के कर्म हैं । यद्यपि सात्त्विक अवस्था में ये धर्म चारों ही वर्णों के हो सकते हैं, तथापि ये बहुलता से ब्राह्मण में ही होते हैं, क्योंकि वह सत्त्वस्वभाव होता है । सत्त्वगुण के उद्रेक-उपचय-आधिक्य से तो ये गुण कदाचित् अन्यत्र = अन्य वर्णों में भी होते हैं – इसप्रकार अन्य शास्त्रों में इनको साधारण धर्मरूप से कहा गया है । ऐसा ही विष्णु ने कहा है –

'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थसेवन, दया, आर्जव -- सरलता, लोभशून्यता, देवता और ब्राह्मणों का पूजन और असूयारहित होना– ये सामान्य धर्म कहे जाते हैं ।' यहाँ 'सामान्य' का अर्थ है कि ये धर्म चारों वर्णों में तथा प्रायः चारों आश्रमों में भी 'सामान्य' हैं ।

114 इसीप्रकार बृहस्पति ने भी कहा है :--

''दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहत्व – ये सर्वसाधारण धर्म हैं । पर – अन्य हो अथवा बन्धुवर्ग हो, मित्र हो अथवा द्वेष्टा – शत्रु हो, उनके आपत्तिग्रस्त होने पर सदा उनकी रक्षा करनी चाहिए -- यह 'दया' कही जाती है । बाह्य अथवा आध्यात्मिक --

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥
बाह्ये चाऽऽध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः ।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ।
शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा ।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् ।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥
यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना ।
परस्याचिन्तयित्वाऽर्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥' इति ।

एत एवाष्टावात्मगुणत्वेन गौतमेन पठिताः-- 'अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' इति । तथा महाभारते--

'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥

आन्तरिक दुःख उत्पन्न कर दिये जाने पर क्वचित् न क्रोध करता है अथवा न आघात ही करता है -- वह 'क्षमा' कही गई है । जो गुणी के गुणों का हनन नहीं करता है, अल्प गुणवालों की भी स्तुति करता है और दूसरों के दोषों में सुख ही मानता है -- यह 'अनसूया' कहीं जाती है । अभक्ष्य का परिहार -- त्याग, गुणहीनों का संसर्ग न करना और स्वधर्म में व्यवस्थित रहना -- यह 'शौच' कहा गया है । जिस अत्यन्त शुभ भी कर्म से शरीर को पीडा हो उसको नहीं करना चाहिए -- यह 'अनायास' कहा जाता है । नित्य -- सर्वदा प्रशस्त-श्रेष्ठ आचरण करना और अप्रशस्त -- निन्द्य आचरण का त्याग करना -- इसको तत्त्वदर्शी मुनियों ने 'मंगल' कहा है । अपने पास थोडी ही वस्तु हो तो भी दीनताशून्य हृदय से उसमें से दिन -- प्रतिदिन जो कुछ भी दे दी जाय -- वह 'अकार्पण्य' कहा जाता है । दूसरे के द्रव्य का चिन्तन न करते हुए अपने को जो कुछ वस्तु भी प्राप्त हो उसी से संतोष करना चाहिए -- यह 'अस्पृहा' कही गई है ।"

इन आठ गुणों को ही गौतम ने आत्मगुणरूप से कहा है -- 'आत्मा के आठ गुण हैं -- सब प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा' । इसी प्रकार महाभारत में कहा है --

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं संकरवर्जनम् ।
संतोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥' इति ।

115 देवलः--

'शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया ।
विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः ॥ इति ।

तथा--

'व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः ।
प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ॥
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम् ।
यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥
धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ।
विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति ॥' इति ।

शेषं व्याख्यातप्रायमिति वचनानि न लिखितानि । याज्ञवल्क्यः--

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति ।

इयं च सर्वा दैवी संपत्प्राग्व्याख्याता ब्राह्मणस्य स्वाभाविकीतरेषां नैमित्तिकीति न विरोधः ॥ 42 ॥

"सत्य, दम, तप शौच, सन्तोष, ह्री-लज्जा, क्षमा, आर्जव-सरलता, ज्ञान, शम, दया और ध्यान -- ये सनातन धर्म हैं । 'सत्य' प्राणियों के हित को कहा गया है, 'दम' मन का दमन करना है, 'तप' स्वधर्म में तत्पर रहना है, 'शौच' संकरता का त्याग है, 'सन्तोष' विषय का त्याग है, 'ह्री' न करने योग्य कर्म से दूर रहना है, 'क्षमा' द्वन्द्वसहिष्णुता है, 'आर्जव' समचित्तता है, 'ज्ञान' तत्त्वार्थ का संबोध है, 'शम' चित्त की अत्यन्त शान्ति है, 'दया' प्राणियों का हितैषी होना है और 'ध्यान' मन का निर्विषय होना है ।"

115 देवल ऋषि कहते हैं :--

'शौच, दान, तप, श्रद्धा, गुरुसेवा, क्षमा, दया, विज्ञान विनय और सत्य -- यह धर्म का समुच्चय है ।"

तथा --

"व्रत और उपवास के नियमों से शरीर को संतप्त करना 'तप' है, धर्मकार्यों में विश्वास रखना 'श्रद्धा' कही जाती है, क्योंकि जो श्रद्धाहीन है उसको धर्मसम्बन्धी कृत्यों से प्रयोजन नहीं होता है । वैदिकी और लौकिकी -- सब विद्याओं का जो सर्वश: धारण करना है वह 'विज्ञान' कहा जाता है । निरन्तर शम और दम रखना -- यह दो प्रकार का 'विनय' कहा गया है ।"

116 क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्[149] ।
दानमीश्वरभावश्च[150] क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ 43 ॥

117 शौर्यं विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः । तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वम् । धृतिर्महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादः । दाक्ष्यं दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः । युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः । दानमसंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादनम् । ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणं च । क्षत्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म, स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् ॥ 43 ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ 44 ॥

118 कृषिरन्नोत्पत्त्यर्थं भूमेर्विलेखनम् । गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यम् । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमप्यत्रान्तर्गमनीयम् । वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म, स्वभावजं तमउप-

---

शेष धर्मों की व्याख्या तो प्राय: हो चुकी है अतएव उन अविशिष्ट धर्मों की व्याख्या करनेवाले देवल ऋषि के वचनों को नहीं लिखा गया है । याज्ञवल्क्य कहते हैं :–
“इज्या, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय – इन सब धर्मों के होते हुए भी योग द्वारा जो आत्मदर्शन – आत्मसाक्षात्कार करना है यह परम धर्म है ।”
यह सब दैवीसम्पत्, जिसकी पूर्व में व्याख्या हो चुकी है, ब्राह्मण में स्वाभाविकरूप से ही होती है, दूसरों में तो यह नैमित्तिकरूप से होती है, अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ 42 ॥

116 क्षत्रिय के गुणस्वभावकृत कर्मों को कहते हैं :--
[शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य -- कुशलता, युद्ध में पलायन न करना, दान और ईश्वरभाव -- ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ 43 ॥]

117 'शौर्य' विक्रम -- पराक्रम है अर्थात् अपने से अधिक बलवानों पर भी प्रहार करने की प्रवृत्ति है, 'तेज' प्रागल्भ्य – प्रगल्भता अर्थात् दूसरों से तिरस्कृत न होना है, 'धृति' महान् विपत्ति में भी देह और इन्द्रिय के संघात का शिथिल न पड़ना है, 'दाक्ष्य' दक्षभाव है अर्थात् सहसा प्रत्युत्पन्न --उपस्थित हुए कार्यों में अव्यामोहपूर्वक प्रवृत्ति है, 'युद्ध में पलायन न करना' = पराङ्मुख न होना अर्थात् न भागना है, 'दान' बिना संकोच के धन में अपने स्वत्व का परित्याग कर दूसरे के स्वत्व का आपादन करना है, तथा 'ईश्वरभाव' प्रजापालन के लिए ईशितव्य -- शासन के योग्य पदार्थों में प्रभुशक्ति -- शासनशक्ति को प्रकट करना है -- ये स्वभावज अर्थात् सत्त्व की गौणतापूर्वक रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुए क्षत्रकर्म = क्षत्रिय जाति के विहित कर्म हैं ॥ 43 ॥
[कृषि, गोरक्षा करना और वाणिज्य -- ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा परिचर्यात्मक -- सेवारूप कर्म शूद्र का भी स्वाभाविक है ॥ 44 ॥]

---

149. चकार से 'युद्ध से पराङ्मुख होनेवाले को न मारना' भी ग्रहण होता है ।
150. चकार अनुक्त क्षत्रिय धर्मों के समुच्चय के लिए है ।

सर्जनरजोगुणस्वभावजम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं रजउपसर्जनतमोगुणस्वभावजम् ॥ 44 ॥

119 तदेवं वर्णानां स्वभावजा गौणाख्या धर्मा अभिहिताः । अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वाम्नाताः । तदुक्तं भविष्यपुराणे--

'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् ।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥

---

118 'कृषि' अन्न की उत्पत्ति के लिए भूमि का जोतना है, गोरक्ष का भाव गौरक्ष्य[151] है अर्थात् पाशुपाल्य है = पशुपालन है, वाणिज्य = वणिज् – वाणिक-वैश्य का क्रय-विक्रयादि स्वरूप कर्म है, 'कुसीद' -- व्याज लेना भी इसी वाणिज्य के अन्तर्गत समझना चाहिए – ये स्वभावज अर्थात् तमोगुण की गौणतापूर्वक रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुए वैश्यकर्म अर्थात् वैश्य जाति के कर्म हैं । परिचर्यात्मक = द्विजातियों की शुश्रूषात्मक -- सेवारूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज अर्थात् रजोगुण की गौणतापूर्वक तमोगुण स्वभाव से उत्पन्न हुआ है ॥ 44 ॥

119 इसप्रकार वर्णों के गौणसंज्ञक स्वभावज धर्म कहे गये, शास्त्रों में अन्य धर्म भी कहे गये हैं, जैसा कि भविष्यपुराण में कहा है :--
''धर्म' श्रेय कहा गया है और 'श्रेय' अभ्युदयस्वरूप है । वह वेदमूलक सनातन धर्म तो पाँच प्रकार का कहा गया है :– एक तो 'वर्णधर्म' कहा गया है, दूसरा 'आश्रमधर्म' है, तीसरा 'वर्णाश्रम' धर्म है तथा गौण और नैमित्तिक – दो धर्म और हैं । उसमें, हे राजन् ! जो धर्म एक वर्णत्व का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है वह 'वर्णधर्म' कहा गया है, जैसे-- उपनयन संस्कार है । जो अधिकार=धर्म आश्रम का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है वह 'आश्रमधर्म' है, जैसे -- भिक्षा, दण्डग्रहण आदि हैं । जो वर्णत्व और आश्रमत्व को अधिकृत कर प्रवृत्त होता है वह 'वर्णाश्रम' धर्म कहा जाता है, जैसे -- मौञ्जी आदि की मेखला है । जो धर्म गुण द्वारा प्रवृत्त हो वह 'गुणधर्म' कहा जाता है, जैसे-- मूर्धाभिषिक्त राजा के लिए प्रजा का पालन करना है । जो धर्म एक निमित्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है उसको 'नैमित्तिक' जानना चाहिए, जैसे -- प्रायश्चित्त विधि है ।''

---

151. गां रक्षतीति गोरक्षः तस्य भावो गौरक्ष्यं अर्थात् पाशुपाल्यम् = जो गो की रक्षा करता है वह गोरक्ष है, उसका भाव गौरक्ष्य अर्थात् पाशुपाल्य – पशुपालन है ।

निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ।।' इति ।

अधिकारोऽत्र धर्मः ।

120 चतुर्विधं धर्ममाह हारीतः— 'अथाऽऽश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः समानधर्मः कृत्स्नधर्मश्च' इति । पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चातुर्वर्ण्यधर्मः । स्वाश्रमविशेषानुष्ठानाद्विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयायावरानुज्ञायिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम् । सर्वेषां यः समानो धर्मः स समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्स्नधर्म इति । नैष्ठिको ब्रह्मचारिविशेषः । यायावरो गृहस्थविशेषः । आनुज्ञायिको वानप्रस्थविशेषः । चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः । सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च । तत्राऽऽद्यो यथा महाभारते—

'आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता ।
श्राद्धकर्माऽऽतिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता ।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ।।' इति ।

सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः । निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिको मोक्षहेत्वात्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्स्नधर्म नत्यर्थः ।

121 आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आम्नाताः । यथाऽऽह गौतमः— 'तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः इति । आपस्तम्बः — 'चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं

यहाँ 'अधिकार' शब्द का अर्थ 'धर्म' है ।

120 हारीत ऋषि ने धर्म को चार प्रकार का कहा है -- 'आश्रमियों के पृथक्-पृथक् धर्म, विशेषधर्म, समानधर्म और कृत्स्न धर्म' । पृथक्-पृथक् आश्रम के अनुष्ठान से 'पृथक्-धर्म' कहलाता है, जैसे -- चारों वर्णों का धर्म है । अपने आश्रमविशेष के अनुष्ठान से 'विशेषधर्म' होता है, जैसे -- नैष्ठिक, यायावर, आनुयाज्ञिक और चातुराश्रम्य-सिद्धों का धर्म है । जो सबका समानधर्म है वह 'समानधर्म' कहलाता है और नैष्ठिक -- निष्काम धर्म 'कृत्स्नधर्म' है । 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी-विशेष होता है । 'यायावर' गृहस्थविशेष होता है । 'आनुयाज्ञिक' वानप्रस्थविशेष होता है । 'चातुराश्रम्य-सिद्ध' यतिविशेष होता है । यहाँ 'सर्वेषाम्' का अर्थ है -- जो सब वर्णों और आश्रमों का समान धर्म होता है वह 'समानधर्म' कहा जाता है । उनमें प्रथम जैसे महाभारत में कहा है --

'हे राजन ! आनृशंस्य-- मृदुता-दया, अहिंसा, अप्रमाद, दान, श्राद्धकर्म, आतिथेय, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में ही सन्तोष, शौच, नित्य अनसूयता-- सदा किसी के प्रति असूया-- ईर्ष्या न रखना, आत्मज्ञान और तितिक्षा-- ये साधारण धर्म हैं ।'

सब आश्रमों के लिए साधारण धर्म तो पूर्व में कहे जा चुके हैं । 'निष्ठा' संसार की समाप्ति को कहते हैं, वह निष्ठा जिसका प्रयोजन है वह 'नैष्ठिक' कहलाता है अर्थात् मोक्ष के हेतुभूत आत्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक प्रत्यवाय-- दुरित की निवृत्ति के लिए निष्काम कर्म का अनुष्ठान करना 'कृत्स्नधर्म' है ।

121 शास्त्रों में आश्रम चार कहे गये हैं, जैसा कि गौतम कहते हैं -- 'उसके आश्रमविकल्प को कोई

मौनं वानप्रस्थमिति तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इति । वसिष्ठः– 'चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाऽविशीर्ण-ब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्' इति । एवं तेषां पृथग्धर्मा अप्याम्नाताः । तथा फलमप्यज्ञाना-माम्नातम् । यथाऽऽह मनुः–

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥' इति ।

अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्ततत्तत्फलोपलक्षणार्थम् । आपस्तम्बः– 'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते' (इति) । गौतमः– 'वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति' [इति] । अत्र शेषशब्देन भुक्तज्योतिष्टोमादिकर्मातिरिक्तं चित्रादि-कर्मानुशयशब्दितमुच्यते नतु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितं 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' इत्यत्र । भट्टैरप्युक्तम्–

जन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस -- इसप्रकार बतलाते हैं' । आपस्तम्ब कहते हैं -- 'चार आश्रम हैं -- गार्हस्थ्य, आचार्यकुल-ब्रह्मचर्य, मौन-संन्यास और वानप्रस्थ । उन सबमें अव्यग्र चित्त से शास्त्रोपदेशानुसार वर्तमान -- वर्तनेवाला पुरुष क्षेम -- कल्याण को प्राप्त करता है' । वसिष्ठ कहते हैं :-- 'चार आश्रम हैं -- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक -- संन्यासी । इनमें से एक वेद, दो वेद अथवा तीन वेदों का अध्ययन कर अविशीर्ण -- अलुप्त -- अखण्डित ब्रह्मचर्य -- ब्रह्मचारी पुरुष जिसकी इच्छा करे उसी में रहे' । इसप्रकार उनके पृथक्-पृथक् धर्म भी कहे गये हैं, इसीप्रकार अज्ञों -- अज्ञानियों के लिए फल भी कहे गये हैं; जैसा कि मनु कहते हैं :-- 'जो मनुष्य श्रुति और स्मृति में कहे गये धर्म का आचरण करता है, वह इस लोक में कीर्ति -- यश और परलोक में अनुत्तम सुख पाता है' (मनुस्मृति, 2.9) । यहाँ 'अनुत्तम सुख' समय-समय पर प्राप्त होनेवाले उस-उस फल के उपलक्षण के लिए है । आपस्तम्ब कहते हैं -- 'सब वर्णों के पुरुषों को अपने-अपने धर्म का अनुष्ठान करने पर परम अपरिमित -- असीम सुख प्राप्त होता है और बाद में परिवर्तन होने पर भोगने से अवशिष्ट कर्मफल द्वारा जाति, रूप, वर्ण, बल, वृत्त, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य और धर्मानुष्ठान -- यह सब प्राप्त होता है' । गौतम कहते हैं -- 'अपने-अपने धर्म में निष्ठा रखनेवाले वर्ण और आश्रम मरने के पश्चात् कर्मफल का अनुभव कर शेष कर्मों के द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, सुख और मेधावाले होकर जन्म ग्रहण करते हैं तथा विपरीत आचरणवाले यथेच्छानुसारी पुरुष सब ओर से नष्ट होते हैं' । यहाँ 'शेष' शब्द से मुक्त ज्योतिष्टोमादि कर्मफल से अतिरिक्त 'अनुशय' शब्द से शब्दित चित्रादि[152] कर्म कहे जाते हैं, पूर्वकर्म का एक देश नहीं कहा जाता है -- यह सिद्धान्त है, ऐसा ही वेदान्त दर्शन में कहा गया है-- 'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (ब्रह्मसूत्र, 3.1.8)= 'कृत कर्म का अत्यय--

---

152. 'चित्रा' यागविशेष का नाम है । 'चित्रया यजेत पशुकामः' — यह एक विधि है, इसका अर्थ है – 'पशु को प्राप्त करने की इच्छावाले व्यक्ति को 'चित्रा' से यागानुष्ठान करना चाहिए' । यहाँ 'चित्रा' शब्द विचित्र गुण का वाचक है, जिस इष्टि में विचित्र द्रव्य हैं उस इष्टि का नाम 'चित्रा' है, वाक्यभेद – भीति से 'चित्रा' शब्द को नामधेय माना जाता है, अतएव 'चित्रया यजेत पशुकामः' विधि का अर्थबोध – वाक्य इसप्रकार होगा – 'चित्रायागेन पशुं भावयेत्' = 'चित्रा नामक याग से पशुफल का संपादन करे' ।

'गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तस्माच्चित्राद्यपेक्षया' इति ।

विष्वञ्चः सर्वतोगामिनो यथेष्टचेष्टा विपरीता नरकादौ जन्म प्रतिपद्य विनश्यन्ति कृमिकीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रश्यन्त इत्यर्थः । हारीतः–

'काम्यैः केचिद्यज्ञदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान्पुनरायान्ति जन्म ।
कामैर्मुक्ताः सत्ययज्ञाः सुदानास्तपोनिष्ठा अक्षयान्यान्ति लोकान् ॥' इति ।

122 अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः फलभेदो दर्शितो भविष्यपुराणे –

'फलं विनाऽप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलं विदुः ॥' इति ।

अन्य आपस्तम्बादयस्तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते इत्यादिवचनैरानुषङ्गिकफलतां नित्यकर्मणो विदुः । श्रुतिश्च– 'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिण उक्त्वा 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति तेषामन्तःकरणशुद्ध्यभावे मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तः-

---

विनाश होने पर अर्थात् किये हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से उपक्षय – विनष्ट होने पर अन्य सञ्चित कर्मरूप अनुशय – कर्माशय सहित ही जीव इस लोक में आते हैं अर्थात् जिस मार्ग से जाते हैं उससे विपरीत मार्ग द्वारा भी आते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष श्रुति और स्मृति से ऐसा ही जाना जाता है' । इसीप्रकार कुमारिल भट्ट ने भी कहा है -- 'गौतमीय शास्त्र में भी चित्रादि कर्म की अपेक्षा से ही कर्मशेष का निरूपण किया गया है' (श्लोकवार्तिक, चित्राक्षेपपरिहार, 16) । 'विष्वञ्च' का अर्थ है – सर्वतोगामी – सर्वगामी अर्थात् यथेष्ट चेष्टा करनेवाले विपरीत नरकादि में जन्म पाकर विनष्ट होते हैं अर्थात् कृमि-कीटादि भाव को पाकर सब पुरुषार्थों से भ्रष्ट होते हैं । हारीत ऋषि कहते हैं :–

'कोई जन काम्य यज्ञ, दान और तप के द्वारा पुण्यलोकों को प्राप्त करके पुनः जन्म पाते हैं, किन्तु कामनाओं से मुक्त हुए सत्ययज्ञ, सुदानी और तपोनिष्ठजन अक्षय लोकों को प्राप्त होते हैं' ।

122 यहाँ पर कामनाओं के होने और न होने के कारण जो फलभेद दिखाया गया है उसको भविष्यपुराण में इसप्रकार कहा है –

'फल -- फलकामना के बिना भी नित्य कर्मों का अनुष्ठान स्पष्ट अभिलषित है । काम्य कर्मों का अनुष्ठान तो अपने अभीष्ट फल के लिए और दोष की निवृत्ति के लिए ही है । नैमित्तिक कर्मों के करने पर तीन प्रकार का कर्मफल होता है -- कोई जन तो उसका फल उपात्त -- प्राप्त हुए दुरित -- पाप का क्षय -- नाश कहते हैं; अन्य जन प्रत्यवाय -- पाप की अनुत्पत्ति मानते हैं; और अन्य कोई जन नित्य क्रिया को ही उसका आनुषङ्गिक फल समझते हैं' ।

अन्य अर्थात् आपस्तम्बादि 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते' -- इत्यादि वचनों के द्वारा नित्य कर्मों की आनुषङ्गिकफलता समझते हैं । श्रुति ने भी-- 'तीन धर्म के स्कन्ध हैं :-- यज्ञ, अध्ययन और दान--

करणानामेषामेव परिव्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह– 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति। तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसंधित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ 45 ॥

123 स्वे स्वे तत्तद्वर्णाश्रमविहिते नतु स्वेच्छामात्रकृते कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदितेऽभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंघातस्याशुद्धिक्षयेन सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरो वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्यो मनुष्याधिकारित्वात्कर्मकाण्डस्य । देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावाद्युक्त एव तद्धर्मेष्वनधिकारः । वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तेषामप्यस्तीति साधितं देवताधिकरणे । ननु बन्धहेतूनां कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वमुपायविशेषादित्याह–स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण विन्दति तच्छृणु श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः ॥ 45 ॥

यह प्रथम स्कन्ध है, तप ही द्वितीय स्कन्ध है, तथा ब्रह्मचर्य से ही आचार्य कुल में रहनेवाला अर्थात् अर्थात् आचार्यकुल में ही अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देनेवाला तृतीय स्कन्ध है' -- इसप्रकार गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी का निरूपण करके 'ये सब पुण्यलोक के भागी होते हैं' -- इसप्रकार उनके अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर उनके मोक्ष का अभाव कहकर इन्हीं शुद्धान्तःकरणों का परिव्राजकभावपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष कहा है -- 'ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ पुरुष अमृतत्व को प्राप्त होता है' । इसप्रकार ऐसा निश्चय होने पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा मुमुक्षु फलाभिसन्धि – फलेच्छा का त्याग कर भगवदर्पण बुद्धि से --

[अपने-अपने अधिकार के अनुसार कर्मों में अभिरत -- अच्छी प्रकार रत हुआ नर संसिद्धि को प्राप्त होता है, अपने कर्म में निरत -- रत हुआ पुरुष जिसप्रकार सिद्धि को प्राप्त होता है वह तुम सुनो ॥ 45 ॥]

123 अपने-अपने अर्थात् उस-उस वर्ण और आश्रम के लिए विहित, न कि स्वेच्छामात्रकृत, श्रुति --स्मृति द्वारा उदित -- उक्त कर्म में अभिरत = सम्यक्-अनुष्ठानपर अर्थात् भलीभाँति उसके अनुष्ठान में तत्पर हुआ नर संसिद्धि = देह और इन्द्रियों के संघात की अशुद्धि के क्षयद्वारा सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति -- तत्त्वज्ञानोत्पत्ति की योग्यता को प्राप्त होता है । 'नर' वर्णाश्रम का अभिमानी मनुष्य है, क्योंकि कर्मकाण्ड का अधिकारी मनुष्य ही है । देवता आदि वर्णाश्रमाभिमानी नहीं होते हैं अतएव उनका उनके धर्मों में अनधिकार -- अधिकार न होना उचित ही है । वर्णाश्रमाभिमान की अपेक्षा से शून्य उपासनादि में तो उन देवताओं का भी अधिकार है – यह वेदान्तसूत्र के देवताधिकरण[153] में सिद्ध किया गया है । यदि आशंका हो कि बन्धन के हेतुभूत कर्मों की मोक्ष में हेतुता कैसे है ? तो उत्तर है कि उपायविशेष से वे कर्म मोक्ष में हैं -- यह श्लोकार्ध से कहते हैं :-- स्वकर्म अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्म में निरत -- तत्पर हुआ नर जिसप्रकार उपर्युक्त अर्थात् तत्त्वज्ञानोत्पत्ति की योग्यतास्वरूप सिद्धि को प्राप्त होता है वह तुम सुनो और सुनकर उस प्रकार -- उपाय को हृदय में धारण करो -- यह भावार्थ है ॥ 45 ॥

153. वेदान्तसूत्र के देवताधिकरण में पूर्वपक्ष के निराकरणपूर्वक यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध अर्थवाद और मन्त्र-पुराण-इतिहासादि से देवताओं के देहवत्त्व सिद्ध होने से और देही होने पर अर्थित्वादि के भी सुलभ होने से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, क्योंकि उन देवताओं को अपने अन्तःकरण में विद्यमान ब्रह्म की उपासना की लिप्सा होती है अतएव कल्पान्तर में भी वे स्वाधिकारपूर्वक ब्रह्म की उपासना करते हैं ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ 46 ॥

124 यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात् । तथा च श्रुतिः -- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' [इति] । अत्र यत इति प्रकृतौ पञ्चमी । यतो येनेति चैकत्वं विवक्षितम् । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।' इति च तस्य निर्णयवाक्यम् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इयादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः । एवं च श्रौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः-- यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततमिति । तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः । देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः ॥ 46 ॥

[जिससे आकाशादि भूतों की प्रवृत्ति -- उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब दृश्यसमूह व्याप्त है उस अन्तर्यामी भगवान् की अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृति विहित कर्मों से अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त होता है ।। 46 ।।]

124 जिस उपादानकारणरूप मायोपाधिक चैतन्य, आनन्दघन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर और निमित्त-कारणरूप सर्वान्तर्यामी से स्वप्न के रथादि के समान भूतों = उत्पत्तिधर्मा आकाशादि की प्रवृत्ति = मायामयी उत्पत्ति हुई है तथा जिस एक से यह सब दृश्यसमूह सद्रूप और स्फुरणरूप से तीनों कालों में तत-- व्याप्त है = अपने आत्मा में ही अन्तर्भावित है, कारण कि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होता है । इसीप्रकार श्रुति भी कहती है -- 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं और जिसमें जाकर लीन हो जाते हैं, उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है' (तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.1) । यहाँ 'यतः'-- इसमें प्रकृति = हेतु में पञ्चमी है[154] । 'यतः' और 'येन' -- इन दोनों पदों से हेतु = कारण का एकत्व विवक्षित है । 'आनन्द ब्रह्म है -- ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय ही आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' -- यह उसका निर्णय वाक्य है । 'माया को तो प्रकृति जानो और मायी को महेश्वर जानो' (श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.10) -- इत्यादि अन्य श्रुति से उसकी मायोपाधि की प्राप्ति होती है । 'जो सर्वज्ञ, सर्ववित् है' -- इत्यादि अन्य श्रुति से उसके सर्वज्ञत्वादि की प्राप्ति होती है । इसप्रकार भगवान् ने 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' -- यह श्रौत अर्थ ही प्रकाशित किया है । उस अन्तर्यामी भगवान् की स्वकर्म अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति--स्मृतिविहित कर्म से अर्चना करके अर्थात् उसको संतुष्ट करके मानव उसके प्रसाद से ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठा की योग्यतास्वरूप सिद्धि को अर्थात् अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त होता है, देवता आदि तो उपासनामात्र से इस सिद्धि को प्राप्त होते हैं -- यह भाव है ।। 46 ।।

154. हेतु अर्थ में पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती है (हेतौ, पाणिनिसूत्र, 2.3.23) ।

125 यतः स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्विषम् ॥ 47 ॥

126 परधर्मात्सम्यगनुष्ठितादपि श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि । तस्मात्क्षत्त्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धादिरेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षाटनादिरित्यभिप्रायः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्बन्धुवधादिप्रत्यवायहेतुत्वान्नानुष्ठेय इति नेत्याह–स्वभावनियतं पूर्वोक्तं शौर्यं तेज इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन्किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति । तथा च प्राग्व्याख्यातं 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र । विहितज्योतिष्टोमाङ्गपशुहिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि प्रत्यवायहेतुत्वाभावात् । तथा चोक्तमधस्तात् ॥ 47 ॥

127 यस्मादेवं विहितहिंसादेर्न प्रत्यवायहेतुत्वं परधर्मश्च भयावहः सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि तस्मादज्ञो वर्णाश्रमाभिमानी –

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥ 48 ॥

128 हे कौन्तेय सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि विहितहिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेदन्तः– करणशुद्धेः प्राग्भवानन्यो वा । नह्यनात्मज्ञः कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकृत्वा स्थातुं शक्नोति ।

---

125 क्योंकि मनुष्यों का स्वधर्म ही भगवान् के प्रसाद का हेतु है, इसलिए –
[सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा विगुण = असम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत कर्म को करते हुए मनुष्य को पाप का भागी नहीं होना होता है ॥ 47 ॥]

126 सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी परधर्म की अपेक्षा विगुण = असम्यक् प्रकार से अनुष्ठित भी स्वधर्म श्रेयान् = प्रशस्यतर अर्थात् अधिक अच्छा है, इसलिए क्षत्रिय होते हुए तुमको युद्धादि स्वधर्म ही अनुष्ठेय है, भिक्षाटनादि परधर्म अनुष्ठेय नहीं है – यह अभिप्राय है । यदि कहो कि बन्धुवधादिस्वरूप युद्धादि स्वधर्म भी प्रत्यवाय-पाप का हेतु होने से अनुष्ठेय नहीं है, तो ऐसा नहीं है – यह कहते हैं :-- स्वभावनियत = पूर्वोक्त शौर्य, तेज इत्यादि स्वभावज – स्वभाव से जनित युद्धादि कर्म को करते हुए मनुष्य बन्धुवधादि निमित्तक किल्विष -- पाप को प्राप्त नहीं करता है, इसप्रकार 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (गीता, 2.38) – इत्यादि स्थल पर पूर्व में ही व्याख्या कर चुके हैं, क्योंकि विहित 'ज्योतिष्टोम' याग की अङ्गभूता पशुहिंसा के समान विहित कर्म युद्ध ही अङ्गभूता बन्धुहिंसा भी प्रत्यवाय -- पाप की हेतु नहीं होती है । इसीप्रकार अधस्तात् – नीचे कहा है ॥ 47 ॥

127 क्योंकि इसप्रकार विहित हिंसादि प्रत्यवाय -- दुरित का हेतु नहीं है और परधर्म भयावह = भय की प्राप्ति करानेवाला है तथा सामान्यदोष से सब कर्म दुष्ट हैं, इसलिए अज्ञ--अज्ञानी वर्णाश्रमाभिमानी को--
[हे कौन्तेय ! सहज कर्म का, सदोष होने पर भी, त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि अग्नि जैसे धूम से आवृत-- आच्छादित रहती है वैसे ही सब आरम्भ -- कर्म दोष से आच्छादित ही रहते हैं ॥ 48 ॥]

128 हे कौन्तेय[155] ! आपको अथवा किसी दूसरे को अपने सहज = स्वभावज -- स्वाभाविक कर्म युद्धादि अथवा ज्योतिष्टोमादि का, सदोष होने पर भी = विहित हिंसायुक्त होने पर भी, अन्तःकरण की

न च परधर्माननुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते । सर्वारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वे हि यस्माद्दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनाऽऽवृता व्याप्ताः सदोषा एव । तथा च प्राग्व्याख्यातं ‘ परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः’ इति । तस्मादगत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन्विषजकृमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुवधादिनिमित्तत्वेन विशेषेण च सदोषमपि न त्यजेत्सर्वकर्मत्यागासमर्थत्वात् । सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्त्यजेदेवेत्यभिप्रायः ॥ 48 ॥

129 **कः पुनः सर्वकर्मत्यागसमर्थः, यो नित्यानित्यवस्तुविवेकजेनेहामुत्रार्थभोगवैराग्येण शमदमादिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः स स्वेष्टमोक्षहेतुब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तच्छेषभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिस्मृतिविहितं कुर्यादेव । ‘तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्’ इति श्रुतेः । ‘सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्’ इति । स्मृतेश्च । उपरतस्त्यक्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनाय**

शुद्धि होने से पहले त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि कोई भी अनात्मज्ञ पुरुष क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है और न परधर्म का अनुष्ठान न करते हुए भी दोष से मुक्त हो सकता है, कारण कि सर्वारम्भ = सब आरम्भ – कर्म अर्थात् स्वधर्म और परधर्म सब त्रिगुणात्मकरूप सामान्य दोष से आवृत -- व्याप्त हैं अर्थात् दोषयुक्त ही हैं । इसीप्रकार पूर्व में भी व्याख्या की गई है – ‘परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:’ (योगसूत्र, 2.15) = ‘क्योंकि परिणामदु:ख, तापदु:ख और संस्कारदु:ख बना रहता है तथा गुणों से स्वभाव में भी विरोध है, इसलिए विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दु:ख ही है’ । इसलिए कोई और गति न होने के कारण अनात्मज्ञ कर्मों को करता हुआ जिसप्रकार विष से उत्पन्न हुआ कीड़ा विष का त्याग नहीं करता है उसीप्रकार अपने सहज – स्वाभाविक कर्म युद्धादिका, त्रिगुणात्मकरूप सामान्य और बन्धुवधादि निमित्तक विशेष दोष के कारण सदोष होने पर भी, त्याग न करे, क्योंकि वह सब कर्मों का त्याग करने में असमर्थ होता है । जो सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ है वह शुद्धान्त:करण पुरुष तो उनका भी त्याग कर ही दे – यह अभिप्राय है ॥ 48 ॥

129 पुनः प्रश्न है कि कौन सब कर्मों का त्याग करने में समर्थ है ? जो नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से उत्पन्न हुए इहलोक और परलोकसम्बन्धी भोगों के वैराग्य द्वारा शम – दमादि से सम्पन्न होकर कर्मजा सिद्धि को अर्थात् अशुद्धि के परिक्षयद्वारा मुमुक्षु होकर शुद्धब्रह्म और आत्मा की एकता की जिज्ञासा को प्राप्त है वह अपने इष्ट मोक्ष के हेतुभूत ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के साधनभूत वेदान्तवाक्य के श्रवणादि करने के लिए सम्पूर्ण विक्षेप की निवृत्तिपूर्वक उसका शेषभूत श्रुति – स्मृतिविहित सर्वकर्मसंन्यास करें ही, जैसा कि श्रुति भी कहती है -- ‘अत: एवंवित् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे’; इसीप्रकार स्मृति भी कहती है – ‘सत्यानृत, सुख-दु:ख, इस लोक और परलोक को त्यागकर आत्मा का अनुसन्धान करे’ । ‘उपरत अर्थात् सब कर्मों का त्याग करनेवाला होकर आत्मा को देखे अर्थात् आत्मदर्शन के लिए वेदान्तवाक्यों

155. कुन्तीपुत्र क्षत्रियवर तुमको युद्ध में अपलायनादि सहज – स्वाभाविक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए – यह उक्त सम्बोधन का आशय है ।

वेदान्तवाक्यानि विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति श्रुत्या धर्मस्कन्धत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिव्राजकः परमहंसपरिव्राजकं कृतकृत्यं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्थो यमुद्दिश्याथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा भगवता बादरायणेन समारम्भि । कीदृशेऽसावित्याह –

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ 49 ॥

130 सर्वत्र पुत्रदारादिषु सक्तिनिमित्तेष्वपि असक्तबुद्धिरहमेषां ममैत इत्यभिष्वङ्गरहिता बुद्धिर्यस्य सः । यतो जितात्मा विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य वशीकृतान्तःकरणः । विषयरागे सति कथं प्रत्याहरणं तत्राऽऽह– विगतस्पृहः, देहजीवितभोगेष्वपि वाञ्छारहितः सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्यबोधपरमानन्दरूपमोक्षगुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः । य एवं शुद्धान्तःकरणः 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इतिवचनप्रतिपादितां कर्मजामपरमां सिद्धिं ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचारा-

का विचार करे' – यह श्रुति का अर्थ है । ऐसा ही पुरुष 'ब्रह्म में स्थिर हुआ अमतृत्व को प्राप्त होता है' – इस श्रुति से तीन धर्मस्कन्धों[156] से विलक्षणरूप से प्रतिपादित किया गया है, यह परमहंसपरिव्राजक अन्य परमहंसपरिव्राजक कृतकृत्य गुरु के समीप जाकर वेदान्तवाक्यों का विचार करने में समर्थ होता है, इसी के उद्देश्य से भगवान् बादरायण ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [157]'– इत्यादि चार लक्षणों[158] वाली मीमांसा[159] का आरम्भ किया है । वह कैसी है ? इसपर कहते हैं :–

[सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, जितात्मा = आत्मा– अन्तःकरण को वश में रखनेवाला और विगतस्पृह = सब प्रकार की स्पृहाओं– इच्छाओं से शून्य पुरुष संन्यास = शिखा, यज्ञोपवीतादिसहित सर्वकर्मत्याग के द्वारा नैष्कर्म्य = ब्रह्मज्ञानरूपा परम सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ 49 ॥]

130 सर्वत्र अर्थात् सक्ति-आसक्ति के निमित्तभूत पुत्र-स्त्री आदि में भी असक्तबुद्धि = 'मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं' – इसप्रकार के अभिष्वङ्ग – अभिषङ्ग अर्थात् आग्रह से रहित बुद्धि है जिसकी वह अनासक्तबुद्धि है, क्योंकि जितात्मा = विषयों से खींचकर वशीकृत किया है अन्तःकरण जिसने वह जितात्मा है: किन्तु विषयों में राग रहने पर उनसे अन्तःकरण को कैसे खींचता है, इसपर कहते हैं– वह विगतस्पृह है = देह, जीवन और भोगों में भी वाञ्छारहित है अर्थात् समस्त दृश्य-पदार्थों में दोष देखने से और नित्यबोध परमानन्दस्वरूप मोक्ष में गुण देखने से सर्वतः विरक्त है । जो इसप्रकार का शुद्धान्तःकरण पुरुष है अर्थात् 'अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुति – स्मृतिविहित कर्मों

156. तीन धर्मस्कन्ध हैं :– यज्ञ, अध्ययन और दान – यह प्रथम धर्मस्कन्ध है, 'तप' ही द्वितीय धर्मस्कन्ध है तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्य के कुल में वास करना – यह तृतीय धर्मस्कन्ध है ।

157. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.1) = 'अथ = नित्यानित्यवस्तुविवेक से उत्पन्न हुए ऐहिक और आमुष्मिक भोगों के वैराग्य द्वारा शमादि षट्क सम्पत्ति से सम्पन्न होकर मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षेच्छा की उत्पत्ति के बाद, अत: = क्योंकि वेद ही अग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनों के फल की अनित्यता सूचित करते हैं इसलिए उक्त साधन – चतुष्टय – नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व की सिद्धि के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए' ।

158. यहाँ 'लक्षण' का अर्थ अध्याय है अतएव ब्रह्मजिज्ञासा के द्वारा चार अध्यायों वाली वेदान्तवाक्यमीमांसा का आरम्भ किया है – यह भाव है । वेदान्तसूत्र – ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय इसप्रकार हैं – समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय ।

159. 'मीमांसा' शब्द का अर्थ विचार है ।

धिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेण विचारेणेत्यर्थः। नैष्कर्म्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिं परमां कर्मजाया अपरमसिद्धेः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिपाकेण प्राप्नोति।

131 अथवा संन्यासेनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गुण्यलक्षणां सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः ॥ 49 ॥

132 प्रागुक्तसाधनसंपन्नस्य सर्वकर्मसंन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ 50 ॥

से उस अन्तर्यामी भगवान् की अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त करता है' -- इस भगवद्वचन के द्वारा प्रतिपादित कर्मजा अपरमा सिद्धि अर्थात् ज्ञान के साधन वेदान्तवाक्यविचार के अधिकारस्वरूप ज्ञाननिष्ठा की योग्यता को प्राप्त पुरुष है वह संन्यास = शिखा, यज्ञोपवीतादि सहित सर्वकर्मत्यागरूप हेतु से अर्थात् उस सर्वकर्मत्यागपूर्वक विचार से नैष्कर्म्यसिद्धि[160] को = निष्कर्म ब्रह्म है[161], ब्रह्मविषयक विचार से परिनिष्पन्न--सिद्ध ज्ञान नैष्कर्म्य है, उस नैष्कर्म्यरूपा परमा सिद्धि को, जो कर्मजा अपरमा सिद्धि की फलभूता है, अधिगत करता है -- साधन के परिपाक से प्राप्त करता है।

131 अथवा, 'संन्यासेन' – इस पद में 'इत्थंभूतलक्षणे' (पाणिनिसूत्र, 2.3.21) = 'किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है' -- इस सूत्र से विशेष अवस्था को प्राप्त चिह्न में तृतीया विभक्ति है। सर्वकर्मसंन्यास – सर्वकर्मत्यागरूपा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता – नैर्गुण्यस्वरूपा सिद्ध को, जो परमा अर्थात् पूर्व सात्त्विकी सिद्धि की फलभूता है, प्राप्त करता है-- यह अर्थ है ॥ 49 ॥

132 पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न सर्वकर्मसंन्यासी के ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में साधनक्रम कहते हैं :--
[हे कौन्तेय ! सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है उसप्रकार को तुम मुझसे संक्षेप से ही सुनो, जो कि ज्ञान की परा निष्ठा है ॥ 50 ॥]

---

160. 'नैष्कर्म्यसिद्धि' शब्द की व्याख्या विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है यद्यपि उन सभी की व्याख्याओं का तात्पर्य एक ही है, जैसे – भाष्यकार के अनुसार – 'निष्क्रियब्रह्मात्मबोध से जीव के सब कर्मों की निवृत्ति होने पर उसको 'निष्कर्मा' कहा जाता है, निष्कर्मा का भाव 'नैष्कर्म्य' है उस नैष्कर्म्य की सिद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, अथवा – निष्क्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थितरूप नैष्कर्म्य की सिद्धि – निष्पत्ति 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है (निर्गतानि कर्माणि यस्मान्निष्क्रियब्रह्मात्मसंबोधात्स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं नैष्कर्म्यं च तत्सिद्धिश्च सा नैष्कर्म्यसिद्धिः नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिर्निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः -- शाङ्करभाष्य); श्रीधरस्वामी कहते हैं कि सर्वकर्मनिवृत्तिस्वरूप सत्त्वशुद्धि – अन्तःकरणशुद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है; नीलकण्ठ के अनुसार 'सम्पूर्णतया स्वरूपतः कर्मत्यागस्वरूप पारिव्राज्यसिद्धि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है'; शंकरानन्द कहते हैं कि जहाँ कर्म नहीं है वह निष्कर्मा अर्थात् निष्क्रिय परब्रह्म है, निष्कर्मा के भाव को नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्मभाव कहते हैं, उस नैष्कर्म्य की प्राप्ति अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, तथा मधुसूदनसरस्वती के अनुसार 'निष्कर्म ब्रह्म को कहते हैं, ब्रह्मविषयक विचार से सिद्ध ज्ञान को नैष्कर्म्य कहा जाता है, उस नैष्कर्म्यरूपा सिद्धि को 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहते हैं।

161. जैसाकि श्रुति भी कहती है – 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' अर्थात् ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त है।

133 स्वकर्मणेश्वरमाराध्य तत्प्रसादजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिमन्तः-करणशुद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्वचनादवधारयानुष्ठातुम् । किमतिविस्तरेण नेत्याह– समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण हे कौन्तेय । तदवधारणे किं स्यादित्यत आह– निष्ठा ज्ञानस्य या परा, ज्ञानस्य विचारपरिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः । यदनन्तरं साधनान्तरं नानुष्ठेयमस्ति । परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या वा साक्षान्मोक्षहेतुत्वात् । तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः ॥ 50 ॥

134 सेयं ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते–

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ 51 ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ 52 ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ 53 ॥

133 वर्णाश्रमानुसार श्रुति-स्मृतिविहित अपने-अपने कर्मों से ईश्वर की आराधना कर उनके प्रसाद से उत्पन्न हुई सर्वकर्मत्यागपर्यन्त ज्ञानोत्पत्ति की योग्यतारूप सिद्धि = अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है = जिसप्रकार शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करता है उसप्रकार को तुम मुझसे सुनो – अनुष्ठान करने के लिए उसका मेरे वचन से निश्चय करो । क्या अतिविस्तार से कहेंगे ? इसपर कहते हैं – नहीं, संक्षेप से ही सुनो, विस्तार से नहीं – हे कौन्तेय[162] ! उसका निश्चय करने पर क्या होगा ? इसपर कहते हैं -- 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' = 'जो ज्ञान की परा निष्ठा है' अर्थात् जो ज्ञान = विचार से परिनिष्पन्न -- सिद्ध ज्ञान की निष्ठा = परिसमाप्ति है, जिसके अनन्तर – बाद कोई अन्य साधन अनुष्ठेय नहीं है, अतएव परा = श्रेष्ठा अथवा सर्वान्त्या[163] है, कारण कि साक्षात् मोक्ष की हेतु है । उस सिद्धि को प्राप्त हुए पुरुष की उस परा ब्रह्मप्राप्तिरूपा ज्ञाननिष्ठा को संक्षेप से समझो -- यह अर्थ है ॥ 50 ॥

134 वह यह ज्ञाननिष्ठा प्रकारसहित कही जाती है :–

[विशुद्ध बुद्धि से युक्त ब्रह्मवित् धैर्यपूर्वक आत्मा = शरीर और इन्द्रियों के संघात का संयम कर, शब्दादि विषयों का त्याग कर, राग और द्वेष का परित्याग कर; विविक्तसेवी – एकान्तसेवी, मिताहारी और वाणी, शरीर तथा मन का संयमवाला होकर; नित्य – सर्वदा ध्यानयोग में तत्पर हो ; वैराग्य का आश्रय ग्रहण कर; अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग कर निर्मम – ममतारहित और शान्त हो ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए समर्थ होता है ॥ 51-52-53 ॥]

162. अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिसप्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है उसप्रकार को सुनो– जिस प्रकार का आश्रय लेकर जीव का माता के गर्भ से सम्बद्ध नहीं रहता है उसको सुनो – उसको समझो – यह सूचित करने के लिए 'कौन्तेय' सम्बोधन है ।

163. सर्वान्त्या = जो सबके अन्त में वर्तमान रहे उसको 'सर्वान्त्या' कहते हैं अर्थात् जो चरम व्यावर्तक के रूप में हो उसी को 'सर्वान्त्या' कहते हैं ।

135 विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्ध्याऽहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितो धृत्या धैर्येणाऽऽत्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्योन्मार्गप्रवृत्तेर्निवार्याऽऽत्मप्रवणं कृत्वा । चशब्देन योगशास्त्रोक्तं साधानान्तरं समुच्चीयते । शब्दादीञ्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्विषयान्भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्याज्ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्ताननिषिद्धानपि त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य । चकारादन्यदपि ज्ञानविक्षेपकं परित्यज्य, विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वाऽन्वयः ॥ 51 ॥

136 विविक्तं जनसंमर्दरहितं पवित्रं च यदरण्यगिरिगुहादि तत्सेवितुं शीलं यस्य स चित्तैकाग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः । लघ्वाशी लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलं यस्य स निद्रालस्यादिचित्तलयकारिरहित इत्यर्थः । यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स यमनियमासनादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः । ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्याऽऽत्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानम् । आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः । नित्यं सदैव तत्परस्तयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजप-

---

135 विशुद्ध = सब प्रकार के संशय और विपर्यय से शून्य बुद्धि से = 'अहं ब्रह्मास्मि' – 'मैं ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार की वेदान्तवाक्यों से जन्य बुद्धिवृत्ति – अन्त:करणवृत्ति[164] से युक्त = उससे सदा अन्वित ब्रह्मवित् संन्यासी धृति = धैर्यपूर्वक आत्मा = शरीर और इन्द्रियों के संघात को नियम में कर = उन्मार्ग – कुमार्ग से उसकी प्रवृत्ति को रोककर उसको आत्मप्रवण कर – आत्मा में प्रवृत्त कर; – यहाँ 'च' शब्द से योगशास्त्र में उक्त अन्य साधनों का समुच्चय किया जाता है; -- शब्दादि = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप, भोग के द्वारा बन्धन के हेतुभूत विषयों को तथा प्रकरण के सामर्थ्य से जो ज्ञाननिष्ठा के लिए शरीर की स्थितिमात्र प्रयोजन में उपयुक्त नहीं हैं ऐसे अनिषिद्ध भी विषयों को त्यागकर; शरीर की स्थितिमात्र प्रयोजनवाले उन विषयों में राग और द्वेष का परित्याग कर; चकार से अन्य भी ज्ञानविक्षेपक विषयों[165] का भी परित्याग कर; 'विविक्तसेवी' -- इत्यादि में 'स्यात्' -- इस क्रियापद के अध्याहार द्वारा, अथवा -- 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' -- इसके द्वारा अन्वय करना चाहिए ।। 51 ।।

136 विविक्तसेवी = विविक्त-- जनसमूह से रहित और पवित्र जो अरण्य-वन, गिरिगुहादि है उनका सेवन करने का जिसका स्वभाव है वह विविक्तसेवी अर्थात् चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिए उसमें विक्षेपकारी कारणों से रहित; लघ्वाशी = लघु अर्थात् परिमित, हितकारी और मेध्य – विशुद्ध-पवित्र भोजन करने का स्वभाव जिसका है वह लघ्वाशी अर्थात् निद्रा, आलस्यादि चित्तलयकारी पदार्थों

---

164. वर्तनं वृत्ति: = व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं, अन्त:करण के व्यापार अथवा परिणामविशेष को 'अन्त:करणवृत्ति' कहते हैं । जिसप्रकार तालाब का जल तालाब की एक नालिका द्वारा निकलकर नहर के समान प्रवाहित होकर क्षेत्र के केदारों में प्रविष्ट होकर उन केदारों के ही समान त्रिकोण – चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है उसीप्रकार तैजस होने से अतिशीघ्रगामी अन्त:करण भी चक्षु आदि के द्वारा निकलकर घटादि विषयदेश को प्राप्त होकर घटादि विषयों के आकाररूप से परिणमित होता है यही अन्त:करण की परिणामवृत्ति है (वेदान्तपरिभाषा) । अन्त:करण की इस वृत्ति के चार भेद हैं – संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ।इस वृत्तिचतुष्टय के आधार क्रमश: मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त हैं । यह अन्त:करणवृत्ति दो प्रकार की कही जा सकती है – लौकिक और आध्यात्मिक । लौकिक वृत्ति का कार्य लौकिक विषयगत अज्ञान को दूर करके उस विषय का बोध कराना है और आध्यात्मिक वृत्ति अध्यारोप-अपवाद-न्याय से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' – इन दोनों पदों के अर्थ का शोधन करती है, उसके फलस्वरूप अधिकारी को अखण्डार्थ का बोध होता है और उस अधिकारी में 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि अद्वैत ब्रह्म हूँ' – ऐसी अन्त:करणवृत्ति का उदय होता है ।

165. चकार से यहाँ मात्सर्यादि ज्ञानविक्षेपक अन्य विषयों का ग्रहण है ।

तीर्थयात्रादिपरः कदाचिदित्यर्थः । वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधिचित्तपरिणामं समुपाश्रितः सम्यङ्निश्चलत्वेन नित्यमाश्रितः ॥ 52 ॥

137 अहंकारं महाकुलप्रसूतोऽहं महतां शिष्योऽतिविरक्तोऽस्मि नास्ति द्वितीयो मत्सम इत्यभिमानं, बलमसदाग्रहं न तु शारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्, दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्मातिक्रमकारणं 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति स्मृतेः, कामं विषयाभिलाषं 'वैराग्यं समुपाश्रित' इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाधिक्यार्थम्, क्रोधं, द्वेषं, परिग्रहं शरीरधारणार्थमस्पृहत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिखायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च शास्त्राभ्यनुज्ञातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः । अत एवाहंकारममकाराभावादपगतहर्षविषादत्वाच्छान्तश्चित्तविक्षेपरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ 53 ॥

138 केन क्रमेण ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तदाह—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ 54 ॥

से रहित; यतवाक्कायमानस = यत -- संयत किये हैं वाणी, शरीर और मन जिसने वह यतवाक्कायमानस अर्थात् यम, नियम, आसनादि साधनों से सम्पन्न; नित्य ध्यानयोगपर = 'ध्यान' चित्त के आत्माकार प्रत्यय की आवृत्ति है और आत्माकार प्रत्यय के द्वारा चित्त को निर्वृत्तिक -- वृत्तिशून्य करना 'योग' है -- इस ध्यान और योग में ही जो नित्य -- सर्वदा ही तत्पर है -- अनुष्ठानपर है अर्थात् मन्त्र, जप, तीर्थयात्रादि में कदाचित् तत्पर नहीं है वह ध्यानयोगपर होकर; वैराग्य अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयों में स्पृहा के विरोधी चित्त के परिणाम के समुपाश्रित = सम्यक् -- निश्चलतापूर्वक नित्य-सर्वदा आश्रित हो ॥ 52 ॥

137 अहंकार = 'मैं महाकुलप्रसूत हूँ, महापुरुषों का शिष्य हूँ, अतिविरक्त हूँ, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है' -- इसप्रकार के अभिमान; बल = मिथ्या आग्रह, न कि शारीरिक बल, क्योंकि स्वाभाविक होने से शारीरिक बल का तो त्याग नहीं किया जा सकता है; दर्प = हर्षजन्य मद, जो कि धर्म के अतिक्रमण का कारण है, जैसा कि 'हृष्ट पुरुष को दर्प होता है और दर्पवाला पुरुष धर्म का अतिक्रमण करता है' -- इस स्मृति से सिद्ध होता है; काम = विषय की अभिलाषा, 'वैराग्यं समुपाश्रितः' -- इस वचन से ही कामत्याग यद्यपि उक्त है तथापि प्रयत्न की अधिकता के लिए पुनः उक्तवचन है; क्रोध -- द्वेष; परिग्रह = स्पृहा -- इच्छा न होने पर भी दूसरे के द्वारा लाये हुए शरीरधारण में उपयोगी बाह्य उपकरण -- पदार्थ का त्यागकर; शिखायज्ञोपवीतादि को भी छोड़कर; अपने शरीर की यात्रा के लिए शास्त्राज्ञानुसार दण्ड, एक कमण्डलु, कौपीन और ओढ़ने का वस्त्र लेकर; परमहंस परिव्राजक होकर निर्मम अर्थात् देह के जीवनमात्र में भी ममकाररहित हो, अतएव अहंकार और ममकार का अभाव हो जाने से हर्ष और विषाद से शून्य हो जाने के कारण शान्तचित्त और विक्षेपरहित हुआ ज्ञानसाधनों के परिपाक के क्रम से ब्रह्मभूय = ब्रह्म साक्षात्कार के लिए कल्पित -- समर्थ होता है ॥ 53 ॥

138 किस क्रम से ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए कल्पित -- समर्थ होता है, उसको कहते हैं --

139 ब्रह्मभूतोऽहं ब्रह्मास्मीतिदृढनिश्चयवाञ्श्रवणमननाभ्यासात्, प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः शमदमाद्यभ्यासात् । अत एव न शोचति नष्टं न काङ्क्षत्यप्राप्तम् । अत एव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात्समः सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यतीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्यावृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां श्रवणमननाभ्यासफलभूतां लभते परां श्रेष्ठामव्यवधानेन साक्षात्कारफलां चतुर्विधा भजन्ते मामित्यत्रोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यां ज्ञानलक्षणामिति वा ॥ 54 ॥

140 ततश्च--

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ 55 ॥

141 भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्करोति । यावान्विभुर्नित्यश्च यश्च परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः सदा विध्वस्तसर्वोपाधिरखण्डैकरस एकस्तावन्तं चाभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वाऽहमस्म्यखण्डानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशतेऽज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति । तदनन्तरं बलवत्प्रारब्ध--

---

[ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा -- शुद्धचित्तवाला संन्यासी न शोक करता है और न इच्छा ही करता है, वह समस्त प्राणियों में समवर्त्ती होकर मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है ॥ 54 ॥]

139 ब्रह्मभूत = श्रवण और मनन के अभ्यास से 'अहं ब्रह्मास्मि' -- 'मैं ब्रह्म हूँ' -- ऐसे दृढ़ निश्चयवाला, प्रसन्नात्मा = शम-दमादि के अभ्यास से शुद्धचित्तवाला होता है, अतएव वह नष्ट हुई वस्तु के लिए शोक नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु के लिए इच्छा नहीं करता है, अतएव निग्रह और अनुग्रह न करने से वह समस्त प्राणियों के प्रति समान होता है अर्थात् अपने ही समान सर्वत्र सुख और दुःख को देखता है । ऐसा ज्ञाननिष्ठ यति मेरी भक्ति अर्थात् मुझ शुद्ध परमात्मा भगवान् में भक्ति -- उपासना को; जो मेरे आकार की चित्तवृत्तियों की आवृत्तिरूपा है, श्रवण-मनन के अभ्यास की फलभूता है और परिपक्व निदिध्यासन संज्ञावाली है; प्राप्त करता है । वह भक्ति परा -- श्रेष्ठा अर्थात् अव्यवधान से आत्मसाक्षात्काररूप फलवाली है । अथवा -- 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता, 7.16)-- इत्यादि श्लोक में उक्त जो चार प्रकार की भक्ति है उनमें से अन्तिम ज्ञानलक्षणा भक्ति ही पराभक्ति है ॥ 54 ॥

40 इसके अतिरिक्त :--

[भक्ति के द्वारा वह मुझको, जितना और जो हूँ, तत्त्व से जान लेता है, इसके पश्चात् मुझको तत्त्व से जानकर देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ॥ 55 ॥]

141 भक्ति[166] अर्थात् निदिध्यासनरूपा ज्ञाननिष्ठा के द्वारा वह यति मुझ अद्वितीय आत्मा को जानता है अर्थात् मेरा साक्षात्कार करता है । मैं जितना अर्थात् विभु और नित्य हूँ और जो अर्थात् परिपूर्ण, सत्य, ज्ञान, आनन्दघन, सदा सब उपाधियों से रहित, अखण्डैकरस, एक हूँ वह मुझको उतना और

---

166. श्रीधर स्वामी ने 'भक्ति' का अर्थ 'पराभक्ति' किया है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है, कारण कि पराभक्ति अथवा ज्ञाननिष्ठा तो चरम मोक्ष की अवस्था है, उस अवस्था में द्वैतभाव का लेश भी संभव नहीं है, अतएव पराभक्ति के द्वारा भगवान् कितना है, कैसा है -- इन सबको जानकर भगवान् में प्रवेश करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता है ।

कर्मभोगेन देहपातानन्तरं नतु ज्ञानानन्तरमेव । क्त्वाप्रत्ययेनैव तल्लाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापातात् । तस्मात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इतिश्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता । यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधिस्वभावत्वात्तथाऽपि तदुपादेयमहंकारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्मभोगमनुवर्तते दृष्टत्वादेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तार्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशमङ्गीकुर्वद्भिर्निरुपादानं द्रव्यं क्षणमात्रं तिष्ठतीत्यङ्गीकृतम् । नित्यपरमाणुसमवेतद्व्यणुकनाशे त्वसमवायिकारणनाशादेव द्रव्यनाशः । समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नाननुगमः । ये त्वसमवायिकारण-

---

वैसे ही जानता है । तदनन्तर मुझको इसप्रकार तत्त्वत: जानकर अर्थात् 'मैं अखण्ड, आनन्द, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' – इसप्रकार मेरा साक्षात्कार कर मुझमें ही प्रवेश करता है[167] अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर सब उपाधियों से शून्य होने के कारण मद्रूप = मेरा रूप ही होता है । तदनन्तर = बलवान् प्रारब्धकर्म के भोग द्वारा देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है, ज्ञान के अनन्तर ही नहीं, क्योंकि 'ज्ञात्वा' पद के 'क्त्वा' प्रत्यय से ही 'ज्ञानानन्तर्य्य' अर्थ का लाभ होने पर 'तदनन्तर' -- यह पद व्यर्थ हो जायेगा[168], इसलिए भगवान् ने यहाँ उक्त अर्थ के द्वारा 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' – 'उसकी विदेहमुक्ति में तभी तक विलम्ब है जबतक उसका देहपात नहीं होता है, देहपात होने पर तो तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त होता है' – इस श्रुति के अर्थ को ही दिखलाया है । यद्यपि ज्ञान से अज्ञान दीपक से अन्धकार के समान निवृत्त होता ही है, क्योंकि ज्ञान-प्रकाश और अज्ञान - अन्धकार – दोनों का विरोधी स्वभाव है; तथापि अज्ञान के उपादेय अहंकार, देहादि निरुपादान ही जबतक प्रारब्ध-कर्म रहता है तबतक बने ही रहते हैं, क्योंकि वे दिखाई देते ही हैं और जो वस्तु दिखाई देती है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती है । समवायिकारण[169] के नाश से द्रव्य[170] का नाश स्वीकार करनेवाले तार्किकों ने भी यह स्वीकार किया है कि निरुपादान द्रव्य क्षणमात्र निराधार रहता है[171] । नित्य परमाणुओं से समवेत

---

167. आनन्दगिरि के अनुसार 'मां विशते'-- 'मुझमें प्रवेश करता है' – इसका अर्थ है – 'तत्त्वज्ञान का फल जो विदेहकैवल्य है उसको प्राप्त करता है' ।

168. इसके अतिरिक्त, ज्ञान होते समय ही देहपात का प्रसंग होगा तथा 'विमुक्तश्च विमुच्यते', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:' – इत्यादि से मुक्त पुरुष की मुक्ति और माया की निवृत्ति होने पर पुन: उसकी निवृत्ति को बतलानेवाला जीवन्मुक्तिशास्त्र बाधित होगा ।

169. 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्' (तर्कसंग्रह) – जिस द्रव्य में समवेत – समवाय सम्बन्ध से वर्तमान कार्य की उत्पत्ति होती है, वह 'समवायिकारण' कहलाता है, जैसे – तन्तु पट का समवायिकारण है और पट स्वगत रूपादि का समवायिकारण है ।

170. 'समवायिकारणं द्रव्यम्' (तर्कभाषा) – समवायिकारण 'द्रव्य' होता है ।

171. न्याय-वैशेषिकशास्त्र के अनुसार एक क्षण ऐसा भी होता है, जबकि निरुपादान द्रव्य क्षणमात्र निराश्रित रहता है । न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है – (i) समवायिकारण के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश होता है, (ii) असमवायिकारण के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है,(iii) समवायिकारण और असमवायिकारण – इन दोनों कारणों के नाश से भी कार्य-द्रव्य का नाश होता है । पट का समवायिकारण तन्तु है और असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' है । अतएव कदाचित् समवायिकारणभूत 'तन्तु' के नाश से कार्यभूत 'पट' का नाश होगा, कदाचित् असमवायिकारणभूत 'तन्तुसंयोग' के नाश से भी कार्यभूत 'पट' का नाश होगा, और कदाचित् 'तन्तु' और 'तन्तुसंयोग' -- इन दोनों के नाश से भी पट का नाश होगा । न्याय-वैशेषिक का एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि 'कारण' कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है (कार्यनियतपूर्ववर्ति कारणम् – तर्कसंग्रह) । अतएव पटनाश में कारणभूत जो तन्तुनाश है वह अवश्य ही पटनाश के पूर्वक्षण में रहेगा । तन्तुनाश से पटनाश के होने में क्रम इसप्रकार रहेगा –

नाशमेव सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशकमिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणद्वयमनुपादानं कार्यं तिष्ठति । एवं च तत्रैव प्रतिबन्धकसंनिपाते बहुकालावस्थितिः केन वार्यते । प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धमन्तःकरणदेहाद्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं च । एवं शिष्यसेवकाद्यदृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदभावमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा । तदुक्तं –

'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् ।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥' इति ।

द्व्यणुक का नाश होने पर तो असमवायिकारण[172] के नाश से ही द्रव्य का नाश होता है । समवायिनिरूपित कारणनाशत्व उक्त दोनों पक्षों में अनुगत है [173] -- इसप्रकार उनमें अननुगम-दोष नहीं है । जो तो असमवायिकारण के नाश को ही सर्वत्र कार्य-द्रव्य का नाशक मानते हैं, उनके मत में आश्रयनाश के स्थल पर दो क्षण तक अनुपादान कार्य रहता है[174] । इसप्रकार वहीं यदि अनेक प्रतिबन्धक आ गिरें तो उस कार्य-द्रव्य की बहुकालावस्थिति को कौन रोक सकता है ? प्रारब्ध-कर्म का प्रतिबन्धकत्व तो श्रुतिसिद्ध है और अन्तःकरण, देहादि की अवस्थिति अन्यथा अनुपपत्ति-सिद्ध है । इसीप्रकार शिष्य-सेवकादि का अदृष्ट भी कार्य-शरीर के नाश का प्रतिबन्धक है, उस प्रतिबन्धक के अभाव की अपेक्षा कर पूर्वसिद्ध ही अज्ञाननाश उस अज्ञान के कार्य – अन्तःकरणादि का नाश करता है, एतदर्थ उसको पुनः ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है । ऐसा कहा भी है :--

"जो ज्ञान प्राप्त करके शोकरहित हो गया है वह ज्ञान प्राप्त होने के समय ही मुक्त हो जाता है और वह तीर्थ में अथवा श्वपच -- चाण्डाल के घर में ज्ञान के विस्मृत हो जाने पर भी देह का परित्याग करते हुए कैवल्य प्राप्त करता है" ।

पटनाश का कारण → तन्तुनाश → पूर्वक्षण में होगा ।
तन्तुनाश का कार्य → पटनाश → उत्तरक्षण में होगा ।
इस परिस्थिति में जब पूर्वक्षण में तन्तुनाश हो जायेगा, तब एक क्षण के लिए पट को बिना किसी उपादान – आश्रय के निराश्रित ही रहना होगा ।

172. 'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत् कारणं तदसमवायिकारणम्' (तर्कसंग्रह) – जो कार्य अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवेत – समवाय सम्बन्ध से युक्त होता हुआ कारण होता है वह 'असमवायिकारण' कहलाता है, जैसे-- तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है और तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है ।

173. अभिप्राय यह है कि समवायिकारण के नाश से द्रव्य का नाश होता है और असमवायिकारण के नाश से भी द्रव्य का नाश होता है – ये दो पक्ष हैं, इन दोनों ही पक्षों में कोई अननुगम–दोष नहीं है, क्योंकि दोनों ही पक्षों में समवायिनिरूपितकारणनाशत्व अनुगत है ।

174. उदाहरण के लिए असमवायिकारणभूत 'तन्तुसंयोग' का नाश ही कार्यभूत 'पट' का नाशक होगा, 'तन्तुसंयोग' के नाश से 'पट' का नाश होने में क्रम इसप्रकार रहेगा –
पटनाश का कारण → तन्तुसंयोगनाश → पूर्वक्षण में होगा ।
तन्तुसंयोगनाश का कारण → तन्तुनाश → द्वितीयक्षण में होगा ।
तन्तुनाश का कार्य → पटनाश → तृतीयक्षण में होगा ।
इस परिस्थिति में जब पूर्वक्षण में तन्तुसंयोगनाश और द्वितीयक्षण में तन्तुनाश हो जायेगा, तब दो क्षण के लिए पट को बिना किसी उपादान – आश्रय के आश्रयनाश स्थल पर निराश्रित ही रहना होगा ।

142 न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु तस्य निवृत्ताज्ञानस्याप्यज्ञाननाशजनितादनुपादानात्साक्षादात्माश्रयादेवाज्ञानसंस्कारात्तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यादन्तःकरणस्थित्यवधेरिति विवरणकृतः । अहं ब्रह्मास्मीतिचरमसाक्षात्कारानन्तरमहं ब्रह्म न भवामि न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्येव । यदि परं घटं न जानामीत्यादिप्रत्ययः स्यात्तदुपपादनाय चेयं संस्कारकल्पनेति नानुपपन्नम् । अज्ञानलेशपदेनाप्ययमेवं संस्कारो विवक्षितः । नहि सावयवमज्ञानं, येन कियन्नश्यति कियत्तिष्ठतीति वाच्यमनिर्वचनीयत्वात् । एकदेशाभ्युपगमे तु तन्निवृत्त्यर्थं पुनश्चरमं ज्ञानमपेक्षितमेव । तच्च मृतिकाले दुर्घटमिति तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता तस्याभ्युपेया । ततश्च संस्कारपक्षान्न कोऽपि विशेष इति पूर्वोक्तैव कल्पना श्रेयसी । ईदृशजीवन्मुक्त्यपेक्षया च प्राग्भगवतोक्तम् 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति, स्थितप्रज्ञलक्षणानि च व्याख्यातानि । तस्मात्साधूक्तं विशते तदनन्तरमिति ॥ 55 ॥

143 ननु योऽनात्मज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत् । यस्तु शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छतीत्युक्तम् । संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्याभ्यामिति प्रागुक्तं भगवता 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यत्र ।

142 'मैं नहीं जानता हूँ' -- इत्यादि ज्ञान तो जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे उस ज्ञानी पुरुष को भी; अज्ञान के नाश से जनित, अनुपादान, साक्षात् आत्माश्रय ही अज्ञान के संस्कार से, जो कि तत्त्वज्ञान के संस्कार से निवर्त्य है; अन्तःकरण की स्थितिपर्यन्त रहता है -- यह विवरणकार का मत है । 'अहं ब्रह्मास्मि' = 'मैं ब्रह्म हूँ' -- इसप्रकार के चरम साक्षात्कार के अनन्तर 'मैं ब्रह्म नहीं होता हूँ', 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' -- इसप्रकार का ज्ञान होता ही नहीं है । यदि 'मैं परम घट को नहीं जानता हूँ'-- इत्यादि ज्ञान होता तो उसके उपपादन-- ग्रहण के लिए यह संस्कारकल्पना होती, अतः अनुपपत्ति नहीं है । 'अज्ञानलेश' पद से भी यही संस्कार विवक्षित है । अज्ञान सावयव नहीं है जिससे कि यह कहा जाय कि वह कुछ तो नष्ट हो जाता है और कुछ रह जाता है, क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय है[175] । यदि 'अज्ञानलेश' को अज्ञान का एकदेश मानते हैं तो उसकी निवृत्ति के लिए पुनः चरम ज्ञान अपेक्षित होगा ही और वह मरणकाल में होना दुर्घट -- अत्यन्त कठिन है, अतः उसमें तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता स्वीकार की गई है । तब संस्कारपक्ष से कोई विशेष-भेद नहीं है, अतः पूर्वोक्त ही कल्पना श्रेयसी है । ऐसी जीवन्मुक्ति की अपेक्षा से पूर्व में भगवान् ने कहा है -- 'तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुमको ज्ञान का उपदेश करेंगे' और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या भी की है, अतः 'विशते तदनन्तरम्' = 'देहपात के अनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है अर्थात् मद्रूप ही होता है' -- यह ठीक ही कहा है ।। 55 ।।

143 'जो अनात्मज्ञ अशुद्धान्तःकरण है वह अन्तःकरणशुद्धिपर्यन्त सहज -- स्वाभाविक कर्म का त्याग न करे, जो तो शुद्धान्तःकरण है वह नैष्कर्म्यसिद्धि को संन्यास से प्राप्त करता है -- यह कहा है; और संन्यास ब्राह्मण को ही करना चाहिए, क्षत्रिय और वैश्य को नहीं करना चाहिए -- यह भगवान् ने 'कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गीता, 3.20) = 'जनकादि ने कर्म से ही संसिद्धि प्राप्त की थी' -- इत्यादि से पूर्व में कहा है । उसमें, शुद्धान्तःकरण क्षत्रियादि के द्वारा क्या कर्म अनुष्ठेय

175. अज्ञान अथवा माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न उभयरूप है; न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न उभयरूप है, यह तो अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूप है (विवेकचूडामणि, 111) ।

तत्र शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रियादिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किं वा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः । नाऽऽद्यः—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात् । न द्वितीय :—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'

इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रियादिकं प्रति निषेधात् । नच कर्मानुष्ठानकर्मत्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति । तस्मादुभयोरपि प्रतिषिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकर्तव्ये प्रतिषेधातिक्रमे कर्मत्याग एव श्रेयान्बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसाधनपौष्कल्यात्, नतु कर्माण्यनुष्ठेयानि चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वा-दित्यभिप्रायमर्जुनस्याऽऽलक्ष्याऽऽह भगवान् —

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ 56 ॥

144 **यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकशरणो भगवदेकशरणतापर्यन्तत्वा-दन्तःकरणशुद्धेः । एतादृशश्चेद्ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यस्यतु नाम । संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकशरणस्य भगवत्प्रसादादेव । एतादृशश्चेत्क्षत्रियादिः संन्यासा-**

हैं अथवा सर्वकर्मसंन्यास कर्तव्य है ? इस संशय में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि 'जो मुनि अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ होना चाहता है उसके लिए उसका साधन 'कर्म' कहा गया है और योगारूढ़ उसी के लिए सर्वकर्मसंन्यास ही साधन कहा गया है' (गीता, 6.3) -- इत्यादि से अन्तःकरणशुद्धिरूप योग पर आरूढ़ पुरुष के लिए कर्मानुष्ठान का निषेध किया गया है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (गीता, 3.35) -- 'स्वधर्म में मर जाना अच्छा है, किन्तु परधर्म भयदायक होता है' – इत्यादि से ब्राह्मणधर्म सर्वकर्मसंन्यास का क्षत्रियादि के लिए निषेध किया गया है । कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग – इन दोनों में से किसी एक के बिना तृतीय प्रकार नहीं है, इसलिए दोनों ही के प्रतिषिद्ध होने से और अन्य गति न रहने से जब शास्त्रप्रतिषेध का अतिक्रमण -- उल्लंघन करना आवश्यक ही है तो कर्मत्याग करना ही अच्छा है, क्योंकि बन्धन के हेतु कर्म का परित्याग कर देने से मोक्षसाधन पुष्ट होता है । कर्मों का अनुष्ठान करना उचित नहीं है, क्योंकि चित्तविक्षेप के कारण होने से वे मोक्ष के साधन ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं' -- ऐसे अर्जुन के अभिप्राय को लक्ष्य कर भगवान् कहते हैं :--

[मेरा आश्रय ग्रहण कर सदा श्रौत-स्मार्त -- सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी यति मुझ ईश्वर के अनुग्रह से शाश्वत -- नित्य और अव्यय-अपरिणामी पद को प्राप्त करता है ।। 56 ।।]

144 जो पूर्वोक्त कर्मों से शुद्धान्तःकरण है वह अवश्य भगवदेकशरण -- भगवान् की ही एकमात्र शरण है, क्योंकि अन्तःकरणशुद्धि भगवदेकशरणतापर्यन्त होती है । ऐसा पुरुष यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास के प्रतिबन्ध से रहित होने से वह सब कर्मों का संन्यास कर दे, क्योंकि उस भगवदेकशरण ब्राह्मण का संसार से मोक्ष तो भगवान् के प्रसाद -- अनुग्रह से ही हो जायेगा । ऐसा पुरुष यदि संन्यास

नधिकारी स करोतु नाम कर्माणि किंतु मद्व्यपाश्रयः, अहं भगवान्वासुदेव एव व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मदेकशरणो मय्यर्पितसर्वात्मभावः संन्यासानधिकारात्सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि लौकिकानि प्रतिषिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहादवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्मद्विज्ञानोत्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि। एतादृशो भगवदेकशरणः करोत्येव न प्रतिषिद्धानि कर्माणि, यदि कुर्यात्तथाऽपि मत्प्रसादात्प्रत्यवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षभाग्भवतीति भगवदेकशरणतास्तुत्यर्थं सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपीत्यनूद्यते ॥ 56 ॥

145 यस्मान्मदेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात्क्षत्रियस्त्वम् –

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ 57 ॥

146 चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे संन्यस्य यत्करोषि यदश्नासीत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं भगवान्वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन्बुद्धियोगं पूर्वोक्त-

का अनधिकारी क्षत्रिय आदि हो तो वह कर्मों को करता रहे, किन्तु मद्व्यपाश्रय = मैं भगवान् वासुदेव ही व्यपाश्रय – शरण हूँ जिसका वह मदेकशरण = अपने सब भावों को मुझमें ही अर्पित करनेवाला होकर कर्मों को करे, क्योंकि उसको संन्यास का अधिकार नहीं होता है। इसप्रकार सब कर्मों को = वर्णाश्रमधर्मरूप लौकिक अथवा प्रतिषिद्ध -- सब कर्मों को सदा करता हुआ वह मेरे प्रसाद से = मुझ ईश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भ के समान मद्विज्ञानोत्पत्ति होने से शाश्वत – नित्य और अव्यय – अपरिणामी वैष्णव पद[176] को प्राप्त करता है। एतादृश भगवदेकशरण पुरुष प्रतिषिद्ध कर्म तो करता ही नहीं है, यदि करे तो भी मेरे प्रसाद-अनुग्रह से प्रत्यवाय -- दुरित – पाप उत्पन्न न होने के कारण वह मेरे विज्ञान से ही मोक्ष का भागी होता है -- इसप्रकार भगवदेकशरणता की स्तुति के लिए 'सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपि' = 'सब प्रकार के कर्मों को सर्वदा करता हुआ भी' – यह अनुवाद है ॥ 56 ॥

145 क्योंकि मदेकशरणतामात्र मोक्ष का साधन है, कर्मानुष्ठान अथवा कर्मसंन्यास नहीं है, इसलिए क्षत्रिय तुम –

[चित्त-विवेकबुद्धि से सब कर्मों का मुझमें संन्यास -- अर्पण कर, मुझ ही को अपना पर- प्रियतम मानकर, समत्वबुद्धिस्वरूप योग का आश्रय ग्रहण कर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगानेवाले होओ ॥ 57 ॥]

146 चित्त = विवेकबुद्धि[177] से दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनवाले सब कर्मों का मुझ ईश्वर में संन्यास कर= 'यत्करोषि यदश्नासि[178]' (गीता, 9.27) -- इत्यादि श्लोक द्वारा उक्तन्याय से समर्पण कर, मत्पर =

176. 'पद' शब्द का अर्थ 'पदनीय' है अर्थात् समस्त उपनिषदों के तात्पर्य का जो गन्तव्य–लक्ष्य स्थान है वही 'पद' – मोक्ष है।

177. भगवान् के प्रसाद से सम्यक् ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्ति होती है – इसप्रकार के निश्चय ज्ञान को 'विवेकबुद्धि' कहा जाता है (आनन्दगिरिटीका)।

178. 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गीता, 9.27)

'हे कौन्तेय ! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो – वह सब मुझको अर्पण कर दो'।

समत्वबुद्धिलक्षणं योगं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसंपादकमुपाश्रित्यानन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चितो मयि भगवति वासुदेव एव चित्तं यस्य न राजनि कामिन्यादौ वा स मच्चित्तः सततं भव ॥ 57 ॥

147 ततः किं स्यादिति तदाह –

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ 58 ॥

148 मच्चित्तस्त्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि संसारदुःखसाधनानि मत्प्रसादात्स्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेद्यदि तु त्वं मदुक्ते विश्वासमकृत्वाऽहंकारात्पण्डितोऽहमिति गर्वान्न श्रोष्यसि मद्वचनार्थं न करिष्यसि ततो विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि कामकारेण संन्यासाद्याचरन् ॥ 58 ॥

149 त्वं च –

यदहंकारमाश्रित्य य योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ 59 ॥

150 अहंकारं धार्मिकोऽहं क्रूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न

मैं भगवान् वासुदेव ही पर – प्रियतम हूँ जिसका वह मत्पर होकर, बुद्धियोग = पूर्वोक्त समत्वबुद्धिस्वरूप योग का, जो कि बन्धन के हेतुभूत कर्म को भी मोक्ष का हेतु बना देनेवाला है, आश्रय ग्रहण कर = अनन्यशरणतया उसको स्वीकार कर निरन्तर मच्चित्त = मुझ भगवान् वासुदेव में ही जिसका चित्त है, राजा अथवा कामिनी आदि में नहीं है, वह तुम मच्चित्त -- मुझमें ही चित्त लगानेवाले होओ ॥ 57 ॥

147 उससे क्या होगा ? उसको कहते हैं :--

[मच्चित्त = मुझमें चित्त लगानेवाले होकर तुम मेरे प्रसाद -- अनुग्रह से समस्त दुस्तर दुःखसाधनों को पार कर जाओगे; और यदि अहंकारवश तुम मेरे वचन को नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ॥ 58 ॥]

148 मच्चित = मुझमें चित्त लगानेवाले होकर तुम समस्त दुर्गों = दुस्तरों अर्थात् काम – क्रोधादि संसारदुःखसाधनों को मेरे प्रसाद -- अनुग्रह से अपने व्यापार के बिना ही तर जाओगे अर्थात् अनायास ही पार कर जाओगे । और यदि तुम मेरे वचन में विश्वास न कर अहंकारवश = 'मैं पण्डित हूँ' – इसप्रकार के गर्ववश मेरे वचन को नहीं सुनोगे = मेरे वचन के अनुसार नहीं करोगे तो विनष्ट हो जाओगे अर्थात् स्वेच्छापूर्वक संन्यासादि करते हुए पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे ॥ 58 ॥

149 और तुम –

[यदि अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तुम्हारा यह व्यवसाय --निश्चय मिथ्या--निष्फल ही है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुमको युद्ध में नियुक्त कर ही देगा ॥ 59 ॥]

150 यदि अहंकार = 'मैं धार्मिक हूँ अतएव क्रूर कर्म नहीं करूँगा' – ऐसे मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तुम्हारा यह व्यवसाय – निश्चय मिथ्या --

करिष्यामीति मन्यसे यन्मिथ्या निष्फल एष व्यवसायो निश्चयस्ते तव यस्मात्प्रकृतिः क्षत्रजात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ 59 ॥

151 प्रकृतिं विवृणोति –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ 60 ॥

152 स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धं मोहात्स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात्कर्तुं नेच्छसि तदवशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥60॥

153 स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनतां विवृणोति–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ 61 ॥

154 ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ।'

यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥'

निष्फल ही है, क्योंकि प्रकृति = क्षत्रियजाति का आरम्भक रजोगुणस्वभाव तुमको युद्ध में नियुक्त कर ही देगा – प्रेरित कर ही देगा[179] ॥ 59 ॥

151 प्रकृति का विवरण करते हैं :–
[हे कौन्तेय ! मोह के कारण जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते हो उसको तुम अपने स्वाभाविक कर्म से बँधे होने के कारण विवश होकर भी करोगे ॥ 60 ॥]

152 स्वभावज = पूर्वोक्त क्षत्रिय-स्वभाव से जनित शौर्यादि अपने अनागन्तुक कर्मों से निबद्ध -- वशीकृत हो तुम, अतएव हे कौन्तेय[180] ! मोह के कारण = 'मैं स्वतंत्र हूँ, जैसा चाहता हूँ वैसा ही करूँगा' – ऐसे भ्रम के कारण जिस बन्धुवधादिनिमित्तक युद्ध को तुम करना नहीं चाहते हो उसको तुम अवश होकर भी = इच्छा न होने पर भी स्वाभाविक कर्म के अधीन और परमेश्वर के अधीन होकर करोगे ही ॥ 60 ॥

153 स्वभाव की अधीनता कहकर ईश्वर की अधीनता का विवरण करते हैं :--
[हे अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारूढ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ -- घुमाता हुआ सब प्राणियों के हृदय-देश में रहता है ॥ 61 ॥]

154 ईश्वर = ईशनशील नारायण, -- 'जो पृथिवी में स्थित हुआ पृथिवी के अन्दर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवी को उसके अन्दर रहकर नियमित करता

---

179. जैसा कि कहा भी है – 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' (गीता, 3.33) 'समस्त भूत अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, इसमें निग्रह क्या करेगा ?' ।

180. क्योंकि ऐसा है इसलिए हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! क्षत्रियशिरोमणि तुम मुझसे सम्बन्धित हो अतएव तुम्हारी युद्ध से विमुखता उचित नहीं है – यह उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं ।

इत्यादिश्रुतिसिद्धः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि तत्राभिव्यज्यते सप्तद्वीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलायां, हेऽर्जुन हे शुक्ल शुद्धान्तःकरण, एतादृशमीश्वरं त्वं ज्ञातुं योग्योऽसीति द्योत्यते । किं कुर्वंस्तिष्ठति भ्रामयन्नितस्तत-श्चालयन्सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया छद्मना यन्त्रारूढानीव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः ॥ 61 ॥

155 **ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति चेत्प्राप्तं विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य चाऽऽनर्थक्यमित्यत्राऽऽह –**

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ 62 ॥

156 **तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्तरणार्थं गच्छाऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात्परां शान्तिं सकार्या-विद्यानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ 62 ॥**

157 **सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह –**

है', 'जो कुछ भी जगत् दिखाई या सुनाई भी देता है उस सबको अन्दर-बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है'– इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध सर्वान्तर्यामी समस्त भूतों– प्राणियों के हृद्देश = अन्तःकरण में स्थित है = सप्तद्वीपाधिपति राम जैसे उत्तर-कोसल देश में रहे उसीप्रकार सर्वव्यापक होने पर भी वह उस हृद्देश में अभिव्यक्त होता है । हे अर्जुन != हे शुक्ल अर्थात् शुद्धान्तःकरण ! एतादृश ईश्वर को तुम जानने के योग्य हो – यह उक्त सम्बोधन से सूचित करते हैं । यह ईश्वर क्या करता हुआ अन्तःकरण में स्थित रहता है ? वह अपनी माया या छद्म से यन्त्रारूढ के समान परतन्त्र सब भूतों – प्राणियों को भ्रमित करता हुआ = इधर-उधर चलाता हुआ रहता है । जिसप्रकार मायावी सूत्रसंचारादि यन्त्र पर आरूढ़ अत्यन्त परतन्त्र दारु-काष्ठनिर्मित पुरुषादि को घुमाता – चलाता है उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया से सब प्राणियों को घुमाता – चलाता हुआ रहता है – इस अर्थ का अध्याहार करना चाहिए ॥ 61 ॥

155 यदि ईश्वर समस्त परतन्त्र प्राणियों को प्रेरित करता है तब तो विधि-प्रतिषेधशास्त्र और सब पुरुषकार की व्यर्थता प्राप्त होती है – इसका उत्तर कहते हैं :–
[हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उस शरणरूप ईश्वर का ही आश्रय ग्रहण करो । उसके प्रसाद – अनुग्रह से तुम परम शान्ति और शाश्वत – नित्य स्थान – पद को प्राप्त होओगे ॥ 62 ॥]

156 हे भारत[181] ! तुम सर्वभाव से = सर्वात्मना – मन, वाणी और कर्म से उस शरण = आश्रयरूप ईश्वर का ही संसारसमुद्र से पार होने के लिए आश्रय ग्रहण करो, उस ईश्वर के ही प्रसाद = तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त अनुग्रह से तुम परा शान्ति = कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति और शाश्वत = नित्य स्थान = अद्वितीय, स्वप्रकाश, परमानन्दरूप से अवस्थान– अवस्थिति को प्राप्त होओगे ॥ 62 ॥

157 सम्पूर्ण गीता के अर्थ का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :–

---

181. हे भारत ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् सूचित करते हैं कि तुम उत्तम वंश– भरतवंश में उत्पन्न हुए हो अतएव तुम ईश्वर की शरण ग्रहण करने पर उनके अनुग्रह से परम शान्ति और शाश्वत पद को प्राप्त करने के योग्य हो ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 63 ॥

158 इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्ममात्रविषयं मोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यादपि संन्यासान्तात्कर्मयोगाद्रहस्यतरं तत्फलभूतत्वादाख्यातं समन्तात्कथितं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन । अतो विमृश्य पर्यालोच्यैतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूप्येण यथेच्छसि तथा कुरु न त्वेतदविमृश्यैव कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः ।

159 अत्र चैतावदुक्तम्—अशुद्धान्तःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोत्पत्तियोग्यताप्रतिबन्धकपापक्षयार्थं फलाभिसंधिपरित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य विविदिषोत्पत्तौ गुरुमुपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकशरणतया विविक्तदेशसेवादिज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनैरात्मसाक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति । क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरमपि भगवदाज्ञापालनाय लोकसंग्रहाय च यथाकथंचित्कर्माणि कुर्वतोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासादिपरिपाकाद्वा हिरण्यगर्भन्यायेन तदनपेक्षणाद्वा भगवदनुग्रहमात्रेणैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽग्रिमजन्मनि ब्राह्मणजन्मलाभेन संन्यासादिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति । एवं विचारिते च नास्ति मोहावकाश इति भावः ॥ 63 ॥

[इसप्रकार मैंने तुमको गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान का उपदेश किया है, इस पर पूर्णतया विचार करके तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ 63 ॥]

158 इति = इसप्रकार सर्वज्ञ, परम आप्त मैंने अत्यन्त प्रिय तुमको गुह्य से भी गुह्यतर = संन्यास में समाप्त होनेवाले परम रहस्य कर्मयोग से भी, उसका फलभूत होने के कारण, रहस्यतर ज्ञान = आत्ममात्रविषयक मोक्ष का साधन 'आ = समन्तात् ख्यातं = कथितम्' = पूर्णरूप से कहा है । अतः इस मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्र का अशेषतया = सम्पूर्णतया विमर्श – पर्यालोचन कर = सम्पूर्ण को एकवाक्यता से जानकर अपने अधिकार के अनुरूप तुम जैसा चाहो वैसा करो, किन्तु इसका विमर्श – विचार किये बिना ही स्वेच्छा से जो कुछ चाहो वह नहीं करना -- यह अर्थ है ।

159 यहाँ इतना कहा है-- अशुद्धान्तःकरण मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ज्ञानोत्पत्तियोग्यता के प्रतिबन्धक पाप का क्षय करने के लिए फलाभिसंधि – फलाकांक्षापरित्यागपूर्वक भगवदर्पणबुद्धि से वर्णाश्रमानुसार धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, तदुपरान्त शुद्धान्तःकरण ब्राह्मण को विविदिषा की उत्पत्ति होने पर गुरु के समीप जाकर ज्ञान के साधन वेदान्तवाक्यों के विचार के लिए सर्वकर्मसंन्यास = समस्त कर्मों का त्याग करना चाहिए, तदनन्तर भगवदेकशरणतापूर्वक विविक्तदेशसेवा – एकान्तसेवनादि ज्ञान के साधनों का अभ्यास करने से श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति होने से मोक्ष होता हैं; किन्तु संन्यास के अनधिकारी, मुमुक्षु क्षत्रियादि को अन्तःकरणशुद्धि के पश्चात् भी भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए और लोकसंग्रह के लिए किसी न किसी प्रकार कर्मों को करते हुए भी भगवदेकशरणता से अथवा पूर्वजन्म में किये हुए संन्यासादि के परिपाक से अथवा हिरण्यगर्भ के समान संन्यास की अनपेक्षा से भगवान् के अनुग्रहमात्र से ही यहाँ तत्त्वज्ञानोत्पत्ति

160 अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति[182-183] ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ 64 ॥

161 पूर्वं हि गुह्यात्कर्मयोगाद्गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातमधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । न लाभपूजाख्यात्याद्यर्थं त्वां ब्रवीमि किं तु इष्टः प्रियोऽसि मे मम दृढमतिशयेनेति यतस्ततस्तेनैवेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्याम्यपृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितं परमं श्रेयः ॥ 64 ॥

162 तदेवाऽऽह –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ 65 ॥

हो जाने से अथवा आगामी जन्म में ब्राह्मणजन्म के लाभ से संन्यासादिपूर्वक ज्ञानोत्पत्ति होने से मोक्ष प्राप्त होता है । इसप्रकार विचार करने पर मोह के लिए अवकाश नहीं रहता है – यह भाव है ॥ 63 ॥

160 अतिगम्भीर गीताशास्त्र के अशेषतया -- सम्पूर्णतया पर्यालोचनरूप क्लेश से निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक भगवान् स्वयं ही उसके सार को संक्षिप्त करके कहते हैं :--

[अब तुम पुनः मेरा सबसे गुह्यतम परम वचन सुनो । तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित के लिए वचन कहूँगा ॥ 64 ॥]

161 पूर्व में गुह्य कर्मयोग से गुह्यतर ज्ञान को कहा, अब तो कर्मयोग और उसके फलभूत ज्ञान -- सबसे अतिशय गुह्य – रहस्य अर्थात् गुह्यतम अतएव परम = सर्वतः प्रकृष्ट – सबसे श्रेष्ठ मेरे वचन = वाक्य को भूयः = वहाँ-वहाँ उक्त भी तुम्हारे अनुग्रह के लिए पुनः कहा जाता हुआ सुनो । मैं तुमको यह वचन लाभ, पूजा, ख्याति आदि के लिए नहीं कह रहा हूँ, किन्तु क्योंकि तुम मेरे दृढ़ = अतिशय इष्ट = प्रिय हो, इसलिए उस इष्टता के कारण ही, तुम्हारे न पूछने पर भी, मैं यह तुम्हारे हित अर्थात् परम श्रेय-कल्याण के लिए कहूँगा ॥ 64 ॥

162 वही कहते हैं :--

[तुम मुझमें ही मन लगानेवाले होओ, मेरे ही भक्त और मेरा ही पूजन करनेवाले होओ तथा मुझको ही नमस्कार करो । इससे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे -- यह मैं तुमको सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो ॥ 65 ॥]

---

182. कोई विद्वान् 'दृढमिति' के स्थान पर 'दृढमतिः' – यह पाठ भी स्वीकार करते हैं ।

183. मधुसूदन सरस्वती ने इति का अर्थ 'यतः' करके श्लोकस्थ 'ततः' से सङ्गति की है, जबकि शाङ्करभाष्य में 'इति कृत्वा ततः' और श्रीधरीटीका में 'इति मत्वा ततः'– इसप्रकार अन्वय किया गया है, उक्त अन्वय पूर्व की अपेक्षा प्रसिद्धार्थ में अन्वित होने के कारण सहज सा प्रतीत होता है ।

163 मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मन्मना भव सदा मां चिन्तय। द्वेषेण कंसशिशुपालादिरपि तथाऽत आह—मद्भक्तः प्रेम्णा मय्यनुरक्तः, मद्विषयेणानुरागेण सदा मद्विषयं मनः कुर्विति विधीयते। त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मयाजी मां यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स सदा मत्पूजापरो भव। पूजोपकरणाभावे तु मां नमस्कुरु कायेन वाचा मनसा च प्रह्वीभवनेनाऽऽराधय। इदं चार्चनं वन्दनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम्। तथा चोक्तं श्रीभागवते —

> 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
> क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥' इति

एतच्च भक्तिरसायने व्याख्यातं विस्तरेण। एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन्मां भगवन्तं वासुदेवमेवैष्यसि प्राप्स्यसि वेदान्तवाक्यजनितेन मद्बोधेन। त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः, सत्यं यथार्थं ते तुभ्यं प्रतिजाने सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे। यतः प्रियोऽसि मे, प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति भावः। सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति मामेष्यसीति वा। अनुवादापेक्षया विश्वासदार्ढ्यप्रयोजनं प्रथमं व्याख्यानमेव श्रेयः। अनेन यत्पूर्वमुक्तं —

---

163 तुम मुझ भगवान् वासुदेव में ही मन है जिसका वह मन्मना होओ अर्थात् सदा मेरा ही चिन्तन करो। द्वेष से तो कंस, शिशुपाल आदि भी सदा आपका चिन्तन करते थे, अत: कहते हैं – मद्भक्त = प्रेम से मुझमें ही अनुरक्त होओ अर्थात् मद्विषयक – मुझको ही विषय करनेवाले अनुराग से सदा मद्विषयक – मुझको ही विषय करनेवाला मन करो – यह विधान करते हैं। आपको विषय करनेवाला अनुराग ही कैसे होगा ? इसपर कहते हैं – मद्याजी = मेरा यजन – पूजन करने का स्वभाव है जिसका वह मद्याजी – सदा मेरी ही पूजा करनेवाले होओ। यदि पूजा की सामग्री न हो तो मुझको नमस्कार करो = शरीर, वाणी और मन से विनम्रतापूर्वक मेरी आराधना करो। ये अर्चन और वन्दन अन्य भागवत धर्मों के भी उपलक्षण हैं। इसीप्रकार श्रीमद्भागवत में कहा है :–

"विष्णु भगवान् का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन – ये भक्ति के नौ भेद हैं। यदि किसी पुरुष के द्वारा भगवान् विष्णु के प्रति समर्पण-भाव से यह नौ प्रकार की भक्ति की जाती है तो उसी को मैं उत्तम अध्ययन मानता हूँ' (श्रीमद्भागवतपुराण, 7.5.23-24)।

इसकी 'भक्तिरसायन[184]' ग्रन्थ में विस्तार से व्याख्या की है। इसप्रकार सदा भागवत धर्मों के अनुष्ठान से मुझमें अनुराग उत्पन्न होगा उससे मन्मना = मुझमें ही मन लगानेवाले होकर तुम वेदान्तवाक्यजनित मेरे बोध के द्वारा मुझ-भगवान् वासुदेव को ही प्राप्त होओगे – तुम इसमें संशय मत करो, मैं तुमसे यह सत्य -- यथार्थ प्रतिज्ञा करके कहता हूँ अर्थात् इस विषय में सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो, प्रिय को प्रतारणा – धोखा देना उचित ही नहीं है– यह भाव है[185]। अथवा, श्लोकस्थ 'सत्यं ते' -- इन दो पदों में 'सत्यन्ते' – इसप्रकार सन्धि

---

184. द्रष्टव्य – मधुसूदन-सरस्वती-विरचित 'श्रीभगवद्भक्तिरसायन', स्वोपज्ञटीकासहित, प्रथम उल्लास, हरिगुणश्रुति – चतुर्थी भूमिका।

185. वाक्यार्थ यह है कि इसप्रकार भगवान् को सत्यप्रतिज्ञ जानकर तथा 'भगवान् की भक्ति का फल अवश्यंभावी – ऐकान्तिक मोक्ष है' – यह निश्चय कर मनुष्य को एकमात्र भगवान् की शरण में ही तत्पर होना चाहिए।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥'

इति तद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनात् ॥ 65 ॥

164 अधुना तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,' 'तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ' इति यदुक्तं तद्विवृणोति –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ 66 ॥

165 केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान्परित्यज्य विद्यमानानविद्यमानान्वा शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज, धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैर्भगवदनुग्रहादेव त्वन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व, इदमेव परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मचिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः ।

करके यह अर्थ होगा – 'सति अन्ते' = 'प्रारब्धकर्मणोऽन्ते सति' – प्रारब्ध कर्मों का अन्त होने पर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे – यह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो' । इस अनुवाद की अपेक्षा विश्वास की दृढ़ता के लिए प्रथम व्याख्यान ही श्रेयस्कर है, इससे जो पूर्व में कहा है –

'जिससे आकाशादि भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब दृश्यसमूह व्याप्त है उस अन्तर्यामी भगवान् की अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार श्रुतिस्मृतिविहित कर्मों से अर्चना करके मानव सिद्धि को प्राप्त होता है' (गीता, 18.46) -- उसकी व्याख्या की गई है, क्योंकि यहाँ 'मत्' शब्द से भगवान् ने अपनी ईश्वरता प्रकट की है ॥ 65 ॥

164 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'; 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' = 'हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-देश में रहता है; हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ' (गीता, 18.61-62) – यह जो कहा है उसका अब विवरण करते हैं :--

[हे अर्जुन ! तुम सब धर्मों का परित्याग कर एक मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुमको सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ॥ 66 ॥]

165 हे अर्जुन ! कोई वर्णधर्म है, कोई आश्रमधर्म हैं, कोई सामान्यधर्म हैं – इसप्रकार विद्यमान अथवा अविद्यमान सब धर्मों का परित्याग कर = उनका शरणत्वेन अनादर कर सब धर्मों – कर्मों के अधिष्ठाता और फलदाता एक, अद्वितीय मुझ ईश्वर की ही शरण[186] में आ जाओ; धर्म हों अथवा न हों – उन अन्यसापेक्ष धर्मों से क्या प्रयोजन है ? अन्यनिरपेक्ष भगवान् के अनुग्रह से ही मैं कृतार्थ होऊँगा – इस निश्चय से परमानन्दघनमूर्ति अनन्त श्री वासुदेव भगवान् का ही प्रतिक्षण भावनापूर्वक भजन करो, – यही परम तत्त्व है, इससे अधिक नहीं है – इसप्रकार विचारपूर्वक प्रेम के प्रकर्ष से सब अनात्म पदार्थों की चिन्ता से शून्य और तैलधारा के समान अविच्छिन्न मनोवृत्ति से सतत-निरन्तर चिन्तन करो – यह अर्थ है ।

---

186. 'शृणाति हिनस्त्यविद्यादीन्क्लेशादीन् शरणमाश्रय: परायणमिति' (नीलकण्ठीटीका) = अविद्या आदि पाँच क्लेशों को जो नष्ट करता है उसको 'शरण' कहते हैं अतएव शरण का अर्थ भगवदाश्रय अथवा भगवत्परायण होना है ।

166 अत्र मामेकं शरणं व्रजेत्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे सर्वधर्मान्परित्यज्येति निषेधानुवादस्तत्कार्यकारितालाभाय यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयादितिवत् । तथा च ममैव सर्वधर्मकार्यकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः । एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परित्यागो लभ्यतेऽतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमिति । नह्यत्र कर्मत्यागो विधियतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रानादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते । तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम् । अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्परित्यागवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च । तस्माद्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वप्रसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादितिशङ्कानिराकरणार्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम् । नच सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेधशास्त्रेण च लब्धत्वादेव । न चेदमपि संन्यासशास्त्रं भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात् । तस्मात्सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनुवाद एव ।

167 सर्वेषां तु शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता । तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात् । अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात् । अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु वक्ष्यामि ते हितं त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापे-

---

166 यहाँ 'मामेकं शरणं व्रज' = 'तुम एक मेरी ही शरण में आजाओ' – इससे ही यद्यपि सब धर्मों की शरणता का परित्याग प्राप्त हो जाता है, तथापि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' = 'सब धर्मों का परित्याग कर' – यह निषेधानुवाद कार्यकारिता के लाभ के लिए है, जैसे 'यज्ञायज्ञीये साम्नि ऐरं कृत्वोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयात्' -- यह उक्ति है । इसप्रकार मैं ही सब धर्मों का कार्यकारी हूँ अतएव मदेकशरण पुरुष को धर्म की अपेक्षा नहीं है – यह अर्थ है । इससे यह भी अपास्त -- निरस्त होता है कि 'सर्वाधर्मान्परित्यज्य' -- यह कहने पर अधर्मों का परित्याग प्राप्त नहीं होता है, अत: 'धर्म' पद कर्ममात्र परक है । यहाँ कर्मत्याग का विधान नहीं किया गया है, अपितु विद्यमान कर्म में भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुओं-संन्यासियों के लिए साधारणरूप से अनादरपूर्वक भगवदेकशरणतामात्र का विधान किया गया है । उसमें, उन ब्रह्मचारी आदि का अपने-अपने धर्म में आदर होना संभव हो सकता है अतएव 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' – यह उसके निवारण के लिए है । अनर्थफल अधर्म में तो किसी का भी आदर नहीं होता है अतएव उसके परित्याग को बतलानेवाला वचन तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि अधर्म -- प्रतिषेध तो अन्य शास्त्रों से भी प्राप्त है । अत:, वर्णाश्रम धर्मों में अभ्युदय की हेतुता प्रसिद्ध है अतएव उनमें मोक्ष की भी हेतुता होगी -- ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए ही यह वचन है – यह न्याययुक्त है । यहाँ सब धर्माधर्म के परित्याग का भी विधान नहीं किया गया है, क्योंकि संन्यासशास्त्र और प्रतिषेधशास्त्र से ही वह प्राप्त है । यह भी नहीं है कि यह वचन भी संन्यासशास्त्र ही है, क्योंकि इससे तो भगवदेकशरणता का ही विधान करना अभीष्ट है । अत: 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' – यह अनुवादमात्र ही है ।

167 सब शास्त्रों का परम रहस्य तो ईश्वर की शरणता ही है-- इसप्रकार उसी में भगवान् ने गीता-शास्त्र की परिसमाप्ति की है, क्योंकि उसके बिना संन्यास का भी अपने फल में पर्यवसान नहीं होता है और संन्यास के अनधिकारी क्षत्रिय अर्जुन के प्रति संन्यासोपदेश अयुक्त है । अर्जुन के व्याज से दूसरों के लिए उपदेश स्वीकार करने पर तो 'वक्ष्यामि ते हितम्' (गीता, 18.64) = 'मैं तुम्हारे

भ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारौ न स्याताम् । तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः । यस्मात्त्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानादरेणातोऽहं सर्वधर्मकार्यकारी त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम । अतो मा शुचो युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः ।

168 **भाष्यकारैर्निरस्तानि दुर्मतानीह विस्तरात् ।**
ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी न तदर्थमहं यते ॥
तस्यैवाहं ममैवासो स एवाहमिति त्रिधा ।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः ॥
विशेषो वर्णितोऽस्माभिः सर्वो भक्तिरसायने ।
ग्रन्थविस्तरभीरुत्वाद्दिङ्मात्रमिह कथ्यते ॥

तत्राऽऽद्यं मुदु यथा –

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥'

द्वितीयं मध्यं यथा –

'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥'

हित के लिए वचन कहूँगा'; 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि त्वं मा शुचः' = 'मैं तुमको सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो' – इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार नहीं होंगे । अत: संन्यासधर्मों में भी अनादरपूर्वक भगवदेकशरणतामात्र में ही भगवान् का तात्पर्य है । क्योंकि तुम सब धर्मों का अनादर कर एक मेरी ही शरण हो, इसलिए मैं सब धर्मों के कार्यों को करनेवाला होने से प्रायश्चित्त के बिना ही तुमको बन्धुवधादिनिमित्तक, संसार के हेतुभूत सब पापों से मुक्त कर दूँगा, क्योंकि 'धर्म से पाप को दूर करता है' – ऐसी श्रुति है और मैं धर्मस्थानीय हूँ । अत: शोक मत करो = युद्ध में प्रवृत्त हुए मेरा बन्धुवधादिनिमित्तक प्रत्यवाय-पाप से कैसे निस्तार होगा – ऐसा शोक मत करो ।

168 भाष्यकार ने यहाँ विस्तारपूर्वक समस्त दूषित मतों का निराकरण किया है । मैं तो ग्रन्थमात्र की व्याख्या ही करना चाहता हूँ, इसलिए मैं उसके लिए प्रयत्न नहीं करता हूँ । साधन के अभ्यास का परिपाक होने से 'तस्यैवाहम्' = 'मैं उसका ही हूँ', 'ममैवासौ' = 'वह मेरा ही है' और 'स एवाहम्' = 'मैं वही हूँ'– इसप्रकार तीन प्रकार की भगवत्शरणता होती है । इन सबका विशेष वर्णन हमने अपने 'भक्तिरसायन[187]' ग्रन्थ में किया है । यहाँ तो ग्रन्थविस्तार के भय से केवल दिग्दर्शनमात्र कहते हैं :–

उनमें प्रथम शरणागति 'मृदु' है; जैसे –

"हे नाथ ! भेद नहीं रहने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं है, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का होता है, समुद्र कहीं तरङ्ग का नहीं होता है" (शंकराचार्यप्रणीत षट्पदीस्तोत्र, पद 3) ।

---

187. द्रष्टव्य – श्रीभगवद्भक्तिरसायन, द्वितीय उल्लास, कारिका – 60-72 ।

तृतीयमधिमात्रं यथा –

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥'

इति दूतं प्रति यमवचनम् । अम्बरीषप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः ।

169 अस्मिन्हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा । तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र । संन्यास-पूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहिता ज्ञाननिष्ठोपसंहृता 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यत्र । भगवद्भक्तिर्निष्ठा तूभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहृता सर्वधर्मा-न्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्यत्र । भाष्यकृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः । भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः ।

'वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्याऽऽगमगिरारहस्यं तद्व्याख्यामनतिनिपुणः को वितनुताम् । अहं त्वेतद्बाल्यं यदिह कृतवानस्मि कथमप्यहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम्' ॥ 66 ॥

170 समाप्तः शास्त्रार्थः । शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ 67 ॥

द्वितीय शरणागति 'मध्यम' है; जैसे –

"हे कृष्ण ! तुम बलात् हाथ को झटक कर जा रहे हो, इसमें क्या अद्भुत – आश्चर्य है ? यदि तुम मेरे हृदय से निकल जाओ तो मैं तुम्हारा पौरुष समझूँगा ।"

तृतीय शरणागति 'अधिमात्र' है; जैसे :-

"यह सब और मैं वह एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर भगवान् वासुदेव ही हैं – ऐसी जिनकी हृदयगत अनन्त में अचल बुद्धि होती है उनको दूर से ही छोड़कर चले जाना ।" – यह दूत के प्रति यमराज का वचन है । अम्बरीष, प्रह्लाद, गोपी आदि इस भूमिका में उदाहरण के योग्य है ।

169 इस गीताशास्त्र में साध्य-साधन-भावापन्न – तीन निष्ठाएँ विवक्षित रही हैं और बहुत प्रकार से उनको कहा गया है । उनमें, कर्मनिष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपर्यन्त 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता, 18.46) – इत्यादि में उपसंहृत हुई है । संन्यासपूर्वक श्रवणादि के परिपाकसहित ज्ञाननिष्ठा 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गीता, 18.55) --इत्यादि में उपसंहृत हुई है । तथा भगवद्भक्तिनिष्ठा तो उक्त दोनों की साधनभूता और दोनों ही की फलभूता होती है-- इसकारण अन्त में 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'-- इत्यादि में उपसंहृत हुई है । भाष्यकार तो कहते हैं कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'-- इसके द्वारा सर्वकर्मसंन्यास का अनुवाद करके 'मामेकं शरणं व्रज-- इससे ज्ञाननिष्ठा उपसंहृत हुई है । भगवान् के अभिप्राय का वर्णन करने में हम क्या हैं, कुछ नहीं हैं ।

'परम पुरुष भगवान् का यह 'गीता' नामक वचन वेदवाणी का रहस्य है, इसकी व्याख्या कौन अत्यन्त अनिपुण व्यक्ति कर सकता है ? मैंने तो जो इसमें किसी प्रकार भी यह बचपन किया है वह भी अहेतुक स्नेह करनेवाले महापुरुषों के कौतुक के लिए ही है' ॥ 66 ॥

170 शास्त्र का अर्थ समाप्त हुआ, अब शास्त्र के सम्प्रदाय की विधि को कहते हैं :--

171 इदं गीताख्यं सर्वशास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्कायासंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्यामप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि संबध्यते । तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं कदाचन । तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन । चशब्दो वाच्यं कदाचनेतिपदद्वयाकर्षणार्थः । न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादिगुणकं मत्वाऽभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि यस्तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि न वाच्यं कदाचनेत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः । एकैकविशेषणाभावेऽप्ययोग्यताप्रतिपादनार्थाश्चत्वारो नकाराः । मेधाविने तपस्विने वेत्यन्यत्र विकल्पदर्शनाच्छुश्रूषागुरुभक्तिभगवदनुरक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम् । मेधातपसोः पाक्षिकत्वेऽपि भगवदनुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेनि भाष्यकृतः ॥ 67 ॥

172 एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह –

य इदं[188] परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ 68 ॥

[हे अर्जुन ! तुम इस गीताशास्त्र का उपदेश ऐसे पुरुष को कभी नहीं करना जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सेवापरायण न हो और मुझसे द्वेष करता हो ॥ 67 ॥]

171 तुम्हारे संसार-बन्धन का छेदन करने के लिए मेरे द्वारा उक्त यह 'गीता' नामक सब शास्त्रों के अर्थ का रहस्य अतपस्क = असंयतेन्द्रिय पुरुष को कभी -- किसी भी अवस्था में तुम्हारे द्वारा बतलाये जाने के योग्य नहीं है अर्थात् तुमको इस गीताशास्त्र का उपदेश ऐसे पुरुष को कभी नहीं करना चाहिए जो तपस्वी न हो । 'वाच्यं कदाचन' इन पदों का तीनों पर्यायों से सम्बन्ध है । तपस्वी होने पर भी जो अभक्त हो अर्थात् जो गुरु और देवता में भक्ति न रखता हो उसको भी कभी नहीं कहना चाहिए । तपस्वी हो और भक्त भी हो किन्तु जो अशुश्रूषु = शुश्रूषा -- परिचर्या-सेवा करने वाला न हो तो उसको भी कभी नहीं कहना चाहिए । यहाँ प्रथम चकार 'वाच्यम्' और 'कदाचन' -- इन दो पदों के आकर्षण के लिए है । तथा जो मुझसे अभ्यसूया करता हो = मुझ भगवान् वासुदेव को असर्वज्ञत्वादि गुणोंवाला मनुष्य मानकर जो अभ्यसूया करता हो अर्थात् आत्मप्रशंसादि दोषों के अध्यारोपण से मुझमें ईश्वरत्व को सहन न करता हुआ जो द्वेष करता हो उस श्रीकृष्ण के उत्कर्ष को सहन न कर सकनेवाले तपस्वी, भक्त, सेवापरायण को भी कभी नहीं कहना चाहिए । यहाँ द्वितीय चकार भी 'वाच्यम्' और 'कदाचन' -- इन दोनों पदों के आकर्षण के लिए है । तात्पर्य यह है कि इस गीताशास्त्र को तपस्वी, भक्त, सेवापरायण और श्रीकृष्णप्रेमी पुरुष से ही कहना चाहिए । एक-एक विशेषण न होने पर भी अयोग्यता बतलाने के लिए चार 'न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि अन्यत्र 'मेधावी अथवा तपस्वी को उपदेश करना चाहिए' -- इसप्रकार का विकल्प देखा गया है । सेवापरायण, गुरुभक्ति और भगवदनुरागयुक्त तपस्वी को अथवा उन विशेषणों से युक्त मेधावी को यह शास्त्र कहना चाहिए । यहाँ मेधा और तप का विकल्प होने पर भी भगवदनुरक्ति, गुरुभक्ति और शुश्रूषा का तो नियम ही है -- यह भाष्यकार कहते हैं ॥ 67 ॥

172 इसप्रकार संप्रदाय की विधि को कहकर उसके कर्ता के फल को कहते हैं :--

188. यहाँ 'इदम्' के स्थान पर 'इमम्' पाठ उपयुक्त है, क्योंकि नीलकण्ठ के अतिरिक्त भाष्यकारादि अन्य आचार्यों ने 'इमम्' पाठ ही स्वीकार करके व्याख्या की है ।

173 यः संप्रदायस्य प्रवर्तक इममावयोः संवादरूपं ग्रन्थं परमं निरतिशयपुरुषार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात्सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं मद्भक्तेषु मां भगवन्तं वासुदेवं प्रत्यनुरक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति। भक्तेः पुनर्ग्रहणात्पूर्वोक्तविशेषणत्रयरहित-स्यापि भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति। कथमभिधास्यति तत्राह–भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवन्तं वासुदेवमेष्यत्येवाचिरान्मोक्ष्यत एव संसारादत्र संशयो न कर्तव्यः। अथवा मयि परां भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेष्यत्येवेति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा योज्यम् ॥ 68 ॥

174 किं च–

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ 69 ॥

175 तस्मान्मद्भक्तेषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मे मम प्रियकृत्तमो-

[जो पुरुष इस परम गुह्य शास्त्र का मेरे भक्तों में उपदेश करेगा, वह मेरे प्रति परा भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा -- इसमें संशय नहीं करना चाहिए ॥ 68 ॥]

173 जो सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक इस हमारे = कृष्ण और अर्जुन के संवादरूप ग्रन्थ को, जो कि परम = निरतिशय पुरुषार्थ का साधन और गुह्य = अति-रहस्यार्थ होने से सर्वत्र प्रकाशित करने के लिए अयोग्य है, मेरे भक्तों में = मुझ भगवान् वासुदेव के प्रति अनुरक्त भक्तों में अभिधास्यति – कहेगा = अभितः ग्रन्थतोऽर्थतश्च धास्यति स्थापयिष्यति – ग्रन्थतः और अर्थतः स्थापित करेगा। यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध के आरम्भ में पुनः 'भक्ति' शब्द का ग्रहण करने से पूर्वोक्त तप, शुश्रूषा और अनसूया -- इन तीन विशेषणों से रहित में भी भगवद्भक्तिमात्र से शास्त्रसम्प्रदानहेतु पात्रता सूचित की गई है। किस प्रकार कहेगा -- स्थापित करेगा ? इसपर कहते हैं – मेरे प्रति परा भक्ति करके अर्थात् 'यह मेरे द्वारा परम गुरु भगवान् की शुश्रूषा – सेवा ही की जा रही है' -- इसप्रकार निश्चय करके जो कहेगा -- स्थापित करेगा वह मुझको ही प्राप्त होगा मुझ भगवान् वासुदेव को प्राप्त होगा ही = शीघ्र संसार से मुक्त ही होगा, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। अथवा, मेरे प्रति परा भक्ति करके असंशय = निःसंशय होकर मुझको प्राप्त होगा ही, अथवा मुझको ही प्राप्त होगा, अन्य को नहीं – इसप्रकार यथाश्रुत ही योजना करनी चाहिए[189] ॥ 68 ॥

174 इसके अतिरिक्त, --

[मनुष्यों में मेरे भक्तों को गीताशास्त्र का उपदेश करनेवाले उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा प्रिय करनेवाला नहीं है, न हुआ है और न होगा। संसार में उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष मुझको प्रिय नहीं है, न हुआ है और न होगा ही ॥ 69 ॥]

175 मनुष्यों में उस मेरे भक्तों को गीताशास्त्र का सम्प्रदान करनेवाले पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी

189. प्रकृत में 'मामेवैष्यति' – यह जो पद है, इसमें तीन पद हैं – 'माम्', 'एव' और 'एष्यति', इनमें 'एव' पद 'माम्' और 'एष्यति' – इन दोनों पदों के मध्य में है, अतः एवकार का देहलीदीपन्याय से उक्त दोनों पदों के साथ सम्बन्ध हो सकता है – 'मामेष्यत्येव' अथवा 'मामेवैष्यति', दोनों के अर्थों की विवक्षा में भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि संसार से मुक्ति दोनों ही पक्षों में फलितार्थ है– यह विचार कर यतिवर मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ उक्त पदों की विकल्प से व्याख्या की है।

ऽतिशयेन प्रियकृन्मद्विषयप्रीत्यतिशयवान्नास्ति वर्तमाने काले। नापि प्रागासीत्तादृक्कश्चित्। न च कालान्तरे भविता भविष्यति। ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न। अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति। न च कालान्तरे भवितेत्यवृत्त्या योज्यम्॥ 69॥

176 अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह –

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 70॥

177 आवयोः संवादमिमं ग्रन्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरस्तेनाध्येत्रेष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः। यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति तथाऽपि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति। अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा। अर्थानुसंधानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवादः। 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' इति हि प्रागुक्तम्॥ 70॥

मेरा प्रियकृत्तम-- अधिक प्रिय करनेवाला अर्थात् मद्विषयक प्रीति का अतिशयवाला वर्तमान काल में नहीं है, न पूर्व में ही वैसा कोई था और न कालान्तर में ही होगा। मुझको भी उस पुरुष की अपेक्षा दूसरा कोई भी पुरुष प्रियतर = अतिशय प्रीति का विषय इस लोक में नहीं था, न इस समय है और न कालान्तर में ही होगा-- इसप्रकार पदों की आवृत्ति से योजना करनी चाहिए॥ 69॥

176 अध्यापक के फल को कहकर अध्येता के फल को कहते हैं :--

[जो पुरुष हमारे = मेरे और तुम्हारे अर्थात् कृष्ण और अर्जुन के मध्य में हुए इस धर्मयुक्त संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानरूप यज्ञ से इष्ट-पूजित होऊँगा – यह मेरा मत है॥ 70॥]

177 हमारे = कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवादरूप इस धर्म्य[190] = धर्मयुक्त ग्रन्थ का जो अध्ययन करेगा अर्थात् जपरूप से पाठ करेगा उस अध्येता -- अध्ययन करनेवाले के द्वारा मैं सर्वेश्वर ज्ञानयज्ञ = चतुर्थ अध्याय में उक्त द्रव्ययज्ञादि की अपेक्षा श्रेष्ठ ज्ञानात्मक -- ज्ञानमय -- ज्ञानरूप यज्ञ[191] से इष्ट -- पूजित होऊँगा -- यह मेरी मति है -- मेरा निश्चय है। यद्यपि वह अध्येता गीता के अर्थ को न समझते हुए ही उसको पढ़कर जप करता है अर्थात् उसका मानसिक पाठ करता है, तथापि उसको सुनते हुए मेरी तो ऐसी बुद्धि ही होती है कि वह मुझको ही प्रकाशित कर रहा है। अतः इसके जपमात्र से ही वह ज्ञानयज्ञ के फल मोक्ष को प्राप्त करता है। जो सत्त्वशुद्धि -- अन्तःकरणशुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अर्थानुसंधानपूर्वक इसका पाठ करता है वह तो साक्षात् ही मोक्ष को प्राप्त होता है -- इसमें कहना ही क्या है ? यह फलविधि है, अर्थवाद नहीं है,क्योंकि पूर्व में कहा है :--

'हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है' (गीता, 4.33)॥ 70॥

---

190. धर्म्यं = धर्मादनपेतम् = जो धर्म से अनपेत अर्थात् व्याप्त है उसको 'धर्म्य' कहा जाता है, अतः 'धर्म्य' शब्द का अर्थ धर्मसम्मत = पुण्यजन्य है।

191. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (गीता, 4.33)

'हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सब श्रौत और स्मार्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं।'

178 प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति –

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ 71 ॥

179 यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सकाशाच्छ्रद्धावाञ्श्रद्धायुक्तः । तथा किमर्थमयमुच्चैर्जपत्यबद्धं वा जपतीति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम्, अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान्, सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोताऽपि मुक्तः पापैः शुभान्प्रशस्ताँल्लोकान्पुण्यकर्मणामश्वमेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ 71 ॥

180 शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्य इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति –

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ 72 ॥

181 कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम् । कच्चित्किमज्ञानसंमोहोऽज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययोऽज्ञाननाशात्प्र-

178 प्रवक्ता और अध्येता का फल कहकर अब श्रोता का फल कहते हैं :–
[जो श्रद्धावान् और असूयाशून्य पुरुष इस गीताशास्त्र को सुनता भी है, वह भी पापों से मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवाले पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त होता है ॥ 71 ॥]

179 जो नर[192] = मनुष्य किसी भी अन्य उच्च-स्वर से जप करनेवाले – पाठ करनेवाले अतएव कारुणिक पुरुष के सकाश से श्रद्धावान् = श्रद्धायुक्त होकर तथा 'यह उच्च-स्वर से क्यों पढ़ता है अथवा असम्बद्धरूप से क्यों पढ़ता है' – इसप्रकार की दोषदृष्टिरूपा असूया से रहित अर्थात् अनसूय होकर इस ग्रन्थ को केवल सुनता ही है, अर्थज्ञानवान् के विषय में तो कहना ही क्या है ? – यह 'अपि' शब्द से सूचित है, वह केवल अक्षरमात्र का श्रोता भी पापों से मुक्त होकर अश्वमेधादि पुण्यकर्म करनेवालों के शुभ – प्रशस्त लोकों को प्राप्त होता है । ज्ञानवान् के विषय में तो कहना ही क्या है ? यह भाव है ॥ 71 ॥

180 कारुणिक गुरु को शिष्य की ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त प्रयास करना चाहिए -- इसप्रकार के गुरुधर्म की शिक्षा देने के लिए सर्वज्ञ भी भगवान् 'पुन: उपदेश की अपेक्षा नहीं है' -- यह ज्ञापित करने के लिए पूछते हैं :--
[हे पार्थ ! क्या तुमने मेरे द्वारा उपदिष्ट इस गीताशास्त्र को एकाग्रचित्त से सुना ? हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित सम्मोह इस गीताशास्त्र के सुनने से नष्ट हुआ ? ॥ 72 ॥]

181 'कच्चित्[193]' -- यह पद प्रश्नार्थक है । हे पार्थ[194] ! क्या तुमने मेरे द्वारा उक्त इस गीताशास्त्र को

192. यहाँ 'नर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि जो इस गीताशास्त्र के श्रवण से भी वञ्चित -- हीन होता है वह नर नहीं है किन्तु पशु ही है ।

193. 'कच्चित्' -- यह पद प्रश्न के लिए है । स्नेहपूर्वक जब कोई प्रशस्त प्रश्न किया जाता है तब 'कच्चित्' पद का प्रयोग होता है ।

194. हे पार्थ ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि स्त्रीस्वभाव-शोक और मोह के निवर्तक इस गीताशास्त्र को तुमने एकाग्रचित्त से सुना । यदि तुमने नहीं सुना होगा तो मैं पुनः तुमको वह कहूँगा, पृथा के

नष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनंजय । यदि स्यात्पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ 72 ॥

182 एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः–

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ 73 ॥

183 नष्ट उच्छिन्नो मोहोऽज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह–स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया । यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्राप्तमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनाऽऽत्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हेऽच्युताऽऽत्मत्वेन निश्चितत्वात् । वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्व-

एकाग्र अर्थात् व्यासङ्गरहित -- विषयान्तर से व्यावृत चित्त से सुना -- अर्थतः इसको समझा ? हे धनञ्जय[195] ! क्या तुम्हारा अज्ञानसंमोह = अज्ञाननिमित्तक – अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ सम्मोह – विपर्यय – विपरीतज्ञान प्रनष्ट = प्रकर्ष से अर्थात् पुनरुत्पत्ति के विरोधीरूप से नष्ट हुआ ? यदि सम्मोह होगा तो पुन उपदेश करूँगा – यह अभिप्राय है ॥ 72 ॥

182 इसप्रकार भगवान् के पूछने पर 'मैं कृतार्थ हो गया हूँ अतएव मुझको पुन: उपदेश की अपेक्षा नहीं है' – यह अर्जुन ने कहा :–

[अर्जुन ने कहा – हे अच्युत ! आपके प्रसाद – अनुग्रह से मेरा मोह नष्ट हो गया है और आत्मतत्त्वस्मृति भी प्राप्त हो गई है, अतएव सब सन्देहों से मैं मुक्त हो गया हूँ, इसीलिए मैं स्थित हूँ और यावज्जीवन आपके वचनों का पालन करूँगा ॥ 73 ॥]

183 मेरा मोह = अज्ञानकृत विपर्यय नष्ट = उच्छिन्न हो गया हैं । उसके नाशक को कहते हैं :-- आपके प्रसाद – अनुग्रह से मुझको स्मृति का लाभ हुआ है । क्योंकि आपके उपदेश से मुझको आत्मज्ञान का लाभ हुआ है अर्थात् सब संशयों की अनाक्रान्तता से आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए सब प्रकार के प्रतिबन्धों से शून्य आत्मज्ञान द्वारा मोह नष्ट हो गया है – यह अर्थ है । भगवान् आत्मरूप से निश्चित हैं अतएव उनके लिए हे अच्युत[196] ! — यह सम्बोधन है । 'वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र-

पुत्र होने से तुम मेरे प्रेमास्पद हो अतएव तुम जबतक इस शास्त्र को नहीं समझोगे तबतक मैं तुमको यह शास्त्र सुनाऊँगा – यह उक्त सम्बोधन का आशय है । मेरी आज्ञा से लोकोद्धार के लिए तुमने स्त्रीस्वभाव-शोक और मोह को अङ्गीकार किया और मेरे द्वारा उक्त लोकोद्धार के उपायरूप इस गीताशास्त्र को भी तुमने एकाग्रमन से सुना अतएव इस समय तुम शोक और मोह – दोनों को त्यागकर अपने स्वभाव का आविर्भाव करो – यह उक्त सम्बोधन की गूढाभिसन्धि है ।

195. हे धनञ्जय ! – यह सम्बोधन करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि यदि तुम्हारा मोह सर्वथा नष्ट हो गया हो तो धनञ्जय होओ, यदि मोह नष्ट नहीं हुआ हो तो पुन: उसके नाश के लिए जो तुमको पूछना है वह पूछो । गूढाभिसन्धि पक्ष में 'वीरोऽनन्तो धनंजयः' – इस स्थल पर उक्त 'धनंजय' अपने नाम से सम्बोधित करते हुए भगवान् यह ध्वनित करते हैं कि मेरे अवतार तुम्हारा अज्ञाननिमित्तक मोह का अभाव होने से मेरी आज्ञा से लोकोपकार के लिए स्वीकार किया हुआ अज्ञानजनित सम्मोह क्या नष्ट हुआ ? मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्र द्वारा क्या सम्मोह नष्ट करने के लिए तुम्हारे में सामर्थ्य है ?

196. अच्युत अर्थात् अभिन्न होने से, स्वस्वरूप होने से वह कदापि प्रच्युत नहीं है, वह जरा – मरणादि से वर्जित है अतएव कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से सर्वथा विमुक्त है – इसप्रकार आत्मतत्त्वविषया, सब ग्रन्थियों से मोक्ष करानेवाली स्मृति को प्राप्त करके अर्जुन भगवान् को हे अच्युत ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

ग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह--स्थितोऽस्मि गतसंदेहो निवृत्तसर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे त्वच्छासने । यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं तद्धास्य विजज्ञाविति‍वत् ॥ 73 ॥

184 समाप्तः शास्त्रार्थः, कथासंबन्धमिदानीमनुसंदधानः--

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ 74 ॥

185 अद्भुतं चेतसो विस्मयाख्यविकारकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरम् । तेनातिपरिपुष्टत्वं विस्मयस्य दर्शितम् । स्पष्टमन्यत् ॥ 74 ॥

186 व्यवहितस्यापि भगवदर्जुनसंवादस्य श्रवणयोग्यतामात्मन आह--

मोक्षः' = 'वियोग के अयोग्य स्मृतिलाभ होने पर समस्त ग्रन्थियों का सर्वथा मोक्ष हो जाता है' -- इस श्रुति के अर्थ का अनुभव करते हुए कहते है :-- 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' = मैं सब सन्देहों से मुक्त होकर युद्धकर्त्तव्यतारूप आपके शासन में स्थित हूँ और यावज्जीवन -- जीवनपर्यन्त आपके वचनों का = परमगुरु भगवान् की आज्ञा का पालन करूँगा -- इसप्रकार भगवान् के प्रयास की सफलता कहकर अर्जुन ने भगवान् को पूर्णतया सन्तुष्ट किया । इस श्लोक से 'तद्धास्य विजज्ञौ' – इस श्रुति के समान 'गीताशास्त्र का अध्ययन करनेवाले को भगवान् के प्रसाद – अनुग्रह से अवश्य ही मोक्षफलपर्यन्त ज्ञान होता हैं' -- यह इस शास्त्र का फल उपसंहृत हुआ है ।। 73 ।।

184 शास्त्र का अर्थ समाप्त हुआ, अब कथा के सम्बन्ध का अनुसन्धान करते हुए संजय ने कहा :-- [संजय ने कहा :-- इसप्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन के मध्य हुए इस अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद को सुना ।। 74 ।।]

185 अद्भुत अर्थात् चित्त के विस्मयसंज्ञक[197] विकार को उत्पन्न करनेवाला है, क्योंकि लोकों में यह सम्भव नहीं है जो भगवान् और अर्जुन के मध्य सम्वाद हुआ है । रोमहर्षण अर्थात् शरीर के रोमाञ्चसंज्ञक[198] विकार को उत्पन्न करनेवाला है, इससे विस्मय की अतिपरिपुष्टता दिखलाई गई है । शेष स्पष्ट है ।। 74 ।।

186 भगवान् कृष्ण और अर्जुन का सम्वाद व्यवहित -- व्यवधानयुक्त होने पर भी उसको सुनने में अपनी योग्यता कहते हैं :--

---

197. 'लोकोत्तरचमत्कारिवस्तुदर्शनजः परः ।
तज्जन्यायां द्रुतौ चेतोविकासो विस्मयो मतः' ॥ (श्रीभगवद्भक्तिरसायन, 2.15)
'अलौकिक चमत्कारी वस्तुओं को देखने से उत्पन्न होनेवाले हर्ष से होनेवाली द्रुति में जो चित्त का विकास होता है उसको 'विस्मय' कहा जाता है' ।

198. 'रोमाञ्चः क्रोधरुग्भीतिहर्षशीतादिभिर्भवेत् ।
तं चोत्सुकासकृद्गात्रसंस्पर्शैः पुलकैर्वदेत् ।।' (भावप्रकाशन, प्रथमोऽधिकार)
''रोमाञ्च' क्रोध, रोग, भय, हर्ष, शीतादि से होता है । बार-बार शरीर के स्पर्श से और पुलकित होने से 'रोमाञ्च' जाना जाता है ।'

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ 75 ॥

187 व्यासदत्तदिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादिमं परं गुह्यं योगं योगाव्यभिचारिहेतुं संवादं योगेश्वरात्कृष्णात्स्वयं स्वेन पारमेश्वरेण रूपेण कथयतः साक्षादेवाहं श्रुतवानस्मि न परम्परयेति स्वभाग्यमभिनन्दति । अत्रेममिति पुँल्लिङ्गपाठो भाष्यकारैर्व्याख्यातः। एतदिति नपुंसकलिङ्ग-पाठस्यैव योगशब्दसामानाधिकरण्येन व्याख्यानमिदमिति तद्व्याख्यातारः ॥ 75 ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ 76 ॥

188 पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुतवानस्मि किंतु संस्मृत्य

[मैंने भगवान् वेदव्यास के प्रसाद – अनुग्रह से ही अर्जुन को स्वयं अपने पारमेश्वर रूप से कह रहे साक्षात् योगेश्वर भगवान् कृष्ण से इस परम गुह्य योग को सुना है ।। 75 ।।]

187 भगवान् वेदव्यास के प्रसाद से अर्थात् वेदव्यास के दिये हुए दिव्य चक्षु, श्रोत्रादि के लाभरूप प्रसाद से ही मैंने इस परम[199] गुह्य[200] योग[201] = योग के अव्यभिचारी हेतुरूप सम्वाद को स्वयं अपने पारमेश्वररूप से कह रहे योगेश्वर[202] कृष्ण[203] से साक्षात् ही सुना है, परम्परा से नहीं -- इसप्रकार सञ्जय अपने भाग्य का अभिनन्दन करते हैं । यहाँ 'इमम्[204]'– इस पुँल्लिङ्ग पाठ की ही भाष्यकार ने व्याख्या की है । उनके भाष्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा हैं कि 'एतत्'-- इस नपुंसकलिङ्ग पाठ का ही 'योग' शब्द के सामानाधिकरण्य के कारण यह व्याख्यान है ।। 75 ।।

[हे राजन्[205] ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य -- पवित्र सम्वाद का स्मरण कर – करके मैं बार-बार हर्षित – रोमाञ्चित होता हूँ ।। 76 ।।]

188 केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य = सुनने से भी सब पापों को हरनेवाले सम्वाद को

---

199. कृष्णार्जुनसंवाद परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय होने के कारण परम् – श्रेष्ठ है ।

200. योग्य शिष्य के बिना उक्त सम्वाद को सुनने का अधिकार नहीं है अतएव यह गुह्य अर्थात् गोपनीय है ।

201. 'योगार्थत्वादयं संवादोऽपि योग:' = योग अर्थात् परमात्मा के साथ योग = एकत्व के अनुभव के अव्यभिचारी उपायरूप ज्ञान और कर्म अथवा भक्ति – ये संवाद के अर्थ- विषय हैं अतएव यह संवाद 'योग' कहा जाता है; अथवा – यह संवाद ही 'योग' है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग का यह अङ्ग है, कारण कि इस संवाद के श्रवण से ही भगवान् में चित्त स्वत: ही युक्त हो जाता है ।

202. योगानामीश्वरो योगेश्वर: = योगों का जो ईश्वर है वह 'योगेश्वर' है, 'योगेश्वर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि व्यवहित मैंने जिस योगसामर्थ्य से इस गीताशास्त्र को सुना है वह उसी योगेश्वर का सामर्थ्य है, मेरा सामर्थ्य नहीं है ।

203. 'कृष्ण' शब्द से यह ध्वनित होता है कि कृष्णप्रसादरूप कृष्णद्वैपायन का प्रसाद ही इस गीताशास्त्र को सुनने में मेरा सामर्थ्य है ।

204. यहाँ 'इमम्' – यह पुँल्लिङ्ग पाठ ही उपयुक्त है, क्योंकि भाष्यकार ने इस पाठ की ही व्याख्या की है, कारण कि यह 'योग' शब्द का विशेषण है । किन्तु प्राचीन पाठ में 'एतत्'– इस नपुंसकलिङ्ग पाठ का प्रचलन है ।

205. कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए संवाद को सुननेवाले धृतराष्ट्र आप भी वैर को त्यागकर कृष्णभक्तिमति को आदरपूर्वक अङ्गीकार करते हुए अत्यन्त दीप्तिमान्, अत्यन्त हृष्ट वास्तविक राजा होओ -- इसप्रकार बोध कराते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र को हे राजन् ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

संस्मृत्य, संभ्रमे द्विरुक्तिः । मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ 76 ॥

189 यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान्दर्शयामास तदिदानीमनुसंदधान आह –

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ 77 ॥

190 तदिति विश्वरूपं हे राजन्मम महान्विस्मयोऽत एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ 77 ॥

191 एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह –

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ 78 ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ 18 ॥

192 यत्र यस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान्कृष्णो भक्त-

---

मैंने केवल सुना ही नहीं है किन्तु उसका स्मरण कर -- करके — यहाँ 'संस्मृत्य -- संस्मृत्य' – यह द्विरुक्ति सम्भ्रम = श्रद्धा अर्थ में है – मैं मुहुर्मुहु = बार-बार हर्षित होता हूँ – हर्ष[206] को प्राप्त होता हूँ अथवा प्रतिक्षण रोमाञ्चित होता हूँ ॥ 76 ॥

189 भगवान् ने अर्जुन के ध्यान के लिए जो अपना विश्वरूपाख्य सगुण रूप दिखाया था उसका अब अनुसन्धान करते हुए कहते हैं :--
[हे राजन् ! हरि – भगवान् के उस अत्यन्त अद्भुत रूप का स्मरण कर – करके मुझको महान् विस्मय होता है और मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥ 77 ॥]

190 'तत्' अर्थात् विश्वरूप का स्मरण कर – करके हे राजन्[207] ! मुझको महान् विस्मय होता है अतएव मैं हर्षित होता हूँ । शेष स्पष्ट है ॥ 77 ॥

191 ऐसा होने पर राजन् ! आप अपने पुत्र के लिए विजयादि की सम्भावना का परित्याग कीजिए -- यह कहते हैं :--
[जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ -- अर्जुन हैं वहाँ अवश्य ही श्री, विजय, भूति -- वृद्धि और नीति प्राप्त होती है – यह मेरा निश्चय है ॥ 78 ॥]

192 जहाँ = जिस युधिष्ठिरपक्ष मे योगेश्वर[208] = समस्त योगसिद्धियों के ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्

---

206. चित्त का समुल्लास ही 'हर्ष' होता है । शुद्ध-हर्ष परम आनन्दमय श्रीश = भगवान् की महिमा से उत्पन्न होता है (हर्षश्चित्तसमुल्लासः, परानन्दमयः श्रीशमाहात्म्यकारणम् – श्रीभगवद्भक्तिरसायन, 2.12) ।

207. 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' (गीता, 12.6) = 'हम यह भी नहीं जानते कि शत्रुओं को हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे' – इसप्रकार के अर्जुन के संशय को विश्वरूपप्रदर्शनद्वारा हरने में प्रवृत्त हरि – भगवान् के सर्वोपसंहार को दिखानेवाले विश्वरूप को सुनकर भी आप तो द्रोह का परित्याग कर सन्धि के लिए तैयार होते हुए भी तैयार नहीं हुए -- यह आश्चर्य है – इसप्रकार ध्वनित करते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र को हे राजन् ! कहकर सम्बोधित करते हैं ।

दुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरो यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे श्री राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षो भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिर्ध्रुवाऽवश्यंभाविनीति सर्वत्रान्वयः । नीतिर्नयः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्माद्वृथा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभाग्भिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ 78 ॥

193 **वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।**
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ 1 ॥
काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ 2 ॥
श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ॥
व्याख्यातं भगवत्पादैः प्रतिपदं श्रीशंकराख्यैः पुन –
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥ 3 ॥

भगवान् कृष्ण[209] = भक्तों के दुखों को खींचनेवाले नारायण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ = गाण्डीवधन्वा अर्जुन अर्थात् नर हैं वहाँ = उस नर -- नारायण से अधिष्ठित युधिष्ठिरपक्ष में श्री = राज्यलक्ष्मी, विजय = शत्रु के पराजय से होनेवाला उत्कर्ष, भूति = उत्तरोत्तर राज्यलक्ष्मी की वृद्धि और नीति = नय – न्याय -- ये ध्रुव = अवश्यंभावी हैं । श्लोकस्थ 'ध्रुवा[210]' विशेषण श्री, विजय, भूति और नीति -- इन सबके साथ अन्वित है । ऐसी मेरी मति है -- यह मेरा निश्चय है । अतः राजन् ! आप अपने पुत्र के लिए विजय की वृथा आशा को त्यागकर भगवान् से अनुगृहीत और लक्ष्मी, विजय आदि के भागी पाण्डवों के साथ सन्धि ही कर लीजिए -- यह अभिप्राय है ।। 78 ।।

193 जिनके हाथ वंशी – मुरली से विभूषित हैं, जिनके शरीर की आभा – कान्ति नव[211]= नवीन नीरद = जलपूर्णमेघ के समान है, जो पीताम्बरधारी हैं, जिनके अधरोष्ठ अरुण बिम्बाफल के समान हैं, जिनका मुख पुर्णेन्दु = पूर्णिमा के चन्द्र के समान सुन्दर है और जिनके नेत्र अरविन्द -- कमल के समान हैं उन श्रीकृष्ण से पर = उत्कृष्ट अन्य किसी भी तत्त्व को मैं नहीं जानता हूँ ।। 1 ।।

आदि -- प्रथम षट्क = छः अध्यायों से कर्मकाण्ड, मध्य के छः अध्यायों से उपासना काण्ड- भक्ति काण्ड और अन्तिम छः अध्यायों से ज्ञान काण्ड-- इसप्रकार तीन काण्डों वाले 'गीता' नामक शास्त्र की जिसने रचना की है उस भगवान् को नमस्कार है ।। 2 ।।

---

208. ज्ञान और कर्म अथवा भक्ति -- ये सब योग और इस योगसमूह के बीज -- मूल शास्त्रीय ज्ञान – वैराग्यादि भगवान् के अधीन हैं, क्योंकि जो भगवदनुग्रह से वंचित रहता है उसके लिए योग और उसका फल संभव नहीं होता है, अतः सभी योग और उनके फल भगवान् के अधीन रहने के कारण भगवान् कृष्ण को 'योगेश्वर' कहते हैं ।

209. 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।'

इत्यादि के द्वारा निर्दिष्ट सच्चिदानन्दघन, अघ – पापों का कर्षण करनेवाले 'कृष्ण' हैं ।

210. भाष्यकार ने केवल 'नीति' शब्द के विशेषणरूप से 'ध्रुवा' शब्द को ग्रहण करके व्याख्या की है ।

211. यहाँ 'नव' पद का प्रयोग साभिप्राय है । 'नवनीरद' का अभिप्राय श्रावण-भाद्रमास के मेघ से है, क्योंकि श्रावण-मास में मेघ प्रथम तो स्वयं होते हैं, सहज होते हैं अतएव नव -- नवीन होते हैं और द्वितीय वे जलपूर्ण होते हैं, जलद होते हैं अतएव श्याम होते हैं, किन्तु शरद् - ऋतु के मेघ स्वल्पजल होते हैं अतएव श्वेत होते हैं, अतः 'नव' पद शरत्कालीन मेघ की व्यावृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानन्दघनः सनातनः ।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ 4 ॥
श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ 5 ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां संन्यासयोगप्रतिपादनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ 18 ॥

(समाप्तेयं श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीका ।)

महर्षि व्यास ने श्रीगोविन्द भगवान् के मुखारविन्दमधु से मधुर 'गीता' नामक परम रहस्य को महाभारत[212] में प्रसिद्ध किया है, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने 'गीता' के प्रत्येक पद की व्याख्या की है, पुनः उसी का मधुसूदन मुनि ने अपने ज्ञान की शुद्धि के लिए विशेषरूप से स्पष्ट किया है ।। 3 ।।

जो मन को विमुग्ध करता हुआ परमानन्दघन सनातन प्रभु है वह हमारे ग्रन्थ के गुण अथवा दोषों का निर्वाहक है, क्योंकि यह जन स्वयं तृणतुल्य है[213] ।। 4 ।।

मैंने अपने गुरुदेव श्रीरामानन्द सरस्वती[214], श्रीविश्वेश्वर सरस्वती[215] और श्रीमाधव सरस्वती[216] के प्रसाद – अनुग्रह को प्राप्त कर यह सुबोध व्याख्यान किया है और इसको उनके ही चरणकमलों में समर्पित किया है ।। 5 ।।

इसप्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वेश्वरसरस्वती के पादशिष्य श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका के हिन्दी भाषानुवाद का संन्यासयोग नामक अष्टादश अध्याय समाप्त होता है ।

।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

---

212. यह 'गीता' नामक परम रहस्य महाभारत के भीष्मपर्व के चौबीसवें अध्याय में विशेषरूप से प्रकाशित है ।
213. भाव यह है कि जिसप्रकार अचेतन तृण – तिनका चेतन के व्यापार के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है उसीप्रकार यह जन मधुसूदन सरस्वती भी केवल शरीर और इन्द्रियों का संघात होने से परमानन्दघन भगवान् की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ है ।
214. श्रीरामानन्द सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के गुरु के गुरु अर्थात् परमगुरु हैं ।
215. श्रीविश्वेश्वर सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के दीक्षागुरु हैं ।
216. श्रीमाधव सरस्वती मधुसूदन सरस्वती के विद्यागुरु हैं ।

।। श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।।

इसप्रकार श्रीमधुसूदन सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीता-गूढार्थदीपिका-टीका का
मथुरा-मण्डलान्तर्गत सादाबाद-उपमण्डलनिवासी
श्री हरिचरण दास अग्रवाल तथा श्रीमती गायत्री देवी के पुत्र
डॉक्टर मदन मोहन अग्रवाल द्वारा कृत
विमर्श सहित प्रतिभा-संज्ञक हिन्दीभाष्यानुवाद समाप्त होता है ।

।। श्रीगुरुः शरणम् ।।

।। श्रीः ।।

अनुबन्धावली

अनुबन्ध
1
श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानुक्रमणी

अनुबन्ध
2
गूढार्थदीपिकोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका

अनुबन्ध
3
विमर्शोद्धृतवाक्यानुक्रमणिका

अनुबन्ध
4
विशिष्टनामानुक्रमणिका

अनुबन्ध
5
विशिष्टपदानुक्रमणी

अनुबन्ध
6
सहायक ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

अद्वैतरत्नलक्षणम् , मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937 ।

अद्वैतसिद्धि , मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937; सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1986 ।

अमरकोश , रामाश्रमी-टीका सहित, सम्पादक – पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970 ।

अर्थसंग्रह , लौगाक्षि भास्कर, सम्पादक – एस० एस० सुक्थङ्कर, पुनर्मुद्रित संस्करण, दिल्ली, 1983 ।

अलङ्काररत्नाकर , शोभाकर मित्र, सम्पादक – सी० आर० देवधर, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1942 ।

अलङ्कारसर्वस्व , रुय्यक, सम्पादक – डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1971 ।

अष्टादश उपनिषदः , वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1958 ।

अष्टादश स्मृतयः , श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1951 ।

अष्टाध्यायी , पाणिनि, सम्पादक – एस० पाठक तथा एस० चित्राव, पूना 1935; सम्पादक – श्रीगोपाल शास्त्री 'दर्शनकेशरी', चौखम्बा प्रकाशन, 1980 ।

अष्टोत्तरशतोपनिषद् , सम्पादक – अनुवादक = श्रीराम शर्मा आचार्य, तीन भाग, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1961 ।

आङ्गिरसस्मृति , सम्पादक – ए० एन० कृष्णा अय्यङ्गर, अड्यार लाईब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार ।

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र , सम्पादक – आर० गार्वे, कलकत्ता, 1882 ।

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः , निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1925 ।

ईशाद्यष्टोपनिषदः , सम्पादक – प्रोफेसर रामप्रताप शास्त्री, मथुरा, 1937 ।

ईशावास्योपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

उपनिषद्-ग्रन्थ :–

अक्ष्युपनिषद्
अन्नपूर्णोपनिषद्
ईशावास्योपनिषद्
ऐतरेयोपनिषद्
कठोपनिषद्
कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
जाबलोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
नारदपरिव्राजकोपनिषद्
परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्
बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
भवसन्तरणोपनिषद्
महानारायणोपनिषद्
महोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
मुक्तिकोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायण्युपनिषद्
योगोपनिषदः
वराहोपनिषद्
वेदान्तोपनिषदः
वैष्णवोपनिषदः ; शाण्डिल्योपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासोपनिषदः

उपनिषद्वाक्यमहाकोश , संकलनकर्ता -- श्रीगजानन शम्भु साधले, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1990 ।

उपनिषद्-संग्रहः , अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार ।

ऋग्वेद-संहिता , सम्पादक – मैक्समूलर, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1966 ।

एतरेयोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

कठोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

कालिकापुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

काव्यप्रकाश , मम्मट, 'बालबोधिनी' टीकासहित, टीकाकार – वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर, सम्पादक – रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1965 ।

काव्यादर्श , दण्डी, व्याख्याकार – आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1991 ।

काव्यालङ्कार , भामह, भाष्यकार – देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1985 ।

काशिकावृत्ति , वामनजयादित्य, सम्पादक – शोभित मिश्र, दो भाग, काशी संस्कृत सीरीज नं० 37, वाराणसी, 1952 ।

किरणावली , उदयनाचार्य, सम्पादक – जितेन्द्र एस० जेतली, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 125, बडोदा, 1971; हिन्दीभाषाव्याख्यानसमलङ्कृता, व्याख्याकार – गौरीनाथ शास्त्री, गङ्गानाथ झा ग्रन्थमाला नं० 8, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, 1980 ।

कुवलयानन्द , अप्पय दीक्षित, हिन्दी-व्याख्याकार – डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963 ।

कृष्णयजुर्वेद , आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1900 ।

कोश-ग्रन्थ :--

अमरकोश
उपनिषद्वाक्यमहाकोश
न्यायकोश
महाभारतकोश
मेदिनीकोश
विश्वकोश
शब्दकल्पद्रुमः
शब्दसागर
संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी
संस्कृत-हिन्दी-कोश
सांख्ययोगकोश
हलायुधकोश
हिन्दूधर्मकोश
हैमकोश

कौषीतकि ब्राह्मण , सम्पादक – ई० वी० कोवेल, कलकत्ता, 1861 ।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् , सम्पादक – एस० सी० विद्यारण्य, इलाहाबाद, 1926 ।

गौडपादकारिका-माण्डूक्यकारिका , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1921; गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016; सम्पादक – रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1973 ।

छान्दोग्योपनिषद् , आनन्दाश्रम, पूना, 1890; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

जीवन्मुक्तिविवेक , विद्यारण्य मुनि, सम्पादक – एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री तथा टी० आर० एस० अय्यंगर, संशोधक – ए० जी० कृष्णा वारियर, अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन नं० 41, 1977 ।

जैनदर्शनसार , चैन्सुखदास, सम्पादक – सी० एस० मल्लिनाथन, हिन्दी अनुवादक – पण्डित एम० सी० शास्त्री, न्यायतीर्थ, जयपुर, 1981 ।

जैमिनिसूत्र , जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

तन्त्रवार्तिक , कुमारिलभट्ट, आनन्दश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

तर्कभाषा , केशव मिश्र, व्याख्याकार – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1963 ।

तर्कसंग्रह, तर्कदीपिका , अन्नम्भट्ट, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, 1939 ।

ताण्ड्य ब्राह्मण, सम्पादक – चिन्नस्वामी, 1935 ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तैत्तिरीयारण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1927 ।

तैत्तिरीयोपनिषद्, शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1897; गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

द योग-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1983 ।

द योगवासिष्ठ, बी० एल० आत्रेय, थियोसोफीकल पब्लिशिंग हॉउस, अड्यार, 1935 ।

द वेदान्त-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1921 ।

द वैष्णव-उपनिषद्स , सम्पादक – पण्डित ए० महादेव शास्त्री, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1923।

दशरूपक , धनञ्जय, धनिककृत 'अवलोक' टीकासहित, हिन्दी-व्याख्याकार – डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962 ।

द संन्यास-उपनिषद्स , सम्पादक – डॉ० एफ० ओ० श्रेडर, अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, अड्यार, 1912 ।

देवीभागवतमहापुराण, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् 1982 ।

धर्मशास्त्र का इतिहास , मूलग्रन्थ अंग्रेजी में अतएव मूल लेखक -- महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे, हिन्दी-अनुवादक – प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप, प्रथम भाग, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला -- 74, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण ।

धर्मोत्तरप्रदीप , दुर्वेक मिश्र, न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका सहित, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955 ।

नारदपञ्चरात्र , अनुवादक – हरि प्रसन्न चटर्जी, इलाहाबाद, 1921 ।

निरुक्त , यास्क, सम्पादक – प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ।

नैष्कर्म्यसिद्धि , सुरेश्वराचार्य, सम्पादक – एम० हिरियाना, मैसूर, 1925 ।

न्यायकुसुमाञ्जलि , उदयनाचार्य, सम्पादक -- आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ।

न्यायकोश , महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, पूना, 1928 ।

न्यायबोधिनी , गोवर्धन, सम्पादक – यशवन्त वासुदेव ऐथले तथा महादेव राजाराम बोडास, बोम्बे संस्कृत सीरीज नं० LV, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1963 ।

न्यायभाष्य , वात्स्यायन, सम्पादक – पण्डित श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा पण्डित श्री नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1919 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली , विश्वनाथ पञ्चानन, पण्डित-श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृता 'किरणावली' व्याख्योपेता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रभा , सम्पादक – श्री सी० शङ्करराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1988 ।

न्यायसूत्र , गौतम, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966 ।

न्यायसूत्रवृत्ति , विश्वनाथ, सम्पादक – आशुबोध विद्याभूषण तथा नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1919 ।

पञ्चदशी , विद्यारण्य मुनि, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, 1942; बम्बई, 1925 ।

पदार्थचन्द्रिका , शेषानन्त, सप्तपदार्थीटीका, अप्रकाशित ।

पद्मपुराण , गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या 18, भाग 1-5, कलकत्ता, 1958-59 ।

पाणिनीय-शब्दानुशासनम् , सम्पादक – सत्यानन्द वेदवागीश, अलवर, 1987 ।

पातञ्जलयोगसूत्र , बंगाली बाबा कृत अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी-अनुवादिका – कुमारी वृजरानी देवी, पूना, 1943 ।

पुराण-ग्रन्थ :–

अग्निपुराण
कालिकापुराण
देवीभागवतमहापुराण
पद्मपुराण
ब्रह्मवैवर्त्तपुराण
भविष्यपुराण
मत्स्यपुराण
मार्कण्डेयपुराण
वराहपुराण
वायुपुराण
विष्णुपुराण
श्रीमद्भागवतमहापुराण
हरिवंशपुराण

प्रमाणचन्द्रिका , वेदेशतीर्थसहिता, शेषाचार्य, अप्रकाशित ।

प्रमाणवार्तिक , धर्मकीर्ति, सम्पादक -- राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1943 ।

प्रशस्तपादभाष्य , जगदीश 'सूक्ति' सहित, सम्पादक – श्री कालीपद तर्काचार्य, संस्कृत-साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, 1926 ।

प्रशस्तपादभाष्य , 'न्यायकन्दली' टीका सहित, सम्पादक – पं० दुर्गाधर झा, गङ्गानाथ झा गन्थमाला संख्या 1, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977 ।

प्रशस्तपादभाष्य , 'प्रकाशिका' हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार – आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1966 ।

प्रश्नोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

बार्हस्पत्यसूत्र

बृहदारण्यकोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1927; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक , सुरेश्वराचार्य, सम्पादक – श्री एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री, महेश-अनुसंधान-संस्थान, वाराणसी, 1990 ।

बृहस्पतिस्मृति , सम्पादक – के० वी० रङ्गस्वामी अय्यंगर, बडोदा, 1941 ।

बोधायनधर्मसूत्र , गोविन्दस्वामीप्रणीतटीकासहित, सम्पादक – ए० चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, सम्वत् 1991 ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण , गुरुमण्डलग्रन्थमाला संख्या 14, कलकत्ता, 1955 ।

ब्रह्मसूत्र , बादरायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938 ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शंकराचार्य, सम्पादक -- स्वामी श्री हनुमानदास षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977; **चतुःसूत्री** , व्याख्याकार -- आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ।

भक्तिरसायन-भगवद्भक्तिरसायन , मधुसूदन सरस्वती, अनुवाद एवं विवृतिकार – श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, वाराणसी, सम्वत् 2033 ।

भविष्यपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

भागवतदर्शनम् , प्रो० रसिक विहारी जोशी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985 ।

भावप्रकाशन , शारदातनय, सम्पादक – यदुगिरि यतिराजस्वामी तथा के० एस० रामास्वामी शास्त्री, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० 45, बडोदा, 1968; हिन्दीभाष्यानुवादकार -- डॉ० मदन मोहन अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983 ।

भाषापरिच्छेद -- कारिकावली , विश्वनाथ पञ्चानन, व्याख्याकार -- पं० श्री ज्वाला प्रसाद गौड़, सम्पादक -- पं० श्री ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1991 ।

भाष्योत्कर्षदीपिका , धनपति, गीताभाष्यटीका, सम्पादक -- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, नई-दिल्ली, 1978 ।

मत्स्यपुराण , श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1895; पुनर्मुद्रित, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

मधुसूदन सरस्वती ऑन् द भगवद्गीता , एस० के० गुप्ता, दिल्ली, 1977 ।

मनुस्मृति , श्रीकुल्लूकभट्टप्रणीत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीकासहिता 'मणिप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता च, व्याख्याकार – पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2049 ।

महाभारत , वेदव्यास, आलोचनात्मक संस्करण, भाग I-XIX, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।

महाभारतकोश , सम्पादक – डॉ० रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1982 ।

महाभाष्य , पतञ्जलि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1951 ।

महावाक्यरत्नावली

महिम्नस्तोत्रटीका , मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1938 ।

माठरवृत्ति , (सांख्यकारिकावृत्ति), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।

माण्डूक्योपनिषद् , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2016 ।

मार्कण्डेयपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

मीमांसादर्शन , जैमिनि, मीमांसासूत्र तथा शाबरभाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1981 ।

मीमांसान्यायप्रकाश , आपदेव, हिन्दीव्याख्याकार – आचार्य पं० पट्टाभिराम शास्त्री विद्यासागर, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई-दिल्ली, 1983 ।

मीमांसासूत्र , जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, 1981 ।

मुण्डकोपनिषद् , शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम, पूना, 1896 ।

मेघदूत , कालिदास, सम्पादक – काशिनाथ पाण्डुरङ्ग पाठक, पूना, 1916 ।

मेघदूत , कालिदास, सम्पादक – शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, 1946 ।

मेदिनीकोश , सम्पादक – जगन्नाथ शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1968 ।

मैत्रायणीसंहिता

मैत्रायण्युपनिषद् , रामतीर्थकृतटीकासहित, सम्पादक – ई० बी० कोवेल, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1929 ।

याज्ञवल्क्यस्मृति , 'मिताक्षरा' सहित, हिन्दीव्याख्याकार – उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत्, 2050 ।

योगभाष्य , व्यास, व्याख्याकार – स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970 ।

योगभाष्यतत्त्ववैशारदी , व्यास – वाचस्पति मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1963 ।

योगसूत्र-भोजवृत्ति , भाषानुवादक – स्वामी विज्ञानाश्रम जी, द फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर, 1961 ।

योगवार्तिक , विज्ञानभिक्षु, सम्पादक – श्रीनारायण मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

योगवासिष्ठ , हिन्दी-व्याख्याकार – पण्डित ठाकुर प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, 1992; आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती द्वारा प्रणीत 'तात्पर्यप्रकाश' व्याख्यासहित, सम्पादक – वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1937 ।

रघुवंश , कालिदास, सञ्जीवनीटीकासहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1961 ।

लघुशब्देन्दुशेखरटीका , नागेशभट्ट, म० म० श्री नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'शेखरदीपक' टीका सहित ।

लङ्कावतारसूत्र , सम्पादक – बी० नानजिओ, ओरिएण्टल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर, लन्दन, 1923 ।

वराहपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

वाक्यपदीय , भर्तृहरि, रघुनाथ शर्मा कृत 'अम्बकर्त्री' टीकासहित, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963-68 ।

वायुपुराण , नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

वाल्मीकिरामायण , दो भाग, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2045; दक्षिण संस्करण, मेलापुर, मद्रास, 1958 ।

विधिविवेक , मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र प्रथम कृत 'न्यायकणिका' सहित, सम्पादक – महाप्रभु लाल गोस्वामी, प्राच्यभारती सीरीज नं० 8, वाराणसी, 1978 ।

विवरणप्रमेयसंग्रह , विद्यारण्य मुनि, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सम्वत् 1996 ।

विवेकचूडामणि , शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2010 ।

विष्णुपुराण , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 1990; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

विष्णुस्मृति , सम्पादक – एम० एन० दत्त, कलकत्ता, 1909 ।

वेदान्तकल्पलतिका , मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – आर० डी० करमरकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1962; सम्पादक – पण्डित रामज्ञ शर्मा पाण्डेय, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० 3, वाराणसी, 1920 ।

वेदान्तपरिभाषा , धर्मराजाध्वरीन्द्र, सम्पादक – महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री, पुनर्मुद्रित, नवरंग, नई-दिल्ली, 1993 ।

वेदान्तसार , सदानन्द, एम० हिरियाना, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1962 ।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली , प्रकाशानन्द, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सम्वत् 1993 ।

वैशेषिकसूत्र , कणाद, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933 ।

वैशेषिकसूत्रोपस्कार , शंकर मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933; सम्पादक – श्रीनारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1969 ।

शब्दकल्पद्रुमः , राजा राधाकान्त देव, पाँच भाग, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1967 ।

शब्दसागर , एच० एच० विल्सनस् संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी, सम्पादक – पण्डित कुलपति जीवानन्द विद्यासागर, प्रकाशक – आशुबोध भट्टाचार्य तथा नित्यबोध भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1900 ।

शाबरभाष्य , शबरस्वामी, आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावली संख्या 97, पूना, 1981 ।

शास्त्रदीपिका , पार्थसारथि मिश्र, सम्पादक – श्री धर्मदत्त झा (बच्चा झा), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988 ।

शिशुपालवध , माघ, सम्पादक – पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, 1847 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , केशव-काश्मीरी-भट्टकृत 'तत्त्वप्रकाशिका' टीकोपेता, हिन्दी-व्याख्याकार – कालिका सिंह, मुजफ्फरपुर, वर्धमान, 1935 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , मधुसूदन सरस्वती विरचित 'गूढार्थदीपिका' सहित, हिन्दी- व्याख्याकार -- पण्डित श्री हरिहर कृपालु द्विवेदी, प्रकाशक – सेठ श्री छोटेलाल मुरारका, कलकत्ता, सम्वत् 2006 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , मधुसूदन सरस्वती कृत 'गूढार्थदीपिका' संस्कृत-टीकायुक्त, हिन्दी-व्याख्याकार -- स्वामी श्री सनातन देव जी महाराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सम्वत् 2018 ।

श्रीमद्भगवद्गीता , शाङ्करभाष्यनीलकण्ठ्यादिव्याख्याष्टकसंवलिता, सम्पादक – वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई-दिल्ली, 1978 ।

श्रीमद्भागवतम् , टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, 1916 ।

श्रीमद्भागवतमहापुराण , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2049 ।

श्लोकवार्तिक , कुमारिलभट्ट, सम्पादक – डॉ० गंगा सागर राय, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1993 ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् , गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2009; शाङ्करभाष्योपेता, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली संख्या 17, पूना, 1982; सम्पादक – पं० अमोलकराम शास्त्री, वृन्दावन ।

षट्पदीस्तोत्र , शंकराचार्य, वाराणसी ।

संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी , वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963 ।

संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी , सर एम० मोनियर विलियम्स, संशोधक – ई० ल्यूमेन + सी० काप्पेलर, प्रथम भारतीय संस्करण, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई-दिल्ली, 1976 ।

संस्कृत-हिन्दी कोश , लेखक – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973 ।

संक्षेपशारीरक , सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, सम्वत् 1994; सम्पादक – स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987; सम्पादक – एन० वीझीनाथन, मद्रास यूनीवर्सिटी संस्कृत सीरीज नं० 18, 1972 ।

संक्षेपशारीरक-सारसंग्रह , मधुसूदन सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1934 ।

सर्वदर्शनसंग्रह , माधवाचार्य, सम्पादक – उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ।

सांख्यकारिका , ईश्वरकृष्ण, हिन्दीभाषानुवादकार – पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सम्वत् 2020 ।

सांख्याकारिका , गौडपादभाष्य, सम्पादक – टी० जी० माईणकर, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1964 ।

सांख्यतत्त्वकौमुदी – तत्त्वकौमुदी , वाचस्पति मिश्र, व्याख्याकार – शिवनारायण शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1940; सम्पादक – गंगानाथ झा, पूना, 1965 ।

सांख्यप्रवचनभाष्य , विज्ञानभिक्षु, सम्पादक – श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सम्वत् 2022 ।

सांख्ययोगकोश , प्रणेता – आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी, वाराणसी, 1974 ।

सांख्यसूत्र , कपिल, सम्पादक – डॉ० श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सम्वत् 2022 ।

साहित्यदर्पण , विश्वनाथ कविराज, सम्पादक – पण्डित दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई 1922 ।

सिद्धान्तकौमुदी , भट्टोजिदीक्षित, बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता, सम्पादक – महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा महामहोपाध्याय पण्डित परमेश्वरानन्द शर्मा भास्कर, चार भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975, 1971, 1967 ।

सिद्धान्तबिन्दु , मधुसूदन सरस्वती, सम्पादक – वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1962; सम्पादक – पी० सी० दीवानजी, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० LXIV, बडोदा, 1933 ।

सुश्रुत-संहिता , सम्पादक – शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, 1938 ।

स्मृति-ग्रन्थ :--

अत्रिसंहिता
आङ्गिरसस्मृति
आपस्तम्बस्मृति
गौतमस्मृति
देवलस्मृति
पराशरस्मृति
बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति
बृहस्पतिस्मृति
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
वसिष्ठस्मृति
विष्णुस्मृति
सुश्रुतसंहिता
हारीतस्मृति

स्टडीज़ इन् द फ़िलॉसफ़ी ऑव् मधुसूदन सरस्वती , सञ्जुक्ता गुप्ता, कलकत्ता, 1966 ।

स्मृतिसन्दर्भ , गुरुमण्डलग्रन्थमाला नं० 9, छै भाग, प्रकाशक – मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1951-1955; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रित – 1988 ।

हरिवंशपुराण , सम्पादक – रामचन्द्र शास्त्री, पूना, 1936; नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985 ।

हलायुधकोश , सम्पादक – जयशङ्कर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1967 ।

हिन्दू धर्मकोश , सम्पादक – डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978 ।